प्रकाशक :
वसन्त श्रीपाद सातवलेकर,
स्वाध्याय मंडल,
पोस्ट- 'स्वाध्याय मंडल (पारडी)'
पारडी [जि. बलसाड]

*

संवत् २०२५, शक १८९०, सन् १९६८

प्रथम आवृत्ति

मुद्रक :
वसन्त श्रीपाद सातवलेकर,
भारत-मुद्रणालय, स्वाध्याय मंडल,
पोस्ट- 'स्वाध्याय मंडल (पारडी)
पारडी [जि. बलसाड]

भूमिका

वैदिक साहित्य एवं संस्कृतिके कारण भारतकी अक्षुण्णता विद्यमान है। इसमें सन्देह नहीं, कि वेदों एवं तद्गत साहित्यके कारण भारतका यश काफी फैला है, पर समयके साथ साथ वेदोंका अध्ययन क्रमशः क्षीण होता गया और एक दिन वह आया कि जब वेद नाममात्रके लिए रह गए और उनका अध्ययन लुप्तप्रायः हो गया। ऐसे गाढे समयमें भी भारतीयसंस्कृतिने अपनी अक्षुण्णता टिकाये रखी। इसका कारण था इतिहास और पुराण। इन इतिहासों और पुराणोंने लोगोंको अपनी आकर्षक एवं मनोरञ्जक कथाओं द्वारा फिर वेदोंकी तरफ प्रेरित किया। सर्वथा मूर्ख राजपुत्रोंको अपने "पंचतंत्र" की कथाओंके द्वारा राजनीतिमें कुशल बना देनेवाले विष्णुशर्माकी कथा संस्कृत साहित्यमें प्रसिद्ध ही है। उसी तरह इन इतिहासों और पुराणोंने अपनी कथाओंके द्वारा लोगोंके हृदयोंमें वैदिक सिद्धान्तोंको जागृत किया। इसीलिए इन इतिहास और पुराणको वेदोंके अर्थ करनेके कार्यमें अनिवार्य तत्त्व माना गया है। [1]

पुराण ग्रंथोंमें सम्पूर्ण प्राचीनतम कथाओंका संग्रह है और उन्हींको आधार बनाकर रामायण, महाभारत आदि इतिहासोंमें अर्वाचीन ऐतिहासिक कथाओंका संग्रह किया गया है। रामायण और महाभारत दोनों महाकाव्य अमूल्य हैं। संग्रहकी दृष्टिसे पुराणोंमें "अग्नि पुराण" तथा इतिहासमें "महाभारत" श्रेष्ठ ग्रंथ हैं।

महाभारत–एक एनसाइक्लोपीडिया

महाभारत वस्तुतः न महाकाव्य है और न इतिहास ग्रंथ, यह तो एक विश्वकोष है; जिसमें तत्कालीन सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्य सभी पहलुओंपर प्रकाश डालनेवाले सभी विचारोंके दर्शन किए जा सकते हैं। सभी तरहका ज्ञान महाभारतमें मिल सकता है। महाभारतसे पूर्वके ग्रंथोंमें जिन जिन विषयोंका विवेचन किया गया है उन सबका सूक्ष्म-दर्शन इस ग्रंथमें किया जा सकता है। स्वयं महर्षि द्वैपायन कहते हैं—

भूतस्थानानि सर्वाणि रहस्यं त्रिविधं च यत्।
वेदा योगः सविज्ञानो धर्मार्थः काम एव च ॥ ४८ ॥
धर्मार्थकामयुक्तानि शास्त्राणि विविधानि च।
लोकयात्राविधानं च सर्वं तद्दृष्टवानृषिः ॥ ४९ ॥
इतिहासाः सवैयाख्या विविधाः श्रुतयोऽपि च।
इह सर्वमनुक्रान्तमुक्तं ग्रंथस्य लक्षणम् ॥ ५० ॥ [2]

सभी प्राणियोंके स्थान, सभी रहस्य, वेद, योगशास्त्र, विज्ञान, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, धर्म, अर्थ और कामके वर्णन करनेवाले ग्रंथोंका सार, इस संसारमें रहकर सुखपूर्वक जीना इन सभी बातोंका वर्णन इस महाग्रंथमें ग्रंथकारने किया है। इस ग्रंथको सांसारिकशास्त्र और मोक्षशास्त्र दोनों कहा जा सकता है। इसमें अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों मार्गोंका अपूर्व वर्णन है। अतः यह एकांगी नहीं है।

---

१ इतिहासपुराणाभ्यां वेदान् समुपबृंहयेत्।
२ महाभारत आदिपर्व अध्याय १

इस अपूर्व ग्रंथमें किन किन विषयोंका वर्णन है, इस विषयमें स्वयं ग्रंथकारका कथन द्रष्टव्य है—

कृतं मयेदं भगवन् काव्यं परमपूजितम् ।
ब्रह्मन्वेदरहस्यं च यच्चान्यत् स्थापितं मया ।
सांगोपनिषदां चैव वेदानां विस्तरक्रिया ॥
इतिहासपुराणानामुन्मेषं निर्मितं च यत् ।
भूतं भव्यं भविष्यं च त्रिविधं कालसंज्ञितम् ॥
जरामृत्युभयव्याधिभावाभावविनिश्चयम् ।
विविधस्य च धर्मस्य ह्याश्रयाणां च लक्षणम् ॥
चातुर्वर्ण्यविधानं च पुराणानां च सर्वशः ।
तपसो ब्रह्मचर्यस्य पृथिव्याश्चन्द्रसूर्ययोः ॥
ग्रहनक्षत्रताराणां प्रमाणं च युगैः सह ।
ऋचो यजूंषि सामानि वेदाध्यात्मं तथैव च ॥
न्यायः शिक्षा चिकित्सा च दानं पाशुपतं तथा ।
हेतुनैव समं जन्म दिव्यमानुषसंज्ञितम् ॥
तीर्थानां चैव पुण्यानां देशानां चैव कीर्तनम् ।
नदीनां पर्वतानां च वनानां सागरस्य च ॥
पुराणां चैव दिव्यानां कल्पानां युद्धकौशलम् ।
वाक्यजातिविशेषाश्च लोकयात्राक्रमश्च यः ॥
यच्चापि सर्वगं वस्तु तच्चैव प्रतिपादितम् ॥ ३

"मैंने इस भारतरूपी अपूर्व काव्यकी रचना की है। इसमें निम्न लिखित विषयोंका समावेश होता है– वेदोंका रहस्य, उपनिषदोंका तत्त्वज्ञान, अंग-उपांगोंकी व्याख्या, इतिहास और पुराणका विकास, त्रिकालका निरूपण, जरा-मृत्यु, भय, व्याधि, भाव अभावका विचार, त्रिविध धर्म और आश्रमका विवेचन, वर्णधर्म आदि।

व्यासके इस कथनसे प्रतीत होता है कि महाभारतको रचनेमें व्यासका उद्देश्य राजाओंके इतिहासका वर्णन करना नहीं था, अपितु मनोरंजक कथाके माध्यमसे लोगोंको धर्म समझाना ही था। व्यासका यह निश्चित मत था कि यदि लोग धर्मका आचरण करें, तो मनुष्योंको अर्थ, काम और मोक्षकी प्राप्ति आसानीसे हो सकती है—

ऊर्ध्वबाहुः विरोम्येष न च कश्चिच्छृणोति माम् ।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते ॥

"मैं हाथ उठा उठाकर चिल्ला रहा हूँ, पर कोई भी मेरी बात नहीं सुनता, धर्मसे ही अर्थ और कामकी प्राप्ति होती है, फिर धर्मका ही आचरण क्यों न किया जाए?"

उपर्युक्त श्लोकके उत्तरार्धसे महाभारत रचनाका व्यासका उद्देश्य स्पष्ट होता जाता है। महाभारतके द्वारा वे एक ऐसे कृष्णका वर्णन करना चाहते थे, जो "परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृतां धर्मसंस्थापनार्थाय।" इस संसारमें बार बार जन्म लेना चाहता हो, वे ऐसे युधिष्ठिरका वर्णन करना चाहते थे, जो धर्मकी रक्षाके लिए कठिनसे कठिन संकटोंको भी झेल सके। इस प्रकार—

(१) महाभारत एक अपूर्व काव्य ग्रन्थ है।

(२) कौरव-पाण्डवोंके इतिहासके माध्यमसे उसमें विविध शास्त्रोंका वर्णन है।

(३) महाभारतकालमें विद्यमान शास्त्रोंका संग्रह इस महाभारतमें किया गया है।

इस प्रकार यह ग्रंथ वस्तुतः एक विश्वकोश है। श्रीभागवतमें स्पष्ट कहा है कि– "भारतके माध्यमसे व्यासने वेदोंका अर्थ ही प्रदर्शित किया है।"

"स्त्री, शूद्र और मूर्ख द्विज श्रुतिका अर्थ नहीं समझ सकते, इसलिए इन्हें श्रेयः प्राप्तिका मार्ग बतानेके लिए व्यासने महाभारतकी रचना की।" ४

यह महाभारत अज्ञानी लोगोंके लिए अंजनकी एक शलाका है, जिसे आंखोंमें लगाकर अज्ञानी भी हर तरहसे ज्ञानवान् हो जाता है। महाभारतकी यह प्रशंसा कोई अत्युक्ति नहीं है। इन्हीं विशेषताओंके कारण महाभारतको पांचवा वेद कहा गया है। इतिहास है कि पूर्वकालमें देवताओंने तराजूकी एक तरफ चारों वेदोंको और दूसरी तरफ केवल महाभारतको रखकर तोला, तो महाभारत ही वजनदार निकला। वस्तुतः इसका तात्पर्य यह नहीं कि तत्त्वज्ञानमें महाभारत वेदसे बढ चढकर है। इसका तात्पर्य यही है कि वैदिकतत्त्वज्ञानको ही महाभारतमें इस रूपमें प्रस्तुत किया गया है, कि सर्व साधारणके लिए आसान हो गया। वेदोंके द्वारा तत्त्वज्ञानको समझना हरएकके बूतेकी बात नहीं है, पर उसी तत्त्वज्ञानको महाभारतकी कथाके माध्यमसे मनुष्य

३ महाभारत आदिपर्व १।६१–६९
४ भागवत १. ४. १८, २५.

आसानीसे समझा जाता है। दूसरा कारण यह भी है– उपनिषदोंमें मुख्य विषय अध्यात्मका ही होनेसे मनुष्य उनके अध्ययनसे अत्याध्मशास्त्रमें तो परिपूर्ण हो जाता है, पर सांसारिक व्यवहारशास्त्रमें अधूरा ही रह जाता है। पर महाभारत एक ऐसा ग्रंथ है कि जिसमें अध्यात्म और व्यवहार दोनों पक्षोंका समावेश हो जाता है, अतः महाभारतका अध्ययन करनेवाला दोनों दृष्टियोंसे योग्य बन जाता है। स्वयं व्यासका कथन है—

यो विद्याच्चतुरो वेदान् सांगोपनिषदो द्विजः।
न चाख्यानमिदं विद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः॥ ५

"जो विद्वान् अंगों सहित चार वेद और सम्पूर्ण उपनिषद् जानता हो, परन्तु उसने महाभारतका अध्ययन न किया हो तो वह विचक्षण या बुद्धिमान् नहीं हो सकता। क्योंकि–

अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदं महत्।
कामशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामित बुद्धिना॥ ६

"इसमें अत्यन्त बुद्धिमान् व्यासने अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र और कामशास्त्रका पूरा पूरा विवेचन किया है।" इसलिए बिना महाभारतको पढे वेदोंका अर्थ समझना बडा कठिन है। कहा भी है—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रतरिष्यति॥ ७

"इतिहास और पुराणोंसे वेदार्थका विचार किया जाए, क्योंकि अधूरे ज्ञानवालेसे वेद बहुत डरते हैं कि कहीं यह अर्थका अनर्थ न कर डाले।"

कथा है कि एक बार विद्या ब्रह्मज्ञानियोंके पास पहुंची और उनसे बोली कि हे ब्राह्मणो! मैं तुम्हारा खजाना हूँ, तुम मेरी रक्षा करो। ये अल्पज्ञानी मेरा रूप विकृत कर रहे हैं। वस्तुतः वेदोंके अर्थका अनर्थ करना ही उसके रूपको विकृत करना है। पर महाभारत आदि ग्रंथोंके अध्ययनसे मनुष्यको वेदार्थका परिज्ञान हो सकता है।

ऐसा कोई भी विद्याका पक्ष नहीं, जिसे व्यासने स्पर्श न किया हो। सभी शास्त्रोंका सार इस महाभारतमें आ गया है। वस्तुतः 'व्यासोच्छिष्टं जगत् सर्वं' यह सारा जगत् और सारे तत्त्व शास्त्र व्यासके द्वारा उच्छिष्ट हो चुके हैं, अर्थात् ऐसा कोई भी ज्ञान नहीं जिस पर व्यासने अपने विचार व्यक्त न किए हों।

महाभारतके संस्करण

महाभारतका वर्तमानरूप अनेकों परिवर्धनोंका संस्करण है। स्वयं महाभारतमें इसका प्रमाण है। मूल महाभारतके प्रणेता श्री व्यासने अपने पांच शिष्योंको महाभारत सिखाया। उन पांच शिष्योंमें वैशम्पायन एक थे। वैशम्पायनने सर्पसत्रके समय जनमेजयके सामने महाभारतकी कथा सुनाई। वैशम्पायनका यह आख्यान वस्तुतः प्रश्नोत्तरके रूपमें है। जनमेजय प्रश्न पूछता है और वैशम्पायन उन प्रश्नोंका उत्तर देते जाते हैं। इस रूपमें महाभारतकी कथा आगे बढती जाती है। इस प्रकार व्यासके मूल महाभारतमें वैशम्पायन द्वारा परिवर्धन होता गया। इसके बाद दूसरा परिवर्धन सौतिके द्वारा होता है। शौनकके द्वादशवर्षीय यज्ञके अन्तमें नैमिषारण्यमें आकर सौति महाभारतकी कथा सुनाते हैं। इस प्रकार वर्तमान महाभारतके संग्रहकर्ताके रूपमें हमारे सामने व्यास, वैशम्पायन और सौति ये तीन उपस्थित होते हैं। इसी दृष्टिसे महाभारतके तीन नाम सुने जाते हैं। व्यासने महाभारतको जय नामसे पुकारा है। महाभारतके प्रथम श्लोकमें ही इस नामकी चर्चा है—

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत्॥

इसके बाद जब इसमें परिवर्धन हो गया, तब इसका नाम भारत पड गया, अन्तमें जब दूसरी बार फिर परिवर्धन हुआ, तब इसका नाम महाभारत पडा। अनुमानके आधार पर यह कहा जा सकता है कि व्यासका जय ही वैशम्पायनके परिवर्धित संस्करणके कारण भारत और सौतिके परिवर्धित संस्करणके कारण महाभारत बन गया। भारत और महाभारतका नाम आश्वलायन गृह्यसूत्रके समय प्रचलित था। उस सूत्रकी तर्पण विधिमें एक सूत्र आया है, जो इस प्रकार है–

सुमन्तु-जैमिनि-वैशम्पायन-पैल-सूत्रभाष्य-
भारत-महाभारत-धर्माचार्यास्तृप्यन्तु।

५ महाभारत आदिपर्व. २।३८२
६ महाभारत आदि २।३८३
७ महाभारत आदिपर्व १।२६७

इस सूत्रके आधार पर कहा जा सकता है कि इस समय तक व्यासका जय, भारत और महाभारत बन चुका था। वैशम्पायन व्यासका शिष्य और यजुर्वेदका मुख्य प्रवर्तक था। शुक्ल यजुर्वेदका मुख्य अनुयायी याज्ञवल्क्य वैशम्पायन का भांजा था। वैशम्पायनने याज्ञवल्क्यको भी यजुर्वेदकी शिक्षा दी, पर बादमें याज्ञवल्क्य अपने मामासे झगड पडा, और फिर उसने सूर्यसे यजुर्वेद सीख कर शुक्ल यजुर्वेदका प्रवर्तन किया। यह कथा महाभारतमें भी आई है। इसी वैशम्पायनने जनमेजयको सर्पसत्रमें महाभारतका आख्यान सुनाया था। श्री चिन्तामणि विनायक वैद्यके अनुसार यह सर्पसत्र ईसा पूर्व ३००० के लगभग तक्षशिलामें हुआ था। इस प्रकार आजका महाभारत तीन संस्करणोंवाला है। महाभारतके प्रारंभके सम्बन्धमें व्यक्त किए गए विचारोंसे भी इस बातकी पुष्टि होती है कि आजका महाभारत तीन संस्करणोंके बाद अस्तित्वमें आया। महाभारतके प्रारंभके सम्बन्धमें तीन तरहके विचार व्यक्त किए जाते हैं। स्वयं महाभारतमें इस बातका प्रमाण है—

मन्वादिभारतं केचित् आस्तीकादि तथाऽपरे।
तथोपरिचरादन्ये विप्राः सम्यगधीयते ॥ ८

" कुछ विद्वान् महाभारतका प्रारंभ मनुकी कथासे मानते हैं, कुछ आस्तीककी कथासे और कुछ उपरिचर राजाकी कथासे।"

इन तीनों संस्करणोंमें श्लोकसंख्यामें भी बडा भेद आ गया है। उसका कारण यह है कि ज्यों ज्यों महाभारतके आख्यानकी परम्परा बढती गई त्यों त्यों उसका कलेवर भी बढता गया। इस प्रकार अन्तिम संस्करणमें महाभारतके एक लाख श्लोक हो गए। अब हम क्रमशः इन तीन संस्करणोंपर विचार करते हैं—

प्रथम संस्करण— यह प्रथम संस्करण, कहा जा सकता है कि, व्यासकी ही रचना थी। यह आख्यान न होकर वास्तवमें एक इतिहास था, और व्यासने इस इतिहासका नाम जय रखा था। महाभारतके पहले ही श्लोकमें व्यास कहते हैं कि "ततो जयमुदीरयेत्" अर्थात् नर, नारायण और सरस्वतीको नमस्कार करके जयका अध्ययन करें। स्वर्गारोहणपर्वमें भी इस बातका स्पष्ट प्रतिपादन है कि इस इतिहासग्रन्थका नाम 'जय' है। ९ इस मूल ग्रंथमें श्लोक संख्या कितनी थी कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता है। पर—

अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च।
अहं वेद्मि शुको वेत्ति संजयो वेत्ति वा न वा ॥ १०

(इन आठ हजार आठ सौ श्लोकोंको मैं जानता हूँ, शुक जानता है, पर संजय जानता है या नहीं, मैं नहीं जानता।) इस श्लोकके आधार पर मॅकडॉनलने इस मूल ग्रन्थ जयकी श्लोक संख्या ८, ८०० मानी है। पर डॉ. सी. वी. वैद्य इस बातसे असहमत हैं। उनका कहना है कि यह संख्या तो उन श्लोकोंकी है, जो कूट हैं। साथमें उनका यह भी कहना है कि व्यासने अपने ग्रंथकी शुरुआत "राजा उपरिचरो नाम" इस श्लोकसे की थी। ११ उससे पूर्वके आस्तीक, पौलोम, पौष्य आदि पर्व बादमें जोडे गए हैं। अनुक्रमणिका अध्याय भी बादका है। इस प्रकार आदिपर्वमें ६२ अध्याय बादमें मिलाये गए। पर हमारा विचार यह है कि व्यासके मूल ग्रंथमें २४,००० के करीब श्लोक थे।

दूसरा संस्करण— व्यासने सुमन्तु, जैमिनी, पैल, अपने पुत्र शुक और वैशम्पायनको महाभारत सिखाया। आगे चलकर इन पांचों शिष्योंने पृथक् पृथक् रूपसे महाभारतका संस्करण किया। पर आज केवल वैशम्पायनका ही संस्करण उपलब्ध है। वैशम्पायनके संस्करणका नाम "भारत" है। आश्वलायन गृह्यसूत्रकारने इन पांचोंको भारताचार्यके नामसे सम्बोधित किया है। वैशम्पायनके संस्करणके श्लोकोंकी भी कोई निश्चित संख्या नहीं कही जा सकती।

आस्तीक पर्वतक सूत्रधार सौति और शौनक ही दीखते हैं। उसके बाद आदिवंशावतरणपर्वके प्रारंभमें सौति और शौनक अदृश्य हो जाते हैं और उनका स्थान ले लेते हैं वैशम्पायन और जनमेजय। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वैशम्पायनके भारतकी शुरुआत आदिवंशावतरणपर्वसे ही हुई। इस जनमेजयका समय ईसा पूर्व ३००० का निश्चित किया जाता है। यदि यह मान लिया जाए तो महाभारत युद्धको कमसे कम तो ३१०० ईसा पूर्व मानना

८ आदिपर्व ११५२
९ जयो नामेतिहासोऽयम्— स्वर्गारोहणपर्व।
१० आदिपर्व. ८१।३

पड़ेगा। इस प्रकार सौ डेढ सौ वर्षके बाद जयका दूसरा संस्करण भारतके रूपमें अस्तित्वमें आया।

तीसरा संस्करण— यह संस्करण सूतपुत्र उग्रश्रवाका है। वैशम्पायनके बाद थोडे बहुत परिवर्धनके साथ इन्होंने तीसरा संस्करण तैय्यार किया। इस अन्तिम संस्करणमें एक लाख श्लोक थे। सौति स्वयं कहते हैं—

अस्मिंस्तु मानुषे लोके वैशम्पायन उक्तवान्।
एकं शतसहस्रं तु मयोक्तं वै निबोधत॥

इस प्रकार प्रतीत होता है कि इस अन्तिम संस्करणमें श्लोकोंकी संख्या एक लाख तक पहुंच गई थी।

इस संस्करणकी शुरुआत मनुसे मानते हैं। यूं तो महाभारतमें मनु शब्दसे शुरु होनेवाला कोई श्लोक नहीं है, पर वैवस्वत शब्दको ही मनुका पर्यायवाची मानकर उस श्लोकसे ही इस संस्करणकी शुरुआत मानते हैं। यही तीसरा संस्करण आज महाभारतके रूपमें हमारे सामने उपलब्ध है। पर आज जो महाभारत उपलब्ध है, उसमें भी एक लाख श्लोक नहीं हैं, वरन् कम ही हैं। इस सौतिका काल लोकमान्य तिलकने २५० ईसापूर्व माना है।

महाभारत—एक अद्वितीय महाकाव्य

महाभारतकी अद्वितीयता विवादातीत है। हर दृष्टिसे यह महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। स्वयंमें तो एक महाकाव्य है ही, पर साथ ही यह अनेक महाकाव्योंका प्रेरणास्रोत रहा है। महाकवि कालिदासकी "अभिज्ञान शाकुन्तलं", भारविका "किरातार्जुनीयम्", माघका "शिशुपालवध" आदि अनेकों काव्योंकी कथायें महाभारतसे ही ली गई हैं। इस महाकाव्यकी महत्ता उसके उद्देश्यसे और बढ जाती है। यह महाकाव्य वस्तुतः स्वांतःसुखायके लिए व्यासने नहीं लिखा, अपितु उनका उद्देश्य लोगोंको धर्मकी तरफ प्रेरित करना ही था। महाभारतको यदि हम एक राष्ट्रीय काव्य कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

महाभारतके नायक और नायिकाको निश्चित करना एक असाध्य कार्य है। क्योंकि इसमें अनेकों पात्रोंका जमघट है, जिनमें सभी नायक प्रतीत होते हैं। दुर्योधन तो सारे महाभारत पर छाया रहता है, पर अन्तमें वह मारे जानेके कारण उसे राज्यपदकी प्राप्ति नहीं होती, अतः उसे नायक कहना असंगत होगा। इसी प्रकार महाभारतके अध्ययन करनेवालेको युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, दुर्योधन, कर्ण आदि सभी नायक प्रतीत होते हैं।

महाभारतमें पात्रोंकी अत्यधिकता होनेपर भी महाभारतकारने सभीके साथ न्याय किया है। हर पात्रको पाठकके सामने आनेका यथायोग्य अवसर प्रदान किया है। महाभारतकारने महाभारतके सर्वोत्कृष्ट पात्र श्रीकृष्णको नारायणका अवतार मानकर ही उनका वर्णन किया है।

महाभारतकी द्रौपदी एक आदर्श नारी है। वह एक सती साध्वी और पतिव्रता है। द्रौपदीके चित्रणके द्वारा व्यासने स्त्रियोंके सामने एक अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत किया है। वनपर्वमें द्रौपदीके गुणोंका बडा सुन्दर वर्णन व्यासने किया है। वनमें रहते हुए द्रौपदीसे जब सत्यभामा मिलने जाती है, तब बातों ही बातोंमें वह द्रौपदीसे पूछती है कि उसके पांचों पति उसके वशमें किस तरह रहते हैं, तब वह जो वर्णन करती है, वह बडा मार्मिक है। वह कहती है—

"मैं अहंकार और काम–क्रोधको छोडकर पाण्डवोंकी सेवा करती हूँ। मैं कभी अपने मुंहसे बुरी बात नहीं निकालती। असभ्यकी भांति व्यवहार नहीं करती। पतियोंके अभिप्रायपूर्ण संकेतका सदैव अनुसरण करती हूं। देवता, मनुष्य, गंधर्व या कितना भी रूपवान् संपन्न भी मेरे सामने आजाए, फिर भी मेरा मन पाण्डवोंको नहीं छोडता। पतियों और उनके सेवकोंको भोजन कराये बिना मैं कभी भोजन नहीं करती। उनके सोनेके बाद ही मैं सोती हूं। बाहरसे जब मेरे पति आते हैं, तब मैं मुस्कराकर उनका स्वागत करती हूँ। मेरे पति जिस पदार्थको पसन्द नहीं करते, उसे मैं भी त्याग देती हूँ। हे सत्यभामे! गुरुजनोंकी सेवा शुश्रूषासे ही मेरे पति मेरे अनुकूल रहते हैं।"

द्रौपदीके इन वाक्योंमें ही उसका चरित्र स्पष्ट हो जाता है। वह अपने पतियोंके सुख दुःखमें सहभागिनी रहती है। एक साधारण मानवी होनेके कारण वह भी कभी धर्मराजसे भला बुरा कह डालती है। पर इससे व्यासके ऊपर कोई आक्षेप नहीं किया जा सकता। क्योंकि व्यासने द्रौपदीको मानवीके रूपमें ही प्रस्तुत किया है, किसी अलौकिक देवीके रूपमें नहीं। यदि व्यास द्रौपदीमें दोष न दिखाकर केवल गुण ही गुण दिखाते, तो उन पर आक्षेप किया जा सकता था। व्यास द्रौपदीके चित्रण द्वारा सभी स्त्रियोंको ऐसी ही साध्वी और पतिव्रता बनाना चाहते थे।

इसी प्रकार धर्मराज युधिष्ठिरका चित्रण भी आकर्षक है। धर्मके रूपमें युधिष्ठिरने अपने कर्तव्यका पूर्णरूपेण पालन किया। वनवासका दुःसह कष्ट सहनेके बावजूद भी वे धर्मसे च्युत नहीं हुए। उनके सामने धर्मका पालन ही एक मात्र लक्ष्य था। वे सारे महाभारतमें एक सत्यवादीके रूपमें ही पाठकोंके सामने आते हैं। किंवदन्ती है कि हमेशा सत्य बोलनेके कारण उनका रथ हमेशा जमीनको न छूता हुआ चलता था। पर द्रोण वधके समय "नरो वा कुंजरो वा" के कथनके साथ ही उनका रथ पृथ्वीको छूकर दौडने लग गया। संभव है कि इस किंवदन्तीमें अतिशयोक्ति हो, पर इतना अवश्य सच है कि युधिष्ठिरकी सत्यवादिता अतुलनीय थी। धर्मराज सभी पाण्डवोंमें विशेष बुद्धिमान् थे। उनकी बुद्धिमत्ता वनपर्वके अन्तर्गत यक्ष द्वारा पूछे गए प्रश्नोंके उत्तरोंमें स्पष्ट झलकती है। इस प्रकार युधिष्ठिरमें धर्म एवं बुद्धिमत्ता, भीममें बल, अर्जुनमें कुशलता एवं वीरता, नकुल और सहदेवमें आज्ञाकारिता, द्रौपदीमें पातिव्रत्यधर्मका अद्भुत सम्मिश्रण व्यासकी अनोखी प्रतिभाका परिचायक है।

दूसरी तरफ खलनायक दुर्योधन और उसके प्रेरणास्रोत शकुनि, दुःशासन और कर्ण आदियोंका भी बडा याथातथ्य वर्णन है। दुर्योधनमें भी वीरता, शौर्य और अभिमानके भावोंका अच्छा सम्मिश्रण है।

इस प्रकार महाभारत एक सुन्दर महाकाव्य है। पर कुछ विद्वान् इसे महाकाव्य माननेसे इन्कार करते हैं। वे इसे एक इतिहासग्रंथ मानते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि व्यासने स्वयं इस ग्रंथको एक इतिहास ही माना है। पर जब उसमें महाकाव्यके अंग उपलब्ध होते हैं, तब उसे महाकाव्य माननेमें क्या आपत्ति हो सकती है? यों तो रामायण भी एक इतिहास ही है, पर प्रायः सभी पाश्चात्य और पौरस्त्य विद्वान् उसे संस्कृत भाषाका आदि महाकाव्य मानते हैं। उसी तरह महाभारत भी इतिहास ग्रंथ होते हुए भी एक महाकाव्य ही है। यह ठीक है कि व्यासने महाकाव्यकी दृष्टिसे इस ग्रंथका प्रणयन नहीं किया, क्योंकि उस समयतक लक्षण ग्रंथोंकी रचना नहीं हो पाई थी। पर उसके बाद जो लक्षण ग्रंथ बने और उन ग्रंथोंमें महाकाव्यकी जो परिभाषा या उसके लक्षण निश्चित किए गए, प्रायः वे भी लक्षण महाभारतमें दृष्टिगोचर होते हैं। इस ग्रंथका प्रधान रस वीर है, पर कहीं कहीं श्रृंगार एवं शान्त भी उसके अंग रूपमें आ जाते हैं। प्रकृति वर्णन भी अनेक स्थलों पर आया है। इस दृष्टिसे महाभारतको एक ऐतिहासिक महाकाव्य मानना अनुचित न होगा।

महाभारतमें श्रीकृष्ण

श्रीकृष्ण महाभारतके उन मुख्य पात्रोंमेंसे एक हैं, कि जिनको यदि निकाल दिया जाए, तो सारा महाभारत एक सारहीन ग्रंथ बन जाए। श्रीकृष्णका वास्तविक दर्शन महाभारतमें ही होता है। श्रीकृष्ण एक चन्द्रवंशी राजा थे। ययाति राजाकी दो रानियां थीं, एक असुरोंके गुरु शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी और दूसरी असुरराज वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठा। देवयानीसे यदु और तुर्वसु और शर्मिष्ठासे द्रुहु, अनु और पुरु इस प्रकार पांच पुत्र पैदा हुए। उनमें यदुसे यादववंशकी परम्परा चली और पुरुसे पौरववंशकी। यादववंशमें श्रीकृष्ण उत्पन्न हुए और पौरववंशमें कौरव और पाण्डवोंकी उत्पत्ति हुई। श्रीकृष्णकी बुआ कुन्तीसे पांच पाण्डव पैदा हुए, इस रीतिसे पाण्डव श्रीकृष्णके फुफेरे भाई थे। यद्यपि यादवकी दृष्टिमें कौरव और पाण्डव समान थे। पर पाण्डवोंने श्रीकृष्णको हमेशा अपने सहायकके रूपमें देखा।

महाभारतकार अवतारवादके समर्थक थे। महाभारतमें ही कथा आती है कि जब पृथ्वी अधर्मके बोझसे बडी आर्त हो गई, तब वह नारायणकी शरणमें गई और उसने अपना दुःख उन्हें सुनाया, तब उन्होंने नरको अर्जुनके रूपमें अवतीर्ण होनेका आदेश देकर स्वयं कृष्णके रूपमें अवतीर्ण हुए।

श्रीकृष्णके रूपमें अवतीर्ण होकर उन्होंने अनेक मानवी कर्म किए, पर साथ ही अनेक अलौकिक कर्म भी किए। श्रीकृष्णका मुख्य उद्देश्य था धर्मकी संस्थापना। वे स्वयं कहते हैं—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।

× × ×

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

"मैं सज्जनोंकी रक्षा, दुष्टोंके विनाश और धर्मकी स्थापना करनेके लिए प्रत्येक युगमें जन्म लेता हूँ।

जब जब धर्मकी हानि होती और अधर्मकी उन्नति होती है, तब तब मैं उत्पन्न होता हूँ।"

इन दो श्लोकोंमें श्रीकृष्णने अपना उद्देश्य स्पष्ट कर दिया है। कई लोग महाभारत युद्धका प्रणेता श्रीकृष्णको ही ठहराते हैं, उनके इस कथनमें थोडी सचाई भी है। यदि वे चाहते तो महाभारतका युद्ध टल सकता था। पर कृष्णकी दूर-दृष्टिने देख लिया था कि यदि यह युद्ध न हुआ तो धर्म हमेशाके लिए रसातल चला जाएगा। महाभारतमें ही एक प्रसंग है, भीष्मने एक बार श्रीकृष्णसे पूछा— "भगवन्! जब आप जानते थे कि इस युद्धमें महाविनाश उपस्थित होनेवाला है, तब आपने इस युद्धको रुकवा क्यों नहीं दिया?" उत्तरमें भगवान् बोले– "यदि मैं यह युद्ध न करवाता तो सर्वत्र अधर्मका साम्राज्य छा जाता और धर्म बिलकुल नष्ट हो जाता।" श्रीकृष्ण यह जान गए थे कि धर्मकी स्थापनाके लिए यह युद्ध अनिवार्य था। यद्यपि पहले इन्होंने भी बडे प्रयत्न किए, पर जब दुर्योधन "सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव" के दुराग्रहसे राईभर भी नहीं हटा, तब श्रीकृष्णने दुर्योधनकी सभामें यह घोषणा कर दी कि– "दुर्योधन! सुन लो, अब तुम्हारा विनाशकाल उपस्थित हो गया है। तुम्हारे इस दुराग्रहके कारण यह युद्ध अब अनिवार्य है। इसमें जो मानवीसंहार होगा, उसकी जिम्मेदारी तुम पर होगी।" अन्ततक भगवान् इस बातके लिए प्रयत्नशील रहे कि यह युद्ध न हो और दोनों पक्षोंमें सुलह हो जाए।

पर प्रतीत ऐसा होता है कि उनका यह प्रयत्न बाह्यरूप था, अन्दरसे तो वे यही चाहते थे कि यह युद्ध हो अवश्य। वे भारत अखण्ड देखना चाहते थे और यह भी चाहते थे कि अखण्ड आर्यावर्तमें आर्योंका ही साम्राज्य हो, विदेशियोंका नहीं। महाभारतके समय पूरा आर्यावर्त अनेक खण्डोंमें विभक्त हो चुका था। सभी राजा स्वयंको स्वतंत्र घोषित कर चुके थे और वे सभी राजा अपने अत्याचारोंके लिए विख्यात हो चुके थे। मगधका राजा जरासंध बडा ही अत्याचारी था। उसने अनेकों राजाओंको कैद कर रखा था। दूसरी तरफ हस्तिनापुरका शासन भी बडा कमजोर हो चुका था। उसकी सत्ता अन्य प्रान्तोंके राजाओंपर बडी अप्रभावी सिद्ध हो रही थी। धृतराष्ट्र केवल नाममात्रके लिए राजा रह गया था, सारी शासन सत्ता उसके पुत्र दुर्योधनके हाथमें आ चुकी थी। पर वह भी गांधारके राजा शकुनिके हाथका कठपुतली मात्र था। शकुनि जैसा चाहता, वैसा दुर्योधन करता जाता था। इस प्रकार दुर्योधन की आडमें शकुनि ही राज्य कर रहा था। या कहा जा सकता है कि उस समय आर्यावर्त पर गांधार देशका एक विदेशी राजा ही शासन कर रहा था। यदि युद्ध न होता और सारे भारतकी सत्ता दुर्योधनके हाथमें चली जाती, तो एक दिन ऐसा आता कि जब सम्पूर्ण आर्यावर्त गांधार राज्यका एक अंग बन जाता। दूरदर्शी श्रीकृष्ण इस बातको जान गए थे। इसलिए इस युद्धके द्वारा सभी देशी विदेशी राजाओंका संहार करवा कर आर्यावर्तमें आर्योंके चक्रवर्ती साम्राज्यकी स्थापना की। इस प्रकार श्रीकृष्णके सामने भारतके अखण्डताकी कल्पना थी। वे हर दृष्टिसे भारतकी अखण्डताके अभिलाषी थे। महाभारत युद्धके बाद श्रीकृष्णका जीवन अज्ञातसा है। उस समयके जीवनपर प्रकाश डालते हुए गुजराती कवि श्री दलपतरामने "हरिसंहिता" के नामसे एक काव्यकी रचना शुरु की, पर बीचमें ही उनकी मृत्यु हो जानेके कारण वह रचना अधूरी ही रह गई। उसमें कविने लिखा है, (संभव है कि कविकल्पना इसमें अधिक रही हो) कि युद्धके बाद श्रीकृष्णने शस्त्रसंन्यास ले लिया और तीर्थयात्राके लिए चल पडे। सभी तीर्थोंकी यात्रा करनेके बाद वे प्रभासपत्तन पहुंचे, जहां एक व्याधके बाणसे उनकी मृत्यु हो गई। वहां कवि यह निष्कर्ष निकालता है कि युद्धके बाद राजनैतिक दृष्ट्या सारा आर्यावर्त अखण्ड हो चुका था, पर सांस्कृतिक दृष्ट्या अभी नहीं हो पाया था। इसलिए श्रीकृष्णने सारे भारतको सांस्कृतिक दृष्टिसे भी अखण्ड बनानेके लिए तीर्थयात्रा की थी। इस काममें वे सफल भी हुए। यही कारण था कि राजनैतिक और सांस्कृतिक दृष्टिसे यह भारत अनेक सदियोंतक अखण्ड रहा।

महाभारतका रत्न-गीता

महाभारतका मूल्य यद्यपि सर्वत्र ही देखा जा सकता है, पर श्रीकृष्णकी गीताने इस महाकाव्यको देशों विदेशोंमें अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया। सभी यह स्वीकार करते हैं कि गीता एक अद्वितीय ग्रंथ है। यही ग्रंथ है कि जिसका अनेकों विदेशी भाषाओंमें अनुवाद हो चुका है। संभवतः सर्वाधिक साहित्य भी इसी पर लिखा गया है।

×

महाभारतमें श्रीकृष्ण सर्वत्र एक राजनीतिज्ञके रूपमें सामने आते हैं, पर गीतामें वे एक सर्वश्रेष्ठ दार्शनिकमें रूपमें दिखाई देते हैं। गीता एक कर्मयोगीके द्वारा अपने कर्तव्यसे विस्मृत या विमुख एक कर्मयोगीको कर्मयोगका उपदेश है। गीताको केवल एक अध्यात्मग्रंथ मानना उस ग्रंथके, श्रीकृष्ण के और व्यासके साथ अन्याय करना है। गीताके द्वारा कृष्णने एक संसारसे दूर भागनेवाले कर्तव्यपराङ्मुख वीरको इसी संसारमें रहकर कार्य करनेकी प्रेरणा दी। वह गीता मनुष्यको जंगलमें जाकर तपस्या करनेके लिए नहीं कहती, अपितु उसे इसी संसारमें रहकर अपने कर्तव्य करनेकी शिक्षा देती है! अतः उसे एक अध्यात्मशास्त्र कहनेकी अपेक्षा एक कर्तव्यशास्त्र या नीतिशास्त्र (An ethical treatise) कहना अधिक उपयुक्त होगा। कहना अनुचित न होगा कि यदि भगवान्ने अर्जुनको गीता न सुनाई होती, तो संभवतः महाभारत युद्ध होता ही नहीं और यदि होता भी तो कुछ और ही परिणाम आता।

श्रीकृष्णको पता था कि पाण्डवोंकी विजय निश्चित है, क्योंकि वे जानते थे कि "यतो धर्मः ततो जयः" जहाँ धर्म होता है, वहीं विजय होती है। इसीलिए उन्होंने पाण्डव अर्जुनको युद्धके लिए प्रेरित किया। महाभारतकार व्यास भी इस तथ्यसे भली भांति परिचित थे। इसीलिए वे गीताके अन्तमें कहते हैं–

यत्र योगेश्वरो कृष्णः यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्री विजयो भूतिः ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

अर्थात् "जिस पक्षमें योगेश्वर कृष्ण हैं और महा धनुर्धारी अर्जुन हैं, उसी पक्षमें श्री, विजय और ऐश्वर्यकी प्रतिष्ठा रहेगी, यह मेरा निश्चित मत है।"

महाभारतमें श्रीकृष्ण बुद्धि एवं अर्जुन शक्तिके प्रतीक हैं। जिस राष्ट्रमें बुद्धि और शक्ति होगी, वह राष्ट्र हमेशा उन्नत रहेगा। इन्हीं दोनों शक्तियोंके लिए वेदोंमें ब्रह्म और क्षत्र शब्द आए हैं। वेदका मंत्र है–

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना॥
(यजु. २०।२५)

"जिस देशमें ब्रह्मशक्ति अर्थात् बुद्धिशक्ति और क्षात्रशक्ति अर्थात् शारीरिकशक्ति दोनों साथ साथ उत्तम रीतिसे चलते हैं, वही देश पुण्यशाली होता है।"

इस बातको महाभारतकार भी जान गए थे। इस प्रकार महाभारतमें श्रीकृष्ण राजनीतिज्ञ, योगेश्वर, दार्शनिक आदि अनेकों रूपोंमें दृष्टिगोचर होते हैं।

क्या महाभारत काल्पनिक है?

महाभारतके सम्बन्धके अनेक विचारोंमें एक विचार यह भी है कि महाभारत एक कवि कल्पना है। इस विचारका मुख्य आधार है पात्रोंके नाम। महाभारतमें नाम मुख्यतया वैय्यक्तिक न होकर देशके ऊपर रखे गए हैं, उदाहरणार्थ- गांधारी गांधारदेशके राजाकी पुत्री होनेके कारण उसका नाम था। दूसरेका राज्य हर लेनेके कारण धृतराष्ट्र था। दुःशासन, दुर्योधन, दुःशला आदि नाम भी सार्थक नहीं कहे जा सकते। इसी प्रकार पांचाल देशके राजा द्रुपदकी पुत्री होनेके कारण द्रौपदी (द्रुपदस्यापत्यं द्रौपदी), आदि नाम कुछ अजीबसे लगते हैं। इसलिए लोगोंका विचार है कि यह महाभारत एक कवि कल्पना है। पर उनका यह विचार निराधार ही प्रतीत होता है। क्योंकि व्यवहारमें ऐसा भी देखा जाता है कि कई महापुरुष अपने उपनामसे ही ऐसे प्रसिद्ध हो गए हैं कि उनके मूल नामका ही पता नहीं लगता।

महाराष्ट्रमें इस प्रकारके अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं। जैसे लोकमान्य तिलक, इनका पूरा नाम बाल गंगाधर तिलक, होते हुए भी ये इतिहासमें तिलकके नामसे ज्यादा प्रसिद्ध हैं। वीर सावरकर भी अपने गांव सावरके नामसे ज्यादा प्रसिद्ध हैं। पर इन नामोंके आधार पर इन व्यक्तियोंको काल्पनिक सिद्ध करना बडा कठिन काम है। इसी तरह महाभारत कालमें भी देशके नाम पर व्यक्तियोंके नाम रखने की प्रथा थी।

इसके अलावा महाभारत इतिहासके रूपमें ज्यादा प्रसिद्ध है। इसमें काव्यत्व है अवश्य, पर काव्यत्व गौण है और इतिहासत्व प्रधान। इतिहास घटना प्रधान होता है, कल्पना प्रधान नहीं। महाभारतका इतिहासत्व स्वयं महाभारतमें प्रतिपादित है—

जयो नामेतिहासोऽयम् (स्वर्गारोहणपर्व)

इतिहासका अर्थ ही "इति ह आस" है, अर्थात् भूत कालमें ऐसा हुआ था। अतीतकालमें हुई घटनाओंका वर्णन महाभारतमें है। डॉ. सी. वी. वैद्यने अपने ग्रन्थ 'महाभारत ऍ क्रिटिसिज्म' में महाभारतको काव्य और इतिहास दोनों सिद्ध किया है।

महाभारतके रचयिता एवं रचनाकाल

महाभारतकी घटना भारतीय इतिहासमें एक अद्वितीय घटना है। या यह भी कहा जा सकता है कि यहींसे भारतीय इतिहासकी अखण्ड परम्परा चली आती है। महाभारतके कालको निश्चित करना बडी टेढी खीर है। क्योंकि महाभारतके आजतक तीन संस्करण हो चुके हैं (जैसा कि हम पूर्व पृष्ठोंमें बता आए हैं) इन तीन संस्करणोंमें प्रथम संस्करण स्वयं व्यासका था और ये व्यास स्वयं महाभारतके समय मौजूद थे।

व्यासका मूल नाम कृष्ण था। इनके पिता महर्षि पराशर थे। इनके जन्मका वृत्तान्त महाभारतके आदि पर्वमें ही आया है। महर्षि पराशर तीर्थयात्रा करते हुए यमुना नदीके किनारे आये। वहां उस समय धीवरोंके राजा दाशराजकी कन्या सत्यवती नाव खे रही थी। महर्षि उस पर बैठे। नावमें सत्यवतीकी सुन्दरता पर मोहित होकर उन्होंने उसकी कामना की। चूंकि सत्यवती धीवरकी कन्या थी, अतः उसके शरीरसे हमेशा मछलीकी दुर्गन्ध निकला करती थी, इसलिए उसे मत्स्यगंधा भी कहते थे। महर्षिकी अभिलाषा जानकर वह संकोचमें पडी। वह बोली कि नदीके दोनों तरफ महर्षि गण स्नान आदि कर रहे हैं, इस स्थितिमें यह कैसे संभव है? तब पराशरने अपनी तपस्याके प्रभावसे चारों ओर कोहरा पैदा कर दिया और उससे चारों ओर अन्धकार सा छा गया। फिर महर्षिने उसे यह भी वरदान दिया कि पुत्रोत्पत्तिके बाद वह फिरसे कन्या बन जाएगी और उसके शरीरसे दुर्गन्धीके बजाए सुगंधी निकला करेगी। यह सुगंध एक योजन १२ से भी अनुभव की जा सकती थी। इसीलिए सत्यवतीका नाम योजनगंधा भी पड गया। इस सत्यवतीसे पराशरने यमुनाके एक द्वीपपर एक पुत्र पैदा किया। घने अन्धकारमें वीर्याधान करनेके कारण यह पुत्र एकदम कृष्ण वर्णका हुआ, इसलिए इसका नाम कृष्ण पडा, और चूंकि यमुनाके एक द्वीप पर जन्म हुआ, इसलिए ये द्वैपायनके नामसे प्रसिद्ध हुए। इन्होंने वेदोंकी व्यवस्था की अर्थात् बिषयके अनुसार वेदोंको अलग अलग किया, इसलिए इनका नाम व्यास पडा। १३ ये ही महाभारतके मूल रचयिता माने जाते हैं। कई विद्वान् इनके अस्तित्वमें भी सन्देह उपस्थित करते हैं। पर प्राचीन परम्पराके अनुसार ये महाभारत कालमें थे और इन्होंने ही मूल महाभारतकी रचना की थी। इसी प्राचीन परम्पराको हम भी स्वीकार करते हैं।

महाभारत युद्धके एवं ग्रंथके रचना कालमें बडी अटकल बाजियां हैं। सौति द्वारा किए गए महाभारतके तीसरे संस्करणका काल लगभग निश्चित ही है। लोकमान्य तिलकने इसका काल ईसापूर्व २५० का माना है। इसका अर्थ यह है कि सौतिका काल २५० से ३०० ईसा पूर्वके मध्यमें माना जा सकता है।

वैशम्पायनका काल जनमेजयका काल ही है। क्योंकि वैशम्पायनने ही यह महाभारत जनमेजयको सुनाया था। जनमेजयका काल ईसा पूर्व ३००० के आसपास माना जा सकता है। पर कई विद्वान् वैशम्पायनका काल १४०० ईसापूर्वके आसपास मानते हैं।

महाभारत युद्धका काल प्राचीन भारतीय परम्पराके अनुसार द्वापर और कलियुगका सन्धिकाल है। भारतीय गणनाके अनुसार कलियुगको शुरु हुए आज करीब ५००० वर्ष हो चुके हैं। इसका अर्थ यह है कि महाभारत युद्धको भी करीब इतने ही वर्ष हो गए होंगे। कतिपय भारतीय विद्वानोंके अनुसार ईसापूर्व ३१०० के आसपास यह युद्ध हुआ था। रायबहादुर सी. बी. वैद्यने भी इसी कालको प्रामाणिक माना है। इस प्रकार ईसा पूर्वके ३१०० और ईसा बादके १९६७ बरस मिलाकर करीब ५००० वर्षोंकी हमारी काल गणना ठीक बैठती है।

इसके आधारपर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि महाभारतका युद्ध ईसापूर्व ३१०० के आसपास हुआ और उस युद्धका और कौरव पाण्डवोंका आंखों देखा इतिहास व्यासने जय नामक एक छोटेसे ग्रंथमें किया। जिसे ईसा पूर्व ३००० के आसपास वैशम्पायनने परिवर्धित करके सर्पसत्रके अवसर पर राजा जनमेजयको सुनाया। तत्पश्चात् उसके अनेक वर्षोंके बाद ईसापूर्व २५० या ३०० के आसपास सौतिने फिर उसमें परिवर्धन करके नैमिषारण्यमें यज्ञके अवसरपर शौनकको सुनाया।

---

१२ चार कोसका एक योजन और २ मीलका एक कोस = ८ मीलका एक योजन.

१३ वेदं बिव्यास यस्मात्तु व्यास इत्यभिधीयते।

महाभारतके पर्वविभाग एवं श्लोक संख्या

हो सकता है कि सौतिके संस्करणतक अनेक श्लोक मिला दिए गए हों, पर सौतिके बाद उसमें प्रक्षेप करना असंभव-सा हो गया। क्योंकि सौतिने अपने अनुक्रमणिका अध्यायमें पर्व और प्रत्येक पर्वके अन्तर्गत अध्याय एवं श्लोकोंकी संख्या भी दे दी है। इसलिए उसके बाद प्रक्षिप्त श्लोकोंकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

आज महाभारतके नीलकण्ठ, कुम्भकोणं और भाण्डारकर पूनाके संस्करण मिलते हैं इन संस्करणोंमें भाण्डारकर ऑरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूटका संस्करण सर्वाधिक प्रामाणिक माना जाता है। इन तीनों संस्करणोंमें उपलब्ध अध्यायों एवं श्लोकोंकी संख्याकी तालिका इस प्रकार है।

पर्व	अनुक्रमणिकोक्त प्रति		नीलकण्ठकी प्रति		कुम्भकोणंकी प्रति		भाण्डारकर ऑरियण्टल रिसर्च इंस्टी० प्रति	
	अध्याय	श्लोक	अध्याय	श्लोक	अध्याय	श्लोक	अध्याय	श्लोक
आदिपर्व	२२७	८८८४	२३४	८४६६	२६०	१०९९८	२१८	७९८४
सभा०	७८	२५११	८१	२७०२	१०३	४३७७	७२	२५११
वन०	२६९	११६६४	३१५	११८५४	३१५	१४०८१	२६९	११६६४
विराट्०	६७	२०५०	७२	२३२७	७८	३५७५	६७	२०५०
उद्योग०	१८६	६६९८	१९६	६६१८	१९६	६७५२	१८६	६६९८
भीष्म०	११७	५८८४	१२२	५८१७	१२२	५९०८	११७	५५८४
द्रोण०	१७०	८९०९	२०२	९५९३	२०३	१०१२७	१७०	८९०९
कर्ण०	६९	४९६४	६६	४९८७	१०१	४९८६	६९	४९००
शल्य०	५९	३२२०	६५	३६०८	६६	३५९४	५९	३२२०
सौप्तिक०	१८	८७०	१८	८१०	१८	८१५	१८	८७०
स्त्री०	२७	७७५	२७	८२६	२७	८०७	२७	७७५
शान्ति०	३३९	१४७३२	३६६	१३७३२	३७५	१५१५३	३३९	१४५२५
अनुशासन०	१४६	८०००	१६९	७८३९	२७४	१०९८३	१४६	६७२०
आश्वमेधिक०	१०३	३३२०	९२	२८५२	११८	४५४३	१३३	३३२०
आश्रमवासिक०	४२	१५०६	३९	१०८५	४१	१०९८	४२	१५०६
मौसल०	८	३२०	८	२८७	९	३००	८	३००
महाप्रास्थानिक०	३	१२०	३	१०९	३	१११	३	१२०
स्वर्गारोहण०	५	२०९	६	३०७	६	३३७	५	२००
हरिवंश० ×	२६३	१२०००	—	१२०००	—	१२०००	—	१२०००
योग	२३७२	९६८३६		९५८२६		९८५४५		९४२४६

× हरिवंशकी संख्या स्वतंत्र है। यद्यपि यह हमेशा महाभारतमें गिना जाता है, पर वह महाभारतके परिशिष्टके समान होनेके कारण वह हमेशा पृथक् ही रहता है।

इन उपर्युक्त तीनों संस्करणोंमें भाण्डारकर ऑरियण्टल रिसर्च इंस्टीटयूट, पूना द्वारा सम्पादित संस्करण ही सर्वाधिक प्रामाणिक एवं प्रक्षेपरहित माना जाता है। इसीलिए हमने इसी संस्करणपर अनुवाद करना उचित समझा। इस संस्करणकी विशेषता यह है कि इसमें शुद्ध पाठके साथ साथ पाठभेद भी फुटनोटमें दे दिए हैं। हमारी भी यही अभिलाषा थी कि हम भी फुटनोटमें पाठभेद देते, पर स्थानाभावके कारण हम वैसा न कर सके, तदर्थ हमें खेद है।

आदिपर्वका सारांश

यह प्रथम पर्व है। इसमें प्रस्तुत संस्करणके अनुसार २१८ अध्याय और ७९८४ श्लोक हैं। इस पर्वमें अनेक उपपर्व हैं। अनुक्रमणिका एवं पर्वकी गणनाके बाद इसकी कथा जनमेजयके सर्पसत्रमें जनमेजयके भाईयोंके द्वारा मारे गए कुत्तेकी माता सरमासे शुरु होती है। तदनन्तर धौम्यके तीन शिष्य अरुण, उपमन्यु और वेदकी कथायें हैं। अपने गुरुकी आज्ञानुसार अरुण खेत पर पानी रोकनेके लिए जाता है और जब वह रुकता नहीं, तब उस जगह स्वयं लेट जाता है। उपमन्यु भी गायोंको चराता है, पर जब गुरुके द्वारा हरएक चीज खानेसे निषिद्ध कर दिया जाता है, तब आकके पत्ते खाकर वह अन्धा होकर एक कुंएमें गिर पडता है, तब अश्विनी आकर उसे दृष्टिदान करते हैं।

वेदका शिष्य उत्तंक अपनी गुरुभार्याके लिए राजा पौष्यसे उसकी स्त्रीसे कंगन मांगने जाता है। लाते समय वह कंगन सर्पराज तक्षकके द्वारा चुरा लिया जाता है। वह फिर नागलोक जाकर उन कंगनोंको प्राप्त करता है और ले जाकर गुरुभार्याको दे देता है। तक्षकके इस कार्यसे असन्तुष्ट होकर उत्तंक सर्पनाश करनेके अभिप्रायसे जनमेजयके पास जाकर उसे सर्पयज्ञ करनेकी प्रेरणा देता है। यहां पौष्यपर्व समाप्त होता है।

इसके बाद पौलोमपर्वमें भृगुपत्नी पुलोमाका राक्षसके द्वारा अपहरण, भृगुका अग्निको शाप, विश्वावसु गन्धर्वके द्वारा मेनकामें उत्पन्न प्रमद्वराका राजा प्रमतिके द्वारा घृताची में उत्पन्न रुरुका विवाह, प्रमद्वराका सांपसे काटे जाकर मर जाना, रुरुका विलाप एवं अपनी आधी आयु देकर उसे जीवित करना, रुरुके द्वारा सर्पनाशकी प्रतिज्ञा, डुण्डुभकी कथाका वर्णन है।

आस्तीक पर्वमें जरत्कारुका गर्तमें अधोमुख अपने पितरोंको देखना, उनके उद्धारके लिए वासुकीकी बहिन जरत्कारुसे विवाह करना, उससे आस्तीक नामक पुत्र उत्पन्न करना, फिर क्रुद्ध होकर अपनी पत्नीको छोड जाना, विनता और कद्रुकी कथा, सर्पों एवं गरुडकी उत्पत्ति, समुद्र मंथनकी कथा, गरुडका स्वर्गसे अमृत लाना, जनमेजयका सर्पयज्ञ और आस्तीकके द्वारा सर्पयज्ञको रोककर वासुकी एवं तक्षककी रक्षाका वर्णन है।

आदिवंशावतरणपर्वमें कृष्ण द्वैपायन व्यासकी उत्पत्ति, शन्तनुकी कथा, शन्तनुसे सत्यवतीका विवाह, भीष्मप्रतिज्ञा, विचित्रवीर्यका विवाह एवं मरण, उसकी रानियां अम्बालिका एवं अम्बिका तथा दासीसे व्यास द्वारा पाण्डु, धृतराष्ट्र एवं विदुरकी उत्पत्ति, पाण्डुका कुन्ती एवं माद्री तथा धृतराष्ट्रका गांधारीसे विवाह, पाण्डुकी प्रार्थना पर कुन्तिसे धर्म, वायु, इन्द्रके द्वारा क्रमशः युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन तथा अश्विनीके द्वारा माद्रीमें नकुल और सहदेवकी उत्पत्ति, धृतराष्ट्रके द्वारा गांधारीसे दुर्योधनादि सौ पुत्रोंकी उत्पत्ति, आदिका वर्णन है,

शकुन्तलोपाख्यानमें दुष्यन्तका कण्वके तपोवनमें जाना, वहां विश्वामित्रसे मेनकामें उत्पन्न शकुन्तलासे दुष्यन्तका गान्धर्व विवाह, कण्वका शकुन्तलाको दुष्यन्तके पास भेजना, दुष्यन्तका अस्वीकार करना, शकुन्तलासे भरतकी उत्पत्ति तथा शकुन्तला–दुष्यन्तका मिलन आदिका वर्णन है।

ययाति उपाख्यानमें ययातिका असुरगुरु शुक्राचार्यकी पुत्री देवयानी एवं असुरराज वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठासे विवाह, देवयानीसे युद्ध और तुर्वसुकी तथा शर्मिष्ठासे द्रुह्यु, अनु और पुरुकी उत्पत्ति, ययातिका अपने पुत्रोंसे युवावस्था मांगना, सबके मना कर देने पर शाप देना, पुरुके युवावस्था देने पर उसे राज्याधिकारी बनाना, अन्तमें विषयभोगमें तृप्ति न देखकर पुरुको राज्य देकर ययातिका तपस्याके लिए वन चले जानेका वर्णन है।

संभवपर्वमें पाण्डुके पांच पुत्रों एवं धृतराष्ट्रके सौ पुत्रोंकी उत्पत्तिका वर्णन है। इन सबमें बलवान् भीमका अन्य कौरवोंको सताना, भीमको मारनेके लिए दुर्योधन और शकुनिके द्वारा उपाय, पाण्डुकी मृत्यु, माद्रीका सती होना, द्रोणाचार्यकी कथा, एकलव्यकी कथा, अर्जुनकी प्रशंसा, अर्जुनके द्वारा गुरुदक्षिणाके रूपमें द्रुपदको पकडकर लाना, द्रुपदका संताप, आदिका वर्णन है।

जातुगृहदाहपर्वमें पाण्डवोंकी वारणावत यात्रा, वहां दुर्योधनका अपने मंत्री पुरोचनको भेजकर लाक्षागृह बनवाना, उसमें पाण्डवोंको ठहराना, विदुर द्वारा पहले ही पाण्डवोंको सावधान कर देना, सुरंग खोदकर उसमेंसे बच निकलना, आदि बातोंका वर्णन है।

हिडिम्ब वधपर्वमें वारणावतके लाक्षागृहसे बचकर निकलने पर सभी पाण्डवों और कुन्तीका एक वनमें रहना, वहां अपने भाई हिडिम्बके भेजे जानेपर हिडिम्बाका आना, भीमसेन पर उसका मोहित होना, तब स्वयं हिडिम्बका आना, भीमका उससे युद्ध होकर उसका मारा जाना, हिडिम्बाकी भीमसे विवाहकी प्रार्थना, कुन्तीकी आज्ञा पर भीमका हिडिम्बाके साथ विवाह और घटोत्कचकी उत्पत्तिका वर्णन है।

बकवधपर्वमें पाण्डवों और कुन्तीका घूमते घामते एकचक्रा नगरीमें जाना, वहां एक ब्राह्मणके यहां छिपकर रहना, एक दिन उस ब्राह्मण परिवारका रोदन सुनकर कुन्तीका जाकर पूछना, ब्राह्मणीके द्वारा बकासुरके भोजनादिका वर्णन, कुन्तीका भीमको भेजनेका आग्रह करना, भीमका भोजनसामग्री लेकर बकासुरके पास जाना, बकासुरके साथ भीमका युद्ध और बकासुरके मारे जानेका वर्णन है।

चैत्ररथपर्वमें मार्गमें जाते हुए पाण्डवोंको जलमें गन्धर्वियोंके साथ विहार करते हुए गन्धर्वराज चित्ररथका देखकर क्रोधित होना, अर्जुनसे युद्ध और चित्ररथका प्रसन्न होकर अर्जुनको शस्त्रास्त्र देना आदिका वर्णन है।

वासिष्ठोपाख्यानमें राजा विश्वामित्रका ससैन्य वसिष्ठके आश्रममें आना, वसिष्ठका आदर सत्कार करना, आश्रममें विश्वामित्रका कामधेनुको देखकर उसे मांगना, वसिष्ठका इन्कार कर देना, क्रुद्ध होकर विश्वामित्रका आश्रमपर आक्रमण करके उसे उजाड देना, गायको जबर्दस्ती लेजानेका प्रयास, गायके द्वारा सेनाकी उत्पत्ति, विश्वामित्रकी सेनासे युद्ध और विश्वामित्रका पराभव, ब्रह्मतेज देखकर विश्वामित्रका शस्त्रत्याग करके तपस्या करके ब्रह्मर्षिपदकी प्राप्ति करना आदिका वर्णन है।

द्रौपदी स्वयंवर पर्वमें एकचक्रा नगरीमें पाण्डवोंके सामने एक ब्राह्मणके द्वारा द्रौपदी और उसके भाई धृष्टद्युम्नका यज्ञसे उत्पत्तिकी कथा सुनाना, धृष्टद्युम्नको प्राप्त करनेके पीछे राजा द्रुपदका उद्देश्य, द्रोणाचार्यको मारनेवाले पुत्रको पानेकी इच्छासे द्रुपदका यज्ञ करना, द्रौपदीकी सुन्दरताका वर्णन, उसके स्वयंवरकी सूचना देकर पाण्डवोंको उस स्वयंवरमें जानेकी सलाह देना, पांचाल नगरमें जाकर पाण्डवोंका एक कुम्हारके घर जाकर ब्राह्मणके छद्मवेषमें रहना, स्वयंवरमें अर्जुन द्वारा लक्ष्यवेध, द्रौपदीका अर्जुनको वरमाला पहनाते देखकर राजाओंका क्रोधित होकर द्रुपदपर आक्रमण, भीम अर्जुनसे दुर्योधन, कर्ण आदिका युद्ध एवं कर्णका पराभव, अर्जुनका द्रौपदीके साथ अपने घर आना, कुन्तीको भिक्षाकी सूचना देना, कुन्तीके द्वारा पांचों पाण्डवोंके द्वारा भोगनेकी आज्ञा, धृष्टद्युम्नके द्वारा पाण्डवोंकी पहचान, द्रुपदका प्रसन्न होना, व्यास द्वारा द्रौपदीको पांच पतियोंके विधानकी कहानी सुनाना और पांचों पाण्डवोंसे द्रौपदीके विवाहका वर्णन है।

विदुरागमनपर्वमें पाण्डवोंको जीवित दशामें जानकर धृतराष्ट्र, दुर्योधन आदिका दुःखी होना, विदुरका प्रसन्न होना, वृद्धोंके समझानेपर धृतराष्ट्रको इन्द्रप्रस्थका प्रदेश देना स्वीकार करना, पाण्डवोंको बुला लानेके लिए विदुरको भेजना, पाण्डवोंका हस्तिनापुरमें आनेका वर्णन है।

राज्यलम्भपर्वमें धृतराष्ट्रके द्वारा इन्द्रप्रस्थका प्रदेश देना, युधिष्ठिरके द्वारा स्वीकार करके इन्द्रप्रस्थको अपनी राजधानी बनानेका वर्णन है।

सुन्दोपसुन्दोपाख्यानमें नारदका आकर पांचों भाईयोंको व्यवहारकी बातें बताना, सुन्द उपसुन्द दो असुर भाइयोंका वर पाकर लोकोंको सताना, डर कर देवोंका ब्रह्माकी शरणमें जाना, ब्रह्माके आदेशपर विश्वकर्माका तिलोत्तमा नामक एक सुन्दरीका निर्माण, सुन्दरीको देखकर सुन्दउपसुन्दका परस्पर युद्ध एवं दोनोंके मारे जानेका वर्णन है।

अर्जुन वनवासपर्वमें नारदके समझानेपर पांचों पाण्डवोंमें शर्त निश्चित करना कि यदि द्रौपदी किसी साथ बैठी हो और उस समय यदि कोई दूसरा पाण्डव उनके सामने चला जाए, तो वह प्रायश्चित्तके रूपमें बारह वर्षके लिए वनवास करे, युधिष्ठिरका द्रौपदीके साथ बैठना, ब्राह्मणकी गायको चुराया जाना, गाय छुडानेके लिए अर्जुनका शस्त्र लेनेके लिए युधिष्ठिरके कमरेमें घुसना, चोरोंसे गाय छुडा लाना और प्रायश्चित्तके रूपमें युधिष्ठिरकी आज्ञासे वनके लिए अर्जुनका प्रस्थान, वनमें अर्जुनका नागलोककी कन्या उलूपीसे समागम, चित्रांगदासे समागम, बभ्रुवाहनकी उत्पत्ति और शापके कारण जलचर योनिको प्राप्त हुए पांच अप्सराओंका उद्धार आदिका वर्णन है।

सुभद्राहरणपर्वमें घूमते घामते अर्जुनका प्रभासतीर्थमें गमन, श्रीकृष्णका वहां जाकर अर्जुनसे मिलना, उन्हें द्वारकामें लाना, रैवतक पर्वतपर यादवोंका उत्सव, उत्सवमें अर्जुनका कृष्णकी बहिन सुभद्राको देखकर उसपर मोहित होना, कृष्ण और युधिष्ठिरकी सहमतिसे अर्जुनका सुभद्राको हर ले जाना, बलराम आदि वृष्णियोंका क्रुद्ध होना, कृष्णका उन्हें समझाकर शान्त करना, फिर बलराम आदिका दहेज लेकर इन्द्रप्रस्थको जाना आदिका वर्णन है।

खाण्डवदाहपर्वमें कृष्ण और अर्जुनके पास अग्निका आना, और खाण्डववनको जलानेके लिए उसकी अर्जुन एवं कृष्णसे प्रार्थना एवं अग्निका अर्जुनको गाण्डीव धनुष, तूणीर और रथ तथा श्रीकृष्णको पांचजन्य शंख एवं चक्र प्रदान करना, अर्जुन एवं कृष्णका खाण्डवको जलाना, देवों और इन्द्रके साथ कृष्ण और अर्जुनका युद्ध, देवों एवं इन्द्रका पराभव, मयकी प्रार्थनापर अर्जुनने द्वारा उसे जीवन दान और अग्निका प्रसन्न होकर कृष्ण अर्जुनको वर देनेका वर्णन है।

इस प्रकार आदिपर्व समाप्त होता है।

आभार प्रदर्शन

आदिपर्वका हिन्दी अनुवाद पाठकोंके सामने प्रस्तुत करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है।

इसके प्रकाशनके लिए भारतसरकारके शिक्षा मंत्रालयने आर्थिक सहायता प्रदान करके जो महान् कार्य किया है, उसके लिए हम हृदयसे आभारी हैं।

इस प्रकाशनके लिए हम श्री सेठ गंगाप्रसादजी बिरला का भी उपकार नहीं भूल सकते। उन्होंने कागज देकर हमारी जो सहायता की है, उसके लिए हम हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

यह अनुवाद हम भाण्डारकर प्राच्यविद्याशोध संस्थान पूनाके द्वारा प्रकाशित महाभारतके संस्करणके आधार पर छाप रहे हैं इसके लिए उस संस्थाके अधिकारियोंकी अनुमति आवश्यक थी। उस संस्थाके डाइरेक्टर डॉ. रा. ना. दाण्डेकरसे हमने प्रार्थना की। उन्होंने भी हमारी प्रार्थनाको स्वीकार करके अपनी अनुमति देकर जो महान् उपकार किया उसके लिए हम डॉ. रा. ना. दाण्डेकर तथा उस संस्थाके अन्य अधिकारियोंके अत्यन्त आभारी हैं एवं अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

इसके अतिरिक्त इस कार्यमें अन्योंके भी, जिन्होंने हमारी सहायता की, हम आभारी हैं।

अन्तमें, प्रकाशनके दौरान अत्यधिक सावधानी रखनेके बावजूद भी ग्रंथमें जो त्रुटियां रह गई हों, तदर्थ हम पाठकोंसे सहानुभूतिकी कामना करते हैं।

स्वाध्याय-मण्डल, पारडी
[जि. बलसाड] (गुजरात)

पं. श्री. दा. सातवलेकर
प्रधान सम्पादक

आदि पर्व



महाभारत

आदिपर्व।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

ॐ नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥

ॐ गणोंके ईशके लिये नमस्कार हो ।
ॐ नरोत्तम नारायण, नर और देवी सरस्वतीको प्रणाम करके जयकी घोषणा करनी चाहिये ॥

लोमहर्षणपुत्र उग्रश्रवाः सूतः पौराणिको
नैमिषारण्ये शौनकस्य कुलपतेर्द्वादशवार्षिके सत्रे ॥ १ ॥

एक समय लोमहर्षणके पुत्र सूतवंशी, पौराणिक उग्रश्रवा नैमिषारण्यमें कुलके स्वामी श्री शौनकजीके द्वादशवार्षिक–यज्ञमें दीक्षित ॥ १ ॥

समासीनानभ्यगच्छद्ब्रह्मर्षीन् संशितव्रतान् ।
विनयावनतो भूत्वा कदाचित् सूतनन्दनः ॥ २ ॥

परम सुखसे बैठे हुए तथा व्रतसे तपे हुए बडे बडे ऋषियोंके पास विनयसे नम्र होकर जा पहुंचे ॥ २ ॥

तमाश्रममनुप्राप्तं नैमिषारण्यवासिनः ।
चित्राः श्रोतुं कथास्तत्र परिवव्रुस्तपस्विनः ॥ ३ ॥

नैमिषारण्यमें रहनेवाले उन ऋषियोंके आश्रममें उग्रश्रवाके पहुंचनेपर, तपस्वी लोग अद्भुत कथा सुननेके लिये वहां आकर उनको चारों ओरसे घेरकर बैठ गए ॥ ३ ॥

अभिवाद्य मुनींस्तांस्तु सर्वानेव कृताञ्जलिः ।
अपृच्छत्स तपोवृद्धिं सद्भिश्चैवाभिनन्दितः ॥ ४ ॥

सज्जनों द्वारा पूजित होकर सूत-पुत्रने उन सब मुनि और तपस्वियोंको प्रणाम करके दोनों हाथ जोडकर उनकी तपोवृद्धिका समाचार पूछा ॥ ४ ॥

अथ तेषूपविष्टेषु सर्वेष्वेव तपस्विषु ।
निर्दिष्टमासनं भेजे विनयाल्लोमहर्षणिः ॥ ५ ॥

उसके बाद उन सब तपस्वियोंके बैठनेके पश्चात् लोमहर्षणके पुत्र उग्रश्रवा नम्रभावसे अपने लिये बताए गए आसनपर जा विराजे ॥ ५ ॥

सुखासीनं ततस्तं तु विश्रान्तमुपलक्ष्य च ।
अथापृच्छदृषिस्तत्र कश्चित्प्रस्तावयन्कथाः ॥ ६ ॥

उन्हें सुखसे बैठे हुए और स्वस्थचित्त देखकर किसी ऋषिने कथाका प्रस्ताव करते हुए पूछा ॥ ६ ॥

कुत आगम्यते सौते क्व चायं विहृतस्त्वया ।
कालः कमलपत्राक्ष शंसैतत्पृच्छतो मम ॥ ७ ॥

हे कमलकी पंखुडियोंके समान आंखोंवाले सूत-पुत्र ! इस समय आपका आना कहांसे हुआ और अबतक आप कहां कहां घूमे ? यह सब वृत्तान्त पूछनेवाले मुझसे कहिए ॥ ७ ॥

सूत उवाच

जनमेजयस्य राजर्षेः सर्पसत्रे महात्मनः ।
समीपे पार्थिवेन्द्रस्य सम्यक्पारिक्षितस्य च ॥ ८ ॥

सूत बोले- हे चिरञ्जीव महर्षियो ! महात्मा, राजर्षि, राजाओंमें इन्द्रके सदृश तथा परीक्षितके पुत्र जनमेजयके सर्पयज्ञमें ॥ ८ ॥

कृष्णद्वैपायनप्रोक्ताः सुपुण्या विविधाः कथाः ।
कथिताश्चापि विधिवद्या वैशंपायनेन वै ॥ ९ ॥

वैशंपायन मुनिने वेदव्यास महाराजके द्वारा कही गई जो भांति-भांतिकी मनोहर पुण्य-कथायें विधिपूर्वक सुनाई थीं ॥ ९ ॥

श्रुत्वाहं ता विचित्रार्था महाभारतसंश्रिताः ।
बहूनि संपरिक्रम्य तीर्थान्यायतनानि च ॥ १० ॥

अपूर्व अर्थोंसे भरी हुई उन सब महाभारतीय कथाओंको सुन लेनेके पश्चात् नाना तीर्थ और अनेक देशोंमें घूमघाम कर मैं ॥ १० ॥

समन्तपञ्चकं नाम पुण्यं द्विजनिषेवितम् ।
गतवानस्मि तं देशं युद्धं यत्राभवत्पुरा ।
पाण्डवानां कुरूणां च सर्वेषां च महीक्षिताम् ॥ ११ ॥

उस समन्तपञ्चक नामक पवित्र स्थानपर पहुंचा, जहां ब्राह्मण लोग रहते हैं और जहां पहिले कौरव, पाण्डव और दूसरे सब राजाओंमें लडाई हुई थी ॥ ११ ॥

दिदृक्षुरागतस्तस्मात्समीपं भवतामिह ।
आयुष्मन्तः सर्वे एव ब्रह्मभूता हि मे मताः ॥ १२ ॥

वहांसे आप लोगोंको देखनेकी इच्छासे आपके पास यहां आया हूं । हे दीर्घायुवाले ऋषियो ! मैं आप सब लोगोंको ब्रह्म ही मानता हूं ॥ १२ ॥

अस्मिन्यज्ञे महाभागाः सूर्यपावकवर्चसः ।
कृताभिषेकाः शुचयः कृतजप्या हुताग्नयः ।
भवन्त आसते स्वस्था ब्रवीमि किमहं द्विजाः ॥ १३ ॥

सूर्य और अग्निके समान तेजोमय, महान् भाग्यवाले आप लोग इस यज्ञमें अभिषिक्त हुए हैं और नहा धोकर शुद्ध होकरके, जप करके तथा अग्नियोंमें आहुति देकर आसनोंपर सुखसे बैठे हैं; अतः हे ब्राह्मणो ! क्या मैं ॥ १३ ॥

पुराणसंश्रिताः पुण्याः कथा वा धर्मसंश्रिताः ।
इतिवृत्तं नरेन्द्राणामृषीणां च महात्मनाम् ॥ १४ ॥

इसी समय पुराणोंकी धर्मयुक्त पवित्र कथा और नरेशों और महात्मा ऋषियोंका इतिहास सुनाऊं ॥ १४ ॥

ऋषय ऊचुः

द्वैपायनेन यत्प्रोक्तं पुराणं परमर्षिणा ।
सुरैर्ब्रह्मर्षिभिश्चैव श्रुत्वा यदभिपूजितम् ॥ १५ ॥

ऋषियोंने कहा— महर्षि द्वैपायन जो पुराण कह गये हैं, जिसको सुनकर देवता और ब्रह्मर्षियोंने भी बडी प्रशंसा की है ॥ १५ ॥

तस्याख्यानवरिष्ठस्य विचित्रपदपर्वणः।
सूक्ष्मार्थन्याययुक्तस्य वेदार्थैर्भूषितस्य च ॥ १६ ॥

उस कथाओंमें श्रेष्ठ, विचित्रपद और पर्वयुक्त, सूक्ष्मार्थ न्यायसे युक्त तथा वेदार्थसे सुशोभित ॥ १६ ॥

भारतस्येतिहासस्य पुण्यां ग्रन्थार्थसंयुताम्।
संस्कारोपगतां ब्राह्मीं नानाशास्त्रोपबृंहिताम् ॥ १७ ॥

महाभारतके इतिहासकी पुण्यदायक, अनेक ग्रंथोंके अर्थसे युक्त, उत्तम संस्कारोंसे युक्त, ब्रह्म द्वारा कही गई तथा अनेक शास्त्रोंके सारसे युक्त कथाको ॥ १७ ॥

जनमेजयस्य यां राज्ञो वैशंपायन उक्तवान्।
यथावत्स ऋषिस्तुष्ट्या सत्रे द्वैपायनाज्ञया ॥ १८ ॥

राजा जनमेजयके यज्ञमें महर्षि द्वैपायनकी आज्ञासे ऋषि वैशम्पायनने प्रसन्न मनसे ठीक ठीक कह सुनाया था ॥ १८ ॥

वेदैश्चतुर्भिः समितां व्यासस्याद्भुतकर्मणः।
संहितां श्रोतुमिच्छामो धर्म्यां पापभयापहाम् ॥ १९ ॥

अद्भुत कर्म करनेवाले महाराज वेदव्यासकी रची हुई उस चारों वेदोंसे सम्मत पापभय-हारी, धर्मसे युक्त संहिताको हम सुनना चाहते हैं ॥ १९ ॥

सूत उवाच

आद्यं पुरुषमीशानं पुरुहूतं पुरुष्टुतम्।
ऋतमेकाक्षरं ब्रह्म व्यक्ताव्यक्तं सनातनम् ॥ २० ॥

सूत बोले— विश्वके आदि पुरुष, ईश्वर, बहुतों द्वारा बुलाए जानेवाले तथा अनेकों प्राणियों द्वारा स्तुत्य, सत्य, अद्वितीय, अविनाशी, महान्, व्यक्त, अव्यक्त, सनातन ॥ २० ॥

असच्च सच्चैव च यद्विश्वं सदसतः परम्।
परावराणां स्रष्टारं पुराणं परमव्ययम् ॥ २१ ॥

जिसका रचा हुआ विश्व असत्, सत् और सदसत्से भिन्न है; सब स्थूल और सूक्ष्म वस्तु रचनेवाले परम पुराण, अविनाशी ॥ २१ ॥

मङ्गल्यं मङ्गलं विष्णुं वरेण्यमनघं शुचिम्।
नमस्कृत्य हृषीकेशं चराचरगुरुं हरिम् ॥ २२ ॥

मंगलके देनेवाले और मंगलरूप, विश्वभरमें व्याप्त, उपासनायोग्य, पापरहित, शुद्ध, इन्द्रियोंके अधीश और चराचरके गुरु हरिको प्रणाम करके ॥ २२ ॥

महर्षेः पूजितस्येह सर्वलोके महात्मनः ।
प्रवक्ष्यामि मतं कृत्स्नं व्यासस्यामिततेजसः ॥ २३ ॥

सब लोगोंके पूजनीय, महात्मा और अत्यधिक तेजस्वी महाराज महर्षि वेदव्यासका सम्पूर्ण मत कहूंगा ॥ २३ ॥

आचख्युः कवयः केचित्संप्रत्याचक्षते परे ।
आख्यास्यन्ति तथैवान्ये इतिहासमिमं भुवि ॥ २४ ॥

किन्हीं किन्हीं कवियोंने भूमण्डलमें पहिले भी इस इतिहासको कहा है, अब भी कोई इसको कहते हैं, और आगे भी बहुतेरे कहेंगे ॥ २४ ॥

इदं तु त्रिषु लोकेषु महज्ज्ञानं प्रतिष्ठितम् ।
विस्तरैश्च समासैश्च धार्यते यद्द्विजातिभिः ॥ २५ ॥

अनन्त ज्ञानका देनेवाला यह इतिहास तीनों लोकोंमें प्रशंसित हुआ है, द्विजातियोंके लोग इसको संक्षेपमें और विस्तारपूर्वक धारण करते हैं ॥ २५ ॥

अलंकृतं शुभैः शब्दैः समयैर्दिव्यमानुषैः ।
छन्दोवृत्तैश्च विविधैरन्वितं विदुषां प्रियम् ॥ २६ ॥

यह महाभारत ग्रन्थ अच्छे सुललित शब्द और दिव्य श्रेष्ठ मनुष्योंके सदाचारोंसे सुशोभित तथा अनेक सुन्दर सुन्दर छन्द और वृत्तोंसे युक्त है, इसीलिये विद्वान् लोगोंको यह बहुत प्रिय है ॥ २६ ॥

निष्प्रभेऽस्मिन्निरालोके सर्वतस्तमसावृते ।
बृहदण्डमभूदेकं प्रजानां बीजमक्षयम् ॥ २७ ॥

प्रारंभमें घोर अंधेरेसे घिरे हुए और उजाला तथा ज्योतिसे बिलकुल रहित इस लोकमें जीवोंका बीजरूप अविनाशी एक बडा अण्डा उत्पन्न हुआ ॥ २७ ॥

युगस्यादौ निमित्तं तन्महद्दिव्यं प्रचक्षते ।
यस्मिंस्तच्छ्रूयते सत्य ज्योतिर्ब्रह्म सनातनम् ॥ २८ ॥

सृष्टिके आदिमें वह कारण रूप था, पण्डित लोग उसीको महान् और दिव्य कहते हैं । सुना जाता है कि जिसमें प्रकाशमान् अविनाशी सनातन ॥ २८ ॥

अद्भुतं चाप्यचिन्त्यं च सर्वत्र समतां गतम् ।
अव्यक्तं कारणं सूक्ष्मं यत्तत्सदसदात्मकम् ॥ २९ ॥

अद्भुत, अचिन्त्य, सर्वत्र व्याप्त, अव्यक्त, कारणरूप, सूक्ष्म, सत् और असत् रूप ब्रह्म रहता है ॥ २९ ॥

यस्मात्पितामहो जज्ञे प्रभुरेकः प्रजापतिः।
ब्रह्मा सुरगुरुः स्थाणुर्मनुः कः परमेष्ठ्यथ ॥ ३० ॥

जिससे सब लोकोंके एक पितामह, प्रभु, प्रजापति, ब्रह्मा, देवगुरु, स्थाणु, मनु, परमेष्ठी उत्पन्न हुए ॥ ३० ॥

प्राचेतसस्तथा दक्षो दक्षपुत्राश्च सप्त ये।
ततः प्रजानां पतयः प्राभवन्नेकविंशतिः ॥ ३१ ॥

साथ ही प्राचेतस, दक्ष और दक्षके सात पुत्र उनके पश्चात् इक्कीस प्रजापतिओंने जन्म लिया ॥ ३१ ॥

पुरुषश्चाप्रमेयात्मा यं सर्वमृषयो विदुः।
विश्वेदेवास्तथादित्या वसवोऽथाश्विनावपि ॥ ३२ ॥

वह अतर्क्य पुरुष जिसको सब ऋषि जानते हैं और विश्वदेव, आदित्य, वसु, दो अश्विनी-कुमार ॥ ३२ ॥

यक्षाः साध्याः पिशाचाश्च गुह्यकाः पितरस्तथा।
ततः प्रसूता विद्वांसः शिष्टा ब्रह्मर्षयोऽमलाः ॥ ३३ ॥

यक्ष, साध्य, पिशाच, गुह्यक और पितर, विद्वान् तथा पवित्र ब्रह्मर्षि उत्पन्न हुए ॥ ३३॥

राजर्षयश्च बहवः सर्वैः समुदिता गुणैः।
आपो द्यौः पृथिवी वायुरन्तरिक्षं दिशस्तथा ॥ ३४ ॥

पश्चात् सब गुणोंसे सुशोभित, बहुतसे राजर्षि, जल, द्यु, पृथ्वी, वायु, आकाश, दिशा ॥ ३४ ॥

संवत्सरर्तवो मासाः पक्षाहोरात्रयः क्रमात्।
यच्चान्यदपि तत्सर्वं संभूतं लोकसाक्षिकम् ॥ ३५ ॥

वर्ष, ऋतु, मास, पक्ष, दिन, रात्रि और सब दूसरे लौकिक पदार्थ क्रमसे रचे गये ॥ ३५॥

यदिदं दृश्यते किंचिद्भूतं स्थावरजंगमम्।
पुनः संक्षिप्यते सर्वं जगत्प्राप्ते युगक्षये ॥ ३६ ॥

स्थावर और जंगम और यह दृश्यमान् जगत् प्रलयकालके प्राप्त होनेपर फिर लुप्त हो जायगा ॥ ३६ ॥

यथर्तावृतुलिंगानि नानारूपाणि पर्यये।
दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु ॥ ३७ ॥

जैसे वसन्त आदि हर ऋतुमें ऋतुओंके चिह्न प्रकट करनेवाले फूल आदि फूल कर, दिन पूरे होने पर फिर गायब हो जाते हैं; वैसे ही युगके आरम्भमें सब पदार्थ रचे जाकर प्रलयकालमें फिर नष्ट हो जाते हैं ॥ ३७ ॥

एवमेतदनाद्यन्तं भूतसंहारकारकम् ।
अनादिनिधनं लोके चक्रं संपरिवर्तते ॥ ३८ ॥

इसी भांति सब प्राणियोंको रचने और नाश करनेवाला अनादि अनन्त संसारचक्र विश्वमें सदा बदलता रहता है ॥ ३८ ॥

त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि त्रयस्त्रिंशच्छतानि च ।
त्रयस्त्रिंशच देवानां सृष्टिः संक्षेपलक्षणा ॥ ३९ ॥

तैंतीस सहस्र, तैंतीस सौ और तैंतीस देवताओंकी संक्षेपसे यह सृष्टि है ॥ ३९ ॥

दिवस्पुत्रो बृहद्भानुश्चक्षुरात्मा विभावसुः ।
सविता स ऋचीकोऽर्को भानुराशावहो रविः ॥ ४० ॥

दिवस्पुत्र बृहद्भानु, चक्षुः, आत्मा, विभावसु, सविता, ऋचीक, अर्क, भानु, आशावह रवि ॥ ४० ॥

पुत्रा विवस्वतः सर्वे मह्यस्तेषां तथावरः ।
देवभ्राट् तनयस्तस्य तस्मात्सुभ्राडिति स्मृतः ॥ ४१ ॥

विवस्वान्, मह्य यह सब अदितिके पुत्र हुए । इनमें मह्य सबसे छोटे, उनके पुत्र देवभ्राट् और देवभ्राट्के पुत्र सुभ्राट् हुए ॥ ४१ ॥

सुभ्राजस्तु त्रयः पुत्राः प्रजावन्तो बहुश्रुताः ।
दशज्योतिः शतज्योतिः सहस्रज्योतिरात्मवान् ॥४२॥

सुभ्राट्के महाविद्वान् और अनेक पुत्रोंके जन्मदाता दशज्योति, शतज्योति और सहस्रज्योति नामक तीन पुत्र हुए ॥ ४२ ॥

दश पुत्रसहस्राणि दशज्योतेर्महात्मनः ।
ततो दशगुणाश्चान्ये शतज्योतेरिहात्मजाः ॥ ४३ ॥

महात्मा दशज्योतिके दश सहस्र, शतज्योतिके उससे भी दस गुना अर्थात् एक लक्ष ॥४३॥

भूयस्ततो दशगुणाः सहस्रज्योतिषः सुताः ।
तेभ्योऽयं कुरुवंशश्च यदूनां भरतस्य च ॥ ४४ ॥

और सहस्रज्योतिके उससे भी दस गुना अर्थात् दशलक्ष पुत्र उत्पन्न हुए; उन्हीं लोगोंसे कुरुवंश, यदुवंश, भरतवंश उत्पन्न हुए ॥ ४४ ॥

ययातीक्ष्वाकुवंशश्च राजर्षीणां च सर्वशः ।
संभूता बहवो वंशा भूतसर्गाः सविस्तराः ॥ ४५ ॥

ययातिवंश, इक्ष्वाकुवंश और दूसरे अनेक राजर्षिवंश उपजे और वे सब उपजे हुए वंश इस कालमें बहुत फैल गये हैं ॥ ४५ ॥

भूतस्थानानि सर्वाणि रहस्यं विविधं च यत्।
वेदयोगं सविज्ञानं धर्मोऽर्थः काम एव च ॥ ४६ ॥

सब भूतमात्रोंके स्थान, धर्म, अर्थ और कामके अनेक तरहके रहस्य, चारों वेद, योगशास्त्र, विज्ञानशास्त्र ॥ ४६ ॥

धर्मकामार्थशास्त्राणि शास्त्राणि विविधानि च।
लोकयात्राविधानं च संभूतं दृष्टवानृषिः ॥ ४७ ॥

धर्म—काम—अर्थके शास्त्र तथा अन्य अनेक शास्त्र, लोगोंके व्यवहार चलानेके उपयोगी अनेक शास्त्र महाराज वेदव्यास ऋषि जानते थे ॥ ४७ ॥

इतिहासाः सवैयाख्या विविधाः श्रुतयोऽपि च।
इह सर्वमनुक्रान्तमुक्तं ग्रन्थस्य लक्षणम् ॥ ४८ ॥

वह संपूर्ण विषय, व्याख्यासहित सब इतिहास और अनेक भांतिकी कथाएं इस ग्रंथमें कही हैं; सो वही सब विषय इस ग्रंथके लक्षण हैं ॥ ४८ ॥

विस्तीर्यैतन्महज्ज्ञानमृषिः संक्षेपमब्रवीत्।
इष्टं हि विदुषां लोके समासव्यासधारणम् ॥ ४९ ॥

इस संसारमें विद्वान् संक्षेप और विस्तार दोनोंको पसन्द करते हैं, इसलिये महाराज वेद-व्यासने इस महान् ज्ञानको संक्षेपमें और विस्तारपूर्वक दोनों तरहसे कहा है ॥ ४९ ॥

मन्वादि भारतं केचिदास्तीकादि तथापरे।
तथोपरिचराद्यन्ये विप्राः सम्यगधीयते ॥ ५० ॥

भिन्न भिन्न पण्डित भिन्न भिन्न स्थानसे इस संहिताका आरंभ समझते हैं; कोई कोई विद्वान् इस महाभारतको मनुसे लेकर, कोई कोई आस्तीक पर्वसे और कोई कोई राजा उपरिचरकी कथासे इसका आरंभ समझकर पढने लगते हैं ॥ ५० ॥

विविधं संहिताज्ञानं दीपयन्ति मनीषिणः।
व्याख्यातुं कुशलाः केचिद्ग्रन्थं धारयितुं परे ॥ ५१ ॥

ज्ञानी लोग अनेक उपायोंसे इस संहिताका ज्ञान प्रकाशित करते हैं। उनमें कोई कोई तो इसकी सुन्दर व्याख्या करते हैं और दूसरे कंठस्थ करके धारण करते हैं ॥ ५१ ॥

तपसा ब्रह्मचर्येण व्यस्य वेदं सनातनम्।
इतिहासमिमं चक्रे पुण्यं सत्यवतीसुतः ॥ ५२ ॥

सत्यवतीपुत्र विद्वान् ब्रह्मर्षि व्यासने अपनी तपस्या और ब्रह्मचर्यके प्रभावसे सनातन वेदका विभाग कर इस पवित्र इतिहासको रचा है ॥ ५२ ॥

पराशरात्मजो विद्वान्ब्रह्मर्षिः संशितव्रतः ।
मातुर्नियोगाद्धर्मात्मा गांगेयस्य च धीमतः ॥ ५३ ॥

अपनी माता और बुद्धिमान् गंगानन्दन भीष्मकी आज्ञासे पराशरके पुत्र, विद्वान्, ब्रह्मर्षि, धर्मात्मा और व्रतशील ॥ ५३ ॥

क्षेत्रे विचित्रवीर्यस्य कृष्णद्वैपायनः पुरा ।
त्रीनग्नीनिव कौरव्याञ्जनयामास वीर्यवान् ॥ ५४ ॥

वीर्यवान् कृष्ण द्वैपायनजीने पूर्वकालमें विचित्रवीर्यके क्षेत्र (पत्नी) में तीनों अग्निके समान तेजस्वी तीन कुरुवंशके पुत्र उपजाये थे ॥ ५४ ॥

उत्पाद्य धृतराष्ट्रं च पाण्डुं विदुरमेव च ।
जगाम तपसे धीमान्पुनरेवाश्रमं प्रति ॥ ५५ ॥

बुद्धिमान् वेदव्यास महाराज इस प्रकारसे धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर इन तीन सन्तानोंको जन्म देकर तपस्याके लिये फिर आश्रमको चले गये ॥ ५५ ॥

तेषु जातेषु वृद्धेषु गतेषु परमां गतिम् ।
अब्रवीद्भारतं लोके मानुषेऽस्मिन्महानृषिः ॥ ५६ ॥

आगे उन पुत्रोंके वृद्ध होकर परलोक सिधार जाने पर, महान् ऋषि वेदव्यासजीने मनुष्य लोकमें महाभारतको प्रकट किया ॥ ५६ ॥

जनमेजयेन पृष्टः सन्ब्राह्मणैश्च सहस्रशः ।
शशास शिष्यमासीनं वैशंपायनमन्तिके ॥ ५७ ॥

अनन्तर (जनमेजयके सर्पयज्ञके समयमें) सहस्रों ब्राह्मण और स्वयं जनमेजयके बडी चाहके साथ महाभारत सुननेकी इच्छा दिखाने पर, श्री वेदव्यासजीने पासहीमें बैठे हुए अपने शिष्य श्री वैशम्पायनको ग्रन्थ सुनानेकी आज्ञा दी ॥ ५७ ॥

स सदस्यैः सहासीनः श्रावयामास भारतम् ।
कर्मान्तरेषु यज्ञस्य चोद्यमानः पुनः पुनः ॥ ५८ ॥

नित्य यज्ञके कर्म पूरे होनेके वाद वैशम्पायन मुनि बार बार प्रेरित किए जानेपर सभामें सभ्योंके साथ बैठकर महाभारत सुनाने लगे ॥ ५८ ॥

विस्तरं कुरुवंशस्य गान्धार्या धर्मशीलताम् ।
क्षत्तुः प्रज्ञां धृतिं कुन्त्याः सम्यग्द्वैपायनोऽब्रवीत् ॥ ५९ ॥

भगवान् द्वैपायन ऋपिने इस महाभारत ग्रन्थमें कुरुवंशके विस्तारका, गान्धारीकी धर्म-शीलताका, विदुरकी प्रज्ञाका और कुन्तीके धैर्यका सम्यक् रीतिसे वर्णन किया है ॥ ५९ ॥

वासुदेवस्य माहात्म्यं पाण्डवानां च सत्यताम् ।
दुर्वृत्तं धार्तराष्ट्राणामुक्तवान्भगवानृषिः　　॥ ६० ॥

भगवान् ऋषिने श्रीकृष्णका माहात्म्य, पाण्डवोंकी सत्यनिष्ठा और धृतराष्ट्रपुत्रोंकी दुष्टता वर्णन की है ॥ ६० ॥

चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम् ।
उपाख्यानैर्विना तावद्भारतं प्रोच्यते बुधैः　　॥ ६१ ॥

चौवीस सहस्र श्लोकोंमें भारत संहिता रची थी; पंडितगण उपाख्यानसे रहित उन्हीं चौवीस सहस्र श्लोकों ही को 'भारत' कहा करते हैं ॥ ६१ ॥

ततोऽध्यर्धशतं भूयः संक्षेपं कृतवानृषिः ।
अनुक्रमणिमध्यायं वृत्तान्तानां सपर्वणाम्　　॥ ६२ ॥

आगे वेदव्यासजीने संपूर्ण पर्व और वृत्तांतोंको संक्षेप कर डेढ सौ श्लोकोंमें अनुक्रमणिका अध्यायको रचा ॥ ६२ ॥

इदं द्वैपायनः पूर्वं पुत्रमध्यापयच्छुकम् ।
ततोऽन्येभ्योऽनुरूपेभ्यः शिष्येभ्यः प्रददौ प्रभुः　　॥ ६३ ॥

भगवान् द्वैपायनने पहिले इस भारतको अपने पुत्र शुकदेवको पढाया और उसके बाद दूसरे योग्य शिष्योंको भी प्रदान किया ॥ ६३ ॥

नारदोऽश्रावयद्देवानसितो देवलः पितॄन् ।
गन्धर्वयक्षरक्षांसि श्रावयामास वै शुकः　　॥ ६४ ॥

इसके बाद नारदजीने देवताओंको, असित देवलने पितरोंको और शुकदेवजीने गन्धर्व, यक्ष और राक्षसोंको वे सब श्लोक सुनाये थे ॥ ६४ ॥

दुर्योधनो मन्युमयो महाद्रुमः स्कन्धः कर्णः शकुनिस्तस्य शाखाः ।
दुःशासनः पुष्पफले समृद्धे मूलं राजा धृतराष्ट्रोऽमनीषी　　॥ ६५ ॥

दुर्योधन मन्युमय अर्थात् अहंकारसे भरा पूरा महावृक्ष है; कर्ण उसका तना, शकुनी उसकी शाखा, दुःशासन उसके बढे चढे फल-फूल; और अज्ञानसे अन्धे, प्रज्ञा-रहित धृतराष्ट्र उसकी जड हैं ॥ ६५ ॥

युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुमः स्कन्धोऽर्जुनो भीमसेनोऽस्य शाखाः ।
माद्रीसुतौ पुष्पफले समृद्धे मूलं कृष्णो ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च　　॥ ६६ ॥

युधिष्ठिर धर्ममय महावृक्ष है; अर्जुन उसका तना, भीमसेन उसकी शाखा, नकुल और सहदेव उसके बढे-चढे फल-फूल और श्रीकृष्ण, देव और ब्राह्मण उसकी जडें हैं ॥ ६६ ॥

पाण्डुर्जित्वा बहून् देशान् युधा विक्रमणेन च ।
अरण्ये मृगयाशीलो न्यवसत्सजनस्तदा ॥ ६७ ॥

राजा पाण्डु युद्ध और विक्रमसे बहुत देश जीतकर अंतमें शिकार खेलते हुए वनमें ही जाकर अपने आदमियोंके साथ बस गए ॥ ६७ ॥

मृगव्यवायनिधने कृच्छ्रां प्राप स आपदम् ।
जन्मप्रभृति पार्थानां तत्राचारविधिक्रमः ॥ ६८ ॥

भोगमें आसक्त मृगके मर जाने पर वे घोर विपत्तिमें पड गए थे। वनमें ही पाण्डवोंकी जन्मसे लेकर सब आचार विधियां क्रमसे की गईं ॥ ६८ ॥

मात्रोरभ्युपपत्तिश्च धर्मोपनिषदं प्रति ।
धर्मस्य वायोः शक्रस्य देवयोश्च तथाश्विनोः ॥ ६९ ॥

उस वनमें आपद्धर्मके अनुसार कुन्ती और माद्रीके गर्भमें धर्म, वायु, इन्द्र और दोनों अश्विनीकुमार इन पांच देवताओंके वीर्यसे पाण्डवोंका जन्म हुआ ॥ ६९ ॥

तापसैः सह संवृद्धा मातृभ्यां परिरक्षिताः ।
मेध्यारण्येषु पुण्येषु महतामाश्रमेषु च ॥ ७० ॥

पाण्डव लोग पवित्र वनके भीतर बडे बडे तपस्वियोंके पुण्याश्रममें साधुओंके सहित कुन्ती और माद्रीसे रक्षित होने और बढने लगे ॥ ७० ॥

ऋषिभिश्च तदानीता धार्तराष्ट्रान् प्रति स्वयम् ।
शिशवश्चाभिरूपाश्च जटिला ब्रह्मचारिणः ॥ ७१ ॥

कुछ कालके बाद ऋषि लोग उन राजलक्षणोंसे सुशोभित जटाधारी, ब्रह्मचारी शिशुओंको स्वेच्छासे धृतराष्ट्र और उसके पुत्रोंके पास ले गये ॥ ७१ ॥

पुत्राश्च भ्रातरश्चेमे शिष्याश्च सुहृदश्च वः ।
पाण्डवा एत इत्युक्त्वा मुनयोऽन्तर्हितास्ततः ॥ ७२ ॥

उसके बाद " ये पाण्डुपुत्रगण तुम्हारे पुत्र, भ्राता, शिष्य और सुहृत् हैं । " यह कहकर मुनिगण वहांसे लौट गए ॥ ७२ ॥

तांस्तैर्निवेदितान्दृष्ट्वा पाण्डवान् कौरवास्तदा ।
शिष्टाश्च वर्णाः पौरा ये ते हर्षाच्चुक्रुशुर्भृशम् ॥ ७३ ॥

इस प्रकारसे पाण्डवोंको अर्पण कर मुनियोंके चले जाने पर, उन्हें देख देख कर साधु कौरव लोग और नाना जातिके पुरवासी हर्षसे बहुत कोलाहल करने लगे ॥ ७३ ॥

आहुः केचिन्न तस्यैते तस्यैत इति चापरे ।
यदा चिरमृतः पाण्डुः कथं तस्येति चापरे ॥ ७४ ॥

कोई कोई बोले " यह पांडुके पुत्र नहीं हैं । " कोई कोई बोले " ये ही पाण्डुकी सन्तानें हैं " दूसरे लोग बोले " राजा पाण्डुको परलोक गये तो जब बहुत दिन हो चुके, तब उनके पुत्र कहांसे उपजे ? " ॥ ७४ ॥

स्वागतं सर्वथा दिष्ट्या पाण्डोः पश्याम संततिम् ।
उच्यतां स्वागतमिति वाचोऽश्रूयन्त सर्वशः ॥ ७५ ॥

उस समय सर्वत्र पुरवासियोंका यही शब्द सुनाई देने लगा; कि " आज हमारा आना सब प्रकार शुभ निकला; क्योंकि सौभाग्यवश पाण्डुपुत्रोंका दर्शन हुआ; अतः उनका स्वागत करो " ॥ ७५ ॥

तस्मिन्नुपरते शब्दे दिशः सर्वा विनादयन् ।
अन्तर्हितानां भूतानां निस्वनस्तुमुलोऽभवत् ॥ ७६ ॥

यह शब्द बन्द होजानेपर सभी दिशाओंको गुंजाती हुई हृदयके अन्दर स्थित प्राणियों अर्थात् देवोंकी महान् आवाज हुई ॥ ७६ ॥

पुष्पवृष्टिः शुभा गन्धाः शङ्खदुन्दुभिनिःस्वनाः ।
आसन् प्रवेशे पार्थानां तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ७७ ॥

पृथाके पुत्र अर्थात् पाण्डवोंके नगरमें पहुंचते ही फूलोंकी वृष्टि, सुगंधका संचार, शंख और नगाडोंकी ध्वनि होने लगी । यह सब बातें आश्चर्योत्पादक थीं ॥ ७७ ॥

तत्प्रीत्या चैव सर्वेषां पौराणां हर्षसंभवः ।
शब्द आसीन्महांस्तत्र दिवस्पृक्कीर्तिवर्धनः ॥ ७८ ॥

उस आनंदसे सभी पुरवासियोंकी कीर्ति बढानेवाली और आकाशतक पहुंचती हुई हर्षध्वनि उत्पन्न हुई ॥ ७८ ॥

तेऽप्यधीत्याखिलान्वेदाञ्शास्त्राणि विविधानि च ।
न्यवसन्पाण्डवास्तत्र पूजिता अकुतोभयाः ॥ ७९ ॥

पाण्डव भी नाना शास्त्र और संपूर्ण वेद पढ कर तथा सब तरहसे निर्भय होकर बडे आदर सन्मानसे वहां रहने लगे ॥ ७९ ॥

युधिष्ठिरस्य शौचेन प्रीताः प्रकृतयोऽभवन् ।
धृत्या च भीमसेनस्य विक्रमेणार्जुनस्य च ॥ ८० ॥

प्रजा युधिष्ठिरके शुद्ध आचार, भीमसेनके धैर्य और अर्जुनके विक्रमसे बहुत प्रसन्न हुई ॥ ८० ॥

गुरुशुश्रूषया कुन्त्या यमयोर्विनयेन च ।
तुतोष लोकः सकलस्तेषां शौर्यगुणेन च ॥ ८१ ॥

नकुल और सहदेवकी नम्रता और कुन्तीकी गुरुसेवासे विशेष कर पांचों भाईकी शूरतासे सब लोगोंको प्रसन्नता हुई ॥ ८१ ॥

समवाये ततो राज्ञां कन्यां भर्तृस्वयंवराम् ।
प्राप्तवानर्जुनः कृष्णां कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ॥ ८२ ॥

बादमें पतिके लिए होनेवाले स्वयंवर स्थलमें अगणित राजाओंके एकत्रित होने पर अर्जुनने कठिन कर्मको करके उस राजपुत्री कृष्णाको जीत लिया ॥ ८२ ॥

ततः प्रभृति लोकेऽस्मिन्पूज्यः सर्वधनुष्मताम् ।
आदित्य इव दुष्प्रेक्ष्यः समरेष्वपि चाभवत् ॥ ८३ ॥

उसी समयसे वह अर्जुन इस लोकमें सभी धनुपधारियोंके लिए पूज्य हो गया और रणक्षेत्रमें भी वह सूर्यकी भांति कठिनतासे देखने योग्य हो गया ॥ ८३ ॥

स सर्वान्पार्थिवाञ्जित्वा सर्वांश्च महतो गणान् ।
आजहारार्जुनो राज्ञे राजसूयं महाक्रतुम् ॥ ८४ ॥

आगे उस अर्जुनने सब राजाओं और बडे बडे शूरवीरोंको जीतकर राजा युधिष्ठिरके लिए राजसूय महायज्ञका आयोजन किया ॥ ८४ ॥

अन्नवान्दक्षिणावांश्च सर्वैः समुदितो गुणैः ।
युधिष्ठिरेण संप्राप्तो राजसूयो महाक्रतुः ॥ ८५ ॥

महाराज युधिष्ठिरने अपरिमित अन्न और दक्षिणा दान कर सब प्रकारके गुणोंसे युक्त श्रेष्ठ राजसूय यज्ञ किया ॥ ८५ ॥

सुनयाद्वासुदेवस्य भीमार्जुनबलेन च ।
घातयित्वा जरासंधं चैद्यं च बलगर्वितम् ॥ ८६ ॥

उस यज्ञमें कृष्णकी उत्तम नीति और भीम तथा अर्जुनके बलके सहारे बलगर्वित जरासन्ध और अहंकारी शिशुपालका विनाश हुआ ॥ ८६ ॥

दुर्योधनं समागच्छन्नर्हणानि ततस्ततः ।
मणिकांचनरत्नानि गोहस्त्यश्वधनानि च ॥ ८७ ॥

दुर्योधनके पास नाना स्थानोंसे बहुमूल्य मणि, सुवर्ण, रत्न, गौ, हाथी, घोडे और धन आने लगे ॥ ८७ ॥

समृद्धां तां तथा दृष्ट्वा पाण्डवानां तदा श्रियम्।
ईर्ष्यासमुत्थः सुमहांस्तस्य मन्युरजायत ॥ ८८ ॥

तब पाण्डवोंका वह बढा चढा ऐश्वर्य देखकर दुर्योधनके हृदयमें ईर्ष्याजनित महान् क्रोध उत्पन्न हुआ ॥ ८८ ॥

विमानप्रातिमां चापि मयेन सुकृतां सभाम्।
पाण्डवानामुपहृतां स दृष्ट्वा पर्यतप्यत ॥ ८९ ॥

उस यज्ञमें मयदानवके द्वारा उत्तम प्रकारसे बनाये गए विमानके आकारवाली अपूर्व सभाको पाण्डवोंके हाथोंमें देखकर वह दुःखसे जलने लगा ॥ ८९ ॥

तत्रावहसितश्चासीत् प्रस्कन्दन्निव संभ्रमात्।
प्रत्यक्षं वासुदेवस्य भीमेनानभिजातवत् ॥ ९० ॥

उस सभामें दुर्योधनको चलते समय भ्रमवश गिरते देखकर भीमसेनने श्रीकृष्णचन्द्रके सन्मुख छोटे मनुष्यके समान अपमान करके उसकी बडी हंसी उडाई ॥ ९० ॥

स भोगान्विविधान्भुञ्जन्रत्नानि विविधानि च।
कथितो धृतराष्ट्रस्य विवर्णो हरिणः कृशः ॥ ९१ ॥

नाना प्रकारके रत्न और भांति भांतिके भोग भोगने पर भी दुर्योधन चित्त—पीडासे मलिन, पीला और दुबला होने लगा। धृतराष्ट्रके निकट यह बात कही जाने पर ॥ ९१ ॥

अन्वजानात्ततो द्यूतं धृतराष्ट्रः सुतप्रियः।
तच्छ्रुत्वा वासुदेवस्य कोपः समभवन्महान् ॥ ९२ ॥

उस पुत्र प्रेमी राजा धृतराष्ट्रने जुआ खेलनेकी आज्ञा दी। यह सुनकर श्री वासुदेव कृष्णको बडा क्रोध हो आया ॥ ९२ ॥

नातिप्रीतमनाश्चासीद्विवादांश्चान्वमोदत।
द्यूतादीननयान्घोरान्प्रवृद्धांश्चाप्युपैक्षत ॥ ९३ ॥

उन्होंने बडे असन्तोषके साथ उस झगडेमें अपनी संमति दी और जुआ आदि भयावनी और बढी हुई कुनीतियोंकी उपेक्षा कर दी ॥ ९३ ॥

निरस्य विदुरं द्रोणं भीष्मं शारद्वतं कृपम्।
विग्रहे तुमुले तस्मिन्नहन्क्षत्रं परस्परम् ॥ ९४ ॥

विदुर, द्रोणाचार्य, भीष्म और शरद्वतके पुत्र कृपाचार्यकी बात न मानकर आपसकी उस घोर लडाईमें भिडे हुए क्षत्रियोंने आपसमें ही एक दूसरेको मार दिया ॥ ९४ ॥

जयत्सु पाण्डुपुत्रेषु श्रुत्वा सुमहदप्रियम् ।
दुर्योधनमतं ज्ञात्वा कर्णस्य शकुनेस्तदा ।
धृतराष्ट्रश्चिरं ध्यात्वा संजयं वाक्यमब्रवीत् ॥ ९५ ॥

पाण्डवोंके जीत जानेके बाद उस अति अप्रिय वाणीको सुनकर और दुर्योधन कर्ण और शकुनिके मतको जानकर देर तक सोचने समझनेके पश्चात् धृतराष्ट्रने संजयसे कहा ॥ ९५ ॥

शृणु संजय मे सर्वं न मेऽसूयितुमर्हसि ।
श्रुतवानसि मेधावी बुद्धिमान्प्राज्ञसम्मतः ॥ ९६ ॥

"हे संजय ! मैं सब वृत्तान्त कहता हूं, सुनो । तुम शास्त्रके ज्ञाता, मेधावी, बुद्धिमान् और पण्डितमण्डलीमें महाभाग्य हो; अतः मुझपर व्यर्थ दोष न लगाओ ॥ ९६ ॥

न विग्रहे मम मतिर्न च प्रीये कुरुक्षये ।
न मे विशेषः पुत्रेषु स्वेषु पाण्डुसुतेषु च ॥ ९७ ॥

युद्ध करनेके लिए कुछ मेरी सम्मति नहीं थी, और न मैं कुरुओंके क्षय होनेसे सन्तुष्ट हूं, अपने पुत्रों और पाण्डुके पुत्रोंमें मैंने कुछ भी भेद नहीं किया है ॥ ९७ ॥

वृद्धं मामभ्यसूयन्ति पुत्रा मन्युपरायणाः ।
अहं त्वचक्षुः कार्पण्यात् पुत्रप्रीत्या सहामि तत् ।
मुह्यन्तं चानुमुह्यामि दुर्योधनमचेतनम् ॥ ९८ ॥

मेरे ईर्ष्या और क्रोधसे भरे पुत्रगण मुझको वृद्ध जानकर मेरी बात मानते ही नहीं; मैं अंधा और दीन हूं; अतः पुत्र-स्नेहसे सब सह लेता हूं, अज्ञानी दुर्योधनके मोहयुक्त होनेसे मैं भी मोहमें पडा हुआ हूं ॥ ९८ ॥

राजसूये श्रियं दृष्ट्वा पाण्डवस्य महौजसः ।
तच्चावहसनं प्राप्य सभारोहणदर्शने ॥ ९९ ॥

राजसूय यज्ञमें महा प्रभावशाली युधिष्ठिरका अपार ऐश्वर्य देखकर और सभामें जानेके समय उस हंसीको देखकर ॥ ९९ ॥

अमर्षितः स्वयं जेतुमशक्तः पाण्डवान्रणे ।
निरुत्साहश्च सम्प्राप्तुं श्रियमक्षत्रियो यथा ।
गान्धारराजसहितश्छद्मद्यूतममन्त्रयत् ॥ १०० ॥

उसे सह न सकनेके कारण और युद्धमें स्वयं पाण्डवोंको जीतनेमें असमर्थ होकर तथा अक्षत्रियके समान राजलक्ष्मीको पाने उत्साहरहित होकर दुर्योधनने गान्धारके राजा शकुनीकी सहायतासे कपट जुएके लिए आमंत्रण दिया ॥ १०० ॥

तत्र यद्यद्यथा ज्ञातं मया संजय तच्छृणु।
श्रुत्वा हि मम वाक्यानि बुद्ध्या युक्तानि तत्त्वतः।
ततो ज्ञास्यसि मां सौते प्रज्ञाचक्षुषमित्युत ॥ १०१ ॥

उस कालसें मैं जो कुछ जान सका था; हे संजय ! वह सुनो। हे सूत–पुत्र ! मेरे वह सब बुद्धियुक्त वचनोंको तत्त्वपूर्वक सुनकर मुझे सचा प्रज्ञाचक्षु जानोगे ॥ १०१ ॥

यदाश्रौषं धनुरायम्य चित्रं विद्धं लक्ष्यं पातितं वै पृथिव्याम्।
कृष्णां हृतां पश्यतां सर्वराज्ञां तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १०२ ॥

"जब मैंने सुना, कि अर्जुनने विचित्र धनु चढाकर लक्ष्यका भेद करके उसे धरती पर गिरा दिया है, और वह सब राजाओंके देखते देखते द्रौपदीको हर लाया है, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १०२ ॥

यदाश्रौषं द्वारकायां सुभद्रां प्रसह्योढां माधवीमर्जुनेन।
इन्द्रप्रस्थं वृष्णिवीरौ च यातौ तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १०३ ॥

जब मैंने सुना, कि अर्जुनने द्वारकामें जाकर माधव—कृष्णकी छोटी बहिन सुभद्रासे बलपूर्वक विवाह किया और उसपर भी श्री बलराम और श्रीकृष्णचंद्र दोनों इन्द्रप्रस्थमें आये हैं, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १०३ ॥

यदाश्रौषं देवराजं प्रवृष्टं शरैर्दिव्यैर्वारितं चार्जुनेन।
अग्निं तथा तर्पितं खाण्डवे च तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १०४ ॥

जब मैंने सुना, कि खाण्डव दाहके समय देवराज इन्द्रके जल बरसाने पर अर्जुनने दिव्य बाणोंसे वृष्टिको रोककर अग्निको प्रसन्न किया, तो हे संजय ! तभीसे मैंने जयकी आशा नहीं की ॥ १०४ ॥

यदाश्रौषं हृतराज्यं युधिष्ठिरं पराजितं सौबलेनाक्षवत्याम्।
अन्वागतं भ्रातृभिरप्रमेयैस्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १०५ ॥

जब मैंने सुना, कि सुबलपुत्र शकुनिने युधिष्ठिरको जुएमें हराकर उसका राज्य हर लिया है, और उस पर भी, बडे प्रतापी भाई लोग युधिष्ठिरके आज्ञाधीन बनकर उसके पीछे चल रहे हैं, हे संजय ! तो भी मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १०५ ॥

यदाश्रौषं द्रौपदीमश्रुकण्ठीं सभां नीतां दुःखितामेकवस्त्राम्।
रजस्वलां नाथवतीमनाथवत्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १०६ ॥

जब मैंने सुना, कि रोती-पीटती; एक—वस्त्र—पहिने हुई, दुःखमें डूबी, रजस्वला, सनाथ द्रौपदी अनाथकी भांति सभामें ले जाई गई, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १०६

यदाश्रौषं विविधास्तात चेष्टा धर्मात्मनां प्रस्थितानां वनाय।
ज्येष्ठप्रीत्या क्लिश्यतां पाण्डवानां तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १०७ ॥
जब मैंने सुना, कि धार्मिक पाण्डव लोग वनमें जाकर बडे भाईको प्रसन्न रखनेके लिये अनेक कष्ट उठाते हुए बडी बडी चेष्टा कर रहें हैं, तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा छोड दी ॥ १०७ ॥

यदाश्रौषं स्नातकानां सहस्रैरन्वागतं धर्मराजं वनस्थम्।
भिक्षाभुजां ब्राह्मणानां महात्मनां तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १०८ ॥
जब मैंने सुना, कि सहस्रों स्नातक और भिक्षासे जीविका चलानेवाले ब्राह्मणगण और अन्य महात्मा वनमें धर्मराजके पीछे चले गए हैं, तो हे संजय! तभीसे मैंने जयकी आशा छोड दी ॥ १०८ ॥

यदाश्रौषमर्जुनो देवदेवं किरातरूपं त्र्यम्बकं तोष्य युद्धे।
अवाप तत् पाशुपतं महास्त्रं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १०९ ॥
जब मैंने सुना, कि अर्जुनने किरात–रूप–धारी देवाधिदेव महादेवको युद्धमें प्रसन्न कर पाशुपत नामक महा अस्त्र पा लिया है; तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १०९ ॥

यदाश्रौषं त्रिदिवस्थं धनंजयं शक्रात्साक्षाद्दिव्यमस्त्रं यथावत्।
अधीयानं शंसितं सत्यसंधं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ ११० ॥
जब मैंने सुना, कि प्रशंसा योग्य और सत्यप्रेमी धनंजय देवलोकमें जाकर साक्षात् इन्द्रसे विधिपूर्वक दिव्य अस्त्र सीख रहा है, तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ ११० ॥

यदाश्रौषं वैश्रवणेन सार्धं समागतं भीममन्यांश्च पार्थान्।
तस्मिन्देशे मानुषाणामगम्ये तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १११ ॥
जब मैंने सुना, कि भीम और दूसरे पांडुपुत्रोंने मनुष्योंके न जाने योग्य देशमें जाकर कुबेरसे भेंट की; तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १११ ॥

यदाश्रौषं घोषयात्रागतानां बन्धं गन्धर्वैर्मोक्षणं चाऽर्जुनेन।
स्वेषां सुतानां कर्णबुद्धौ रतानां तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ ११२ ॥
जब मैंने सुना, कि कर्णकी बुद्धिके अनुसार चलनेवाले मेरे पुत्रगण घोष यात्रामें जाकर गंधर्वोंके द्वारा पकडे जाकर फिर अर्जुनके द्वारा मुक्त कराए गए, तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ ११२ ॥

यदाश्रौषं यक्षरूपेण धर्मं समागतं धर्मराजेन सूत।
प्रश्नानुक्तान्विब्रुवन्तं च सम्यक् तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ ११३ ॥
हे सूत! जब मैंने सुना, कि धर्मने यक्षका स्वरूप धारण करके युधिष्ठिरके समीप आकर कुछ प्रश्न पूछे हैं और उसने ठीक ठीक उत्तर दे दिये, तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ ११३ ॥

यदाश्रौषं मामकानां वरिष्ठान्धनंजयेनैकरथेन भग्नान्।
विराटराष्ट्रे वसता महात्मना तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ ११४ ॥
जब मैंने सुना, कि महात्मा पाण्डवोंके विराट–नगरमें रहते हुए एकरथी धनंजयने हमारी ओरके बडे बडे योद्धाओंको परास्त कर दिया, तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ ११४ ॥

यदाश्रौषं सत्कृतां मत्स्यराज्ञा सुतां दत्तामुत्तरामर्जुनाय।
तां चार्जुनः प्रत्यगृह्णात्सुतार्थे तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ ११५ ॥
जब मैंने सुना, कि मत्स्य–राजने अर्जुनको नाना अलंकारोंसे अलंकृत अपनी उत्तरा नामकी कन्या अर्पित की और अर्जुनने उस कन्याको अपने पुत्र अभिमन्युके निमित्त ग्रहण किया, तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ ११५ ॥

यदाश्रौषं निर्जितस्याधनस्य प्रव्राजितस्य स्वजनात्प्रच्युतस्य।
अक्षौहिणीः सप्त युधिष्ठिरस्य तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ ११६ ॥
जब मैंने सुना, कि युधिष्ठिरने जीते जाने, निर्धन होने, देशसे निकाले जाने और अपने जनोंसे बिछुड जानेके बावजूद भी सात अक्षौहिणी सेना एकत्रित कर ली है, तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ ११६ ॥

यदाश्रौषं नरनारायणौ तौ कृष्णार्जुनौ वदतो नारदस्य।
अहं द्रष्टा ब्रह्मलोके सदेति तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ ११७ ॥
जब नारदसे मैंने सुना, कि श्रीकृष्णचन्द्र और अर्जुन नरनारायणके अवतार हैं और मैंने (नारदने) उनका ब्रह्मलोकमें भलीभांति दर्शन किया है, तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ ११७ ॥

यदाश्रौषं माधवं वासुदेवं सर्वात्मना पाण्डवार्थे निविष्टम्।
यस्येमां गां विक्रममेकमाहुस्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ ११८ ॥
जब मैंने सुना, कि यह भूलोक जिनके एक पदके समान है, वही मधुवंशी वासुदेव सब प्रकारसे पाण्डवोंके हित साधनेकी चेष्टा कर रहे हैं, तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ ११८ ॥

यदाश्रौषं कर्णदुर्योधनाभ्यां बुद्धिं कृतां निग्रहे केशवस्य ।
तं चात्मानं बहुधा दर्शयानं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ ११९ ॥

जब मैंने सुना, कि कर्ण और दुर्योधनने श्रीकृष्णचन्द्रको पकडनेका विचार किया, पर उन्होंने उनको अपना विश्वरूप दिखाया, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ ११९ ॥

यदाश्रौषं वासुदेवे प्रयाते रथस्यैकामग्रतस्तिष्ठमानाम् ।
आर्तां पृथां सान्त्वितां केशवेन तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १२० ॥

जब मैंने सुना, कि वासुदेवके जाते हुए अपने रथके सामने खडी हुई दुःखिता कुन्तीको उन्होंने अनेक प्रकारसे समझाया है, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १२० ॥

यदाश्रौषं मन्त्रिणं वासुदेवं तथा भीष्मं शान्तनवं च तेषाम् ।
भारद्वाजं चाशिषोऽनुब्रुवाणं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १२१ ॥

जब मैंने सुना, कि वासुदेव और शान्तनु-पुत्र भीष्म दोनों उन पाण्डवोंके मंत्री बन गए हैं और भारद्वाज द्रोण उन्हें आशीर्वाद दे रहे हैं, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १२१ ॥

यदाश्रौषं कर्ण उवाच भीष्मं नाहं योत्स्ये युध्यमाने त्वयीति ।
हित्वा सेनामपचक्राम चैव तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १२२ ॥

जब मैंने सुना, कि कर्ण भीष्मसे यह कहकर, कि "तुम युद्ध करोगे, तो मैं नहीं लडूंगा" सेनाको छोड कर चला गया है, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १२२ ॥

यदाश्रौषं वासुदेवार्जुनौ तौ तथा धनुर्गाण्डिवमप्रमेयम् ।
त्रीण्युग्रवीर्याणि समागतानि तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १२३ ॥

जब मैंने सुना, कि वे दोनों श्रीकृष्ण, अर्जुन और अप्रमेय गाण्डीव धनुष्य, यह तीनों अत्यधिक वीर्यशाली पदार्थ एकसाथ मिल गये हैं, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १२३ ॥

यदाश्रौषं कश्मलेनाभिपन्ने रथोपस्थे सीदमानेऽर्जुने वै ।
कृष्णं लोकान्दर्शयानं शरीरे तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १२४ ॥

जब मैंने सुना, कि रथारूढ अर्जुनके मोहयुक्त और विकल हो जानेपर श्रीकृष्णने उसको अपने शरीरमें चौदहों लोक दिखाये हैं, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १२४ ॥

*

यदाश्रौषं भीष्ममामित्रकर्शनं निघ्नन्तमाजावयुतं रथानाम्।
नैषां कश्चिद्वध्यते दृश्यरूपस्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १२५ ॥
जब मैंने सुना, कि शत्रुनाशी भीष्म रणभूमिमें नित्य दश सहस्र रथियोंको नष्ट करके भी शत्रुओंमेंसे एक भी प्रसिद्ध पुरुषको मार नहीं सके, तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १२५ ॥

यदाश्रौषं भीष्ममत्यंतशूरं हतं पार्थेनाहवेष्वप्रधृष्यम्।
शिखण्डिनं पुरतः स्थापयित्वा तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १२६ ॥
जब मैंने सुना, कि अर्जुनने शिखण्डीको सामने खडाकर युद्धमें अपराजित महाशूरवीर भीष्म को मार दिया है, तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १२६ ॥

यदाश्रौषं शरतल्पे शयानं वृद्धं वीरं सादितं चित्रपुङ्खैः।
भीष्मं कृत्वा सोमकानल्पशेषांस्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १२७ ॥
जब मैंने सुना, कि वृद्धवीर भीष्म सोमक सेनाओंको प्रायः नष्ट होनेकी दशामें पहुंचा कर स्वयं बाणोंसे छेदे भेदे जाकर शरशय्यापर सो गए हैं, तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १२७ ॥

यदाश्रौषं शान्तनवे शयाने पानीयार्थे चोदितेनार्जुनेन।
भूमिं भित्त्वा तर्पितं तत्र भीष्मं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १२८ ॥
जब मैंने सुना, कि भीष्मदेवके शरशय्यापर सोनेके बाद उनके द्वारा पीनेके जलके लिए प्रेरित किए जानेपर अर्जुनने धरतीसे जल निकाल कर उनको प्रसन्न किया, तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १२८ ॥

यदाश्रौषं शुक्रसूर्यौ च युक्तौ कौन्तेयानामनुलोमौ जयाय।
नित्यं चास्मान्श्वापदा व्याभषन्तस्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १२९ ॥
जब मैंने सुना, कि इन्द्र और सूर्य पाण्डवोंको जय देनेके निमित्त उनके सहायक बन गए हैं और हिंसक जन्तुगण हमें देखकर चिल्लाते हैं, तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १२९ ॥

यदा द्रोणो विविधानस्त्रमार्गान्विदर्शयन् समरे चित्रयोधी।
न पाण्डवाञ्छ्रेष्ठतमान्निहन्ति तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १३० ॥
जब मैंने सुना, कि आश्चर्यरूपसे युद्ध करनेवाले द्रोणाचार्य रणभूमिमें अस्त्र चलानेके अनेक तरहके निपुणताके प्रकार दिखा करके भी पाण्डवपक्षके किसी भी श्रेष्ठ पुरुषको नहीं मारते, तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १३० ॥

यदाश्रौषं चास्मदीयान्महारथान्व्यवस्थितानर्जुनस्यान्तकाय ।
संशप्तकान्निहतानर्जुनेन तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १३१ ॥

जब मैंने सुना कि हमारी ओरकी संशप्तक नामक सेनाके द्वारा अर्जुनको मारनेके लिये व्यूह रचने पर भी वह आप ही अर्जुनसे मारी गई है, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १३१ ॥

यदाश्रौषं व्यूहमभेद्यमन्यैर्भारद्वाजेनात्तशस्त्रेण गुप्तम् ।
भित्त्वा सौभद्रं वीरमेकं प्रविष्टं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १३२ ॥

जब मैंने सुना, कि अद्वितीय वीर अभिमन्यु, शस्त्रधारी द्रोणाचार्यसे रक्षित और दूसरोंसे न भेदे–जानेवाले चक्रव्यूहको भेदकर अकेला ही उसमें प्रवेश कर गया है, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १३२ ॥

यदाभिमन्युं परिवार्य बालं सर्वे हत्वा हृष्टरूपा बभूवुः ।
महारथाः पार्थमशक्नुवन्त तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १३३ ॥

जब मैंने सुना, कि अर्जुनका वध करनेमें अशक्त होकर महारथी योद्धा बालक अभिमन्युको चारों ओरसे घेर करके मारकर आनन्दित हो रहे हैं, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १३३ ॥

यदाश्रौषमभिमन्युं निहत्य हर्षान्मूढान् क्रोशतो धार्तराष्ट्रान् ।
क्रोधं मुक्तं सैंधवे चार्जुनेन तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १३४ ॥

जब मैंने सुना, कि अभिमन्युको मारकर हर्षसे मोहित हो शोर मचानेवाले धृतराष्ट्र पुत्रोंको देखकर अर्जुनने अपना क्रोध सिन्धुराज जयद्रथ पर निकाला है, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १३४ ॥

यदाश्रौषं सैन्धवार्थे प्रतिज्ञां प्रतिज्ञातां तद्वधायार्जुनेन ।
सत्यां निस्तीर्णां शत्रुमध्ये च तेन तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१३५॥

जब मैंने सुना, कि अर्जुनने सिन्धुराज जयद्रथको मारनेकी प्रतिज्ञा की है, और वह जयद्रथ वधकी प्रतिज्ञा करके शत्रुओंके बीचमें भी उस अपनी सत्य–प्रतिज्ञामें उत्तीर्ण हुआ है, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १३५ ॥

यदाश्रौषं श्रान्तहये धनंजये मुक्त्वा हयान्पाययित्वोपवृत्तान् ।
पुनर्युक्त्वा वासुदेवं प्रयातं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १३६ ॥

जब मैंने सुना, कि अर्जुनके घोडोंके थकने पर श्रीकृष्ण उनको बंधनसे मुक्तकर जल पिला लेनेके पश्चात् फिर उन्हें जोत कर रथको हांक ले गये हैं, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १३६ ॥

यदाश्रौषं वाहनेष्वाश्वसत्सु रथोपस्थे तिष्ठता गाण्डिवेन।
सर्वान्योधान्वारितानर्जुनेन तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १३७ ॥
जब मैंने सुना, कि घोडोंके अशक्त होने पर भी गाण्डीवधारी अर्जुनने अकेले रथपर रह-कर संपूर्ण वीरोंको हरा दिया है, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १३७ ॥

यदाश्रौषं नागबलैर्दुरुत्सहं द्रोणानीकं युयुधानं प्रमथ्य।
यातं वार्ष्णेयं यत्र तौ कृष्णपार्थौ तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १३८ ॥
जब मैंने सुना, कि वृष्णिवंशी सात्यकि हाथियोंकी सेनाओंसे भी अपराजेय ऐसी द्रोणाचार्यकी सेनाको भी मथकर श्रीकृष्ण और अर्जुनके पास जा पहुंचा है, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १३८ ॥

यदाश्रौषं कर्णमासाद्य मुक्तं वधाद्भीमं कुत्सयित्वा वचोभिः।
धनुष्कोट्या तुद्य कर्णेन वीरं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १३९ ॥
जब मैंने सुना, कि कर्णने भीमको पाकर भी उसका वध न कर धनुषकी नोकसे सता करके तथा बुरे शब्दोंसे उसे झिडक कर ही लांछनपूर्वक छोड दिया, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १३९ ॥

यदा द्रोणः कृतवर्मा कृपश्च कर्णो द्रौणिर्मद्रराजश्च शूरः।
अमर्षयन्सैन्धवं वध्यमानं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १४० ॥
जब मैंने सुना, कि द्रोणाचार्य, कृतवर्मा, कृपाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा और वीरवर मद्र-राजशल्यने बदला लेनेमें अशक्त होकर सिन्धुराज जयद्रथके वधके दुःखको चुपचाप सह लिया है, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १४० ॥

यदाश्रौषं देवराजेन दत्तां दिव्यां शक्तिं व्यंसितां माधवेन।
घटोत्कचे राक्षसे घोररूपे तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १४१ ॥
जब मैंने सुना, कि कृष्णने भयंकर रूपवाले घटोत्कच राक्षसपर देवराज इन्द्र द्वारा दी हुई दिव्य शक्तिको चलवा कर उसको व्यर्थ कर दिया है, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १४१ ॥

यदाश्रौषं कर्णघटोत्कचाभ्यां युद्धे मुक्तां सूतपुत्रेण शक्तिम्।
यया वध्यः समरे सव्यसाची तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १४२ ॥
जब मैंने सुना, कि कर्ण और घटोत्कचके युद्धमें सूत-पुत्र कर्णने, जिससे युद्धमें अर्जुन मारा जानेवाला था, उसी दिव्य शक्तिको घटोत्कच पर चला दिया है, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १४२ ॥

यदाश्रौषं द्रोणमाचार्यमेकं धृष्टद्युम्नेनाभ्यतिक्रम्य धर्मम् ।
रथोपस्थे प्रायगतं विशस्तं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १४३ ॥

जब मैंने सुना, कि अस्त्र छोडकर अनशन–मृत्युकी इच्छासे अकेले रथपर बैठे हुए द्रोणाचार्यको धृष्टद्युम्नने धर्मका उल्लंघन करके मारा है, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १४३ ॥

यदाश्रौषं द्रौणिना द्वैरथस्थं माद्रीसुतं नकुलं लोकमध्ये ।
समं युद्धे पाण्डवं युध्यमानं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १४४ ॥

सब लोगोंके सामने अश्वत्थामाके साथ समान–भावसे द्वैरथ युद्ध करते हुए माद्री पुत्र नकुलको जब मैंने सुना तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १४४ ॥

यदा द्रोणे निहते द्रोणपुत्रो नारायणं दिव्यमस्त्रं विकुर्वन् ।
नैषामन्तं गतवान्पाण्डवानां तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १४५ ॥

जब मैंने सुना, कि द्रोणाचार्यके मारे जानेपर अश्वत्थामा दिव्य नारायण अस्त्र मारकर भी पाण्डवोंको मार नहीं सका, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १४५ ॥

यदाश्रौषं कर्णमत्यंतशूरं हतं पार्थेनाहवेष्वप्रधृष्यम् ।
तस्मिन्भ्रातॄणां विग्रहे देवगुह्ये तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १४६ ॥

जब मैंने सुना, कि देव द्वारा छिपाए गए दोनों भाईयोंके युद्धमें अर्जुनने रणमें अत्यन्त शूर वीर और युद्धोंमें अपराजित महावीर कर्णको नष्ट कर दिया है, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा छोड दी ॥ १४६ ॥

यदाश्रौषं द्रोणपुत्रं कृपं च दुःशासनं कृतवर्माणमुग्रम् ।
युधिष्ठिरं शून्यमधर्षयन्तं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १४७ ॥

जब मैंने सुना, कि युधिष्ठिरने वीरवर द्रोणपुत्र अश्वत्थामा, कृपाचार्य, दुःशासन और उग्र स्वभावी कृतवर्माको जीत लिया है, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १४७ ॥

यदाश्रौषं निहतं मद्रराजं रणे शूरं धर्मराजेन सूत ।
सदा संग्रामे स्पर्धते य स कृष्णं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १४८ ॥

हे सूत ! जब मैंने सुना, कि युद्धमें जो श्रीकृष्णचन्द्रसे भी सदा मुकावला करते हैं ऐसे मद्रराज शल्य भी रणवीर युधिष्ठिरके द्वारा मार दिये गये हैं, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १४८ ॥

यदाश्रौषं कलहद्यूतमूलं मायाबलं सौबलं पाण्डवेन।
हतं संग्रामे सहदेवेन पापं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १४९ ॥
जब मैंने सुना, कि पाण्डुपुत्र सहदेवने जुए और झगडेकी जड, पापिष्ठ और छली सुबल पुत्र शकुनिको लडाईमें मार दिया है, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १४९ ॥

यदाश्रौषं श्रान्तमेकं शयानं ह्रदं गत्वा स्तम्भयित्वा तदम्भः।
दुर्योधनं विरथं भग्नदर्पं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १५० ॥
जब मैंने सुना, कि अकेला, टूटे हुए घमंडवाला रथरहित, थका-मांदा दुर्योधन तालावमें जाकर जल रोककर उसीमें छिप गया है, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १५० ॥

यदाश्रौषं पांडवांस्तिष्ठमानान्गंगाह्रदे वासुदेवेन सार्धम्।
अमर्षणं धर्षयतः सुतं मे तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १५१ ॥
जब मैंने सुना, कि पाण्डवगण श्रीकृष्णचंद्रके संग गंगाके तालावके निकट खडे होकर असहनशील मेरे पुत्र दुर्योधनको लाञ्छन दे रहे हैं, तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १५१ ॥

यदाश्रौषं विविधांस्तात मार्गान्गदायुद्धे मण्डलं संचरन्तम्।
मिथ्या हतं वासुदेवस्य बुद्ध्या तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १५२ ॥
जब मैंने सुना, कि गदायुद्धमें नाना तरहके आश्चर्यकारक कौशल दिखाने–वाला दुर्योधन मण्डलाकारमें घूमते समय वासुदेवके परामर्शसे अन्याय रूपसे मार दिया गया, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १५२ ॥

यदाश्रौषं द्रोणपुत्रादिभिस्तैर्हतान्पांचालान्द्रौपदेयांश्च सुप्तान्।
कृतं बीभत्समयशस्यं च कर्म तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १५३ ॥
जब मैंने सुना, कि अश्वत्थामा आदिने रात्रिमें सोये हुए पांचालों और द्रौपदीके पुत्रोंको मारकर अति घृणित और अयशका कार्य किया है, तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १५३ ॥

यदाश्रौषं भीमसेनानुयातेनाश्वत्थाम्ना परमास्त्रं प्रयुक्तम्।
क्रुद्धेनैषीकमवधीयेन गर्भं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १५४ ॥
जब मैंने सुना, कि भीमको पुत्र-वधके कारण क्रोधसे अन्धे बनकर अपने पीछे दौडते हुए देखकर अश्वत्थामाने ऐषीक नामक परमास्त्र मारकर उत्तराका गर्भ नष्ट कर दिया है, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १५४ ॥

यदाश्रौषं ब्रह्मशिरोऽर्जुनेन मुक्तं स्वस्तीत्यस्त्रमस्त्रेण शान्तम् ।
अश्वत्थाम्ना मणिरत्नं च दत्तं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १५५ ॥

जब मैंने सुना, कि अश्वत्थामाके द्वारा छोडे गए अर्जुनवधके निमित्त ब्रह्मशिरः नामक अस्त्रको अर्जुनने "स्वस्ति" अस्त्रसे रोक दिया है और अश्वत्थामाने उसको मणिरत्न दे दिया है, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १५५ ॥.

यदाश्रौषं द्रोणपुत्रेण गर्भे वैराट्या वै पात्यमाने महास्त्रे ।
द्वैपायनः केशवो द्रोणपुत्रं परस्परेणाभिशापैः शशाप ॥ १५६ ॥

जब मैंने सुना कि महास्त्रसे विराट–पुत्रीके गर्भको नष्ट करनेपर अश्वत्थामाको द्वैपायन और श्रीकृष्णचंद्र दोनोंने परस्पर विचार करके शाप दे दिया है, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १५६ ॥

शोच्या गान्धारी पुत्रपौत्रैर्विहीना तथा वध्वः पितृभिर्भ्रातृभिश्च ।
कृतं कार्यं दुष्करं पाण्डवेयैः प्राप्तं राज्यमसपत्नं पुनस्तैः ॥ १५७ ॥

इस समय पुत्र, पौत्र, वधू, पिता, माता और भाइयोंको खोकर गांधारी बडी विकल है। पाण्डवोंने यह दुष्कर कर्म किया है और उन्होंने फिर अपने शत्रुरहित राज्यको प्राप्त कर लिया है ॥ १५७ ॥

कष्टं युद्धे दश शेषाः श्रुता मे त्रयोऽस्माकं पाण्डवानां च सप्त ।
द्व्यूना विंशतिराहताक्षौहिणीनां तस्मिन्संग्रामे विग्रहे क्षत्रियाणाम् ॥ १५८ ॥

हा ! बहुत दुःखकी बात है कि हमारी ओरके तीन और पाण्डव-पक्षके सात, केवल येही दस मनुष्य रणसे बचे हैं, इस युद्धमें क्षत्रियोंकी बीसमें दो कम अर्थात् अट्ठारह अक्षौहिणी सेना नष्ट भ्रष्ट हो गई है ॥ १५८ ॥

तमसा त्वभ्यवस्तीर्णो मोह आविशतीव माम् ।
संज्ञां नोपलभे सूत मनो विह्वलतीव मे ॥ १५९ ॥

हे सूत ! चारों ओर अंधेरेसे घिरा हुआ मैं मोहसे विकल हो रहा हूं, चेतना मुझे छोडकर भागी जा रही है, चित्त बडा उदास हो रहा है ॥ १५९ ॥

इत्युक्त्वा धृतराष्ट्रोऽथ विलप्य बहु दुःखितः ।
मूर्च्छितः पुनराश्वस्तः संजयं वाक्यमब्रवीत् ॥ १६० ॥

इस प्रकार कह कर राजा धृतराष्ट्र बहुत दुःखी होकर और बहुत विलाप करके मूर्छित हो गये । फिर चेतना आनेपर संजयसे यह बोले ॥ १६० ॥

संजयैवंगते प्राणांस्त्यक्तुमिच्छामि मा चिरम्।
स्तोकं ह्यपि न पश्यामि फलं जीवितधारणे ॥ १६१ ॥

'हे संजय ! ऐसी दशामें मैं इसी समय विना विलम्ब किए प्राण छोड देना चाहता हूं, अपने इस जीवनको धारण करनेमें मैं कुछ भी फल नहीं देखता ॥ १६१ ॥

तं तथा वादिनं दीनं विलपन्तं महीपतिम्।
गावल्गणिरिदं धीमान् महार्थं वाक्यमब्रवीत् ॥ १६२ ॥

इस प्रकार कहनेवाले तथा दीनभावसे विलाप करनेवाले उस राजा धृतराष्ट्रसे बुद्धिमान् संजय अर्थयुक्त यह वचन बोले ॥ १६२ ॥

श्रुतवानसि वै राज्ञो महोत्साहान् महाबलान्।
द्वैपायनस्य वदतो नारदस्य च धीमतः ॥ १६३ ॥

महाराज ! आपने बुद्धिमान् नारद और वाग्मी वेदव्यासजीके मुखसे महान् उत्साहसे युक्त तथा महाबलशाली राजाओंके चरित्र सुने ही होंगे ॥ १६३ ॥

महत्सु राजवंशेषु गुणैः समुदितेषु च।
जातान्दिव्यास्त्रविदुषः शक्रप्रतिमतेजसः ॥ १६४ ॥

जो उत्तम राजवंशोंमें उत्पन्न, उत्तम गुणोंके कारण उन्नत, दिव्य दिव्य शस्त्रास्त्रोंको जानने-वाले और इन्द्रके समान अत्यधिक तेजवाले थे ॥ १६४ ॥

धर्मेण पृथिवीं जित्वा यज्ञैरिष्ट्वाप्तदक्षिणैः।
अस्मिँल्लोके यशः प्राप्य ततः कालवशं गताः ॥ १६५ ॥

जो धर्मसे पृथ्वीको जीतकर, दक्षिणावाले महान् महान् यज्ञ करके तथा इस संसारमें महान् यश प्राप्त कर कालके गालमें समा गए ॥ १६५ ॥

वैन्यं महारथं वीरं संजयं जयतां वरम्।
सुहोत्रं रन्तिदेवं च कक्षीवन्तं तथौशिजम् ॥ १६६ ॥

इनमेंसे महारथी वीर वैन्य, विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ संजय, सुहोत्र और रंतिदेव, कक्षीवान्, औशिज ॥ १६६ ॥

बाह्लीकं दमनं शैब्यं शर्यातिमजितं जितम्।
विश्वामित्रममित्रघ्नमम्बरीषं महाबलम् ॥ १६७ ॥

बाल्हीक और दमन, शैब्य, शत्रुनाशी शर्याति, अजित, जित और विश्वामित्र, शत्रुनाशक महाबली अंबरीष ॥ १६७ ॥

मरुत्तं मनुमिक्ष्वाकुं गयं भरतमेव च ।
रामं दाशरथिं चैव शशबिन्दुं भगीरथम् ॥ १६८ ॥

मरुत्त, मनु, इक्ष्वाकु, गय, भरत, परशुराम, दशरथपुत्र राम, शशबिन्दु, भगीरथ ॥१६८॥

ययातिं शुभकर्माणं देवैर्यो याजितः स्वयम् ।
चैत्ययूपांकिता भूमिर्यस्येयं सवनाकरा ॥ १६९ ॥

स्वयं देवताओंने जिनका यज्ञ कराया था और जिनके यज्ञीय यूपसमूहसे अंकित महीमण्डल यज्ञोंका घर बन गया था ऐसे शुभ कर्मशील ययाति ॥ १६९ ॥

इति राज्ञां चतुर्विंशन्नारदेन सुरर्षिणा ।
पुत्रशोकाभितप्ताय पुरा शैब्याय कीर्तिताः ॥ १७० ॥

इन चौबीस राजाओंका वर्णन पूर्वकालमें राजा शैब्यके पुत्रशोकसे विकल होनेपर देवर्षि नारदने किया था ॥ १७० ॥

तेभ्यश्चान्ये गताः पूर्वं राजानो बलवत्तराः ।
महारथा महात्मानः सर्वैः समुदिता गुणैः ॥ १७१ ॥

इनके अतिरिक्त इनसे भी पहले और भी बहुतेरे अतिबलशाली महारथी, सर्व गुणशाली महात्मा राजा कालके गर्भमें चले गये ॥ १७१ ॥

पूरुः कुरुर्यदुः शूरो विष्वगश्वो महाधृतिः ।
अनेना युवनाश्वश्च ककुत्स्थो विक्रमी रघुः ॥ १७२ ॥

जैसे पुरु, कुरु, यदु, शूर विष्वगश्व, महाधृति, अनेना, युवनाश्व, ककुत्स्थ, विक्रमी रघु ॥ १७२॥

विजिती वीतिहोत्रश्च भवः श्वेतो बृहद्गुरुः ।
उशीनरः शतरथः कङ्को दुलिदुहो द्रुमः ॥ १७३ ॥

विजिती, वीतिहोत्र, भव, श्वेत, बृहद्गुरु, उशीनर, शतरथ, कंक, दुलिदुह, द्रुम ॥१७३॥

दंभोद्भवः परो वेनः सगरः संकृतिर्निमिः ।
अजेयः परशुः पुण्ड्रः शम्भुर्देवावृधोऽनघः ॥ १७४ ॥

दंभोद्भव, पर, वेन, सगर, संकृति, निमि, अजेय, परशु, पुण्ड्र, शंभु और निष्पाप देवावृध ॥ १७४ ॥

देवाह्वयः सुप्रतिमः सुप्रतीको बृहद्रथः ।
महोत्साहो विनीतात्मा सुक्रतुर्नैषधो नलः ॥ १७५ ॥

देवाह्वय, सुप्रातिम, सुप्रतीक, बृहद्रथ, महोत्साह, विनीतात्मा, सुक्रतु, निषधदेशका राजा नल ॥ १७५ ॥

सत्यव्रतः शान्तभयः सुमित्रः सुबलः प्रभुः।
जानुजङ्घोऽनरण्योऽर्कः प्रियभृत्यः शुभव्रतः ॥ १७६ ॥

सत्यव्रत, शांतभय, सुमित्र, सुबल, प्रभु, जानुजंघ, अनरण्य, अर्क, प्रियभृत्य, शुभव्रत ॥ १७६ ॥

बलबन्धुर्निरामर्दः केतुशृंगो बृहद्बलः।
धृष्टकेतुर्बृहत्केतुर्दीप्तकेतुर्निरामयः ॥ १७७ ॥

बलबन्धु, निरामर्द, केतुशृंग, बृहद्बल, धृष्टकेतु, बृहत्केतु, दीप्तकेतु, निरामय ॥ १७७ ॥

अविक्षित्प्रबलो धूर्तः कृतबन्धुर्दृढेषुधिः।
महापुराणः संभाव्यः प्रत्यंगः परहा श्रुतिः ॥ १७८ ॥

अविक्षित्, प्रबल, धूर्त, कृतबन्धु, दृढेषुधि, महापुराण, संभाव्य, प्रत्यंग, परहा, श्रुति ॥ १७८ ॥

एते चान्ये च राजानः शतशोऽथ सहस्रशः।
श्रूयन्तेऽयुतशश्चान्ये संख्याताश्चापि पद्मशः ॥ १७९ ॥

ये सब राजा और दूसरे सैंकडों, सहस्रों, पद्म संख्या तकके सुने जाते हैं ॥ १७९ ॥

हित्वा सुविपुलान्भोगान्बुद्धिमन्तो महाबलाः।
राजानो निधनं प्राप्तास्तव पुत्रैर्महत्तमाः ॥ १८० ॥

ये सब आपके पुत्रोंसे भी अधिक बुद्धिमान्, अतिबलवान्, प्रतापवान् राजागण अपार ऐश्वर्य छोडकर मृत्युको प्राप्त होकर परलोकको चले गये ॥ १८० ॥

येषां दिव्यानि कर्माणि विक्रमस्त्याग एव च।
माहात्म्यमपि चास्तिक्यं सत्यता शौचमार्जवम् ॥ १८१ ॥

जिनके अलौकिक कार्य, विक्रम, त्याग, माहात्म्य, आस्तिकता, सत्य–निष्ठा, शौच, सरलता ॥ १८१ ॥

विद्वद्भिः कथ्यते लोके पुराणैः कविसत्तमैः।
सर्वर्द्धिगुणसम्पन्नास्ते चापि निधनं गताः ॥ १८२ ॥

आदि उत्तम गुणोंका वर्णन प्राचीन श्रेष्ठ कवियों और विद्वानोंने किया है, वे सभी गुण और ऐश्वर्यसे सम्पन्न महापुरुष भी मृत्युके मुखमें चले गए ॥ १८२ ॥

तव पुत्रा दुरात्मानः प्रतप्ताश्चैव मन्युना।
लुब्धा दुर्वृत्तभूयिष्ठा न ताञ्शोचितुमर्हसि ॥ १८३ ॥

आपके पुत्रगण दुरात्मा, क्रोधसे संतप्त, लोभी और बडे दुराचारी थे, अत एव आपको उनके लिए शोक नहीं करना चाहिये ॥ १८३ ॥

श्रुतवानसि मेधावी बुद्धिमान्प्राज्ञसंमतः ।
येषां शास्त्रानुगा बुद्धिर्न ते मुह्यन्ति भारत ॥ १८४ ॥

आप शास्त्रज्ञ, मेधावान्, धीमान् और पंडित समाजमें अतिसंमानित हैं; हे भारत! जिनकी बुद्धि शास्त्रोंके अनुसार काम करनेवाली होती है, वे कभी मोहवश नहीं होते ॥ १८४ ॥

निग्रहानुग्रहौ चापि विदितौ ते नराधिप ।
नात्यन्तमेवानुवृत्तिः श्रूयते पुत्ररक्षणे ॥ १८५ ॥

हे राजन्! आप तो जानते ही होंगे कि, आपने पांडवोंके प्रति निर्दयता और अपने पुत्रोंके प्रति दया दिखाई थी। अपनी संतानकी रक्षाके निमित्त अत्यन्त प्रेम नहीं सुना जाता ॥१८५॥

भवितव्यं तथा तच्च नातः शोचितुमर्हसि ।
दैवं प्रज्ञाविशेषेण को निवर्तितुमर्हति ॥ १८६ ॥

वह वैसा होना ही था अतः अब उस बारेमें खेद करना ठीक नहीं, भाग्यको अपनी बुद्धिके कौशलसे भी कौन अन्यथा कर सकता है ? ॥ १८६ ॥

विधातृविहितं मार्गं न कश्चिदतिवर्तते ।
कालमूलमिदं सर्वं भावाभावौ सुखासुखे ॥ १८७ ॥

विधाताके द्वारा निर्णीत पथका कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता । भाव, अभाव, सुख, दुःख, सबके जडमें काल ही कार्य करता है ॥ १८७ ॥

कालः पचति भूतानि कालः संहरति प्रजाः ।
निर्दहन्तं प्रजाः कालं कालः शमयते पुनः ॥ १८८ ॥

काल ही प्राणियोंको परिपक्व अर्थात् पुष्ट करता है, फिर काल ही उन प्रजाओंका संहार करता है, काल ही प्रजाओंको जलाता है, फिर प्रजाओंको जलाते हुए कालको महाकाल ही शांत करता है ॥ १८८ ॥

कालो वि कुरुते भावान्सर्वाँल्लोके शुभाशुभान् ।
कालः संक्षिपते सर्वाः प्रजा विसृजते पुनः ।
कालः सर्वेषु भूतेषु चरत्यविधृतः समः ॥ १८९ ॥

सारे भुवन मंडलके शुभाशुभ संपूर्ण पदार्थ कालहीसे बन रहे हैं, कालहीमें लय होते हैं और कालहीसे फिर प्रजाएं उत्पन्न होती हैं । काल विना बाधा सब भूतोंमें तुल्यभावसे विचर रहा है ॥ १८९ ॥

अतीतानागता भावा ये च वर्तन्ति साम्प्रतम् ।
तान्कालनिर्मितान्बुद्ध्वा न संज्ञां हातुमर्हसि ॥ १९० ॥

भूत, भविष्यत् तथा इस समय जो विद्यमान हैं वे सभी वस्तुएं कालसे रची हुई हैं, यह सब जानकर आपको अपना विवेक छोडना कदापि उचित नहीं है ॥ १९० ॥

सूत उवाच

अत्रोपनिषदं पुण्यां कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत् ।
भारताध्ययनात्पुण्यादपि पादमधीयतः ।
श्रद्दधानस्य पूयन्ते सर्वपापान्यशेषतः ॥ १९१ ॥

सूत बोले— श्रीकृष्ण द्वैपायन महाराज इस विषयमें परम पवित्र उपनिषत् रूपी महाभारत कह गये हैं, यदि कोई पुण्यदायक महाभारतका एक चरण भी श्रद्धासहित पढे तो उस अध्ययनसे उस श्रद्धालुके सब पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ १९१ ॥

देवर्षयो ह्यत्र पुण्या ब्रह्मराजर्षयस्तथा ।
कीर्त्यन्ते शुभकर्माणस्तथा यक्षमहोरगाः ॥ १९२ ॥

इस भारतमें निष्पाप और उत्तम कर्मशील देवर्षि, ब्रह्मर्षि, राजर्षि, महोरग और यक्षोंका वर्णन है ॥ १९२ ॥

भगवान्वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः ।
स हि सत्यमृतं चैव पवित्रं पुण्यमेव च ॥ १९३ ॥

इस ग्रंथमें विशेषकर सनातन भगवान् कृष्णका वर्णन है, वे ही सत्य और ऋत स्वरूप, पवित्र और पवित्रकारी हैं ॥ १९३ ॥

शाश्वतं ब्रह्म परमं ध्रुवं ज्योतिः सनातनम् ।
यस्य दिव्यानि कर्माणि कथयन्ति मनीषिणः ॥ १९४ ॥

वे ही शाश्वत ब्रह्म और पवित्र और सनातन ज्योति हैं; पण्डितगण जिनके लोकातीत दिव्य कार्योंका कीर्तन करते हैं ॥ १९४ ॥

असत्सत्सदसच्चैव यस्माद्देवात्प्रवर्तते ।
संततिश्च प्रवृत्तिश्च जन्म मृत्युः पुनर्भवः ॥ १९५ ॥

जिस देवसे सत्, असत् और सदसत् यह विश्व, प्रजा, यागादि कर्मकी प्रवृत्ति, जन्म, मृत्यु और पुनर्जन्म हो रहे हैं ॥ १९५ ॥

अध्यात्मं श्रूयते यच्च पञ्चभूतगुणात्मकम् ।
अव्यक्तादि परं यच्च स एव परिगीयते ॥ १९६ ॥

जो अध्यात्मरूप है तथा जो पंचभूतात्मा है तथा जो अव्यक्तादि संपूर्ण वस्तुओंसे भी परे जिसका वेदमें वर्णन है ॥ १९६ ॥

यत्तद्यातिवरा युक्ता ध्यानयोगबलान्विताः ।
प्रतिबिम्बमिवादर्शे पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ॥ १९७ ॥

और जिसको योगी तथा ध्यान और योगके बलसे युक्त यतिश्रेष्ठ आइनेमें स्थित प्रतिबिम्बके सदृश अपनी आत्मामें देखते हैं, उसी सनातन भगवान् वासुदेवका वर्णन इस ग्रंथमें है ॥१९७॥

श्रद्दधानः सदोद्युक्तः सत्यधर्मपरायणः ।
आसेवन्निममध्यायं नरः पापात्प्रमुच्यते ॥ १९८ ॥

सत्य और धर्मशील तथा सदा प्रयत्नशील रहनेवाला नर, नियम और श्रद्धाके साथ इस अध्यायका पाठ करके सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त होता है ॥ १९८ ॥

अनुक्रमणिमध्यायं भारतस्येममादितः ।
आस्तिकः सततं शृण्वन्न कृच्छ्रेष्ववसीदति ॥ १९९ ॥

आस्तिक पुरुष भारत ग्रंथके इस अनुक्रमणिका–अध्यायको प्रथमसे सदा सुनता हुआ कठिनसे कठिन क्लेशमें भी दुःखी नहीं होता ॥ १९९ ॥

उभे संध्ये जपन् किंचित् सद्यो मुच्येत किल्बिषात् ।
अनुक्रमण्या यावत्स्यादह्ना रात्र्या च संचितम् ॥ २०० ॥

सन्ध्या और प्रातःकालमें इस अनुक्रमणिका-अध्यायका थोडा थोडा पाठ करनेसे दिन और रात्रिके समय इकट्ठे किए गए सब पाप उसी समय छूट जाते हैं ॥ २०० ॥

भारतस्य वपुर्ह्येतत्सत्यं चामृतमेव च ।
नवनीतं यथा दध्नो द्विपदां ब्राह्मणो यथा ॥ २०१ ॥

यह अनुक्रमणिका अध्याय महाभारतकी सत्य और अमृतसे भरी देहके सदृश है । जैसे दहीमें मक्खन, मनुष्योंमें ब्राह्मण ॥ २०१ ॥

ह्रदानामुदधिः श्रेष्ठो गौर्वरिष्ठा चतुष्पदाम् ।
यथैतानि वरिष्ठानि तथा भारतमुच्यते ॥ २०२ ॥

जलाशयोंमें समुद्र और चतुष्पदों—चौपायोंमें गौ श्रेष्ठ है, वैसे ही इतिहासोंमें यह महाभारत श्रेष्ठ है ॥ २०२ ॥

यश्चैनं श्रावयेच्छ्राद्धे ब्राह्मणान्पादमन्ततः ।
अक्षय्यमन्नपानं वै पितॄंस्तस्योपतिष्ठति ॥ २०३ ॥

जो पुरुष श्राद्धकालमें इसका एक चरण भी ब्राह्मणोंको सुनाता है, उससे पितरोंको अक्षय अन्न और पानकी प्राप्ति होती है ॥ २०३ ॥

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रतरिष्यति ॥ २०४ ॥

इतिहास और पुराणसे वेदके अर्थका स्पष्टीकरण करें, क्योंकि थोडी विद्या पढे हुए मनुष्यसे वेदको यह भय लगता है कि वह मुझे विगाड देगा ॥ २०४ ॥

कार्ष्णं वेदमिमं विद्वाञ्श्रावयित्वार्थमश्नुते।
भ्रूणहत्याकृतं चापि पापं जह्यान्न संशयः ॥ २०५ ॥

श्री कृष्णद्वैपायनके कथित इस वेदको सुनाकर पण्डित धन पाता है और निश्चय ही भ्रूण-हत्यादि पापोंसे भी वह मुक्त हो जाता है इसमें कोई संशय नहीं है ॥ २०५ ॥

य इमं शुचिरध्यायं पठेत् पर्वणि पर्वणि।
अधीतं भारतं तेन कृत्स्नं स्यादिति मे मतिः ॥ २०६ ॥

जो पुरुष शुद्ध हो करके इस अध्यायका हर पर्वोंमें पाठ करता है, उसको संपूर्ण भारतको पढनेका फल मिलता है ऐसा मेरा मत है ॥ २०६ ॥

यश्चेमं शृणुयान्नित्यमार्षं श्रद्धासमन्वितः।
स दीर्घमायुः कीर्तिं च स्वर्गतिं चाप्नुयान्नरः ॥ २०७ ॥

जो पुरुष श्रद्धायुक्त होकर ऋषि-सेवित इस अध्यायको नित्य सुनता है, वह दीर्घायु हो और कीर्ति लाभ कर अन्तमें देवलोक प्राप्त करता है ॥ २०७ ॥

चत्वार एकतो वेदा भारतं चैकमेकतः।
समागतैः सुरर्षिभिस्तुलामारोपितं पुरा।
महत्त्वे च गुरुत्वे च ध्रियमाणं ततोऽधिकम् ॥ २०८ ॥

पूर्वकालमें सब देवताओं और ऋषियोंने मिलकर तराजूके एक ओर चारों वेद और दूसरी ओर केवल इस भारतको तराजूपर तौला, तो महत्त्व और भारीपनमें यही भारत भारी निकला ॥ २०८ ॥

महत्त्वाद्भारवत्त्वाच्च महाभारतमुच्यते।
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २०९ ॥

महत्त्वपूर्ण और भारी होनेके कारण ही इसे महाभारत कहते हैं। जो पुरुष महाभारत शब्दके सत्यार्थको जानता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ २०९ ॥

तपो न कल्कोऽध्ययनं न कल्कः स्वाभाविको वेदविधिर्न कल्कः।
प्रसह्य वित्ताहरणं न कल्कस्तान्येव भावोपहतानि कल्कः ॥ २१० ॥

तपस्या अशुद्ध नहीं है, पठन अशुद्ध नहीं है, संपूर्ण स्वाभाविक वेद–विधि अशुद्ध नहीं है और जबर्दस्तीसे द्रव्य छीन लेना इत्यादि भी कदापि पापजनक नहीं हो सकते; पर असद् अभिप्रायसे दूषित हो जानेपर वे ही निःसंदेह पापजनक हो जाते हैं ॥ २१० ॥

इति श्री महाभारते आदिपर्वणि अनुक्रमणी नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

॥ इस प्रकार महाभारतमें आदिपर्वका प्रथम अध्याय और अनुक्रमणिका पर्व समाप्त हुआ ॥

: २ :

ऋषय ऊचुः

समन्तपञ्चकमिति यदुक्तं सूतनन्दन ।
एतत्सर्वं यथान्यायं श्रोतुमिच्छामहे वयम् ॥ १ ॥

ऋषिगण बोले— हे सूतनन्दन ! तुमने जिस समन्तपंचक देशका नाम लिया हम उसके सब सत्यवृत्तांतोंको सुनना चाहते हैं ॥ १ ॥

सूत उवाच

शुश्रूषा यदि वो विप्रा ब्रुवतश्च कथाः शुभाः ।
समन्तपञ्चकाख्यं च श्रोतुमर्हथ सत्तमाः ॥ २ ॥

सूत बोले— हे श्रेष्ठ ऋषिगण ! शुभ कथाओंको कहते हुए मुझसे यदि समन्तपंचकके बारेमें सुननेकी आपकी इच्छा है तो श्रवण कीजिये ॥ २ ॥

त्रेताद्वापरयोः संधौ रामः शस्त्रभृतां वरः ।
असकृत्पार्थिवं क्षत्रं जघानामर्षचोदितः ॥ ३ ॥

त्रेता और द्वापर युगोंके सन्धिकालमें शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ भगवान् परशुरामने क्रोधके वशमें होकर क्षत्रिय राजाओंका बार बार विनाश किया था ॥ ३ ॥

स सर्वं क्षत्रमुत्साद्य स्ववीर्येणानलद्युतिः ।
समन्तपञ्चके पञ्च चकार रुधिरह्रदान् ॥ ४ ॥

उस अग्नितुल्य तेजस्वी रामने अपने भुजवीर्यके बलसे क्षत्रिय कुलका सत्यानाश कर उनके शोणितसे समंतपंचकमें पांच तालाब बनाये थे ॥ ४ ॥

स तेषु रुधिराम्भस्सु ह्रदेषु क्रोधमूर्च्छितः ।
पितॄन्संतर्पयामास रुधिरेणेति नः श्रुतम् ॥ ५ ॥

हमने सुना है, कि क्रोधयुक्त होकर उन रक्तरूपी जलसे भरे ह्रदोंके किनारे उन्होंने रक्तसे पितरोंका तर्पण किया था ॥ ५ ॥

अथर्चीकादयोऽभ्येत्य पितरो ब्राह्मणर्षभम् ।
तं क्षमस्वेति सिषिधुस्ततः स विरराम ह ॥ ६ ॥

अनन्तर ऋचीक आदि पितृलोगोंने आकर उन ब्राह्मणोंमें सर्वश्रेष्ठ पराक्रमी परशुरामको 'क्षत्रियोंको क्षमा करो' यह कहकर क्षत्रियकुलके उच्छेद करनेके कार्यसे निवृत्त किया और वह भी उस कार्यसे शान्त हो गये ॥ ६ ॥

तेषां समीपे यो देशो ह्रदानां रुधिराम्भसाम् ।
समन्तपञ्चकमिति पुण्यं तत्परिकीर्तितम् ॥ ७ ॥

रक्तरूपी जलसे युक्त इन पांच ह्रदोंके आसपासका जो देश है वह पवित्र ' समन्तपंचक ' नामसे प्रसिद्ध हुआ है ॥ ७ ॥

येन लिङ्गेन यो देशो युक्तः समुपलक्ष्यते
तेनैव नाम्ना तं देशं वाच्यमाहुर्मनीषिणः ॥ ८ ॥

क्योंकि जिस चिन्हसे जो देश युक्त देखा जाता है, पण्डितगण उन्हींके अनुसार उस देशका नाम निश्चित करते हैं ॥ ८ ॥

अन्तरे चैव संप्राप्ते कलिद्वापरयोरभूत् ।
समन्तपञ्चके युद्धं कुरु-पाण्डव-सेनयोः ॥ ९ ॥

द्वापर और कलियुगके सन्धिकालके प्राप्त होने पर उस समंतपंचक देशमें कुरुपांडवोंकी सेनाओंमें संग्राम हुवा ॥ ९ ॥

तस्मिन्परमधर्मिष्ठे देशे भूदोषवर्जिते ।
अष्टादश समाजग्मुरक्षौहिण्यो युयुत्सया ॥ १० ॥

उस भूदोषसे वर्जित और अत्यन्त धार्मिक देशमें अठारह अक्षौहिणी सेनायें युद्ध करनेकी कामनासे इकट्ठी हुई थीं ॥ १० ॥

एवं नामाभिनिर्वृत्तं तस्य देशस्य वै द्विजाः ।
पुण्यश्च रमणीयश्च स देशो वः प्रकीर्तितः ॥ ११ ॥

हे ब्राह्मणो ! उस प्रदेशका यह नाम इसी प्रकार पडा है । मैंने उस रमणीय और पवित्र प्रदेशका वर्णन तुम्हारे सामने कर दिया है ॥ ११ ॥

तदेतत्कथितं सर्वं मया वो मुनिसत्तमाः ।
यथा देशः स विख्यातस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ॥ १२ ॥

हे मुनिश्रेष्ठो ! जिस कारण वह प्रदेश तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है उसकी वह सब कथा मैंने तुमसे कह दी है ॥ १२ ॥

ऋषय ऊचुः

अक्षौहिण्य इति प्रोक्तं यत्त्वया सूतनन्दन ।
एतदिच्छामहे श्रोतुं सर्वमेव यथातथम् ॥ १३ ॥

ऋषिगण बोले— हे सूतनन्दन ! आपने जो अक्षौहिणी शब्द कहा, हम उस सबका ठीक ठीक अर्थ सुनना चाहते हैं ॥ १३ ॥

अक्षौहिण्याः परीमाणं रथाश्वनरदन्तिनाम् ।
यथावच्चैव नो ब्रूहि सर्वं हि विदितं तव ॥ १४ ॥

एक अक्षौहिणीके परिमाणमें कितने रथ, कितने घोडे कितने पैदल मनुष्य और कितने हाथी रहते हैं, आप सब कुछ जानते हैं, अतः हमें ठीक ठीक बताइए ॥ १४ ॥

सूत उवाच

एको रथो गजश्चैको नराः पञ्च पदातयः ।
त्रयश्च तुरगास्तज्ज्ञैः पत्तिरित्यभिधीयते ॥ १५ ॥

श्री सूत बोले– उस परिमाणको जाननेवाले एक रथ, एक हाथी, पांच पैदल मनुष्य और तीन घोडोंको मिलाकर एक पत्ति कहते हैं ॥ १५ ॥

पत्तिं तु त्रिगुणामेतामाहुः सेनामुखं बुधाः ।
त्रीणि सेनामुखान्येको गुल्म इत्यभिधीयते ॥ १६ ॥

तीन गुना पत्तिओंको विद्वान् एक सेनामुख कहते हैं और तीन सेनामुखोंको एक गुल्म कहते हैं ॥ १६ ॥

त्रयो गुल्मा गणो नाम वाहिनी तु गणास्त्रयः ।
स्मृतास्तिस्रस्तु वाहिन्यः पृतनेति विचक्षणैः ॥ १७ ॥

तीन गुल्मोंसे एक गण; तीन गणोंसे एक वाहिनी; तीन वाहिनियोंकी सम्मिलित सेनाको बुद्धिमान् पृतना कहते हैं ॥ १७ ॥

चमूस्तु पृतनास्तिस्रस्तिस्रश्चम्वस्त्वनीकिनी ।
अनीकिनीं दशगुणां प्राहुरक्षौहिणीं बुधाः ॥ १८ ॥

और तीन पृतनाओंसे एक चमू होती है; तीन चमुओंसे एक अनीकिनी होती है; दश अनीकिनियोंके एकत्र मिलने पर उसे पण्डित लोग एक अक्षौहिणी कहते हैं ॥ १८ ॥

अक्षौहिण्याः प्रसंख्यानं रथानां द्विजसत्तमाः ।
संख्यागणिततत्त्वज्ञैः सहस्राण्येकविंशतिः ॥ १९ ॥
शतान्युपरि चैवाष्टौ तथा भूयश्च सप्ततिः ।
गजानां तु परीमाणमेतदेवात्र निर्दिशेत् ॥ २० ॥

हे द्विजश्रेष्ठगण ! संख्या गिननेके तत्त्वको जाननेवाले पुरुषोंने अक्षौहिणी सेनाकी यह संख्या लगाई है, कि रथोंकी संख्या (२१, ८, ७०) इक्कीस सहस्र, आठसौ, सत्तर और गजोंकी संख्या भी इतनी ही अर्थात् अश्वोंके बराबर ही है ॥ १९–२० ॥

*

ज्ञेयं शतसहस्रं तु सहस्राणि तथा नव।
नराणामपि पञ्चाशच्छतानि त्रीणि चानघाः ॥ २१ ॥

(१, ०९, ३, ५०) एक लक्ष, नौ सहस्र, तीनसौ, पचास पैदल मनुष्य ॥ २१ ॥

पञ्चषष्टिसहस्राणि तथाश्वानां शतानि च।
दशोत्तराणि षट् प्राहुर्यथावदिह संख्यया ॥ २२ ॥

(६५,६,१०) और पैंसठ हजार, छःसौ, दस घोडे इस प्रकार विद्वान् संख्यासे कहते हैं ॥ २२ ॥

एतामक्षौहिणीं प्राहुः संख्यातत्त्वविदो जनाः।
यां वः कथितवानस्मि विस्तरेण द्विजोत्तमाः ॥ २३ ॥

इसीको संख्यातत्त्वको जाननेवाले विद्वान् अक्षौहिणी कहते हैं, जिसको हे ब्राह्मणश्रेष्ठो ! मैंने तुमसे विस्तारसे कह दिया है ॥ २३ ॥

एतया संख्यया ह्यासन्कुरुपाण्डवसेनयोः।
अक्षौहिण्यो द्विजश्रेष्ठाः पिण्डेनाष्टादशैव ताः ॥ २४ ॥

हे ब्राह्मणश्रेष्ठो ! कौरव पाण्डवोंकी सेनायें इसी संख्याके आधार पर अट्ठारह अक्षौहिणी सम्मिलित हुईं थीं ॥ २४ ॥

समेतास्तत्र वै देशे तत्रैव निधनं गताः।
कौरवान्कारणं कृत्वा कालेनाद्भुतकर्मणा ॥ २५ ॥

हे द्विजश्रेष्ठगण ! वे सेनायें कौरवोंको कारण बनाकर आश्चर्यकार्यकारी कालके आ जाने पर उसी देशमें सम्मिलित हुईं और वहींपर नष्ट हो गईं ॥ २५ ॥

अहानि युयुधे भीष्मो दशैव परमास्त्रवित्।
अहानि पञ्च द्रोणस्तु ररक्ष कुरुवाहिनीम् ॥ २६ ॥

परमास्त्रोंके जाननेवाले भीष्मने दश दिनतक युद्ध किया। द्रोणाचार्यने पांच दिवसतक कौरवोंके सेनाकी रक्षा की ॥ २६ ॥

अहनी युयुधे द्वे तु कर्णः परबलार्दनः।
शल्योऽर्धदिवसं त्वासीत् गदायुद्धमतः परम् ॥ २७ ॥

शत्रुसेनाका नाश करनेवाले कर्णने दो दिन और शल्यने आधा दिन युद्ध किया था, अनंतर आधा दिन भीम और दुर्योधनमें गदायुद्ध हुआ था ॥ २७ ॥

तस्यैव तु दिनस्यान्ते हार्दिक्यद्रौणिगौतमाः।
प्रसुप्तां निशि विश्वस्तं जघ्नुर्यौधिष्ठिरं बलम् ॥ २८ ॥

उसी दिन रात्रिको कृतवर्मा, अश्वत्थामा और कृपाचार्य इन तीनोंने युधिष्ठिरकी आश्वस्त होकर निद्रित सेनाओंपर आक्रमण किया और उन्हें मार डाला ॥ २८ ॥

यत्तु शौनकसत्रे ते भारताख्यानविस्तरम् ।
आख्यास्ये तत्र पौलोममाख्यानं चादितः परम् ॥ २९ ॥

मैं शौनकके यज्ञमें जो सुन्दर विस्तृत भारतोपाख्यानका आख्यान करूंगा । उसमें शुरुमें सबसे पहले पौलोमका आख्यान है ॥ २९ ॥

विचित्रार्थपदाख्यानमनेकसमयान्वितम् ।
अभिपन्नं नरैः प्राज्ञैर्वैराग्यमिव मोक्षिभिः ॥ ३० ॥

यह भारत अनेक विचित्र पदों, अनेक आख्यानों और नाना प्रकारके आचारादियोंसे युक्त है, मोक्षार्थी जन जैसे वैराग्यका आश्रय लेते हैं, वैसे ही प्राज्ञलोग इस भारतकी शरण लिये रहते हैं ॥ ३० ॥

आत्मेव वेदितव्येषु प्रियेष्विव च जीवितम् ।
इतिहासः प्रधानार्थः श्रेष्ठः सर्वागमेष्वयम् ॥ ३१ ॥

जैसे जानने योग्य वस्तुओंमें आत्मा और प्यारी वस्तुओंमें जीवन प्रधान है, वैसे ही श्रेष्ठ विषयोंसे भरा हुआ यह इतिहास संपूर्ण आगमोंमें श्रेष्ठ है ॥ ३१ ॥

इतिहासोत्तमे ह्यस्मिन्नर्पिता बुद्धिरुत्तमा ।
स्वरव्यञ्जनयोः कृत्स्ना लोकवेदाश्रयेव वाक् ॥ ३२ ॥

जैसे सब लौकिक और वैदिक वाणी, स्वर और व्यंजनरूप वर्णोंमें समायी रहती है, उसी प्रकार इस उत्तम इतिहासमें श्रेष्ठ बुद्धि भरी पडी है ॥ ३२ ॥

अस्य प्रज्ञाभिपन्नस्य विचित्रपदपर्वणः ।
भारतस्येतिहासस्य श्रूयतां पर्वसंग्रहः ॥ ३३ ॥

इस समय आप लोग अनन्त प्रज्ञाके आधार, विचित्र पद और पर्वसे युक्त, भारत इतिहासका पर्वसंग्रह सुनिए ॥ ३३ ॥

पर्वानुक्रमणी[1] पूर्वं द्वितीयं पर्वसंग्रहः[2] ।
पौष्यं[3] पौलोममास्तीकमादिवंशावतारणम् ॥ ३४ ॥

प्रथम अनुक्रमणिका पर्व, द्वितीय पर्व—संग्रह पर्व, आगे पौष्य पर्व, पौलोम पर्व, आस्तीक पर्व, और आदिवंशावतारण पर्व है ॥ ३४ ॥

ततः संभवपर्वोक्तमद्भुतं देवनिर्मितम् ।
दाहो जतुगृहस्यात्र हैडिम्बं पर्व चोच्यते ॥ ३५ ॥

अनन्तर देवों द्वारा निर्मित विचित्र संभव पर्व, इसके बाद जतुगृह—दाह पर्व, इसके बाद हिडिम्ब पर्वका वर्णन है ॥ ३५ ॥

ततो वकवधः[१०] पर्व पर्व चैत्ररथं[११] ततः।
ततः स्वयंवरं[१२] देव्याः पाञ्चाल्याः पर्व चोच्यते ॥ ३६ ॥

अनन्तर वकवध[१०] पर्व, उसके वाद चैत्ररथ[११] पर्व, पश्चात् देवी पांचाली द्रौपदीका स्वयंवर[१२] पर्व कहा जाता है ॥ ३६ ॥

क्षत्रधर्मेण निर्जित्य ततो वैवाहिकं[१३] स्मृतम्।
विदुरागमनं[१४] पर्व राज्यलम्भस्तथैव[१५] च ॥ ३७ ॥

उसके वाद क्षत्रिय—धर्मसे जयलाभके पश्चात् पाण्डवोंका विवाह[१३] पर्व, अनन्तर विदुरागमन[१४] पर्व, उसके वाद राज्यप्राप्ति[१५] पर्व ॥ ३७ ॥

अर्जुनस्य वने वासः[१६] सुभद्राहरणं[१७] ततः।
सुभद्राहरणादूर्ध्वं ज्ञेयं हरणहारिकम्[१८] ॥ ३८ ॥

इसके वाद अर्जुनका वनवास[१६] पर्व, पश्चात् सुभद्राहरण[१७] पर्व और सुभद्राहरण पर्वके वाद हरणाहरण[१८] पर्व जानना चाहिए ॥ ३८ ॥

ततः खाण्डवदाहाख्यं[१९] तत्रैव मयदर्शनम्।
सभापर्व[२०] ततः प्रोक्तं मन्त्रपर्व[२१] ततः परम् ॥ ३९ ॥

अनंतर खाण्डवदाह[१९] पर्व, वहीं पर मयदानवका दर्शन हुआ, उसके वाद सभा[२०] पर्व कहा गया है और तब उसके वाद मन्त्रणा[२१] पर्व है ॥ ३९ ॥

जरासन्धवधः[२२] पर्व पर्व दिग्विजयस्तथा[२३]।
पर्व दिग्विजयादूर्ध्वं राजसूयिकमुच्यते[२४] ॥ ४० ॥

मंत्रपर्वके वाद जरासंधवध[२२] पर्व, जिसके अनन्तर दिग्विजय[२३] पर्व, दिग्विजयके वाद राजसूयिक[२४] पर्व कहा है ॥ ४० ॥

ततश्चार्घाभिहरणं[२५] शिशुपालवधस्ततः[२६]।
द्यूतपर्व[२७] ततः प्रोक्तमनुद्यूतमतः[२८] परम् ॥ ४१ ॥

पश्चात् अर्घाभिहरण[२५] पर्व, उसके वाद शिशुपालवध[२६] पर्व, अनन्तर द्यूत[२७] पर्व, पश्चात् अनुद्यूत[२८] पर्व कहा है ॥ ४१ ॥

तत आरण्यकं[२९] पर्व किर्मीरवध[३०] एव च।
ईश्वरार्जुनयोर्युद्धं पर्व कैरातसंज्ञितम्[३१] ॥ ४२ ॥

अनंतर अरण्य[२९]-यात्रा-पर्व, उसके वाद किर्मीर[३०] वध पर्वका वर्णन है, तब ईश्वरार्जुनके युद्ध-संबंधी किरात[३१] नामका पर्व है ॥ ४२ ॥

इन्द्रलोकाभिगमनं[32] पर्व ज्ञेयमतः परम् ।
तीर्थयात्रा[33] ततः पर्व कुरुराजस्य धीमतः ॥ ४३ ॥

इस किरात पर्वके बाद इंद्रलोकाभिगमन[32] पर्वको जानना चाहिए, उसके बाद कुरुराज युधिष्ठिरका तीर्थयात्रा[33] पर्व है ॥ ४३ ॥

जटासुरवधः[34] पर्व यक्षयुद्धमतः[35] परम् ।
तथैवाजगरं[36] पर्व विज्ञेयं तदनन्तरम् ॥ ४४ ॥

तब जटासुरवध[34], फिर यक्षयुद्ध[35] पर्व, उसके बाद अजगर[36] पर्व जानना चाहिए ॥ ४४ ॥

मार्कण्डेयसमस्या[37] च पर्वोक्तं तदनन्तरम् ।
संवादश्च[38] ततः पर्व द्रौपदीसत्यभामयोः ॥ ४५ ॥

उसके बाद मार्कण्डेय[37]-समस्या पर्वका वर्णन है, उसके बाद द्रौपदी–सत्यभामा[38]–संवाद पर्व है ॥ ४५ ॥

घोषयात्रा[39] ततः पर्व मृगस्वप्नभयं[40] ततः ।
व्रीहिद्रौणिकमाख्यानं[41] ततोऽनन्तरमुच्यते ॥ ४६ ॥

उसके बाद घोषयात्रा[39] पर्व है, उसीमें मृगस्वप्नभय[40] और तदनन्तर व्रीहि[41] द्रौणिक उपाख्यान कहा गया है ॥ ४६ ॥

द्रौपदीहरणं[42] पर्व सैन्धवेन वनात्ततः ।
कुण्डलाहरणं[43] पर्व ततः परमिहोच्यते ॥ ४७ ॥

तब उसी वनसे जयद्रथ द्वारा द्रौपदी हरण[42] पर्व, आगे कुंडल[43] हरण पर्व कहा जाता है ॥ ४७ ॥

आरणेयं[44] ततः पर्व वैराटं[45] तदनन्तरम् ।
कीचकानां[46] वधः पर्व पर्व गोग्रहणं[47] ततः ॥ ४८ ॥

उसके बाद आरणेय[44] पर्व, अनन्तर विराट[45] पर्व, आगे कीचकवध[46] पर्व, अनन्तर गोग्रहण[47] पर्व ॥ ४८ ॥

अभिमन्युना च वैराटयाः पर्व वैवाहिकं[48] स्मृतम् ।
उद्योगपर्व[49] विज्ञेयमत ऊर्ध्वं महाद्भुतम् ॥ ४९ ॥

तब अभिमन्यु और विराट पुत्री उत्तराका विवाह[48] पर्व कहा गया है, अनन्तर अति आश्चर्यकारक सैन्योद्योग[49] पर्व जानना चाहिए ॥ ४९ ॥

ततः संजययानाख्यं[50] पर्व ज्ञेयमतः परम् ।
प्रजागरं[51] ततः पर्व धृतराष्ट्रस्य चिन्तया ॥ ५० ॥

उसके बाद संजययान[50] पर्व जानना चाहिए, उसके पश्चात् धृतराष्ट्रकी चिंताका प्रजागर[51] पर्व समझना चाहिए ॥ ५० ॥

पर्व सानत्सुजातं[52] च गुह्यमध्यात्मदर्शनम् ।
यानसंधिस्[53]ततः पर्व भगवद्यान[54]मेव च ॥ ५१ ॥

अनन्तर गुह्यात्मक अध्यात्मज्ञानसंबंधी सनत्सुजात[52] पर्व, उसके बाद यानसंधि[53] पर्व और तदनन्तर भगवद्यान[54] पर्व है ॥ ५१ ॥

ज्ञेयं विवाद[55]पर्वात्र कर्णस्यापि महात्मनः ।
निर्याणं[56] पर्व च ततः कुरुपाण्डवसेनयोः ॥ ५२ ॥

महात्मा श्रीकृष्णचंद्र और कर्णका वादविवाद[55] पर्व, उसके पश्चात् कुरुपाण्डवोंका सैन्य निर्याण[56] पर्व जानना चाहिए ॥ ५२ ॥

रथातिरथ[57]संख्या च पर्वोक्तं तदनन्तरम् ।
उलूकदूता[58]गमनं पर्वामर्षविवर्धनम् ॥ ५३ ॥

इसके अनंतर रथातिरथ संख्या[57] पर्व कहा गया है इसके बाद क्रोधवृद्धि करनेवाला उलूक दूताभिगमन[58] पर्व है ॥ ५३ ॥

अम्बोपाख्यान[59]मपि च पर्व ज्ञेयमतः परम् ।
भीष्माभिषेचनं[60] पर्व ज्ञेयमद्भुतकारणम् ॥ ५४ ॥

उसके पश्चात् अंबोपाख्यान[59] पर्व समझना चाहिए । अनंतर आश्चर्यकारक भीष्माभिषेक[60] पर्व जानना चाहिए ॥ ५४ ॥

जम्बूखण्ड[61]विनिर्माणं पर्वोक्तं तदनन्तरम् ।
भूमिपर्व[62] ततो ज्ञेयं द्वीपविस्तरकीर्तनम् ॥ ५५ ॥

तदनंतर जम्बुद्वीपके[61] निर्माणका पर्व है, अनंतर द्वीप विस्तारके कीर्तनसे युक्त भूमि[62] पर्व है ॥५५॥

पर्वोक्तं भगवद्गीता[63] पर्व भीष्मवध[64]स्ततः ।
द्रोणाभिषेकः[65] पर्वोक्तं संशप्तकवध[66]स्ततः ॥ ५६ ॥

तब भगवद्गीता[63] पर्व, इसके पश्चात् भीष्मवध[64] पर्व, अनन्तर द्रोणाभिषेक[65] पर्व और तब संशप्तकवध[66] पर्व है ॥ ५६ ॥

अभिमन्युवधः[67] पर्व प्रतिज्ञापर्व[68] चोच्यते ।
जयद्रथवधः[69] पर्व घटोत्कचवध[70]स्ततः ॥ ५७ ॥

आगे अभिमन्यु वध[67] पर्व, अनन्तर प्रतिज्ञा[68] पर्व कहा गया है तब जयद्रथ वध[69] पर्व, इसके पश्चात् घटोत्कचवध[70] पर्व है ॥ ५७ ॥

ततो द्रोणवधः[71] पर्व विज्ञेयं लोमहर्षणम् ।
मोक्षो नारायणास्त्रस्य[72] पर्वानन्तरमुच्यते ॥ ५८ ॥

अनन्तर रोंगटे खड़े करनेवाला द्रोणवध[71] पर्व जानना चाहिए, आगे नारायणास्त्रत्याग[72] पर्व कहा गया है ॥ ५८ ॥

कर्णपर्व[73] ततो ज्ञेयं शल्य[74]पर्व ततः परम् ।
ह्रदप्रवेशनं[75] पर्व गदायुद्धमतः[76] परम् ॥ ५९ ॥

इसके पश्चात् कर्ण पर्व[73] जानना चाहिए, अनन्तर शल्यवध[74] पर्व, तब ह्रदप्रवेश[75] और उसके पश्चात् गदायुद्ध[76]पर्व है ॥ ५९ ॥

सारस्वतं[77] ततः पर्व तीर्थवंशगुणान्वितम् ।
अत ऊर्ध्वं तु बीभत्सं पर्व सौप्तिकमुच्यते[78] ॥ ६० ॥

अनन्तर वंशानुकीर्तनपूर्वक सारस्वत[77] तीर्थ पर्व, उसके पश्चात् अतिबीभत्स सौप्तिक[78]पर्व कहा है ॥ ६० ॥

ऐषीकं[79] पर्व निर्दिष्टमत ऊर्ध्वं सुदारुणम् ।
जलप्रदानिकं[80] पर्व स्त्रीपर्व[81] च ततः परम् ॥ ६१ ॥

आगे अति कष्टदायी ऐषीक[79]पर्व कहा है, उसके पश्चात् जलप्रादानिक[80] पर्व और उसके अनन्तर स्त्री पर्व[81] है ॥ ६१ ॥

श्राद्धपर्व[82] ततो ज्ञेयं कुरूणामौर्ध्वदेहिकम् ।
आभिषेचनिकं[83] पर्व धर्मराजस्य धीमतः ॥ ६२ ॥

तब कौरवोंका और्ध्वदेहिक श्राद्धपर्व[82] अनन्तर धीमान् धर्मराजका अभिषेचानिक[83] पर्व है ॥ ६२ ॥

चार्वाकनिग्रहः[84] पर्व रक्षसो ब्रह्मरूपिणः ।
प्रविभागो गृहाणां[85] च पर्वोक्तं तदनन्तरम् ॥ ६३ ॥

उसके पश्चात् ब्राह्मणवेशधारी चार्वाक राक्षसको[84] निग्रहपर्व और तब गृहविभाग[85]पर्व कहा है ॥ ६३ ॥

शान्तिपर्व[86] ततो यत्र राजधर्मानुकीर्तनम् ।
आपद्धर्मश्च[87] पर्वोक्तं मोक्षधर्मस्ततः[88] परम् ॥ ६४ ॥

उसके पश्चात् राजधर्मोंको[86] बतलानेवाला शान्ति पर्व, अनंतर आपद्धर्म[87] पर्व, उसके बाद मोक्षधर्म[88] पर्व है ॥ ६४ ॥

ततः पर्व परिज्ञेयमानुशासनिकं[89] परम् ।
स्वर्गारोहणिकं[90] पर्व ततो भीष्मस्य धीमतः ॥ ६५ ॥

उसके पश्चात् आनुशासनिक[89] पर्व, उसके बाद धीमान् भीष्मजीका स्वर्गारोहण[90] पर्व जानना चाहिए ॥ ६५ ॥

ततोऽश्वमेधिकं[91] पर्व सर्वपापप्रणाशनम् ।
अनुगीतां[92] ततः पर्व ज्ञेयमध्यात्मवाचकम् ॥ ६६ ॥

तब सर्व पापनाशी आश्वमेधिक[91] पर्व उसके पश्चात् अध्यात्मसंबंधी अनुगीता[92] पर्व समझना चाहिए ॥ ६६ ॥

पर्व चाश्रमवासाख्यं[93] पुत्रदर्शनमेव[94] च ।
नारदागमनं[95] पर्व ततः परमिहोच्यते ॥ ६७ ॥

अनन्तर आश्रमवासिक[93] पर्व और तब पुत्रदर्शन[94] पर्व, उसके पश्चात् श्रेष्ठ नारदागमन[95] पर्व कहा है ॥ ६७ ॥

मौसलं[96] पर्व च ततो घोरं समनुवर्ण्यते ।
महाप्रस्थानिकं[97] पर्व स्वर्गारोहणिकं[98] ततः ॥ ६८ ॥

अनन्तर अतिकष्टदायी मौसल[96] पर्वका वर्णन है, उसके बाद महाप्रस्थानिक[97] पर्व, उसके पश्चात् स्वर्गारोहणिक[98] पर्व है ॥ ६८ ॥

हरिवंशस्ततः[99] पर्व पुराणं खिलसंज्ञितम् ।
भविष्यत्पर्व[100] चाप्युक्तं खिलेष्वेवाद्भुतं महत् ॥ ६९ ॥

अनंतर खिल नामक पुराना हरिवंश[99] पर्व, तब खिलोंमें अति आश्चर्यकारक भविष्य[100] पर्व भी कहा गया है ॥ ६९ ॥

एतत्पर्वशतं पूर्णं व्यासेनोक्तं महात्मना ।
यथावत्सूतपुत्रेण लोमहर्षणिना पुनः ॥ ७० ॥

इन सौ पर्वोंको महात्मा व्यासदेव पूर्ण रूपसे कह गये हैं। सूत पुत्र लोमहर्षणके द्वारा फिर यथावत् ॥ ७० ॥

कथितं नैमिषारण्ये पर्वाण्यष्टादशैव तु ।
समासो भारतस्यायं तत्रोक्तः पर्वसंग्रहः ॥ ७१ ॥

नैमिषारण्यमें संक्षेप क्रमानुसार जो अठारह पर्व कह गये हैं, भारतके वही संक्षिप्त पर्वसंग्रह कहे जाते हैं ॥ ७१ ॥

पौष्ये पर्वणि माहात्म्यमुत्तङ्कस्योपवर्णितम् ।
पौलोमे भृगुवंशस्य विस्तारः परिकीर्तितः ॥ ७२ ॥

पौष्य पर्वमें उत्तङ्क मुनिके महात्म्यका वर्णन और पोलोमपर्वमें भृगुवंशका विस्तार वर्णित है ॥ ७२ ॥

आस्तीके सर्वनागानां गरुडस्य च संभवः ।
क्षीरोदमथनं चैव जन्मोच्चैःश्रवसस्तथा ॥ ७३ ॥

आस्तीक पर्वमें गरुड और संपूर्ण सर्पोंकी उत्पत्ति, क्षीर समुद्रका मंथन, उच्चैःश्रवाकी उत्पत्ति ॥ ७३ ॥

यजतः सर्पसत्रेण राज्ञः पारीक्षितस्य च ।
कथेयमभिनिर्वृत्ता भारतानां महात्मनाम् ॥ ७४ ॥

और महाराज परीक्षितके पुत्र जनमेजयके सर्पयज्ञके कालमें भरतवंशी महात्मावर्गसे संबंधित महाभारतकी कथा वर्णित हुई है ॥ ७४ ॥

विविधाः संभवा राज्ञामुक्ताः संभवपर्वणि ।
अन्येषां चैव विप्राणामृषेर्द्वैपायनस्य च ॥ ७५ ॥

संभवपर्वमें राजगण तथा दूसरे विप्रगण और महर्षि द्वैपायनकी भिन्न भिन्न प्रकारकी उत्पत्ति कही है ॥ ७५ ॥

अंशावतरणं चात्र देवानां परिकीर्तितम् ।
दैत्यानां दानवानां च यक्षाणां च महौजसाम् ॥ ७६ ॥

महान् तेजवाले देवताओंका अंशावतार; दैत्य, दानव, यक्ष ॥ ७६ ॥

नागानामथ सर्पाणां गन्धर्वाणां पतत्रिणाम् ।
अन्येषां चैव भूतानां विविधानां समुद्भवः ॥ ७७ ॥

नाग, सर्प, गंधर्व, पक्षी और दूसरे नाना प्राणियोंकी उत्पत्ति कही है ॥ ७७ ॥

वसूनां पुनरुत्पत्तिर्भागीरथ्यां महात्मनाम् ।
शंतनोर्वेश्मनि पुनस्तेषां चारोहणं दिवि ॥ ७८ ॥

राजा शन्तनुके गृहमें गंगाके गर्भसे महानुभाव वसुओंकी उत्पत्ति, पुनः उनका स्वर्गारोहण ॥ ७८ ॥

तेजोंशानां च संघाताद् भीष्मस्याप्यत्र संभवः ।
राज्यान्निवर्तनं चैव ब्रह्मचर्यव्रते स्थितिः ॥ ७९ ॥

और तेजोंके संगठनसे भीष्मका जन्म और उनका राज्यत्याग, ब्रह्मचर्यव्रतका अवलंबन ॥७९॥

प्रतिज्ञापालनं चैव रक्षा चित्राङ्गदस्य च ।
हते चित्राङ्गदे चैव रक्षा भ्रातुर्यवीयसः ॥ ८० ॥

तथा प्रतिज्ञा पालन; भीष्मके द्वारा चित्रांगदकी रक्षा और चित्रांगदके मारे जाने पर उसके कनिष्ठ सहोदर ॥ ८० ॥

विचित्रवीर्यस्य तथा राज्ये संप्रतिपादनम्।
धर्मस्य नृषु संभूतिरणीमाण्डव्यशापजा ॥ ८१ ॥

विचित्रवीर्यकी रक्षा और उसकी राज्यमें स्थापना; अणीमाण्डव्यके शापसे धर्मकी नर-योनिमें उत्पत्ति ॥ ८१ ॥

कृष्णद्वैपायनाच्चैव प्रसूतिर्वरदानजा।
धृतराष्ट्रस्य पाण्डोश्च पाण्डवानां च संभवः ॥ ८२ ॥

वरदानके बलसे कृष्णद्वैपायनसे धृतराष्ट्र और पाण्डुका जन्म और पाण्डवोंकी उत्पत्ति ॥८२॥

वारणावतयात्रा च मन्त्रो दुर्योधनस्य च।
विदुरस्य च वाक्येन सुरङ्गोपक्रमक्रिया ॥ ८३ ॥

पाण्डवोंकी वारणावतकी यात्रा और दुर्योधनकी मंत्रणा और विदुरके वाक्यसे सुरङ्गका खोदा जाना ॥ ८३ ॥

पाण्डवानां वने घोरे हिडिम्बायाश्च दर्शनम्।
घटोत्कचस्य चोत्पत्तिरत्रैव परिकीर्तिता ॥ ८४ ॥

घने वनमें पाण्डवोंकी राक्षसी हिडिम्बासे भेंट और घटोत्कचकी उत्पत्ति यहीं बताई है ॥ ८४ ॥

अज्ञातचर्या पाण्डूनां वासो ब्राह्मणवेश्मनि।
बकस्य निधनं चैव नागराणां च विस्मयः ॥ ८५ ॥

ब्राह्मणके घर पाण्डवोंका अज्ञातवास, राक्षस बकका वध और यह देखकर नगरवासियों-का विस्मय आदि सब वर्णित है ॥ ८५ ॥

अङ्गारपर्णं निर्जित्य गङ्गाकूलेऽर्जुनस्तदा।
भ्रातृभिः सहितः सर्वैः पाञ्चालानभितो ययौ ॥ ८६ ॥

गंगाके किनारे अंगारपर्ण गंधर्वको जीत कर अर्जुन सभी भाइयोंके साथ पांचाल नगरमें गए ॥ ८६ ॥

तापत्यमथ वासिष्ठमौर्वं चाख्यानमुत्तमम्।
पञ्चेन्द्राणामुपाख्यानमत्रैवाद्भुतमुच्यते ॥ ८७ ॥

तापत्य, वासिष्ठ, और और्वकी उत्तम कथाएं तथा पांच इन्द्रोंकी अति अद्भुत कथा इसी स्थल पर कही गई हैं ॥ ८७ ॥

पञ्चानामेकपत्नीत्वे विमर्शो द्रुपदस्य च।
द्रौपद्या देवविहितो विवाहश्चाप्यमानुषः ॥ ८८ ॥

द्रौपदीके पांच पतिके होनेकी बात सुन कर राजा द्रुपदका विचार करना, द्रौपदीका दैवके द्वारा निश्चित अमानवी विवाह ॥ ८८ ॥

विदुरस्य च संप्राप्तिर्दर्शनं केशवस्य च।
खाण्डवप्रस्थवासश्च तथा राज्यार्धशासनम् ॥ ८९ ॥

पाण्डवोंके पास विदुरका पहुंचना और श्रीकृष्णचन्द्रका दर्शन, पाण्डवोंका खाण्डवप्रस्थमें बसना और आधे राज्यके शासनका पाना ॥ ८९ ॥

नारदस्याज्ञया चैव द्रौपद्याः समयक्रिया।
सुन्दोपसुन्दयोस्तत्र उपाख्यानं प्रकीर्तितम् ॥ ९० ॥

श्री नारदजीकी आज्ञासे पांचों भाइयोंका द्रौपदीके साथ रहनेके नियम निश्चित करना; और वहीं सुन्द और उपसुन्दका उपाख्यान आदि सब कहा है ॥ ९० ॥

पार्थस्य वनवासश्च उलूप्या पथि संगमः।
पुण्यतीर्थानुसंयानं बभ्रुवाहनजन्म च ॥ ९१ ॥

पार्थका वनवास और पथमें उलूपीसे संगम और पुण्यतीर्थको जाना; बभ्रुवाहनका जन्म ॥ ९१ ॥

द्वारकायां सुभद्रा च कामयानेन कामिनी।
वासुदेवस्यानुमते प्राप्ता चैव किरीटिना ॥ ९२ ॥

द्वारकामें श्रीकृष्णचन्द्रकी संमतिसे काम-यानकी सहायतासे अर्जुनके द्वारा कामिनी सुभद्रा की प्राप्ति ॥ ९२ ॥

हरणं गृह्य संप्राप्ते कृष्णे देवकिनन्दने।
संप्राप्तिश्चक्रधनुषोः खाण्डवस्य च दाहनम् ॥ ९३ ॥

देवकीनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रका दहेजसहित खाण्डव-प्रस्थमें गमन; चक्र और धनुषकी प्राप्ति और खाण्डववनका दाह ॥ ९३ ॥

अभिमन्योः सुभद्रायां जन्म चोत्तमतेजसः।
मयस्य मोक्षो ज्वलनाद्भुजंगस्य च मोक्षणम्।
महर्षेर्मन्दपालस्य शार्ङ्ग्यां तनयसंभवः ॥ ९४ ॥

उत्तम तेजस्वी अभिमन्युका सुभद्रासे जन्म, मय-दानव और सर्पकी अग्निसे रक्षा; शार्ङ्गीके गर्भमें मन्दपाल नामक महर्षिके पुत्रकी उत्पत्ति ॥ ९४ ॥

इत्येतदादिपर्वोक्तं प्रथमं बहुविस्तरम्।
अध्यायानां शते द्वे तु संख्याते परमर्षिणा।
अष्टादशैव चाध्याया व्यासेनोत्तमतेजसा ॥ ९५ ॥

यह सब वृत्तान्त विस्तारसे प्रथमपर्व आदिपर्वमें कहा गया है। भगवान् तेजोवान् महात्मा महर्षि वेदव्यासने इस पर्वमें दो सौ अठारह अध्यायोंकी गिनती की है ॥ ९५ ॥

सप्त श्लोकसहस्राणि तथा नव शतानि च।
श्लोकाश्च चतुराशीतिर्दृष्टो ग्रन्थो महात्मना ॥ ९६ ॥

और इसमें सात हजार नौ सौ चौरासी श्लोक महात्मा व्यास द्वारा रचे गये हैं ॥ ९६ ॥

द्वितीयं तु सभापर्व बहुवृत्तान्तमुच्यते।
सभाक्रिया पाण्डवानां किंकराणां च दर्शनम् ॥ ९७ ॥

अनेक वृत्तांतवाले दूसरे पर्वका नाम सभापर्व कहा जाता है; पाण्डवोंका सभा—निर्माण; और किङ्करोंका दर्शन ॥ ९७ ॥

लोकपालसभाख्यानं नारदाद्देवदर्शनात्।
राजसूयस्य चारम्भो जरासंधवधस्तथा ॥ ९८ ॥

देवलोक देखनेवाले श्रीनारदजीका लोकपालोंकी सभाका वर्णन; राजसूय यज्ञका प्रारंभ तथा जरासंधका वध ॥ ९८ ॥

गिरिव्रजे निरुद्धानां राज्ञां कृष्णेन मोक्षणम्।
राजसूयेऽर्घसंवादे शिशुपालवधस्तथा ॥ ९९ ॥

गिरिदुर्गमें कैद भोगते हुए राजाओंका श्रीकृष्णके द्वारा छुडाया जाना, राजसूय यज्ञके प्रसंग में अर्घ—पूजा देनेके वारेमें वाद विवाद होनेके वाद शिशुपालका वध ॥ ९९ ॥

यज्ञे विभूतिं तां दृष्ट्वा दुःखामर्षान्वितस्य च।
दुर्योधनस्यावहासो भीमेन च सभातले ॥ १०० ॥

यज्ञके उस ऐश्वर्यको देखकर दुःख और द्वेष—युक्त दुर्योधनकी भीमके द्वारा सभाके वीचमें हंसीका उडाया जाना आदि कथाओंका वर्णन है ॥ १०० ॥

यत्रास्य मन्युरुद्भूतो येन द्यूतमकारयत्।
यत्र धर्मसुतं द्यूते शकुनिः कितवोऽजयत् ॥ १०१ ॥

उससे दुर्योधनमें क्रोध उत्पन्न हुआ और उसने जुआ खेलनेका निमंत्रण दिया, जहां कपटी शकुनिने द्यूतमें धर्मपुत्र युधिष्ठिरको जीत लिया ॥ ॥१०१ ॥

यत्र द्यूतार्णवे मग्नान्द्रौपदी नौरिवार्णवात् ।
तारयामास तांस्तीर्णाञ्ज्ञात्वा दुर्योधनो नृपः ।
पुनरेव ततो द्यूते समाह्वयत पाण्डवान् ॥ १०२ ॥

समुद्रमें डूबी हुई नावकी भांति द्यूतरूपी समुद्रमें डूबे हुए पाण्डवोंको द्रौपदीने बचा लिया, फिर उनको बचा हुआ देखकर राजा दुर्योधनने फिर पाण्डवोंको जुआ खेलनेके लिए बुलाया ॥ १०२ ॥

एतत्सर्वं सभापर्व समाख्यातं महात्मना ।
अध्यायाः सप्ततिर्ज्ञेयास्तथा द्वौ चात्र संख्यया ॥ १०३ ॥

महात्मा व्यासने सभापर्वमें इन सब विषयोंका वर्णन किया है। इस पर्वमें बहत्तर संख्या-वाले अध्याय जानने चाहिए ॥ १०३ ॥

श्लोकानां द्वे सहस्रे तु पञ्च श्लोकशतानि च ।
श्लोकाश्चैकादश ज्ञेयाः पर्वण्यस्मिन्प्रकीर्तिताः ॥ १०४ ॥

तथा इस पर्वमें दो हजार, पांच सौ, ग्यारह श्लोक सुनाए गए हैं ॥ १०४ ॥

अतः परं तृतीयं तु ज्ञेयमारण्यकं महत् ।
पौरानुगमनं चैव धर्मपुत्रस्य धीमतः ॥ १०५ ॥

इसके पश्चात् आरण्यक नामक बडा भारी तीसरा पर्व है। धीमान् धर्मपुत्रके पीछे नगर-वासियोंका जाना ॥ १०५ ॥

वृष्णीनामागमो यत्र पाञ्चालानां च सर्वशः ।
यत्र सौभवधाख्यानं किर्मीरवध एव च ।
अस्त्रहेतोर्विवासश्च पार्थस्यामिततेजसः ॥ १०६ ॥

जिसमें सभी वृष्णि और पांचालोंका युधिष्ठिरके निकट जाना; और सौभवधका तथा किर्मीरके वधका उपाख्यान, दिव्यास्त्र लाभ करनेकी चेष्टामें अपरिमित तेजस्वी अर्जुनका प्रवास॥१०६॥

महादेवेन युद्धं च किरातवपुषा सह ।
दर्शनं लोकपालानां स्वर्गारोहणमेव च ॥ १०७ ॥

किरातके शरीरको धारण किए हुए महादेवके साथ अर्जुनका युद्ध, अर्जुनके द्वारा लोकपा-लोंका दर्शन और स्वर्गपर चढना ॥ १०७ ॥

दर्शनं बृहदश्वस्य महर्षेर्भावितात्मनः ।
युधिष्ठिरस्य चार्तस्य व्यसने परिदेवनम् ॥ १०८ ॥

युधिष्ठिरके द्वारा परमार्थ ज्ञानी बृहदश्व नामक महर्षिका दर्शन और उनके समीप अति-कातर होकर युधिष्ठिरका परिताप और विलाप ॥ १०८ ॥

नलोपाख्यानमत्रैव धर्मिष्ठं करुणोदयम्।
दमयन्त्याः स्थितिर्यत्र नलस्य व्यसनागमे ॥ १०९ ॥

इसी स्थल पर धर्म और करुणरससे भरा नलोपाख्यानका वर्णन, जिसमें नलके विपत्कालमें दमयंतीकी स्थितिकी कथा कही गई है ॥ १०९ ॥

वनवासगतानां च पाण्डवानां महात्मनाम्।
स्वर्गे प्रवृत्तिराख्याता लोमशेनार्जुनस्य वै ॥ ११० ॥

महर्षि लोमशका वनवासी महात्मा पाण्डवोंको स्वर्गमें विराजते हुए अर्जुनका समाचार सुनाना ॥ ११० ॥

तीर्थयात्रा तथैवात्र पाण्डवानां महात्मनाम्।
जटासुरस्य तत्रैव वधः समुपवर्ण्यते ॥ १११ ॥

और उसी प्रकार महात्मा पाण्डवोंका भी तीर्थमें जानेका वर्णन है और उसी पर्वमें जटासुरके वधका भी वर्णन है ॥ १११ ॥

नियुक्तो भीमसेनश्च द्रौपद्या गन्धमादने।
यत्र मन्दारपुष्पार्थं नलिनीं तामधर्षयत् ॥ ११२ ॥

गन्धमादन पर्वतपर द्रौपदीसे नियुक्त होकर महाबली भीमसेनने मन्दार पुष्पके लिए उस कमलको तोड डाला ॥ ११२ ॥

यत्रास्य सुमहद्युद्धमभवत्सह राक्षसैः।
यक्षैश्चापि महावीर्यैर्मणिमत्प्रमुखैस्तथा ॥ ११३ ॥

और वहां महान् राक्षसों और मणिमत् आदि महापराक्रमशाली मुख्य मुख्य यक्षोंके साथ भीमका घोर युद्ध हुआ ॥ ११३ ॥

आगस्त्यमपि चाख्यानं यत्र वातापिभक्षणम्।
लोपामुद्राभिगमनमपत्यार्थमृषेरपि ॥ ११४ ॥

इस पर्वमें ऋषि अगस्त्यका उपाख्यान और इनका वातापि भक्षण तथा सन्तानके निमित्त लोपामुद्रा नामकी कन्यासे समागमका वर्णन है ॥ ११४ ॥

ततः श्येनकपोतीयमुपाख्यानमनन्तरम्।
इन्द्रोऽग्निर्यत्र धर्मश्च अजिज्ञासञ्छिबिं नृपम् ॥ ११५ ॥

उसके बाद यहीं पर श्येन (बाज) और कपोत (कबूतर) का अत्यन्त उत्तम उपाख्यान है, जिसमें इन्द्र, अग्नि और धर्मने शिविराजाकी परीक्षा ली है ॥ ११५ ॥

ऋश्यशृङ्गस्य चरितं कौमारब्रह्मचारिणः ।
जामदग्न्यस्य रामस्य चरितं भूरितेजसः ॥ ११६ ॥

इसके बाद कौमार ब्रह्मचारी ऋश्य–शृंगका चरित्र तथा जमदग्निपुत्र महापराक्रमशाली परशुरामजीका चरित्र है ॥ ११६ ॥

कार्तवीर्यवधो यत्र हैहयानां च वर्ण्यते ।
सौकन्यमपि चाख्यानं च्यवनो यत्र भार्गवः ॥ ११७ ॥

इसीमें कार्तवीर्य वध तथा हैहयवंशी राजाओंके वधका वर्णन है इसीमें सुकन्याका अति सुंदर उपाख्यान है जिसमें भृगुवंशी च्यवन मुनिने ॥ ११७ ॥

शर्यातियज्ञे नासत्यौ कृतवान्सोमपीथिनौ
ताभ्यां च यत्र स मुनिर्यौवनं प्रतिपादितः ॥ ११८ ॥

शर्यातिके यज्ञमें दोनों अश्विनी कुमारोंको यज्ञीय सोमरसका अधिकारी बनाया तथा जिसमें अश्विनीकुमारोंने च्यवनमुनिको यौवनावस्था प्रदान की ॥ ११८ ॥

जन्तूपाख्यानमत्रैव यत्र पुत्रेण सोमकः ।
पुत्रार्थमयजद्राजा लेभे पुत्रशतं च सः ॥ ११९ ॥

यहीं जन्तु नामक राजपुत्रका उपाख्यान है । इसीमें सोमकराजने अनेक पुत्र पानेके लिये एक पुत्रको मारकर याग किया और सौ पुत्र पाये ॥ ११९ ॥

अष्टावक्रीयमत्रैव विवादे यत्र बन्दिनम् ।
विजित्य सागरं प्राप्तं पितरं लब्धवानृषिः ॥ १२० ॥

इसीमें अष्टावक्रके शास्त्रार्थका उपाख्यान है । जिसमें बन्दीको जीत करके अष्टावक्रने समुद्रमें डूबे हुए कहोड नामक निज पिताका उद्धार किया ॥ १२० ॥

अवाप्य दिव्यान्यस्त्राणि गुर्वर्थे सव्यसाचिना ।
निवातकवचैर्युद्धं हिरण्यपुरवासिभिः ॥ १२१ ॥

दिव्यास्त्र पाकर सव्यसाची अर्जुनने इन्द्रके कार्यके लिये हिरण्यपुरवासी निवात और कवचोंके साथ युद्ध किया ॥ १२१ ॥

समागमश्च पार्थस्य भ्रातृभिर्गन्धमादने ।
घोषयात्रा च गन्धर्वैर्यत्र युद्धं किरीटिनः ॥ १२२ ॥

उसके बाद गंधमादन पर्वतपर अर्जुनका अपने भाइयोंके साथ मिलाप, फिर किरीटि अर्जुनके द्वारा घोषयात्रा तथा गंधर्वोंके साथ हुए युद्धका वर्णन है ॥ १२२ ॥

पुनरागमनं चैव तेषां द्वैतवनं सरः ।
जयद्रथेनापहारो द्रौपद्याश्चाश्रमान्तरात् ॥ १२३ ॥

फिर पाण्डवोंके द्वैतवनके तालाबपर आने और जयद्रथके द्वारा आश्रमके अन्दरसे द्रौपदीको हरे जानेका वर्णन है ॥ १२३ ॥

यत्रैनमन्वयाद्भीमो वायुवेगसमो जवे ।
मार्कण्डेयसमस्यायामुपाख्यानानि भागशः ॥ १२४ ॥

और फिर गतिमें वायुके समान वेगवाले भीमसेनका उसके पीछे जानेका तथा मार्कण्डेयके समागम होनेपर अंशरूपसे कई उपाख्यानोंका वर्णन है ॥ १२४ ॥

संदर्शनं च कृष्णस्य संवादश्चैव सत्यया ।
व्रीहिद्रौणिकमाख्यानमैन्द्रद्युम्नं तथैव च ॥ १२५ ॥

फिर कृष्णका दर्शन तथा सत्यभामाके साथ संवाद, व्रीणि, द्रौहिक तथा इन्द्रद्युम्न आदिके उपाख्यानोंका वर्णन है ॥ १२५ ॥

सावित्र्यौद्दालकीयं च वैन्योपाख्यानमेव च ।
रामायणमुपाख्यानमत्रैव बहुविस्तरम् ॥ १२६ ॥

सावित्री, उद्दालक तथा वैन्यके उपाख्यानके बाद यहींपर महाराज रामचन्द्रकी बडी विस्तृत कथा कही है ॥ १२६ ॥

कर्णस्य परिमोषोऽत्र कुण्डलाभ्यां पुरन्दरात् ।
आरणेयमुपाख्यानं यत्र धर्मोऽन्वशात्सुतम् ।
जग्मुर्लब्धवरा यत्र पाण्डवाः पश्चिमां दिशम् ॥ १२७ ॥

इन्द्रके द्वारा कर्णको दोनों कुण्डलसे वंचित कर देना तदनन्तर आरणेय उपाख्यान है, जिसमें धर्मद्वारा निज पुत्रका अनुशासन करनेका वर्णन है इन सबके वर्णनके बाद वर लाभके पश्चात् पाण्डव पश्चिम दिशाको गए इसका भी वर्णन है ॥ १२७ ॥

एतदारण्यकं पर्व तृतीयं परिकीर्तितम् ।
अत्राध्यायशते द्वे तु संख्याते परमर्षिणा ।
एकोनसप्ततिश्चैव तथाध्यायाः प्रकीर्तिताः ॥ १२८ ॥

यह सब विषय युक्त आरण्यक नामक तीसरा पर्व वर्णित है। इसमें महर्षिने दो सौ उनहत्तर अध्याय गिनाए हैं ॥ १२८ ॥

एकादश सहस्राणि श्लोकानां षट्शतानि च ।
चतुःषष्टिस्तथा श्लोकाः पर्वैतत्परिकीर्तितम् ॥ १२९ ॥

और ग्यारह हजार, छः सौ, चौसठ श्लोकोंसे युक्त यह पर्व बताया जाता है ॥ १२९ ॥

अतः परं निबोधेदं वैराटं पर्वविस्तरम् ।
विराटनगरं गत्वा श्मशाने विपुलां शमीम् ।
दृष्ट्वा संनिदधुस्तत्र पाण्डवा आयुधान्युत ॥ १३० ॥

इसके पश्चात् विराट पर्वका विस्तृत व्योरा सुनो, विराट नगरमें जाकर श्मशानके बीचमें बडे भारी शमीवृक्षको देख करके उसपर पाण्डवोंने अस्त्र-शस्त्र रख दिए ॥ १३० ॥

यत्र प्रविश्य नगरं छद्मभिर्न्यवसन्त ते ।
दुरात्मनो वधो यत्र कीचकस्य वृकोदरात् ॥ १३१ ॥

पुरमें प्रवेश करके पाण्डव गुप्तभावसे रहे । वहीं दुराचारी कामी कीचकका भीमके द्वारा वध हुआ ॥ १३१ ॥

गोग्रहे यत्र पार्थेन निर्जिताः कुरवो युधि ।
गोधनं च विराटस्य मोक्षितं यत्र पाण्डवैः ॥ १३२ ॥

इसी विराट पर्वमें अर्जुनने गौओंका हरण करनेपर युद्धमें कौरवोंको जीता और इस प्रकार पाण्डवोंने विराटके गौधनको छुडाया ॥ १३२ ॥

विराटेनोत्तरा दत्ता स्नुषा यत्र किरीटिनः ।
अभिमन्युं समुद्दिश्य सौभद्रमरिघातिनम् ॥ १३३ ॥

सुभद्राके पुत्र शत्रुनाशी अभिमन्युकी पत्नी और पार्थकी पुत्रवधू बनानेकी इच्छासे विराटने अपनी उत्तरा नामकी कन्याका दान किया ॥ १३३ ॥

चतुर्थमेतद्विपुलं वैराटं पर्व वर्णितम् ।
अत्रापि परिसंख्यातमध्यायानां महात्मना ॥ १३४ ॥

इन सब विषय युक्त और विस्तारवाला विराट पर्व चौथा पर्व कहा गया है । इस पर्वमें महात्मा व्यासने अध्यायोंकी संख्या इस प्रकार गिनाई है ॥ १३४ ॥

सप्तषष्टिरथो पूर्णा श्लोकाग्रमपि मे शृणु ।
श्लोकानां द्वे सहस्रे तु श्लोकाः पञ्चाशदेव तु ।
पर्वण्यस्मिन्समाख्याताः संख्यया परमर्षिणा ॥ १३५ ॥

इस पर्वमें सडसठ अध्याय मुझसे सुनो । तथा इस पर्वमें परम ऋषि व्यासने दो हजार पचासकी संख्यामें श्लोक गिनाए हैं ॥ १३५ ॥

❀

उद्योगपर्व विज्ञेयं पञ्चमं शृण्वतः परम् ।
उपप्लव्ये निविष्टेषु पाण्डवेषु जिगीषया ।
दुर्योधनोऽर्जुनश्चैव वासुदेवमुपस्थितौ ॥ १३६ ॥

इसके अनंतर विशेष रूपसे जानने योग्य उद्योग नामक पांचवा पर्व सुनो। पांडवोंके जयकी इच्छासे उपप्लव्य नाम स्थानमें रहनेपर दुर्योधन और अर्जुन वासुदेवके पास जाकर उपस्थित हुए ॥ १३६ ॥

साहाय्यमस्मिन्समरे भवान्नौ कर्तुमर्हति ।
इत्युक्ते वचने कृष्णो यत्रोवाच महामतिः ॥ १३७ ॥

और "आप उपस्थित युद्धमें हमारी सहायता कीजिये," इस प्रकार कहनेपर कृष्णने कहा ॥ १३७ ॥

अयुध्यमानमात्मानं मन्त्रिणं पुरुषर्षभौ ।
अक्षौहिणीं वा सैन्यस्य कस्य वा किं ददाम्यहम् ॥ १३८ ॥

"हे श्रेष्ठ पुरुष युगल ! एक तरफ युद्ध न करके केवल सलाहमात्र देनेवाला मैं और दूसरी तरफ मेरी एक अक्षौहिणी सेना, इन दोनोंमें किसको क्या दूं ?" ॥ १३८ ॥

वव्रे दुर्योधनः सैन्यं मन्दात्मा यत्र दुर्मतिः ।
अयुध्यमानं सचिवं वव्रे कृष्णं धनंजयः ॥ १३९ ॥

अज्ञानी और दुर्बुद्धिवाले दुर्योधनने सेनाका वरण किया और अर्जुनने युद्धसे दूर रहनेवाले पर मंत्रणा देनेवाले कृष्णको चुना ॥ १३९ ॥

संजयं प्रेषयामास शमार्थं पाण्डवान्प्रति ।
यत्र दूतं महाराजो धृतराष्ट्रः प्रतापवान् ॥ १४० ॥

जिस पर्वमें प्रतापी महाराज धृतराष्ट्रने शान्तिके लिए पाण्डवोंकी ओर संजय नामक दूतको भेजा ॥ १४० ॥

श्रुत्वा च पाण्डवान्यत्र वासुदेवपुरोगमान् ।
प्रजागरः संप्रजज्ञे धृतराष्ट्रस्य चिन्तया ॥ १४१ ॥

वासुदेवकृष्णको आगे करके चलनेवाले अर्थात् कार्य करनेवाले पाण्डवोंका वृत्तांत सुनकर चिन्तासे धृतराष्ट्रने निद्रा त्याग दी ॥ १४१ ॥

विदुरो यत्र वाक्यानि विचित्राणि हितानि च ।
श्रावयामास राजानं धृतराष्ट्रं मनीषिणम् ॥ १४२ ॥

विदुरने जहां बुद्धिमान् धृतराष्ट्र राजाको विचित्र और हितकारी वाक्य सुनाये ॥ १४२ ॥

तथा सनत्सुजातेन यत्राध्यात्ममनुत्तमम् ।
मनस्तापान्वितो राजा श्रावितः शोकलालसः ॥ १४३ ॥

मनःपीडासे पीसे जाते हुए शोकाकुल राजा धृतराष्ट्रने सनत्सुजात ऋषिसे अति उत्तम अध्यात्म संबंधी शास्त्र सुना ॥ १४३ ॥

प्रभाते राजसमितौ संजयो यत्र चाभिभोः ।
ऐकात्म्यं वासुदेवस्य प्रोक्तवानर्जुनस्य च ॥ १४४ ॥

प्रातःकालमें संजयने राजाओंकी सभामें अत्यन्त तेजस्वी वासुदेव और अर्जुनके ऐकात्मभाव-का विषय कहा ॥ १४४ ॥

यत्र कृष्णो दयापन्नः संधिमिच्छन्महायशाः ।
स्वयमागाच्छमं कर्तुं नगरं नागसाह्वयम् ॥ १४५ ॥

महायशवाले और कृपावान् श्रीकृष्ण दोनों पक्षोंमें संधि कराकर शांति स्थापन करनेके लिए स्वयं हस्तिनापुर नगर आए ॥ १४५ ॥

प्रत्याख्यानं च कृष्णस्य राज्ञा दुर्योधनेन वै ।
शमार्थं याचमानस्य पक्षयोरुभयोर्हितम् ॥ १४६ ॥

दोनों पक्षकी हितेच्छासे शान्तिकी याचना करनेवाले श्रीकृष्णचंद्रका सन्धि—स्थापनका प्रस्ताव करनेपर राजा दुर्योधनने उस बातको टाल दिया ॥ १४६ ॥

कर्णदुर्योधनादीनां दुष्टं विज्ञाय मन्त्रितम् ।
योगेश्वरत्वं कृष्णेन यत्र राजसु दर्शितम् ॥ १४७ ॥

जिस पर्वमें कर्ण, दुर्योधन आदिकी दुष्ट मंत्रणाको समझकर राजाओंमें श्रीकृष्णने अपना योगेश्वर भाव दिखाया ॥ १४७ ॥

रथमारोप्य कृष्णेन यत्र कर्णोऽनुमन्त्रितः ।
उपायपूर्वं शौण्डीर्यात्प्रत्याख्यातश्च तेन सः ॥ १४८ ॥

श्रीकृष्णने कर्णको अपने रथ पर चढाया और हितकारी बातोंको समझाया, पर कर्णने कुशलता-पूर्वक श्रीकृष्णकी हितकारी बातको अस्वीकार कर दिया ॥ १४८ ॥

ततश्चाप्यभिनिर्यात्रा रथाश्वनरदन्तिनाम् ।
नगराद्धास्तिनपुराद्बलसंख्यानमेव च ॥ १४९ ॥

इसके बाद हस्तिनापुर नगरसे बहुतसी संख्यामें रथ, घोडे, पैदल और हाथियोंकी सेनाओंकी यात्रा शुरु हुई ॥ १४९ ॥

यत्र राज्ञा उलूकस्य प्रेषणं पाण्डवान्प्रति।
श्वोभाविनि महायुद्धे दूत्येन क्रूरवादिना।
रथातिरथसंख्यानमम्बोपाख्यानमेव च ॥ १५० ॥

घोर युद्धके पूर्व दिन कठोर बोलनेवाले दुर्योधनने उलूक नामक मनुष्यको दूत नियुक्त कर पाण्डवोंकी सेवामें भेजा, इसी पर्वमें रथ और अतिरथकी संख्या; अम्बोपाख्यान भी वर्णित है ॥ १५० ॥

एतत्सुबहुवृत्तान्तं पञ्चमं पर्व भारते।
उद्योगपर्व निर्दिष्टं सन्धिविग्रहसंश्रितम् ॥ १५१ ॥

इस प्रकार महाभारतके उद्योग नामक पांचवें पर्वमें संधि विग्रहकी बातोंमें मिले हुए ये सब वृत्तान्त वर्णित हुए हैं ॥ १५१ ॥

अध्यायाः संख्यया त्वत्र षडशीतिशतं स्मृतम्।
श्लोकानां षट् सहस्राणि तावन्त्येव शतानि च ॥ १५२ ॥
श्लोकाश्च नवतिः प्रोक्तास्तथैवाष्टौ महात्मना।
व्यासेनोदारमतिना पर्वण्यस्मिंस्तपोधनाः ॥ १५३ ॥

इस पर्वमें एकसौ छियासी अध्यायोंकी संख्या है, तथा छ हजार, छसौ, अठानवे श्लोक हे तपोधन ऋषियो ! उदारमति महात्मा व्यासने इस पर्वमें रचे हैं ॥ १५२—१५३ ॥

अत ऊर्ध्वं विचित्रार्थं भीष्मपर्व प्रचक्षते।
जम्बूखण्डविनिर्माणं यत्रोक्तं संजयेन ह ॥ १५४ ॥

इसके बाद अत्याश्चर्य अर्थवाले भीष्मपर्वकी कथा कही गई है जिसमें संजयने जम्बूखण्ड निर्माण करनेकी कथा कही है ॥ १५४ ॥

यत्र युद्धमभूद्घोरं दशाहान्यतिदारुणम्।
यत्र यौधिष्ठिरं सैन्यं विषादमगमत्परम् ॥ १५५ ॥

जिसमें कहा है कि दश दिनोंतक बहुत भयंकर लडाई हुई, लिहाजा युधिष्ठिरकी सेनामें बडी उदासी छा गई ॥ १५५ ॥

कश्मलं यत्र पार्थस्य वासुदेवो महामतिः।
मोहजं नाशयामास हेतुभिर्मोक्षदर्शनैः ॥ १५६ ॥

उसी समय अनेक मोक्षदर्शक हेतुओंको दिखाकर महामति वासुदेवने अर्जुनकी मोहसे उत्पन्न उदासीको दूर किया ॥ १५६ ॥

शिखण्डिनं पुरस्कृत्य यत्र पार्थो महाधनुः ।
विनिघ्नन्निशितैर्बाणै रथाद्भीष्ममपातयत् ॥ १५७ ॥

इसी पर्वमें महा धनुर्धारी पृथा पुत्र अर्जुनके द्वारा शिखंडीको सामने रखकर तेजबाणोंके आघातसे भीष्मको रथसे भूमिपर गिराये जानेका वर्णन है ॥ १५७ ॥

षष्ठमेतन्महापर्व भारते परिकीर्तितम् ।
अध्यायानां शतं प्रोक्तं सप्तदश तथापरे ॥ १५८ ॥

इन सब वृत्तान्तोंसे भरा हुआ भीष्मपर्व भारतका छठवां और महा पर्व है । इस पर्वमें एक सौ सत्रह अध्याय हैं ॥ १५८ ॥

पञ्च श्लोकसहस्राणि संख्ययाष्टौ शतानि च ।
श्लोकाश्च चतुराशीतिः पर्वण्यस्मिन्प्रकीर्तिताः ।
व्यासेन वेदाविदुषा संख्याता भीष्मपर्वणि ॥ १५९ ॥

तथा पांच हजार आठ सौ चौरासी श्लोक इस भीष्मपर्वमें वेदविद्वान् व्यासने गिनाए हैं ॥ १५९ ॥

द्रोणपर्व ततश्चित्रं बहुवृत्तान्तमुच्यते ।
यत्र संशप्तकाः पार्थमपनिन्यू रणाजिरात् ॥ १६० ॥

अनन्तर बहु वृत्तांत युक्त अति आश्चर्यकारक द्रोण-पर्व है; इसमें संशप्तक युद्ध स्थलसे अर्जुनको दूर ले गए ॥ १६० ॥

भगदत्तो महाराजो यत्र शक्रसमो युधि
सुप्रतीकेन नागेन सह शस्नः किरीटिना ॥ १६१ ॥

युद्धमें इन्द्रके समान पराक्रमी महाराज भगदत्त अपने सुप्रतीक नामक हाथीके साथ किरीटी अर्जुनके द्वारा मारे गए ॥ १६१ ॥

यत्राभिमन्युं बहवो जघ्नुर्लोकमहारथाः ।
जयद्रथमुखा बालं शूरमप्राप्तयौवनम् ॥ १६२ ॥

जयद्रथ आदि महारथी योद्धाओंके द्वारा महाबली अप्राप्त-यौवन अकेले बालक अभिमन्युका वध किया गया ॥ १६२ ॥

हतेऽभिमन्यौ क्रुद्धेन यत्र पार्थेन संयुगे ।
अक्षौहिणीः सप्त हत्वा हतो राजा जयद्रथः ।
संशप्तकावशेषं च कृतं निःशेषमाहवे ॥ १६३ ॥

अभिमन्युके मारे जाने पर क्रुद्ध हुए अर्जुनने रणभूमिमें सात अक्षौहिणी सेनाओंको मार कर मद्रराज जयद्रथको मार डाला; संशप्तकोंका युद्धमें पूरीतरह नाश किया ॥ १६३ ॥

अलम्बुसः श्रुतायुश्च जलसंधश्च वीर्यवान्।
सौमदत्तिर्विराटश्च द्रुपदश्च महारथः।
घटोत्कचादयश्चान्ये निहता द्रोणपर्वणि ॥ १६४ ॥

अलम्बुस, श्रुतायु, जलसन्ध, वीर्यशाली भूरिश्रवा, विराट, महारथी द्रुपद और घटोत्कच आदि अनेक वीरोंका द्रोणपर्वमें नाश हुआ ॥ १६४ ॥

अश्वत्थामापि चात्रैव द्रोणे युधि निपातिते।
अस्त्रं प्रादुश्चकारोग्रं नारायणममर्षितः ॥ १६५ ॥

युद्धमें द्रोणाचार्यके मार दिए जानेपर क्रोधसे जले हुए अश्वत्थामाने भयानक नारायण अस्त्रको प्रकट किया ॥ १६५ ॥

सप्तमं भारते पर्व महदेतदुदाहृतम्।
अत्र ते पृथिवीपालाः प्रायशो निधनं गताः।
द्रोणपर्वणि ये शूरा निर्दिष्टाः पुरुषर्षभाः ॥ १६६ ॥

यही सब विषय सविस्तृत सातवें पर्वमें कहे गये हैं। महाभारतमें यह सातवां और महान् पर्व है। द्रोणपर्वमें जिन सब पुरुष श्रेष्ठ भूपालोंका निर्देश है, प्रायः सभीके मृत्युवृत्तान्त इस पर्वमें वर्णित हुए हैं ॥ १६६ ॥

अध्यायानां शतं प्रोक्तमध्यायाः सप्ततिस्तथा।
अष्टौ श्लोकसहस्राणि तथा नव शतानि च ॥ १६७ ॥
श्लोका नव तथैवात्र संख्यातास्तत्त्वदर्शिना।
पाराशर्येण मुनिना संचिन्त्य द्रोणपर्वणि ॥ १६८ ॥

एक सौ सत्तर अध्याय और आठ सहस्र, नौ सौ तथा नौ श्लोक इस द्रोण पर्वमें तत्त्वदर्शी मुनि पराशर पुत्र व्यासने सोच विचार कर रखे हैं ॥ १६७–१६८ ॥

अतः परं कर्णपर्व प्रोच्यते परमाद्भुतम्।
सारथ्ये विनियोगश्च मद्रराजस्य धीमतः।
आख्यातं यत्र पौराणं त्रिपुरस्य निपातनम् ॥ १६९ ॥

इसके पश्चात् परम अद्भुत कर्णपर्व कहा है। धीमान्मद्रराजा शल्यका सारथीके कार्यमें नियुक्त होने तथा पुराण प्रसिद्ध त्रिपुरासुरके वधका वर्णन इस पर्वमें है ॥ १६९ ॥

प्रयाणे परुषश्चात्र संवादः कर्णशल्ययोः।
हंसकाकीयमाख्यानमत्रैवाक्षेपसंहितम् ॥ १७० ॥

युद्धार्थ यात्रा करनेके कालमें कर्ण और मद्रराजके बीचमें परस्पर वाक्य युद्ध, कर्णके तिरस्कारार्थ शल्यका हंस और काककी कथा कहनेका वर्णन भी इसी पर्वमें है॥ १७० ॥

अन्योन्यं प्रति च क्रोधो युधिष्ठिरकिरीटिनोः ।
द्वैरथे यत्र पार्थेन हतः कर्णो महारथः ॥ १७१ ॥

युधिष्ठिर और अर्जुनका आपसमें क्रोधित होने; द्वैरथ युद्धमें अर्जुनसे महारथी कर्णके मारे जानेका वर्णन ॥ १७१ ॥

अष्टमं पर्व निर्दिष्टमेतद्भारतचिन्तकैः ।
एकोनसप्ततिः प्रोक्ता अध्यायाः कर्णपर्वणि ।
चत्वार्येव सहस्राणि नव श्लोकशतानि च ॥ १७२ ॥

यही सब विषय भारतके रचयिता महाराज व्यासजीने आठवें पर्वमें कहे हैं। वेदव्यासजीने इस कर्ण पर्वमें उनहत्तर अध्याय और चार सहस्र, नौ सौ श्लोक कीर्तन किये हैं ॥१७२॥

अतः परं विचित्रार्थं शल्यपर्व प्रकीर्तितम् ।
हतप्रवीरे सैन्ये तु नेता मद्रेश्वरोऽभवत् ॥ १७३ ॥

इसके अनन्तर विचित्र अर्थयुक्त शल्यपर्व कहा है। कर्ण तथा सेनाओंमें मुख्य मुख्य वीरोंके मारे जानेपर मद्रेश्वर शल्य सेनापतिके पदपर नियुक्त हुए ॥ १७३ ॥

वृत्तानि रथयुद्धानि कीर्त्यन्ते यत्र भागशः ।
विनाशः कुरुमुख्यानां शल्यपर्वणि कीर्त्यते ॥ १७४ ॥

नाना रथियोंके पृथक् रूपसे रथयुद्धोंका वर्णन; कौरव–पक्षके प्रधान प्रधान योद्धाओंके मारे जानेका वर्णन इसी शल्य पर्वमें है ॥ १७४ ॥

शल्यस्य निधनं चात्र धर्मराजान्महारथात् ।
गदायुद्धं तु तुमुलमत्रैव परिकीर्तितम् ।
सरस्वत्याश्च तीर्थानां पुण्यता परिकीर्तिता ॥ १७५ ॥

और इसी पर्वमें महारथी धर्मराज युधिष्ठिरके द्वारा शल्यके वधका वर्णन, तथा उस रण–भूमिमें भीमके साथ दुर्योधनका घोर गदायुद्ध और सरस्वती तीर्थ और दूसरे नाना तीर्थोंका माहात्म्य कीर्तन ॥ १७५ ॥

नवमं पर्व निर्दिष्टमेतदद्भुतमर्थवत् ।
एकोनषष्टिरध्यायास्तत्र संख्याविशारदैः ॥ १७६ ॥

यह सब विषय आश्चर्य अर्थयुक्त नवें पर्वमें वर्णित हुए हैं। इस पर्वमें गणना करनेमें कुशल लोगोंने उनसठ अध्याय गिनायें हैं ॥ १७६ ॥

संख्याता बहुवृत्तान्ताः श्लोकाग्रं चात्र शस्यते।
त्रीणि श्लोकसहस्राणि द्वे शते विंशतिस्तथा।
मुनिना संप्रणीतानि कौरवाणां यशोभृताम् ॥ १७७ ॥

कौरवोंके यशःकीर्तन करनेवाले व्यासमुनिने इसमें नाना वृत्तांतयुक्त तीन सहस्र, दो सौ, बीस श्लोक रचे हैं। इन श्लोकोंमें व्यासमुनिने कौरवोंका यशःकीर्तन करनेवाले बहुतसे वृत्तान्त कहे हैं ॥ १७७ ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि सौप्तिकं पर्व दारुणम्।
भग्नोरुं यत्र राजानं दुर्योधनममर्षणम् ॥ १७८ ॥
व्यपयातेषु पार्थेषु त्रयस्तेऽभ्याययू रथाः।
कृतवर्मा कृपो द्रौणिः सायाह्ने रुधिरोक्षिताः ॥ १७९ ॥

इसके पश्चात् दुःखदायी सौप्तिक पर्व कहता हूं। टूटी जांघ वाला क्रोधी दुर्योधन जिस स्थानमें पडा हुआ था, वहां पाण्डवोंके रणस्थलसे चले जानेपर संध्याके समय रक्तसे सने हुए कृतवर्मा, कृपाचार्य और अश्वत्थामा ये तीनों रथी गए ॥ १७८– १७९ ॥

प्रतिजज्ञे दृढक्रोधो द्रौणिर्यत्र महारथः।
अहत्वा सर्वपाञ्चालान्धृष्टद्युम्नपुरोगमान्।
पाण्डवांश्च सहामात्यान्न विमोक्ष्यामि दंशनम् ॥ १८० ॥

यहीं महा-रथी तथा दृढ क्रोधी द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने यह प्रतिज्ञा की कि, "धृष्टद्युम्न आदि पांचाल और सहचर समेत पाण्डवोंको जबतक नहीं मार दूंगा, तबतक कवच नहीं उतारूंगा" ॥ १८० ॥

प्रसुप्तान्निशि विश्वस्तान्यत्र ते पुरुषर्षभाः।
पाञ्चालान्सपरीवाराञ्जघ्नुर्द्रौणिपुरोगमाः ॥ १८१ ॥

उसके बाद रातमें विश्वासपूर्वक सोते हुए पांचालवीरोंको परिवार सहित अश्वत्थामाके नेतृत्वमें उन कृपाचार्य आदि पुरुष श्रेष्ठोंने मार डाला ॥ १८१ ॥

यत्रामुच्यन्त पार्थास्ते पञ्च कृष्णबलाश्रयात्।
सात्यकिश्च महेष्वासः शेषाश्च निधनं गताः ॥ १८२ ॥

श्रीकृष्णके बलके कौशलसे इस प्रकार केवल महा धनुपधारी सात्यकि और पांच पाण्डव बचे, शेष सब मारे गये ॥ १८२ ॥

द्रौपदी पुत्रशोकार्ता पितृभ्रातृवधार्दिता।
कृतानशनसंकल्पा यत्र भर्तॄनुपाविशत् ॥ १८३ ॥

पुत्र वधके शोक और पितृ-भ्रातृ-वधसे कातर द्रौपदी भूखी रहकर प्राण त्यागनेका निश्चय कर पतिओंके पास आकर बैठ गई ॥ १८३ ॥

द्रौपदीवचनाद्यत्र भीमो भीमपराक्रमः ।
अन्वधावत संक्रुद्धो भारद्वाजं गुरोः सुतम् ॥ १८४ ॥

भयंकर पराक्रम करनेवाले भीमसेन द्रौपदीके वचनसे क्रोधित होकर अपने गुरुके पुत्र तथा भरद्वाजवंशीय अश्वत्थामाके पीछे दौडे ॥ १८४ ॥

भीमसेनभयाद्यत्र दैवेनाभिप्रचोदितः ।
अपाण्डवायेति रुषा द्रौणिरस्त्रमवासृजत् ॥ १८५ ॥

द्रोण पुत्रने भीमके भयसे और दैव प्रेरणासे क्रोधपूर्वक " पृथ्वी पाण्डवोंसे रहित हो जाये " ऐसा कहकर अस्त्र छोडा ॥ १८५ ॥

मैवमित्यब्रवीत्कृष्णः शमयंस्तस्य तद्वचः ।
यत्रास्त्रमस्त्रेण च तच्छमयामास फाल्गुनः ॥ १८६ ॥

इस पर श्रीकृष्ण चंद्रने " ऐसा न हो " कहा और अश्वत्थामाके वचनोंको शान्त कर दिया और अर्जुनने अस्त्र द्वारा उस अस्त्रका निवारण किया ॥ १८६ ॥

द्रौणिद्वैपायनादीनां शापाश्चान्योन्यकारिताः ।
तोयकर्मणि सर्वेषां राज्ञामुदकदानिके ॥ १८७ ॥
गूढोत्पन्नस्य चाख्यानं कर्णस्य पृथयात्मनः ।
सुतस्यैतदिह प्रोक्तं दशमं पर्व सौप्तिकम् ॥ १८८ ॥

अश्वत्थामा और द्वैपायन आदिने परस्पर एक दूसरेको शाप दिया तथा सब राजाओंको जल देकर तर्पण करनेका काम प्रारम्भ होने पर कुन्तीने अपने पुत्र कर्णके जन्मकी गुप्त कथा कह सुनाई, यह सब इस दसवें सौप्तिक पर्वमें है॥ १८७–१८८ ॥

अष्टादशास्मिन्नध्यायाः पर्वण्युक्ता महात्मना ।
श्लोकाग्रमत्र कथितं शतान्यष्टौ तथैव च ॥ १८९ ॥
श्लोकाश्च सप्ततिः प्रोक्ता यथावदभिसंख्यया ।
सौप्तिकैषीकसंबन्धे पर्वण्यमितबुद्धिना ॥ १९० ॥

वेदवक्ता महात्मा व्यास मुनिने इसमें अठारह अध्याय कीर्तन किये और उसी प्रकार आठ सौ सत्तर श्लोक रचे हैं। अमित बुद्धिमान् व्यासने ऐषिक पर्वको इस पर्वके अन्तर्गत किया है ॥ १८९–१९० ॥

अत ऊर्ध्वमिदं प्राहुः स्त्रीपर्व करुणोदयम् ।
विलापो वीरपत्नीनां यत्रातिकरुणः स्मृतः ।
क्रोधावेशः प्रसादश्च गांधारीधृतराष्ट्रयोः ॥ १९१ ॥

इसके अनन्तर करुणरसयुक्त स्त्रीपर्व कहा जाता है। इस पर्वमें वीरोंकी स्त्रियोंका अति करुण-स्वरसे विलाप करना बताया है। गांधारी और धृतराष्ट्रके क्रोधित होकर शान्त होनेका भी वर्णन इसी पर्वमें है ॥ १९१ ॥

यत्र तान्क्षत्रियाञ्शूरान्दिष्टान्तानानिवर्तिनः।
पुत्रान्भ्रातॄन्पितॄंश्चैव ददृशुर्निहताञ्रणे ॥ १९२ ॥

क्षत्रिय नारियोंने युद्धमें पीठ न दिखानेवाले अपने शूरवीर पिता, भ्राता और पतियोंको रणमें मरा हुआ देखा ॥ १९२ ॥

यत्र राजा महाप्राज्ञः सर्वधर्मभृतां वरः।
राज्ञां तानि शरीराणि दाहयामास शास्त्रतः ॥ १९३ ॥

सब धार्मिकोंमें श्रेष्ठ महा बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिरने युद्धमें मरे हुए राजाओंके उन शरीरों-का शास्त्रानुसार दाह कर्म इसी पर्वमें किया ॥ १९३ ॥

एतदेकादशं प्रोक्तं पर्वातिकरुणं महत्।
सप्तविंशतिरध्यायाः पर्वण्यस्मिन्नुदाहृताः ॥ १९४ ॥

इसी भारतमें अति करुणाका उत्पादक यह ग्यारहवां पर्व है। इस पर्वमें सत्ताइस अध्याय रचे गए हैं ॥ १९४ ॥

श्लोकाः सप्तशतं चात्र पञ्चसप्ततिरुच्यते।
संख्यया भारताख्यानं कर्त्रा ह्यत्र महात्मना।
प्रणीतं सज्जनमनोवैक्लव्याश्रुप्रवर्तकम् ॥ १९५ ॥

तथा सज्जनोंके मनोंको करुणायुक्त करनेवाले तथा आंखोंमें आंसू लानेवाले सात सौ पचहत्तर संख्यासे युक्त श्लोक महाभारतके रचयिता महात्माने रचे हैं ॥ १९५ ॥

अतः परं शान्तिपर्व द्वादशं बुद्धिवर्धनम्।
यत्र निर्वेदमापन्नो धर्मराजो युधिष्ठिरः।
घातयित्वा पितॄन्भ्रातॄन्पुत्रान्संबन्धिबान्धवान् ॥ १९६ ॥

इसके पश्चात् बुद्धिको बढानेवाला शान्तिपर्व नामक बारहवां पर्व है। इस पर्वमें धर्मराज युधिष्ठिर पिता, भ्राता, पुत्र तथा सम्बन्धियों आदि सबको मरवा डालनेके कारण बडे दुःखी हुए ॥ १९६ ॥

शान्तिपर्वणि धर्माश्च व्याख्याताः शरतल्पिकाः।
राजभिर्वेदितव्या ये सम्यङ्ज्ञानबुभुत्सुभिः ॥ १९७ ॥

शरशय्या पर पडे हुए भीष्मदेवने युधिष्ठिरको उत्तम नीति चाहनेवाले राजाओंके द्वारा अवश्य जानने योग्य राजधर्म इस पर्वमें सुनाया है ॥ १९७ ॥

आपद्धर्माश्च तत्रैव कालहेतुप्रदर्शकाः ।
यान्बुद्ध्वा पुरुषः सम्यक्सर्वज्ञत्वमवाप्नुयात् ।
मोक्षधर्माश्च कथिता विचित्रा बहुविस्तराः ॥ १९८ ॥

और इस पर्वमें कालके हेतु दर्शानेवाला आपद्धर्म भी बताया है । जिसे जानकर मानव सर्वज्ञता प्राप्त कर सकता है, इसी प्रकार इस पर्वमें बहु विस्तृत मोक्ष-धर्म भी बताया गया है ॥ १९८ ॥

द्वादशं पर्व निर्दिष्टमेतत्प्राज्ञजनप्रियम् ।
पर्वण्यत्र परिज्ञेयमध्यायानां शतत्रयम् ।
त्रिंशच्चैव तथाध्याया नव चैव तपोधनाः ॥ १९९ ॥

ज्ञानियोंके लिए प्रिय इस बारहवें पर्वका नाम शांति पर्व है, हे तपोधनो ! इसमें तीन सौ उन्तालीस अध्याय हैं ॥ १९९ ॥

श्लोकानां तु सहस्राणि कीर्तितानि चतुर्दश ।
पञ्च चैव शतान्याहुः पञ्चविंशतिसंख्यया ॥ २०० ॥

तथा व्यासने इस पर्वमें चौदह हजार पांच सौ पच्चीस श्लोक रचे हैं ॥ २०० ॥

अत ऊर्ध्वं तु विज्ञेयमानुशासनमुत्तमम् ।
यत्र प्रकृतिमापन्नः श्रुत्वा धर्मविनिश्चयम् ।
भीष्माद्भागीरथीपुत्रात्कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥ २०१ ॥

इसके पश्चात् उत्तम अनुशासन पर्व जानना चाहिए । जिसमें कुरुराज युधिष्ठिरने भागीरथीके पुत्र भीष्मका धर्मनिर्णय सुन करके अपने स्वाभाविक भावको प्राप्त कर लिया ॥ २०१ ॥

व्यवहारोऽत्र कार्त्स्न्येन धर्मार्थीयो निदर्शितः ।
विविधानां च दानानां फलयोगाः पृथग्विधाः ॥ २०२ ॥

इस पर्वमें धर्म और अर्थ संबंधी व्यवहार तथा विविध दानोंके भिन्न भिन्न फलोंको पूर्ण रूपसे बताया है ॥ २०२ ॥

तथा पात्रविशेषाश्च दानानां च परो विधिः ।
आचारविधियोगश्च सत्यस्य च परा गतिः ॥ २०३ ॥

दान लेनेवाले पात्रोंकी योग्यता, दानकी उत्तम विधि, आचार-व्यवहारके प्रकार व उनकी विधि तथा सत्यकी पराकाष्ठा भी इस पर्वमें बताई है ॥ २०३ ॥

एतत्सुबहुवृत्तान्तमुत्तमं चानुशासनम् ।
भीष्मस्यात्रैव संप्राप्तिः स्वर्गस्य परिकीर्तिता ॥ २०४ ॥

ये सब उत्तम और विस्तृत वृत्तान्त इस अनुशासन पर्वमें हैं। और इसी पर्वमें भीष्मके स्वर्गप्राप्तिका भी वर्णन है ॥ २०४ ॥

एतत्त्रयोदशं पर्व धर्मनिश्चयकारकम् ।
अध्यायानां शतं चात्र षट्चत्वारिंशदेव च ।
श्लोकानां तु सहस्राणि षट् सप्तैव शतानि च ॥ २०५ ॥

यह धर्म–निर्णयकारी तेरहवां पर्व है इस पर्वमें एक सौ छियालीस अध्याय और छै हजार सातसौ श्लोक रचे गये हैं ॥ २०५ ॥

ततोऽश्वमेधिकं नाम पर्व प्रोक्तं चतुर्दशम् ।
तत्संवर्तमरुत्तीयं यत्राख्यानमनुत्तमम् ॥ २०६ ॥

इसके पश्चात् आश्वमेधिक नामक चौदहवां पर्व कथित हुआ है। इसमें संवर्त और मरुत्तका सुन्दर उपाख्यान है ॥ २०६ ॥

सुवर्णकोशसंप्राप्तिर्जन्म चोक्तं परीक्षितः ।
दग्धस्यास्त्राग्निना पूर्वं कृष्णात्संजीवनं पुनः ॥ २०७ ॥

इस पर्वमें सुवर्ण कोषके पाने और परीक्षितके जन्मका वर्णन है। पहिले जो अस्त्राग्निसे जला दिया गया था और फिर वादमें श्रीकृष्णसे पुनः जिलाया गया ॥ २०७ ॥

चर्यायां हयमुत्सृष्टं पाण्डवस्यानुगच्छतः ।
तत्र तत्र च युद्धानि राजपुत्रैरमर्षणैः ॥ २०८ ॥

यज्ञके घोडेको छोडनेपर उसके पीछे चलनेवाले अर्जुनसे स्थान स्थानमें क्रोधी राजाओंका युद्ध ॥ २०८ ॥

चित्राङ्गदायाः पुत्रेण पुत्रिकाया धनंजयः ।
संग्रामे बभ्रुवाहेन संशयं चात्र दर्शितः ।
अश्वमेधे महायज्ञे नकुलाख्यानमेव च ॥ २०९ ॥

(चित्रवाहन राजाकी पुत्री) चित्रांगदाके गर्भसे उत्पन्न (निज) पुत्र बभ्रुवाहनके साथ होनेवाले संग्राममें अर्जुनके प्राणों पर बन आना तथा अश्वमेध महायज्ञके कालमें नेवलेकी कथा ॥ २०९ ॥

इत्याश्वमेधिकं पर्व प्रोक्तमेतन्महाद्भुतम् ।
अत्राध्यायशतं त्रिंशत्त्रयोऽध्यायाश्च शब्दिताः ॥ २१० ॥

ये सब विषय अति अद्भुत आश्वमेधिक पर्वमें वर्णित हुए हैं। इस पर्वमें एक सौ तैतीस अध्याय कीर्तन किये हैं ॥ २१० ॥

त्रीणि श्लोकसहस्राणि तावन्त्येव शतानि च ।
विंशतिश्च तथा श्लोकाः संख्यातास्तत्त्वदर्शिना ॥ २११ ॥

और तीन हजार तीन सौ बीस श्लोक तत्त्वदर्शी व्यासने गिनाए हैं ॥ २११ ॥

तत आश्रमवासाख्यं पर्व पञ्चदशं स्मृतम् ।
यत्र राज्यं परित्यज्य गांधारीसहितो नृपः ।
धृतराष्ट्राश्रमपदं विदुरश्च जगाम ह ॥ २१२ ॥

इसके अनन्तर आश्रमवासिक नामक पन्द्रहवां पर्व कहा जाता है । इस पर्वमें गान्धारी सहित राजा धृतराष्ट्रके राज्यको छोडकर विदुरके साथ आश्रमवासके लिये वनको चले जानेका वर्णन है ॥ २१२ ॥

यं दृष्ट्वा प्रस्थितं साध्वी पृथाप्यनुययौ तदा ।
पुत्रराज्यं परित्यज्य गुरुशुश्रूषणे रता ॥ २१३ ॥

अपनेसे वृद्ध आदमियोंकी सेवामें तत्पर कुन्ती भी उनको जाता हुआ देखकर पुत्रोंके राज्यको छोडकर उनके पीछे चली गई ॥ २१३ ॥

यत्र राजा हतान्पुत्रान्पौत्रानन्यांश्च पार्थिवान् ।
लोकान्तरगतान्वीरानपश्यत्पुनरागतान् ॥ २१४ ॥

इसी पर्वमें राजा धृतराष्ट्रने युद्धमें मरे और परलोकको सिधारे हुए पुत्र, पौत्र और दूसरे वीर राजाओंको फिर आया हुआ देखा ॥ २१४ ॥

ऋषेः प्रसादात्कृष्णस्य दृष्ट्वाश्चर्यमनुत्तमम् ।
त्यक्त्वा शोकं सदारश्च सिद्धिं परमिकां गतः ॥ २१५ ॥

उन्होंने कृष्णद्वैपायनकी कृपासे यह उत्तम और अत्याश्चर्य व्यापार देख कर गान्धारीके साथ शोकका परित्याग करके परम सिद्धि प्राप्त की ॥ २१५ ॥

यत्र धर्मं समाश्रित्य विदुरः सुगतिं गतः ।
संजयश्च महामात्रो विद्वान्गावल्गणिर्वशी ॥ २१६ ॥

जितेन्द्रिय विद्वान् गावल्गणके पुत्र महामात्य संजय और विदुरने धर्मका आश्रय कर सुगति प्राप्त की ॥ २१६ ॥

ददर्श नारदं यत्र धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
नारदाच्चैव शुश्राव वृष्णीनां कदनं महत् ॥ २१७ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरने नारदजीके दर्शन किए और उन्हीं नारदके मुखसे वृष्णियोंके महान् कुलक्षय होनेकी वार्ता सुनी ॥ २१७ ॥

एतदाश्रमवासाख्यं पर्वोक्तं सुमहाद्भुतम् ।
द्विचत्वारिंशदध्यायाः पर्वैतदभिसंख्यया ॥ २१८ ॥

यह सब वृत्तांत अति अद्भुत आश्रमवासिक पर्वमें कहे गये हैं। यह पर्व बयालीसकी संख्या वाले अध्यायोंसे युक्त है ॥ २१८ ॥

सहस्रमेकं श्लोकानां पञ्च श्लोकशतानि च ।
षडेव च तथा श्लोकाः संख्यातास्तत्त्वदर्शिना ॥ २१९ ॥

और एक हजार, पांच सौ, छः श्लोक इसमें तत्त्वदर्शी व्यासने गिनाए हैं ॥ २१९ ॥

अतः परं निबोधेदं मौसलं पर्व दारुणं ।
यत्र ते पुरुषव्याघ्राः शस्त्रस्पर्शसहा युधि ।
ब्रह्मदण्डविनिष्पिष्टाः समीपे लवणाम्भसः ॥ २२० ॥

इसके अनंतर दुःखदायी मौसल–पर्वको श्रवण कीजिये । जो लोग रणभूमिमें सहज ही में अस्त्रके आघात सह लेते थे, उन सर्व पुरुषोंमें श्रेष्ठ यादवगणोंने ब्रह्मशापरूपी दण्डसे पीडित होकर समुद्र–तटके पास ॥ २२० ॥

आपाने पानगलिता दैवेनाभिप्रचोदिताः ।
एरकारूपिभिर्वज्रैर्निजघ्नुरितरेतरम् ॥ २२१ ॥

मदिरा पीनेकी सभामें पीकर तथा दैवसे प्रेरित होकर एरका तृणरूपी वज्राघातसे एक दूसरेको मार दिया ॥ २२१ ॥

यत्र सर्वक्षयं कृत्वा तावुभौ रामकेशवौ ।
नातिचक्रमतुः कालं प्राप्तं सर्वहरं समम् ॥ २२२ ॥

इस प्रकार बलराम, कृष्ण, दोनोंने संपूर्ण यदुवंशका नाश कर स्वयं भी सर्वसंहारी समदर्शी कालका उल्लंघन नहीं कर पाये ॥ २२२ ॥

यत्रार्जुनो द्वारवतीमेत्य वृष्णिविनाकृताम् ।
दृष्ट्वा विषादमगमत्परां चार्तिं नरर्षभः ॥ २२३ ॥

नरश्रेष्ठ अर्जुन द्वारकामें आकर और उसे यादवोंसे खाली पाकर बडी मनःपीडासे दुःख-को प्राप्त हुए ॥ २२३ ॥

स सत्कृत्य यदुश्रेष्ठं मातुलं शौरिमात्मनः ।
ददर्श यदुवीराणामापाने वैशसं महत् ॥ २२४ ॥

उन्होंने अपने मामा यदुकुलमें श्रेष्ठ वसुदेवका सत्कार करके सुरापान सभामें यदुवंशी वीरों-का भयंकर विनाश देखा ॥ २२४ ॥

शरीरं वासुदेवस्य रामस्य च महात्मनः।
संस्कारं लम्भयामास वृष्णीनां च प्रधानतः ॥ २२५ ॥

फिर उन्होंने महात्मा बलराम, श्री कृष्णचन्द्र और प्रधान प्रधान यदुवंशियोंके शरीरोंका दाह संस्कार किया ॥ २२५ ॥

स वृद्धबालमादाय द्वारवत्यास्ततो जनम्।
ददर्शापदि कष्टायां गाण्डीवस्य पराभवम् ॥ २२६ ॥

और द्वारकासे बाल, वृद्ध आदि सभी जनोंको लाते समय पथमें घोर आपत्तिसे घेर लिये जाने पर निज गाण्डीव धनुषकी पराजय देखी ॥ २२६ ॥

सर्वेषां चैव दिव्यानामस्त्राणामप्रसन्नताम्।
नाशं वृष्णिकलत्राणां प्रभावानामनित्यताम् ॥ २२७ ॥

और सभी दिव्यास्त्रोंकी प्रतिकूलता देखी। तथा उन्होंने यादव—नारियोंका नाश और विक्रमकी अनित्यता देखकर ॥ २२७ ॥

दृष्ट्वा निर्वेदमापन्नो व्यासवाक्यप्रचोदितः।
धर्मराजं समासाद्य संन्यासं समरोचयत् ॥ २२८ ॥

बडे उदास होकर तथा व्यासके वचनोंसे प्रेरित होकर युधिष्ठिरके निकट लौट करके संन्यास-आश्रमकी शरण लेनेकी अभिलाषा प्रकट की ॥ २२८ ॥

इत्येतन्मौसलं पर्व षोडशं परिकीर्तितम्।
अध्यायाष्टौ समाख्याताः श्लोकानां च शतत्रयम् ॥ २२९ ॥

यह सोलहवां पर्व मौसल पर्व कहा गया है। इस पर्वमें आठ अध्याय और तीन सौ श्लोक रचे गये हैं ॥ २२९ ॥

महाप्रस्थानिकं तस्मादूर्ध्वं सप्तदशं स्मृतम्।
यत्र राज्यं परित्यज्य पाण्डवाः पुरुषर्षभाः।
द्रौपद्या सहिता देव्या सिद्धिं परमिकां गताः ॥ २३० ॥

इसके पश्चात् महाप्रस्थानिक नामक सत्रहवां पर्व है। जिस पर्वमें पुरुष-श्रेष्ठ पाण्डवोंने देवी द्रौपदीके साथ राज्य छोडकर परम सिद्धिको प्राप्त किया ॥ २३० ॥

अत्राध्यायास्त्रयः प्रोक्ताः श्लोकानां च शतं तथा।
विंशतिश्च तथा श्लोकाः संख्यातास्तत्त्वदर्शिना ॥ २३१ ॥

इस पर्वमें तत्त्वदर्शी महर्षिने तीन अध्याय और एक सौ वीस श्लोक कीर्तन किये हैं ॥ २३१ ॥

स्वर्गपर्व ततो ज्ञेयं दिव्यं यत्तदमानुषम्।
अध्यायाः पञ्च संख्याताः पर्वैतदभिसंख्यया।
श्लोकानां द्वे शते चैव प्रसंख्याते तपोधनाः ॥ २३२॥

अनन्तर अमानुषी आश्चर्यवाला स्वर्गारोहण पर्व जानना चाहिए। हे तपोधनो! संख्याकी दृष्टिसे इस पर्वमें पांच अध्याय और दो सौ श्लोक गिनाए हैं॥ २३२॥

अष्टादशैवमेतानि पर्वाण्युक्तान्यशेषतः।
खिलेषु हरिवंशश्च भविष्यच्च प्रकीर्तितम् ॥ २३३॥

इस प्रकारसे संपूर्ण अट्ठारह पर्व कहे गये हैं। इसके पश्चात् खिल (परिशिष्ट) भागमें हरिवंश और भविष्य पर्वोंका वर्णन है॥ २३३॥

एतदखिलमाख्यातं भारतं पर्वसंग्रहात्।
अष्टादश समाजग्मुरक्षौहिण्यो युयुत्सया।
तन्महद्दारुणं युद्धमहान्यष्टादशाभवत् ॥ २३४॥

इन सब पर्वोंसे युक्त महाभारत कहा है। अट्ठारह अक्षौहिणी सेना युद्ध करनेके निमित्त इकठ्ठी हुई और यह भयंकर युद्ध अट्ठारह दिनोंतक चला॥ २३४॥

यो विद्याच्चतुरो वेदान्साङ्गोपनिषदान्द्विजः।
न चाख्यानमिदं विद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः ॥ २३५॥

जो ब्राह्मण चतुर्वेद, वेदांग और संपूर्ण उपनिषद् भी पढा हो, पर महाभारतीय उपाख्यान न जानता हो, वह बुद्धिमान् नहीं हो सकता॥ २३५॥

श्रुत्वा त्विदमुपाख्यानं श्राव्यमन्यन्न रोचते।
पुंस्कोकिलरुतं श्रुत्वा रूक्षा ध्वाङ्क्षस्य वागिव ॥ २३६॥

जैसे कोयलका मधुर कूजन सुन कर फिर कौवेकी कर्कश बोली सुननेकी इच्छा नहीं होती, वैसे ही इस उपाख्यानको सुननेके बाद और कुछ सुननेकी अभिलाषा नहीं रहती॥२३६॥

इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कविबुद्धयः।
पञ्चभ्य इव भूतेभ्यो लोकसंविधयस्त्रयः ॥ २३७॥

जैसे पंच भूतोंसे तीनों प्रकारके लोकोंकी उत्पत्ति होती है वैसे ही इस सर्व श्रेष्ठ इतिहाससे कवित्व बुद्धि उपजती है॥ २३७॥

अस्याख्यानस्य विषये पुराणं वर्तते द्विजाः।
अन्तरिक्षस्य विषये प्रजा इव चतुर्विधाः ॥ २३८॥

हे ब्राह्मणो! जैसे (जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज यह) चारों प्रकारकी प्रजाएं आकाशमें ही रहती हैं, वैसे ही सम्पूर्ण पुराण इस उपाख्यानमें हैं॥ २३८॥

क्रियागुणानां सर्वेषामिदमाख्यानमाश्रयः ।
इन्द्रियाणां समस्तानां चित्रा इव मनःक्रियाः ॥ २३९ ॥

जैसे विचित्र विचित्र चित्तक्रियायें सब इन्द्रियोंको आश्रय देनेवाली हैं वैसे ही यह उपाख्यान (दान, अध्ययन आदि) क्रिया और (शम, दम आदि) गुणोंका आश्रय है ॥ २३९ ॥

अनाश्रित्यैतदाख्यानं कथा भुवि न विद्यते ।
आहारमनपाश्रित्य शरीरस्येव धारणम् ॥ २४० ॥

जैसे भोजनके विना शरीरका धारण नहीं हो सकता, वैसे ही इस उपाख्यानके आश्रयके बिना भूमण्डलमें कोई भी आख्यान विद्यमान नहीं है ॥ २४० ॥

इदं सर्वैः कविवरैराख्यानमुपजीव्यते ।
उदयप्रेप्सुभिर्भृत्यैरभिजात इवेश्वरः ॥ २४१ ॥

जैसे उन्नति चाहनेवाले भृत्य कुलीन राजाकी शरण लेते हैं, वैसे ही श्रेष्ठ कविकुल (कवित्व शक्तिकी उन्नतिके लिये) इस महाभारतका आश्रय लेते हैं ॥ २४१ ॥

द्वैपायनौष्ठपुटनिःसृतमप्रमेयं पुण्यं पवित्रमथ पापहरं शिवं च ।
यो भारतं समधिगच्छति वाच्यमानं किं तस्य पुष्करजलैरभिषेचनेन ॥२४२॥

महाभाग्यवान् द्वैपायनके दोनों होठोंसे निकले हुए, अप्रमेय, पुण्यदायक, परम पवित्र, पाप-विनाशी, परम कल्याणकारक इस महाभारतके पाठको पढे जाते हुए जो सुनते हैं उनको पुष्करतीर्थके जलमें नहानेकी क्या जरुरत ? ॥ २४२ ॥

आख्यानं तदिदमनुत्तमं महार्थं विन्यस्तं महदिह पर्वसंग्रहेण ।
श्रुत्वादौ भवति नृणां सुखावगाहं विस्तीर्णं लवणजलं यथा प्लवेन ॥ २४३ ॥

इति श्री महाभारते आदिपर्वणि द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥ समाप्तं पर्वसंग्रहपर्व ॥ ४५३ ॥

जैसे मनुष्यगण नाव द्वारा परम सुखसे खारे जलवाले विस्तीर्ण समुद्रको पार कर जाते हैं, वैसे ही पहिले इस पर्वसंग्रहको सुननेसे इसके द्वारा अतिश्रेष्ठ गंभीर अर्थवाले इस महत् आख्यानरूपी सागरको सुखसे पार कर सकते हैं ॥ २४३ ॥

इस प्रकार महाभारतके आदिपर्वमें दूसरा अध्याय और पर्वसंग्रह पर्व समाप्त हुआ ॥ ४५३ ॥

---

*

: ३ :

सूत उवाच

जनमेजयः पारिक्षितः सह भ्रातृभिः कुरुक्षेत्रे दीर्घसत्र-
मुपास्ते। तस्य भ्रातरस्त्रयः श्रुतसेन उग्रसेनो भीमसेन
इति॥ १॥ तेषु तत्सत्रमुपासीनेषु तत्र श्वाभ्यागच्छत्सारमेयः।
स जनमेजयस्य भ्रातृभिरभिहतो रोरूयमाणो मातुः समीप-
मुपागच्छत्॥ २॥ तं माता रोरूयमाणमुवाच। किं रोदिषि।
केनास्यभिहत इति॥ ३॥ स एवमुक्तो मातरं प्रत्युवाच।
जनमेजयस्य भ्रातृभिरभिहतोऽस्मीति॥ ४॥

सूत बोले— परीक्षितके पुत्र महाराज जनमेजयने अपने भाइयोंके साथ कुरुक्षेत्रमें दीर्घ यज्ञका अनुष्ठान किया। उस जनमेजयके श्रुतसेन, उग्रसेन और भीमसेन ये तीन भाई थे॥ १॥ यज्ञ करते हुए उनके उस यज्ञानुष्ठानके कालमें वहां सरमाका पुत्र कुत्ता आकर उपस्थित हुआ। जनमेजयके भाइयोंके द्वारा मारे जाने पर वह बहुत रोता हुआ अपनी माताके पास जा पहुंचा॥ २॥ उसे बुरी तरह रोते हुए देखकर माताने पूछा "तुम क्यों रो रहे हो? किसने तुमको मारा है?"॥ ३॥ इस प्रकार पूछे जानेपर कुत्तेने मातासे कहा कि "जनमेजयके भाइयोंने मुझे मारा है।"॥ ४॥

तं माता प्रत्युवाच। व्यक्तं त्वया तत्रापराद्धं येनास्यभिहत
इति॥ ५॥ स तां पुनरुवाच। नापराध्यामि किंचित्। नावेक्षे
हवींषि नावलिह इति॥ ६॥ तच्छ्रुत्वा तस्य माता सरमा
पुत्रशोकार्ता तत्सत्रमुपागच्छद्यत्र स जनमेजयः सह भ्रातृ-
भिर्दीर्घसत्रमुपास्ते॥ ७॥ स तया क्रुद्धया तत्रोक्तः। अयं मे
पुत्रो न किंचिदपराध्यति। किमर्थमभिहत इति। यस्माच्चाय-
मभिहतोऽनपकारी तस्माददृष्टं त्वां भयमागमिष्यतीति॥८॥

उसकी माताने उत्तर दिया "स्पष्ट है कि तुमने वहां कोई अपराध किया होगा जिसके कारण उन्होंने तुमको मारा है।"॥ ५॥ कुत्तेने मातासे फिर कहा "नहीं, मैंने कोई अपराध नहीं किया। यज्ञका घृत भी नहीं चाटा और न उसकी तरफ देखा ही।"॥ ६॥ यह सुन कर पुत्रके दुःखसे दुःखी उसकी माता सरमा उस यज्ञस्थल पर गई, जहां जनमेजय अपने भाइयोंके साथ दीर्घयज्ञ कर रहे थे॥ ७॥ वहां जाकर क्रोधसे उसने जनमेजयसे कहा, "मेरे इस पुत्रने तुम्हारा कोई अपराध नहीं किया। फिर तुम लोगोंने उसको क्यों मारा? अतः चूंकि तुमने मेरे निर्दोषी पुत्रको मारा है, इसलिए तुमको अलक्षित भय आकर घेर लेगा।"॥ ८॥

स जनमेजय एवमुक्तो देवशुन्या सरमया दृढं संभ्रान्तो विषण्णश्चासीत् ॥ ९ ॥ स तस्मिन्सत्रे समाप्ते हास्तिनपुरं प्रत्येत्य पुरोहितमनुरूपमन्विच्छमानः परं यत्नमकरोद्यो मे पापकृत्यां शमयेदिति ॥ १० ॥ स कदाचिन्मृगयां यातः पारिक्षितो जनमेजयः कस्मिंश्चित्स्वविषयोद्देशे आश्रममपश्यत् ॥ ११ ॥ तत्र कश्चिदृषिरासांचक्रे श्रुतश्रवा नाम । तस्याभिमतः पुत्र आस्ते सोमश्रवा नाम ॥ १२ ॥

देवोंकी कुतिया सरमाके द्वारा इस प्रकारसे शाप देनेपर जनमेजय घबरा गया और बहुत दुःखी हुआ ॥ ९ ॥ उस यज्ञके समाप्त होनेपर महाराज जनमेजयने हस्तिनापुरमें आकर किसी ऐसे योग्य पुरोहितको ढूंढनेके लिये बडा प्रयत्न किया कि जो मेरे इस पापकर्मको शान्त कर सके ॥ १० ॥ एक दिन शिकार पर निकले हुए परीक्षितके पुत्र जनमेजयने अपने राज्य ही के किसी एक प्रदेशमें एक आश्रम देखा ॥ ११ ॥ उस आश्रममें श्रुतश्रवा नामक कोई ऋषि रहते थे । उनका सोमश्रवा नामक एक परम प्रिय पुत्र था ॥ १२ ॥

तस्य तं पुत्रमभिगम्य जनमेजयः पारिक्षितः पौरोहित्याय वव्रे ॥ १३ ॥ स नमस्कृत्य तमृषिमुवाच । भगवन्नयं तव पुत्रो मम पुरोहितोऽस्त्विति ॥ १४ ॥ स एवमुक्तः प्रत्युवाच । भो जनमेजय पुत्रोऽयं मम सर्प्यां जातः । महातपस्वी स्वाध्यायसंपन्नो मत्तपोवीर्यसंभृतो मच्छुक्रं पीतवत्यास्तस्याः कुक्षौ संवृद्धः । समर्थोऽयं भवतः सर्वाः पापकृत्याः शमयितुमन्तरेण महादेवकृत्याम् । अस्य त्वेकमुपांशुव्रतम् । यदेनं कश्चिद्ब्राह्मणः कंचिदर्थमभियाचेत्तं तस्मै दद्यादयम् । यद्येतदुत्सहसे ततो

परीक्षितके पुत्र जनमेजयने उस ऋषिपुत्रके पास जाकर पुरोहितके कर्मके लिए उसका वरण किया ॥ १३ ॥ और उसके पिताको प्रणाम कर बोला "हे भगवन्! आपका यह पुत्र मेरे पुरोहित होवे ।" ॥ १४ ॥ जनमेजयके ऐसी प्रार्थना करनेपर ऋषिवर बोले "हे जनमेजय! मेरा यह पुत्र एक सांपिन से उत्पन्न हुआ है। महातपस्वी, स्वाध्याय युक्त और मेरा तपोवीर्यसे युक्त यह पुत्र मेरे वीर्यको पी जानेवाली एक सांपिनके गर्भमें बढा है । यह महादेवके द्वारा प्रेरित पाप कृत्याको छोडकर तुम्हारे अन्य सब पापकृत्याओंको शान्त करनेमें समर्थ है । इसका एक गूढ नियम है । कि कोई ब्राह्मण इससे जो कुछ मांगेगा यह उसको वही दान दे देगा। यदि तुम इस बातका साहस कर सको तो मेरे इस

नयस्वैनामिति ॥१५॥ तेनैवमुक्तो जनमेजयस्तं प्रत्युवाच। भगवंस्तथा भविष्यतीति ।।१६॥

पुत्रको ले जाओ। " ॥ १५ ॥ ऋषिके ऐसा कहने पर जनमेजय उससे बोले " भगवन् ! आप जो कहते हैं, वही होगा। " ॥ १६ ॥

स तं पुरोहितमुपादायोपावृत्तो भ्रातॄनुवाच। मयायं वृत उपाध्यायः। यदयं ब्रूयात्तत्कार्यमविचारयद्भिरिति ॥ १७॥ तेनैवमुक्ता भ्रातरस्तस्य तथा चक्रुः। स तथा भ्रातॄन्संदिश्य तक्षशिलां प्रत्यभिप्रतस्थे। तं च देशं वशे स्थापयामास ॥१८॥ एतस्मिन्नन्तरे कश्चिदृषिर्धौम्यो नामायोदः। तस्य शिष्यास्त्रयो बभूवुरुपमन्युरारुणिर्वेदश्चेति ॥१९॥ स एकं शिष्यमारुणिं पाञ्चाल्यं प्रेषयामास। गच्छ केदारखण्डं बधानेति ॥ २० ॥

वह पुरोहितको साथमें लेकर राजधानीमें आकर भाइयोंसे बोला "इस ऋषिकुमारका मैंने पुरोहितके रूपमें वरण किया है। यह जो कुछ कहे, तुम उसे विना विचारे पूरा करो।' ॥१७॥ जनमेजयके भ्रातृगण इस प्रकार आदिष्ट होकर ऋषिकुमारकी आज्ञाका पालन करने लगे। महाराज जनमेजय भाइयोंको वैसी आज्ञा देकर तक्षशिला देशको जीतने चले गये और उस देशको उन्होंने अपने वशमें कर लिया ॥ १८ ॥ इसी बीच उस समय लोहेके दांतवाले धौम्य नामक एक ऋषि रहते थे। उनके उपमन्यु, आरुणि और वेद नामके तीन शिष्य थे ॥ १९ ॥ ऋषिने एक बार पांचालदेशीय शिष्य आरुणिको (यह आज्ञा देकर) भेजा कि " तुम खेतमें जाकर क्यारियोंके बांध बांधो " ॥ २० ॥

स उपाध्यायेन संदिष्ट आरुणिः पाञ्चाल्यस्तत्र गत्वा तत्केदारखण्डं बद्धुं नाशक्नोत् ॥ २१ ॥ स क्लिश्यमानोऽपश्यदुपायम्। भवत्वेवं करिष्यामीति ॥ २२ ॥ स तत्र संविवेश केदारखण्डे। शयाने तस्मिंस्तदुदकं तस्थौ ॥ २३ ॥ ततः कदाचिदुपाध्याय आयोदो धौम्यः शिष्यानपृच्छत्। क्व आरुणिः पाञ्चाल्यो गत इति ॥ २४ ॥

पाञ्चालदेशीय आरुणि गुरुसे आदिष्ट होकरके वहां जाकर (बडे बडे कष्ट उठाने पर भी) बांधको बांध नहीं सका, ॥ २१ ॥ बहुत परिश्रम करनेके बाद उसने एक उपाय देखा और बोला कि– " ठीक है अब ऐसा ही करूंगा। " ॥ २२ ॥ और यह कहकर वह वहीं एक क्यारीमें लेट गया। उसके लेट जानेपर वह जल भी रुक गया ॥ २३ ॥ इसके बाद एकदिन उपाध्याय अयोदधौम्यने शिष्योंसे पूछा " पाञ्चालदेशीय आरुणि कहां गया है ? " ॥ २४ ॥

ते प्रत्यूचुः। भगवतैव प्रेषितो गच्छ केदारखण्डं बधानेति ॥ २५ ॥ स एवमुक्तस्ताञ्शिष्यान्प्रत्युवाच। तस्मात्सर्वे तत्र गच्छामो यत्र स इति ॥ २६ ॥ स तत्र गत्वा तस्याह्वानाय शब्दं चकार। भो आरुणे पाञ्चाल्य क्वासि। वत्सैहीति ॥२७॥ स तच्छ्रुत्वा आरुणिरुपाध्यायवाक्यं तस्मात्केदारखण्डात्सहसोत्थाय तमुपाध्यायमुपतस्थे। प्रोवाच चैनम्। अयमस्म्यत्र केदारखण्डे निःसरमाणमुदकमवारणीयं संरोद्धुं संविष्टो भगवच्छब्दं श्रुत्वैव सहसा विदार्य केदारखण्डं भवन्तमुपस्थितः। तदभिवादये भगवन्तम्। आज्ञापयतु भवान्। किं करवाणीति ॥ २८ ॥

शिष्योंने उत्तर दिया, भगवन्! आपहीने उसको यह कहकर भेजा है कि— "जाओ खेतका बांध बांध दो।" ॥ २५ ॥ इस प्रकार कहे जाने पर धौम्यने शिष्योंसे कहा, "चलो, जहां आरुणि गया है, हम सब वहीं चलें।" ॥२६॥ वह बांधके पास पहुंचकर चिल्लाकरके पुकारने लगे "पांचाल्य आरुणे! कहां हो? हे पुत्र! चले आओ।" ॥ २७ ॥ आरुणि उपाध्यायकी आवाज सुनकर उस बांधसे एकाएक उठकर उनके निकट उपस्थित हुआ और उनसे बोला "भगवन्! मैं यहां हूं; आपके खेतमेंसे निकलनेवाले तथा न रुकनेवाले जलको रोकनेके लिए वहीं पर लेटे हुए मैंने आपका शब्द सुना, इसीसे एकाएक खेतको तोड कर आपके पास आ पहुंचा हूं। आपको प्रणाम करता हूं। आप आज्ञा दीजिये। इस समय कौनसा कार्य करूं।" ॥ २८ ॥

तमुपाध्यायोऽब्रवीत्। यस्माद्भवान्केदारखण्डमवदार्योत्थितस्तस्माद्भवानुद्दालक एव नाम्ना भविष्यतीति ॥२९॥ स उपाध्यायेनानुगृहीतः। यस्मात्त्वया मद्वचोऽनुष्ठितं तस्माच्छ्रेयोऽवाप्स्यसीति। सर्वे च ते वेदाः प्रतिभास्यन्ति सर्वाणि च धर्म-

(आरुणिकी बात पूरी होने पर) उपाध्यायने उससे कहा, "बेटा। चूंकि तुम बांधको विना तोडे ही निकलकर आये हो, सो तुम उद्दालक नामसे प्रसिद्ध होगे।" ॥ २९ ॥ उस पर उपाध्यायने कृपा की। "क्योंकि तुमने मेरी आज्ञाका पालन किया है, सो तुम कल्याणको प्राप्त करोगे और सम्पूर्ण वेद और धर्मशास्त्र तुम्हारे मनमें प्रकाशित रहेंगे" ॥ ३० ॥

शास्त्राणीति ॥ ३० ॥ स एवमुक्त उपाध्यायेनेष्टं देशं जगाम ॥ ३१ ॥ अथापरः शिष्यस्तस्यैवायोदस्य धौम्यस्योपमन्युर्नाम ॥ ३२ ॥

आगे आरुणि उपाध्यायकी आज्ञासे अपने इष्ट देशको पधारा ॥ ३१ ॥ उसी अयोदधौम्यके दूसरे शिष्यका नाम उपमन्यु था ॥ ३२ ॥

तमुपाध्यायः प्रेषयामास । वत्सोपमन्यो गा रक्षस्वेति ॥३३॥ स उपाध्यायवचनादरक्षद्गाः । स चाहनि गा रक्षित्वा दिवसक्षयेऽभ्यागम्योपाध्यायस्याग्रतः स्थित्वा नमश्चक्रे ॥ ३४ ॥ तमुपाध्यायः पीवानमपश्यत् । उवाच चैनम् । वत्सोपमन्यो केन वृत्तिं कल्पयसि । पीवानसि दृढमिति ॥ ३५ ॥ स उपाध्यायं प्रत्युवाच । भैक्षेण वृत्तिं कल्पयामीति ॥ ३६ ॥

उपाध्यायने उसको भेजा "बेटा ! तुम गोरक्षा करो" ॥ ३३ ॥ उपमन्यु उपाध्यायकी आज्ञानुसार गोरक्षा करने लगा । दिनभर गायकी रक्षा करके संध्याको वापस आता और गुरुके सामने आकर नमन किया करता था ॥ ३४ ॥ एक दिन उपाध्यायने उसको पुष्ट देखा और इससे बोले, "बेटा उपमन्यो! तुम किससे अपनी जीविका चलाते हो । तुमको बहुत पुष्ट देखता हूं" ॥ ३५ ॥ उपमन्यु उपाध्यायसे बोला, "मैं भिक्षासे अपनी जीविकाका निर्वाह कर लेता हूं ।" ॥ ३६ ॥

तमुपाध्यायः प्रत्युवाच । ममानिवेद्य भैक्षं नोपयोक्तव्यमिति ॥ ३७ ॥ स तथेत्युक्त्वा पुनररक्षद्गाः । रक्षित्वा चागम्य तथैवोपाध्यायस्याग्रतः स्थित्वा नमश्चक्रे ॥ ३८ ॥ तमुपाध्यायस्तथापि पीवानमेव दृष्ट्वोवाच । वत्सोपमन्यो सर्वमशेषतस्ते भैक्षं गृह्णामि । केनेदानीं वृत्तिं कल्पयसीति ॥ ३९ ॥ स एवमुक्त उपाध्यायेन प्रत्युवाच । भगवते निवेद्य पूर्वमपरं चरामि । तेन वृत्तिं कल्पयामीति ॥ ४० ॥

उपाध्याय बोले कि, "मेरी आज्ञाके विना भिक्षाके अन्नका भोजन नहीं करना चाहिए ।" ॥ ३७ ॥ "ऐसा ही होगा" कहकर वह फिर गौ की रक्षा करने लगा । इस प्रकार गोरक्षा कर उपाध्यायके समक्ष जाकर उन्हें नमस्कार किया करता था ॥ ३८ ॥ उस पर भी उसको पुष्ट देखकर उपाध्याय बोले, "बेटा उपमन्यो ! तुम्हारा सब भिक्षान्न तो मैं ले लेता हूं । अब तुम किस प्रकारसे भोजन कार्यका निर्वाह करते हो ?" ॥ ३९ ॥ उपाध्यायसे इस प्रकार पूछे जाने पर उपमन्यु बोला, "पहिली बारकी भिक्षा आपको दे कर मैं फिर दूसरी बार भिक्षा मांगता हूं । उसीसे मेरी जीविकाका निर्वाह होता है ।" ॥४०॥

तमुपाध्यायः प्रत्युवाच । नैषा न्याय्या गुरुवृत्तिः । अन्येषामपि वृत्त्युपरोधं करोष्येवं वर्तमानः । लुब्धोऽसीति ॥ ४१ ॥ स तथेत्युक्त्वा गा अरक्षत् । रक्षित्वा च पुनरुपाध्यायगृहमागम्योपाध्यायस्याग्रतः स्थित्वा नमश्चक्रे ॥ ४२ ॥ तमुपाध्यायस्तथापि पीवानमेव दृष्ट्वा पुनरुवाच । अहं ते सर्वं भैक्षं गृह्णामि न चान्यच्चरसि । पीवानसि । केन वृत्तिं कल्पयसीति ॥ ४३ ॥ स उपाध्यायं प्रत्युवाच । भो एतासां गवां पयसा वृत्तिं कल्पयामीति ॥ ४४ ॥

उपाध्याय उससे बोले, " ऐसा करना गुरुकुलमें रहनेवालेको उचित नहीं है। ऐसा करते हुए तुम दूसरे भिक्षार्थियोंकी वृत्तिको मार देते हो। तुम लोभी हो ॥ ४१ ॥ उपमन्यु यंह कह कर कि " फिर ऐसा न करूंगा " पूर्ववत् गोरक्षा करने लगा । गो–रक्षा करके गुरुके घरमें आकर पूर्ववत् गुरुके सामने खडा होकर नमस्कार किया करता था ॥ ४२ ॥ उपाध्यायने उस पर भी उसको पूर्ववत् पुष्ट देखकर फिर पूछा । " बेटा उपमन्यो ! तुम्हारी सब भिक्षा तो मैं ले लेता हूं, फिर दूसरी बार तुम भिक्षा भी नहीं मांगते हो । उस पर भी तुमको बहुत पुष्ट देखता हूं । इन दिनों तुम क्या खाते हो ? " ॥ ४३ ॥ उपमन्यु उपाध्यायसे बोला " इन गौओंका दूध पीकर जीवननिर्वाह करता हूं ॥ ४४ ॥

तमुपाध्यायः प्रत्युवाच । नैतन्न्याय्यं पय उपयोक्तुं भवतो मयाननुज्ञातमिति ॥ ४५ ॥ स तथेति प्रतिज्ञाय गा रक्षित्वा पुनरुपाध्यायगृहानेत्य गुरोरग्रतः स्थित्वा नमश्चक्रे ॥ ४६ ॥ तमुपाध्यायः पीवानमेवापश्यत् । उवाच चैनम् । भैक्षं नाश्नासि न चान्यच्चरसि । पयो न पिबसि । पीवानसि । केन वृत्तिं कल्पयसीति ॥ ४७ ॥ स एवमुक्त उपाध्यायं प्रत्युवाच । भोः फेनं पिबामि यमिमे वत्सा मातॄणां स्तनं पिबन्त उद्गिरन्तीति ॥ ४८ ॥

उपाध्याय उससे बोले, " मेरी आज्ञाके बिना तुम्हारा दूध पीना उचित नहीं है " ॥ ४५ ॥ उपमन्यु तथास्तु कहकर प्रतिज्ञापूर्वक गोरक्षा करके फिर गुरुके घरमें आकर पूर्ववत् नमस्कार कर खडा हुआ ॥ ४६ ॥ उपाध्यायने उसको पूर्ववत् पुष्ट देखा और इससे कहा, " भिक्षान्नका भोजन नहीं करते, दूसरी बार भिक्षा भी नहीं मांगते । दूध भी नहीं पीते, तो भी पुष्ट हो, अब किस प्रकारसे भूख मिटाते हो ? " ॥ ४७ ॥ उपाध्यायके ऐसा कहनेपर उपमन्यु उपाध्यायसे बोला, " बछडे अपनी अपनी माताओंके स्तन पीते हुए जो फेन (झाग) गिराते हैं, मैं उसीको पीकर प्राण बचाता हूं " ॥ ४८ ॥

तमुपाध्यायः प्रत्युवाच। एते त्वदनुकम्पया गुणवन्तो वत्साः प्रभूततरं फेनमुद्गिरन्ति। तदेवमपि वत्सानां वृत्त्युपरोधं करोष्येवं वर्तमानः। फेनमपि भवान्न पातुमर्हतीति॥४९॥ स तथेति प्रतिज्ञाय निराहारस्ता गा अरक्षत्। तथा प्रतिषिद्धो भैक्षं नाश्नाति न चान्यच्चरति। पयो न पिबति। फेनं नोपयुंक्ते ॥५०॥ स कदाचिदरण्ये क्षुधार्तोऽर्कपत्राण्यभक्षयत् ॥५१॥ स तैरर्कपत्रैर्भक्षितैः क्षारकटूष्णविपाकिभिश्चक्षुष्युपहतोऽन्धोऽभवत्। सोऽन्धोऽपि चङ्क्रम्यमाणः कूपेऽपतत् ॥५२॥

सुनकर उपाध्याय उससे बोले, "यह सब गुणवान् बछडे तुमपर दया करके बहुत अधिक फेन गिराते हैं। इस प्रकार तुम उसी फेनको पीकर बछडोंकी वृत्तिका लोप करते हो। सो फेन पीना भी तुम्हारे लिए अनुचित है ॥४९॥ उपमन्यु तथास्तु कह कर अंगीकार करके निराहार होकर गोरक्षा करने लगा। पर गुरुके मना करनेके कारण उसने न तो भिक्षान्न खाया, न दूसरी बार भिक्षा मांगी, न दूध पिया और न उगला हुआ फेन ही पिया ॥५०॥ अतः एक दिन वनमें भूखसे अति कातर होकर उसने मदार (आक—अकौव्वा) का पत्ता खा लिया ॥ ५१ ॥ खारे, कडुए तथा उष्णता पैदा करनेवाले उन पत्तोंको खानेके कारण वह अपनी आंखोंको खोकर अन्धा हो गया। वह अन्धा होकर भी वनमें घूमता हुआ एक कुंएमें गिर पडा ॥ ५२ ॥

अथ तस्मिन्ननागच्छत्युपाध्यायः शिष्यानवोचत्। मयोपमन्युः सर्वतः प्रतिषिद्धः। स नियतं कुपितः। ततो नागच्छति चिरगतश्चेति ॥५३॥ स एवमुक्त्वा गत्वारण्यमुपमन्योराह्वानं चक्रे। भो उपमन्यो क्वासि। वत्सैहीति ॥५४॥ स तदाह्वानमुपाध्यायाच्छ्रुत्वा प्रत्युवाचोच्चैः। अयमस्मि भो उपाध्याय कूपे पतित इति ॥५५॥ तमुपाध्यायः प्रत्युवाच। कथमसि कूपे पतित इति ॥५६॥

इसके बाद उपमन्युके न लौटने पर उपाध्याय शिष्योंसे बोले— "मैंने उसको सब प्रकारके भोजन करनेसे मना कर दिया था। इससे वह निःसंदेह क्रोधित हो गया होगा। अतः बहुत देरसे गया हुआ वह अब तक लौटकर नहीं आया ॥५३॥ यह कहकर शिष्योंके संग वनमें जाकर उपमन्युको पुकारने लगे, "हे उपमन्यो! कहां हो? हे पुत्र! आओ ॥५४॥ उपमन्यु गुरुकी पुकार सुनकर जोरसे चिल्लाकर बोला, "हे उपाध्याय! मैं इस कूपमें पडा हुआ हूं।" ॥ ५५ ॥ उपाध्यायने पूछा, "तुम कूपमें कैसे जा गिरे?" ॥ ५६ ॥

स तं प्रत्युवाच। अर्कपत्राणि भक्षयित्वान्धीभूतोऽस्मि । अतः कूपे पतित इति ॥ ५७ ॥ तमुपाध्यायः प्रत्युवाच । अश्विनौ स्तुहि । तौ त्वां चक्षुष्मन्तं करिष्यतो देवभिषजाविति ॥ ५८ ॥ स एवमुक्त उपाध्यायेन स्तोतुं प्रचक्रमे देवावश्विनौ वाग्भिर्ऋग्भिः ॥ ५९ ॥

उपमन्यु उससे बोला– "मदार (आक) का पत्ता खाकर मैं अंधा हो गया हूं, अतः कूपमें गिर गया" ॥ ५७ ॥ उपाध्याय उससे बोले— "दोनों अश्विनीकुमारोंकी स्तुति करो। वे देवताओंके चिकित्सक तुम्हें आंखोंवाला बना देंगे ॥ ५८ ॥ उपाध्यायकी ऐसी आज्ञा पाकर उपमन्यु ऋग्वेद–विहित वाक्योंसे दोनों अश्विनीकुमारोंका स्तवन करने लगा ॥५९॥

प्रपूर्वगौ पूर्वजौ चित्रभानू गिरा वा शंसामि तपनावनन्तौ ।
दिव्यौ सुपर्णौ विरजौ विमानावधिक्षियन्तौ भुवनानि विश्वा ॥ ६० ॥

हे अश्विनी देवो! तुम सृष्टिके पूर्व भी विद्यमान थे, तुम (हिरण्यगर्भके रूपमें) सबसे पहले उत्पन्न हुए । तुम अनेक तरहके प्रपंचकी सहायतासे सर्वत्र प्रकाशित होते हो । तुम दोनों अत्यन्त तेजस्वी हो, तुम्हारे अन्तको कोई नहीं पा सकता अर्थात् तुम अनन्त हो । मैं वाणीसे तुम दोनोंकी स्तुति करता हूं । तुम दो विराट्रूपी वृक्षके अलौकिक और उत्तम पंखोंसे युक्त पक्षी हो । आपको रजोगुण छू भी नहीं सकता (अर्थात् सदा सत्वगुणमें ही रहते हो), आपके स्वरूपको कोई माप नहीं सकता । इन सब भुवनोंके ऊपर आपका शासन चल रहा है ॥ ६० ॥

हिरण्मयौ शकुनी सांपरायौ नासत्यदस्रौ सुनसौ वैजयन्तौ ।
शुक्रं वयन्तौ तरसा सुवेमावभि व्ययन्तावसितं विवस्वत् ॥ ६१ ॥

आप सुन्दर और आसक्तिरहित हिरण्मयपक्षी हैं, आप ही इस जगत्के संहारके कारण हैं । असत्य और नश्वरसे आप दोनों परे हैं। आप दोनों सुन्दर आकृतिवाले, सुन्दर नाकवाले और काल पर भी विजय प्राप्त करनेवाले हैं । आप दोनों स्वयं सूर्यरूप धारण करके दिन और रातरूपी सफेद और काले धागोंके तानों बानोंसे संवत्सररूपी कपडा इस जगत्रूपी खड्डी पर बडे वेगसे बुन रहे हैं ॥ ६१ ॥

ग्रस्तां सुपर्णस्य बलेन वर्तिकाममुञ्चतामश्विनौ सौभगाय ।
तावत्सुवृत्तावनमन्त मायया सत्तमा गा अरुणा उदावहन् ॥ ६२ ॥

जीवरूपी बटेर पक्षीके सुपर्णरूपी परमात्माकी कालशक्तिसे ग्रसित होने पर उसको महत् सौभाग्यके लिए तुमने उसे छुडाया। मायामें आसक्त; रागादिविषयोंसे जकडे हुए बडे मूर्ख जनोंको तथा इन्द्रियोंके अधीन फंसे रहनेवालेको भी शरीरसे काम करनेकी अनुमति देते हो ॥ ६२ ॥

*

षष्टिश्च गावस्त्रिशताश्च धेनव एकं वत्सं सुवते तं दुहन्ति।
नानागोष्ठा विहिता एकदोहनास्तावश्विनौ दुहतो घर्ममुक्थ्यम् ॥ ६३ ॥

दिन और रातरूपी तीन सौ साठ गायें संवत्सररूपी एक बछडेको उत्पन्न करती हैं, परम-तत्त्वको जाननेकी अभिलाषा रखनेवाले विद्वान् इस बछडेकी सहायतासे अनेक फल देने-वाले तत्त्वशोधनरूपी दूधको दुहते हैं। इन गायोंके रहनेके स्थान—गोष्ठ यद्यपि भिन्न भिन्न हैं, तथापि इनको दुहनेका साधनरूप बछडा एक ही है। उससे हे अश्विनौ! तुम दोनों उक्थ्य घर्म अर्थात् प्रशंसनीय सारतत्त्व दुहते हो ॥ ६३ ॥

एकां नाभिं सप्तशता अराः श्रिताः प्रधिष्वन्या विंशतिरर्पिना अराः।
अनेमि चक्रं परिवर्ततेऽजरं मायाश्विनौ समनक्ति चर्षणी ॥ ६४ ॥

कालरूपी चक्रमें संवत्सर बीचकी नाभि अर्थात् केन्द्र स्थान है। इस नाभिमें दिन रातरूपी सातसौ बीस डण्डे लगे हुए हैं। बारह महिने इन डण्डोंके प्रधि अर्थात् बाहरकी लकडियां हैं। पर यह चक्र नेमि अर्थात् गतिरहित होते हुए भी अपने स्थान पर ही घूमता रहता है। तथापि कभी न टूटनेवाला तथा हमेशा घूमते रहनेवाला मायारूपी यह अक्षय काल-चक्र हे अश्विनी देवो! तुम्हारे द्वारा चलाया जाकर इस लोक और परलोक दोनों लोकों-को व्यापता है अर्थात् इस कालचक्रसे अप्रभावित कोई भी लोक नहीं है ॥ ६४ ॥

एकं चक्रं वर्तते द्वादशारं प्रधिषण्णाभिमेकाक्षममृतस्य धारणम्।
यस्मिन्देवा अधि विश्वे विषक्तास्तावश्विनौ मुञ्चन मा विषीदतम् ॥ ६५ ॥

(मेषादि राशिरूपी) बारह आरे (ऋतुरूपी) छः धुरे (वर्षरूपी) एक अक्षवाला तथा अमृतको धारण करनेवाला एक चक्र है, देवगण भी जिसमें स्थित हैं, तुम दुःखी मुझे उस कालचक्रसे मुक्त करो ॥ ६५ ॥

अश्विनाविन्द्रममृतं वृत्तभूयौ तिरोधत्तामश्विनौ दासपत्नी।
भित्त्वा गिरिमश्विनौ गामुदाचरन्तौ तद्वृष्टमह्ना प्रथिना वलस्य ॥ ६६ ॥

हे अश्विनौ! तुम सदाचारी हो, तुम अपने यशसे इन्द्र, अमृत और जलोंको भी तिरस्कृत करते हो, पर्वतको फोडकर तुम सानन्द पृथ्वी पर घूमते हो तथा आनन्द और बलकी वर्षा करते हो ॥ ६६ ॥

युवां दिशो जनयथो दशाग्रे समानं मूर्ध्नि रथया वियन्ति।
तासां यातमृषयोऽनुप्रयान्ति देवा मनुष्याः क्षितिमाचरन्ति ॥ ६७ ॥

हे अश्विनौ! सृष्टिके आरंभमें सर्वप्रथम दसों दिशायें तुम्हींने निर्माण कीं। इसके बाद रथसे जानेवाले तथा सबके लिए समान रूपसे दीखनेवाले सूर्य व उसके घूमनेके लिए अनेक मार्गों अर्थात् आकाशोंको बनाया। सूर्यकी गतिको ध्यानमें रखकर ऋषिगण यथोचित काम करते हैं, उसी प्रकार देव तथा मनुष्य अपने अपने अधिकारके अनुसार पृथ्वी अर्थात् सुखोंका उपभोग करते हैं ॥ ६७ ॥

युवां वर्णान्विकुरुथो विश्वरूपांस्तेऽधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ।
ते भानवोऽप्यनुसृताश्चरन्ति देवा मनुष्याः क्षितिमाचरन्ति ॥ ६८ ॥

तुमने नाना प्रकारके रूप व वर्णवाले पदार्थ उपजाये हैं और उन्हींमें सारे भुवन रहते हैं ! वे तेजस्वी पदार्थ आपके पीछे पीछे चलते हैं और देवता, मनुष्य अपने अधिकारानुसार इस पृथ्वी अर्थात् सुखको भोगते हैं ॥ ६८ ॥

तौ नासत्यावश्विनावामहे वां स्रजं च यां बिभृथः पुष्करस्य ।
तौ नासत्यावमृतावृतावृधावृते देवास्तत्प्रपदेन सूते ॥ ६९ ॥

हे नासत्यके नामसे प्रसिद्ध दोनों अश्विनीकुमार ! मैं तुम्हारी तथा तुम जो आकाशरूप ब्रह्मसे उत्पन्न ब्रह्माण्डकी माला धारण करते हो, उसकी भी पूजा करता हूं । आप अमर हैं और अमृत तथा सत्यकी वृद्धि करनेवाले हैं, आपकी कृपाके बिना देव भी विषयोंका उपभोग नहीं कर सकते ॥ ६९ ॥

मुखेन गर्भं लभतां युवानौ गतासुरेतत्प्रपदेन सूते ।
सद्यो जातो मातरमत्ति गर्भस्तावश्विनौ मुंचथो जीवसे गाः ॥ ७० ॥

सर्व प्रथम युवा स्त्री और पुरुष मुखके द्वारा अन्नके रूपमें गर्भको प्राप्त करते हैं (अन्न खानेसे वह अन्न ही स्त्रीमें रजके रूपमें और पुरुषमें वीर्यके रूपमें परिणित हो जाता है, और यह रज और वीर्य ही स्त्रीमें गर्भका कारण होता है। अतः युवा स्त्री पुरुष मानों अन्नके रूपमें गर्भको ही अपने अन्दर स्थापित करते हैं) गर्भाधानके बाद यह अचेतन देह या शरीर माताकी योनिसे प्रसूत होता है (शरीरमें चैतन्यता आत्माके कारण है, पर शरीर स्वयंमें अचेतन है) वह गर्भ प्रसूत होते ही माताको खाने लगता है अर्थात् दूध पीने लगता है (मातृत्व दूधका प्रतीक है, बिना माता बने स्त्रीके स्तनोंमें दूध नहीं उतरता, अतः यहां माताको खानेका अर्थ दूध पीना ही है), हे आश्विनौ ! गर्भस्थापन, गर्भप्रसूति, गर्भका दुग्धपान आदि सब कार्य आपकी कृपासे ही होता है, अतः जीवनके लिए आप मेरी चक्षु इन्द्रियको उत्तम कीजिए ॥ ७० ॥

एवं तेनाभिष्टुतावश्विनावाजग्मतुः। आहतुश्चैनम्। प्रीतौ स्वः ।
एष तेऽपूपः । अशानैनमिति ॥ ७१ ॥ स एवमुक्तः प्रत्युवाच ।
नानृतमूचतुर्भवन्तौ। न त्वहमेतमपूपमुपयोक्तुमुत्सहे अनि-

उपमन्युके इस प्रकार स्तवन करने पर दोनों अश्विनीकुमार (उस स्थानमें) आ गए। और इससे बोले— कि " हम तुम्हारे स्तवन सुनकर प्रसन्न हैं यह पुआ लो और खाओ " ॥७१॥ अश्विनीकुमारों द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर उपमन्यु बोला, " तुम कभी मिथ्या नहीं

वेद्य गुरव इति ॥७२॥ ततस्तमश्विनावूचतुः। आवाभ्यां पुरस्ता-
द्भवत उपाध्यायेनैवमेवाभिष्टुताभ्यामपूपः प्रीताभ्यां दत्तः।
उपयुक्तश्च स तेनानिवेद्य गुरवे। त्वमपि तथैव कुरुष्व यथा
कृतमुपाध्यायेनेति ॥ ७३ ॥ स एवमुक्तः पुनरेव प्रत्युवाचैतौ।
प्रत्यनुनये भवन्तावश्विनौ। नोत्सहेऽहमनिवेद्योपाध्यायायो-
पयोक्तुमिति ॥ ७४ ॥

बोलते, पर मैं गुरुको विना समर्पित किये यह पुआ नहीं खा सकता" ॥ ७२ ॥ तब अश्विनीकुमारोंने उससे कहा, "पहिले तुम्हारे उपाध्यायने हमारा स्तवन किया था। हमारे प्रसन्न होकर ऐसा पुआ देनेपर उन्होंने गुरुको विना समर्पित किये ही खा लिया था। अतः तुम्हारे उपाध्यायने जैसा किया था, तुम भी वैसा ही करो" ॥ ७३ ॥ यह सुनकर उपमन्युने उत्तर दिया— "हे अश्विनीकुमारो! फिर मैं तुमसे विनय करके कहता हूं, कि मैं गुरुको विना समर्पित किये यह पुआ खा नहीं सकूंगा" ॥ ७४ ॥

तमश्विनावाहतुः। प्रीतौ स्वस्तवानया गुरुवृत्त्या। उपाध्यायस्य
ते कार्ष्णायसा दन्ताः। भवतो हिरण्मया भविष्यन्ति। चक्षु-
ष्मांश्च भविष्यसि। श्रेयश्चावाप्स्यसीति ॥ ७५ ॥ स एवमु-
क्तोऽश्विभ्यां लब्धचक्षुरुपाध्यायसकाशमागम्योपाध्यायम-
भिवाद्याचचक्षे। स चास्य प्रीतिमानभूत् ॥७६॥ आह चैनम्।
यथाश्विनावाहतुस्तथा त्वं श्रेयोऽवाप्स्यसीति। सर्वे च ते
वेदाः प्रतिभास्यन्तीति ॥७७॥ एषा तस्यापि परीक्षोप-
मन्योः ॥ ७८ ॥

दोनों अश्विनीकुमार उससे बोले, "तुम्हारी ऐसी अटल गुरुभक्ति देखकर हम बडे प्रसन्न हुए। तुम्हारे गुरुके काले लोहेके दांत हैं, पर तुम्हारे सोनेके दांत होंगे (अर्थात् तुझे तेरे गुरुकी अपेक्षा भी अधिक ज्ञान प्राप्त होगा। तेरे गुरु कर्ममार्गी हैं अतः उन्हें कर्मसे मिलने-वाले फलोंको भोगना ही पडेगा, पर तू ज्ञानमार्गी होनेके कारण सकामकर्मोंसे परे है, अतः कर्मोंके फल तेरा स्पर्श भी नहीं कर सकेंगे) तुम आंखोंवाले हो जाओगे और तुम मंगल प्राप्त करोगे" ॥ ७५ ॥ अश्विनीकुमारोंके इस प्रकार कहनेसे आंखोंको पाकर उपमन्युने उपाध्यायके सम्मुख आकर नमस्कार किया और प्रारंभसे अन्ततक सम्पूर्ण वृत्तांत कह सुनाया। उपाध्याय वह सुनकर प्रसन्न हुए॥ ७६ ॥ और इससे बोले— "अश्विनीकुमारोंने जैसा कहा है, उसी प्रकार तुमको मंगल प्राप्त होगा, सम्पूर्ण वेद तुम पर प्रकाशित होंगे" ॥ ७७ ॥ गुरुभक्त उपमन्युकी यह परीक्षा हुई ॥ ७८ ॥

अथापरः शिष्यस्तस्यैवायोदस्य धौम्यस्य वेदो नाम ॥ ७९ ॥ तमुपाध्यायः संदिदेश। वत्स वेद इहास्यताम्। भवता मद्गृहे कंचित्कालं शुश्रूषमाणेन भवितव्यम्। श्रेयस्ते भविष्यतीति ॥ ८० ॥ स तथेत्युक्त्वा गुरुकुले दीर्घकालं गुरुशुश्रूषणपरोऽवसत्। गौरिव नित्यं गुरुषु धूर्षु नियुज्यमानः शीतोष्णक्षुत्तृष्णादुःखसहः सर्वत्राप्रतिकूलः ॥ ८१ ॥ तस्य महता कालेन गुरुः परितोषं जगाम। तत्परितोषाच्च श्रेयः सर्वज्ञतां चावाप। एषा तस्यापि परीक्षा वेदस्य ॥ ८२ ॥

उसी अयोद धौम्यके तीसरे शिष्यका नाम वेद था ॥ ७९ ॥ उपाध्यायने उसको आज्ञा दी, "वत्स वेद ! तुम यहीं रहो। तुम कुछ दिन मेरे घरमें रहकर गुरु-सेवा करो। तुम्हारा मंगल होगा" ॥ ८० ॥ वेद तथास्तु कहकर बहुकालतक गुरुकुलमें रहकर गुरु-सेवा करने लगा। बैलके समान नित्य नाना तरहके कठिन कठिन कार्यरूपी जुएमें जुत कर भी अर्थात् भार सहकर भी, शीत, ग्रीष्म, क्षुधा, प्यास आदि सब दुःख सह कर और किसी बातमें प्रतिकूल न होकर उसने बहुत कालतक गुरुसेवा की ॥ ८१ ॥ बहुत कालके पश्चात् उपाध्याय प्रसन्न हुए, उसके प्रसन्न होनेपर वेदने कल्याण और सर्वज्ञता प्राप्त की। इस प्रकार उस वेदकी भी परीक्षा हुई ॥ ८२ ॥

स उपाध्यायेनानुज्ञातः समावृत्तस्तस्माद्गुरुकुलवासाद्गृहाश्रमं प्रत्यपद्यत। तस्यापि स्वगृहे वसतस्त्रयः शिष्या बभूवुः ॥ ८३ ॥ स शिष्यान्न किंचिदुवाच। कर्म वा क्रियतां गुरुशुश्रूषा वेति। दुःखाभिज्ञो हि गुरुकुलवासस्य शिष्यान्परिक्लेशेन योजयितुं नेयेष ॥ ८४ ॥ अथ कस्यचित्कालस्य वेदं ब्राह्मणं जनमेजयः पौष्यश्च क्षत्रियावुपेत्योपाध्यायं

इस प्रकार उपाध्यायसे आज्ञा पाकर समावर्तनके बाद उस गुरुकुलसे लौटकर वेदने गृहस्थाश्रममें प्रवेश किया। उस वेदके गृहस्थाश्रममें रहते हुए उसके भी तीन शिष्य थे ॥ ८३ ॥ वह शिष्योंसे कुछ कहता नहीं था कि "कर्म करो वा गुरुसेवा करो"। क्योंकि वह गुरुकुलमें वसनेका दुःख जानता था, अतः वह अपने शिष्योंको कष्ट देना नहीं चाहता था ॥ ८४ ॥ एक समय जनमेजय और पौष्य इन दो क्षत्रियोंने आकर ब्राह्मण

वरयांचक्रतुः ॥८५॥ स कदाचिद्याज्यकार्येणाभिप्रस्थित उत्तङ्कं नाम शिष्यं नियोजयामास। भो उत्तङ्क यत्किंचिदस्मद्‍गृहे परिहीयते तदिच्छाम्यहमपरिहीणं भवता क्रियमाणमिति ॥ ८६ ॥

वेदका उपाध्यायके पदके लिए वरण किया ॥ ८५ ॥ एक दिन वेदने याजन कार्यके लिए जानेके समय उत्तङ्क नामक शिष्यको आज्ञा दी, " हे उत्तङ्क ! मैं चाहता हूं, कि मेरी अनुपस्थितिमें गृहमें जो अभाव हो, तुम उनको पूरा करो ॥ ८६ ॥

स एवं प्रतिसमादिश्योत्तङ्कं वेदः प्रवासं जगाम ॥ ८७ ॥ अथोत्तङ्को गुरुशुश्रूषुर्गुरुनियोगमनुतिष्ठमानस्तत्र गुरुकुले वसति स्म ॥ ८८ ॥ स वसंस्तत्रोपाध्यायस्त्रीभिः सहिताभिराहूयोक्तः। उपाध्यायिनी ते ऋतुमती। उपाध्यायश्च प्रोषितः। अस्या यथायमृतुर्वन्ध्यो न भवति तथा क्रियताम्। एतद्विषीदतीति ॥ ८९ ॥ स एवमुक्तस्ताः स्त्रियः प्रत्युवाच। न मया स्त्रीणां वचनादिदमकार्यं कार्यम्। न ह्यहमुपाध्यायेन संदिष्टः। अकार्यमपि त्वया कार्यमिति ॥ ९० ॥

उत्तङ्कको यह आज्ञा देकर वेद प्रवास पर चले गये ॥ ८७ ॥ गुरुसेवामें प्रवीण उत्तङ्क गुरुकी आज्ञाका पालन करते हुए गुरुकुलमें रहने लगा ॥८८॥ उसके वहां रहते हुए एक दिन उपाध्यायके घरकी स्त्रियां एकत्र होकर उत्तङ्कको बुलाकर बोलीं— " उत्तङ्क ! तुम्हारे उपाध्यायकी स्त्री ऋतुमती हुई है। तुम्हारे उपाध्याय भी परदेश चले गये हैं। अतः जिससे उनकी ऋतु खाली न जाय, वैसा कार्य तुम करो। क्योंकि वह बडी उदास हुई हैं " ॥ ८९ ॥ उत्तङ्क यह सुनकर उन स्त्रियोंसे बोला, मैं स्त्रियोंकी बात सुनकर ऐसा कुकर्म नहीं कर सकूंगा " तुम (मेरी अनुपस्थितिमें) न करने योग्य कार्यको भी करना " ऐसी आज्ञा उपाध्याय मुझे नहीं दे गए हैं ॥ ९० ॥

तस्य पुनरुपाध्यायः कालान्तरेण गृहानुपजगाम तस्मात्प्रवासात्। स तद्‍वृत्तं तस्याशेषमुपलभ्य प्रीतिमानभूत् ॥९१॥ उवाच चैनम्। वत्सोत्तङ्क किं ते प्रियं करवाणीति। धर्मतो हि शुश्रूषितोऽस्मि भवता। तेन प्रीतिः परस्परेण नौ संवृद्धा।

कुछ समयके बाद उसके उपाध्याय परदेशसे घर लौट आये। यह सब वृत्तान्त जान कर उत्तंक पर बहुत प्रसन्न हुए ॥ ९१ ॥ और इससे बोले, " बेटा उत्तंक ! तुम्हारा कौनसा प्रिय कार्य करूं ? तुमने धर्मानुसार मेरी सेवा की है। अतः परस्पर हम दोनोंमें प्रीति बढी है

तदनुजाने भवन्तम्। सर्वामेव सिद्धिं प्राप्स्यसि। गम्यतामिति ॥९२॥ स एवमुक्तः प्रत्युवाच। किं ते प्रियं करवाणीति। एवं ह्याहुः ॥ ९३ ॥

है। अब तुम्हें मैं अनुमति देता हूं। तुम्हारी संपूर्ण अभिलाषा पूर्ण होगी। तुम घर लौट जाओ" ॥ ९२ ॥ उपाध्यायके ऐसा कहने पर उत्तंक बोला, "मैं आपका कौनसा प्रिय कार्य करूं? कहा है" ॥ ९३ ॥

यश्चाधर्मेण विब्रूयाद्यश्चाधर्मेण पृच्छति ।
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं चाधिगच्छति ॥ ९४ ॥

जो अधर्मसे बोलता है और जो अधर्मपूर्वक पूछता है उन दोनोंमेंसे एक मर जाता है और द्वेषभावको प्राप्त होता ह ॥ ९४ ॥

सोऽहमनुज्ञातो भवता इच्छामीष्टं तं गुर्वर्थमुपहर्तुमिति ॥९५॥ तेनैवमुक्त उपाध्यायः प्रत्युवाच। वत्सोत्तङ्क उष्यतां तावदिति ॥९६॥ स कदाचित्तमुपाध्यायमाहोत्तंकः। आज्ञापयतु भवान्। किं ते प्रियमुपहरामि गुर्वर्थमिति ॥ ९७ ॥ तमुपाध्यायः प्रत्युवाच। वत्सोत्तंक बहुशो मां चोदयसि गुर्वर्थमुपहरेयमिति। तद्गच्छ। एनां प्रविश्योपाध्यायिनीं पृच्छ किमुपहरामीति। एषा यद्ब्रवीति तदुपहरस्वेति ॥ ९८ ॥

अतः आपकी आज्ञा पाकर मैं आपके इच्छित पदार्थको लानेकी इच्छा करता हूं ॥ ९५ ॥ उसके इस प्रकार कहने पर उपाध्याय बोले, "वत्स उत्तङ्क! तब तुम और कुछ दिन मेरे घर रहो" ॥ ९६ ॥ कुछ दिनोंके पश्चात् उत्तङ्क उपाध्यायसे बोला— "आप आज्ञा कीजिये। मैं आपकी गुरुदक्षिणाके लिए कौनसी प्रिय चीज लाऊं" ॥ ९७ ॥ उपाध्याय उत्तङ्कसे बोले, "वत्स उत्तङ्क! तुम बार बार मुझे कह रहे हो गुरुदक्षिणा दूंगा। सो तुम जाओ। गृहके भीतर जाकर उपाध्यायनीसे पूछो, कि गुरुदक्षिणाके निमित्त क्या लाऊं? वह जो कहें वही ले आओ" ॥ ९८ ॥

स एवमुक्त उपाध्यायेनोपाध्यायिनीमपृच्छत्। भवत्युपाध्यायेनास्म्यनुज्ञातो गृहं गन्तुम्। तदिच्छामीष्टं ते गुर्वर्थमुपहृत्यानृणो गन्तुम्। तदाज्ञापयतु भवती। किमुपहरामि गुर्वर्थमिति ॥ ९९ ॥ सैवमुक्तोपाध्यायिन्युत्तङ्कं प्रत्युवाच।

उपाध्यायके ऐसा कहने पर उत्तंकने उपाध्यायनीसे पूछा— "भवति! उपाध्यायने मुझे घर जानेकी आज्ञा दी है। पर मैं आपकी इच्छित गुरुदक्षिणा लाकर गुरुऋणसे मुक्त होकर घर जाना चाहता हूं। अतः आप आज्ञा कीजिये, कि गुरुदक्षिणाके निमित्त क्या

गच्छ पौष्यं राजानम्। भिक्षस्व तस्य क्षत्रियया पिनद्धे कुण्डले। ते आनयस्व। इतश्चतुर्थेऽहनि पुण्यकं भविता। ताभ्यामाबद्धाभ्यां ब्राह्मणान्परिवेष्टुमिच्छामि। शोभमाना यथा ताभ्यां कुण्डलाभ्यां तस्मिन्नहनि संपादयस्व। श्रेयो हि ते स्यात्क्षणं कुर्वत इति ॥ १०० ॥ स एवमुक्त उपाध्यायिन्या प्रातिष्ठतोत्तङ्कः। स पथि गच्छन्नपश्यदृषभमतिप्रमाणं तमधिरूढं च पुरुषमतिप्रमाणमेव ॥ १०१ ॥ स पुरुष उत्तङ्कमभ्यभाषत। उत्तङ्कैतत्पुरीषमस्य ऋषभस्य भक्षयस्वेति ॥ १०२॥

लाऊं ?" ॥ ९९ ॥ उत्तंकके ऐसी प्रार्थना करने पर उपाध्यायनी बोली— "हे उत्तंक! राजा पौष्यके निकट जाओ। उसकी स्त्रीके द्वारा धारण किये हुए दोनों कुण्डल मांगो और उन्हें ले लाओ। आजसे चौथे दिन पुण्यक नामक व्रतका उत्सव होगा। मैं (उस दिन) उन दोनों कुण्डलोंसे सजधज कर ब्राह्मणोंको अन्न परोसना चाहती हूं। अतः तुम ऐसा करो कि मैं उस दिन उन कुण्डलोंसे सुशोभित हो सकूं। ऐसा करने अर्थात् मेरी बातको पूरा करनेवाले तुम्हारा मंगल होगा ॥ १०० ॥ उपाध्यायनीके ऐसा कहने पर उत्तङ्क चल दिया। चलते हुए रास्तेमें उसने एक बृहदाकारवाले बैलको और उस पर चढे हुए एक बृहदाकारवाले पुरुषको देखा ॥ १०१ ॥ उस पुरुषने उत्तङ्कसे कहा— "ऐ उत्तङ्क! इस बैलका यह गोबर खाओ ॥ १०२ ॥

स एवमुक्तो नैच्छत् ॥१०३॥ तमाह पुरुषो भूयः। भक्षयस्वोत्तङ्क। मा विचारय। उपाध्यायेनापि ते भक्षितं पूर्वमिति ॥ १०४ ॥ स एवमुक्तो बाढमित्युक्त्वा तदा तदृषभस्य पुरीषं मूत्रं च भक्षयित्वोत्तङ्कः प्रतस्थे यत्र स क्षत्रियः पौष्यः ॥ १०५ ॥ तमुपेत्यापश्यदुत्तङ्क आसीनम्। स तमुपेत्याशीर्भिरभिनन्द्योवाच। अर्थी भवन्तमुपगतोऽस्मीति ॥ १०६ ॥

यह सुनकर उत्तङ्कने गोबर खानेकी इच्छा नहीं की ॥ १०३ ॥ इस पर उस पुरुषने फिर उससे कहा— "उत्तङ्क! खा जाओ। सोच विचार मत करो। पहिले तुम्हारे उपाध्यायने भी यह खाया था।" ॥ १०४ ॥ उसके इस प्रकार कहने पर, "अच्छा" कह कर उत्तङ्क बैलका गोबर और मूत्र खा पीकरके आगे चल दिया, जहां वह क्षत्रिय पौष्य था ॥ १०५ ॥ उत्तङ्कने उसके निकट जाकर उसको बैठे हुए देखा। उत्तङ्क उसके पास जाकर आशीर्वादोंसे अभिनन्दन करके बोला— "मैं कुछ भिक्षाके निमित्त याचक होकर आपके पास आया हूं ॥ १०६ ॥

स एनमभिवाद्योवाच । भगवन्पौष्यः खल्वहम् । किं करवाणीति ॥ १०७ ॥ तमुवाचोत्तङ्कः । गुर्वर्थं कुण्डलाभ्यामर्थ्यागतोऽस्मीति ये ते क्षत्रियया पिनद्धे कुण्डले ते भवान्दातुमर्हतीति ॥ १०८ ॥ तं पौष्यः प्रत्युवाच । प्रविश्यान्तःपुरं क्षत्रिया याच्यतामिति ॥ १०९ ॥ स तेनैवमुक्तः प्रविश्यान्तःपुरं क्षत्रियां नापश्यत् ॥ ११० ॥

पौष्यने इस उत्तङ्कको प्रणाम कर कहा, " हे भगवन् ! मैं पौष्य हूं । कहिये क्या करूं " ॥ १०७ ॥ उत्तङ्क उससे बोला, " मैं गुरुदक्षिणा देनेके लिये दो कुण्डल मांगने आया हूं । आपकी धर्मपत्नीके द्वारा पहने हुए उन दोनों कुण्डलोंको आप देनेमें समर्थ हैं ॥१०८॥ पौष्य उससे बोला, " भीतर अन्तःपुरमें जाकर मेरी स्त्रीसे मांगिये " ॥१०९॥ इस प्रकार पौष्यके द्वारा कहे जाने पर वह भीतर गया पर वहां उसने पौष्यकी स्त्रीको नहीं देखा ॥ ११० ॥

स पौष्यं पुनरुवाच । न युक्तं भवता वयमनृतेनोपचरितुम् । न हि ते क्षत्रियान्तःपुरे संनिहिता । नैनां पश्यामीति ॥१११॥ स एवमुक्तः पौष्यस्तं प्रत्युवाच । संप्रति भवानुच्छिष्टः । स्मर तावत् । न हि सा क्षत्रिया उच्छिष्टेनाशुचिना वा शक्या द्रष्टुम् । पतिव्रतात्वादेषा नाशुचेर्दर्शनमुपैतीति ॥ ११२ ॥ अथैवमुक्त उत्तङ्कः स्मृत्वोवाच । अस्ति खलु मयोच्छिष्टेनोपस्पृष्टं शीघ्रं गच्छता चेति ॥ ११३ ॥ तं पौष्यः प्रत्युवाच । एतत्तदेवं हि । न गच्छतोपस्पृष्टं भवति न स्थितेनेति ॥११४॥

तब वह पौष्यके निकट लौट कर फिर बोला, " मुझे इस प्रकार झूठ मूठ ठगना आपके लिए उचित नहीं है । भीतर अन्तःपुरमें आपकी धर्मपत्नी नहीं हैं । मैं उन्हें नहीं देखता ॥१११॥ इस प्रकार उसके कहने पर पौष्य बोला— " भगवन् ! इस समय आप उच्छिष्ट हैं स्मरण कीजिए । उच्छिष्टसे अपवित्र मनुष्य द्वारा वह क्षत्रिया नहीं देखी जा सकती । वह पतिव्रता है, अतः वह अशुचि जनको दिखाई नहीं देती " ॥११२॥ पौष्यके ऐसा कहने पर उत्तङ्कने स्मरण कर कहा,— " हां मैंने जल्दीमें आते समय उच्छिष्टका स्पर्श किया था ॥ ११३ ॥ पौष्य उससे बोले " यही बात है । चलते हुए वा खडे होकर आचमन करना ठीक नहीं है । " ॥ ११४ ॥

अथोत्तङ्कस्तथेत्युक्त्वा प्राङ्मुख उपविश्य सुप्रक्षालितपाणिपादवदनोऽशब्दाभिर्हृदयंगमाभिरद्भिरुपस्पृश्य त्रिः पीत्वा द्विः परिमृज्य खान्यद्भिरुपस्पृश्यान्तःपुरं प्रविश्य तां क्षत्रियामपश्यत् ॥ ११५॥ सा च दृष्ट्वैवोत्तंकमभ्युत्थायाभिवाद्योवाच। स्वागतं ते भगवन्। आज्ञापय किं करवाणीति ॥११६॥ स तामुवाच। एते कुण्डले गुर्वर्थं मे भिक्षिते दातुमर्हसीति ॥ ११७ ॥ सा प्रीता तेन तस्य सद्भावेन पात्रमयमनतिक्रमणीयश्चेति मत्वा ते कुण्डले अवमुच्यास्मै प्रायच्छत् ॥ ११८ ॥

उत्तङ्कने "ठीक है" यह कह कर पूर्व ओर मुंह करके बैठकर हाथ, पांव, मुंह धोकर निःशब्द होकर तीन बार हृदयतक पहुंचने योग्य जल तीनबार पीकर दोबार मलकर और इन्द्रियोंको जलसे छू करके अन्तःपुरमें प्रवेश कर वहां क्षत्राणीको देखा ॥ ११५ ॥ वह (पौष्यकी स्त्री) उत्तङ्कको देख करके उठकर नमस्कार करके बोली, "भगवन्! आपका स्वागत हो। आज्ञा कीजिये, क्या करूं?" ॥ ११६ ॥ उत्तङ्क उससे बोला, "गुरुदक्षिणा देनेके लिए मैं आपके दोनों कुण्डल मांगता हूं, मुझे दान दें।" ॥ ११७ ॥ उसकी इस सद्भावनासे पौष्यपत्नी अति प्रसन्न हुई और "यह सुपात्र है, इसकी प्रार्थना अस्वीकार नहीं करनी चाहिये" ऐसा विचार कर कानोंसे कुण्डल खोलकर उसको दे दिये ॥ ११८ ॥

आह चैनम्। एते कुण्डले तक्षको नागराजः प्रार्थयति। अप्रमत्तो नेतुमर्हसीति ॥ ११९ ॥ स एवमुक्तस्तां क्षत्रियां प्रत्युवाच। भवति सुनिर्वृता भव। न मां शक्तस्तक्षको नागराजो धर्षयितुमिति ॥ १२० ॥ स एवमुक्त्वा तां क्षत्रियामामन्त्र्य पौष्यसकाशमागच्छत् ॥ १२१ ॥ स तं दृष्ट्वोवाच। भोः पौष्य प्रीतोऽस्मीति ॥ १२२॥

और इससे कि कहा– "नागराज तक्षक इन कुण्डलोंको बहुत चाहते हैं। अतः बडी सावधानतासे ले जाइये।" ॥ ११९ ॥ यह सुनकर उत्तङ्क उस क्षत्रियासे बोला, "भगवति! निश्चिन्त रहिए। नागराज तक्षक मुझे हरानेमें समर्थ नहीं है ॥ १२० ॥ वह उत्तंक यह कर पौष्यकी स्त्रीसे विदा होकर पौष्यके पास आ पहुंचा ॥ १२१ ॥ वह उसे (पौष्यको) देखकर बोला कि, "हे पौष्य! मैं बहुत प्रसन्न हूँ" ॥ १२२ ॥

तं पौष्यः प्रत्युवाच। भगवंश्चिरस्य पात्रमासाद्यते। भवांश्च गुण-
वानतिथिः। तत्करिष्ये श्राद्धम्। क्षणः क्रियतामिति ॥१२३॥
तमुत्तङ्कः प्रत्युवाच। कृतक्षण एवास्मि। शीघ्रमिच्छामि
यथोपपन्नमन्नमुपहृतं भवतेति ॥१२४॥ स तथेत्युक्त्वा
यथोपपन्नेनान्नेनैनं भोजयामास ॥१२५॥ अथोत्तङ्कः
शीतमन्नं सकेशं दृष्ट्वा अशुच्येतदिति मत्वा पौष्यमुवाच।
यस्मान्मे अशुच्यन्नं ददासि तस्मादन्धो भविष्यसीति ॥१२६॥

पौष्यने उससे कहा, "भगवन्! सत्पात्र बहुत कालके बाद मिलते हैं आप भी सर्व गुण-शील अतिथि उपस्थित हैं। अतः श्राद्ध करना चाहता हूं। आप क्षण भर ठहरिये।" ॥ १२३ ॥ उत्तङ्क उससे बोला, "थोडी देरके लिए ठहर सकता हूँ। जो अन्न उपस्थित हो आप वही शीघ्र लाइये यही मैं चाहता हूँ" ॥ १२४॥ पौष्यने "ठीक है" यह कह कह जो अन्न उपस्थित था, वही लाकर उन्हें खिलाया ॥ १२५ ॥ उत्तङ्कने केशयुक्त और शीतल अन्न देखकर "यह अपवित्र है" ऐसा समझ करके पौष्यसे कहा— "क्योंकि तुमने मुझको अपवित्र अन्न दिया है, अतः तुम अन्धे हो जाओगे ॥ १२६ ॥

तं पौष्यः प्रत्युवाच। यस्मात्त्वमप्यदुष्टमन्नं दूषयसि तस्माद-
नपत्यो भविष्यसीति ॥१२७॥ सोऽथ पौष्यस्तस्याशुचि-
भावमन्नस्यागमयामास ॥१२८॥ अथ तदन्नं मुक्तकेश्या
स्त्रियोपहृतं सकेशमशुचि मत्वोत्तङ्कं प्रसादयामास।
भगवन्नज्ञानादेतदन्नं सकेशमुपहृतं शीतं च। तत्क्षामये
भवन्तम्। न भवेयमन्ध इति ॥१२९॥ तमुत्तङ्कः प्रत्युवाच।
न मृषा ब्रवीमि। भूत्वा त्वमन्धो नचिरादनन्धो भविष्य-
सीति। ममापि शापो न भवेद्भवता दत्त इति ॥१३०॥

पौष्य उससे बोला "क्योंकि तुम दोषसे रहित होने पर भी अन्नको दोष देते हो, अतः तुम्हारे सन्तान नहीं होगी ॥ १२७ ॥ इसके बाद पौष्यने उसकी परीक्षा कर उसकी अपवित्रता प्रत्यक्ष की ॥ १२८ ॥ तब अन्नको खोले हुए बालवाली स्त्रीके द्वारा लाया हुआ होनेके कारण केशयुक्त और अपवित्र जानकर राजा पौष्य उत्तङ्क ऋषिको प्रसन्न करने लगे "भगवन्! अज्ञानसे ही यह शीतल और केशयुक्त अन्न लाया गया है। अब आपसे क्षमा मांगता हूं। ताकि मुझे अन्धा होना न पडे" ॥ १२९ ॥ उत्तङ्क उससे बोला। "मेरी बात मिथ्या नहीं होती। आप अन्धे होकर फिर अति शीघ्र नेत्रवाले हो जाएंगे। आपने मुझको जो शाप दिया है, वह भी न फलने पावे।" ॥ १३० ॥

तं पौष्यः प्रत्युवाच। नाहं शक्तः शापं प्रत्यादातुम्। न हि मे मन्युरद्याप्युपशमं गच्छति। किं चैतद्भवता न ज्ञायते यथा ॥ १३१ ॥

पौष्यने उसे उत्तर दिया "शाप लौटानेका सामर्थ्य मुझमें नहीं है। मेरा क्रोध अभीतक शांत नहीं हुआ है। क्या आप नहीं जानते, कि ॥ १३१ ॥

नावनीतं हृदयं ब्राह्मणस्य वाचि क्षुरो निहितस्तीक्ष्णधारः।
विपरीतमेतदुभयं क्षत्रियस्य वाङ्नावनीती हृदयं तीक्ष्णधारम् ॥ १३२ ॥ इति।

ब्राह्मणका हृदय मक्खनके समान होता है, (थोडे ही में दयासे पिघलता है) और उनकी वाणीमें वहुत तेज धारवाला छुरा रखा हुआ होता है (अर्थात् उनकी वाणी वडी तीक्ष्ण होती है;) पर क्षत्रियोंमें यह दोनों ही वातें विपरीत होती हैं अर्थात् वाणी उनकी मक्खन–तुल्य और हृदय तेज धारवाले उस्तुरेके सदृश होता है ॥ १३२ ॥

तदेवं गते न शक्तोऽहं तीक्ष्णहृदयत्वात्तं शापमन्यथा कर्तुम्। गम्यतामिति ॥१३३॥ तमुत्तङ्कः प्रत्युवाच। भवताहमन्नस्याशुचिभावमागमय्य प्रत्यनुनीतः। प्राक्च तेऽभिहितम् यस्माददुष्टमन्नं दूषयसि तस्मादनपत्यो भविष्यसीति। दुष्टे चान्ने नैष मम शापो भविष्यतीति ॥ १३४ ॥ साधयामस्तावदित्युक्त्वा प्रातिष्ठतोत्तङ्कस्ते कुण्डले गृहीत्वा ॥ १३५ ॥ सोऽपश्यत्पथि नग्नं श्रमणमागच्छन्तं मुहुर्मुहुर्दृश्यमानमदृश्यमानं च अथोत्तङ्कस्ते कुण्डले भूमौ निक्षिप्योदकार्थं प्रचक्रमे ॥ १३६ ॥

अतः इस कारण तीक्ष्ण हृदयवाला होनेके कारण मैं उस शापको लौटा नहीं सकूंगा। आप जाइये।" ॥ १३३ ॥ उत्तङ्क बोला, "आपने अन्नकी अपवित्रता प्रत्यक्ष करके मुझसे प्रार्थना की है। पहिले आपने कहा था, कि चूंकि तुम "दोषरहित अन्न पर अपवित्र होनेका दोष लगाते हो, अतः तुम्हारे सन्तान नहीं होगी।" अब जब अन्नमें दोष प्रत्यक्ष हो गया है, तब फिर वह शाप मुझ पर कार्य नहीं करेगा" ॥ १३४ ॥ "अच्छा मैं चलता हूं," यह कह कर उत्तङ्क दोनों कुण्डल लेकर चला गया ॥ १३५ ॥ उसने रास्तेमें क्षणमें दीखनेवाले और क्षणमें न दीखनेवाले एक नंगे संन्यासीको आते हुए देखा। इसके बाद उत्तङ्क धरतीपर दोनों कुण्डल रखकर पेशाब करने लगा ॥ १३६ ॥

एतस्मिन्नन्तरे स श्रमणस्त्वरमाण उपसृत्य ते कुण्डले गृहीत्वा प्राद्रवत् । तमुत्तङ्कोऽभिसृत्य जग्राह । स तद्रूपं विहाय तक्षकरूपं कृत्वा सहसा धरण्यां विवृतं महाबिलं विवेश ॥ १३७॥ प्रविश्य च नागलोकं स्वभवनमगच्छत् । तमुत्तङ्कोऽन्वाविवेश तेनैव बिलेन । प्रविश्य च नागानस्तुवदेभिः श्लोकैः ॥ १३८ ॥

इसी बीच वह संन्यासी शीघ्रतासे आकर दोनों कुण्डल लेकर भाग गया। उत्तंकने दौडकर उसको पकड लिया । तब वह संन्यासीका रूप छोडकर तथा तक्षकका रूप धरकर अचानक पृथ्वीके एक चौडे बिलके भीतर जा घुसा ॥ १३७ ॥ और नागलोकमें प्रविष्ट होकर अपने घरमें जा पहुंचा । तब उत्तंक भी उसी बिलसे उसके पीछे प्रविष्ट हुआ । और घुसकर उसने इन श्लोकोंसे नागोंकी स्तुति की ॥ १३८ ॥

य ऐरावतराजानः सर्पाः समितिशोभनाः ।
वर्षन्त इव जीमूताः सविद्युत्पवनेरिताः ॥ १३९ ॥

ऐरावत जिन सर्पोंके राजा हैं, जो रणभूमिमें सुशोभित होते हैं और जो बिजली तथा पवनसे प्रेरित होकर जल बरसानेवाले मेघोंके समान अस्त्र वर्षाने लगते हैं ॥ १३९ ॥

सुरूपाश्च विरूपाश्च तथा कल्माषकुण्डलाः ।
आदित्यवन्नाकपृष्ठे रेजुरैरावतोद्भवाः ॥ १४० ॥

ऐसे सुन्दर और विचित्र रूपवाले कुण्डलधारी ऐरावतवंशी नागगण देवलोकमें सूर्यकी भांति प्रकाशित होते हैं ॥ १४० ॥

बहूनि नागवर्त्मानि गङ्गायास्तीर उत्तरे ।
इच्छेत्कोऽर्कांशुसेनायां चर्तुमैरावतं विना ॥ १४१ ॥

गंगाके उत्तरी किनारे सर्पोंके अनेक मार्ग हैं । ऐरावतके विना कौन जन सूर्य किरणरूपी सेनामें घूमनेकी इच्छा करता है ? ॥ १४१ ॥

शतान्यशीतिरष्टौ च सहस्राणि च विंशतिः ।
सर्पाणां प्रग्रहा यान्ति धृतराष्ट्रो यदेजति ॥ १४२ ॥

जब धृतराष्ट्र सांप चलता है, तब उसके पीछे बीस हजार अस्सी सौ प्रग्रह नाग दल बांधकर चलते हैं ॥ १४२ ॥

ये चैनमुपसर्पन्ति ये च दूरंपरं गताः ।
अहमैरावतज्येष्ठभ्रातृभ्योऽकरवं नमः ॥ १४३ ॥

ऐरावतके उन सब ज्येष्ठ भाइयोंको भी, जो धृतराष्ट्रके आगे पीछे चलते हैं, मैं नमस्कार करता हूं ॥ १४३ ॥

यस्य वासः कुरुक्षेत्रे खाण्डवे चाभवत्सदा।
तं काद्रवेयमस्तौषं कुण्डलार्थाय तक्षकम् ॥ १४४ ॥

जिसका निवास पहिले कुरुक्षेत्र और खाण्डवप्रस्थमें होता था, उन कद्रुके पुत्र तक्षककी मैं कुण्डल पानेके निमित्त स्तुति करता हूं ॥ १४४ ॥

तक्षकश्चाश्वसेनश्च नित्यं सहचरावुभौ।
कुरुक्षेत्रे निवसतां नदीमिक्षुमतीमनु ॥ १४५ ॥

तक्षक और अश्वसेन यह दोनों नित्यके साथी होकर कुरुक्षेत्रमें इक्षुमती-नदीके तट पर रहते हैं ॥ १४५ ॥

जघन्यजस्तक्षकस्य श्रुतसेनेति यः श्रुतः।
अवसद्यो महद्द्युम्नि प्रार्थयन्नागमुख्यताम्।
करवाणि सदा चाहं नमस्तस्मै महात्मने ॥ १४६ ॥

तक्षकके छोटा भाई जो श्रुतसेनाके नामसे प्रसिद्ध हैं तथा महाद्युम्नतीर्थ पर नागोंमें श्रेष्ठत्व प्राप्त करनेके लिए प्रार्थना करते हुए जो निवास करते थे, उन महात्माको भी मैं सदा नमस्कार करता हूं ॥ १४६ ॥

एवं स्तुवन्नपि नागान्यदा ते कुण्डले नालभत्तथापश्यत्स्त्रियौ तन्त्रे अधिरोप्य पटं वयन्त्यौ ॥ १४७ ॥ तस्मिंश्च तन्त्रे कृष्णाः सिताश्च तन्तवः। चक्रं चापश्यद्षड्भिः कुमारैः परिवर्त्यमानम्। पुरुषं चापश्यद्दर्शनीयम् ॥ १४८ ॥ स तान्सर्वांस्तुष्टाव एभिर्मन्त्रवादश्लोकैः ॥ १४९ ॥

जब नागोंकी स्तुति करने पर भी कुण्डल न मिले, तब उन्होंने दो स्त्रियोंको खड्डी पर चढाकर वस्त्र बनाते हुए देखा ॥ १४७ ॥ उस खड्डी पर सफेद और काले रंगके धागे लगे हुए थे। और छः बालकोंके द्वारा घुमाये जाते हुए एक चक्रको देखा। एक सुन्दर पुरुष भी देखा ॥ १४८ ॥ उत्तंकने इन प्रशंसापरक श्लोकोंसे उनकी स्तुति की ॥ १४९ ॥

त्रीण्यर्पितान्यत्र शतानि मध्ये षष्टिश्च नित्यं चरति ध्रुवेऽस्मिन्।
चक्रे चतुर्विंशतिपर्वयोगे षडयत्कुमाराः परिवर्तयन्ति ॥ १५० ॥

चौबीस पर्वयुक्त तथा हमेशा चलनेवाले इस सनातन चक्रमें तीन सौ साठ अरे लगे हुए हैं और छः कुमार इसको घुमा रहे हैं ॥ १५० ॥

तन्त्रं चेदं विश्वरूपं युवत्यौ वयतस्तन्तून्सततं वर्तयन्त्यौ।
कृष्णान्सितांश्चैव विवर्तयन्त्यौ भूतान्यजस्रं भुवनानि चैव ॥ १५१ ॥

दो युवतियां अनेकों रूपोंवाले इस चक्रको घुमाती हुई इसपर हमेशा काले और सफेद धागोंको बुनती रहती है और सम्पूर्ण भुवनोंको और भूतोंको हमेशा घुमाती रहती हैं ॥ १५१ ॥

वज्रस्य भर्ता भुवनस्य गोप्ता वृत्रस्य हन्ता नमुचेर्निहन्ता।
कृष्णे वसानो वसने महात्मा सत्यानृते यो विविनक्ति लोके ॥ १५२ ॥

वज्रधारी, जगत्का रक्षक, नमुचिका वध करनेवाला और वृत्रासुरको मारनेवाला तथा दो काले कपडोंको पहने हुआ एक महात्मा है, जो लोगोंमें सत्य और असत्यको पृथक् पृथक् करता है ॥ १५२ ॥

यो वाजिनं गर्भमपां पुराणं वैश्वानरं वाहनमभ्युपेतः।
नमः सदास्मै जगदीश्वराय लोकत्रयेशाय पुरंदराय ॥ १५३ ॥

जिन्होंने वैश्वानरके समान तेजोवान् समृद्ध जलसे उत्पन्न प्राचीन घोडेको प्राप्त किया है, उन त्रिलोकीनाथ विश्वेश्वर पुरन्दर इन्द्रको सदा नमस्कार हो ॥ १५३ ॥

ततः स एनं पुरुषः प्राह। प्रीतोऽस्मि तेऽहमनेन स्तोत्रेण। किं ते प्रियं करवाणीति ॥ १५४ ॥ स तमुवाच। नागा मे वशमीयुरिति ॥१५५॥ स एनं पुरुषः पुनरुवाच। एतमश्वमपाने धमस्वेति ॥ १५६ ॥ स तमश्वमपानेऽधमत्। अथाश्वाद्धम्यमानात्सर्वस्रोतोभ्यः सधूमा अर्चिषोऽग्नेर्निष्पेतुः ॥ १५७ ॥

(उत्तङ्कके ऐसे स्तवन करनेपर) वह पुरुष उससे बोला— तुम्हारी इस स्तुतिसे मैं प्रसन्न हुआ हूं। तुम्हारा कौनसा प्रिय कार्य करूं ॥ १५४ ॥ उत्तङ्क उससे बोला, " संपूर्ण सर्प मेरे वशमें आजावें " ॥ १५५ ॥ उस पुरुषने फिर उत्तङ्कसे कहा कि, " इस घोडेके मलद्वारमें फूंको " ॥ १५६ ॥ उत्तंकने (उस पुरुषकी आज्ञासे) घोडेके मलद्वारमें फूंक मारी; इससे फूंकनेपर घोडेके शरीरके सब छिद्रोंसे धुंआसहित अग्निकी ज्वालायें निकलने लगीं ॥ १५७ ॥

ताभिर्नागलोको धूपितः ॥ १५८ ॥ अथ ससंभ्रमस्तक्षकोऽग्नितेजोभयविषण्णस्ते कुण्डले गृहीत्वा सहसा स्वभवना-

उन अग्नि—ज्वालाओंसे नागलोक गर्म हो गया ॥ १५८ ॥ तब संभ्रम सहित तक्षकने अग्निके तेजके भयसे दुःखी होकर उन दोनों कुण्डलोंके साथ अपने गृहसे एकाएक निकल कर उत्तंकसे

न्निष्क्रम्योत्तङ्कमुवाच । एते कुण्डले प्रतिगृह्णातु भवानिति ॥ १५९ ॥ स ते प्रतिजग्राहोत्तङ्कः । कुण्डले प्रतिगृह्याचिन्तयत् । अद्य तत्पुण्यकमुपाध्यायिन्याः । दूरं चाहमभ्यागतः । कथं नु खलु संभावयेयमिति ॥ १६० ॥ तत एनं चिन्तयानमेव स पुरुष उवाच । उत्तङ्क एनमश्वमधिरोह । एष त्वां क्षणादेवोपाध्यायकुलं प्रापयिष्यति ॥ १६१ ॥

कहा, "आप इन दोनों कुण्डलोंको लें लें" ॥ १५९ ॥ उत्तंकने कुण्डलोंको ले लिया। कुण्डलोंको लेकर उत्तंक सोचने लगा, "आज ही तो उपाध्यायिनीका पुण्यक-व्रत होनेवाला है। मैं भी बडी दूर आ गया हूं। कैसे (उचित समय पर वहां पहुंच करके) कार्य पूरा कर सकूंगा" ॥ १६० ॥ तब ऐसे सोचमें पडे हुए उस उत्तंकसे वह पुरुष बोला— "उत्तंक! इस घोडे पर चढ जाओ। यह क्षणभरमें ही तुम्हें गुरुके घर पहुंचा देगा" ॥ १६१ ॥

स तथेत्युक्त्वा तमश्वमधिरुह्य प्रत्याजगामोपाध्यायकुलम् । उपाध्यायिनी च स्नाता केशानावपयन्त्युपविष्टोत्तङ्को नागच्छतीति शापायास्य मनो दधे ॥ १६२ ॥ अथोत्तङ्कः प्रविश्य उपाध्यायिनीमभ्यवादयत् । ते चास्यै कुंडले प्रायच्छत् ॥ १६३ ॥ सा चैनं प्रत्युवाच । उत्तङ्क देशे कालेऽभ्यागतः । स्वागतं ते वत्स । मनागसि मया न शप्तः । श्रेयस्तवोपस्थितम् । सिद्धिमाप्नुहीति ॥ १६४ ॥ अथोत्तङ्क उपाध्यायमभ्यवादयत् । तमुपाध्यायः प्रत्युवाच । वत्सोत्तङ्क स्वागतं ते । किं चिरं कृतमिति ॥ १६५ ॥

उत्तंक "तथास्तु" कहके उस घोडेपर चढकर उपाध्यायकुलमें लौट आया। इधर उपाध्यायिनी स्नान करके बैठ कर केश साफ करती हुई "उत्तंक अभीतक नहीं आया" यह सोचकर शाप देनेका विचार कर रही थी ॥ १६२ ॥ इतनेमें ही उत्तंकने प्रवेश करके उस उपाध्यायिनीको प्रणाम किया। और उसे दोनों कुण्डल दे दिये ॥ १६३ ॥ उपाध्यायिनी उत्तंकसे बोली, "हे उत्तंक! तुम ठीक समय और ठीक स्थानपर आ गए हो। हे वत्स! तुम्हारा स्वागत हो। अच्छा हुआ, कि मैंने निरपराधी तुमको शाप नहीं दिया। अब तुम्हारे मंगलका अवसर आ पहुंचा है। तुम सिद्धिलाभ करो" ॥ १६४ ॥ इसके बाद उत्तंकने उपाध्यायको प्रणाम किया। उपाध्याय उससे बोले, "बेटा उत्तंक! तुम्हारा स्वागत हो। तुमको आनेमें इतनी देर क्यों हुई?" ॥ १६५ ॥

तमुत्तङ्क उपाध्यायं प्रत्युवाच । भोस्तक्षकेण नागराजेन विघ्नः कृतोऽस्मिन्कर्मणि । तेनास्मि नागलोकं नीतः ॥१६६॥ तत्र च मया दृष्टे स्त्रियौ तन्त्रेऽधिरोप्य पटं वयन्त्यौ । तस्मिंश्च-तन्त्रे कृष्णाः सिताश्च तन्तवः । किं तत् ॥ १६७ ॥ तत्र च मया चक्रं दृष्टं द्वादशारम् । षट्चैनं कुमाराः परिवर्तयन्ति । तदपि किम् ॥ १६८ ॥ पुरुषश्चापि मया दृष्टः । स पुनः कः ॥ १६९ ॥

उत्तंकने उपाध्यायको उत्तर दिया, " नागराज तक्षकने इस कार्यमें विघ्न डाल दिया था, अतः मैं नागलोक गया था ॥ १६६ ॥ वहां मैंने खड्डीपर चढाकर कपडा बुनते हुए दो स्त्रियोंको देखा । उस खड्डीमें सफेद और काले रंगके सूत थे । वह क्या थे ? ॥१६७॥ वहां मैंने बारह आरेवाला एक पहिया देखा, छै कुमार इस चक्रको घुमा रहे थे । वह भी क्या था ? ॥ १६८ ॥ एक पुरुषको भी मैंने देखा । वह कौन था ॥ १६९ ॥

अश्वश्चातिप्रमाणयुक्तः । स चापि कः ॥ १७० ॥ पथि गच्छता मया ऋषभो दृष्टः । तं च पुरुषोऽधिरूढः । तेनास्मि सोपचार-मुक्तः । उत्तङ्कास्य ऋषभस्य पुरीषं भक्षय । उपाध्यायेनापि ते भक्षितमिति । ततस्तद्वचनान्मया तदृषभस्य पुरीषमुप-युक्तम् । तदिच्छामि भवतोपदिष्टं किं तदिति ॥ १७१ ॥ तेनैवमुक्त उपाध्यायः प्रत्युवाच । ये ते स्त्रियौ धाता विधाता च । ये च ते कृष्णाः सिताश्च तन्तवस्ते रात्र्यहनी ॥ १७२ ॥ यदपि तच्चक्रं द्वादशारं षट्कुमाराः परिवर्तयन्ति ते ऋतवः षट् संवत्सरश्चक्रम् । यः पुरुषः स पर्जन्यः । योऽश्वः सोऽग्निः ॥ १७३ ॥

बडे भारी एक घोडेको देखा, वह भी कौन था ? ॥ १७० ॥ पथमें जाते हुए मैंने एक बैलको देखा था । उसपर एक पुरुष चढा हुआ था । उसने विनयपूर्वक मुझसे कहा, " हे उत्तंक ! तुम इस बैलका गोबर खा लो । पाहिले तुम्हारे उपाध्यायने भी खाया था " । मैंने उसका वचन सुनकर उस बैलका गोबर खा लिया था । वह सब क्या था, यह सब आपके मुंहसे सुनना चाहता हूं ॥ १७१ ॥ उत्तंकके यह सब पूछनेपर उपाध्याय बोले, " हे उत्तंक ! तुमने जिन दो स्त्रियोंको देखा, वे धाता और विधाता थीं । जिन सफेद और काले धागोंको देखा, वे सब दिन और रात थे ॥ १७२ ॥ जिस चक्रको देखा, वह वर्ष था; जिन छः कुमारोंको उस बारह आरेवाले चक्रको घुमाते देखा, वे छः ऋतु थे । जिस पुरुषको देखा वह मेघ था । जिस अश्वको देखा, वह अग्नि था ॥ १७३ ॥

य ऋषभस्त्वया पथि गच्छता दृष्टः स ऐरावतो नागराजः। यश्चैनमधिरूढः पुरुषः स इन्द्रः। यदपि ते पुरीषं भक्षितं तस्य ऋषभस्य तदमृतम् ॥ १७४॥ तेन खल्वसि न व्यापन्नस्तस्मिन्नागभवने। स मम सखा इन्द्रः ॥ १७५॥ तदनुग्रहात्कुण्डले गृहीत्वा पुनरभ्यागतोऽसि। तत्सौम्य गम्यताम्। अनुजाने भवन्तम्। श्रेयोऽवाप्स्यसीति ॥ १७६॥ स उपाध्यायेनानुज्ञात उत्तङ्कः क्रुद्धस्तक्षकस्य प्रतिचिकीर्षमाणो हास्तिनपुरं प्रतस्थे ॥ १७७॥

पथमें जाते हुए जिस बैलको तुमने देखा, वह नागराज ऐरावत था। उसपर जो पुरुष चढा हुआ था वह इन्द्र था और तुमने जो उस बैलका गोबर खाया वह अमृत था ॥ १७४॥ उसी अमृतको खानेके कारण तुम नागलोकमें जानेपर भी नष्ट नहीं हुए। वही इन्द्र मेरा मित्र है ॥ १७५॥ उसी इन्द्रकी कृपासे कुण्डल लेकर लौटकर आ सके हो। अत एव हे सुशील! अब तुम अपने घर जाओ। मैं तुमको अनुमति देता हूं। तुम श्रेयको प्राप्त करो ॥ १७६॥ वह उत्तंक उपाध्यायसे आज्ञा लेकर तक्षकपर नाराज होकर उससे बदला लेनेकी इच्छासे हस्तिनापुरको चला गया ॥ १७७॥

स हास्तिनपुरं प्राप्य नचिराद्द्विजसत्तमः।
समागच्छत राजानमुत्तङ्को जनमेजयम् ॥ १७८॥

विप्रोंमें श्रेष्ठ उत्तङ्क विना विलम्ब हस्तिनापुर जाकर महाराज जनमेजयके निकट उपस्थित हुए ॥ १७८॥

पुरा तक्षशिलातस्तं निवृत्तमपराजितम्।
सम्यग्विजयिनं दृष्ट्वा समन्तान्मन्त्रिभिर्वृतम् ॥ १७९॥
तस्मै जयाशिषः पूर्वं यथान्यायं प्रयुज्य सः।
उवाचैनं वचः काले शब्दसंपन्नया गिरा ॥ १८०॥

इससे पहले तक्षशिलाके प्रदेशको जीतकर लौटकर आए हुए, शत्रुओंपर अच्छी तरह जय प्राप्त करनेवाले होने पर भी स्वयं शत्रुओंसे अपराजित उस जनमेजयको मंत्रियोंके द्वारा चारों ओरसे घिरा हुआ देखकर उत्तंकने पहले उनको यथाविधि जयप्राप्त करनेके लिए शुभाशीर्वाद दिए, और फिर उत्तम शब्दोंसे युक्त वाणीसे समयके अनुसार वाक्य इस जनमेजयसे कहे ॥ १७९-१८० ॥

अन्यस्मिन्करणीये त्वं कार्ये पार्थिवसत्तम ।
बाल्यादिवान्यदेव त्वं कुरुषे नृपसत्तम ॥ १८१ ॥

" हे श्रेष्ठ राजन् ! इस करने योग्य कार्यमें अपने कर्तव्यका पालन न करके तुम बालकके समान दूसरे कार्योंमें लगे हुए हो ॥ १८१ ॥

एवमुक्तस्तु विप्रेण स राजा प्रत्युवाच ह ।
जनमेजयः प्रसन्नात्मा सम्यक्संपूज्य तं मुनिम् ॥ १८२ ॥

उत्तंकसे इस प्रकार कहे जानेपर प्रसन्न आत्मावाले महाराज जनमेजय विधिपूर्वक उसकी पूजा करके उस मुनिसे बोले ॥ १८२ ॥

आसां प्रजानां परिपालनेन स्वं क्षत्रधर्मं परिपालयामि ।
प्रब्रूहि वा किं क्रियतां द्विजेन्द्र शुश्रूषुरस्म्यद्य वचस्त्वदीयम् ॥ १८३ ॥

" मैं इन प्रजाओंका पालन करके मैं अपने क्षत्रियधर्मका पालन कर रहा हूं । हे द्विजेन्द्र मुझे बताओ मैं क्या करूं । मैं आज तुम्हारे वचनोंको सुनना चाहता हूँ ॥ १८३ ॥

स एवमुक्तस्तु नृपोत्तमेन द्विजोत्तमः पुण्यकृतां वरिष्ठः ।
उवाच राजानमदीनसत्त्वं स्वमेव कार्यं नृपतेश्च यत्तत् ॥ १८४ ॥

नृपश्रेष्ठ जनमेजयके द्वारा इस प्रकार कहे जानेपर पुण्यशीलोंमें श्रेष्ठ द्विजोत्तम उत्तंकने उन अन्यून बलवाले महाराज जनमेजयको राजाके द्वारा जो कुछ किया जाना चाहिए, उन कार्योंको बताया ॥ १८४ ॥

तक्षकेण नरेन्द्रेन्द्र येन ते हिंसितः पिता ।
तस्मै प्रतिकुरुष्व त्वं पन्नगाय दुरात्मने ॥ १८५ ॥

हे श्रेष्ठ महीपाल ! जिस तक्षकके, द्वारा तुम्हारे पिताकी हिंसाकर दी गई थी, उस दुष्टात्मा सर्पको उचित प्रति फल दो ॥ १८५ ॥

कार्यकालं च मन्येऽहं विधिदृष्टस्य कर्मणः ।
तद्गच्छापचितिं राजन्पितुस्तस्य महात्मनः ॥ १८६ ॥

राजन् ! इस विधिदर्शित कार्यको करनेका काल आ पहुंचा है ऐसा मैं मानता हूं, अतः तुम्हारे उन महानुभाव जन्मदाता पिताका जो अनिष्ट हुआ है, उसका बदला लो ॥ १८६ ॥

तेन ह्यनपराधी स दष्टो दुष्टान्तरात्मना ।
पञ्चत्वमगमद्राजा वज्राहत इव द्रुमः ॥ १८७ ॥

उस दुष्ट अन्तरात्मावाले तक्षकके द्वारा तुम्हारे निरपराधी राजा काटे जाकर वज्रसे मारे गए वृक्षके समान मृत्युको प्राप्त हुए थे ॥ १८७ ॥

बलदर्पसमुत्सिक्तस्तक्षकः पन्नगाधमः।
अकार्यं कृतवान्पापो योऽदशत्पितरं तव ॥ १८८ ॥

जिस सर्पोंमें अत्यंत नीच तक्षकने बल और अहंकारमें भरकर जो तुम्हारे पिताको काट लिया था, वह उसने बडा ही अनुचित और पापका कार्य किया ॥ १८८ ॥

राजर्षिवंशगोप्तारममरप्रतिमं नृपम्।
जघान काश्यपं चैव न्यवर्तयत पापकृत् ॥ १८९ ॥

और राजर्षिवंशके रक्षक, देवोंके समान अद्वितीय महाराज परीक्षितको मार डाला तथा उस पापीने (तुम्हारे पिताके प्राणोंको बचानेके लिए आते हुए) काश्यपको भी (बीच रास्तमेंसे ही) लौटा दिया ॥ १८९ ॥

दग्धुमर्हसि तं पापं ज्वलिते हव्यवाहने।
सर्पसत्रे महाराज त्वयि तद्धि विधीयते ॥ १९० ॥

हे महाराज! सर्पयज्ञका अनुष्ठान कर प्रज्ज्वलित अग्निमें उस पापात्माको तुम जला सकते हो, अतः तुम शीघ्र उसका अनुष्ठान करो ॥ १९० ॥

एवं पितुश्चापचितिं गतवांस्त्वं भविष्यसि।
मम प्रियं च सुमहत्कृतं राजन्भविष्यति ॥ १९१ ॥

ऐसा करनेसे हे राजन्! अपने पिताका बदला तुम ले लोगे (और पिताके ऋणसे तुम उऋण हो जाओगे।) और मेरा भी अति प्रिय कार्य पूर्ण हो जाएगा ॥ १९१ ॥

कर्मणः पृथिवीपाल मम येन दुरात्मना।
विघ्नः कृतो महाराज गुर्वर्थं चरतोऽनघ ॥ १९२ ॥

हे निष्पाप महाराज पृथ्वीनाथ! मैं गुरुके लिये धन लाने गया था, तब उस दुरात्माने मेरे इस कर्ममें बडा विघ्न डाला था ॥ १९२ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु नृपतिस्तक्षकस्य चुकोप ह।
उत्तङ्कवाक्यहविषा दीप्तोऽग्निर्हविषा यथा ॥ १९३ ॥

तक्षककी यह बात सुन कर महाराज जनमेजय बहुत क्रोधित हुए, और जिस प्रकार घृतसे अग्नि जल उठती है, वैसे ही उत्तङ्कके वाक्यरूपी घृतसे उनकी क्रोधरूपी अग्नि जल उठी ॥ १९३ ॥

अपृच्छच्च तदा राजा मन्त्रिणः स्वान्सुदुःखितः ।
उत्तङ्कस्यैव सान्निध्ये पितुः स्वर्गगतिं प्रति ॥ १९४ ॥

तब अति दुःखित होकर राजाने उत्तङ्कके सामने ही अपने मंत्रियोंसे पिताके परलोक सिधारनेका वृत्तान्त पूछा ॥ १९४ ॥

तदैव हि स राजेन्द्रो दुःखशोकाप्लुतोऽभवत् ।
यदैव पितरं वृत्तमुत्तङ्कादशृणोत्तदा ॥ १९५ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥ समाप्तं पौष्यपर्व ॥ ६४८ ॥

जब राजाने उत्तङ्कसे पिताकी मृत्युका वृत्तान्त सुना तो नृपश्रेष्ठ जनमेजय दुःख और शोकसे विकल हो गए ॥ १९५ ॥

इस प्रकार महाभारतके आदिपर्वमें तीसरा अध्याय और पौष्यपर्व समाप्त हुआ ॥ ६४८ ॥

: ४ :

लोमहर्षणपुत्र उग्रश्रवाः सूतः पौराणिको नैमिषारण्ये शौनकस्य कुलपतेर्द्वादशवार्षिके सत्रे ऋषीनभ्यागतानुपतस्थे ॥१॥ पौराणिकः पुराणे कृतश्रमः स तान्कृताञ्जलिरुवाच। किं भवन्तः श्रोतुमिच्छन्ति। किमहं ब्रवाणीति ॥ २॥ तमृषय ऊचुः। परमं लोमहर्षणे प्रक्ष्यामस्त्वां वक्ष्यसि च नः शुश्रूषतां कथायोगम्। तद्भगवांस्तु तावच्छौनकोऽग्निशरणमध्यास्ते ॥३॥

लोमहर्षणके पुत्र सूत पौराणिक उग्रश्रवा नैमिषारण्यमें कुलपति शौनकके बारह वर्षतक चलनेवाले यज्ञमें आये हुए ऋषियोंके समीप उपस्थित हुए ॥ १ ॥ पुराणोंका स्वाध्याय किए हुए वह पौराणिक दोनों हाथ जोडकर बोले, " आप लोग इस समय क्या सुनना चाहते हैं ? मैं इस समय क्या कहूँ ? " ॥ २ ॥ ऋषिलोग उससे बोले, " हे लोमहर्षणके पुत्र ! हम लोग विविध कथा सुननेके अभिलाषी होकर तुमसे जो जो पूछें, तुम वह सब वर्णन करना । परंतु भगवान् शौनक इस समय अग्निगृहमें बैठे हुए हैं ॥ ३ ॥

योऽसौ दिव्याः कथा वेद देवतासुरसंकथाः ।
मनुष्योरगगन्धर्वकथा वेद च सर्वशः ॥ ४ ॥

जो देवासुर संबंधी सम्पूर्ण कथायें जानते हैं और जो मनुष्य, सांप तथा गन्धर्वोंके संपूर्ण कथाओंको आप जानते हैं ॥ ४ ॥

स चाप्यस्मिन्मखे सौते विद्वान्कुलपतिर्द्विजः।
दक्षो धृतव्रतो धीमाञ्छास्त्रे चारण्यके गुरुः ॥ ५ ॥

हे सूत ! विशेष करके जो इस यज्ञके कुलपति और विद्वान्, कार्यकुशल, व्रतशील, बुद्धिमान्, कर्मकाण्ड संबंधी शास्त्र और उपनिषद् सिखानेमें अद्वितीय गुरु हैं ॥ ५ ॥

सत्यवादी शमपरस्तपस्वी नियतव्रतः।
सर्वेषामेव नो मान्यः स तावत्प्रतिपाल्यताम् ॥ ६ ॥

तथा सत्यवादी, शान्तिमें रत, तपस्वी और व्रतशील हैं; अतः वह हम सबहीके लिए माननीय हैं अतएव उनके लिये कुछ देर ठहर जाओ ॥ ६ ॥

तस्मिन्नध्यासति गुरावासनं परमार्चितम्।
ततो वक्ष्यसि यत्त्वां स प्रक्ष्यति द्विजसत्तमः ॥ ७ ॥

अत्यंत पूजित श्रेष्ठासन पर बैठकर वह द्विजश्रेष्ठ जो कुछ भी प्रश्न करें, तुम उसीका उत्तर देना ॥ ७ ॥

सूत उवाच

एवमस्तु गुरौ तस्मिन्नुपविष्टे महात्मनि।
तेन पृष्टः कथाः पुण्या वक्ष्यामि विविधाश्रयाः ॥ ८ ॥

सूत बोले, "वही होवे; महात्मा गुरुशौनकके बैठकर उनके द्वारा पूछे गए नाना विषयोंसे सम्बन्धित पुण्यकथायें मैं तुम्हें सुनाऊंगा।" ॥ ८ ॥

सोऽथ विप्रर्षभः कार्यं कृत्वा सर्वं यथाक्रमम्।
देवान्वाग्भिः पितॄनद्भिस्तर्पयित्वाजगाम ह ॥ ९ ॥
यत्र ब्रह्मर्षयः सिद्धास्त आसीना यतव्रताः।
यज्ञायतनमाश्रित्य सूतपुत्रपुरःसराः ॥ १० ॥

जिस यज्ञस्थानपर व्रतोंका आचरण करनेवाले ब्रह्मर्षि और सिद्ध मुनिगण सूतके पुत्र उग्रश्रवाको अग्रस्थान देकर बैठे हुए थे, उसी यज्ञस्थान पर ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ शौनक मंत्रों द्वारा देवोंको और जलद्वारा पितरोंको तृप्त करके तथा अन्य भी सब कार्योंको क्रमपूर्वक समाप्त करके आकर बैठ गए ॥ ९–१० ॥

ऋत्विक्ष्वथ सदस्येषु स वै गृहपतिस्ततः।
उपविष्टेषूपविष्टः शौनकोऽथाब्रवीदिदम् ॥ ११ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चतुर्थोऽध्यायः॥ ४ ॥ ६५९ ॥

बादमें ऋत्विक् और सभासदोंके बैठनेपर कुलपति शौनक स्वयं बैठ कर यह बोले ॥११॥

॥ इस प्रकार महाभारतके आदिपर्वमें चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६५९ ॥

: ५ :

शौनक उवाच

पुराणमखिलं तात पिता तेऽधीतवान्पुरा ।
कच्चित्त्वमपि तत्सर्वमधीषे लोमहर्षणे ॥ १ ॥

शौनक बोले– "हे तात लोमहर्षणके पुत्र ! पहिले तुम्हारे पिताने सम्पूर्ण पुराण पढे थे, क्या तुमने भी उन सबोंको पढ लिया है ? ॥ १ ॥

पुराणे हि कथा दिव्या आदिवंशाश्च धीमताम् ।
कथ्यन्ते ताः पुरास्माभिः श्रुताः पूर्वं पितुस्तव ॥ २ ॥

पुराणोंमें देवताओंके चरित्र और महानुभाव पुरुषोंके आदिवंशवृत्तान्त कथित हुए हैं; पहिले वे वृत्तान्त तुम्हारे पिताके द्वारा कहे जाते थे, हम लोग वह सब कथायें सुन चुके हैं ॥२॥

तत्र वंशमहं पूर्वं श्रोतुमिच्छामि भार्गवम् ।
कथयस्व कथामेतां कल्याः स्म श्रवणे तव ॥ ३ ॥

इस समय उनमें सबसे प्रधान भृगुवंशका वृत्तान्त सुनना चाहता हूं, तुम इस कथाको सुनाओ । हम लोग एकचित्त होकर तुम्हारी बात सुननेके लिए तैय्यार हैं ॥ ३ ॥

सूत उवाच

यदधीतं पुरा सम्यग्द्विजश्रेष्ठ महात्मभिः ।
वैशंपायनविप्राद्यैस्तैश्चापि कथितं पुरा ॥ ४ ॥

सूत बोले– "हे द्विजश्रेष्ठ ! आप महात्माओंने जिन विषयोंको पुराणोंमें पढा है, और वैशम्पायन आदि द्विजवरोंने भी पहले कहा है ॥ ४ ॥

यदधीतं च पित्रा मे सम्यक्चैव ततो मया ।
तत्तावच्छृणु यो देवैः सेन्द्रैः साग्निमरुद्गणैः ।
पूजितः प्रवरो वंशो भृगूणां भृगुनन्दन ॥ ५ ॥

और मेरे पिताने जिन विषयोंको पढा है, मैंने भी उन सब विषयोंको पितासे भलीभांति पढ लिया है; हे भृगुनन्दन ! इन्द्र, अग्नि और मरुतोंके साथ देवोंद्वारा पूजित उस श्रेष्ठ प्रवरवाले भृगुवंशको आप सुनिये ॥ ५ ॥

इमं वंशमहं ब्रह्मन्भार्गवं ते महामुने ।
निगदामि कथायुक्तं पुराणाश्रयसंयुतम् ॥ ६ ॥

हे महामुने ब्रह्मन् ! मैं पहिले उस भृगु सम्बन्धी वंशहीका पुराणके आधारपर कथाओंसे युक्त यथावत् वर्णन करता हूं ॥ ६ ॥

भृगोः सुदयितः पुत्रश्च्यवनो नाम भार्गवः ।
च्यवनस्यापि दायादः प्रमतिर्नाम धार्मिकः ।
प्रमतेरप्यभूत्पुत्रो घृताच्यां रुरुरित्युत ॥ ७ ॥

भृगुके वडे स्नेहपात्र पुत्र च्यवन नामके भृगुवंशमें उत्पन्न हुए । च्यवनके भी परम धार्मिक पुत्र प्रमति हुए; प्रमतिके भी घृताचीके गर्भसे औरस पुत्र रुरु उत्पन्न हुए ॥ ७ ॥

रुरोरपि सुतो जज्ञे शुनको वेदपारगः ।
प्रमद्वरायां धर्मात्मा तव पूर्वपितामहात् ॥ ८ ॥

आपके पूर्व पितामह रुरुके प्रमद्वराके गर्भसे वेदज्ञ, धर्मज्ञ, शुनक नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ८ ॥

तपस्वी च यशस्वी च श्रुतवान्ब्रह्मवित्तमः ।
धर्मिष्ठः सत्यवादी च नियतो नियतेन्द्रियः ॥ ९ ॥

वे तपस्वी, यशस्वी, शास्त्रज्ञ, ब्रह्मज्ञ, परमधर्मशील, सत्यशील, जितेन्द्रिय थे ॥ ९ ॥

शौनक उवाच

सूतपुत्र यथा तस्य भार्गवस्य महात्मनः ।
च्यवनत्वं परिख्यातं तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ॥ १० ॥

शौनक बोले– हे सूतपुत्र ! जिस कारण महात्मा भृगुनन्दनकी च्यवनके नामसे प्रसिद्धि हुई, वह कारण पूछनेवाले मुझे आप बताइए ॥ १० ॥

सूत उवाच

भृगोः सुदयिता भार्या पुलोमेत्यभिविश्रुता ।
तस्यां गर्भः समभवद्भृगोर्वीर्यसमुद्भवः ॥ ११ ॥

सूत बोले– महर्षि भृगुजीकी उत्तम, परमप्रिय सुप्रसिद्ध पुलोमा नामकी एक स्त्री थी । उसमें भृगुके वीर्यसे उत्पन्न होनेवाला गर्भ स्थिर हुआ ॥ ११ ॥

तस्मिन्गर्भे संभृतेऽथ पुलोमायां भृगूद्वह ।
समये समशीलिन्यां धर्मपत्न्यां यशस्विनः ॥ १२ ॥
अभिषेकाय निष्क्रान्ते भृगौ धर्मभृतां वरे ।
आश्रमं तस्य रक्षोऽथ पुलोमाभ्याजगाम ह ॥ १३ ॥

हे भृगुनंदन ! उस यशस्वी भृगुसे उस समान शील स्वभावशाली धर्मपत्नी पुलोमामें यथा समय गर्भ स्थिर होने पर धर्मधारियोंमें श्रेष्ठ भृगुके एक दिन नहानेके लिए चले जानेपर पुलोम नामक राक्षस उनके आश्रमके पास आया ॥ १२–१३ ॥

तं प्रविश्याश्रमं दृष्ट्वा भृगोर्भार्यामनिन्दिताम् ।
हृच्छयेन समाविष्टो विचेताः समपद्यत ॥ १४ ॥

आश्रमके भीतर घुसकर वह राक्षस अनिन्दित भृगुपत्नीको देखकर हृदयमें कामके प्रविष्ट हो जानेके कारण कामपीडासे व्याकुल होकर अचेतनसा हो गया ॥ १४ ॥

अभ्यागतं तु तद्रक्षः पुलोमा चारुदर्शना ।
न्यमन्त्रयत वन्येन फलमूलादिना तदा ॥ १५ ॥

सुदर्शना पुलोमाने आश्रममें आए हुए उस राक्षसको वनके फलमूलोंसे सत्कार करनेके लिए आमंत्रण दिया ॥ १५ ॥

तां तु रक्षस्तदा ब्रह्मन्हृच्छयेनाभिपीडितम् ।
दृष्ट्वा हृष्टमभूत्तत्र जिहीर्षुस्तामनिन्दिताम् ॥ १६ ॥

हे ब्रह्मन् ! तब हृदयमें रहनेवाले कामसे पीडित तथा उसे हरनेकी इच्छा करनेवाला वह राक्षस उस अनिन्दित परम रूपमयी रमणीको वहां देखकर बहुत प्रसन्न हुआ ॥ १६ ॥

अथाग्निशरणेऽपश्यज्ज्वलितं जातवेदसम् ।
तमपृच्छत्ततो रक्षः पावकं ज्वलितं तदा ॥ १७ ॥

अनन्तर उस राक्षसने अग्निगृहमें प्रज्ज्वलित जातवेदा अग्निदेवको देखा और तब उस जलते हुए अग्नि देवसे पूछा ॥ १७ ॥

शंस मे कस्य भार्येयमग्ने पृष्ट ऋतेन वै ।
सत्यस्त्वमसि सत्यं मे वद पावक पृच्छते ॥ १८ ॥

हे अग्ने ! तुम सत्यभाषी हो मैं तुमसे सत्य बात पूछता हूं, सत्य बोलो कि यह किसकी स्त्री है । हे अग्ने ! पूछनेवाले मुझसे सच बोलो ॥ १८ ॥

मया हीयं पूर्ववृता भार्यार्थे वरवर्णिनी ।
पश्चात्त्विमां पिता प्रादाद्भृगवेऽनृतकारिणे ॥ १९ ॥

मैंने पहिले इस सुन्दरी नारीको पत्नीरूपमें वरण किया था, पर बादमें इसके पिताने इसे असत्यभाषी भृगुको दे दिया ॥ १९ ॥

सेयं यदि वरारोहा भृगोर्भार्या रहोगता ।
तथा सत्यं समाख्याहि जिहीर्षाम्याश्रमादिमाम् ॥ २० ॥

तुम सच बोलो, यह एकान्तवासिनी, कमलके समान सुन्दर रूपवाली भृगुपत्नी है कि नहीं ? मैं आश्रमसे इसे हर ले जाना चाहता हूं ॥ २० ॥

मन्युर्हि हृदयं मेऽद्य प्रदहन्निव तिष्ठति।
मत्पूर्वभार्यां यदिमां भृगुः प्राप सुमध्यमाम् ॥ २१ ॥

क्योंकि सुन्दर मध्यम भागसे युक्त शरीरवाली इस सुन्दरीको, जो पहले मेरी पत्नीके रूपमें थी, भृगुने प्राप्त कर लिया। इससे उत्पन्न हुआ तबका क्रोध मेरा हृदय जलाता हुआ आजतक बना हुआ है॥ २१ ॥

तद्रक्ष एवमामन्त्र्य ज्वलितं जातवेदसम्।
शङ्कमानो भृगोर्भार्यां पुनः पुनरपृच्छत ॥ २२ ॥

इस प्रकारसे पूछकर वह राक्षस भृगुकी पत्नी पर शंका करते हुए जलते हुए अग्निको सम्बोधित करके उससे बार बार पूछने लगा॥ २२ ॥

त्वमग्ने सर्वभूतानामन्तश्चरसि नित्यदा।
साक्षिवत्पुण्यपापेषु सत्यं ब्रूहि कवे वचः ॥ २३ ॥

हे अग्नि! तुम सदा सर्व भूतोंके हृदयमें विचरते हो और पाप और पुण्यके साक्षी हो, अतः हे दूरदर्शी विद्वान्! तुम सच्ची बात कहो॥ २३ ॥

मत्पूर्वभार्यापहृता भृगुणानृतकारिणा।
सेयं यदि तथा मे त्वं सत्यमाख्यातुमर्हसि ॥ २४ ॥

मेरे द्वारा पहिलेकी वरण की हुई जिस मेरी ही पत्नीको अन्याय करनेवाले भृगुने हर लिया है, वह यही नारी है या नहीं? हे अग्ने! तुम यह बात मुझसे सच बोलो॥ २४ ॥

श्रुत्वा त्वत्तो भृगोर्भार्यां हरिष्याम्यहमाश्रमात्।
जातवेदः पश्यतस्ते वद सत्यां गिरं मम ॥ २५ ॥

मैं तुमसे सच्ची बात सुनकर हे जातवेद अग्ने! तुम्हारे देखते देखते ही इस भृगुपत्नीको इस आश्रमसे हर ले जाना चाहता हूं अतः मुझे सची बात बताओ॥ २५ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा सप्तार्चिर्दुःखितो भृशम्।
भीतोऽनृताच्च शापाच्च भृगोरित्यब्रवीच्छनैः ॥ २६ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥ (६८५)

" उस राक्षसकी ऐसी बात सुनकर सात ज्वालाओंवाला अग्नि एक ओर मिथ्या बोलनेके डरसे और दूसरी ओर भृगुके शापके डरसे अति दुःखी होकर धीरेसे यह पुलोमा भृगुकी ही पत्नी है " इस प्रकार बोला॥ २६ ॥

॥ श्री महाभारतमें आदिपर्वमें पांचवां अध्याय समाप्त ॥ (६८५)

: ६ :

सूत उवाच

अग्नेरथ वचः श्रुत्वा तद्रक्षः प्रजहार ताम् ।
ब्रह्मन्वराहरूपेण मनोमारुतरंहसा ॥ १ ॥

सूत बोले– हे ब्रह्मन् ! इसके बाद वह राक्षस अग्निकी बात सुनकर शूकरका रूप धरके वायु और मनके समान तेजीसे उस पुलोमाको हर ले गया ॥ १ ॥

ततः स गर्भो निवसन्कुक्षौ भृगुकुलोद्वह ।
रोषान्मातुश्च्युतः कुक्षेश्च्यवनस्तेन सोऽभवत् ॥ २ ॥

हे भृगुकुलके तिलक ! ऐसे समयमें पुलोमाके कोखमें स्थित वह गर्भ क्रोधसे माताकी कोखसे च्युत हो गया अर्थात् गिर गया । इसी कारण उसका नाम च्यवन पडा ॥ २ ॥

तं दृष्ट्वा मातुरुदराच्च्युतमादित्यवर्चसम् ।
तद्रक्षो भस्मसाद्भूतं पपात परिमुच्य ताम् ॥ ३ ॥

माताके गर्भसे गिरे हुए उस सूर्यके समान तेजस्वी बालकको देखते ही राक्षस पुलोमाको छोडकर भस्म बनकर पृथ्वी पर गिर पडा ॥ ३ ॥

सा तमादाय सुश्रोणी ससार भृगुनन्दनम् ।
च्यवनं भार्गवं ब्रह्मन्पुलोमा दुःखमूर्च्छिता ॥ ४ ॥

हे ब्रह्मन् ! दुःखसे मूर्च्छित हुई हुई वह उत्तम जघन प्रदेशवाली पुलोमा भृगुके पुत्र उस च्यवनको लेकर भृगुकी ओर चली ॥ ४ ॥

तां ददर्श स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ।
रुदतीं बाष्पपूर्णाक्षीं भृगोर्भार्यामनिन्दिताम् ।
सान्त्वयामास भगवान्वधूं ब्रह्मा पितामहः ॥ ५ ॥

तब सब लोकोंके पितामह ब्रह्माने उस अनिन्दित रूपवती भृगुपत्नीको रोती और नेत्रोंसे आंसू गिराती हुई देखा और पितामह भगवान् ब्रह्माने अपनी वधूको सान्त्वना दी ॥ ५ ॥

अश्रुबिन्दूद्भवा तस्याः प्रावर्तत महानदी ।
अनुवर्तती सृतिं तस्या भृगोः पत्न्या यशस्विनः ॥ ६ ॥

उस पुलोमाके आंसुओंसे निकली हुई महानदी वहां बहने लगी और वह नदी उस यशस्वी भृगुपत्नीके मार्गका अनुसरण करने लगी ॥ ६ ॥

तस्या मार्गं सृतवतीं दृष्ट्वा तु सरितं तदा ।
नाम तस्यास्तदा नद्याश्चक्रे लोकपितामहः ।
वधूसरेति भगवांश्च्यवनस्याश्रमं प्रति ॥ ७ ॥

तब अश्रुसे निकली हुई उस नदीको वधूके साथ भगवान् च्यवनके आश्रमकी ओर बहते हुए देख कर सब लोकोंके पितामह ब्रह्माजीने उसका नाम " वधूसरा " रखा ॥ ७ ॥

स एवं च्यवनो जज्ञे भृगोः पुत्रः प्रतापवान्।
तं ददर्श पिता तत्र च्यवनं तां च भामिनीम् ॥ ८ ॥

भृगुके पुत्र प्रतापी च्यवन इस प्रकारसे उत्पन्न हुए थे। तब पिता महर्षि भृगुने उस दशामें अपने पुत्र च्यवन और पत्नीको देखा ॥ ८ ॥

स पुलोमां ततो भार्यां पप्रच्छ कुपितो भृगुः।
केनासि रक्षसे तस्मै कथितेह जिहीर्षवे।
न हि त्वां वेद तद्रक्षो मद्भार्यां चारुहासिनीम् ॥ ९ ॥

और बहुत क्रोधित होकर इस भृगुने अपनी स्त्री पुलोमासे पूछा, तुम्हें हरकर ले जानेकी इच्छावाले उस राक्षसको किसने तुम्हारा परिचय दिया ? क्योंकि वह राक्षस तो सुन्दर हंसीवाली मेरी पत्नी तुमको नहीं जानता ॥ ९ ॥

तत्त्वमाख्याहि तं ह्यद्य शप्तुमिच्छाम्यहं रुषा।
बिभेति को न शापान्मे कस्य चायं व्यतिक्रमः ॥ १० ॥

तुम सच सच बोलो, मैं क्रोधसे उसको आज शाप देना चाहता हूं। किसने यह अनिष्ट किया ? कौन मेरे शापसे भय नहीं खाता ? ॥ १० ॥

पुलोमोवाच

अग्निना भगवंस्तस्मै रक्षसेऽहं निवेदिता।
ततो मामनयद्रक्षः क्रोशन्तीं कुररीमिव ॥ ११ ॥

पुलोमा बोली– हे भगवन् ! अग्निने उस राक्षसको मेरा परिचय दिया था, इसीसे राक्षस कुरङ्गीके समान रोती हुई मुझको ले भागा ॥ ११ ॥

साहं तव सुतस्यास्य तेजसा परिमोक्षिता।
भस्मीभूतं च तद्रक्षो मामुत्सृज्य पपात वै ॥ १२ ॥

अन्तमें तुम्हारे इस पुत्रके तेजके प्रभावने मुझे छुडाया। और वह राक्षस मुझको छोडकर भस्म होकर भूमिपर गिर पडा ॥ १२ ॥

सूत उवाच

इति श्रुत्वा पुलोमाया भृगुः परममन्युमान्।
शशापाग्निमभिक्रुद्धः सर्वभक्षो भविष्यसि ॥ १३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥ (६९८)

सूत बोले– अतिक्रोधी भृगुने पुलोमाकी यह बात सुनकर बहुत क्रोधित होकर अग्निको यह शाप दिया कि "तुम सर्वभक्षी अर्थात् सबको खा जानेवाले हो जाओगे" ॥ १३ ॥

॥ श्री महाभारतमें आदिपर्वमें छठवां अध्याय समाप्त ॥ ६९८ ॥

: ७ :

सूत उवाच

शप्तस्तु भृगुणा वह्निः क्रुद्धो वाक्यमथाब्रवीत्।
किमिदं साहसं ब्रह्मन्कृतवानसि सांप्रतम् ॥ १ ॥

सूत बोले– भृगुके द्वारा शाप देने पर अग्निने क्रोधित होकर यह वाक्य कहा, "हे ब्रह्मन्! तुमने इस समय यह क्या साहस कर डाला? ॥ १ ॥

धर्मे प्रयतमानस्य सत्यं च वदतः समम्।
पृष्टो यदब्रुवं सत्यं व्यभिचारोऽत्र को मम ॥ २ ॥

पूछे जानेपर जो मैंने सत्य बात कही, तो उसमें धर्मका आचरण करनेवाले, सदा सत्य बोलनेवाले, और पक्षपात न करनेवाले मेरा क्या दोष है? अर्थात् पुलोमाके बारेमें सच्ची बात बताकर मैंने क्या अपराध किया? ॥ २ ॥

पृष्टो हि साक्षी यः साक्ष्यं जानमानोऽन्यथा वदेत्।
स पूर्वानात्मनः सप्त कुले हन्यात्तथा परान् ॥ ३ ॥

जो साक्षी सच्ची बात जाननेपर भी पूछे जानेपर झूठी गवाही देता है, वह अपने पहलेके सात कुल और आगे आनेवाली सात पीढियोंको मार देता है ॥ ३ ॥

यश्च कार्यार्थतत्त्वज्ञो जानमानो न भाषते।
सोऽपि तेनैव पापेन लिप्यते नात्र संशयः ॥ ४ ॥

जो जन गूढतत्त्व और सच्ची बात भी जानकर गवाही नहीं देता, वह भी उसी उक्त पापसे लिप्त होता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ ४ ॥

शक्तोऽहमपि शप्तुं त्वां मान्यास्तु ब्राह्मणा मम।
जानतोऽपि च ते व्यक्तं कथयिष्ये निबोध तत् ॥ ५ ॥

मैं भी तुमको शाप दे सकता हूं, पर मेरे लिए ब्राह्मण आदरके योग्य हैं, (इसी कारण तुम्हें भी ब्राह्मण समझकर तुम्हारे प्रति आदरभाव रखनेके कारण तुम्हें शाप नहीं देता हूं) तुम सब जानते हो तो भी स्पष्ट करके करता हूं, सुनो ॥ ५ ॥

योगेन बहुधात्मानं कृत्वा तिष्ठामि मूर्तिषु।
अग्निहोत्रेषु सत्रेषु क्रियास्वथ मखेषु च ॥ ६ ॥

मैं योगबलसे अपनेको अनेक भागोंमें बांटकर मूर्तियोंमें, अग्निहोत्रोंमें, सत्रों, यज्ञ और सम्पूर्ण क्रियाओंमें विराजता हूं ॥ ६ ॥

वेदोक्तेन विधानेन मयि यद्धूयते हविः।
देवताः पितरश्चैव तेन तृप्ता भवन्ति वै ॥ ७ ॥

वेदोक्त विधानसे मुझमें जो हविर्द्रव्य चढाया जाता है, उससे देवगण और पितर तृप्त होते हैं ॥ ७ ॥

आपो देवगणाः सर्वे आपः पितृगणास्तथा।
दर्शश्च पौर्णमासश्च देवानां पितृभिः सह ॥ ८ ॥

जल ही सब देवता हैं और जल ही पितर हैं। देवता और पितरोंके निमित्त दर्श और पौर्णमास यज्ञ किये जाते हैं ॥ ८ ॥

देवताः पितरस्तस्मात्पितरश्चापि देवताः।
एकीभूताश्च पूज्यन्ते पृथक्त्वेन च पर्वसु ॥ ९ ॥

अतः देवता ही पितर हैं और पितर ही देवता हैं। वे पर्वोंमें कभी एक रूपसे और कभी पृथक् रूपसे पूजित होते हैं ॥ ९ ॥

देवताः पितरश्चैव जुह्वते मयि यत्सदा।
त्रिदशानां पितॄणां च मुखमेवमहं स्मृतः ॥ १० ॥

देवगण और पितृगण भी मुझमें हमेशा हवि डाला करते हैं। अतः मैं ही उन देवताओं और पितरोंका मुख माना गया हूं ॥ १० ॥

अमावास्यां च पितरः पौर्णमास्यां च देवताः।
मन्मुखेनैव हूयन्ते भुञ्जते च हुतं हविः।
सर्वभक्षः कथं तेषां भविष्यामि मुखं त्वहम् ॥ ११ ॥

अमावास्यामें पितरलोग और पौर्णमासीमें देवलोग आहुति पाते हैं और मेरे मुखसे ही डाली गई हवि खाते हैं, अतः मैं उन (देवताओं और पितरों) का मुखरूप हो करके सर्वभक्षक कैसे बनूं? ॥ ११ ॥

चिन्तयित्वा ततो वह्निश्चक्रे संहारमात्मनः।
द्विजानामग्निहोत्रेषु यज्ञसत्रक्रियासु च ॥ १२ ॥

इसके बाद अग्निने कुछ काल सोचकर ब्राह्मणोंके अग्निहोत्र, सत्र, यज्ञ और दूसरी क्रिया-ओंसे अपनेको समेट लिया अर्थात् उनसे अपनेको अलग कर लिया ॥ १२ ॥

निरोङ्कारवषट्काराः स्वधास्वाहाविवर्जिताः।
विनाग्निना प्रजाः सर्वास्तत आसन्सुदुःखिताः ॥ १३ ॥

तब सब प्रजायें अग्निके बिना, ओंकार, वषट्कार, स्वधा और स्वाहादिसे वर्जित होकर अति दुःखी हो गईं ॥ १३ ॥

अथर्षयः समुद्विग्ना देवान्गत्वाब्रुवन्वचः ।
अग्निनाशात्क्रियाभ्रंशाद्भ्रान्ता लोकास्त्रयोऽनघाः ।
विधध्वमत्र यत्कार्यं न स्यात्कालात्ययो यथा ॥ १४ ॥

इस पर ऋषिलोग अति व्याकुल होकर देवताओंके समीप जाकर यह वचन बोले, " हे निष्पाप देवगण ! अग्निके नष्ट होनेके कारण तीनों लोक (अग्निहोत्रादि) क्रियाओंसे वर्जित होकर भ्रान्त हो गए हैं इस समय जो करना उचित समझें, करें, जिससे समय बरबाद न हो ॥ १४ ॥

अथर्षयश्च देवाश्च ब्रह्माणमुपगम्य तु ।
अग्नेरावेदयञ्शापं क्रियासंहारमेव च ॥ १५ ॥

इसके बाद देवता और ऋषिलोग ब्रह्माके समीप जाकर अग्निके शाप और इससे ब्रह्माणोंकी क्रियादिके लोप होनेका समाचार बताया ॥ १५ ॥

भृगुणा वै महाभाग शप्तोऽग्निः कारणान्तरे ।
कथं देवमुखो भूत्वा यज्ञभागाग्रभुक्तथा ।
हुतभुक्सर्वलोकेषु सर्वभक्षत्वमेष्यति ॥ १६ ॥

" हे महाभाग ! किसी कारणसे भृगुने अग्निको शाप दिया है । यज्ञमें दिए जानेवाले भागका सर्व प्रथम भोजन करनेवाले तथा तीनों लोकोंमें दी हुई आहुतियोंको खानेवाले अग्नि देवताओंके मुखरूप होकर सर्व भक्षक कैसे हो सकते हैं ? " ॥ १६ ॥

श्रुत्वा तु तद्वचस्तेषामग्निमाहूय लोककृत् ।
उवाच वचनं श्लक्ष्णं भूतभावनमव्ययम् ॥ १७ ॥

सब लोकोंकी रचना करनेवाले ब्रह्मा उनकी वह बात सुनकर अव्यय अर्थात् कभी नष्ट न होनेवाले और भूतभावन (प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाले) अग्निको बुला करके बडे मीठे वचन बोले ॥ १७ ॥

लोकानामिह सर्वेषां त्वं कर्ता चान्त एव च ।
त्वं धारयसि लोकांस्त्रीन्क्रियाणां च प्रवर्तकः ।
स तथा कुरु लोकेश नोच्छिद्येरन्क्रिया यथा ॥ १८ ॥

" हे अग्ने ! तुम सब लोकोंके कर्ता और संहर्ता हो, तुमही तीनों लोकोंको धारण करते हो और तुम्ही सब अग्निहोत्रादि क्रियाओंके करानेवाले हो, अतएव हे सब लोकोंके ईश्वर अग्ने ! ऐसा करो कि जिससे अग्निहोत्रादि क्रियाओंका लोप न हो ॥ १८ ॥

कस्मादेवं विमूढस्त्वमीश्वरः सन्हुताशनः ।
त्वं पवित्रं यदा लोके सर्वभूतगतश्च ह ॥ १९ ॥

तुम आहुतियोंको खानेवाले और लोकपाल होने पर भी क्यों ऐसे मुग्ध हो रहे हो? तुम इसलोकमें पवित्र और सभी लोकोंकी गति हो ॥ १९ ॥

न त्वं सर्वशरीरेण सर्वभक्षत्वमेष्यसि ।
उपादानेऽर्चिषो यास्ते सर्वं धक्ष्यन्ति ताः शिखिन् ॥ २० ॥

अतः तुम सब शरीरसे सर्वभक्षक नहीं होगे। हे ज्वालावाले अग्ने! जो तुम्हारी ज्वालाएं हैं, वे ग्रहण करने पर (अर्थात् उनके सम्पर्कमें आने पर) ही सर्वभक्षक होंगी ॥ २० ॥

यथा सूर्यांशुभिः स्पृष्टं सर्वं शुचि विभाव्यते ।
तथा त्वदर्चिर्निर्दग्धं सर्वं शुचि भविष्यति ॥ २१ ॥

जैसे सूर्यकिरणके स्पर्शसे हरेक वस्तु शुद्ध होती है, वैसेही तुम्हारी ज्वालासे जल कर सब वस्तुएँ पवित्र हो जायेंगी ॥ २१ ॥

तदग्ने त्वं महत्तेजः स्वप्रभावाद्विनिर्गतम् ।
स्वतेजसैव तं शापं कुरु सत्यमृषेर्विभो ।
देवानां चात्मनो भागं गृहाण त्वं मुखे हुतम् ॥ २२ ॥

अतः हे व्यापक अग्ने! तुम महातेजस्वी हो, इसलिए ऋषि भृगुके अपने ही तेजसे निकले उस शापको अपने ही तेजसे सच करके दिखाओ। और अपने मुखमें आहुतिके रूपमें दिए गए देवोंके और अपने हविके भागको स्वीकार करो ॥ २२ ॥

एवमस्त्विति तं वह्निः प्रत्युवाच पितामहम् ।
जगाम शासनं कर्तुं देवस्य परमेष्ठिनः ॥ २३ ॥

अग्निने उस पितामह ब्रह्मासे कहा " एवमस्तु " और परमेष्ठी देवकी आज्ञाका पालन करनेके लिए चले गये ॥ २३ ॥

देवर्षयश्च मुदितास्ततो जग्मुर्यथागतम् ।
ऋषयश्च यथापूर्वं क्रियाः सर्वाः प्रचक्रिरे ॥ २४ ॥

देवता और ऋषिलोग भी हर्षित होकर जहांसे जिस प्रकार आए थे, उसी प्रकार वहीं चले गए और ऋषिगण भी पूर्ववत् सब क्रियायें करने लगे ॥ २४ ॥

दिवि देवा मुमुदिरे भूतसंघाश्च लौकिकाः ।
अग्निश्च परमां प्रीतिमवाप हतकल्मषः ॥ २५ ॥

देवलोकमें सम्पूर्ण देव और पृथ्वी पर सब प्राणी बहुत खुश हुए । अग्नि भी शापसे मुक्त होकर अति प्रसन्न हुए ॥ २५ ॥

एवमेष पुरावृत्त इतिहासोऽग्निशापजः ।
पुलोमस्य विनाशश्च च्यवनस्य च संभवः ॥ २६ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥ (६९८)

यह अग्निके शाप–सम्बन्धी पुराना इतिहास, पुलोम राक्षसका नाश और च्यवनकी उत्पत्ति कही गई ॥ २६ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें सातवां अध्याय समाप्त ॥ ६९८ ॥

: ८ :

सूत उवाच

स चापि च्यवनो ब्रह्मन्भार्गवोऽजनयत्सुतम् ।
सुकन्यायां महात्मानं प्रमतिं दीप्ततेजसम् ॥ १ ॥

सूत बोले– कि हे ब्रह्मन् ! भृगुनन्दन उन च्यवनने भी सुकन्याके गर्भमें प्रमति नामक एक अत्यन्त तेजस्वी महात्मा पुत्र उत्पन्न किया ॥ १ ॥

प्रमतिस्तु रुरुं नाम घृताच्यां समजीजनत् ।
रुरुः प्रमद्वरायां तु शुनकं समजीजनत् ॥ २ ॥

प्रमतिने भी घृताची (एक अप्सरा) के गर्भसे रुरु नामक पुत्र उत्पन्न किया, रुरुने प्रमद्वरासे शुनकको उत्पन्न किया ॥ २ ॥

तस्य ब्रह्मन्रुरोः सर्वं चरितं भूरितेजसः ।
विस्तरेण प्रवक्ष्यामि तच्छृणु त्वमशेषतः ॥ ३ ॥

हे ब्रह्मन् ! मैं उस अति तेजस्वी रुरुके सम्पूर्ण चरित्रको विस्तारसे कहता हूं, तुम उसे पूरी तरह सुनो ॥ ३ ॥

ऋषिरासीन्महान्पूर्वं तपोविद्यासमन्वितः ।
स्थूलकेश इति ख्यातः सर्वभूतहिते रतः ॥ ४ ॥

हे विप्रर्षि ! पहिले तप और विद्यासे युक्त और सर्व भूतोंके हितैषी स्थूलकेशके नामसे प्रसिद्ध एक महान् महर्षि हो गए हैं ॥ ४ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु मेनकायां प्रजज्ञिवान्।
गन्धर्वराजो विप्रर्षे विश्वावसुरिति श्रुतः ॥ ५ ॥
अथाप्सरा मेनका सा तं गर्भं भृगुनन्दन ।
उत्ससर्ज यथाकालं स्थूलकेशाश्रमं प्रति ॥ ६ ॥

हे विप्रर्षे ! उसी समय विश्वावसुके नामसे प्रसिद्ध एक गन्धर्वराजने मेनका अप्सरामें एक सन्तान उत्पन्न की । बादमें हे भृगुनन्दन ! उस अप्सरा मेनकाने यथासमय उस गर्भको स्थूलकेश ऋषिवरके आश्रमके निकट छोड दिया ॥ ५–६ ॥

उत्सृज्य चैव तं गर्भं नद्यास्तीरे जगाम ह।
कन्याममरगर्भाभां ज्वलन्तीमिव च श्रिया ॥ ७ ॥
तां ददर्श समुत्सृष्टां नदीतीरे महानृषिः ।
स्थूलकेशः स तेजस्वी विजने बन्धुवर्जिताम् ॥ ८ ॥

और नदीतट पर उस गर्भको छोडकर चली गई। बादमें अमर देवकी कन्याके समान तेजस्वी तथा तेजसे जलती हुई की तरह, जनरहित नदीके किनारे छोडी गई, तथा भाई बन्धुओंसे रहित उस कन्याको उस तेजस्वी महान् ऋषि स्थूलकेशने देखा ॥ ७–८ ॥

स तां दृष्ट्वा तदा कन्यां स्थूलकेशो द्विजोत्तमः ।
जग्राहाथ मुनिश्रेष्ठः कृपाविष्टः पुपोष च ।
ववृधे सा वरारोहा तस्याश्रमपदे शुभा ॥ ९ ॥

ब्राह्मणों और मुनियोंमें श्रेष्ठ स्थूलकेशने तब उस कन्याको देखकर दयावश हो करके उठा लिया और वे उसे पालने लगे । वह कमलके समान सुन्दर और कल्याणी कन्या ऋषिके पवित्र आश्रममें बढने लगी ॥ ९ ॥

प्रमदाभ्यो वरा सा तु सत्त्वरूपगुणान्विता ।
ततः प्रमद्वरेत्यस्या नाम चक्रे महानृषिः ॥ १० ॥

रूप, सत्त्व तथा गुणादिसे युक्त वह कन्या संपूर्ण प्रमदाओं (स्त्रियोंमें) से अच्छी थी, इस कारण महर्षिने उस कन्याका नाम प्रमद्वरा रख दिया ॥ १० ॥

तामाश्रमपदे तस्य रुरुर्दृष्ट्वा प्रमद्वराम् ।
बभूव किल धर्मात्मा मदनानुगतात्मवान् ॥ ११ ॥

धर्मात्मा आत्मशक्तिवाले रुरु उस ऋषिके आश्रममें उस प्रमद्वराको देखकर कामसे पीडित हो गए ॥ ११ ॥

पितरं सखिभिः सोऽथ वाचयामास भार्गवः।
प्रमतिश्चाभ्ययाच्छ्रुत्वा स्थूलकेशं यशस्विनम् ॥ १२ ॥

भृगुवंशीय रुरुने अपने प्यारे साथियोंसे पिताके समीप अपना अभिप्राय प्रगट करवाया। (रुरुके पिता) प्रमति भी यह सुनकर यशस्वी स्थूलकेशके पास गये ॥ १२ ॥

ततः प्रादात्पिता कन्यां रुरवे तां प्रमद्वराम्।
विवाहं स्थापयित्वाग्रे नक्षत्रे भगदैवते ॥ १३ ॥

प्रमद्वराके पिता स्थूलकेशने रुरुके लिए वह कन्या प्रमद्वरा देदी। उत्तर फाल्गुनी नक्षत्रमें उनके विवाहका दिन भी निश्चित कर दिया ॥ १३ ॥

ततः कतिपयाहस्य विवाहे समुपस्थिते।
सखीभिः क्रीडती सार्धं सा कन्या वरवर्णिनी ॥ १४ ॥
नापश्यत प्रसुप्तं वै भुजगं तिर्यगायतम्।
पदा चैनं समाक्रामन्मुमूर्षुः कालचोदिता ॥ १५ ॥

इसके बाद विवाहके कुछ दिन पहिले अलौकिक रूपवती उस कन्याने सहेलियोंके संग खेलते हुए तिरछे लेटे हुए एक लंबे सर्पको नहीं देखा और मरनेकी इच्छावाली उसने कालसे प्रेरित होकर उस सर्प पर पैर रख दिया ॥ १४–१५ ॥

स तस्याः संप्रमत्तायाश्चोदितः कालधर्मणा।
विषोपलिप्तान्दशनान्भृशमङ्गे न्यपातयत् ॥ १६ ॥

कालधर्मसे प्रेरित होकर सर्पने भी प्रमत्त उस बालाकी देहमें विषैले दांतोंको बुरी तरह गडा दिया ॥ १६ ॥

सा दष्टा सहसा भूमौ पतिता गतचेतना।
व्यसुरप्रेक्षणीयापि प्रेक्षणीयतमाकृतिः ॥ १७ ॥

सर्पसे काटी जाकर वह प्रमद्वरा निष्प्राण होकर भूमिपर अचानक गिर पडी और जो प्राण रहित होनेके कारण देखने योग्य होकर भी देखनेके अयोग्य हो गई ॥ १७ ॥

प्रसुप्तेवाभवच्चापि भुवि सर्पविषार्दिता।
भूयो मनोहरतरा बभूव तनुमध्यमा ॥ १८ ॥

उसका रंग बदला जान पडने लगा, कि मानों वह सर्प-विषसे जली धरती पर सो रही है; अतः मरनेपर भी वह पतली कमरवाली प्रमद्वरा और ज्यादा सुन्दर हो गई ॥ १८ ॥

ददर्श तां पिता चैव ते चैवान्ये तपस्विनः।
विचेष्टमानां पतितां भूतले पद्मवर्चसम् ॥ १९ ॥

उसके पिता स्थूलकेश और दूसरे तपस्वियोंने कमलके समान तेजवाली तथा भूमिपर पडी उस अचेत कन्याको देखा ॥ १९ ॥

ततः सर्वे द्विजवराः समाजग्मुः कृपान्विताः।
स्वस्त्यात्रेयो महाजानुः कुशिकः शङ्खमेखलः ॥ २० ॥

तब सब ब्राह्मणश्रेष्ठ दयायुक्त होकर (उसे देखनेको) उपस्थित हुए। स्वस्त्यात्रेय, महाजानु, कुशिक, शङ्खमेखल, ॥ २० ॥

भारद्वाजः कौणकुत्स आर्ष्टिषेणोऽथ गौतमः।
प्रमतिः सह पुत्रेण तथान्ये वनवासिनः ॥ २१ ॥
तां ते कन्यां व्यसुं दृष्ट्वा भुजङ्गस्य विषार्दिताम्।
रुरुदुः कृपयाविष्टा रुरुस्त्वार्तो बहिर्ययौ ॥ २२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अष्टमोऽध्यायः ॥ (७२०)

भरद्वाज, कौणकुत्स, आर्ष्टिषेण और गौतम, प्रमति, उनके पुत्र रुरु और दूसरे वनवासी लोग उस कन्याको सर्पविषसे जली हुई और प्राणरहित देखकर रोने लगे। रुरु तो शोकाकुल हो और करुणासे भरकर बाहर चले गये ॥ २१–२२ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें आठवां अध्याय समाप्त ॥ ७२० ॥

: ९ :

सूत उवाच

तेषु तत्रोपविष्टेषु ब्राह्मणेषु समन्ततः।
रुरुश्चुक्रोश गहनं वनं गत्वा सुदुःखितः ॥ १ ॥

सूत बोले— कि ब्राह्मणोंके उस स्थानमें चारों ओर बैठ जाने पर रुरु अति दुःखी होकरके घने वनमें जाकर रोने लगे ॥ १ ॥

शोकेनाभिहतः सोऽथ विलपन्करुणं बहु।
अब्रवीद्वचनं शोचन्प्रियां चिन्त्य प्रमद्वराम् ॥ २ ॥

और अति शोकसे विवश होकर उसने करुण स्वरसे बहुत विलाप करते हुए अपनी प्रिया प्रमद्वराकी चिन्ता करके शोकसे ये वचन कहे ॥ २ ॥

शेते सा भुवि तन्वङ्गी मम शोकविवर्धिनी।
बान्धवानां च सर्वेषां किं नु दुःखमतः परम् ॥ ३ ॥

"मेरा शोक बढानेवाली वह पतले अंगोंवाली प्रमद्वरा धरती पर सो रही है, मेरे और बांधवोंके लिये इससे अधिक दुःख और क्या होगा ॥ ३ ॥

यदि दत्तं तपस्तप्तं गुरवो वा मया यदि।
सम्यगाराधितास्तेन संजीवतु मम प्रिया ॥ ४ ॥

यदि मैंने दान दिया हो, तप किया हो या गुरुजनोंकी अच्छी सेवा की हो, तो इससे मेरी प्रिया जी उठे ॥ ४ ॥

यथा जन्मप्रभृति वै यतात्माहं धृतव्रतः।
प्रमद्वरा तथाद्यैव समुत्तिष्ठतु भामिनी ॥ ५ ॥

और यदि मैं जन्मसे व्रतशील और जितेंद्रिय रहा हूं, तो आज ही यह सुन्दरी प्रमद्वरा उठ खडी हो ॥ ५ ॥

देवदूत उवाच

अभिधत्से ह यद्वाचा रुरो दुःखेन तन्मृषा।
न तु मर्त्यस्य धर्मात्मन्नायुरस्ति गतायुषः ॥ ६ ॥

देवदूत बोले-- "हे रुरो! तुम दुःखी होकर वाणीसे जो कुछ कह रहे हो, सब व्यर्थ है, क्योंकि हे धर्मात्मन्! जिसकी आयु पूरी हो गई है, उसे फिर आयु नहीं मिल सकती ॥ ६ ॥

गतायुरेषा कृपणा गन्धर्वाप्सरसोः सुता।
तस्माच्छोके मनस्तात मा कृथास्त्वं कथंचन ॥ ७ ॥

उस बेचारी अप्सरा और गंधर्वकी कन्याकी आयु पूरी हो चुकी है, अत एव तात! तुम शोकसे चित्तको किसी प्रकार भी विकल मत करो ॥ ७ ॥

उपायश्चात्र विहितः पूर्वं देवैर्महात्मभिः।
तं यदीच्छसि कर्तुं त्वं प्राप्स्यसीमां प्रमद्वराम् ॥ ८ ॥

परन्तु महात्मा देवताओंने पहले इसके लिये एक उपाय बताया है, यदि तुम वह करना चाहो, तो इस प्रमद्वराको पा सकोगे" ॥ ८ ॥

रुरुरुवाच

क उपायः कृतो देवैर्ब्रूहि तत्त्वेन खेचर।
करिष्ये तं तथा श्रुत्वा त्रातुमर्हति मां भवान् ॥ ९ ॥

रुरु बोले-- "हे आकाशमें विचरनेवाले देवदूत! देवताओंने क्या उपाय बताया है, उसे ठीक ठीक बताओ; उसे सुनकर उसके अनुसार कार्य करूंगा, तुम मुझे बचाओ।" ॥९॥

देवदूत उवाच

आयुषोऽर्धं प्रयच्छस्व कन्यायै भृगुनन्दन।
एवमुत्थास्यति रुरो तव भार्या प्रमद्वरा ॥ १० ॥

देवदूत बोले-- "हे भृगुनन्दन रुरो! तुम उस कन्याको अपनी आयुका आधाभाग दे दो, ऐसा करने ही से तुम्हारी पत्नी प्रमद्वरा जी उठेगी" ॥ १० ॥

रुरुरुवाच

आयुषोऽर्धं प्रयच्छामि कन्यायै खेचरोत्तम।
शृङ्गाररूपाभरणा उत्तिष्ठतु मम प्रिया ॥ ११ ॥

रुरु बोले "आकाशमें विचरनेवालोंमें उत्तम देवदूत! मैं इस कन्याको अपनी आयुका अर्द्ध-भाग देता हूं, शृंगार, रूप और आभूषणोंसे सुशोभिता मेरी प्रिया प्रमद्वरा फिर जी उठे।" ॥ ११ ॥

सूत उवाच

ततो गन्धर्वराजश्च देवदूतश्च सत्तमौ।
धर्मराजमुपेत्येदं वचनं प्रत्यभाषताम् ॥ १२ ॥

सूत बोले-- कि अनन्तर श्रेष्ठ देवदूत और गंधर्वराज दोनों धर्मराजके समीप जाकर यह वचन बोले ॥ १२ ॥

धर्मराजायुषोऽर्धेन रुरोर्भार्या प्रमद्वरा।
समुत्तिष्ठतु कल्याणी मृतैव यदि मन्यसे ॥ १३ ॥

"हे धर्मराज! यदि आप अनुमति दें, तो रुरुकी मरी हुई स्त्री कल्याणी प्रमद्वरा रुरुकी आधी आयुसे जी जाए।" ॥ १३ ॥

धर्मराज उवाच

प्रमद्वरा रुरोर्भार्या देवदूत यदीच्छसि।
उत्तिष्ठत्वायुषोऽर्धेन रुरोरेव समन्विता ॥ १४ ॥

धर्मराज बोले- "हे देवदूत! यदि तुम ऐसा ही चाहते हो, तो रुरुकी पत्नी प्रमद्वरा रुरुकी आधी आयु पाकर फिर जी जाये।" ॥ १४ ॥

सूत उवाच

एवमुक्ते ततः कन्या सोदतिष्ठत्प्रमद्वरा।
रुरोस्तस्यायुषोऽर्धेन सुप्तेव वरवर्णिनी ॥ १५ ॥

सूत बोले-- धर्मराजके ऐसा कहनेपर वरवर्णिनी कन्या प्रमद्वरा उस रुरुकी आधी आयु पाकर मानों निद्रासे जगनेके समान उठ बैठी ॥ १५ ॥

एतद्दृष्टं भविष्ये हि रुरोरुत्तमतेजसः ।
आयुषोऽतिप्रवृद्धस्य भार्यार्थेऽर्धं ह्रसात्विति　　　　॥ १६ ॥

भविष्यत्में भी यह देखनेमें आवेगा, कि उत्तम तेजस्वी रुरुकी दीर्घ आयुका आधा अंश भार्याके निमित्त क्षय हुआ था ॥ १६ ॥

तत इष्टेऽहनि तयोः पितरौ चक्रतुर्मुदा ।
विवाहं तौ च रेमाते परस्परहितैषिणौ　　　　॥ १७ ॥

अनन्तर रुरु और प्रमद्वराके पिताओं (प्रमति तथा स्थूलकेश) ने अति आनन्दसे उत्तम दिनमें उनका विवाह कर दिया । वे दोनों परस्परके हितकी इच्छा करते हुए क्रीडा करने लगे ॥ १७ ॥

स लब्ध्वा दुर्लभां भार्यां पद्मकिंजल्कसप्रभाम् ।
व्रतं चक्रे विनाशाय जिह्मगानां धृतव्रतः　　　　॥ १८ ॥

कमलतन्तुके समान रूपवती दुर्लभा भार्याको पाकर उस व्रतशील रुरुने सर्पोंको नष्ट करनेका प्रण ठाना ॥ १८ ॥

स दृष्ट्वा जिह्मगान्सर्वांस्तीव्रकोपसमन्वितः ।
अभिहन्ति यथासन्नं गृह्य प्रहरणं सदा　　　　॥ १९ ॥

सर्प देखते ही वह अति क्रोधवश होकर लाठीसे अपनी शक्तिके अनुसार उसे नष्ट कर देता था ॥ १९ ॥

स कदाचिद्वनं विप्रो रुरुरभ्यगमन्महत् ।
शयानं तत्र चापश्यड्डुण्डुभं वयसान्वितम्　　　　॥ २० ॥

एक दिन वह ज्ञानी रुरु घने वनमें गया और उसने एक बूढे दुमुंही सांपको वहां सोते हुए देखा ॥ २० ॥

तत उद्यम्य दण्डं स कालदण्डोपमं तदा ।
अभ्यघ्नद्रुषितो विप्रस्तमुवाचाथ डुण्डुभः　　　　॥ २१ ॥

(उसे देखकर) क्रोधित होकर यमदण्डके समान लकडी उठा करके वह ज्ञानी रुरु उसको नष्ट करनेको चले तो दुमुंही सांप बोला ॥ २१ ॥

नापराध्यामि ते किंचिदहमद्य तपोधन ।
संरम्भात्तत्किमर्थं मामभिहंसि रुषान्वितः　　　　॥ २२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥ ७६८ ॥

"हे तपोधन ! आज मैंने तुम्हारा कोई अपराध नहीं किया, तो भी क्रोधवश होकर मुझको क्यों मारते हो ?" ॥ २२ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें नौवां अध्याय समाप्त ॥ ७६८ ॥

: १० :

रुरुरुवाच

मम प्राणसमा भार्या दष्टासीद्भुजगेन ह।
तत्र मे समयो घोर आत्मनोरग वै कृतः ॥ १ ॥

रुरु बोला– "हे भुजंग! एक सर्पने मेरी प्राण प्यारी भार्याको डस लिया था, इससे मैंने यह अपना भयानक नियम बना लिया है ॥ १ ॥

हन्यां सदैव भुजगं यं यं पश्येयमित्युत।
ततोऽहं त्वां जिघांसामि जीवितेन विमोक्ष्यसे ॥ २ ॥

कि जब जिस जिस सर्पको देखूंगा, तभी उसको नष्ट कर दूंगा, इसलिये मैं तुम्हें मारनेकी इच्छा करता हूँ, आज तुम जिन्दगीसे छूट जाओगे ॥ २ ॥

डुण्डुभ उवाच

अन्ये ते भुजगा विप्र ये दशन्तीह मानवान्।
डुण्डुभानहिगन्धेन न त्वं हिंसितुमर्हसि ॥ ३ ॥

सांप बोला– "हे ज्ञानी! जो सर्प मनुष्योंको डंसते हैं, वे दूसरी जातिके होते हैं, अत एव सर्प नामकी गन्ध पाते ही विषरहित दुमुंहीकी हिंसा करना आपको उचित नहीं है ॥ ३ ॥

एकानर्थान्पृथगर्थानेकदुःखान्पृथक्सुखान्।
डुण्डुभान्धर्मविद्भूत्वा न त्वं हिंसितुमर्हसि ॥ ४ ॥

दुमुंही सर्प जाति अनर्थ भोगनेमें सब सर्पोंके समान है, पर स्वभावमें उनसे पृथक् है। अमंगल और दुःख भोगनेके कालमें दोनों समान हैं, किन्तु सुख सबका अलग अलग है, अत एव धर्मशास्त्रमें पण्डित होकर आपको दुमुंही जातिकी हिंसा नहीं करना चाहिये ॥४॥

सूत उवाच

इति श्रुत्वा वचस्तस्य भुजगस्य रुरुस्तदा।
नावधीद्भयसंविग्न ऋषिं मत्वाथ डुण्डुभम् ॥ ५ ॥

सूत बोले– कि तब भयसे जकडे हुए रुरुने उस सर्पकी ऐसी बात सुनकर उस दुमुंही को ऋषि मानकर नहीं मारा ॥ ५ ॥

उवाच चैनं भगवन्रुरुः संशमयन्निव।
कामया भुजग ब्रूहि कोऽसीमां विक्रियां गतः ॥ ६ ॥

रुरु उसको ढांढस देकर बोले– "हे भगवन् भुजंग! मुझसे बोलो, कि ऐसी दशाको प्राप्त हुए हुए तुम कौन हो" ॥ ६ ॥

डुण्डुभ उवाच

अहं पुरा रुरो नाम्ना ऋषिरासं सहस्रपात् ।
सोऽहं शापेन विप्रस्य भुजगत्वमुपागतः ॥ ७ ॥

दुमुंही बोला– "हे रुरो ! मैं पहिले सहस्रपात् नामका एक ऋषि था, बादमें वह मैं ब्राह्मणके शापसे सर्पत्वको प्राप्त हो गया । " ॥ ७ ॥

रुरुरुवाच

किमर्थं शप्तवान्क्रुद्धो द्विजस्त्वां भुजगोत्तम ।
कियन्तं चैव कालं ते वपुरेतद्भविष्यति ॥ ८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥ ७७३ ॥

रुरु बोले– "हे सर्पश्रेष्ठ ! ब्राह्मणने क्रोधित होकर किस हेतु तुमको शाप दिया था ? और कितने समयतक तुम्हारा यह सर्प-शरीर रहेगा ? " ॥ ८ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें दसवां अध्याय समाप्त ॥ ७७६ ॥

: ११ :

डुण्डुभ उवाच

सखा बभूव मे पूर्वं खगमो नाम वै द्विजः ।
भृशं संशितवाक्तात तपोबलसमन्वितः ॥ १ ॥

दुमुंही बोला– "पहिले खगम नामक बहुत सत्यवादी, तपोबलसे युक्त ब्राह्मण मेरा मित्र था ॥ १ ॥

स मया क्रीडता बाल्ये कृत्वा तार्णमथोरगम् ।
अग्निहोत्रे प्रसक्तः सन्भीषितः प्रमुमोह वै ॥ २ ॥

एक दिन बालस्वभावसे खेलते हुए मैंने तृणका सर्प बनाकर अग्निहोत्रमें लगे हुए उसको डराया, इससे वह मूर्च्छित हो गया ॥ २ ॥

लब्ध्वा च स पुनः संज्ञां मामुवाच तपोधनः ।
निर्दहन्निव कोपेन सत्यवाक्संशितव्रतः ॥ ३ ॥

बादमें वह व्रतशील, सत्यवादी तपोधन होशमें आकर, मानो मुझको कोपाग्निसे जलाते हुए बोले ॥ ३ ॥

यथावीर्यस्त्वया सर्पः कृतोऽयं मद्विभीषया।
तथावीर्यो भुजङ्गस्त्वं मम कोपाद्भविष्यसि ॥ ४ ॥

"तुमने जिस प्रकार मुझको भारी भयमें डालनेके निमित्त वीर्यरहित तृणका यह सर्प बनाया है, उसी प्रकार मेरे कोपसे तुम भी वीर्यरहित सर्प होगे ॥ ४ ॥

तस्याहं तपसो वीर्यं जानमानस्तपोधन।
भृशमुद्विग्नहृदयस्तमवोचं वनौकसम् ॥ ५ ॥

हे तपोधन! मैं उनकी तपस्याके सामर्थ्यसे परिचित था, इस हेतु मैं अति चिन्तित चित्तसे उस वनवासी ऋषिसे बोला ॥ ५ ॥

प्रयतः संभ्रमाच्चैव प्राञ्जलिः प्रणतः स्थितः।
सखेति हसतेदं ते नर्मार्थं वै कृतं मया ॥ ६ ॥

वेगसे और संभ्रमपूर्वक चरणोंमें प्रणाम कर तथा हाथ जोड सामने खडा होकर बोला— " हंसते हुए मैंने मित्र कह कर खेलके निमित्त हंसीमें ऐसा किया है ॥ ६ ॥

क्षन्तुमर्हसि मे ब्रह्मञ्शापोऽयं विनिवर्त्यताम्।
सोऽथ मामब्रवीद्दृष्ट्वा भृशमुद्विग्नचेतसम् ॥ ७ ॥

अतः हे ब्रह्मन्! मुझे क्षमा करें और यह शाप लौटा लें, अनंतर वह मुझे अति उदास चित्तवाला देखकर बोला ॥ ७ ॥

मुहुरुष्णं विनिःश्वस्य सुसंभ्रान्तस्तपोधनः।
नानृतं वै मया प्रोक्तं भवितेदं कथंचन ॥ ८ ॥

व्यथित होकर बारबार गर्म सांस लेते हुए वह तपोधन बोले— मैंने जो बात कही है, वह कभी झूठी नहीं हो सकती ॥ ८ ॥

यत्तु वक्ष्यामि ते वाक्यं शृणु तन्मे धृतव्रत।
श्रुत्वा च हृदि ते वाक्यमिदमस्तु तपोधन ॥ ९ ॥

अतएव हे व्रतशील! तुमसे जो कहता हूं, वह मेरी बात सुनो। हे तपोधन! मेरी यह बात सुनकर सदा तुम्हारे हृदयमें रहे अर्थात् मेरी बात हमेशा ध्यानमें रखना ॥ ९ ॥

उत्पत्स्यति रुरुर्नाम प्रमतेरात्मजः शुचिः।
तं दृष्ट्वा शापमोक्षस्ते भविता नचिरादिव ॥ १० ॥

प्रमतिके रुरु नामक शुद्धाचारी एक पुत्र उत्पन्न होगा, उनको देखकर शीघ्र ही तुम्हारा शाप छूट जाएगा ॥ १० ॥

स त्वं रुरुरिति ख्यातः प्रमतेरात्मजः शुचिः ।
स्वरूपं प्रतिलभ्याहमद्य वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ११ ॥

तुम ही वह प्रमतिके पुत्र प्रसिद्ध पवित्र रुरु हो, अतएव मैं इस समय अपना स्वरूप पाकर तुमको कुछ हितोपदेश करूंगा ॥ ११ ॥

अहिंसा परमो धर्मः सर्वप्राणभृतां स्मृतः ।
तस्मात्प्राणभृतः सर्वान्न हिंस्याद्ब्राह्मणः क्वचित् ॥ १२ ॥

अहिंसा ही सब जीवोंका परम धर्म माना गया है, अतएव ब्राह्मण सब प्राणियोंमें किसी जीवकी हिंसा न करे ॥ १२ ॥

ब्राह्मणः सौम्य एवेह जायतेति परा श्रुतिः ।
वेदवेदाङ्गवित्तात सर्वभूताभयप्रदः ॥ १३ ॥

हे तात ! पहलेकी यह श्रुति है कि ब्राह्मण शान्तचित्त, वेद-वेदांगविद् और सर्वभूतोंका अभयदाता होकर ही उत्पन्न होता है ॥ १३ ॥

अहिंसा सत्यवचनं क्षमा चेति विनिश्चितम् ।
ब्राह्मणस्य परो धर्मो वेदानां धारणादपि ॥ १४ ॥

अहिंसा, सत्यवचन, क्षमा ये वेदाभ्यासकी अपेक्षा भी ब्राह्मणके परम धर्म माने गए हैं ॥ १४ ॥

क्षत्रियस्य तु यो धर्मः स नेहेष्यति वै तव ।
दण्डधारणमुग्रत्वं प्रजानां परिपालनम् ॥ १५ ॥

दण्डधारण, उग्रता और प्रजापालन रूपी जो क्षत्रियके धर्म हैं, वह आपके लिये मंगलदायी नहीं हैं ॥ १५ ॥

तदिदं क्षत्रियस्यासीत्कर्म वै शृणु मे रुरो ।
जनमेजयस्य धर्मात्मन्सर्पाणां हिंसनं पुरा ॥ १६ ॥
परित्राणं च भीतानां सर्पाणां ब्राह्मणादपि ।
तपोवीर्यबलोपेताद्वेदवेदाङ्गपारगात् ।
आस्तीकाद्द्विजमुख्याद्वै सर्पसत्रे द्विजोत्तम ॥ १७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥ (७९२)

वह क्षत्रिय ही के कार्य हैं, हे द्विजोत्तम रुरो ! तुम मुझसे सुनो । हे धर्मात्मा ! पूर्वकालमें राजा जनमेजयका सर्पयज्ञमें सर्पोंकी हिंसा करना, पर तपोवीर्य और बलसे युक्त, वेद-वेदांगविद्, द्विजश्रेष्ठ आस्तीक मुनिके द्वारा उस सर्पयज्ञमें भयार्त सर्पोंकी रक्षा आदि सब वृत्तान्त सुनो ॥ १६-१७ ॥

महाभारतके आदिपर्वमें ग्यारहवां अध्याय समाप्त ॥ ७९२ ॥

: १२ :

रुरुरुवाच

कथं हिंसितवान्सर्पान्क्षत्रियो जनमेजयः।
सर्पा वा हिंसितास्तात किमर्थं द्विजसत्तम ॥ १ ॥

रुरु बोला-- " हे द्विजश्रेष्ठ तात! राजा जनमेजयने किस प्रकार सर्पोंको मारा और उसने किस कारण सर्पोंको नष्ट किया था? ॥ १ ॥

किमर्थं मोक्षिताश्चैव पन्नगास्तेन शंस मे।
आस्तीकेन तदाचक्ष्व श्रोतुमिच्छाम्यशेषतः ॥ २ ॥

उस आस्तीक मुनिने फिर किस हेतु उनको उस हिंसासे मुक्त किया? मैं वह सब सुनना चाहता हूं।" अतः मुझसे कहो ॥ २ ॥

ऋषिरुवाच

श्रोष्यसि त्वं रुरो सर्वमास्तीकचरितं महत्।
ब्राह्मणानां कथयतामित्युक्त्वान्तरधीयत ॥ ३ ॥

ऋषिवर बोले-- " हे रुरो! तुम ब्राह्मणोंके द्वारा कहे जाते हुए आस्तीकका बहुत बडा चरित्र सुनोगे।" यह कह कर वह ऋषि गायब हो गए ॥ ३ ॥

सूत उवाच

रुरुश्चापि वनं सर्वं पर्यधावत्समन्ततः।
तमृषिं द्रष्टुमन्विच्छन्संश्रान्तो न्यपतद्भुवि ॥ ४ ॥

सूत बोले-- रुरु उस ऋषिको देखनेकी इच्छासे उस वनमें चारों ओर दौडने लगा, अन्तमें थक कर धरती पर गिर गया ॥ ४ ॥

लब्धसंज्ञो रुरुश्चायात्तच्चाचख्यौ पितुस्तदा।
पिता चास्य तदाख्यानं पृष्टः सर्वं न्यवेदयत् ॥ ५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥ समाप्तं पौलोमपर्व ॥ (७९८)

बादमें उन्होंने चेतना पाकर पिताके समीप आ करके सम्पूर्ण वृत्तांत कहा और पूछे जानेपर उसके पिताने भी सब कथा प्रारम्भसे अन्ततक संपूर्ण कह सुनाई ॥ ५ ॥

॥ महाभारत आदिपर्वमें बारहवां अध्याय और पौलोमपर्व समाप्त ॥ (७९८)

: १३ :

शौनक उवाच

किमर्थं राजशार्दूलः स राजा जनमेजयः ।
सर्पसत्रेण सर्पाणां गतोऽन्तं तद्वदस्व मे ॥ १ ॥

शौनक बोले– " हे सूत ! भूपालोंमें सिंहरूपी उस राजा जनमेजयने किस हेतु सर्पयज्ञका अनुष्ठान कर सर्पोंको नष्ट किया था; मुझे बताओ ॥ १ ॥

आस्तीकश्च द्विजश्रेष्ठः किमर्थं जपतां वरः ।
मोक्षयामास भुजगान्दीप्तात्तस्माद्‌धुताशनात् ॥ २ ॥

और जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ द्विजश्रेष्ठ तपस्वी आस्तीक मुनिने किस कारणसे उस प्रज्ज्वलित अग्निसे सर्पोंकी रक्षा की यह भी बताओ ॥ २ ॥

कस्य पुत्रः स राजासीत्सर्पसत्रं य आहरत् ।
स च द्विजातिप्रवरः कस्य पुत्रो वदस्व मे ॥ ३ ॥

जिस राजाने सर्पयज्ञका अनुष्ठान किया था, वह किसका पुत्र था ? और वह द्विजवर आस्तीक किसका पुत्र था ? यह मुझे बताओ " ॥ ३ ॥

सूत उवाच

महदाख्यानमास्तीकं यत्रैतत्प्रोच्यते द्विज ।
सर्वमेतदशेषेण शृणु मे वदतां वर ॥ ४ ॥

सूत बोले– " हे द्विज और ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ, मैं अति बृहत् आस्तीक-वृत्तान्तको, जो मुनियों द्वारा कहा जाता है, संपूर्ण कहता हूं, सुनो । " ॥ ४ ॥

शौनक उवाच

श्रोतुमिच्छाम्यशेषेण कथामेतां मनोरमाम् ।
आस्तीकस्य पुराणस्य ब्राह्मणस्य यशस्विनः ॥ ५ ॥

शौनक बोले– " पुरातन और यशस्वी ब्राह्मण आस्तीककी यह मनोहरणी कथा विस्तृत रूपसे सुनना चाहता हूं " ॥ ५ ॥

सूत उवाच

इतिहासमिमं वृद्धाः पुराणं परिचक्षते ।
कृष्णद्वैपायनप्रोक्तं नैमिषारण्यवासिनः ॥ ६ ॥

सूत बोले– " हे नैमिषारण्यमें रहनेवालो ! कृष्ण द्वैपायन द्वारा कहे गए इस इतिहासको ब्राह्मण गण पुराण कहते हैं । " ॥ ६ ॥

पूर्व प्रचोदितः सूतः पिता मे लोमहर्षणः।
शिष्यो व्यासस्य मेधावी ब्राह्मणैरिदमुक्तवान् ॥ ७ ॥

पहिले व्यासदेवके शिष्य बुद्धिमान् सूतकुलोद्भव मेरे पिता लोमहर्षणने ब्राह्मणोंसे पूछे जाकर यह उपाख्यान कह सुनाया था ॥ ७ ॥

तस्मादहमुपश्रुत्य प्रवक्ष्यामि यथातथम्।
इदमास्तीकमाख्यानं तुभ्यं शौनक पृच्छते ॥ ८ ॥

मैं उनके मुखसे सुन कर हे शौनक! यह आस्तीक कथा मैं पूछनेवाले तुम्हें यथार्थरूपसे कहूंगा ॥ ८ ॥

आस्तीकस्य पिता ह्यासीत्प्रजापतिसमः प्रभुः।
ब्रह्मचारी यताहारस्तपस्युग्रे रतः सदा ॥ ९ ॥

आस्तीकके पिता ब्रह्माके समान प्रभावी, ब्रह्मचारी, नियमित भोजी, महातपस्वी, सदा कठोर तपमें नियुक्त थे, ॥ ९ ॥

जरत्कारुरिति ख्यात ऊर्ध्वरेता महानृषिः।
यायावराणां धर्मज्ञः प्रवरः संशितव्रतः ॥ १० ॥

वे ऊर्ध्वरेता, यायावरवंशतिलक, धर्मज्ञ, व्रतशील जरत्कारुके नामसे प्रसिद्ध महान् ऋषि थे ॥ १० ॥

अटमानः कदाचित्स स्वान्ददर्श पितामहान्।
लम्बमानान्महागर्ते पादैरूर्ध्वैरधोमुखान् ॥ ११ ॥

एक दिन भ्रमण करते हुए उसने एक बडे गढ्ढेमें पैर ऊपर और मुंह नीचेकी ओर करके लटके हुए अपने पितामहोंको देखा ॥ ११ ॥

तानब्रवीत्स दृष्ट्वैव जरत्कारुः पितामहान्।
के भवन्तोऽवलम्बन्ते गर्तेऽस्मिन्वा अधोमुखाः ॥ १२ ॥

जरत्कारुने यह देखकर उन पितामहोंसे पूछा-- "तुम कौन हो? और किस हेतु इस गढ्ढेमें औंधे मुंह लटक रहे हो ॥ १२ ॥

वीरणस्तम्बके लग्नाः सर्वतः परिभक्षिते।
मूषकेन निगूढेन गर्तेऽस्मिन्नित्यवासिना ॥ १३ ॥

इस गढ्ढेमें सदा छिप कर रहनेवाले चूहेके द्वारा चारों ओरसे काटे हुए खसखसके गुच्छेमें लटके हुए हो" ॥ १३ ॥

पितर ऊचुः

यायावरा नाम वयमृषयः संशितव्रताः।
संतानप्रक्षयाद्ब्रह्मन्नधो गच्छाम मेदिनीम् ॥ १४ ॥

पितरोंने कहा-- "हम यायावर नामक व्रतशील ऋषि हैं। हे ब्रह्मन्! वंशके लोप हो जानेसे हम अधोभूमिको जा रहे हैं" ॥ १४ ॥

अस्माकं संततिस्त्वेको जरत्कारुरिति श्रुतः ।
मन्दभाग्योऽल्पभाग्यानां तप एव समास्थितः ॥ १५ ॥

पर हम बुरे भाग्यवालोंकी जरत्कारु नामक एक दुर्भाग्यशाली सन्तान है। वह केवल तपमें ही रमा करता है ॥ १५ ॥

न स पुत्राञ्जनयितुं दारान्मूढश्चिकीर्षति ।
तेन लम्बामहे गर्ते सन्तानप्रक्षयादिह ॥ १६ ॥

पुत्रोत्पादनके निमित्त वह मूर्ख विवाह भी करना नहीं चाहता । अत एव वंशलोप होनेके कारण हम इस गड्ढेमें लटके हुए हैं ॥ १६ ॥

अनाथास्तेन नाथेन यथा दुष्कृतिनस्तथा ।
कस्त्वं बन्धुरिवास्माकमनुशोचसि सत्तम ॥ १७ ॥

हम लोग उसके कारण सनाथ रहने पर भी पापिष्ठोंके समान अनाथसे हो गए हैं । साधु शिरोमणि ! तुम कौन हो, कि हमारे मित्रके सदृश हमारे लिए चिन्ता करते हो ॥ १७ ॥

ज्ञातुमिच्छामहे ब्रह्मन्को भवानिह धिष्ठितः ।
किमर्थं चैव नः शोच्याननुकम्पितुमर्हसि

हे ब्रह्मन् ! हम जानना चाहते हैं, कि तुम कौन हो और किस हेतु
देखकरके यहां खडे होकर शोक प्रकाश कर रहे हो ? " ॥ १८ ॥

जरत्कारुरुवाच

मम पूर्वे भवन्तो वै पितरः सपितामहाः ।
ब्रूत किं करवाण्यद्य जरत्कारुरहं स्वयम् ॥ १९ ॥

जरत्कारु बोला– " मैं ही स्वयं जरत्कारु हूं, आप लोग मेरे ही पितृपितामहादि पूर्व हैं; अब आज्ञा कीजिये, कि मैं क्या करूं " ॥ १९ ॥

पितर ऊचुः

यतस्व यत्नवांस्तात संतानाय कुलस्य नः ।
आत्मनोऽर्थेऽस्मदर्थे च धर्म इत्येव चाभिभो ॥ २० ॥

पितृगण बोले " बेटा ! तुम हमको, अपनेको और धर्मको बचानेके निमित्त सचेष्ट हो करके हमारे वंशको बढानेके लिए यत्न करो ॥ २० ॥

न हि धर्मफलैस्तात न तपोभिः सुसंचितैः ।
तां गतिं प्राप्नुवन्तीह पुत्रिणो यां व्रजन्ति ह ॥ २१ ॥

हे तात ! पुत्रवान् पुरुष जैसी सद्गति प्राप्त करते हैं वैसी सद्गति बहुदिनोंके बटोरे हुए तप अथवा दूसरे पुण्यफलसे भी लोग प्राप्त नहीं करते ॥ २१ ॥

तद्दारग्रहणे यत्नं संतत्यां च मनः कुरु।
पुत्रकास्मन्नियोगात्त्वमेतन्नः परमं हितम् ॥ २२ ॥

हे पुत्र! इस हेतु तुम हमारी आज्ञासे स्त्रीग्रहण और सन्तानोत्पादनमें चित्त लगाओ, इससे हमारा परम कल्याण होगा ” ॥ २२ ॥

जरत्कारुरुवाच

न दारान्वै करिष्यामि सदा मे भावितं मनः।
भवतां तु हितार्थाय करिष्ये दारसंग्रहम् ॥ २३ ॥

जरत्कारु बोले– “ मैंने मनमें संकल्प कर लिया था कि मैं स्त्रीग्रहण नहीं करूंगा, पर अब आपके हितानुष्ठानके लिये विवाह करूंगा ॥ २३ ॥

समयेन च कर्ताहमनेन विधिपूर्वकम्।
तथा यद्युपलप्स्यामि करिष्ये नान्यथा त्वहम् ॥ २४ ॥

पर मैं एक शर्तपर विधिपूर्वक विवाह करूंगा, यदि उस शर्तके अनुसार कन्या मिलेगी तो विवाह करूंगा, अन्यथा नहीं ॥ २४ ॥

सनाम्नी या भवित्री मे दित्सिता चैव बन्धुभिः।
भैक्ष्यवत्तामहं कन्यामुपयंस्ये विधानतः ॥ २५ ॥

कन्या यदि मेरे नामकी हो और उसके बंधुवर्ग उसे स्वेच्छापूर्वक दान करें, तो उस कन्याको भिक्षाके समान ग्रहण कर विधिपूर्वक उससे विवाह करूंगा ॥ २५ ॥

दरिद्राय हि मे भार्यां को दास्यति विशेषतः।
प्रतिग्रहीष्ये भिक्षां तु यदि कश्चित्प्रदास्यति ॥ २६ ॥

विशेष बात तो यह है कि मैं दरिद्र हूं, कौन मुझे कन्यादान करेगा? परंतु यदि कोई दान करेगा, तो मैं अवश्य ही उस भिक्षाको ग्रहण करूंगा ॥ २६ ॥

एवं दारक्रियाहेतोः प्रयतिष्ये पितामहाः।
अनेन विधिना शश्वन्न करिष्येऽहमन्यथा ॥ २७ ॥

इस प्रकार हे पितामहो! इसी विधिसे विवाहके लिए मैं सदा प्रयत्न करता रहूंगा, अन्यथा मैं विवाह ही नहीं करूंगा ॥ २७ ॥

तत्र चोत्पत्स्यते जन्तुर्भवतां तारणाय वै।
शाश्वतं स्थानमासाद्य मोदन्तां पितरो मम ॥ २८ ॥

उससे आपके उद्धारके लिये पुत्र उत्पन्न होगा। जिससे मेरे पितर गण आप लोग भी शाश्वत-स्वर्ग प्राप्त कर परम आनन्दसे समय वितावें ” ॥ २८ ॥

सूत उवाच

ततो निवेशाय तदा स विप्रः संशितव्रतः ।
महीं चचार दारार्थी न च दारानविन्दत ॥ २९ ॥

सूत बोले– कि अनन्तर वह ब्रह्मचारी व्रतशील जरत्कारु, संसार–आश्रममें प्रवेश करनेके लिए स्त्री पानेके अभिलाषी होकर सारी भूमि घूम आये, पर उन्होंने कहीं भी योग्य पत्नी प्राप्त नहीं की ॥ २९ ॥

स कदाचिद्वनं गत्वा विप्रः पितृवचः स्मरन् ।
चुक्रोश कन्याभिक्षार्थी तिस्रो वाचः शनैरिव ॥ ३० ॥

एक समय उन्होंने कन्याकी भिक्षा पानेकी इच्छासे वनमें प्रवेश करके पितृवाक्यका स्मरण करके धीरेसे चिल्लाकर तीन बार बातें कहीं ॥ ३० ॥

तं वासुकिः प्रत्यगृह्णादुद्यम्य भगिनीं तदा ।
न स तां प्रतिजग्राह न सनाम्नीति चिन्तयन् ॥ ३१ ॥

उस समय उनकी आवाज सुनकर नागराज वासुकि उनको अपनी भगिनी दान करनेको उद्यत हुए । पर उस कन्याको अपने नामकी नहीं है यह सोच कर महात्मा जरत्कारुने तत्काल ग्रहण नहीं किया ॥ ३१ ॥

सनाम्नीमुद्यतां भार्यां गृह्णीयामिति तस्य हि ।
मनो निविष्टमभवज्जरत्कारोर्महात्मनः ॥ ३२ ॥

महात्मा जरत्कारुका मन इस बात पर स्थिर हो गया था कि मैं अपने नामवाली तथा स्वयं दी गई स्त्रीके साथ ही विवाह करूंगा ॥ ३२ ॥

तमुवाच महाप्राज्ञो जरत्कारुर्महातपाः ।
किंनाम्नी भगिनीयं ते ब्रूहि सत्यं भुजङ्गम ॥ ३३ ॥

यह सोच कर वह महाप्राज्ञ महातपस्वी जरत्कारु उस वासुकिसे बोले, "हे भुजंग ! सच बोलो तुम्हारी इस बहिनका क्या नाम है ?" ॥ ३३ ॥

वासुकिरुवाच

जरत्कारो जरत्कारुः स्वसेयमनुजा मम ।
त्वदर्थं रक्षिता पूर्वं प्रतीच्छेमां द्विजोत्तम ॥ ३४ ॥

वासुकि बोले– "हे जरत्कारो ! मेरी इस छोटी बहिनका नाम जरत्कारु है, हे द्विजोत्तम ! मैंने इस भगिनीको तुम्हारे निमित्त रख छोडा है, अतः इसे स्वीकार करो" ॥ ३४ ॥

सूत उवाच

साऽत्र हि भुजगाः शप्ताः पूर्वं ब्रह्मविदां वर।
जनमेजयस्य वो यज्ञे धक्ष्यत्यनिलसारथिः ॥ ३५ ॥

सूत बोले– हे ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ शौनक ! पहिले सर्पमाताने सर्पोंको यह शाप दिया था कि जनमेजयके यज्ञमें वायुकी सहायतासे अग्नि तुमको जला डालेगी ॥ ३५ ॥

तस्य शापस्य शान्त्यर्थं प्रददौ पन्नगोत्तमः।
स्वसारमृषये तस्मै सुव्रताय तपस्विने ॥ ३६ ॥

नागोंमें उत्तम वासुकिने उस शापको शान्त करनेके निमित्त व्रतशील और तपस्वी उस जरत्कारु ऋषिको अपनी बहिन दी ॥ ३६ ॥

स च तां प्रतिजग्राह विधिदृष्टेन कर्मणा।
आस्तीको नाम पुत्रश्च तस्यां जज्ञे महात्मनः ॥ ३७ ॥

जरत्कारुने भी विधि द्वारा निश्चित किए गए कर्मके अनुसार उससे विवाह किया। उस कन्याके गर्भसे उस महात्मासे आस्तीक नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ३७ ॥

तपस्वी च महात्मा च वेदवेदांगपारगः।
समः सर्वस्य लोकस्य पितृमातृभयापहः ॥ ३८ ॥

वह आस्तीक वेदवेदांगमें पण्डित, तपस्वी, महात्मा, सब भूतोंको समान दृष्टिसे देखनेवाला और पिता तथा माताके कुलोंके भयको नष्ट करनेवाला हुआ ॥ ३८ ॥

अथ कालस्य महतः पाण्डवेयो नराधिपः।
आजहार महायज्ञं सर्पसत्रमिति श्रुतिः ॥ ३९ ॥

अनन्तर बहुत कालके पश्चात्, पाण्डवनन्दन नरेश जनमेजयने सर्पयज्ञ नामक एक महायज्ञ-का प्रारंभ किया, ऐसा सुना जाता है ॥ ३९ ॥

तस्मिन्प्रवृत्ते सत्रे तु सर्पाणामन्तकाय वै।
मोचयामास तं शापमास्तीकः सुमहायशाः ॥ ४० ॥

सर्पकुलके नाश करनेके निमित्त उस यज्ञके आरंभ होने पर महायशस्वी आस्तीकने उस शापको छुडाया ॥ ४० ॥

नागांश्च मातुलांश्चैव तथा चान्यान्स बान्धवान्।
पितॄंश्च तारयामास संतत्या तपसा तथा।
व्रतैश्च विविधैर्ब्रह्मन्स्वाध्यायैश्चाऽनृणोऽभवत् ॥ ४१ ॥

उसने नागों अपने मामाओं और दूसरे भाइयों तथा पितरोंका सन्तानोंके द्वारा तथा तपस्यासे उद्धार किया और हे ब्रह्मन् ! वह अनेक व्रतों और स्वाध्यायोंसे उऋण हो गया ॥ ४१ ॥

देवांश्च तर्पयामास यज्ञैर्विविधदक्षिणैः ।
ऋषींश्च ब्रह्मचर्येण संतत्या च पितामहान् 　　　॥ ४२ ॥

एवं भांतिभांतिके दक्षिणायुक्त यागोंसे देवताओंको उसने तृप्त किया और ब्रह्मचर्यसे ऋषियोंको तथा संततिसे अपने पितामहोंको तृप्त किया ॥ ४२ ॥

अपहृत्य गुरुं भारं पितॄणां संशितव्रतः ।
जरत्कारुर्गतः स्वर्गं सहितः स्वैः पितामहैः 　　　॥ ४३ ॥

व्रतका बडी कठोरतासे पालन करनेवाला जरत्कारु इस प्रकारसे पितरोंके कठिनभारको उतार कर अपने पितामहोंके साथ स्वर्ग गए ॥ ४३ ॥

आस्तीकं च सुतं प्राप्य धर्मं चानुत्तमं मुनिः ।
जरत्कारुः सुमहता कालेन स्वर्गमीयिवान् 　　　॥ ४४ ॥

और आस्तीक नामक पुत्र तथा अत्यन्त श्रेष्ठ धर्म पा करके बहुत समयके बाद उस मुनि जरत्कारुने स्वर्ग प्राप्त किया ॥ ४४ ॥

एतदाख्यानमास्तीकं यथावत्कीर्तितं मया ।
प्रब्रूहि भृगुशार्दूल किं भूयः कथ्यतामिति 　　　॥ ४५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि त्रयोदशोऽध्यायः ॥ (८४३)

यह आस्तीकका आख्यान मैंने ठीक ठीक कह दिया; हे भृगुवंशियोंमें सिंह सदृश शौनक ! अब आज्ञा कीजिये, कि फिर क्या कहूं ॥ ४५ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें तेरहवां अध्याय समाप्त ॥ ८४३ ॥

: १४ :

शौनक उवाच

सौते कथय तामेतां विस्तरेण कथां पुनः ।
आस्तीकस्य कवेः साधोः शुश्रूषा परमा हि नः 　　　॥ १ ॥

शौनक बोले– " हे सूतनन्दन ! साधु स्वभाववाले ज्ञानी आस्तीक ऋषिकी इस कथाको फिर विस्तृत रूपसे कहो; उसे सुननेकी हमारी बडी इच्छा है ॥ १ ॥

मधुरं कथ्यते सौम्य श्लक्ष्णाक्षरपदं त्वया ।
प्रीयामहे भृशं तात पितेवेदं प्रभाषसे 　　　॥ २ ॥

विशेष करके तुम जो कुछ कहते हो, वह बडी मीठी और सुन्दर अक्षरोंवाली होती है । तुम अपने पिताके समान ही कहते हो, उससे हे तात ! हम लोग बडी प्रसन्नता पा रहे हैं ॥ २ ॥

अस्मच्छुश्रूषणे नित्यं पिता हि निरतस्तव।
आचष्टैतद्यथाख्यानं पिता ते त्वं तथा वद ॥ ३ ॥

तुम्हारे पिता हमारी सेवामें सदा लगे रहते थे। तुम्हारे पिताने इस कथाको जिसप्रकार कहा था, उसी प्रकार तुम भी कहो ॥ ३ ॥

सूत उवाच

आयुष्यमिदमाख्यानमास्तीकं कथयामि ते।
यथा श्रुतं कथयतः सकाशाद्वै पितुर्मया ॥ ४ ॥

सूत बोले—कि मैंने दीर्घायु प्रदान करनेवाली यह आस्तीककी कथा कहते हुए पितासे जैसे सुनी, ठीक वैसे ही तुमसे कहता हूं ॥ ४ ॥

पुरा देवयुगे ब्रह्मन्प्रजापतिसुते शुभे।
आस्तां भगिन्यौ रूपेण समुपेतेऽद्भुतेऽनघे ॥ ५ ॥

हे ब्रह्मन्! पहिले सत्ययुगमें प्रजापतिकी दो पुत्रियां थीं वे दोनों वहिनें आश्चर्य रूपवती, सुन्दर लक्षणोंसे युक्त तथा सर्वथा दोषरहित थीं ॥ ५ ॥

ते भार्ये कश्यपस्यास्तां कद्रूश्च विनता च ह।
प्रादात्ताभ्यां वरं प्रीतः प्रजापतिसमः पतिः।
कश्यपो धर्मपत्नीभ्यां मुदा परमया युतः ॥ ६ ॥

वे कद्रू और विनता कश्यप मुनिकी स्त्री थीं। प्रसन्न मनवाले उस प्रजापति सदृश पति कश्यपने उन दोनों धर्मपत्नियोंपर अति प्रसन्न होकर उनको वर दिया ॥ ६ ॥

वरातिसर्गं श्रुत्वैव कश्यपादुत्तमं च ते।
हर्षादप्रतिमां प्रीतिं प्रापतुः स्म वरस्त्रियौ ॥ ७ ॥

उनकी श्रेष्ठ स्त्रियोंने भी कश्यपसे अभीष्ट वर पानेकी वात सुनकर हर्षसे अति प्रसन्नता प्राप्त की ॥ ७ ॥

वव्रे कद्रूः सुतान्नागान्सहस्रं तुल्यतेजसः।
द्वौ पुत्रौ विनता वव्रे कद्रूपुत्राधिकौ बले।
ओजसा तेजसा चैव विक्रमेणाधिकौ सुतौ ॥ ८ ॥

पहिले कद्रूने समान तेजवाले हजार नाग पुत्ररूपमें मांगे। विनताने बल, ओज, तेज तथा पराक्रममें कद्रूके पुत्रोंसे श्रेष्ठ केवल दोही पुत्र मांगे ॥ ८ ॥

तस्यै भर्ता वरं प्रादादध्यर्धं पुत्रमीप्सितम्।
एवमस्त्विति तं चाह कश्यपं विनता तदा ॥ ९ ॥

विनताको उसके पतिने दो पुत्रोंके होनेका अभिलषित वर दे दिया, तो विनताने कश्यपसे "एवमस्तु" कहा ॥ ९ ॥

कृतकृत्या तु विनता लब्ध्वा वीर्याधिकौ सुतौ ।
कद्रूश्च लब्ध्वा पुत्राणां सहस्रं तुल्यतेजसाम्　　　　॥ १० ॥

बडे पराक्रमशाली दो पुत्रोंको पाकर विनता कृतकृत्य हो गई । कद्रुने भी समान तेजस्वी एक हजार पुत्रोंकी प्राप्तिका वर पाकर अपनेको कृतार्थ समझा ॥ १० ॥

धार्यौ प्रयत्नतो गर्भावित्युक्त्वा स महातपाः ।
ते भार्ये वरसंहृष्टे कश्यपो वनमाविशत्　　　　॥ ११ ॥

बादमें वर पानेसे सन्तुष्ट हुई हुई उन दोनों पत्नियोंको यह कर कि "तुम अति यत्नसे गर्भ धारण किये रहना " वह महातपस्वी कश्यप वनको चले गए ॥ ११ ॥

कालेन महता कद्रूरण्डानां दशतीर्दश ।
जनयामास विप्रेन्द्र द्वे अण्डे विनता तदा　　　　॥ १२ ॥

हे विप्रश्रेष्ठ ! बहुत समयके पश्चात् कद्रुने दस सौ अर्थात् एक हजार अण्डे पैदा किए और विनताने दो अण्डे उत्पन्न किये ॥ १२ ॥

तयोरण्डानि निदधुः प्रहृष्टाः परिचारकाः ।
सोपस्वेदेषु भाण्डेषु पञ्च वर्षशतानि च　　　　॥ १३ ॥

तब सेविकाओंने प्रफुल्ल हृदयसे उन दोनोंके अण्डोंको गर्म बर्तनोंमें पांच सौ वर्षोंतक रखा ॥ १३ ॥

ततः पञ्चशते काले कद्रूपुत्रा विनिःसृताः ।
अण्डाभ्यां विनतायास्तु मिथुनं न व्यदृश्यत　　　　॥ १४ ॥

तब पांच सौवें वर्ष कद्रुके अण्डोंसे एक हजार पुत्र उत्पन्न हुए, परन्तु विनताके अण्डेसे दो जुडवें नहीं दिखाई दिए ॥ १४ ॥

ततः पुत्रार्थिनी देवी व्रीडिता च तपस्विनी ।
अण्डं बिभेद विनता तत्र पुत्रमदृक्षत　　　　॥ १५ ॥

इससे पुत्रकी इच्छा करनेवाली तपस्विनी देवी विनताने लज्जित होकर एक अण्डेको तोड दिया और उसमें पुत्र देखा ॥ १५ ॥

पूर्वार्धकायसंपन्नमितरेणाप्रकाशता ।
स पुत्रो रोषसंपन्नः शशापैनामिति श्रुतिः　　　　॥ १६ ॥

उस पुत्रका पूर्वार्ध शरीरमात्र उत्पन्न हुआ था, शेषार्ध अभीतक प्रकाशित नहीं हुआ था । सुना जाता है, कि उस पुत्रने क्रोधित होकर इस विनताको यह शाप दिया ॥ १६ ॥

योऽहमेवं कृतो मातस्त्वया लोभपरीतया ।
शरीरेणासमग्रोऽद्य तस्माद्दासी भविष्यसि ॥ १७ ॥

कि हे माता ! तुम्हारे द्वारा पुत्र देखनेके लोभसे आज जो मैं इस प्रकार शरीरसे आधा बना दिया गया हूं, अतः तुम दासी होओगी ॥ १७ ॥

पञ्च वर्षशतान्यस्या यया विस्पर्धसे सह ।
एष च त्वां सुतो मातर्दास्यत्वान्मोक्षयिष्यति ॥ १८ ॥

इस प्रकार तुम जिससे स्पर्धा कर रही हो, उसीकी तुम पांच सौ वर्षतक दासी रहोगी, और हे माता ! यह पुत्र तुम्हें दासीपनसे छुडाएगा ॥ १८ ॥

यद्येनमपि मातस्त्वं मामिवाण्डविभेदनात् ।
न करिष्यस्यदेहं वा व्यङ्गं वापि तपस्विनम् ॥ १९ ॥

माता ! यदि तुम इस दूसरे अण्डेको भी फोड कर उस तपस्वी पुत्रको भी मेरी तरह देह-हीन वा विकलांग न करो, तो वह होनेवाला पुत्र तुमको दासीपनसे मुक्त करेगा ॥१९॥

प्रतिपालयितव्यस्ते जन्मकालोऽस्य धीरया ।
विशिष्टबलमीप्सन्त्या पञ्चवर्षशतात्परः ॥ २० ॥

हे माता ! विशेष बलशाली पुत्र चाहनेवाली तुम्हें धैर्यके साथ पांच सौ वर्षोंतक उसके जन्मके समयकी प्रतीक्षा करनी चाहिए ॥ २० ॥

एवं शप्त्वा ततः पुत्रो विनतामन्तरिक्षगः ।
अरुणो दृश्यते ब्रह्मन्प्रभातसमये सदा ॥ २१ ॥

तब विनताको इस प्रकार शाप देकर वह पुत्र आकाशमें उड गया और हे ब्रह्मन् ! सदा प्रातःकालमें वह अरुणके रूपमें दिखाई देता है ॥ २१ ॥

गरुडोऽपि यथाकालं जज्ञे पन्नगसूदनः ।
स जातमात्रो विनतां परित्यज्य खमाविशत् ॥ २२ ॥
आदास्यन्नात्मनो भोज्यमन्नं विहितमस्य यत् ।
विधात्रा भृगुशार्दूल क्षुधितस्य बुभुक्षतः ॥ २३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चतुर्दशोऽध्यायः ॥ (८६६)

इसके बाद यथा समय नागोंका विनाशक गरुड उत्पन्न हुआ । और उत्पन्न होते ही वह गरुड, हे भृगुओंमें सिंह सदृश शौनक ! विनताको छोडकर तथा इस भूखे गरुडके खानेके लिए जो अन्न विधाताने निश्चित कर दिया था, उस खाने योग्य अन्नको खाकर आकाशमें उड गया ॥ २२-२३ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें चौदहवां अध्याय समाप्त ॥ (८६६)

: १५ :

सूत उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु भगिन्यौ ते तपोधन ।
अपश्यतां समायान्तमुच्चैःश्रवसमन्तिकात् ॥ १ ॥

सूत बोले– कि हे तपोधन ! उस कालमें एक दिन कद्रू और विनता दोनों बहिनोंने पासमें आए हुए उच्चैःश्रवा घोडेको देखा ॥ १ ॥

यं तं देवगणाः सर्वे हृष्टरूपा अपूजयन् ।
मथ्यमानेऽमृते जातमश्वरत्नमनुत्तमम् ॥ २ ॥
महौघबलमश्वानामुत्तमं जवतां वरम् ।
श्रीमन्तमजरं दिव्यं सर्वलक्षणलक्षितम् ॥ ३ ॥

सब सुन्दर रूपवाले देवोंने उस अमृतको मथनेके समय उत्पन्न हुए, अत्यन्त बलशाली, वेगवालोंमें सर्वश्रेष्ठ, सब उत्तम लक्षणोंसे युक्त, दिव्य, लक्ष्मीवान्, अजर, सब अश्वोंमें उत्तम ऐसे अद्वितीय अश्वरत्न इस उच्चैःश्रवाकी पूजा की ॥ २–३ ॥

शौनक उवाच

कथं तदमृतं देवैर्मथितं क्व च शंस मे ।
यत्र जज्ञे महावीर्यः सोऽश्वराजो महाद्युतिः ॥ ४ ॥

शौनक बोले– हे सूत ! देवताओंने कहां और कैसे समुद्रका मंथन किया था, जिससे वह महावीर्यवान् और अति तेजस्वी अश्वराज उच्चैःश्रवा उत्पन्न हुआ, यह हमसे कहो ॥ ४ ॥

सूत उवाच

ज्वलन्तमचलं मेरुं तेजोराशिमनुत्तमम् ।
आक्षिपन्तं प्रभां भानोः स्वशृङ्गैः काञ्चनोज्ज्वलैः ॥ ५ ॥
काञ्चनाभरणं चित्रं देवगन्धर्वसेवितम् ।
अप्रमेयमनाधृष्यमधर्मबहुलैर्जनैः ॥ ६ ॥

सूत बोले-- अपने तेजसे जलते हुए, अत्यन्त श्रेष्ठ तेजके समूह, सोनेके समान कान्तिवाली अपनी चोटियोंसे सूर्यके तेजको भी फीका करनेवाले, सोनेके आभूषणोंसे बहुत सुहावने अर्थात् सोनेकी कांतिको धारण करनेके कारण अति सुन्दर, देव और गन्धर्व जिस पर रहते हैं ऐसे अद्वितीय, और अधर्मका आचरण करनेवालोंके द्वारा न जीते जाने योग्य ॥ ५–६ ॥

व्यालैराचरितं घोरैर्दिव्यौषधिविदीपितम्।
नाकमावृत्य तिष्ठन्तमुच्छ्रयेण महागिरिम् ॥ ७ ॥
अगम्यं मनसाप्यन्यैर्नदीवृक्षसमन्वितम्।
नानापतगसङ्घैश्च नादितं सुमनोहरैः ॥ ८ ॥

भयंकरसे भयंकर सांप जिस पर घूमते हैं ऐसे, अनेक अलौकिक औषधियोंसे प्रकाशित, अपनी ऊंचाईसे स्वर्गको भी घेर कर खडे रहनेवाले, अत्यधिक उन्नत, दूसरोंके द्वारा मनसे भी न जाने जा सकने योग्य, नदियों और वृक्षोंसे युक्त, अनेक तरहके मनको हरनेवाले सुन्दर सुन्दर पक्षियोंके समूहोंके कलरवसे शब्दायमान ॥ ७–८ ॥

तस्य पृष्ठमुपारुह्य बहुरत्नाचितं शुभम्।
अनन्तकल्पमुद्विद्धं सुराः सर्वे महौजसः ॥ ९ ॥

अनन्तकल्प अर्थात् आकाशके समान उद्विद्ध अर्थात् ऊंचे, अनेक रत्नोंसे सुशोभित, अत्यंत कल्याणकारक ऐसे मेरु पर्वतकी पीठ पर सभी महा तेजस्वी देव चढ गए ॥ ९ ॥

ते मन्त्रयितुमारब्धास्तत्रासीना दिवौकसः।
अमृतार्थे समागम्य तपोनियमसंस्थिताः ॥ १० ॥

तप और नियमोंमें रहनेवाले, स्वर्गके घरोंमें निवास करनेवाले अत्यन्त तेजस्वी वे सभी देवगण अमृतको प्राप्त करनेके लिए इकट्ठे होकर उस मेरु पर्वत पर बैठकर आपसमें विचार करने लगे ॥ १० ॥

तत्र नारायणो देवो ब्रह्माणमिदमब्रवीत्।
चिन्तयत्सु सुरेष्वेवं मन्त्रयत्सु च सर्वशः ॥ ११ ॥

इस तरह हर प्रकारसे विचार करनेवाले देवतागणोंके चिन्तायुक्त होने पर वहां भगवान् विष्णुने ब्रह्मासे यह बात कही, ॥ ११ ॥

देवैरसुरसङ्घैश्च मथ्यतां कलशोदधिः।
भविष्यत्यमृतं तत्र मथ्यमाने महोदधौ ॥ १२ ॥

सुर और असुरलोग मिलकर महासागरको कलसेके समान करके मथन करें, इस प्रकार उस महासमुद्रको मथनेसे अवश्य ही अमृत निकलेगा ॥ १२ ॥

सर्वौषधीः समावाप्य सर्वरत्नानि चैव हि।
मन्थध्वमुदधिं देवा वेत्स्यध्वममृतं ततः ॥ १३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥ (८७९)

हे देवो! सब औषधियां और सब रत्न पानेपर भी समुद्रका मंथन करते जाओ, तो अन्तमें अमृत प्राप्त करोगे ॥ १३ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें पन्द्रहवां अध्याय समाप्त ॥ ८७९ ॥

: १६ :

सूत उवाच

ततोऽभ्रशिखराकारैर्गिरिशृङ्गैरलंकृतम् ।
मन्दरं पर्वतवरं लताजालसमावृतम् ॥ १ ॥

सूत बोले– कि अनन्तर (समुद्रमंथनके लिए मंथन–दण्ड करनेके निमित्त सब देवताओंने मिलकर) श्वेत मेघकी चोटियोंके समान प्रतीत होनेवाले गगन चुम्बी बडी ऊंची ऊंची चोटियोंसे सुशोभित, लताजालसे आच्छादित, पर्वतश्रेष्ठ ॥ १ ॥

नानाविहगसंघुष्टं नानादंष्ट्रिसमाकुलम् ।
किंनरैरप्सरोभिश्च देवैरपि च सेवितम् ॥ २ ॥

विविध पक्षियोंसे युक्त, कराल सिंह आदि जन्तुओंसे व्याप्त, किन्नर, देव, अप्सराओंसे सेवित ॥ २ ॥

एकादश सहस्राणि योजनानां समुच्छ्रितम् ।
अधो भूमेः सहस्रेषु तावत्स्वेव प्रतिष्ठितम् ॥ ३ ॥
तमुद्धर्तुं न शक्ता वै सर्वे देवगणास्तदा ।
विष्णुमासीनमभ्येत्य ब्रह्माणं चेदमब्रुवन् ॥ ४ ॥

ऊंचाईमें ग्यारह हजार योजन और ग्यारह हजार ही जमीनके नीचे गडे हुए ऐसे उस मन्दर पहाडको उखाडनेमें असमर्थ होकर सब देवगण तब बैठे हुए ब्रह्मा और विष्णुके समीप जाकर बोले ॥ ३–४ ॥

भवन्तावत्र कुरुतां बुद्धिं नैःश्रेयसीं पराम् ।
मन्दरोद्धरणे यत्नः क्रियतां च हिताय नः ॥ ५ ॥

आप इस विषयमें अत्यन्त कल्याणमयी बुद्धिका उपयोग करें और हमारे हित करनेके लिए मन्दर पर्वतको उखाडनेका प्रयत्न करें ॥ ५ ॥

तथेति चाब्रवीद्विष्णुर्ब्रह्मणा सह भार्गव ।
ततोऽनन्तः समुत्थाय ब्रह्मणा परिचोदितः ।
नारायणेन चाप्युक्तस्तस्मिन्कर्मणि वीर्यवान् ॥ ६ ॥

हे भृगुकुलोत्पन्न शौनक ! तब ब्रह्मदेवके साथ विष्णुने ' ठीक है ' ऐसा कहा, तब ब्रह्मसे प्रेरित होकर तथा उस काममें विष्णु द्वारा कहे जानेपर महाबली अनन्त उठकर खडे हो गए ॥ ६ ॥

अथ पर्वतराजानं तमनन्तो महाबलः।
उज्जहार बलाद्ब्रह्मन्सवनं सवनौकसम् ॥ ७ ॥

और हे ब्रह्मन्! उस महाबलशाली अनन्तने उस पर्वतराज मन्दरको वनों और उन वनोंमें रहनेवाले वनवासियों सहित बलपूर्वक उखाड दिया ॥ ७ ॥

ततस्तेन सुराः सार्धं समुद्रमुपतस्थिरे।
तमूचुरमृतार्थाय निर्मथिष्यामहे जलम् ॥ ८ ॥

उसके बाद देवगण उस पर्वतके साथ समुद्रतट पर उपस्थित हुए और उस समुद्रसे कहा, कि "हम अमृतके निमित्त तुम्हारे जलका मंथन करेंगे" ॥ ८ ॥

अपांपतिरथोवाच ममाप्यंशो भवेत्ततः।
सोढास्मि विपुलं मर्दं मन्दरभ्रमणादिति ॥ ९ ॥

तब समुद्रने कहा– "तब तो उस अमृतमें मेरा भी अंश होगा, क्योंकि मुझे मन्दरपर्वतके घूमनेके कारण होनेवाली उस कठिन रगडको सहना पडेगा ॥ ९ ॥

ऊचुश्च कूर्मराजानमकूपारं सुरासुराः।
गिरेरधिष्ठानमस्य भवान्भवितुमर्हति ॥ १० ॥

समुद्रकी इस बात पर संमत होकर वे सुरासुर लोग समुद्रस्तलमें स्थित कूर्मराजसे बोले, "हे कूर्मराज! तुम इस मन्दर पर्वतका आधार बनो" ॥ १० ॥

कूर्मेण तु तथेत्युक्त्वा पृष्ठमस्य समर्पितम्।
तस्य शैलस्य चाग्रं वै यन्त्रेणेन्द्रोऽभ्यपीडयत् ॥ ११ ॥

कूर्मराजने "तथास्तु" कह कर पीठ पर मन्दर पर्वतको रख लिया। इन्द्र कूर्मके पीठ पर स्थित उस मन्दर पर्वतके आगेके भागको यंत्रसे घुमाने लगे ॥ ११ ॥

मन्थानं मन्दरं कृत्वा तथा नेत्रं च वासुकिम्।
देवा मथितुमारब्धाः समुद्रं निधिमम्भसाम्।
अमृतार्थिनस्ततो ब्रह्मन्सहिता दैत्यदानवाः ॥ १२ ॥

हे ब्रह्मन्! देवताओं और असुरोंने अमृत प्राप्तिके निमित्त मन्दरको मंथनदण्ड और वासुकिको डोरी बना कर जलके भंडार समुद्रको मथना आरंभ किया ॥ १२ ॥

एकमन्तमुपाश्लिष्टा नागराज्ञो महासुराः।
विबुधाः सहिताः सर्वे यतः पुच्छं ततः स्थिताः ॥ १३ ॥

जिस ओर नागराज वासुकिका मुख था, उधर दानव और जिस ओर उसकी पूंछ थी उधर देवता लोग खडे हो गए ॥ १३ ॥

अनन्तो भगवान्देवो यतो नारायणस्ततः ।
शिर उद्यम्य नागस्य पुनः पुनरवाक्षिपत् ॥ १४ ॥

भगवान् अनन्तदेव उधर ही खडे थे, जिधर नारायण खडे थे, नारायण वासुकिनागका मुख उठाकर बार बार झटकते थे ॥ १४ ॥

वासुकेरथ नागस्य सहसाक्षिप्यतः सुरैः ।
सधूमाः सार्चिषो वाता निष्पेतुरसकृन्मुखात् ॥ १५ ॥

तब सुरोंने नागराज वासुकिके फनको उठाकर अचानक पटक दिया, इससे उसके मुखसे धुंवे और अग्निज्वालासे युक्त श्वासवायु बार बार निकलने लगी ॥ १५ ॥

ते धूमसङ्घाः संभूता मेघसंघाः सविद्युतः ।
अभ्यवर्षन्सुरगणाञ्श्रमसंतापकर्शितान् ॥ १६ ॥

वह धुंओंके समूह विजलीयुक्त मेघोंके समूह बनकर परिश्रमके दुःखसे क्षीण हुए हुए देवताओंपर बरसने लगे ॥ १६ ॥

तस्माच्च गिरिकूटाग्रात्प्रच्युताः पुष्पवृष्टयः ।
सुरासुरगणान्माल्यैः सर्वतः समवाकिरन् ॥ १७ ॥

और उस पहाड मन्दरपरसे गिरनेवाली फूलोंकी बरसात सुरों और असुरोंके चारों ओर फैल गई ॥ १७ ॥

बभूवात्र महाघोषो महामेघरवोपमः ।
उदधेर्मथ्यमानस्य मन्दरेण सुरासुरैः ॥ १८ ॥

देवदानवोंके द्वारा मन्दरकी सहायतासे मथे जाते हुए समुद्रसे बादलकी ध्वनिके सदृश महाशब्द उठने लगा ॥ १८ ॥

तत्र नानाजलचरा विनिष्पिष्टा महाद्रिणा ।
विलयं समुपाजग्मुः शतशो लवणाम्भसि ॥ १९ ॥

और उस खारे जलवाले समुद्रमें रहनेवाले सैकडों जलजन्तु उस महान् पर्वतसे पीसे जाकर नष्ट हो गए ॥ १९ ॥

वारुणानि च भूतानि विविधानि महीधरः ।
पातालतलवासीनि विलयं समुपानयत् ॥ २० ॥

तथा पाताललोकमें रहनेवाले, जलप्रधान देहवाले वरुणसम्बन्धी नाना प्रकारके प्राणियोंके पास वह पर्वत नाशको खींचकर ले आया अर्थात् पातालवासी प्राणी भी उस पर्वतसे नष्ट होने लगे ॥ २० ॥

तस्मिंश्च भ्राम्यमाणेऽद्रौ संघृष्यन्तः परस्परम्।
न्यपतन्पतगोपेताः पर्वताग्रान्महाद्रुमाः ॥ २१ ॥

उस पर्वत-शिखरके घूमनेपर उस पर्वतके अग्रभागसे वृक्ष आपसमें घिस घिस कर पक्षियों--समेत गिरने लगे ॥ २१ ॥

तेषां संघर्षजश्चाग्निरर्चिर्भिः प्रज्वलन्मुहुः।
विद्युद्भिरिव नीलाभ्रमावृणोन्मन्दरं गिरिम् ॥ २२ ॥

जैसे विजलीके समूहसे नीले वादल घेर लिए जाते हैं, वैसे ही वृक्षादिकी रगडसे वार वार जलनेवाली आगसे मन्दर पर्वत घिर गया ॥ २२ ॥

ददाह कुञ्जरांश्चैव सिंहांश्चैव विनिःसृतान्।
विगतासूनि सर्वाणि सत्त्वानि विविधानि च ॥ २३ ॥

(रगडसे जली हुई वह आग पर्वत परके) सव निकले हुए हाथी और सिंहोंको जलाने-लगी, और उस आगके कारण दूसरे भी नाना प्रकारके सभी जन्तु प्राणोंसे वियुक्त होने लगे ॥ २३ ॥

तमग्निममरश्रेष्ठः प्रदहन्तं ततस्ततः।
वारिणा मेघजेनेन्द्रः शमयामास सर्वतः ॥ २४ ॥

अनन्तर देवोंमें श्रेष्ठ इन्द्रने बादलसे निकले जलसे चारों ओर फैले और जलानेवाले अग्निको चारों ओरसे बुझाया ॥ २४ ॥

ततो नानाविधास्तत्र सुस्रुवुः सागराम्भसि।
महाद्रुमाणां निर्यासा बहवश्चौषधीरसाः ॥ २५ ॥

तव नानाविध महा वृक्षोंका नाना तरहका दूध और पौधोंका अपरिमित रस समुद्रजलमें चूने लगा ॥ २५ ॥

तेषाममृतवीर्याणां रसानां पयसैव च।
अमरत्वं सुरा जग्मुः काञ्चनस्य च निःस्रवात् ॥ २६ ॥

उस अमृतके रसके समान प्रभावशाली जल और सुवर्णमय पर्वतसे चूनेवाले रससे देवता-ओंने अमरता प्राप्त की ॥ २६ ॥

अथ तस्य समुद्रस्य तज्जातमुदकं पयः।
रसोत्तमैर्विमिश्रं च ततः क्षीरादभूद्घृतम् ॥ २७ ॥

जव समुद्रका जल उस सुन्दर रसोंसे मिलकर दूध वन गया, तव उस दूधसे घृत वनने लगा ॥ २७ ॥

ततो ब्रह्माणमासीनं देवा वरदमब्रुवन् ।
श्रान्ताः स्म सुभृशं ब्रह्मन्नोद्भवत्यमृतं च तत् ॥ २८ ॥

अनंतर देवगण बैठे हुए वर देनेवाले ब्रह्मासे बोले, " हे ब्रह्मन् ! हम सब बहुत थक गये हैं । पर अभीतक अमृत नहीं निकला ॥ २८ ॥

ऋते नारायणं देवं दैत्या नागोत्तमास्तथा ।
चिरारब्धमिदं चापि सागरस्यापि मन्थनम् ॥ २९ ॥

भगवान् नारायणको छोडकर दैत्य, श्रेष्ठ नाग भी थक गए हैं तथा सागरके मंथनके कार्यको प्रारम्भ करके भी बहुत समय बीत गया है ॥ २९ ॥

ततो नारायणं देवं ब्रह्मा वचनमब्रवीत् ।
विधत्स्वैषां बलं विष्णो भवानत्र परायणम् ॥ ३० ॥

(देवताओंके इतना कहनेपर) ब्रह्मा देवाधिदेव नारायणसे यह वचन बोले " हे विष्णो ! तुम इन सुर और असुरोंको बल दो, इस विषयमें तुम ही एकमात्र आश्रयस्थान हो । " ॥ ३० ॥

विष्णुरुवाच

बलं ददामि सर्वेषां कर्मैतद्ये समास्थिताः ।
क्षोभ्यतां कलशः सर्वैर्मन्दरः परिवर्त्यताम् ॥ ३१ ॥

विष्णु बोले– " जो लोग समुद्र–मंथनके कार्यमें रत हैं, मैं उन सबोंको बल देता हूं, तुम सब समुद्ररूपी कलसेको हिलोडो और मन्दर पर्वतको घुमाते रहो । " ॥ ३१ ॥

सूत उवाच

नारायणवचः श्रुत्वा बलिनस्ते महोदधेः ।
तत्पयः सहिता भूयश्चक्रिरे भृशमाकुलम् ॥ ३२ ॥

सूत बोले– कि नारायणका वचन सुन कर देवता और दानव बल पाकरके और मिल जुलके फिर उस समुद्र--जलको बडे वेगसे मथने लगे ॥ ३२ ॥

ततः शतसहस्रांशुः समान इव सागरात् ।
प्रसन्नभाः समुत्पन्नः सोमः शीतांशुरुज्ज्वलः ॥ ३३ ॥

इससे समुद्रसे सैंकडों और हजारों किरणोंके समान तेजस्वी और सुहावने शीतल प्रकाश वाले सोम (चन्द्रमा) उत्पन्न हुए; ॥ ३३ ॥

श्रीरनन्तरमुत्पन्ना घृतात्पाण्डुरवासिनी ।
सुरा देवी समुत्पन्ना तुरगः पाण्डुरस्तथा ॥ ३४ ॥

इसके बाद उस घृतरूपी जलसे श्वेत वस्त्र पहनी हुई लक्ष्मी और तदनन्तर सुरा देवी उत्पन्न हुई और तत्पश्चात् उसी घृतसे सफेद घोडा प्रकट हुआ ॥ ३४ ॥

कौस्तुभश्च मणिर्दिव्य उत्पन्नोऽमृतसंभवः ।
मरीचिविकचः श्रीमान्नारायणउरोगतः ॥ ३५ ॥

नारायणकी छातीमें स्थित तेज प्रकाशको धारण करनेवाली, शोभाकारी दिव्य कौस्तुभ नामक मणि भी उसी अमृतरूपी जलसे उत्पन्न हुई ॥ ३५ ॥

श्रीः सुरा चैव सोमश्च तुरगश्च मनोजवः ।
यतो देवास्ततो जग्मुरादित्यपथमाश्रिताः ॥ ३६ ॥

लक्ष्मी, सुरा, सोम और मनके समान वेगवान् घोडा यह सब आदित्य-पथके अनुयायी होकर जहां देवगण थे, वहां चले गये ॥ ३६ ॥

धन्वन्तरिस्ततो देवो वपुष्मानुदतिष्ठत ।
श्वेतं कमण्डलुं बिभ्रदमृतं यत्र तिष्ठति ॥ ३७ ॥

इसके बाद शरीरधारी धन्वन्तरी एक सफेद कमण्डलु लेकर उत्पन्न हुए जिसमें अमृत भरा हुआ था ॥ ३७ ॥

एतदत्यद्भुतं दृष्ट्वा दानवानां समुत्थितः ।
अमृतार्थे महान्नादो ममेदमिति जल्पताम् ॥ ३८ ॥

यह आश्चर्य लीला देखकर उस अमृतके लिए " यह हमारा है यह हमारा है " कहते हुए दानवोंका बडा कोलाहल मचा ॥ ३८ ॥

ततो नारायणो मायामास्थितो मोहिनीं प्रभुः ।
स्त्रीरूपमद्भुतं कृत्वा दानवानभिसंश्रितः ॥ ३९ ॥

अनन्तर प्रभु नारायण मोहिनी माया आश्रय करके अपूर्व स्त्रीकी मूर्ति धारण करके दानवोंके निकट जा पहुंचे ॥ ३९ ॥

ततस्तदमृतं तस्यै ददुस्ते मूढचेतसः ।
स्त्रियै दानवदैतेयाः सर्वे तद्गतमानसाः ॥ ४० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥ (९१९)

तब उन मूर्ख बुद्धिवाले सब दैत्योंने उस अपूर्व रूपवती युवतीको देख करके उस रूपमें मग्न होकर और जडवत् बनकर उस स्त्रीको अमृत दे दिया ॥ ४० ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें सोलहवां अध्याय समाप्त ॥ ९१९ ॥

: १७ :

सूत उवाच

अथावरणमुख्यानि नानाप्रहरणानि च ।
प्रगृह्याभ्यद्रवन्देवान्सहिता दैत्यदानवाः ॥ १ ॥

सूत बोले– कि अनन्तर दानव वृन्द एकत्र होकरके तनुत्राण (जिरह बख्तर) आदि पहिन कर तथा नाना अस्त्रादि लेकर देवताओं पर चढ दौडे ॥ १ ॥

ततस्तदमृतं देवो विष्णुरादाय वीर्यवान् ।
जहार दानवेन्द्रेभ्यो नरेण सहितः प्रभुः ॥ २ ॥

इधर नरके साथ मिलकर वीर्यवान् देव प्रभु नारायण दानवोंसे अमृत पाकर उसे हर लाये ॥ २ ॥

ततो देवगणाः सर्वे पपुस्तदमृतं तदा ।
विष्णोः सकाशात्संप्राप्य संभ्रमे तुमुले सति ॥ ३ ॥

तब उस भारी लडाईके शुरू होनेपर देवता लोग भी नारायणसे उस अमृतको पाकर पीने लगे ॥ ३ ॥

ततः पिबत्सु तत्कालं देवेष्वमृतमीप्सितम् ।
राहुर्विबुधरूपेण दानवः प्रापिबत्तदा ॥ ४ ॥

देवोंके अपने अभिलषित अमृत पीते समय राहु (नामक दैत्य) देवताका स्वरूप धारण करके वहां आकर अमृत पीने लगा ॥ ४ ॥

तस्य कण्ठमनुप्राप्ते दानवस्यामृते तदा ।
आख्यातं चन्द्रसूर्याभ्यां सुराणां हितकाम्यया ॥ ५ ॥

अमृत उस दानव राहुके कण्ठतक पहुंचने पाया ही था, कि चन्द्र और सूर्यने देवताओंके हित करनेके लिये वह बात प्रकट कर दी ॥ ५ ॥

ततो भगवता तस्य शिरश्छिन्नमलंकृतम् ।
चक्रायुधेन चक्रेण पिबतोऽमृतमोजसा ॥ ६ ॥

(राहुका असुरभाव प्रकट होने पर) चक्र ही जिनका आयुध है, ऐसे भगवान् विष्णुने चक्रसे उसी क्षण बलपूर्वक उस अमृतको पीनेवाले राहुके सुशोभित शिरको धडसे अलग कर दिया ॥ ६ ॥

तच्छैलशृङ्गप्रतिमं दानवस्य शिरो महत्।
चक्रेणोत्कृत्तमपतच्चालयद्वसुधातलम् ॥ ७ ॥

चक्रसे अलग किया हुआ दैत्यका पहाडकी चोटीके सदृश वह महान्–मस्तक भूमिको कंपाता हुआ गिर गया ॥ ७ ॥

ततो वैरविनिर्बन्धः कृतो राहुमुखेन वै।
शाश्वतश्चन्द्रसूर्याभ्यां ग्रसत्यद्यापि चैव नौ ॥ ८ ॥

इसी समयसे राहुके मुखसे चन्द्र और सूर्यकी स्थायी शत्रुता बन गई, इसीसे राहु आज भी चन्द्र और सूर्यको ग्रस लेता है ॥ ८ ॥

विहाय भगवांश्चापि स्त्रीरूपमतुलं हरिः।
नानाप्रहरणैर्भीमैर्दानवान्समकम्पयत् ॥ ९ ॥

तब भगवान् विष्णु भी सुन्दरी स्त्रीका अनुपम रूप छोड कर भांति भांतिके भयावने अस्त्रोंसे दानवोंको कम्पित करने लगे ॥ ९ ॥

ततः प्रवृत्तः संग्रामः समीपे लवणाम्भसः।
सुराणामसुराणां च सर्वघोरतरो महान् ॥ १० ॥

इसके अनन्तर खारे जलवाले समुद्रतट पर देवदानवोंमें अति घोर और महान् युद्ध शुरू हुआ ॥ १० ॥

प्रासाः सुविपुलास्तीक्ष्णा न्यपतन्त सहस्रशः।
तोमराश्च सुतीक्ष्णाग्राः शस्त्राणि विविधानि च ॥ ११ ॥

सहस्रों तेज भाले और नोकदार तोमर तथा भांति भांतिके अस्त्र बरसने लगे ॥ ११ ॥

ततोऽसुराश्चक्रभिन्ना वमन्तो रुधिरं बहु।
असिशक्तिगदारुग्णा निपेतुर्धरणीतले ॥ १२ ॥

तब चक्रसे काटे जाकर रक्त उगलते हुए दैत्यगण तलवार, शक्ति और गदासे घायल होकर धरती पर लोटने लगे ॥ १२ ॥

छिन्नानि पट्टिशैश्चापि शिरांसि युधि दारुणे।
तप्तकाञ्चनजालानि निपेतुरनिशं तदा ॥ १३ ॥

और उस भयंकर युद्धमें असुरोंके शुद्ध सुवर्ण जालोंसे सुशोभित सिर भयंकर पट्टिशोंसे शरीरोंसे अलग होकर गिरने लगे ॥ १३ ॥

रुधिरेणावलिप्ताङ्गा निहताश्च महासुराः।
अद्रीणामिव कूटानि धातुरक्तानि शेरते ॥ १४ ॥

महावीर असुरवृन्द रक्तसे लाल होकर और मारे जाकर धातुओंसे रंगे पर्वतशृङ्गके समान पृथ्वी पर गिरने लगे ॥ १४ ॥

हाहाकारः समभवत्तत्र तत्र सहस्रशः ।
अन्योन्यं छिन्दतां शस्त्रैरादित्ये लोहितायति ॥ १५ ॥

सूर्यके लाल होनेपर उस रणभूमिमें आपसमें हजारों शस्त्रोंसे कटते और काटते हुए सुरासुरोंमें हाहाकार मच उठा ॥ १५ ॥

परिघैश्चायसैः पीतैः संनिकर्षे च मुष्टिभिः ।
निघ्नतां समरेऽन्योन्यं शब्दो दिवमिवास्पृशत् ॥ १६ ॥

रणभूमिमें दूर स्थित शत्रुको लोहेके परिघ अस्त्रोंसे और निकट आए हुओंको घूसोंसे एक दूसरेको काटते और मारते हुए सुरासुरोंका कोलाहल आकाश तक पहुंचने लगा ॥ १६ ॥

छिन्धि भिन्धि प्रधावध्वं पातयाभिसरेति च ।
व्यश्रूयन्त महाघोराः शब्दास्तत्र समन्ततः ॥ १७ ॥

" काटो, चूर करो, दौडो, गिरादो, आगे बढो " आदि महा भयंकर वहां शब्द चारों ओरसे सुनाई देने लगे ॥ १७ ॥

एवं सुतुमुले युद्धे वर्तमाने भयावहे ।
नरनारायणौ देवौ समाजग्मतुराहवम् ॥ १८ ॥

इस प्रकार इस महा भयंकर और घोर संग्रामके छिड जाने पर नर और नारायण देव रणभूमिमें आ पहुंचे ॥ १८ ॥

तत्र दिव्यं धनुर्दृष्ट्वा नरस्य भगवानपि ।
चिन्तयामास वै चक्रं विष्णुर्दानवसूदनम् ॥ १९ ॥

भगवान् नारायणने भी नरदेवका सुन्दर और दिव्य धनुष देखकर विष्णुने अपने दैत्यनाशी चक्रको स्मरण किया; ॥ १९ ॥

ततोऽम्बराच्चिन्तितमात्रमागतं महाप्रभं चक्रममित्रतापनम् ।
विभावसोस्तुल्यमकुण्ठमण्डलं सुदर्शनं भीममजय्यमुत्तमम् ॥ २० ॥

इस स्मरण करने मात्रसे ही महा प्रभा--कांतिवाला, शत्रुओंको संताप देनेवाला, सूर्यके समान तेजस्वी, कहीं पर भी कुण्ठित न होनेवाला, देखनेमें उत्तम अथवा सुदर्शन नामका, भयंकर, जीते न जानेवाला अत्युत्तम चक्र आकाश अर्थात् स्वर्गसे उतर आया ॥ २० ॥

तदागतं ज्वलितहुताशनप्रभं भयंकरं करिकरबाहुरच्युतः ।
मुमोच वै चपलमुदग्रवेगवन्महाप्रभं परनगरावदारणम् ॥ २१ ॥

हाथीके सूंडके समान विशाल बाहुओंवाले अच्युत अर्थात् भगवान् नारायणने आकाशसे आये हुए उस जलती हुई आगके समान प्रभावाले, भयंकर, बिजलीके समान भयानक, वेगवाले, अत्यधिक प्रभावाले और शत्रुके नगरोंको नष्ट भ्रष्ट करनेवाले चक्रको राक्षसों पर छोडा ॥ २१ ॥

*

तदन्तकज्वलनसमानवर्चसं पुनः पुनर्न्यपतत वेगवत्तदा।
विदारयद्दितिदनुजान्सहस्रशः करेरितं पुरुषवरेण संयुगे ॥ २२ ॥
तब युद्धमें पुरुष श्रेष्ठ नारायणके हाथसे चलाये जानेपर प्रलयकालके तेजस्वी अग्निके समान वह सुदर्शन चक्र सहस्रों दैत्य–दानवोंको बडे वेगसे काटता हुआ उन पर बार बार गिरने लगा ॥ २२ ॥

दहत्क्वचिज्ज्वलन इवावलेलिहत्प्रसह्य तानसुरगणान्न्यकृन्तत।
प्रवेरितं वियति मुहुः क्षितौ तदा पपौ रणे रुधिरमथो पिशाचवत् ॥ २३ ॥
कहीं कहीं तो वह चक्र जलती हुई अग्निके समान उन असुरोंको चाटने लगा और कहीं कहीं असुरोंको बलपूर्वक काटने लगा और पिशाचकी भांति रणभूमि तथा आकाशमें हर घडी घूमता घामता रक्त पीने लगा ॥ २३ ॥

अथासुरा गिरिभिरदीनचेतसो मुहुर्मुहुः सुरगणमर्दयंस्तदा।
महाबला विगलितमेघवर्चसः सहस्रशो गगनमभिप्रपद्य ह ॥ २४ ॥
बिना जलके बादलोंके सदृश शोभायुक्त, महाबली, तथा साहससे पूर्ण चित्तवाले सहस्रों असुर आकाशमें चढकर बार बार पर्वतोंको गिराकर देवताओंको नष्ट करने लगे ॥ २४ ॥

अथाम्बराद्भयजननाः प्रपेदिरे सपादपा बहुविधमेघरूपिणः।
महाद्रयः प्रविगलिताग्रसानवः परस्परं द्रुतमभिहत्य सस्वनाः ॥ २५ ॥
अनेकविध मेघोंके रूपोंको धारण करनेवाले, पेडोंसे युक्त तथा टूटे हुए अग्रभागवाली चोटियोंसे युक्त बडे बडे पहाड आपसमें शीघ्रतासे टकराकर भयको उत्पन्न करनेवाले शब्द करते हुए आकाशसे धरती पर गिरते थे ॥ २५ ॥

ततो मही प्रविचलिता सकानना महाद्रिपाताभिहता समन्ततः।
परस्परं भृशमभिगर्जतां मुहू रणाजिरे भृशमभिसंप्रवर्तिते ॥ २६ ॥
एक दूसरेको ललकारते हुए देव और असुरोंमें घोर भयानक लडाई होने पर रणभूमिके चारों ओर बडे बडे पर्वतोंके गिरनेसे वनसहित धरती चोट खाकर कांपने लगी ॥ २६ ॥

नरस्ततो वरकनकाग्रभूषणैर्महेषुभिर्गगनपथं समावृणोत्।
विदारयन्गिरिशिखराणि पत्रिभिर्महाभयेऽसुरगणविग्रहे तदा ॥ २७ ॥
तब असुरोंके साथ उस घोर भयोत्पादक लडाईमें नरदेवने सुवर्णसे मढे हुए अग्रभागवाले श्रेष्ठ बाणोंसे पर्वतोंकी चोटी काट काटकर उनसे आकाशतल छा दिया ॥ २७ ॥

ततो महीं लवणजलं च सागरं महासुराः प्रविविशुरर्दिताः सुरैः ।
वियद्गतं ज्वलितहुताशनप्रभं सुदर्शनं परिकुपितं निशाम्य च ॥ २८ ॥

तब देवताओंसे मारे काटे जाकर और आकाशमें घूमते हुए प्रज्ज्वालित अग्निके समान तेजस्वी सुदर्शनको क्रोधित हुआ हुआ देखकर दैत्यगण पृथ्वीके भीतर और खारे जलवाले समुद्रमें जाकर छिप गए ॥ २८ ॥

ततः सुरैर्विजयमवाप्य मन्दरः स्वमेव देशं गमितः सुपूजितः ।
विनाद्य खं दिवमपि चैव सर्वशस्ततो गताः सलिलधरा यथागतम् ॥ २९ ॥

तब देवताओंने जय पाकर मन्दरपर्वतका यथोचित सत्कार करके उसको उसके स्थानमें भेज दिया । सम्पूर्ण बादल भी चारों ओरसे आकाश और द्युलोकको गुंजाते हुए वहांसे अपने अपने स्थानोंको चले गए ॥ २९ ॥

ततोऽमृतं सुनिहितमेव चक्रिरे सुराः परां मुदमभिगम्य पुष्कलाम् ।
ददौ च तं निधिममृतस्य रक्षितुं किरीटिने बलभिदथामरैः सह ॥ ३० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥ ९४९ ॥

पश्चात् देवता लोगोंने अत्यधिक परम आनन्द प्राप्त करके अमृतको अपने पास रख लिया । फिर इन्द्रने देवताओंके साथ मिलकर रक्षाके लिये उस अमृतको नरदेवके हाथमें अमृत-भाण्डको सौंप दिया ॥ ३० ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें सत्रहवां अध्याय समाप्त ॥ १७ ॥ ९४९ ॥

: १८ :

सूत उवाच

एतत्ते सर्वमाख्यातममृतं मथितं यथा ।
यत्र सोऽश्वः समुत्पन्नः श्रीमानतुलविक्रमः ॥ १ ॥

सूत बोले–हे शौनक ! जिस प्रकार अति बल–शाली तथा शोभायुक्त अश्वराज उच्चैःश्रवाकी उत्पत्ति हुई थी, और जिस प्रकार अमृतका मंथन किया था, वह सब कथा मैंने आपसे कह दी है ॥ १ ॥

यं निशाम्य तदा कद्रूर्विनतामिदमब्रवीत् ।
उच्चैःश्रवा नु किंवर्णो भद्रे जानीहि माचिरम् ॥ २ ॥

उस उच्चैःश्रवाको देखकर कद्रू विनतासे यह बोली, "हे भद्रे ! जल्दी कहो तो सही, कि यह उच्चैःश्रवा किस रंगका है ? " ॥ २ ॥

विनतोवाच

श्वेत एवाश्वराजोऽयं किं वा त्वं मन्यसे शुभे।
ब्रूहि वर्णं त्वमप्यस्य ततोऽत्र विपणावहे ॥ ३ ॥

विनता बोली– "यह उच्चैःश्रवा तो सफेद रङ्गका ही है। अथवा हे कल्याणि ! तुम क्या समझती हो? तुम भी इसका वर्ण बताओ तो हम दोनों इस बारेमें बाजी लगाएं" ॥ ३ ॥

कद्रूरुवाच

कृष्णवालमहं मन्ये हयमेनं शुचिस्मिते।
एहि सार्धं मया दीव्य दासीभावाय भामिनि ॥ ४ ॥

कद्रू बोली, "हे पवित्र मुस्करानेवाली ! मैं तो इस घोडेको काले रंगकी पूंछवाला मानती हूँ। हे भामिनी ! आओ, मेरे साथ दासीभावके लिए बाजी लगाओ अर्थात् जो हारेगी, वह सदा दूसरीकी दासी बनी रहेगी" ॥ ४ ॥

सूत उवाच

एवं ते समयं कृत्वा दासीभावाय वै मिथः।
जग्मतुः स्वगृहानेव श्वो द्रक्ष्याव इति स्म ह ॥ ५ ॥

सूत बोले, कि इस प्रकार कद्रू और विनता आपसमें दासीपनकी बाजी लगा करके यह कह कर, कि "कल घोडा देख लिया जायगा" अपने अपने घरोंको चली गई ॥ ५ ॥

ततः पुत्रसहस्रं तु कद्रूर्जिह्मं चिकीर्षती।
आज्ञापयामास तदा वाला भूत्वाञ्जनप्रभाः ॥ ६ ॥
आविशध्वं हयं क्षिप्रं दासी न स्यामहं यथा।
तद्वाक्यं नान्वपद्यन्त तान्शशाप भुजङ्गमान् ॥ ७ ॥

तब कद्रूने छल करनेकी इच्छासे अपने सहस्र पुत्रोंको आज्ञा दी "पुत्रो ! तुम अंजनकीसी कांतिवाले काले लोम बनकर उच्चैःश्रवाको ढंक लो, कि जिससे मुझको दासी न होना पडे।" कद्रूके ऐसा कहनेपर, जिन सर्पोंने उसकी बात न मानी, उनको उसने यह शाप दिया ॥ ६–७ ॥

सर्पसत्रे वर्तमाने पावको वः प्रधक्ष्यति।
जनमेजयस्य राजर्षेः पाण्डवेयस्य धीमतः ॥ ८ ॥

कि पाण्डवपुत्र बुद्धिमान् राजर्षि जनमेजयके सर्पयज्ञके समय अग्निदेवता तुमको जलावेंगे ॥ ८ ॥

शापमेनं तु शुश्राव स्वयमेव पितामहः ।
अतिक्रूरं समुद्दिष्टं कद्र्वा दैवादतीव हि ॥ ९ ॥

कद्रूने क्रोधित होकर दैवसंयोगसे सर्पोंको जैसा कठोर शाप दिया था, उसे स्वयं पितामह ब्रह्माजीने सुना ॥ ९ ॥

सार्धं देवगणैः सर्वैर्वाचं तामन्वमोदत ।
बहुत्वं प्रेक्ष्य सर्पाणां प्रजानां हितकाम्यया ॥ १० ॥

और सम्पूर्ण देवोंके सहित ब्रह्माने सांपोंकी संख्या बढते देखकर प्रजाओंके हित करनेकी इच्छासे कद्रूकी इस बातका समर्थन किया ॥ १० ॥

तिग्मवीर्यविषा ह्येते दन्दशूका महाबलाः ।
तेषां तीक्ष्णविषत्वाद्धि प्रजानां च हिताय वै ।
प्रादाद्विषहरणीं विद्यां काश्यपाय महात्मने ॥ ११ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥ ९६० ॥

ये साप भयंकर विषवाले, तीक्ष्ण दाढवाले महाबलवान् थे उनका विष तीक्ष्ण था अतः उनके अत्यन्त जहरीले होनेके कारण प्रजाओंके हितके लिए ब्रह्माने इस बातका समर्थन किया और महात्मा कश्यपको विष हरनेवाली विद्या प्रदान की ॥ ११ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें अठ्ठारहवां अध्याय समाप्त ॥ १८ ॥ ॥ ९६० ॥

: १९ :

सूत उवाच

ततो रजन्यां व्युष्टायां प्रभात उदिते रवौ ।
कद्रूश्च विनता चैव भगिन्यौ ते तपोधन ॥ १ ॥
अमर्षिते सुसंरब्धे दास्ये कृतपणे तदा ।
जग्मतुस्तुरगं द्रष्टुमुच्चैःश्रवसमन्तिकात् ॥ २ ॥

सूत बोले– कि हे तपोधन ! दूसरे दिन रातके खतम होनेपर सवेरे सूर्य उगते ही, कद्रू और विनता दोनों बहिनें दासीपनकी बाजी लगायें हुई, हिंसा और क्रोधसे भरी हुई घोडेको देखनेके लिए उच्चैःश्रवाके पास गईं ॥ १–२ ॥

ददृशाते तदा तत्र समुद्रं निधिमम्भसाम् ।
तिमिंगिलझषाकीर्णं मकरैरावृतं तथा ॥ ३ ॥

कुछ दूर चलकर उन्होंने पासहीमें जलके कोष महासमुद्रको देखा। जो घडियाल, तिमिंगल, मछली और मगरोंसे घिरा हुआ है ॥ ३ ॥

सत्त्वैश्च बहुसाहस्रैर्नानारूपैः समावृतम् ।
उग्रैर्नित्यमनाधृष्यं कूर्मग्राहसमाकुलम् ॥ ४ ॥

तथा भांति भांतिके रूपवाले तथा भयंकर सहस्रों जीवोंसे सदा भरा हुआ तथा जो कछुए तथा मगरोंसे भरे हुए होनेके कारण पार जा सकनेके अयोग्य है ॥ ४ ॥

आकरं सर्वरत्नानामालयं वरुणस्य च ।
नागानामालयं रम्यमुत्तमं सरितां पतिम् ॥ ५ ॥

वह नदियोंका राजा समुद्र सर्व रत्नोंकी खान, वरुणका घर, सर्पोंका सुन्दर और श्रेष्ठ आगार था ॥ ५ ॥

पातालज्वलनावासमसुराणां च बन्धनम् ।
भयंकरं च सत्त्वानां पयसां निधिमर्णवम् ॥ ६ ॥

वह समुद्र पातालकी अग्नि अर्थात् वाडवाग्निका आधार, असुरोंका बंधन, स्थलचर जीवोंके लिए भयंकर, जलका अक्षय भाण्डार है ॥ ६ ॥

शुभं दिव्यममर्त्यानाममृतस्याकरं परम् ।
अप्रमेयमचिन्त्यं च सुपुण्यजलमद्भुतम् ॥ ७ ॥

वह समुद्र शुभ देवभोगयोग्य अमृतका मंगलमय श्रेष्ठ अलौकिक आधार, माप रहित, अत एव आचिन्त्य, उत्तम जलसे युक्त तथा अद्भुत है ॥ ७ ॥

घोरं जलचरारावरौद्रं भैरवनिस्वनम् ।
गम्भीरावर्तकलिलं सर्वभूतभयंकरम् ॥ ८ ॥

जलचरोंके घोर शब्दसे भयंकर और भयानक शब्दोंसे युक्त, भारी भारी भंवरवाली लहरोंसे भरा हुआ, सर्व भूतोंके लिए भयदायी है ॥ ८ ॥

वेलादोलानिलचलं क्षोभोद्वेगसमुत्थितम् ।
वीचीहस्तैः प्रचलितैर्नृत्यन्तमिव सर्वशः ॥ ९ ॥

और तट पर प्रवल वेगसे बहती हुई हवासे चञ्चल हुआ हुआ वह समुद्र चञ्चल लहररूपी हाथ उठाकर मानों चारों ओर नाच रहा है ॥ ९ ॥

चन्द्रवृद्धिक्षयवशादुद्वृत्तोर्मिदुरासदम् ।
पाञ्चजन्यस्य जननं रत्नाकरमनुत्तमम् ॥ १० ॥

जो सुन्दर रत्नाकर चन्द्रके घटने और बढनेके कारण अति ऊंची लहरोंसे उछल उठनेके कारण अति भयानक है, जो पांचजन्य शङ्खकी उत्पत्तिका स्थान है ॥ १० ॥

गां विन्दता भगवता गोविन्देनामितौजसा ।
वराहरूपिणा चान्तर्विक्षोभितजलाविलम् ॥ ११ ॥

भूमिको ढूंढ निकालनेकी इच्छासे वराह रूपधारी अमित तेजस्वी भगवान् नारायणने जिसका जल हिलोडा और गंदला किया है ॥ ११ ॥

ब्रह्मर्षिणा च तपता वर्षाणां शतमत्रिणा ।
अनासादितगाधं च पातालतलमव्ययम् ॥ १२ ॥

सैकडों वर्षोंतक तप करने पर भी ब्रह्मर्षि अत्रि भी जिसके अथाह जलके पाताल-तलके तलतक पहुंच नहीं सके थे ऐसा अगाध वह समुद्र है ॥ १२ ॥

अध्यात्मयोगनिद्रां च पद्मनाभस्य सेवतः ।
युगादिकालशयनं विष्णोरमिततेजसः ॥ १३ ॥

अपरिमित तेजोपूर्ण पद्मनाभ विष्णु प्रलयकालमें अध्यात्मयोगकी निद्रामें जहां सोते हैं ॥१३॥

वडवामुखदीप्ताग्नेस्तोयहव्यप्रदं शुभम् ।
अगाधपारं विस्तीर्णमप्रमेयं सरित्पतिम् ॥ १४ ॥

वडवामुखसे प्रज्ज्वलित अग्निमें जलरूपी हव्यकी आहुति चढानेवाला तथा शुभ है; अपरिमित सीमावाला विस्तीर्ण और अप्रमेय जो नदियोंका राजा समुद्र है ॥ १४ ॥

महानदीभिर्बह्वीभिः स्पर्धयेव सहस्रशः ।
अभिसार्यमाणमनिशं ददृशाते महार्णवम् ॥ १५ ॥

सहस्रों और बहुतसी महानदियां जिस समुद्रके समीप नायिकाकी भांति स्पर्धापूर्वक सदा दौडती हुई दिखाई देती हैं ॥ १५ ॥

गम्भीरं तिमिमकरोग्रसंकुलं तं गर्जन्तं जलचररावरौद्रनादैः ।
विस्तीर्णं ददृशतुरम्बरप्रकाशं तेऽगाधं निधिमुरुमम्भसामनन्तम् ॥ १६ ॥

अति गहरा, तिमि-मकरादि उग्र जीवोंसे भरपूर, जलचरोंके घोर शब्दसे गूंजता हुआ, आकाशके समान फैला हुआ, अथाह अपार जलसागर कद्रू और विनताको दीख पडा ॥ १६ ॥

इत्येवं झषमकरोर्मिसंकुलं तं गम्भीरं विकसितमम्बरप्रकाशम् ।
पातालज्वलनशिखाविदीपितं तं पश्यन्त्यौ द्रुतमभिपेततुस्तदानीम् ॥ १७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वाणि एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥ ९७७ ॥

इस प्रकार मछली और मगरसे भरपूर, अगाध, आकाशके प्रकाशके समान विकसित तथा पातालकी अग्निकी ज्वालासे प्रकाशित उस सागरको देखती हुई वे दोनों उस समय शीघ्रही उसके पास पहुंची ॥ १७ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें उन्नीसवां अध्याय समाप्त ॥ १९ ॥ ९७७ ॥

: २० :

सूत उवाच

तं समुद्रमतिक्रम्य कद्रूर्विनतया सह।
न्यपतत्तुरगाभ्याशे नाचिरादिव शीघ्रगा ॥ १ ॥

सूत बोले– कि शीघ्रतासे चलनेवाली कद्रू विनताके साथ महासमुद्रके पार उतरकर शीघ्र ही उच्चैःश्रवाके समीप जा पहुंची ॥ १ ॥

निशाम्य च बहून्वालान्कृष्णान्पुच्छं समाश्रितान्।
विनतां विषण्णवदनां कद्रूर्दास्ये न्ययोजयत् ॥ २ ॥

उस (घोडे) की पूछमें बहुतसे काले बालोंको लगा हुआ देखकर उदास मुखवाली विनताको कद्रूने अपने दासीके कार्यमें नियुक्त किया ॥ २ ॥

ततः सा विनता तस्मिन्पणितेन पराजिता।
अभवद्दुःखसंतप्ता दासीभावं समास्थिता ॥ ३ ॥

तब उस बाजीमें हारकर दासीके कार्यमें लगी हुई वह विनता दुःखसे बहुत संतप्त हुई ॥३ ॥

एतस्मिन्नन्तरे चैव गरुडः काल आगते।
विना मात्रा महातेजा विदार्याण्डमजायत ॥ ४ ॥

इसी बीचमें बडे प्रभावशाली गरुड कालपूर्ण होने पर माताकी सहायताके बिना ही स्वयं अण्डेको फोडकर निकल आया ॥ ४ ॥

अग्निराशिरिवोद्भासन्समिद्धोऽतिभयंकरः।
प्रवृद्धः सहसा पक्षी महाकायो नभोगतः ॥ ५ ॥

जलती हुई अग्निके समान दीखते हुए तेजस्वी अति भयंकर वृद्धिको प्राप्त हुआ तथा महान् शरीरवाला यह पक्षी अचानक आकाशमें उड गया ॥ ५ ॥

तं दृष्ट्वा शरणं जग्मुः प्रजाः सर्वा विभावसुम्।
प्रणिपत्याब्रुवंश्चैनमासीनं विश्वरूपिणम् ॥ ६ ॥

यह देखकर सभी प्रजाएं सुखसे बैठे हुए विश्वरूपी अग्निदेवकी शरणमें गए और उनको प्रणाम कर बोले ॥ ६ ॥

अग्ने मा त्वं प्रवर्धिष्ठाः कच्चिन्नो न दिधक्षसि।
असौ हि राशिः सुमहान्समिद्धस्तव सर्पति ॥ ७ ॥

" हे अग्ने! तुम अब और अधिक न बढो; क्या तुम हमें जलाना तो नहीं चाहते? वह देखो, समिद्ध हुए तुम्हारे ये तेज–समूह बढे चले आ रहे हैं " ॥ ७ ॥

अग्निरुवाच

नैतदेवं यथा यूयं मन्यध्वमसुरार्दनाः ।
गरुडो बलवानेष मम तुल्यः स्वतेजसा ॥ ८ ॥

अग्निदेव बोले– " हे दैत्यनाशी देवगण ! तुम जो मानते हो वह ठीक नहीं है । अपने तेजसे मेरे सदृश यह गरुड है " ॥ ८ ॥

सूत उवाच

एवमुक्तास्ततो गत्वा गरुडं वाग्भिरस्तुवन् ।
अदूरादभ्युपेत्यैनं देवाः सर्षिगणास्तदा ॥ ९ ॥

सूत बोले– इस प्रकार कहे जाने पर वहांसे चलकर देवगण ऋषियोंके साथ मिलकर दूरसे आकर गरुडकी स्तुति करने लगे ॥ ९ ॥

त्वं ऋषिस्त्वं महाभागस्त्वं देवः पतगेश्वरः ।
त्वं प्रभुस्तपनप्रख्यस्त्वं नस्त्राणमनुत्तमम् ॥ १० ॥

हे पक्षीराज ! तुम ऋषि हो, तुम महा भाग्यवान् हो, तुम देवता हो, तुम पक्षियोंके स्वामी हो, तुम स्वामी हो, तुम ही तेज हो तथा तुम हम सबके उत्तम रक्षक हो ॥ १० ॥

बलोर्मिमान्साधुरदीनसत्त्वः समृद्धिमान्दुष्प्रसहस्त्वमेव ।
तपः श्रुतं सर्वमहीनकीर्ते अनागतं चोपगतं च सर्वम् ॥ ११ ॥

तुम बलके सागर हो, तुम साधु हो, तुम अक्षय बलवाले हो, तुम ऐश्वर्यवान् हो, तुम ही अजेय हो, हे पूर्ण कीर्तिमान् ! तुम तप हो, तुम श्रुत हो तथा तुम्हींसे आगत तथा अनागतकी उत्पत्ति होती है ॥ ११ ॥

त्वमुत्तमः सर्वमिदं चराचरं गभस्तिभिर्भानुरिवावभाससे ।
समाक्षिपन्भानुमतः प्रभां मुहुस्त्वमन्तकः सर्वमिदं ध्रुवाध्रुवम् ॥ १२ ॥

तुम उत्तम हो, जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणोंसे सब प्रकाशित करता है उसी प्रकार तुम भी स्थावर जंगमात्मक संपूर्ण जगत्को प्रकाशित कर रहे हो, तुम ही सूर्यके प्रकाशको हर कर इस चराचर विश्वका क्षण क्षणमें लय कर रहे हो ॥ १२ ॥

दिवाकरः परिकुपितो यथा दहेत्प्रजास्तथा दहसि हुताशनप्रभ ।
भयङ्करः प्रलय इवाग्निरुत्थितो विनाशयन्युगपरिवर्तनान्तकृत् ॥ १३ ॥

हे अग्निके समान तेजवान् ! जिस प्रकार प्रलय कालमें सूर्यदेव क्रोधित होकर प्रजाओंको जलाता है, तुम भी उसी प्रकार उन प्रजाओंको जला रहे हो और युग बदलनेके कालमें सृष्टिनाशी प्रलयाग्नि जिस प्रकार भयानक रूपसे जलकर संहार करती है, तुम भी उसी प्रकार सृष्टिको नष्ट कर रहे हो ॥ १३ ॥

खगेश्वरं शरणमुपस्थिता वयं महौजसं वितिमिरमभ्रगोचरम्।
महाबलं गरुडमुपेत्य खेचरं परावरं वरदमजय्यविक्रमम् ॥ १४ ॥

महा पराक्रमी, अन्धकारका विनाशक, आकाशमें संचार करनेवाले, अत्यन्त बलशाली, पर अर्थात् स्थूलसे भी स्थूल और अवर अर्थात् सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म, वर देनेवाले, अजेय पराक्रम-वाले पक्षियोंके राजा गरुडकी शरणमें हम आते हैं ॥ १४ ॥

एवं स्तुतः सुपर्णस्तु देवैः सर्षिगणैस्तदा।
तेजसः प्रतिसंहारमात्मनः स चकार ह ॥ १५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥ २९२ ॥

ऋषि और देवताओंके द्वारा इस प्रकार स्तुत होकर गरुडने अपने तेजसमूहको समेट लिया ॥ १५ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें बीसवां अध्याय समाप्त ॥ २० ॥ २९२ ॥

: २१ :

सूत उवाच

ततः कामगमः पक्षी महावीर्यो महाबलः।
मातुरन्तिकमागच्छत्परं तीरं महोदधेः ॥ १ ॥

सूत बोले– इसके बाद अति वीर्यशाली, महाबली, अपनी इच्छानुसार जानेवाला पक्षीराज समुद्रके दूसरे किनारे अपनी माताके समीप जा पहुंचा ॥ १ ॥

यत्र सा विनता तस्मिन्पणितेन पराजिता।
अतीव दुःखसंतप्ता दासीभावमुपागता ॥ २ ॥

जहां उसकी माता विनता बाजी हार कर और अति दुःखी होकर, दासी बनी हुई थीं ॥२॥

ततः कदाचिद्विनतां प्रवणां पुत्रसंनिधौ।
काल आहूय वचनं कद्रूरिदमभाषत ॥ ३ ॥

एक दिन कद्रू गरुडके सामने ही नम्र हुई हुई विनताको बुला कर यह वचन बोली ॥३॥

नागानामालयं भद्रे सुरम्यं रमणीयकम्।
समुद्रकुक्षावेकान्ते तत्र मां विनते वह ॥ ४ ॥

"हे भद्रे! उस एकान्त समुद्रके भीतर नागोंका सुन्दर और आनन्ददायी घर है, हे विनता! वहां मुझको ले चल" ॥ ४ ॥

ततः सुपर्णमाता तामवहत्सर्पमातरम् ।
पन्नगान्गरुडश्चापि मातुर्वचनचोदितः ॥ ५ ॥

यह सुनकर गरुडकी माता विनता उस सर्पोंकी माता कद्रूको वहां ले चली और गरुड भी माताकी आज्ञानुसार सर्पोंको ले चला ॥ ५ ॥

स सूर्यस्याभितो याति वैनतेयो विहंगमः ।
सूर्यरश्मिपरीताश्च मूर्च्छिताः पन्नगाभवन् ।
तदवस्थान्सुतान्दृष्ट्वा कद्रूः शक्रमथास्तुवत् ॥ ६ ॥

पर ले चलनेके समय वहांसे विनता पुत्र पक्षीराज गरुड सूर्यमंडलके निकट होकर जाने लगा । इससे सर्पगण सूर्यके तेजसे व्याकुल होकर बेहोश हो गए । कद्रू पुत्रोंकी यह दशा देखकर देवराजकी स्तुति करने लगी ॥ ६ ॥

नमस्ते देवदेवेश नमस्ते बलसूदन ।
नमुचिघ्न नमस्तेऽस्तु सहस्राक्ष शचीपते ॥ ७ ॥

हे सर्व देवोंके नाथ ! तुमको नमस्कार करती हूं, हे बल राक्षकके सूदन ! तुमको नमस्कार करती हूं, हे नमुचि नामके असुरके विनाशक सहस्राक्ष शचीपति ! तुमको प्रणाम करती हूं ॥ ७ ॥

सर्पाणां सूर्यतप्तानां वारिणा त्वं प्लवो भव ।
त्वमेव परमं त्राणमस्माकममरोत्तम ॥ ८ ॥

जल बरसा कर तुम सूर्यसे जलते हुए सर्पोंकी रक्षा करो; हे देवोंमें उत्तम ! तुम ही हमारे एकमात्र रक्षक हो; ॥ ८ ॥

ईशो ह्यसि पयः स्रष्टुं त्वमनल्पं पुरंदर ।
त्वमेव मेघस्त्वं वायुस्त्वमग्निर्वैद्युतोऽम्बरे ॥ ९ ॥

हे पुरन्दर ! तुम अपरिमित वृष्टिकी सृष्टि करनेमें समर्थ हो । तुम ही वायु हो, तुम ही बादल हो, तुम ही अग्नि हो और तुम ही आकाशमें बीजली रूप हो ॥ ९ ॥

त्वमभ्रघनविक्षेप्ता त्वामेवाहुः पुनर्घनम् ।
त्वं वज्रमतुलं घोरं घोषवांस्त्वं बलाहकः ॥ १० ॥

तुम मेघोंके चलानेवाले हो, तुम्हींको बादल भी कहते हैं, तुम तुलनारहित घोर वज्र हो, तुम गरजनेवाले बादल हो ॥ १० ॥

स्रष्टा त्वमेव लोकानां संहर्ता चापराजितः ।
त्वं ज्योतिः सर्वभूतानां त्वमादित्यो विभावसुः ॥ ११ ॥

तुम तीनों लोकोंके रचने हारे हो, तुम ही नाश करनेवाले हो, तुम किसीके भी द्वारा जीतनेके अयोग्य हो, तुम ही आदित्य हो, तुम ही विभावसु हो ॥ ११ ॥

त्वं महद्भूतमाश्चर्यं त्वं राजा त्वं सुरोत्तमः।
त्वं विष्णुस्त्वं सहस्राक्षस्त्वं देवस्त्वं परायणम् ॥ १२ ॥

तुम आश्चर्ययुक्त महान् तत्त्व हो, तुम राजा हो, तुम देवोंमें श्रेष्ठ हो, तुम विष्णु हो, तुम सहस्राक्ष हो, तुम परात्पर पर देव हो ॥ १२ ॥

त्वं सर्वममृतं देव त्वं सोमः परमार्चितः।
त्वं मुहूर्तस्तिथिश्च त्वं लवस्त्वं वै पुनः क्षणः ॥ १३ ॥

हे देव ! तुम सब अमृत हो, तुम ही परम पूजित सोमदेव हो, तुम मुहूर्त हो, तुम तिथि हो, तुम लव हो और तुम ही क्षण हो ॥ १३ ॥

शुक्लस्त्वं बहुलश्चैव कला काष्ठा त्रुटिस्तथा।
संवत्सरर्तवो मासा रजन्यश्च दिनानि च ॥ १४ ॥

तुम शुक्लपक्ष हो, तुम कृष्णपक्ष हो, तुम कला हो, तुम काष्ठा हो तथा तुम त्रुटि हो, तुम वर्ष, ऋतु, मास, दिन और रात हो ॥ १४ ॥

त्वमुत्तमा सगिरिवना वसुंधरा सभास्करं वितिमिरमम्बरं तथा।
महोदधिः सतिमितिमिंगिलस्तथा महोर्मिमान्बहुमकरो झषालयः ॥१५॥

तुम उत्तम पर्वत और वनोंसे युक्त धरती हो और तुम्हीं सूर्ययुक्त तथा अन्धकाररहित आकाशमंडल हो, तुम तिमि तिमिङ्गिल मीन मकरादि नाना जलजन्तुओंसे भरे और लहराते हुए महासमुद्र हो ॥ १५ ॥

महद्यशस्त्वमिति सदाभिपूज्यसे मनीषिभिर्मुदितमना महर्षिभिः।
अभिष्टुतः पिबसि च सोममध्वरे वषट्कृतान्यपि च हवींषि भूतये॥ १६ ॥

तुम अति यशस्वी हो, इस हेतु प्रज्ञायुक्त महर्षिगण आनन्द चित्तसे सदा तुम्हारी उपासना किया करते हैं, तुम मङ्गलार्थ यज्ञोंमें स्तुतिको प्राप्त होकर वषट् किये हुए घृत और सोमरसको पीते हो ॥ १६ ॥

त्वं विप्रैः सततमिहेज्यसे फलार्थं वेदाङ्गेष्वतुलबलौघ गीयसे च।
त्वद्धेतोर्यजनपरायणा द्विजेन्द्रा वेदाङ्गान्यभिगमयन्ति सर्ववेदैः ॥ १७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥ १००९ ॥

हे महाबलशाली इन्द्र ! फल पानेके निमित्त ब्राह्मणोंके द्वारा तुम हमेशा पूजे जाते हो। और संपूर्ण वेदांगोंमें तुम्ही गाये जाते हो। तुम्हें पानेके हेतु यागशील श्रेष्ठ द्विजवृन्द सब प्रकारसे प्रयत्नपूर्वक सब वेदोंके द्वारा वेदांगोंकी मीमांसा किया करते हैं ॥ १७ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें इक्कीसवां अध्याय समाप्त ॥ २१ ॥ ॥ १००९ ॥

: २२ :

सूत उवाच

एवं स्तुतस्तदा कद्र्वा भगवान्हरिवाहनः ।
नीलजीमूतसंघातैर्व्योम सर्वं समावृणोत् ॥ १ ॥

सूत बोले– कि तब कद्रूके इस प्रकार स्तुति करनेपर भगवान् मेघवाहनने काले बादलोंके समूहोंसे सम्पूर्ण आकाश मंडलको ढक दिया ॥ १ ॥

ते मेघा मुमुचुस्तोयं प्रभूतं विद्युदुज्ज्वलाः ।
परस्परमिवात्यर्थं गर्जन्तः सततं दिवि ॥ २ ॥

उन मेघवृन्दोंने बिजलीसमूहसे उज्ज्वल होकर मानों एक दूसरेको लक्ष्य करके गर्जना करते हुए बहुत जल बरसाया ॥ २ ॥

संघातितमिवाकाशं जलदैः सुमहाद्भुतैः ।
सृजद्भिरतुलं तोयमजस्रं सुमहारवैः ॥ ३ ॥

बहुत शब्द करनेवाले तथा अद्भुत बादलोंके बहुत जल बरसाने पर देखकर जान पडने लगा, कि मानों आकाश ही सब बहकर गिर रहा हो ॥ ३ ॥

संप्रनृत्तमिवाकाशं धारोर्मिभिरनेकशः ।
मेघस्तनितनिर्घोषमम्बरं समपद्यत ॥ ४ ॥

बादलोंकी गडगडाहट और अगणित धाराओंकी लहरोंसे मानों आकाश भी नाचने लगा। इस प्रकार आकाश सुशोभित हुआ ॥ ॥ ४ ॥

नागानामुत्तमो हर्षस्तदा वर्षति वासवे ।
आपूर्यत मही चापि सलिलेन समन्ततः ॥ ५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥ १०१४ ॥

तब देवराजकी वर्षासे सर्पोंको बडा आनन्द हुआ और धरती भी चारों ओर जलसे भर गई ॥ ५ ॥

महाभारतके आदिपर्वमें बाइसवां अध्याय समाप्त ॥ २२ ॥ १०१४ ॥

: २३ :

सूत उवाच

सुपर्णेनोह्यमानास्ते जग्मुस्तं देशमाशु वै ।
सागराम्बुपरिक्षिप्तं पक्षिसंघनिनादितम् ॥ १ ॥

सूत बोले, तत्पश्चात् गरुड द्वारा ढोये जाते हुए वे सर्प सागरके पानीसे घिरे हुए तथा पक्षियोंके समूहके शब्दोंसे गुंजायमान देशमें शीघ्र ही जा पहुंचे ॥ १ ॥

विचित्रफलपुष्पाभिर्वनराजिभिरावृतम् ।
भवनैरावृतं रम्यैस्तथा पद्माकरैरपि ॥ २ ॥
प्रसन्नसलिलैश्चापि ह्रदैश्चित्रैर्विभूषितम् ।
दिव्यगन्धवहैः पुण्यैर्मारुतैरुपवीजितम् ॥ ३ ॥

रंग बिरंगे फल-फूलोंसे सजे सजाये वनोंसे घिरे हुए सुन्दर सुन्दर गृह मंदिरों और कमलोंसे सुशोभित सुन्दर जलवाले अनेक तरहके झीलोंसे विभूपित, शुद्ध सुगन्धित हवासे युक्त ॥ २–३ ॥

उपजिघ्रद्भिराकाशं वृक्षैर्मलयजैरपि ।
शोभितं पुष्पवर्षाणि मुञ्चद्भिर्मारुतोद्धुतैः ॥ ४ ॥
किरद्भिरिव तत्रस्थान्नागान्पुष्पाम्बुवृष्टिभिः ।
मनःसंहर्षणं पुण्यं गन्धर्वाप्सरसां प्रियम् ।
नानापक्षिरुतं रम्यं कद्रुपुत्रप्रहर्षणम् ॥ ५ ॥

हवासे हिलाये जानेके कारण फूलोंकी वर्षा गिरानेवाले तथा मानो आकाशको भी सूंघने अर्थात् छूनेवाले ऐसे ऊंचे ऊंचे मलयपर्वत पर उत्पन्न होनेवाला जो चन्दन उसके वृक्षोंसे सुशोभित । फूलरूपी पानीकी बरसातको मानों वहां पहुंचे हुए सर्पोंपर बरसा रहे हो, मनको आनन्द देनेवाले, सुन्दर तथा गन्धर्व और अप्सराओंके परम प्रिय नाना पक्षियोंके शब्दोंसे युक्त वह सुंदर वन कद्रूके पुत्रों नागोंको बहुत आनन्द देनेवाला था ॥४–५॥

तत्ते वनं समासाद्य विजह्रुः पन्नगा मुदा ।
अब्रुवंश्च महावीर्यं सुपर्णं पतगोत्तमम् ॥ ६ ॥

तब वे सर्प उस वनमें पहुंचकर आनन्दसे विहार करने लगे और अति वीर्य–शाली पक्षियोंमें श्रेष्ठ गरुडसे बोले ॥ ६ ॥

वहास्मानपरं द्वीपं सुरम्यं विपुलोदकम् ।
त्वं हि देशान्बहून्रम्यान्पतन्पश्यसि खेचर　　　॥ ७ ॥

"हे आकाशमें उडनेवाले गरुड ! तुमने आकाशमें घूमते हुए बहुतसे सुन्दर देश देखें हैं, अतः ज्यादा जलवाले किसी दूसरे सुन्दर द्वीपपर हमको ले चलो" ॥ ७ ॥

स विचिन्त्याब्रवीत्पक्षी मातरं विनतां तदा ।
किं कारणं मया मातः कर्तव्यं सर्पभाषितम्　　　॥ ८ ॥

यह सुनकर कुछ काल सोच विचार करके पक्षी गरुड अपनी माता विनतासे बोले– "हे माता ! मैं किस कारण सर्पोंकी आज्ञाका पालन करूं ?" ॥ ८ ॥

विनतोवाच

दासीभूतास्म्यनार्याया भगिन्याः पतगोत्तम ।
पणं वितथमास्थाय सर्पैरुपधिना कृतम्　　　॥ ९ ॥

विनताने कहा– "हे पक्षियोंमें श्रेष्ठ गरुड ! अपने दुर्भाग्यसे मैंने एक प्रतिज्ञा की और सांपोंने छल कपट करके उसे झूठा कर दिया, इस कारण मैं अपनी अनार्या बहिनकी दासी हो गई हूँ" ॥ ९ ॥

सूत उवाच

तस्मिंस्तु कथिते मात्रा कारणे गगनेचरः ।
उवाच वचनं सर्पांस्तेन दुःखेन दुःखितः　　　॥ १० ॥

सूत बोले– माताके द्वारा (दासी बननेका) वह कारण कह सुनानेपर आकाशविहारी गरुड माताके दुःखसे दुःखी होकर सर्पोंसे ये वचन बोले ॥ १० ॥

किमाहृत्य विदित्वा वा किं वा कृत्वेह पौरुषम् ।
दास्याद्वो विप्रमुच्येयं सत्यं शंसत लेलिहाः　　　॥ ११ ॥

"हे चाटनेवाले सर्पो ! सच बोलो, मेरे द्वारा कौनसी वस्तु ढूंढ कर लाने वा किस बातको जानकर लौटने अथवा किस प्रकारके पौरुष करनेसे हम तुम्हारी दासतासे छूट सकते हैं" ॥ ११ ॥

श्रुत्वा तमब्रुवन्सर्पा आहरामृतमोजसा ।
ततो दास्याद्विप्रमोक्षो भविता तव खेचर　　　॥ १२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥ १०२६ ॥

सर्पोंने गरुडकी बात सुनकर कहा– "हे पक्षीवर ! तुम अपने बलसे अमृत ले आओ, तो दासतासे तुम्हारा छुटकारा हो सकता है" ॥ १२ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें तेइसवां अध्याय समाप्त ॥ २३ ॥ १०२६ ॥

: २४ :

सूत उवाच

इत्युक्तो गरुडः सर्पैस्ततो मातरमब्रवीत्।
गच्छाम्यमृतमाहर्तुं भक्ष्यमिच्छामि वेदितुम् ॥ १ ॥

सूत बोले– कि सर्पोंसे इस प्रकार कहे जाकर गरुड अपनी मातासे बोले, "मैं अमृत लानेको जाऊंगा, अतः अपना भक्ष्य (खाने योग्य पदार्थ) जानना चाहता हूँ" ॥ १ ॥

विनतोवाच

समुद्रकुक्षावेकान्ते निषादालयमुत्तमम्।
सहस्राणामनेकानां तान्भुक्त्वामृतमानय ॥ २ ॥

विनता बोली– "समुद्रके अन्दर एकान्तमें धीवरोंके रहनेके सुन्दर स्थान हैं, उन सहस्रों अथवा अनेकों धीवरोंको खाकर अमृत ले आओ ॥ २ ॥

न तु ते ब्राह्मणं हन्तुं कार्या बुद्धिः कथंचन।
अवध्यः सर्वभूतानां ब्राह्मणो ह्यनलोपमः ॥ ३ ॥

पर तुम कभी ब्राह्मणको मारनेकी बुद्धि मत करना, क्योंकि अग्निके समान तेजस्वी ब्राह्मण सब जीवोंके लिए अवध्य है ॥ ३ ॥

अग्निरर्को विषं शस्त्रं विप्रो भवति कोपितः।
भूतानामग्रभुग्विप्रो वर्णश्रेष्ठः पिता गुरुः ॥ ४ ॥

ब्राह्मण क्रोधित होनेसे अग्नि, सूर्य, विष और शस्त्रके समान बन जाता है, ब्राह्मण सब भूतोंका अग्रज, वर्णोंमें श्रेष्ठ, पिता और गुरु है" ॥ ४ ॥

गरुड उवाच

यथाहमभिजानीयां ब्राह्मणं लक्षणैः शुभैः।
तन्मे कारणतो मातः पृच्छतो वक्तुमर्हसि ॥ ५ ॥

गरुड बोले– "जिन शुभ लक्षणोंसे ब्राह्मणको मैं जान सकूँ, वह पूछनेवाले मुझको हेतु दर्शाकर बताओ" ॥ ५ ॥

विनतोवाच

यस्ते कण्ठमनुप्राप्तो निगीर्णं बडिशं यथा।
दहेदङ्गारवत्पुत्र तं विद्याद्ब्राह्मणर्षभम् ॥ ६ ॥

विनता बोली– "हे पुत्र! जो तुम्हारे गलेतक पहुंचते ही मछलीके कांटेके समान गलेमें अटक जाये और जलते हुए अंगारेकी भांति प्रतीत हो, उसीको तुम ब्राह्मणश्रेष्ठ जान लेना ॥ ६ ॥

सूत उवाच

प्रोवाच चैनं विनता पुत्रहार्दादिदं वचः ।
जानन्त्यप्यतुलं वीर्यमाशीर्वादसमान्वितम् ॥ ७ ॥
पक्षौ ते मारुतः पातु चन्द्रः पृष्ठं तु पुत्रक ।
शिरस्तु पातु ते वह्निर्भास्करः सर्वमेव तु ॥ ८ ॥

सूत बोले– विनता पुत्रके अतुल बल जाननेपर भी पुत्र–स्नेहसे उससे आशीश युक्त यह वचन बोली, "पुत्र ! पवन–देवता तुम्हारे दोनों पंखोंको बचावें, चन्द्र तुम्हारी पीठको बचावें, अग्निदेव तुम्हारे सिरको बचावें, सूर्य तुम्हारे संपूर्ण शरीरको बचावें ॥ ७–८ ॥

अहं च ते सदा पुत्र शान्तिस्वस्तिपरायणा ।
अरिष्टं व्रज पन्थानं वत्स कार्यार्थसिद्धये ॥ ९ ॥

पुत्र ! मैं भी यहां रहकर तुम्हारी शान्ति और स्वस्तिके लिये मङ्गलचिन्तामें सदा नियुक्त रहूंगी, तुम कार्य साधनके लिये विघ्नरहित मार्गपर जाओ " ॥ ९ ॥

ततः स मातुर्वचनं निशम्य वितत्य पक्षौ नभ उत्पपात ।
ततो निषादान्बलवानुपागमद्बुभुक्षितः काल इवान्तको महान् ॥ १० ॥

उसके बाद बलवान् गरुड माताकी बात सुनकर दोनों पंख फैलाकर आकाशमें उड गए और क्षुधासे व्याकुल होकर सर्वनाशी महान् यमराजकी भांति वह धीवरोंके पास जा पहुंचे ॥ १० ॥

स तान्निषादानुपसंहरंस्तदा रजः समुद्धूय नभःस्पृशं महत् ।
समुद्रकुक्षौ च विशोषयन्पयः समीपगान्भूमिधरान्विचालयन् ॥ ११ ॥

तब आकाशको छूनेवाली बहुत धूलको उडाकर उस गरुडने धीवरोंका संहार किया, समुद्रके अन्दरका जल सुखा दिया और आसपासके पहाडोंको हिला दिया ॥ ११ ॥

ततः स चक्रे महदाननं तदा निषादमार्गं प्रतिरुध्य पक्षिराट् ।
ततो निषादास्त्वरिताः प्रवव्रजुर्यतो मुखं तस्य भुजङ्गभोजिनः ॥ १२ ॥

तब पक्षीराज गरुडने धीवरोंके मार्गको रोककर अपना भारी मुंह फैला दिया। तब धीवर-गण भी सांपोंको खानेवाले उस गरुडके मुंहमें ही शीघ्र घुसने लगे ॥ १२ ॥

तदाननं विवृतमतिप्रमाणवत्समभ्ययुर्गगनमिवार्दिताः खगाः ।
सहस्रशः पवनरजोऽभ्रमोहिता महानिलप्रचलितपादपे वने ॥ १३ ॥

जिस प्रकार वनके वृक्षोंके प्रबल पवनसे हिलाये जानेसे सहस्रों पक्षी समूह धूल और हवाके वेगसे विकल और मुग्ध होकर आकाशमें इधर उधर घूमते हैं, उसी प्रकार धीवरगण गरुडके बहुत फैले हुए मुखमें घुसने लगे ॥ १३ ॥

ततः खगो वदनममित्रतापनः समाहरत्परिचपलो महाबलः।
निषूदयन्बहुविधमत्स्यभक्षिणो बुभुक्षितो गगनचरेश्वरस्तदा ॥ १४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥ १०४० ॥

तब शत्रुको संताप देनेवाले, महाबली, क्षुधासे व्याकुल, चपल, आकाशके स्वामी पक्षीराजने अनेक प्रकारकी मछलियोंको खानेवाले धीवरोंको निगलकर मुंह बन्द कर लिया ॥ १४ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें चौवीसवां अध्याय समाप्त ॥ २४ ॥ १०४० ॥

: २५ :

सूत उवाच

तस्य कण्ठमनुप्राप्तो ब्राह्मणः सह भार्यया।
दहन्दीप्त इवाङ्गारस्तमुवाचान्तरिक्षगः ॥ १ ॥

सूत बोले—(धीवरोंके संग) स्त्री सहित एक ब्राह्मण गरुडके कंठमें प्रविष्ट होकर जलते हुए अंगारेके समान गलेको जलाने लगा, तो गरुड उससे बोले ॥ १ ॥

द्विजोत्तम विनिर्गच्छ तूर्णमास्यादपावृतात्।
न हि मे ब्राह्मणो वध्यः पापेष्वपि रतः सदा ॥ २ ॥

"हे द्विजोत्तम ! इस फैले हुए मेरे मुंहसे तुम शीघ्र ही निकल जाओ, ब्राह्मण सदा पापमें रत होनेपर भी मेरे लिए वधके योग्य नहीं है" ॥ २ ॥

ब्रुवाणमेवं गरुडं ब्राह्मणः समभाषत।
निषादी मम भार्येयं निर्गच्छतु मया सह ॥ ३ ॥

इस प्रकार बोलते हुए गरुडसे ब्राह्मण बोला— "मेरी स्त्री यह धीवरी भी मेरे संग बाहर निकले" ॥ ३ ॥

गरुड उवाच

एतामपि निषादीं त्वं परिगृह्याशु निष्पत।
तूर्णं संभावयात्मानमजीर्णं मम तेजसा ॥ ४ ॥

गरुड बोले— "मेरे तेजसे पच जानेके पहिले ही अपनी इस धीवरीको लेकरके तुम शीघ्र निकलो और इस प्रकार शीघ्र ही स्वयंकी रक्षा कर लो" ॥ ४ ॥

सूत उवाच

ततः स विप्रो निष्क्रान्तो निषादीसहितस्तदा ।
वर्धयित्वा च गरुडमिष्टं देशं जगाम ह ॥ ५ ॥

सूत बोले– कि तब वह ब्राह्मण धीवरीके संग बाहर निकल आया और गरुडको आशीर्वाद देकर इच्छित देशको चला गया ॥ ५ ॥

सहभार्ये विनिष्क्रान्ते तस्मिन्विप्रे स पक्षिराट् ।
वितत्य पक्षावाकाशमुत्पपात मनोजवः ॥ ६ ॥

स्त्री–सहित उस ब्राह्मणके निकल जानेपर मनके समान वेगवान् वह पक्षीराज दोनों पंख फैलाकर आकाशमें उड गया ॥ ६ ॥

ततोऽपश्यत्स पितरं पृष्टश्चाख्यातवान्पितुः ।
अहं हि सर्पैः प्रहितः सोममाहर्तुमुद्यतः ।
मातुर्दास्यविमोक्षार्थमाहरिष्ये तमद्य वै ॥ ७ ॥

इसके बाद उसने पिताको देखा और उनसे पूछे जाकर यथावत् सब वृत्तान्त कह सुनाया । सर्पोंके द्वारा भेजा हुआ मैं अमृत लाने जा रहा हूं, मैं भी माताकी दासता छुडानेके लिए अमृत निश्चित लाऊंगा ॥ ७ ॥

मात्रा चास्मि समादिष्टो निषादान्भक्षयेति वै ।
न च मे तृप्तिरभवद्भक्षयित्वा सहस्रशः ॥ ८ ॥

माताने मुझे आज्ञा दी थी, कि तुम धीवरोंको खा लेना, पर सहस्रों धीवरोंको खाजाने पर भी मेरी तृप्ति नहीं हुई ॥ ८ ॥

तस्माद्भोक्तव्यमपरं भगवन्प्रदिशस्व मे ।
यद्भुक्त्वामृतमाहर्तुं समर्थः स्यामहं प्रभो ॥ ९ ॥

अतः हे भगवन् ! आप और कुछ भोजनकी सामग्री मुझे बताइए, जिसे खाकर हे प्रभो ! मैं अमृत लानेके लिए समर्थ होऊं ॥ ९ ॥

कश्यप उवाच

आसीद्विभावसुर्नाम महर्षिः कोपनो भृशम् ।
भ्राता तस्यानुजश्चासीत्सुप्रतीको महातपाः ॥ १० ॥

कश्यप बोले– विभावसुनामक एक बडे क्रोधी महर्षि थे और सुप्रतीक नामक उनका एक महातपस्वी छोटा भाई था ॥ १० ॥

स नेच्छति धनं भ्राता सहैकस्थं महामुनिः।
विभागं कीर्तयत्येव सुप्रतीकोऽथ नित्यशः ॥ ११ ॥

महामुनि सुप्रतीकको पैत्रिक धनको भाईके साथ एकत्र रखना पसन्द नहीं था, अतः वह रोज संपत्तिके बंटवारेकी बात कहा करता था ॥ ११ ॥

अथाब्रवीच्च तं भ्राता सुप्रतीकं विभावसुः।
विभागं बहवो मोहात्कर्तुमिच्छन्ति नित्यदा।
ततो विभक्ता अन्योन्यं नाद्रियन्तेऽर्थमोहिताः ॥ १२ ॥

एक समय विभावसु अपने छोटे भाई सुप्रतीकसे बोले– "भाई! बहुतेरे मनुष्य मुग्ध होकर पैत्रिक धन बंटवाना चाहते तो हैं, पर बंट जाते ही धनसे मोहित होकरके वे आपसमें एक दूसरेका आदर नहीं करते ॥ १२ ॥

ततः स्वार्थपरान्मूढान्पृथग्भूतान्स्वकैर्धनैः।
विदित्वा भेदयन्त्येतानमित्रा मित्ररूपिणः ॥ १३ ॥

स्वार्थी और अज्ञानी भाइयोंके अपना अपना अंश लेकर अलग होते ही यह जानकर शत्रुलोग मित्र बनकर उनमें आपसमें द्वेष पैदा कर देते हैं ॥ १३ ॥

विदित्वा चापरे भिन्नानन्तरेषु पतन्त्यथ।
भिन्नानामतुलो नाशः क्षिप्रमेव प्रवर्तते ॥ १४ ॥

आगे जब उनमें शत्रुता हो जाती है, तब यह जानकर शत्रुलोग भी उन दोनोंके बीचमें घुस जाते हैं, तब अलग हुए हुओंका शीघ्र ही महानाश हो जाता है ॥ १४ ॥

तस्माच्चैव विभागार्थं न प्रशंसन्ति पण्डिताः।
गुरुशास्त्रे निबद्धानामन्योन्यमभिशङ्किनाम् ॥ १५ ॥

इसीसे पंडितगण गुरु और शास्त्रोंकी आज्ञा माननेवाले तथा आपसमें शंका करनेवालोंके अलग होनेकी प्रशंसा नहीं करते ॥ १५ ॥

नियन्तुं न हि शक्यस्त्वं भेदतो धनमिच्छसि।
यस्मात्तस्मात्सुप्रतीक हस्तित्वं समवाप्स्यसि ॥ १६ ॥

हे सुप्रतीक! चूंकि तुम भेदसे धनकी अभिलाषा कर रहे हो और तुम किसी प्रकारसे रुकते नहीं हो, अतः तुम हाथीकी योनिमें जन्म लोगे" ॥ १६ ॥

शप्तस्त्वेवं सुप्रतीको विभावसुमथाब्रवीत्।
त्वमप्यन्तर्जलचरः कच्छपः संभविष्यसि ॥ १७ ॥

सुप्रतीक इस प्रकार शाप पाकर विभावसुसे बोले– "तुम भी जलोंके अन्दर विचरनेवाले कछुए होओगे" ॥ १७ ॥

एवमन्योन्यशापात्तौ सुप्रतीकविभावसू ।
गजकच्छपतां प्राप्तावर्थार्थं मूढचेतसौ　　　　　　॥ १८ ॥

इस प्रकारसे विभावसु और सुप्रतीक धनके निमित्त बुद्धि खोकर एक दूसरेके शापसे हाथी और कछुआ बने ॥ १८ ॥

रोषदोषानुषङ्गेण तिर्यग्योनिगतावपि ।
परस्परद्वेषरतौ प्रमाणबलदर्पितौ　　　　　　॥ १९ ॥

क्रोधके दोषके कारण पशुयोनिमें जन्म लेने पर भी आपसके द्वेषमें रत होकर तथा अपने महान् बलके घमण्डमें आकर ॥ १९ ॥

सरस्यस्मिन्महाकायौ पूर्ववैरानुसारिणौ ।
तयोरेकतरः श्रीमान्समुपैति महागजः　　　　　　॥ २० ॥

इस सरोवरमें वे दोनों महाबली भाई पूर्वजन्मकी शत्रुताका अनुसरण करते हैं । उनमेंसे दूसरा सुन्दर बडा भारी हाथी (रोज सरोवरके तट पर) आता है ॥ २० ॥

तस्य बृंहितशब्देन कूर्मोऽप्यन्तर्जलेशयः ।
उत्थितोऽसौ महाकायः कृत्स्नं संक्षोभयन्सरः　　　　　　॥ २१ ॥

उसकी चिल्लाहट सुनते ही जलमें सोया हुआ बहुत बडे शरीरवाला कछुआ भी संपूर्ण जलको हिलोड कर बाहर निकलता है ॥ २१ ॥

तं दृष्ट्वावेष्टितकरः पतत्येष गजो जलम् ।
दन्तहस्ताग्रलाङ्गूलपादवेगेन वीर्यवान्　　　　　　॥ २२ ॥

महाबली यह हाथी उसको देखते ही सूंडको कुंडलवत् बनाकर पानीमें कूद पडता है और दांत, सूंडके अगले भाग, पूंछ और पांव आदिके धक्कोंसे आक्रमण करता है ॥ २२ ॥

तं विक्षोभयमाणं तु सरो बहुझषाकुलम् ।
कूर्मोऽप्यभ्युद्यतशिरा युद्धायाभ्येति वीर्यवान्　　　　　　॥ २३ ॥

मछलियोंसे भरे हुए इस तालावको हिलोडनेवाले हाथीसे विक्रमी कछुआ भी सिर ऊपर करके लडनेको आगे बढता है ॥ २३ ॥

षडुच्छ्रितो योजनानि गजस्तद्द्विगुणायतः ।
कूर्मस्त्रियोजनोत्सेधो दशयोजनमण्डलः　　　　　　॥ २४ ॥

उस हाथीका परिमाण ऊंचाईमें ६ योजन और लंबाईमें बारह योजन है । कछुएकी ऊंचाई तीन योजनकी और गोलाई दस योजनकी है ॥ २४ ॥

नावेतौ युद्धसंमत्तौ परस्परजयैषिणौ।
उपयुज्याशु कर्मेदं साधयेप्सितमात्मनः ॥ २५ ॥
अब एक दूसरेको जीतनेकी इच्छावाले ये दोनों घोर लडाईमें फंस गये हैं, अतः तुम शीघ्र उन दोनोंको खाकर अपना मनमाना कार्य करो" ॥ २५ ॥

सूत उवाच
तच्छ्रुत्वा पितुर्वाक्यं भीमवेगोऽन्तरिक्षगः।
नखेन गजमेकेन कूर्ममेकेन चाक्षिपत् ॥ २६ ॥
सूत बोले– तब अति वेगवान् अन्तरिक्षमें उडनेवाले उस पक्षीने अपने पिताके वचनोंको सुन करके एक नखसे हस्ती और दूसरेसे कच्छपको उठा लिया ॥ २६ ॥

समुत्पपात चाकाशं तत उच्चैर्विहंगमः।
सोऽलम्बतीर्थमासाद्य देववृक्षानुपागमत् ॥ २७ ॥
वह पक्षी आकाशकी बडी ऊंचाई पर उड गया और अलम्ब नामक तीर्थस्थान पर जाकर देववृक्षोंके निकट जा पहुंचा ॥ २७ ॥

ते भीताः समकम्पन्त तस्य पक्षानिलाहताः।
न नो भज्यादिति तदा दिव्याः कनकशाखिनः ॥ २८ ॥
सुन्दर सुवर्ण–पर्वतपरके वृक्षसमूह पक्षीवरके पंखोंकी हवासे चोट खाकर "यह कहीं हमें तोड न दे" इस भयसे कांपने लगे ॥ २८ ॥

प्रचलाङ्गान्स तान्दृष्ट्वा मनोरथफलाङ्कुरान्।
अन्यानतुलरूपाङ्गानुपचक्राम खेचरः ॥ २९ ॥
गरुड उन अभीष्ट फलदायी वृक्षोंको कांपते देखकर दूसरे अतुल रूपवाले पेडोंके पास गया ॥ २९ ॥

काञ्चनै राजतैश्चैव फलैर्वैडूर्यशाखिनः।
सागराम्बुपरिक्षिप्तान्भ्राजमानान्महाद्रुमान् ॥ ३० ॥
वे वृक्ष वैदूर्य–मणिकी शाखाओंसे सुहावने, सुवर्ण और चांदीके फलोंसे युक्त, समुद्रजलसे प्रक्षालित और चमकनेवाले महावृक्ष थे ॥ ३० ॥

तमुवाच खगश्रेष्ठं तत्र रौहिणपादपः।
अतिप्रवृद्धः सुमहानापतन्तं मनोजवम् ॥ ३१ ॥
वहां बडे ही पुराने एक बडे बरगदने मनके समान वेगवान् पक्षीराजको उधर आते देखकर कहा ॥ ३१ ॥

एषा मम महाशाखा शतयोजनमायता ।
एतामास्थाय शाखां त्वं खादेमौ गजकच्छपौ ॥ ३२ ॥

" गरुड ! यह जो मेरी सौ योजन फैली हुई महाशाखा है इसी शाखा पर बैठकर तुम इस हाथी और कछुएको खाओ " ॥ ३२ ॥

ततो द्रुमं पतगसहस्रसेवितं महीधरप्रतिमवपुः प्रकम्पयन् ।
खगोत्तमो द्रुतमभिपत्य वेगवान्बभञ्ज तामविरलपत्रसंवृताम् ॥ ३३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥ १०७३ ॥

तब पर्वतके समान बडे शरीरवाला तथा वेगवान् वह पक्षीश्रेष्ठ सहस्रों पक्षियोंसे भरे हुए उस वृक्षको हिलाते हुए शीघ्र उस पर बैठा और उसने पत्तोंकी घनी कतारसे सुहावनी वह शाखा तोड डाली ॥ ३३ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें पच्चीसवां अध्याय समाप्त ॥ १०७३ ॥

: २६ :

सूत उवाच

स्पृष्टमात्रा तु पद्‌भ्यां सा गरुडेन बलीयसा ।
अभज्यत तरोः शाखा भग्नां चैनामधारयत् ॥ १ ॥

सूत बोले— कि उस महाबलशाली गरुडके पांवोंके छूते ही वृक्षकी शाखा टूट गई, फिर उस टूटी डालको गरुडने पकड लिया ॥ १ ॥

तां भग्नां स महाशाखां स्मयन्समवलोकयन् ।
अथात्र लम्बतोऽपश्यद्वालखिल्यानधोमुखान् ॥ २ ॥

तब मुस्करा कर उस गरुडने उस टूटी हुई बडी शाखाकी ओर देखा, तो उसमें उसने नीचे मुंह करके लटके हुए वालखिल्य ऋषियोंको देखा ॥ २ ॥

स तद्विनाशसंत्रासादनुपत्य खगाधिपः ।
शाखामास्येन जग्राह तेषामेवान्ववेक्षया ।
शनैः पर्यपतत्पक्षी पर्वतान्प्रविशातयन् ॥ ३ ॥

उस पक्षीराजने ऋषियोंके नष्ट होनेके भयसे उस शाखाको ऋषियोंकी रक्षाकी चिन्तासे अपने मुंहसे सम्भाल लिया और पर्वतोंको कंपाता हुआ वह धीरेसे उड गया ॥ ३ ॥

एवं सोऽभ्यपतद्देशान्बहून्सगजकच्छपः।
दयार्थं बालखिल्यानां न च स्थानमविन्दत ॥ ४ ॥

इस प्रकार वह बालखिल्योंकी रक्षाके निमित्त उस शाखाको और गजकच्छपको लेकर अनेक देशोंमें गया पर (कहीं बैठके भोजन करनेके योग्य) स्थान प्राप्त नहीं कर पाया ॥ ४ ॥

स गत्वा पर्वतश्रेष्ठं गन्धमादनमव्ययम्।
ददर्श कश्यपं तत्र पितरं तपसि स्थितम् ॥ ५ ॥

तब उसने पर्वतश्रेष्ठ गन्धमादन पर जाकर अपने अविनाशी पिता कश्यपको तपमें मग्न देखा ॥ ५ ॥

ददर्श तं पिता चापि दिव्यरूपं विहंगमम्।
तेजोवीर्यबलोपेतं मनोमारुतरंहसम् ॥ ६ ॥

पिता भगवान् कश्यपने भी उस तेज–वीर्य भरे, मन और हवाके समान वेगवान् दिव्य–देही पक्षीको देखा ॥ ६ ॥

शैलशृङ्गप्रतीकाशं ब्रह्मदण्डमिवोद्यतम्।
अचिन्त्यमनभिज्ञेयं सर्वभूतभयंकरम् ॥ ७ ॥

वह पक्षी पर्वतशृंगके समान उद्यत, ब्रह्मदंडके समान चिन्तातीत, अद्भुत, भयंकर मूर्ति ॥ ७ ॥

मायावीर्यधरं साक्षादग्निमिद्धमिवोद्यतम्।
अप्रधृष्यमजेयं च देवदानवराक्षसैः ॥ ८ ॥

माया और वीर्यशाली, साक्षात् प्रज्ज्वलित अग्निके सदृश रौद्रमूर्ति, देव दैत्य और दानवोंके द्वारा अप्रधृष्य तथा अजेय ॥ ८ ॥

भेत्तारं गिरिशृङ्गाणां नदीजलविशोषणम्।
लोकसंलोडनं घोरं कृतान्तसमदर्शनम् ॥ ९ ॥

पर्वत–शिखरोंको तोडनेवाला, जलसमुद्र सोखनेवाला, तीनों लोकोंको मथनेवाला, घोर और यमराजके सदृश था ॥ ९ ॥

तमागतमभिप्रेक्ष्य भगवान्कश्यपस्तदा।
विदित्वा चास्य संकल्पमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १० ॥

उस पक्षीराजको आया हुआ देखकर और उसका अभिप्राय समझकर भगवान् कश्यप यह वचन बोले ॥ १० ॥

पुत्र मा साहसं कार्षीर्मा सद्यो लप्स्यसे व्यथाम्।
मा त्वा दहेयुः संक्रुद्धा बालखिल्या मरीचिपाः ॥ ११ ॥

" पुत्र ! सावधान ! साहस मत करो, शीघ्र ही कष्ट भोगना न पडे, किरणोंको पीनेवाले ये बालखिल्य क्रोधित होकर कहीं तुमको भस्म न कर दें " ॥ ११ ॥

प्रसादयामास स तान्कश्यपः पुत्रकारणात् ।
वालखिल्यांस्तपःसिद्धानिदमुद्दिश्य कारणम् ॥ १२ ॥

तब कश्यपने पुत्रके निमित्त तपोबलसे निष्पाप वालखिल्य मुनियोंको प्रसन्न किया और वे बोले ॥ १२ ॥

प्रजाहितार्थमारम्भो गरुडस्य तपोधनाः ।
चिकीर्षति महत्कर्म तदनुज्ञातुमर्हथ ॥ १३ ॥

" हे तपोधनो ! यह गरुड प्रजाओंके मंगलके निमित्त जिस महान् कार्यको करनेकी इच्छा रखता है, आप लोग उसे उस कार्यको करनेकी आज्ञा दें । " ॥ १३ ॥

एवमुक्ता भगवता मुनयस्ते समभ्ययुः ।
मुक्त्वा शाखां गिरिं पुण्यं हिमवन्तं तपोऽर्थिनः ॥ १४ ॥

भगवान् कश्यपके ऐसा कहने पर वालखिल्य मुनिगण उस शाखाको छोडकर तपके निमित्त अति पवित्र हिमालय पर्वतको पधारे ॥ १४ ॥

ततस्तेष्वपयातेषु पितरं विनतात्मजः ।
शाखाव्याक्षिप्तवदनः पर्यपृच्छत कश्यपम् ॥ १५ ॥
भगवन्क विमुञ्चामि तरुशाखामिमामहम् ।
वर्जितं ब्राह्मणैर्देशमाख्यातु भगवान्मम ॥ १६ ॥

उन ऋषियोंके चले जानेपर विनता–पुत्रने, अपने शाखाभारसे कातर–मुखसे पिता कश्यपसे पूछा, " भगवन् ! मैं इस वृक्षकी शाखाको कहां रक्खूं, ब्राह्मणोंसे खाली कोई देश मुझे बताइये । " ॥ १५–१६ ॥

ततो निष्पुरुषं शैलं हिमसंरुद्धकन्दरम् ।
अगम्यं मनसाप्यन्यैस्तस्याचख्यौ स कश्यपः ॥ १७ ॥

यह सुनकर कश्यपने, हिमसे आच्छादित कन्दरावाले, मनसे भी औरोंके द्वारा न पहुंचनेके योग्य ऐसा मनुष्योंसे खाली एक पर्वत बताया ॥ १७ ॥

तं पर्वतमहाकुक्षिमाविश्य मनसा खगः ।
जवेनाभ्यपतत्तार्क्ष्यः सशाखागजकच्छपः ॥ १८ ॥

महापक्षी गरुड उस बडे भारी पर्वतकी गुफामें मनसे प्रविष्ट होकर गज, कूर्म और उस शाखाको ले कर अति वेगसे चले ॥ १८ ॥

न तां वध्रः परिणहेच्छतचर्मा महानणुः।
शाखिनो महतीं शाखां यां प्रगृह्य ययौ खगः ॥ १९॥

वह पक्षी जिस भारी शाखाको ले चला, वह एक सौ चमडोंसे बनी इकहरी रस्सीसे भी घेरी नहीं जा सकती थी ॥ १९ ॥

ततः स शतसाहस्रं योजनान्तरमागतः।
कालेन नातिमहता गरुडः पततां वरः ॥ २० ॥
स तं गत्वा क्षणेनैव पर्वतं वचनात्पितुः।
अमुञ्चन्महतीं शाखां सस्वनां तत्र खेचरः ॥ २१ ॥

तब विहंगवर गरुडने सैंकडों और हजारों योजन चलकर थोडे ही कालमें पिताके बताये हुए उस पर्वत पर क्षणमें ही पहुंच कर बडे शब्दसे उस भारी शाखाको पक्षीने छोडा ॥ २०–२१ ॥

पक्षानिलहतश्चास्य प्राकम्पत स शैलराट्।
मुमोच पुष्पवर्षं च समागलितपादपः ॥ २२ ॥

गरुडके पंखोंकी हवा खाकर वह गिरिवर कंपित हुआ और उखडे हुए वृक्षोंवाले उस पर्वतने चारों ओर फूल बरसाये ॥ २२ ॥

शृङ्गाणि च व्यशीर्यन्त गिरेस्तस्य समन्ततः।
मणिकाञ्चनचित्राणि शोभयन्ति महागिरिम् ॥ २३ ॥

उस महापर्वतको सुशोभित करनेवाली मणि और सोनेसे बनी हुई चोटियां टूट फूट कर उस पहाडके चारों ओर गिर गईं ॥ २३ ॥

शाखिनो बहवश्चापि शाखयाभिहतास्तया।
काञ्चनैः कुसुमैर्भान्ति विद्युत्वन्त इवाम्बुदाः ॥ २४ ॥

बहुतसे वृक्षसमूह भी उस बडी शाखाकी रगड खाकर गिरते हुए सुवर्ण फूलोंसे बिजलीयुक्त बादलके समान बडी शोभा पाने लगे ॥ २४ ॥

ते हेमविकचा भूयो युक्ताः पर्वतधातुभिः।
व्यराजञ्छाखिनस्तत्र सूर्यांशुप्रतिरञ्जिताः ॥ २५ ॥

सुनहले रंगके वृक्ष पर्वतकी धातुओंसे रंगे जाकर सूर्यकी किरणसे रंगे हुए सुशोभित हुए ॥ २५ ॥

ततस्तस्य गिरेः शृङ्गमास्थाय स खगोत्तमः।
भक्षयामास गरुडस्तावुभौ गजकच्छपौ ॥ २६ ॥

फिर पक्षीराज गरुडने उस पहाडकी चोटी पर बैठकर उन गज कछुआ दोनोंको खाया ॥ २६ ॥

ततः पर्वतकूटाग्रादुत्पपात मनोजवः ।
प्रावर्तन्ताथ देवानामुत्पाता भयवेदिनः ॥ २७ ॥

फिर पर्वतकी चोटीसे मनके समान वेगसे उड गये । गरुडके आकाशमें उडनेपर देवताओंके यहां भयदायी उपद्रव होने लगे ॥ २७ ॥

इन्द्रस्य वज्रं दयितं प्रजज्वाल व्यथान्वितम् ।
सधूमा चापतत्सार्चिर्दिवोल्का नभसश्च्युता ॥ २८ ॥

देवराजका प्रिय वज्र दुःखसे जल उठा और आकाशसे धुंआं–सहित ज्वालायुक्त उल्का-पिंड बहुत गिरने लगे ॥ २८ ॥

तथा वसूनां रुद्राणामादित्यानां च सर्वशः ।
साध्यानां मरुतां चैव ये चान्ये देवतागणाः ।
स्वं स्वं प्रहरणं तेषां परस्परमुपाद्रवत् ॥ २९ ॥

वसु, रुद्र, आदित्य, साध्य, मरुत् और दूसरे सब देवोंके अपने अपने अस्त्र आपसमें भिडने लगे ॥ २९ ॥

अभूतपूर्वं संग्रामे तदा देवासुरेऽपि च ।
ववुर्वाताः सनिर्घाताः पेतुरुल्काः समन्ततः ॥ ३० ॥

देवों और असुरोंके संग्राममें भी न होनेवाले उपद्रव हुए । भयंकर हवा चलने लगी और उल्कायें गिरने लगीं ॥ ३० ॥

निरभ्रमपि चाकाशं प्रजगर्ज महास्वनम् ।
देवानामपि यो देवः सोऽप्यवर्षदसृक्तदा ॥ ३१ ॥

और विना बादलके निर्मल आकाश भी महाशब्दसे गरजने लगा; जो देवोंके भी देवता हैं, वह भी इस समय रक्त वर्षाने लगे ॥ ३१ ॥

मम्लुर्माल्यानि देवानां शेमुस्तेजांसि चैव हि ।
उत्पातमेघा रौद्राश्च ववर्षुः शोणितं बहु ।
रजांसि मुकुटान्येषामुत्थितानि व्यधर्षयन् ॥ ३२ ॥

देवताओंकी मालायें मुरझा गईं और तेज नष्ट हो गया, घोर उपद्रव करनेवाले बादलोंने बहुत अधिक रक्त बरसाना शुरु किया । उडी हुई धूलने देवोंके मुकुटोंको मलिन कर दिया ॥ ३२ ॥

ततस्त्राससमुद्विग्नः सह देवैः शतक्रतुः ।
उत्पातान्दारुणान्पश्यन्नित्युवाच बृहस्पतिम् ॥ ३३ ॥

इसके बाद उन कठोर उपद्रवोंको देखकर भीतचित्त, चिन्तित देवराज इन्द्र देवोंके साथ बृहस्पतिसे बोला ॥ ३३ ॥

किमर्थं भगवन्घोरा महोत्पाताः समुत्थिताः।
न च शत्रुं प्रपश्यामि युधि यो नः प्रधर्षयेत् ॥ ३४ ॥

"भगवन् ! किस कारणसे एकायक यह भयंकर उपद्रव उठ रहे हैं ? ऐसा कोई शत्रु तो दीखता नहीं, कि जो हमको लडाईमें हरा सके" ॥ ३४ ॥

बृहस्पतिरुवाच

तवापराधाद्देवेन्द्र प्रमादाच्च शतक्रतो।
तपसा वालखिल्यानां भूतमुत्पन्नमद्भुतम् ॥ ३५ ॥

बृहस्पति बोले– "शतक्रतो देवराज इन्द्र ! तुम्हारे अपराध और प्रमादके कारण वालखिल्यके तपोवलसे एक अद्भुत प्राणी उत्पन्न हुआ है ॥ ३५ ॥

कश्यपस्य मुनेः पुत्रो विनतायाश्च खेचरः।
हर्तुं सोममनुप्राप्तो बलवान्कामरूपवान् ॥ ३६ ॥

कश्यप मुनिसे विनतामें उत्पन्न आकाशसंचारी, अपनी इच्छासे शरीर धारण करनेवाला महाबली पुत्र अमृतको हरने आ रहा है ॥ ३६ ॥

समर्थो बलिनां श्रेष्ठो हर्तुं सोमं विहंगमः।
सर्वं संभावयाम्यस्मिन्नसाध्यमपि साधयेत् ॥ ३७ ॥

वह बलशालियोंमें भी अत्यधिक बलवान् है, अमृत हरनेमें समर्थ है, ऐसा मुझे निश्चय है क्योंकि वह असाध्य कार्य भी सिद्ध कर सकता है" ॥ ३७ ॥

सूत उवाच

श्रुत्वैतद्वचनं शक्रः प्रोवाचामृतरक्षिणः।
महावीर्यबलः पक्षी हर्तुं सोममिहोद्यतः ॥ ३८ ॥

सूत बोले– इन्द्र गुरुदेवके ये वचन सुनकर अमृतके रखवालोंसे बोला "एक महाबली पक्षी अमृत हरनेके लिए यहां आ रहा है ॥ ३८ ॥

युष्मान्संबोधयाम्येष यथा स न हरेद्बलात्।
अतुलं हि बलं तस्य बृहस्पतिरुवाच मे ॥ ३९ ॥

इसलिये तुम्हें सावधान किये देता हूं, कि वह बलसे अमृत न हरने पावे, बृहस्पतिने मुझसे कहा है, कि उस पक्षीका बल अतुल है" ॥ ३९ ॥

तच्छ्रुत्वा विबुधा वाक्यं विस्मिता यत्नमास्थिताः।
परिवार्यामृतं तस्थुर्वज्री चेन्द्रः शतक्रतुः ॥ ४० ॥

अमृतके रखवाले देव इन्द्रकी बात सुनकरके विस्मित होकर यत्नसे अमृतको घेरकर खडे होगए, प्रभावी देवराज भी वहां हाथमें वज्रको लेकर खडा हुआ ॥ ४० ॥

धारयन्तो महार्हाणि कवचानि मनस्विनः ।
काञ्चनानि विचित्राणि वैडूर्यविकृतानि च ॥ ४१ ॥
विविधानि च शस्त्राणि घोररूपाण्यनेकशः ।
शिततीक्ष्णाग्रधाराणि समुद्यम्य सहस्रशः ॥ ४२ ॥

मनस्वी देवता लोग विचित्र सुवर्णयुक्त और वैदूर्यमणि-जटित महामूल्य कवच धारण कर अनेक घोररूप अगणित तीक्ष्णधारा और नोकोंवाले अस्त्र उठाकर ॥ ४१–४२ ॥

सविस्फुलिंगज्वालानि सधूमानि च सर्वशः ।
चक्राणि परिघांश्चैव त्रिशूलानि परश्वधान् ॥ ४३ ॥

धूंआ और अग्निकी ज्वालासे युक्त चक्र परिघ, त्रिशूल, परशु ॥ ४३ ॥

शक्तीश्च विविधास्तीक्ष्णाः करवालांश्च निर्मलान् ।
स्वदेहरूपाण्यादाय गदाश्चोग्रप्रदर्शनाः ॥ ४४ ॥

विविध तेजयुक्त शक्ति, निर्मल तलवार और अपनी देहके अनुकूल भयंकर गदा लेकर ॥४४॥

तैः शस्त्रैर्भानुमद्भिस्ते दिव्याभरणभूषिताः ।
भानुमन्तः सुरगणास्तस्थुर्विगतकल्मषाः ॥ ४५ ॥

उन शस्त्रोंसे तेजस्वी भांति भांतिके सुन्दर आभूषणोंसे भूषित तेजवाले पापसे रहित देवगण तैय्यार हो गए ॥ ४५ ॥

अनुपमबलवीर्यतेजसो धृतमनसः परिरक्षणेऽमृतस्य ।
असुरपुरविदारणाः सुरा ज्वलनसमिद्धवपुःप्रकाशिनः ॥ ४६ ॥

वीर्य, बल और तेजसे अनुपम, असुर नगरोंको तोडनेवाले, जलती आगके समान तेजसमूहसे शोभायमान संपूर्ण देवगण मन लगाकर अमृतकी रक्षाके लिए तैय्यार हुए ॥ ४६ ॥

इति समरवरं सुरास्थितं परिघसहस्रशतैः समाकुलम् ।
विगलितमिव चाम्बरान्तरे तपनमरीचिविभासितं बभौ ॥ ४७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥११२० ॥

इस प्रकार देवोंसे युक्त तथा परिघसे ढका हुआ श्रेष्ठ रणस्थल भी सूर्य किरणसे गले हुए आकाशकी भांति शोभा पाने लगा ॥ ४७ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें छब्बीसवां अध्याय समाप्त ॥ २६ ॥ ११२० ॥

: २७ :

शौनक उवाच

कोऽपराधो महेन्द्रस्य कः प्रमादश्च सूतज ।
तपसा वालखिल्यानां संभूतो गरुडः कथम् ॥ १ ॥

शौनक बोले– कि हे सूतपुत्र ! इन्द्रसे कौनसा दोष और कैसी भूल हुई थी और गरुड वालखिल्य मुनियोंके तपके प्रभावसे कैसे उत्पन्न हुए ? ॥ १ ॥

कश्यपस्य द्विजातेश्च कथं वै पक्षिराट् सुतः ।
अधृष्यः सर्वभूतानामवध्यश्चाभवत्कथम् ॥ २ ॥

द्विजवर कश्यपके पक्षीराज पुत्र कैसे बने और वह पुत्र कैसे अधृष्य और सर्वजीवोंका अवध्य हुआ ? ॥ २ ॥

कथं च कामचारी स कामवीर्यश्च खेचरः ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं पुराणे यदि पठ्यते ॥ ३ ॥

तथा आकाशमें उडनेवाला वह पक्षी किस प्रकार स्वेच्छाचारी और स्वेच्छावीर्य हुआ ? यदि यह सब विषय पुराणोंमें कहे गये हों, तो मैं सुनना चाहता हूं ॥ ३ ॥

सूत उवाच

विषयोऽयं पुराणस्य यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
शृणु मे वदतः सर्वमेतत्संक्षेपतो द्विज ॥ ४ ॥

सूत बोले– कि हे द्विजवर ! आप जो कुछ मुझसे पूछते हैं, वह पुराण हीके विषय हैं, मैं यह सब संक्षेपमें कहता हूं, सुनिये ॥ ४ ॥

यजतः पुत्रकामस्य कश्यपस्य प्रजापतेः ।
साहाय्यमृषयो देवा गन्धर्वाश्च ददुः किल ॥ ५ ॥

पुत्रकी कामनासे यज्ञ करते हुए प्रजापति कश्यपको देवता, ऋषि और गन्धर्वोंने सहायता दी थी ॥ ५ ॥

तत्रेध्मानयने शक्रो नियुक्तः कश्यपेन ह ।
मुनयो वालखिल्याश्च ये चान्ये देवतागणाः ॥ ६ ॥

कश्यपने यज्ञकी लकडी लानेके लिए इन्द्र, वालखिल्य–मुनि और जो दूसरे देवगण थे, उनको नियुक्त किया था ॥ ६ ॥

शक्रस्तु वीर्यसदृशमिध्मभारं गिरिप्रभम्।
समुद्यम्यानयामास नातिकृच्छ्रादिव प्रभुः ॥ ७ ॥

देवराज इन्द्र अपनी शक्तिके अनुसार पर्वतके समान लकडीका बोझ लेकर बिना कष्ट आ गए ॥ ७ ॥

अथापश्यदृषीन्ह्रस्वानङ्गुष्ठोदरपर्वणः।
पलाशवृन्तिकामेकां सहितान्वहतः पथि ॥ ८ ॥

और पथमें मिलकर पलाशकी एक ही छोटी डाली लेकर आते हुए अंगूठेके समान शरीर-वाले छोटे छोटे ऋषियोंको देखा ॥ ८ ॥

प्रलीनान्स्वेष्विवाङ्गेषु निराहारांस्तपोधनान्।
क्लिश्यमानान्मन्दबलान्गोष्पदे संप्लुतोदके ॥ ९ ॥

वे निराहारी पतले तपोधनगण तपस्यासे ऐसे दुबले हो गये थे, कि गौके खुर जितने जलमें भी डूब कर कष्ट पा रहे थे ॥ ९ ॥

तांश्च सर्वान्स्मयाविष्टो वीर्योन्मत्तः पुरंदरः।
अवहस्यात्यगाच्छीघ्रं लङ्घयित्वावमन्य च ॥ १० ॥

बलके गर्वसे उन्मत्त इन्द्र उन ऋषियोंको देखकर आश्चर्यचकित होके उनकी हंसी उडाते हुए तथा अपमान कर लांघकर वेगसे चले गये ॥ १० ॥

तेऽथ रोषसमाविष्टाः सुभृशं जातमन्यवः।
आरेभिरे महत्कर्म तदा शक्रभयंकरम् ॥ ११ ॥

इससे वालखिल्य ऋषियोंने अति दुःखी और क्रोध युक्त होकर इन्द्रके लिए भयदायी एक महान् कार्यका अनुष्ठान किया ॥ ११ ॥

जुहुवुस्ते सुतपसो विधिवज्जातवेदसम्।
मन्त्रैरुच्चावचैर्विप्रा येन कामेन तच्छृणु ॥ १२ ॥

उन तपस्वी और ज्ञानी ऋषिलोगोंने जिस कामनासे बडे बडे मंत्रोंसे विधिपूर्वक अग्निमें आहुति दी, वह तुम सुनो ॥ १२ ॥

कामवीर्यः कामगमो देवराजभयप्रदः।
इन्द्रोऽन्यः सर्वदेवानां भवेदिति यतव्रताः ॥ १३ ॥

वह कामना यह थी कि, कामवीर्य, कामचारी, देवराजके लिए भयदायी, दूसरे एक इन्द्र देवलोकमें उत्पन्न होवे ॥ १३ ॥

इन्द्राच्छतगुणः शौर्ये वीर्ये चैव मनोजवः।
तपसो नः फलेनाद्य दारुणः संभवत्विति ॥ १४ ॥
जो शूरता और वीरतामें इन्द्रसे सौ गुना अधिक तथा मनके समान वेगवान् ऐसा भयंकर जीव हमारे तपके फलसे आज उत्पन्न हो ॥ १४ ॥

तद्बुद्ध्वा भृशसंतप्तो देवराजः शतक्रतुः।
जगाम शरणं तत्र कश्यपं संशितव्रतम् ॥ १५ ॥
देवराज इन्द्र यह सुनकर बडे दुःखी हुए और व्रतशील कश्यप ऋषिकी शरणमें गए ॥१५॥

तच्छ्रुत्वा देवराजस्य कश्यपोऽथ प्रजापतिः।
वालखिल्यानुपागम्य कर्मसिद्धिमपृच्छत ॥ १६ ॥
प्रजापति कश्यपने देवराजकी बात सुनकर वालखिल्य ऋषियोंके समीप जाकर पूछा, कि "क्या आप लोगोंका कार्य पूरा हो गया ?" ॥ १६ ॥

एवमस्त्विति तं चापि प्रत्यूचुः सत्यवादिनः।
तान्कश्यप उवाचेदं सान्त्वपूर्वं प्रजापतिः ॥ १७ ॥
सत्यवादी वालखिल्य उससे बोले, कि "हां हुआ है।" तब श्री कश्यप प्रजापति उनको समझाकर बोले, ॥ १७ ॥

अयमिन्द्रस्त्रिभुवने नियोगाद्ब्रह्मणः कृतः।
इन्द्रार्थं च भवन्तोऽपि यत्नवन्तस्तपोधनाः ॥ १८ ॥
"हे तपोधनो ! इन्होंने ब्रह्माकी आज्ञासे तीनों भुवनोंके इन्द्रका पद प्राप्त किया है, आप लोग भी दूसरे इन्द्रके लिये चेष्टा कर रहे हैं ॥ १८ ॥

न मिथ्या ब्रह्मणो वाक्यं कर्तुमर्हथ सत्तमाः।
भवतां च न मिथ्यायं संकल्पो मे चिकीर्षितः ॥ १९ ॥
अतः आपको ब्रह्माकी बात झूठी नहीं करनी चाहिये, पर साथ ही हे सत्तमो ! आपके अभीष्ट संकल्पको भी मैं मिथ्या करना नहीं चाहता ॥ १९ ॥

भवत्वेष पतत्रीणामिन्द्रोऽतिबलसत्त्ववान्।
प्रसादः क्रियतां चैव देवराजस्य याचतः ॥ २० ॥
अतः वह महाबली और वीर्यशाली पक्षियोंका इन्द्र होवे; देवराज इन्द्र प्रार्थना कर रहे हैं, अतः आप उन पर प्रसन्न हों" ॥ २० ॥

एवमुक्ताः कश्यपेन वालखिल्यास्तपोधनाः।
प्रत्यूचुरभिसंपूज्य मुनिश्रेष्ठं प्रजापतिम् ॥ २१ ॥
तपोधन वालखिल्य कश्यपसे ऐसे कहे जाकर सम्मानपूर्वक उन मुनिश्रेष्ठ प्रजापतिसे बोले ॥ २१ ॥

इन्द्रार्थोऽयं समारम्भः सर्वेषां नः प्रजापते ।
अपत्यार्थं समारम्भो भवतश्चायमीप्सितः ॥ २२ ॥

" हे प्रजापते ! हम सबका यह समारंभ इन्द्रकी उत्पत्तिके निमित्त है, और आपका समारंभ संतान उपजानेकी अभिलाषासे है ॥ २२ ॥

तदिदं सफलं कर्म त्वया वै प्रतिगृह्यताम् ।
तथा चैव विधत्स्वात्र यथा श्रेयोऽनुपश्यसि ॥ २३ ॥

अतः आप हमारे इस सफल कर्मको लेकरके जो कुछ अच्छा जान पडे, वही कीजिये । " ॥ २३ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु देवी दाक्षायणी शुभा ।
विनता नाम कल्याणी पुत्रकामा यशस्विनी ॥ २४ ॥

इसी समय शुभलक्षणा कल्याणी यशस्विनी पुत्रकी कामना करनेवाली विनता नामकी दक्षपुत्री ॥ २४ ॥

तपस्तप्त्वा व्रतपरा स्नाता पुंसवने शुचिः ।
उपचक्राम भर्तारं तामुवाचाथ कश्यपः ॥ २५ ॥

तप तथा व्रत करके ऋतुस्नान–पूर्वक व्रत कर और शुद्ध होकर पतिके पास गई, तो कश्यप उससे बोले, ॥ २५ ॥

आरम्भः सफलो देवि भवितायं तवेप्सितः ।
जनयिष्यसि पुत्रौ द्वौ वीरौ त्रिभुवनेश्वरौ ॥ २६ ॥

" हे देवि ! मेरे कार्यका आरंभ सफल हुआ, तुम्हारी इच्छा पूरी होगी । तुम तीनों लोकोंके स्वामी दो वीर पुत्रोंको उत्पन्न करोगी ॥ २६ ॥

तपसा वालखिल्यानां मम संकल्पजौ तथा ।
भविष्यतो महाभागौ पुत्रौ ते लोकपूजितौ ॥ २७ ॥

मेरे संकल्प और वाल्यखिल्योंके तपसे तुम्हारे दो बडे भाग्यवान् , तीनों भुवनोंमें पूजित दो पुत्र उत्पन्न होंगे " ॥ २७ ॥

उवाच चैनां भगवान्मारीचः पुनरेव ह ।
धार्यतामप्रमादेन गर्भोऽयं सुमहोदयः ॥ २८ ॥

भगवान् कश्यप फिर विनतासे बोले– " तुम अप्रमत्त होकरके अपने महान् गर्भको धारण किये रहो ॥ २८ ॥

एकः सर्वपतत्रीणामिन्द्रत्वं कारयिष्यति।
लोकसंभावितो वीरः कामवीर्यो विहंगमः ॥ २९ ॥

इनमेंसे एक लोकोंमें पूज्य, वीर, कामवीर्य पक्षी सब पक्षियोंके इन्द्रका कार्य करेगा ॥२९॥

शतक्रतुमथोवाच प्रीयमाणः प्रजापतिः।
त्वत्सहायौ खगावेतौ भ्रातरौ ते भविष्यतः ॥ ३० ॥

अनन्तर कश्यप प्रजापति प्रसन्न हृदयसे देवराजसे बोले, "तुम्हारी सहायता करनेवाले ये पक्षी तुम्हारे भाई होंगे ॥ ३० ॥

नैताभ्यां भविता दोषः सकाशात्ते पुरंदर।
व्येतु ते शक्र संतापस्त्वमेवेन्द्रो भविष्यसि ॥ ३१ ॥

हे इन्द्र! इनसे तुम्हारी कोई हानि नहीं होगी, हे इन्द्र! तुम्हारा दुःख दूर होवे, तुम ही सदा इन्द्र बने रहोगे ॥ ३१ ॥

न चाप्येवं त्वया भूयः क्षेप्तव्या ब्रह्मवादिनः।
न चावमान्या दर्पात्ते वाग्विषा भृशकोपनाः ॥ ३२ ॥

पर तुम फिर कभी ब्रह्मज्ञानी, वज्रसमान वचन बोलनेवाले, अति क्रोधी ब्राह्मणोंका अहंकारसे अपमान न करना" ॥ ३२ ॥

एवमुक्तो जगामेन्द्रो निर्विशङ्कस्त्रिविष्टपम्।
विनता चापि सिद्धार्था बभूव मुदिता तदा ॥ ३३ ॥

कश्यपके इतना कहनेपर इन्द्र भयरहित हो स्वर्गधामको गया और विनता भी मनोरथ पूर्ण होनेके कारण तब प्रसन्न हुई ॥ ३३ ॥

जनयामास पुत्रौ द्वावरुणं गरुडं तथा।
अरुणस्तयोस्तु विकल आदित्यस्य पुरःसरः ॥ ३४ ॥

समय आनेपर विनताने अरुण और गरुड यह दो सन्तानें पैदा कीं; पर अरुण विकलांग होकर सूर्यके आगे चलनेवाला सारथि बना ॥ ३४ ॥

पतत्रीणां तु गरुड इन्द्रत्वेनाभ्यषिच्यत।
तस्यैतत्कर्म सुमहच्छ्रूयतां भृगुनन्दन ॥ ३५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥ ११५५ ॥

गरुड पक्षियोंके इन्द्रके पदपर अभिषिक्त हुए। हे भृगुनन्दन! उस गरुडके यह महान् कार्य आप सुनिये ॥ ३५ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें सत्ताइसवां अध्याय समाप्त ॥ ११५५ ॥

: २८ :

सूत उवाच

ततस्तस्मिन्द्विजश्रेष्ठ समुदीर्णे तथाविधे ।
गरुत्मान्पक्षिराट् तूर्णं संप्राप्तो विबुधान्प्रति ॥ १ ॥

सूत बोले– कि हे द्विजश्रेष्ठ ! बृहस्पतिके वचन सुनके देवोंके पूर्वोक्त रीतिसे तैय्यार हो जानेपर पक्षीराज गरुड बडे वेगसे देवोंके पास आ पहुंचे ॥ १ ॥

तं दृष्ट्वातिबलं चैव प्राकम्पन्त समन्ततः ।
परस्परं च प्रत्यघ्नन्सर्वप्रहरणान्यपि ॥ २ ॥

देवगण उस महाबली गरुडको देखते ही बुरी तरह कांपने लगे और भयसे स्वयं सब अस्त्रोंसे एक दूसरेको मारने लगे ॥ २ ॥

तत्र चासीदमेयात्मा विद्युदग्निसमप्रभः ।
भौवनः सुमहावीर्यः सोमस्य परिरक्षिता ॥ ३ ॥

बिजली और आगके समान प्रकाशमान्, अति वीर्यवान्, अप्रमेयात्मा विश्वकर्मा अमृतका रक्षक था ॥ ३ ॥

स तेन पतगेन्द्रेण पक्षतुण्डनखैः क्षतः ।
मुहूर्तमतुलं युद्धं कृत्वा विनिहतो युधि ॥ ४ ॥

वह पक्षीवर गरुड द्वारा पंख, चोंच और नखोंकी चोटसे घायल होकर क्षणभर भयंकर युद्ध करके युद्धमें मारे गए ॥ ४ ॥

रजश्चोद्धूय सुमहत्पक्षवातेन खेचरः ।
कृत्वा लोकान्निरालोकांस्तेन देवानवाकिरत् ॥ ५ ॥

फिर पक्षीराजने पंखोंकी हवासे खूब धूल उडाकर उससे संपूर्ण लोकोंको उजालेसे रहित करके देवोंको भी आच्छादित कर दिया ॥ ५ ॥

तेनावकीर्णा रजसा देवा मोहमुपागमन् ।
न चैनं ददृशुश्छन्ना रजसामृतरक्षिणः ॥ ६ ॥

देवगण धूलसे आच्छादित होकर मोहयुक्त हो गये और अमृतके रखवाले भी धूलसे आच्छादित होकर अन्धोंके समान बनकर गरुडको देख नहीं सके ॥ ६ ॥

एवं संलोडयामास गरुडस्त्रिदिवालयम् ।
पक्षतुण्डप्रहारैश्च देवान्स विददार ह ॥ ७ ॥

इस प्रकार गरुडने स्वर्गको मथ दिया और पंख और चोंचोंके प्रहारोंसे देवोंको घायल कर दिया ॥ ७ ॥

ततो देवः सहस्राक्षस्तूर्णं वायुमचोदयत् ।
विक्षिपेमां रजोवृष्टिं तवैतत्कर्म मारुत ॥ ८ ॥

तब सहस्रनेत्र इन्द्रने शीघ्र ही पवन देवको प्रेरणा दी, कि "हे पवन! तुम तुरन्त इस धूल-वृष्टिको रोको। यह तुम्हारा ही कर्म है।" ॥ ८ ॥

अथ वायुरपोवाह तद्रजस्तरसा बली ।
ततो वितिमिरे जाते देवाः शकुनिमार्दयन् ॥ ९ ॥

यह सुनकर महाबली वायुने शीघ्र ही संपूर्ण धूल हटा दी, इससे अंधकारके साफ हो जाने पर देवोंने उस पक्षी पर चढाई की ॥ ९ ॥

ननाद चोच्चैर्बलवान्महामेघरवः खगः ।
वध्यमानः सुरगणैः सर्वभूतानि भीषयन् ।
उत्पपात महावीर्यः पक्षिराट् परवीरहा ॥ १० ॥

महाबली गरुडने देवोंके द्वारा आहत होकर सब प्राणिमात्रको डराते हुए महान् बादलके समान अति घोर गर्जना की और वह महावीर्यवान् शत्रुनाशी पक्षीनाथ आकाशमें उड गए ॥१०॥

तमुत्पत्यान्तरिक्षस्थं देवानामुपरि स्थितम् ।
वर्मिणो विबुधाः सर्वे नानाशस्त्रैरवाकिरन् ॥ ११ ॥

कवचधारी, इन्द्रादि संपूर्ण देवोंने आकाशमें उडकर अपने ऊपर छाए हुए गरुडको अनेक तरहके शस्त्रोंसे ढक दिया ॥ ११ ॥

पट्टिशैः परिघैः शूलैर्गदाभिश्च सवासवाः ।
क्षुरान्तैर्ज्वलितैश्चापि चक्रैरादित्यरूपिभिः ॥ १२ ॥

इन्द्र सहित देवोंके द्वारा पट्टिश, परिघ, शूल, गदा, प्रज्ज्वलित क्षुरप्र, सूर्यके समान चक्रादि ॥ १२ ॥

नानाशस्त्रविसर्गैश्च वध्यमानः समन्ततः ।
कुर्वन्सुतुमुलं युद्धं पक्षिराण्न व्यकम्पत ॥ १३ ॥

नाना अस्त्रोंसे चारों ओरसे मारे जाते हुए पक्षीनाथ घोर युद्ध करते हुए भी विकल नहीं हुए ॥ १३ ॥

विनर्दन्निव चाकाशे वैनतेयः प्रतापवान् ।
पक्षाभ्यामुरसा चैव समन्ताद्व्याक्षिपत्सुरान् ॥ १४ ॥

अपितु आकाशमें गर्जते हुए वह प्रतापी विनतापुत्र पंख और छातीकी चोटसे देवोंको चारों ओर गिराने लगे; ॥ १४ ॥

ते विक्षिप्तास्ततो देवाः प्रजग्मुर्गरुडार्दिताः ।
नखतुण्डक्षताश्चैव सुस्रुवुः शोणितं बहु ॥ १५ ॥

पक्षीराज गरुडके आक्रमणसे गिराये जाकर देव भाग गए और चोंच तथा नखोंसे घायल होकर रक्त गिराने लगे ॥ १५ ॥

साध्याः प्राचीं सगन्धर्वा वसवो दक्षिणां दिशम् ।
प्रजग्मुः सहिता रुद्रैः पतगेन्द्रप्रधर्षिताः ॥ १६ ॥

पक्षीराजसे पीडित होकर साध्य और गन्धर्व लोग पूर्वकी ओर वसु और रुद्रगण दक्षिणकी ओर भाग गए ॥ १६ ॥

दिशं प्रतीचीमादित्या नासत्या उत्तरां दिशम् ।
मुहुर्मुहुः प्रेक्षमाणा युध्यमाना महौजसम् ॥ १७ ॥

आदित्यगण पश्चिमकी ओर और दोनों अश्विनीकुमार उत्तरकी ओर युद्ध करते हुए तथा बार बार महाबलशाली गरुडको देखते हुए भाग गए ॥ १७ ॥

अश्वक्रन्देन वीरेण रेणुकेन च पक्षिणा ।
क्रथनेन च शूरेण तपनेन च खेचरः ॥ १८ ॥

पक्षीनाथ गरुडने वीर अश्वक्रन्द, रेणुकपक्षी, शूर, क्रथन, तपन, ॥ १८ ॥

उलूकश्वसनाभ्यां च निमेषेण च पक्षिणा ।
प्ररुजेन च संयुद्धं चकार प्रलिहेन च ॥ १९ ॥

उलूक, श्वसन, निमिषपक्षी, प्ररुज, प्रलिहं इन महावीरोंसे युद्ध किया ॥ १९ ॥

तान्पक्षनखतुण्डाग्रैरभिनद्विनतासुतः ।
युगान्तकाले संक्रुद्धः पिनाकीव महाबलः ॥ २० ॥

प्रलय कालमें क्रुद्ध हुए हुए शिवके समान महा बलशाली विनतापुत्रने पंख, चोंच और नखोंसे उन वीरोंको घायल किया ॥ २० ॥

महावीर्या महोत्साहास्तेन ते बहुधा क्षताः ।
रेजुरभ्रघनप्रख्या रुधिरौघप्रवर्षिणः ॥ २१ ॥

महाबली और बडे उत्साही वे सब देवता सब शरीरसे घायल होकर रक्तके प्रवाहको वर्षानेवाले बादलकी भांति शोभा पाने लगे ॥ २१ ॥

तान्कृत्वा पतगश्रेष्ठः सर्वानुत्क्रान्तजीवितान् ।
अतिक्रान्तोऽमृतस्यार्थे सर्वतोऽग्निमपश्यत ॥ २२ ॥

उन वीरोंको मृतकके समान करके अमृत लानेके लिए गए हुए पक्षीश्रेष्ठ गरुडने चारों ओर अग्निको देखा ॥ २२ ॥

आवृण्वानं महाज्वालमर्चिर्भिः सर्वतोऽम्बरम् ।
दहन्तमिव तीक्ष्णांशुं घोरं वायुसमीरितम् ॥ २३ ॥

वह अग्नि महा ज्वालओंसे सारे आकाशको सब तरफ़से घेरे हुए थी। मानों वह अग्नि तेज हवासे प्रेरित होकर सूर्यको भी जला रही थी॥ २३ ॥

ततो नवत्या नवतीर्मुखानां कृत्वा तरस्वी गरुडो महात्मा ।
नदीः समापीय मुखैस्ततस्तैः सुशीघ्रमागम्य पुनर्जवेन ॥ २४ ॥
ज्वलन्तमग्निं तममित्रतापनः समास्तरत्पत्त्ररथो नदीभिः ।
ततः प्रचक्रे वपुरन्यदल्पं प्रवेष्टुकामोऽग्निमभिप्रशाम्य ॥ २५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥ ११८० ॥

यह देख करके वेगवान्, महात्मा गरुडने चलकर (९० × ९० = ८१००) आठ सहस्र एक सौ मुंह धारण करके उन सब मुखोंसे संपूर्ण नदियोंका जल पीकर। फिर अति वेगसे आकर उस शत्रुको तपानेवाले गरुडने नदियोंसे जलती हुई आगको ढक दिया और इस प्रकार उस अग्निको बुझा करके भीतर घुसनेकी इच्छासे पक्षीने दूसरी एक अति छोटी देह धारण की ॥ २४-२५ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें अट्ठाइसवां अध्याय समाप्त ॥ २८ ॥ ११८० ॥

: २९ :

सूत उवाच

जाम्बूनदमयो भूत्वा मरीचिविकचोज्ज्वलः ।
प्रविवेश बलात्पक्षी वारिवेग इवार्णवम् ॥ १ ॥

सूत बोले- गरुड, किरणोंसे सुशोभित होनेके कारण उज्ज्वल उस सुवर्णमय शरीरको धारण कर, जिस प्रकार जलका वेग समुद्रमें जा घुसता है, उसी प्रकारसे बलपूर्वक वहां जा घुसे ॥ १ ॥

स चक्रं क्षुरपर्यन्तमपश्यदमृतान्तिके ।
परिभ्रमन्तमनिशं तीक्ष्णधारमयस्मयम् ॥ २ ॥

और वहां लोहेसे बने, उस्तरेके समान तीक्ष्णधारवाले, एक चक्रको अमृतके चारों ओर सदा घूमते देखा ॥ २ ॥

ज्वलनार्कप्रभं घोरं छेदनं सोमहारिणाम् ।
घोररूपं तदत्यर्थं यन्त्रं देवैः सुनिर्मितम् ॥ ३ ॥

अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी वह भयंकर चक्रयंत्र देवोंने अमृत चुरानेवालोंको काटनेके लिये बनवा रखा था ॥ ३ ॥

तस्यान्तरं स दृष्ट्वैव पर्यवर्तत खेचरः ।
अरान्तरेणाभ्यपतत्संक्षिप्याङ्गं क्षणेन ह ॥ ४ ॥

पक्षीनाथ गरुड उस यन्त्रमें प्रवेशकी थोडीसी जगह देखकर उसके चारों ओर उडने लगे और आरोंके बीचके छेदसे अपना शरीर छोटा करके उसी क्षण भीतर जा घुसे ॥ ४ ॥

अधश्चक्रस्य चैवात्र दीप्तानलसमद्युती ।
विद्युज्जिह्वौ महाघोरौ दीप्तास्यौ दीप्तलोचनौ ॥ ५ ॥

वहां चक्रके नीचे प्रज्ज्वलित अग्निके समान तेजस्वी, बिजलीके समान चंचल जीभवाले, महा भयंकर प्रज्ज्वलित मुख और प्रदीप्त आंखोंवाले ॥ ५ ॥

चक्षुर्विषौ महावीर्यौ नित्यक्रुद्धौ तरस्विनौ ।
रक्षार्थमेवामृतस्य ददर्श भुजगोत्तमौ ॥ ६ ॥

विषसे भरी हुई आंखोंवाले, महा बलशाली, सदा क्रोधी, अति बलवान्, दो कराल सर्प गरुडने अमृतकी रक्षाके निमित्त देखा ॥ ६ ॥

सदा संरब्धनयनौ सदा चानिमिषेक्षणौ ।
तयोरेकोऽपि यं पश्येत्स तूर्णं भस्मसाद्भवेत् ॥ ७ ॥

वे दोनों सदा क्रोधसे लाल लाल आंखोंवाले तथा पलक न मारते हुए एकटक देखनेवाले थे, वे दोनों इतने भयंकर थे कि उन दोनोंमेंसे एक भी यदि किसीको देख ले तो वह तभी भस्म हो जाये ॥ ७ ॥

तयोश्चक्षूंषि रजसा सुपर्णस्तूर्णमावृणोत् ।
अदृष्टरूपस्तौ चापि सर्वतः पर्यकालयत् ॥ ८ ॥

विनता-पुत्र गरुडने सहसा धूल फेंककर उन दोनों सर्पोंकी आंखें बन्द कर दीं और अदृश्य होकर उनके शरीरमें मारने लगे ॥ ८ ॥

तयोरङ्गे समाक्रम्य वैनतेयोऽन्तरिक्षगः ।
आच्छिनत्तरसा मध्ये सोममभ्यद्रवत्ततः ॥ ९ ॥

और अन्तरिक्षमें उडनेवाले उस विनता पुत्र गरुडने उनपर चढाई कर दी और शीघ्रतासे उनके टुकडे टुकडे करके वे अमृतकी ओर दौडे ॥ ९ ॥

समुत्पाट्यामृतं तत्तु वैनतेयस्ततो बली ।
उत्पपात जवेनैव यन्त्रमुन्मथ्य वीर्यवान् ॥ १० ॥

इसके बाद महाबली वीर्यवान् विनता पुत्र गरुड यन्त्रको पूर्णरूपसे मथकर अमृतका कलसा उठाकर बडे वेगसे उडे ॥ १० ॥

अपीत्वैवामृतं पक्षी परिगृह्याशु वीर्यवान्।
अगच्छदपरिश्रान्त आवार्यार्कप्रभां खगः ॥ ११ ॥

वह आकाशमें उडनेवाला वीर्यवान् पक्षी गरुड उस अमृतको स्वयं न पीते हुए उसे लेकर सूर्यकी प्रभाको चारों ओरसे ढककर न थकते हुए उड चले ॥ ११ ॥

विष्णुना तु तदाकाशे वैनतेयः समेयिवान्।
तस्य नारायणस्तुष्टस्तेनालौल्येन कर्मणा ॥ १२ ॥
तमुवाचाव्ययो देवो वरदोऽस्मीति खेचरम्।
स वव्रे तव तिष्ठेयमुपरीत्यन्तरिक्षगः ॥ १३ ॥

जाते हुए विनतापुत्र गरुडकी आकाशमें विष्णुसे भेंट हुई। श्रीनारायण उसको (अमृत पीनेके) लोभकर्मसे रहित देख करके प्रसन्न होकर आकाशमें उडनेवाले उससे अव्यय देव नारायण बोले– "हे पक्षी ! तुम वर मांगो।" अन्तरिक्षमें संचार करनेवाले उसने वर मांगा कि, "मैं तुम्हारे ध्वजके ऊपर रहूं" ॥ १२-१३ ॥

उवाच चैनं भूयोऽपि नारायणमिदं वचः।
अजरश्चामरश्च स्याममृतेन विनाप्यहम् ॥ १४ ॥

और फिर इसने नारायणसे यह बात कही कि अमृत न पीकर भी मैं अजर अमर हो जाऊं ॥ १४ ॥

प्रतिगृह्य वरौ तौ च गरुडो विष्णुमब्रवीत्।
भवतेऽपि वरं दद्मि वृणीतां भगवानपि ॥ १५ ॥

गरुड उन दोनों वरोंको मांगकर विष्णुसे बोले, कि तुमको भी कोई वर दूंगा, तुम भी मुझसे कोई वर मांगो ॥ १५ ॥

तं वव्रे वाहनं कृष्णो गरुत्मन्तं महाबलम्।
ध्वजं च चक्रे भगवानुपरि स्थास्यसीति तम् ॥ १६ ॥

विष्णुने महाबली, वीर्यशाली गरुडको अपना वाहन बना लिया तथा भगवान् नारायणने एक ध्वज बनाया और गरुडसे कहा कि तुम हमेशा मेरे ऊपर इस ध्वज पर रहोगे ॥१६॥

अनुपत्य खगं त्विन्द्रो वज्रेणाङ्गेऽभ्यताडयत्।
विहंगमं सुरामित्रं हरन्तममृतं बलात् ॥ १७ ॥

इन्द्रने देवशत्रु पक्षी गरुडको बलसे अमृत हरकर ले जाते देखकर उसके पास जाकर उसके शरीरपर वज्र मारा ॥ १७ ॥

तमुवाचेन्द्रमाक्रन्दे गरुडः पततां वरः ।
प्रहसञ्श्लक्ष्णया वाचा तथा वज्रसमाहतः ॥ १८ ॥

पक्षीश्रेष्ठ गरुड उस युद्धमें वज्रकी मार खाकर हंसकर मीठी वाणीसे देवराजसे बोले ॥ १८ ॥

ऋषेर्मानं करिष्यामि वज्रं यस्यास्थिसंभवम् ।
वज्रस्य च करिष्यामि तव चैव शतक्रतो ॥ १९ ॥

"हे इन्द्र ! जिस ऋषिकी हड्डीसे वज्र बना है, उनका सम्मान मैं करूंगा, साथ ही तुम्हारा और तुम्हारे वज्रका आदर बनाये रखूंगा ॥ १९ ॥

एष पत्रं त्यजाम्येकं यस्यान्तं नोपलप्स्यसे ।
न हि वज्रनिपातेन रुजा मेऽस्ति कदाचन ॥ २० ॥

इसलिए, तुमको जिसका अन्त भी नहीं मिलेगा; ऐसा यह एक पंख मैं त्याग देता हूं, तुम्हारे इस वज्रकी चोटसे मुझको कभी चोट नहीं लग सकती " ॥ २० ॥

तत्र तं सर्वभूतानि विस्मितान्यब्रुवंस्तदा ।
सुरूपं पत्रमालक्ष्य सुपर्णोऽयं भवत्विति ॥ २१ ॥

तब सारे प्राणी उसके सुन्दर पंखको देखकर आश्चर्यचकित होकर उससे बोले, कि इसका नाम " सुपर्ण " हो ॥ २१ ॥

दृष्ट्वा तदद्भुतं चापि सहस्राक्षः पुरंदरः ।
खगो महदिदं भूतमिति मत्वाभ्यभाषत ॥ २२ ॥

सहस्रनेत्र पुरन्दर भी यह अत्याश्चर्य देखकर सोचने लगे कि " निश्चय ही यह पक्षी कोई महाप्राणी होगा " और यह सोचकर बोले ॥ २२ ॥

बलं विज्ञातुमिच्छामि यत्ते परमनुत्तमम् ।
सख्यं चानन्तमिच्छामि त्वया सह खगोत्तम ॥ २३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि ऊनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥ १२०३ ॥

" हे पक्षीवर ! तुम्हारा जो अत्यंत उत्तम बल है उसे मैं जानना चाहता हूं और तुमसे सदा मित्रताकी इच्छा करता हूँ " ॥ २३ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें उन्तीसवां अध्याय समाप्त ॥ २९ ॥ १२०३ ॥

: ३० :

गरुड उवाच

सख्यं मेऽस्तु त्वया देव यथेच्छसि पुरंदर ।
बलं तु मम जानीहि महच्चासह्यमेव च ॥ १ ॥

गरुड बोले, कि हे देवराज पुरन्दर ! तुम जिस प्रकार चाहते हो; उसी प्रकार तुम्हारी मेरे साथ मित्रता हो । और तुम बस इतना ही समझ लो कि मेरा बल महान् और न सहने योग्य है ॥ १ ॥

कामं नैतत्प्रशंसन्ति सन्तः स्वबलसंस्तवम् ।
गुणसंकीर्तनं चापि स्वयमेव शतक्रतो ॥ २ ॥

हे शतक्रतो ! पंडितलोग अपने बलकी प्रशंसा वा स्वगुणोंका कीर्तन स्वयं नहीं करते ॥२ ॥

सखेति कृत्वा तु सखे पृष्टो वक्ष्याम्यहं त्वया ।
न ह्यात्मस्तवसंयुक्तं वक्तव्यमनिमित्ततः ॥ ३ ॥

हे मित्र ! तुम मित्र बनकर पूछते हो, इसलिये कहता हूं, नहीं तो बिना कारण अपनी प्रशंसा की बात नहीं कहनी चाहिये ॥ ३ ॥

सपर्वतवनामुर्वीं ससागरवनामिमाम् ।
पक्षनाड्यैकया शक्र त्वां चैवात्रावलम्बिनम् ॥ ४ ॥

मैं अपने पंखकी एक नाडीसे ही पर्वत, वन और समुद्र—जल सहित इस धरतीको उठा सकता हूं, और उसपर बैठे हुए तुमको भी उठालूं तोभी मुझे कष्ट नहीं जान पडेगा ॥ ४ ॥

सर्वान्संपिण्डितान्वापि लोकान्सस्थाणुजङ्गमान् ।
वहेयमपरिश्रान्तो विद्धीदं मे महद्बलम् ॥ ५ ॥

स्थावर—जंगमसे पूर्ण संपूर्ण भुवनोंकी गठरीसी बांधकर एक ही कालमें बिना थके ले जाऊं, इतना महान् बल मुझमें तुम समझो ॥ ५ ॥

सूत उवाच

इत्युक्तवचनं वीरं किरीटी श्रीमतां वरः ।
आह शौनक देवेन्द्रः सर्वभूतहितः प्रभुः ॥ ६ ॥

सूत बोले— हे शौनक ! सब प्राणियोंके हितको चाहनेवाले प्रभु, किरीटधारी, ऐश्वर्य-शालियोंमें श्रेष्ठ, देवोंके स्वामी इन्द्र वीरवर गरुडके यह वचन सुनकर बोले ॥ ६ ॥

प्रति गृह्यतामिदानीं मे सख्यमानन्त्यमुत्तमम् ।
न कार्यं तव सोमेन मम सोमः प्रदीयताम् ।
अस्मांस्ते हि प्रबाधेयुर्येभ्यो दद्याद्भवानिमम् ॥ ७ ॥

" इसी क्षण तुम मेरी उत्तम और हमेशा स्थिर रहनेवाली मित्रताको स्वीकार करो और अमृतसे तुम्हारा कुछ भी प्रयोजन नहीं है, अतः वह मुझे लौटा दो। तुम जिनको यह अमृत दोगे वे सदा हमारी हानि किया करेंगे " ॥ ७ ॥

गरुड उवाच

किंचित्कारणमुद्दिश्य सोमोऽयं नीयते मया ।
न दास्यामि समादातुं सोमं कस्मैचिदप्यहम् ॥ ८ ॥

गरुड बोले-- " किसी विशेष कारणसे मैं अमृत ले जा रहा हूं, पर मैं यह अमृत किसीको भी पीने नहीं दूंगा ॥ ८ ॥

यत्रेमं तु सहस्राक्ष निक्षिपेयमहं स्वयम् ।
त्वमादाय ततस्तूर्णं हरेथास्त्रिदशेश्वर ॥ ९ ॥

हे देवोंके स्वामिन् सहस्रनेत्र इन्द्र ! मैं इस अमृतके कलसेको ले जा करके जहां रखूंगा, हे देवराज ! तुम वहांसे इस उसी क्षण हर लाना " ॥ ९ ॥

शक्र उवाच

वाक्येनानेन तुष्टोऽहं यत्त्वयोक्तमिहाण्डज ।
यदिच्छसि वरं मत्तस्तद्गृहाण खगोत्तम ॥ १० ॥

इन्द्र बोले-- " हे अंडोत्पन्न पक्षियोंमें श्रेष्ठ गरुड ! तुमने जो कुछ कहा, तुम्हारी उस बातसे मैं बडा प्रसन्न हुआ । तुम मुझसे जो कुछ वर लेना चाहो, मांग लो । " ॥ १० ॥

सूत उवाच

इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं कद्रूपुत्राननुस्मरन् ।
स्मृत्वा चैवोपधिकृतं मातुर्दास्यनिमित्ततः ॥ ११ ॥

सूत बोले, कि यह बात सुन करके गरुड कद्रूके पुत्रोंके व्यवहार और माताके दासीपनके कारण कद्रूके छलको स्मरण कर बोले ॥ ११ ॥

ईशोऽहमपि सर्वस्य करिष्यामि तु तेऽर्थिनाम् ।
भवेयुर्भुजगाः शक्र मम भक्ष्या महाबलाः ॥ १२ ॥

" मैं हर तरहसे समर्थ होने पर भी मैं तुम्हारा याचक होऊंगा अर्थात् तुमसे यह वर मांगता हूं, कि हे शक्र ! महाबली सर्पगण मेरे भोजनकी सामग्री बनें " ॥ १२ ॥

तथेत्युक्त्वान्वगच्छत्तं ततो दानवसूदनः।
हरिष्यामि विनिक्षिप्तं सोममित्यनुभाष्य तम् ॥ १३ ॥

दानवोंका नाश करनेवाले इन्द्रने उसे कहा, "वैसा ही हो अर्थात् सांप तुम्हारे भक्ष्य बनें" और "तुम्हारे द्वारा रखे गए अमृतको मैं हर लाऊंगा" यह कहकर इन्द्र गरुडके पीछे पीछे चले ॥ १३ ॥

आजगाम ततस्तूर्णं सुपर्णो मातुरन्तिकम्।
अथ सर्पानुवाचेदं सर्वान्परमहृष्टवत् ॥ १४ ॥

इसके बाद गरुड उसी क्षण माताके निकट लौट गये और प्रसन्न हृदयसे सब सर्पोंसे यह बोले ॥ १४ ॥

इदमानीतमस्मृतं निक्षेप्स्यामि कुशेषु वः।
स्नाता मङ्गलसंयुक्तास्ततः प्राश्नीत पन्नगाः ॥ १५ ॥

"हे नागो! मैं तुम्हारे निमित्त यह अमृत लेता आया हूं, और उसे कुशाओंमें रख देता हूं, तुम सब सर्प स्नान और मंगलाचरण करके अमृत पिओ ॥ १५ ॥

अदासी चैव मातेयमद्यप्रभृति चास्तु मे।
यथोक्तं भवतामेतद्वचो मे प्रतिपादितम् ॥ १६ ॥

आजसे मेरी यह माता दासीत्वसे छूट जाये। क्योंकि आपके द्वारा कहा हुआ काम मैंने पूरा कर दिया है" ॥ १६ ॥

ततः स्नातुं गताः सर्पाः प्रत्युक्त्वा तं तथेत्युत।
शक्रोऽप्यमृतमाक्षिप्य जगाम त्रिदिवं पुनः ॥ १७ ॥

यह सुनकर सर्पगण गरुडसे "तथास्तु" कहकर नहाने चले गये, इसी बीच इन्द्र भी अमृतका कलसा लेकर फिर स्वर्गको चले गए ॥ १७ ॥

अथागतास्तमुद्देशं सर्पाः सोमार्थिनस्तदा।
स्नाताश्च कृतजप्याश्च प्रहृष्टाः कृतमङ्गलाः ॥ १८ ॥

स्नान, जप और मंगलाचरण करके अमृत पीनेकी इच्छावाले सर्प प्रसन्न होकर, जहां कुशाओंमें अमृतका कलसा धरा था, वहां आए ॥ १८ ॥

तद्विज्ञाय हृतं सर्पाः प्रतिमायाकृतं च तत्।
सोमस्थानमिदं चेति दर्भांस्ते लिलिहुस्तदा ॥ १९ ॥

"अमृतको किसीने चुरा लिया है" यह जानकर और "हमने जैसे छल किया था, गरुडने भी वैसे ही छल किया है।" यह सोचकर यहीं कुशाओंमें अमृत रखा था, यह विचार कर सर्पगण उन कुशोंको चाटने लगे ॥ १९ ॥

ततो द्वैधीकृता जिह्वा सर्पाणां तेन कर्मणा ।
अभवंश्चामृतस्पर्शाद्दर्भास्तेऽथ पवित्रिणः ॥ २० ॥

इस कर्मसे उनकी जीभ कट कर दो भागोंमें बंट गई । अमृतके स्पर्शसे वे कुश भी पवित्र हो गए ॥ २० ॥

ततः सुपर्णः परमप्रहृष्टवान्विहृत्य मात्रा सह तत्र कानने ।
भुजङ्गभक्षः परमार्चितः खगैरहीनकीर्तिर्विनतामनन्दयत् ॥ २१ ॥

अनन्तर प्रफुल्लित हृदयसे माताके साथ उस वनमें विहार करके संपूर्ण पक्षियोंसे भली प्रकार पूजे जाकर और सर्पभक्षक बनकर अक्षय कीर्तिवाले गरुड माताका आनन्द बढाने लगे ॥ २१ ॥

इमां कथां यः शृणुयान्नरः सदा पठेत वा द्विजजनमुख्यसंसदि ।
असंशयं त्रिदिवमियात्स पुण्यभाङ्महात्मनः पतगपतेः प्रकीर्तनात् ॥ २२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥ १२२५ ॥

जो मनुष्य ब्राह्मण जनोंकी सभामें यह कथा सदा सुनता या पढता है; वह अति प्रभावी पक्षीराज गरुडके चरित्र कहनेका पुण्य लेकरके विना सन्देह देवलोक जाता है ॥ २२ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें तीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३० ॥ ॥ १२२५ ॥

: ३१ :

शौनक उवाच

भुजङ्गमानां शापस्य मात्रा चैव सुतेन च ।
विनतायास्त्वया प्रोक्तं कारणं सूतनन्दन ॥ १ ॥

शौनक बोले-- कि हे सूतनन्दन ! माताका सर्पोंको शाप देना और पुत्र अरुणका अपनी माता विनताको शाप देना इन दोनोंके कारण तुमने कह सुनाये ॥ १ ॥

वरप्रदानं भर्त्रा च कद्रूविनतयोस्तथा ।
नामनी चैव ते प्रोक्ते पक्षिणोर्वैनतेययोः ॥ २ ॥

और पतिसे कद्रू और विनताके वर पानेके वृत्तान्तका वर्णन करके तुम विनताके पुत्रों दोनों पक्षियोंके नाम भी बता चुके हो ॥ २ ॥

पन्नगानां तु नामानि न कीर्तयसि सूतज ।
प्राधान्येनापि नामानि श्रोतुमिच्छामहे वयम् ॥ ३ ॥

पर हे सूतपुत्र ! तुमने सर्पोंके नाम नहीं कहे; अतः हम कुछ प्रधान प्रधान सर्पोंके नाम सुननेकी इच्छा करते हैं ॥ ३ ॥

सूत उवाच

बहुत्वान्नामधेयानि भुजगानां तपोधन ।
न कीर्तयिष्ये सर्वेषां प्राधान्येन तु मे शृणु ॥ ४ ॥

सूत बोले-- कि हे तपोधन शौनक ! सर्पोंके नाम बहुत होनेके कारण सबोंके नाम नहीं कहूंगा, केवल प्रधान प्रधान सांपोंके नाम कहता हूं, सुनिये ॥ ४ ॥

शेषः प्रथमतो जातो वासुकिस्तदनन्तरम् ।
ऐरावतस्तक्षकश्च कर्कोटकधनंजयौ ॥ ५ ॥

सबसे पहिले शेष नागने जन्म लिया, अनन्तर वासुकिका जन्म हुआ, इसके पश्चात् ऐरावत और तक्षक, कर्कोटक, धनंजय ॥ ५ ॥

कालियो मणिनागश्च नागश्चापूरणस्तथा ।
नागस्तथा पिञ्जरक एलापत्रोऽथ वामनः ॥ ६ ॥

कालिय और मणिनाग तथा आपूरण नाग तथा पिंजरक नाग, एलापत्र और वामन ॥६॥

नीलानीलौ तथा नागौ कल्माषशबलौ तथा ।
आर्यकश्चादिकश्चैव नागश्च शलपोतकः ॥ ७ ॥

तथा नील, अनील नाग, कल्माष और शबल, आर्यक और आदिक नाग तथा शलपोतक ॥७॥

सुमनोमुखो दधिमुखस्तथा विमलपिण्डकः ।
आप्तः कोटनकश्चैव शङ्खो बालशिखस्तथा ॥ ८ ॥

सुमनोमुख, दधिमुख और विमलपिंडक, आप्त और कोटनक, शंख और बालशिख ॥ ८ ॥

निष्ठ्यूनको हेमगुहो नहुषः पिङ्गलस्तथा ।
बाह्यकर्णो हस्तिपदस्तथा मुद्गरपिण्डकः ॥ ९ ॥

निष्ठ्यूनक, हेमगुह, नहुष तथा पिंगल, बाह्यकर्ण, हस्तिपद तथा मुद्गरपिंडक ॥ ९ ॥

कम्बलाश्वतरौ चापि नागः कालीयकस्तथा ।
वृत्तसंवर्तकौ नागौ द्वौ च पद्माविति श्रुतौ ॥ १० ॥

कम्बल, अश्वतर तथा कालीयक नाग, वृत्त, संवर्त्तक नाग और दो प्रसिद्ध पद्म, महापद्म ॥१०॥

नागः शङ्खनकश्चैव तथा च स्फण्डकोऽपरः ।
क्षेमकश्च महानागो नागः पिण्डारकस्तथा ॥ ११ ॥

शंखनक नाग, दूसरा स्फंडक, क्षेमक महानाग और पिण्डारक नाग ॥ ११ ॥

करवीरः पुष्पदंष्ट्र एळको बिल्वपाण्डुकः ।
मूषकादः शङ्खशिराः पूर्णदंष्ट्रो हरिद्रकः ॥ १२ ॥

करवीर, पुष्पदंष्ट्र, एळक, बिल्वपाण्डुक, मूषकाद, शंखशिरा, पूर्णदंष्ट्र, हरिद्रक ॥ १२ ॥

अपराजितो ज्योतिकश्च पन्नगः श्रीवहस्तथा ।
कौरव्यो धृतराष्ट्रश्च पुष्करः शल्यकस्तथा ॥ १३ ॥

अपराजित और ज्योतिक तथा पन्नग श्रीवह, कौरव्य और धृतराष्ट्र, पुष्कर तथा शल्यक ॥ १३ ॥

विरजाश्च सुबाहुश्च शालिपिण्डश्च वीर्यवान् ।
हस्तिभद्रः पिठरको मुखरः कोणवासनः ॥ १४ ॥

विरजा और सुबाहु, वीर्यवान् शालिपिण्ड, हस्तिभद्र, पिठरक, मुखर, कोणवासन ॥ १४ ॥

कुञ्जरः कुररश्चैव तथा नागः प्रभाकरः ।
कुमुदः कुमुदाक्षश्च तित्तिरिर्हलिकस्तथा ।
कर्कराकर्करौ चोभौ कुण्डोदरमहोदरौ ॥ १५ ॥

कुंजर, कुरर तथा प्रभाकर नाग, कुमुद और कुमुदाक्ष, तित्तिरि तथा हलिक, दोनों कर्कर और अकर्कर, कुण्डोण्दर और महोदर ॥ १५ ॥

एते प्राधान्यतो नागाः कीर्तिता द्विजसत्तम ।
बहुत्वान्नामधेयानामितरे न प्रकीर्तिताः ॥ १६ ॥

यह सब प्रधान प्रधान नागोंके नाम कहे गये हैं । हे द्विजश्रेष्ठ ! नामोंके अधिक होनेके कारण दूसरे सब सर्पोंके नाम नहीं कहे हैं ॥ १६ ॥

एतेषां प्रसवो यश्च प्रसवस्य च संततिः ।
असंख्येयेति मत्वा तान्न ब्रवीमि द्विजोत्तम ॥ १७ ॥

हे ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ ! इनके पुत्र और पुत्रोंके पुत्र भी असंख्य हैं, यह जानकर उनके नामोंको नहीं गिना रहा ॥ १७ ॥

बहूनीह सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
अशक्यान्येव संख्यातुं भुजगानां तपोधन ॥ १८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥ १२४३ ॥

वास्तवमें अनेक हजारों, अनेक अयुतों, अनेक अर्बुदों नाग हैं, अतः हे तपोधन ! सांपोंकी संख्या भी नहीं की जा सकती है ॥ १८ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें इकतीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३१ ॥ १२४३ ॥

: ३२ :

शौनक उवाच

जाता वै भुजगास्तात वीर्यवन्तो दुरासदाः।
शापं तं त्वथ विज्ञाय कृतवन्तो नु किं परम् ॥ १ ॥

शौनक बोले– कि तात ! सर्प तो बडे वीर्यशाली तथा दुर्धर्ष होकर उत्पन्न हुए थे। उन्होंने माताके शापको सुननेके पश्चात् क्या किया ॥ १ ॥

सूत उवाच

तेषां तु भगवाञ्शेषस्त्यक्त्वा कद्रूं महायशाः।
तपो विपुलमातस्थे वायुभक्षो यतव्रतः ॥ २ ॥

सूत बोले– कि तब उन सर्पोंमें अति यशस्वी भगवान् शेषनाग कद्रूको छोड कर जितेन्द्रिय और वायुभक्षी होकर महान् तप करने लगे ॥ २ ॥

गंधमादनमासाद्य बदर्यां च तपोरतः।
गोकर्णे पुष्करारण्ये तथा हिमवतस्तटे ॥ ३ ॥
तेषु तेषु च पुण्येषु तीर्थेष्वायतनेषु च।
एकान्तशीली नियतः सततं विजितेन्द्रियः ॥ ४ ॥

तपमें रत रहनेवाले वे गन्धमादन, बदरिका, गोकर्ण, पुष्करवन तथा हिमालयके किनारे आदि उन उन संपूर्ण पवित्र तीर्थ और आश्रमोंमें घूमकर सदा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करनेवाले तथा एकान्तवासी होकर तप करने लगे ॥ ३–४ ॥

तप्यमानं तपो घोरं तं ददर्श पितामहः।
परिशुष्कमांसत्वक्स्नायुं जटाचीरधरं प्रभुम् ॥ ५ ॥

जटा और चीर धारण करनेवाले, कठोर तप करनेके कारण सूखे हुए मांस, चमडा और नसों-वाले, भयंकर तपस्या करनेवाले उस सामर्थ्यशाली शेषनागको पितामह ब्रह्माने देखा ॥ ५ ॥

तमब्रवीत्सत्यधृतिं तप्यमानं पितामहः।
किमिदं कुरुषे शेष प्रजानां स्वस्ति वै कुरु ॥ ६ ॥

अटल धैर्यसे तप करते देखकर पितामह उससे बोले– " हे शेष ! तुम यह क्या कर रहे हो ? प्रजाओंका जिससे मंगल हो, वही करो ॥ ६ ॥

त्वं हि तीव्रेण तपसा प्रजास्तापयसेऽनघ।
ब्रूहि कामं च मे शेष यत्ते हृदि चिरं स्थितम् ॥ ७ ॥

हे अनघ ! तुम कठोर तपसे प्रजाको संताप दे रहे हो। हे शेष ! तुम्हारे हृदयमें जो दीर्घ कालसे स्थित है, उस अपनी अभिलाषाके बारेमें मुझे बताओ " ॥ ७ ॥

शेष उवाच

सोदर्या मम सर्वे हि भ्रातरो मन्दचेतसः ।
सह तैर्नोत्सहे वस्तुं तद्भवाननुमन्यताम् ॥ ८ ॥

शेष बोले– " मेरे सब सगे भाई दुष्ट बुद्धिवाले हैं, मैं उनके साथ एकत्र रहना नहीं चाहता, अतः आप मुझे उनसे अलग रहनेकी अनुमति दीजिये ॥ ८ ॥

अभ्यसूयन्ति सततं परस्परममित्रवत् ।
ततोऽहं तप आतिष्ठे नैतान्पश्येयमित्युत ॥ ९ ॥

वे मेरे भाई आपसमें शत्रुके समान सदा एक दूसरेसे द्वेष करते रहते हैं, इसी हेतुसे मैं तप कर रहा हूं, कि फिर उनको मैं न देखूं ॥ ९ ॥

न मर्षयन्ति सततं विनतां ससुतां च ते ।
अस्माकं चापरो भ्राता वैनतेयः पितामह ॥ १० ॥

वे सदा विनता और उसके पुत्रसे डाह किया करते हैं; अतः उनके सुखको सहन नहीं कर पाते । हे पितामह ! विनता पुत्र गरुड हमारे दूसरे भाई ही तो हैं ॥ १० ॥

तं च द्विषन्ति तेऽत्यर्थं स चापि सुमहाबलः ।
वरप्रदानात्स पितुः कश्यपस्य महात्मनः ॥ ११ ॥

वे गरुड अपने पिता महात्मा कश्यपके वरके कारण अति बलवीर्यशाली हुए हैं; इस कारण मेरे वे भाई सदा उससे द्वेष किया करते हैं ॥ ११ ॥

सोऽहं तपः समास्थाय मोक्ष्यामीदं कलेवरम् ।
कथं मे प्रेत्यभावेऽपि न तैः स्यात्सह संगमः ॥ १२ ॥

अतः मैं तप करके यह शरीर छोड दूंगा, पर दूसरे जन्ममें भी उन भाइयोंसे मेरा किसी प्रकारका सम्बन्ध न रह सके, इसके लिए कौनसा उपाय है " ॥ १२ ॥

ब्रह्मोवाच

जानामि शेष सर्वेषां भ्रातॄणां ते विचेष्टितम् ।
मातुश्चाप्यपराधाद्वै भ्रातॄणां ते महद्भयम् ॥ १३ ॥

ब्रह्मा बोले– " हे शेष ! मैं तुम्हारे भाइयोंके सब व्यवहार जानता हूं, तुम्हारी माताके शापसे तुम्हारे भाइयोंके लिए जो महाभय उपस्थित हुआ है, वह भी जानता हूं ॥ १३ ॥

कृतोऽत्र परिहारश्च पूर्वमेव भुजङ्गम ।
भ्रातॄणां तव सर्वेषां न शोकं कर्तुमर्हसि ॥ १४ ॥

पर हे शेष ! पहिले ही उसका प्रतिकार होगया है, अतः तुम सब भाइयोंके निमित्त दुःख मत करो ॥ १४ ॥

वृणीष्व च वरं मत्तः शेष यत्तेऽभिकाङ्क्षितम् ।
दित्सामि हि वरं तेऽद्य प्रीतिर्मे परमा त्वयि ॥ १५ ॥

हे शेष ! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूं, और तुमको मैं आज वर देना चाहता हूं, अतः तुम जो कुछ चाहते हो, वह वर तुम मुझसे मांग लो ॥ १५ ॥

दिष्ट्या च बुद्धिर्धर्मे ते निविष्टा पन्नगोत्तम ।
अतो भूयश्च ते बुद्धिर्धर्मे भवतु सुस्थिरा ॥ १६ ॥

हे सर्पश्रेष्ठ ! सौभाग्यवश तुम्हारा चित्त धर्ममें लगा हुआ है, इसलिए तुम्हारी बुद्धि धर्म पर और ज्यादा स्थिर हो जाए "॥ १६ ॥

शेष उवाच

एष एव वरो मेऽद्य काङ्क्षितः प्रपितामह ।
धर्मे मे रमतां बुद्धिः शमे तपसि चेश्वर ॥ १७ ॥

शेष बोले– " पितामह ब्रह्मा ! आज मेरा यही अभिलषित वर है, कि धर्म, शान्ति और तपमें मेरी बुद्धि रमती रहे " ॥ १७ ॥

ब्रह्मोवाच

प्रीतोऽस्म्यनेन ते शेष दमेन प्रशमेन च ।
त्वया त्विदं वचः कार्यं मन्नियोगात्प्रजाहितम् ॥ १८ ॥

ब्रह्मा बोले– " हे शेष ! मैं तुम्हारे इस शान्तिगुण और दमसे प्रसन्न हुआ हूँ, तुम मेरी आज्ञासे प्रजाओंके हितके निमित्त यह कार्य करो ॥ १८ ॥

इमां महीं शैलवनोपपन्नां ससागरां साकरपत्तनां च ।
त्वं शेष सम्यक्चलितां यथावत्संगृह्य तिष्ठस्व यथाचला स्यात् ॥ १९ ॥

हे शेष ! पर्वत और वनोंसे युक्त सागरों सहित तथा शहर आदियोंसे सम्पन्न तथा हिलती डुलती हुई इस धरतीको तुम इस प्रकार अच्छी तरह पकडकर बैठ जाओ कि यह पृथ्वी अचल अर्थात् स्थिर हो जाए " ॥ १९ ॥

शेष उवाच

यथाह देवो वरदः प्रजापतिर्महीपतिर्भूतपतिर्जगत्पतिः ।
तथा महीं धारयितास्मि निश्चलां प्रयच्छ तां मे शिरसि प्रजापते ॥ २० ॥

शेष बोले– " देव वर देनेवाले प्रजापति, महीपति, भूतपति और जगत्पति जैसी आज्ञा देते हैं, उसी तरह मैं पृथ्वीको ऐसे धरे रहूंगा, कि वह डोलने न पावेगी; हे प्रजापति ! आप इस पृथ्वीको मेरे सिर पर रख दीजिये " ॥ २० ॥

ब्रह्मोवाच

अधो महीं गच्छ भुजङ्गमोत्तम स्वयं तवैषा विवरं प्रदास्यति ।

इमां धरां धारयता त्वया हि मे महत्प्रियं शेष कृतं भविष्यति ॥ २१ ॥

ब्रह्मा बोले-- कि हे सर्पश्रेष्ठ ! तुम इस पृथ्वीमंडलके नीचे चले जाओ, यह पृथ्वी स्वयं ही तुमको बिल अर्थात् रास्ता दे देगी, हे शेष ! तुम्हारे द्वारा इस धरती-मंडलको धारण किए जानेपर मेरा एक अति प्रिय कार्य सम्पन्न हो जाएगा ॥ २१ ॥

सूत उवाच

तथेति कृत्वा विवरं प्रविश्य स प्रभुर्भुवो भुजगवराग्रजः स्थितः ।

बिभर्ति देवीं शिरसा महीमिमां समुद्रनेमिं परिगृह्य सर्वतः ॥ २२ ॥

सूत बोले-- कि सांपोंमें श्रेष्ठ वासुकिके बडे भाई सर्पनाथ शेषने "तथास्तु" कहकर पृथ्वीके बिलमें घुसकरके समुद्रसे घिरी हुई इस पूरी धरती देवीको चारों ओरसे उठाकर सिरपर रख लिया ॥ २२ ॥

ब्रह्मोवाच

शेषोऽसि नागोत्तम धर्मदेवो महीमिमां धारयसे यदेकः ।

अनन्तभोगः परिगृह्य सर्वां यथाहमेवं बलभिद्यथा वा ॥ २३ ॥

ब्रह्मा बोले– कि हे नागोंमें श्रेष्ठ शेष ! जिस कारण तू अकेला ही इस सम्पूर्ण पृथ्वीको अपने अनन्त फनोंसे अच्छी तरह संभालकर धारण करता है, इसलिए जिस प्रकार मैं अथवा बलासुरका नाशक इन्द्र हैं, उसीप्रकार तू भी शेष (अवशिष्ट अर्थात् तीसरा) धर्मराज होगा ॥ २३ ॥

सूत उवाच

अधो भूमेर्वसत्येवं नागोऽनन्तः प्रतापवान् ।

धारयन्वसुधामेकः शासनाद्ब्रह्मणो विभुः ॥ २४ ॥

सूत बोले– कि प्रतापी प्रभु अनन्त नाग ब्रह्माकी आज्ञासे अकेले ही धरतीको धारण किये भूमिके नीचे रहते हैं ॥ २४ ॥

सुपर्णं च सखायं वै भगवानमरोत्तमः ।

प्रादादनन्ताय तदा वैनतेयं पितामहः ॥ २५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥ १२६८ ॥

तब देवोंमें श्रेष्ठ, भगवान् पितामहने विनतानन्दन सुपर्णको भी अनन्त शेषके मित्रके रूपमें प्रदान कर दिया अर्थात् गरुडको शेषनागका मित्र बना दिया ॥ २५ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें बत्तीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३२ ॥ १२६८ ॥

: ३३ :

सूत उवाच

मातुः सकाशात्तं शापं श्रुत्वा पन्नगसत्तमः ।
वासुकिश्चिन्तयामास शापोऽयं न भवेत्कथम् ॥ १ ॥

सूत बोले– नागोंमें श्रेष्ठ वासुकि भी मातासे इस शापके वचन सुनकर यह सोचने लगे, कि ऐसा कौनसा उपाय है कि जिससे यह शाप सत्य न हो ॥ १ ॥

ततः स मन्त्रयामास भ्रातृभिः सह सर्वशः ।
ऐरावतप्रभृतिभिर्ये स्म धर्मपरायणाः ॥ २ ॥

अनन्तर वह वासुकि, जो धर्मका आचरण करनेवाले थे, ऐसे अपने ऐरावतादि सभी भाइयोंके साथ हर तरहसे विचार करने लगा ॥ २ ॥

वासुकिरुवाच

अयं शापो यथोद्दिष्टो विदितं वस्तथानघाः ।
तस्य शापस्य मोक्षार्थं मन्त्रयित्वा यतामहे ॥ ३ ॥

वासुकि बोला– कि हे निष्पाप भाइयो ! माताने जो यह शाप दिया है, वह आपको पता ही है, अतः अब हम सब मिलकर विचार करके उस शापसे मुक्त होनेका प्रयत्न करें ॥ ३ ॥

सर्वेषामेव शापानां प्रतिघातो हि विद्यते ।
न तु मात्राभिशप्तानां मोक्षो विद्येत पन्नगाः । ॥ ४ ॥

हे सांपो ! सब शापोंको प्रतिकार द्वारा व्यर्थ किया जा सकता है, पर जो माताके द्वारा शापग्रस्त हुए हैं, उनके लिए उस शापसे छूटनेका कोई उपाय नहीं है ॥ ४ ॥

अव्ययस्याप्रमेयस्य सत्यस्य च तथाग्रतः ।
शप्ता इत्येव मे श्रुत्वा जायते हृदि वेपथुः ॥ ५ ॥

विशेष करके अविनाशी, सत्य और अप्रमेय पितामह ब्रह्माके सामने हमें यह शाप दिया गया है; यह सुनकर मेरा हृदय कांप रहा है ॥ ५ ॥

नूनं सर्वविनाशोऽयमस्माकं समुदाहृतः ।
न ह्येनां सोऽव्ययो देवः शपन्तीं प्रत्यषेधयत् ॥ ६ ॥

जान पडता है, कि हमारा सर्वनाश विना सन्देह आ पहुंचा है, क्योंकि अविनाशी देव ब्रह्माने भी हमें शाप देती हुई इस हमारी माताको नहीं रोका ॥ ६ ॥

तस्मात्संमन्त्रयामोऽत्र भुजगानामनामयम् ।
यथा भवेत सर्वेषां मा नः कालोऽत्यगादयम्　　　　॥ ७ ॥

अतः आज यहां हम सब मिलकर सर्पोंके मंगल पर विचार करें, जिससे हम सबका कल्याण हो और हमारा यह काल व्यर्थ न जाए ॥ ७ ॥

अपि मन्त्रयमाणा हि हेतुं पश्याम मोक्षणे ।
यथा नष्टं पुरा देवा गूढमग्निं गुहागतम्　　　　॥ ८ ॥

सर्वोंसे मिल जुलकर विचार करनेसे अवश्य ही शापसे मुक्त होनेका कोई उपाय निकल सकता है । जिस प्रकार पहले देवोंने गुहामें छिपकर गुप्त हुए अग्नि देवको ढूंढ निकाला था ॥ ८ ॥

यथा स यज्ञो न भवेद्यथा वापि पराभवेत् ।
जनमेजयस्य सर्पाणां विनाशकरणाय हि　　　　॥ ९ ॥

उसी प्रकार ऐसा कोई उपाय निश्चय किया जावे, कि जिससे सांपोंका विनाश करनेके लिए राजा जनमेजयका सर्पयज्ञ न होने पावे अथवा हो भी तो वह यज्ञ निष्फल हो जावे ॥९॥

सूत उवाच

तथेत्युक्त्वा तु ते सर्वे काद्रवेयाः समागताः ।
समयं चक्रिरे तत्र मन्त्रबुद्धिविशारदाः　　　　॥ १० ॥

सूत बोले– " ठीक है " इस प्रकार (वासुकीसे) कहकर बादमें नीतिको निश्चित करनेमें प्रवीण वे सब कद्रूके पुत्र एक जगह आकर एक मतसे शापसे छूटनेके उपाय पर विचार करने लगे ॥ १० ॥

एके तत्राब्रुवन्नागा वयं भूत्वा द्विजर्षभाः ।
जनमेजयं तु भिक्षामो यज्ञस्ते न भवेदिति　　　　॥ ११ ॥

उस सभामें कुछ सर्पोंने कहा, कि हम उत्तम ब्राह्मण हो करके जनमेजयके निकट यह भिक्षा मांगें, कि वह सर्प–यज्ञ न करे ॥ ११ ॥

अपरे त्वब्रुवन्नागास्तत्र पण्डितमानिनः ।
मन्त्रिणोऽस्य वयं सर्वे भविष्यामः सुसंमताः　　　　॥ १२ ॥

पर वहीं पर अपनेको पण्डित माननेवाले कुछ दूसरे सर्पोंने कहा, कि हम सब इस जनमेजयके प्रिय मन्त्री बन जायें ॥ १२ ॥

स नः प्रक्ष्यति सर्वेषु कार्येष्वर्थविनिश्चयम् ।
तत्र बुद्धिं प्रवक्ष्यामो यथा यज्ञो निवर्तते ॥ १३ ॥

ऐसा करनेसे वह हमसे हर कार्यमें कर्तव्याकर्तव्य पूछेंगे, उस समय हम ऐसी युक्ति बतायेंगे, कि जिसमे सर्प-यज्ञ न होने पावे ॥ १३ ॥

स नो बहुमतान्राजा बुद्ध्वा बुद्धिमतां वरः ।
यज्ञार्थं प्रक्ष्यति व्यक्तं नेति वक्ष्यामहे वयम् ॥ १४ ॥

बडे बुद्धिमान् राजा जनमेजय हमें बहुत प्रिय मानकर हमसे यज्ञके लिए पूछेंगे, तब हम उससे स्पष्ट कह देंगे, कि यह यज्ञ मत करो ॥ १४ ॥

दर्शयन्तो बहून्दोषान्प्रेत्य चेह च दारुणान् ।
हेतुभिः कारणैश्चैव यथा यज्ञो भवेन्न सः ॥ १५ ॥

(उस यज्ञके कारण) इस लोक और परलोकमें होनेवाले अनेक भयंकर दोषपूर्ण व अनिष्ट परिणामोंको हेतु और कारण सहित दिखाकर ऐसी व्यवस्था कर देंगे कि जिससे वह यज्ञ हो ही न पावे ॥ १५ ॥

अथवा य उपाध्यायः क्रतौ तस्मिन्भविष्यति ।
सर्पसत्रविधानज्ञो राजकार्यहिते रतः ॥ १६ ॥

अथवा सर्पयज्ञकी विधिको जाननेवाला और राजाके कार्यके हितमें रत रहनेवाला जो ब्राह्मण होगा वही सर्प-यज्ञका आचार्य होगा ॥ १६ ॥

तं गत्वा दशतां कश्चिद्भुजगः स मरिष्यति ।
तस्मिन्हते यज्ञकरे क्रतुः स न भविष्यति ॥ १७ ॥

कोई सर्प जाकर उसी आचार्यको काट ले, काटने हीसे वह मर जायेगा और यज्ञके प्रधान उपाध्यायके मर जानेसे वह यज्ञ फिर नहीं होगा ॥ १७ ॥

ये चान्ये सर्पसत्रज्ञा भविष्यन्त्यस्य ऋत्विजः ।
तांश्च सर्वान्दशिष्यामः कृतमेवं भविष्यति ॥ १८ ॥

इसके बाद भी सर्प-यज्ञकी विधि जाननेवाले जो कोई दूसरे पुरोहित होंगे तो उनको भी उसी प्रकारसे काट लेंगे; ऐसा करनेहीसे हमारा कार्य पूरा होगा ॥ १८ ॥

तत्रापरेऽमन्त्रयन्त धर्मात्मानो भुजंगमाः ।
अबुद्धिरेषा युष्माकं ब्रह्महत्या न शोभना ॥ १९ ॥

तब वहां उस सभामें दूसरे कुछ धार्मिक सर्प विचार करके बोले– कि यह तुम्हारी दुष्ट बुद्धि ही है, ब्रह्महत्या करना अच्छा नहीं हैं ॥ १९ ॥

सम्यक्सद्धर्ममूला हि व्यसने शान्तिरुत्तमा ।
अधर्मोत्तरता नाम कृत्स्नं व्यापादयेज्जगत् ॥ २० ॥

विपत्तिके समयमें भी निर्दोष और धर्मयुक्त शान्तिमय उपाय ही कल्याणदायी होता है; अधर्मयुक्त कार्य तो संपूर्ण जगत्को नष्ट कर देता है " ॥ २० ॥

अपरे त्वब्रुवन्नागाः समिद्धं जातवेदसम् ।
वर्षैर्निर्वापयिष्यामो मेघा भूत्वा सविद्युतः ॥ २१ ॥

तब दूसरे कुछ नाग बोले– " हम बिजलीसे युक्त बादलका स्वरूप धारण कर प्रतिक्षण जल बरसा कर जलती हुई यज्ञकी आग बुझा देंगे " ॥ २१ ॥

स्रुग्भाण्डं निशि गत्वा वा अपरे भुजगोत्तमाः ।
प्रमत्तानां हरन्त्वाशु विघ्न एवं भविष्यति ॥ २२ ॥

इस पर कुछ दूसरे नागश्रेष्ठ बोले– " रात्रिके समय ऋत्विकोंके बेसुध होनेपर कुछ सांप जाकर यज्ञके संपूर्ण अंग स्रुक्भांडको चुरा लावें, ऐसा करनेसे यज्ञमें विघ्न पड़ जाएगा ॥ २२ ॥

यज्ञे वा भुजगास्तस्मिञ्शतशोऽथ सहस्रशः ।
जनं दशन्तु वै सर्वमेवं त्रासो भविष्यति ॥ २३ ॥

अथवा उस यज्ञके आरंभ होने पर सैंकड़ों अथवा हजारों सर्प सब लोगोंको काटने लग जाएं, तो ऐसा करनेहीसे सभी डर जाएंगे और सभी कुछ बिगड़ जाएगा ॥ २३ ॥

अथवा संस्कृतं भोज्यं दूषयन्तु भुजंगमाः ।
स्वेन मूत्रपुरीषेण सर्वभोज्यविनाशिना ॥ २४ ॥

अथवा सब सांप अपने भोजन करनेके योग्य सब पदार्थोंका विनाश करनेवाले मूत्र और शौचसे (उस यज्ञमें) उत्तम रीतिसे तैय्यार किए गए भोग्य पदार्थोंको बिगाड़ दें " ॥ २४ ॥

अपरे त्वब्रुवंस्तत्र ऋत्विजोऽस्य भवामहे ।
यज्ञविघ्नं करिष्यामो दीयतां दक्षिणा इति ।
वश्यतां च गतोऽसौ नः करिष्यति यथेप्सितम् ॥ २५ ॥

तब वहां दूसरे कुछ नाग बोले, कि हम जाकर राजाके पुरोहित बन जाएं तथा " हमें इतनी दक्षिणा दो " यह कहकर यज्ञमें विघ्न डालेंगे, ऐसा करनेसे हमारे वशमें आकर वह राजा, हम जो कहेंगे, वह ही करेगा ॥ २५ ॥

अपरे त्वब्रुवंस्तत्र जले प्रक्रीडितं नृपम् ।
गृह्यानीय बध्नीमः क्रतुरेवं भवेन्न सः ॥ २६ ॥

तब दूसरे कुछ सर्प बोले– कि राजा जब जल-क्रीडा कर रहा हो, उसी समय जलमें खेलते हुए उस राजाको हम लोग पकडके घरमें लाकर बांध कर रख छोडेंगे ऐसा करनेसे फिर सर्पयज्ञ ही नहीं होगा ॥ २६ ॥

अपरे त्वब्रुवंस्तत्र नागाः सुकृतकारिणः ।
दशामैनं प्रगृह्याशु कृतमेवं भविष्यति ।
छिन्नं मूलमनर्थानां मृते तस्मिन्भविष्यति ॥ २७ ॥

तब उत्तम कर्म करनेवाले कुछ दूसरे सर्प वहां बोले– कि हम जनमेजयको ही पकड कर शीघ्र काटें, क्योंकि उसकी मृत्यु होनेपर एकसाथ ही सब बुराइयोंकी जड कट जायगी और इस प्रकार हमारा काम भी पूरा हो जाएगा ॥ २७ ॥

एषा वै नैष्ठिकी बुद्धिः सर्वेषामेव संमता।
यथा वा मन्यसे राजंस्तत्क्षिप्रं संविधीयताम् ॥ २८ ॥

हे राजन् वासुके ! यही हमारी निश्चित बुद्धि तथा सबकी सम्मति है; अब आपकी समझमें जो उचित जान पडे वही जल्दी कीजिये ॥ २८ ॥

इत्युक्त्वा समुदैक्षन्त वासुकिं पन्नगेश्वरम् ।
वासुकिश्चापि संचिन्त्य तानुवाच भुजङ्गमान् ॥ २९ ॥

यह कह कर सब सांपोंके स्वामी वासुकिकी ओर ताकने लगे, वासुकि भी बहुत सोच विचार कर उन सर्पोंसे बोले ॥ २९ ॥

नैषा वो नैष्ठिकी बुद्धिर्मता कर्तुं भुजङ्गमाः ।
सर्वेषामेव मे बुद्धिः पन्नगानां न रोचते ॥ ३० ॥

कि हे सर्पगण ! तुमने अपनी अपनी बुद्धिके अनुसार जो निश्चय किया, उसके अनुसार काम करना उत्तम नहीं है। तुम सभी सांपोंका जो निश्चय है, वह मुझे पसन्द नहीं है ॥ ३० ॥

किं त्वत्र संविधातव्यं भवतां यद्भवेद्धितम् ।
अनेनाहं भृशं तप्ये गुणदोषौ मदाश्रयौ ॥ ३१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥ १२९९ ॥

अपितु इस विषयमें कुछ ऐसा करना चाहिए कि जिससे तुम्हारी सबकी भलाई ही हो। मेरे ही ऊपर सब गुण और दोषोंका भार है; इसीसे मैं बहुत ही दुःखी और चिन्तित हो रहा हूं ॥ ३१ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें तैंतीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३३ ॥ १२९९ ॥

: ३४ :

सूत उवाच

श्रुत्वा तु वचनं तेषां सर्वेषामिति चेति च ।
वासुकेश्च वचः श्रुत्वा एलापत्रोऽब्रवीदिदम् ॥ १ ॥

सूत बोले– कि सभी सांपोंकी " ऐसा करो वैसा करो " वाली बात तथा वासुकिके वचन सुनकर एलापत्र नामका सर्प यह वाक्य बोला ॥ १ ॥

न स यज्ञो न भविता न स राजा तथाविधः ।
जनमेजयः पाण्डवेयो यतोऽस्माकं महाभयम् ॥ २ ॥

" हे राजन् ! वह सर्पयज्ञ नहीं होगा, ऐसी बात नहीं अर्थात् बह सर्पयज्ञ अवश्य होगा। और जिससे हममें बडा भय है, वह पाण्डुवंशज जनमेजय भी ऐसा वैसा अर्थात् साधारण राजा नहीं है ॥ २ ॥

दैवेनोपहतो राजन्यो भवेदिह पूरुषः ।
स दैवमेवाश्रयते नान्यत्तत्र परायणम् ॥ ३ ॥

हे राजन् ! वास्तवमें इस संसारमें जो पुरुष दैववश विपत्तिमें गिरता है, वह दैवी उपायोंका ही आश्रय लेता है, उसके लिए कोई दूसरा उपाय नहीं है ॥ ३ ॥

तदिदं दैवमस्माकं भयं पन्नगसत्तमाः ।
दैवमेवाश्रयामोऽत्र श्रृणुध्वं च वचो मम ॥ ४ ॥

हे सांपोंमें श्रेष्ठ सर्पगण ! हमें दैवहीसे यह भय प्राप्त हुआ है, अतः दैवी उपायोंकाही आश्रय हम लें अर्थात् हम भाग्यके सहारे ही चलें, इस विषयमें तुम मेरी बात सुनो ॥ ४ ॥

अहं शापे समुत्सृष्टे समश्रौषं वचस्तदा ।
मातुरुत्सङ्गमारूढो भयात्पन्नगसत्तमाः ॥ ५ ॥
देवानां पन्नगश्रेष्ठास्तीक्ष्णास्तीक्ष्णा इति प्रभो ।
पितामहमुपागम्य दुःखार्तानां महाद्युते ॥ ६ ॥

हे नागश्रेष्ठो ! (मांके मुंहसे) वह शाप निकलते ही मैं डरकर मांकी गोदीमें जा बैठा । तब हे सर्पश्रेष्ठो और हे महातेजस्वी प्रभो वासुकि ! पितामह ब्रह्माके पास जाकर दुःखी देवोंने जो कहा था कि " स्त्रियां बडी कठोर होती हैं, स्त्रियां बडी कठोर होती हैं, " तब उन देवोंके ये शब्द मैंने सुने थे ॥ ५-६ ॥

देवा ऊचुः

क्का हि लब्ध्वा प्रियान्पुत्राञ्शपेदेवं पितामह।
ऋते कद्रूं तीक्ष्णरूपां देवदेव तवाग्रतः ॥ ७ ॥

देव बोले– "हे देवोंके देव पितामह! आपके सामने ही कठोर स्वभाववाली कद्रूको छोडकर कौनसी दूसरी कोई स्त्री अपने प्रिय पुत्रोंको पाकर ऐसा शाप देगी ॥ ७ ॥

तथेति च वचस्तस्यास्त्वयाप्युक्तं पितामह।
एतदिच्छाम विज्ञातुं कारणं यन्न वारिता ॥ ८ ॥

पर हे पितामह! जो आपने भी "तथास्तु" कहकर उस कद्रूकी बात मान ली और उसे रोका नहीं, इसका क्या कारण है, हम लोग सुनना चाहते हैं" ॥ ८ ॥

ब्रह्मोवाच

बहवः पन्नगास्तीक्ष्णा भीमवीर्या विषोल्बणाः।
प्रजानां हितकामोऽहं न निवारितवांस्तदा ॥ ९ ॥

ब्रह्मा बोले– "अनेक सर्प तीक्ष्ण, बडे विषैले और भयंकर पराक्रमी हो गये हैं, अतः प्रजाओंकी भलाई चाहनेवाले मैंने उस समय कद्रूको नहीं रोका ॥ ९ ॥

ये दन्दशूकाः क्षुद्राश्च पापचारा विषोल्बणाः।
तेषां विनाशो भविता न तु ये धर्मचारिणः ॥ १० ॥

वास्तवमें जो सब सर्प काटनेके लिए तीक्ष्ण दांतोंसे युक्त, नीच मनोवृत्तिके, पापात्मा और बडे विषैले हैं, सर्पयज्ञमें उन्हींका नाश होगा, पर जो धार्मिक हैं, उनका नाश नहीं होगा ॥ १० ॥

यन्निमित्तं च भविता मोक्षस्तेषां महाभयात्।
पन्नगानां निबोधध्वं तस्मिन्काले तथागते ॥ ११ ॥

उस सर्पयज्ञके समय आने पर जिस उपायसे उस भारी भयसे उन धार्मिक सर्पोंकी मुक्ति होगी, वह उपाय तुम्हें बताता हूं, सुनो ॥ ११ ॥

यायावरकुले धीमान्भविष्यति महानृषिः।
जरत्कारुरिति ख्यातस्तेजस्वी नियतेन्द्रियः ॥ १२ ॥

जरत्कारु नामसे प्रसिद्ध अति बुद्धिमान्, जितेन्द्रिय, तेजस्वी एक महर्षि यायावर वंशमें उत्पन्न होंगे ॥ १२ ॥

तस्य पुत्रो जरत्कारोरुत्पत्स्यति महातपाः ।
आस्तीको नाम यज्ञं स प्रतिषेत्स्यति तं तदा ।
तत्र मोक्ष्यन्ति भुजगा ये भविष्यन्ति धार्मिकाः ॥ १३ ॥

उन जरत्कारुके आस्तीक नामक एक महा तपस्वी पुत्र उत्पन्न होगा, वह ही तब सर्पयज्ञ बन्द करायेगा और इस प्रकार जो धर्मशील सर्प होंगे वे उस सर्पयज्ञसे मुक्त हो जाएंगे " ॥१३॥

देवा ऊचुः

स मुनिप्रवरो देव जरत्कारुर्महातपाः ।
कस्यां पुत्रं महात्मानं जनयिष्यति वीर्यवान् ॥ १४ ॥

देवगण बोले– " हे देव! वह मुनियोंमें श्रेष्ठ, बडे तपस्वी और वीर्यवान् जरत्कारु, किसके गर्भसे उस महात्मा पुत्रको उत्पन्न करेंगे ? " ॥ १४ ॥

ब्रह्मोवाच

सनामायां सनामा स कन्यायां द्विजसत्तमः ।
अपत्यं वीर्यवान्देवा वीर्यवज्जनयिष्यति ॥ १५ ॥

ब्रह्मा बोले– " वीर्यवान् द्विजश्रेष्ठ जरत्कारु उन्हींके नामवाली जो कन्या होगी, उस अपने ही नामवाली कन्यामें उस वीर्यशाली पुत्रको उत्पन्न करेंगे "॥ १५ ॥

एलापत्र उवाच

एवमस्त्विति तं देवाः पितामहमथाब्रुवन् ।
उक्त्वा चैवं गता देवाः स च देवः पितामहः ॥ १६ ॥

एलापत्र बोला– कि देवोंने पितामहसे " एवमस्तु " कहा और इसप्रकार कहकर देव चले गए और वे पितामह देव भी अपने स्थानको चले गए ॥ १६ ॥

सोऽहमेवं प्रपश्यामि वासुके भगिनीं तव ।
जरत्कारुरिति ख्यातां तां तस्मै प्रतिपादय ॥ १७ ॥
भैक्षवद्भिक्षमाणाय नागानां भयशान्तये ।
ऋषये सुव्रताय त्वमेष मोक्षः श्रुतो मया ॥ १८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥१३१७॥

मैं यही उपाय देख रहा हूँ । अतः हे वासुकि ! जरत्कारुके नामसे प्रसिद्ध जो तुम्हारी एक बहिन है, उसे तुम नागोंके भयको शान्त करनेके लिए भिक्षाके समान कन्याको मांगनेवाले और उत्तम व्रतोंका आचरण करनेवाले उस (जरत्कारु) ऋषिको दे दो । हम सबके (उस यज्ञसे) छूटनेका यही एकमात्र उपाय मैंने सुना है ॥ १७–१८ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें चौंतीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३४ ॥ १३१७ ॥

: ३५ :

सूत उवाच

एलापत्रस्य तु वचः श्रुत्वा नागा द्विजोत्तम।
सर्वे प्रहृष्टमनसः साधु साध्वित्यपूजयन् ॥ १ ॥

सूत बोले– कि हे द्विजश्रेष्ठ शौनक! एलापत्र नागकी बात सुनकर सभी नाग बहुत प्रसन्न हुए और सभीने " ठीक ठीक " कहकर उसकी पूजा की ॥ १ ॥

ततः प्रभृति तां कन्यां वासुकिः पर्यरक्षत।
जरत्कारुं स्वसारं वै परं हर्षमवाप च ॥ २ ॥

यह सुनकर वासुकिको भी बहुत आनन्द मिला और उस दिनसे जरत्कारु नामकी अपनी बहिनको कुमारी रख छोडा ॥ २ ॥

ततो नातिमहान्कालः समतीत इवाभवत्।
अथ देवासुराः सर्वे ममन्थुर्वरुणालयम् ॥ ३ ॥

इसके बाद बहुत समय नहीं बीता था कि देवताओं और असुरोंने मिलकर वरुणालय समुद्रका मन्थन किया ॥ ३ ॥

तत्र नेत्रमभून्नागो वासुकिर्बलिनां वरः।
समाप्यैव च तत्कर्म पितामहमुपागमन् ॥ ४ ॥
देवा वासुकिना सार्धं पितामहमथाब्रुवन्।
भगवञ्शापभीतोऽयं वासुकिस्तप्यते भृशम् ॥ ५ ॥

उसमें बलशालियोंमें श्रेष्ठ वासुकिनाग मंथन रस्सी बने। उस कार्यके पूर्ण होने पर देवोंने वासुकिके साथ पितामहके निकट जाकर पितामहसे कहा– " भगवन्! (अपनी माताके) शापसे डरे हुए यह वासुकि बहुत दुःखी हैं ॥ ४-५ ॥

तस्येदं मानसं शल्यं समुद्धर्तुं त्वमर्हसि।
जनन्याः शापजं देव ज्ञातीनां हितकाङ्क्षिणः ॥ ६ ॥

हे देव! अपनी जातिका हित करनेकी इच्छा करनेवाले इसके माताके शापसे उत्पन्न हुए इस मानसिक दुःखको दूर करनेमें आप समर्थ हैं ॥ ६ ॥

हितो ह्ययं सदास्माकं प्रियकारी च नागराट्।
कुरु प्रसादं देवेश शमयास्य मनोज्वरम् ॥ ७ ॥

यह नागोंके राजा वासुकि सदासे हमारे प्रियकारी और हितकारी हैं; हे देवेश! आप इन पर कृपा कीजिए और इनके चित्तकी पीडाको दूर कीजिये ॥ ७ ॥

ब्रह्मोवाच

मयैवैतद्वितीर्णं वै वचनं मनसामराः ।
एलापत्रेण नागेन यदस्याभिहितं पुरा　　॥ ८ ॥

ब्रह्मा बोले– " हे अमरो ! एलापत्र नागने पहिले ही वासुकिसे जो कुछ कही थी, वह मेरी ही मनसे विचारी हुई बात है ॥ ८ ॥

तत्करोत्वेष नागेन्द्रः प्राप्तकालं वचस्तथा ।
विनशिष्यन्ति ये पापा न तु ये धर्मचारिणः　　॥ ९ ॥

समय आनेपर ये नागराज वासुकि उन्हीं वचनोंके अनुसार कार्य करें, जो सर्प सदासे पापाचारी हैं, वे ही सर्पयज्ञमें नष्ट होंगे, पर जो धार्मिक हैं, वे नष्ट नहीं होंगे ॥ ९ ॥

उत्पन्नः स जरत्कारुस्तपस्युग्रे रतो द्विजः ।
तस्यैष भगिनीं काले जरत्कारुं प्रयच्छतु　　॥ १० ॥

उस द्विजराज जरत्कारुने भूलोकमें जन्म लिया है और कठोर तपस्यामें मग्न हैं, अतएव यह वासुकि उचित समयपर उनको अपनी जरत्कारु नामकी बहन प्रदान कर दें ॥१०॥

यदेलापत्रेण वचस्तदोक्तं भुजगेन ह ।
पन्नगानां हितं देवास्तत्तथा न तदन्यथा　　॥ ११ ॥

हे देवगण ! एलापत्र नागने सर्पोंके हितके निमित्त जो कुछ कहा है, वह सब ठीक वैसा ही होगा; उसका कहना कभी मिथ्या होनेवाला नहीं है ॥ ११ ॥

सूत उवाच

एतच्छ्रुत्वा स नागेन्द्रः पितामहवचस्तदा ।
सर्पान्बहूञ्जरत्कारौ नित्ययुक्तान्समादधत्　　॥ १२ ॥
जरत्कारुर्यदा भार्यामिच्छेद्वरयितुं प्रभुः ।
शीघ्रमेत्य ममाख्येयं तन्नः श्रेयो भविष्यति　　॥ १३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥ १३३० ॥

सूत बोले– कि नागेन्द्र वासुकिने पितामहकी यह बात सुनकर बहुतसे सांपोंको जरत्कारुके पास नियुक्त कर दिया और उनसे यह कह दिया कि जब प्रभु जरत्कारु पत्नीके निमित्त कन्याकी इच्छा करें, तब तुम लोग आकर मुझे तुरन्त समाचार देना; ऐसा करनेहीसे हमारा मंगल हो सकेगा ॥ १२-१३ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें पैंतीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३५ ॥ १३३० ॥

: ३६ :

शौनक उवाच

जरत्कारुरिति प्रोक्तं यत्त्वया सूतनन्दन।
इच्छाम्येतदहं तस्य ऋषेः श्रोतुं महात्मनः ॥ १ ॥

शौनक बोले– कि हे सूतपुत्र ! तुमने जो जरत्कारुके बारेमें कहा है उस महात्मा ऋषिका वृत्तान्त मैं सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

किं कारणं जरत्कारोर्नामैतत्प्रथितं भुवि।
जरत्कारुनिरुक्तं त्वं यथावद्वक्तुमर्हसि ॥ २ ॥

जरत्कारुका यह नाम भूमंडलमें किस कारणसे प्रसिद्ध हुआ, जरत्कारु शब्दकी व्युत्पत्तिको तुम ठीक ठीक कहो ॥ २ ॥

सूत उवाच

जरेति क्षयमाहुर्वै दारुणं कारुसंज्ञितम्।
शरीरं कारु तस्यासीत्तत्स धीमाञ्शनैः शनैः ॥ ३ ॥
क्षपयामास तीव्रेण तपसेत्यत उच्यते।
जरत्कारुरिति ब्रह्मन्वासुकेर्भगिनी तथा ॥ ४ ॥

सूत बोले- कि विद्वान् जरत् शब्दका अर्थ क्षय और कारु शब्दका अर्थ दारुण करते हैं; जरत्कारुका शरीर बहुत दारुण अर्थात् विशेष पुष्ट था; पर उस बुद्धिमान्ने कठोर तपस्यासे धीरे धीरे उस अपने पुष्ट शरीरको सुखा लिया था। हे ब्रह्मन् ! इसलिये वह जरत्कारुके नामसे प्रसिद्ध हुए थे। वासुकिकी बहिनके नामकी व्युत्पत्ति भी वैसी ही है ॥ ३–४ ॥

एवमुक्तस्तु धर्मात्मा शौनकः प्राहसत्तदा।
उग्रश्रवसमामन्त्र्य उपपन्नमिति ब्रुवन् ॥ ५ ॥

सूतपुत्रके इसप्रकार कहनेपर धर्मात्मा शौनक हंसने लगे और उग्रश्रवासे बोले– कि तुमने जो कहा वही ठीक है ॥ ५ ॥

सूत उवाच

अथ कालस्य महतः स मुनिः संशितव्रतः।
तपस्यभिरतो धीमान्न दारानभ्यकाङ्क्षत ॥ ६ ॥

तब बहुत समयके व्यतीत होने भी पर बुद्धिमान् व्रतपरायण वह ऋषि केवल तपहीमें दत्तचित्त रहे और उसने विवाह करना नहीं चाहा ॥ ६ ॥

स ऊर्ध्वरेतास्तपसि प्रसक्तः स्वाध्यायवान्वीतभयक्लमः सन् ।
चचार सर्वां पृथिवीं महात्मा न चापि दारान्मनसाप्यकाङ्क्षत् ॥ ७ ॥

वह महात्मा थकावट और भयसे रहित, स्वाध्यायमें रत, ऊर्ध्वरेता और तपःपरायण होकरके संपूर्ण पृथ्वीमंडलमें घूमे, पर मनसे भी कभी विवाह करने की अभिलाषा नहीं की ॥ ७ ॥

ततोऽपरस्मिन्संप्राप्ते काले कस्मिंश्चिदेव तु ।
परिक्षिदिति विख्यातो राजा कौरववंशभृत् ॥ ८ ॥

इसके बाद थोडा समय बीत जाने और एक समय आनेपर परिक्षित् नामक विख्यात तथा कौरववंशको चलानेवाला राजा हुआ ॥ ८ ॥

यथा पाण्डुर्महाबाहुर्धनुर्धरवरो भुवि ।
बभूव मृगयाशीलः पुरास्य प्रपितामहः ॥ ९ ॥
मृगान्विध्यन्वराहांश्च तरक्षून्महिषांस्तथा ।
अन्यांश्च विविधान्वन्यांश्चचार पृथिवीपतिः ॥ १० ॥

जिसप्रकार पहले उसके परदादा पाण्डु विशालभुजाओं वाला और पृथ्वीपर सभी धनुषको धारण करनेवालोंमें श्रेष्ठ और शिकार खेलनेका बडा व्यसनी था, उसी प्रकार राजा परिक्षित् भी मृग, सुअर, चीता, भैंसे और दूसरे भांति भांतिके वनैले जन्तुओंको मारते हुए घूमते थे ॥ ९-१० ॥

स कदाचिन्मृगं विद्ध्वा बाणेन नतपर्वणा ।
पृष्ठतो धनुरादाय ससार गहने वने ॥ ११ ॥

एक बार परिक्षित् झुकी हुई नोकवाले बाणसे एक मृगको बींधकर उसके पीछे पीछे धनुष लेकर दौडते हुए घने वनमें जा घुसे ॥ ११ ॥

यथा हि भगवान्रुद्रो विद्ध्वा यज्ञमृगं दिवि ।
अन्वगच्छद्धनुष्पाणिः पर्यन्वेषं ततस्ततः ॥ १२ ॥

जैसे पहिले भगवान् रुद्र देवलोकमें यज्ञके मृगको बींधकर उसके पीछे पीछे हाथमें धनुष लिये ढूंढनेके निमित्त इधर उधर घूमते फिरे थे, उसी प्रकार वह परिक्षित् भी बींधे हुए मृगके पीछे पीछे दौडते हुए वनमें घूमने लगे ॥ १२ ॥

न हि तेन मृगो विद्धो जीवन्गच्छति वै वनम् ।
पूर्वरूपं तु तन्नूनमासीत्स्वर्गगतिं प्रति ।
परिक्षितस्तस्य राज्ञो विद्धो यन्नष्टवान्मृगः ॥ १३ ॥

परिक्षित्‌से बींधा हुआ कोई मृग पहिले जीवित रहकर वनमें भाग नहीं सका था, पर चूंकि यह मृग परिक्षित् द्वारा विद्ध होकर गायब हो गया, अतः यह उस राजा परिक्षित्‌के स्वर्गके प्रति जानेका पूर्वलक्षण था ॥ १३ ॥

दूरं चापहृतस्तेन मृगेण स महीपतिः ।
परिश्रान्तः पिपासार्त आससाद मुनिं वने ॥ १४ ॥
गवां प्रचारेष्वासीनं वत्सानां मुखनिःसृतम् ।
भूयिष्ठमुपयुञ्जानं फेनमापिबतां पयः ॥ १५ ॥

तब उस मृगके द्वारा बहुत दूर ले जाए गए, थके मांदे और प्याससे पीडित राजा परिक्षित्‌ने उस वनमें गौ चरानेके स्थानमें बैठे हुए तथा दूध पीनेवाले बछडोंके मुंहसे निकलनेवाले फेन-झागको खाकर जीनेवाले एक मुनिको देखा ॥ १४–१५ ॥

तमभिद्रुत्य वेगेन स राजा संशितव्रतम् ।
अपृच्छद्धनुरुद्यम्य तं मुनिं क्षुच्छ्रमान्वितः ॥ १६ ॥

राजा परिक्षित्‌ने भूख और थकावटसे कातर होकर व्रतमें रत उस मुनिके निकट वेगसे जाकर धनुष उठाकर पूछा ॥ १६ ॥

भो भो ब्रह्मन्नहं राजा परिक्षिदभिमन्युजः ।
मया विद्धो मृगो नष्टः कच्चित्त्वं दृष्टवानसि ॥ १७ ॥

" हे ब्रह्मन् ! मैं अभिमन्युका पुत्र राजा परिक्षित् हूं; मुझसे बींधा हुआ एक मृग अदृश्य हो गया है, क्या आपने उसको देखा है ? " ॥ १७ ॥

स मुनिस्तस्य नोवाच किंचिन्मौनव्रते स्थितः ।
तस्य स्कन्धे मृतं सर्पं क्रुद्धो राजा समासजत् ॥ १८ ॥
धनुष्कोट्या समुत्क्षिप्य स चैनं समुदैक्षत ।
न स किंचिदुवाचैनं शुभं वा यदि वाशुभम् ॥ १९ ॥

मौनव्रत धारण किये हुए उस मुनिने उस राजाको कुछ उत्तर नहीं दिया; तब राजाने क्रोधवश होकर धनुष्यके अन्तिम भागसे एक मरे हुए सांपको उठाकर उस मुनिके गलेमें डाल दिया । पर उस मुनिने राजाके इस कार्यकी उपेक्षा कर दी और मुनिने उस पर भला या बुरा कुछ भी नहीं कहा ॥ १८--१९ ॥

स राजा क्रोधमुत्सृज्य व्यथितस्तं तथागतम्।
दृष्ट्वा जगाम नगरमृषिस्त्वास्ते तथैव सः ॥ २० ॥

राजा ऋषिको इस दशामें देखकर क्रोध छोडके कातर हृदयसे राजधानीमें लौट गये, ऋषि वहां उसी दशामें बैठे रहे ॥ २० ॥

तरुणस्तस्य पुत्रोऽभूत्तिग्मतेजा महातपाः।
शृङ्गी नाम महाक्रोधो दुष्प्रसादो महाव्रतः ॥ २१ ॥

उस ऋषिका शृंगी नामका एक तरुण पुत्र था; वह अति तेजस्वी, महातपस्वी और बडा व्रतनिष्ठ था; उसके क्रोधित होनेपर उसे प्रसन्न करना कठिन था ॥ २१ ॥

स देवं परमीशानं सर्वभूतहिते रतम्।
ब्रह्माणमुपतस्थे वै काले काले सुसंयतः।
स तेन समनुज्ञातो ब्रह्मणा गृहमीयिवान् ॥ २२ ॥

वह बीच बीचमें भली प्रकार नियतेन्द्रिय होकर सब प्राणियोंके हितमें रत रहनेवाले पितामह ब्रह्माके निकट जाया करता था (जिस दिन परिक्षित्ने ऋषिके गलेमें सांप डाल दिया था, उस दिन) वह पितामहसे आज्ञा पाकर घरको आ रहा था ॥ २२ ॥

सख्योक्तः क्रीडमानेन स तत्र हसता किल।
संरंभी कोपनोऽतीव विषकल्प ऋषेः सुतः।
ऋषिपुत्रेण नर्मार्थं कृशेन द्विजसत्तम ॥ २३ ॥

हे ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ शौनक! इसी बीच उसके मित्र कृश नामक ऋषि पुत्रने खेल खेलमें हंसते हुए मजाक करनेके लिए उसके पिताका हाल सुनाया। अत्यधिक क्रोधी ऋषि-कुमार शृंगी उसे सुनते ही क्रोधसे परिपूर्ण होकर विषके समान हो गया ॥ २३ ॥

तेजस्विनस्तव पिता तथैव च तपस्विनः।
शवं स्कन्धेन वहति मा शृङ्गिन्गर्वितो भव ॥ २४ ॥

(कृश बोला)– "हे शृंगिन्! तुम जैसे तपस्वी और तजस्वी बालकके पिता एक मृतकको गलेमें धारण कर रहे हैं, अतः फिर कभी तुम अहंकार न करना ॥ २४ ॥

व्याहरत्स्वृषिपुत्रेषु मा स्म किंचिद्वचो वदीः।
अस्मद्विधेषु सिद्धेषु ब्रह्मवित्सु तपस्विषु ॥ २५ ॥

हमारे समान ब्रह्मज्ञानी सिद्ध और तपस्वी ऋषिपुत्रोंके कुछ कहनेपर तुम फिर कभी कुछ वचन मत कहना ॥ २५ ॥

क्व ते पुरुषमानित्वं क्व ते वाचस्तथाविधाः।
दर्पजाः पितरं यस्त्वं द्रष्टा शवधरं तथा ॥ २६ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥ १३५६ ॥

वह तुम्हारा पुरुषाभिमान कहां चला गया ? और तुम्हारे उस प्रकारके अहंकारके वे वचन कहां चले गये ? अभी घरमें जाकर देखोगे, कि तुम्हारे पिता गलेमें एक मुर्देको धारण किए हुए हैं" ॥ २६ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें छत्तीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३६ ॥ १३५६ ॥

: ३७ :

सूत उवाच

एवमुक्तः स तेजस्वी शृङ्गी कोपसमन्वितः।
मृतधारं गुरुं श्रुत्वा पर्यतप्यत मन्युना ॥ १ ॥

सूत बोले- कि कृशके द्वारा इस प्रकार कहे जानेपर वह तेजस्वी शृंगी पिताके द्वारा मृत सर्पको धारण करनेकी बात सुनकर क्रोधित होकर मनकी पीडासे जलने लगा ॥ १ ॥

स तं कृशमभिप्रेक्ष्य सूनृतां वाचमुत्सृजन्।
अपृच्छत कथं तातः स मेऽद्य मृतधारकः ॥ २ ॥

तब कृशकी ओर देखकर मीठी वाणी बोलते हुए शृंगीने उस कृशसे पूछा कि आज मेरे पिता मृतको धारण करनेवाले कैसे बने ? ॥ २ ॥

कृश उवाच

राज्ञा परिक्षिता तात मृगयां परिधावता।
अवसक्तः पितुस्तेऽद्य मृतः स्कन्धे भुजङ्गमः ॥ ३ ॥

कृश बोला- "हे तात ! आज राजा परिक्षित् मृगयामें अपने शिकारके पीछे दौडते हुए आए और तुम्हारे पिताके गलेमें मरा हुआ सर्प लपेट गये हैं" ॥ ३ ॥

शृङ्ग्युवाच

किं मे पित्रा कृतं तस्य राज्ञोऽनिष्टं दुरात्मनः।
ब्रूहि त्वं कृश तत्त्वेन पश्य मे तपसो बलम् ॥ ४ ॥

शृंगी बोला- "हे कृश ! तुम सच बोलो, मेरे पिताने उस दुरात्मा राजाका कौनसा अनिष्ट किया था। और आज मेरे तपका बल देखो" ॥ ४ ॥

कृश उवाच

स राजा मृगयां यातः परिक्षिदभिमन्युजः।
ससार मृगमेकाकी विद्ध्वा बाणेन पत्रिणा ॥ ५ ॥

कृश बोला-- "अभिमन्युके पुत्र परिक्षित्‌ने मृगयाके लिए निकल कर पंखोंवाले एक बाणसे एक मृगको बींधकर अकेले ही उसका पीछा किया ॥ ५ ॥

न चापश्यन्मृगं राजा चरंस्तस्मिन्महावने।
पितरं ते स दृष्ट्वैव पप्रच्छानभिभाषिणम् ॥ ६ ॥

उस महावनमें घूमते हुए उस राजाने मृगको नहीं देखा, और मौनके कारण न बोलनेवाले तेरे पिताको देखकर उसने पूछा ॥ ६ ॥

तं स्थाणुभूतं तिष्ठन्तं क्षुत्पिपासाश्रमातुरः।
पुनः पुनर्मृगं नष्टं पप्रच्छ पितरं तव ॥ ७ ॥

भूख, प्यास और थकावटसे व्याकुल होकर राजाने खम्बेके समान होकर बैठे हुए तुम्हारे पितासे भागे हुए मृगके बारेमें बार बार पूछा ॥ ७ ॥

स च मौनव्रतोपेतो नैव तं प्रत्यभाषत।
तस्य राजा धनुष्कोट्या सर्पं स्कन्धे समासृजत् ॥ ८ ॥

मौनव्रतको धारण किए होनेके कारण तुम्हारे पिताने इस राजाको कुछ उत्तर नहीं दिया। तब राजाने धनुषके अन्तिम भागसे एक मृत सर्पको उनके गलेमें लपेट दिया ॥ ८ ॥

शृङ्गिंस्तव पिताप्यासौ तथैवास्ते यतव्रतः।
सोऽपि राजा स्वनगरं प्रतियातो गजाह्वयम् ॥ ९ ॥

हे शृंगिन्! तुम्हारे व्रतशील पिता अब भी उसी दशामें हैं, राजा परिक्षित् भी हस्तिनापुर नामक अपने नगरको चले गए हैं" ॥ ९ ॥

सूत उवाच

श्रुत्वैवमृषिपुत्रस्तु दिवं स्तब्ध्वेव विष्ठितः।
कोपसंरक्तनयनः प्रज्वलन्निव मन्युना ॥ १० ॥

सूत बोले– यह सुनकर क्रोधसे लाल लाल आंख करके और क्रोधसे जलते हुएके समान ऋषिपुत्र शृंगी मानों द्युलोकको स्तब्ध करते हुए उठकर खडे हो गए ॥ १० ॥

आविष्टः स तु कोपेन शशाप नृपतिं तदा।
वार्युपस्पृश्य तेजस्वी क्रोधवेगबलात्कृतः ॥ ११ ॥

तब क्रोधके वेगसे बलात् प्रेरित होकर और क्रोधसे आच्छादित होकर उस तेजस्वी शृंगी ऋषिने जल हाथमें लेकर राजाको शाप दिया ॥ ११ ॥

शृङ्ग्युवाच

योऽसौ वृद्धस्य तातस्य तथा कृच्छ्रगतस्य च ।
स्कन्धे मृतमवास्राक्षीत्पन्नगं राजकिल्बिषी ॥ १२ ॥

शृंगी बोला-- राजाओंमें सर्वाधिक पापी जिस राजाने मौनव्रतरूप कठिन तपस्यामें रत मेरे वृद्ध पिताके गलेमें मृत सर्प डाल दिया है ॥ १२ ॥

तं पापमतिसंक्रुद्धस्तक्षकः पन्नगोत्तमः ।
आशीविषस्तिग्मतेजा मद्वाक्यबलचोदितः ॥ १३ ॥
सप्तरात्रादितो नेता यमस्य सदनं प्रति ।
द्विजानामवमन्तारं कुरूणामयशस्करम् ॥ १४ ॥

उस कुरुओंके वंशको कलंकित करनेवाले और ब्राह्मणोंका अपमान करनेवाले राजाको भयंकर विषधारी तीक्ष्ण तेजवाला तक्षक मेरे वाक्यसे प्रेरित होकर अति क्रोधित होकर आजसे सातवीं रात यमराजके घरकी ओर ले जाएगा ॥ १३-१४ ॥

सूत उवाच

इति शप्त्वा नृपं क्रुद्धः शृङ्गी पितरमभ्ययात् ।
आसीनं गोचरे तस्मिन्वहन्तं शवपन्नगम् ॥ १५ ॥

सूत बोले-- कि क्रोधित हुआ हुआ शृंगी इस प्रकार राजाको शाप देकर मृतसर्पको धारण किए हुए और चरानेके स्थानमें बैठे हुए अपने पिताके पास गया ॥ १५ ॥

स तमालक्ष्य पितरं शृङ्गी स्कन्धगतेन वै ।
शवेन भुजगेनासीद्भूयः क्रोधसमन्वितः ॥ १६ ॥

शृंगी अपने पिताको उस दशामें कंधे पर मरा सर्प धारण किया हुआ देखकर फिर क्रोधयुक्त हो गया ॥ १६ ॥

दुःखाच्चाश्रूणि मुमुचे पितरं चेदमब्रवीत् ।
श्रुत्वेमां धर्षणां तात तव तेन दुरात्मना ॥ १७ ॥
राज्ञा परिक्षिता कोपादशपं तमहं नृपम् ।
यथार्हति स एवोग्रं शापं कुरुकुलाधमः ॥ १८ ॥

और बहुत दुःखी होकर वह आंसू गिराने लगा और पितासे यह बोला– '' पिता, उस दुरात्मा राजा परिक्षित्के द्वारा आपका यह अपमान सुनकर मैंने क्रोधसे उस कुरुकुलके लिए कलङ्कीको उसके इस कुकार्यके योग्य ही यह कठोर शाप दिया है ॥ १७–१८ ॥

सप्तमेऽहनि तं पापं तक्षकः पन्नगोत्तमः ।
वैवस्वतस्य भवनं नेता परमदारुणम् ॥ १९ ॥

कि सातवें दिन सर्पश्रेष्ठ तक्षक उस पापीको महाभयंकर यमके घर पहुंचायेंगे ॥ १९ ॥

तमब्रवीत्पिता ब्रह्मंस्तथा कोपसमन्वितम् ।
न मे प्रियं कृतं तात नैष धर्मस्तपस्विनाम् ॥ २० ॥

हे ब्रह्मन् ! तब उसके पिता शमीक ऋषि उस प्रकार क्रोधसे युक्त उस शृंगीसे बोले– ''हे तात ! तुमने मेरा प्रिय कार्य नहीं किया, तपस्वियोंका यह धर्म नहीं है॥ २० ॥

वयं तस्य नरेन्द्रस्य विषये निवसामहे ।
न्यायतो रक्षितास्तेन तस्य पापं न रोचये ॥ २१ ॥

हम उस राजाके राज्यमें बसते हैं और वह भी न्यायानुसार हमारी रक्षा कर रहे हैं, इसलिये उसका पाप ध्यानमें लाने योग्य नहीं है ॥ २१ ॥

सर्वथा वर्तमानस्य राज्ञो ह्यस्मद्विधैः सदा ।
क्षन्तव्यं पुत्र धर्मो हि हतो हन्ति न संशयः ॥ २२ ॥

हे पुत्र ! न्यायमें रहनेवाले राजाके दोष करने पर भी उनको क्षमा करना हमारा कर्तव्य है, अन्यथा धर्मको नष्ट करनेसे धर्म भी हमको निस्सन्देह नष्ट कर देता है ॥ २२ ॥

यदि राजा न रक्षेत पीडा वै नः परा भवेत् ।
न शक्नुयाम चरितुं धर्मं पुत्र यथासुखम् ॥ २३ ॥

यदि राजा हमारी रक्षा न करे, तो हमें भारी दुःख प्राप्त होंगे और तब हे पुत्र ! हम सुखसे धर्मका अनुष्ठान भी नहीं कर सकेंगे ॥ २३ ॥

रक्ष्यमाणा वयं तात राजभिः शास्त्रदृष्टिभिः ।
चरामो विपुलं धर्मं तेषां चांशोऽस्ति धर्मतः ॥ २४ ॥

हे पुत्र ! शास्त्रोंका अध्ययन करके तदनुसार आचरण करनेवाले राजाओंसे भली प्रकार रक्षित होकर हम बहुत धर्मार्जन किया करते हैं, अतः राजा धर्मतः हमारे द्वारा किए गए धर्ममें उनका भी अंश होता है ॥ २४ ॥

परिक्षित्तु विशेषेण यथाऽस्य प्रपितामहः ।
रक्षत्यस्मान्यथा राज्ञा रक्षितव्याः प्रजास्तथा ॥ २५ ॥

विशेष कर जिस प्रकारसे प्रजाओंका राजाको पालन करना चाहिए, परिक्षित् भी उसी प्रकारसे अपने प्रपितामह पाण्डुराजाके समान हमारी रक्षा कर रहे हैं ॥ २५ ॥

तेनेह क्षुधितेनाद्य श्रान्तेन च तपस्विना।
अजानता व्रतमिदं कृतमेतदसंशयम् ॥ २६ ॥

उस भूखे और थके हुए तपस्वी राजाने मेरे मौनव्रतको न जानकर ही निस्सन्देह ऐसा किया है ॥ २६ ॥

तस्मादिदं त्वया बाल्यात्सहसा दुष्कृतं कृतम्।
न ह्यर्हति नृपः शापमस्मत्तः पुत्र सर्वथा ॥ २७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥ १३८२ ॥

अतः हे पुत्र ! तुमने बालस्वभावसे ही अचानक ऐसा कुकर्म किया है, राजाको शाप देना हमारे लिये किसी प्रकार योग्य नहीं है ” ॥ २७ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें सैंतीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३७ ॥ १३८२ ॥

: ३८ :

शृङ्ग्युवाच

यद्येतत्साहसं तात यदि वा दुष्कृतं कृतम्।
प्रियं वाप्यप्रियं वा ते वागुक्ता न मृषा मया ॥ १ ॥

शृंगी बोला– “ हे पिता ! यदि परिक्षित्को शाप देना मेरा साहस हो या उसे शाप देकर मैंने कुकर्म ही किया हो और वह मेरा कर्म आपको प्रिय वा अप्रिय जो कुछ भी हो, पर मेरी कही हुई बात व्यर्थ नहीं होगी ॥ १ ॥

नैवान्यथेदं भविता पितरेष ब्रवीमि ते।
नाहं मृषा प्रब्रवीमि स्वैरेष्वपि कुतः शपन् ॥ २ ॥

हे तात ! मैं आपसे निश्चित कहता हूं कि मेरी वह बात कभी भी झूठी न होगी, मेरे शापका व्यर्थ होना तो दूर रहा, मैं हंसीमें भी कभी झूठ नहीं बोलता ” ॥ २ ॥

शमीक उवाच

जानाम्युग्रप्रभावं त्वां पुत्र सत्यगिरं तथा।
नानृतं ह्युक्तपूर्वं ते नैतन्मिथ्या भविष्यति ॥ ३ ॥

शमीक बोले– “ पुत्र ! अत्यन्त प्रभावशाली और सदा सत्यवचन बोलनेवाले तुमको मैं अच्छी तरह जानता हूँ, पहले कभी तुम झूठ नहीं बोले हो और तुम्हारा दिया हुआ यह शाप भी मिथ्या नहीं होगा ॥ ३ ॥

पित्रा पुत्रो वयःस्थोऽपि सततं वाच्य एव तु ।
यथा स्याद्गुणसंयुक्तः प्राप्नुयाच्च महद्यशः ॥ ४ ॥

पुत्रके वय प्राप्त होनेपर भी सदा उसको उपदेश देना पिताका कर्तव्य है, ताकि वह पुत्र गुणवान् हो और महान् यश प्राप्त करे ॥ ४ ॥

किं पुनर्बाल एव त्वं तपसा भावितः प्रभो ।
वर्धते च प्रभवतां कोपोऽतीव महात्मनाम् ॥ ५ ॥

हे प्रभो ! फिर तुम तो बालक ही हो और सदा तप ही में रत रहते हो, पर महात्माओंके भी प्रभाव बढनेके साथ साथ क्रोध भी बहुत बढता जाता है ॥ ५ ॥

सोऽहं पश्यामि वक्तव्यं त्वयि धर्मभृतां वर ।
पुत्रत्वं बालतां चैव तवावेक्ष्य च साहसम् ॥ ६ ॥

अतः हे धार्मिकोंमें श्रेष्ठ ! तुम्हारा पुत्रत्व, बालस्वभाव और साहस देखकर मुझे अनुभव होता है, कि मुझे तुमको उपदेश देना होगा ॥ ६ ॥

स त्वं शमयुतो भूत्वा वन्यमाहारमाहरन् ।
चर क्रोधमिमं त्यक्त्वा नैवं धर्मं प्रहास्यसि ॥ ७ ॥

हे पुत्र ! तुम यह क्रोध छोडकर, शमयुक्त होकर वनके फल मूल खाकर तप किया करो, इस प्रकार धर्मसे पतित न होगे ॥ ७ ॥

क्रोधो हि धर्मं हरति यतीनां दुःखसंचितम् ।
ततो धर्मविहीनानां गतिरिष्टा न विद्यते ॥ ८ ॥

क्योंकि यतियों– मुनियोंके द्वारा बहुत दुःख सहन करके संचित किए गए धर्मको क्रोध हर ले जाता है अर्थात् बहुत दुःख उठाकर संचित किया गया धर्म क्रोधके कारण क्षण-भरमें नष्ट हो जाता है और तब धर्मविहीनोंको अभिलषित सद्गति नहीं मिलती ॥ ८ ॥

शम एव यतीनां हि क्षमिणां सिद्धिकारकः ।
क्षमावतामयं लोकः परश्चैव क्षमावताम् ॥ ९ ॥

क्षमाशील यतियोंकी क्षमा ही उन्हें सिद्धि प्राप्त करानेवाली होती है। क्षमाशीलोंके लिए ही यह लोक है और क्षमाशीलोंके लिए ही परलोक है ॥ ९ ॥

तस्माच्चरेथाः सततं क्षमाशीलो जितेन्द्रियः ।
क्षमया प्राप्स्यसे लोकान्ब्रह्मणः समनन्तरान् ॥ १० ॥

इसलिए तुम सदा क्षमाशील और जितेन्द्रिय होकर व्रतका आचरण करते रहो। क्षमाको आश्रय करके ब्रह्मके समान लोकोंको प्राप्त करोगे ॥ १० ॥

मया तु शममास्थाय यच्छक्यं कर्तुमद्य वै।
तत्करिष्येऽद्य ताताहं प्रेषयिष्ये नृपाय वै ॥ ११ ॥

तात ! मैं शान्तिका आश्रय करके आज जितना संभव हो सके सब काम करूंगा। राजाको आज यह बात अवश्य ही कहला भेजूंगा ॥ ११ ॥

मम पुत्रेण शप्तोऽसि बालेनाकृतबुद्धिना।
ममेमां धर्षणां त्वत्तः प्रेक्ष्य राजन्नमर्षिणा ॥ १२ ॥

कि "हे राजन् ! तुम्हारे द्वारा किया हुआ मेरा यह अपमान देखकर असहिष्णु, अत्यन्त क्रोधी तथा अल्पबुद्धिवाले बालक मेरे पुत्रने तुमको शाप दिया है" ॥ १२ ॥

सूत उवाच

एवमादिश्य शिष्यं स प्रेषयामास सुव्रतः।
परिक्षिते नृपतये दयापन्नो महातपाः ॥ १३ ॥
संदिश्य कुशलप्रश्नं कार्यवृत्तान्तमेव च।
शिष्यं गौरमुखं नाम शीलवन्तं समाहितम् ॥ १४ ॥

सूत बोले-- कि उत्तम कर्म करनेवाले, महातपस्वी, दयालु शमीक ऋषिने गौरमुख नामक अपने उत्तम शील स्वभाववाले और सावधान चित्तवाले शिष्यको राजाका कुशल समाचार पूछकर उससे सब समाचार कह सुनानेके लिए राजा परिक्षित्के पास भेजा ॥ १३-१४ ॥

सोऽभिगम्य ततः शीघ्रं नरेन्द्रं कुरुवर्धनम्।
विवेश भवनं राज्ञः पूर्वं द्वाःस्थैर्निवेदितः ॥ १५ ॥

गौरमुख शीघ्र ही कुरुकुलके बढानेवाले राजा परिक्षित्के पास जाकर द्वारपालोंसे पहले सूचना भिजवाकर फिर राजाके भवनमें प्रविष्ट हुआ ॥ १५ ॥

पूजितश्च नरेन्द्रेण द्विजो गौरमुखस्ततः।
आचख्यौ परिविश्रान्तो राज्ञे सर्वमशेषतः।
शमीकवचनं घोरं यथोक्तं मन्त्रिसंनिधौ ॥ १६ ॥

इसके बाद राजाके द्वारा पूजित होकर तथा थकावट दूर करके ब्राह्मण गौरमुखने मन्त्रियोंके सामने ही राजासे शमीक मुनिके कहे हुए कठोर समाचारको आदिसे अन्ततक कह सुनाया ॥ १६ ॥

शमीको नाम राजेन्द्र विषये वर्तते तव।
ऋषिः परमधर्मात्मा दान्तः शान्तो महातपाः ॥ १७ ॥

कि "हे राजेन्द्र ! आपके राज्यमें परम धार्मिक, शान्त, दान्त, महातपस्वी, शमीक नामक एक महर्षि रहते हैं ॥ १७ ॥

तस्य त्वया नरव्याघ्र सर्पः प्राणैर्वियोजितः ।
अवसक्तो धनुष्कोट्या स्कन्धे भरतसत्तम ।
क्षान्तवांस्तव तत्कर्म पुत्रस्तस्य न चक्षमे ॥ १८ ॥

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ नरसिंह राजन् ! आपने धनुषकी नोकसे एक प्राणसे रहित सर्पको उठाकर उनके गलेमें लपेट दिया था, शमीक मुनिने तो आपके उस कार्यको (क्रोधित न हो करके) क्षमा कर दिया था, पर उनके पुत्रने क्षमा नहीं किया ॥ १८ ॥

तेन शप्तोऽसि राजेन्द्र पितुरज्ञातमद्य वै ।
तक्षकः सप्तरात्रेण मृत्युस्ते वै भविष्यति ॥ १९ ॥

उसने आज पिताके अनजाने ही आपको यह शाप दिया है, कि आजसे सातवीं रात तक्षक सर्प आपके लिए मृत्यु सिद्ध होगा, अर्थात् वह आकर आपको काट लेगा ॥ १९ ॥

तत्र रक्षां कुरुष्वेति पुनः पुनरथाब्रवीत् ।
तदन्यथा न शक्यं च कर्तुं केनचिदप्युत ॥ २० ॥

शमीक ऋषिने आपसे बार बार कहा है कि आप अपनी उससे रक्षा करें, क्योंकि वह शाप किसीके द्वारा भी व्यर्थ नहीं किया जा सकता ॥ २० ॥

न हि शक्नोति संयन्तुं पुत्रं कोपसमन्वितम् ।
ततोऽहं प्रेषितस्तेन तव राजन्हितार्थिना ॥ २१ ॥

ऋषि भी किसी प्रकारसे क्रोधयुक्त पुत्रको शान्त न कर सके, इस कारण हे राजन् ! आपका हित चाहनेवाले शमीक ऋषि द्वारा मैं भेजा गया हूँ " ॥ २१ ॥

इति श्रुत्वा वचो घोरं स राजा कुरुनन्दनः ।
पर्यतप्यत तत्पापं कृत्वा राजा महातपाः ॥ २२ ॥

कुरुवंशमें उत्पन्न महातपस्वी वह राजा परिक्षित् उस कठोर बातको सुनकर और यह जान करके कि मैंने पापकार्य किया है, बहुत दुःखी हुए ॥ २२ ॥

तं च मौनव्रतधरं श्रुत्वा मुनिवरं तदा ।
भूय एवाभवद्राजा शोकसंतप्तमानसः ॥ २३ ॥

और उस मुनिश्रेष्ठको मौनव्रतको धारण करनेवाला सुनकर राजा और ज्यादा शोकसे संतप्त हृदयवाला हो गया अर्थात् जब राजाने यह जाना कि मौनव्रतको पालनेके कारण मुनिने राजाकी बातका उत्तर नहीं दिया, तो राजाको अपने किए पर और ज्यादा दुःख हुआ ॥ २३ ॥

अनुक्रोशात्मतां तस्य शमीकस्यावधार्य तु ।
पर्यतप्यत भूयोऽपि कृत्वा तत्किल्बिषं मुनेः ॥ २४ ॥

और यह सोचते हुए कि ऐसे दया—स्वभावी शमीक मुनिका मैंने अपमान किया है, पूर्वके किये पापको स्मरण कर बार बार दुःखी होने लगे ॥ २४ ॥

न हि मृत्युं तथा राजा श्रुत्वा वै सोऽन्वतप्यत ।
अशोचदमरप्रख्यो तथा कृत्वेह कर्म तत् ॥ २५ ॥

देव—समान राजा परिक्षित् क्षमाशील ब्राह्मणके अपमानकी याद कर जैसे दुःखी हुए वैसे अपनी मृत्युके समाचार सुनने पर भी नहीं हुए ॥ २५ ॥

ततस्तं प्रेषयामास राजा गौरमुखं तदा ।
भूयः प्रसादं भगवान्करोत्विति ममेति वै ॥ २६ ॥

अनन्तर यह प्रार्थना करके कि भगवान् शमीकमुनि फिर मुझ पर प्रसन्न होवें, राजाने गौरमुखको विदा किया ॥ २६ ॥

तस्मिंश्च गतमात्रे वै राजा गौरमुखे तदा ।
मन्त्रिभिर्मन्त्रयामास सह संविग्नमानसः ॥ २७ ॥

तब उस गौरमुखके चले जाने पर राजा शोकसे पीडित मनवाला होकर उसी क्षण मंत्रियोंसे मन्त्रणा करने लगा ॥ २७ ॥

निश्चित्य मन्त्रिभिश्चैव सहितो मन्त्रतत्त्ववित् ।
प्रासादं कारयामास एकस्तम्भं सुरक्षितम् । ॥ २८ ॥

स्वयं मन्त्रतत्त्वोंको जाननेवाला होकरके भी उसने मन्त्रियोंसे विचार कर अच्छी प्रकारसे सुरक्षित एकस्तम्भवाला एक महल बनवाया ॥ २८ ॥

रक्षां च विदधे तत्र भिषजश्चौषधानि च ।
ब्राह्मणान्सिद्धमन्त्रांश्च सर्वतो वै न्यवेशयत् ॥ २९ ॥

तथा रक्षाके निमित्त चिकित्सक और दवायें पासमें रखीं और मन्त्रमें सिद्ध ब्राह्मणोंको शरीरकी रक्षाके निमित्त चारों ओर नियुक्त किया ॥ २९ ॥

राजकार्याणि तत्रस्थः सर्वाण्येवाकरोच्च सः ।
मन्त्रिभिः सह धर्मज्ञः समन्तात्परिरक्षितः ॥ ३० ॥

परम धार्मिक वह परिक्षित् मन्त्रियोंसे चारों ओरसे सुरक्षित होकर वहीं रहकर सब राजकार्य करने लगा ॥ ३० ॥

प्राप्ते तु दिवसे तस्मिन्सप्तमे द्विजसत्तम।
काश्यपोऽभ्यागमाद्विद्वांस्तं राजानं चिकित्सितुम् ॥ ३१ ॥

हे ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ शौनक! उस सातवें दिनके आ पहुंचने पर विद्वान् काश्यप उस राजाकी चिकित्सा करनेको चले ॥ ३१ ॥

श्रुतं हि तेन तदभूदद्य तं राजसत्तमम्।
तक्षकः पन्नगश्रेष्ठो नेष्यते यमसादनम् ॥ ३२ ॥

उन्होंने सुना था, कि आज सर्पश्रेष्ठ तक्षक राजाओंमें श्रेष्ठ परिक्षित्को यमराजके घर पहुंचावेगा ॥ ३२ ॥

तं दष्टं पन्नगेन्द्रेण करिष्येऽहमपज्वरम्।
तत्र मेऽर्थश्च धर्मश्च भवितेति विचिन्तयन् ॥ ३३ ॥

इससे उन्होंने मनही मनमें निश्चय किया था, कि सर्पनाथके द्वारा उस राजाको काटने पर मैं विषसे मुक्तकर राजाको आरोग्य प्रदान करूंगा, ऐसा करनेसे मुझे अर्थ और धर्म दोनों प्राप्त होंगे ॥ ३३ ॥

तं ददर्श स नागेन्द्रस्तक्षकः काश्यपं पथि।
गच्छन्तमेकमनसं द्विजो भूत्वा वयोऽतिगः ॥ ३४ ॥
तमब्रवीत्पन्नगेन्द्रः काश्यपं मुनिपुङ्गवम्।
क्व भवांस्त्वरितो याति किं च कार्यं चिकीर्षति ॥ ३५ ॥

यह सोचते हुए एकचित्त होकर जाते हुए काश्यपको रास्तेमें नागराज तक्षकने देखा और एक बूढे ब्राह्मणका वेश धरकर वह सर्पराज उस मुनिश्रेष्ठ काश्यपसे बोला– " हे मुनिश्रेष्ठ! आप शीघ्रतासे कहां जा रहे हैं? आप कौनसा कार्य करना चाहते हैं?" ३४–३५ ॥

काश्यप उवाच

नृपं कुरुकुलोत्पन्नं परिक्षितमरिंदमम्।
तक्षकः पन्नगश्रेष्ठस्तेजसाद्य प्रधक्ष्यति ॥ ३६ ॥

काश्यप बोले– " आज सर्पनाथ तक्षक कुरुकुलमें उत्पन्न शत्रुनाशी राजा परिक्षित्को विषसे जलावेगा ॥ ३६ ॥

तं दष्टं पन्नगेन्द्रेण तेनाग्निसमतेजसा।
पाण्डवानां कुलकरं राजानममितौजसम्।
गच्छामि सौम्य त्वरितं सद्यः कर्तुमपज्वरम् ॥ ३७ ॥

हे सौम्य! अग्निके समान तेजस्वी उस सर्पराज द्वारा पाण्डवकुलके तिलक महाबलशाली राजाके काटे जाने पर शीघ्र ही इसे आरोग्य प्रदान करनेके लिए मैं शीघ्र जा रहा हूं" ॥ ३७ ॥

तक्षक उवाच

अहं स तक्षको ब्रह्मंस्तं धक्ष्यामि महीपतिम् ।
निवर्तस्व न शक्तस्त्वं मया दष्टं चिकित्सितुम् ॥ ३८ ॥

तक्षक बोला– " हे ब्रह्मन् ! मैं ही वह तक्षक हूं, तथा मैं ही परिक्षित्‌को भस्म करूंगा; मेरे काटे हुए की तुम चिकित्सा नहीं कर सकोगे, अतः तुम लौट जाओ । " ॥ ३८ ॥

काश्यप उवाच

अहं तं नृपतिं नाग त्वया दष्टमपज्वरम् ।
करिष्य इति मे बुद्धिर्विद्याबलमुपाश्रितः ॥ ३९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥ १४२२ ॥

काश्यप बोले– " हे नाग ! यह मुझे निश्चय है कि तुम्हारे द्वारा काटे गए राजाको मैं अपने विद्याके बलसे विषसे अवश्य बचा सकूंगा " ॥ ३९ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें अडतीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३८ ॥ ॥ १४२२ ॥

: ३९ :

तक्षक उवाच

दष्टं यदि मयेह त्वं शक्तः किंचिच्चिकित्सितुम् ।
ततो वृक्षं मया दष्टमिमं जीवय काश्यप ॥ १ ॥

तक्षक बोला– " हे काश्यप ! यदि तुम मेरे काटे हुए प्राणीकी कुछ भी चिकित्सा करनेमें समर्थ हो, तो मेरे द्वारा काटे हुए इस वृक्षको जीवित कर दो ॥ १ ॥

परं मन्त्रबलं यत्ते तद्दर्शय यतस्व च ।
न्यग्रोधमेनं धक्ष्यामि पश्यतस्ते द्विजोत्तम ॥ २ ॥

हे द्विजोंमें श्रेष्ठ काश्यप ! तुम्हारे देखते देखते मैं इस बरगदके पेडको जलाता हूँ, तुम प्रयत्न करो और जो तुम्हारे मंत्रका बल है, उसे दिखाओ " ॥ २ ॥

काश्यप उवाच

दश नागेन्द्र वृक्षं त्वं यमेनमभिमन्यसे ।
अहमेनं त्वया दष्टं जीवयिष्ये भुजङ्गम ॥ ३ ॥

काश्यप बोले– " हे नागनाथ ! यदि तुम ऐसा अभिमान करते हो, तो इस वृक्षको काटो, और तुम्हारे द्वारा काटे हुए इसे मैं फिर जीवित अर्थात् हराभरा कर दूंगा " ॥ ३ ॥

सूत उवाच

एवमुक्तः स नागेन्द्रः काश्यपेन महात्मना ।
अदशद्वृक्षमभ्येत्य न्यग्रोधं पन्नगोत्तमः ॥ ४ ॥

सूत बोले– कि महात्मा काश्यपके यह कहनेपर सांपोंमें श्रेष्ठ नागराज तक्षकने पास जाकर उस बरगदके वृक्षको काटा ॥ ४ ॥

स वृक्षस्तेन दष्टः सन्सद्य एव महाद्युते ।
आशीविषविषोपेतः प्रजज्वाल समन्ततः ॥ ५ ॥

हे महातेजस्वी शौनक! उसके सर्पके काटते ही वह वृक्ष उस भयंकर सर्पविषके कारण चारों ओरसे जलने लगा ॥ ५ ॥

तं दग्ध्वा स नगं नागः काश्यपं पुनरब्रवीत् ।
कुरु यत्नं द्विजश्रेष्ठ जीवयैनं वनस्पतिम् ॥ ६ ॥

वह नाग तक्षक उस वृक्षको भस्म करके काश्यपसे फिर बोला, "हे द्विजराज! तुम यत्न करो और इस वृक्षको फिर जिला दो" ॥ ६ ॥

भस्मीभूतं ततो वृक्षं पन्नगेन्द्रस्य तेजसा ।
भस्म सर्वं समाहृत्य काश्यपो वाक्यमब्रवीत् ॥ ७ ॥

तब सर्पराज तक्षकके तेजसे भस्म हुए वृक्षकी सब भस्मको लेकरके कश्यपने यह वाक्य कहा ॥ ७ ॥

विद्याबलं पन्नगेन्द्र पश्य मेऽस्मिन्वनस्पतौ ।
अहं संजीवयाम्येनं पश्यतस्ते भुजङ्गम ॥ ८ ॥

"हे सर्पनाथ! आज इस वृक्षपर मेरी विद्याका बल देखो, हे नाग! तुम्हारे देखते देखते ही मैं इसको जिलाता हूं" ॥ ८ ॥

ततः स भगवान्विद्वान्काश्यपो द्विजसत्तमः ।
भस्मराशीकृतं वृक्षं विद्यया समजीवयत् ॥ ९ ॥

तब उस द्विजश्रेष्ठ विद्वान् भगवान् काश्यपने उस भस्मके ढेर हुए हुए वृक्षको विद्याके बलसे जीवित कर दिया ॥ ९ ॥

अङ्कुरं तं स कृतवांस्ततः पर्णद्वयान्वितम् ।
पलाशिनं शाखिनं च तथा विटपिनं पुनः ॥ १० ॥

सर्व प्रथम काश्यपने उस भस्मसे अंकुर पैदा किया फिर उस अंकुरको दो पत्तोंसे युक्त किया, फिर उसे बडी डाली, तथा फिर छोटी छोटी डालियोंसे युक्त करके अन्तमें उसे एक महावृक्ष बना दिया ॥ १० ॥

तं दृष्ट्वा जीवितं वृक्षं काश्यपेन महात्मना ।
उवाच तक्षको ब्रह्मन्नेतदत्यद्भुतं त्वयि ॥ ११ ॥
विप्रेन्द्र यद्विषं हन्या मम वा मद्विधस्य वा ।
कं त्वमर्थमभिप्रेप्सुर्यासि तत्र तपोधन ॥ १२ ॥

महात्मा काश्यपके द्वारा वृक्षको फिर हराभरा किया हुआ देखकर तक्षक बोला, "हे ब्रह्मन्! यह तुम्हारे लिये बडे आश्चर्यका विषय नहीं है कि तुम मेरे अथवा मेरे सदृश किसी दूसरे सर्पके तेज विषको दूर कर देते हो, पर हे तपोधन! तुम राजाके पास किस चीजको पानेकी इच्छासे जा रहे हो ॥ ११-१२ ॥

यत्तेऽभिलषितं प्राप्तुं फलं तस्मान्नृपोत्तमात् ।
अहमेव प्रदास्यामि तत्ते यद्यपि दुर्लभम् ॥ १३ ॥

तुम उस राजा श्रेष्ठसे जो वस्तु पानेकी अभिलाषा करते हो वह यद्यपि दुर्लभ भी हो तो भी मैं तुम्हें दे दूंगा ॥ १३ ॥

विप्रशापाभिभूते च क्षीणायुषि नराधिपे ।
घटमानस्य ते विप्र सिद्धिः संशयिता भवेत् ॥ १४ ॥

हे ब्राह्मण काश्यप! ब्राह्मणके शापसे ग्रस्त होनेके कारण जिसकी आयु समाप्त हो चुकी है, ऐसे राजाको जीवित करनेके कार्यमें प्रयत्न करनेवाले तुम्हारी सिद्धि सन्देह युक्त ही रहेगी अर्थात् उसे जीवित करनेमें तुम सफल हो सकोगे इसमें सन्देह ही है ॥ १४ ॥

ततो यशः प्रदीप्तं ते त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
विरश्मिरिव घर्मांशुरन्तर्धानमितो व्रजेत् ॥ १५ ॥

(अतएव यदि तुम उसे स्वस्थ न कर सके) तो तुम्हारा तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध, तुम्हारा तेजस्वी यश इस संसारमें किरणोंसे रहित सूर्यकी भांति नष्ट हो जायेगा " ॥ १५ ॥

काश्यप उवाच

धनार्थी याम्यहं तत्र तन्मे दित्स भुजङ्गम ।
ततोऽहं विनिवर्तिष्ये गृहायोरगसत्तम ॥ १६ ॥

काश्यप बोले-- "हे सर्पराज! मैं धनकी आशासे वहां जा रहा हूं, यदि तुम वह धन मुझे दो; तो हे सर्पश्रेष्ठ! मैं अपने घर लौट जाऊंगा ॥ १६ ॥

तक्षक उवाच

यावद्धनं प्रार्थयसे तस्माद्राज्ञस्ततोऽधिकम् ।
अहं तेऽद्य प्रदास्यामि निवर्तस्व द्विजोत्तम ॥ १७ ॥

तक्षक बोला - "हे द्विजोत्तम! तुमने उस राजासे जितना धन पानेकी आशा की है, उससे भी अधिक धन मैं आज तुमको दे दूंगा, अतः तुम अपने घर लौट जाओ ॥ १७ ॥

सूत उवाच

तक्षकस्य वचः श्रुत्वा काश्यपो द्विजसत्तमः ।
प्रदध्यौ सुमहातेजा राजानं प्रति बुद्धिमान् ॥ १८ ॥

सूत बोले– बुद्धिमान् द्विजश्रेष्ठ अति तेजस्वी काश्यपमुनि तक्षककी बात सुनकर राजा परिक्षित्के बारेमें विचार करने लगे ॥ १८ ॥

दिव्यज्ञानः स तेजस्वी ज्ञात्वा तं नृपतिं तदा ।
क्षीणायुषं पाण्डवेयमपावर्तत काश्यपः
लब्ध्वा वित्तं मुनिवरस्तक्षकाद्यावदीप्सितम् ॥ १९ ॥

तथा दिव्यज्ञानके प्रभावसे यह देखकर, कि पाण्डवपुत्र राजा परिक्षित्की आयु क्षीण हो चुकी है, मुनिश्रेष्ठ तथा तेजस्वी वह काश्यप तक्षकसे यथेच्छ धन पाकर वापस लौट गये ॥ १९ ॥

निवृत्ते काश्यपे तस्मिन्समयेन महात्मनि ।
जगाम तक्षकस्तूर्णं नगरं नागसाह्वयम् ॥ २० ॥

महात्मा काश्यपके अपनी शर्तके अनुसार लौट जानेपर तक्षक तुरन्त हस्तिनापुर नगरको गया ॥ २० ॥

अथ शुश्राव गच्छन्स तक्षको जगतीपतिम् ।
मन्त्रागदैर्विषहरै रक्ष्यमाणं प्रयत्नतः ॥ २१ ॥

और जाते हुए पथमें उस तक्षकने सुना, कि राजा विष हरनेवाली दवा और मन्त्रोंसे बडे यत्नसे अपनी सुरक्षा कर रहे हैं ॥ २१ ॥

स चिन्तयामास तदा मायायोगेन पार्थिवः ।
मया वञ्चयितव्योऽसौ क उपायो भवेदिति ॥ २२ ॥

तब वह सोचने लगा, कि मुझे मायाके बलसे ही इस राजाको ठगना पडेगा, उसके लिए मैं कौनसा उपाय करूं ॥ २२ ॥

ततस्तापसरूपेण प्राहिणोत्स भुजङ्गमान् ।
फलपत्रोदकं गृह्य राज्ञे नागोऽथ तक्षकः ॥ २३ ॥

तब उस तक्षक-सर्पने अपने साथी नागोंको तपस्वीके रूपमें तथा फल, पत्र और उदक लेकर राजाके पास भेजा ॥ २३ ॥

तक्षक उवाच

गच्छध्वं यूयमव्यग्रा राजानं कार्यवत्तया।
फलपत्रोदकं नाम प्रतिग्राहयितुं नृपम् ॥ २४ ॥

तक्षक बोला– " बिना व्याकुल होकर तुम किसी कामके बहाने उस राजाको फल, पत्र और जल देनेके लिए जाओ " ॥ २४ ॥

सूत उवाच

ते तक्षकसमादिष्टास्तथा चक्रुर्भुजङ्गमाः।
उपनिन्युस्तथा राज्ञे दर्भानापः फलानि च ॥ २५ ॥

सूत बोले– उन सर्पोंने तक्षककी आज्ञानुसार वैसा ही किया और राजाको दर्भ, और फल लेजाकर दिया ॥ २५ ॥

तच्च सर्वं स राजेन्द्रः प्रतिजग्राह वीर्यवान्।
कृत्वा च तेषां कार्याणि गम्यतामित्युवाच तान् ॥ २६ ॥

वीर्यशाली राजा परिक्षित्ने वह सब ले लिया और उनका कार्य पूराकर " अब आप जाइए " ऐसा उनसे कहा ॥ २६ ॥

गतेषु तेषु नागेषु तापसच्छद्मरूपिषु।
अमात्यान्सुहृदश्चैव प्रोवाच स नराधिपः ॥ २७ ॥

तपस्वियोंके छद्मरूपको धारण किए हुए उन नागोंके चले जानेपर राजाने अपने मन्त्रियों और मित्रोंसे कहा ॥ २७ ॥

भक्षयन्तु भवन्तो वै स्वादूनीमानि सर्वशः।
तापसैरुपनीतानि फलानि सहिता मया ॥ २८ ॥

कि तुम मेरे साथ तपस्वियोंके द्वारा लाये गए सब तरहसे स्वादिष्ट इन फलोंको खाओ ॥ २८ ॥

ततो राजा ससचिवः फलान्यादातुमैच्छत।
यद्गृहीतं फलं राज्ञा तत्र कृमिरभूदणुः।
ह्रस्वकः कृष्णनयनस्ताम्रो वर्णेन शौनक ॥ २९ ॥

तब हे शौनक! राजाने मन्त्रियोंके सहित बैठकर वे फल खाने चाहे, राजाने जो फल उठाया उसमें एक अणुके समान छोटा, काले नेत्रवाला, ताम्बेके रङ्गका कीडा बैठा हुआ था ॥ २९ ॥

स तं गृह्य नृपश्रेष्ठः सचिवानिदमब्रवीत्।
अस्तमभ्येति सविता विषादद्य न मे भयम् ॥ ३० ॥

राजश्रेष्ठ परिक्षित् उस कीडेको पकडकर मन्त्रियोंसे यह बोला– कि सूर्यदेव अस्त होने जा रहे हैं, अतः आज अब मुझे विषका भय नहीं रहा ॥ ३० ॥

सत्यवागस्तु स मुनिः कृमिको मां दशत्वयम् ।
तक्षको नाम भूत्वा वै तथा परिहृतं भवेत् ॥ ३१ ॥

अतः यदि यह कीट तक्षक होकर मुझे काट ले, तभी उस मुनिकी बात भी सच ठहरेगी और शाप भी सच होगा ॥ ३१ ॥

ते चैनमन्ववर्तन्त मन्त्रिणः कालचोदिताः ।
एवमुक्त्वा स राजेन्द्रो ग्रीवायां संन्निवेश्य ह ।
कृमिकं प्राहसत्तूर्णं मुमूर्षुर्नष्टचेतनः ॥ ३२ ॥

कालसे प्रेरित हुए हुए उन मंत्रियोंने भी राजाकी इस बातका समर्थन किया । इधर मरनेकी इच्छावाला और नष्ट बुद्धिवाला राजा परिक्षित् भी यह कहकर और उस कीडेको गलेमें डालकर बार बार हंसने लगा ॥ ३२ ॥

हसन्नेव च भोगेन तक्षकेणाभिवेष्टितः ।
तस्मात्फलाद्विनिष्क्रम्य यत्तद्राज्ञे निवेदितम् ॥ ३३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥ १४५५ ॥

इस प्रकार राजा हंस ही रहा था कि तपस्वियोंने जो फल राजाको दिया था उस फलमेंसे निकलकर तक्षक नागने अपने फनसे राजाको लपेट लिया ॥ ३३ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें उन्तालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३९ ॥ १४५५ ॥

: ४० :

सूत उवाच

तं तथा मन्त्रिणो दृष्ट्वा भोगेन परिवेष्टितम् ।
विवर्णवदनाः सर्वे रुरुदुर्भृशदुःखिताः ॥ १ ॥

सूत बोले– मन्त्रीगण उस राजाको उस प्रकार तक्षकके द्वारा घिरा हुए देखकर अति दुःखी होकर और पीले मुखवाले होकर रोने लगे ॥ १ ॥

तं तु नादं ततः श्रुत्वा मन्त्रिणस्ते प्रदुद्रुवुः ।
अपश्यंश्चैव ते यान्तमाकाशे नागमद्भुतम् ॥ २ ॥
सीमन्तमिव कुर्वाणं नभसः पद्मवर्चसम् ।
तक्षकं पन्नगश्रेष्ठं भृशं शोकपरायणाः ॥ ३ ॥

तब तक्षकके गर्जनका शब्द सुनकर वे सब मंत्री भाग गए और बहुत शोकसे युक्त होकर उन्होंने अद्भुत नागको आकाशरूपी स्त्रीकी मांगको सिन्दूरसे सजाते हुएके समान लाल कमलके वर्णवाले उस सर्पश्रेष्ठ तक्षक नागको आकाशमें जाते हुए देखा ॥ २–३ ॥

ततस्तु ते तद्गृहमग्निना वृतं प्रदीप्यमानं विषजेन भोगिनः ।
भयात्परित्यज्य दिशः प्रपेदिरे पपात तच्चाशनिताडितं यथा ॥ ४ ॥

इधर मंत्रीगण भी तक्षक नागके भयंकर विषसे उपजी हुई आगसे घिर कर जलते हुए उस घरको डरके कारण छोडकर चारों दिशाओंमें भाग गये और वह घर भी वज्रसे आहत हुए हुएके समान गिर गया ॥ ४ ॥

ततो नृपे तक्षकतेजसा हते प्रयुज्य सर्वाः परलोकसत्क्रियाः ।
शुचिर्द्विजो राजपुरोहितस्तदा तथैव ते तस्य नृपस्य मन्त्रिणः ॥ ५ ॥

राजा परिक्षित्के तक्षकके तेजसे मर जाने पर इस राजाके मन्त्री और शुद्धाचारी ब्राह्मण-श्रेष्ठ राज-पुरोहितने राजाके संपूर्ण और्ध्वदेहिक कार्य सम्पन्न किये ॥ ५ ॥

नृपं शिशुं तस्य सुतं प्रचक्रिरे समेत्य सर्वे पुरवासिनो जनाः ।
नृपं यमाहुस्तममित्रघातिनं कुरुप्रवीरं जनमेजयं जनाः ॥ ६ ॥

हस्तिनापुर नगरमें रहनेवाले मनुष्योंने राजा परीक्षित्के शत्रुओंके विनाशक, कुरुओंमें श्रेष्ठ उस छोटे पुत्रको राजा बनाया, जिसे लोग "जनमेजय" कहा करते थे ॥ ६ ॥

स बाल एवार्यमतिर्नृपोत्तमः सहैव तैर्मन्त्रिपुरोहितैस्तदा ।
शशास राज्यं कुरुपुङ्गवाग्रजो यथास्य वीरः प्रपितामहस्तथा ॥ ७ ॥

श्रेष्ठ बुद्धिवाला नृपश्रेष्ठ कुरुवंशियोंमें श्रेष्ठ जनमेजय बालक होने पर भी उन मन्त्रियों और पुरोहितोंके साथ उसी प्रकार राज्यशासन करने लगा जिस प्रकार उसके प्रपितामह (परदादा) युधिष्ठिर राज्यशासन करते थे ॥ ७ ॥

ततस्तु राजानममित्रतापनं समीक्ष्य ते तस्य नृपस्य मन्त्रिणः ।
सुवर्णवर्माणमुपेत्य काशिपं वपुष्टमार्थं वरयांप्रचक्रमुः ॥ ८ ॥

कुछ कालके बाद उस राजाके मन्त्रियोंने उस जनमेजयको शत्रुनाशी देखकर (जनमेजयके लिए) काशीराज सुवर्णवर्माके पास जाकर वपुष्टमा नामकी उनकी कन्या मांगी ॥ ८ ॥

ततः स राजा प्रददौ वपुष्टमां कुरुप्रवीराय परीक्ष्य धर्मतः ।
स चापि तां प्राप्य मुदा युतोऽभवन्न चान्यनारीषु मनो दधे क्वचित् ॥९॥

तब सुवर्णवर्माने कुरुप्रवीर जनमेजयकी धर्मानुसार परीक्षा करके वपुष्टमा नामकी अपनी कन्या जनमेजयको प्रदान कर दी और जनमेजय भी वपुष्टमाको प्राप्तकर अति प्रसन्न हुए और उन्होंने किसी दूसरी स्त्री पर कभी मन नहीं लगाया ॥ ९ ॥

सरःसु फुल्लेषु वनेषु चैव ह प्रसन्नचेता विजहार वीर्यवान् ।
तथा स राजन्यवरो विजह्रिवान्यथोर्वशीं प्राप्य पुरा पुरुरवाः ॥ १० ॥

जिस प्रकार पूर्वकालमें पुरुरवाने उर्वशीको प्राप्तकर प्रसन्नचित्तसे उसके साथ विहार किया था, उसी प्रकार राजाओंमें श्रेष्ठ वीर्यशाली जनमेजय प्रसन्नहृदयसे वपुष्टमाके साथ सुन्दर तालावोंमें और खिले हुए वनोंमें विहार करने लगे ॥ १० ॥

वपुष्टमा चापि वरं पतिं तदा प्रतीतरूपं समवाप्य भूमिपम् ।
भावेन रामा रमयाम्बभूव वै विहारकालेष्ववरोधसुन्दरी ॥ ११ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥ १८६६ ॥

प्रसिद्ध रूपवती अन्तःपुरकी ज्योति सुन्दरी सती वपुष्टमा भी अपने ही समान सुन्दर उस भूपालको पति रूपमें पाकर विहारके समय अति प्रेम दिखाकर प्रसन्न करने लगी ॥ ११ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें चालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ४० ॥ १४६६ ॥

: ४१ :

सूत उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु जरत्कारुर्महातपाः ।
चचार पृथिवीं कृत्स्नां यत्रसायंगृहो मुनिः ॥ १ ॥

सूत बोले– इसी समय महातपस्वी जरत्कारु ऋषि यत्रसायंगृह होकर (अर्थात् जहां सन्ध्या हो जाती थी, वहीं अपना घर बनाकर) सम्पूर्ण पृथ्वीमें घूम रहे थे ॥ १ ॥

चरन्दीक्षां महातेजा दुश्चरामकृतात्मभिः ।
तीर्थेष्वाप्लवनं कुर्वन्पुण्येषु विचचार ह ॥ २ ॥

वह महातेजस्वी मुनि पवित्र तीर्थमें नहाते हुए अपुण्यशाली मनुष्योंके द्वारा करनेके अयोग्य कठोर तप करते हुए पवित्र तीर्थोंमें विचरने लगे ॥ २ ॥

वायुभक्षो निराहारः शुष्यन्नहरहर्मुनिः ।
स ददर्श पितॄन्गर्ते लम्बमानानधोमुखान् ॥ ३ ॥

कभी निराहारसे, कभी हवा पीकरके रहनेके कारण अपने शरीरको दिनरात सुखाते हुए घूमा करते थे । एक समय घूमते हुए उन्होंने अपने पितरोंको एक गड्ढेमें नीचे मुंह किए लटकते हुए देखा ॥ ३ ॥

एकतन्त्ववशिष्टं वै वीरणस्तम्बमाश्रितान् ।
तं च तन्तुं शनैराखुमाददानं बिलाश्रयम् ॥ ४ ॥

वे सब पितर वीरण अर्थात् खसके गुच्छेको पकडकर लटके हुए थे। उस वीरणस्तंबका एक ही तार शेष बचा था और उसे भी गड्ढेमें रहता हुआ एक चूहा धीरे धीरे काट रहा था ॥ ४ ॥

निराहारान्कृशान्दीनान्गर्तेऽतांस्त्राणमिच्छतः ।
उपसृत्य स तान्दीनान्दीनरूपोऽभ्यभाषत ॥ ५ ॥

जरत्कारुने उनको निराहारी, दुबले पतले, दीन और गड्ढेमें दुःखी होते हुए तथा अपनी रक्षाके अभिलाषी उन दुःखी पितरोंके पास जाकर दुःखी हृदयसे पूछा ॥ ५ ॥

के भवन्तोऽवलम्बन्ते वीरणस्तम्बमाश्रिताः ।
दुर्बलं खादितैर्मूलैराखुना बिलवासिना ॥ ६ ॥

बिलमें रहनेवाले चूहेने जिनकी जडोंको खा लिया है, ऐसे कमजोर खसके गुच्छेको पकड कर लटकनेवाले आप कौन हैं ? ॥ ६ ॥

वीरणस्तम्बके मूलं यदप्येकमिह स्थितम् ।
तदप्ययं शनैराखुरादत्ते दशनैः शितैः ॥ ७ ॥

इस खसके गुच्छेमें इसकी एक ही जड जो शेष है, उसे भी यह चूहा अपने तेज दांतोंसे धीरे धीरे काट रहा है ॥ ७ ॥

छेत्स्यतेऽल्पावशिष्टत्वादेतदप्याचिरादिव ।
ततः स्थ पतितारोऽत्र गर्ते अस्मिन्नधोमुखाः ॥ ८ ॥

यह मूल थोडासा बचा हुआ होनेके कारण यह भी थोडे ही कालमें काट दिया जाएगा, तब निःसन्देह आप नीचे मुंह किये ही इस गड्ढेमें गिर जायंगे ॥ ८ ॥

ततो मे दुःखमुत्पन्नं दृष्ट्वा युष्मानधोमुखान् ।
कृच्छ्रामापदमापन्नान्प्रियं किं करवाणि वः ॥ ९ ॥

आपको नीचे मुंह किये और कठिन विपत्तिमें पडे हुए देखकर मुझे बडा दुःख हो रहा है; कहिये मैं आपका कौनसा प्रिय कार्य करूं ॥ ९ ॥

तपसोऽस्य चतुर्थेन तृतीयेनापि वा पुनः ।
अर्धेन वापि निस्तर्तुमापदं ब्रूत माचिरम् ॥ १० ॥

मेरी तपस्याके चौथे भागसे वा तीसरे भागसे या आधे भागसे आप इस आपत्तिको पार कर सकेंगे, शीघ्र बोलिए ॥ १० ॥

अथवापि समग्रेण तरन्तु तपसा मम ।
भवन्तः सर्व एवास्मात्काममेवं विधीयताम् ॥ ११ ॥

अथवा मेरी सम्पूर्ण तपस्यासे आप लोग इस विपत्तिसे बच जाइये, इसमें आप जैसा चाहें, वैसा ही कीजिये ॥ ११ ॥

पितर ऊचुः

ऋद्धो भवान्ब्रह्मचारी यो नस्त्रातुमिहेच्छति ।
न तु विप्राग्र्य तपसा शक्यमेतद्व्यपोहितुम् ॥ १२ ॥

पितृगण बोले– हे ब्राह्मण-श्रेष्ठ ! आप समृद्ध ब्रह्मचारी हैं जो यहां हमारी रक्षा करना चाहते हैं, पर हमारी इस विपत्तिको तपस्यासे दूर करना संभव नहीं है ॥ १२ ॥

अस्ति नस्तात तपसः फलं प्रवदतां वर ।
संतानप्रक्षयाद्ब्रह्मन्पतामो निरयेऽशुचौ ॥ १३ ॥

हे बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ ! हमलोगोंका भी बहुत तपका फल है; पर हे ब्रह्मन् ! केवल सन्तान नष्ट हो जानेके कारण ही हम इस अपवित्र नरकमें गिर रहे हैं ॥ १३ ॥

लम्बतामिह नस्तात न ज्ञानं प्रतिभाति वै ।
येन त्वां नाभिजानीमो लोके विख्यातपौरुषम् ॥ १४ ॥

यहां लटके रहनेके कारण हमें कुछ भी ज्ञान नहीं है, इस हेतु आपका यश तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध रहनेपर भी हम आपको पहिचान नहीं पा रहे हैं ॥ १४ ॥

ऋद्धो भवान्महाभागो यो नः शोच्यान्सुदुःखितान् ।
शोचस्युपेत्य कारुण्याच्छृणु ये वै वयं द्विज ॥ १५ ॥

आप ऋद्ध और बडे भाग्यवान् हैं, जो इस बडे भारी दुःख और शोचनीय दशासे पीडित हुए हुए हमारे लिए दयावश होकर दुःख प्रगट कर रहे हैं। हे विप्र ! सुनिये, हम कौन हैं ॥ १५ ॥

यायावरा नाम वयमृषयः संशितव्रताः ।
लोकात्पुण्यादिह भ्रष्टाः संतानप्रक्षयाद्विभो ॥ १६ ॥

हे विभो ! हम यायावर नामक व्रतनिष्ठ ऋषि हैं, संतानके लोप होनेके कारण हम इस पुण्य लोकसे भ्रष्ट हो गए हैं ॥ १६ ॥

प्रनष्टं नस्तपः पुण्यं न हि नस्तन्तुरस्ति वै ।
अस्ति त्वेकोऽद्य नस्तन्तुः सोऽपि नास्ति यथा तथा ॥ १७ ॥

हमारे सम्पूर्ण तपस्या और पुण्य निष्फल हो गए हैं क्योंकि हमारा वंशतन्तु नहीं है। हमारे वंशका एक तन्तु अर्थात् हमारे वंशमें एक संतान है तो सही, पर उसका होना, न होना सब बराबर है ॥ १७ ॥

मन्दभाग्योऽल्पभाग्यानां बन्धुः स किल नः कुले।
जरत्कारुरिति ख्यातो वेदवेदाङ्गपारगः।
नियतात्मा महात्मा च सुव्रतः सुमहातपाः ॥ १८ ॥

वही मन्दभाग्य हमारे वंशमें हम अल्पभाग्योंका सहारा है उसका नाम जरत्कारु है। वह सन्तान वेद-वेदाङ्गोंमें निपुण, व्रतशील, जितेन्द्रिय, महात्मा और बडा तपस्वी है ॥१८॥

तेन स्म तपसो लोभात्कृच्छ्रमापादिता वयम्।
न तस्य भार्या पुत्रो वा बान्धवो वास्ति कश्चन ॥ १९ ॥

उसने तपके लोभसे हमको इस विपत्तिमें गिरा दिया है; उसकी स्त्री, पुत्र, स्वजन, बन्धु, कोई भी नहीं हैं ॥ १९ ॥

तस्माल्लम्बामहे गर्ते नष्टसंज्ञा ह्यनाथवत्।
स वक्तव्यस्त्वया दृष्ट्वा अस्माकं नाथवत्तया ॥ २० ॥

इसी कारण हम अनाथकी भांति संज्ञासे शून्य होकर इस गड्ढेमें लटके हुए हैं। यदि आप उसे देखें तो हम अनाथोंको सनाथ करनेके लिए उससे इस प्रकार कहिएगा ॥ २० ॥

पितरस्तेऽवलम्बन्ते गर्ते दीना अधोमुखाः।
साधु दारान्कुरुष्वेति प्रजायस्वेति चाभिभो।
कुलतन्तुर्हि नः शिष्टस्त्वमेवैकस्तपोधन ॥ २१ ॥

"हे तेजस्वी साधु पुरुष! तुम्हारे पितरलोग दीन होकर और नीचे मुंह करके गड्ढेमें लटक रहे हैं, तुम विवाह करो और स्त्रीमें पुत्रोत्पादन करो क्योंकि हे तपोधन! तुम ही कुलके एकमात्र तन्तुके रूपमें बचे हो ॥ २१ ॥

यत्तु पश्यसि नो ब्रह्मन्वीरणस्तम्बमाश्रितान्।
एषोऽस्माकं कुलस्तम्ब आसीत्स्वकुलवर्धनः ॥ २२ ॥

हे ब्रह्मन्! आप हमको जिस खसके गुच्छेमें लटका हुआ देख रहे हैं यह हमारा कुल बढाने वाला कुलस्तम्ब था ॥ २२ ॥

यानि पश्यसि वै ब्रह्मन्मूलानीहास्य वीरुधः।
एते नस्तन्तवस्तात कालेन परिभक्षिताः ॥ २३ ॥

हे ब्रह्मन्! आप इस वृक्षकी जो सब जड देख रहे हैं, वे हमारी सन्तानें हैं, ये सभी कालसे भक्षित हो चुकी हैं ॥ २३ ॥

यत्त्वेतत्पश्यसि ब्रह्मन्मूलमस्यार्धभक्षितम् ।
तत्र लम्बामहे सर्वे सोऽप्येकस्तप आस्थितः ॥ २४ ॥

और हे ब्रह्मन् ! यह जो आधी खाई हुई एकही जड आप देख रहे हैं जिसे पकड कर हम गड्ढेके ऊपर लटके हुए हैं, यह वही जरत्कारु है, उसने भी केवल तपस्याको पकड रखा है ॥२४॥

यस्माखुं पश्यसि ब्रह्मन्काल एष महाबलः ।
स तं तपोरतं मन्दं शनैः क्षपयते तुदन् ।
जरत्कारुं तपोलुब्धं मन्दात्मानमचेतसम् ॥ २५ ॥

हे ब्रह्मन् ! आप यह जो चूहा देख रहे हैं वह महाबली काल है; यह काल तपमें रत, मन्द-मति, अज्ञानी और तपस्यालोभी उस जरत्कारुको पीडित करता हुआ धीरे धीरे क्षीण कर रहा है ॥ २५ ॥

न हि नस्तत्तपस्तस्य तारयिष्यति सत्तम ।
छिन्नमूलान्परिभ्रष्टान्कालोपहतचेतसः ।
नरकप्रतिष्ठान्पश्यास्मान्यथा दुष्कृतिनस्तथा ॥ २६ ॥

देखो, हे सज्जनश्रेष्ठ ! कटी हुई जडवाले, भ्रष्ट हुए, कालसे विनष्ट ज्ञानवाले तथा नरकमें पडे हुए हमें उस (जरत्कारु) की तपस्या भी उसी प्रकार बचा नहीं सकेगी जिस प्रकार दुष्ट कर्म करनेवालेको नहीं बचा सकती ॥ २६ ॥

अस्मासु पतितेष्वत्र सह पूर्वैः पितामहैः ।
छिन्नः कालेन सोऽप्यत्र गन्ता वै नरकं ततः ॥ २७ ॥

प्राचीन पितामहोंके साथ हमारे इस गढ्ढेमें गिर जानेपर जरत्कारु भी कालसे भक्षित होकर इस स्थानमें गिरकर नरकमें जायगा ॥ २७ ॥

तपो वाप्यथवा यज्ञो यच्चान्यत्पावनं महत् ।
तत्सर्वं न समं तात संतत्येति सतां मतम् ॥ २८ ॥

तपस्या, यज्ञ तथा पाप दूर करनेवाले जितने महत् कार्य हैं, वे सब पुत्रोत्पादनके तुल्य (महत्त्वपूर्ण) नहीं होते, ऐसा विद्वानोंका मत है ॥ २८ ॥

स तात दृष्ट्वा ब्रूयास्त्वं जरत्कारुं तपस्विनम् ।
यथादृष्टमिदं चास्मै त्वयाख्येयमशेषतः ॥ २९ ॥

हे तात ! आपने जैसा कुछ देखा, वह सब उस तपस्वी जरत्कारुसे मिलकर पूर्ण रूपसे कह देना ॥ २९ ॥

यथा दारान्प्रकुर्यात्स पुत्रांश्चोत्पादयेद्यथा।
तथा ब्रह्मंस्त्वया वाच्यः सोऽस्माकं नाथवत्तया ॥ ३० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥ १४९६ ॥

हे ब्रह्मन् ! आप हमारे नाथके समान हैं अतः उससे इस प्रकार कहना, कि जिससे वह जरत्कारु विवाह करके पुत्रोत्पादन करे ॥ ३० ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें इकतालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ४१ ॥ १४९६ ॥

: ४२ :

सूत उवाच

एतच्छ्रुत्वा जरत्कारुर्दुःखशोकपरायणः।
उवाच स्वान्पितॄन्दुःखाद्बाष्पसंदिग्धया गिरा ॥ १ ॥

सूत बोले– जरत्कारु पितरोंकी यह सब बात सुनकर अति दुःख और शोकसे युक्त होकर मनःपीडासे आंखोंमें आंसू भरकर गद्गद वाणीसे अपने पितरोंसे बोला ॥ १ ॥

अहमेव जरत्कारुः किल्बिषी भवतां सुतः।
तद्दण्डं धारयत मे दुष्कृतेरकृतात्मनः ॥ २ ॥

"मैं ही आपका पुत्र पापी जरत्कारु हूं; अकृतआत्मा मुझसे जो दोष हुआ है, उसका मुझे दण्ड दीजिये" ॥ २ ॥

पितर ऊचुः

पुत्र दिष्ट्यासि संप्राप्त इमं देशं यदृच्छया।
किमर्थं च त्वया ब्रह्मन्न कृतो दारसंग्रहः ॥ ३ ॥

पितर बोले– "पुत्र ! तुम इच्छानुसार घूमते हुए हमारे सौभाग्यसे इस देशमें आये हो; हे ब्रह्मन् ! तुमने अबतक किस कारण विवाह नहीं किया ?" ॥ ३ ॥

जरत्कारुरुवाच

ममायं पितरो नित्यं हृद्यर्थः परिवर्तते।
ऊर्ध्वरेताः शरीरं वै प्रापयेयममुत्र वै ॥ ४ ॥

जरत्कारु बोले– "पितृगण ! मेरे हृदयमें सदा यह बात घूमती रहती है, कि मैं ऊर्ध्वरेता होकर उस लोकमें भी शरीर प्राप्त करूं ॥ ४ ॥

एवं दृष्ट्वा तु भवतः शकुन्तानिव लम्बतः ।
मया निवर्तिता बुद्धिर्ब्रह्मचर्यात्पितामहाः ॥ ५ ॥

हे पितामहगण ! पर अब आपको यहां पक्षियोंके समान इस प्रकार लटकते हुए देखकर मैंने ब्रह्मचर्यसे चित्त हटा दिया है ॥ ५ ॥

करिष्ये वः प्रियं कामं निवेक्ष्ये नात्र संशयः ।
सनाम्नीं यद्यहं कन्यामुपलप्स्ये कदाचन ॥ ६ ॥

मैं आपका प्रियकार्य करूंगा; सन्देह नहीं है, पर यदि कभी अपने ही नामकी कन्या पाऊंगा तो मैं अवश्य विवाह करूंगा ॥ ६ ॥

भविष्यति च या काचिद्भैक्ष्यवत्स्वयमुद्यता ।
प्रतिग्रहीता तामस्मि न भरेयं च यामहम् ॥ ७ ॥

यदि कोई कन्या भिक्षाके समान स्वयं तैय्यार हो तथा मुझे जिसका पालन करना न पडे, उस कन्याको मैं स्वीकार करूंगा ॥ ७ ॥

एवंविधमहं कुर्यां निवेशं प्राप्नुयां यदि ।
अन्यथा न करिष्ये तु सत्यमेतत्पितामहाः ॥ ८ ॥

हे पितामहगण ! मैं सच कहता हूं, यदि ऐसी कन्या प्राप्त होगी तभी मैं विवाह करूंगा, इसके विपरीत होनेसे मैं विवाह नहीं कर सकूंगा ॥ ८ ॥

सूत उवाच

एवमुक्त्वा तु स पितॄंश्चचार पृथिवीं मुनिः ।
न च स्म लभते भार्यां वृद्धोऽयमिति शौनक ॥ ९ ॥

सूत बोले– हे शौनक ! वह मुनि जरत्कारु पितरोंसे यह बात कहकर संपूर्ण भूमण्डलमें घूमने लगा, पर "यह वृद्ध है" ऐसा जानकर किसीने उनको अपनी कन्या नहीं दी ॥ ९ ॥

यदा निर्वेदमापन्नः पितृभिश्चोदितस्तथा ।
तदारण्यं स गत्वोच्चैश्चुक्रोश भृशदुःखितः ॥ १० ॥

जब पितरोंसे प्रेरित हुआ हुआ जरत्कारु निराश हो गया, तब वनमें जाकर दुःखी हृदयसे जोर जोरसे चिल्लाने लगा ॥ १० ॥

यानि भूतानि सन्तीह स्थावराणि चराणि च ।
अन्तर्हितानि वा यानि तानि शृण्वन्तु मे वचः ॥ ११ ॥

इस स्थानमें स्थावर जङ्गमात्मक जितने प्राणी विराजमान हों और जो प्राणी छिपे हुए हों, वे सब मेरी बात सुनें ॥ ११ ॥

उग्रे तपसि वर्तन्तं पितरश्चोदयन्ति माम्।
निविशस्वेति दुःखार्तास्तेषां प्रियचिकीर्षया ॥ १२ ॥
निवेशार्थ्यखिलां भूमिं कन्याभैक्षं चरामि भोः।
दरिद्रो दुःखशीलश्च पितृभिः संनियोजितः ॥ १३ ॥

हे जीवो ! कठोर तपस्यामें रत रहनेवाले मुझे दुःखी पितरोंने प्रेरणा दी है कि तुम विवाह करो। अतः पितरोंके द्वारा प्रेरित हुआ हुआ मैं उनके प्रिय करनेकी इच्छासे सन्तानोत्पादनके निमित्त विवाह करनेके लिए सम्पूर्ण भूमण्डलमें कन्याकी भिक्षा मांग रहा हूं, मैं अति दरिद्र और दुःखी हूं ॥ १२-१३ ॥

यस्य कन्यास्ति भूतस्य ये मयेह प्रकीर्तिताः।
ते मे कन्यां प्रयच्छन्तु चरतः सर्वतो दिशम् ॥ १४ ॥

मैंने जिनसे यह बात कही है, यदि उनमेंसे किसी प्राणीकी कन्या हो तो वे सभी दिशाओंमें विचरनेवाले मुझे अपनी कन्या प्रदान करें ॥ १४ ॥

मम कन्या सनाम्नी या भैक्षवच्चोद्यता भवेत्।
भरेयं चैव यां नाहं तां मे कन्यां प्रयच्छत ॥ १५ ॥

जो कन्या मेरे नामकी ही हो और भिक्षाके समान मुझे मिले तथा जिसका पोषण मुझे न करना पडे वैसी कन्या मुझे दो ॥ १५ ॥

ततस्ते पन्नगा ये वै जरत्कारौ समाहिताः।
तामादाय प्रवृत्तिं ते वासुकेः प्रत्यवेदयन् ॥ १६ ॥

तब जो नाग जरत्कारुको ढूंढनेके लिए नियुक्त थे, उन्होंने वासुकिको यह समाचार ले जाकर कह सुनाया ॥ १६ ॥

तेषां श्रुत्वा स नागेन्द्रः कन्यां तां समलंकृताम्।
प्रगृह्यारण्यमगमत्समीपं तस्य पन्नगः ॥ १७ ॥

नागनाथ वासुकि यह बात सुनतेही सजी सजाई अपनी बहिनको लेकर वनमें उस ऋषिके पास गया ॥ १७ ॥

तत्र तां भैक्षवत्कन्यां प्रादात्तस्मै महात्मने।
नागेन्द्रो वासुकिर्ब्रह्मन्न स तां प्रत्यगृह्णत ॥ १८ ॥

और हे ब्रह्मन ! उस नागेन्द्र वासुकिने उस महात्मा मुनिको भिक्षाके समान वह कन्या देदी, पर जरत्कारुने उसको स्वीकार नहीं किया ॥ १८ ॥

असन्नामेति वै मत्वा भरणे चाविचारिते ।
मोक्षभावे स्थितश्चापि द्वन्द्वीभूतः परिग्रहे ॥ १९ ॥

वह सोचने लगे, कि यह कन्या संभवतः मेरे नामकी न भी हो और कदाचित् मुझे इसका पालन पोषण भी करना पडे । मोक्षके पथिक जरत्कारु उसको स्वीकार करते समय दुविधामें पड गए ॥ १९ ॥

ततो नाम स कन्यायाः पप्रच्छ भृगुनन्दन ।
वासुके भरणं चास्या न कुर्यामित्युवाच ह ॥ २० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥ १५१६ ॥

हे भृगुनन्दन ! तब उस ऋषिने वासुकिसे कन्याका नाम पूछा और कहा, कि मैं इसका भरण पोषण नहीं करूंगा ॥ २० ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें बयालिसवां अध्याय समाप्त ॥ ४२ ॥ १५१६ ॥

: ४३ :

सूत उवाच

वासुकिस्त्वब्रवीद्वाक्यं जरत्कारुमृषिं तदा ।
सनामा तव कन्येयं स्वसा मे तपसान्विता ॥ १ ॥

सूत बोले– तब वासुकिने जरत्कारु ऋषिसे यह वाक्य कहा, " तपस्विनी यह कन्या मेरी बहिन तुम्हारे नामवाली ही है ॥ १ ॥

भरिष्यामि च ते भार्यां प्रतीच्छेमां द्विजोत्तम ।
रक्षणं च करिष्येऽस्याः सर्वशक्त्या तपोधन ॥ २ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! तुम इसका ग्रहण करो, तुम्हारी स्त्रीका भरणपोषण मैं करूंगा और हे तपोधन ! अपनी संपूर्ण शक्ति लगाकर मैं इसकी रक्षा भी करूंगा ॥ २ ॥

प्रतिश्रुते तु नागेन भरिष्ये भगिनीमिति ।
जरत्कारुस्तदा वेश्म भुजगस्य जगाम ह ॥ ३ ॥

वासुकि नागके यह प्रतिज्ञा करनेपर, कि " मैं बहिनका पोषण करूंगा, " जरत्कारु वासुकि नागके घर गये ॥ ३ ॥

तत्र मन्त्रविदां श्रेष्ठस्तपोवृद्धो महाव्रतः।
जग्राह पाणिं धर्मात्मा विधिमन्त्रपुरस्कृतम् ॥ ४ ॥

वहां मन्त्र जाननेवालोंमें श्रेष्ठ तपोवृद्ध, महा व्रतशील, धर्मात्मा जरत्कारुने विधिपूर्वक मन्त्र पढकर पाणिग्रहण किया ॥ ४ ॥

ततो वासगृहं शुभ्रं पन्नगेन्द्रस्य संमतम्।
जगाम भार्यामादाय स्तूयमानो महर्षिभिः ॥ ५ ॥

तब महर्षियों द्वारा प्रशंसित होते हुए पत्नीको लेकर तक्षकके द्वारा बताये गए सफेद वासगृहमें गए ॥ ५ ॥

शयनं तत्र वै क्लृप्तं स्पर्ध्यास्तरणसंवृतम्।
तत्र भार्यासहायः स जरत्कारुरुवास ह ॥ ६ ॥

वहां सुन्दर चादरसे युक्त सुन्दर सेज बनायी गयी थी। वहां जरत्कारु स्त्रीके साथ रहने लगे ॥ ६ ॥

स तत्र समयं चक्रे भार्यया सह सत्तमः।
विप्रियं मे न कर्तव्यं न च वाच्यं कदाचन ॥ ७ ॥

साधुश्रेष्ठ ऋषिने वहां पत्नीके सामने यह शर्त रखी कि तुम कभी मेरा अप्रिय कार्य मत करना अथवा बात न कहना ॥ ७ ॥

त्यजेयमप्रिये हि त्वां कृते वासं च ते गृहे।
एतद्गृहाण वचनं मया यत्समुदीरितम् ॥ ८ ॥

तुम यदि मुझसे अप्रिय वचन बोलोगी या अप्रिय काम करोगी, तो मैं फिर तुम्हारे घरमें न रहूंगा और तुमको त्याग दूंगा; मैंने जो कुछ कहा है, उसे स्मरण रखना ॥ ८ ॥

ततः परमसंविग्ना स्वसा नागपतेस्तु सा।
अतिदुःखान्विता वाचं तमुवाचैवमस्त्विति ॥ ९ ॥

तब नागराज वासुकिकी बहिन जरत्कारुने अति शोकयुक्त और दुःखी होकर "एवमस्तु" कहकर वह बात मान ली ॥ ९ ॥

तथैव सा च भर्तारं दुःखशीलमुपाचरत्।
उपायैः श्वेतकाकीयैः प्रियकामा यशस्विनी ॥ १० ॥

पतिका प्रिय चाहनेवाली यशस्विनी नागेशकी बहिन कुत्ता, हरिण और कौवेके समान सावधानीसे दुःखी पतिकी सेवा करने लगी ॥ १० ॥

ऋतुकाले ततः स्नाता कदाचिद्वासुकेः स्वसा ।
भर्तारं तं यथान्यायमुपतस्थे महामुनिम् ॥ ११ ॥

कुछ कालके बाद वासुकिकी वहिन उस जरत्कारुने ऋतुस्नान कर महामुनि पतिके पास यथाविधि गमन किया ॥ ११ ॥

तत्र तस्याः समभवद्गर्भो ज्वलनसंनिभः ।
अतीव तपसा युक्तो वैश्वानरसमद्युतिः ।
शुक्लपक्षे यथा सोमो व्यवर्धत तथैव सः ॥ १२ ॥

तव उस जरत्कारुने अग्निके समान, अत्यधिक तपसे युक्त, अग्निके समान तेजस्वी गर्भ धारण किया और वह गर्भ दिनोंदिन उसी प्रकार बढने लगा, जिस प्रकार शुक्ल पक्षमें चन्द्रमा ॥ १२ ॥

ततः कतिपयाहस्य जरत्कारुर्महातपाः ।
उत्सङ्गेऽस्याः शिरः कृत्वा सुष्वाप परिखिन्नवत् ॥ १३ ॥

कुछ समयके बाद एक दिन अति तपस्वी जरत्कारु नागकी बहिन जरत्कारुकी गोदमें सिर रखकर थके-मादेके समान सो रहा था ॥ १३ ॥

तस्मिंश्च सुप्ते विप्रेन्द्रे सवितास्तमियाद्गिरिम् ।
अह्नः परिक्षये ब्रह्मंस्ततः साचिन्तयत्तदा ।
वासुकेर्भगिनी भीता धर्मलोपान्मनस्विनी ॥ १४ ॥

उस विप्रश्रेष्ठके सो जानेपर सूर्यदेव अस्ताचलकी चोटी पर चढ गये, तब हे ब्रह्मन्! दिनके समाप्त होनेपर मनस्विनी वासुकिकी वहन धर्मके लोप होनेके भयसे भीत होकर सोचने लगी ॥ १४ ॥

किं नु मे सुकृतं भूयाद्भर्तुरुत्थापनं न वा ।
दुःखशीलो हि धर्मात्मा कथं नास्यापराध्नुयाम् ॥ १५ ॥

कि इस समय मैं क्या करूं, पतिको नींदसे जगाना ठीक होगा या नहीं, ऐसा करनेसे दुःखशील धर्मात्मा पतिके निकट दोषी तो नहीं बनना पडेगा ॥ १५ ॥

कोपो वा धर्मशीलस्य धर्मलोपोऽथवा पुनः ।
धर्मलोपो गरीयान्वै स्यादत्रेत्यकरोन्मनः ॥ १६ ॥

नींदसे न जगानेसे इस धार्मिक पतिके धर्मके लोप होनेकी सम्भावना है और नींदसे जगानेसे भी क्रोधित हो सकते हैं; अन्तमें उसने मनमें निश्चय किया धर्मके लोप होनेके कारण होनेवाला पाप ज्यादा भयंकर होता है ॥ १६ ॥

उत्थापयिष्ये यद्येनं ध्रुवं कोपं करिष्यति ।
धर्मलोपो भवेदस्य सन्ध्यातिक्रमणे ध्रुवम् ॥ १७ ॥

इसमें सन्देह नहीं, कि यदि मैं इन्हें नींदसे उठाऊंगी, तो ये अवश्य ही क्रोधित होंगे, पर यदि सन्ध्याकाललंघन हो जाए; तो निःसन्देह धर्मका लोप होगा ॥ १७ ॥

इति निश्चित्य मनसा जरत्कारुर्भुजङ्गमा ।
तमृषिं दीप्ततपसं शयानमनलोपमम् ।
उवाचेदं वचः श्लक्ष्णं ततो मधुरभाषिणी ॥ १८ ॥

मधुर बोलनेवाली सर्पबहिन मनही मनमें ऐसा निश्चय करके सोये हुए अग्निके समान तेजस्वी तपसे प्रदीप्त ऋषिसे इस प्रकार मीठे शब्दोंमें बोली ॥ १८ ॥

उत्तिष्ठ त्वं महाभाग सूर्योऽस्तमुपगच्छति ।
सन्ध्यामुपास्स्व भगवन्नपः स्पृष्ट्वा यतव्रतः ॥ १९ ॥

"हे महाभाग, व्रतशील भगवन् ! सूर्यदेव अस्त हो रहे हैं, अतः आप उठिए और उठकर जल छू करके सन्ध्योपासन कीजिये ॥ १९ ॥

प्रादुष्कृताग्निहोत्रोऽयं मुहूर्तो रम्यदारुणः ।
सन्ध्या प्रवर्तते चेयं पश्चिमायां दिशि प्रभो ॥ २० ॥

अग्निहोत्रका समय आ पहुंचा है; यह मुहूर्त दारुण और रमणीय है; हे प्रभो ! पश्चिम दिशामें यह संध्या उपस्थित हो रही है।" ॥ २० ॥

एवमुक्तः स भगवाञ्जरत्कारुर्महातपाः ।
भार्यां प्रस्फुरमाणोष्ठ इदं वचनमब्रवीत् ॥ २१ ॥

पत्नीके यह बात कहनेपर महातपस्वी भगवान् जरत्कारु क्रोधसे होठोंको फडफडाते हुए अपनी पत्नीसे ये वचन बोले ॥ २१ ॥

अवमानः प्रयुक्तोऽयं त्वया मम भुजङ्गमे ।
समीपे ते न वत्स्यामि गमिष्यामि यथागतम् ॥ २२ ॥

"अरी सर्पिणी ! तूने मेरा इस प्रकारसे अपमान किया है ? मैं तेरे साथ अब न रहूंगा; जहां मन चाहेगा वहां चला जाऊंगा ॥ २२ ॥

न हि तेजोऽस्ति वामोरु मयि सुप्ते विभावसोः ।
अस्तं गन्तुं यथाकालमिति मे हृदि वर्तते ॥ २३ ॥

हे सुंदर जंघाओंवाली ! मैं निश्चित रूपसे जानता हूं, कि मेरे सोये रहने पर सूर्यदेव कभी भी उचित समयमें अस्त होनेके लिए समर्थ नहीं हैं ॥ २३ ॥

न चाप्यवमतस्येह वस्तुं रोचेत कस्यचित् ।
किं पुनर्धर्मशीलस्य मम वा मद्विधस्य वा ॥ २४ ॥

अपमानित होकर कोई भी पुरुष यहां रहना नहीं चाहेगा, फिर मेरे या मेरे जैसे किसी धर्मशील पुरुषकी तो बात ही क्या ? ॥ २४ ॥

एवमुक्ता जरत्कारुर्भर्त्रा हृदयकम्पनम् ।
अब्रवीद्भगिनी तत्र वासुकेः संनिवेशने ॥ २५ ॥

पतिके द्वारा इस हृदय कंपानेवाली बातको सुनकर वासुकिके घरमें रहती हुई उसकी बहिन जरत्कारु बोली ॥ २५ ॥

नावमानात्कृतवती तवाहं प्रतिबोधनम् ।
धर्मलोपो न ते विप्र स्यादित्येतत्कृतं मया ॥ २६ ॥

" हे विप्र ! मैंने अपमान करनेके निमित्त आपको नींदसे नहीं जगाया; अपितु आपका धर्म लोप न होने पावे इसलिए मैंने यह कार्य किया॥ " २६ ॥

उवाच भार्यामित्युक्तो जरत्कारुर्महातपाः ।
ऋषिः कोपसमाविष्टस्त्यक्तुकामो भुजङ्गमाम् ॥ २७ ॥

अपनी स्त्रीके ऐसा कहने पर उस सर्पिणीको छोडनेकी अभिलाषावाले क्रोधित एवं महातपस्वी ऋषि जरत्कारु अपनी स्त्रीसे यह बोले ॥ २७ ॥

न मे वागनृतं प्राह गमिष्येऽहं भुजङ्गमे ।
समयो ह्येष मे पूर्वं त्वया सह मिथः कृतः ॥ २८ ॥

" हे सर्पिणी ! मेरी वाणी कभी झूठ नहीं बोलती; मैं अवश्य जाऊंगा; मैंने पहिले ही तेरे सामने एकान्तमें यह शर्त रख दी थी ॥ २८ ॥

सुखमस्म्युषितो भद्रे ब्रूयास्त्वं भ्रातरं शुभे ।
इतो मयि गते भीरु गतः स भगवानिति ।
त्वं चापि मयि निष्क्रान्ते न शोकं कर्तुमर्हसि ॥ २९ ॥

भद्रे ! मेरे यहांसे चले जानेपर अपने भाईसे कहना कि मुनि चले गये हैं और मैं यहां जितने दिनोंतक रहा परम सुखसे रहा; हे भीरु ! मेरे जानेपर तू भी शोकसे विकल मत होना " ॥ २९ ॥

इत्युक्ता सानवद्याङ्गी प्रत्युवाच पतिं तदा।
जरत्कारुं जरत्कारुश्चिन्ताशोकपरायणा ॥ ३० ॥
बाष्पगद्गदया वाचा मुखेन परिशुष्यता।
कृताञ्जलिर्वरारोहा पर्यश्रुनयना ततः।
धैर्यमालम्ब्य वामोरूर्हृदयेन प्रवेपता ॥ ३१ ॥

इस प्रकार कहे जानेपर अनिन्दित अंगोंवाली चिन्ता और शोकसे व्याकुल, कमलके समान सुन्दर और सुन्दर जांघोंवाली वह जरत्कारु आंसुओंसे भरी हुई आंखोंवाली होकर कांपते हुए हृदयसे, सूखते हुए मुखसे किसी प्रकार धैर्य धारण करके आंसुओंके कारण रुंधे हुए कण्ठसे अपने पति जरत्कारुसे बोली ॥ ३०-३१ ॥

न मामर्हसि धर्मज्ञ परित्यक्तुमनागसम्।
धर्मे स्थितां स्थितो धर्मे सदा प्रियहिते रताम् ॥ ३२ ॥

"हे धर्मको जाननेवाले ! धर्ममें रहनेवाले आपके लिए सदा पतिके हितमें रत रहनेवाली, धर्मके मार्गपर चलनेवाली और निरपराधिनी मुझे त्याग देना उचित नहीं है ॥ ३२ ॥

प्रदाने कारणं यच्च मम तुभ्यं द्विजोत्तम।
तदलब्धवतीं मन्दां किं मां वक्ष्यति वासुकिः ॥ ३३ ॥

हे द्विजोंमें श्रेष्ठ ! जिस अभिप्रायसे मेरे भाईने आपसे मेरा विवाह कराया था, उसे प्राप्त न करनेवाली मुझ मन्द भाग्यवालीसे वासुकि क्या कहेगा ? ॥ ३३ ॥

मातृशापाभिभूतानां ज्ञातीनां मम सत्तम।
अपत्यमीप्सितं त्वत्तस्तच्च तावन्न दृश्यते ॥ ३४ ॥

हे साधुश्रेष्ठ ! माताके शापसे कातर मेरे स्वगणोंने आपके वीर्यसे मेरे गर्भमें एक सन्तानकी इच्छा की थी जो मुझे दिखाई नहीं देती ॥ ३४ ॥

त्वत्तो ह्यपत्यलाभेन ज्ञातीनां मे शिवं भवेत्।
संप्रयोगो भवेन्नायं मम मोघस्त्वया द्विज ॥ ३५ ॥

आपके वीर्यसे पुत्र उत्पन्न होनेसे मेरे स्वगणोंका मंगल होगा, अतः हे द्विजश्रेष्ठ ! तुम्हारे साथ मेरा यह मिलन व्यर्थ न हो ॥ ३५ ॥

ज्ञातीनां हितमिच्छन्ती भगवंस्त्वां प्रसादये।
इममव्यक्तरूपं मे गर्भमाधाय सत्तम।
कथं त्यक्त्वा महात्मा सन्गन्तुमिच्छस्यनागसम् ॥ ३६ ॥

हे भगवन् ! मैं स्वजनोंके हितकी इच्छासे प्रार्थना करती हूं कि आप प्रसन्न होवें। हे साधु श्रेष्ठ ! यह अव्यक्तरूप गर्भ मेरे अन्दर स्थापित करके तुम महात्मा क्यों निर्दोषी पत्नीको तजकर जाना चाहते हो" ॥ ३६ ॥

एवमुक्तस्तु स मुनिर्भार्यां वचनमब्रवीत् ।
यद्युक्तमनुरूपं च जरत्कारुस्तपोधनः ॥ ३७ ॥

पत्नीकी ऐसी बातें सुनकर तपोधन मुनि जरत्कारुने पत्नीसे कालोचित वचन कहे ॥ ३७ ॥

अस्त्येष गर्भः सुभगे तव वैश्वानरोपमः ।
ऋषिः परमधर्मात्मा वेदवेदाङ्गपारगः ॥ ३८ ॥

"हे सुभगे ! अग्निके समान तेजस्वी, परम धार्मिक, वेदवेदाङ्गोंमें निपुण एक ऋषि तुम्हारे गर्भमें विराज रहे हैं" ॥ ३८ ॥

एवमुक्त्वा स धर्मात्मा जरत्कारुर्महानृषिः ।
उग्राय तपसे भूयो जगाम कृतनिश्चयः । ॥ ३९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥ १५५५ ॥

धर्मात्मा महर्षि जरत्कारु पत्नीसे यह कहकर फिर कठोर तप करनेका प्रण ठानकर चले गये ॥ ३९ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें तैतालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ४३ ॥ १५५५ ॥

: ४४ :

सूत उवाच

गतमात्रं तु भर्तारं जरत्कारुरवेदयत् ।
भ्रातुस्त्वरितमागम्य यथातथ्यं तपोधन ॥ १ ॥

सूत बोले– हे तपोधन शौनक ! पतिके जाते ही जरत्कारुने भाईके निकट शीघ्र जाकर संपूर्ण वृत्तान्त ठीक ठीक कह सुनाया ॥ १ ॥

ततः स भुजगश्रेष्ठः श्रुत्वा सुमहदप्रियम् ।
उवाच भगिनीं दीनां तदा दीनतरः स्वयम् ॥ २ ॥

तब वह सर्पश्रेष्ठ वासुकि इस अत्यन्त अप्रिय बातको सुनकर स्वयं भी दीन होते हुए दीना बहिनसे बोला ॥ २ ॥

जानासि भद्रे यत्कार्यं प्रदाने कारणं च यत्।
पन्नगानां हितार्थाय पुत्रस्ते स्यात्ततो यदि ॥ ३ ॥
स सर्पसत्रात्किल नो मोक्षयिष्यति वीर्यवान्।
एवं पितामहः पूर्वमुक्तवान्मां सुरैः सह ॥ ४ ॥

" हे भद्रे ! हमारा जो अभिप्राय है और जिस अभिप्रायसे तुम्हारा विवाह किया था, वह तो तुम जानती हो; सर्पोंके हितके निमित्त तुम्हारे (गर्भमें उस ऋषिके वीर्यसे) यदि एक पुत्रका जन्म हो तो वह वीर्यवान् पुत्र हम सर्पोंको सर्पयज्ञसे बचावेगा, यह बात पितामह प्रजापतिने पूर्वकालमें देवोंके साथ मुझसे कही थी ॥ ३–४ ॥

अप्यस्ति गर्भः सुभगे तस्मात्ते मुनिसत्तमात्।
न चेच्छाम्यफलं तस्य दारकर्म मनीषिणः ॥ ५ ॥

हे सुभगे ! उस मुनिश्रेष्ठसे तुम्हारे गर्भ स्थिर हुआ है या नहीं ? मैं चाहता हूं कि उस बुद्धिमान् ऋषिका विवाह कर्म निष्फल न होवे ॥ ५ ॥

कामं च मम न न्याय्यं प्रष्टुं त्वां कार्यमीदृशम्।
किं तु कार्यगरीयस्त्वात्ततस्त्वाहमचूचुदम् ॥ ६ ॥

यद्यपि तुमसे ऐसा प्रश्न करना मेरे लिये अनुचित है तो भी इसे अपना गुरुकार्य जानके ही ऐसा अनुचित प्रश्न कर रहा हूं ॥ ६ ॥

दुर्वासतां विदित्वा च भर्तुस्तेऽतितपस्विनः।
नैनमन्वागमिष्यामि कदाचिद्धि शपेत्स माम् ॥ ७ ॥

महातपस्वी तुम्हारे पतिके क्रोधको जानकर मैं उनके पीछे नहीं जा रहा हूं शायद वह मुझे शाप भी दे दें ॥ ७ ॥

आचक्ष्व भद्रे भर्तुस्त्वं सर्वमेव विचेष्टितम्।
शल्यमुद्धर मे घोरं भद्रे हृदि चिरस्थितम् ॥ ८ ॥

भद्रे ! अपने पतिके संपूर्ण कार्योंको विशेष रीतिसे कहो और हे भद्रे ! मेरे हृदयमें बहुत दिनोंसे गडे हुए इस कठोर शल्यको उखाड डालो " ॥ ८ ॥

जरत्कारुस्ततो वाक्यमित्युक्ता प्रत्यभाषत।
आश्वासयन्ती संतप्तं वासुकिं पन्नगेश्वरम् ॥ ९ ॥

जरत्कारु यह बात सुनकर दुःखसे कातर सर्पपति वासुकिको ढाढस देकर बोली ॥ ९ ॥

पृष्टो मयापत्यहेतोः स महात्मा महातपाः ।
अस्तीत्युदरमुद्दिश्य ममेदं गतवांश्च सः　　　　॥ १० ॥

मैंने उस महात्मा महातपस्वी पतिसे सन्तानकी बात पूछी थी, उस पर वह मुझे " सन्तान तेरे गर्भमें है " यह उत्तर देकर चले गए ॥ १० ॥

स्वैरेष्वपि न तेनाहं स्मरामि वितथं क्वचित् ।
उक्तपूर्वं कुतो राजन्सांपराये स वक्ष्यति　　　　॥ ११ ॥

मुझको स्मरण है, कि उन्होंने हंसीमें भी कभी पहले झूठ नहीं कहा फिर इस विपत्तिके समय झूठ क्यों बोलेंगे ॥ ११ ॥

न संतापस्त्वया कार्यः कार्यं प्रति भुजङ्गमे ।
उत्पत्स्यति हि ते पुत्रो ज्वलनार्कसमद्युतिः　　　　॥ १२ ॥

(उन्होंने मुझे कहा है कि) हे भुजंगमे ! तुम अपने प्रयोजनके लिए संताप न करो, क्योंकि तुम्हारे अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी एक पुत्र उत्पन्न होगा ॥ १२ ॥

इत्युक्त्वा हि स मां भ्रातर्गतो भर्ता तपोवनम् ।
तस्माद्व्येतु परं दुःखं तवेदं मनसि स्थितम्　　　　॥ १३ ॥

हे भाई ! मेरे वह पति यह कह करके तपोवन चले गये; अतएव तुम्हारे मनमें स्थित यह परम दुःख दूर हो ॥ १३ ॥

एतच्छ्रुत्वा स नागेन्द्रो वासुकिः परया मुदा ।
एवमस्त्विति तद्वाक्यं भगिन्याः प्रत्यगृह्णत　　　　॥ १४ ॥

नागनाथ वासुकिने यह बात सुनकर बहुत आनन्दसे " एवमस्तु " कहकर बहिनकी वह बात मान ली ॥ १४ ॥

सान्त्वमानार्थदानैश्च पूजया चानुरूपया ।
सोदर्यां पूजयामास स्वसारं पन्नगोत्तमः　　　　॥ १५ ॥

इसके बाद सांपोंमें श्रेष्ठ वासुकिने शान्त हुई हुई अपनी बहिनको धन देकर यथोचित पूजासे सम्मान किया ॥ १५ ॥

ततः स ववृधे गर्भो महातेजा रविप्रभः ।
यथा सोमो द्विजश्रेष्ठ शुक्लपक्षोदितो दिवि　　　　॥ १६ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! आकाशमें उदय हुए शुक्ल पक्षके चन्द्रमाके समान सूर्यके प्रकाशके समान बडा तेजोवान् वह गर्भ दिनोंदिन बढने लगा ॥ १६ ॥

यथाकालं तु सा ब्रह्मन्प्रजज्ञे भुजगस्वसा ।
कुमारं देवगर्भाभं पितृमातृभयापहम् ॥ १७ ॥

हे ब्रह्मन् ! आगे समय आने पर उस सर्पकी बहिनने पितृमातृकुलोंके भयके नाशक देवगर्भके समान तेजस्वी एक पुत्रका प्रसव किया ॥ १७ ॥

ववृधे स च तत्रैव नागराजनिवेशने ।
वेदांश्चाधिजगे साङ्गान्भार्गवाच्च्यवनात्मजात् ॥ १८ ॥

कुमार उस नागराजके घरमें ही बढने लगा तथा च्यवनके पुत्र भार्गवसे वह अंगोंसे सहित वेदोंको पढने लगा ॥ १८ ॥

चरितव्रतो बाल एव बुद्धिसत्त्वगुणान्वितः ।
नाम चास्याभवत्ख्यातं लोकेष्वास्तीक इत्युत ॥ १९ ॥

वह बालपनहीसे सत्त्वगुणवाली बुद्धिसे युक्त और व्रतनिष्ठ था। वह "आस्तीक" नामसे लोकोंमें प्रसिद्ध हुआ ॥ १९ ॥

अस्तीत्युक्त्वा गतो यस्मात्पिता गर्भस्थमेव तम् ।
वनं तस्मादिदं तस्य नामास्तीकेति विश्रुतम् ॥ २० ॥

वह जब गर्भमें था, तब उसके पिता "अस्ति" यह बात कहकर वनको सिधारे थे, इस लिये उसका नाम आस्तीक हुआ ॥ २० ॥

स बाल एव तत्रस्थश्चरन्नमितबुद्धिमान् ।
गृहे पन्नगराजस्य प्रयत्नात्पर्यरक्ष्यत ॥ २१ ॥

असाधारण बुद्धिमान् आस्तीक बालपनमें सर्पराजके घरमें रहकर वासुकिके यत्नसे भली भांति रक्षित हुए ॥ २१ ॥

भगवानिव देवेशः शूलपाणिर्हिरण्यदः ।
विवर्धमानः सर्वांस्तान्पन्नगानभ्यहर्षयत् ॥ २२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥ १५७७ ॥

प्रकाशमान् भगवान् देवोंके देव शूलधारीके समान दिनोंदिन बढता हुआ सम्पूर्ण सर्पोंको आनन्द देने लगे ॥ २२ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें चौवालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ४४ ॥ ॥ १५७७ ॥

: ४५ :

शौनक उवाच

यदपृच्छत्तदा राजा मन्त्रिणो जनमेजयः।
पितुः स्वर्गगतिं तन्मे विस्तरेण पुनर्वद ॥ १ ॥

शौनक बोले— राजा जनमेजयने पिताके परलोक जानेके विषयमें मन्त्रियोंसे जो कुछ पूछा था, उसे फिर विस्तारपूर्वक कहो ॥ १ ॥

सूत उवाच

शृणु ब्रह्मन्यथा पृष्टा मन्त्रिणो नृपतेस्तदा।
आख्यातवन्तस्ते सर्वे निधनं तत्परिक्षितः ॥ २ ॥

सूत बोले— ब्रह्मन् ! राजाने मन्त्रियोंसे जैसा पूछा था और मन्त्रियोंने परिक्षित्की स्वर्ग-प्राप्तिके विषयमें जैसा वर्णन किया था वह सुनिये ॥ २ ॥

जनमेजय उवाच

जानन्ति तु भवन्तस्तद्यथावृत्तः पिता मम।
आसीद्यथा च निधनं गतः काले महायशाः ॥ ३ ॥

जनमेजयने पूछा— "हे मन्त्रियो ! मेरे पिताका जैसा चरित्र था और वह महायशस्वी नरेश कालवश जिस प्रकार मृत्युको प्राप्त हुए, वह आप भली प्रकार जानते हैं ॥ ३ ॥

श्रुत्वा भवत्सकाशाद्धि पितुर्वृत्तमशेषतः।
कल्याणं प्रतिपत्स्यामि विपरीतं न जातुचित् ॥ ४ ॥

मैं आपसे पिताका सम्पूर्ण चरित्र सुनकर जैसे मङ्गल हो सके वही करूंगा, उसके विपरीत कभी भी कुछ भी नहीं करूंगा" ॥ ४ ॥

सूत उवाच

मन्त्रिणोऽथाब्रुवन्वाक्यं पृष्टास्तेन महात्मना।
सर्वधर्मविदः प्राज्ञा राजानं जनमेजयम् ॥ ५ ॥

सूत बोले— उस महात्माके इस प्रकार पूछनेपर सब धर्मोंको जाननेवाले और बुद्धिमान् मन्त्रियोंने राजा जनमेजयसे कहा ॥ ५ ॥

धर्मात्मा च महात्मा च प्रजापालः पिता तव।
आसीदिह यथावृत्तः स महात्मा शृणुष्व तत् ॥ ६ ॥

"आपके पिता जैसे धर्मात्मा, महात्मा तथा प्रजापालक थे, तथा वे महात्मा जिस प्रकार चरित्रवान् होकर यहां रहे, वह हम कहते हैं, सुनो ॥ ६ ॥

चातुर्वर्ण्यं स्वधर्मस्थं स कृत्वा पर्यरक्षत ।
धर्मतो धर्मविद्राजा धर्मो विग्रहवानिव ॥ ७ ॥

धर्मशील राजा साक्षात् धर्मके अवतारके समान धर्म-पथका अवलम्बन करके चारों वर्णोंको निज निज धर्ममें स्थापित करके प्रजाकी रक्षा करते थे ॥ ७ ॥

ररक्ष पृथिवीं देवीं श्रीमानतुलविक्रमः ।
द्वेष्टारस्तस्य नैवासन्स च न द्वेष्टि कंचन ।
समः सर्वेषु भूतेषु प्रजापतिरिवाभवत् ॥ ८ ॥

अतुल विक्रमी श्रीमान् राजा पृथ्वीदेवीकी भली प्रकार रक्षा करते थे; उनका द्वेषी कोई नहीं था; वह भी किसीसे द्वेष नहीं करते थे; वह प्रजापतिके समान सब प्रजाको समान दृष्टिसे देखते थे और कभी पक्षपात नहीं करते थे ॥ ८ ॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चैव स्वकर्मसु ।
स्थिताः सुमनसो राजंस्तेन राज्ञा स्वनुष्ठिताः ॥ ९ ॥

हे राजन्! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सब राजासे सुरक्षित होकर प्रसन्नचित्तसे अपने अपने कार्यमें लगे रहते थे ॥ ९ ॥

विधवानाथकृपणान्विकलांश्च बभार सः ।
सुदर्शः सर्वभूतानामासीत्सोम इवापरः ॥ १० ॥

वह विधवा, अनाथ, दीन दुःखियोंका पोषण करते थे और दूसरे चन्द्रमाकी भांति सब प्रजाओंके नेत्रोंके लिए आनन्ददायी थे ॥ १० ॥

तुष्टपुष्टजनः श्रीमान्सत्यवाग्दृढविक्रमः ।
धनुर्वेदे तु शिष्योऽभून्नृपः शारद्वतस्य सः ॥ ११ ॥

उस श्रीमान्, सत्यवादी, दृढविक्रमी, महीपालसे सब लोग ही प्रसन्न और पुष्ट होते थे; हे जनमेजय! ऐसे गुणवान् आपके पिता धनुर्वेदमें शारद्वतके शिष्य थे ॥ ११ ॥

गोविन्दस्य प्रियश्चासीत्पिता ते जनमेजय ।
लोकस्य चैव सर्वस्य प्रिय आसीन्महायशाः ॥ १२ ॥

हे जनमेजय! आपके पिता गोविन्दके प्रियपात्र थे; वे महायशस्वी सभी लोगोंके प्रिय थे ॥ १२ ॥

परिक्षीणेषु कुरुषु उत्तरायामजायत ।
परिक्षिदभवत्तेन सौभद्रस्यात्मजो बली ॥ १३ ॥

कुरुकुलके क्षय हो जाने पर अभिमन्युके पुत्र उस बलवान् परिक्षित्ने उत्तराके गर्भसे जन्म लिया था, इस हेतु उनका नाम परिक्षित् पड़ा ॥ १३ ॥

राजधर्मार्थकुशलो युक्तः सर्वगुणैर्नृपः ।
जितेन्द्रियश्चात्मवांश्च मेधावी वृद्धसेवितः ॥ १४ ॥

वे राजा राजधर्म और अर्थमें निपुण, सर्व गुणोंसे भूषित, जितेन्द्रिय, आत्मवान् मेधायुक्त तथा वृद्धों द्वारा सेवित थे ॥ १४ ॥

षड्वर्गविन्महाबुद्धिर्नीतिधर्मविदुत्तमः ।
प्रजा इमास्तव पिता षष्टिं वर्षाण्यपालयत् ।
ततो दिष्टान्तमापन्नः सर्पेणानतिवर्तितम् ॥ १५ ॥

कामक्रोधादिके अवशीभूत, महाबुद्धियुक्त और नीति और धर्ममें अच्छे पण्डित आपके पिताने साठ वर्षतक इन प्रजाओंका पालन किया। फिर सर्पके द्वारा काट लिए जाने पर मृत्युको प्राप्त हुए ॥ १५ ॥

ततस्त्वं पुरुषश्रेष्ठ धर्मेण प्रतिपेदिवान् ।
इदं वर्षसहस्राय राज्यं कुरुकुलागतम् ।
बाल एवाभिजातोऽसि सर्वभूतानुपालकः ॥ १६ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! उसके पश्चात् आपने कुरुकुलसे क्रमागत इस राज्यको हजार वर्षोंतक शासन करनेके लिए धर्मानुसार प्राप्त किया है और बालपनहीसे आप संपूर्ण प्रजाके पालक हुए हैं ॥ १६ ॥

जनमेजय उवाच

नास्मिन्कुले जातु बभूव राजा यो न प्रजानां हितकृत्प्रियश्च ।
विशेषतः प्रेक्ष्य पितामहानां वृत्तं महद्वृत्तपरायणानाम् ॥ १७ ॥

जनमेजय बोले– लोकोंमें असाधारण कीर्तिमान् पिछले पितामहोंके चरित्रोंको जानकर मुझे ज्ञात होता है कि इस वंशमें कभी ऐसा कोई राजा नहीं हुआ कि जो प्रजाओंका हित और उनका प्रिय करनेवाला न हुआ हो ॥ १७ ॥

कथं निधनमापन्नः पिता मम तथाविधः ।
आचक्ष्व यथावन्मे श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ १८ ॥

अतएव मैं यह सुनना चाहता हूं, कि वैसे गुणशील होने पर भी मेरे पिता किस हेतु मृत्युको प्राप्त हुए; तुम यथावत् कहो ॥ १८ ॥

सूत उवाच

एवं संचोदिता राज्ञा मन्त्रिणस्ते नराधिपम्।
ऊचुः सर्वे यथावृत्तं राज्ञः प्रियहिते रताः ॥ १९ ॥

सूत बोले– राजाके हितैषी मन्त्रीगण राजासे इस प्रकार पूछे जाकर राजासे यथाविधि आद्योपान्त वृत्तान्त कहने लगे ॥ १९ ॥

बभूव मृगयाशीलस्तव राजन्पिता सदा।
यथा पाण्डुर्महाभागो धनुर्धरवरो युधि।
अस्मास्वासज्य सर्वाणि राजकार्याण्यशेषतः ॥ २० ॥

हे राजन्! जिस प्रकार पाण्डु थे, उसी प्रकार युद्धमें धनुष धारण करनेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ तुम्हारे पिता सारे राज्यकार्योंको हम पर सौंप कर सदा ही शिकार खेलनेमें व्यस्त रहते थे ॥ २० ॥

स कदाचिद्वनचरो मृगं विव्याध पत्रिणा।
विद्ध्वा चान्वसरत्तूर्णं तं मृगं गहने वने ॥ २१ ॥

राजाने एक दिन उस वनमें विचरनेवाले बाणसे एक हिरणको मारा तथा उसे मार कर वह राजा भी उस घने वनमें उस हिरणके पीछे लग गया ॥ २१ ॥

पदातिर्बद्धनिस्त्रिंशस्तातायुधकलापवान्।
न चाससाद गहने मृगं नष्टं पिता तव ॥ २२ ॥

खड्गको कमरसें बांधे तरकशसे सजधज कर पैदल चलनेवाले तुम्हारे पिता उस घने वनमें गायब हुए हुए हिरणको प्राप्त नहीं कर पाये ॥ २२ ॥

परिश्रान्तो वयःस्थश्च षष्टिवर्षो जरान्वितः।
क्षुधितः स महारण्ये ददर्श मुनिमन्तिके ॥ २३ ॥

वह साठ वर्षकी आयुमें पहुंचे थे और बूढे हो गये थे, इस हेतु थक गये और भूखसे कातर होकर उन्होंने उस घोर वनमें पासमें एक मुनिको देखा ॥ २३ ॥

स तं पप्रच्छ राजेंद्रो मुनिं मौनव्रतान्वितम्।
न च किंचिदुवाचैनं स मुनिः पृच्छतोऽपि सन् ॥ २४ ॥

मौनव्रतका अवलम्बन किये हुए उस मुनिको राजाने (भागे हुए मृगके बारेमें) पूछा। पर पूछे जानेपर भी उस मुनिने इस राजाको कोई उत्तर नहीं दिया ॥ २४ ॥

ततो राजा क्षुच्छ्रमार्तस्तं मुनिं स्थाणुवत्स्थितम् ।
मौनव्रतधरं शान्तं सद्यो मन्युवशं ययौ ॥ २५ ॥

तब भूख और थकावटसे कातर राजा खम्भेके समान बैठे हुए मौनव्रतधारी उस ऋषिको बात न बोलते देखकर उसीक्षण क्रोधयुक्त हो गये ॥ २५ ॥

न बुबोध हि तं राजा मौनव्रतधरं मुनिम् ।
स तं मन्युसमाविष्टो धर्षयामास ते पिता ॥ २६ ॥

आपके पिता नहीं जानते थे, कि वह मुनि मौनव्रत धारण किये हुए हैं, इससे उन्होंने क्रोध-युक्त होकर उनका अपमान किया ॥ २६ ॥

मृतं सर्पं धनुष्कोटया समुत्क्षिप्य धरातलात् ।
तस्य शुद्धात्मनः प्रादात्स्कन्धे भरतसत्तम ॥ २७ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! राजाने धनुषकी नोकसे धरती परसे एक मृत सर्पको उठाकर उस पवित्रात्मा मुनिके गलेमें लपेट दिया ॥ २७ ॥

न चोवाच स मेधावी तमथो साध्वसाधु वा ।
तस्थौ तथैव चाक्रुध्यन्सर्पं स्कन्धेन धारयन् ॥ २८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥ १६०५ ॥

तब भी उस मेधायुक्त मुनिने भला या बुरा कुछ भी नहीं कहा, और उस राजा पर जरा भी क्रोध न करके वे अपने गलेमें मरे सर्पको लपेटे उसी प्रकार बैठे रहे ॥ २८ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें पैंतालिसवां अध्याय समाप्त ॥ ४५ ॥ १६०५ ॥

: ४६ :

मन्त्रिण ऊचुः

ततः स राजा राजेन्द्र स्कन्धे तस्य भुजङ्गमम् ।
मुनेः क्षुत्क्षाम आसज्य स्वपुरं पुनराययौ ॥ १ ॥

मन्त्रीगण बोले– हे राजेन्द्र ! आपके पिता यह राजा भूखसे कातर होकर और उस मुनिके गलेमें मृत सर्प लपेट कर नगरमें लौट आये ॥ १ ॥

ऋषेस्तस्य तु पुत्रोऽभूद्गवि जातो महायशाः ।
शृङ्गी नाम महातेजास्तिग्मवीर्योऽतिकोपनः ॥ २ ॥

उस ऋषिके गौके गर्भसे जन्म लिये हुए महायशस्वी, महातेजस्वी, तीक्ष्ण वीर्यवाले और अति क्रोधी शृंगी नामक एक पुत्र थे ॥ २ ॥

ब्रह्माणं सोऽभ्युपागम्य मुनिः पूजां चकार ह।
अनुज्ञातो गतस्तत्र शृङ्गी शुश्राव तं तदा।
सख्युः सकाशात्पितरं पित्रा ते धर्षितं तथा ॥ ३ ॥

उस शृंगी मुनिने ब्रह्माके निकट जाकर उनकी पूजा की। उनकी आज्ञासे आश्रमको लौटे आ रहे थे कि पथमें अपने साथीसे तुम्हारे पिताके द्वारा किए गए अपने पिताके अपमानकी बात सुनी ॥ ३ ॥

मृतं सर्पं समासक्तं पित्रा ते जनमेजय।
वहन्तं कुरुशार्दूल स्कन्धेनानपकारिणम् ॥ ४ ॥

हे कुरुओंमें सिंहवत् जनमेजय! तुम्हारे पिताने अपकार न करनेवाले मुनिके गलेमें मरा सर्प लपेट दिया है और वे मुनि उसी प्रकार अपने गलेमें मरे सर्पको डाले बैठे हैं ॥४॥

तपस्विनमतीवाथ तं मुनिप्रवरं नृप।
जितेन्द्रियं विशुद्धं च स्थितं कर्मण्यथाद्भुते ॥ ५ ॥

हे राजन्! वह मुनि तपस्वी, मुनिश्रेष्ठ जितेन्द्रिय विशुद्ध तथा तपरूपी अद्भुत कर्ममें रत थे ॥ ५ ॥

तपसा द्योतितात्मानं स्वेष्वङ्गेषु यतं तथा।
शुभाचारं शुभकथं सुस्थितं तमलोलुपम् ॥ ६ ॥

तपस्यासे प्रकाशमान आत्मावाले, तथा अपने अंगोंमें रत, सदा शुभाचारमें रत, सत्क्रियामें स्थित, लोभवर्जित, सुस्थित ॥ ६ ॥

अक्षुद्रमनसूयं च वृद्धं मौनव्रते स्थितम्।
शरण्यं सर्वभूतानां पित्रा विप्रकृतं तव ॥ ७ ॥

अक्षुद्र, असूयारहित वृद्ध, मौनव्रतमें स्थित सर्वभूतोंको शरण देने योग्य मुनिका तुम्हारे पिताने अपमान किया ॥ ७ ॥

शशापाथ स तच्छ्रुत्वा पितरं ते रुषान्वितः।
ऋषेः पुत्रो महातेजा बालोऽपि स्थविरैर्वरः ॥ ८ ॥

बालक होते हुए भी वृद्धोंके द्वारा वरणीय महातेजस्वी उस ऋषिके पुत्रने यह सुनकर क्रोधित हो तुम्हारे पिताको शाप दिया ॥ ८ ॥

स क्षिप्रमुदकं स्पृष्ट्वा रोषादिदमुवाच ह।
पितरं तेऽभिसंधाय तेजसा प्रज्वलन्निव ॥ ९ ॥

तेजसे जलते हुएके समान उसने क्रोधसे शीघ्र ही जल छूकर तेरे पिताको लक्ष्य करके यह कहा ॥ ९ ॥

अनागसि गुरौ यो मे मृतं सर्पमवासृजत् ।
तं नागस्तक्षकः क्रुद्धस्तेजसा सादयिष्यति ।
सप्तरात्रादितः पापं पश्य मे तपसो बलम् ॥ १० ॥

कि जिसने विना अपराधवाले मेरे पिताके गलेमें मृत सर्प डाला है, उस पापीको क्रुद्ध तक्षक सर्प आजसे सातवीं रात तेजसे जला देगा; हे मित्र ! मेरे तपोबलको देखो ॥ १० ॥

इत्युक्त्वा प्रययौ तत्र पिता यत्रास्य सोऽभवत् ।
दृष्ट्वा च पितरं तस्मै शापं तं प्रत्यवेदयत् ॥ ११ ॥

शृंगी यह बात कहकर जहां उसके पिता थे, वहां गए और पिताको देखकर उससे शाप देनेका वृत्तान्त कह सुनाया ॥ ११ ॥

स चापि मुनिशार्दूलः प्रेषयामास ते पितुः ।
शप्तोऽसि मम पुत्रेण यत्तो भव महीपते ।
तक्षकस्त्वां महाराज तेजसा सादयिष्यति ॥ १२ ॥

उस मुनिशार्दूल शमीकने आपके पिताके निकट यह समाचार भेजा कि हे राजन् ! मेरे पुत्रने तुमको शाप दिया है । सावधान हो जाओ, हे महाराज ! तक्षक तुमको तेज द्वारा जलायेगा ॥ १२ ॥

श्रुत्वा तु तद्वचो घोरं पिता ते जनमेजय ।
यत्तोऽभवत्परित्रस्तस्तक्षकात्पन्नगोत्तमात् ॥ १३ ॥

हे जनमेजय ! तुम्हारे पिता यह कठोर बात सुनकर नागोत्तम तक्षकके भयसे डरकर सावधान हो गए ॥ १३ ॥

ततस्तस्मिंस्तु दिवसे सप्तमे समुपस्थिते ।
राज्ञः समीपं ब्रह्मर्षिः काश्यपो गन्तुमैच्छत ॥ १४ ॥

अनन्तर उस सातवें दिनके आनेपर महर्षि काश्यपने राजाके समीप जानेकी इच्छा की ॥ १४ ॥

तं ददर्शाथ नागेन्द्रः काश्यपं तक्षकस्तदा ।
तमब्रवीत्पन्नगेन्द्रः काश्यपं त्वरितं व्रजन् ।
क्व भवांस्त्वरितो याति किं च कार्यं चिकीर्षति ॥ १५ ॥

तब पथमें नागराज तक्षकने उस काश्यपको देखा । सर्पनाथ तक्षक जल्दी जल्दी जाते हुए उस काश्यपसे बोला– " हे द्विज ! आप शीघ्रतापूर्वक कहां जा रहे हैं ? और क्या कार्य करना चाहते हैं ? " ॥ १५ ॥

काश्यप उवाच

यत्र राजा कुरुश्रेष्ठः परिक्षिन्नाग वै द्विज ।
तक्षकेण भुजङ्गेन धक्ष्यते किल तत्र वै ॥ १६ ॥

काश्यपने उत्तर दिया– "हे विप्र ! आज नागराज तक्षक कुरुश्रेष्ठ राजा परिक्षितको जहां तेजसे जलावेगा ॥ १६ ॥

गच्छाम्यहं तं त्वरितः सद्यः कर्तुमपज्वरम् ।
मयाभिपन्नं तं चापि न सर्पो धर्षयिष्यति ॥ १७ ॥

मैं उसे शीघ्र ही आरोग्यसे युक्त करनेके अभिप्रायसे शीघ्रतापूर्वक वहीं जा रहा हूं; मेरे द्वारा उस राजाके सुरक्षित होनेपर तक्षक उनका प्राण नहीं ले सकेगा " ॥ १७ ॥

तक्षक उवाच

किमर्थं तं मया दष्टं संजीवयितुमिच्छसि ।
ब्रूहि काममहं तेऽद्य दद्मि स्वं वेश्म गम्यताम् ॥ १८ ॥

तक्षक बोला– " हे ब्रह्मन् ! मेरे द्वारा काटे गए उसे तुम क्यों बचाना चाहते हो ? तुम्हारी जो इच्छा हो वह कहो " मैं तुम्हें वह आज दूंगा, तुम अपने घर लौट जाओ " ॥ १८ ॥

मन्त्रिण ऊचुः

धनलिप्सुरहं तत्र यामीत्युक्तश्च तेन सः ।
तमुवाच महात्मानं मानयञ्श्लक्ष्णया गिरा ॥ १९ ॥

मंत्रियोंने कहा– उस कश्यपने उत्तर दिया कि मैं धन पानेकी आशासे वहां जा रहा हूं। तब तक्षकने उस महात्माका आदर करते हुए उससे मीठी बातोंसे कहा ॥ १९ ॥

यावद्धनं प्रार्थयसे तस्माद्राज्ञस्ततोऽधिकम् ।
गृहाण मत्त एव त्वं संनिवर्तस्व चानघ ॥ २० ॥

" तुम उस राजासे जितना धन मांगोगे उससे भी अधिक धन तुम मुझसे ले लो और हे पापरहित ! तुम लौट जाओ " ॥ २० ॥

स एवमुक्तो नागेन काश्यपो द्विपदां वरः ।
लब्ध्वा वित्तं निववृते तक्षकाद्यावदीप्सितम् ॥ २१ ॥

नागसे इस प्रकार कहे जाने पर मानवोंमें श्रेष्ठ काश्यप तक्षकसे यथेच्छ धन पाकर लौट गये ॥ २१ ॥

तस्मिन्प्रतिगते विप्रे छद्मनोपेत्य तक्षकः ।
तं नृपं नृपतिश्रेष्ठ पितरं धार्मिकं तव　　॥ २२ ॥
प्रासादस्थं यत्तमपि दग्धवान्विषवह्निना ।
ततस्त्वं पुरुषव्याघ्र विजयायाभिषेचितः　　॥ २३ ॥

तब उस ब्राह्मणके लौट जाने पर छद्मवेशमें जाकर तक्षकने राजाओंमें श्रेष्ठ उस तुम्हारे धार्मिक पिता राजाको सावधानतासे महलमें स्थित होने पर भी अपने विषकी अग्निसे जला दिया । हे पुरुषोंमें सिंह ! उसके पश्चात् आप विपक्षियोंको जीतनेके लिए उनके पदपर आरूढ हुए हैं ॥ २२–२३ ॥

एतद्दृष्टं श्रुतं चापि यथावन्नृपसत्तम ।
अस्माभिर्निखिलं सर्वं कथितं ते सुदारुणम्　　॥ २४ ॥

हे नृपश्रेष्ठ ! हमने जो सब अति भयावनी लीला यथावत् देखी और सुनी है, वह सब हमने तुम्हें आद्योपान्त कह सुनाई है ॥ २४ ॥

श्रुत्वा चैतं नृपश्रेष्ठ पार्थिवस्य पराभवम् ।
अस्य चर्षेरुत्तङ्कस्य विधत्स्व यदनन्तरम्　　॥ २५ ॥

हे नरनाथ ! अपने पिता और इस उत्तङ्क ऋषिकी पराजयका वृत्तान्त तो सुन चुके, अब इसके बाद जो उचित हो कीजिये ॥ २५ ॥

जनमेजय उवाच

एतत्तु श्रोतुमिच्छामि अटव्यां निर्जने वने ।
संवादं पन्नगेन्द्रस्य काश्यपस्य च यत्तदा　　॥ २६ ॥

जनमेजय बोले– निर्जन वनमें काश्यप और सर्पनाथ तक्षकमें जो संवाद हुआ, उस संवादको मैं सुनना चाहता हूँ ॥ २६ ॥

केन दृष्टं श्रुतं चापि भवतां श्रोत्रमागतम् ।
श्रुत्वा चाथ विधास्यामि पन्नगान्तकरीं मतिम्　　॥ २७ ॥

उस संवादको किसने देखा है वा किसने सुना है, अथवा वह तुम्हारे कानोंतक कैसे पहुंचा ? मैं यह सुनकर सर्पकुलका नाश करनेका विचार करूंगा ॥ २७ ॥

मन्त्रिण ऊचुः

शृणु राजन्यथास्माकं येनैतत्कथितं पुरा ।
समागमं द्विजेन्द्रस्य पन्नगेन्द्रस्य चाध्वनि　　॥ २८ ॥

मन्त्रियोंने कहा– हे राजन् ! रास्तेमें काश्यप और तक्षकका यह मिलनवृत्तान्त जिसने हमसे जिस प्रकारसे कहा था, वह कहते हैं, सुनिये ॥ २८ ॥

तस्मिन्वृक्षे नरः कश्चिदिन्धनार्थाय पार्थिव ।
विचिन्वन्पूर्वमारूढः शुष्कशाखं वनस्पतिम् ।
अबुध्यमानौ तं तत्र वृक्षस्थं पन्नगद्विजौ ॥ २९ ॥

हे पृथ्वीपते ! एक मनुष्य लकडीके निमित्त उस वृक्षपर सूखी शाखावाले वनस्पति बटोरनेके लिए पहले ही चढा हुआ, उस ब्राह्मण और तक्षकने वृक्ष पर चढे हुए उस मनुष्यको देखा नहीं था ॥ २९ ॥

स तु तेनैव वृक्षेण भस्मीभूतोऽभवत्तदा ।
द्विजप्रभावाद्राजेन्द्र जीवितः सवनस्पतिः ॥ ३० ॥

हे राजन् ! वह मनुष्य भी तक्षककी विषाग्निसे उसी वृक्षके सहित भस्म हो गया था, आगे काश्यपके प्रभावसे वृक्षके साथ जी उठा ॥ ३० ॥

तेन गत्वा नृपश्रेष्ठ नगरेऽस्मिन्निवेदितम् ।
यथावृत्तं तु तत्सर्वं तक्षकस्य द्विजस्य च ॥ ३१ ॥

हे राजाओंमें श्रेष्ठ जनमेजय ! उस पुरुषने इस नगरमें जाकर तक्षक और ब्राह्मणका सम्पूर्ण वृत्तान्त कहा था ॥ ३१ ॥

एतत्ते कथितं राजन्यथावृत्तं यथाश्रुतम् ।
श्रुत्वा तु नृपशार्दूल प्रकुरुष्व यथेप्सितम् ॥ ३२ ॥

हे राजन् ! हमने जो सुना है, वह सब तुमसे ठीक ठीक कह चुके हैं । हे राजसिंह ! इसे सुनकर जो अच्छा लगे, उसे कीजिये ॥ ३२ ॥

सूत उवाच

मन्त्रिणां तु वचः श्रुत्वा स राजा जनमेजयः ।
पर्यतप्यत दुःखार्तः प्रत्यपिंषत्करे करम् ॥ ३३ ॥

सूत बोले– वह राजा जनमेजय मन्त्रियोंकी बात सुनकर दुःखसे अति कातर बहुत संताप करने लगे और हाथसे हाथ मलने लगे ॥ ३३ ॥

निःश्वासमुष्णमसकृद्दीर्घं राजीवलोचनः ।
मुमोचाश्रूणि च तदा नेत्राभ्यां प्रततं नृपः ।
उवाच च महीपालो दुःखशोकसमन्वितः ॥ ३४ ॥

और बार बार गर्म गर्म लम्बी सांस लेकर उस कमल जैसे नेत्रवाले राजा नेत्रोंसे आंसू गिराने लगा, दुःख और शोकसे युक्त होकर वह राजा मंत्रियोंसे बोला ॥ ३४ ॥

श्रुत्वैतद्भवतां वाक्यं पितुर्मे स्वर्गतिं प्रति ।
निश्चितेयं मम मतिर्या वै तां मे निबोधत ॥ ३५ ॥

मेरे पिताके परलोक सिधारनेके विषयमें तुम्हारी बातें सुनकर मैंने जो अपने विचार इस प्रकार निश्चित किए हैं, उन मेरे विचारोंको सुनो ॥ ३५ ॥

अनन्तरमहं मन्ये तक्षकाय दुरात्मने ।
प्रतिकर्तव्यमित्येव येन मे हिंसितः पिता ॥ ३६ ॥

मैंने यही सोचा है, कि जिसने मेरे पिताको मारा है, उस दुरात्मा तक्षकसे बदला लेना ही चाहिए ॥ ३६ ॥

ऋषेर्हि शृङ्गेर्वचनं कृत्वा दग्ध्वा च पार्थिवम् ।
यदि गच्छेदसौ पापो ननु जीवेत्पिता मम ॥ ३७ ॥

उसने शृङ्गी ऋषिके वचनका पालन कर मेरे पिताको जलाकर नष्ट किया है, यदि यह पापी नाशको प्राप्त हो तो मेरे पिता जीवित हो जाएं ॥ ३७ ॥

परिहीयेत किं तस्य यदि जीवेत्स पार्थिवः ।
काश्यपस्य प्रसादेन मन्त्रिणां सुनयेन च ॥ ३८ ॥

काश्यपके प्रसाद और मंत्रियोंकी उत्तम नीतिसे यदि वह राजा जी गये होते, तो उस (तक्षक) की कौनसी हानि हुई होती ? ॥ ३८ ॥

स तु वारितवान्मोहात्काश्यपं द्विजसत्तमम् ।
संजिजीवयिषुं प्राप्तं राजानमपराजितम् ॥ ३९ ॥

किसीसे पराजित न होनेवाले उस राजाको जीवित करनेकी इच्छासे आते हुए उन ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ काश्यपको उस नागने मूर्खतासे लौटा दिया ॥ ३९ ॥

महानतिक्रमो ह्येष तक्षकस्य दुरात्मनः ।
द्विजस्य योऽददद्द्रव्यं मा नृपं जीवयेदिति ॥ ४० ॥

ब्राह्मण राजाको जीवन न दे, इसलिये जिसने उन द्विजको धन दे दिया, उस दुरात्मा तक्षकका यह बडा अत्याचार है ॥ ४० ॥

उत्तङ्कस्य प्रियं कुर्वन्नात्मनश्च महत्प्रियम् ।
भवतां चैव सर्वेषां यास्याम्यपचितिं पितुः ॥ ४१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥ १६४६ ॥

अतएव मैं उत्तङ्कका प्रिय करनेके लिए तथा मेरे और तुम सबके हितका अनुष्ठान करनेके निमित्त पिताकी शत्रुताका बदला लूंगा ॥ ४१ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें छियालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ४६ ॥ १६४६ ॥

: ४७ :

सूत उवाच

एवमुक्त्वा ततः श्रीमान्मन्त्रिभिश्चानुमोदितः ।
आरुरोह प्रतिज्ञां स सर्पसत्राय पार्थिवः ।
ब्रह्मन्भरतशार्दूलो राजा पारिक्षितस्तदा ॥ १ ॥

सूत बोले– ब्रह्मन् ! यह कहकर और मन्त्रियोंसे अनुमोदित होने पर उस भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ परिक्षित्के पुत्र श्रीमान् राजा जनमेजयने सर्पयज्ञ करनेका प्रण ठान लिया ॥ १ ॥

पुरोहितमथाहूय ऋत्विजं वसुधाधिपः ।
अब्रवीद्वाक्यसंपन्नः संपदर्थकरं वचः ॥ २ ॥

और उस वचन बोलनेमें श्रेष्ठ राजाने पुरोहित और ऋत्विजोंको बुलवाकर सम्पत् प्राप्त करानेवाली यह बात कही ॥ २ ॥

यो मे हिंसितवांस्तातं तक्षकः स दुरात्मवान् ।
प्रतिकुर्यां यथा तस्य तद्भवन्तो ब्रुवन्तु मे ॥ ३ ॥

कि जिस दुरात्मा तक्षकने मेरे पिताकी हिंसा की है; मैं जिससे उसे उसका यथोचित प्रति-फल दे सकूं, ऐसा कोई उपाय आप मुझे बतायें ॥ ३ ॥

अपि तत्कर्म विदितं भवतां येन पन्नगम् ।
तक्षकं संप्रदीप्तेऽग्नौ प्राप्स्येऽहं सहबान्धवम् ॥ ४ ॥

क्या आप ऐसे किसी विधानको जानते हैं कि जिससे नागराज तक्षकको बन्धुओंके साथ जलती हुई आगमें डाल सकूं ॥ ४ ॥

यथा तेन पिता मह्यं पूर्वं दग्धो विषाग्निना ।
तथाहमपि तं पापं दग्धुमिच्छामि पन्नगम् ॥ ५ ॥

पहिले तक्षकने जिस प्रकारसे विषरूपी आगसे मेरे पिताको जलाया था, मैं भी उस पापी सांपको उसी प्रकार जलती हुई आगमें जलानेकी इच्छा करता हूँ ॥ ५ ॥

ऋत्विज ऊचुः

अस्ति राजन्महत्सत्रं त्वदर्थं देवनिर्मितम् ।
सर्पसत्रमिति ख्यातं पुराणे कथ्यते नृप ॥ ६ ॥

ऋत्विक्गण बोले– हे राजन ! पुराणोंमें कहा है कि सर्पयज्ञ नामसे प्रसिद्ध एक महान् यज्ञ है; जिसे हे राजन् ! देवताओंने आपहीके निमित्त रचा है ॥ ६ ॥

आहर्ता तस्य सत्रस्य त्वन्नान्योऽस्ति नराधिप ।
इति पौराणिकाः प्राहुरस्माकं चास्ति स क्रतुः ॥ ७ ॥

पौराणिकलोग कहते हैं, कि आपके सिवाय कोई दूसरा राजा उस महायज्ञका अनुष्ठान नहीं कर सकेगा । हे महाराज ! हम लोग भी उस यज्ञके नियमोंको जानते हैं ॥ ७ ॥

सूत उवाच

एवमुक्तः स राजर्षिर्मेने सर्पं हि तक्षकम् ।
हुताशनमुखं दीप्तं प्रविष्टमिति सत्तम ॥ ८ ॥

सूत बोले– हे सत्तम ! राजाने ऋत्विजोंकी यह बात सुनकर तक्षकको अग्निके मुंहमें पडा हुआ और जला हुआ ही समझा ॥ ८ ॥

ततोऽब्रवीन्मन्त्रविदस्तान्राजा ब्राह्मणांस्तदा ।
आहरिष्यामि तत्सत्रं संभाराः संभ्रियन्तु मे ॥ ९ ॥

तब उन मन्त्र जाननेवाले ब्राह्मणोंसे राजा बोला कि मैं उस सर्पयज्ञका अनुष्ठान करूंगा; आप लोग मेरे लिए सामग्री इकट्ठी कीजिये ॥ ९ ॥

ततस्ते ऋत्विजस्तस्य शास्त्रतो द्विजसत्तम ।
देशं तं मापयामासुर्यज्ञायतनकारणात्
यथावज्ज्ञानविदुषः सर्वे बुद्ध्या परं गताः ॥ १० ॥

हे द्विजसत्तम ! तब यज्ञस्थानके निमित्त सर्पयज्ञको यथावत् जाननेवाले, विद्वान् और बुद्धिमें पारंगत सब ऋत्विजोंने एक स्थान निश्चित कर शास्त्रानुसार यथाविधि उसे मापा ॥ १० ॥

ऋद्ध्या परमया युक्तमिष्टं द्विजगणायुतम् ।
प्रभूतधनधान्याढ्यमृत्विग्भिः सुनिवेशितम् ॥ ११ ॥
निर्माय चापि विधिवद्यज्ञायतनमीप्सितम् ।
राजानं दीक्षयामासुः सर्पसत्राप्तये तदा ॥ १२ ॥

तथा उन्होंने परम ऋद्धिसे युक्त, द्विजोंसे निषेवित, अपरिमित धनधान्यवाले ऋत्विकोंसे सेवित अपनी इच्छाके अनुसार यज्ञस्थानको यथाविधि तैयार करके राजाको सर्पयज्ञ शुरू करनेके लिए दीक्षित किया ॥ ११–१२ ॥

इदं चासीत्तत्र पूर्वं सर्पसत्रे भविष्यति ।
निमित्तं महदुत्पन्नं यज्ञविघ्नकरं तदा ॥ १३ ॥

पर होनेवाले सर्पयज्ञके पहले ही वहां यज्ञमें विघ्न डालनेवाला एक भारी निमित्त उपस्थित हो गया ॥ १३ ॥

यज्ञस्यायतने तस्मिन्क्रियमाणे वचोऽब्रवीत्।
स्थपतिर्बुद्धिसंपन्नो वास्तुविद्याविशारदः ॥ १४ ॥
इत्यब्रवीत्सूत्रधारः सूतः पौराणिकस्तदा।
यस्मिन्देशे च काले च मापनेयं प्रवर्तिता।
ब्राह्मणं कारणं कृत्वा नायं संस्थास्यते क्रतुः ॥ १५ ॥

जब यह यज्ञस्थान बन रहा था; तब वास्तुविद्यामें पण्डित बुद्धिमान् राज (स्थपति) सूत्रधार पौराणिक सूतने कहा था, कि जिस देशमें और जिस कालमें यह माप आरंभ हुआ है, उससे जान पडता है, कि एक ब्राह्मणको कारण बनाकर यह यज्ञ टिकेगा नहीं अर्थात् एक ब्राह्मण द्वारा रोक दिया जाएगा ॥ १४-१५ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु राजा स प्राग्दीक्षाकालमब्रवीत्।
क्षत्तारं नेह मे कश्चिदज्ञातः प्रविशेदिति ॥ १६ ॥

यह बात सुनकर राजा दीक्षित होनेके पहिले द्वारपालसे बोले, कि मेरे अन जानेमें किसीको भी घुसने न देना ॥ १६ ॥

ततः कर्म प्रववृते सर्पसत्रे विधानतः।
पर्यक्रामंश्च विधिवत्स्वे स्वे कर्मणि याजकाः ॥ १७ ॥

तब यथाविधि सर्पयज्ञमें कार्य आरंभ हो गया और याजकलोग यथाविधि अपने अपने कार्योंमें लग गए ॥ १७ ॥

परिधाय कृष्णवासांसि धूमसंरक्तलोचनाः।
जुहुवुर्मन्त्रवच्चैव समिद्धं जातवेदसम् ॥ १८ ॥

वे लोग काले रंगके कपडे पहनकर धूंएसे लाल आंखोंवाले होकर विधिपूर्वक मंत्रको बोलते हुए प्रज्ज्वलित अग्निमें आहुति देने लगे ॥ १८ ॥

कम्पयन्तश्च सर्वेषामुरगाणां मनांसि ते।
सर्पानाजुहुवुस्तत्र सर्वानग्निमुखे तदा ॥ १९ ॥

इससे सभी सर्पोंके चित्तोंको कंपाते हुए वे याजक लोग सब सर्पोंको उद्देशकर अग्निके मुंहमें आहुति देने लगे ॥ १९ ॥

ततः सर्पाः समापेतुः प्रदीप्ते हव्यवाहने।
विचेष्टमानाः कृपणा आह्वयन्तः परस्परम् ॥ २० ॥

तब सभी सर्प आपसमें लिपटे हुए तथा दीन होकर एक दूसरेको बुलाते हुए उस जलती हुई अग्निमें आ आकर गिरने लगे ॥ २० ॥

विस्फुरन्तः श्वसन्तश्च वेष्टयन्तस्तथा परे ।
पुच्छैः शिरोभिश्च भृशं चित्रभानुं प्रपेदिरे　　॥ २१ ॥

फुंफकारते हुए, लम्बी लम्बी सांसें लेते हुए, एक दूसरेको पूंछ और सिरसे कसकर लपेटकर बुरी तरह आगमें गिरने लगे ॥ २१ ॥

श्वेताः कृष्णाश्च नीलाश्च स्थविराः शिशवस्तथा ।
रुवन्तो भैरवान्नादान्पेतुर्दीप्ते विभावसौ　　॥ २२ ॥

सफेद, काले, नीले, बूढे और बच्चे अर्थात् सभी सर्प भयंकर आवाजोंको करते हुए जलती हुई आगमें गिरने लगे ॥ २२ ॥

एवं शतसहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
अवशानि विनष्टानि पन्नगानां द्विजोत्तम　　॥ २३ ॥

इस प्रकारसे हे द्विजश्रेष्ठ ! सैंकडों, सहस्रों, करोडों, अरबों सर्प अग्निमें विवश होकर नष्ट हो गए ॥ २३ ॥

इन्दुरा इव तत्रान्ये हस्तिहस्ता इवापरे ।
मत्ता इव च मातङ्गा महाकाया महाबलाः　　॥ २४ ॥
उच्चावचाश्च बहवो नानावर्णा विषोल्बणाः ।
घोराश्च परिघप्रख्या दन्दशूका महाबलाः ।
प्रपेतुरग्नावुरगा मातृवाग्दण्डपीडिताः　　॥ २५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥ १६७१ ॥

अनन्तर कुछ अश्वके समान, कुछ हाथीकी सूंडके समान, मत्तहस्तीके समान भारी शरीरधारी और महाबली, ऊंचे नीचे अर्थात् टेढे मेढे अगणित रंग-बिरंगे, भांति भांतिके, भयंकर विषवाले, भयंकर रूपवाले, परिघके समान बडे-बडे तथा बलशाली दन्दशूक सर्प माताके शापवाले वाक्यदण्डसे पीडित होकर अग्निमें गिरने लगे ॥ २४-२५ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें सैंतालिसवां अध्याय समाप्त ॥ ४७ ॥ १६७१ ॥

: ४८ :

शौनक उवाच

सर्पसत्रे तदा राज्ञः पाण्डवेयस्य धीमतः।
जनमेजयस्य के त्वासन्नृत्विजः परमर्षयः ॥ १ ॥

शौनकने पूछा– कि तब पाण्डवनन्दन धीमान् राजा जनमेजयके सर्पयज्ञमें कौन कौनसे परमर्षि ऋत्विज बने थे ॥ १ ॥

के सदस्या बभूवुश्च सर्पसत्रे सुदारुणे।
विषादजननेऽत्यर्थं पन्नगानां महाभये ॥ २ ॥

तथा सर्पोंको बडा भय देनेवाले, अति दुःखदायी, बडे कठोर इस सर्प–यज्ञमें कौन कौन सदस्य थे ॥ २ ॥

सर्वं विस्तरतस्तात भवाञ्शंसितुमर्हति।
सर्पसत्रविधानज्ञा विज्ञेयास्ते हि सूतज ॥ ३ ॥

हे सूतसे उत्पन्न तात ! यह सब विस्तारसे बतानेमें तुम समर्थ हो, सर्पयज्ञकी विधिको जाननेवाले उन ऋषियोंके बारेमें जानना चाहिए ॥ ३ ॥

सूत उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि नामानीह मनीषिणाम्।
ये ऋत्विजः सदस्याश्च तस्यासन्नृपतेस्तदा ॥ ४ ॥

सूत बोले– अच्छा! जो सब पण्डित लोग राजाके उस यज्ञमें ऋत्विक् और सदस्य बने थे, उन बुद्धिमानोंके नाम यहां तुमसे कहता हूं ॥ ४ ॥

तत्र होता बभूवाथ ब्राह्मणश्चण्डभार्गवः।
च्यवनस्यान्वये जातः ख्यातो वेदविदां वरः ॥ ५ ॥

च्यवन वंशमें उत्पन्न वेदज्ञोंमें श्रेष्ठ प्रसिद्ध ब्राह्मण चण्डभार्गव उस महायज्ञमें होता थे ॥ ५ ॥

उद्गाता ब्राह्मणो वृद्धो विद्वान्कौत्सार्यजैमिनिः।
ब्रह्माभवच्छार्ङ्गरवो अध्वर्युर्बोधपिङ्गलः ॥ ६ ॥

विद्वान् बूढे कौत्स नामक ब्राह्मण उद्गाता, जैमिनि मुनि ब्रह्मा, शार्ङ्गरव और बौध पिङ्गल मुनि अध्वर्यु थे ॥ ६ ॥

सदस्यश्चाभवद्व्यासः पुत्रशिष्यसहायवान्।
उद्दालकः शमठकः श्वेतकेतुश्च पञ्चमः ॥ ७ ॥

पुत्र और शिष्योंके साथ व्यास, उद्दालक, शमठक, पांचवें श्वेतकेतु सदस्य थे ॥ ७ ॥

असितो देवलश्चैव नारदः पर्वतस्तथा ।
आत्रेयः कुण्डजठरो द्विजः कुटिघटस्तथा ॥ ८ ॥
वात्स्यः श्रुतश्रवा वृद्धस्तपःस्वाध्यायशीलवान् ।
कहोडो देवशर्मा च मौद्गल्यः शमसौभरः ॥ ९ ॥

असित और देवल, नारद तथा पर्वत, आत्रेय, कुण्डजठर, तथा ब्राह्मण कुटिघट, वात्स्य, वृद्ध श्रुतश्रवा, तप और स्वाध्यायमें रत सुशील कहोड, देवशर्मा, मौद्गल्य, शमसौभर ॥ ८–९ ॥

एते चान्ये च बहवो ब्राह्मणाः संशितव्रताः ।
सदस्या अभवंस्तत्र सत्रे पारिक्षितस्य ह ॥ १० ॥

यह सब और दूसरे व्रतशील बहुतसे ब्राह्मण परिक्षित्के पुत्र जनमेजयके इस महायज्ञमें सदस्य हुए थे ॥ १० ॥

जुह्वत्स्वृत्विक्ष्वथ तदा सर्पसत्रे महाक्रतौ ।
अहयः प्रापतंस्तत्र घोराः प्राणिभयावहाः ॥ ११ ॥

ऋत्विकोंके उस महा सर्पयज्ञमें आहुति चढाने पर भयंकर तथा प्राणियोंके लिए भयानक सर्पगण उस यज्ञमें आ आकर गिरने लगे ॥ ११ ॥

वसामेदोवहाः कुल्या नागानां संप्रवर्तिताः ।
ववौ गन्धश्च तुमुलो दह्यतामनिशं तदा ॥ १२ ॥

उन सांपोंकी चर्बी और मेदके छोटे छोटे नाले बहने लगे । रात दिन जलते हुए सर्पोंकी भयंकर दुर्गन्ध चारों ओर फैलने लगी ॥ १२ ॥

पततां चैव नागानां धिष्ठितानां तथाम्बरे ।
अश्रूयतानिशं शब्दः पच्यतां चाग्निना भृशम् ॥ १३ ॥

आगमें गिरे हुए आकाशमें स्थित और अग्निसे बहुत बुरी तरह जलाये जाते हुए सर्पोंके चिल्लानेके शब्द रात दिन सुनाई देने लगे ॥ १३ ॥

तक्षकस्तु स नागेन्द्रः पुरन्दरनिवेशनम् ।
गतः श्रुत्वैव राजानं दीक्षितं जनमेजयम् ॥ १४ ॥

नागराज तक्षक तो राजा जनमेजयके सर्पयज्ञमें दीक्षित होनेकी बात सुनकर ही इन्द्रपुरीमें चला गया ॥ १४ ॥

ततः सर्वं यथावृत्तमाख्याय भुजगोत्तमः ।
अगच्छच्छरणं भीत आगस्कृत्वा पुरन्दरम् ॥ १५ ॥

तथा उस सर्पश्रेष्ठने पाप करनेके कारण भयभीत होकर आद्योपान्त सब बात कहकर इन्द्रकी शरण ली ॥ १५ ॥

तमिन्द्रः प्राह सुप्रीतो न तवास्तीह तक्षक।
भयं नागेन्द्र तस्माद्वै सर्पसत्रात्कथंचन ॥ १६ ॥

इससे इन्द्र प्रसन्न होकर बोले– " हे नागराज तक्षक ! उस सर्पयज्ञसे तुम्हें कोई भय नहीं है ॥ १६ ॥

प्रसादितो मया पूर्वं तवार्थाय पितामहः।
तस्मात्तव भयं नास्ति व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ १७ ॥

मैंने पहिले ही तुम्हारे लिये पितामहको प्रसन्न किया है, सो तुम्हें भय नहीं है, अतः तुम्हारे चित्तकी पीडा दूर हो " ॥ १७ ॥

एवमाश्वासितस्तेन ततः स भुजगोत्तमः।
उवास भवने तत्र शक्रस्य मुदितः सुखी ॥ १८ ॥

तब नागोत्तम तक्षक इन्द्रसे इस प्रकार ढाढस पाकर प्रसन्न चित्तसे इन्द्रके भवनमें सुखपूर्वक रहने लगा ॥ १८ ॥

अजस्रं निपतत्स्वग्नौ नागेषु भृशदुःखितः।
अल्पशेषपरीवारो वासुकिः पर्यतप्यत ॥ १९ ॥

इधर नागोंके लगातार अग्निमें गिरने पर अपने परिवारोंको कम होता हुआ देखकर वासुकि अति दुःखी होकर संतप्त होने लगे ॥ १९ ॥

कश्मलं चाविशद्घोरं वासुकिं पन्नगेश्वरम्।
स घूर्णमानहृदयो भगिनीमिदमब्रवीत् ॥ २० ॥

तब उस सर्पराज वासुकिको बहुत घोर दुःख हुआ और उसका मन डोलने लगा। तब उसने अपनी बहिनसे यह कहा ॥ २० ॥

दह्यन्तेऽङ्गानि मे भद्रे दिशो न प्रतिभान्ति च।
सीदामीव च संमोहाद्घूर्णतीव च मे मनः ॥ २१ ॥

" भद्रे ! मेरा शरीर जला जा रहा है, (चारों ओर अंधेरा छाया हुआ हुआ होनेके कारण) मुझे दिशाओंका ज्ञान नहीं रहा है, मोहसे विवश हो रहा हूं, मेरा चित्त घूम रहा है ॥ २१ ॥

दृष्टिर्भ्रमति मेऽतीव हृदयं दीर्यतीव च।
पतिष्याम्यवशोऽद्याहं तस्मिन्दीप्ते विभावसौ ॥ २२ ॥

मेरी दृष्टि भ्रमित हो रही है, मेरा हृदय फटासा जा रहा है, आज विवश होकर मुझको भी उस जलती हुई आगमें गिरना पडेगा ॥ २२ ॥

पारिक्षितस्य यज्ञोऽसौ वर्ततेऽस्मज्जिघांसया ।
व्यक्तं मयापि गन्तव्यं पितृराजनिवेशनम् ॥ २३ ॥

हम सर्पोंके नाशकी इच्छासे परिक्षित्‌के पुत्र जनमेजयका यह यज्ञ चल रहा है। स्पष्ट है कि मुझको भी यमराजके घर जाना पडेगा ॥ २३ ॥

अयं स कालः संप्राप्तो यदर्थमसि मे स्वसः ।
जरत्कारोः पुरा दत्ता सा त्रायस्वास्मान्सबान्धवान् ॥ २४ ॥

हे बहिन! जिस हेतुसे जरत्कारु ऋषिसे तुम्हारा विवाह पहले कर दिया था, यह वही काल आ पहुंचा है, अब हमको भाईयोंके सहित बचाओ ॥ २४ ॥

आस्तीकः किल यज्ञं तं वर्तन्तं भुजगोत्तमे ।
प्रतिषेत्स्यति मां पूर्वं स्वयमाह पितामहः ॥ २५ ॥

हे नागोत्तमे! पहिले पितामहने स्वयं मुझसे कहा था, कि सर्पयज्ञ आरंभ होने पर आस्तीक ऋषि उसे रोकेंगे ॥ २५ ॥

तद्वत्से ब्रूहि वत्सं स्वं कुमारं वृद्धसंमतम् ।
ममाद्य त्वं सभृत्यस्य मोक्षार्थं वेदवित्तमम् ॥ २६ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥ १६२७ ॥

अतः हे बहिन! अब मेरी और मेरे परिवारोंकी रक्षाके निमित्त वृद्धोंको प्रिय और वेदोंको जाननेवालोंमें उत्तम अपने बालकपुत्रसे आज कहो ॥ २६ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें अडतालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ४८ ॥ १६९७ ॥

: ४९ :

सूत उवाच

तत आहूय पुत्रं स्वं जरत्कारुर्भुजङ्गमा ।
वासुकेर्नागराजस्य वचनादिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

सूत बोले– सर्पिणी जरत्कारुने नागराज वासुकिके वाक्यानुसार अपने पुत्रको बुलाकर यह कहा ॥ १ ॥

अहं तव पितुः पुत्र भ्रात्रा दत्ता निमित्ततः ।
कालः स चायं संप्राप्तस्तत्कुरुष्व यथातथम् ॥ २ ॥

कि बेटे! भाईने मुझे तुम्हारे पिताको जिस निमित्तसे दान दिया था, वह समय अब आ गया है, जो उचित हो, करो ॥ २ ॥

आस्तीक उवाच

किंनिमित्तं मम पितुर्दत्ता त्वं मातुलेन मे।
तन्ममाचक्ष्व तत्त्वेन श्रुत्वा कर्तास्मि तत्तथा ॥ ३ ॥

आस्तीक बोले– किसलिये मामाने तुम्हें मेरे पिताको दान दिया था, वह बात तुम मुझे बताओ ताकि मैं उसे सुनकर उसके अनुसार कार्य करूं ॥ ३ ॥

सूत उवाच

तत आचष्ट सा तस्मै बान्धवानां हितैषिणी।
भगिनी नागराजस्य जरत्कारुरविक्लवा ॥ ४ ॥

सूत बोले– उसके अनन्तर बान्धवोंके हित चाहनेवाली नागराज वासुकि सर्पकी बहिन जरत्कारु ढाढस पाकर पुत्रसे बोली ॥ ४ ॥

भुजगानामशेषाणां माता कद्रूरिति श्रुतिः।
तया शप्ता रुषितया सुता यस्मान्निबोध तत् ॥ ५ ॥

ऐसा सुना जाता है कि संपूर्ण सर्पोंकी माता कद्रूने जिस कारणसे क्रोधित होकर अपने पुत्रोंको शाप दिया था, वह कहती हूं, सुनो ॥ ५ ॥

उच्चैःश्रवाः सोऽश्वराजो यन्मिथ्या न कृतो मम।
विनतानिमित्तं पणिते दासभावाय पुत्रकाः ॥ ६ ॥
जनमेजयस्य वो यज्ञे धक्ष्यत्यनिलसारथिः।
तत्र पञ्चत्वमापन्नाः प्रेतलोकं गमिष्यथ ॥ ७ ॥

(कद्रू बोली) "हे पुत्रो ! विनता मेरी दासी हो इसलिए मेरे दासीपनकी बाजी लगाने पर भी जिस कारण तुम उस अश्वराज उच्चैःश्रवाका रंग बदलनेसे इन्कार करके मेरा कहा काम नहीं कर रहे हो, इसलिये जनमेजय राजाके सर्पयज्ञमें वायुके सारथी अग्निदेव तुमको जलावेंगे और उस यज्ञमें तुम मरकर परलोकको सिधारोगे" ॥ ६-७ ॥

तां च शप्तवतीमेवं साक्षाल्लोकपितामहः।
एवमस्त्विति तद्वाक्यं प्रोवाचानुमुमोद च ॥ ८ ॥

कद्रूके इस प्रकार शाप देनेपर सब लोकोंके पितामह ब्रह्माने "एवमस्तु" कहके उस शाप देनेवालीकी बातका समर्थन किया ॥ ८ ॥

वासुकिश्चापि तच्छ्रुत्वा पितामहवचस्तदा।
अमृते मथिते तात देवाञ्शरणमीयिवान् ॥ ९ ॥

हे तात ! तब वासुकि भी पितामहकी वह बात सुनकर अमृत मथनेके पश्चात् देवोंकी शरणमें गया ॥ ९ ॥

सिद्धार्थाश्च सुराः सर्वे प्राप्यामृतमनुत्तमम् ।
भ्रातरं मे पुरस्कृत्य प्रजापतिमुपागमन्　　॥ १० ॥

देवगण भी दुर्लभ अमृतको पाकर सफलमनोरथवाले हो गए थे, अतः वे मेरे भाईको आगे कर करके प्रजापतिके समीप गए ॥ १० ॥

ते तं प्रसादयामासुर्देवाः सर्वे पितामहम् ।
राज्ञा वासुकिना सार्धं स शापो न भवेदिति　　॥ ११ ॥

फिर उन सब देवताओंने नागनाथ वासुकिके साथ पितामह ब्रह्माको प्रसन्न किया, कि सर्पोंका वह शाप सफल न होवे ॥ ११ ॥

वासुकिर्नागराजोऽयं दुःखितो ज्ञातिकारणात् ।
अभिशापः स मात्रास्य भगवन्न भवेदिति　　॥ १२ ॥

भगवन् ! यह नागराज वासुकि स्वजनोंके निमित्त बहुत दुःखी हैं अतएव ऐसा कीजिये, कि माताका शाप इन पर न लगे ॥ १२ ॥

ब्रह्मोवाच

जरत्कारुर्जरत्कारुं यां भार्यां समवाप्स्यति ।
तत्र जातो द्विजः शापाद्भुजगान्मोक्षयिष्यति　　॥ १३ ॥

ब्रह्मा बोले– जरत्कारु नामक ऋषि जिस जरत्कारु नामकी स्त्रीको भार्या रूपसे प्राप्त करेंगे, उसीके गर्भसे एक ब्राह्मण जन्म लेकर सर्पोंको शापसे बचावेगा ॥ १३ ॥

जरत्कारुरुवाच

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं वासुकिः पन्नगेश्वरः ।
प्रादान्माममरप्रख्य तव पित्रे महात्मने ।
प्रागेवानागते काले तत्र त्वं मय्यजायथाः　　॥ १४ ॥

जरत्कारु बोली– हे देव सदृश पुत्र ! नागराज वासुकिने पितामहकी यह बात सुनकर तुम्हारे महात्मा पिताको मुझे दिया, अतएव सर्पयज्ञका काल आनेके पहिलेही तुमने मेरे गर्भसे जन्म लिया है ॥ १४ ॥

अयं स कालः संप्राप्तो भयात्त्रातुमर्हसि ।
भ्रातरं चैव मे तस्मात्त्रातुमर्हसि पावकात्　　॥ १५ ॥

अब वह कठोर काल आ पहुंचा है, तुम हमको भयसे बचाओ, इस अग्निके मुखसे मेरे भाईकी भी रक्षा करनेमें तुम समर्थ हो ॥ १५ ॥

अमोघं नः कृतं तत्स्याद्यदहं तव धीमते ।
पित्रे दत्ता विमोक्षार्थं कथं वा पुत्र मन्यसे ॥ १६ ॥

हे पुत्र ! (मैं सर्पोंकी रक्षाके निमित्त तुम्हारे पिताको दी गई थी) अतः अब ऐसा करो, कि मैं जिस अभिप्रायसे तुम्हारे बुद्धिमान् पिताके हाथोंमें सौंपी गई थी, वह व्यर्थ न हो; अथवा कहो तो सही इस विषयमें तुम्हारा क्या विचार है ॥ १६ ॥

सूत उवाच

एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा सोऽस्तीको मातरं तदा ।
अब्रवीद्दुःखसंतप्तं वासुकिं जीवयन्निव ॥ १७ ॥

सूत बोले– इस प्रकार कहे जानेपर आस्तीक मातासे "तथास्तु" कहकर दुःखसे जलते हुए वासुकिको मानों जीवित करते हुए बोले ॥ १७ ॥

अहं त्वां मोक्षयिष्यामि वासुके पन्नगोत्तम ।
तस्माच्छापान्महासत्त्व सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ १८ ॥

कि हे महाभाग सर्पश्रेष्ठ वासुके ! मैं सच कहता हूं, तुमको उस शापसे मुक्त करूंगा ॥१८॥

भव स्वस्थमना नाग न हि ते विद्यते भयम् ।
प्रयतिष्ये तथा सौम्य यथा श्रेयो भविष्यति ।
न मे वागनृतं प्राह स्वैरेष्वपि कुतोऽन्यथा १९ ॥

हे सौम्य नाग ! तुम स्वस्थ चित्तवाले होओ, तुम्हें कुछ भी डर नहीं है, मैं वैसा यत्न करूंगा, कि जिससे तुम्हारा मंगल होगा, मेरी वाणी खेलमें भी झूठ नहीं बोलती, फिर सच्चे कामके बारेमें तो कहना ही क्या ? ॥ १९ ॥

तं वै नृपवरं गत्वा दीक्षितं जनमेजयम् ।
वाग्भिर्मङ्गलयुक्ताभिस्तोषयिष्येऽद्य मातुल ।
यथा स यज्ञो नृपतेर्निर्वर्तिष्यति सत्तम ॥ २० ॥

हे मामा ! मैं उस दीक्षित नृपश्रेष्ठ जनमेजयके निकट जाकर मङ्गलयुक्त वार्तोंसे उसको आज प्रसन्न करूंगा; हे सत्तम ! ऐसा करूंगा, कि राजाका वह यज्ञ रुक जाय ॥ २० ॥

स संभावय नागेन्द्र मयि सर्वं महामते ।
न ते मयि मनो जातु मिथ्या भवितुमर्हति ॥ २१ ॥

हे महाबुद्धिमान् नागनाथ ! मुझमें सब कुछ संभव है, मुझमें तुम्हारा मन मिथ्या न हो, अर्थात् तुम मेरी बात झूठी मत मानो ॥ २१ ॥

वासुकिरुवाच

आस्तीक परिघूर्णामि हृदयं मे विदीर्यते ।
दिशश्च न प्रजानामि ब्रह्मदण्डनिपीडितः ॥ २२ ॥

वासुकि बोला— हे आस्तीक ! मुझे चक्कर आ रहे हैं, मेरा हृदय फटा जाता है, ब्रह्म-दण्डसे पीसे जाकर (चारों ओर अंधेरा होनेके कारण) मुझे दिशाएं सूझ नहीं रही हैं ॥२२॥

आस्तीक उवाच

न संतापस्त्वया कार्यः कथंचित्पन्नगोत्तम ।
दीप्तादग्नेः समुत्पन्नं नाशयिष्यामि ते भयम् ॥ २३ ॥

आस्तीक बोले— हे सर्पराज ! तुम किसी प्रकार संताप मत करो । मैं प्रज्ज्वलित अग्निसे उत्पन्न तुम्हारे भयको दूर करूंगा ॥ २३ ॥

ब्रह्मदण्डं महाघोरं कालाग्निसमतेजसम् ।
नाशयिष्यामि मात्र त्वं भयं कार्षीः कथंचन ॥ २४ ॥

मैं प्रलयकालके अग्निके समान तेजस्वी अति घोर ब्रह्मदण्डको नष्ट कर दूंगा, तुम इस बारेमें किसी भी प्रकार भय मत करो ॥ २४ ॥

सूत उवाच

ततः स वासुकेर्घोरमपनीय मनोज्वरम् ।
आधाय चात्मनोऽङ्गेषु जगाम त्वरितो भृशम् ॥ २५ ॥
जनमेजयस्य तं यज्ञं सर्वैः समुदितं गुणैः ।
मोक्षाय भुजगेन्द्राणामास्तीको द्विजसत्तमः ॥ २६ ॥

सूत बोले-- तब वासुकिके घोर चित्तपीडाको दूरकर स्वयं (सर्पकुलके उद्धारका) भार लेकर द्विजश्रेष्ठ आस्तीक सर्पश्रेष्ठोंको छुडानेके लिए जनमेजयके उस सर्व गुणशाली यज्ञ स्थानको बहुत जल्दी गए ॥ २५-२६ ॥

स गत्वापश्यदास्तीको यज्ञायतनमुत्तमम् ।
वृतं सदस्यैर्बहुभिः सूर्यवह्निसमप्रभैः ॥ २७ ॥

वहां पहुंचकर आस्तीकने अग्नि और सूर्यके समान प्रकाशमान अगणित सदस्योंसे भरे हुए, सुन्दर यज्ञस्थानको देखा ॥ २७ ॥

स तत्र वारितो द्वाःस्थैः प्रविशन्द्विजसत्तमः ।
अभितुष्टाव तं यज्ञं प्रवेशार्थी द्विजोत्तमः ॥ २८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥ १७२५ ॥

वहां यज्ञगृहमें प्रवेश करते हुए वे ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ आस्तीक द्वारपालोंके द्वारा रोक दिए गए, तब द्विजोंमें उत्तम और यज्ञमें प्रवेश करनेकी अभिलाषावाले उस आस्तीकने उस यज्ञकी स्तुति की ॥ २८ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें उनचासवां अध्याय समाप्त ॥ ४९ ॥ १७२५ ॥

: ५० :

आस्तीक उवाच

सोमस्य यज्ञो वरुणस्य यज्ञः प्रजापतेर्यज्ञ आसीत्प्रयागे ।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्र्य पारिक्षित स्वस्ति नोऽस्तु प्रियेभ्यः ॥ १ ॥

आस्तीक बोले– हे भारतश्रेष्ठ परिक्षित्के पुत्र जनमेजय ! प्रयागमें सोमका यज्ञ, वरुणका यज्ञ और प्रजापतिका यज्ञ जैसा हुआ था, आपका यह यज्ञ भी वैसा ही है, प्रार्थना करता हूं हमारे प्रियजनोंका मंगल होवे ॥ १ ॥

शक्रस्य यज्ञः शतसंख्य उक्तस्तथापरस्तुल्यसंख्यः शतं वै ।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्र्य पारिक्षित स्वस्ति नोऽस्तु प्रियेभ्यः ॥ २ ॥

हे भारतश्रेष्ठ पारिक्षित ! देवराजके जो सौ यज्ञ कहे जाते हैं, उसके और सौ दूसरे यज्ञ अर्थात् उसके दस हजार यज्ञोंके तुल्य आपका यह यज्ञ है, प्रार्थना करता हूं हमारे प्रियजनोंका मंगल होवे ॥ २ ॥

यमस्य यज्ञो हरिमेधसश्च यथा यज्ञो रन्तिदेवस्य राज्ञः ।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्र्य पारिक्षित स्वस्ति नोऽस्तु प्रियेभ्यः ॥ ३ ॥

हे भारतश्रेष्ठ पारिक्षित ! यमका यज्ञ, हरिमेधाका यज्ञ और राजा रन्तिदेवका यज्ञ जैसा हुआ था, आपका यह यज्ञ भी वैसा ही है, प्रार्थना करता हूं हमारे प्रियजनोंका मंगल होवे ॥ ३ ॥

गयस्य यज्ञः शशबिन्दोश्च राज्ञो यज्ञस्तथा वैश्रवणस्य राज्ञः ।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्र्य पारिक्षित स्वस्ति नोऽस्तु प्रियेभ्यः ॥ ४ ॥

हे भारतश्रेष्ठ पारिक्षित ! गयका यज्ञ, राजा शशबिन्दुका यज्ञ और वैश्रवण राजाका यज्ञ जैसा था, आपका यह यज्ञ भी वैसा ही है, प्रार्थना करता हूं हमारे प्रियजनोंका मंगल होवे ॥ ४ ॥

नृगस्य यज्ञस्त्वजमीढस्य चासीद्यथा यज्ञो दाशरथेश्च राज्ञः ।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्र्य पारिक्षित स्वस्ति नोऽस्तु प्रियेभ्यः ॥ ५ ॥

हे भारतश्रेष्ठ पारिक्षित ! नृगका यज्ञ, अजमीढका यज्ञ और दाशरथि राजा रामचन्द्रका यज्ञ जैसा था, आपका यज्ञ भी वैसा ही है, प्रार्थना करता हूं हमारे प्रियजनोंका मंगल होवे ॥५॥

यज्ञः श्रुतो नो दिवि देवसूनोर्युधिष्ठिरस्याजमीढस्य राज्ञः ।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्र्य पारिक्षित स्वस्ति नोऽस्तु प्रियेभ्यः ॥ ६ ॥

हे भारतश्रेष्ठ पारिक्षित ! अजमीढवंशोत्पन्न देवपुत्र युधिष्ठिरका यज्ञ स्वर्गमें जैसा हमने सुना था, आपका यह यज्ञ भी वैसा ही है, प्रार्थना करता हूं हमारे प्रियजनोंका मंगल होवे ॥ ६ ॥

कृष्णस्य यज्ञः सत्यवत्याः सुतस्य स्वयं च कर्म प्रचकार यत्र ।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्र्य पारिक्षित स्वस्ति नोऽस्तु प्रियेभ्यः ॥ ७ ॥

हे भारतश्रेष्ठ पारिक्षित ! सत्यवती–पुत्र कृष्णद्वैपायनने स्वयं सम्पूर्ण धर्मानुष्ठान करके जो यज्ञ किया था, आपका यह यज्ञ भी वैसा ही है, प्रार्थना करता हूं हमारे प्रियजनोंका मंगल होवे ॥ ७ ॥

इमे हि ते सूर्यहुताशवर्चसः समासते वृत्रहणः क्रतुं यथा ।
नैषां ज्ञानं विद्यते ज्ञातुमद्य दत्तं येभ्यो न प्रणश्येत्कथंचित् ॥ ८ ॥

वृत्रको मारनेवाले इन्द्रके यज्ञमें जैसे सदस्य थे, उनके ऐसे ही आपके इस यज्ञमें भी सूर्य और अग्नि समान प्रकाशमान यह सब सदस्य बैठे हुए हैं, इस कालमें ऐसी कोई वस्तु विद्यमान नहीं है, जो यह लोग न जानें; (ये लोग ऐसे हैं कि) जिनको दान देनेसे कभी नष्ट नहीं होता ॥ ८ ॥

ऋत्विक्समो नास्ति लोकेषु चैव द्वैपायनेनेति विनिश्चितं मे ।
एतस्य शिष्या हि क्षितिं चरन्ति सर्वर्त्विजः कर्मसु स्वेषु दक्षाः ॥ ९ ॥

मैंने निश्चय कर लिया है, कि भगवान् द्वैपायनके समान ऋत्विक् तीनों भुवनमें नहीं है, क्योंकि इनके शिष्यलोग ऋत्विक्गण अपने अपने कार्यमें निपुण होकरके भूमण्डलमें घूमते रहते हैं ॥ ९ ॥

विभावसुश्चित्रभानुर्महात्मा हिरण्यरेता विश्वभुक्कृष्णवर्त्मा ।
प्रदक्षिणावर्तशिखः प्रदीप्तो हव्यं तवेदं हुतभुग्वष्टि देवः ॥ १० ॥

प्रकाशरूपी धनवाले, रंगबिरंगी किरणोंसे युक्त, सोनेके समान तेजस्वी वीर्यवाले, सभी पदार्थोंको खानेवाले, अपने मार्गको धुंवेसे काला करनेवाले इस प्रदीप्त अग्निदेवकी ज्वालायें दांयी तरफ मुड रही हैं अतः इससे प्रतीत होता है कि ये अग्निदेव तुम्हारे इन हव्योंकी सचमुच इच्छा कर रहे हैं ॥ १० ॥

नेह त्वदन्यो विद्यते जीवलोके समो नृपः पालयिता प्रजानाम्।
धृत्या च ते प्रीतमनाः सदाहं त्वं वा राजा धर्मराजो यमो वा ॥ ११ ॥

हे राजन् ! इस जीवलोक भरमें आपके सदृश प्रजापालक महाराज और कोई नहीं है, आपके धीरजसे भी मैं सदा प्रसन्न हूं; आप या तो साक्षात् धर्मराज हैं अथवा यम हैं ॥ ११ ॥

शक्रः साक्षाद्वज्रपाणिर्यथेह त्राता लोकेऽस्मिंस्त्वं तथेह प्रजानाम्।
मतस्त्वं नः पुरुषेन्द्रेह लोके न च त्वदन्यो गृहपतिरस्ति यज्ञे ॥ १२ ॥

अथवा जिस प्रकार वज्रको हाथोंमें धारण करनेवाले साक्षात् इन्द्र देवलोकमें देवोंका पालन करते हैं उसी प्रकार आप इस लोकमें प्रजाओंके रक्षक और पालक हैं। हे पुरुषश्रेष्ठ ! आप इस लोकमें हमारे सम्मानके पात्र हैं, यज्ञमें आप जैसा यजमान इस लोकमें कोई दूसरा नहीं है ॥ १२ ॥

खट्वाङ्गनाभागदिलीपकल्पो ययातिमान्धातृसमप्रभावः।
आदित्यतेजःप्रतिमानतेजा भीष्मो यथा भ्राजसि सुव्रतस्त्वम् ॥ १३ ॥

आप खट्वाङ्ग, नाभाग और दिलीप नरेशोंके सदृश हैं, आप ययाति और मान्धाताकी भांति प्रभावशाली हैं, आप आदित्यके तेजके समान तेजस्वी हैं और आप भीष्मके सदृश व्रतशील होकरके विराजमान हैं ॥ १३ ॥

वाल्मीकिवत्ते निभृतं सुधैर्यं वसिष्ठवत्ते नियतश्च कोपः।
प्रभुत्वमिन्द्रेण समं मतं मे द्युतिश्च नारायणवद्विभाति ॥ १४ ॥

आपका धैर्य वाल्मीकिके धैर्यके समान गुप्त है, आपका क्रोध वसिष्ठके सदृश वशमें है, आपकी प्रभुता इन्द्रकीसी है और आपका तेज नारायणके तेजके समान है ॥ १४ ॥

यमो यथा धर्मविनिश्चयज्ञः कृष्णो यथा सर्वगुणोपपन्नः।
श्रियां निवासोऽसि यथा वसूनां निधानभूतोऽसि तथा क्रतूनाम् ॥ १५ ॥

आप यमके समान धर्मका निश्चय करनेवाले हैं, श्रीकृष्णके सदृश सर्व गुणयुक्त हैं, वसुओंके समान लक्ष्मीके वसनेके स्थान हैं तथा यज्ञोंके आप ही आश्रयस्थान हैं ॥ १५ ॥

दम्भोद्भवेनासि समो बलेन रामो यथा शस्त्रविदस्त्रविच्च।
और्वत्रिताभ्यामसि तुल्यतेजा दुष्प्रेक्षणीयोऽसि भगीरथो वा ॥ १६ ॥

दम्भोद्भवके समान बली हैं, रामचन्द्र जैसे अस्त्र शस्त्रोंको जाननेवाले हैं, त्रित और और्वके समान तेजस्वी और भगीरथकी भांति कठिनतासे देखने योग्य हैं ॥ १६ ॥

सूत उवाच

एवं स्तुताः सर्व एव प्रसन्ना राजा सदस्या ऋत्विजो हव्यवाहः ।
तेषां दृष्ट्वा भावितानीङ्गितानि प्रोवाच राजा जनमेजयोऽथ ॥ १७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥ १७४२ ॥

सूत बोले– राजा, सदस्य, ऋत्विक् और अग्नि सभी इस प्रकार स्तुत होने पर प्रसन्न हुए । तब राजा जनमेजय उनके हृदयके भाव और इशारोंको समझकर बोला ॥ १७ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें पचासवां अध्याय समाप्त ॥ ५० ॥ १७४२ ॥

: ५१ :

जनमेजय उवाच

बालो वाक्यं स्थविर इव प्रभाषते नायं बालः स्थविरोऽयं मतो मे ।
इच्छाम्यहं वरमस्मै प्रदातुं तन्मे विप्रा वितरध्वं समेताः ॥ १ ॥

जनमेजय बोले– यह बालक ऋषि वृद्धके समान बातें कह रहा है, अतः मेरा विचार है कि यह बालक नहीं अपितु वृद्ध है । मैं इसे वर देना चाहता हूं । ब्राह्मणो ! मिलकर आप इस विषयका उचित विचार करें ॥ १ ॥

सदस्या ऊचुः

बालोऽपि विप्रो मान्य एवेह राज्ञां यश्चाविद्वान्यश्च विद्वान्यथावत् ।
सर्वान्कामांस्त्वत्त एषोऽर्हतेऽद्य यथा च नस्तक्षक एति शीघ्रम् ॥ २ ॥

सदस्यलोग बोले– ब्राह्मण बालक भी हो, तो भी राजाके लिए माननीय होते हैं । वे चाहे विद्वान् हों या अविद्वान्, फिर भी यथावत् पूज्य होते हैं, अतएव आप इनके मनमाने सब वर दे सकते हैं, पर ऐसा करना चाहिये, कि हमारा तक्षक शीघ्र आवे ॥ २ ॥

सूत उवाच

व्याहर्तुकामे वरदे नृपे द्विजं वरं वृणीष्वेति ततोऽभ्युवाच ।
होता वाक्यं नातिहृष्टान्तरात्मा कर्मण्यस्मिंस्तक्षको नैति तावत् ॥ ३ ॥

सूत बोले– राजा वर देनेको अभिलाषी होकर आस्तीक मुनिसे यह कहने ही वाले थे, कि "वर मांगो" कि ऐसे समयमें होताने कुछ असन्तुष्ट चित्त होकर कहा, कि महाराज ! जबतक तक्षक इस यज्ञमें नहीं आता है, तबतक रुकिए ॥ ३ ॥

जनमेजय उवाच

यथा चेदं कर्म समाप्यते मे यथा च नस्तक्षक एति शीघ्रम्।
तथा भवन्तः प्रयतन्तु सर्वे परं शक्त्या स हि मे विद्विषाणः ॥ ४ ॥

जनमेजय बोले– आप लोग पूरी शक्तिके अनुसार ऐसी चेष्टा कीजिये, कि मेरा यह कार्य पूरा हो और हमारा वह तक्षक शीघ्र आवे; क्योंकि वह तक्षक ही मेरा शत्रु है ॥ ४ ॥

ऋत्विज ऊचुः

यथा शास्त्राणि नः प्राहुर्यथा शंसति पावकः।
इन्द्रस्य भवने राजंस्तक्षको भयपीडितः ॥ ५ ॥

ऋत्विक् बोले– कि हे राजन्! हमारे शास्त्र जैसा कह रहे हैं और अग्निदेव भी जैसा कह रहे हैं, कि तक्षक भयसे पीडित होकर इन्द्रके गृहमें छिपा हुआ है ॥ ५ ॥

सूत उवाच

यथा सूतो लोहिताक्षो महात्मा पौराणिको वेदितवान्पुरस्तात्।
स राजानं प्राह पृष्टस्तदानीं यथाहुर्विप्रास्तद्वदेतन्नृदेव ॥ ६ ॥

सूत बोले– महात्मा पौराणिक सूत लोहिताक्षने राजासे पूछे जाकर पहिले जिस प्रकार कहा था, तब भी फिर वैसा ही कहा, कि महाराज! ब्राह्मणलोग जो कहते हैं, वह सत्य है ॥६॥

पुराणमागम्य ततो ब्रवीम्यहं दत्तं तस्मै वरमिन्द्रेण राजन्।
वसेह त्वं मत्सकाशे सुगुप्तो न पावकस्त्वां प्रदहिष्यतीति ॥ ७ ॥

पुराणको देखकर तब मैं यह कह रहा हूं, कि हे राजन्! इन्द्रने उस तक्षकको यह वर दिया है कि " तुम मेरे पास यहां छिप कर रहो, अग्निदेव तुमको जला नहीं सकेंगे। " ॥७॥

एतच्छ्रुत्वा दीक्षितस्तप्यमान आस्ते होतारं चोदयन्कर्मकाले।
होता च यत्तः स जुहाव मन्त्रैरथो इन्द्रः स्वयमेवाजगाम ॥ ८ ॥
विमानमारुह्य महानुभावः सर्वैर्देवैः परिसंस्तूयमानः।
बलाहकैश्चाप्यनुगम्यमानो विद्याधरैरप्सरसां गणैश्च ॥ ९ ॥

यह सुनकर यज्ञमें दीक्षा लिए हुए राजा क्रोधित होकर उस यज्ञकालमें होताको प्रेरणा देने लगा, और होता भी प्रयत्न करके मंत्रोंके द्वारा अग्निमें आहुतियां देने लगा, तब सम्पूर्ण देवोंके द्वारा स्तुत होते हुए, बादल, विद्याधर और अप्सराओंके गण जिसके पीछे पीछे चल रहे हैं, ऐसा महात्मा इन्द्र विमान पर चढकर स्वयं वहां आकर उपस्थित हो गया ॥ ८–९॥

तस्योत्तरीये निहितः स नागो भयोद्विग्नः शर्म नैवाभ्यगच्छत् ।
ततो राजा मन्त्रविदोऽब्रवीत्पुनः क्रुद्धो वाक्यं तक्षकस्यान्तमिच्छन् ॥१०॥

भयसे उद्विग्न होकर उस इन्द्रके दुपट्टेमें छिपा हुआ वह नाग कहीं भी शरण न पा सका। तब तक्षकके नाशकी इच्छा करते हुए राजाने क्रोधित होकर मन्त्रज्ञ ऋषियोंसे फिर कहा ॥ १० ॥

इन्द्रस्य भवने विप्रा यदि नागः स तक्षकः ।
तमिन्द्रेणैव सहितं पातयध्वं विभावसौ ॥ ११ ॥

हे ब्राह्मणो ! यदि वह नाग तक्षक इन्द्रके भवनमें हो, तो इन्द्रके सहित ही उसको अग्निमें गिराइये ॥ ११ ॥

ऋत्विज ऊचुः

अयमायाति वै तूर्णं तक्षकस्ते वशं नृप ।
श्रूयतेऽस्य महान्नादो रुवतो भैरवं भयात् ॥ १२ ॥

ऋत्विजोंने कहा— कि हे महाराज ! तक्षक आपके वशमें होकर शीघ्र चला आ रहा है और भयसे व्याकुल होकर चिल्लानेके कारण उसकी घोर आवाज सुनाई दे रही है ॥ १२ ॥

नूनं मुक्तो वज्रभृता स नागो भ्रष्टश्चाङ्कान्मन्त्रविस्रस्तकायः ।
घूर्णन्नाकाशे नष्टसंज्ञोऽभ्युपैति तीव्रान्निःश्वासान्निःश्वसन्पन्नगेन्द्रः ॥ १३ ॥

निश्चयसे जान पडता है, कि वज्रधारी देवराजने उस नागको छोड दिया है, सो मन्त्रके बलसे खींचे जाकर इन्द्रकी गोदसे भ्रष्ट होकर तथा अस्तव्यस्त शरीरवाला होकर वह सर्पनाथ तेज सांस छोडता हुआ आकाशमें चक्कर खा खाकर और चेतना-वर्जित होकर आ रहा है ॥१३॥

वर्तते तव राजेन्द्र कर्मैतद्विधिवत्प्रभो ।
अस्मै तु द्विजमुख्याय वरं त्वं दातुमर्हसि ॥ १४ ॥

हे राजेन्द्र प्रभो ! अब आपका कार्य विधिपूर्वक हुआ है, अब इन ब्राह्मणश्रेष्ठको आप वर दे सकते हैं ॥ १४ ॥

जनमेजय उवाच

बालाभिरूपस्य तवाप्रमेय वरं प्रयच्छामि यथानुरूपम् ।
वृणीष्व यत्तेऽभिमतं हृदि स्थितं तत्ते प्रदास्याम्यपि चेददेयम् ॥ १५ ॥

जनमेजय बोले— हे अप्रमेय बालक ! तुम जैसे योग्य पात्र हो, मैं तुमको वैसा ही वर दूंगा। तुम्हारे चित्तमें जो अभिलाषा हो; उसे मांगो, यदि वह मेरे देनेके अयोग्य भी होगा, तो भी दूंगा ॥ १५ ॥

सूत उवाच

पतिष्यमाणे नागेन्द्रे तक्षके जातवेदसि ।
इदमन्तरमित्येवं तदास्तीकोऽभ्यचोदयत् ॥ १६ ॥

सूत बोले– नागराज तक्षकके अग्निमें गिरते समय आस्तीक मुनि वरको मांगनेका समय जानकर उससे बोले ॥ १६ ॥

वरं ददासि चेन्मह्यं वृणोमि जनमेजय ।
सत्रं ते विरमत्वेतन्न पतेयुरिहोरगाः ॥ १७ ॥

हे जनमेजय ! यदि आप मुझे वर दे रहे हैं तो मैं यही मांगता हूं, कि आपका यह सर्पयज्ञ बन्द होवे और अब इसमें सर्प न गिरें ॥ १७ ॥

एवमुक्तस्ततो राजा ब्रह्मन्पारिक्षितस्तदा ।
नातिहृष्टमना वाक्यमास्तीकमिदमब्रवीत् ॥ १८ ॥

ब्रह्मन् ! तब इस प्रकार कहे जाने पर परिक्षित्-पुत्र राजाने अप्रसन्न चित्तसे आस्तीकसे यह वचन कहे ॥ १८ ॥

सुवर्णं रजतं गाश्च यच्चान्यन्मन्यसे विभो ।
तत्ते दद्यां वरं विप्र न निवर्तेत्क्रतुर्मम ॥ १९ ॥

विभो ! आप सोना, चांदी, गौ वा और किसी भी वस्तुकी प्रार्थना कीजिये, वह सभी आपको दे सकूंगा; पर हे विप्र ! मेरा यह यज्ञ बन्द नहीं होगा ॥ १९ ॥

आस्तीक उवाच

सुवर्णं रजतं गाश्च न त्वां राजन्वृणोम्यहम् ।
सत्रं ते विरमत्वेतत्स्वास्ति मातृकुलस्य नः ॥ २० ॥

आस्तीकने उत्तर दिया– हे राजन् ! मैं सोना, चांदी, गौ आदि कुछ भी तुमसे नहीं मांगता, आपका यह यज्ञ बन्द हो, उसीसे मेरे मातृकुलका मंगल होगा ॥ २० ॥

सूत उवाच

आस्तीकेनैवमुक्तस्तु राजा पारिक्षितस्तदा ।
पुनः पुनरुवाचेदमास्तीकं वदतां वरम् ॥ २१ ॥
अन्यं वरय भद्रं ते वरं द्विजवरोत्तम ।
अयाचत न चाप्यन्यं वरं स भृगुनन्दन ॥ २२ ॥

सूत बोले– मुनि आस्तीकके ऐसा उत्तर देनेपर उस बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ आस्तीकसे राजा जनमेजय बार बार यह कहने लगे, कि " हे द्विजश्रेष्ठ ! आप दूसरा वर मांगिये तो आपके लिये मंगल होगा।" पर हे भृगुनन्दन ! आस्तीकने किसी प्रकार दूसरे वरकी मांग नहीं की ॥ २१-२२ ॥

ततो वेदविदस्तत्र सदस्याः सर्व एव तम् ।
राजानमूचुः सहिता लभतां ब्राह्मणो वरम् ॥ २३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥ १७६५ ॥

तब सभी वेद जाननेवाले सदस्योंने मिलकर उस राजासे कहा, कि ब्राह्मणकुमार वर प्राप्त करे ॥ २३ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें इक्यावनवां अध्याय समाप्त ॥ ५१ ॥ १७६५ ॥

: ५२ :

शौनक उवाच

ये सर्पाः सर्पसत्रेऽस्मिन्पतिता हव्यवाहने ।
तेषां नामानि सर्वेषां श्रोतुमिच्छामि सूतज ॥ १ ॥

शौनकने पूछा– हे सूतपुत्र ! उस सर्पयज्ञमें जो सर्प अग्निमें आ गिरे थे, उन सबके नाम सुनना चाहता हूं ॥ १ ॥

सूत उवाच

सहस्राणि बहून्यस्मिन्प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
न शक्यं परिसंख्यातुं बहुत्वाद्वेदवित्तम ॥ २ ॥

सूत बोले– हे वेद जाननेवालोंमें श्रेष्ठ शौनक ! सहस्रों, लाखों, अरबों सर्प अग्निमें जल मरे थे, इसलिए बहुत होनेके कारण उनकी संख्या नहीं हो सकती ॥ २ ॥

यथास्मृति तु नामानि पन्नगानां निबोध मे ।
उच्यमानानि मुख्यानां हुतानां जातवेदसि ॥ ३ ॥

पर अपने स्मरणके अनुसार अग्निमें जल जानेवाले मुख्य मुख्य सांपोंके कहे जानेवाले नामोंको मुझसे सुनो ॥ ३ ॥

वासुकेः कुलजांस्तावत्प्राधान्येन निबोध मे ।
नीलरक्तान्सितान्घोरान्महाकायान्विषोल्बणान् ॥ ४ ॥

पहिले उनमें वासुकि--वंशोत्पन्न नीले, लाल, सफेद, बडे शरीरवाले, घोर विषसे भयावने प्रधान प्रधान सर्पोंके नाम मुझसे सुनिये ॥ ४ ॥

कोटिको मानसः पूर्णः सहः पैलो हलीसकः ।
पिच्छिलः कोणपश्चक्रः कोणवेगः प्रकालनः ॥ ५ ॥

कोटिक, मानस, पूर्ण, सह, पैल, हलीसक, पिच्छिल, कोणप, चक्र, कोणवेग, प्रकालन ॥५॥

हिरण्यबाहः शरणः कक्षकः कालदन्तकः ।
एते वासुकिजा नागाः प्रविष्टा हव्यवाहनम् ॥ ६ ॥

हिरण्यवाह, शरण, कक्षक और कालदन्तक ये वासुकि--वंशोत्पन्न सर्प जलती हुई आगमें गिरे थे ॥ ६ ॥

तक्षकस्य कुले जातान्प्रवक्ष्यामि निबोध तान् ।
पुच्छण्डको मण्डलकः पिण्डभेत्ता रभेणकः ॥ ७ ॥

तक्षकके कुलमें उत्पन्न हुए सर्पोंके नाम कहता हूं, सुनिये । पुच्छण्डक, मण्डलक, पिण्ड-भेत्ता, रभेणक ॥ ७ ॥

उच्छिखः सुरसो द्रङ्गो बलहेडो विरोहणः ।
शिलीशलकरो मूकः सुकुमारः प्रवेपनः ॥ ८ ॥

उच्छिख, सुरस, द्रङ्ग, बलहेड, विरोहण, शिलीशलकर, मूक, सुकुमार, प्रवेपन ॥८॥

मुद्गरः शशरोमा च सुमना वेगवाहनः ।
एते तक्षकजा नागाः प्रविष्टा हव्यवाहनम् ॥ ९ ॥

मुद्गर, शशरोमा, सुमना और वेगवाहन ये तक्षकवंशोत्पन्न सब सर्प अग्निमें प्रविष्ट हुए थे ॥९॥

पारावतः पारियात्रः पाण्डरो हरिणः कृशः ।
विहङ्गः शरभो मोदः प्रमोदः संहताङ्गदः ॥ १० ॥
ऐरावतकुलादेते प्रविष्टा हव्यवाहनम् ।
कौरव्यकुलजान्नागाञ्शृणु मे द्विजसत्तम ॥ ११ ॥

पारावत, पारियात्र, पाण्डर, हरिण, कृश, विहङ्ग, शरभ, मोद, प्रमोद और संहतांगद यह सब ऐरावतवंशोत्पन्न नाग आगमें गिरे थे । हे द्विजोत्तम ! अब कौरव्यकुलमें उत्पन्न नागोंके नाम मुझसे सुनो ॥ १०-११ ॥

ऐण्डिलः कुण्डलो मुण्डो वेणिस्कन्धः कुमारकः ।
बाहुकः शृङ्गवेगश्च धूर्तकः पातपातरौ ॥ १२ ॥

ऐण्डिल, कुण्डल, मुण्ड, वेणिस्कन्ध, कुमारक, बाहुक, शृङ्गवेग, धूर्तक, पात, पातर यह सब नाग आगमें घुसे थे ॥ १२ ॥

धृतराष्ट्रकुले जाताञ्शृणु नागान्यथातथम् ।
कीर्त्यमानान्मया ब्रह्मन्वातवेगान्विषोल्बणान् ॥ १३ ॥

हे ब्रह्मन् ! अब मेरे द्वारा कहे जानेवाले धृतराष्ट्रवंशोत्पन्न विषधारी वायुवत् वेगवान् नागोंके नाम यथावत् सुनिये ॥ १३ ॥

शङ्कुकर्णः पिङ्गलकः कुठारमुखमेचकौ ।
पूर्णाङ्गदः पूर्णमुखः प्रहसः शकुनिर्हरिः ॥ १४ ॥

शङ्कुकर्ण, पिंगलक, कुठार, मुखसेचक, पूर्णाङ्गद, पूर्णमुख, प्रहस, शकुनि, हरि ॥ १४ ॥

आमाहठः कोमठकः श्वसनो मानवो वटः ।
भैरवो मुण्डवेदाङ्गः पिशङ्गश्चोद्रपारगः ॥ १५ ॥

आमाहठ, कोमठक, श्वसन, मानव, वट, भैरव, मुण्डवेदांग, पिशंग, उद्रपारग ॥ १५ ॥

ऋषभो वेगवान्नाम पिण्डारकमहाहनू ।
रक्ताङ्गः सर्वसारङ्गः समृद्धः पाटराक्षसौ ॥ १६ ॥

ऋषभ, वेगवान् नाग, पिण्डारक, महाहनू, रक्ताङ्ग, सर्वसारङ्ग, समृद्ध, पाट और राक्षस ॥ १६ ॥

वराहको वारणकः सुमित्रश्चित्रवेदिकः ।
पराशरस्तरुणको मणिस्कन्धस्तथारुणिः ॥ १७ ॥

वराहक, वारणक, सुमित्र, चित्रवेदिक, पराशर, तरुणक, मणि, स्कन्ध और अरुणि ॥ १७ ॥

इति नागा मया ब्रह्मन्कीर्तिताः कीर्तिवर्धनाः ।
प्राधान्येन बहुत्वात्तु न सर्वे परिकीर्तिताः ॥ १८ ॥

हे ब्रह्मन् ! इस प्रकार सब बडे बडे यशस्वी सर्पोंके नाम प्राधान्यतासे कह चुका, अधिक होनेके कारण सब सर्पोंके नाम नहीं कह सका ॥ १८ ॥

एतेषां पुत्रपौत्रास्तु प्रसवस्य च संततिः ।
न शक्याः परिसंख्यातुं ये दीप्तं पावकं गताः ॥ १९ ॥

इनके बेटे और इनके पोते तथा उनकी भी सन्तानें जो जलती हुई आगमें गिरी थीं, उनकी संख्या नहीं गिनी जा सकती ॥ १९ ॥

सप्तशीर्षा द्विशीर्षाश्च पञ्चशीर्षास्तथापरे ।
कालानलविषा घोरा हुताः शतसहस्रशः ॥ २० ॥

इनके सिवाय सात सिरयुक्त, दो सिरयुक्त, पांच सिरयुक्त प्रलय कालिक अग्निके समान विष धरनेवाले सैंकडों हजारों भयानक सांप जला दिए गए ॥ २० ॥

महाकाया महावीर्याः शैलशृङ्गसमुच्छ्रयाः ।
योजनायामविस्तारा द्वियोजनसमायताः ॥ २१ ॥
कामरूपाः कामगमा दीप्तानलविषोल्बणाः ।
दग्धास्तत्र महासत्रे ब्रह्मदण्डनिपीडिताः ॥ २२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥ १७८७ ॥

बडे भारी शरीरवाले, अति वीर्यवान् , पहाडकी चोटी जैसे ऊंचे, योजन भर लम्बे और दो योजन चौडे, इच्छाके अनुसार रूप धारण करनेवाले, इच्छाके अनुसार सर्वत्र जानेवाले प्रदीप्त अग्निके समान विषधारी सर्प ब्रह्मदण्डसे पीडित होकर उस महायज्ञमें जल गये थे ॥ २१–२२ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें बावनवां अध्याय समाप्त ॥ ५२ ॥ १७८७ ॥

: ५३ :

सूत उवाच

इदमत्यद्भुतं चान्यदास्तीकस्यानुशुश्रुमः ।
तथा वरैश्छन्द्यमाने राज्ञा पारिक्षितेन ह ॥ १ ॥

सूत बोले-- परिक्षित्पुत्र जनमेजयके उस प्रकार आस्तीकको वर देनेके लिए प्रस्तुत होनेपर और एक आश्चर्य लीला हमने सुनी ॥ १ ॥

इन्द्रहस्താच्च्युतो नागः ख एव यदतिष्ठत ।
ततश्चिन्तापरो राजा बभूव जनमेजयः ॥ २ ॥

नागराज तक्षक इन्द्रके हाथसे छूट कर आकाशहीमें ठहर गया, तब राजा जनमेजय चिन्तासे युक्त हो गया ॥ २ ॥

हूयमाने भृशं दीप्ते विधिवत्पावके तदा ।
न स्म स प्रापतद्वह्नौ तक्षको भयपीडितः ॥ ३ ॥

भयसे व्याकुल होने पर भी तक्षक विधिपूर्वक आहुति दी हुई तथा अच्छी तरहसे जलती आगमें नहीं गिरा ॥ ३ ॥

शौनक उवाच

किं सूत तेषां विप्राणां मन्त्रग्रामो मनीषिणाम् ।
न प्रत्यभात्तदाग्नौ यन्न पपात स तक्षकः ॥ ४ ॥

शौनकने पूछा— हे सूत ! क्या उस समय मनीषासम्पन्न उन ब्राह्मणोंका मन्त्र प्रतिभा युक्त नहीं हुआ था, कि जिससे वह तक्षक आगमें नहीं गिरा ? ॥ ४ ॥

सूत उवाच

तमिन्द्रहस्ताद्विस्रस्तं विसंज्ञं पन्नगोत्तमम् ।
आस्तीकस्तिष्ठ तिष्ठेति वाचस्तिस्रोऽभ्युदैरयत् ॥ ५ ॥

सूत बोले– चेतना खोये हुए तथा इन्द्रके हाथसे छूट कर गिरते हुए नागश्रेष्ठसे मुनि आस्तीकने " ठहरो, ठहरो " ये शब्द तीनबार कहे थे ॥ ५ ॥

वितस्थे सोऽन्तरिक्षेऽथ हृदयेन विदूयता ।
यथा तिष्ठेत वै कश्चिद्गोचक्रस्यान्तरा नरः ॥ ६ ॥

जैसे कोई पुरुष दो पहियोंके बीचमें ही लटक कर रह जाए, वैसे ही तक्षक दुःखी चित्तसे आकाशहीमें लटका रह गया ॥ ६ ॥

ततो राजाब्रवीद्वाक्यं सदस्यैश्चोदितो भृशम् ।
काममेतद्भवत्वेवं यथास्तीकस्य भाषितम् ॥ ७ ॥

तब सदस्योंके बहुत अनुरोध करने पर राजाने कहा, कि अच्छा, आस्तीक जो कहते हैं, वही होवे ॥ ७ ॥

समाप्यतामिदं कर्म पन्नगाः सन्त्वनामयाः ।
प्रीयतामयमास्तीकः सत्यं सूतवचोऽस्तु तत् ॥ ८ ॥

सर्पयज्ञका यह कर्म समाप्त होवे, सर्प दुःखसे बच जायें यह आस्तीक प्रसन्न हों, तथा सूतकी वह वाणी सत्य हो ॥ ८ ॥

ततो हलहलाशब्दः प्रीतिजः समवर्तत ।
आस्तीकस्य वरे दत्ते तथैवोपरराम च ॥ ९ ॥
स यज्ञः पाण्डवेयस्य राज्ञः पारिक्षितस्य ह ।
प्रीतिमांश्चाभवद्राजा भारतो जनमेजयः ॥ १० ॥

तब चारों ओरसे उत्पन्न हुई आनन्दकी हलहल ध्वनि होने लगी; मुनि आस्तीकको वर दे देने पर पाण्डुवंशोत्पन्न परिक्षित्के पुत्र राजा जनमेजयका वह यज्ञ बन्द हुआ और भरतवंशी वह राजा जनमेजय भी प्रसन्न हुआ ॥ ९-१० ॥

ऋत्विग्भ्यःससदस्येभ्यो ये तत्रासन्समागताः ।
तेभ्यश्च प्रददौ वित्तं शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ११ ॥

तथा उसने ऋत्विक, सदस्य और दूसरे लोगोंको, जो उस यज्ञमें आये थे, सैंकडों सहस्रों मुद्रायें दानमें दीं ॥ ११ ॥

लोहिताक्षाय सूताय तथा स्थपतये विभुः ।
येनोक्तं तत्र सत्राग्रे यज्ञस्य विनिवर्तनम् ॥ १२ ॥
निमित्तं ब्राह्मण इति तस्मै वित्तं ददौ बहु ।
ततश्चकारावभृथं विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ १३ ॥

और जिसने यज्ञसे पहले कहा था कि एक ब्राह्मणके कारण यह यज्ञ समाप्त हो जाएगा राजाने उस स्थपति सूत लोहिताक्षके लिए भी बहुतसा धन दिया फिर अन्तमें विविध कर्मके अनुसार यज्ञान्त स्नान किया ॥ १२-१३ ॥

आस्तीकं प्रेषयामास गृहानेव सुसत्कृतम् ।
राजा प्रीतमनाः प्रीतं कृतकृत्यं मनीषिणम् ॥ १४ ॥

इसके बाद सन्तुष्ट मनवाले होकरके उस राजाने कृतकृत्य किये हुए और प्रसन्नचित्त बुद्धिमान् आस्तीककी यथोचित पूजा करके उसे घर भेज दिया ॥ १४ ॥

पुनरागमनं कार्यमिति चैनं वचोऽब्रवीत् ।
भविष्यसि सदस्यो मे वाजिमेधे महाक्रतौ ॥ १५ ॥

और कह दिया कि आप फिर आइए, तथा मेरे अश्वमेध नामक महायज्ञमें आप सदस्य होइये ॥ १५ ॥

तथेत्युक्त्वा प्रदुद्राव स चास्तीको मुदा युतः ।
कृत्वा स्वकार्यमतुलं तोषयित्वा च पार्थिवम् ॥ १६ ॥

आस्तीक इस प्रकार महान् कार्यको करके अति प्रीतिचित्तसे राजाको प्रसन्न करके तथास्तु कहकर चले गये ॥ १६ ॥

स गत्वा परमप्रीतो मातरं मातुलं च तम् ।
अभिगम्योपसंगृह्य यथावृत्तं न्यवेदयत् ॥ १७ ॥

और उन्होंने बहुत आनन्दित होकर माता और मामाके पास जाकर प्रणामपूर्वक जो कुछ भी हुआ था, वह सब वृत्तान्त कह सुनाया ॥ १७ ॥

एतच्छ्रुत्वा प्रीयमाणाः समेता ये तत्रासन्पन्नगा वीतमोहाः ।
तेऽस्तीके वै प्रीतिमन्तो बभूवुरूचुश्चैनं वरमिष्टं वृणीष्व ॥ १८ ॥

यह सुनकर वहां जितने भी सर्प थे, सब भयसे रहित होकर बहुत खुश हुए और वे आस्तीकसे अत्यधिक प्रेम करने लगे और इससे बोले कि जो इच्छा हो, वह वर मांगो ॥ १८ ॥

भूयो भूयः सर्वशस्तेऽब्रुवंस्तं किं ते प्रियं करवामोऽद्य विद्वन् ।
प्रीता वयं मोक्षिताश्चैव सर्वे कामं किं ते करवामोऽद्य वत्स ॥ १९ ॥

हमको बचानेके हेतु हम सब तुमपर बडे सन्तुष्ट हुए हैं, वे सब आस्तीकसे बार बार कहने लगे कि हे विद्वन् ! आज हम तुम्हारा क्या प्रिय करें? हम सबको तुमने छुडाया है, इसलिए हम तुमसे बहुत प्रसन्न हैं, अतः हे वत्स ! बताओ, हम आज तुम्हारी कौनसी अभिलाषा पूर्ण करें ॥ १९ ॥

आस्तीक उवाच

सायं प्रातः सुप्रसन्नात्मरूपा लोके विप्रा मानवाश्चेतरेऽपि ।
धर्माख्यानं ये वदेयुर्ममेदं तेषां युष्मद्भ्यो नैव किंचिद्भयं स्यात् ॥ २० ॥

आस्तीक बोले– इस भूमण्डलमें जो सब ब्राह्मण वा दूसरे मनुष्य प्रसन्न चित्तवाले होकर प्रातःकाल वा सन्ध्याके समय मेरा यह धर्म आख्यान पढें, उनको तुमसे कोई भय नहीं रहे ॥ २० ॥

सूत उवाच

तैश्चाप्युक्तो भागिनेयः प्रसन्नैरेतत्सत्यं काममेवं चरन्तः ।
प्रीत्या युक्ता ईप्सितं सर्वशस्ते कर्तारः स्म प्रवणा भागिनेय ॥ २१ ॥

सूत बोले– तब प्रसन्न हुए हुए सांपोंने अपने भांजे आस्तीकसे कहा– " हे भांजे ! जो इस प्रकारका आचरण करेंगे अर्थात् सायं प्रातः तुम्हारे इस धर्माख्यानका पाठ करेंगे, उनके बारेमें तुम्हारी इच्छा सच होगी अर्थात् हम उन्हें नहीं डसेंगे । प्रीतिसे युक्त हम तुम्हारे मांगे हुए वरको खुशीसे और तत्परतासे पूरा करेंगे ॥ २१ ॥

जरत्कारोर्जरत्कार्वां समुत्पन्नो महायशाः ।
आस्तीकः सत्यसंधो मां पन्नगेभ्योऽभिरक्षतु ॥ २२ ॥

जरत्कारुके वीर्य और जरत्कारुके गर्भसे उत्पन्न महायशस्वी तथा सत्यशील आस्तीक सांपोंसे मेरी रक्षा करे ॥ २२ ॥

असितं चार्तिमन्तं च सुनीथं चापि यः स्मरेत् ।
दिवा वा यदि वा रात्रौ नास्य सर्पभयं भवेत् ॥ २३ ॥

इस प्रकार जो दिन वा रात्रिमें असित, आर्त्तिमान् और सुनीथको स्मरण करेगा, उसको सर्पोंसे भय नहीं रहेगा ॥ २३ ॥

सूत उवाच

मोक्षयित्वा स भुजगान्सर्पसत्राद्‌द्विजोत्तमः ।
जगाम काले धर्मात्मा दिष्टान्तं पुत्रपौत्रवान् ॥ २४ ॥

सूत बोले— धर्मात्मा द्विजोत्तम आस्तीक इस प्रकार सर्पोंकी सर्पयज्ञमे रक्षा कर पुत्र पौत्रादि युक्त होकर उचित समयमें परलोकको सिधारे ॥ २४ ॥

इत्याख्यानं मयास्तीकं यथावत्कीर्तिनं तव ।
यत्कीर्तयित्वा सर्पेभ्यो न भयं विद्यते क्वचित् ॥ २५ ॥
श्रुत्वा धर्मिष्ठमाख्यानमास्तीकं पुण्यवर्धनम् ।
आस्तीकस्य कवेर्विप्र श्रीमच्चरितमादितः ॥ २६ ॥

इस प्रकार, हे विप्र शौनक ! मैंने आपके सामने आस्तीककी कथा ठीक ठीक सुना दी है। इस ज्ञानी आस्तीकके उत्तम चरित्रका वर्णन करनेवाले तथा पुण्य बढानेवाले धर्मयुक्त आस्तीक आख्यानको जो सुनता अथवा पढता है, उसे कहीं भी सांपोंसे डर नहीं होता ॥२५-२६॥

शौनक उवाच

भृगुवंशात्प्रभृत्येव त्वया मे कथितं महत् ।
आख्यानमखिलं तात सौते प्रीतोऽस्मि तेन ते ॥ २७ ॥

शौनक बोले— हे तात ! तुमने मेरे सामने भृगुवंशसे लेकर जो सब महत् आख्यान कीर्तन किये हैं, उस कारण मैं तुमपर बडा प्रसन्न हुआ हूं ॥ २७ ॥

प्रक्ष्यामि चैव भूयस्त्वां यथावत्सूतनन्दन ।
यां कथां व्याससंपन्नां तां च भूयः प्रचक्ष्व मे ॥ २८ ॥

तो भी, हे सूतनन्दन ! तुमसे फिर पूछता हूं, कि व्यासजीके द्वारा कही गई जो कथायें हैं, हे महाकवे ! उन सबको तुम जैसीकी तैसी विस्तारसे फिर कहो ॥ २८ ॥

तस्मिन्परमदुष्प्रापे सर्पसत्रे महात्मनाम् ।
कर्मान्तरेषु विधिवत्सदस्यानां महाकवे ॥ २९ ॥
या बभूवुः कथाश्चित्रा येष्वर्थेषु यथातथम् ।
त्वत्त इच्छामहे श्रोतुं सौते त्वं वै विचक्षणः ॥ ३० ॥

हे महाज्ञानी सूतपुत्र ! महात्माओंके उस कठिनतासे सम्पन्न होनेवाले सर्पसत्रमें यज्ञानुष्ठानके अवसरपर तथा दूसरे कार्मोंके समय बडे ज्ञानी सदस्योंकी जो अनेक तरहकी कथायें अनेक विषयोंपर हुई, उनको उन्हीं रूपोंमें हम तुमसे सुनना चाहते हैं। हे सूतपुत्र ! तुम बहुत बुद्धिमान् हो ॥ २९-३० ॥

सूत उवाच

कर्मान्तरेष्वकथयन्द्विजा वेदाश्रयाः कथाः ।
व्यासस्त्वकथयन्नित्यमाख्यानं भारतं महत् ॥ ३१ ॥

सूत बोले– सर्पयज्ञके अवसरपर ब्राह्मणोंने वेदोंके आधारसे अनेक कथायें कही थीं, उस समय व्यासजी महाभारत नामक आख्यानको रोज सुनाया करते थे ॥ ३१ ॥

शौनक उवाच

महाभारतमाख्यानं पाण्डवानां यशस्करम् ।
जनमेजयेन यत्पृष्टः कृष्णद्वैपायनस्तदा ॥ ३२ ॥
श्रावयामास विधिवत्तदा कर्मान्तरेषु सः ।
तामहं विधिवत्पुण्यां श्रोतुमिच्छामि वै कथाम् ॥ ३३ ॥

शौनक बोले– उस समय जनमेजयके द्वारा पूछे जानेपर कृष्णद्वैपायनने उसे पाण्डवोंकी कीर्ति बढानेवाले महाभारतकी कथाको, यज्ञकर्मके बीच बीचमें विधिपूर्वक सुनाया था, उस पवित्र कथाको विधिपूर्वक मैं सुनना चाहता हूँ ॥ ३२-३३ ॥

मनःसागरसंभूतां महर्षेः पुण्यकर्मणः ।
कथयस्व सतां श्रेष्ठ न हि तृप्यामि सूतज ॥ ३४ ॥

हे सज्जनोंमें श्रेष्ठ सूतपुत्र ! पुण्यकर्म करनेवाले महर्षिके हृदयरूपी समुद्रमेंसे निकले हुए, उस कथाको सुनाओ, अभीतक मैं तृप्त नहीं हुआ हूं ॥ ३४ ॥

सूत उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि महदाख्यानमुत्तमम् ।
कृष्णद्वैपायनमतं महाभारतमादितः ॥ ३५ ॥

सूत बोले– अच्छा, आपको कृष्णद्वैपायनके द्वारा कहे हुए महाभारत नामक अति श्रेष्ठ महाख्यानको शुरुसे कहूंगा ॥ ३५ ॥

तज्जुषस्वोत्तममते कथ्यमानं मया द्विज ।
शंसितुं तन्मनोहर्षो ममापीह प्रवर्तते ॥ ३६ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥ १८२३ ॥ समाप्तमास्तीकपर्व ॥

हे उत्तम बुद्धिमान् द्विज ! मेरे द्वारा कहे जाते हुए उस आख्यानको सुनिये, इसके कहनेसें मेरा भी मन बडा हर्षित होता है ॥ ३६ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें तिरेपनवां अध्याय समाप्त ॥ ५३ ॥ १८२३ ॥ आस्तीकपर्व समाप्त हुआ ॥

: ५४ :

सूत उवाच

श्रुत्वा तु सर्पसत्राय दीक्षितं जनमेजयम्।
अभ्यागच्छदृषिर्विद्वान्कृष्णद्वैपायनस्तदा ॥ १ ॥
जनयामास यं काली शक्तेः पुत्रात्पराशरात्।
कन्यैव यमुनाद्वीपे पाण्डवानां पितामहम् ॥ २ ॥

सूत बोले– पाण्डवोंके पितामह जिन (कृष्णद्वैपायन) को शक्तिके पुत्र पराशरके वीर्यसे सत्यवतीने यमुना द्वीपपर कुमारीकी अवस्थामें ही पैदा किया था, वे विद्वान् ऋषि कृष्ण द्वैपायन तब जनमेजयके सर्पयज्ञमें दीक्षित होनेकी बात सुनकर वहां गए ॥ १-२ ॥

जातमात्रश्च यः सद्य इष्टया देहमवीवृधत्।
वेदांश्चाधिजगे साङ्गान्सेतिहासान्महायशाः ॥ ३ ॥

जिन महर्षिने जन्म लेते ही उसीक्षण यज्ञ करके देहको बढा लिया था और वेद, वेदांग, इतिहास आदि सम्पूर्ण शास्त्र पढ लिए ॥ ३ ॥

यं नाति तपसा कश्चिन्न वेदाध्ययनेन च।
न व्रतैर्नोपवासैश्च न प्रसूत्या न मन्युना ॥ ४ ॥

जिनसे न कोई तपसे आगे बढ सका, न वेदाध्ययनसे, न व्रतोंसे, न उपवासोंसे, न जन्मसे और न क्रोधमें ही कोई उनसे आगे बढ सका ॥ ४ ॥

विव्यासैकं चतुर्धा यो वेदं वेदविदां वरः।
परावरज्ञो ब्रह्मर्षिः कविः सत्यव्रतः शुचिः ॥ ५ ॥

जिन परात्पर परमेश्वरके तत्त्व जाननेवाले, सत्यव्रतधारी, अतीतदर्शी शुद्धाचारी, वेदज्ञोंमें श्रेष्ठ ब्रह्मर्षिने एक वेदको चार भागोंमें बांटा ॥ ५ ॥

यः पाण्डुं धृतराष्ट्रं च विदुरं चाप्यजीजनत्।
शान्तनोः सन्ततिं तन्वन्पुण्यकीर्तिर्महायशाः ॥ ६ ॥

जिन पुण्यकीर्त्तिवाले अति यशस्वी महर्षिने शान्तनुवंशकी सन्तानका विस्तार करते हुए पाण्डु, धृतराष्ट्र और विदुरको उत्पन्न किया था ॥ ६ ॥

जनमेजयस्य राजर्षेः स तद्यज्ञसदस्तदा।
विवेश शिष्यैः सहितो वेदवेदाङ्गपारगैः ॥ ७ ॥

उन्हीं महात्माने वेद वेदाङ्गमें पण्डित अपने शिष्योंके साथ राजर्षि जनमेजयकी यज्ञ-सभामें प्रवेश किया ! ॥ ७ ॥

तत्र राजानमासीनं ददर्श जनमेजयम् ।
वृतं सदस्यैर्बहुभिर्देवैरिव पुरन्दरम् ॥ ८ ॥
तथा मूर्धावसिक्तैश्च नानाजनपदेश्वरैः ।
ऋत्विग्भिर्देवकल्पैश्च कुशलैर्यज्ञसंस्तरे ॥ ९ ॥

वहां, देवोंसे जिस प्रकार इन्द्र घिरे रहते हैं, उसी प्रकार अनेक सदस्यों, नाना देशोंके मूर्धाभिषिक्त राजाओं, देवोंके समान तथा यज्ञकर्मको करनेमें कुशल ऋत्विजोंसे घिरे हुए राजा जनमेजयको देखा ॥ ८–९ ॥

जनमेजयस्तु राजर्षिर्दृष्ट्वा तमृषिमागतम् ।
सगणोऽभ्युद्ययौ तूर्णं प्रीत्या भरतसत्तमः ॥ १० ॥

राजर्षि जनमेजय तो उन ऋषिको आया देखकर प्रसन्नचित्तसे साथियोंके साथ शीघ्र ही उनके पास गए ॥ १० ॥

काञ्चनं विष्टरं तस्मै सदस्यानुमते प्रभुः ।
आसनं कल्पयामास यथा शक्रो बृहस्पतेः ॥ ११ ॥

देवराज इन्द्र जिस प्रकार बृहस्पतिको आसन देते हैं, वैसे ही प्रभु जनमेजयने सदस्योंसे सहमत होकर उन महर्षिको सुवर्णका आसन दिया ॥ ११ ॥

तत्रोपविष्टं वरदं देवर्षिगणपूजितम् ।
पूजयामास राजेन्द्रः शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ॥ १२ ॥

और वह उसपर बैठे हुए वर देनेवाले और देवर्षियोंसे पूजे जानेवाले उन कृष्णद्वैपायनकी राजेन्द्र जनमेजयने शास्त्रोचित कर्मसे पूजा की ॥ १२ ॥

पाद्यमाचमनीयं च अर्घ्यं गां च विधानतः ।
पितामहाय कृष्णाय तदर्हाय न्यवेदयत् ॥ १३ ॥

और उन पितामह कृष्ण व्यासको उनके योग्य पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय और गौको विधिपूर्वक समर्पित किया ॥ १३ ॥

प्रतिगृह्य च तां पूजां पाण्डवाज्जनमेजयात् ।
गां चैव समनुज्ञाय व्यासः प्रीतोऽभवत्तदा ॥ १४ ॥

भगवान् व्यास पाण्डुवंशोत्पन्न जनमेजयसे वह सब पूजा लेकर तथा गौ स्वीकार करके बहुत प्रसन्न हुए ॥ १४ ॥

तथा संपूजयित्वा तं यत्नेन प्रपितामहम् ।
उपोपविश्य प्रीतात्मा पर्यपृच्छदनामयम् ॥ १५ ॥

जनमेजयने यत्नसे अपने प्रपितामहको पूजकर उनके निकट बैठकर प्रसन्नचित्तसे उनकी कुशल पूछी ॥ १५ ॥

भगवानपि तं दृष्ट्वा कुशलं प्रतिवेद्य च ।
सदस्यैः पूजितः सर्वैः सदस्यानभ्यपूजयत् ॥ १६ ॥

भगवान् व्यासने भी उन्हें देखकर उनसे अपना कुशल कहा; तथा सदस्यलोगोंके द्वारा पूजित होकर उन्होंने भी उन सदस्योंकी यथोचित अभ्यर्थना की ॥ १६ ॥

ततस्तं सत्कृतं सर्वैः सदस्यैर्जनमेजयः
इदं पश्चाद्द्विजश्रेष्ठं पर्यपृच्छत्कृताञ्जलिः ॥ १७ ॥

इसके बाद जनमेजयने हाथ जोडकर सब सदस्यों द्वारा पूजित उन द्विजश्रेष्ठ व्याससे यह पूछा ॥ १७ ॥

कुरूणां पाण्डवानां च भवान्प्रत्यक्षदर्शिवान् ।
तेषां चरितमिच्छामि कथ्यमानं त्वया द्विज ॥ १८ ॥

हे द्विज ! आपने कुरुओं और पाण्डवोंको प्रत्यक्ष देखा है, अतः मैं आपके द्वारा कहे जाते हुए उनके चरित्रको सुनना चाहता हूं ॥ १८ ॥

कथं समभवद्भेदस्तेषामक्लिष्टकर्मणाम् ।
तच्च युद्धं कथं वृत्तं भूतान्तकरणं महत् ॥ १९ ॥
पितामहानां सर्वेषां दैवेनाविष्टचेतसाम् ।
कार्त्स्न्येनैतत्समाचक्ष्व भगवन्कुशलो ह्यसि ॥ २० ॥

दैव अर्थात् काल ही स्वयं जिनके हृदयोंमें प्रविष्ट हो गया था, ऐसे उत्तम कर्म करनेवाले उन सब मेरे परदादा कुरुओं और पाण्डवोंमें शत्रुता कैसे उत्पन्न हो गई और उनमें प्राणीमात्रका विनाश करनेवाला वह युद्ध कैसे हुआ ॥ १९-२० ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा कृष्णद्वैपायनस्तदा ।
शशास शिष्यमासीनं वैशम्पायनमन्तिके ॥ २१ ॥
कुरूणां पाण्डवानां च यथा भेदोऽभवत्पुरा ।
तदस्मै सर्वमाचक्ष्व यन्मत्तः श्रुतवानसि ॥ २२ ॥

तब कृष्णद्वैपायनने उनकी वह बात सुनकर पासमें बैठे हुए शिष्य वैशम्पायनको आज्ञा दी कि पहिले जिस प्रकार कुरुपाण्डवोंमें शत्रुता उत्पन्न हुई थी, वह तुमने मुझसे जैसा सुना है, ठीक वैसा ही इस राजाको सुनाओ ॥ २१-२२ ॥

गुरोर्वचनमाज्ञाय स तु विप्रर्षभस्तदा ।
आचचक्षे ततः सर्वमितिहासं पुरातनम् ॥ २३ ॥
तस्मै राज्ञे सदस्येभ्यः क्षत्रियेभ्यश्च सर्वशः ।
भेदं राज्यविनाशं च कुरुपाण्डवयोस्तदा ॥ २४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥ १८४७ ॥

तब ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ वैशम्पायनने गुरुके कथनको आज्ञाके समान मानकर महाराज जनमेजयको सदस्यों और सब राजाओंके सामने कौरवों और पाण्डवोंके झगडे और राज्य नाश आदि सारे प्राचीन इतिहासको कह सुनाया ॥ २३–२४ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें चौवनवां अध्याय समाप्त ॥ ५४ ॥ ॥ १८४७ ॥

: ५५ :

वैशंपायन उवाच

गुरवे प्राङ्नमस्कृत्य मनोबुद्धिसमाधिभिः ।
संपूज्य च द्विजान्सर्वांस्तथान्यान्विदुषो जनान् ॥ १ ॥
महर्षेः सर्वलोकेषु विश्रुतस्यास्य धीमतः ।
प्रवक्ष्यामि मतं कृत्स्नं व्यासस्यामिततेजसः ॥ २ ॥

वैशम्पायन बोले– पहिले गुरुके पदोंपर भक्तिसहित मन और बुद्धिको एकाग्र करके साष्टाङ्ग प्रणाम कर, दूसरे विद्वान् जनों और सम्पूर्ण ब्राह्मणोंकी वंदना करके सब लोकोंमें प्रसिद्ध श्रीमान् महर्षि अत्यन्त तेजस्वी व्यासका सम्पूर्ण मत कहता हूं ॥ १-२ ॥

श्रोतुं पात्रं च राजंस्त्वं प्राप्येमां भारतीं कथाम् ।
गुरोर्वक्तुं परिस्पन्दो मुदा प्रोत्साहतीव माम् ॥ ३ ॥

महाराज ! आप इस भारतीय उपाख्यानको सुननेके योग्य पुरुष हैं; अतः इस महाभारतकी कथा प्राप्त होनेके कारण गुरुजीकी आज्ञा यह कथा कहनेके लिए मानों मुझे उत्साहित कर रही है ॥ ३ ॥

शृणु राजन्यथा भेदः कुरुपाण्डवयोरभूत् ।
राज्यार्थे द्यूतसंभूतो वनवासस्तथैव च ॥ ४ ॥

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ महाराज ! जिस प्रकार कौरवों और पाण्डवोंका झगडा हुआ, राज्यके निमित्त जिस प्रकार जुएका खेल हुआ तथा पाण्डवोंका वनवास हुआ ॥ ४ ॥

यथा च युद्धमभवत्पृथिवीक्षयकारकम् ।
तत्तेऽहं संप्रवक्ष्यामि पृच्छते भरतर्षभ ॥ ५ ॥

और पृथिवीका नाश करनेवाली भयंकर लडाई हुई थी, यह सब पूछनेवाले आपसे कहता हूं, सुनिये ॥ ५ ॥

मृते पितरि ते वीरा वनादेत्य स्वमन्दिरम् ।
नचिरादिव विद्वांसो वेदे धनुषि चाभवन् ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर आदि सब वीर पिताकी मृत्युके पश्चात् वनसे अपने निज घरमें लौटकर थोडे ही समयमें धनुष-विद्यामें और वेदोंमें पंडित हो गए ॥ ६ ॥

तांस्तथा रूपवीर्यौजःसंपन्नान्पौरसंमतान् ।
नामृष्यन्कुरवो दृष्ट्वा पाण्डवाञ्श्रीयशोभृतः ॥ ७ ॥

रूप, वीर्य और बलसे सम्पन्न, पुरवासियोंको प्रिय तथा श्रीलक्ष्मी तथा यशको धारण करनेवाले उन पाण्डवोंको देखकर कौरव सह न सके ॥ ७ ॥

ततो दुर्योधनः क्रूरः कर्णश्च सहसौबलः ।
तेषां निग्रहनिर्वासान्विविधांस्ते समाचरन् ॥ ८ ॥

तब क्रूरचित्त दुर्योधन और कर्ण शकुनिके साथ उनको सताकर और घरसे खदेडकर भांति भांतिके कष्ट देने लगे ॥ ८ ॥

ददावथ विषं पापो भीमाय धृतराष्ट्रजः ।
जरयामास तद्वीरः सहान्नेन वृकोदरः ॥ ९ ॥

एकदिन पापी धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने भीमको अन्नके साथ विष दे दिया, पर वीर वृकोदर उसे भी पचा गये ॥ ९ ॥

प्रमाणकोटयां संसुप्तं पुनर्बद्ध्वा वृकोदरम् ।
तोयेषु भीमं गङ्गायाः प्रक्षिप्य पुरमाव्रजत् ॥ १० ॥

एक दिन भीम प्रमाणकोटि अर्थात् गंगाके तटपर सोये हुए थे, उस समय वह पापी दुर्योधन उनको बांधकर गंगाके प्रवाहमें फेंककर अपने घर लौट आया ॥ १० ॥

यदा प्रबुद्धः कौन्तेयस्तदा संछिद्य बन्धनम् ।
उदतिष्ठन्महाराज भीमसेनो गतव्यथः ॥ ११ ॥

कुन्तीपुत्र महाराज भीमसेन जब जागे, तब बलसे बन्धनको तोडकर पीडा दूर करके उठ आये ॥ ११ ॥

आशीविषैः कृष्णसर्पैः सुप्तं चैनमदंशयत् ।
सर्वेष्वेवाङ्गदेशेषु न ममार च शत्रुहा ॥ १२ ॥

धृतराष्ट्र-पुत्रने भयंकर विषवाले काले सर्पसे सोते हुए उस भीमके सब शरीरको कटवाया था, पर शत्रुनाशी भीमसेन उसपर भी न मरे ॥ १२ ॥

तेषां तु विप्रकारेषु तेषु तेषु महामतिः ।
मोक्षणे प्रतिघाते च विदुरोऽवहितोऽभवत् ॥ १३ ॥

जब कौरवलोग धोखा देकर पाण्डवोंके प्राण लेनेकी चेष्टा किया करते थे, तब महामति विदुर उनके उपायको नष्ट करने और पाण्डवोंकी रक्षाके निमित्त प्रयत्नशील रहते थे ॥ १३ ॥

स्वर्गस्थो जीवलोकस्य यथा शक्रः सुखावहः ।
पाण्डवानां तथा नित्यं विदुरोऽपि सुखावहः ॥ १४ ॥

जिस प्रकार देवलोकके देवराज सब मर्त्य लोकोंके लिए सुखदायी होते हैं, उसके समान ही विदुर सदा पाण्डवोंके लिए सुखदायी थे ॥ १४ ॥

यदा तु विविधोपायैः संवृतैर्विवृतैरपि ।
नाशक्नोद्विनिहन्तुं तान्दैवभाव्यर्थरक्षितान् ॥ १५ ॥
ततः संमन्त्र्य सचिवैर्वृषदुःशासनादिभिः ।
धृतराष्ट्रमनुज्ञाप्य जातुषं गृहमादिशत् ॥ १६ ॥

जब दुर्योधन गुप्त अथवा प्रकट अनेक उपायसे भाग्यके द्वारा रक्षित उन पाण्डवोंको मार न सका, तब दुर्योधनने कर्ण और दुःशासन आदि मन्त्रियोंसे सलाह करके और धृतराष्ट्र की आज्ञा लेकर जतुगृह बनवाया ॥ १५–१६ ॥

तत्र तान्वासयामास पाण्डवानमितौजसः ।
अदाहयच्च विस्रब्धान्पावकेन पुनस्तदा ॥ १७ ॥

उस लाखके घरमें उस दुर्योधनने उन अतिशय तेजस्वी पाण्डवोंको ठहराया, और तब उनके विश्वास कर लेने पर उन्हें आगसे जलवा दिया ॥ १७ ॥

विदुरस्यैव वचनात्खनित्री विहिता ततः ।
मोक्षयामास योगेन ते मुक्ताः प्राद्रवन्भयात् ॥ १८ ॥

विदुरकी आज्ञासे वहीं एक सुरंग खोदी, उसकी सहायतासे खोदनेवालेने उन पांडवोंको बचा दिया, तथा वे पाण्डव भी भयके कारण भाग गए ॥ १८ ॥

×

ततो महावने घोरे हिडिम्बं नाम राक्षसम्।
भीमसेनोऽवधीत्क्रुद्धो भुवि भीमपराक्रमः ॥ १९ ॥

तब महाभयंकर वनमें संसारमें भयंकर पराक्रम करनेवाले भीमने क्रुद्ध होकर हिडिम्ब नामक राक्षसको मारा ॥ १९ ॥

अथ संधाय ते वीरा एकचक्रां व्रजंस्तदा।
ब्रह्मरूपधरा भूत्वा मात्रा सह परंतपाः ॥ २० ॥

इसके बाद शत्रुको संताप देनेवाले वे वीर संगठित होकर ब्राह्मणोंका रूप धारण कर माताके साथ एकचक्रा नगरीको गए ॥ २० ॥

तत्र ते ब्राह्मणार्थाय बकं हत्वा महाबलम्।
ब्राह्मणैः सहिता जग्मुः पाञ्चालानां पुरं ततः ॥ २१ ॥

वहां ब्राह्मणके लिए महाबलशाली बकासुरको मारकर वे ब्राह्मणोंके साथ पांचालोंके नगर की ओर चल दिए ॥ २१ ॥

ते तत्र द्रौपदीं लब्ध्वा परिसंवत्सरोषिताः।
विदिता हास्तिनपुरं प्रत्याजग्मुररिन्दमाः ॥ २२ ॥

वहां पांचालनगरमें शत्रुनाशी पाण्डवलोग द्रौपदीको प्राप्तकर वहां वर्षभर रहनेके बाद जाने जाकर हस्तिनापुरको लौट गये ॥ २२ ॥

त उक्ता धृतराष्ट्रेण राज्ञा शान्तनवेन च।
भ्रातृभिर्विग्रहस्तात कथं वो न भवेदिति ॥
अस्माभिः खाण्डवप्रस्थे युष्मद्वासोऽनुचिन्तितः ॥ २३ ॥

तब राजा धृतराष्ट्र और शान्तनु पुत्र भीष्म उनसे बोले– तात ! इसलिये, कि तुममें भ्रातृविरोध किसी प्रकार न खडा हो, हमने खाण्डवप्रस्थमें तुम्हारे लिए रहनेके स्थानको सोचा है ॥२३॥

तस्माज्जनपदोपेतं सुविभक्तमहापथम्।
वासाय खाण्डवप्रस्थं व्रजध्वं गतमन्यवः ॥ २४ ॥

अतएव तुम क्रोधको छोडकर नाना देशोंसे युक्त, अच्छी चौडी चौडी सडकोंसे शोभित खाण्डवप्रस्थमें रहनेके लिए जाओ ॥ २४ ॥

तयोस्ते वचनाज्जग्मुः सह सर्वैः सुहृज्जनैः।
नगरं खाण्डवप्रस्थं रत्नान्यादाय सर्वशः ॥ २५ ॥

पाण्डवलोक उन दोनोंकी इस बातके अनुसार सभी मित्रजनोंके साथ सम्पूर्ण रत्नादि धन ऐश्वर्य लेकर खाण्डवप्रस्थ नगरको गए ॥ २५ ॥

तत्र ते न्यवसन्राजन्संवत्सरगणान्बहून्।
वशे शस्त्रप्रतापेन कुर्वन्तोऽन्यान्महीक्षितः ॥ २६ ॥
एवं धर्मप्रधानास्ते सत्यव्रतपरायणाः।
अप्रमत्तोत्थिताः क्षान्ताः प्रतपन्तोऽहितांस्तदा ॥ २७ ॥

तब वहां, हे राजन्! धर्मका मुख्य रूपसे आचरण करनेवाले, सत्यव्रतमें रत रहनेवाले, अप्रमत्त, उत्साही (सज्जनोंको) क्षमा करनेवाले, पर शत्रुओंको सन्ताप देनेवाले वे पाण्डव अपने शस्त्रके प्रतापसे दूसरे राजाओंको वशमें करते हुए वर्षोंतक रहे ॥ २६–२७ ॥

अजयद्भीमसेनस्तु दिशं प्राचीं महाबलः।
उदीचीमर्जुनो वीरः प्रतीचीं नकुलस्तथा ॥ २८ ॥
दक्षिणां सहदेवस्तु विजिग्ये परवीरहा।
एवं चक्रुरिमां सर्वे वशे कृत्स्नां वसुन्धराम् ॥ २९ ॥

महाबलवान् भीमसेनने पूर्व दिशा पर विजय पाई, वीर अर्जुनने उत्तर दिशा और नकुलने पश्चिम दिशा और शत्रुओंका नाश करनेवाले सहदेवने दक्षिण दिशाको जीता। इस प्रकार उन सभीने इस सारे भूमण्डलको वशमें कर लिया ॥ २८–२९ ॥

पञ्चभिः सूर्यसंकाशैः सूर्येण च विराजता।
षट्सूर्येवाबभौ पृथ्वी पाण्डवैः सत्यविक्रमैः ॥ ३० ॥

सूर्यके समान तेजस्वी, सत्य विक्रमी पांच पाण्डवों और आकाश मण्डलमें सुशोभित एक सूर्यसे मानों धरती छः सूर्यवाली हो गई ॥ ३० ॥

ततो निमित्ते कस्मिंश्चिद्धर्मराजो युधिष्ठिरः।
वनं प्रस्थापयामास भ्रातरं वै धनंजयम् ॥ ३१ ॥

इसके बाद किसी कारण धर्मराज युधिष्ठिरने अपने भाई धनंजय अर्जुनको वन भेजा ॥ ३१ ॥

स वै संवत्सरं पूर्णं मासं चैकं वनेऽवसत्।
ततोऽगच्छद्धृषीकेशं द्वारवत्यां कदाचन ॥ ३२ ॥

अर्जुन बारह वर्ष और एक महीने वनमें रहे। उसके बाद एक दिन वे अर्जुन द्वारकामें श्रीकृष्णके निकट गए ॥ ३२ ॥

लब्धवांस्तत्र बीभत्सुर्भार्यां राजीवलोचनाम्।
अनुजां वासुदेवस्य सुभद्रां भद्रभाषिणीम् ॥ ३३ ॥

वहां द्वारकामें बीभत्सु अर्जुनने कमलके समान सुन्दर आंखोंवाली तथा मधुरतासे बोलनेवाली कृष्णकी छोटी बहिन सुभद्राको पत्नीके रूपमें प्राप्त किया ॥ ३३ ॥

सा शचीव महेन्द्रेण श्रीः कृष्णेनेव संगता।
सुभद्रा युयुजे प्रीता पाण्डवेनार्जुनेन ह ॥ ३४ ॥

इन्द्राणी जिसप्रकार इन्द्रसे मिलकर प्रसन्न हुई थी और श्रीलक्ष्मी जिसप्रकार विष्णुसे मिलकर सन्तुष्ट हुई थी, उसी प्रकार सुभद्रा पाण्डुपुत्र अर्जुनसे संयुक्त होकर अति आनन्दित हुई ॥ ३४ ॥

अतर्पयच्च कौन्तेयः खाण्डवे हव्यवाहनम्।
बीभत्सुर्वासुदेवेन सहितो नृपसत्तम ॥ ३५ ॥

हे नृपश्रेष्ठ जनमेजय ! कुन्तीपुत्र अर्जुनने श्रीकृष्णके साथ खाण्डव वनको जलाकर अग्निको सन्तुष्ट किया ॥ ३५ ॥

नातिभारो हि पार्थस्य केशवेनाभवत्सह।
व्यवसायसहायस्य विष्णोः शत्रुवधेष्विव ॥ ३६ ॥

दृढ निष्ठा पर भरोसा रखनेवाले श्रीकृष्णको जिस प्रकार शत्रुओंके मारनेमें कठिनता नहीं जान पडती है, उसी प्रकार केशव पर भरोसा रखनेवाले अर्जुनको कोई कार्य असाध्य जान नहीं पडता था ॥ ३६ ॥

पार्थायाग्निर्ददौ चापि गाण्डीवं धनुरुत्तमम्।
इषुधी चाक्षयैर्बाणै रथं च कपिलक्षणम् ॥ ३७ ॥

इसके बाद अग्निदेवने पृथापुत्र अर्जुनको सुन्दर गाण्डीव धनुष, अक्षयबाणयुक्त तरकस और कपिध्वजयुक्त रथ दिया ॥ ३७ ॥

मोक्षयामास बीभत्सुर्मयं तत्र महासुरम्।
स चकार सभां दिव्यां सर्वरत्नसमाचिताम् ॥ ३८ ॥

अर्जुनने मय नामक असुरको खाण्डवके साथ जलजानेसे बचाया था, अतः मयासुरने उनको सब रत्नोंसे युक्त एक सुन्दर सभागृह बना कर दिया ॥ ३८ ॥

तस्यां दुर्योधनो मन्दो लोभं चक्रे सुदुर्मतिः।
ततोऽक्षैर्वञ्चयित्वा च सौबलेन युधिष्ठिरम् ॥ ३९ ॥
वनं प्रस्थापयामास सप्त वर्षाणि पञ्च च।
अज्ञातमेकं राष्ट्रे च तथा वर्षं त्रयोदशम् ॥ ४० ॥

दुष्ट बुद्धिवाला मूर्ख दुर्योधन उस सभाको देखकर उसे पानेके लिए लालच करने लगा। तब उसने सुबलपुत्र शकुनिकी सहायतासे युधिष्ठिरको पांसोंसे ठगकर सात और पांच अर्थात् बारह वर्ष तथा किसी नगरमें एक वर्ष अज्ञातवासके रूपमें इस प्रकार तेरह वर्षके लिए वन भेज दिया ॥ ३९-४० ॥

ततश्चतुर्दशे वर्षे याचमानाः स्वकं वसु ।
नालभन्त महाराज ततो युद्धमवर्तत ॥ ४१ ॥

हे महाराज ! चौदहवां वर्ष आ पहुंचनेपर (कौरवोंसे) अपनी सम्पत्तिको मांगनेवाले पाण्डवोंने सम्पत्ति प्राप्त नहीं की, तब इसी सम्पत्तिके कारण लडाई हुई ॥ ४१ ॥

ततस्ते सर्वमुत्साद्य हत्वा दुर्योधनं नृपम् ।
राज्यं विद्रुतभूयिष्ठं प्रत्यपद्यन्त पाण्डवाः ॥ ४२ ॥

तब पाण्डवोंने सबको नष्ट करनेके पश्चात् दुर्योधनको मारकर उस राज्यको प्राप्त किया जिसके लिये अनेक लोग मारे गये थे ॥ ४२ ॥

एवमेतत्पुरावृत्तं तेषामक्लिष्टकर्मणाम् ।
भेदो राज्यविनाशश्च जयश्च जयतां वर ॥ ४३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥ १८९० ॥

हे शत्रुओंको जीतनेवालोंमें श्रेष्ठ जनमेजय ! क्रोध द्वेषादिवर्जित सरल स्वभाववाले पाण्डवोंका इस प्रकार घरेलू झगडेसे राज्यनाश और पश्चात् जयलाभ हुआ था और यही उनके प्राचीन इतिहासका वृत्तान्त है ॥ ४३ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें पचपनवां अध्याय समाप्त ॥ ५५ ॥ १८९० ॥

: ५६ :

जनमेजय उवाच

कथितं वै समासेन त्वया सर्वं द्विजोत्तम ।
महाभारतमाख्यानं कुरूणां चरितं महत् ॥ १ ॥

जनमेजय बोले– हे द्विजोत्तम ! आपने कुरुवंशियोंके चरित्र-सम्बन्धी महाभारत नामक महान् आख्यानको संक्षेपमें कीर्तन किया ॥ १ ॥

कथां त्वनघ चित्रार्थामिमां कथयति त्वयि ।
विस्तरश्रवणे जातं कौतूहलमतीव मे ॥ २ ॥

हे अनघ ! तुम्हारे विचित्र अर्थवाली इस कथाको कहते हुए उसे पूरी तरहसे सुननेकी मेरी बडी इच्छा हो गई है ॥ २ ॥

स भवान्विस्तरेणेमां पुनराख्यातुमर्हति ।
न हि तृप्यामि पूर्वेषां शृण्वानश्चरितं महत् ॥ ३ ॥

अतः आप कृपा करके फिरसे इसका विस्तारसे वर्णन करें; पिछले पुरुषोंके महत् चरित्रोंको सुनकर मेरी तृप्ति नहीं हुई है ॥ ३ ॥

न तत्कारणमल्पं हि धर्मज्ञा यत्र पाण्डवाः ।
अवध्यान्सर्वशो जघ्नुः प्रशास्यन्ते च मानवैः ॥ ४ ॥

पाण्डवोंने तो धर्मज्ञ होनेपर भी अवध्य स्वजन, कुटुम्बी आदियोंका वध किया था, पर उसपर भी लोग उन्हींकी प्रशंसा करते हैं। इसका कोई छोटा मोटा कारण नहीं हो सकता अर्थात् इसका कारण कोई बडा ही होना चाहिए ॥ ४ ॥

किमर्थं ते नरव्याघ्राः शक्ताः सन्तो ह्यनागसः ।
प्रयुज्यमानान्संक्लेशान्क्षान्तवन्तो दुरात्मनाम् ॥ ५ ॥

मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी निर्दोषी पाण्डवोंने बदला लेनेमें समर्थ होनेपर भी दुरात्माओंके द्वारा किए जानेवाले नाना कष्टोंको क्यों सहा? ॥ ५ ॥

कथं नागायुतप्राणो बाहुशाली वृकोदरः ।
परिक्लिश्यन्नपि क्रोधं धृतवान्वै द्विजोत्तम ॥ ६ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ! दस हजार हाथियोंका बल रखनेवाले तथा अपनी भुजाओंके बलपर गर्व करनेवाले वृकोदर भीम इतना क्लेश सहकरके भी क्यों क्रोधको रोके रहे? ॥ ६ ॥

कथं सा द्रौपदी कृष्णा क्लिश्यमाना दुरात्मभिः ।
शक्ता सती धार्तराष्ट्रान्नादहद्घोरचक्षुषा ॥ ७ ॥

द्रुपदराजपुत्री सती द्रौपदीने दुरात्मा धृतराष्ट्र-पुत्रोंसे वैसा क्लेश पाकरके शक्ति रहनेपर भी क्यों क्रोधकी दृष्टिसे उनको भस्म नहीं कर दिया? ॥ ७ ॥

कथं व्यतिक्रमन्द्यूते पार्थौ माद्रीसुतौ तथा ।
अनुव्रजन्नरव्याघ्रं वञ्च्यमानं दुरात्मभिः ॥ ८ ॥

दो पृथाके पुत्र भीम और अर्जुन तथा दो माद्रीके पुत्र नकुल एवं सहदेव जुएमें चुपचाप क्यों बैठे रहे और उन दुरात्मा कौरवोंके द्वारा ठगे जानेपर भी वे पुरुषोंमें सिंहरूप युधिष्ठिरके पीछे पीछे जंगलमें कैसे चले गए? ॥ ८ ॥

कथं धर्मभृतां श्रेष्ठः सुतो धर्मस्य धर्मवित् ।
अनर्हः परमं क्लेशं सोढवान्स युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥

धार्मिकोंमें श्रेष्ठ, धर्मज्ञ, धर्मपुत्र युधिष्ठिरने क्लेश सहनेके अयोग्य हो करके भी कैसे असह्य कष्टोंको सहन किया? ॥ ९ ॥

कथं च बहुलाः सेनाः पाण्डवः कृष्णसारथिः ।
अस्त्रैरेकोऽनयत्सर्वाः पितृलोकं धनञ्जयः　　　　॥ १० ॥

और पाण्डुपुत्र धनञ्जयने अकेले केवल श्रीकृष्णको सारथी बनाकर कैसे अस्त्र मार करके अगणित सेनाको यमराजके घरमें भेज दिया था ? ॥ १० ॥

एतदाचक्ष्व मे सर्वं यथावृत्तं तपोधन ।
यद्यच्च कृतवन्तस्ते तत्र तत्र महारथाः　　　　॥ ११ ॥

हे तपोधन ! यह सब लीला तथा महारथी वीरोंने वहां जो जो कुछ किया था वह सब ठीक ठीक प्रकारसे मुझसे कहिये ॥ ११ ॥

वैशंपायन उवाच

महर्षेः सर्वलोकेषु पूजितस्य महात्मनः ।
प्रवक्ष्यामि मतं कृत्स्नं व्यासस्यामिततेजसः　　　　॥ १२ ॥

वैशम्पायन बोले— सब लोकोंमें पूजित, अमिततेजस्वी, महात्मा, महर्षि वेदव्यासके सम्पूर्ण मतको कहूंगा ॥ १२ ॥

इदं शतसहस्रं हि श्लोकानां पुण्यकर्मणाम् ।
सत्यवत्यात्मजेनेह व्याख्यातममितौजसा　　　　॥ १३ ॥

परम तेजस्वी सत्यवती-सुतने पवित्र एक लाख श्लोकोंमें पुण्यकर्म करनेवाले पाण्डवोंके इस आख्यानको कहा है ॥ १३ ॥

य इदं श्रावयेद्विद्वान्यश्चेदं शृणुयान्नरः ।
ते ब्रह्मणः स्थानमेत्य प्राप्नुयुर्देवतुल्यताम्　　　　॥ १४ ॥

जो विद्वान् पुरुष इस महाभारतको सुनाते हैं और जो लोग सुनते हैं, वे ब्रह्मके लोकमें जाकर देवताओंकी समानता प्राप्त करते हैं ॥ १४ ॥

इदं हि वेदैः समितं पवित्रमपि चोत्तमम् ।
श्राव्याणामुत्तमं चेदं पुराणमृषिसंस्तुतम्　　　　॥ १५ ॥

ऋषिका रचा हुआ यह पुराण वेदके द्वारा अनुमोदित, पवित्र, सुन्दर और सब सुनने योग्य शास्त्रोंमें श्रेष्ठतम है ॥ १५ ॥

अस्मिन्नर्थश्च धर्मश्च निखिलेनोपदिश्यते ।
इतिहासे महापुण्ये बुद्धिश्च परिनैष्ठिकी　　　　॥ १६ ॥

इस महापवित्र इतिहासमें अर्थ और धर्म तथा उत्तम निष्ठावाली बुद्धि सम्बन्धी सम्पूर्ण विषयोंका भी उपदेश है ॥ १६ ॥

अक्षुद्रान्दानशीलांश्च सत्यशीलाननास्तिकान्।
कार्ष्णं वेदमिमं विद्वाञ्श्रावयित्वार्थमश्नुते ॥ १७ ॥

महान्, दाता, सत्यशील और आस्तीकोंके सम्मुख कृष्णद्वैपायनके इस वेदको सुनाकर विद्वान् जन अर्थलाभ करता है ॥ १७ ॥

भ्रूणहत्याकृतं चापि पापं जह्यादसंशयम्।
इतिहासमिमं श्रुत्वा पुरुषोऽपि सुदारुणः ॥ १८ ॥

इसमें सन्देह नहीं है, कि इस इतिहासको सुनकर पापी पुरुष भी भयंकर भ्रूणहत्याके पापसे भी छूट जाता है ॥ १८ ॥

जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजिगीषुणा।
महीं विजयते सर्वां शत्रूंश्चापि पराजयेत् ॥ १९ ॥

इस इतिहासका नाम जय है, जय चाहनेवाले जनको इसे सुनना चाहिये। इसे सुननेसे मनुष्य पृथ्वीको जीतकर सभी शत्रुओंको हरा सकता है ॥ १९ ॥

इदं पुंसवनं श्रेष्ठमिदं स्वस्त्ययनं महत्।
महिषीयुवराजाभ्यां श्रोतव्यं बहुशस्तथा ॥ २० ॥

यह इतिहास श्रेष्ठ पुंसवन और महान् स्वस्त्ययनरूपी है। युवराजको रानीके साथ बार बार इसे सुनना चाहिए ॥ २० ॥

अर्थशास्त्रमिदं पुण्यं धर्मशास्त्रमिदं परम्।
मोक्षशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना ॥ २१ ॥

अपरिमित बुद्धिवाले व्यासका रचा हुआ यह आख्यान पवित्र अर्थशास्त्र, श्रेष्ठ धर्मशास्त्र और मोक्षशास्त्र है ॥ २१ ॥

संप्रत्याचक्षते चैव आख्यास्यन्ति तथापरे।
पुत्राः शुश्रूषवः सन्ति प्रेष्याश्च प्रियकारिणः ॥ २२ ॥

आज भी लोग महाभारतका कीर्तन कर रहे हैं, भविष्यमें भी बहुतेरे कहेंगे। पुत्रगण इसे सुनकर पिताकी आज्ञा माननेवाले और मित्रगण प्रिय करनेवाले हो जाते हैं ॥ २२ ॥

शरीरेण कृतं पापं वाचा च मनसैव च।
सर्वं तत्त्यजति क्षिप्रमिदं शृण्वन्नरः सदा ॥ २३ ॥

इस महाभारतको हमेशा सुनकर मनुष्य शरीरसे, वाणीसे और मनसे किए गए सब पापोंसे उसी क्षण मुक्त हो जाता है ॥ २३ ॥

भारतानां महज्जन्म शृण्वतामनसूयताम् ।
नास्ति व्याधिभयं तेषां परलोकभयं कुतः ॥ २४ ॥

भरतवंशमें उत्पन्न हुए हुओंके इस महान् जन्मकी गाथा सुननेवाले एवं ईर्ष्या द्वेषसे रहित मनुष्योंके लिए इहलोकमें व्याधिका भय भी नहीं रहता, फिर परलोकका भय कहांसे होगा ? ॥ २४ ॥

धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं पुण्यं तथैव च ।
कृष्णद्वैपायनेनेदं कृतं पुण्यचिकीर्षुणा ॥ २५ ॥
कीर्तिं प्रथयता लोके पाण्डवानां महात्मनाम् ।
अन्येषां क्षत्रियाणां च भूरिद्रविणतेजसाम् ॥ २६ ॥

महात्मा पाण्डवों और बहुत धन और तेजसे युक्त दूसरे क्षत्रियोंकी कीर्तिको संसारमें प्रकट करनेवाले, इस धन, यश, आयु, स्वर्ग तथा पुण्य दिलानेवाले पवित्र इतिहासको पुण्य कर्म करनेकी इच्छावाले भगवान् कृष्ण द्वैपायनने रचा है ॥ २५-२६ ॥

यथा समुद्रो भगवान्यथा च हिमवान्गिरिः ।
ख्यातावुभौ रत्ननिधी तथा भारतमुच्यते ॥ २७ ॥

जिस प्रकार भगवान् समुद्र और हिमालय पर्वत दोनों रत्नाकरके नामसे प्रसिद्ध हैं उसी प्रकार यह महाभारत भी प्रसिद्ध है अर्थात् इसमें भी अनेक रत्न भरे पडे हैं ॥ २७ ॥

य इदं श्रावयेद्विद्वान्ब्राह्मणानिह पर्वसु ।
धूतपाप्मा जितस्वर्गो ब्रह्मभूयं स गच्छति ॥ २८ ॥

जो विद्वान् पर्वोंमें इसे ब्राह्मणोंको सुनाते हैं, वह निष्पाप हो करके देवलोकको जीतकर शाश्वत ब्रह्मलोकको जाता है ॥ २८ ॥

यश्चेदं श्रावयेच्छ्राद्धे ब्राह्मणान्पादमन्ततः ।
अक्षय्यं तस्य तच्छ्राद्धमुपतिष्ठेत्पितॄनपि ॥ २९ ॥

जो श्राद्धके कालमें कमसे कम इसका एकपाद भी ब्राह्मणोंको सुनाते हैं, उसके उस नष्ट न होनेवाले श्राद्धमें पितर सदा विद्यमान रहते हैं ॥ २९ ॥

अह्ना यदेनश्चाज्ञानात्प्रकरोति नरश्चरन् ।
तन्महाभारताख्यानं श्रुत्वैव प्रविलीयते ॥ ३० ॥

मनुष्य कार्य करता हुआ दिनको अज्ञानपूर्वक जो पाप करता है, वह महाभारतके सुनने मात्रसे ही उसी क्षण दूर हो जाता है ॥ ३० ॥

×

भारतानां महज्जन्म महाभारतमुच्यते।
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३१ ॥

भरतकुलमें उत्पन्न हुए हुओंका महत् जन्मवृत्तान्त ही महाभारत कहा जाता है। जो महाभारतके इस व्युत्पत्तियुक्त अर्थको जानता है वह सम्पूर्ण पापोंसे छूट जाता है ॥ ३१ ॥

त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थायी कृष्णद्वैपायनो मुनिः।
महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमुत्तमम् ॥ ३२ ॥

सदा उन्नतिशील मुनि कृष्णद्वैपायनने तीन वर्षोंमें इस उत्तम महाभारतके आख्यानको रचा ॥ ३२ ॥

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित् ॥ ३३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥ १९२९ ॥

हे भारतश्रेष्ठ! धर्म, अर्थ, काम और मोक्षसम्बन्धी जो जो विषय इसमें हैं, वही सब अन्यत्र दीख पडते हैं, जो विषय इस भारतमें नहीं हैं, वह और कहीं नहीं मिलेंगे ॥ ३३ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें छप्पनवां अध्याय समाप्त ॥ ५६ ॥ १९२९ ॥

: ५७ :

वैशम्पायन उवाच

राजोपरिचरो नाम धर्मनित्यो महीपतिः।
बभूव मृगयां गन्तुं स कदाचिद्धृतव्रतः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– (प्राचीनकालमें) उपरिचर नामक एक धर्मनिष्ठ राजा हो गया है, उसने मानों शिकार खेलनेका व्रत ही धारण कर लिया था ॥ १ ॥

स चेदिविषयं रम्यं वसुः पौरवनन्दनः।
इन्द्रोपदेशाज्जग्राह ग्रहणीयं महीपतिः ॥ २ ॥

कभी उस पौरवनन्दन राजा वसु (यह उसका मूल नाम था) ने इन्द्रके कहनेपर चेदि नामक सुहावने देशपर अधिकार किया था ॥ २ ॥

तमाश्रमे न्यस्तशस्त्रं निवसन्तं तपोरतिम् ।
देवः साक्षात्स्वयं वज्री समुपायान्महीपतिम् ॥ ३ ॥
(आगे जाकर) एक समय अस्त्र शस्त्र छोडकर आश्रममें कठोर तपमें प्रवृत्त हुए हुए उस राजाके पास स्वयं वज्रधारी इन्द्रदेव गये ॥ ३ ॥

इन्द्रत्वमर्हो राजायं तपसेत्यनुचिन्त्य वै ।
तं सान्त्वेन नृपं साक्षात्तपसः संन्यवर्तयत् ॥ ४ ॥
"यह राजा तपके कारण इन्द्रको पद प्राप्त कर सकता है।" यह सोचकर इन्द्र उस राजाको समझा बुझाकर तपस्यासे निवृत्त करनेकी कोशिश करने लगे ॥ ४ ॥

इन्द्र उवाच

न संकीर्येत धर्मोऽयं पृथिव्यां पृथिवीपते ।
त्वं पाहि धर्मो हि धृतः कृत्स्नं धारयते जगत् ॥ ५ ॥
इन्द्र बोले– हे महाराज ! ऐसा करो, कि पृथ्वीपर धर्मका ह्रास न हो । तुम धर्मकी रक्षा करो, तभी धारण किया हुआ धर्म सम्पूर्ण भूमण्डलको धारण करेगा ॥ ५ ॥

लोक्यं धर्मं पालय त्वं नित्ययुक्तः समाहितः ।
धर्मयुक्तस्ततो लोकान्पुण्यानाप्स्यसि शाश्वतान् ॥ ६ ॥
तुम सदा उत्साही और समाहित होकर लोककी रक्षा करनेवाले धर्मका पालन करो, ऐसा करनेसे तुम धर्मसे युक्त होकर शाश्वत पवित्र लोकोंको प्राप्त करोगे ॥ ६ ॥

दिविष्ठस्य भुविष्ठस्त्वं सखा भूत्वा मम प्रियः ।
ऊधः पृथिव्या यो देशस्तमावस नराधिप ॥ ७ ॥
पशव्यश्चैव पुण्यश्च सुस्थिरो धनधान्यवान् ।
स्वारक्ष्यश्चैव सौम्यश्च भोग्यैर्भूमिगुणैर्युतः ॥ ८ ॥
मर्त्यलोकमें वास करनेवाले तुम स्वर्गमें रहनेवाले मेरे प्रिय सखा होकर, हे नरनाथ ! इस धरतीका स्तनस्थानीय अर्थात् अत्युत्तम जो देश है, तथा जो देश सुन्दर, पशुओंके लिए मङ्गलकारी, पवित्र, सुस्थिर, बहुत धनधान्यपूर्ण, स्वर्गके समान रमणीय, सौम्य और भूमिपर मिलनेवाले सभी ऐश्वर्यों एवं अच्छी भूमिके गुणोंसे युक्त हो, तुम उस देशमें जाकर निवास करो ॥७-८॥

अत्यन्यानेष देशो हि धनरत्नादिभिर्युतः ।
वसुपूर्णा च वसुधा वस चेदिषु चेदिप ॥ ९ ॥
हे चेदिराज ! यह चेदि देश ऐश्वर्ययुक्त और अगणित धनरत्नोंसे भरा हुआ है, यहां वसुधा धनोंसे भरी हुई है, इसीलिए यह देश अन्य देशोंको मात करता है अतः तुम इस चेदिदेशमें रहो ॥ ९ ॥

धर्मशीला जनपदाः सुसंतोषाश्च साधवः ।
न च मिथ्याप्रलापोऽत्र स्वैरेष्वपि कुतोऽन्यथा ॥ १० ॥

इस देशके निवासी धर्मशील, सदा सन्तुष्ट और साधु हैं; और यहां हंसीमें भी कोई झूठ नहीं बोलता; फिर सचमुच झूठ बोलनेवाला कहांसे मिलेगा ॥ १० ॥

न च पित्रा विभज्यन्ते नरा गुरुहिते रताः ।
युञ्जते धुरि नो गाश्च कृशाः संधुक्षयन्ति च ॥ ११ ॥

यहांके मनुष्य अपने पितासे अलग नहीं होते और सदा गुरुकी सेवामें लगे रहते हैं, इस स्थानमें कोई दुबले पतले बैलको बोझा ढोने वा हल जोतनेमें नहीं लगाता। इसके विपरीत यहांके लोग ऐसे दुबले पतले बैलोंको पुष्ट ही करते हैं ॥ ११ ॥

सर्वे वर्णाः स्वधर्मस्थाः सदा चेदिषु मानद ।
न तेऽस्त्यविदितं किंचित्त्रिषु लोकेषु यद्भवेत् ॥ १२ ॥

हे माननीय ! इस चेदि देशमें ब्राह्मण क्षत्रिय आदि सभी वर्ण अपने धर्ममें सन्नद्ध रहते हैं। तीनों लोकोंमें जो कुछ होता है उसमें कुछ भी तुम्हारे लिए अज्ञात नहीं है ॥ १२ ॥

देवोपभोग्यं दिव्यं च आकाशे स्फाटिकं महत् ।
आकाशगं त्वां मद्दत्तं विमानमुपपत्स्यते ॥ १३ ॥

मेरे द्वारा दिया गया देवोंके भोगके योग्य दिव्य आकाशगामी सुन्दर स्फटिकका बना हुआ महान् विमान सदा तुम्हारे पास आकाशमें उपस्थित रहेगा ॥ १३ ॥

त्वमेकः सर्वमर्त्येषु विमानवरमास्थितः ।
चरिष्यस्युपरिस्थो वै देवो विग्रहवानिव ॥ १४ ॥

इस मर्त्यलोकमें तुम ही अकेले इस श्रेष्ठ यानपर चढकर साक्षात् शरीरधारी देवताकी भांति ऊपर विचर सकोगे ॥ १४ ॥

ददामि ते वैजयन्तीं मालामम्लानपङ्कजाम् ।
धारयिष्यति संग्रामे या त्वां शस्त्रैरविक्षतम् ॥ १५ ॥

तुमको कभी न मुरझानेवाले कमलोंवाली वैजयन्ती माला देता हूं; जो माला रणभूमिमें तुम्हें शस्त्रास्त्रोंके आघातोंसे सुरक्षित रखेगी ॥ १५ ॥

लक्षणं चैतदेवेह भविता ते नराधिप ।
इन्द्रमालेति विख्यातं धन्यमप्रतिमं महत् ॥ १६ ॥

हे राजन् ! इस लोकमें यह माला ही तेरा महान् अद्वितीय और धन्य चिन्ह होगी और यह माला "इन्द्रमाला" के नामसे विख्यात होगी" ॥ १६ ॥

वैशंपायन उवाच

यष्टिं च वैणवीं तस्मै ददौ वृत्रनिषूदनः ।
इष्टप्रदानमुद्दिश्य शिष्टानां परिपालिनीम् ॥ १७ ॥

वैशम्पायन बोले– (इस प्रकार कहकर) प्रिय वस्तु देनेकी इच्छासे वृत्रनाशक इन्द्रने उस राजा उपरिचरको सज्जनोंकी रक्षा करनेवाली एक बांसकी लाठी दी ॥ १७ ॥

तस्याः शक्रस्य पूजार्थं भूमौ भूमिपतिस्तदा ।
प्रवेशं कारयामास गते संवत्सरे तदा ॥ १८ ॥

तब एक वर्ष व्यतीत होनेपर पृथ्वीनाथ वसुने इन्द्रकी पूजाके निमित्त उस बांसकी लाठीको धरतीमें गाड दिया ॥ १८ ॥

ततः प्रभृति चाद्यापि यष्ट्याः क्षितिपसत्तमैः ।
प्रवेशः क्रियते राजन्यथा तेन प्रवर्तितः ॥ १९ ॥

हे राजन् ! उपरिचर राजाने जैसे बांसकी लाठीको गाडा था, आजतक राजालोग वैसाही बांस गाडा करते हैं ॥ १९ ॥

अपरेद्युस्तथा चास्याः क्रियते उच्छ्रयो नृपैः ।
अलंकृतायाः पिटकैर्गन्धैर्माल्यैश्च भूषणैः ।
माल्यदामपरिक्षिप्ता विधिवत्क्रियतेऽपि च ॥ २० ॥

और उसके दूसरे दिन (वर्ष प्रतिपदाको) सुगन्धी माला, वस्त्र, आभूषण आदिसे उस बांसकी लाठीको सुशोभितकर उठा लेते हैं तथा विधिपूर्वक उसको मालासे लपेटते हैं ॥ २० ॥

भगवान्पूज्यते चात्र हास्यरूपेण शंकरः ।
स्वयमेव गृहीतेन वसोः प्रीत्या महात्मनः ॥ २१ ॥

हे भगवन् ! महात्मा वसुकी प्रीतिके लिए स्वयं हास्यके रूपको धारण करनेवाले शंकरकी पूजा की जाती है ॥ २१ ॥

एतां पूजां महेन्द्रस्तु दृष्ट्वा देव कृतां शुभाम् ।
वसुना राजमुख्येन प्रीतिमानब्रवीद्विभुः ॥ २२ ॥

हे देव ! वैभवयुक्त देवराज महेन्द्रने राजश्रेष्ठ वसुसे की गई इस शुभ पूजाको देखकर अति प्रसन्न होकर कहा ॥ २२ ॥

ये पूजयिष्यन्ति नरा राजानश्च महं मम।
कारयिष्यन्ति च मुदा यथा चेदिपतिर्नृपः ॥ २३ ॥
तेषां श्रीर्विजयश्चैव सराष्ट्राणां भविष्यति।
तथा स्फीतो जनपदो मुदितश्च भविष्यति ॥ २४ ॥

जो सब नर और नरेश चेदिराजके समान प्रेमसे और उत्सवसे मेरी पूजा करायेंगे उनकी राज्यसहित श्री बढेगी और जय होगी और उनके अधिकारके देश विस्तृत और समृद्ध होंगे ॥ २३–२४ ॥

एवं महात्मना तेन महेन्द्रेण नराधिप।
वसुः प्रीत्या मघवता महाराजोऽभिसत्कृतः ॥ २५ ॥

हे नरनाथ ! उस महात्मा तथा ऐश्वर्यशाली महेन्द्रने इस प्रकारसे प्रेमसहित महाराज वसुका सत्कार किया ॥ २५ ॥

उत्सवं कारयिष्यन्ति सदा शक्रस्य ये नराः।
भूमिदानादिभिर्दानैर्यथा पूता भवन्ति वै।
वरदानमहायज्ञैस्तथा शक्रोत्सवेन ते ॥ २६ ॥

जो मनुष्य भूमिदान, वरदान आदि दानोंसे महायज्ञों तथा शक्रके उत्सवसे सदा महेन्द्रका उत्सव करेंगे, वे राजा वसुके समान पवित्र हो जायेंगे ॥ २६ ॥

संपूजितो मघवता वसुश्चेदिपतिस्तदा।
पालयामास धर्मेण चेदिस्थः पृथिवीमिमाम्।
इन्द्रप्रीत्या भूमिपतिश्चकारेन्द्रमहं वसुः ॥ २७ ॥

तब चेदिराज वसु ऐश्वर्यवान् इन्द्रसे सत्कृत होकर चेदिदेशमें निवास करते हुए धर्मके अनुसार इस धरतीको पालने लगे; और इन्द्र पर प्रेम दिखाकर ये पृथ्वीके स्वामी वसु इन्द्रका महोत्सव करने लगे ॥ २७ ॥

पुत्राश्चास्य महावीर्याः पञ्चासन्नमितौजसः।
नानाराज्येषु च सुतान्स सम्राडभ्यषेचयत् ॥ २८ ॥

अत्यन्त तेजस्वी वसुके महावीर्यवान् पांच पुत्र थे। उस सम्राट् वसुने अपने रहनेपर चेदि राज्योंमें अभिषिक्त किया ॥ २८ ॥

महारथो मगधराड्विश्रुतो यो बृहद्रथः ।
प्रत्यग्रहः कुशाम्बश्च यमाहुर्मणिवाहनम् ।
मच्छिल्लश्च यदुश्चैव राजन्यश्चापराजितः ॥ २९ ॥

उनमेंसे प्रसिद्ध प्रधान रथी बृहद्रथ नामक एक पुत्र मगध देशका राजा हुआ । उसके दूसरे एक पुत्रका नाम प्रत्यग्रह, अन्य एकका कुशाम्ब था जिसको मणिवाहन भी कहते हैं अन्य एकका मच्छिल और एक राजपुत्रका यदु नाम था; ये शत्रुओंसे कभी हारता नहीं था ॥ २९ ॥

एते तस्य सुता राजन्राजर्षेर्भूरितेजसः ।
न्यवेशयन्नामभिः स्वैस्ते देशांश्च पुराणि च ।
वासवाः पञ्च राजानः पृथग्वंशाश्च शाश्वताः ॥ ३० ॥

हे महाराज ! उन राजर्षिके यह पांच अत्यन्त तेजस्वी पुत्र थे; उन्होंने अपने नामसे देश और राजधानियां बसायी थीं । वसुके उन पांच महीपाल पुत्रोंसे अति विस्तृत अलग अलग पांच वंशोंकी उत्पत्ति हुई और वे वंश बहुत समयतक रहे ॥ ३० ॥

वसन्तमिन्द्रप्रासादे आकाशे स्फाटिके च तम् ।
उपतस्थुर्महात्मानं गन्धर्वाप्सरसो नृपम् ।
राजोपरिचरेत्येवं नाम तस्याथ विश्रुतम् ॥ ३१ ॥

इन्द्रके द्वारा दिए गए तथा आकाशमें उडनेवाले उस स्फटिकके महलके समान विमानमें बैठे हुए उस उदार चित्तवाले वसुराजाकी गन्धर्व और अप्सरायें सेवा करती थीं, (क्योंकि वह ऊपर आकाशमें विचरता था, इसलिए) वह संसारमें "उपरिचर" के नामसे प्रसिद्ध हुआ ॥ ३१ ॥

पुरोपवाहिनीं तस्य नदीं शुक्तिमतीं गिरिः ।
अरौत्सीच्चेतनायुक्तः कामात्कोलाहलः किल ॥ ३२ ॥

उनकी राजधानीके समीप बहनेवाली शुक्तिमती नामकी एक नदीको कोलाहल नामक एक सजीव पर्वतने कामयुक्त होकर रोका ॥ ३२ ॥

गिरिं कोलाहलं तं तु पदा वसुरताडयत् ।
निश्चक्राम नदी तेन प्रहारविवरेण सा ॥ ३३ ॥

राजा वसुने उस पर्वत कोलाहलके एक लात मारी, तब उनके पांवकी चोटसे जो बिल [illegible], उसीसे शुक्तिमती नदी बह निकली ॥ ३३ ॥

हे चोप
धनोंसे
रहो ।

तस्यां नद्यामजनयन्मिथुनं पर्वतः स्वयम्।
तस्माद्विमोक्षणात्प्रीता नदी राज्ञे न्यवेदयत् ॥ ३४ ॥

कोलाहल पर्वतने स्वयं उस नदीमें उससे मिलकर एक पुत्र और एक कन्या उत्पन्न की। नदीने मुक्त होनेके कारण सन्तुष्ट होकर राजाको वह पुत्र और कन्या दे दी ॥ ३४ ॥

यः पुमानभवत्तत्र तं स राजर्षिसत्तमः।
वसुर्वसुप्रदश्चक्रे सेनापतिमरिन्दमम्।
चकार पत्नीं कन्यां तु दयितां गिरिकां नृपः ॥ ३५ ॥

उस नदीसे जो उत्पन्न हुआ था, उसे शत्रुनाशक पुत्रको राजर्षिश्रेष्ठ धनदाता वसुने अपना सेनापति बना लिया और गिरिका नाम्नी उस कन्याको अपनी प्यारी रानी बना लिया ॥ ३५ ॥

वसोः पत्नी तु गिरिका कामान्काले न्यवेदयत्।
ऋतुकालमनुप्राप्तं स्नाता पुंसवने शुचिः ॥ ३६ ॥

एक बार वसुकी रानी गिरिकाने ऋतुकालके आनेपर गर्भधारणके योग्य समयमें ऋतुस्नान करके शुद्ध होकर पतिसे अभिलाषा प्रकट की ॥ ३६ ॥

तदहः पितरश्चैनमूचुर्जहि मृगानिति।
तं राजसत्तमं प्रीतास्तदा मतिमतां वरम् ॥ ३७ ॥

उस दिन पितरोंने प्रसन्न होकर बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ तथा राजाओंमें श्रेष्ठ उस राजाको आज्ञा दी, कि आज तुम हिरणोंको मारो ॥ ३७ ॥

स पितॄणां नियोगं तमव्यतिक्रम्य पार्थिवः।
चचार मृगयां कामी गिरिकामेव संस्मरन्।
अतीव रूपसंपन्नां साक्षाच्छ्रियमिवापराम् ॥ ३८ ॥

तब पितरोंकी आज्ञाका उल्लंघन न करते हुए उस राजाने मानों लक्ष्मी दूसरा ही शरीर धारण करके आई है, ऐसी अत्यन्त सुन्दरी गिरिकाका स्मरण करते हुए कामवासनासे पीडित होकर शिकार किया ॥ ३८ ॥

तस्य रेतः प्रचस्कन्द चरतो रुचिरे वने।
स्कन्नमात्रं च तद्रेतो वृक्षपत्रेण भूमिपः ॥ ३९ ॥
प्रतिजग्राह मिथ्या मे न स्कंदेद्रेत इत्युत।
ऋतुश्च तस्याः पत्न्या मे न मोघः स्यादिति प्रभुः ॥ ४० ॥

उस सुन्दर वनमें विचरते हुए उनका वीर्य उस स्थानमें स्खलित हो गया, तब राजाने उस गिरे हुए वीर्यको वृक्षके पत्तेमें ले लिया और राजा सोचने लगा, कि यह गिरा हुआ मेरा वीर्य बेकार न हो और मेरी उस स्त्रीकी ऋतु भी व्यर्थ न हो ? ॥ ३९-४० ॥

संचिन्त्यैवं तदा राजा विचार्य च पुनः पुनः ।
अमोघत्वं च विज्ञाय रेतसो राजसत्तमः ॥ ४१ ॥
शुक्रप्रस्थापने कालं महिष्याः प्रसमीक्ष्य सः ।
अभिमन्त्र्याथ तच्छुक्रमारात्तिष्ठन्तमाशुगम् ।
सूक्ष्मधर्मार्थतत्त्वज्ञो ज्ञात्वा श्येनं ततोऽब्रवीत् ॥ ४२ ॥

तब देरतक सोचकर बार बार विचार किया और यह जानकर कि "यह मेरा वीर्य निष्फल नहीं होगा," तथा "मेरी रानीका गर्भाधानका समय है" उस राजश्रेष्ठने पुत्रोत्पादक मंत्रोंसे उस वीर्यको अभिमंत्रित किया और सूक्ष्म धर्मके अर्थ एवं तत्त्वको जाननेवाले उस राजाने पासमें ही बैठे हुए शीघ्र जानेवाले एक बाज पक्षीसे कहा ॥ ४१-४२॥

मत्प्रियार्थमिदं सौम्य शुक्रं मम गृहं नय ।
गिरिकायाः प्रयच्छाशु तस्या ह्यार्तवमद्य वै ॥ ४३ ॥

"हे सौम्य ! तुम मेरा हित करनेके लिए मेरे इस वीर्यको मेरे अन्तःपुरमें ले जाओ और शीघ्र ले जाकर मेरी पत्नी गिरिकाको दे दो, क्योंकि आज उसका ऋतुकाल है ॥ ४३ ॥

गृहीत्वा तत्तदा श्येनस्तूर्णमुत्पत्य वेगवान् ।
जवं परममास्थाय प्रदुद्राव विहंगमः ॥ ४४ ॥

तब वेगवान् वह बाज उस वीर्यको लेकर शीघ्रतासे ऊपर आकाशमें पहुंचा और वह पक्षी बहुत वेगको धारण करके उड चला ॥ ४४ ॥

तमपश्यदथायान्तं श्येनं श्येनस्तथापरः ।
अभ्यद्रवच्च तं सद्यो दृष्ट्वैवामिषशङ्कया ॥ ४५ ॥

इस प्रकारसे उडकर आते हुए उसे दूसरे एक बाजने देखा और उसी क्षण उसकी चोंचमें मांस जानकर उसके पीछे उडने लगा ॥ ४५ ॥

तुण्डयुद्धमथाकाशे तावुभौ संप्रचक्रतुः ।
युध्यतोरपतद्रेतस्तच्चापि यमुनाम्भसि ॥ ४६ ॥

तब उस आकाशहीमें वे चोंचोंकी भयंकर लडाई करने लगे । उन दोनोंके लडनेके कारण बाजके पैरसे वह वीर्य यमुनाके जलमें गिर गया ॥ ४६ ॥

तत्राद्रिकेति विख्याता ब्रह्मशापाद्वराप्सराः ।
मीनभावमनुप्राप्ता बभूव यमुनाचरी ॥ ४७ ॥

वहां अद्रिका नामसे प्रसिद्ध एक अप्सरा ब्रह्मशापसे मछली बनकरके यमुनाके जलमें विचरनेवाली होकर रहती थी ॥ ४७ ॥

×

श्येनपादपरिभ्रष्टं तद्वीर्यमथ वासवम् ।
जग्राह तरसोपेत्य साद्रिका मत्स्यरूपिणी ॥ ४८ ॥

बाजके पंजेसे छूटकर गिरे हुए राजा वसुके उस वीर्यको उस मछली बनी हुई अद्रिकाने वेगसे झपटकर खा लिया ॥ ४८ ॥

कदाचिदथ मत्सीं तां बबन्धुर्मत्स्यजीविनः ।
मासे च दशमे प्राप्ते तदा भरतसत्तम ।
उज्जह्रुरुदरात्तस्याः स्त्रीपुमांसं च मानुषम् ॥ ४९ ॥

हे भारतश्रेष्ठ ! उसके पश्चात् कभी दसवें महीनेमें एक दिन मछुओंने उस मछलीको फांसा; और उसके पेटसे चीरकर एक पुत्र और एक कन्या निकाले ॥ ४९ ॥

आश्चर्यभूतं मत्वा तद्राज्ञस्ते प्रत्यवेदयन् ।
काये मत्स्या इमौ राजन्संभूतौ मानुषाविति ॥ ५० ॥

तब उन मछुहारोंने अति आश्चर्यमग्न होकर राजासे जा कर कहा, कि महाराज! मछलीके शरीरमेंसे यह दो मनुष्य उत्पन्न हुए हैं ॥ ५० ॥

तयोः पुमांसं जग्राह राजोपरिचरस्तदा ।
स मत्स्यो नाम राजासीद्धार्मिकः सत्यसंगरः ॥ ५१ ॥

तब राजा उपरिचरने उन दोनोंमेंसे बालकको ले लिया । वह मछलीसे जन्मा हुआ लडका पीछे मत्स्य नामक सत्यशील धार्मिक राजा हुआ ॥ ५१ ॥

साप्सरा मुक्तशापा च क्षणेन समपद्यत ।
पुरोक्ता या भगवता तिर्यग्योनिगता शुभे ।
मानुषौ जनयित्वा त्वं शापमोक्षमवाप्स्यसि ॥ ५२ ॥

वह अप्सरा भी उसीक्षण शापसे मुक्त हो गई । क्योंकि जब अद्रिका शापसे भ्रष्ट होकर मत्स्ययोनिमें आ गिरी थी, तब भगवान्ने कृपापूर्वक कहा था, हे कल्याणी ! तू दो मनुष्य प्रसव करके शापसे मुक्त होगी ॥ ५२ ॥

ततः सा जनयित्वा तौ विशस्ता मत्स्यघातिना ।
संत्यज्य मत्स्यरूपं सा दिव्यं रूपमवाप्य च ।
सिद्धर्षिचारणपथं जगामाथ वराप्सराः ॥ ५३ ॥

इसके बाद वह सुन्दर अप्सरा अद्रिका दो मनुष्यपुत्र प्रसव करके मछुओंसे मारी गयी और मछलीका स्वरूप छोडके दिव्यरूप धारण कर सिद्ध और चारणोंसे सेवित आकाश-मार्गसे चली गयी ॥ ५३ ॥

या कन्या दुहिता तस्या मत्स्या मत्स्यसगन्धिनी ।
राज्ञा दत्ताथ दाशाय इयं तव भवत्विति ।
रूपसत्त्वसमायुक्ता सर्वैः समुदिता गुणैः ॥ ७४ ॥

राजाने मत्स्यकी गन्धसे युक्त मत्स्यके गर्भसे उपजी हुई कन्या भी उस मछुएको दे दी और कहा, कि रूप-यौवन-वती सब गुणवाली यह कन्या तुम्हारी बेटी हो ॥ ७४ ॥

सा तु सत्यवती नाम मत्स्यघात्यभिसंश्रयात् ।
आसीन्मत्स्यसगन्धैव कंचित्कालं शुचिस्मिता ॥ ७५ ॥

सुन्दर मुस्कराहटोंवाली उस सत्यवती नाम्नी कन्याके मछुएके घरमें कुछ दिन पाले जानेके कारण उसका नाम मत्स्यगन्धा पड गया ॥ ७५ ॥

शुश्रूषार्थं पितुर्नावं तां तु वाहयतीं जले ।
तीर्थयात्रां परिक्रामन्नपश्यद्वै पराशरः ॥ ७६ ॥

एक बार पिताकी सेवाके लिए जलमें नाव चलाती हुई उसे तीर्थयात्रामें निकले हुए पराशरने देखा ॥ ७६ ॥

अतीव रूपसंपन्नां सिद्धानामपि काङ्क्षिताम् ।
दृष्ट्वैव च स तान्धीमांश्चकमे चारुदर्शनाम् ।
विद्वांस्तां वासवीं कन्यां कार्यवान्मुनिपुङ्गवः ॥ ७७ ॥

और अति रूपवती, सिद्धोंके द्वारा भी चाहनेके योग्य, दीखनेमें सुन्दर, मनोहारिणी उस वसुकी बेटीको देखकर ही मुनिवर विद्वान् और बुद्धिमान् पराशर कामवश हो गए और उसकी इच्छा करने लगे ॥ ७७ ॥

साब्रवीत्पश्य भगवन्पारावारे ऋषीन्स्थितान् ।
आवयोर्दृश्यतोरभिः कथं तु स्यात्समागमः ॥ ७८ ॥

कन्या बोली– भगवन् ! नदीके दोनों ओर खडे हुए ऋषिलोगोंको देखो, अतएव इनके देखते देखते हम दोनोंका संगम कैसे हो सकता है ? ॥ ७८ ॥

एवं तयोक्तो भगवान्नीहारमसृजत्प्रभुः ।
येन देशः स सर्वस्तु तमोभूत इवाभवत् ॥ ७९ ॥

मत्स्य-गन्धाके इस प्रकार कहनेपर प्रभु भगवान् पराशरने कोहरा उत्पन्न कर दिया; जिससे वह सम्पूर्ण देश अन्धकारसे घिरसा गया ॥ ७९ ॥

दृष्ट्वा सृष्टं तु नीहारं ततस्तं परमर्षिणा ।
विस्मिता चाब्रवीत्कन्या व्रीडिता च मनस्विनी ॥ ८० ॥

तब उस महर्षिके द्वारा उत्पन्न किए गए कोहरेको देखकर आश्चर्य और लज्जासे युक्त हुई हुई वह मनस्विनी कन्या बोली ॥ ८० ॥

विद्धि मां भगवन्कन्यां सदा पितृवशानुगाम्।
त्वत्संयोगाच्च दुष्येत कन्याभावो ममानघ ॥ ६१ ॥

" भगवन् ! मैं सदा पिताके वशमें रहनेवाली कन्या हूं; मेरा विवाह नहीं हुआ है ! यह आप जान लें। हे अनघ ! आपसे मिलनेसे मेरा कन्याभाव नष्ट हो जाएगा ॥ ६१ ॥

कन्यात्वे दूषिते चापि कथं शक्ष्ये द्विजोत्तम
गन्तुं गृहं गृहे चाहं धीमन्न स्थातुमुत्सहे।
एतत्संचिन्त्य भगवन्विधत्स्व यदनन्तरम् ॥ ६२ ॥

हे द्विजोत्तम ! और कन्याभाव नष्ट हो जानेपर मैं किसप्रकार घर लौट कर जा सकूंगी ? हे धीमान् ऋषि ! ऐसा होनेपर अर्थात् मेरे कुंवारेपनके नष्ट हो जानेपर मैं घरमें भी नहीं रह सकूंगी। हे भगवन् ! आप इसका विचारकर जो कुछ करना चाहें कीजिये ॥ ६२ ॥

एवमुक्तवतीं तां तु प्रीतिमानृषिसत्तमः।
उवाच मत्प्रियं कृत्वा कन्यैव त्वं भविष्यसि ॥ ६३ ॥

कन्याके ऐसा कहने पर ऋषिश्रेष्ठ पराशर प्रसन्न होकर उससे बोले, कि मेरा प्रिय करके भी तू कन्या ही बनी रहेगी ॥ ६३ ॥

वृणीष्व च वरं भीरु यं त्वमिच्छसि भामिनि।
वृथा हि न प्रसादो मे भूतपूर्वः शुचिस्मिते ॥ ६४ ॥

हे भीरु ! तेरी जो कुछ अभिलाषा हो, वह वर मांग। हे सुन्दर मुस्कराहटोंवाली सुन्दरी ! मेरी प्रसन्नता कभी भी पहले निष्फल नहीं हुई है ॥ ६४ ॥

एवमुक्ता वरं वव्रे गात्रसौगन्ध्यमुत्तमम्।
स चास्यै भगवान्प्रादान्मनसः काङ्क्षितं प्रभुः ॥ ६५ ॥

पराशरके इसप्रकार कहने पर मत्स्यगन्धाने अपने शरीरमें अच्छी गन्ध उत्पन्न करनेकी प्रार्थना की। मुनिने " तथास्तु " कहकर मनसे प्रार्थित उस वरको दे दिया ॥ ६५ ॥

ततो लब्धवरा प्रीता स्त्रीभावगुणभूषिता।
जगाम सह संसर्गमृषिणाद्भुतकर्मणा ॥ ६६ ॥

इससे सत्यवतीने स्त्रीभावके गुणसे भूषित अर्थात् ऋतुमती और प्रार्थित वरके पानेसे प्रसन्न होकर अद्भुत कार्य करनेवाले ऋषि पराशरसे सङ्गम किया ॥ ६६ ॥

तेन गन्धवतीत्येव नामास्याः प्रथितं भुवि।
तस्यास्तु योजनाद्गन्धमाजिघ्रन्ति नरा भुवि ॥ ६७ ॥

तबसे मत्स्यगन्धाका " गन्धवती " यह नाम संसारमें प्रसिद्ध हो गया। मनुष्यलोग योजन भर अर्थात् आठ–नौ मीलकी दूरीसे भी उसके शरीरकी गन्धको सूंघ लेते थे; ॥ ६७ ॥

ततो योजनगन्धेति तस्या नाम परिश्रुतम् ।
पराशरोऽपि भगवाञ्जगाम स्वं निवेशनम् ॥ ६८ ॥

इसलिये उसका "योजनगन्धा" यह नाम भी प्रसिद्ध हुआ। (सत्यवतीसे संगम करके) भगवान् पराशर भी अपने स्थानको चले गए ॥ ६८ ॥

इति सत्यवती हृष्टा लब्ध्वा वरमनुत्तमम् ।
पराशरेण संयुक्ता सद्यो गर्भं सुषाव सा ।
जज्ञे च यमुनाद्वीपे पराशर्यः स वीर्यवान् ॥ ६९ ॥

इसप्रकार उत्तम वर पाकर प्रसन्न हुई हुई सत्यवतीने पराशरसे संगम करके शीघ्र ही गर्भ का प्रसव किया। इससे वीर्यवान् पराशरके पुत्र अर्थ कृष्ण द्वैपायनने यमुनाद्वीपमें जन्म लिया ॥ ६९ ॥

स मातरमुपस्थाय तपस्येव मनो दधे ।
स्मृतोऽहं दर्शयिष्यामि कृत्येष्विति च सोऽब्रवीत् ॥ ७० ॥

वह जन्म लेतेही माताके पास जाकर तपस्या करनेमें दत्तचित्त हुए और उससे यह कहकर चले गये, कि जब प्रयोजन हो तब मुझे स्मरण करना और मैं तुम्हारे पास आजाऊंगा ॥७०॥

एवं द्वैपायनो जज्ञे सत्यवत्यां पराशरात् ।
द्वीपे न्यस्तः स यद्बालस्तस्माद्द्वैपायनोऽभवत् ॥ ७१ ॥

द्वैपायनने इस प्रकार पराशरके वीर्य और सत्यवतीके गर्भसे जन्म लिया था। उस बालकके द्वीपमें प्रसव किये जानेके कारण उसका नाम द्वैपायन पडा ॥ ७१ ॥

पादापसारिणं धर्मं विद्वान् स तु युगे युगे ।
आयुः शक्तिं च मर्त्यानां युगानुगमवेक्ष्य च ॥ ७२ ॥
ब्रह्मणो ब्राह्मणानां च तथानुग्रहकाम्यया ।
विव्यास वेदान्यस्माच्च तस्माद्व्यास इति स्मृतः ॥ ७३ ॥

प्रत्येक युगमें एक एक पादसे रहित होते हुए धर्मको तथा युगके अनुसार मनुष्योंकी आयु और शक्तिको घटते हुए देखकर वेदकी रक्षाके निमित्त ब्राह्मणों पर दया दिखानेकी इच्छासे पराशरके पुत्रने वेदका व्यास याने विभाग किया, इस कारण उनका नाम वेद-व्यास पडा ॥ ७२–७३ ॥

वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान् ।
सुमन्तुं जैमिनिं पैलं शुकं चैव स्वमात्मजम् ॥ ७४ ॥

वर देनेवाले अत्यन्त श्रेष्ठ प्रभु वेदव्यासने सुमन्तु, जैमिनि, पैल, अपने पुत्र शुकको तथा वैशम्पायनको चार वेद और पांचवां वेद महाभारत पढाया ॥ ७४ ॥

प्रभुर्वरिष्ठो वरदो वैशम्पायनमेव च।
संहितास्तैः पृथक्त्वेन भारतस्य प्रकाशिताः ॥ ७५ ॥

उन सुमन्तु आदि शिष्योंमेंसे हरेकने महाभारतकी अलग अलग एक एक संहिता प्रकाशित की ॥ ७५ ॥

तथा भीष्मः शान्तनवो गङ्गायाममितद्युतिः।
वसुवीर्यात्समभवन्महावीर्यो महायशाः ॥ ७६ ॥

महावीर्य, महायशस्वी, अपरिमित तेजस्वी राजा शन्तनुके पुत्र भीष्मने वसुओंके अंशसे गङ्गाके गर्भमे जन्म लिया था ॥ ७६ ॥

शूले प्रोतः पुराणर्षिरचोरश्चोरशङ्कया।
अणीमाण्डव्य इति वै विख्यातः सुमहायशाः ॥ ७७ ॥

प्रसिद्ध महायशस्वी पुराण ऋषि विप्र अणीमाण्डव्य चोरी न करने पर भी झूठमूठ चोरीकी शंकासे शूलीपर चढाये गये थे ॥ ७७ ॥

स धर्ममाहूय पुरा महर्षिरिदमुक्तवान्।
इषीकया मया बाल्यादेका विद्धा शकुन्तिका ॥ ७८ ॥
तत्किल्बिषं स्मरे धर्म नान्यत्पापमहं स्मरे।
तन्मे सहस्रसमितं कस्मान्नेहाजयत्तपः ॥ ७९ ॥

इस हेतु पूर्वकालमें उस ऋषिने धर्मको पुकार कर कहा, कि हे धर्म। मैंने बालपनमें कुशके द्वारा एक छोटी चिडियाको बींधा था, अपने जन्ममें मैं केवल उतने ही पापकी याद करता हूं, उसके अलावा और कोई पाप मैंने किया हो, मुझे याद नहीं आता पर जितना पाप हुआ है, उससे सहस्रगुनी अधिक तपस्या की है, इतने पर भी उस पापका क्षय क्यों नहीं हुआ ? ॥ ७८–७९ ॥

गरीयान्ब्राह्मणवधः सर्वभूतवधाद्यतः।
तस्मात्त्वं किल्बिषादस्माच्छूद्रयोनौ जनिष्यसि ॥ ८० ॥

क्योंकि दूसरे सब प्राणियोंके वधकी अपेक्षा ब्राह्मण वधका पाप अधिक होता है, अतएव तुम ब्राह्मण वधके इस पापसे पापी होनेके कारण शूद्रयोनिमें जन्म लोगे ॥ ८० ॥

तेन शापेन धर्मोऽपि शूद्रयोनावजायत।
विद्वान्विदुररूपेण धार्मी तनुरकिल्बिषी ॥ ८१ ॥

धर्मने भी उस शापसे शूद्रयोनिमें विद्वान् धार्मिक और पाप–वर्जित शरीरवाले विदुरके स्वरूपमें जन्म लिया था ॥ ८१ ॥

सञ्जयो मुनिकल्पस्तु जज्ञे सूतो गवल्गणात् ।
सूर्याच्च कुन्तिकन्यायां जज्ञे कर्णो महारथः ।
सहजं कवचं बिभ्रत्कुण्डलोद्द्योतिताननः ॥ ८२ ॥

मुनिके समान सूत सञ्जयने गवल्गणसे जन्म लिया । कुण्डलसे तेजस्वी मुखवाला महारथी कर्ण जन्मसेही कवचको धारण करके कुन्तीकी कन्यादशामें उसके गर्भ और सूर्यके वीर्यसे जन्मा था ॥ ८२ ॥

अनुग्रहार्थं लोकानां विष्णुर्लोकनमस्कृतः ।
वसुदेवात्तु देवक्यां प्रादुर्भूतो महायशाः ॥ ८३ ॥
अनादिनिधनो देवः स कर्ता जगतः प्रभुः ।
अव्यक्तमक्षरं ब्रह्म प्रधानं त्रिगुणात्मकम् ॥ ८४ ॥

अनादि, अनन्त, जगत्कर्ता, जगत्प्रभु, सब लोकोंके द्वारा नमस्कारके योग्य, अव्यक्त, अविनाशी, ब्रह्म एवं सत्त्व, रज, तमरूप तीन गुणसे युक्त प्रधान अर्थात् प्रकृतिका रूप धारण करनेवाले महायशस्वी भगवान् विष्णुने लोकोंपर दया दिखाकर वसुदेवके वीर्य और देवकीके गर्भसे जन्म लिया था ॥ ८३–८४ ॥

आत्मानमव्ययं चैव प्रकृतिं प्रभवं परम् ।
पुरुषं विश्वकर्माणं सत्त्वयोगं ध्रुवाक्षरम् ॥ ८५ ॥
अनन्तमचलं देवं हंसं नारायणं प्रभुम् ।
धातारमजरं नित्यं तमाहुः परमव्ययम् ॥ ८६ ॥

विद्वान् जन उन्हीं विष्णुको उस आत्माको अव्यय, प्रधान, जगत्का कारण, परम कारण, पुरुष, विश्वकर्मा, सत्वगुणाश्रय, प्रणवस्वरूप, अनन्त, अचल, देव, हंस, नारायण, प्रभु, धाता, अजर, नित्य, श्रेष्ठ और अविनश्वर कहते हैं ॥ ८५–८६ ॥

पुरुषः स विभुः कर्ता सर्वभूतपितामहः ।
धर्मसंवर्धनार्थाय प्रजज्ञेऽन्धकवृष्णिषु ॥ ८७ ॥

सर्वभूतोंके पितामह, संसारके रचनेवाले, सर्वत्र व्यापक पुरुष विष्णुने धर्मवृद्धिके निमित्त अंधक वृष्णिवंशमें जन्म लिया ॥ ८७ ॥

अस्त्रज्ञौ तु महावीर्यौ सर्वशस्त्रविशारदौ ।
सात्यकिः कृतवर्मा च नारायणमनुव्रतौ ।
सत्यकाद्धृदिकाच्चैव जज्ञातेऽस्त्रविशारदौ ॥ ८८ ॥

अस्त्रज्ञ, महावीर्य, सब शस्त्रोंमें कुशल, अस्त्र चलानेमें सुदक्ष, नारायणके पीछे चलनेवाले सात्यकि और कृतवर्माने सत्यक और हृदिकसे जन्म लिया ॥ ८८ ॥

भरद्वाजस्य च स्कन्नं द्रोण्यां शुक्रमवर्धत ।
महर्षेरुग्रतपसस्तस्माद्द्रोणो व्यजायत ॥ ८९ ॥

कठोर तपसे युक्त महर्षि भरद्वाजका वीर्य द्रोणी अर्थात् गिरि कन्दरामें गिरकर और गर्भ-रूप होकर बढने लगा और उससे द्रोणाचार्यका जन्म हुआ ॥ ८९ ॥

गौतमान्मिथुनं जज्ञे शरस्तम्बाच्छरद्वतः ।
अश्वत्थाम्नश्च जननी कृपश्चैव महाबलः ।
अश्वत्थामा ततो जज्ञे द्रोणादस्त्रभृतां वरः ॥ ९० ॥

गौतमका वीर्य सरकण्डेके बोझपर गिरकर दो भागोंमें बंट जानेके कारण उससे अश्वत्थामाकी माता कृपी और महाबली कृपने जन्म लिया। इसके बाद द्रोणाचार्यके वीर्यसे अस्त्रधारियों-में श्रेष्ठ अश्वत्थामाका जन्म हुआ ॥ ९० ॥

तथैव धृष्टद्युम्नोऽपि साक्षादग्निसमद्युतिः ।
वैताने कर्मणि तते पावकात्समजायत ।
वीरो द्रोणविनाशाय धनुषा सह वीर्यवान् ॥ ९१ ॥

उसी प्रकार साक्षात् अग्निकी भांति तेजस्वी तथा वीर्यवान् वीर धृष्टद्युम्नने यज्ञकर्मके समय अग्निसे द्रोणको नष्ट करनेके निमित्त धनुषसहित जन्म लिया ॥ ९१ ॥

तथैव वेद्यां कृष्णापि जज्ञे तेजस्विनी शुभा ।
विभ्राजमाना वपुषा बिभ्रती रूपमुत्तमम् ॥ ९२ ॥

और उस यज्ञकी वेदीमेंसे तेजस्विनी, शुभलक्षणा, शरीरसे बहुत तेजस्विनी तथा अनुपम रूप धारण करनेवाली कृष्णा–द्रौपदीका जन्म हुआ ॥ ९२ ॥

प्रह्लादशिष्यो नग्नजित्सुबलश्चाभवत्ततः ।
तस्य प्रजा धर्महन्त्री जज्ञे देवप्रकोपनात् ॥ ९३ ॥

इसके बाद प्रह्लादके शिष्य नग्नजित् और सुबलने जन्म लिया । दैवी कोपसे सुबलका पुत्र धर्मका हनन करनेवाला हुआ ॥ ९३ ॥

गान्धारराजपुत्रोऽभूच्छकुनिः सौबलस्तथा ।
दुर्योधनस्य माता च जज्ञातेऽर्थविदावुभौ ॥ ९४ ॥

उस गान्धारराज सुबलसे शकुनि और दुर्योधनकी माता गान्धारी इन दोनों अर्थशास्त्रमें कुशलोंका जन्म हुआ ॥ ९४ ॥

कृष्णद्वैपायनाज्जज्ञे धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ।
क्षेत्रे विचित्रवीर्यस्य पाण्डुश्चैव महाबलः ॥ ९५ ॥

कृष्णद्वैपायनके वीर्य और विचित्रवीर्यकी स्त्रीके गर्भसे राजा धृतराष्ट्र और महाबली पाण्डु उत्पन्न हुए ॥ ९५ ॥

पाण्डोस्तु जज्ञिरे पञ्च पुत्रा देवसमाः पृथक् ।
द्वयोः स्त्रियोर्गुणज्येष्ठस्तेषामासीद्युधिष्ठिरः ॥ ९६ ॥

पाण्डुकी दो रानियोंसे देवोंके समान पांच पाण्डवोंका पृथक् पृथक् जन्म हुआ । उनमेंसे युधिष्ठिर सर्वगुणयुक्त और बडे थे ॥ ९६ ॥

धर्माद्युधिष्ठिरो जज्ञे मारुतात्तु वृकोदरः ।
इन्द्राद्धनञ्जयः श्रीमान्सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥ ९७ ॥
जज्ञाते रूपसंपन्नावश्विभ्यां तु यमावुभौ ।
नकुलः सहदेवश्च गुरुशुश्रूषणे रतौ ॥ ९८ ॥

युधिष्ठिरने धर्मके वीर्यसे जन्म लिया था । वायुसे वृकोदर, इन्द्रसे श्रीमान् सर्वशास्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ धनञ्जय और दोनों अश्विनीकुमारोंसे अपनेसे बडोंकी सेवामें रत रहनेवाले तथा रूपवान् जुडवें नकुल और सहदेव दोनोंने जन्म लिया ॥ ९७–९८ ॥

तथा पुत्रशतं जज्ञे धृतराष्ट्रस्य धीमतः ।
दुर्योधनप्रभृतयो युयुत्सुः करणस्तथा ॥ ९९ ॥

बुद्धिमान् धृतराष्ट्रके दुर्योधन आदि सौ पुत्र और करण अर्थात् वैश्याके गर्भसे जन्मा हुआ युयुत्सु नामक एक पुत्र हुआ ॥ ९९ ॥

अभिमन्युः सुभद्रायामर्जुनादभ्यजायत ।
स्वस्रीयो वासुदेवस्य पौत्रः पाण्डोर्महात्मनः ॥ १०० ॥

महात्मा पाण्डुके पोते, श्रीकृष्णके भाञ्जे अभिमन्युने अर्जुनके वीर्य और सुभद्राके गर्भसे जन्म लिया ॥ १०० ॥

पाण्डवेभ्योऽपि पञ्चभ्यः कृष्णायां पञ्च जज्ञिरे ।
कुमारा रूपसम्पन्नाः सर्वशस्त्रविशारदाः ॥ १०१ ॥

पांच पाण्डवोंके वीर्य और द्रौपदीके गर्भसे सर्वशास्त्रोंमें निपुण, रूपवान् पांच कुमार उत्पन्न हुए ॥ १०१ ॥

प्रतिविन्ध्यो युधिष्ठिरात्सुतसोमो वृकोदरात् ।
अर्जुनाच्छ्रुतकीर्तिस्तु शतानीकस्तु नाकुलिः ॥ १०२ ॥
तथैव सहदेवाच्च श्रुतसेनः प्रतापवान् ।
हिडिम्बायां च भीमेन वने जज्ञे घटोत्कचः ॥ १०३ ॥

उनमेंसे युधिष्ठिरसे प्रतिविन्ध्य, वृकोदर भीमसे सुतसोम, अर्जुनसे श्रुतकीर्ति, नकुलसे शतानीक और सहदेवसे प्रतापी श्रुतसेन उत्पन्न हुए । इनके सिवाय वनमें वृकोदर भीमसे हिडिम्बाके गर्भसे घटोत्कच नामक एक पुत्र हुआ था ॥ १०२–१०३ ॥

×

शिखण्डी द्रुपदाज्जज्ञे कन्या पुत्रत्वमागता।
यां यक्षः पुरुषं चक्रे स्थूणः प्रियचिकीर्षया ॥ १०४ ॥

शिखण्डीने द्रुपदसे जन्म लिया था, उसने कन्या होकरके पुत्रत्व प्राप्त किया था। जिसे स्थूण नामक यक्षने प्रिय करनेकी इच्छासे पुरुष बना दिया था ॥ १०४ ॥

कुरूणां विग्रहे तस्मिन्समागच्छन्बहून्यथ।
राज्ञां शतसहस्राणि योत्स्यमानानि संयुगे ॥ १०५ ॥

कुरुपाण्डवोंके उस युद्धमें युद्ध करनेके निमित्त सैंकडों सहस्रों अर्थात् अनेकों भूप एकत्र हुए थे ॥ १०५ ॥

तेषामपरिमेयानि नामधेयानि सर्वशः।
न शक्यं परिसंख्यातुं वर्षाणामयुतैरपि।
एते तु कीर्तिता मुख्या यैराख्यानमिदं ततम् ॥ १०६ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥ २०२५ ॥

दस हजार वर्षोंमें भी उन अगणित राजाओंके नामोंकी गणना नहीं की जा सकती, पर जिन प्रधान प्रधान राजाओंसे यह कथा पूरी हुई है, केवल उनकेही नाम कहे गये हैं ॥ १०६ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें सत्तावनवां अध्याय समाप्त ॥ ५७ ॥ २०२५ ॥

: ५८ :

जनमेजय उवाच

य एते कीर्तिता ब्रह्मन्ये चान्ये नानुकीर्तिताः।
सम्यक्तान्श्रोतुमिच्छामि राज्ञश्चान्यान्सुवर्चसः ॥ १ ॥

जनमेजय बोले– ब्रह्मन्! जिन राजाओंके नाम आपने कहे हैं और जिनके नहीं कहे, उनके तथा दूसरे भी तेजस्वी राजाओंके नाम सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

यदर्थमिह संभूता देवकल्पा महारथाः।
भुवि तन्मे महाभाग सम्यगाख्यातुमर्हसि ॥ २ ॥

देवोंके समान महारथी महानुभावोंने जिस कारण इस भूमण्डलमें जन्म लिया था, वह मैं सुनना चाहता हूं; हे महाभाग! आप पूरी तरह उनका वर्णन कीजिये ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

रहस्यं खल्विदं राजन्देवानामिति नः श्रुतम् ।
तत्तु ते कथयिष्यामि नमस्कृत्वा स्वयंभुवे ॥ ३ ॥

वैशम्पायन बोले– राजन् ! मैंने सुना है कि यह देवोंका रहस्य है, मैं स्वयंभू ब्रह्माको नमन कर आपके सामने वह देवरहस्य प्रकट करता हूँ ॥ ३ ॥

त्रिः सप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां पुरा ।
जामदग्न्यस्तपस्तेपे महेन्द्रे पर्वतोत्तमे ॥ ४ ॥

पूर्वकालमें जमदग्निके पुत्र परशुराम इस भूमण्डलको इक्कीस बार क्षत्रियोंसे रहित करके महेन्द्र नामक श्रेष्ठ पर्वतपर तप करने लगे ॥ ४ ॥

तदा निःक्षत्रिये लोके भार्गवेण कृते सति ।
ब्राह्मणान्क्षत्रिया राजन्गर्भार्थिन्योऽभिचक्रमुः ॥ ५ ॥

हे राजन् ! जब पृथ्वी जामदग्न्य भार्गवके द्वारा क्षत्रियोंसे रहित कर गई तब गर्भको धारण करनेकी इच्छावाली क्षत्रियोंकी स्त्रियां ब्राह्मणोंके पास गईं ॥ ५ ॥

ताभिः सह समापेतुर्ब्राह्मणाः संशितव्रताः ।
ऋतावृतौ नरव्याघ्र न कामान्नानृतौ तथा ॥ ६ ॥

हे पुरुषोंमें व्याघ्रके समान पराक्रमी जनमेजय ! व्रतशील ब्राह्मणलोग प्रत्येक ऋतुकालमें उन क्षत्राणियोंसे समागम करने लगे, पर ऋतुकालके सिवाय किसी दूसरे समय कामवश हो करके वे समागम नहीं करते थे ॥ ६ ॥

तेभ्यस्तु लेभिरे गर्भान्क्षत्रियास्ताः सहस्रशः ।
ततः सुषुविरे राजन्क्षत्रियान्वीर्यसंमतान् ।
कुमारांश्च कुमारीश्च पुनः क्षत्राभिवृद्धये ॥ ७ ॥

राजन् ! सहस्रों क्षत्रियोंकी रानियोंने ब्राह्मणोंसे गर्भधारण किया और इसके बाद वे क्षत्रियोंके वंश बढानेके निमित्त फिर महावीर्यवान् क्षत्रिय कुमार और कुमारियां प्रसव करने लगीं ॥ ७ ॥

एवं तद्ब्राह्मणैः क्षत्रं क्षत्रियासु तपस्विभिः ।
जातमृध्यत धर्मेण सुदीर्घेणायुषान्वितम् ।
चत्वारोऽपि तदा वर्णा बभूवुर्ब्राह्मणोत्तराः ॥ ८ ॥

इस प्रकार क्षत्रियोंने अच्छे अच्छे तपस्वी ब्राह्मणोंके वीर्य और क्षत्राणियोंके गर्भसे जन्म लेकर दीर्घायु प्राप्तकर धर्मानुष्ठान करके वृद्धि पायी थी, इससे फिर ब्राह्मणादि चार वर्ण पूर्ण हुए ॥ ८ ॥

अभ्यगच्छन्नृतौ नारीं न कामान्नानृतौ तथा।
तथैवान्यानि भूतानि तिर्यग्योनिगतान्यपि।
ऋतौ दारांश्च गच्छन्ति तदा स्म भरतर्षभ ॥ ९ ॥

हे भरतर्षभ! उन दिनों वे ऋतुकाल ही में स्त्रीके पास गमन करते थे, ऋतुकालके सिवाय किसी दूसरे समय कामवश होकरके गमन नहीं करते थे; इसीलिए उसके बादसे पशुपक्षी आदि तिर्यक्-योनिके जीवगण भी ऋतुकालहीमें स्त्रीके पास गमन करते हैं॥ ९ ॥

ततोऽवर्धन्त धर्मेण सहस्रशतजीविनः।
ताः प्रजाः पृथिवीपाल धर्मव्रतपरायणाः।
आधिभिर्व्याधिभिश्चैव विमुक्ताः सर्वशो नराः ॥ १० ॥

हे पृथ्वीपाल! तब वे प्रजागण सैंकडों सहस्रों वर्षकी आयु प्राप्तकर धार्मिक व्रतशील होकर धर्मसे बढने लगे और वे मनुष्य शरीर तथा मनसम्बन्धी पीडाओंसे सर्वथा रहित थे॥१०॥

अथेमां सागरापाङ्गां गां गजेन्द्रगताखिलाम्।
अध्यतिष्ठत्पुनः क्षत्रं सशैलवनकाननाम् ॥ ११ ॥

हे उत्तम उत्तम हाथियोंके स्वामिन् जनमेजय! इस प्रकार क्षत्रियवंशी राजालोगोंने समुद्रतक, पहाड नगर और वनयुक्त इस भूमण्डलको (जो एकवार उनके हाथसे छिन गया था) फिर अपने अधिकारमें कर लिया॥ ११ ॥

प्रशासति पुनः क्षत्रे धर्मेणेमां वसुंधराम्।
ब्राह्मणाद्यास्तदा वर्णा लेभिरे मुदमुत्तमाम् ॥ १२ ॥

क्षत्रियोंके द्वारा धर्मानुसार फिर इस धरतीका शासन आरम्भ करनेपर ब्राह्मणादि चारों वर्ण अति प्रसन्नताको प्राप्त हुए॥ १२ ॥

कामक्रोधोद्भवान्दोषान्निरस्य च नराधिपाः।
दण्डं दण्डयेषु धर्मेण प्रणयन्तोऽन्वपालयन् ॥ १३ ॥

भूपाल लोग काम-क्रोधसे पैदा होनेवाले सम्पूर्ण दोषोंको छोडकर धर्मानुसार दण्ड पानेके योग्य लोगोंको दण्ड देकर राज्यका पालन करने लगे॥ १३ ॥

तथा धर्मपरे क्षत्रे सहस्राक्षः शतक्रतुः।
स्वादु देशे च काले च ववर्षाप्याययन्प्रजाः ॥ १४ ॥

तब क्षत्रियोंके इस प्रकार धार्मिक होनेपर सहस्रनेत्रवाले शतक्रतु इन्द्र भी देशकाल पर ध्यान रखकर नियमानुसार वर्षासे प्रजाओंको तृप्त करने लगे॥ १४ ॥

न बाल एव म्रियते तदा कश्चिन्नराधिप ।
न च स्त्रियं प्रजानाति कश्चिदप्राप्तयौवनः ॥ १५ ॥

हे राजन् ! उन दिनों कोई बालपनमें नहीं मरता था और यौवन दशाको प्राप्त करनेसे पहले कोई स्त्रियोंको जानता तक नहीं था ॥ १५ ॥

एवमायुष्मतीभिस्तु प्रजाभिर्भरतर्षभ ।
इयं सागरपर्यन्ता समापूर्यत मेदिनी ॥ १६ ॥

हे भरतोंमें श्रेष्ठ ! ऐसी दीर्घायुयुक्त प्रजासे यह समुद्रतक धरती पूर्ण हो गई ॥ १६ ॥

ईजिरे च महायज्ञैः क्षत्रिया बहुदक्षिणैः ।
साङ्गोपनिषदान्वेदान्विप्राश्चाधीयते तदा ॥ १७ ॥

क्षत्रियलोग भरपूर दक्षिणा देकर बडे बडे यज्ञोंका अनुष्ठान करने लगे । ब्राह्मणलोग भी शिक्षा कल्प व्याकरणादि अङ्ग और उपनिषत् सहित वेदोंको पढने लगे ॥ १७ ॥

न च विक्रीणते ब्रह्म ब्राह्मणाः स्म तदा नृप ।
न च शूद्रसमाभ्याशे वेदानुच्चारयन्त्युत ॥ १८ ॥

हे राजन् ! उन दिनों ब्राह्मण वेदोंको बेचते नहीं थे और शूद्रोंके सामने वेदके मन्त्र नहीं बोलते थे ॥ १८ ॥

कारयन्तः कृषिं गोभिस्तथा वैश्याः क्षिताविह ।
न गामयुञ्जन्त धुरि कृशाङ्गाश्चाप्यजीवयन् ॥ १९ ॥

इस भूमिपर वैश्यगण बैलोंसे खेती करवाते हुए पतले और दुबले बैलोंको जुओंमें जोतते नहीं थे । उनके कमजोर होनेपर भी उनका सम्यक् रीतिसे पालन करते थे ॥ १९ ॥

फेनपांश्च तथा वत्सान्न दुहन्ति स्म मानवाः ।
न कूटमानैर्वणिजः पण्यं विक्रीणते तदा ॥ २० ॥

उन दिनों कोई मनुष्य फेन पीनेवाले अर्थात् थोडी अवस्थाके बछडेवाली गायको दुहते नहीं थे और वणिक्लोग बेईमानीसे तौलसे ठगकर बिक्रीकी वस्तुओंको नहीं बेचते थे ॥ २० ॥

कर्माणि च नरव्याघ्र धर्मोपेतानि मानवाः ।
धर्ममेवानुपश्यन्तश्चक्रुर्धर्मपरायणाः ॥ २१ ॥

हे नरव्याघ्र ! उन दिनों सब जन धार्मिक होकर धर्ममार्गकी ओर दृष्टि रखकर अपने धर्मके कर्मोंको करते थे ॥ २१ ॥

स्वकर्मनिरताश्चासन्सर्वे वर्णा नराधिप ।
एवं तदा नरव्याघ्र धर्मो न ह्रसते क्वचित् ॥ २२ ॥

हे नरेश ! उन दिनों चारों वर्ण अपने अपने धर्ममें लगे रहते थे; इस प्रकार, हे नरव्याघ्र ! किसी स्थानमें धर्मकी क्षीणता नहीं थी ॥ २१ ॥

काले गावः प्रसूयन्ते नार्यश्च भरतर्षभ।
फलन्त्यृतुषु वृक्षाश्च पुष्पाणि च फलानि च ॥ २३ ॥

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ! उस कालमें गौ और नारी उचित समयमें ही सन्तान उत्पन्न करती थीं, ऋतुओंके अनुसार वृक्षके फूल और फल फलते फूलते थे ॥ २३ ॥

एवं कृतयुगे सम्यग्वर्तमाने तदा नृप।
आपूर्यत मही कृत्स्ना प्राणिभिर्बहुभिर्भृशम् ॥ २४ ॥

हे पृथ्वीनाथ! तब इस प्रकार सत्ययुग प्रवर्तित होनेपर सम्पूर्ण धरती अगणित जीवोंसे बहुत भर गई ॥ २४ ॥

ततः समुदिते लोके मानुषे भरतर्षभ।
असुरा जज्ञिरे क्षेत्रे राज्ञां मनुजपुंगव ॥ २५ ॥

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ महाराज! मर्त्यलोकके इस प्रकार उन्नत होनेपर राजाओंके क्षेत्रों अर्थात् रानियोंमें असुरलोग जन्म लेने लगे ॥ २५ ॥

आदित्यैर्हि तदा दैत्या बहुशो निर्जिता युधि।
ऐश्वर्याद्भ्रंशिताश्चापि संबभूवुः क्षिताविह ॥ २६ ॥

तब वे दैत्य युद्धमें देवोंसे बार बार जीते गए और इस प्रकार ऐश्वर्यसे भ्रष्ट होकर भूतलमें जन्म लेने लगे ॥ २६ ॥

इह देवत्वमिच्छन्तो मानुषेषु मनस्विनः।
जज्ञिरे भुवि भूतेषु तेषु तेष्वसुरा विभो ॥ २७ ॥

हे राजेन्द्र! मनस्वी असुर लोग भूलोकमें उन उन मनुष्यों और प्राणियोंमें देवत्व प्राप्त करनेकी इच्छा करते हुए उत्पन्न होने लगे ॥ २७ ॥

गोष्वश्वेषु च राजेन्द्र खरोष्ट्रमहिषेषु च।
क्रव्यादेषु च भूतेषु गजेषु च मृगेषु च ॥ २८ ॥
जातैरिह महीपाल जायमानैश्च तैर्मही।
न शशाकात्मनात्मानमियं धारयितुं धरा ॥ २९ ॥

हे राजेन्द्र! गौओं, घोडों, ऊंटों, गधों, भैंसों, हिंसक प्राणियों, हाथियों, मृगादियोंके रूपोंमें उत्पन्न हुए हुए और उत्पन्न होनेवाले उन असुरोंसे, हे राजेन्द्र! यह धरती भारयुक्त होकर स्वयंहीको संभालनेमें समर्थ न रही ॥ २८-२९ ॥

अथ जाता महीपालाः केचिद्बलसमन्विताः ।
दितेः पुत्रा दनोश्चैव तस्माल्लोकादिह च्युताः ॥ ३० ॥

उनमेंसे अति वीर्यवान् कोई कोई दिति और दनुके पुत्र अर्थात् दैत्य और दानव उस स्वर्ग लोकसे च्युत होकर इस मानवकुलमें जन्म लेकर महीपाल बने ॥ ३० ॥

वीर्यवन्तोऽवलिप्तास्ते नानारूपधरा महीम् ।
इमां सागरपर्यन्तां परीयुररिमर्दनाः ॥ ३१ ॥

वीर्यवान्, अहङ्कारी, शत्रुओंको नष्ट करनेवाले तथा अनेक स्वरूप धारण करनेवाले उन दैत्य और दानवोंने सागरतक इस पृथ्वीपर अधिकार कर लिया ॥ ३१ ॥

ब्राह्मणान्क्षत्रियान्वैश्याञ्शूद्रांश्चैवाप्यपीडयन् ।
अन्यानि चैव भूतानि पीडयामासुरोजसा ॥ ३२ ॥

और वे अपने तेजसे ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों, शूद्रों और दूसरे जीवोंको भी सताने लगे ॥ ३२ ॥

त्रासयन्तो विनिघ्नन्तस्तांस्तान्भूतगणांश्च ते ।
विचेरुः सर्वतो राजन्महीं शतसहस्रशः ॥ ३३ ॥

हे राजन् ! उन सब प्राणिगणोंको डराते हुए तथा उनके कार्योंमें विघ्न उपस्थित करते तथा उन्हें मारते हुए सैंकडों और हजारों दानव पृथ्वीपर सर्वत्र घूमने लगे ॥ ३३ ॥

आश्रमस्थान्महर्षींश्च धर्षयन्तस्ततस्ततः ।
अब्रह्मण्या वीर्यमदा मत्ता मदबलेन च ॥ ३४ ॥

बलगर्वित, वीर्यके अहङ्कारसे उन्मत्त होकर नास्तिक वे दैत्य दानव आश्रमके महर्षियोंका अपमान कर सर्वत्र विचरने लगे ॥ ३४ ॥

एवं वीर्यबलोत्सिक्तैर्भूरियं तैर्महासुरैः ।
पीड्यमाना महीपाल ब्रह्माणमुपचक्रमे ॥ ३५ ॥

हे राजन् ! इस प्रकार बलवीर्यके अहङ्कारसे उन्मत्त उन बडे बडे असुरोंसे सताई जाकर धरती ब्रह्माके पास गयी ॥ ३५ ॥

न हीमां पवनो राजन्न नागा न नगा महीम् ।
तदा धारयितुं शेकुराक्रान्तां दानवैर्बलात् ॥ ३६ ॥

हे राजन् ! क्योंकि उस कालमें दानवोंके बलसे पीडित हुई हुई इस धरतीको न वायु, न दिग्गज तथा न पर्वत आदि ही धारण करनेमें समर्थ हुए ॥ ३६ ॥

ततो मही महीपाल भारार्ता भयपीडिता।
जगाम शरणं देवं सर्वभूतपितामहम् ॥ ३७ ॥

हे महीपाल ! तब भारसे युक्त और भयसे व्याकुल होकर पृथ्वीने सब प्राणियोंके पितामह ब्रह्माकी शरण ली ॥ ३७ ॥

सा संवृतं महाभागैर्देवद्विजमहर्षिभिः।
ददर्श देवं ब्रह्माणं लोककर्तारमव्ययम् ॥ ३८ ॥

उसने वहां जाकर महाभाग देवता, द्विज और महर्पियोंसे घिरे हुए लोकका निर्माण करनेवाले उन अविनाशी देव ब्रह्माको देखा ॥ ३८ ॥

गन्धर्वैरप्सरोभिश्च बन्दिकर्मसु निष्ठितैः।
वन्द्यमानं मुदोपेतैर्ववन्दे चैनमेत्य सा ॥ ३९ ॥

स्तुतिगान करनेके कार्यमें नियुक्त, प्रसन्न, गन्धर्व तथा अप्सराओंसे वन्दित होते हुए इन ब्रह्माके पास पहुंचकर इस पृथ्वीने वन्दना की ॥ ३९ ॥

अथ विज्ञापयामास भूमिस्तं शरणार्थिनी।
संनिधौ लोकपालानां सर्वेषामेव भारत ॥ ४० ॥

हे भारत ! इसके बाद पृथ्वीने शरण लेनेकी लालसासे सम्पूर्ण लोकपालोंके सामने उन ब्रह्मासे सब वृत्तान्त कह सुनाया ॥ ४० ॥

तत्प्रधानात्मनस्तस्य भूमेः कृत्यं स्वयंभुवः।
पूर्वमेवाभवद्राजन्विदितं परमेष्ठिनः ॥ ४१ ॥

हे राजन् ! देवोंमें प्रधान उन स्वयम्भू परमेष्ठीको पहिलेसे ही इस पृथ्वीका अभिप्राय ज्ञात था ॥ ४१ ॥

स्रष्टा हि जगतः कस्मान्न संबुध्येत भारत।
सुरासुराणां लोकानामशेषेण मनोगतम् ॥ ४२ ॥

क्योंकि जो जगत्के सृष्टिकर्ता हैं, वह सुरासुरादि सम्पूर्ण लोकोंके चित्तके भावोंको क्यों न जानेंगे ॥ ४२ ॥

तमुवाच महाराज भूमिं भूमिपतिर्विभुः।
प्रभवः सर्वभूतानामीशः शंभुः प्रजापतिः ॥ ४३ ॥

हे महाराज ! सब भूतोंके सृष्टिकर्ता, नियन्ता और मंगल करनेवाले तथा सम्पूर्ण संसारके स्वामी प्रभु प्रजापति उस पृथ्वीसे बोले ॥ ४३ ॥

यदर्थमसि संप्राप्ता मत्सकाशं वसुंधरे।
तदर्थं संनियोक्ष्यामि सर्वानेव दिवौकसः ॥ ४४ ॥

हे वसुन्धरे ! तुम जिस लिये मेरे पास आयी हो, उस कार्यको पूरा करनेके लिए मैं सम्पूर्ण देवोंको नियुक्त करूंगा ॥ ४४ ॥

इत्युक्त्वा स महीं देवो ब्रह्मा राजन्विसृज्य च।
आदिदेश तदा सर्वान्विबुधान्भूतकृत्स्वयम् ॥ ४५ ॥

हे राजन् ! सृष्टिकर्ता देव उन ब्रह्माने इस वाक्यसे धरतीको ढांढस देकर विदा किया। और तब सब देवोंको आज्ञा दी ॥ ४५ ॥

अस्या भूमेर्निरसितुं भारं भागैः पृथक्पृथक्।
अस्यामेव प्रसूयध्वं विरोधायेति चाब्रवीत् ॥ ४६ ॥

ब्रह्माने कहा कि तुम इस पृथ्वीके भारको दूर करनेके लिए अपने अपने अंशोंसे उस मर्त्यलोक ही में विरोध करनेके लिए उत्पन्न होओ ॥ ४६ ॥

तथैव च समानीय गन्धर्वाप्सरसां गणान्।
उवाच भगवान्सर्वानिदं वचनमुत्तमम्।
स्वैरंशैः संप्रसूयध्वं यथेष्टं मानुषेष्विति ॥ ४७ ॥

इसी प्रकार गन्धर्व तथा अप्सराओंके गणोंको बुलवाकर उन सबसे भी भगवान्‌ने यह उत्तम वचन कहा कि तुम सब अपने अपने अंशोंसे मनुष्यलोकमें अपनी अपनी इच्छाके अनुसार जन्म लो ॥ ४७ ॥

अथ शक्रादयः सर्वे श्रुत्वा सुरगुरोर्वचः।
तथ्यमर्थ्यं च पथ्यं च तस्य ते जगृहुस्तदा ॥ ४८ ॥

तब इन्द्रादि देवोंने उन देवगुरुके उस सत्यार्थयुक्त अति उपकारी उस वचनको सुनकर मान लिया ॥ ४८ ॥

अथ ते सर्वशोऽंशैः स्वैर्गन्तुं भूमिं कृतक्षणाः।
नारायणममित्रघ्नं वैकुण्ठमुपचक्रमुः ॥ ४९ ॥
यः स चक्रगदापाणिः पीतवासासितप्रभः।
पद्मनाभः सुरारिघ्नः पृथुचार्वञ्चितेक्षणः ॥ ५० ॥

तब वे अपने अपने सम्पूर्ण अंशोंसे पृथ्वीमें जन्म लेनेका निश्चयकर, जो अपने हाथोंमें चक्र और गदाको धारण किए रहते हैं, जो पीला कपडा पहनते हैं, तथा जो काले रंगके हैं तथा जिनकी नाभिसे कमल प्रकट हुआ है, जो देवोंके शत्रुओं अर्थात् असुरोंको मारनेवाले हैं और जो सुन्दर और बडी बडी आंखोंवाले हैं, ऐसे शत्रुनाशक मधुसूदन नारायणके पास वैकुण्ठमें गये ॥ ४९–५० ॥

×

तं भुवः शोधनायेन्द्र उवाच पुरुषोत्तमम्।
अंशेनावतरस्वेति तथेत्याह च तं हरिः ॥ ५१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥ २०८६ ॥

उन पुरुषोत्तम विष्णुसे इन्द्रने पृथ्वीको ढूंढनेके लिए कहा और यह भी कहा कि आप अपने अंशसे भूमि पर अवतार लें, हरिने भी " तथास्तु " कहकर इन्द्रकी बात मान ली ॥५१॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें अट्ठावनवां अध्याय समाप्त ॥ ५८ ॥ २०८६ ॥

: ५९ :

वैशम्पायन उवाच

अथ नारायणेनेन्द्रश्चकार सह संविदम्।
अवतर्तुं महीं स्वर्गादंशतः सहितः सुरैः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले-- तब इसके बाद इन्द्रने नारायणके साथ सब देवोंके सहित स्वर्गसे अपने अपने अंश लेकर भूमण्डलमें अवतीर्ण होनेकी प्रतिज्ञा की ॥ १ ॥

आदिश्य च स्वयं शक्रः सर्वानेव दिवौकसः।
निर्जगाम पुनस्तस्मात्क्षयान्नारायणस्य ह ॥ २ ॥

उसके बाद इन्द्र स्वयं सब देवोंको आज्ञा देकर नारायणके उस भवनसे चले गये ॥ २ ॥

तेऽमरारिविनाशाय सर्वलोकहिताय च।
अवतेरुः क्रमेणेमां महीं स्वर्गाद्दिवौकसः ॥ ३ ॥

वे सब सुरगण देवोंके शत्रु असुरोंके नाश और सब लोगोंके हितके लिए क्रमानुसार स्वर्गसे पृथ्वीमें अवतीर्ण होने लगे ॥ ३ ॥

ततो ब्रह्मर्षिवंशेषु पार्थिवर्षिकुलेषु च।
जज्ञिरे राजशार्दूल यथाकामं दिवौकसः ॥ ४ ॥

हे राजसिंह ! उन देवोंने अपनी अपनी इच्छानुसार ब्रह्मर्षियों और राजर्षियोंके वंशोंमें जन्म लिया ॥ ४ ॥

दानवान्राक्षसांश्चैव गन्धर्वान्पन्नगांस्तथा।
पुरुषादानि चान्यानि जघ्नुः सत्त्वान्यनेकशः ॥ ५ ॥

और दानव, राक्षस, गन्धर्व, पन्नग आदि तथा मनुष्योंको खानेवाले दूसरे भी भांति भांतिके अगणित जन्तुओंको नष्ट करने लगे ॥ ५ ॥

दानवा राक्षसाश्चैव गन्धर्वाः पन्नगास्तथा ।
न तान्बलस्थान्बाल्येऽपि जघ्नुर्भरतसत्तम ॥ ६ ॥

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ ! उन बलशालियोंको दानव, राक्षस, गन्धर्व और पन्नगगण बाल-पनमें भी कोई हानि नहीं पहुंचा सके ॥ ६ ॥

जनमेजय उवाच

देवदानवसङ्घानां गन्धर्वाप्सरसां तथा ।
मानवानां च सर्वेषां तथा वै यक्षरक्षसाम् ॥ ७ ॥
श्रोतुमिच्छामि तत्त्वेन संभवं कृत्स्नमादितः ।
प्राणिनां चैव सर्वेषां सर्वशः सर्वविद्ध्यसि ॥ ८ ॥

जनमेजयने कहा– देवों, दानवों, गन्धर्वों, अप्सराओं, यक्षों, राक्षसों और सम्पूर्ण मनुष्योंके संघ तथा दूसरे सब जीवोंकी उत्पत्तिको मैं ठीक ठीक रूपसे सुनना चाहता हूँ। आप सर्व वित् हैं ॥ ७–८ ॥

वैशम्पायन उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि नमस्कृत्वा स्वयंभुवे ।
सुरादीनामहं सम्यग्लोकानां प्रभवाप्ययम् ॥ ९ ॥

वैशम्पायन बोले– अच्छा, मैं स्वयम्भूको प्रणाम करके देवता और दूसरे जीवोंकी उत्पत्ति और प्रलयका वर्णन करता हूं ॥ ९ ॥

ब्रह्मणो मानसाः पुत्रा विदिताः षण्महर्षयः ।
मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ॥ १० ॥

मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु यह छः प्रसिद्ध महर्षि ब्रह्माके मानस-पुत्रोंके रूपसे प्रसिद्ध हैं ॥ १० ॥

मरीचेः कश्यपः पुत्रः कश्यपात्तु इमाः प्रजाः ।
प्रजज्ञिरे महाभागा दक्षकन्यास्त्रयोदश ॥ ११ ॥

कश्यप मरीचिके पुत्र हैं और उन कश्यप ही से यह सब प्रजा उत्पन्न हुई। प्रजापति दक्षसे अति सौभाग्यवती तेरह कन्यायें उत्पन्न हुई ॥ ११ ॥

अदितिर्दितिर्दनुः काला अनायुः सिंहिका मुनिः ।
क्रोधा प्रावा अरिष्टा च विनता कपिला तथा ॥ १२ ॥

अदिति, दिति, दनु, काला, अनायु, सिंहिका, मुनि, क्रोधा, प्रावा, अरिष्टा, विनता, कपिला ॥ १२ ॥

कद्रूश्च मनुजव्याघ्र दक्षकन्यैव भारत ।
एतासां वीर्यसंपन्नं पुत्रपौत्रमनन्तकम् ॥ १३ ॥

और, हे नरव्याघ्र भारत ! कद्रू ये दक्षकन्यायें उत्पन्न हुईं । इन सभीके अनन्त वीर्यवान् अगणित पुत्र पौत्र उत्पन्न हुए ॥ १३ ॥

अदित्यां द्वादशादित्याः संभूता भुवनेश्वराः ।
ये राजन्नामतस्तांस्ते कीर्तयिष्यामि भारत ॥ १४ ॥

हे भारत ! अदितिके गर्भसे सारे भुवनों पर शासन करनेवाले बारह पुत्रोंने जन्म लिया। हे राजन् ! उनमेंसे प्रत्येकके नाम कहता हूं ॥ १४ ॥

धाता मित्रोऽर्यमा शक्रो वरुणश्चांश एव च ।
भगो विवस्वान्पूषा च सविता दशमस्तथा ॥ १५ ॥
एकादशस्तथा त्वष्टा विष्णुर्द्वादश उच्यते ।
जघन्यजः स सर्वेषामादित्यानां गुणाधिकः ॥ १६ ॥

उनके नाम धाता, मित्र, अर्यमा, शक्र और वरुण तथा अंश, भग, विवस्वान् और पूषा, दसवें सविता तथा ग्यारहवें त्वष्टा और बारहवें विष्णु थे । वे विष्णु इन बारहों पुत्रोंमेंसे सबसे छोटे होते हुए भी सबसे ज्यादा गुणवान् कहे जाते हैं ॥ १५–१६ ॥

एक एव दितेः पुत्रो हिरण्यकशिपुः स्मृतः ।
नाम्ना ख्यातास्तु तस्येमे पुत्राः पञ्च महात्मनः ॥ १७ ॥

दितिका एक ही पुत्र था, उसका नाम हिरण्यकशिपु था । उस महात्मा हिरण्यकशिपुके अपने अपने नामोंसे प्रसिद्ध पांच पुत्र हुए ॥ १७॥

प्रह्लादः पूर्वजस्तेषां संह्लादस्तदनन्तरम् ।
अनुह्लादस्तृतीयोऽभूत्तस्माच्च शिबिबाष्कलौ ॥ १८॥

उनमें प्रह्लाद सबसे बडा, उसके बाद संह्लाद दूसरा, अनुह्लाद तीसरा, शिबि चौथा और बाष्कल पांचवां था ॥ १८ ॥

प्रह्लादस्य त्रयः पुत्राः ख्याताः सर्वत्र भारत ।
विरोचनश्च कुम्भश्च निकुम्भश्चेति विश्रुताः ॥ १९ ॥

हे भारत ! प्रह्लादके सर्वत्र प्रसिद्ध तीन पुत्र थे; वे विरोचन, कुम्भ और निकुम्भके नामोंसे प्रसिद्ध हुए ॥ १९ ॥

विरोचनस्य पुत्रोऽभूद्बलिरेकः प्रतापवान् ।
बलेश्च प्रथितः पुत्रो बाणो नाम महासुरः ॥ २० ॥

विरोचनका बलि नामक एक प्रतापी पुत्र हुआ। बलिके बाण नामक एक प्रख्यात महासुर पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ २० ॥

चत्वारिंशद्दनोः पुत्राः ख्याताः सर्वत्र भारत ।
तेषां प्रथमजो राजा विप्रचित्तिर्महायशाः ॥ २१ ॥

हे भारत ! दनु नाम्नी दक्षपुत्रीने तीनों लोकमें प्रसिद्ध चालीस पुत्र प्रसव किये थे; उनमेंसे सर्व प्रथम उत्पन्न हुए विप्रचित्ति नामक अति यशस्वी बडे पुत्र राजा हुए थे ॥ २१ ॥

शम्बरो नमुचिश्चैव पुलोमा चेति विश्रुतः ।
असिलोमा च केशी च दुर्जयश्चैव दानवः ॥ २२ ॥

शम्बर और नमुचि और प्रसिद्ध पुलोमा, असिलोमा, केशी और दानव दुर्जय ॥ २२ ॥

अयःशिरा अश्वशिरा अयःशंकुश्च वीर्यवान् ।
तथा गगनमूर्धा च वेगवान्केतुमांश्च यः ॥ २३ ॥

अयःशिरा, अश्वशिरा और वीर्यवान् अयःशंकु तथा गगनमूर्धा, वेगवान् और जो केतुमान् ॥ २३ ॥

स्वर्भानुरश्वोऽश्वपतिर्वृषपर्वाजकस्तथा ।
अश्वग्रीवश्च सूक्ष्मश्च तुहुण्डश्च महासुरः ॥ २४ ॥

स्वर्भानु, अश्व, अश्वपति, वृषपर्वा और अजक तथा अश्वग्रीव एवं सूक्ष्म तथा महासुर, तुहुण्ड ॥ २४ ॥

इसृपा एकचक्रश्च विरूपाक्षो हराहरौ ।
निचन्द्रश्च निकुम्भश्च कुपथः कापथस्तथा ॥ २५ ॥

इसृपा और एकचक्र, विरूपाक्ष, हर और अहर, निचन्द्र और निकुम्भ, कुपथ और कापथ ॥ २५ ॥

शरभः शलभश्चैव सूर्याचन्द्रमसौ तथा ।
इति ख्याता दनोर्वंशे दानवाः परिकीर्तिताः ।
अन्यौ तु खलु देवानां सूर्याचन्द्रमसौ स्मृतौ ॥ २६ ॥

शरभ और शलभ, सूर्य और चन्द्र, यह सब प्रसिद्ध दानव दनुवंशसे उत्पन्न हुए थे । देवोंमें गिने जानेवाले सूर्य और चन्द्र उक्त दनुवंशी सूर्य और चन्द्रसे भिन्न हैं ॥ २६ ॥

इमे च वंशे प्रथिताः सत्त्ववन्तो महाबलाः ।
दनुपुत्रा महाराज दश दानवपुंगवाः ॥ २७ ॥

हे महाराज ! इस दनुवंशमें बडे बलशाली और पराक्रमी दस दनुके पुत्र दनुवंशमें श्रेष्ठ होकर विख्यात हुए ॥ २७ ॥

एकाक्षो मृतपा वीरः प्रलम्बनरकावपि ।
वातापिः शत्रुतपनः शठश्चैव महासुरः ॥ २८ ॥
गविष्ठश्च दनायुश्च दीर्घजिह्वश्च दानवः ।
असंख्येयाः स्मृतास्तेषां पुत्राः पौत्राश्च भारत ॥ २९ ॥

उनके नाम एकाक्ष, वीर मृतपा, प्रलम्ब, नरक, वातापि, शत्रुतपन, महासुर शठ और गविष्ठ, दनायु और दानव दीर्घजिह्व थे । हे भारत ! इनके पुत्र–पौत्र इतने थे, कि उनकी संख्या नहीं की जा सकती ॥ २८-२९ ॥

सिंहिका सुषुवे पुत्रं राहुं चन्द्रार्कमर्दनम् ।
सुचन्द्रं चन्द्रहन्तारं तथा चन्द्रविमर्दनम् ॥ ३० ॥

सिंहिकाने चन्द्र और सूर्यको पीडित करनेवाले राहु, सुचन्द्र, चन्द्रहन्ता और चन्द्र-विमर्दनको जन्म दिया ॥ ३० ॥

क्रूरस्वभावं क्रूरायाः पुत्रपौत्रमनन्तकम् ।
गणः क्रोधवशो नाम क्रूरकर्मारिमर्दनः ॥ ३१ ॥

इसके अतिरिक्त उस क्रूर सिंहिकाके कुटिल स्वभावी अगणित पुत्र पौत्रादि थे । उनमेंसे कुछ क्रोधवश नामके कुटिल कार्य करनेवाले और शत्रुनाशी गण थे ॥ ३१ ॥

अनायुषः पुनः पुत्राश्चत्वारोऽसुरपुङ्गवाः ।
विक्षरो बलवीरौ च वृत्रश्चैव महासुरः ॥ ३२ ॥

विक्षर, बल, वीर और महासुर वृत्र इन चार श्रेष्ठ असुरोंने अनायुके गर्भसे जन्म लिया ॥ ३२ ॥

कालायाः प्रथिताः पुत्राः कालकल्पाः प्रहारिणः ।
भुवि ख्याता महावीर्या दानवेषु परंतपाः ॥ ३३ ॥

काला नाम्नी दक्ष-पुत्रीके कालके समान भयंकर पृथ्वीपर प्रसिद्ध असुरोंमें बडे वीर्यवान्, शत्रुओंको मथनेवाले बहुत पुत्र हुए ॥ ३३ ॥

विनाशनश्च क्रोधश्च हन्ता क्रोधस्य चापरः ।
क्रोधशत्रुस्तथैवान्यः कालेया इति विश्रुताः ॥ ३४ ॥

वे विनाशन, क्रोध, क्रोधहन्ता, क्रोधशत्रु आदि नामोंसे तथा दूसरे बहुतसे "कालेय" नामसे प्रसिद्ध हुए ॥ ३४ ॥

असुराणामुपाध्यायः शुक्रस्त्वृषिसुतोऽभवत् ।
ख्याताश्चोशनसः पुत्राश्चत्वारोऽसुरयाजकाः ॥ ३५ ॥

असुरोंके उपाध्याय ऋषिपुत्र शुक्राचार्य थे; उशनाके प्रख्यात चार पुत्र असुरोंके याजक थे ॥ ३५ ॥

त्वष्टावरस्तथात्रिश्च द्वावन्यौ मन्त्रकर्मिणौ ।
तेजसा सूर्यसंकाशा ब्रह्मलोकप्रभावना: ॥ ३६ ॥

उनके अतिरिक्त त्वष्टावर और अत्रि यह दो मंत्रकर्मा थे । यह सब तेजमें सूर्यके समान और ब्रह्मलोक पर भक्ति रखनेवाले थे ॥ ३६ ॥

इत्येष वंशप्रभवः कथितस्ते तरस्विनाम् ।
असुराणां सुराणां च पुराणे संश्रुतो मया ॥ ३७ ॥
एतेषां यदपत्यं तु न शक्यं तदशेषतः ।
प्रसंख्यातुं महीपाल गुणभूतमनन्तकम् ॥ ३८ ॥

हे राजन् ! मैंने पुराणोंमें बलशाली असुरों और देवोंका जो वंशवृत्तान्त सुना था, वह मैंने सुना दिया। उनके पुत्र आदि जो हैं वे इतने अधिक हैं, कि उनकी पूरी तरहसे गिनती नहीं की जा सकती और वे उतने महत्वपूर्ण भी नहीं हैं ॥ ३७–३८ ॥

तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च तथैव गरुडारुणौ ।
आरुणिर्वारुणिश्चैव वैनतेया इति स्मृताः ॥ ३९ ॥

तार्क्ष्य, अरिष्टनेमि तथा गरुड, अरुण, आरुणि और वारुणि यह सब विनताकी सन्तानें कही गईं हैं ॥ ३९ ॥

शेषोऽनन्तो वासुकिश्च तक्षकश्च भुजङ्गमः ।
कूर्मश्च कुलिकश्चैव काद्रवेया महाबलाः ॥ ४० ॥

नागराज शेष, अनन्त, वासुकि, तक्षक, कूर्म और कुलिक ये सब महाबलशाली नाग कद्रुसे उत्पन्न हुए ॥ ४० ॥

भीमसेनोग्रसेनौ च सुपर्णो वरुणस्तथा ।
गोपतिर्धृतराष्ट्रश्च सूर्यवर्चाश्च सप्तमः ॥ ४१ ॥

भीमसेन, उग्रसेन सुपर्ण तथा वरुण, गोपति, धृतराष्ट्र और सातवां सूर्यवर्च ॥ ४१ ॥

पत्रवालर्कपर्णश्च प्रयुतश्चैव विश्रुतः ।
भीमश्चित्ररथश्चैव विख्यातः सर्वविद्वशी ॥ ४२ ॥

पत्रवान्, अर्कपर्ण और प्रयुत, विश्रुत, भीम, प्रख्यात, सर्वज्ञ और जितेंद्रिय चित्ररथ ॥ ४२ ॥

तथा शालिशिरा राजन्प्रद्युम्नश्च चतुर्दशः ।
कलिः पञ्चदशश्चैव नारदश्चैव षोडशः ।
इत्येते देवगन्धर्वा मौनेयाः परिकीर्तिताः ॥ ४३ ॥

तथा शालिशिरा, चौदहवां प्रद्युम्न, पंद्रहवां कलि और सोलहवां नारद इन देव और गन्धर्वोंने हे राजन् ! दक्ष--पुत्री मुनिके गर्भसे जन्म लिया ॥ ४३ ॥

अतस्तु भूतान्यन्यानि कीर्तयिष्यामि भारत।
अनवद्यामनुवशामनूनामरुणां प्रियाम्।
अनूपां सुभगां भासीमिति प्रावा व्यजायत ॥ ४४ ॥

हे भारत! इसके पश्चात् दूसरे प्राणियोंकी कथा कहता हूं। अनवद्या, अनुवशा, अनूना, अरुणा प्रिया, अनूपा, सुभगा, भासी, यह सब कन्यायें प्रावासे उत्पन्न हुई हैं ॥ ४४ ॥

सिद्धः पूर्णश्च बर्ही च पूर्णाशश्च महायशाः।
ब्रह्मचारी रतिगुणः सुपर्णश्चैव सप्तमः ॥ ४५ ॥

सिद्ध, पूर्ण, बर्ही, महायशस्वी पूर्णाश, ब्रह्मचारी, रतिगुण, सातवां सुपर्ण ॥ ४५ ॥

विश्वावसुश्च भानुश्च सुचन्द्रो दशमस्तथा।
इत्येते देवगन्धर्वाः प्रावेयाः परिकीर्त्तिताः ॥ ४६ ॥

विश्वावसु, भानु और दसवां सुचन्द्र इन देवताओं और गन्धर्वोंने भी प्राव जन्म लिया ॥ ४६ ॥

चन्द्र

इमं त्वप्सरसां वंशं विदितं पुण्यलक्षणम्।
प्रावासूत महाभागा देवी देवर्षितः पुरा ॥ ४७ ॥

इनके अतिरिक्त उस महाभागा देवी प्रावाने पहले देवर्षि कश्यपके सहवाससे प्रख्यात और उत्तम लक्षणोंसे युक्त अप्सराओंके वंशको उत्पन्न किया ॥ ४७ ॥

अलम्बुसा मिश्रकेशी विद्युत्पर्णा तुलानघा।
अरुणा रक्षिता चैव रम्भा तद्वन्मनोरमा ॥ ४८ ॥

उनके नाम अलम्बुसा, मिश्रकेशी, विद्युत्पर्णा, तुलानघा, अरुणा, रक्षिता, रम्भा, उसी तरह मनोरमा ॥ ४८ ॥

असिता च सुबाहुश्च सुव्रता सुभुजा तथा।
सुप्रिया चातिबाहुश्च विख्यातौ च हहाहुहू।
तुम्बरुश्चेति चत्वारः स्मृता गन्धर्वसत्तमाः ॥ ४९ ॥

असिता, सुबाहु, सुव्रता, सुभुजा और सुप्रिया हैं; एवं अतिबाहु, सुप्रसिद्ध हहा, हुहू और तुम्बरु, यह चार गन्धर्वराज भी उसकी सन्तानें हैं ॥ ४९ ॥

अमृतं ब्राह्मणा गावो गन्धर्वाप्सरसस्तथा।
अपत्यं कपिलायास्तु पुराणे परिकीर्त्तितम् ॥ ५० ॥

पुराणोंमें कहा है, कि अमृत, ब्राह्मण, गौ, गन्धर्व और अप्सरा यह सब कपिलाकी सन्तानें हैं ॥ ५० ॥

इति ते सर्वभूतानां संभवः कथितो मया ।
यथावत्परिसंख्यातो गंधर्वाप्सरसां तथा ॥ ५१ ॥
भुजगानां सुपर्णानां रुद्राणां मरुतां तथा ।
गवां च ब्राह्मणानां च श्रीमतां पुण्यकर्मणाम् ॥ ५२ ॥

आपको सर्प, सुपर्ण, रुद्र, मरुत्, गौ और पुण्य कार्य करनेवाले श्रीमान् ब्राह्मण, गन्धर्व, अप्सरा तथा सब प्राणियोंकी उत्पत्ति यथावत् कह दी और उन्हें गिना भी दिया ॥५१-५२॥

आयुष्यश्चैव पुण्यश्च धन्यः श्रुतिसुखावहः ।
श्रोतव्यश्चैव सततं श्राव्यश्चैवानसूयता ॥ ५३ ॥

यह आयुको बढानेवाली कथा पुण्यदायिका धन्य तथा कानोंको सुख देनेवाली है; इसलिये इस कथाको सदा ईर्ष्या द्वेष छोडकर सुनना और सुनाना चाहिए ॥ ५३ ॥

इमं तु वंशं नियमेन यः पठेन्महात्मनां ब्राह्मणदेवसंनिधौ ।
अपत्यलाभं लभते स पुष्कलं श्रियं यशः प्रेत्य च शोभनां गतिम् ॥५४॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥ २१४० ॥

जो मनुष्य देवता और ब्राह्मणके सामने नियमके अनुसार महात्माओंकी इस वंशावलीका पाठ करेगा, वह अच्छे पुत्र, बहुत लक्ष्मी और यश और अन्तमें मरकर सुगति प्राप्त करेगा ॥ ५४ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें उनसठवां अध्याय समाप्त ॥ ५९ ॥ ॥ २१४० ॥

: ६० :

वैशम्पायन उवाच

ब्रह्मणो मानसाः पुत्रा विदिताः षण्महर्षयः ।
एकादश सुताः स्थाणोः ख्याताः परममानसाः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– ब्रह्मदेवके मानस पुत्रके रूपमें छै महर्षि प्रसिद्ध हैं, तथा स्थाणुके अत्यन्त मनस्वी ग्यारह सन्तानें सुप्रसिद्ध हैं ॥ १ ॥

मृगव्याधश्च शर्वश्च निर्ऋतिश्च महायशाः ।
अजैकपादहिर्बुध्न्यः पिनाकी च परंतपः ॥ २ ॥

उनके नाम मृगव्याध, शर्व, अति यशस्वी निर्ऋति, अजैकपात्, अहिर्बुध्न्य, महा तपस्वी पिनाकी ॥ २ ॥

×

दहनोऽथेश्वरश्चैव कपाली च महाद्युतिः।
स्थाणुर्भवश्च भगवान्रुद्रा एकादश स्मृताः ॥ ३ ॥

ईश्वर, दहन, महा तेजस्वी कपाली, स्थाणु और भगवान् भव यह ग्यारह रुद्रके नामसे प्रख्यात हैं ॥ ३ ॥

मरीचिरङ्गिरा अत्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
षडेते ब्रह्मणः पुत्रा वीर्यवन्तो महर्षयः ॥ ४ ॥

मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु, यह वीर्यवान् छः महर्षि ब्रह्माके पुत्र हैं ॥ ४ ॥

त्रयस्त्वङ्गिरसः पुत्रा लोके सर्वत्र विश्रुताः।
बृहस्पतिरुतथ्यश्च संवर्तश्च धृतव्रताः ॥ ५ ॥

अङ्गिराके लोकमें प्रसिद्ध तीन पुत्र उत्पन्न हुए; उनके नाम बृहस्पति, उतथ्य और व्रतशील संवर्त हैं ॥ ५ ॥

अत्रेस्तु बहवः पुत्राः श्रूयन्ते मनुजाधिप।
सर्वे वेदविदः सिद्धाः शान्तात्मानो महर्षयः ॥ ६ ॥

हे नराधिप! अत्रिके अगणित पुत्र सुने जाते हैं। वे सब वेद जाननेवाले, सिद्ध, शान्तचित्त और महर्षि थे ॥ ६ ॥

राक्षसास्तु पुलस्त्यस्य वानराः किंनरास्तथा।
पुलहस्य मृगाः सिंहा व्याघ्राः किंपुरुषास्तथा ॥ ७ ॥

राक्षस, वन्दर तथा किन्नर पुलस्त्यके पुत्र थे और मृग, सिंह, व्याघ्र और नीच पुरुष पुलहके पुत्र हुए ॥ ७ ॥

क्रतोः क्रतुसमाः पुत्राः पतङ्गसहचारिणः।
विश्रुतास्त्रिषु लोकेषु सत्यव्रतपरायणाः ॥ ८ ॥

क्रतुके क्रतु (यज्ञ) के समान पाप दूर करनेहारे और सूर्यके साथी (वालखिल्य नामक) बेटे तीनों लोकोंमें प्रख्यात और सत्य व्रतशील थे ॥ ८ ॥

दक्षस्त्वजायताङ्गुष्ठाद्दक्षिणाद्भगवानृषिः।
ब्रह्मणः पृथिवीपाल पुत्रः पुत्रवतां वरः ॥ ९ ॥
वामादजायताङ्गुष्ठाद्भार्या तस्य महात्मनः।
तस्यां पञ्चाशतं कन्याः स एवाजनयन्मुनिः ॥ १० ॥

हे पृथ्वीपाल! पुत्रवानोंमें श्रेष्ठ पुत्र भगवान् दक्ष मुनिने ब्रह्माके दाहिने अंगूठेसे जन्म लिया और उन महात्माकी स्त्री ब्रह्माके बांयें अंगूठेसे उत्पन्न हुई थी। प्रजापति दक्षने उस स्त्रीसे पचास कन्याओंको उत्पन्न किया ॥ ९-१० ॥

ताः सर्वास्त्वनवद्याङ्ग्यः कन्याः कमललोचनाः ।
पुत्रिकाः स्थापयामास नष्टपुत्रः प्रजापतिः ॥ ११ ॥

वे कन्यायें अनिन्दित अंगोंवाली और कमलके समान सुन्दर आंखोंवाली थीं । प्रजापति दक्षने पुत्र न होनेके कारण कन्याओंको ही पुत्रिका+ बनाया ॥ ११ ॥

ददौ स दश धर्माय सप्तविंशतिमिन्दवे ।
दिव्येन विधिना राजन्कश्यपाय त्रयोदश ॥ १२ ॥

उन्होंने दिव्य विधिके अनुसार धर्मको दस कन्यायें, चन्द्रको सत्ताइस कन्यायें और कश्यपको तेरह कन्यायें दान कीं ॥ १२ ॥

नामतो धर्मपत्न्यस्ताः कीर्त्यमाना निबोध मे ।
कीर्तिर्लक्ष्मीर्धृतिर्मेधा पुष्टिः श्रद्धा क्रिया तथा ॥ १३ ॥

धर्मकी धर्मपत्नियोंके नाम मैं बताता हूं, सुनिये । कीर्ति, लक्ष्मी, धृति, मेधा, पुष्टि, श्रद्धा और क्रिया ॥ १३ ॥

बुद्धिर्लज्जा मतिश्चैव पत्न्यो धर्मस्य ता दश ।
द्वाराण्येतानि धर्मस्य विहितानि स्वयंभुवा ॥ १४ ॥

बुद्धि, लज्जा और मति ये दस धर्मकी पत्नियां हैं, धर्मकी इन दस पत्नियोंको भगवान् स्वयंभूने धर्मके द्वार बना दिये थे ॥ १४ ॥

सप्तविंशति सोमस्य पत्न्यो लोके परिश्रुताः ।
कालस्य नयने युक्ताः सोमपत्न्यः शुभव्रताः ।
सर्वा नक्षत्रयोगिन्यो लोकयात्राविधौ स्थिताः ॥ १५ ॥

चन्द्रकी सत्ताइस स्त्रियां तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध हैं । वे सब उत्तम आचरण करनेवाली चन्द्रमाकी पत्नियां लोकयात्रा निर्वाहके निमित्त काल निश्चित करनेके लिये अश्विनी, भरणी आदि नक्षत्रोंके नामसे प्रख्यात हुई हैं ॥ १५ ॥

पितामहो मुनिर्देवस्तस्य पुत्रः प्रजापतिः
तस्याष्टौ वसवः पुत्रास्तेषां वक्ष्यामि विस्तरम् ॥ १६ ॥

ब्रह्माके पुत्र देवमुनि और उनके पुत्र प्रजापति हैं; उनसे आठ वसुओंका जन्म हुआ था । उनकी कथा विस्तृत रूपसे कहता हूं ॥ १६ ॥

+ अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम् ।
यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात्स्वधाकरम् ॥ (मनु. ९।१२७)

जिसके पुत्र न हो, वह अपनी लडकीके विवाहके समय अपने जामाताके साथ यह करार करता है कि इस लडकीसे जो पुत्र हो, वही मेरा तर्पण, श्राद्ध आदि करे । इसके कारण वह लडकी " पुत्रिका " कहलाती है ।

धरो ध्रुवश्च सोमश्च अहश्चैवानिलोऽनलः ।
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टाविति स्मृताः ॥ १७ ॥

धर और ध्रुव, सोम, अह, अनिल, अनल, प्रत्यूप, प्रभास यह आठ वसु प्रसिद्ध हुए ॥१७॥

धूम्रायाश्च धरः पुत्रो ब्रह्मविद्यो ध्रुवस्तथा ।
चन्द्रमास्तु मनस्विन्याः श्वसायाः श्वसनस्तथा ॥ १८ ॥

ब्रह्मविद्यामें पण्डित ध्रुव और धर धूम्राके पुत्र; चन्द्र मनस्विनीके और वायु श्वसाके पुत्र थे ॥ १८ ॥

रतायाश्चाप्यहः पुत्रः शाण्डिल्याश्च हुताशनः ।
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च प्रभातायाः सुतौ स्मृतौ ॥ १९ ॥

दिवस रताके पुत्र; हुताशन शाण्डिलीके पुत्र और प्रत्यूप तथा प्रभास प्रभाताके पुत्र थे ॥१९॥

धरस्य पुत्रो द्रविणो हुतहव्यवहस्तथा ।
ध्रुवस्य पुत्रो भगवान्कालो लोकप्रकालनः ॥ २० ॥

आठ वसुओंमेंसे धरके दो पुत्र थे; उनके नाम द्रविण और हुतहव्यवह थे । लोकनाशी भगवान् काल ध्रुवके पुत्र थे ॥ २० ॥

सोमस्य तु सुतो वर्चा वर्चस्वी येन जायते ।
मनोहरायाः शिशिरः प्राणोऽथ रमणस्तथा ॥ २१ ॥

सोमके पुत्र वर्चा थे, जिससे वर्चस्वी उत्पन्न होते हैं; मनोहराके शिशिर, रमण और प्राण यह पुत्र हुए ॥ २१ ॥

अह्नः सुतः स्मृतो ज्योतिः श्रमः शान्तस्तथा मुनिः ।
अग्नेः पुत्रः कुमारस्तु श्रीमाञ्छरवणालयः ॥ २२ ॥

दिवससे ज्योतिः, श्रम, शान्त और मुनि ये चार पुत्र उत्पन्न हुए । अग्निसे शरवनरूपी-गृहवाले श्रीमान् कुमारका जन्म हुआ ॥ २२ ॥

तस्य शाखो विशाखश्च नैगमेशश्च पृष्ठजः ।
कृत्तिकाभ्युपपत्तेश्च कार्तिकेय इति स्मृतः ॥ २३ ॥

कृत्तिका आदि छः माताओंसे कार्तिकेयका जन्म हुआ है । शाख, विशाख और नैगमेश कार्त्तिकेयके छोटे भाई थे ॥ २३ ॥

अनिलस्य शिवा भार्या तस्याः पुत्रः पुरोजवः ।
अविज्ञातगतिश्चैव द्वौ पुत्रावनिलस्य तु ॥ २४ ॥

अनिलकी शिवा नामकी स्त्री थी उसके गर्भसे अनिलके पुरोजव और अविज्ञातगति नामक दो पुत्रोंका जन्म हुआ ॥ २४ ॥

प्रत्यूषस्य विदुः पुत्रमृषिं नाम्नाथ देवलम्।
द्वौ पुत्रौ देवलस्यापि क्षमावन्तौ मनीषिणौ ॥ २५ ॥

देवल नामसे उत्पन्न हुए प्रत्यूषके ऋषिपुत्रको सब जानते हैं। देवलके भी क्षमावान् और बुद्धिमान् दो पुत्र हुए थे ॥ २५ ॥

बृहस्पतेस्तु भगिनी वरस्त्री ब्रह्मचारिणी।
योगसिद्धा जगत्सर्वमसक्तं विचरत्युत।
प्रभासस्य तु भार्या सा वसूनामष्टमस्य ह ॥ २६ ॥
विश्वकर्मा महाभागो जज्ञे शिल्पप्रजापतिः।
कर्ता शिल्पसहस्राणां त्रिदशानां च वर्धकिः ॥ २७ ॥

ब्रह्मचारिणी सुन्दरी स्त्री बृहस्पतिकी बहन संसारमें न फंस कर योगमें चित्तको लगाकरके सम्पूर्ण भूमण्डलमें विचरने लगी; बादमें उसने वसुओंमें आठवें वसु प्रभासकी स्त्री होकर शिल्पविद्यामें दक्ष विश्वकर्मा नामक महानुभाव पुत्र प्रसव किया; ये विश्वकर्मा सहस्रों शिल्प कार्योंके सृष्टिकर्त्ता, देवोंके वर्धकि अर्थात् शिल्पकार थे ॥ २६-२७ ॥

भूषणानां च सर्वेषां कर्ता शिल्पवतां वरः।
यो दिव्यानि विमानानि देवतानां चकार ह ॥ २८ ॥

जिन्होंने सम्पूर्ण अलङ्कार बनाये तथा शिल्पियोंमें प्रधान जिस विश्वकर्माने देवोंको दिव्य यान बना कर दिया ॥ २८ ॥

मनुष्याश्चोपजीवन्ति यस्य शिल्पं महात्मनः।
पूजयन्ति च यं नित्यं विश्वकर्माणमव्ययम् ॥ २९ ॥

मनुष्यलोग भी जिन महात्माकी शिल्पविद्या सीखकर जीविकाका निर्वाह करते हैं और जिस अव्यय विश्वकर्माकी मनुष्य हमेशा पूजा करते हैं वह प्रभासके पुत्र हैं ॥ २९ ॥

स्तनं तु दक्षिणं भित्त्वा ब्रह्मणो नरविग्रहः।
निःसृतो भगवान्धर्मः सर्वलोकसुखावहः ॥ ३० ॥

सब लोकोंको सुख देनेवाले भगवान् धर्म नरमूर्तिके स्वरूपमें अर्थात् पुरुषका रूप धारण करके ब्रह्माके दाहिने स्तनको भेद करके निकले थे ॥ ३० ॥

त्रयस्तस्य वराः पुत्राः सर्वभूतमनोहराः।
शमः कामश्च हर्षश्च तेजसा लोकधारिणः ॥ ३१ ॥

अपने तेजसे लोकोंको धारण करनेवाले और सब जीवोंमें मनोहर, शम, काम और हर्ष, यह तीन श्रेष्ठ पुत्र धर्मसे उत्पन्न हुए थे ॥ ३१ ॥

कामस्य तु रतिर्भार्या शमस्य प्राप्तिरङ्गना।
नन्दी तु भार्या हर्षस्य यत्र लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥ ३२ ॥

कामकी स्त्री रति, शमकी स्त्री प्राप्ति और हर्षकी स्त्री नन्दी हुई। इन तीन स्त्रियोंमें सारे लोक प्रतिष्ठित हैं ॥ ३२ ॥

मरीचेः कश्यपः पुत्रः कश्यपस्य सुरासुराः।
जज्ञिरे नृपशार्दूल लोकानां प्रभवस्तु सः ॥ ३३ ॥

हे राजसिंह ! मरीचिके पुत्र कश्यप हैं, कश्यप ही से सुरासुरोंने जन्म लिया है, अतएव वही समस्त लोगोंके जन्मदाता हैं ॥ ३३ ॥

त्वाष्ट्री तु सवितुर्भार्या वडवारूपधारिणी।
असूयत महाभागा सान्तरिक्षेऽश्विनावुभौ ॥ ३४ ॥

वडवा (घोडी) के रूपको धारण करनेवाली सूर्यपत्नी महाभागा त्वाष्ट्रीने आकाशमें दोनों अश्विनीकुमारोंको पैदा किया ॥ ३४ ॥

द्वादशैवादितेः पुत्राः शक्रमुख्या नराधिप।
तेषामवरजो विष्णुर्यत्र लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥ ३५ ॥

हे नराधिप ! अदितिके गर्भसे इन्द्रादि बारह पुत्रोंने जन्म लिया, उनमें विष्णु सबसे छोटे हैं जिनमें सबलोक प्रतिष्ठित हैं ॥ ३५ ॥

त्रयस्त्रिंशत इत्येते देवास्तेषामहं तव।
अन्वयं संप्रवक्ष्यामि पक्षैश्च कुलतो गणान् ॥ ३६ ॥

तैंतीस प्रधान देव हैं, उनके पक्ष, कुल और गणके अनुसार वंशकी कथा तुमसे कहता हूं ॥ ३६ ॥

रुद्राणामपरः पक्षः साध्यानां मरुतां तथा।
वसूनां भार्गवं विद्याद्विश्वेदेवांस्तथैव च ॥ ३७ ॥

रुद्रोंका एक पक्ष है तथा साध्यगण, मरुद्गण, वसुगण, भार्गवगण और विश्वदेवगण इनका एक एक पक्ष है ॥ ३७ ॥

वैनतेयस्तु गरुडो बलवानरुणस्तथा।
बृहस्पतिश्च भगवानादित्येष्वेव गण्यते ॥ ३८ ॥

विनतानन्दन गरुड तथा बलवान् अरुण और भगवान् बृहस्पति आदित्यगणमें गिने जाते हैं ॥ ३८ ॥

अश्विभ्यां गुह्यकान्विद्धि सर्वौषध्यस्तथा पशून् ।
एष देवगणो राजन्कीर्तितस्तेऽनुपूर्वशः ।
यं कीर्तयित्वा मनुजः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३९ ॥

दोनों अश्विनी कुमार, सब औषधि और पशुलोग गुह्यकगणमें गिने जाते हैं । हे राजन् ! आदिसे अन्ततक यह सब देवोंकी कथा कही । जिसका वर्णन करके मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ३९ ॥

ब्रह्मणो हृदयं भित्त्वा निःसृतो भगवान्भृगुः ।
भृगोः पुत्रः कविर्विद्वाञ्छुक्रः कविसुतो ग्रहः ॥ ४० ॥

भगवान् भृगु ब्रह्माके हृदयको तोडकर निकले। विद्वान् कवि भृगुका पुत्र था और शुक्र ग्रह कविका पुत्र था ॥ ४० ॥

त्रैलोक्यप्राणयात्रार्थे वर्षावर्षे भयाभये ।
स्वयंभुवा नियुक्तः सन्भुवनं परिधावति ॥ ४१ ॥

वह ब्रह्माकी आज्ञासे ग्रहके स्वरूपमें तीनों लोकोंकी प्राणयात्राके निर्वाहके लिये पानी बरसाना या न बरसाना, भयका रहना और न रहना आदि विषयोंपर दृष्टि रखनेके निमित्त नियुक्त होकर भूमण्डलमें विचर रहे हैं ॥ ४१ ॥

योगाचार्यो महाबुद्धिर्दैत्यानामभवद्गुरुः ।
सुराणां चापि मेधावी ब्रह्मचारी यतव्रतः ॥ ४२ ॥

व्रतशील, मेधावी, ब्रह्मचारी, अति बुद्धिमान् योगाचार्य शुक्र योगबलसे बृहस्पति और शुक्र इन दोका स्वरूप धारण करके देव और असुरोंके गुरु हुए ॥ ४२ ॥

तस्मिन्नियुक्ते विभुना योगक्षेमाय भार्गवे ।
अन्यमुत्पादयामास पुत्रं भृगुरनिन्दितम् ॥ ४३ ॥
च्यवनं दीप्ततपसं धर्मात्मानं मनीषिणम् ।
यः स रोषाच्च्युतो गर्भान्मातुर्मोक्षाय भारत ॥ ४४ ॥

तेजधारी मनीषी लोगोंके योगक्षेमकी व्यवस्था करनेके लिए प्रभुके द्वारा भार्गवको नियुक्त किए जाने पर भृगुने च्यवन नामके बुद्धिमान् , धर्मात्मा और प्रदीप्त तेजस्वी तथा अनिन्दित एक दूसरे पुत्रको पैदा किया। हे भारत! वह क्रोधयुक्त होकर माताको छुडानेके लिए गर्भसे गिर गए थे ॥ ४३–४४ ॥

आरुषी तु मनोः कन्या तस्य पत्नी मनीषिणः ।
और्वस्तस्यां समभवदूरुं भित्त्वा महायशाः ।
महातपा महातेजा बाल एव गुणैर्युतः ॥ ४५ ॥

मनीषी उन मुनि च्यवनकी स्त्री आरुषी मनुकी बेटी थी । अति यशस्वी और्व आरुषीकी जांघको चीरकर निकले । वह बालपनहीमें सब गुणोंसे भूषित, अति तेजस्वी और बडे तपस्वी थे ॥ ४५ ॥

ऋचीकस्तस्य पुत्रस्तु जमदग्निस्ततोऽभवत् ।
जमदग्नेस्तु चत्वार आसन्पुत्रा महात्मनः ॥ ४६ ॥

उस और्वके पुत्र ऋचीक हुए; ऋचीकके पुत्र जमदग्नि थे और महात्मा जमदग्निके चार पुत्र थे ॥ ४६ ॥

रामस्तेषां जघन्योऽभूदजघन्यैर्गुणैर्युतः ।
सर्वशस्त्रास्त्रकुशलः क्षत्रियान्तकरो वशी ॥ ४७ ॥

उनमें राम (परशुराम) सबसे छोटे होनेपर भी गुणोंके कारण सबसे बडे थे; वह जितेन्द्रिय क्षत्रियकुलके नाश करनेवाले और सभी शस्त्रास्त्रोंमें कुशल थे ॥ ४७ ॥

और्वस्यासीत्पुत्रशतं जमदग्निपुरोगमम् ।
तेषां पुत्रसहस्राणि बभूवुर्भृगुविस्तरः ॥ ४८ ॥

ऋचीकके जमदग्नि आदि सौ पुत्र थे । उन पुत्रोंके भी सहस्रों पुत्र भृगुवंशको बढानेवाले हुए ॥ ४८ ॥

द्वौ पुत्रौ ब्रह्मणस्त्वन्यौ ययोस्तिष्ठति लक्षणम् ।
लोके धाता विधाता च यौ स्थितौ मनुना सह ॥ ४९ ॥

ब्रह्माके जो दूसरे पुत्र हैं, वे लोकोंमें धाता और विधाता नामसे प्रख्यात होकर ब्रह्मलोकमें मनुके साथ रहते हैं ॥ ४९ ॥

तयोरेव स्वसा देवी लक्ष्मीः पद्मगृहा शुभा ।
तस्यास्तु मानसाः पुत्रास्तुरगा व्योमचारिणः ॥ ५० ॥

शुभलक्षणोंसे युक्त तथा पद्मपर विराजमान देवी लक्ष्मी उनकी बहिन हैं; आकाशमें उडनेवाले घोडे लक्ष्मीके मानस-पुत्र हैं ॥ ५० ॥

वरुणस्य भार्या ज्येष्ठा तु शुक्राद्देवी व्यजायत ।
तस्याः पुत्रं बलं विद्धि सुरां च सुरनन्दिनीम् ॥ ५१ ॥

वरुणकी बडी स्त्री देवीने शुक्रसे जन्म लिया; उन्होंने बल नामक एक पुत्र और सुरा नाम सुरनन्दिनी एक कन्या उत्पन्न की ऐसा जानो ॥ ५१ ॥

प्रजानामन्नकामानामन्योन्यपरिभक्षणात् ।
अधर्मस्तत्र संजातः सर्वभूतविनाशनः ॥ ५२ ॥

अन्नकी इच्छा करनेवाली प्रजाओंके आपसमें ही एक दूसरेको खानेसे सब प्राणियोंका विनाश करनेवाला अधर्म उत्पन्न हो गया ॥ ५२ ॥

तस्यापि निर्ऋतिर्भार्या नैर्ऋता येन राक्षसाः ।
घोरास्तस्यास्त्रयः पुत्राः पापकर्मरताः सदा ।
भयो महाभयश्चैव मृत्युर्भूतान्तकस्तथा ॥ ५३ ॥

अधर्मकी स्त्रीका नाम निर्ऋति था, उसके गर्भसे नैर्ऋत राक्षसोंने जन्म लिया था और उसके सदा पापाचारी घोररूप दूसरे तीन बेटे थे; उनके नाम भय, महाभय और सब भूतोंके अन्तकारी मृत्यु हैं ॥ ५३ ॥

काकीं श्येनीं च भासीं च धृतराष्ट्रीं तथा शुकीम् ।
ताम्रा तु सुषुवे देवी पञ्चैता लोकविश्रुताः ॥ ५४ ॥

लोकोंमें प्रसिद्ध काकी, श्येनी, भासी, धृतराष्ट्री और शुकी इन पांच कन्याओंने देवी ताम्राके गर्भसे जन्म लिया ॥ ५४ ॥

उलूकान्सुषुवे काकी श्येनी श्येनान्व्यजायत ।
भासी भासानजनयद्गृध्रांश्चैव जनाधिप ॥ ५५ ॥

हे राजन् ! काकीने उल्लुओंको, श्येनीने बाजोंको, भासीने मुरगोंको और गिद्धोंको उत्पन्न किया ॥ ५५ ॥

धृतराष्ट्री तु हंसांश्च कलहंसांश्च सर्वशः ।
चक्रवाकांश्च भद्रं ते प्रजज्ञे सा तु भामिनी ॥ ५६ ॥

और उस भामिनी धृतराष्ट्रीने, हंस, राजहंस और चकवोंको उत्पन्न किया ॥ ५६ ॥

शुकी विजज्ञे धर्मज्ञ शुकानेव मनस्विनी ।
कल्याणगुणसंपन्ना सर्वलक्षणपूजिता ॥ ५७ ॥

हे धर्मको जाननेवाले राजन् ! सब उत्तम लक्षणोंसे युक्त तथा कल्याण करनेवाले सभी गुणोंसे युक्त मनस्विनी शुकीसे शुक अर्थात् तोतोंका जन्म हुआ ॥ ५७ ॥

नव क्रोधवशा नारीः प्रजज्ञेऽप्यात्मसंभवाः ।
मृगीं च मृगमन्दां च हरिं भद्रमनामपि ॥ ५८ ॥
मातङ्गीमथ शार्दूलीं श्वेतां सुरभिमेव च ।
सर्वलक्षणसंपन्नां सुरसां च यशस्विनीम् ॥ ५९ ॥

क्रोधवशा नौ नारियां क्रोधसे उत्पन्न हुई थीं । मृगी, मृगमन्दा, हरी, भद्रमना, मातङ्गी, शार्दूली, श्वेता, सुरभि और सब लक्षणोंवाली और यशस्वनी सुरसा थीं ॥ ५८-५९ ॥

×

अपत्यं तु मृगाः सर्वे मृग्या नरवरोत्तम ।
ऋक्षाश्च मृगमन्दायाः सृमराश्चमरा अपि ॥ ६० ॥

हे राजेन्द्र! सब मृगोंने मृगीसे जन्म लिया है; रीछ और सृमर और चमरोंने मृगमन्दासे जन्म लिया ॥ ६० ॥

ततस्त्वैरावतं नागं जज्ञे भद्रमना सुतम् ।
ऐरावतः सुतस्तस्या देवनागो महागजः ॥ ६१ ॥

इसके बाद भद्रमनाने ऐरावत हाथीको पुत्रके रूपमें पैदा किया। उस भद्रमनाका पुत्र देवोंका हाथी महागज ऐरावत है ॥ ६१ ॥

हर्यास्तु हरयोऽपत्यं वानराश्च तरस्विनः ।
गोलाङ्गूलांश्च भद्रं ते हर्याः पुत्रान्प्रचक्षते ॥ ६२ ॥

बंदर और दूसरे भी वेगवान् वानर हरीकी सन्तानें हैं। भारत! तेरा कल्याण हो! लंगूरोंको भी हरीकी सन्तान कहा जाता है ॥ ६२ ॥

प्रजज्ञे त्वथ शार्दूली सिंहान्व्याघ्रांश्च भारत ।
द्वीपिनश्च महाभाग सर्वानेव न संशयः ॥ ६३ ॥

हे महाभाग भारत! शार्दूलीने सिंह, व्याघ्र और सम्पूर्ण चीतोंको पैदा किया इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ ६३ ॥

मातङ्ग्यास्त्वथ मातङ्गा अपत्यानि नराधिप ।
दिशागजं तु श्वेताख्यं श्वेताजनयदाशुगम् ॥ ६४ ॥

हे नराधिप! हस्तीगण मातङ्गीके बेटे हैं, श्वेताने श्वेता नामक द्रुतगामी दिग्गज उत्पन्न किया ॥ ६४ ॥

तथा दुहितरौ राजन्सुरभिर्वै व्यजायत ।
रोहिणीं चैव भद्रं ते गन्धर्वीं तु यशस्विनीम् ।
रोहिण्यां जज्ञिरे गावो गन्धर्व्यां वाजिनः सुताः ॥ ६५ ॥

हे राजन! तेरा कल्याण हो, सुरभिने यशस्विनी गन्धर्वी और रोहिणी इन दो कन्याओंको जन्म दिया। रोहिणीसे गौ और गन्धर्वीसे घोडे उत्पन्न हुए ॥ ६५ ॥

सुरसाजनयन्नागान्राजन्कद्रूश्च पन्नगान् ।
सप्त पिण्डफलान्वृक्षाननलापि व्यजायत ।
अनलायाः शुकी पुत्री कद्र्वास्तु सुरसा सुता ॥ ६६ ॥

हे राजन्! सुरसाने नागोंको और कद्रूने पन्नगों अर्थात् सांपोंको पैदा किया। खजूर, ताड, हिन्ताल, ताली, खजूरिका, सुपारी तथा नारियल आदि पिण्डफलवाले सात वृक्ष अनलासे उत्पन्न हुए हैं, इनके सिवाय अनलासे शुकी नामकी और कद्रूसे सुरसा नामकी पुत्रियां हुईं ॥ ६६ ॥

अरुणस्य भार्या श्येनी तु वीर्यवन्तौ महाबलौ ।
संपातिं जनयामास तथैव च जटायुषम् ।
द्वौ पुत्रौ विनतायास्तु विख्यातौ गरुडारुणौ ॥ ६७ ॥

अरुणकी स्त्री श्येनीने सम्पाती और जटायु नामक महाबली वीर्यवान् दो पुत्रोंको उत्पन्न किया और सुप्रसिद्ध गरुड और अरुणने विनताके गर्भसे जन्म लिया ॥ ६७ ॥

इत्येष सर्वभूतानां महतां मनुजाधिप ।
प्रभवः कीर्तितः सम्यङ्मया मतिमतां वर ॥ ६८ ॥

हे बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ मनुजाधिपते ! यह सब बडे बडे भूतोंकी उत्पत्तिकी कथा मैंने ठीक ठीक कह सुनाई ॥ ६८ ॥

यं श्रुत्वा पुरुषः सम्यङ्मुक्तो भवति पाप्मनः ।
सर्वज्ञतां च लभते गतिमग्र्यां च विन्दति ॥ ६९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥ २२०९ ॥

इसके सुननेसे मनुष्यलोग सर्वज्ञ बन जाते हैं और पापोंसे मुक्त होकर अच्छी गति प्राप्त करते हैं ॥ ६९ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें साठवां अध्याय समाप्त ॥ ६० ॥ २२०९ ॥

: ६१ :

जनमेजय उवाच

देवानां दानवानां च यक्षाणामथ रक्षसाम् ।
अन्येषां चैव भूतानां सर्वेषां भगवन्नहम् ॥ १ ॥
श्रोतुमिच्छामि तत्त्वेन मानुषेषु महात्मनाम् ।
जन्म कर्म च भूतानामेतेषामनुपूर्वशः ॥ २ ॥

जनमेजय बोले– भगवन् ! देव, दानव, यक्ष, राक्षस तथा अन्य सभी प्राणियोंके तथा मनुष्योंमें इन महात्मा प्राणियोंके जन्मकर्मको क्रमशः तत्त्वतः सम्पूर्ण सुनना चाहता हूं ॥ १-२ ॥

वैशंपायन उवाच

मानुषेषु मनुष्येन्द्र संभूता ये दिवौकसः ।
प्रथमं दानवांश्चैव तांस्ते वक्ष्यामि सर्वशः ॥ ३ ॥

वैशम्पायन बोले– हे मनुष्येन्द्र ! जिन सब देवता और दानवोंने मानवोंके स्वरूपमें जन्म लिया था, उनमें पहिले दानवोंकी कथा पूरी तरहसे कहता हूं ॥ ३ ॥

विप्रचित्तिरिति ख्यातो य आसीद्दानवर्षभः ।
जरासन्ध इति ख्यातः स आसीन्मनुजर्षभः ॥ ४ ॥

दानवोंमें श्रेष्ठ जो विप्रचित्तिके नामसे प्रसिद्ध हुआ था, वही मनुष्योंमें श्रेष्ठ होकर जरासंधके नामसे प्रसिद्ध हुआ ॥ ४ ॥

दितेः पुत्रस्तु यो राजन्हिरण्यकशिपुः स्मृतः ।
स जज्ञे मानुषे लोके शिशुपालो नरर्षभः ॥ ५ ॥

हे नरनाथ ! हिरण्यकशिपु नामक जो दितिका पुत्र था, उसीने शिशुपाल होकर मनुष्य लोकमें पुरुषोंमें श्रेष्ठ होकर जन्म लिया ॥ ५ ॥

संह्राद इति विख्यातः प्रह्लादस्यानुजस्तु यः ।
स शल्य इति विख्यातो जज्ञे वाह्लीकपुङ्गवः ॥ ६ ॥

प्रह्लादका छोटा भाई जो संह्रादके नामसे प्रसिद्ध था, वह शल्यके नामसे प्रख्यात होकरके वाह्लीकोंमें श्रेष्ठ होकर पैदा हुआ ॥ ६ ॥

अनुह्रादस्तु तेजस्वी योऽभूत्ख्यातो जघन्यजः ।
धृष्टकेतुरिति ख्यातः स आसीन्मनुजेश्वरः ॥ ७ ॥

प्रह्लादका सबसे छोटा भाई जो प्रसिद्ध तेजस्वी अनुह्राद था, वह धृष्टकेतुके नामसे प्रसिद्ध होकर राजा हुआ ॥ ७ ॥

यस्तु राजञ्शिबिर्नाम दैतेयः परिकीर्तितः ।
द्रुम इत्यभिविख्यातः स आसीद्भुवि पार्थिवः ॥ ८ ॥

हे राजन् ! शिबि नामक जो दैत्य कहा गया है, वह भूमिपर द्रुम नामसे प्रसिद्ध राजा हुआ ॥ ८ ॥

बाष्कलो नाम यस्तेषामासीदसुरसत्तमः ।
भगदत्त इति ख्यातः स आसीन्मनुजेश्वरः ॥ ९ ॥

उनमें असुरश्रेष्ठ जो बाष्कल नामका था, वह मानव योनिमें जन्म लेकर भगदत्तके नामसे प्रसिद्ध राजा हुआ ॥ ९ ॥

अयःशिरा अश्वशिरा अयःशङ्कुश्च वीर्यवान् ।
तथा गगनमूर्धा च वेगवांश्चात्र पञ्चमः ॥ १० ॥
पञ्चैते जज्ञिरे राजन्वीर्यवन्तो महासुराः ।
केकयेषु महात्मानः पार्थिवर्षभसत्तमाः ॥ ११ ॥

अयःशिरा, अश्वशिरा, वीर्यवान् अयःशंकु, गगनमूर्धा और वेगवान्, इन पांच वीर्यवान् महातमा महासुरोंने, हे राजन् ! केकय देशमें श्रेष्ठ भूपति होकर जन्म लिया था ॥ १०–११ ॥

केतुमानिति विख्यातो यस्ततोऽन्यः प्रतापवान्।
अमितौजा इति ख्यातः पृथिव्यां सोऽभवन्नृपः ॥ १२ ॥

जो उनसे दूसरा प्रख्यात प्रतापी केतुमान् था, वह पृथ्वी पर अमितौजाके नामसे प्रसिद्ध नरेश हुआ ॥ १२ ॥

स्वर्भानुरिति विख्यातः श्रीमान्यस्तु महासुरः।
उग्रसेन इति ख्यात उग्रकर्मा नराधिपः ॥ १३ ॥

स्वर्भानु नामसे जो प्रसिद्ध श्रीमान् महासुर था, वह उग्रसेन नामसे वीरताके कर्म करने वाला राजा होकर अवतीर्ण हुआ ॥ १३ ॥

यस्त्वश्व इति विख्यातः श्रीमानासीन्महासुरः।
अशोको नाम राजासीन्महावीर्यपराक्रमः ॥ १४ ॥

जो श्रीमान् महासुर अश्वके नामसे प्रसिद्ध था, उसने अशोक नामक महादुर्जय नरेश होकर जन्म लिया था ॥ १४ ॥

तस्मादवरजो यस्तु राजन्नश्वपतिः स्मृतः।
दैतेयः सोऽभवद्राजा हार्दिक्यो मनुजर्षभः ॥ १५ ॥

अश्वका छोटा भाई दैत्य जो अश्वपति बताया जाता है, वह हार्दिक्य नामक श्रेष्ठ महीपाल हुआ ॥ १५ ॥

वृषपर्वेति विख्यातः श्रीमान्यस्तु महासुरः।
दीर्घप्रज्ञ इति ख्यातः पृथिव्यां सोऽभवन्नृपः ॥ १६ ॥

जो श्रीमान् महासुर वृषपर्वा नामसे प्रसिद्ध था, उसने दीर्घप्रज्ञ नामसे प्रख्यात राजा होकर भूमिपर जन्म लिया ॥ १६ ॥

अजकस्त्वनुजो राजन्य आसीद्वृषपर्वणः।
स मल्ल इति विख्यातः पृथिव्यामभवन्नृपः ॥ १७ ॥

वृषपर्वाका छोटा भाई जो अजक नामसे प्रसिद्ध था, वह पृथ्वीपर मल्ल नामसे प्रसिद्ध राजा हुआ ॥ १७ ॥

अश्वग्रीव इति ख्यातः सत्त्ववान्यो महासुरः।
रोचमान इति ख्यातः पृथिव्यां सोऽभवन्नृपः ॥ १८ ॥

बलवान् महासुर जो अश्वग्रीवके नामसे प्रसिद्ध था, उसने पृथ्वी पर रोचमान नामसे प्रसिद्ध नरेश होकर जन्म लिया ॥ १८ ॥

सूक्ष्मस्तु मतिमान् राजन् कीर्तिमान् यः प्रकीर्तितः।
बृहन्त इति विख्यातः क्षितावासीत् स पार्थिवः ॥ १९ ॥

कीर्तिशाली मतिमान् सूक्ष्म नामका जो दैत्य कहा गया है उसने बृहन्त नामक प्रख्यात महीपति होकर भूमिपर जन्म लिया ॥ १९ ॥

तुहुण्ड इति विख्यातो य आसीदसुरोत्तमः।
सेनाबिन्दुरिति ख्यातः स बभूव नराधिपः ॥ २० ॥

जो असुरराज तुहुण्ड नामसे प्रसिद्ध था, वह सेनाबिन्दु नामक प्रशंसित भूपालके स्वरूपमें अवतीर्ण हुआ ॥ २० ॥

इषुपा नाम यस्तेषामसुराणां बलाधिकः।
पापजिन्नाम राजासीद् भुवि विख्यातविक्रमः ॥ २१ ॥

जो असुरोंमें अति बलवान् इषुपाके नामसे प्रसिद्ध था, उसने पापजित् नामसे भूमिपर प्रख्यात विक्रमी राजा होकर जन्म लिया ॥ २१ ॥

एकचक्र इति ख्यात आसीद् यस्तु महासुरः।
प्रतिविन्ध्य इति ख्यातो बभूव प्रथितः क्षितौ ॥ २२ ॥

जो प्रसिद्ध महासुर एकचक्र था वह पृथ्वीमें प्रतिविन्ध्य नामसे प्रशंसित पृथ्वीपति हुआ ॥ २२ ॥

विरूपाक्षस्तु दैतेयश्चित्रयोधी महासुरः।
चित्रधर्मेति विख्यातः क्षितावासीत् स पार्थिवः ॥ २३ ॥

अद्भुत योद्धा महासुर दैत्य विरूपाक्षने क्षितिमण्डलमें चित्रधर्मा नामक प्रख्यात क्षितिपति होकर जन्म लिया ॥ २३ ॥

हरस्त्वरिहरो वीर आसीद् यो दानवोत्तमः।
सुवास्तुरिति विख्यातः स जज्ञे वसुधाधिपः ॥ २४ ॥

जो शत्रुओंका नाश करनेवाला वीर दैत्यवर हर था, वह श्रीमान् प्रख्यात अवनीपति सुवास्तु होकर अवतीर्ण हुआ ॥ २४ ॥

अहरस्तु महातेजाः शत्रुपक्षक्षयंकरः।
बाह्लीको नाम राजा स बभूव प्रथितः क्षितौ ॥ २५ ॥

शत्रुपक्षके लिए भयंकर महातेजस्वी जो अहर नामक दैत्य था, उसने भूमण्डलमें बाह्लीक नामक प्रशंसित राजा होकर जन्म लिया ॥ २५ ॥

निचन्द्रश्चन्द्रवक्त्रश्च य आसीदसुरोत्तमः ।
मुञ्जकेश इति ख्यातः श्रीमानासीत्स पार्थिवः ॥ २६ ॥

जो चन्द्रके समान सुन्दर मुखवाला असुरोत्तम निचन्द्र था, वह महीपति श्रीमान् मुञ्जकेशके स्वरूपमें अवतीर्ण हुआ ॥ २६ ॥

निकुम्भस्त्वजितः संख्ये महामतिरजायत ।
भूमौ भूमिपतिः श्रेष्ठो देवाधिप इति स्मृतः ॥ २७ ॥

लडाईमें दुर्जय महामति निकुम्भ भूमिपर जन्म लेकर भूपालोंमें श्रेष्ठ देवाधिपके रूपमें प्रशंसित हुआ ॥ २७ ॥

शरभो नाम यस्तेषां दैतेयानां महासुरः ।
पौरवो नाम राजर्षिः स बभूव नरेष्विह ॥ २८ ॥

उन दैत्योंमें जो शरभ नामक महासुर था, उसने पौरव नामक राजर्षि होकर मनुष्योंमें जन्म लिया था ॥ २८ ॥

द्वितीयः शलभस्तेषामसुराणां बभूव यः ।
प्रह्लादो नाम बाह्लीकः स बभूव नराधिपः ॥ २९ ॥

जो उन असुरोंमें दूसरे शलभके नामसे प्रसिद्ध था, उसने प्रह्लाद नामसे बाह्लीक देशका राजा होकर जन्म लिया ॥ २९ ॥

चन्द्रस्तु दितिजश्रेष्ठो लोके ताराधिपोत्तमः ।
ऋषिको नाम राजर्षिर्बभूव नृपसत्तमः ॥ ३० ॥

दितिपुत्रोंमें श्रेष्ठ और चन्द्रके समान सुन्दर चन्द्रने ऋषिके नामसे राजाओंमें श्रेष्ठ राजर्षि होकर जन्म लिया ॥ ३० ॥

मृतपा इति विख्यातो य आसीदसुरोत्तमः ।
पश्चिमानूपकं विद्धि तं नृपं नृपसत्तम ॥ ३१ ॥

हे नृपश्रेष्ठ ! जो मृतपानामक प्रसिद्ध असुरोत्तम था, उसने पश्चिममें अनूप देशका भूपति होकर जन्म लिया ऐसा तुम जानो ॥ ३१ ॥

गविष्ठस्तु महातेजा यः प्रख्यातो महासुरः ।
द्रुमसेन इति ख्यातः पृथिव्यां सोऽभवन्नृपः ॥ ३२ ॥

प्रख्यात महासुर महातेजस्वी जो गविष्ठके नामसे प्रसिद्ध था, वह पृथ्वी पर राजा द्रुमसेनके स्वरूपमें अवतीर्ण हुआ ॥ ३२ ॥

मयूर इति विख्यातः श्रीमान्यस्तु महासुरः ।
स विश्व इति विख्यातो बभूव पृथिवीपतिः ॥ ३३ ॥
जो श्रीमान् महासुर मयूरके नामसे प्रसिद्ध था, वह विश्व नामसे प्रसिद्ध राजा हुआ ॥३३॥

सुपर्ण इति विख्यातस्तस्मादवरजस्तु यः ।
कालकीर्तिरिति ख्यातः पृथिव्यां सोऽभवन्नृपः ॥ ३४ ॥
उसका छोटा भाई जो सुपर्णके नामसे प्रसिद्ध था, वह कालकीर्तिके नामसे धरती पर राजा होकर अवतीर्ण हुआ ॥ ३४ ॥

चन्द्रहन्तेति यस्तेषां कीर्तितः प्रवरोऽसुरः ।
शुनको नाम राजर्षिः स बभूव नराधिपः ॥ ३५ ॥
उन आसुरोंमें अत्यन्त श्रेष्ठ असुर जो चन्द्रहन्ताके नामसे प्रसिद्ध था, वह शुनक नाम राजर्षि हुआ ॥ ३५ ॥

विनाशनस्तु चन्द्रस्य य आख्यातो महासुरः ।
जानकिर्नाम राजर्षिः स बभूव नराधिपः ॥ ३६ ॥
जो महासुर चन्द्रविनाशनके नामसे प्रसिद्ध था, उसने जानकि नामक प्रख्यात राजा होकर जन्म लिया ॥ ३६ ॥

दीर्घजिह्वस्तु कौरव्य य उक्तो दानवर्षभः ।
काशिराज इति ख्यातः पृथिव्यां पृथिवीपतिः ॥ ३७ ॥
हे कुरुवंशियोंमें श्रेष्ठ जनमेजय ! जो दानवोंमें श्रेष्ठ दीर्घजिह्व कहा गया है, वह पृथ्वीपर काशीराज नामक प्रसिद्ध राजा हुआ ॥ ३७ ॥

ग्रहं तु सुषुवे यं तं सिंही चन्द्रार्कमर्दनम् ।
क्राथ इत्यभिविख्यातः सोऽभवन्मनुजाधिपः ॥ ३८ ॥
जिस चन्द्रसूर्यके ग्रसनेवाले ग्रहको सिंहीने उत्पन्न किया था, उस ग्रहने क्राथ नामक प्रसिद्ध राजा होकर जन्म लिया था ॥ ३८ ॥

अनायुषस्तु पुत्राणां चतुर्णां प्रवरोऽसुरः ।
विक्षरो नाम तेजस्वी वसुमित्रोऽभवन्नृपः ॥ ३९ ॥
अनायुके चार पुत्रोंमें बडा पुत्र तेजस्वी विक्षर नामक असुर वसुमित्र नामक राजा हुआ ॥३९॥

द्वितीयो विक्षराद्यस्तु नराधिप महासुरः ।
पांसुराष्ट्राधिप इति विश्रुतः सोऽभवन्नृपः ॥ ४० ॥
हे नराधिप ! विक्षरसे छोटा उसका दूसरा पुत्र जो महासुर था, उसने पांसु राष्ट्रके अधिपतिके रूपमें सम्प्रसिद्ध राजा होकर जन्म लिया ॥ ४० ॥

बलवीर इति ख्यातो यस्त्वासीदसुरोत्तमः ।
पौण्ड्रमत्स्यक इत्येव स बभूव नराधिपः ॥ ४१ ॥

जो असुरोत्तम बलवीरके नामसे प्रसिद्ध हुआ, वह पौण्ड्रमत्स्यक नामक भूप हुआ ॥४१॥

वृत्र इत्यभिविख्यातो यस्तु राजन्महासुरः ।
मणिमान्नाम राजर्षिः स बभूव नराधिपः ॥ ४२ ॥

हे राजन् ! जो महासुर वृत्र नामसे विख्यात था, उसने मणिमान् नामक राजर्षि राजा होकर जन्म लिया ॥ ४२ ॥

क्रोधहन्तेति यस्तस्य बभूवावरजोऽसुरः ।
दण्ड इत्यभिविख्यातः स आसीन्नृपतिः क्षितौ ॥ ४३ ॥

उसका छोटा भाई जो असुर क्रोधहन्ता नामवाला था, वह पृथ्वी पर दण्ड नामक प्रसिद्ध राजा हुआ ॥ ४३ ॥

क्रोधवर्धन इत्येव यस्त्वन्यः परिकीर्तितः ।
दण्डधार इति ख्यातः सोऽभवन्मनुजेश्वरः ॥ ४४ ॥

क्रोधवर्धन नामक जो दूसरा असुर कहा जाता है वह दण्डधार नामक प्रख्यात राजा हुआ ॥ ४४ ॥

कालकायास्तु ये पुत्रास्तेषामष्टौ नराधिपाः ।
जज्ञिरे राजशार्दूल शार्दूलसमविक्रमाः ॥ ४५ ॥

हे राजसिंह ! कालकाके जितने पुत्र थे, उनमें आठ सिंहके समान पराक्रमी राजा हुए ॥ ४५ ॥

मगधेषु जयत्सेनः श्रीमानासीत्स पार्थिवः
अष्टानां प्रवरस्तेषां कालेयानां महासुरः ॥ ४६ ॥

उन आठों कालेयोंमें बडा श्रीमान् महासुर जयत्सेन मगध देशका अधिपति हुआ ॥ ४६ ॥

द्वितीयस्तु ततस्तेषां श्रीमान्हरिहयोपमः ।
अपराजित इत्येव स बभूव नराधिपः ॥ ४७ ॥

उनमें देवराजके समान श्रीमान् दूसरा असुर अपराजित नामका राजा हुआ ॥ ४७ ॥

तृतीयस्तु महाराज महाबाहुर्महासुरः ।
निषादाधिपतिर्जज्ञे भुवि भीमपराक्रमः ॥ ४८ ॥

हे महाराज ! महाबाहु तीसरे महासुरने पृथ्वी पर भयंकर पराक्रमवाला होकर निषादाधिपतिके रूपमें जन्म लिया ॥ ४८ ॥

×

तेषामन्यतमो यस्तु चतुर्थः परिकीर्तितः ।
श्रेणिमानिति विख्यातः क्षितौ राजर्षिसत्तमः ॥ ४९ ॥

उनमेंसे दूसरा, जो चौथा कहा गया है उसने पृथ्वी पर श्रेणिमान नाम प्रसिद्ध राजर्षि होकर जन्म लिया ॥ ४९ ॥

पञ्चमस्तु बभूवैषां प्रवरो यो महासुरः ।
महौजा इति विख्यातो बभूवेह परंतपः ॥ ५० ॥

उनमें श्रेष्ठ जो पांचवां महासुर था, उसने शत्रुओंको पीडित करनेवाले महौजाके नामसे प्रख्यात होकर जन्म लिया ॥ ५० ॥

षष्ठस्तु मतिमान्यो वै तेषामासीन्महासुरः ।
अभीरुरिति विख्यातः क्षितौ राजर्षिसत्तमः ॥ ५१ ॥

उनमेंसे छठवां मतिमान् नामक जो महासुर था, वह क्षितिमण्डलमें प्रख्यात राजर्षिसत्तम अभीरु नामसे अवतीर्ण हुआ ॥ ५१ ॥

समुद्रसेनस्तु नृपस्तेषामेवाभवद्गणात् ।
विश्रुतः सागरान्तायां क्षितौ धर्मार्थतत्त्ववित् ॥ ५२ ॥

उनमें सातवें असुरराजने समुद्रसेन नामसे समुद्रतक धरतीमें प्रख्यात धर्मार्थतत्त्व जाननेवाला नरेश होकर जन्म लिया ॥ ५२ ॥

बृहन्नामाष्टमस्तेषां कालेयानां परंतपः ।
बभूव राजन्धर्मात्मा सर्वभूतहिते रतः ॥ ५३ ॥

हे नराधिप ! कालेयोंमेंसे आठवां असुर शत्रुओंका नाश करनेवाला बृहत् नामक सर्वभूतोंका हित करनेवाला राजा हुआ ॥ ५३ ॥

गणः क्रोधवशो नाम यस्ते राजन्प्रकीर्तितः ।
ततः संजज्ञिरे वीराः क्षिताविह नराधिपाः ॥ ५४ ॥

हे राजन् ! क्रोधवश नामक जिन गणोंकी कथा तुमसे मैं कह चुका हूं, उन्होंने धरतीमें शूरवीर राजाओंका रूप धारण करके जन्म लिया ॥ ५४ ॥

नन्दिकः कर्णवेष्टश्च सिद्धार्थः कीटकस्तथा ।
सुवीरश्च सुबाहुश्च महावीरोऽथ बाह्लिकः ॥ ५५ ॥

नन्दिक, कर्णवेष्ट, सिद्धार्थ और कीटक, सुवीर और सुबाहु, महावीर और बाह्लीक, ॥५५॥

क्रोधो विचित्यः सुरसः श्रीमान्नीलश्च भूमिपः ।
वीरधामा च कौरव्य भूमिपालश्च नामतः ॥ ५६ ॥

हे कौरव ! क्रोध, विचित्य, सुरस, भूमिपति, श्रीमान् नील, वीरधामा, भूमिपाल ॥५६॥

दन्तवक्त्रश्च नामासीद्दुर्जयश्चैव नामतः ।
रुक्मी च नृपशार्दूलो राजा च जनमेजयः ॥ ५७ ॥

दन्तवक्त्र नामवाला तथा दुर्जय नामका, राजाओंमें सिंहके समान पराक्रमी रुक्मी, राजा जनमेजय, ॥ ५७ ॥

आषाढो वायुवेगश्च भूरितेजास्तथैव च ।
एकलव्यः सुमित्रश्च वाटधानोऽथ गोमुखः ॥ ५८ ॥

आषाढ, वायुवेग और उसी तरह भूरितेजा, एकलव्य, सुमित्र, वाटधान और गोमुख ॥५८॥

कारूषकाश्च राजानः क्षेमधूर्तिस्तथैव च ।
श्रुतायुरुद्धवश्चैव बृहत्सेनस्तथैव च ॥ ५९ ॥

कारूषक राजा और उसी तरह क्षेमधूर्त्ति, श्रुतायुः, उद्धव और बृहत्सेन ॥ ५९ ॥

क्षेमोग्रतीर्थः कुहरः कलिङ्गेषु नराधिपः ।
मतिमांश्च मनुष्येन्द्र ईश्वरश्चेति विश्रुतः ॥ ६० ॥

क्षेम, अग्रतीर्थ, कलिङ्गराज कुहर, प्रशंसित मतिमान् और प्रसिद्ध मनुजेश ईश्वर ॥ ६० ॥

गणात्क्रोधवशादेवं राजपूगोऽभवत्क्षितौ ।
जातः पुरा महाराज महाकीर्तिर्महाबलः ॥ ६१ ॥

यह सब, हे महाराज ! अति कीर्तिमान् मति–मान् महाबली वीरोंमें श्रेष्ठ राजगण क्रोध-वश गणोंके अवतार भूमिपर हुए हैं ॥ ६१ ॥

यस्त्वासीद्देवको नाम देवराजसमद्युतिः ।
स गन्धर्वपतिर्मुख्यः क्षितौ जज्ञे नराधिपः ॥ ६२ ॥

देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी जो देवक नामका था, वह गन्धर्वपति नामक प्रधान नरेश होकर धरतीमें अवतीर्ण हुआ ॥ ६२ ॥

बृहस्पतेर्बृहत्कीर्तेर्देवर्षेर्विद्धि भारत ।
अंशाद्द्रोणं समुत्पन्नं भारद्वाजमयोनिजम् ॥ ६३ ॥

हे भारत ! अति कीर्तिमान् देवर्षि बृहस्पतिके अंशसे बिना योनिके भरद्वाज पुत्र द्रोण उत्पन्न हुए ऐसा समझो ॥ ६३ ॥

धन्विनां नृपशार्दूल यः स सर्वास्त्रवित्तमः ।
बृहत्कीर्तिर्महातेजाः संजज्ञे मनुजेष्विह ॥ ६४ ॥

राजाओंमें सिंहके समान पराक्रमी जनमेजय! जो सम्पूर्ण अस्त्र चलानेमें दक्ष, धनुषधारियोंमें श्रेष्ठ, अति कीर्तिमान् और महातेजस्वी हैं वे मनुष्योंमें इस पृथ्वी पर उत्पन्न हुए॥ ६४॥

धनुर्वेदे च वेदे च यं तं वेदविदो विदुः ।
वरिष्ठमिन्द्रकर्माणं द्रोणं स्वकुलवर्धनम् ॥ ६५ ॥

वेदोंको जाननेवाले विद्वान् जिनको धनुर्वेद और वेदमें पण्डित, इन्द्रके समान कार्य करनेवाला और निज कुलको बढानेवाला तथा सबसे श्रेष्ठ कहा करते हैं, उन नरश्रेष्ठ द्रोणने बृहस्पतिके अंशसे जन्म लिया ॥ ६५ ॥

महादेवान्तकाभ्यां च कामात्क्रोधाच्च भारत ।
एकत्वमुपपन्नानां जज्ञे शूरः परंतपः ॥ ६६ ॥
अश्वत्थामा महावीर्यः शत्रुपक्षक्षयंकरः ।
वीरः कमलपत्राक्षः क्षितावासीन्नराधिप ॥ ६७ ॥

हे राजन्! महादेव, अन्तक, काम और क्रोध इन चारोंके सम्मिलित अंशसे शत्रुपक्षके नाशक शूरवीर, शत्रुपक्षको नष्ट करनेवाले कमलपत्रके समान सुन्दर आंखोंवाले अति वीर्यवान् अश्वत्थामा पृथ्वी पर उत्पन्न हुए ॥ ६६–६७ ॥

जज्ञिरे वसवस्त्वष्टौ गङ्गायां शन्तनोः सुताः ।
वसिष्ठस्य च शापेन नियोगाद्वासवस्य च ॥ ६८ ॥

वसिष्ठके शाप और इन्द्रकी आज्ञाके कारण, अष्टवसुओंने शान्तनुके वीर्यसे गंगाके गर्भमें जन्म लिया ॥ ६८ ॥

तेषामवरजो भीष्मः कुरूणामभयंकरः।
मतिमान्वेदविद्वाग्मी शत्रुपक्षक्षयंकरः ॥ ६९ ॥

उनमें सबसे छोटे भीष्म बुद्धिमान्, वेदज्ञ, सद्वक्ता, शत्रुकुलको नष्ट करनेवाले और कौरवोंको अभय देनेवाले थे ॥ ६९ ॥

जामदग्न्येन रामेण यः स सर्वविदां वरः ।
अयुध्यत महातेजा भार्गवेण महात्मना ॥ ७० ॥

वे जो सर्वज्ञोंमें श्रेष्ठ भीष्म थे, उन दक्ष महातेजस्वी महात्माने जमदग्निके पुत्र महात्मा, भार्गव, परशुरामसे युद्ध किया ॥ ७० ॥

यस्तु राजन्कृपो नाम ब्रह्मर्षिरभवत्क्षितौ ।
रुद्राणां तं गणाद्विद्धि संभूतमतिपौरुषम् ॥ ७१ ॥

हे राजन्! कृपके नामसे जो ब्रह्मर्षि पृथ्वीमें अवतीर्ण हुए उन अत्यन्त पराक्रमीको तुम रुद्रोंके गणसे उत्पन्न हुआ जानो ॥ ७१ ॥

शकुनिर्नाम यस्त्वासीद्राजा लोके महारथः ।
द्वापरं विद्धि तं राजन्संभूतमरिमर्दनम् ॥ ७२ ॥

हे राजन् ! संसारमें जिस महारथी शकुनिने जन्म लिया था, उस शत्रुनाशकको द्वापरके अंशसे पैदा हुआ जानो ॥ ७२ ॥

सात्यकिः सत्यसन्धस्तु योऽसौ वृष्णिकुलोद्वहः ।
पक्षात्स जज्ञे मरुतां देवानामरिमर्दनः ॥ ७३ ॥

वृष्णिवंशियोमें श्रेष्ठ शत्रुओंको मथनेवाले सत्यशील, जो यह सात्यकि थे वे मरुत् देवोंके गणसे उत्पन्न हुए थे ॥ ७३ ॥

द्रुपदश्चापि राजर्षिस्तत एवाभवद्गणात् ।
मानुषे नृप लोकेऽस्मिन्सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥ ७४ ॥

हे नृप ! सब अस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ राजर्षि द्रुपद उन्हीं देवोंके गणसे इस भूलोकमें अवतीर्ण हुए थे ॥ ७४ ॥

ततश्च कृतवर्माणं विद्धि राजञ्जनाधिपम् ।
जातमप्रतिकर्माणं क्षत्रियर्षभसत्तमम् ॥ ७५ ॥

हे राजन् । इसके बाद अनुपम कर्म करनेवाले, क्षत्रियकुलमें उत्पन्न श्रेष्ठ राजाओंमें भी श्रेष्ठ राजा कृतवर्माको भी उन्हीं देवोंसे उत्पन्न हुआ हुआ जानो ॥ ७५ ॥

मरुतां तु गणाद्विद्धि संजातमरिमर्दनम् ।
विराटं नाम राजर्षिं परराष्ट्रप्रतापनम् ॥ ७६ ॥

विपक्ष राज्यको पीडा पहुंचानेवाले शत्रुओंको मथनेहारे नरेश विराट्को भी उन्हीं मरुद्गणके अंशसे अवतीर्ण हुआ हुआ जानो ॥ ७६ ॥

अरिष्टायास्तु यः पुत्रो हंस इत्यभिविश्रुतः ।
स गन्धर्वपतिर्जज्ञे कुरुवंशविवर्धनः ॥ ७७ ॥

धृतराष्ट्र इति ख्यातः कृष्णद्वैपायनादपि ।
दीर्घबाहुर्महातेजाः प्रज्ञाचक्षुर्नराधिपः ।
मातुर्दोषादृषेः कोपादन्ध एव व्यजायत ॥ ७८ ॥

अरिष्टाका हंस नामसे प्रसिद्ध गन्धर्वोंका स्वामी जो एक पुत्र था, वह इस पृथ्वीपर कृष्ण द्वैपायनके वीर्यसे लम्बी लम्बी भुजाओंवाले, महातेजस्वी, कुरुओंके वंशको बढानेवाले अन्धे राजा धृतराष्ट्रके रूपमें पैदा हुआ। वह धृतराष्ट्र माताके दोष और ऋषिके क्रोधसे जन्मसे ही अन्धा पैदा हुआ ॥ ७७–७८ ॥

अत्रेस्तु सुमहाभागं पुत्रं पुत्रवतां वरम्।
विदुरं विद्धि लोकेऽस्मिञ्जातं बुद्धिमतां वरम् ॥ ७९ ॥

अत्रिके पुत्रवालोंमें अत्यन्त श्रेष्ठ पुत्र उत्तम भाग्यवाले पुत्र धर्मको इस लोकमें बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ विदुरके रूपमें उत्पन्न हुआ हुआ समझो ॥ ७९ ॥

कलेरंशात्तु संजज्ञे भुवि दुर्योधनो नृपः।
दुर्बुद्धिर्दुर्मतिश्चैव कुरूणामयशस्करः ॥ ८० ॥
जगतो यः स सर्वस्य विद्विष्टः कलिपूरुषः।
यः सर्वां घातयामास पृथिवीं पुरुषाधमः।
येन वैरं समुद्दीप्तं भूतान्तकरणं महत् ॥ ८१ ॥

जो कलि पुरुष सारे जगत्से द्वेष करनेवाला था, और पुरुषोंमें सबसे नीच जिसने सारी पृथ्वीका विनाश करवा दिया था, तथा जिसने मनुष्योंमें सब प्राणियोंके विनाश करनेवाली दुश्मनी पैदा कर दी थी, ऐसा दुर्बुद्धि और दुष्ट मतिवाला तथा कुरुओंके यशको क्षीण करनेवाला राजा दुर्योधन इस पृथ्वीपर कलिके अंशसे पैदा हुआ ॥ ८०-८१ ॥

पौलस्त्या भ्रातरः सर्वे जज्ञिरे मनुजेष्विह।
शतं दुःशासनादीनां सर्वेषां क्रूरकर्मणाम् ॥ ८२ ॥

सभी पौलस्त्य भाइयोंने इस मर्त्यलोकके मध्यमें क्रूर कर्म करनेवाले दुःशासन आदि सौ भाईयोंके रूपमें जन्म लिया ॥ ८२ ॥

दुर्मुखो दुःसहश्चैव ये चान्ये नानुशब्दिताः
दुर्योधनसहायास्ते पौलस्त्या भरतर्षभ ॥ ८३ ॥

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ जनमेजय! दुर्मुख, दुःसह आदि जिनके नाम कहे गये और जिनके नहीं कहे गये हैं वे सभी पौलस्त्योंके अंश और दुर्योधनके सहायक थे ॥ ८३ ॥

धर्मस्यांशं तु राजानं विद्धि राजन्युधिष्ठिरम्।
भीमसेनं तु वातस्य देवराजस्य चार्जुनम् ॥ ८४ ॥
अश्विनोस्तु तथैवांशौ रूपेणाप्रतिमौ भुवि।
नकुलः सहदेवश्च सर्वलोकमनोहरौ ॥ ८५ ॥

हे राजन्! राजा युधिष्ठिरको धर्मका अंश, भीमसेनको वायुका अंश, अर्जुनको देवराज इन्द्रका, उसी प्रकार संसारमें अपने सुन्दर रूपमें अद्वितीय तथा सब लोगोंके मनोंको हरनेवाले नकुल सहदेवको अश्विनीकुमारका अंश समझो ॥ ८४-८५ ॥

यः सुवर्चा इति ख्यातः सोमपुत्रः प्रतापवान् ।
अभिमन्युर्बृहत्कीर्तिरर्जुनस्य सुतोऽभवत् ॥ ८६ ॥

जो सुवर्चा नामक प्रख्यात प्रतापी सोमका पुत्र था, वह अर्जुनके पुत्र महाकीर्तिमान् अभिमन्युके स्वरूपमें अवतीर्ण हुआ ॥ ८६ ॥

अग्नेरंशं तु विद्धि त्वं धृष्टद्युम्नं महारथम् ।
शिखण्डिनमथो राजन्स्त्रीपुंसं विद्धि राक्षसम् ॥ ८७ ॥

महारथी धृष्टद्युम्नको तुम अग्निके अंशसे उत्पन्न हुआ जानो । हे राजन् ! जो शिखण्डी पहिले कन्या थे, उन्हें राक्षसके अंशसे जन्म लिया हुआ जानो ॥ ८७ ॥

द्रौपदेयाश्च ये पञ्च बभूवुर्भरतर्षभ ।
विश्वेदेवगणान्राजंस्तान्विद्धि भरतर्षभ ॥ ८८ ॥

हे भरतवंशश्रेष्ठ ! जो द्रौपदीके पांच पुत्र हुए, हे राजन ! उन्हें तुम विश्वदेवगण जानो ॥ ८८ ॥

आमुक्तकवचः कर्णो यस्तु जज्ञे महारथः ।
दिवाकरस्य तं विद्धि देवस्यांशमनुत्तमम् ॥ ८९ ॥

कवचको छोडकर जो महारथी कर्ण पैदा हुआ था, उसे तुम देव सूर्यका उत्तम अंश जानो ॥ ८९ ॥

यस्तु नारायणो नाम देवदेवः सनातनः ।
तस्यांशो मानुषेष्वासीद्वासुदेवः प्रतापवान् ॥ ९० ॥

जो सनातन देवोंके देव श्रीनारायण हैं, उनके अंशसे मर्त्यलोकमें प्रतापी वासुदेव कृष्ण अवतीर्ण हुए ॥ ९० ॥

शेषस्यांशस्तु नागस्य बलदेवो महाबलः ।
सनत्कुमारं प्रद्युम्नं विद्धि राजन्महौजसम् ॥ ९१ ॥

महाबली बलदेवने शेषनागके अंशसे जन्म लिया । हे राजन् ! बडे ओजस्वी सनत्कुमारको प्रद्युम्नके स्वरूपमें अवतीर्ण हुआ जानो ॥ ९१ ॥

एवमन्ये मनुष्येन्द्र बहवोंऽशा दिवौकसाम् ।
जज्ञिरे वसुदेवस्य कुले कुलविवर्धनाः ॥ ९२ ॥

इस प्रकार दूसरे देवोंके बहुतसे अंशोंने वसुदेवके वंशमें वंश बढानेवाले अगणित नरोंके स्वरूपमें जन्म लिया ॥ ९२ ॥

गणस्त्वप्सरसां यो वै मया राजन्प्रकीर्तितः।
तस्य भागः क्षितौ जज्ञे नियोगाद्वासवस्य च ॥ ९३ ॥

हे राजन्! मैंने जिन सब अप्सराओंके गणकी कथा कही है, उस गणका भाग भी देवराजकी आज्ञासे भूतलपर उत्पन्न हुआ ॥ ९३ ॥

तानि षोडश देवीनां सहस्राणि नराधिप।
बभूवुर्मानुषे लोके नारायणपरिग्रहः ॥ ९४ ॥

हे राजन्! वे सोलह हजार देवियां मर्त्यलोकमें प्रगट होकर नारायणकी पत्नियां बनीं ॥९४॥

श्रियस्तु भागः संजज्ञे रत्यर्थं पृथिवीतले।
द्रुपदस्य कुले कन्या वेदिमध्यादनिन्दिता ॥ ९५ ॥

लक्ष्मीका भाग प्रेमवश पृथ्वीपर द्रुपदके कुलमें अनिन्दित कन्या रूपमें वेदीमेंसे प्रकट हुआ ॥ ९५ ॥

नातिह्रस्वा न महती नीलोत्पलसुगन्धिनी।
पद्मायताक्षी सुश्रोणी असितायतमूर्धजा ॥ ९६ ॥
सर्वलक्षणसंपन्ना वैडूर्यमणिसंनिभा।
पञ्चानां पुरुषेन्द्राणां चित्तप्रमथिनी रहः ॥ ९७ ॥

रूपवती द्रौपदी न तो बहुत लम्बी थी और न बहुत नाटी, वह नीले कमलकी सुगंधसे सुगंधित थी, वह काले घुंघराले केशोंसे सुहावनी, पद्मके समान प्रशस्त नेत्रवती, सुन्दर नितम्बोंवाली, सब लक्षणोंसे संपन्न वैडूर्यमणिसी सुन्दर और सिंहके समान पराक्रमी पांच पुरुषोंके मनको एकान्तमें मोहित करनेवाली थी ॥ ९६–९७ ॥

सिद्धिर्धृतिश्च ये देव्यौ पञ्चानां मातरौ तु ते।
कुन्ती माद्री च जज्ञाते मतिस्तु सुबलात्मजा ॥ ९८ ॥

जो सिद्धि और धृति थीं इन दो देवियोंने पांचोंकी माता कुन्ती और माद्रीके स्वरूपमें जन्म लिया था। मति देवीने सुबलकन्या गान्धारीके स्वरूपमें जन्म लिया ॥ ९८ ॥

इति देवासुराणां ते गन्धर्वाप्सरसां तथा।
अंशावतरणं राजन्राक्षसानां च कीर्तितम् ॥ ९९ ॥
ये पृथिव्यां समुद्भूता राजानो युद्धदुर्मदाः।
महात्मानो यदूनां च ये जाता विपुले कुले ॥ १०० ॥

जो युद्धमें भयंकर पराक्रम करनेवाले राजाओंके रूपमें पृथ्वीपर उत्पन्न हुए थे, तथा जो महात्मा विशाल यदुकुलमें जन्मे थे, उन देवों, असुरों, गन्धर्वों, अप्सराओं तथा राक्षसोंके अंशावतरणकी कथायें, हे राजन्! मैं पूरी तरहसे सुना चुका हूं ॥ ९९–१०० ॥

धन्यं यशस्यं पुत्रीयमायुष्यं विजयावहम् ।
इदमंशावतरणं श्रोतव्यमनसूयता　　　　　　　　　　॥ १०१ ॥

यह अंशावतरणकी कथा धन, यश, पुत्र, आयु और जय देनेवाली है, अतः द्वेष छोडकर यह अंशावतरणकी कथा सुननी चाहिए ॥ १०१ ॥

अंशावतरणं श्रुत्वा देवगन्धर्वरक्षसाम् ।
प्रभवाप्ययवित्प्राज्ञो न कृच्छ्रेष्ववसीदति　　　　　　　　　　॥ १०२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥ २३११ ॥ समाप्तमादिवंशावतरणपर्व ॥

ज्ञानीलोग, देव, गन्धर्व, राक्षसोंके अंशावतरणकी कथा सुननेसे जन्म मृत्युके वृत्तान्तसे विदित होकर विपत्तिके समय शोकादिके वशमें नहीं होते ॥ १०२ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें इकसठवां अध्याय समाप्त ॥ ६१ ॥ २३११ ॥ आदिवंशावतरणपर्व समाप्त ॥

: ६२ :

जनमेजय उवाच

त्वत्तः श्रुतमिदं ब्रह्मन्देवदानवरक्षसाम् ।
अंशावतरणं सम्यग्गन्धर्वाप्सरसां तथा　　　　　　　　　　॥ १ ॥

जनमेजय बोले– हे ब्रह्मन् ! आपसे देवों, दानवों, राक्षसों, गन्धर्वों और अप्सराओंके अंशावतरणकी कथा अच्छी प्रकार सुन चुका ॥ १ ॥

इमं तु भूय इच्छामि कुरूणां वंशमादितः ।
कथ्यमानं त्वया विप्र विप्रर्षिगणसंनिधौ　　　　　　　　　　॥ २ ॥

हे विप्र ! अब इन ब्राह्मणोंके सन्मुख आपके द्वारा कहे जाते हुए कुरुओंके चरित्रको मैं फिर शुरूसे सुनना चाहता हूं ॥ २ ॥

वैशंपायन उवाच

पौरवाणां वंशकरो दुःषन्तो नाम वीर्यवान् ।
पृथिव्याश्चतुरन्ताया गोप्ता भरतसत्तम　　　　　　　　　　॥ ३ ॥

वैशम्पायन बोले– हे भरतश्रेष्ठ ! दुःषन्त नामक वीर्यवान् राजा कौरवोंका आदिपुरुष था । वह चार समुद्रोंतककी धरतीका पालक एवं रक्षक था ॥ ३ ॥

×

चतुर्भागं भुवः कृत्स्नं स भुङ्क्ते मनुजेश्वरः।
समुद्रावरणांश्चापि देशान्स समितिंजयः ॥ ४ ॥
आम्लेच्छाटविकान्सर्वान्स भुङ्क्ते रिपुमर्दनः।
रत्नाकरसमुद्रान्तांश्चातुर्वर्ण्यजनावृतान् ॥ ५ ॥

सारी पृथ्वीके चौथे भागका वह राजा उपभोग करता था और वह युद्धविजयी राजा समुद्रोंसे घिरे हुए देशों पर शासन करता था। साथ ही वह शत्रुओंको नष्ट करनेवाला राजा दुःषन्त म्लेच्छ देशतक तथा चारों वर्णोंके मनुष्योंसे युक्त रत्नोंके घर समुद्रतककी पृथ्वीका उपभोग करता था ॥ ४–५ ॥

न वर्णसंकरकरो नाकृष्यकरकृज्जनः।
न पापकृत्कश्चिदासीत्तस्मिन्राजनि शासति ॥ ६ ॥

उस राजाके शासनके कालमें वर्णसंकर नहीं थे, प्रजाको खेतीकरके अनाज उपजाना नहीं पडता था और कोई पाप कर्म करनेवाला नहीं था ॥ ६ ॥

धर्म्यां रतिं सेवमाना धर्मार्थावभिपेदिरे।
तदा नरा नरव्याघ्र तस्मिञ्जनपदेश्वरे ॥ ७ ॥

हे नरव्याघ्र! दुःषन्त जब नगरोंका स्वामी था, तब सब लोग धर्ममें स्वयं प्रेमसे नियुक्त रहकर धर्म और अर्थका उपार्जन करते थे ॥ ७ ॥

नासीच्चोरभयं तात न क्षुधाभयमण्वपि।
नासीद्व्याधिभयं चापि तस्मिञ्जनपदेश्वरे ॥ ८ ॥

हे तात! उस समय उस राजाके शासनकालमें चोरीका भय नहीं था, रोगका भय और क्षुधाका भय जरासा भी नहीं था ॥ ८ ॥

स्वैर्धर्मै रेमिरे वर्णा दैवे कर्मणि निःस्पृहाः।
तमाश्रित्य महीपालमासंश्चैवाकुतोभयाः ॥ ९ ॥

उन दिनों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अपने अपने धर्ममें लगे रहते थे, वृष्टि आदिके निमित्त किसीको दैवीकर्म नहीं करना पडता था। उस भूपालके आश्रयमें सब लोग निर्भय होकर रहते थे ॥ ९ ॥

कालवर्षी च पर्जन्यः सस्यानि फलवन्ति च।
सर्वरत्नसमृद्धा च मही वसुमती तदा ॥ १० ॥

उन दिनों बादल उचित समयमें जलवृष्टि करते थे, शस्य फलयुक्त होते थे और धरती धन और भांति भांतिके रत्नोंसे भरी और समृद्ध थी ॥ १० ॥

स चाद्भुतमहावीर्यो वज्रसंहननो युवा ।
उद्धृत्य मन्दरं दोर्भ्यां हरेत्सवनकाननम् ॥ ११ ॥

वज्रसे भी कठिन देहधारी विचित्र महावीर्यवान् वह युवा दुःषन्त निज भुजबलसे वनोपवन सहित मन्दरपर्वतको उखाडकर वहन कर सकता था ॥ ११ ॥

धनुष्यथ गदायुद्धे त्सरुप्रहरणेषु च ।
नागपृष्ठेऽश्वपृष्ठे च बभूव परिनिष्ठितः ॥ १२ ॥

वह धनुर्युद्धमें, गदायुद्धमें और भाला फेंकनेमें दक्ष और हाथीकी पीठ और घोडेकी पीठपर चढनेमें बडा निपुण था ॥ १२ ॥

बले विष्णुसमश्चासीत्तेजसा भास्करोपमः ।
अक्षुब्धत्वेऽर्णवसमः सहिष्णुत्वे धरासमः ॥ १३ ॥

वह बलमें विष्णुवत्, तेजमें सूर्यसदृश, गांभीर्यमें समुद्रके समान और सहनशीलतामें धरतीकी भांति था ॥ १३ ॥

संमतः स महीपालः प्रसन्नपुरराष्ट्रवान् ।
भूयो धर्मपरैर्भावैर्विदितं जनमावसत् ॥ १४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥ २३२५ ॥

पुरवासी और दूसरी प्रजाओंके उस पर प्रसन्न रहनेके कारण वह साधारण जनोंका प्रेमपात्र था। वह महीपाल दुःषन्त आनन्दपूर्वक धर्मानुसार प्रजाओंका शासन किया करता था ॥ १४ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें बासठवां अध्याय समाप्त ॥ ६२ ॥ २३२५ ॥

: ६३ :

वैशंपायन उवाच

स कदाचिन्महाबाहुः प्रभूतबलवाहनः ।
वनं जगाम गहनं हयनागशतैर्वृतः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– एक बार सैंकडों घोडों और हाथियोंसे घिरा हुआ वह महाबाहु दुःषन्त अगणित सेना और अनेक वाहन साथमें लेकर, ॥ १ ॥

खड्गशक्तिधरैर्वीरैर्गदामुसलपाणिभिः ।
प्रासतोमरहस्तैश्च ययौ योधशतैर्वृतः ॥ २ ॥

तथा खड्ग, शक्ति, गदा, मुसल, प्रास और तोमरादि अस्त्र लेकर चलनेवाले सैंकडों योद्धाओंसे घिरा हुआ वह जंगल गया ॥ २ ॥

सिंहनादैश्च योधानां शङ्खदुन्दुभिनिस्वनैः ।
रथनेमिस्वनैश्चापि सनागवरबृंहितैः ॥ ३ ॥
हेषितस्वनमिश्रैश्च क्ष्वेडितास्फोटितस्वनैः ।
आसीत्किलकिलाशब्दस्तस्मिन्गच्छति पार्थिवे ॥ ४ ॥

उस पृथ्वीनाथके चलते समय योद्धाओंकी सिंहके समान गरजना, शंख और नगाडोंकी ध्वनि, रथोंके पहियोंकी आहट, हाथियोंकी चिंघाड, घोडोंकी हिनहिनाहट और भांति भांतिके अस्त्र और वेषसे सजी हुई सेनाकी ललकार– यह सब अप्रगट ध्वनि मिलाकर केवल किल-किलाहट होने लगी ॥ ३–४ ॥

प्रासादवरशृङ्गस्थाः परया नृपशोभया ।
ददृशुस्तं स्त्रियस्तत्र शूरमात्मयशस्करम् ॥ ५ ॥

नगरकी नारियां अच्छे अच्छे गृहोंकी अटारियोंपर चढकर अत्युत्तम राजयात्राकी शोभासे युक्त शूर, यशस्वी उक्त राजाको देखने लगीं ॥ ५ ॥

शक्रोपममित्रघ्नं परवारणवारणम् ।
पश्यन्तः स्त्रीगणास्तत्र शस्त्रपाणिं स्म मेनिरे ॥ ६ ॥

स्त्रियां इन्द्रके समान शत्रुनाशक, शत्रुपक्षके हाथियोंको नष्ट करनेवाले उस पृथ्वीनाथको निहार कर शस्त्रधारी योद्धा समझने लगीं ॥ ६ ॥

अयं स पुरुषव्याघ्रो रणेऽद्भुतपराक्रमः ।
यस्य बाहुबलं प्राप्य न भवन्त्यसुहृद्गणाः ॥ ७ ॥
इति वाचो ब्रुवन्त्यस्ताः स्त्रियः प्रेम्णा नराधिपम् ।
तुष्टुवुः पुष्पवृष्टीश्च ससृजुस्तस्य मूर्धनि ॥ ८ ॥

" यह पुरुषोंमें श्रेष्ठ राजा रणभूमिमें अद्भुत पराक्रमी है, जिनके भुजबलसे शत्रु नष्ट हो जाते हैं। " प्रेमसे यह कहती हुई रमणीगणने राजाकी प्रशंसा की और वे उसके शिरपर फूल वर्षाने लगीं ॥ ७–८ ॥

तत्र तत्र च विप्रेन्द्रैः स्तूयमानः समन्ततः ।
निर्ययौ परया प्रीत्या वनं मृगजिघांसया ॥ ९ ॥

दुःषन्त सब स्थानोंमें चारों ओर ब्राह्मणोंसे प्रशंसित होकर मृगयाके लिये अति प्रसन्नचित्तसे वनको पधारा ॥ ९ ॥

सुदूरमनुजग्मुस्तं पौरजानपदास्तदा ।
न्यवर्तन्त ततः पश्चादनुज्ञाता नृपेण ह　　　　　॥ १० ॥

पुरवासी और जनपदवासी इस प्रकार बडी दूरतक राजाके पीछे गए, बादमें राजाकी आज्ञा पाकर वहांसे लौट आये ॥ १० ॥

सुपर्णप्रतिमेनाथ रथेन वसुधाधिपः ।
महीमापूरयामास घोषेण त्रिदिवं तथा　　　　　॥ ११ ॥

वह पृथ्वीका स्वामी दुःपन्त गरुडकी आकृतिवाले रथसे पृथ्वीको और रथके पहियोंकी घर घराहटसे मिले हुए कोलाहलसे आकाश मण्डलको भरने लगा ॥ ११ ॥

स गच्छन्ददृशे धीमान्नन्दनप्रतिमं वनम् ।
बिल्वार्कखदिराकीर्णं कपित्थधवसंकुलम्　　　　　॥ १२ ॥
विषमं पर्वतप्रस्थैरश्मभिश्च समावृतम् ।
निर्जलं निर्मनुष्यं च बहुयोजनमायतम् ।
मृगसंघैर्वृतं घोरैरन्यैश्चापि वनेचरैः　　　　　॥ १३ ॥

धीमान् राजा दुःपन्तने जाते समय बेल, खैर, मदारसे व्याप्त तथा कैथके वृक्षोंसे घिरे हुए पहाडोंके कारण ऊंचेनीचे, पत्थरोंसे भरपूर, जल और मनुष्योंसे रहित, बहुयोजन तक फैले हुए और मृग, सिंहों तथा दूसरे भयानक वनैले जीवोंसे भरे हुए नन्दनवनके समान एक वनको देखा ॥ १२-१३ ॥

तद्वनं मनुजव्याघ्रः सभृत्यबलवाहनः ।
लोडयामास दुःषन्तः सूदयन्विविधान्मृगान्　　　　　॥ १४ ॥

नौकर और सेनासे युक्त उस राजाने बहुतसे विविध मृगोंको मारते हुए उस वनको मथ दिया ॥ १४ ॥

बाणगोचरसंप्राप्तांस्तत्र व्याघ्रगणान्बहून् ।
पातयामास दुःषन्तो निर्बिभेद च सायकैः　　　　　॥ १५ ॥

अपने बाणके लक्ष्यमें आए हुए अगणित व्याघ्रोंको बींधके धरती पर गिराया और अपने बाणोंसे उन्हें मार दिया ॥ १५ ॥

दूरस्थान्सायकैः कांश्चिदभिनत्स नरर्षभः ।
अभ्याशमागतांश्चान्यान्खड्गेन निरकृन्तत　　　　　॥ १६ ॥

वह दूर दूरके मृगोंको बाणोंसे बींधने लगा और निकट आए हुये हिरणोंको खड्गोंसे काटने लगा ॥ १६ ॥

काँश्चिदेणान्स निर्जघ्ने शक्त्या शक्तिमतां वरः ।
गदामण्डलतत्त्वज्ञश्चचारामितविक्रमः ॥ १७ ॥

और उस शक्तिवानोंमें श्रेष्ठ पुरुषने किन्हीं किन्हीं मृगोंको शक्तिसे नष्ट किया। गदायुद्धमें दक्ष अतुल विक्रमी वह भूपाल चारों ओर घूमने लगा ॥ १७ ॥

तोमरैरसिभिश्चापि गदामुसलकर्षणैः ।
चचार स विनिघ्नन्वै वन्यांस्तत्र मृगद्विजान् ॥ १८ ॥

तोमर, तलवार, गदा, मूसल चलाता हुआ वह राजा दुःषन्त भांति भांतिके वनैले मृग और पक्षियोंको मारकर घूमने लगा ॥ १८ ॥

राज्ञा चाद्भुतवीर्येण योधैश्च समरप्रियैः ।
लोड्यमानं महारण्यं तत्यजुश्च महामृगाः ॥ १९ ॥

आश्चर्यकारक वीर्यसे सम्पन्न राजा और युद्धको पसन्द करनेवाली सेनाओंके द्वारा वह भारी वन हिलोडे जानेसे सब बडे बडे हिरण उस जंगलको छोडकर भागने लगे ॥ १९ ॥

तत्र विद्रुतसंघानि हतयूथपतीनि च ।
मृगयूथान्यथौत्सुक्याच्छब्दं चक्रुस्ततस्ततः ॥ २० ॥

समूहके तितर वितर हो जाने और यूथपतिके मार दिए जानेके कारण मृगदल शोचयुक्त हृदयसे कोलाहल करने लगे ॥ २० ॥

शुष्कां चापि नदीं गत्वा जलनैराश्यकर्शिताः ।
व्यायामक्लान्तहृदयाः पतन्ति स्म विचेतसः ॥ २१ ॥

मृग थके मादे होकर जल पीनेके लिये सूखी नदीमें जाकर और वहां पानी न मिलनेके कारण निराश होकर चेतनासे रहित होकर भूमि पर गिरने लगे ॥ २१ ॥

क्षुत्पिपासापरीताश्च श्रान्ताश्च पतिता भुवि ।
केचित्तत्र नरव्याघ्रैरभक्ष्यन्त बुभुक्षितैः ॥ २२ ॥

मृगदलके भूख प्यासके मारे थके मादे होकर धरती पर गिर जाने पर पुरुषोंमें सिंहके समान पराक्रमी योधा आकर उनको खाने लगे ॥ २२ ॥

केचिदग्निमथोत्पाद्य समिध्य च वनेचराः ।
भक्षयन्ति स्म मांसानि प्रकुट्य विधिवत्तदा ॥ २३ ॥

वनमें विचरनेवाले कुछ सैनिक तो अग्निको पैदा कर एवं उसे प्रदीप्त करके उन हिरणोंके मांसोंको कूटपीस कर और यथाविधि पकाकर खा गए ॥ २३ ॥

तत्र केचिद्गजा मत्ता बलिनः शस्त्रविक्षताः ।
संकोच्याग्रकरान्भीताः प्रद्रवन्ति स्म वेगिताः ॥ २४ ॥

उस वनमें कुछ महाबली मत्त हाथी अस्त्रोंसे घायल हो भयसे सूंडके अगले भागको सिकोड करके वेगसे भागने लगे ॥ २४ ॥

शकृन्मूत्रं सृजन्तश्च क्षरन्तः शोणितं बहु ।
वन्या गजवरास्तत्र ममृदुर्मनुजान्बहून् ॥ २५ ॥

कुछ वनैले हाथियोंने मलमूत्र छोडते और रक्त गिराते हुए तथा भागते हुए अगणित लोगोंको कुचल डाला ॥ २५ ॥

तद्वनं बलमेघेन शरधारेण संवृतम् ।
व्यरोचन्महिषाकीर्णं राज्ञा हतमहामृगम् ॥ २६ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥ २३५१ ॥

राजाके द्वारा मारे गए हिरणों और भैसोंसे व्याप्त हुए उस वनने सेनारूपी बादल और बाणधारारूपी जलधारासे युक्त होकर अपूर्व शोभा धारण की ॥ २६ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें तिरेसठवां अध्याय समाप्त ॥ ६३ ॥ २३५१ ॥

: ६४ :

वैशम्पायन उवाच

ततो मृगसहस्राणि हत्वा विपुलवाहनः ।
राजा मृगप्रसङ्गेन वनमन्यद्विवेश ह ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– अनेक वाहनोंसे सम्पन्न वह राजा दुःषन्त सहस्रों मृग मारकर मृगोंका पीछा करता हुआ दूसरे वनमें जा घुसा ॥ १ ॥

एक एवोत्तमबलः क्षुत्पिपासासमन्वितः ।
स वनस्यान्तमासाद्य महदीरिणमासदत् ॥ २ ॥

वह अकेला ही अति बलवान् होनेपर भी थककर और भूख प्यासके मारे विकल होकर वनको पारकर एक बडे भारी मैदानमें जा पहुंचा ॥ २ ॥

तच्चाप्यतीत्य नृपतिरुत्तमाश्रमसंयुतम् ।
मनःप्रह्लादजननं दृष्टिकान्तमतीव च ।
शीतमारुतसंयुक्तं जगामान्यन्महद्वनम् ॥ ३ ॥

भूपाल उस मैदानको भी पारकर सुन्दर आश्रमसे युक्त, चित्तको आनंद देनेवाले और मनोहर तथा शीत हवासे युक्त दूसरे एक वनमें जा पहुंचा ॥ ३ ॥

पुष्पितैः पादपैः कीर्णमतीव सुखशाद्वलम् ।
विपुलं मधुरारावैर्नादितं विहगैस्तथा ॥ ४ ॥

वहां वृक्ष खिले हुए फूलोंसे सजे हुए थे और हरी घाससे धरती युक्त थी, मीठी बोली बोलनेवाले पक्षियोंकी ध्वनि वनमें शब्द भर रही थी ॥ ४ ॥

प्रवृद्धविटपैर्वृक्षैः सुखच्छायैः समावृतम् ।
षट्पदाघूर्णितलतं लक्ष्म्या परमया युतम् ॥ ५ ॥

वहां बडी बडी शाखाओं और ठण्डी छांहसे युक्त–वृक्षोंसे चारों दिशा घिरी हुई थीं; वह वन मधुलोभी भंवरोंसे युक्त लताओंसे सम्पन्न तथा अति सुन्दर शोभासे युक्त था ॥ ५ ॥

नापुष्पः पादपः कश्चिन्नाफलो नापि कण्टकी ।
षट्पदैर्वाप्यनाकीर्णस्तस्मिन्वै काननेऽभवत् ॥ ६ ॥

उस वनमें कोई भी वृक्ष फूल और फलोंसे रहित न था और नाही कोई वृक्ष कांटोंसे जकडा हुआ था और भंवरोंसे न घिरा हुआ भी कोई वृक्ष नहीं था ॥ ६ ॥

विहगैर्नादितं पुष्पैरलंकृतमतीव च ।
सर्वर्तुकुसुमैर्वृक्षैरतीव सुखशाद्वलम् ।
मनोरमं महेष्वासो विवेश वनमुत्तमम् ॥ ७ ॥

बडा धनुर्धारी दुःषन्त पक्षियोंके कलरवोंसे पूर्ण, फूलोंसे सजेसजाये, मनोहर, सब ऋतुओंके फूलोंसे सुशोभित तथा सुन्दर घासवाले उस उत्तम वनमें जा घुसा ॥ ७ ॥

मारुतागलितास्तत्र द्रुमाः कुसुमशालिनः ।
पुष्पवृष्टिं विचित्रां स्म व्यसृजंस्ते पुनः पुनः ॥ ८ ॥

तब हवासे डोलते हुए फूलोंवाले वृक्षोंने बार बार सुन्दर सुन्दर फूल बर्षाये ॥ ८ ॥

दिवस्पृशोऽथ संघुष्टाः पक्षिभिर्मधुरस्वरैः ।
विरेजुः पादपास्तत्र विचित्रकुसुमाम्बराः ॥ ९ ॥

वृक्ष अनेक प्रकारके फूलरूपी वस्त्र पहनकर पक्षियोंकी आकाशतक पहुंचनेवाली मीठी बोलीसे सुशोभित हो रहे थे ॥ ९ ॥

तेषां तत्र प्रवालेषु पुष्पभारावनामिषु ।
रुवन्ति रावं विहगाः षट्पदैः सहिता मृदु ॥ १० ॥

फूलोंके भारसे नीचे सिर किये उन वृक्षोंके नये पल्लवोंपर बैठकर मधुलोभी भौंरोंके साथ पक्षी मीठे स्वरसे गीत गा रहे थे ॥ १० ॥

तत्र प्रदेशांश्च बहून्कुसुमोत्करमण्डितान् ।
लतागृहपरिक्षिप्तान्मनसः प्रीतिवर्धनान् ।
संपश्यन्स महातेजा बभूव मुदितस्तदा ॥ ११ ॥

महातेजस्वी दुःषन्त उस स्थानमें फूलोंसे सजे, नाना प्रदेश और हृदयमें आनन्द बढानेवाले लतामण्डपोंको देखकर अति प्रसन्न हुआ ॥ ११ ॥

परस्पराश्लिष्टशाखैः पादपैः कुसुमाचितैः ।
अशोभत वनं तत्तैर्महेन्द्रध्वजसंनिभैः ॥ १२ ॥

एक दूसरीसे मिली हुई शाखाओंवाले और फूलोंसे सुहावने तथा महेन्द्रकी ध्वजाके समान ऊंचे ऊंचे वृक्षोंसे वह वन सुशोभित हो रहा था ॥ १२ ॥

सुखशीतः सुगन्धी च पुष्परेणुवहोऽनिलः ।
परिक्रामन्वने वृक्षानुपैतीव रिरंसया ॥ १३ ॥

सुखदायी, ठण्डी, फूलोंका पराग लेजानेवाली, अच्छी गन्धयुक्त हवा इधर उधर घूमती हुई मानो खेलने ही के लिये वृक्षोंके निकट पहुंच रही थी ॥ १३ ॥

एवंगुणसमायुक्तं ददर्श स वनं नृपः ।
नदीकच्छोद्भवं कान्तमुच्छ्रितध्वजसंनिभम् ॥ १४ ॥

उस राजाने ऐसे बहुत गुणयुक्त, उडती हुई ध्वजाकी तरह ऊंचे तथा नदी तटपर उत्पन्न हुए सुन्दर वनको देखा ॥ १४ ॥

प्रेक्षमाणो वनं तत्तु सुप्रहृष्टविहङ्गमम् ।
आश्रमप्रवरं रम्यं ददर्श च मनोरमम् ॥ १५ ॥

प्रसन्न पक्षियोंसे युक्त उस वनको देखते हुए उस राजाने सुन्दर और मनोहारी एक श्रेष्ठ आश्रमको देखा ॥ १५ ॥

नानावृक्षसमाकीर्णं संप्रज्वालितपावकम् ।
यतिभिर्वालखिल्यैश्च वृतं मुनिगणान्वितम् ॥ १६ ॥

वह भांति भांतिके वृक्षोंसे युक्त, प्रज्ज्वलित अग्निसे सुशोभित, यति और वालखिल्योंसे घिरा हुआ तथा मुनियोंसे युक्त था ॥ १६ ॥

×

अग्न्यागारैश्च बहुभिः पुष्पसंस्तरसंस्तृतम् ।
महाकच्छैर्बृहद्भिश्च विभ्राजितमतीव च । ॥ १७ ॥

अनेक अग्निगृहोंसे सुशोभित और फूलोंकी शैय्यासे सुसज्जित, नदियोंके विस्तृत और भारी तटोंसे वह बहुत सुशोभित हो रहा था ॥ १७ ॥

मालिनीमभितो राजन्नदीं पुण्यां सुखोदकाम् ।
नैकपक्षिगणाकीर्णां तपोवनमनोरमाम् ।
तत्र व्यालमृगान्सौम्यान्पश्यन्प्रीतिमवाप सः ॥ १८ ॥

हे राजन् ! चारों ओर पुण्यशीला, सुखदायक जलवाली, अनेक पक्षियोंसे युक्त, तपोवनके कारण मनोरम मालिनी नदीको तथा सौम्य बने हुए सांप, मृग आदियोंको देखकर वह राजा बहुत प्रसन्न हुआ ॥ १८ ॥

तं चाप्यतिरथः श्रीमानाश्रमं प्रत्यपद्यत ।
देवलोकप्रतीकाशं सर्वतः सुमनोहरम् ॥ १९ ॥

तब अजेय श्रीमान् दुःषन्त देवलोकके समान सब प्रकारसे सुन्दर उस आश्रममें पहुंचा ॥ १९ ॥

नदीमाश्रमसंश्लिष्टां पुण्यतोयां ददर्श सः ।
सर्वप्राणभृतां तत्र जननीमिव विष्ठिताम् ॥ २० ॥

सब जीवोंकी माताके समान विराजमान पवित्र जलसे पूर्ण तथा आश्रमसे ही लगकर बहनेवाली मालिनी नदीको देखा ॥ २० ॥

सचक्रवाकपुलिनां पुष्पफेनप्रवाहिनीम् ।
सकिंनरगणावासां वानरर्क्षनिषेविताम् ॥ २१ ॥

वह नदी किन्नरगणोंकी वासभूमि और बन्दर तथा भालुओंसे सेवित थी, उसके रेतीले किनारेपर चकवा चकई खेलते थे, उसकी धारसे फूलके समान फेन बहता था ॥ २१ ॥

पुण्यस्वाध्यायसंघुष्टां पुलिनैरुपशोभिताम् ।
मत्तवारणशार्दूलभुजगेन्द्रनिषेविताम् ॥ २२ ॥

उसका रेतीला किनारा पवित्र वेदपाठकी ध्वनिसे गूंजता था; और वहां मत्त हाथी, सिंह और बडे बडे सर्प विचर रहे थे ॥ २२ ॥

नदीमाश्रमसंबद्धां दृष्ट्वाश्रमपदं तथा ।
चकाराभिप्रवेशाय मतिं स नृपतिस्तदा ॥ २३ ॥

तब आश्रमसे संबंधित उस नदीको और आश्रमको देखकर राजाने उसमें प्रवेश करनेका विचार किया ॥ २३ ॥

अलंकृतं द्वीपवत्या मालिन्या रम्यतीरया ।
नरनारायणस्थानं गंगयेवोपशोभितम् ।
मत्तबर्हिणसंघुष्टं प्रविवेश महद्वनम्		॥ २४ ॥

गंगासे शोभायमान नरनारायणके आश्रमकी भांति रमणीय तट और द्वीपोंसे सुहावनी मालिनी नदीसे सजे हुए तथा उन्मत्त मोरके केका शब्दसे गूंजते हुए उस महान् वनमें वह राजा जा घुसा ॥ २४ ॥

तत्स चैत्ररथप्रख्यं समुपेत्य नरेश्वरः ।
अतीव गुणसंपन्नमनिर्देश्यं च वर्चसा ।
महर्षिं काश्यपं द्रष्टुमथ कण्वं तपोधनम्		॥ २५ ॥
रथिनीमश्वसंबाधां पदातिगणसंकुलाम् ।
अवस्थाप्य वनद्वारि सेनामिदमुवाच सः		॥ २६ ॥

चैत्ररथके सदृश उस तपोवनमें प्रवेश कर अति गुणशाली अपरिमित तेजस्वी तपोधन कश्यपके पुत्र महर्षि कण्वका दर्शन करनेके लिए वह राजा हाथी, घोडे, रथ और पैदलोंसे परिपूर्ण सेनाको वनके द्वारपर ही छोडकर सेनासे बोला ॥ २५-२६ ॥

मुनिं विरजसं द्रष्टुं गमिष्यामि तपोधनम् ।
काश्यपं स्थीयतामत्र यावदागमनं मम		॥ २७ ॥

सेनाओ ! मैं रजोगुणसे अतीत तपोधन तथा कश्यपके पुत्र मुनिवर कण्वके दर्शनको जाता हूं । इसलिए मेरे लौटनेतक तुम यहीं ठहरो ॥ २७ ॥

तद्वनं नन्दनप्रख्यमासाद्य मनुजेश्वरः ।
क्षुत्पिपासे जहौ राजा हर्षं चावाप पुष्कलम्		॥ २८ ॥

तब राजा नन्दनवनके समान उस तपोवनमें प्रवेशकर भूख-प्यासको भूलकर अपार आनन्दको प्राप्त हुआ ॥ २८ ॥

सामात्यो राजलिङ्गानि सोऽपनीय नराधिपः ।
पुरोहितसहायश्च जगामाश्रममुत्तमम् ।
दिदृक्षुस्तत्र तमृषिं तपोराशिमथाव्ययम्		॥ २९ ॥

वहां मन्त्री और पुरोहितके साथ सम्पूर्ण राजचिह्नोंको छोडकर उन अव्यय-तपस्यावाले ऋषिओंको देखनेके लिये उस सुन्दर आश्रममें प्रविष्ट हुआ ॥ २९ ॥

ब्रह्मलोकप्रतीकाशमाश्रमं सोऽभिवीक्ष्य च ।
षट्पदोद्गीतसंघुष्टं नानाद्विजगणायुतम् ॥ ३० ॥
ऋचो बह्वृचमुख्यैश्च प्रेर्यमाणाः पदक्रमैः ।
शुश्राव मनुजव्याघ्रो विततेष्विह कर्मसु ॥ ३१ ॥

भंवरोंकी गुनगुनाहटसे गूंजते हुए और भांति भांतिके पक्षिगणोंसे युक्त ब्रह्म लोकके सदृश आश्रमको देखकर उस पुरुषसिंह राजाने विस्तृत यज्ञकर्मोंमें ऋग्वेदमें कुशल ब्राह्मणोंके द्वारा पदोंके क्रमसे उच्चारे जाते हुए ऋग्वेदके मन्त्र सुने ॥ ३०–३१ ॥

यज्ञविद्याङ्गविद्भिश्च क्रमद्भिश्च क्रमानपि ।
अमितात्मभिः सुनियतैः शुशुभे स तदाश्रमः ॥ ३२ ॥

कल्पसूत्रादि यज्ञविद्यांगमें पण्डित तथा जटा, घन आदि मंत्रपाठके क्रमोंका पाठ करनेवाले नियम युक्त तथा अत्यन्त आत्मशक्तिवाले ब्राह्मणोंसे वह आश्रम सुशोभित था ॥ ३२ ॥

अथर्ववेदप्रवराः पूगयाज्ञिकसंमताः ।
संहितामीरयन्ति स्म पदक्रमयुतां तु ते ॥ ३३ ॥

पवित्र यज्ञमें दक्ष अथर्ववेदमें पण्डित मुनिलोग पद और क्रमसे युक्त संहिताका पाठ कर रहे थे ॥ ३३ ॥

शब्दसंस्कारसंयुक्तं ब्रुवद्भिश्चापरैर्द्विजैः ।
नादितः स बभौ श्रीमान्ब्रह्मलोक इवाश्रमः ॥ ३४ ॥

दूसरे द्विजोंके द्वारा यथास्थानोच्चारित शब्दसे संस्कृत वाक्योंमें कथा कहे जानेके कारण वह आश्रम शब्दयुक्त होकर दूसरे ब्रह्मलोककी भांति शोभा पा रहा था ॥ ३४ ॥

यज्ञसंस्कारविद्भिश्च क्रमशिक्षाविशारदैः ।
न्यायतत्त्वार्थविज्ञानसंपन्नैर्वेदपारगैः ॥ ३५ ॥
नानावाक्यसमाहारसमवायविशारदैः ।
विशेषकार्यविद्भिश्च मोक्षधर्मपरायणैः ॥ ३६ ॥

यज्ञ और संस्कारमें पंडित, क्रमशिक्षामें विशारद, न्यायके तत्त्वके अर्थको जाननेवाले, वेदपारग, नाना वाक्योंके जोडने और मिलानेमें निपुण, ब्रह्मोपासनारूपी विशेष कार्यमें दक्ष, मोक्षधर्ममें विद्वान् ॥ ३५–३६ ॥

स्थापनाक्षेपसिद्धान्तपरमार्थज्ञतां गतैः ।
लोकायतिकमुख्यैश्च समन्तादनुनादितम् ॥ ३७ ॥

सिद्धान्तकी स्थापना, परसिद्धान्त पर आक्षेप करनेमें अत्यन्त कुशल, सिद्धान्त करनेमें ज्ञानी, प्रधान चार्वाकोंके द्वारा चारों ओरसे गूंजते हुए शब्दको भूपालने सुना ॥ ३७ ॥

तत्र तत्र च विप्रेन्द्रान्नियतान्संशितव्रतान्।
जपहोमपरान्सिद्धान्ददर्श परवीरहा ॥ ३८ ॥

शत्रुनाशी नरेशने स्थान स्थानमें ऐसे व्रतशील नियमयुक्त जपहोम करनेमें सिद्ध अर्थात् कुशल श्रेष्ठ श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको देखा ॥ ३८ ॥

आसनानि विचित्राणि पुष्पवन्ति महीपतिः।
प्रयत्नोपहितानि स्म दृष्ट्वा विस्मयमागमत् ॥ ३९ ॥

महीपति दुःषन्त यत्नसे बिछाये हुए विचित्र और फूलोंवाले आसनोंको देखकर आश्चर्य-चकित हो गया ॥ ३९ ॥

देवतायतनानां च पूजां प्रेक्ष्य कृतां द्विजैः।
ब्रह्मलोकस्थमात्मानं मेने स नृपसत्तमः ॥ ४० ॥

ब्राह्मणोंके द्वारा बनाये गए देवस्थानोंकी सजावट देख देखकर उस श्रेष्ठ राजाने अपनेको ब्रह्मलोकमें स्थित जाना ॥ ४० ॥

स काश्यपतपोगुप्तमाश्रमप्रवरं शुभम्।
नातृप्यत्प्रेक्षमाणो वै तपोधनगुणैर्युतम् ॥ ४१ ॥

कश्यपके पुत्र ऋषि कण्वके तपसे रक्षित, तपोवनकी शोभासे युक्त उस परम मङ्गलमय आश्रमको बार बार देखने पर भी नृपश्रेष्ठ दुःषन्त तृप्त न हो सका ॥ ४१ ॥

स काश्यपस्यायतनं महाव्रतैर्वृतं समन्तादृषिभिस्तपोधनैः।
विवेश सामात्यपुरोहितोऽरिहा विविक्तमत्यर्थमनोहरं शिवम् ॥ ४२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥ २३९३ ॥

शत्रुनाशी राजाने मन्त्री और पुरोहितोंके साथ महाव्रतशील तपोधन मुनियोंसे सर्वत्र घिरे हुए कश्यपपुत्र ऋषि कण्वके उस बडे मनोहर शुभस्थानमें प्रवेश किया ॥ ४२ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें चौंसठवां अध्याय समाप्त ॥ ६४ ॥ २३९३ ॥

: ६९ :

वैशम्पायन उवाच

ततो गच्छन्महाबाहुरेकोऽमात्यान्विसृज्य तान्।
नापश्यदाश्रमे तस्मिंस्तमृषिं संशितव्रतम् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– इसके बाद महाबाहु दुःषन्त मन्त्री और पुरोहितको विदा करके अकेले ही ऋषि कण्वके आश्रममें जा पहुंचा, पर उस आश्रममें उन संयत व्रतयुक्त महर्षिको नहीं देखा ॥ १ ॥

सोऽपश्यमानस्तमृषिं शून्यं दृष्ट्वा तथाश्रमम्।
उवाच क इहेत्युच्चैर्वनं संनादयन्निव ॥ २ ॥

वहां उस ऋषिको न देखकर और उस आश्रमको सूना पाकर सारे जंगलको गुंजाता हुआ जोरसे बोला कि " यहां कौन है " ॥ २ ॥

श्रुत्वाथ तस्य तं शब्दं कन्या श्रीरिव रूपिणी।
निश्चक्रामाश्रमात्तस्मात्तापसीवेषधारिणी ॥ ३ ॥

उसकी उस आवाजको सुनकर साक्षात् लक्ष्मीकी भांति रूपवती तपस्विनीका वेषधारण किये हुए एक कन्या उस आश्रमसे निकली ॥ ३ ॥

सा तं दृष्ट्वैव राजानं दुःषन्तमसितेक्षणा।
स्वागतं त इति क्षिप्रमुवाच प्रतिपूज्य च ॥ ४ ॥

उस काली आंखोंवाली कामिनीने राजर्षि दुःषन्तको देखते ही उसी क्षण उसकी अभ्यर्थना करके कहा " आपका स्वागत हो " ॥ ४ ॥

आसनेनार्चयित्वा च पाद्येनार्घ्येण चैव हि।
पप्रच्छानामयं राजन्कुशलं च नराधिपम् ॥ ५ ॥

हे राजन् ! कन्याने राजाकी आसन, पाद्य और अर्घ्यसे पूजाकर उसका स्वास्थ्य और कुशल पूछा ॥ ५ ॥

यथावदर्चयित्वा सा पृष्ट्वा चानामयं तदा।
उवाच स्मयमानेव किं कार्यं क्रियतामिति ॥ ६ ॥

यथायोग्य राजाकी पूजाकर और उसकी कुशलता पूछनेके बाद वह मुस्कराती हुई बोली कहिये, मुझे क्या कार्य करना होगा ॥ ६ ॥

नामब्रवीत्ततो राजा कन्यां मधुरभाषिणीम् ।
दृष्ट्वा सर्वानवद्याङ्गीं यथावत्प्रतिपूजितः ॥ ७ ॥

राजा विधिपूर्वक पूजे जाकर उस अनिन्दिताङ्गी, मधुरभाषिणी कन्याको देखकर बोला ॥७॥

आगतोऽहं महाभागमृषिं कण्वमुपासितुम् ।
क्व गतो भगवान्भद्रे तन्ममाचक्ष्व शोभने ॥ ८ ॥

हे भद्रे ! मैं महाभाग ऋषि कण्वकी उपासना करनेके लिए आया हूं, हे शोभने ! मुझे बताओ, कि वे भगवान् कहां गये हैं ॥ ८ ॥

शकुन्तलोवाच

गतः पिता मे भगवान्फलान्याहर्तुमाश्रमात् ।
मुहूर्तं संप्रतीक्षस्व द्रक्ष्यस्येनमिहागतम् ॥ ९ ॥

शकुन्तला बोली– मेरे भगवान् पिता फल लानेके लिए आश्रमसे बाहर गए हुए हैं । आप क्षणभर प्रतीक्षा कीजिए, उनको लौटे हुए आप देखेंगे ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच

अपश्यमानस्तमृषिं तथा चोक्तस्तथा नृपः ।
तां च दृष्ट्वा वरारोहां श्रीमतीं चारुहासिनीम् ॥ १० ॥
विभ्राजमानां वपुषा तपसा च दमेन च ।
रूपयौवनसंपन्नामित्युवाच महीपतिः ॥ ११ ॥

वैशम्पायन बोले– और इस प्रकार शकुन्तलासे कहे जाकर तथा ऋषिको न देखकर और शकुन्तलाको सुन्दर हंसीसे युक्त मुखवाली तथा कमलके समान सुन्दर, तप और दमसे तेजस्वी मुखवाली रूप और यौवनसे सम्पन्न उस परमशोभावाली स्त्रीको देखकर राजा बोला ॥ १०–११ ॥

कासि कस्यासि सुश्रोणि किमर्थं चागता वनम् ।
एवंरूपगुणोपेता कुतस्त्वमसि शोभने ॥ १२ ॥

हे उत्तम नितम्बोंवाली ! तुम कौन हो ? किसकी बेटी हो ? हे शोभने ! तुम ऐसी रूप-गुणवती होकर इस वनमें क्यों आई हो ? और कहांसे आई हो ? ॥ १२ ॥

दर्शनादेव हि शुभे त्वया मेऽपहृतं मनः ।
इच्छामि त्वामहं ज्ञातुं तन्ममाचक्ष्व शोभने ॥ १३ ॥

हे शुभे ! तुमने दर्शन मात्रसे ही मेरा मन हर लिया है, हे शोभने ! मैं तुम्हारा परिचय जानना चाहता हूं । अतः तुम मुझसे अपना परिचय कहो ॥ १३ ॥

एवमुक्ता तदा कन्या तेन राज्ञा तदाश्रमे ।
उवाच हसती वाक्यमिदं सुमधुराक्षरम् ॥ १४ ॥

आश्रममें उस राजाके इस प्रकार कहनेपर हंसती हुई कन्याने मीठे अक्षरोंसे युक्त यह वाक्य कहा ॥ १४ ॥

कण्वस्याहं भगवतो दुःषन्त दुहिता मता ।
तपस्विनो धृतिमतो धर्मज्ञस्य यशस्विनः ॥ १५ ॥

हे दुःषन्त ! मैं तपस्वी धृतिमान् धर्मज्ञ यशस्वी भगवान् कण्वकी बेटी हूं ॥ १५ ॥

दुःषन्त उवाच

ऊर्ध्वरेता महाभागो भगवाँल्लोकपूजितः ।
चलेद्धि वृत्ताद्धर्मोऽपि न चलेत्संशितव्रतः ॥ १६ ॥

दुःषन्त बोले– लोकपूजित महाभाग भगवान् कण्व ऊर्ध्वरेता हैं; धर्म भी अपने चरित्रसे टल जाए, पर संयत व्रतशील महर्षि कदापि अपने वृत्तसे नहीं टल सकते ॥ १६ ॥

कथं त्वं तस्य दुहिता संभूता वरवर्णिनी ।
संशयो मे महानत्र तं मे छेत्तुमिहार्हसि ॥ १७ ॥

अतएव, हे श्रेष्ठोंके द्वारा वरण किए जाने योग्य ! मुझे बडी शङ्का होती है, कि तुम कैसे उनकी कन्या हुई, तुम मेरी यह शङ्का दूर करो ॥ १७ ॥

शकुन्तलोवाच

यथायमागमो मह्यं यथा चेदमभूत्पुरा ।
शृणु राजन्यथातत्त्वं यथास्मि दुहिता मुनेः ॥ १८ ॥

शकुन्तला बोली– हे राजन् ! यह पहले जिस प्रकार हुआ है, मैंने जैसा सुना है और मैं जैसे महर्षिकी बेटी हुई हूं, सब कहती हूं सुनिये ॥ १८ ॥

ऋषिः कश्चिदिहागम्य मम जन्माभ्यचोदयत् ।
तस्मै प्रोवाच भगवान्यथा तच्छृणु पार्थिव ॥ १९ ॥

किसी समय एक ऋषिने यहां आकर पिता कण्वसे मेरा जन्मवृत्तान्त पूछा था; उस समय भगवान्ने उनसे जैसा कहा था, हे पृथ्वीनाथ ! वह सुनिये ॥ १९ ॥

तप्यमानः किल पुरा विश्वामित्रो महत्तपः ।
सुभृशं तापयामास शक्रं सुरगणेश्वरम् ॥ २० ॥

पूर्वकालमें महातपस्वी ऋषि विश्वामित्रने तपस्या करते हुए देवराज इन्द्रको बहुत संतप्त किया ॥ २० ॥

तपसा दीप्तवीर्योऽयं स्थानान्मां च्यावयेदिति।
भीतः पुरंदरस्तस्मान्मेनकामिदमब्रवीत् ॥ २१ ॥

तपस्याके बलसे तेजस्वी यह ऋषि मुझको पदसे कहीं च्युत न कर दे, इससे डरकर इन्द्र मेनका नामक अप्सरासे बोले ॥ २१ ॥

गुणैर्दिव्यैरप्सरसां मेनके त्वं विशिष्यसे।
श्रेयो मे कुरु कल्याणि यत्त्वां वक्ष्यामि तच्छृणु ॥ २२ ॥

मेनका ! तुम दिव्य गुणोंसे अनेक अप्सराओंमें श्रेष्ठ हो। कल्याणि ! तुम मेरा हित करो, मैं जो कहता हूं, उसे सुनो ॥ २२ ॥

असावादित्यसंकाशो विश्वामित्रो महातपाः।
तप्यमानस्तपो घोरं मम कम्पयते मनः ॥ २३ ॥

मेनके ! आदित्यके समान तेजस्वी महातपस्वी विश्वामित्र कठोर तपस्या करते हुए मेरा हृदय कंपा रहे हैं ॥ २३ ॥

मेनके तव भारोऽयं विश्वामित्रः सुमध्यमे।
संशितात्मा सुदुर्धर्ष उग्रे तपसि वर्तते ॥ २४ ॥

वह संयतात्मा दुर्धर्ष क्रमशः कठोरतर तपस्यामें प्रवृत्त हो रहे हैं। हे सुमध्यमे मेनके ! मैं तुमपर यह भार डाल रहा हूं ॥ २४ ॥

स मां न च्यावयेत्स्थानात्तं वै गत्वा प्रलोभय।
चर तस्य तपोविघ्नं कुरु मे प्रियमुत्तमम् ॥ २५ ॥

तुम जाकर उनको लुभाओ, ताकि वह मुझको मेरे पदसे च्युत न कर सकें, उनकी तपस्यामें विघ्न उपस्थित करो और इस प्रकार मेरा उत्तम हित करो ॥ २५ ॥

रूपयौवनमाधुर्यचेष्टितस्मितभाषितैः।
लोभयित्वा वरारोहे तपसः संनिवर्तय ॥ २६ ॥

हे कमलके समान सुन्दरी ! तुन रूप, यौवनकी शोभा, हाव, भावादि और मुस्कराहटभरी बातोंसे मुनिको लुभाकर तपस्यासे निवृत्त करो ॥ २६ ॥

मेनकोवाच

महातेजाः स भगवान्सदैव च महातपाः।
कोपनश्च तथा ह्येनं जानाति भगवानपि ॥ २७ ॥

मेनका बोली— भगवान् विश्वामित्र महातेजस्वी, महातपस्वी और सदाके बडे क्रोधी हैं; आप भी उनको जानते हैं ॥ २७ ॥

×

तेजसस्तपसश्चैव कोपस्य च महात्मनः।
त्वमप्युद्विजसे यस्य नोद्विजेयमहं कथम् ॥ २८ ॥

जिन महात्माके तेज, तपस्या और क्रोधसे आप देवराज होकरके भी भय खा रहे हैं, उनसे मैं भयभीत कैसे नहीं होऊं ? ॥ २८ ॥

महाभागं वसिष्ठं यः पुत्रैरिष्टैर्व्ययोजयत्।
क्षत्रे जातश्च यः पूर्वमभवद्ब्राह्मणो बलात् ॥ २९ ॥

जिन्होंने महात्मा वसिष्ठको प्यारे पुत्रोंसे अलग कर दिया था, जो पहिले क्षत्रिय कुलमें जन्म लेकर भी पीछे बलसे ब्राह्मण हो गए ॥ २९ ॥

शौचार्थं यो नदीं चक्रे दुर्गमां बहुभिर्जलैः।
यां तां पुण्यतमां लोके कौशिकीति विदुर्जनाः ॥ ३० ॥

जिन्होंने स्नानादिके निमित्त एक जलसे भरी हुई होनेके कारण कठिनतासे पार करने योग्य नदी बहाई, जिस पुण्यमयी नदीको संसारके लोग "कौशिकी" के नामसे जानते हैं ॥ ३० ॥

बभार यत्रास्य पुरा काले दुर्गे महात्मनः।
दारान्मतङ्गो धर्मात्मा राजर्षिर्व्याधतां गतः ॥ ३१ ॥

व्याधजातिको प्राप्त हुए जिस मतङ्ग नामक धर्मात्मा राजर्षिने दुर्भिक्षके कालमें उक्त नदीके तटपर जिन महात्माके परिवारको पाला पोषा था ॥ ३१ ॥

अतीतकाले दुर्भिक्षे यत्रैत्य पुनराश्रमम्।
मुनिः पारेति नद्या वै नाम चक्रे तदा प्रभुः ॥ ३२ ॥

दुर्भिक्ष कालके अन्त होनेपर उस प्रभु मुनिने फिर आश्रममें लौटकर उस कौशिकी नदीका "पारा" नाम रखा ॥ ३२ ॥

मतङ्गं याजयांचक्रे यत्र प्रीतमनाः स्वयम्।
त्वं च सोमं भयाद्यस्य गतः पातुं सुरेश्वर ॥ ३३ ॥

और प्रसन्न होकर जिन्होंने स्वयं उन मतङ्ग नामक राजर्षिका याजन कार्य किया था; हे देवराज ! आप भी जिनके भयसे सोमरस पीनेको गये थे ॥ ३३ ॥

अति नक्षत्रवंशांश्च क्रुद्धो नक्षत्रसम्पदा।
प्रति श्रवणपूर्वाणि नक्षत्राणि ससर्ज यः ॥ ३४ ॥

जिन्होंने क्रोधित होकर नक्षत्रकी संपत्तिसे युक्त नक्षत्र वंशोंको और श्रवण नक्षत्रको पहले रखकर अन्य नक्षत्रोंको बनाया ॥ ३४ ॥

एतानि यस्य कर्माणि तस्याहं भृशमुद्विजे।
यथा मां न दहेत्क्रुद्धस्तथाज्ञापय मां विभो ॥ ३५ ॥
हे प्रभो! जिनके यह सब कार्य हैं, मैं उनसे बडा भय खाती हूं; आप मुझे ऐसी आज्ञा कीजिये, कि वह क्रोधित होकर मुझको भस्म न कर डालें ॥ ३५ ॥

तेजसा निर्दहेल्लोकान्कम्पयेद्धरणीं पदा।
संक्षिपेच्च महामेरुं तूर्णमावर्तयेत्तथा ॥ ३६ ॥
जो तेजसे संपूर्ण लोकोंको जला सकते हैं, पृथ्वीको पैरसे हिला सकते हैं, महा सुमेरु पहाडको भी शीघ्र ही उठाकर फेंक सकते हैं और उसे उठाकर शीघ्रतासे घुमा भी सकते हैं ॥ ३६ ॥

तादृशं तपसा युक्तं प्रदीप्तमिव पावकम्।
कथमस्मद्विधा बाला जितेन्द्रियमभिस्पृशेत् ॥ ३७ ॥
उन प्रज्ज्वलित अग्निके सदृश तेजस्वी तपस्वी जितेन्द्रिय महर्षिको मुझ जैसी बाला कैसे छू सकती है? ॥ ३७ ॥

हुताशनमुखं दीप्तं सूर्यचन्द्राक्षितारकम्।
कालजिह्वं सुरश्रेष्ठ कथमस्मद्विधा स्पृशेत् ॥ ३८ ॥
हे सुरश्रेष्ठ! जिनका मुख प्रज्ज्वलित अग्निके समान तेजस्वी है, जिनके नेत्रोंके तारे चन्द्र सूर्यके स्वरूप हैं, जिनकी जिह्वा कालस्वरूप है, उन दुर्धर्ष महर्षिको मुझसी बाला कैसे छू सकती है? ॥ ३८ ॥

यमश्च सोमश्च महर्षयश्च साध्या विश्वे वालखिल्याश्च सर्वे।
एतेऽपि यस्योद्विजन्ते प्रभावात्कस्मात्तस्मान्मादृशी नोद्विजेत ॥ ३९ ॥
यम, सोम, महर्षिगण, साध्यगण और सब वालखिल्य मुनिगण भी जिनके प्रभावसे भय खाते हैं तब मुझसी बालायें क्यों उनसे भय न खायेंगी? ॥ ३९ ॥

त्वयैवमुक्ता च कथं समीपमृषेर्न गच्छेयमहं सुरेन्द्र।
रक्षां तु मे चिन्तय देवराज यथा त्वदर्थं रक्षिताहं चरेयम् ॥ ४० ॥
हे सुरेन्द्र! आप जब उन ऋषिके समीप जानेकी आज्ञा दे रहे हैं, तब आपके द्वारा कही जाने पर मैं कैसे न जाऊं? पर, हे देवराज! मेरी रक्षाका प्रयत्न कीजिये, ताकि मैं आपसे भलीप्रकार रक्षित होकर आपका कार्य कर सकूं ॥ ४० ॥

कामं तु मे मारुतस्तत्र वासः प्रक्रीडिताया विवृणोतु देव।
भवेच्च मे मन्मथस्तत्र कार्ये सहायभूतस्तव देव प्रसादात् ॥ ४१ ॥
मेरी भी प्रार्थना यह है, कि जब मैं आश्रममें खेलती रहूं, उस समय वायु मेरा पहिना हुआ वस्त्र हरले और आपकी आज्ञासे कामदेव उस कार्यमें सम्मत और मेरे सहायक होवें ॥ ४१ ॥

वनाच्च वायुः सुरभिः प्रवायेत्तस्मिन्काले तमृषिं लोभयन्त्याः ।
तथेत्युक्त्वा विहिते चैव तस्मिंस्ततो ययौ साश्रमं कौशिकस्य ॥ ४२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥ २४३५ ॥

और मैं जब ऋषिको लुभाने लगूं, तब उस समय वनसे सुरभि युक्त हवा चले । मेनकाकी ऐसी प्रार्थना पर देवराजने "तथास्तु" कहकर वैसा ही प्रबन्ध कर दिया, तब मेनका विश्वामित्रके आश्रमको गई ॥ ४२ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें पैंसठवां अध्याय समाप्त ॥ ६५ ॥ २४३५ ॥

: ६६ :

शकुन्तलोवाच

एवमुक्तस्तया शक्रः संदिदेश सदागतिम् ।
प्रातिष्ठत तदा काले मेनका वायुना सह ॥ १ ॥

शकुन्तला बोली– मेनकाके इस प्रकार कहनेपर इन्द्रने सदा बहनेवाली वायुको आज्ञा दी और यथा समय पवनदेवके साथ मेनका चली ॥ १ ॥

अथापश्यद्वरारोहा तपसा दग्धकिल्बिषम् ।
विश्वामित्रं तपस्यन्तं मेनका भीरुराश्रमे ॥ २ ॥

तब उस सुन्दरी भीरु मेनकाने तपस्यासे पापहीन हुए तथा तप करते हुए विश्वामित्रको आश्रममें देखा ॥ २ ॥

अभिवाद्य ततः सा तं प्राक्रीडदृषिसंनिधौ ।
अपोवाह च वासोऽस्या मारुतः शशिसंनिभम् ॥ ३ ॥

तब वह ऋषिको प्रणाम करके ऋषिके पास खेलने लगी । तब वायुने भी उस समय उसके चन्द्रमा सदृश वस्त्रको हर लिया ॥ ३ ॥

सागच्छत्त्वरिता भूमिं वासस्तदभिलिङ्गती ।
उत्स्मयन्तीव सव्रीडं मारुतं वरवर्णिनी ॥ ४ ॥

सुन्दरी मेनका वायुके उस कार्यको देखकर लाज दिखाती हुई एवं मुस्कराती हुई वस्त्र चुन लेनेके लिये जमीनपर झुकती झुकती गई ॥ ४ ॥

गृद्धां वाससि संभ्रान्तां मेनकां मुनिसत्तमः ।
अनिर्देश्यवयोरूपामपश्यद्विवृतां तदा ॥ ५ ॥

उस मुनि श्रेष्ठने अज्ञात वय और रूपवाली वस्त्रहीना, वस्त्र लेनेकी अभिलाषिणी होकर भूली भटकीसी मेनकाको देखा ॥ ५ ॥

तस्या रूपगुणं दृष्ट्वा स तु विप्रर्षभस्तदा ।
चकार भावं संसर्गे तया कामवशं गतः ॥ ६ ॥

उसके अतुलरूप और गुणको निहारकर विप्रोंमें श्रेष्ठ विश्वामित्र कामवश हुए और उसके साथ संसर्ग करनेकी इच्छा की ॥ ६ ॥

न्यमन्त्रयत चाप्येनां सा चाप्यैच्छदनिन्दिता ।
तौ तत्र सुचिरं कालं वने व्यहरतामुभौ ।
रममाणौ यथाकामं यथैकदिवसं तथा ॥ ७ ॥

मुनिने उसे बुलाया और वह अनिन्दिता मेनका भी उसपर सम्मत हुई। तब मुनि और मेनका दोनों उस वनमें बहुत कालतक विहार करते रहे और यथेच्छ रमण करते हुए उन्हें बहुत दिन भी एक दिनके समान प्रतीत हुआ ॥ ७ ॥

जनयामास स मुनिर्मेनकायां शकुन्तलाम् ।
प्रस्थे हिमवतो रम्ये मालिनीमभितो नदीम् ॥ ८ ॥

इसके बाद मुनिने मेनकामें हिमालयपर्वतके मनोहर चट्टान पर, मालिनी नदीके किनारे शकुन्तलाको उत्पन्न किया ॥ ८ ॥

जातमुत्सृज्य तं गर्भं मेनका मालिनीमनु ।
कृतकार्या ततस्तूर्णमगच्छच्छक्रसंसदम् ॥ ९ ॥

मेनका सफल मनोरथवाली होकर उस पैदा हुई सन्तानको मालिनी नदीके तटपर छोड-करके उसीक्षण शीघ्रतासे इन्द्रकी सभामें गयी ॥ ९ ॥

तं वने विजने गर्भं सिंहव्याघ्रसमाकुले ।
दृष्ट्वा शयानं शकुनाः समन्तात्पर्यवारयन् ॥ १० ॥

सिंह—व्याघ्रोंसे भरे हुए उस विजन वनमें उस बालिकाको सोती हुई देखकर उसे पक्षि-योंने चारों ओरसे घेर लिया ॥ १० ॥

नेमां हिंस्युर्वने बालां क्रव्यादा मांसगृद्धिनः ।
पर्यरक्षन्त तां तत्र शकुन्ता मेनकात्मजाम् ॥ ११ ॥

शकुन्त (पक्षीगण) उस वनमें मेनकाकी पुत्रीकी इसलिए रखवाली करते थे कि मांस-लोभी जन्तु उस बालिकाकी हिंसा न कर सकें ॥ ११ ॥

उपस्पष्टुं गतश्चाहमपश्यं शयितामिमाम् ।
निर्जने विपिनेऽरण्ये शकुन्तैः परिवारिताम् ।
आनयित्वा ततश्चैनां दुहितृत्वे न्ययोजयम् ॥ १२ ॥

उस समय स्नानार्थ गए हुए मैंने उस निर्जन वनमें पक्षियोंसे घिरी हुई और सोनेवाली इसे देखकरके आश्रममें ले जाकर कन्याकी भांति रक्षा की ॥ १२ ॥

शरीरकृत्प्राणदाता यस्य चान्नानि भुञ्जते ।
क्रमेण ते त्रयोऽप्युक्ताः पितरो धर्मनिश्चये ॥ १३ ॥

धर्मशास्त्रोंमें कहा है कि जन्मदाता, प्राणदाता और जिसका अन्न खाया जाता है क्रमसे यह तीनों ही पिता होते हैं ॥ १३ ॥

निर्जने च वने यस्माच्छकुन्तैः परिरक्षिता ।
शकुन्तलेति नामास्याः कृतं चापि ततो मया ॥ १४ ॥

चूंकि यह कन्या निर्जन वनमें शकुन्तोंसे बचायी गयी थी, इसलिये मैंने भी इसका "शकुन्तला" नाम रख दिया ॥ १४ ॥

एवं दुहितरं विद्धि मम सौम्य शकुन्तलाम् ।
शकुन्तला च पितरं मन्यते मामनिन्दिता ॥ १५ ॥

हे विप्र ! शकुन्तलाको इस प्रकार मेरी कन्या ही समझो, यह अनिन्दिता शकुन्तला भी मुझको पिता ही मानती है ॥ १५ ॥

एतदाचष्ट पृष्टः सन्मम जन्म महर्षये ।
सुतां कण्वस्य मामेवं विद्धि त्वं मनुजाधिप ॥ १६ ॥

हे नराधिप ! पिताने आये हुए महर्षिसे पूछे जाकर इस प्रकार मेरा जन्म वृत्तान्त उस महर्षिसे कहा था; सो तुम भी मुझको कण्वकी बेटी ही समझो ॥ १६ ॥

कण्वं हि पितरं मन्ये पितरं स्वमजानती ।
इति ते कथितं राजन्यथावृत्तं श्रुतं मया ॥ १७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥ २८५२ ॥

मैं जन्मदाता पिताको नहीं जानती; अतः कण्वहीको पिता मानती हूं; हे राजन् ! अपने जन्मके विषयमें मैंने जो कुछ सुना था, वह सब मैंने तुमसे कह दिया है ॥ १७ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें छियासठवां अध्याय समाप्त ॥ ६६ ॥ ॥ २८५२ ॥

: ६७ :

दुःषन्त उवाच

सुव्यक्तं राजपुत्री त्वं यथा कल्याणि भाषसे ।
भार्या मे भव सुश्रोणि ब्रूहि किं करवाणि ते ॥ १ ॥

दुःषन्त बोला– हे कल्याणि ! तुमने जो कुछ कहा, उससे स्पष्ट होता है, कि तुम राजपुत्री हो । हे उत्तम नितम्बोंवाली सुन्दरी ! तुम मेरी स्त्री होओ; कहो, तुम्हारे लिए मैं क्या करूं ॥ १ ॥

सुवर्णमाला वासांसि कुण्डले परिहाटके ।
नानापत्तनजे शुभ्रे मणिरत्ने च शोभने ॥ २ ॥
आहरामि तवाद्याहं निष्कादीन्यजिनानि च ।
सर्वं राज्यं तवाद्यास्तु भार्या मे भव शोभने ॥ ३ ॥

सुवर्ण हार, वस्त्र, सुवर्णके कुण्डल, नाना नगरोंमें उत्पन्न शोभा देनेहारे शुभ्र मणि, रत्न, मृगचर्म, सोनेके सिक्के आदि सभी आज तुम्हारे लिए मंगवाता हूं, आज सम्पूर्ण राज्यही तुम्हारा हो; हे शोभने ! तुम मेरी पत्नी होओ ॥ २–३ ॥

गान्धर्वेण च मां भीरु विवाहेनैहि सुंदरि ।
विवाहानां हि रम्भोरु गान्धर्वः श्रेष्ठ उच्यते ॥ ४ ॥

हे सुन्दरि ! हे भीरु ! मुझको गान्धर्व विवाहसे तुम प्राप्त करो; हे रम्भाके समान सुन्दर जांघोंवाली सुन्दरी ! सब विवाहोंमेंसे गान्धर्व विवाह ही श्रेष्ठ माना गया है ॥ ४ ॥

शकुन्तलोवाच

फलाहारो गतो राजन्पिता मे इत आश्रमात् ।
तं मुहूर्तं प्रतीक्षस्व स मां तुभ्यं प्रदास्यति ॥ ५ ॥

शकुन्तला बोली– हे राजन् ! मेरे पिता फल बटोरनेके लिये इस आश्रमसे बाहर गये हुए हैं; आप क्षणभर ठहरें, वह आकर आपको मुझे प्रदान कर देंगे ॥ ५ ॥

दुःषन्त उवाच

इच्छामि त्वां वरारोहे भजमानामनिन्दिते ।
त्वदर्थं मां स्थितं विद्धि त्वद्गतं हि मनो मम ॥ ६ ॥

दुःषन्त बोला– हे कमलके समान सुन्दरी ! मैं चाहता हूं कि तुम स्वयं मुझको स्वीकार करो, हे अनिन्दिते ! तुम यह जान लो कि मैं तुम्हारे निमित्त ही यहां स्थित हूं, मेरा हृदय तुम पर ही आसक्त हुआ है ॥ ६ ॥

आत्मनो बन्धुरात्मैव गतिरात्मैव चात्मनः।
आत्मनैवात्मनो दानं कर्तुमर्हसि धर्मतः ॥ ७ ॥

आत्मा स्वयं ही अपना बन्धु है, आत्मा आप ही अपनी गति है, सो धर्मानुसार तुम स्वयं ही अपना दान करो ॥ ७ ॥

अष्टावेव समासेन विवाहा धर्मतः स्मृताः।
ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः ॥ ८ ॥
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमः स्मृतः।
तेषां धर्मान्यथापूर्वं मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् ॥ ९ ॥

धर्मानुसार आठ प्रकारके ही विवाह संक्षेपमें कहे गए हैं; ब्राह्म, दैव तथा आर्ष, प्राजापत्य और आसुर, गान्धर्व और राक्षस और आठवां पैशाच बताया गया है। स्वायम्भुवमनुने इन आठ प्रकारोंके विवाहोंमें, जो जिसके लिये धर्मयुक्त है, उसकी कथा आद्योपान्त कही है ॥ ८–९ ॥

प्रशस्तांश्चतुरः पूर्वान्ब्राह्मणस्योपधारय।
षडानुपूर्व्या क्षत्रस्य विद्धि धर्म्याननिन्दिते ॥ १० ॥

पहिले कहे हुए चार प्रकारके विवाह ब्राह्मणके लिये प्रशस्त हैं। हे अनिन्दिते! पहिलेसे आद्योपान्त कहे हुए छः प्रकारके विवाह क्षत्रियके लिये धर्मयुक्त हैं ॥ १० ॥

राज्ञां तु राक्षसोऽप्युक्तो विट्शूद्रेष्वासुरः स्मृतः।
पञ्चानां तु त्रयो धर्म्या द्वावधर्म्यौ स्मृताविह ॥ ११ ॥

और राजाके लिये राक्षस विवाह भी धर्म–सम्मत है और वैश्य और शूद्रके लिये आसुर-विवाह धर्मयुक्त कहा है। पहिले गिने हुए पांच प्रकारके विवाहोंमें ब्राह्म, दैव और आर्ष यह तीन प्रकारोंके विवाह सब प्रकारसे धर्मसंयुक्त हैं। प्राजापत्य तथा आसुरविवाह धर्म-विहित नहीं हैं ॥ ११ ॥

पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्तव्यौ कथंचन।
अनेन विधिना कार्यो धर्मस्यैषा गतिः स्मृता ॥ १२ ॥

और पैशाच तथा आसुर विवाह किसी प्रकारसे नहीं करने चाहिए। धर्मकी गति ऐसी है; इस विधिके अनुसार विवाह करना चाहिए ॥ १२ ॥

गान्धर्वराक्षसौ क्षत्रे धर्म्यौ तौ मा विशङ्किथाः।
पृथग्वा यदि वा मिश्रौ कर्तव्यौ नात्र संशयः ॥ १३ ॥

अतएव इसमें शङ्का नहीं करनी चाहिए, कि गान्धर्व और राक्षस–विवाह क्षत्रियोंके लिये धर्मसंयुक्त हैं या नहीं। इसमें सन्देह नहीं है, कि यह दो प्रकारके विवाह, चाहे अलग रूपसे हो वा मिल कर हो, राजाओंके लिये उचित ही हैं ॥ १३ ॥

सा त्वं मम सकामस्य सकामा वरवर्णिनि ।
गान्धर्वेण विवाहेन भार्या भवितुमर्हसि　　　　　　　　॥ १४ ॥

हे सुन्दरी ! मैं तुमसे विवाह करनेका अभिलाषी हुआ हूं, और इसमें तुम्हारी भी इच्छा है, अतः गान्धर्वविवाहके अनुसार तुम तुम्हारी कामना करनेवाले मेरी पत्नी हो सकती हो ॥ १४ ॥

शकुन्तलोवाच

यदि धर्मपथस्त्वेष यदि चात्मा प्रभुर्मम ।
प्रदाने पौरवश्रेष्ठ शृणु मे समयं प्रभो　　　　　　　　॥ १५ ॥

शकुन्तला बोली— हे प्रभो पौरव श्रेष्ठ ! यदि यह धर्मके पथके अनुसार है और आत्मसमर्पणके विषयमें मुझे अधिकार है, तो मेरा एक प्रण सुनिए ॥ १५ ॥

सत्यं मे प्रतिजानीहि यत्वां वक्ष्याम्यहं रहः ।
मम जायेत यः पुत्रः स भवेत्त्वदनन्तरम्　　　　　　　　॥ १६ ॥
युवराजो महाराज सत्यमेतद्ब्रवीहि मे ।
यद्येतदेवं दुःषन्त अस्तु मे संगमस्त्वया　　　　　　　　॥ १७ ॥

महाराज ! मैं इस निर्जन स्थानमें जैसा कहती हूं, वैसा मुझसे प्रण कीजिये, कि मेरे गर्भसे मेरा जो पुत्र उत्पन्न होगा वही पुत्र युवराज और आपके पीछे अधिकारी होगा । हे महाराज दुःषन्त ! आप मुझसे यह सत्य प्रतिज्ञा कीजिए। यदि ऐसा हो, तो आपसे मेरा संगम हो ॥ १६–१७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमस्त्विति तां राजा प्रत्युवाचाविचारयन् ।
अपि च त्वां नयिष्यामि नगरं स्वं शुचिस्मिते ।
यथा त्वमर्हा सुश्रोणि सत्यमेतद्ब्रवीमि ते　　　　　　　　॥ १८ ॥

वैशम्पायन बोले— राजाने कुछ न विचार करके "एवमस्तु" कहकर शकुन्तलाकी बात मानली और वह बोला, कि हे स्मितमुखि ! तुम जिस योग्य हो, वही करूंगा और तुमको राजधानीमें ले जाऊंगा । हे सुश्रोणि ! तुम जो कहती हो, वही होगा, यह मैं सच कहता हूँ ॥ १८ ॥

एवमुक्त्वा स राजर्षिस्तामनिन्दितगामिनीम् ।
जग्राह विधिवत्पाणावुवास च तया सह　　　　　　　　॥ १९ ॥

राजर्षि दुःषन्त अनिन्दित गतिवाली उस शकुंतलासे यह कहकर यथाविधि उसका पाणिग्रहण करके उसके साथ रहा ॥ १९ ॥

×

विश्वास्य चैनां स प्रायादब्रवीच पुनः पुनः ।
प्रेषयिष्ये तवार्थाय वाहिनीं चतुरङ्गिणीम् ।
तया त्वामानयिष्यामि निवासं स्वं शुचिस्मिते ॥ २० ॥

अनन्तर उसको समझा बुझा करके विश्वास कराकर राजा अपनी राजधानी लौट गया और जाते जाते वह शकुन्तलासे बारबार बोला— हे पवित्र मुस्कराहटोंवाली ! राजधानीमें जाकर तुम्हारे लिये चतुरङ्गिणी सेना भेजूंगा और उस सेनाके साथ तुमको अपनी राजधानीमें ले जाऊंगा ॥ २० ॥

इति तस्याः प्रतिश्रुत्य स नृपो जनमेजय ।
मनसा चिन्तयन्प्रायात्काश्यपं प्रति पार्थिवः ॥ २१ ॥
भगवांस्तपसा युक्तः श्रुत्वा किं नु करिष्यति ।
एवं संचिन्तयन्नेव प्रविवेश स्वकं पुरम् ॥ २२ ॥

हे जनमेजय ! राजा शकुन्तलासे वह प्रतिज्ञाकर वह राजा काश्यप कण्वके विषयमें मनमें सोचते हुए चला कि तपस्वी कण्व आश्रममें आकर यह सब सुन करके क्या समझेंगे और क्या करेंगे ? ऐसे सोचते हुए उसने अपनी राजधानीमें प्रवेश किया ॥ २१-२२ ॥

मुहूर्तयाते तस्मिंस्तु कण्वोऽप्याश्रममागमत् ।
शकुन्तला च पितरं ह्रिया नोपजगाम तम् ॥ २३ ॥

अनन्तर कुछ समयके पश्चात् महर्षि कण्व भी आश्रममें आये, शकुन्तला लज्जावश होकर अपने पिता उन कण्वके पास नहीं गयी ॥ २३ ॥

विज्ञायाथ च तां कण्वो दिव्यज्ञानो महातपाः ।
उवाच भगवान्प्रीतः पश्यन्दिव्येन चक्षुषा ॥ २४ ॥

दिव्यज्ञानसे युक्त महातपस्वी भगवान् कण्व दिव्यदृष्टिसे सम्पूर्ण वृत्तान्तको जानकर प्रसन्नचित्त हुए और बोले ॥ २४ ॥

त्वयाद्य राजान्वयया मामनादृत्य यत्कृतः ।
पुंसा सह समायोगो न स धर्मोपघातकः ॥ २५ ॥

कि आज मेरी सम्मतिके विना एकान्तमें राजवंशी पुरुषसे जो तुम मिलीं, उससे धर्मकी हानि नहीं हुई ॥ २५ ॥

क्षत्रियस्य हि गान्धर्वो विवाहः श्रेष्ठ उच्यते ।
सकामायाः सकामेन निर्मन्त्रो रहसि स्मृतः ॥ २६ ॥

क्योंकि कहा है, कि क्षत्रियके लिये गान्धर्व विवाह श्रेष्ठ होता है; निर्जन स्थानमें कामयुक्ता नारीसे कामयुक्त पुरुषका विना मन्त्रविधिके जो मिलन होता है, वही गान्धर्व विवाह कहलाता है ॥ २६ ॥

धर्मात्मा च महात्मा च दुःषन्तः पुरुषोत्तमः ।
अभ्यगच्छः पतिं यं त्वं भजमानं शकुन्तले ॥ २७ ॥

हे शकुन्तले ! जिसको तुमने अपना पति मानकर जिसके साथ समागम किया है, वह राजा दुःषन्त धर्मात्मा, महात्मा और पुरुषोंमें श्रेष्ठ है ॥ २७ ॥

महात्मा जनिता लोके पुत्रस्तव महाबलः ।
य इमां सागरापाङ्गां कृत्स्नां भोक्ष्यति मेदिनीम् ॥ २८ ॥

तुम्हारे गर्भसे संसारमें एक महात्मा महाबली पुत्र जन्म लेगा। जो सागरतककी इस सम्पूर्ण भूमिका भोग करेगा ॥ २८ ॥

परं चाभिप्रयातस्य चक्रं तस्य महात्मनः ।
भविष्यत्यप्रतिहतं सततं चक्रवर्तिनः ॥ २९ ॥

शत्रुके विरुद्ध रणयात्रा करनेके समय उस महात्मा चक्रवर्तीके रथके चक्र कभी नहीं रुकेंगे॥२९॥

ततः प्रक्षाल्य पादौ सा विश्रान्तं मुनिमब्रवीत् ।
विनिधाय ततो भारं संनिधाय फलानि च ॥ ३० ॥

इसके बाद शकुन्तलाने फल और यज्ञकी लकडीके बोझको रखकर मुनिके पांव धोए और विश्राम करते हुए मुनिसे बोली ॥ ३० ॥

मया पतिर्वृतो योऽसौ दुःषन्तः पुरुषोत्तमः ।
तस्मै ससचिवाय त्वं प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ ३१ ॥

पिता ! पुरुषश्रेष्ठ जिस इस दुःषन्तको मैंने पतिरूपमें वरण कर लिया है, अतः आप कृपाकर उस राजा और उसके मन्त्रियोंपर प्रसन्न होवें ॥ ३१ ॥

कण्व उवाच

प्रसन्न एव तस्याहं त्वत्कृते वरवर्णिनि ।
गृहाण च वरं मत्तस्तत्कृते यदभीप्सितम् ॥ ३२ ॥

कण्व बोले– हे बेटी ! मैं तुम्हारे लिये उसपर प्रसन्न ही हूं, हे शुभे ! तुम उसके लिए मुझसे जो इच्छा हो, वह वर मांगो ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो धर्मिष्ठतां वव्रे राज्याच्चास्खलनं तथा ।
शकुन्तला पौरवाणां दुःषन्तहितकाम्यया ॥ ३३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥ २४८५ ॥

वैशम्पायन बोले– तब शकुन्तलाने दुःषन्तके हित करनेकी इच्छासे पौरवोंकी धर्मनिष्ठा और उनके राज्यसे च्युत न होनेका वर मांगा ॥ ३३ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें सडसठवां अध्याय समाप्त ॥ ६७ ॥ २४८५ ॥

: ६८ :

वैशम्पायन उवाच

प्रतिज्ञाय तु दुःषन्ते प्रतियाते शकुन्तला।
गर्भं सुषाव वामोरूः कुमारममितौजसम् ॥ १ ॥
त्रिषु वर्षेषु पूर्णेषु दीप्तानलसमद्युतिम्।
रूपौदार्यगुणोपेतं दौःषन्तिं जनमेजय ॥ २ ॥

वैशम्पायन बोले– प्रतिज्ञामें आवद्ध होकर राजा दुःषन्तके राजधानीको लौट जानेपर सुन्दरी शकुन्तलाने तीन वर्षके पूरे होनेपर प्रज्वलित अग्निके समान अत्यन्त तेजस्वी रूपवान् उदार और गुणवान् दुःषन्तके एक कुमारको उत्पन्न किया ॥ १-२ ॥

जातकर्मादिसंस्कारं कण्वः पुण्यकृतां वरः।
तस्याथ कारयामास वर्धमानस्य धीमतः ॥ ३ ॥

दिनोंदिन बढनेवाले उस बुद्धिमान् कुमारके पुण्यशालियोंमें श्रेष्ठ ऋषिने जातकर्मादि संस्कार किये ॥ ३ ॥

दन्तैः शुक्लैः शिखरिभिः सिंहसंहननो युवा।
चक्रांकितकरः श्रीमान्महामूर्धा महाबलः।
कुमारो देवगर्भाभः स तत्राशु व्यवर्धत ॥ ४ ॥

शुक्ल और तेज दांतसे युक्त, सिंहके समान कठोर, युवा, चक्रके चिह्नसे चिन्हित हाथवाला, महामूर्धा, अतिबलवान्, महाशक्तिशाली देवकुमारके समान वह कुमार मुनिके आश्रममें शीघ्र बढने लगा ॥ ४ ॥

षड्वर्ष एव बालः स कण्वाश्रमपदं प्रति।
व्याघ्रान्सिंहान्वराहांश्च गजांश्च महिषांस्तथा ॥ ५ ॥
बद्ध्वा वृक्षेषु बलवानाश्रमस्य समन्ततः।
आरोहन्दमयंश्चैव क्रीडंश्च परिधावति ॥ ६ ॥

वह बलवान् बालक छः वर्षकी अवस्थामें कण्वके आश्रममें व्याघ्र, सिंह, शूकर, भैंसे और हाथी आदिको पकडकर आश्रमके चारों ओर बांधकर उनपर चढकर, उनको वशमें करता हुआ और खेलता हुआ चारों ओर घूमता रहता था ॥ ५-६ ॥

ततोऽस्य नाम चक्रुस्ते कण्वाश्रमनिवासिनः।
अस्त्वयं सर्वदमनः सर्वं हि दमयत्ययम् ॥ ७ ॥

तब कण्वके आश्रममें रहनेवाले मुनिलोगोंने उन लीलाओंको देखकर उसका नाम "सर्व-दमन" रखा, क्योंकि यह बालक सभी जीवोंका दमन करता था ॥ ७ ॥

स सर्वदमनो नाम कुमारः समपद्यत ।
विक्रमेणौजसा चैव बलेन च समन्वितः ॥ ८ ॥

विक्रमसे तेजस्वी और बलवान् यह कुमार तभीसे सर्वदमन नामसे प्रसिद्ध हुआ ॥ ८ ॥

तं कुमारमृषिर्दृष्ट्वा कर्म चास्यातिमानुषम् ।
समयो यौवराज्यायेत्यब्रवीच्च शकुन्तलाम् ॥ ९ ॥

महर्षि कण्वने तब कुमारका असाधारण बल और कार्य देखकर शकुन्तलासे कहा, कि इस बालकके युवराजके पदपर अभिषिक्त होनेका समय आ पहुंचा है ॥ ९ ॥

तस्य तद्बलमाज्ञाय कण्वः शिष्यानुवाच ह ।
शकुन्तलामिमां शीघ्रं सहपुत्रामितोऽश्रमात् ।
भर्त्रे प्रापयताद्यैव सर्वलक्षणपूजिताम् ॥ १० ॥

उसके उस बलको देखकर उन्होंने शिष्योंको बुलाकर कहा, कि तुम इस आश्रमसे पुत्र सहित इस शकुन्तलाको आज शीघ्र ही सब लक्षणोंसे युक्त पतिके घर पहुंचा दो ॥ १० ॥

नारीणां चिरवासो हि बान्धवेषु न रोचते ।
कीर्तिचारित्रधर्मघ्नस्तस्मान्नयत माचिरम् ॥ ११ ॥

स्त्रियोंका सदा पिता और भाईयोंके घरमें रहना अच्छा नहीं, ऐसा होनेसे कीर्ति, चरित्र और धर्म बिगड सकता है, सो इसको पतिके घर ले जानेमें थोडासा भी विलंब मत करो ॥ ११ ॥

तथेत्युक्त्वा तु ते सर्वे प्रातिष्ठन्तामितौजसः ।
शकुन्तलां पुरस्कृत्य सपुत्रां गजसाह्वयम् ॥ १२ ॥

महातेजस्वी शिष्य लोग ऋषि कण्वकी आज्ञाको मानकर पुत्रसहित शकुन्तलाको आगे करके हस्तिनापुरको गए ॥ १२ ॥

गृहीत्वामरगर्भाभं पुत्रं कमललोचनम् ।
आजगाम ततः शुभ्रा दुःषन्तविदिताद्वनात् ॥ १३ ॥

तेजस्वी शकुन्तला भी अमर देवके समान प्रकाशमान् और कमलके समान नेत्रवाले अपने पुत्रको लेकर दुःषन्तके जाने हुए उस वनसे आई ॥ १३ ॥

अभिसृत्य च राजानं विदिता सा प्रवेशिता ।
सह तेनैव पुत्रेण तरुणादित्यवर्चसा ॥ १४ ॥

इसके बाद वह शकुन्तला उस तरुण सूर्यके सदृश तेजस्वी बालकके साथ राजाके द्वारपर पहुंचकर द्वारपालसे राजाको खबर देकर राजमन्दिरमें प्रविष्ट हुई ॥ १४ ॥

पूजयित्वा यथान्यायमब्रवीत्तं शकुन्तला ।
अयं पुत्रस्त्वया राजन्यौवराज्येऽभिषिच्यताम् ॥ १५ ॥

शकुन्तला राजाका यथायोग्य सत्कार कर उससे बोली– हे राजन्! इस पुत्रको यौवराज्य पदपर आप अभिषिक्त कीजिए ॥ १५ ॥

त्वया ह्ययं सुतो राजन्मय्युत्पन्नः सुरोपमः ।
यथासमयमेतस्मिन्वर्तस्व पुरुषोत्तम ॥ १६ ॥

आपके इस पुत्रने मेरे गर्भसे जन्म लिया है; देवताके समान यह पुत्र आपहीके वीर्यसे उत्पन्न हुआ है; हे पुरुषश्रेष्ठ! आपने जिस प्रकार शर्त स्वीकार की थी वैसाही कार्य कीजिये ॥१६॥

यथा समागमे पूर्वं कृतः स समयस्त्वया ।
तं स्मरस्व महाभाग कण्वाश्रमपदं प्रति ॥ १७ ॥

हे महाभाग ! पहिले आपने मुनि कण्वके आश्रममें मुझसे सङ्गम करनेके समय जो प्रतिज्ञा की थी, उसको स्मरण कीजिये ॥ १७ ॥

सोऽथ श्रुत्वैव तद्वाक्यं तस्या राजा स्मरन्नपि ।
अब्रवीन्न स्मरामीति कस्य त्वं दुष्टतापसि ॥ १८ ॥

तब शकुन्तलाके यह वचन सुनकर राजा दुःषन्तको अपने किये हुए पूर्व कार्यके स्मरण होने पर भी वह कहने लगा, कि मुझे कुछ भी स्मरण नहीं है। दुष्ट तपस्विनि ! तू किसकी स्त्री है ? ॥ १८ ॥

धर्मकामार्थसंबन्धं न स्मरामि त्वया सह ।
गच्छ वा तिष्ठ वा कामं यद्वापीच्छसि तत्कुरु ॥ १९ ॥

तुझसे मेरा धर्म, अर्थ और काम किसी भी विषयके सम्बन्धका मुझको स्मरण नहीं होता, इसलिए तू अब जो चाहती है कर, चाहे चली जा, चाहे रह ॥ १९ ॥

सैवमुक्ता वरारोहा व्रीडितेव मनस्विनी ।
विसंज्ञेव च दुःखेन तस्थौ स्थाणुरिवाचला ॥ २० ॥

दुःषन्तके ऐसी निष्ठुर वाणी कहनेपर मनस्विनी और सुन्दर कमलके समान शकुंतला लज्जासे मलिन और अचेतन बनकर दुःखसे जड खंभेके समान हो गई ॥ २० ॥

संरम्भामर्षताम्राक्षी स्फुरमाणोष्ठसंपुटा ।
कटाक्षैर्निर्दहन्तीव तिर्यग्राजानमैक्षत ॥ २१ ॥

अभिमान और दुःखसे उसकी आंखें लाल हो गयीं और दोनों होठ हिलने लगे। तब वह तिरछी दृष्टिसे राजाकी ओर देखकर कटाक्षसे मानों उसको भस्म करने लगी ॥ २१ ॥

आकारं गूहमाना च मन्युनाभिसमीरिता।
तपसा संभृतं तेजो धारयामास वै तदा ॥ २२ ॥

तब उसने क्रोधसे प्रेरित होनेपर भी बाहर कुछ न प्रगट कर अपने क्रोधको अन्दर ही अन्दर छिपाकर तपसे बटोरे हुए तेजको रोक लिया ॥ २२ ॥

सा मुहूर्तमिव ध्यात्वा दुःखामर्षसमन्विता।
भर्तारमभिसंप्रेक्ष्य क्रुद्धा वचनमब्रवीत् ॥ २३ ॥
जानन्नपि महाराज कस्मादेवं प्रभाषसे।
न जानामीति निःसङ्गं यथान्यः प्राकृतस्तथा ॥ २४ ॥

इसके बाद कुछ काल सोचकर दुःख और क्रोधसे युक्त होके पतिकी ओर देखकर क्रोधसे यह वचन बोली– महाराज ! आप सबकुछ जान करके भी क्यों नीच जनके समान विना कुछ सोचे विचारे "नहीं जानता" यह बात कह रहे हैं ? ॥ २३-२४ ॥

अत्र ते हृदयं वेद सत्यस्यैवानृतस्य च।
कल्याण बत साक्षी त्वं मात्मानमवमन्यथाः ॥ २५ ॥

इस बातकी सत्यता और असत्यताको आपका हृदय जानता है, अतः, हे भद्र ! आपके अपने कामोंकी साक्षी देनेवाले अपनी मंगल आत्माकी अवहेलना मत कीजिए ॥ २५ ॥

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चोरेणात्मापहारिणा ॥ २६ ॥

जो जन हृदयमें कुछ और रखता है और बाहर कुछ और प्रकट करता है, ऐसा कौनसा पाप है, जो उस आत्माकी हत्या करनेवाले मनुष्यसे नहीं होता ! ॥ २६ ॥

एकोऽहमस्मीति च मन्यसे त्वं न हृच्छयं वेत्सि मुनिं पुराणम्।
यो वेदिता कर्मणः पापकस्य यस्यान्तिके त्वं वृजिनं करोषि ॥ २७ ॥

क्या आपने यह समझ लिया है, कि आपने अकेले ही यह कार्य किया है, (क्या आप यह समझते हैं कि वहां दूसरा कोई नहीं था, अतः कौन जानेगा ?) क्या आप नहीं जानते, कि पुराण मुनि परमेश्वर सबके हृदय मन्दिरमें सदा सजग है ? जो सभी पाप कर्मोंको जाननेवाला है। आप उसके सामने ही यह पाप कर रहे हैं ॥ २७ ॥

मन्यते पापकं कृत्वा न कश्चिद्वेत्ति मामिति।
विदन्ति चैनं देवाश्च स्वश्चैवान्तरपूरुषः ॥ २८ ॥

लोग पाप करके समझते हैं, कि किसीने मुझे नहीं जाना, पर देव और हृदयके अन्दर रहनेवाले परमपुरुष सब कुछ जानते हैं ॥ २८ ॥

आदित्यचन्द्रावनिलानलौ च द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च।
अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम् ॥ २९ ॥

आदित्य, चन्द्रमा, वायु, अग्नि, आकाश, धरती, जल, हृदय, यम, दिन, रात्रि, दोनों संध्या और धर्म यह सब मनुष्यके सम्पूर्ण चरित्रोंको जानते हैं ॥ २९ ॥

यमो वैवस्वतस्तस्य निर्यातयति दुष्कृतम्।
हृदि स्थितः कर्मसाक्षी क्षेत्रज्ञो यस्य तुष्यति ॥ ३० ॥

सब कामोंके साक्षी हृदयमें स्थित क्षेत्रज्ञ पुरुष जिनपर प्रसन्न रहते हैं, वैवस्वत यम भी उनके सम्पूर्ण दुष्कर्मोंको नष्ट कर देते हैं ॥ ३० ॥

न तु तुष्यति यस्यैष पुरुषस्य दुरात्मनः।
तं यमः पापकर्माणं निर्यातयति दुष्कृतम् ॥ ३१ ॥

और जिस दुरात्माकी आत्मा उससे सन्तुष्ट नहीं रहती, काल उस दुष्कर्म और पाप कर्म करनेवालेको नष्ट कर देता है ॥ ३१ ॥

अवमन्यात्मनात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।
देवा न तस्य श्रेयांसो यस्यात्मापि न कारणम् ॥ ३२ ॥

जो जन अपनी आत्माका अपमान करके कुछका कुछ विश्वास दिलाता और आत्माकी गवाही भी नहीं मानता, उसका हित देवगण भी नहीं करते ॥ ३२ ॥

स्वयं प्राप्तेति मामेवं मावमंस्थाः पतिव्रताम्।
अर्घ्यार्हां नार्चयसि मां स्वयं भार्यामुपस्थिताम् ॥ ३३ ॥

मैं स्वयं आ पहुंची हूं, यह समझकर मुझ पतिव्रताका अपमान न कीजिये। आदरके योग्य तथा स्वयं आयी हुई अपनी स्त्रीका आदर आप नहीं करते हैं ॥ ३३ ॥

किमर्थं मां प्राकृतवदुपप्रेक्षसि संसदि।
न खल्वहमिदं शून्ये रौमि किं न शृणोषि मे ॥ ३४ ॥

आप क्यों मूर्ख जनकी भांति इस सभामें मुझको तुच्छ समझ रहे हैं? मैं निर्जन जगहमें तो चिल्ला नहीं रही हूं, फिर आप मेरी बात क्यों नहीं सुनते ॥ ३४ ॥

यदि मे याचमानाया वचनं न करिष्यसि।
दुःषन्त शतधा मूर्धा ततस्तेऽद्य फलिष्यति ॥ ३५ ॥

हे दुषन्त! यदि प्रार्थना करनेवाली मेरी प्रार्थना आप नहीं सुनेंगे, तो आज आपका सिर सैंकडों भागोंमें फट जायगा ॥ ३५ ॥

भार्यां पतिः संप्रविश्य स यस्माज्जायते पुनः ।
जायाया इति जायात्वं पुराणाः कवयो विदुः ॥ ३६ ॥

प्राचीन ज्ञानीलोग कहा करते हैं, कि पति स्वयं गर्भके स्वरूपमें पत्नीमें प्रविष्ट होकर फिर पुत्रके स्वरूपमें जन्म लेता है । इसीलिए पत्नी जाया कही जाती है ॥ ३६ ॥

यदागमवतः पुंसस्तदपत्यं प्रजायते ।
तत्तारयति संतत्या पूर्वप्रेतान्पितामहान् ॥ ३७ ॥

ज्ञानी पुरुषके जो पुत्र होता है वह पुत्र सन्तानोंसे परलोकवासी पितरोंका उद्धार करता है ॥ ३७ ॥

पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात्पितरं त्रायते सुतः ।
तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयंभुवा ॥ ३८ ॥

भगवान् स्वयंभूने स्वयं कहा है, कि पुत्र पुन्नामक नरकसे अपने पिताकी रक्षा करता है इसलिये वह पुत्र कहा जाता है ॥ ३८ ॥

सा भार्या या गृहे दक्षा सा भार्या या प्रजावती ।
सा भार्या या पतिप्राणा सा भार्या या पतिव्रता ॥ ३९ ॥

जो गृहकार्योंमें चतुर है वही भार्या है, जिसने पुत्र प्रसव किया है वही भार्या है, जिसके लिए पति ही प्राण है वही भार्या है, जो पतिव्रता है वही भार्या है ॥ ३९ ॥

अर्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा ।
भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मित्रं मरिष्यतः ॥ ४० ॥

मनुष्योंका स्त्री आधा अङ्ग है, भार्या सबसे बढ कर मित्र है, भार्या ही धर्मार्थ काम इन तीनों वर्गोंकी जड है और भार्या ही मरते हुएका मित्र है ॥ ४० ॥

भार्यावन्तः क्रियावन्तः सभार्या गृहमेधिनः ।
भार्यावन्तः प्रमोदन्ते भार्यावन्तः श्रियान्विताः ॥ ४१ ॥

जिनकी भार्या है वे वही क्रियादि क्रिया करते हैं; जिनकी भार्या है वही गृहवासी हैं । जिनकी भार्या है, वही आमोद-प्रमोदसे समय बिताते हैं; जिनकी भार्या है, वही श्रीसे युक्त होते हैं ॥ ४१ ॥

सखायः प्रविविक्तेषु भवन्त्येताः प्रियंवदाः ।
पितरो धर्मकार्येषु भवन्त्यार्तस्य मातरः ॥ ४२ ॥

मधुर बोलनेवाली ये भार्यायें एकान्तमें अच्छे परामर्श देनेवाले मित्रके समान होती हैं; धर्म-कर्ममें हितैषी पिताके समान हैं, पीडाकी दशामें ये भार्यायें स्नेहवती माताके समान होती हैं ॥ ४२ ॥

×

क्कान्तारेष्वपि विश्रामो नरस्याध्वनिकस्य वै ।
यः सदारः स विश्वास्यस्तस्माद्दाराः परा गतिः ॥ ४३ ॥

पत्नी वनमें पथिक पतिके लिए विश्रामका स्थल है; जिसकी भार्या रहती है, उसीका सब लोग विश्वास करते हैं; इसलिए भार्या ही मनुष्योंकी परम गति है ॥ ४३ ॥

संसरन्तमपि प्रेतं विषमेष्वेकपातिनम् ।
भार्यैवान्वेति भर्तारं सततं या पतिव्रता ॥ ४४ ॥

किसीके सांसारिक लीलाके अन्त होनेके बाद नरकमें जानेपर उसके उद्धारके निमित्त केवल पतिव्रता भार्या ही साथी होती है ॥ ४४ ॥

प्रथमं संस्थिता भार्या पतिं प्रेत्य प्रतीक्षते ।
पूर्वं मृतं च भर्तारं पश्चात्साध्व्यनुगच्छति ॥ ४५ ॥

पत्नीके पहिले परलोक सिधार जानेपर वह परलोकमें पतिके निमित्त पथ ताकती रहती है, और पतिके पहिले देह छोड जानेपर सती भार्या उसके पीछे चली जाती है ॥ ४५ ॥

एतस्मात्कारणाद्राजन्पाणिग्रहणमिष्यते ।
यदाप्नोति पतिर्भार्यामिह लोके परत्र च ॥ ४६ ॥

हे राजन् ! क्योंकि भर्ता इस लोक और परलोक दोनों लोकोंमें भार्याको प्राप्त करता है, इसीलिये विवाहकर्मकी आवश्यकता होती है ॥ ४६ ॥

आत्मात्मनैव जनितः पुत्र इत्युच्यते बुधैः ।
तस्माद्भार्यां नरः पश्येन्मातृवत्पुत्रमातरम् ॥ ४७ ॥

पण्डितलोग कहा करते हैं, कि अपनी आत्मासे उत्पन्न हुआ ही पुत्र कहाता है, अतः मनुष्य भार्याको अपनी माताके समान समझे ॥ ४७ ॥

भार्यायां जनितं पुत्रमादर्शे स्वमिवाननम् ।
ह्लादते जनिता प्रेक्ष्य स्वर्गं प्राप्येव पुण्यकृत् ॥ ४८ ॥

पुण्यवान् स्वर्ग पानेसे जैसे आनन्दित होते हैं, उसी प्रकार आईनेमें देखे जाते हुए मुखके समान भार्याके गर्भसे जन्म लिये हुए अपने पुत्रको देखकर जन्मदाता आनन्दित होते हैं ॥४८॥

दह्यमाना मनोदुःखैर्व्याधिभिश्चातुरा नराः ।
ह्लादन्ते स्वेषु दारेषु घर्मार्ताः सलिलेष्विव ॥ ४९ ॥

पसीनेसे नहाया हुआ जन जिस प्रकार ठण्डे जलसे सन्तुष्ट होता है, उसी प्रकार मनुष्यगण मनःपीडासे जलने और रोगोंसे जकडे जानेपर भी भार्यासे आनन्दित होते हैं ॥ ४९ ॥

सुसंरब्धोऽपि रामाणां न ब्रूयादप्रियं बुधः ।
रतिं प्रीतिं च धर्मं च तास्वायत्तमवेक्ष्य च ॥ ५० ॥

रति, प्रीति और धर्म सब ही भार्याके हाथमें देखकर ज्ञानीको चाहिये कि वह अति क्रोधित होनेपर भी पत्नीसे कभी अप्रिय बोले नहीं ॥ ५० ॥

आत्मनो जन्मनः क्षेत्रं पुण्यं रामाः सनातनम् ।
ऋषीणामपि का शक्तिः स्रष्टुं रामामृते प्रजाः ॥ ५१ ॥

स्त्रियां आत्माका सनातन और पवित्र जन्मक्षेत्र हैं; ऋषियोंमें भी क्या शक्ति है, कि वे स्त्रीके विना प्रजा रच सकें ? ॥ ५१ ॥

परिपत्य यदा सूनुर्धरणीरेणुगुण्ठितः ।
पितुराश्लिष्यतेऽङ्गानि किमिवास्त्यधिकं ततः ॥ ५२ ॥

जब पुत्र धरतीके धूलमें शरीरको सानकर पास आकरके पिताके अंगोंसे लिपट जाता है तब उससे और अधिक सुख क्या होगा ? ॥ ५२ ॥

स त्वं स्वयमनुप्राप्तं साभिलाषमिमं सुतम् ।
प्रेक्षमाणं च काक्षेण किमर्थमवमन्यसे ॥ ५३ ॥

हे राजन् ! स्वयं आकर उत्साहयुक्त नेत्रोंसे आपको साभिलाष होकर देखनेवाले अपने पुत्रका आप किसलिये अपमान कर रहे हैं ? ॥ ५३ ॥

अण्डानि बिभ्रति स्वानि न भिन्दन्ति पिपीलिकाः ।
न भरेथाः कथं नु त्वं धर्मज्ञः सन्स्वमात्मजम् ॥ ५४ ॥

चींटियां छोटी प्राणी होनेपर भी प्रसव किये हुए अण्डोंकी रक्षा करती हैं, उन्हें फोडती नहीं; फिर आप धर्मज्ञ होनेपर भी अपने पुत्रको क्यों नहीं पाल रहे हैं ? ॥ ५४ ॥

न वाससां न रामाणां नापां स्पर्शस्तथा सुखः ।
शिशोरालिङ्गयमानस्य स्पर्शः सूनोर्यथा सुखः ॥ ५५ ॥

छोटी सन्तानके गलेसे लगनेसे उसका अनुभव पिताको जैसा सुखदायी जान पडता है, उतना कोमल वस्त्र, जल और नारीका अनुभव भी सुखदायी नहीं होता ॥ ५५ ॥

ब्राह्मणो द्विपदां श्रेष्ठो गौर्वरिष्ठा चतुष्पदाम् ।
गुरुर्गरीयसां श्रेष्ठः पुत्रः स्पर्शवतां वरः ॥ ५६ ॥

जिस प्रकार दोपाये जन्तुओंमें ब्राह्मण श्रेष्ठ होते हैं, अथवा जिस प्रकार चार पायोंमें गौ श्रेष्ठ होती है और माननीय जनोंमें गुरु श्रेष्ठ है, उसी प्रकार सुखको देनेवाले स्पर्शोंमें पुत्रका स्पर्श श्रेष्ठ होता है ॥ ५६ ॥

स्पृशतु त्वां समाश्लिष्य पुत्रोऽयं प्रियदर्शनः ।
पुत्रस्पर्शात्सुखतरः स्पर्शो लोके न विद्यते ॥ ५७ ॥

दीखनेमें सुन्दर यह पुत्र आपके गलेसे लगकर आपको छुए, क्योंकि पुत्रस्पर्शसे दूसरा सुखदायी स्पर्श पृथ्वीमें नहीं है ॥ ५७ ॥

त्रिषु वर्षेषु पूर्णेषु प्रजाताहमरिंदम ।
इमं कुमारं राजेन्द्र तव शोकप्रणाशनम् ॥ ५८ ॥

हे शत्रुओंके विनाशक राजेन्द्र ! तीनवर्ष पूरे होनेपर मैंने आपके इस शोकनाशी पुत्रको प्रसूत किया है ॥ ५८ ॥

आहर्ता वाजिमेधस्य शतसङ्ख्यस्य पौरव ।
इति वागंतरिक्षे मां सूतकेऽभ्यवदत्पुरा ॥ ५९ ॥

हे पौरव ! पहले प्रसवकालमें आकाशवाणीने कहा था कि " यह पुत्र सौ अश्वमेध यज्ञ करेगा ! " ॥ ५९ ॥

ननु नामाङ्कमारोप्य स्नेहाद्ग्रामान्तरं गताः ।
मूर्ध्नि पुत्रानुपाघ्राय प्रतिनंदन्ति मानवाः ॥ ६० ॥

मनुष्य दूसरे गांवमें जाकर जब घरको लौटते हैं, तब पुत्रको गोदमें लेकर और उसका सिर चूम कर परमानन्द प्राप्त करते हैं ॥ ६० ॥

वेदेष्वपि वदंतीमं मंत्रवादं द्विजातयः ।
जातकर्मणि पुत्राणां तवापि विदितं तथा ॥ ६१ ॥

पुत्रके जातकर्ममें ब्राह्मणलोग वेदोंमें लिखे गए इस मंत्रवादका पाठ करते हैं वह आपको भी ज्ञात ही है ॥ ६१ ॥

अङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादभिजायसे ।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥ ६२ ॥

(वह मंत्रवाद इस प्रकार है) " तुम मेरे अङ्गसे निकले हो, तुम मेरे हृदयसे उत्पन्न हुए हो, तुम पुत्ररूपमें मेरी आत्मा ही हो, अतः, हे पुत्र ! तुम्हारी सौ वर्षकी आयु हो ॥ ६२ ॥

पोषो हि त्वदधीनो मे संतानमपि चाक्षयम् ।
तस्मात्त्वं जीव मे पुत्र सुसुखी शरदां शतम् ॥ ६३ ॥

हे पुत्र ! मेरा जीवन और वंशका अक्षय होना तुम्हारे ही अधीन है, अतः तुम शत वर्षकी आयु पाकर परम सुखसे समय व्यतीत करो " ॥ ६३ ॥

त्वदङ्गेभ्यः प्रसूतोऽयं पुरुषात्पुरुषोऽपरः ।
सरसीवामलेऽऽत्मानं द्वितीयं पश्य मे सुतम्　　॥ ६४ ॥

हे राजन् ! आपके अङ्गसे यह दूसरा पुरुष उत्पन्न हुआ है, निर्मल सरोवरमें दीख पडती हुई अपनी परछांईके समान ही अपनी दूसरी आत्मा इस मेरे पुत्रमें आप देख लीजिये ॥ ६४ ॥

यथा ह्याहवनीयोऽग्निर्गार्हपत्यात्प्रणीयते ।
तथा त्वत्तः प्रसूतोऽयं त्वमेकः सन्द्विधा कृतः　　॥ ६५ ॥

जिस प्रकार एक गार्हपत्य अग्निसे दूसरी आहवनीय अग्निकी उत्पत्ति होती है, वैसे ही एक होने पर भी आपसे जन्मे हुए इस पुत्रके स्वरूपमें आप स्वयं दो भाग हुए हैं ॥ ६५ ॥

मृगापकृष्टेन हि ते मृगयां परिधावता ।
अहमासादिता राजन्कुमारी पितुराश्रमे　　॥ ६६ ॥

महाराज ! मैं जब पिताके आश्रममें कुमारी थी, तब आपने मृगयामें जाकर मृगका पीछा करते हुए वहां पहुंच करके मुझसे विवाह किया था ॥ ६६ ॥

उर्वशी पूर्वचित्तिश्च सहजन्या च मेनका ।
विश्वाची च घृताची च षडेवाप्सरसां वराः　　॥ ६७ ॥

उर्वशी, पूर्वचित्ति, सहजन्या, मेनका, विश्वाची और घृताची यह छः ही अप्सराओंमें श्रेष्ठ मानी जाती हैं ॥ ६७ ॥

तासां मां मेनका नाम ब्रह्मयोनिर्वराप्सराः ।
दिवः संप्राप्य जगतीं विश्वामित्रादजीजनत्　　॥ ६८ ॥

उनमें ब्रह्मासे जन्मी हुई श्रेष्ठ अप्सरा मेनकाने देवलोकसे भूतलमें उतर कर विश्वामित्रके वीर्यसे गर्भधारण करके मुझे उत्पन्न किया था ॥ ६८ ॥

सा मां हिमवतः पृष्ठे सुषुवे मेनकाप्सराः ।
अवकीर्य च मां याता परात्मजामिवासती　　॥ ६९ ॥

इसके बाद सतीत्वसे रहित उस अप्सरा मेनकाने हिमाचलके चट्टानपर मुझको उत्पन्न किया और परायी सन्तानकी तरह मुझे छोडकर चली गयी ॥ ६९ ॥

किं नु कर्माशुभं पूर्वं कृतवत्यस्मि जन्मनि ।
यदहं बान्धवैस्त्यक्ता बाल्ये संप्रति च त्वया　　॥ ७० ॥

हा ! मैंने पूर्व जन्म और इस जन्ममें कैसा पाप किया था, कि बचपनमें पिता माताने मुझे त्याग दिया और अब आप भी मुझको छोड रहे हैं ॥ ७० ॥

कामं त्वया परित्यक्ता गमिष्याम्यहमाश्रमम्।
इमं तु बालं संत्यक्तुं नार्हस्यात्मजमात्मना ॥ ७१ ॥

आपके द्वारा छोड दिए जानेपर मैं स्वेच्छासे निज आश्रमको चली जाऊंगी, पर अपनी आत्मासे उत्पन्न इस बालकको त्याग देना आपके लिए उचित नहीं है ॥ ७१ ॥

दुःषन्त उवाच

न पुत्रमभिजानामि त्वयि जातं शकुन्तले।
असत्यवचना नार्यः कस्ते श्रद्धास्यते वचः ॥ ७२ ॥

दुःपन्त बोला– हे शकुन्तले ! मैं नहीं जानता, कि तुम्हारा गर्भोत्पन्न यह बालक मेरा पुत्र है, या नहीं; तुम्हारी इस बातपर कौन विश्वास करेगा ? क्योंकि स्त्रियां प्रायः झूठी बात कहा करती हैं ॥ ७२ ॥

मेनका निरनुक्रोशा बन्धकी जननी तव।
यया हिमवतः पृष्ठे निर्माल्येव प्रवेरिता ॥ ७३ ॥

विशेपकर तुम्हारी जननी मेनका व्यभिचारिणी और दयाहीना है जिसने मालाको त्यागनेकी भांति तुमको हिमाचलकी पीठपर छोड दिया था ॥ ७३ ॥

स चापि निरनुक्रोशः क्षत्रयोनिः पिता तव।
विश्वामित्रो ब्राह्मणत्वे लुब्धः कामपरायणः ॥ ७४ ॥

क्षत्रियके वंशमें उत्पन्न होनेपर भी ब्राह्मणत्व पानेका लोभ करनेवाले तुम्हारे पिता विश्वामित्र भी दयाहीन और बडे कामी थे ॥ ७४ ॥

मेनकाप्सरसां श्रेष्ठा महर्षीणां च ते पिता।
तयोरपत्यं कस्मात्त्वं पुंश्चलीवाभिधास्यसि ॥ ७५ ॥

यदि यह कहो, कि मेनका अप्सराओंमें और विश्वामित्र ऋषियोंमें श्रेष्ठ हैं, तो फिर तुम उनकी सन्तान होकरके क्यों एक वेश्याके समान बात कह रही हो ? ॥ ७५ ॥

अश्रद्धेयमिदं वाक्यं कथयन्ती न लज्जसे।
विशेषतो मत्सकाशे दुष्टतापसि गम्यताम् ॥ ७६ ॥

यह श्रद्धाके अयोग्य बातके कहनेमें तुमको लज्जा क्यों नहीं होती ? और वह भी तुम मेरे सामने यह बात कह रही हो; अतः, हे दुष्ट तपस्विनी ! तुम यहांसे चली जाओ ॥ ७६ ॥

क्व महर्षिः सदैवोग्रः साप्सरा क्व च मेनका।
क्व च त्वमेवं कृपणा तापसीवेषधारिणी ॥ ७७ ॥

वह देवोंमें भी सर्वश्रेष्ठ महर्षि कहां ? और अप्सराओंमें श्रेष्ठ वह मेनका कहां ? और नीच तपस्विनीका वेष बनायी हुई तू कहां ? ॥ ७७ ॥

अतिकायश्च पुत्रस्ते बालोऽपि बलवानयम्।
कथमल्पेन कालेन शालस्कन्ध इवोद्गतः ॥ ७८ ॥

तेरा यह पुत्र बालक होनेपर भी मोटा ताजा और बलिष्ठ दीख पडता है, थोडे कालहीमें यह कैसे शालवृक्षसा बढ गया ? ॥ ७८ ॥

सुनिकृष्टा च योनिस्ते पुंश्चली प्रतिभासि मे।
यदृच्छया कामरागाज्जाता मेनकया ह्यसि ॥ ७९ ॥

तेरा जन्म बडा नीच है, मुझे तो तू कोई वेश्यासी लगती है। मेनकाने कामके वशमें होकर जैसे चाहा वैसे ही तुझको पैदा कर दिया है ॥ ७९ ॥

सर्वमेतत्परोक्षं मे यत्त्वं वदसि तापसि।
नाहं त्वामभिजानामि यथेष्टं गम्यतां त्वया ॥ ८० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥ २५६५ ॥

हे तापसि ! तू जो कुछ कहती है, वह सब मेरा अनजाना, अनसुना और अनसोचा है; मैं तुझको नहीं जानता, अतः जहां तेरी इच्छा हो वहां चली जा ॥ ८० ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें अडसठवां अध्याय समाप्त ॥ ६८ ॥ २५६५ ॥

: ६९ :

शकुन्तलोवाच

राजन्सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यसि।
आत्मनो बिल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यसि ॥ १ ॥

शकुन्तला बोली– राजन् ! तुम सरसोंके समान पराये दोषको तो देखते हो, पर अपना दोष बेलके समान होनेपर भी नहीं देखते ॥ १ ॥

मेनका त्रिदशेष्वेव त्रिदशाश्चानु मेनकाम्।
ममैवोद्रिच्यते जन्म दुःषन्त तव जन्मतः ॥ २ ॥

हे दुःषन्त ! मेनका देवोंकीही प्रेमिका और देवगण मेनकाहीके प्रेमी हैं, अतः तुम्हारे जन्मसे मेरा ही जन्म श्रेष्ठ है ॥ २ ॥

क्षितावटासि राजंस्त्वमन्तरिक्षे चराम्यहम् ।
आवयोरन्तरं पश्य मेरुसर्षपयोरिव ॥ ३ ॥

हे राजेन्द्र ! देखो, मेरु और सरसोंके समान हम दोनोंमें भेद है, तुम धरतीपर चलते हो और मैं आकाशमें उडती हूं ॥ ३ ॥

महेन्द्रस्य कुबेरस्य यमस्य वरुणस्य च ।
भवनान्यनुसंयामि प्रभावं पश्य मे नृप ॥ ४ ॥

हे नृप ! देखो, मेरा प्रभाव कितना है; मैं महेन्द्र, कुवेर, यम और वरुण इनके घरोंमें जा सकती हूं ॥ ४ ॥

सत्यश्चापि प्रवादोऽयं यं प्रवक्ष्यामि तेऽनघ ।
निदर्शनार्थं न द्वेषात्तच्छ्रुत्वा क्षन्तुमर्हसि ॥ ५ ॥

हे अनघ ! एक सच्ची कहावत यह है, मैं उदाहरणके लिये आपसे कहती हूं, द्वेपसे नहीं कहती, सो आप इसे सुनकर मुझे क्षमा करें ॥ ५ ॥

विरूपो यावदादर्शे नात्मनः पश्यते मुखम् ।
मन्यते तावदात्मानमन्येभ्यो रूपवत्तरम् ॥ ६ ॥

कुरूप जन जबतक दर्पणमें अपना मुख नहीं देख लेता, तबतक अपनेको औरोंसे सुन्दर समझता है ॥ ६ ॥

यदा तु मुखमादर्शे विकृतं सोऽभिवीक्षते ।
तदेतरं विजानाति आत्मानं नेतरं जनम् ॥ ७ ॥

पर जब दर्पणमें अपना भद्दा मुख देख लेता है, तब वह अपनेको एक दूसरा ही आदमी समझने लगता है ॥ ७ ॥

अतीव रूपसम्पन्नो न किंचिदवमन्यते ।
अतीव जल्पन्दुर्वाचो भवतीह विहेठकः ॥ ८ ॥

अच्छे रूपवान् जन किसीका अनादर नहीं करते; बहुत कडी बात कहनेवाले लोग निन्दक या औरोंको पीडा देनेवाले कहे जाते हैं ॥ ८ ॥

मूर्खो हि जल्पतां पुंसां श्रुत्वा वाचः शुभाशुभाः ।
अशुभं वाक्यमादत्ते पुरीषमिव सूकरः ॥ ९ ॥

सूअर जैसे और सब वस्तुओंमेंसे केवल विष्ठाको ही चुन लेता है, वैसे ही मूर्ख जन भी कहनेवालेके हिताहित वाक्योंमेंसे केवल अहित वाक्यहीको चुनते हैं ॥ ९ ॥

प्राज्ञस्तु जल्पतां पुंसां श्रुत्वा वाचः शुभाशुभाः ।
गुणवद्वाक्यमादत्ते हंसः क्षीरमिवाम्भसः ॥ १० ॥

हंस जैसे जल और दूधमेंसे जलके भागको छोडकर दूध ले लेता है, वैसे ही ज्ञानी पुरुष कहनेवालेकी हिताहित बातोंको सुनकर केवल गुणयुक्त बातको ही चुनते हैं ॥ १० ॥

अन्यान्परिवदन्साधुर्यथा हि परितप्यते ।
तथा परिवदन्नन्यांस्तुष्टो भवति दुर्जनः ॥ ११ ॥

औरोंकी निन्दा करके जिस प्रकार साधु दुःखी होते हैं, वैसे ही दूसरोंकी निन्दा करके असाधु जन प्रसन्न होते हैं ॥ ११ ॥

अभिवाद्य यथा वृद्धान्सन्तो गच्छन्ति निर्वृतिम् ।
एवं सज्जनमाक्रुश्य मूर्खो भवति निर्वृतः ॥ १२ ॥

साधुजन वृद्धोंका सम्मान कर जैसे सन्तुष्ट होते हैं, वैसे ही निन्दित जन सज्जनोंकी निन्दा करके आनन्दित होते हैं ॥ १२ ॥

सुखं जीवन्त्यदोषज्ञा मूर्खा दोषानुदर्शिनः ।
यत्र वाच्याः परैः सन्तः परानाहुस्तथाविधान् ॥ १३ ॥

मूर्खलोग नहीं जानते, कि दोष क्या है, पर पराये दोषोंके देखनेवाले बनकर सुखचैनसे समय बिताते हैं; वे जिन दोषोंके कारण पण्डितोंसे निन्दनीय होते हैं, पण्डितोंको उन्हीं दोषोंसे युक्त बताकर उनकी निन्दा किया करते हैं ॥ १३ ॥

अतो हास्यतरं लोके किंचिदन्यन्न विद्यते ।
यत्र दुर्जन इत्याह दुर्जनः सज्जनं स्वयम् ॥ १४ ॥

संसारमें इससे अधिक हंसीकी बात और क्या हो सकती है, कि एक मनुष्य स्वयं दुर्जन होकर सुजनको दुर्जन कह कर लाञ्छित करे ॥ १४ ॥

सत्यधर्मच्युतात्पुंसः क्रुद्धादाशीविषादिव ।
अनास्तिकोऽप्युद्विजते जनः किं पुनरास्तिकः ॥ १५ ॥

जिस प्रकार क्रोधित सर्पसे भय होता है, वैसे ही सच्चे धर्मसे गिरे हुए जनसे नास्तिक भी भय खाता है, फिर आस्तिकके भयभीत होनेमें कौनसा अचरज है ? ॥ १५ ॥

स्वयमुत्पाद्य वै पुत्रं सदृशं योऽवमन्यते ।
तस्य देवाः श्रियं घ्नन्ति न च लोकानुपाश्नुते ॥ १६ ॥

जो पुरुष स्वयं अपने समान ही सन्तानको उत्पन्न करके फिर उसका अपमान करता है, देवगण उसकी श्री बिगाड देते हैं और उसको स्वर्गभोग नहीं मिलता ॥ १६ ॥

×

कुलवंशप्रतिष्ठां हि पितरः पुत्रमब्रुवन् ।
उत्तमं सर्वधर्माणां तस्मात्पुत्रं न संत्यजेत् ॥ १७ ॥

पितृगण पुत्रको वंश और कुलकी प्रतिष्ठा और सर्व धर्मसे श्रेष्ठ कहा करते हैं, अतः ऐसे पुत्रको त्याग देना उचित नहीं है ॥ १७ ॥

स्वपत्नीप्रभवान्पञ्च लब्धान्क्रीतान्विवर्धितान् ।
कृतानन्यासु चोत्पन्नान्पुत्रान्वै मनुरब्रवीत् ॥ १८ ॥

भगवान् मनुने स्वपत्नीसे उत्पन्न और अन्य स्त्रियोंसे उत्पन्न, पाये हुए, खरीदे हुए, विवर्धित तथा संस्कारित ये पांच प्रकारके पुत्र कहे हैं ॥ १८ ॥

धर्मकीर्त्यावहा नृणां मनसः प्रीतिवर्धनाः ।
त्रायन्ते नरकाज्जाताः पुत्रा धर्मप्लवाः पितॄन् ॥ १९ ॥

हे राजसिंह ! मनुष्योंकी धर्म, कीर्ति और चित्तकी प्रीति बढानेवाले पुत्रगण जन्म लेकरके धर्मरूपी नाव बनकर पितरोंका नरकसे उद्धार करते हैं ॥ १९ ॥

स त्वं नृपतिशार्दूल न पुत्रं त्यक्तुमर्हसि ।
आत्मानं सत्यधर्मौ च पालयानो महीपते ।
नरेन्द्रसिंह कपटं न वोढुं त्वमिहार्हसि ॥ २० ॥

अतः, हे नरश्रेष्ठ राजन् ! सत्य, धर्म और अपनी आत्माका पालन करते हुए तुम्हें पुत्रको त्यागना नहीं चाहिये। हे नरेन्द्रसिंह ! इस विषयमें आपको कपट करना योग्य नहीं है ॥ २० ॥

वरं कूपशताद्वापी वरं वापीशतात्क्रतुः ।
वरं क्रतुशतात्पुत्रः सत्यं पुत्रशताद्वरम् ॥ २१ ॥

सैंकडों कुओंको बनवानेकी अपेक्षा एक तालाब बनवाना श्रेष्ठ है और सैंकडों तालाब बनवानेकी अपेक्षा एक यज्ञ करना उत्तम है और सैंकडों यज्ञ करनेकी अपेक्षा एक पुत्र पैदा करना श्रेष्ठ है और सैंकडों पुत्रोंकी अपेक्षा एक सत्यनिष्ठा श्रेष्ठ है ॥ २१ ॥

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम् ।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥ २२ ॥

यदि तराजूके एक ओर हजार अश्वमेध और दूसरी ओर सत्यनिष्ठाको रखकर तौला जाय, तो सहस्र अश्वमेधोंसे एक सत्यनिष्ठा ही भारी होगी ॥ २२ ॥

सर्ववेदाधिगमनं सर्वतीर्थावगाहनम् ।
सत्यं च वदतो राजन्समं वा स्यान्न वा समम् ॥ २३ ॥

हे राजन् ! इसमें सन्देह है, कि सर्व वेदोंका पठन और सर्व तीर्थोंमें स्नान एक सत्य वाक्यके तुल्य होता है वा नहीं ॥ २३ ॥

नास्ति सत्यात्परो धर्मो न सत्याद्विद्यते परम् ।
न हि तीव्रतरं किंचिदनृतादिह विद्यते ॥ २४ ॥

सत्यसे बढकर दूसरा धर्म नहीं है, और न सत्यसे बढकर और कोई चीज ही है, असत्यसे बढकर पाप और कोई भी नहीं है ॥ २४ ॥

राजन्सत्यं परं ब्रह्म सत्यं च समयः परः ।
मा त्याक्षीः समयं राजन्सत्यं संगतमस्तु ते ॥ २५ ॥

हे राजन् ! सत्य ही परब्रह्म और सत्य ही परम नियम है । हे नृपते ! आपने मुझसे जो प्रण किया था, उसका उल्लङ्घन न कीजिये; आपके साथ सत्यका संयोग हो ॥ २५ ॥

अनृते चेत्प्रसङ्गस्ते श्रद्दधासि न चेत्स्वयम् ।
आत्मनो हन्त गच्छामि त्वादृशे नास्ति संगतम् ॥ २६ ॥

पर यदि मिथ्या पर ही आपको प्रेम हो और उससे आप मेरी इस सत्य बात पर भी विश्वास न करें, तो मैं स्वयं चली जाती हूं; आपसे मेरे मिलनका प्रयोजन नहीं है ॥ २६ ॥

ऋतेऽपि त्वयि दुःषन्त शैलराजावतंसकाम् ।
चतुरन्तामिमामुर्वीं पुत्रो मे पालयिष्यति ॥ २७ ॥

हे दुःषन्त ! आपके स्वीकार न करने पर भी मेरा यह पुत्र शैलराजसे अलंकृत इस पृथ्वीका चारों समुद्रोंतक शासन करेगा ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतावदुक्त्वा वचनं प्रातिष्ठत शकुन्तला ।
अथान्तरिक्षे दुःषन्तं वागुवाचाशरीरिणी ।
ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मन्त्रिभिश्चावृतं तदा ॥ २८ ॥

वैशम्पायन बोले– शकुन्तला यह सब कहकर जाने लगी । तब ऋत्विक, पुरोहित, आचार्य और मन्त्रियोंसे घिरे हुए राजासे अन्तरिक्षमें शरीररहित वाणी बोली ॥ २८ ॥

भस्त्रा माता पितुः पुत्रो येन जातः स एव सः ।
भरस्व पुत्रं दुःषन्त मावमंस्थाः शकुंतलाम् ॥ २९ ॥

हे दुःषन्त ! माता चमडेके कोषके समान है, उसमेंसे पिता स्वयं ही पुत्रके स्वरूपमें जन्म लेता है, इसलिए पुत्रको पालो, पोषो । शकुन्तलाका अनादर मत करो ॥ २९ ॥

रेतोधाः पुत्र उन्नयति नरदेव यमक्षयात्।
त्वं चास्य धाता गर्भस्य सत्यमाह शकुन्तला ॥ ३० ॥

हे नरदेव ! निज वीर्यसे उत्पन्न हुई सन्तान यमराजके घरसे मनुष्यका उद्धार करती है; तुम्हींने यह गर्भाधान किया है। शकुन्तलाने जो कुछ कहा है, सब सत्य है ॥ ३० ॥

जाया जनयते पुत्रमात्मनोऽङ्गं द्विधा कृतम्।
तस्माद्भरस्व दुःषन्त पुत्रं शाकुन्तलं नृप ॥ ३१ ॥

हे दुःषन्त ! अपना अङ्ग दो भागोंमें बंटकर पुत्रके स्वरूपमें भार्या जन्म देती है; अतएव शकुन्तलाके गर्भसे उत्पन्न निजपुत्रका पालन करो ॥ ३१ ॥

अभूतिरेषा कस्त्यज्याज्जीवञ्जीवन्तमात्मजम्।
शाकुन्तलं महात्मानं दौःषन्तिं भर पौरव ॥ ३२ ॥

हे पौरव ! जीते हुए पुत्रको तजकर जीवन धरना अति दुर्भाग्यकी बात है; अतः अपने पुत्रका त्याग कौन करेगा? शकुन्तलाके गर्भजात इस महात्मा दुःषन्त–नन्दनका पालन करो ॥ ३२ ॥

भर्तव्योऽयं त्वया यस्मादस्माकं वचनादपि।
तस्माद्भवत्वयं नाम्ना भरतो नाम ते सुतः ॥ ३३ ॥

हमारी बातके अनुसार तुमको इस पुत्रका भरण करना होगा, इस हेतु यह तुम्हारा पुत्र भरतके नामसे प्रसिद्ध हो ॥ ३३ ॥

तच्छ्रुत्वा पौरवो राजा व्याहृतं वै दिवौकसाम्।
पुरोहितममात्यांश्च संप्रहृष्टोऽब्रवीदिदम् ॥ ३४ ॥

पुरुकुलोत्पन्न राजा दुःषन्तने ऐसी देववाणी सुनकर प्रसन्नचित्तसे पुरोहित और मन्त्रियोंसे यह कहा ॥ ३४ ॥

शृण्वन्त्वेतद्भवन्तोऽस्य देवदूतस्य भाषितम्।
अहमप्येवमेवैनं जानामि स्वयमात्मजम् ॥ ३५ ॥

आप इन देवदूतकी वाणी पर ध्यान दीजिये और मैं भी वैसा ही जानता हूं, कि इस पुत्रने मुझसे ही जन्म लिया है ॥ ३५ ॥

यद्यहं वचनादेव गृह्णीयामिममात्मजम्।
भवेद्धि शङ्का लोकस्य नैवं शुद्धो भवेदयम् ॥ ३६ ॥

यदि मैंने शकुन्तलाके वाक्यानुसार अपने पुत्रको स्वीकार कर लिया होता, तो प्रजा यह शङ्का करती कि यह पुत्र शुद्ध न भी हो सकता है ॥ ३६ ॥

तं विशोध्य तदा राजा देवदूतेन भारत ।
हृष्टः प्रमुदितश्चापि प्रतिजग्राह तं सुतम् ॥ ३७ ॥

वैशम्पायन बोले– हे भारत ! तब राजाने देवदूतसे पुत्रको विशुद्ध कराकर प्रसन्न और प्रमुदित चित्तसे उस पुत्रको स्वीकार कर लिया ॥ ३७ ॥

मूर्ध्नि चैनमुपाघ्राय सस्नेहं परिषस्वजे ।
सभाज्यमानो विप्रैश्च स्तूयमानश्च बन्दिभिः ।
स मुदं परमां लेभे पुत्रसंस्पर्शजां नृपः ॥ ३८ ॥

अनन्तर प्रीतियुक्त और प्रमुदित होकर कुमारका सिर चूमकर स्नेह प्रकट करते हुए गलेसे लगाया । तब ब्राह्मण लोग आशीस देने लगे और भाट स्तुति पढने लगे और राजा पुत्रस्पर्श का लाभकर परम आनन्दित हुए ॥ ३८ ॥

तां चैव भार्यां धर्मज्ञः पूजयामास धर्मतः ।
अब्रवीचैव तां राजा सान्त्वपूर्वमिदं वचः ॥ ३९ ॥

आगे धर्मानुसार उस धर्मज्ञने पतिव्रता पत्नीका सम्मान कर समझाते हुए यह कहने लगे ॥ ३९ ॥

कृतो लोकपरोक्षोऽयं सम्बन्धो वै त्वया सह ।
तस्मादेतन्मया देवि त्वच्छुद्ध्यर्थं विचारितम् ॥ ४० ॥

देवि ! लोकोंमें कोई नहीं जानता, कि मैंने तुमसे विवाह किया है, इस हेतु तुम्हारी शुद्धिके निमित्त मैंने ऐसा व्यवहार किया ॥ ४० ॥

मन्यते चैव लोकस्ते स्त्रीभावान्मयि संगतम् ।
पुत्रश्चायं वृतो राज्ये मया तस्माद्विचारितम् ॥ ४१ ॥

और लोग ऐसा समझ सकते हैं, कि केवल सुखकी अभिलाषासे इनका सङ्गम हुआ, विवाह नहीं हुआ, यह विना विधिसे उत्पन्न हुआ पुत्र राज्यका अधिकारी हुआ है, वस लोकापवादको दूर करनेके लिये ऐसा चरित्र प्रकट किया ॥ ४१ ॥

यच्च कोपितयात्यर्थं त्वयोक्तोऽस्म्यप्रियं प्रिये ।
प्रणयिन्या विशालाक्षि तत्क्षान्तं ते मया शुभे ॥ ४२ ॥

हे प्रिय विशालाक्षी ! तुमने क्रोधित होकर मुझे जो अप्रिय बातें कही हैं, हे शुभे ! तुम मेरी प्यारी हो, इसलिये उन सबोंको क्षमा करता हूं ॥ ४२ ॥

तामेवमुक्त्वा राजर्षिर्दुःपन्तो महिषीं प्रियाम् ।
वासोभिरन्नपानैश्च पूजयामास भारत ॥ ४३ ॥

हे भारत ! राजर्षि दुःपन्तने प्यारी महिषी शकुन्तलासे उस प्रकार कहकर अन्न, पान और वस्त्रादिकोंसे उसका सम्मान किया ॥ ४३ ॥

दुःषन्तश्च ततो राजा पुत्रं शाकुन्तलं तदा ।
भरतं नामतः कृत्वा यौवराज्येऽभ्यषेचयत् ॥ ४४ ॥

उसके बाद राजा दुःपन्तने शकुन्तलाके गर्भजात पुत्रको " भरत " नाम देकर युवराजके पदमें अभिषिक्त किया ॥ ४४ ॥

तस्य तत्प्रथितं चक्रं प्रावर्तत महात्मनः ।
भास्वरं दिव्यमजितं लोकसंनादनं महत् ॥ ४५ ॥

तबसे उन महात्मा भरतके प्रज्वलित, जीतनेके अयोग्य, दिव्य और लोकोंमें प्रख्यात महत् चक्र प्रवर्तित हुआ ॥ ४५ ॥

स विजित्य महीपालांश्चकार वशवर्तिनः ।
चचार च सतां धर्मं प्राप चानुत्तमं यशः ॥ ४६ ॥

उसने महीपालोंको जीतकर वशमें किया और सज्जनोंके धर्मका अनुष्ठान करने लगे, उनका सुन्दर यश भूमण्डलमें फैल गया ॥ ४६ ॥

स राजा चक्रवर्त्यासीत्सार्वभौमः प्रतापवान् ।
ईजे च बहुभिर्यज्ञैर्यथा शक्रो मरुत्पतिः ॥ ४७ ॥

वह महा प्रतापी और सार्वभौम चक्रवर्ती हुए; और देवराज इन्द्रकी भांति बहुयज्ञानुष्ठान किया ॥ ४७ ॥

याजयामास तं कण्वो दक्षवद्भूरिदक्षिणम् ।
श्रीमान्गोविततं नाम वाजिमेधमवाप सः ।
यस्मिन्सहस्रं पद्मानां कण्वाय भरतो ददौ ॥ ४८ ॥

महर्षि कण्वने उनसे प्रचुर दक्षिणा-युक्त यज्ञ कराया । उन श्रीमान् भरतने गोवितत नामक अश्वमेध-यज्ञ करके उसमें भगवान् ऋषि कण्वको सहस्र पद्म धन दान दिया था ॥ ४८ ॥

भरताद्भारती कीर्तिर्येनेदं भारतं कुलम् ।
अपरे ये च पूर्वे च भारता इति विश्रुताः ॥ ४९ ॥

इसी भरतसे यह भरतवंश प्रसिद्ध हुआ, जो आगे चलकर भारतके नामसे प्रसिद्ध हुए, भरतसे पूर्व और बादमें जितने भी मनुष्य उत्पन्न हुए वे सब भारतके नामसे प्रसिद्ध हुए ॥४९॥

भरतस्यान्ववाये हि देवकल्पा महौजसः ।
बभूवुर्ब्रह्मकल्पाश्च बहवो राजसत्तमाः ॥ ७० ॥

भरतके वंशमें देवोंके समान महा ओजस्वी ब्रह्मकल्प अनेक राजश्रेष्ठोंने जन्म लिया ॥७०॥

येषामपरिमेयानि नामधेयानि सर्वशः ।
तेषां तु ते यथामुख्यं कीर्तयिष्यामि भारत ।
महाभागान्देवकल्पान्सत्यार्जवपरायणान् ॥ ७१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥ २६१६ ॥

उन सबोंके नाम अगणित हैं । हे भारत! उनमें जो प्रधान, महाभाग्यवान् देवकल्प और सत्यशील और आर्जवपरायण हैं, उन्हींके नाम कहूंगा ॥ ७१ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें उनहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ६९ ॥ ॥ २६१६ ॥

: ७० :

वैशम्पायन उवाच

प्रजापतेस्तु दक्षस्य मनोर्वैवस्वतस्य च ।
भरतस्य कुरोः पूरोरजमीढस्य चान्वये ॥ १ ॥

यादवानामिमं वंशं पौरवाणां च सर्वशः ।
तथैव भारतानां च पुण्यं स्वस्त्ययनं महत् ।
धन्यं यशस्यमायुष्यं कीर्तयिष्यामि तेऽनघ ॥ २ ॥

वैशम्पायन बोले— प्रजापति दक्ष, वैवस्वत मनु, भरत, कुरु, पूरु, अजमीढके कुलमें यादव और सम्पूर्ण पुरुवंशियों एवं भरतवंशियोंकी पवित्र महत् स्वस्त्ययनयुक्त, धन और यश तथा आयु देनेवाली संपूर्ण वंशकी कथा, हे अनघ ! तुमसे कहता हूं ॥ १–२ ॥

तेजोभिरुदिताः सर्वे महर्षिसमतेजसः ।
दश प्रचेतसः पुत्राः सन्तः पूर्वजनाः स्मृताः ।
मेघजेनाग्निना ये ते पूर्वं दग्धा महौजसः ॥ ३ ॥

प्रचेताके दस पुत्र थे जो पूर्वज माने जाते हैं । वे सब तेजसे प्रज्ज्वलित, महर्षिके समान तेजस्वी और साधु थे, मेघसे निकली हुई आगसे अत्यन्त तेजस्वी उन्होंने पहिले वृक्ष–औषधियां जला डाली थीं ॥ ३ ॥

तेभ्यः प्राचेतसो जज्ञे दक्षो दक्षादिमाः प्रजाः ।
संभूताः पुरुषव्याघ्र स हि लोकपितामहः ॥ ४ ॥

उन दसोंसे प्राचेतस प्रजापति दक्ष उत्पन्न हुए थे। दक्षसे यह सब प्रजायें उत्पन्न हुई हैं। हे पुरुषव्याघ्र! वह दक्ष ही लोकोंके पितामह हैं ॥ ४ ॥

वीरिण्या सह संगम्य दक्षः प्राचेतसो मुनिः ।
आत्मतुल्यानजनयत्सहस्रं संशितव्रतान् ॥ ५ ॥

प्राचेतस मुनि दक्षने वीरिणी नामकी पत्नीके साथ मिलकर अपने सदृश व्रतशील सहस्र पुत्र उत्पन्न किये ॥ ५ ॥

सहस्रसंख्यान्समितान्सुतान्दक्षस्य नारदः ।
मोक्षमध्यापयामास सांख्यज्ञानमनुत्तमम् ॥ ६ ॥

ऋषि नारदने दक्षसे जन्म लिये हुए उन सहस्र पुत्रोंको मोक्षसाधन और अत्युत्तम सांख्य-ज्ञानकी शिक्षा दी ॥ ६ ॥

ततः पञ्चाशतं कन्याः पुत्रिका अभिसंदधे ।
प्रजापतिः प्रजा दक्षः सिसृक्षुर्जनमेजय ॥ ७ ॥

हे जनमेजय! बादमें उन प्रजापति दक्षने बहुत सारी प्रजा रचनेकी इच्छासे पचास कन्या-ओंको पुत्रिका बनाया ॥ ७ ॥

ददौ स दश धर्माय कश्यपाय त्रयोदश ।
कालस्य नयने युक्ताः सप्तविंशतिमिन्दवे ॥ ८ ॥

उन पचास कन्याओंमेंसे दस धर्मको, तेरह कश्यपको और समयदर्शनेवाली सत्ताइस कन्यायें चन्द्रको दीं ॥ ८ ॥

त्रयोदशानां पत्नीनां या तु दाक्षायणी वरा ।
मारीचः कश्यपस्तस्यामादित्यान्समजीजनत् ।
इन्द्रादीन्वीर्यसंपन्नान्विवस्वन्तमथापि च ॥ ९ ॥

कश्यपकी तेरह पत्नियोंमेंसे दाक्षायणी अदिति सबसे बडी थी; उस अदितिने मरीचिके पुत्र कश्यपसे मिलकर वीर्यवान् इन्द्रादि देवता और विवस्वान् सूर्यको उत्पन्न किया ॥९॥

विवस्वतः सुतो जज्ञे यमो वैवस्वतः प्रभुः ।
मार्तण्डश्च यमस्यापि पुत्रो राजन्नजायत ॥ १० ॥

विवस्वान्से वैवस्वत यम पुत्ररूपमें पैदा हुए और, हे राजन्! यमके भी मार्तण्ड पुत्ररूपमें हुए ॥ १० ॥

मार्तण्डस्य मनुर्धीमानजायत सुतः प्रभुः ।
मनोर्वंशो मानवानां ततोऽयं प्रथितोऽभवत् ।
ब्रह्मक्षत्रादयस्तस्मान्मनोर्जातास्तु मानवाः ॥ ११ ॥

मार्तण्डके पुत्र मनु बडे बुद्धिमान् और धर्मात्मा थे, उन्हीसे यह मानव-वंश प्रसिद्ध तथा प्रतिष्ठित हुआ है । ब्राह्मण क्षत्रियादि मानवोंने उन्हीं मनुसे जन्म लिया ॥ ११ ॥

तत्राभवत्तदा राजन्ब्रह्म क्षत्रेण संगतम् ।
ब्राह्मणा मानवास्तेषां साङ्गं वेदमदीधरन् ॥ १२ ॥

हे महाराज ! अनन्तर ब्राह्मण लोग क्षत्रियोंसे संगठित हुए । सम्पूर्ण गुणोंमें मनुज ब्राह्मण-गणने साङ्गवेद धारण किया ॥ १२ ॥

वेनं धृष्णुं नरिष्यन्तं नाभागेक्ष्वाकुमेव च ।
करूषमथ शर्यातिं तथैवात्राष्टमीमिलाम् ॥ १३ ॥
पृषध्रनवमानाहुः क्षत्रधर्मपरायणान् ।
नाभागारिष्टदशमान्मनोः पुत्रान्महाबलान् ॥ १४ ॥

मनुके वेन, धृष्णु, नरिष्यन्, नाभाग, इक्ष्वाकु, करूष, शर्याति और आठवीं इला, क्षत्रिय-धर्मके पालनमें सदा रत रहनेवाले पृषध्रको नौवां और महाबली नाभागको दसवां पुत्र कहते हैं ॥ १३–१४ ॥

पञ्चाशतं मनोः पुत्रास्तथैवान्येऽभवन्क्षितौ ।
अन्योन्यभेदात्ते सर्वे विनेशुरिति नः श्रुतम् ॥ १५ ॥

इनके अतिरिक्त इस पृथ्वीमें उन मनुके और पचास पुत्र हुए थे, सुना है, कि वे सब आपसमें लडकर नष्ट हो गए ॥ १५ ॥

पुरूरवास्ततो विद्वानिलायां समपद्यत ।
सा वै तस्याभवन्माता पिता चेति हि नः श्रुतम् ॥ १६ ॥

अनन्तर विद्वान् पुरूरवाने इलासे जन्म लिया था; हमने सुना है, कि इला ही पुरूरवाकी माता और पिता थी ॥ १६ ॥

त्रयोदश समुद्रस्य द्वीपानश्नन्पुरूरवाः ।
अमानुषैर्वृतः सत्त्वैर्मानुषः सन्महायशाः ॥ १७ ॥

महा यशस्वी पुरूरवाने मनुष्य होने पर भी अमनुष्य साथियोंकी सहायतासे महासागरके तेरह द्वीपोंको अधिकारमें कर लिया था ॥ १७ ॥

×

विप्रैः स विग्रहं चक्रे वीर्योन्मत्तः पुरूरवाः ।
जहार च स विप्राणां रत्नान्युत्क्रोशतामपि ॥ १८ ॥

पर बादमें अपने बलके घमंडमें आकर उन्मत्त होकर पुरूरवाने ब्राह्मणोंसे झगडा किया और विप्रोंके चिल्लाचिल्लाकर रोने पर भी उनका सम्पूर्ण रत्न हर लिया था ॥ १८ ॥

सनत्कुमारस्तं राजन्ब्रह्मलोकादुपेत्य ह ।
अनुदर्शयां ततश्चक्रे प्रत्यगृह्णान्न चाप्यसौ ॥ १९ ॥

हे राजन् ! तब ब्रह्मलोकसे सनत्कुमारने आकर उनको श्रुतिके अनुसार उपदेश किया; उस पर भी उन्होंने उनके उपदेश पर ध्यान नहीं दिया ॥ १९ ॥

ततो महर्षिभिः क्रुद्धैः शप्तः सद्यो व्यनश्यत ।
लोभान्वितो मदबलान्नष्टसंज्ञो नराधिपः ॥ २० ॥

तब लोभी, बलके घमण्डके कारण नष्ट हुई हुई बुद्धिवाले राजा पुरूरवा क्रुद्ध हुए हुए ब्राह्मणोंके द्वारा शाप पाकर उसी क्षण नष्ट हो गए ॥ २० ॥

स हि गन्धर्वलोकस्थ उर्वश्या सहितो विराट् ।
आनिनाय क्रियार्थेऽग्नीन्यथावद्विहितांस्त्रिधा ॥ २१ ॥

वह अत्यन्त तेजस्वी पुरूरवा उर्वशीके साथ गन्धर्व लोकसे क्रियाके लिये विधिपूर्वक दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य और आहवनीय इन तीन प्रकारके अग्निको लाये थे ॥ २१ ॥

षट् पुत्रा जज्ञिरेऽथैलादायुर्धीमानमावसुः ।
दृढायुश्च वनायुश्च श्रुतायुश्चोर्वशीसुताः ॥ २२ ॥

इलापुत्र पुरूरवाके वीर्य और उर्वशीके गर्भसे छः पुत्रोंने जन्म लिया था, उनके नाम आयु, धीमान् , अमावसु, दृढायु, वनायु और श्रुतायु थे ॥ २२ ॥

नहुषं वृद्धशर्माणं रजिं रम्भमनेनसम् ।
स्वर्भानवीसुतानेतानायोः पुत्रान्प्रचक्षते ॥ २३ ॥

आयुके वीर्य और स्वर्भानुपुत्रीके गर्भसे नहुष, वृद्धशर्मा, रजी, रंभ और अनेना यह पांच पुत्र हुए ॥ २३ ॥

आयुषो नहुषः पुत्रो धीमान्सत्यपराक्रमः ।
राज्यं शशास सुमहद्धर्मेण पृथिवीपतिः ॥ २४ ॥

आयुके पुत्र नहुष धीमान् तथा सच्चे पराक्रमी थे। उस राजाने उत्तम रीतिसे धर्मानुसार राज्यका शासन किया ॥ २४ ॥

पितॄन्देवानृषीन्विप्रान्गन्धर्वोरगराक्षसान् ।
नहुषः पालयामास ब्रह्मक्षत्रमथो विशः ॥ २५ ॥

नहुषने पितृगण, देवगण, ऋषिगण, विप्रगण और गन्धर्व, सर्प, राक्षस, ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्योंका पालन किया था ॥ २५ ॥

स हत्वा दस्युसंघातानृषीन्करमदापयत् ।
पशुवच्चैव तान्पृष्ठे वाहयामास वीर्यवान् ॥ २६ ॥

उन्होंने अपने भुजबलसे लुटेरोंको नष्ट करके ऋषियोंको करदाता बनाया, और एक समय उस वीर्यवान्ने उन ऋषियोंको पशुकी भांति वाहन बनाया ॥ २६ ॥

कारयामास चेन्द्रत्वमभिभूय दिवौकसः ।
तेजसा तपसा चैव विक्रमेणौजसा तथा ॥ २७ ॥

वह तेज, तप, बल और विक्रमसे देवोंको हराकर इन्द्रके पदपर आरूढ हुए थे ॥ २७ ॥

यतिं ययातिं संयातिमायातिं पाश्चमुद्धवम् ।
नहुषो जनयामास षट् पुत्रान्प्रियवाससि ॥ २८ ॥

उन्होंने यति, ययाति, संयाति, आयाति, पांच और उद्धव यह छः प्रिय वस्त्रोंमें लिपटे हुए पुत्र उत्पन्न किए ॥ २८ ॥

ययातिर्नाहुषः सम्राडासीत्सत्यपराक्रमः ।
स पालयामास महीमीजे च विविधैः सवैः ॥ २९ ॥

सत्य पराक्रमी नहुषपुत्र ययाति सम्राट् हुए; उन्होंने पृथ्वीका पालन कर अनेक यज्ञ किये ॥ २९ ॥

अतिशक्त्या पितॄनर्चन्देवांश्च प्रयतः सदा ।
अन्वगृह्णात्प्रजाः सर्वा ययातिरपराजितः ॥ ३० ॥

आत्मवान् होकर उन्होंने अति शक्तिसे देवगण और पितृगणकी उपासना की। अजेय ययातिने सम्पूर्ण प्रजाओं पर दया प्रकट की ॥ ३० ॥

तस्य पुत्रा महेष्वासाः सर्वैः समुदिता गुणैः ।
देवयान्यां महाराज शर्मिष्ठायां च जज्ञिरे ॥ ३१ ॥

हे महाराज! देवयानी और शर्मिष्ठाके गर्भसे उनके सर्वगुणयुक्त बडे धनर्धारी पुत्रोंने जन्म लिया था ॥ ३१ ॥

देवयान्यामजायेतां यदुस्तुर्वसुरेव च ।
द्रुह्युश्चानुश्च पूरुश्च शर्मिष्ठायां प्रजज्ञिरे ॥ ३२ ॥

उनमें देवयानीसे यदु और तुर्वसुका जन्म हुवा; द्रुह्यु, अनु और पुरु इन्होंने शर्मिष्ठाके गर्भसे जन्म लिया ॥ ३२ ॥

स शाश्वतीः समा राजन्प्रजा धर्मेण पालयन्।
जरामार्छन्महाघोरां नाहुषो रूपनाशिनीम् ॥ ३३ ॥

हे राजन् ! ययाति बहुत वर्षोंतक धर्मानुसार प्रजाका पालन कर अन्तमें रूपका नाश करनेवाले भयंकर बुढापेसे जकड लिए गए ॥ ३३ ॥

जराभिभूतः पुत्रान्स राजा वचनमब्रवीत्।
यदुं पूरुं तुर्वसुं च द्रुह्युं चानुं च भारत ॥ ३४ ॥

हे महाराज! तब राजा जरासे जकडे जाकर यदु, पूरु, तुर्वसु, द्रुह्यु और अनु इन पांच पुत्रोंको बुलाकर यह वचन बोले ॥ ३४ ॥

यौवनेन चरन्कामान्युवा युवतिभिः सह।
विहर्तुमहमिच्छामि साह्यं कुरुत पुत्रकाः ॥ ३५ ॥

कि मैं युवा बनकर अपने यौवनसे युवतियोंके साथ मनमाने भोगकर विहार करना चाहता हूं, हे पुत्र ! तुम उस विषयमें सहायता दो ॥ ३५ ॥

तं पुत्रो देवयानेयः पूर्वजो यदुरब्रवीत्।
किं कार्यं भवतः कार्यमस्माभिर्यौवनेन च ॥ ३६ ॥

तब देवयानीके गर्भसे उत्पन्न सबसे बडे पुत्र यदुने कहा, कहिये, हम अपने यौवनसे आपका कौनसा कार्य करें ॥ ३६ ॥

ययातिरब्रवीत्तं वै जरा मे प्रतिगृह्यताम्।
यौवनेन त्वदीयेन चरेयं विषयानहम् ॥ ३७ ॥

ययाति उससे बोले, कि तुम मेरे बुढापेको ले लो और मैं तुम्हारे यौवनसे विषयोंका भोग करूं ॥ ३७ ॥

यजतो दीर्घसत्रैर्मे शापाच्चोशनसो मुनेः।
कामार्थः परिहीणो मे तप्येऽहं तेन पुत्रकाः ॥ ३८ ॥

हे पुत्र ! मैं दीर्घयज्ञमें दीक्षित था, उस कालमें मुनि शुक्राचार्यके शापसे जराग्रस्त हुआ हूं, इस कारण मेरे काम अर्थ क्षीण हो रहे हैं, इसी कारण मैं अत्यन्त संतापित हो रहा हूं ॥ ३८ ॥

मामकेन शरीरेण राज्यमेकः प्रशास्तु वः।
अहं तन्वाभिनवया युवा कामानवाप्नुयाम् ॥ ३९ ॥

सो तुममेंसे कोई मेरे इस जराग्रस्त शरीरको लेकर राज्यशासन करे, मैं फिर युवा बनकर नये शरीरसे मनमाना भोग करूं ॥ ३९ ॥

न ते तस्य प्रत्यगृह्णन्यदुप्रभृतयो जराम् ।
तमब्रवीत्ततः पूरुः कनीयान्सत्यविक्रमः ॥ ४० ॥

यदु आदि भाइयोंमेंसे किसीने उनके बुढापेको नहीं लिया । तब छोटे पुत्र सत्य-विक्रमी पूरुने उनसे कहा ॥ ४० ॥

राजंश्चराभिनवया तन्वा यौवनगोचरः ।
अहं जरां समास्थाय राज्ये स्थास्यामि तेऽऽज्ञया ॥ ४१ ॥

महाराज! आप युवावस्थासे पूर्ण इन्द्रियोंसे युक्त नये शरीरसे विहार करिये और मैं आपकी आज्ञासे बुढापा लेकर राज्यपर बैठूंगा ॥ ४१ ॥

एवमुक्तः स राजर्षिस्तपोवीर्यसमाश्रयात् ।
संचारयामास जरां तदा पुत्रे महात्मनि ॥ ४२ ॥

तब पूरुके यह बात कहनेपर राजर्षि ययातिने तप और वीर्यके बलसे उस महात्मा पुत्रमें बुढापा प्रविष्ट कराया ॥ ४२ ॥

पौरवेणाथ वयसा राजा यौवनमास्थितः ।
यायातेनापि वयसा राज्यं पूरुरकारयत् ॥ ४३ ॥

राजा अपने पुत्र पूरुका यौवन पाकर युवा बने और पूरु ययातिकी वृद्धावस्था लेकरके राज्यशासन करने लगे ॥ ४३ ॥

ततो वर्षसहस्रान्ते ययातिरपराजितः ।
अतृप्त एव कामानां पूरुं पुत्रमुवाच ह ॥ ४४ ॥

तब एवं मनमाने भोगसे तृप्त न हो करके अपने पुत्र पूरुसे बोले ॥ ४४ ॥

त्वया दायादवानस्मि त्वं मे वंशकरः सुतः ।
पौरवो वंश इति ते ख्यातिं लोके गमिष्यति ॥ ४५ ॥

कि तुम्हींसे मैं पुत्रवान् हुआ हूं; तुम्हीं मेरे वंशको आगे चलानेवाले पुत्र हो, यह वंश तुम्हारे नामहीसे प्रख्यात अर्थात् लोकोंमें–पौरव वंशके नामसे प्रसिद्ध होगा ॥ ४५ ॥

ततः स नृपशार्दूलः पूरुं राज्येऽभिषिच्य च ।
कालेन महता पश्चात्कालधर्ममुपेयिवान् ॥ ४६ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥ २६६२ ॥

अनन्तर नृपसिंह ययाति पूरुको राज्यमें अभिषिक्त करके ययाति हजारों वर्षोंतक भोग भोग-कर इस प्रकार किसीसे न हारनेवाले बहुत समयके बाद कालधर्म मृत्युको प्राप्त हुए ॥४६॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें सत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७० ॥ २६६२ ॥

: ७१ :

जनमेजय उवाच

ययातिः पूर्वकोऽस्माकं दशमो यः प्रजापतेः ।
कथं स शुक्रतनयां लेभे परमदुर्लभाम् ॥ १ ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण द्विजोत्तम ।
आनुपूर्व्या च मे शंस पूरोर्वंशकरान्पृथक् ॥ २ ॥

जनमेजय बोले– प्रजापतिसे लेकर दसवें स्थानपर गिने जानेवाले मेरे पूर्वज ययातिने अत्यन्त दुर्लभ शुक्र कन्या (ब्राह्मणी देवयानी) किस प्रकार प्राप्त की ? हे द्विजश्रेष्ठ! यह कथा विस्तारसे सुननेकी मेरी इच्छा है। पुरूके वंशको बढानेवाले अलग अलग राजाओंकी वंशावली मुझे क्रमसे सुनाइए ॥ १–२ ॥

वैशंपायन उवाच

ययातिरासीद्राजर्षिर्देवराजसमद्युतिः ।
तं शुक्रवृषपर्वाणौ वव्राते वै यथा पुरा ॥ ३ ॥

तत्तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि पृच्छतो जनमेजय ।
देवयान्याश्च संयोगं ययातेर्नाहुषस्य च ॥ ४ ॥

वैशम्पायन बोले– हे जनमेजय ! पूर्वकालमें देवराजके समान तेजस्वी ययाति नामक एक राजर्षि थे, उन्हें शुक्र और वृषपर्वाने जिस प्रकार वरण किया था और नहुषपुत्र ययातिसे जिसप्रकार देवयानीका मिलन हुआ था, वह पूछनेवाले आपसे कहता हूं, सुनिये ॥ ३-४ ॥

सुराणामसुराणां च समजायत वै मिथः ।
ऐश्वर्यं प्रति संघर्षस्त्रैलोक्ये सचराचरे ॥ ५ ॥

इस चराचरसहित त्रिलोकके ऐश्वर्य पानेके लिए सुरों और असुरोंमें आपसमें लडाई हुई ॥५॥

जिगीषया ततो देवा वव्रिरेऽऽङ्गिरसं मुनिम् ।
पौरोहित्येन याज्यार्थे काव्यं तूशनसं परे ।
ब्राह्मणौ तावुभौ नित्यमन्योन्यस्पर्धिनौ भृशम् ॥ ६ ॥

विजय प्राप्त करनेकी इच्छासे देवोंने याजनकार्यके निमित्त अङ्गिराके पुत्र मुनि बृहस्पतिको पुरोहित चुना, असुरोंने कविपुत्र शुक्रको नियुक्त किया; ये दोनों पुरोहित ब्राह्मण नित्य आपसमें बहुत स्पर्धा किया करते थे ॥ ६ ॥

तत्र देवा निजघ्नुर्यान्दानवान्युधि संगतान् ।
तान्पुनर्जीवयामास काव्यो विद्याबलाश्रयात् ।
ततस्ते पुनरुत्थाय योधयाञ्चक्रिरे सुरान् ॥ ७ ॥

तब देवतालोग युद्धस्थलमें उपस्थित हुए हुए जिन दानवोंको मार डालते थे, कविके पुत्र शुक्र विद्याके बलसे फिर उनको जिला देते थे; इस प्रकार वे फिर उठकर देवोंसे युद्ध करने लगते थे ॥ ७ ॥

असुरास्तु निजघ्नुर्यान्सुरान्समरमूर्धनि ।
न तान्संजीवयामास बृहस्पतिरुदारधीः ॥ ८ ॥

पर असुरलोग युद्धमें जिन देवोंको मार गिराते थे, सरल बुद्धिवाले बृहस्पति उनको जिला नहीं पाते थे ॥ ८ ॥

न हि वेद स तां विद्यां यां काव्यो वेद वीर्यवान् ।
संजीवनीं ततो देवा विषादमगमन्परम् ॥ ९ ॥

क्योंकि कविपुत्र वीर्यवान् शुक्र जो सञ्जीवनी विद्या जानते थे, बृहस्पति उसे नहीं जानते थे; इससे देवगण बडे दुःखी हुए ॥ ९ ॥

ते तु देवा भयोद्विग्नाः काव्यादुशनसस्तदा ।
ऊचुः कचमुपागम्य ज्येष्ठं पुत्रं बृहस्पतेः ॥ १० ॥

तब देवोंने कविपुत्र उशनाके भयसे कातर होकर बृहस्पतिके बडे बेटे कचके पास जाकर कहा ॥ १० ॥

भजमानान्भजस्वास्मान्कुरु नः साह्यमुत्तमम् ।
यासौ विद्या निवसति ब्राह्मणेऽमिततेजसि ।
शुक्रे तामाहर क्षिप्रं भागभाङ्नो भविष्यसि ॥ ११ ॥

कि हमने तुम्हारी शरण ली है, अतः तुम हमें बचाओ, तुम हमारी सहायता करो । अति तेजस्वी ब्राह्मण शुक्रमें जो सञ्जीवनी विद्या निवास करती है, उसे तुम शीघ्र हर लाओ, तब तुम भी हमारे यज्ञांशके भागी बनोगे ॥ ११ ॥

वृषपर्वसमीपे स शक्यो द्रष्टुं त्वया द्विजः
रक्षते दानवांस्तत्र न स रक्षत्यदानवान् ॥ १२ ॥

तुम वृषपर्वाके निकट उन ब्राह्मण शुक्रको देख सकोगे, वह वहां दानवोंकी ही रक्षा करते हैं; वे देवोंकी रक्षा नहीं करते ॥ १२ ॥

तमाराधयितुं शक्तो भवान्पूर्ववयाः कविम्।
देवयानीं च दयितां सुतां तस्य महात्मनः ॥ १३ ॥
त्वमाराधयितुं शक्तो नान्यः कश्चन विद्यते।
शीलदाक्षिण्यमाधुर्यैराचारेण दमेन च।
देवयान्यां हि तुष्टायां विद्यां तां प्राप्स्यसि ध्रुवम् ॥ १४ ॥

तुम्हारी अवस्था कम है, इसलिए तुम ज्ञानी शुक्रकी आराधना कर सकोगे और तुम्हीं उन महात्माकी प्रिय कन्या देवयानीकी उपासना कर सकोगे; इस विषयमें तुम्हारे सिवाय और कोई दूसरा समर्थ नहीं है। देवयानीके तुम्हारी शीलता, दाक्षिण्य, मधुरता, आचार और दमसे सन्तुष्ट हो जाने पर तुम उस सञ्जीवनी विद्याको अवश्य प्राप्त करोगे ॥ १३–१४ ॥

तथेत्युक्त्वा ततः प्रायाद्बृहस्पतिसुतः कचः।
तदाभिपूजितो देवैः समीपं वृषपर्वणः ॥ १५ ॥

तब "अच्छा, ऐसा ही होगा" कहकर बृहस्पतिके पुत्र कच देवोंसे पूजे जानेके पश्चात् वृषपर्वाके निकट पधारे ॥ १५ ॥

स गत्वा त्वरितो राजन्देवैः सम्प्रेषितः कचः।
असुरेन्द्रपुरे शुक्रं दृष्ट्वा वाक्यमुवाच ह ॥ १६ ॥

हे राजन्! देवोंसे भेजे हुए वह कच शीघ्र जाकर असुरराज वृषपर्वाके नगरमें शुक्रको देखकरके बोले ॥ १६ ॥

ऋषेरंगिरसः पौत्रं पुत्रं साक्षाद्बृहस्पतेः।
नाम्ना कच इति ख्यातं शिष्यं गृह्णातु मां भवान् ॥ १७ ॥

मैं ऋषि अङ्गिराका पौत्र और बृहस्पतिका औरस पुत्र हूं। मैं कच नामसे प्रसिद्ध हूँ, आप मुझको शिष्यके रूपमें स्वीकार करें ॥ १७ ॥

ब्रह्मचर्यं चरिष्यामि त्वय्यहं परमं गुरौ।
अनुमन्यस्व मां ब्रह्मन्सहस्रं परिवत्सरान् ॥ १८ ॥

हे ब्रह्मन्! मैं आपको गुरु मानकर सहस्र वर्षोंतक परम ब्रह्मचर्यका पालन करूंगा, आप आज्ञा दीजिये ॥ १८ ॥

शुक्र उवाच

कच सुस्वागतं तेऽस्तु प्रतिगृह्णामि ते वचः।
अर्चयिष्येऽहमर्च्यं त्वामर्चितोऽस्तु बृहस्पतिः ॥ १९ ॥

शुक्र बोले– हे कच! तुम्हारा स्वागत है, तुम्हारी बात मान लेता हूँ, तुम मेरे आदरके पात्र, हो अतः मैं तुम्हारी पूजा करूंगा, तुम्हारे समादर करनेसे बृहस्पति भी पूजे जायें ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच

कचस्तु तं तथेत्युक्त्वा प्रतिजग्राह तद्व्रतम् ।
आदिष्टं कविपुत्रेण शुक्रेणोशनसा स्वयम् ॥ २० ॥

वैशम्पायन बोले– तब कचने "ऐसा ही हो" यह कहकर कविपुत्र उशनस शुक्रके द्वारा बताये हुए उस ब्रह्मचर्यव्रतको स्वीकार किया ॥ २० ॥

व्रतस्य व्रतकालं स यथोक्तं प्रत्यगृह्णत ।
आराधयन्नुपाध्यायं देवयानीं च भारत ॥ २१ ॥

हे भारत ! कच भी शुक्र और देवयानीकी आराधना करते हुए व्रतके समयके प्राप्त होने-पर, शुक्र जो कहते, उसे किया करता था ॥ २१ ॥

नित्यमाराधयिष्यंस्तां युवा यौवनगोऽऽसुखे ।
गायन्नृत्यन्वादयंश्च देवयानीमतोषयत् ॥ २२ ॥

तरुण कच भी शुक्र और देवयानी दोनोंकी आराधना करता हुआ युवावस्थामें आई हुई देवयानीको गाना, नाचना, बजाना आदिसे सन्तुष्ट किया करता था ॥ २२ ॥

संशीलयन्देवयानीं कन्यां संप्राप्तयौवनाम् ।
पुष्पैः फलैः प्रेषणैश्च तोषयामास भारत ॥ २३ ॥

हे भारत ! उत्तम उत्तम काम करता हुआ कच तारुण्यावस्थाको प्राप्त हुई हुई कन्या देवयानीको फूल और फल आदि दे देकर प्रसन्न किया करता था ॥ २३ ॥

देवयान्यपि तं विप्रं नियमव्रतचारिणम् ।
अनुगायमाना ललना रहः पर्यचरत्तदा ॥ २४ ॥

सुन्दरी देवयानी भी उस एकान्तमें गीत गा गाकर नियम पूर्वक व्रतका आचरण करनेवाले उन ब्राह्मण कुमारकी सेवा करने लगी ॥ २४ ॥

पञ्च वर्षशतान्येवं कचस्य चरतो व्रतम् ।
तत्रातीयुरथो बुद्ध्वा दानवास्तं ततः कचम् ॥ २५ ॥

इस प्रकार कचके व्रतानुष्ठान करते हुए, पांच सौ वर्ष बीत गये। तब एक दिन दानवोंने उस कचको जानकर उसका पीछा किया ॥ २५ ॥

×

गा रक्षन्तं वने दृष्ट्वा रहस्येकममर्षिताः।
जघ्नुर्बृहस्पतेर्द्वेषाद्विद्यारक्षार्थमेव च।
हत्वा शालावृकेभ्यश्च प्रायच्छंस्तिलशः कृतम् ॥ २६ ॥

तब एकदिन निर्जन वनमें अकेले गौकी रक्षा करनेवाले कचको देखकर सञ्जीवनी विद्याकी रक्षाके लिये और बृहस्पतिसे द्वेष करनेके कारण क्रुद्ध हुए हुए दानवोंने उसे मार डाला; और उसके टुकडे टुकडे करके भेडियोंके आगे डाल दिया ॥ २६ ॥

ततो गावो निवृत्तास्ता अगोपाः स्वं निवेशनम्।
ता दृष्ट्वा रहिता गास्तु कचेनाभ्यागता वनात्।
उवाच वचनं काले देवयान्यथ भारत ॥ २७ ॥

हे भारत! इसके बाद गायें रखवालेके विना ही अपने घर लौट आईं, कचके बिना ही वनसे लौटकर आई हुई गायोंको देखकर देवयानी ठीक समयपर पितासे यह वचन बोली ॥ २७ ॥

अहुतं चाग्निहोत्रं ते सूर्यश्चास्तं गतः प्रभो।
अगोपाश्चागता गावः कचस्तात न दृश्यते ॥ २८ ॥

हे प्रभो पिता! सूर्यदेव अस्ताचलको चले गए हैं, आपका अग्निहोत्र भी जल गया है और गायें रखवालेसे रहित होकर लौट आई हैं, पर कच नहीं दीख पडता ॥ २८ ॥

व्यक्तं हतो मृतो वापि कचस्तात भविष्यति।
तं विना न च जीवेयं कचं सत्यं ब्रवीमि ते ॥ २९ ॥

हे पिता! मुझको निश्चय जान पडता है, कि या तो कच मर गया है या मारा गया है, सच कहती हूं, कि विना कचके मैं जी नहीं सकूंगी ॥ २९ ॥

शुक्र उवाच

अयमेहीति शब्देन मृतं संजीवयाम्यहम् ॥ ३० ॥

शुक्र बोले– "हे कच! चले आओ, तुम मरे हो, मैं तुमको जिलाता हूं ॥ ३० ॥

वैशंपायन उवाच

ततः संजीवनीं विद्यां प्रयुज्य कचमाह्वयत्।
आहूतः प्रादुरभवत्कचोऽरिष्टोऽथ विद्यया।
हतोऽहमिति चाचख्यौ पृष्टो ब्राह्मणकन्यया ॥ ३१ ॥

वैशम्पायन बोले– यह कहकर मृत-सञ्जीवनी विद्या पढकर कचको बुलाया। कच बुलाये जाते ही विद्याके कारण स्वस्थ होकर प्रकट हो गए और ब्राह्मण कन्या देवयानी द्वारा पूछे जानेपर बोले कि मैं मार दिया गया था ॥ ३१ ॥

स पुनर्देवयान्योक्तः पुष्पाहारो यदृच्छया ।
वनं ययौ ततो विप्रो ददृशुर्दानवाश्च तम् ॥ ३२ ॥

अनन्तर ब्राह्मण कच फिर देवयानीकी आज्ञासे फूल चुननेके लिये अपनी इच्छानुसार वनमें गये और दानवोंने फिर उनको देख लिया ॥ ३२ ॥

ततो द्वितीयं हत्वा तं दग्ध्वा कृत्वा च चूर्णशः ।
प्रायच्छन्ब्राह्मणायैव सुरायामसुरास्तदा ॥ ३३ ॥

इसके बाद असुरोंने दूसरी बार कचको मारकर जलाकर और चूर्ण कर मदिरामें मिला-करके उन ब्राह्मण शुक्रहीको पिला दिया ॥ ३३ ॥

देवयान्यथ भूयोऽपि वाक्यं पितरमब्रवीत् ।
पुष्पाहारः प्रेषणकृत्कचस्तात न दृश्यते ॥ ३४ ॥

तब देवयानीने फिर पितासे यह वाक्य कहा, कि पिता ! मैंने कचको फूल चुननेके लिये भेजा था, अब भी उसे आते नहीं देखती हूं ॥ ३४ ॥

शुक्र उवाच

बृहस्पतेः सुतः पुत्रि कचः प्रेतगतिं गतः ।
विद्यया जीवितोऽप्येवं हन्यते करवाणि किम् ॥ ३५ ॥

शुक्र बोले– बेटी ! बृहस्पतिका पुत्र कच मर गया है; मैं क्या करूं ? विद्याके बलसे बार बार उसको जिलानेपर भी असुरलोग उसको मार डालते हैं ॥ ३५ ॥

मैवं शुचो मा रुद देवयानि न त्वादृशी मर्त्यमनुप्रशोचेत् ।
सुराश्च विश्वे च जगच्च सर्वमुपस्थितां वैकृतिमानमन्ति ॥ ३६ ॥

देवयानि ! तुम शोक न करो, मत रोओ, तुम्हारे समान प्रभावशीला नारी किसी नश्वर जनके लिये कभी शोक प्रकट नहीं करती, क्योंकि सभी देव और सारा जगत् उपस्थित विकृतिको प्राप्त होते ही हैं ॥ ३६ ॥

देवयान्युवाच

यस्याङ्गिरा वृद्धतमः पितामहो बृहस्पतिश्चापि पिता तपोधनः ।
ऋषेः पुत्रं तमथो वापि पौत्रं कथं न शोचेयमहं न रुद्याम् ॥ ३७ ॥

देवयानी बोली– अत्यंत बूढे अङ्गिरा जिनके पितामह और तपोधन बृहस्पति जिनके पिता हैं, ऐसे ऋषिके पौत्र और ऋषिके पुत्र उन कचके लिये क्यों नहीं शोक करूं ? अथवा क्यों न रोऊं ॥ ३७ ॥

स ब्रह्मचारी च तपोधनश्च सदोत्थितः कर्मसु चैव दक्षः।
कचस्य मार्गं प्रतिपत्स्ये न भोक्ष्ये प्रियो हि मे तात कचोऽभिरूपः॥ ३८॥

अहा ! वह ब्रह्मचारी तपोधन था, वह कर्ममें सदा उत्साही और दक्ष था; पिता ! मैं फिर भोजन न करके उस कचका मार्ग ही अपनाऊंगी अर्थात् अनशन करके प्राण त्याग दूंगी। क्योंकि, हे तात ! उनका स्वरूप मुझे बडा प्रिय लगता है ॥ ३८॥

शुक्र उवाच

असंशयं मामसुरा द्विषन्ति ये मे शिष्यं नागसं सूदयन्ति।
अब्राह्मणं कर्तुमिच्छन्ति रौद्रास्ते मां यथा प्रस्तुतं दानवैर्हि।
अप्यस्य पापस्य भवेदिहान्तः कं ब्रह्महत्या न दहेदपीन्द्रम् ॥ ३९॥

शुक्र बोले– असुरलोग निश्चित ही मुझसे द्वेष किया करते हैं, जो मेरे निरपराधी शिष्यको वे मार डालते हैं, कुटिलात्मा असुरलोग मुझको ही ब्रह्महत्याके पापसे पापी बनाते हैं और सदा मेरा विरुद्धाचरण करते हैं; ब्रह्महत्या किसको नहीं जला देती है ? वह तो इन्द्रको भी भस्म कर सकती है, क्या यह पाप कभी नष्ट होता है ? ॥ ३९॥

वैशंपायन उवाच

संचोदितो देवयान्या महर्षिः पुनराह्वयत्।
संरम्भेणैव काव्यो हि बृहस्पतिसुतं कचम् ॥ ४०॥

वैशम्पायन बोले– देवयानीसे प्रेरित किए जानेपर कविके पुत्र महर्षि शुक्रने असुरोंपर क्रोध करते हुए बृहस्पतिके पुत्र कचको बुलाया ॥ ४०॥

गुरोर्भीतो विद्यया चोपहूतः शनैर्वाचं जठरे व्याजहार।
तमब्रवीत्केन पथोपनीतो ममोदरे तिष्ठसि ब्रूहि विप्र ॥ ४१॥

तब उनके सञ्जीवनी विद्यासे कचको बुलानेपर कचने गुरुके पेटमें रहकर गुरुहत्याके भयसे धीरे धीरे उत्तर दिया। उसपर शुक्र बोले– हे विप्र ! यह कहो, कि तुम कौन पथसे मेरे पेटमें जा घुसे हो ॥ ४१॥

कच उवाच

भवत्प्रसादान्न जहाति मां स्मृतिः स्मरे च सर्वं यच्च यथा च वृत्तम्।
न त्वेवं स्यात्तपसो व्ययो मे ततः क्लेशं घोरमिमं सहामि ॥ ४२॥

कच बोले– हे गुरो ! आपकी कृपासे मेरी स्मरणशक्ति लुप्त नहीं हुई है, जो जो जिस जिस प्रकारसे हुआ, वह सब मुझे स्मरण है; इसलिये, कि कहीं गुरुके पेटको फाडनेके कारण तप घट न जाय, इसलिए पेटमें बसनेके इस अपार कष्टको सह रहा हूं ॥ ४२॥

असुरैः सुरायां भवतोऽस्मि दत्तो हत्वा दग्ध्वा चूर्णयित्वा च काव्य ।
ब्राह्मीं मायामासुरी चैव माया त्वयि स्थिते कथमेवातिवर्तेत् ॥ ४३ ॥

हे काव्य ! असुरोंने मुझको मारकर, जलाकर और चूर्ण करके मदिरामें घोलकर आपको दे दिया था, पर, हे विप्र ! आपके रहते हुए असुरोंकी यह माया ब्राह्मणिक मायासे कैसे बढ सकेगी ? ॥ ४३ ॥

शुक्र उवाच

किं ते प्रियं करवाण्यद्य वत्से वधेन मे जीवितं स्यात्कचस्य ।
नान्यत्र कुक्षेर्मम भेदनेन दृश्येत्कचो मद्गतो देवयानि ॥ ४४ ॥

तब शुक्रने देवयानीसे कहा– वत्से देवयानि ! इस समय तुम्हारा क्या प्रियानुष्ठान करूं ? मेरे नाश होनेसे कच जी सकता है, क्योंकि कच मेरे पेटके भीतर है; मेरा पेट विना फाडे किसी दूसरे उपायसे वह बाहर नहीं निकल सकेगा ॥ ४४ ॥

देवयान्युवाच

द्वौ मां शोकावग्निकल्पौ दहेतां कचस्य नाशस्तव चैवोपघातः ।
कचस्य नाशे मम नास्ति शर्म तवोपघाते जीवितुं नास्मि शक्ता ॥ ४५ ॥

देवयानी बोली– कचका नाश और आपकी मृत्यु यह दोनों ही शोक अग्निवत् मुझको जलाने लगेंगे; कचके नाश होनेसे मुझे सुख नहीं है और आपके मर जाने पर मैं जी नहीं सकूंगी ॥ ४५ ॥

शुक्र उवाच

संसिद्धरूपोऽसि बृहस्पतेः सुत यत्त्वां भक्तं भजते देवयानी ।
विद्यामिमां प्राप्नुहि जीवनीं त्वं न चेदिन्द्रः कचरूपी त्वमद्य ॥ ४६ ॥

तब शुक्रने कचसे कहा– हे बृहस्पतिपुत्र कच ! तुम बृहस्पतिके पुत्रके रूपमें प्रख्यात हो और देवयानी भी तुमसे प्रेम करती है, ऐसी दशामें यदि तुम कचके स्वरूपमें इन्द्र न हो, तो आज ही यह सञ्जीवनी विद्या तुम प्राप्त करो ॥ ४६ ॥

न निवर्तेत्पुनर्जीवन्कश्चिदन्यो ममोदरात् ।
ब्राह्मणं वर्जयित्वैकं तस्माद्विद्यामवाप्नुहि ॥ ४७ ॥

केवल ब्राह्मणको छोडकर दूसरा कोई भी मेरे पेटमें जाकर फिर जीवित होकर नहीं निकल सकता (इससे स्पष्ट होता है कि तुम ब्राह्मण कच ही हो इन्द्र नहीं) इसलिए तुम यह विद्या लो, मैं तुमको जीवन देता हूं ॥ ४७ ॥

पुत्रो भूत्वा भावय भावितो मामस्माद्देहादुपनिष्क्रम्य तात।
समीक्षेथा धर्मवतीमवेक्षां गुरोः सकाशात्प्राप्य विद्यां सविद्यः ॥ ४८ ॥

हे तात! तुम जीवित होकर तथा मेरी देहसे निकल कर और पुत्ररूपी होकर मुझको जिलाओ, गुरुसे विद्या लाभ करके विद्यावान् होकर धर्मपथ पर दृष्टि रखना, अकृतज्ञ न होना! ॥ ४८ ॥

वैशम्पायन उवाच

गुरोः सकाशात्समवाप्य विद्यां भित्त्वा कुक्षिं निर्विचक्राम विप्रः।
कचोऽभिरूपो दक्षिणं ब्राह्मणस्य शुक्लात्यये पौर्णमास्यामिवेन्दुः ॥ ४९ ॥

वैशम्पायन बोले— ब्राह्मण कच गुरुसे सञ्जीवनी विद्या प्राप्त कर, जिस प्रकार शुक्लपक्षके अन्तिम दिन पौर्णमासीके दिन पूर्ण चन्द्रमा प्रकट होता है, वैसे ही ब्राह्मण शुक्रकी दायीं कोखको फाडकर उसी क्षण साक्षात् निकल आया ॥ ४९ ॥

दृष्ट्वा च तं पतितं ब्रह्मराशिमुत्थापयामास मृतं कचोऽपि।
विद्यां सिद्धां तामवाप्याभिवाद्य ततः कचस्तं गुरुमित्युवाच ॥ ५० ॥
ऋतस्य दातारमनुत्तमस्य निधिं निधीनां चतुरन्वयानाम्।
ये नाद्रियन्ते गुरुमर्चनीयं पापाँल्लोकांस्ते व्रजन्त्यप्रतिष्ठान् ॥ ५१ ॥

बाहर निकल कर कचने भी ज्ञानके भण्डार शुक्रको मरकर गिरा हुआ देखकर सञ्जीवनी विद्यासे जिलाया और सिद्ध हुई हुई विद्याको प्राप्त करके कच गुरु शुक्रको प्रणाम करके बोला— जो लोग विद्या प्राप्त करके श्रेष्ठतम सत्यका उपदेश देनेवाले और निधिकी निधि तथा चारों वेदोंका ज्ञान देनेवाले पूजनीय गुरुका समादर नहीं करते हैं, वे इस लोकमें अप्रतिष्ठा प्राप्त कर अन्तमें पापयुक्त लोगोंको प्राप्त करते हैं ॥ ५०–५१ ॥

वैशम्पायन उवाच

सुरापानाद्वञ्चनां प्रापयित्वा संज्ञानाशं चैव तथातिघोरम्।
दृष्ट्वा कचं चापि तथाभिरूपं पीतं तदा सुरया मोहितेन ॥ ५२ ॥
समन्युरुत्थाय महानुभावस्तदोशना विप्रहितं चिकीर्षुः।
काव्यः स्वयं वाक्यमिदं जगाद सुरापानं प्रति वै जातशङ्कः ॥ ५३ ॥

वैशम्पायन बोले— शराब पीनेके कारण शुक्राचार्य ठगे गए, उनकी बुद्धिका पूरी तरह नाश हो गया और उस सुराके कारण उन्मत्त होकर वे सुन्दर कचको भी पी गए, यह देखकर महा प्रभावशाली शुक्राचार्य क्रोधित होकर उठे और ब्राह्मणोंका हित करनेकी इच्छासे सुरापानके बारेमें सशंकित होकर शुक्र स्वयं यह वाक्य बोले ॥ ५२-५३ ॥

यो ब्राह्मणोऽद्य प्रभृतीह कश्चिन्मोहात्सुरां पास्यति मन्दबुद्धिः ।
अपेतधर्मो ब्रह्महा चैव स स्यादस्मिँल्लोके गर्हितः स्यात्परे च ॥ ५४ ॥

आजसे जो ब्राह्मण मोहवश मदिरा पान करेगा, वह मन्दबुद्धि ब्राह्मण धर्मसे च्युत और ब्रह्महत्याके पापमें लिप्त होकर इसलोक और परलोकमें निन्दनीय होगा ॥ ५४ ॥

मया चेमां विप्रधर्मोक्तिसीमां मर्यादां वै स्थापितां सर्वलोके ।
सन्तो विप्राः शुश्रुवांसो गुरूणां देवा लोकाश्चोपशृण्वन्तु सर्वे ॥ ५५ ॥

मैंने ब्राह्मणोंके धर्मके विषयमें यह सीमा और मर्यादा जगत्में स्थापित कर दी है, इसको साधु लोग, ब्राह्मण लोग, देवलोग और गुरुकी सेवा करनेवाले सब कोई सुनें ॥ ५५ ॥

इतीदमुक्त्वा स महानुभावस्तपोनिधीनां निधिरप्रमेयः ।
तान्दानवान्दैवविमूढबुद्धीनिदं समाहूय वचोऽभ्युवाच ॥ ५६ ॥

यह कहकर अप्रमेय, तपोनिधियोंकी निधि और महानुभाव शुक्र दैवसे मूढबुद्धि हुए हुए उन दानवोंको बुलवाकर यह बात बोले ॥ ५६ ॥

आचक्षे वो दानवा बालिशाः स्थ सिद्धः कचो वत्स्यति मत्सकाशे ।
संजीवनीं प्राप्य विद्यां महार्थां तुल्यप्रभावो ब्रह्मणा ब्रह्मभूतः ॥ ५७ ॥

हे दानवो ! सुनो, तुमसे कहता हूं, तुमने अति मूर्खके समान कार्य किया है । यह ब्राह्मण कच इस क्षण महान् अर्थवाली सञ्जीवनी विद्या पाकर सिद्ध होकर मेरे पास रहेंगे और ये ब्रह्मके कारण ज्ञानी हुए हुए कच मेरे तुल्य प्रभावी होंगे ॥ ५७ ॥

गुरोरुष्य सकाशे तु दश वर्षशतानि सः ।
अनुज्ञातः कचो गन्तुमियेष त्रिदशालयम् ॥ ५८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥ २७२० ॥

इसके बाद कचने गुरुके यहां सहस्रवर्ष रहकर गुरुकी आज्ञा लेकर स्वर्गधाममें जानेकी इच्छा की ॥ ५८ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें इकहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७१ ॥ २७२० ॥

: ७२ :

वैशम्पायन उवाच

समावृत्तव्रतं तं तु विसृष्टं गुरुणा तदा ।
प्रस्थितं त्रिदशावासं देवयान्यब्रवीदिदम् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– कचका गुरुकुलमें वसनेका ब्रह्मचर्य व्रत समाप्त होनेपर वह गुरुके आज्ञा देनेपर स्वर्गको जानेवाले कचसे देवयानी बोली ॥ १ ॥

ऋषेरङ्गिरसः पौत्र वृत्तेनाभिजनेन च ।
भ्राजसे विद्यया चैव तपसा च दमेन च ॥ २ ॥

हे ऋषि अङ्गिराके पौत्र ! तुम चरित्र, कुल, विद्या, दम और तपसे तेजस्वी हो रहे हो ॥ २ ॥

ऋषिर्यथाङ्गिरा मान्यः पितुर्मम महायशाः ।
तथा मान्यश्च पूज्यश्च भूयो मम बृहस्पतिः ॥ ३ ॥

महायशस्वी महर्षि अङ्गिरा जिस प्रकार मेरे पिताके लिए माननीय हैं, वैसे ही बृहस्पति भी मेरे लिए माननीय और पूजनीय हैं ॥ ३ ॥

एवं ज्ञात्वा विजानीहि यद्ब्रवीमि तपोधन ।
व्रतस्थे नियमोपेते तथा वर्ताम्यहं त्वयि ॥ ४ ॥

यह समझ कर जो कुछ कहती हूं, हे तपोधन ! तुम सुनो, तुम जब व्रताचारी और नियमान्वित थे, तबसे मैंने तुमसे (प्रेमके कारण) वैसा व्यवहार किया ॥ ४ ॥

स समावृत्तविद्यो मां भक्तां भजितुमर्हसि ।
गृहाण पाणिं विधिवन्मम मन्त्रपुरस्कृतम् ॥ ५ ॥

इस समय तुम ब्रह्मचर्यसे निवृत्त होकर विवाहके योग्य हो गए हो, अतः अब तुम्हारी सेवा करनेवाली मुझे स्वीकार करो और विधिपूर्वक मन्त्र पढकर मेरा हाथ पकड लो ॥ ५ ॥

कच उवाच

पूज्यो मान्यश्च भगवान्यथा तव पिता मम ।
तथा त्वमनवद्याङ्गि पूजनीयतरा मम ॥ ६ ॥

कच बोले– हे अनिन्दिताङ्गी ! तुम्हारे पिता भगवान् शुक्र जिस प्रकार मेरे लिए पूजनीय और माननीय हैं, वैसे ही तुम भी मेरी उनसे भी अधिक पूजनीया हो ॥ ६ ॥

आत्मप्राणैः प्रियतमा भार्गवस्य महात्मनः ।
त्वं भद्रे धर्मतः पूज्या गुरुपुत्री सदा मम ॥ ७ ॥

हे भद्रे ! तुम मेरे गुरु महात्मा भार्गवके प्राणसे भी प्यारी कन्या हो, अतः तुम मेरी गुरुकी पुत्री होनेसे धर्मानुसार सदा पूज्यतमा हो ॥ ७ ॥

यथा मम गुरुर्नित्यं मान्यः शुक्रः पिता तव ।
देवयानि तथैव त्वं नैवं मां वक्तुमर्हसि　　॥ ८ ॥

हे देवयानि ! तुम्हारे पिता शुक्र मेरे गुरु हैं, वह जिस प्रकार मेरे लिए सदा माननीय हैं, तुम भी वैसेही मेरी माननीया हो; इस दशामें तुम्हें मुझसे ऐसा कहना नहीं चाहिये ॥८॥

देवयान्युवाच

गुरुपुत्रस्य पुत्रो वै न तु त्वमसि मे पितुः ।
तस्मान्मान्यश्च पूज्यश्च ममापि त्वं द्विजोत्तम　　॥ ९ ॥

देवयानी बोली– हे द्विजोत्तम ! अंगिराऋषिके पुत्र जो बृहस्पति हैं उनके तुम पुत्र हो, मेरे पिताके पुत्र नहीं हो, इसलिए, हे द्विजश्रेष्ठ ! तुम मेरे पूजनीय और माननीय हो ॥९॥

असुरैर्हन्यमाने च कच त्वयि पुनः पुनः ।
तदा प्रभृति या प्रीतिस्तां त्वमेव स्मरस्व मे　　॥ १० ॥

हे कच ! जब असुरों द्वारा तुम बार बार मारे जाते थे तबसे तुमपर मेरी जितनी प्रीति है उसे तुम याद करो ॥ १० ॥

सौहार्दे चानुरागे च वेत्थ मे भक्तिमुत्तमाम् ।
न मामर्हसि धर्मज्ञ त्यक्तुं भक्तामनागसम्　　॥ ११ ॥

मित्रता तथा प्रेमसे तुमपर मेरी कितनी भक्ति है उसे तुम अवश्यही जानो, हे धर्मज्ञ ! मैं तेरी भक्ति करनेवाली और निर्दोषी हूं, अतः मुझको त्यागना तुमको उचित नहीं ॥११॥

कच उवाच

अनियोज्ये नियोगे मां नियुनक्षि शुभव्रते ।
प्रसीद सुभ्रु त्वं मह्यं गुरोर्गुरुतरी शुभे　　॥ १२ ॥

कच बोले– हे शुभव्रते ! न करने योग्य कार्यमें तुम मुझको नियुक्त कर रही हो, यह उचित नहीं है । हे अच्छे भौंहवाली सुन्दरी ! हे शुभे ! मुझपर प्रसन्न होओ, तुम मेरी दृष्टिमें गुरुसे भी अधिक श्रेष्ठ हो ॥ १२ ॥

यत्रोषितं विशालाक्षि त्वया चन्द्रनिभानने ।
तत्राहमुषितो भद्रे कुक्षौ काव्यस्य भामिनि　　॥ १३ ॥

हे भद्रे ! हे विशाल आंखोंवाली ! चन्द्रमुखि, भामिनी सुन्दरी ! तुमने कविपुत्र शुक्रके जिस कोखमें वास किया था, मैं भी उसी कोखमें रह चुका हूं ॥ १३ ॥

×

भगिनी धर्मतो मे त्वं मैवं वोचः शुभानने ।
सुखमस्म्युषितो भद्रे न मन्युर्विद्यते मम ॥ १४ ॥

इससे धर्मानुसार तुम मेरी बहिन हो चुकी हो, अतः, हे सुन्दर मुखवाली! तुम ऐसा न कहो, हे भद्रे! तुम्हारे यहां मैं परम सुखसे था, (क्योंकि मैंने तुमसे विवाह करना स्वीकार नहीं किया है, इसलिए अतः मुझपर क्रोध न करो) ॥ १४ ॥

आपृच्छे त्वां गमिष्यामि शिवमाशंस मे पथि ।
अविरोधेन धर्मस्य स्मर्तव्योऽस्मि कथान्तरे ।
अप्रमत्तोत्थिता नित्यमाराधय गुरुं मम ॥ १५ ॥

अब जाऊंगा, तुमसे विदा मांगता हूं, यह शुभ कामना करो कि मार्गमें मेरा मंगल होवे। (मेरा प्रसंग यदि कभी आये तो) धर्मसे विरुद्ध न जानेवाली कथाके अवसरमें मेरा स्मरण किया करना और सावधान तथा उत्साहशील होकर मेरे गुरुकी नित्य पूजा किया करना ॥ १५ ॥

देवयान्युवाच

यदि मां धर्मकामार्थे प्रत्याख्यास्यसि चोदितः ।
ततः कच न ते विद्या सिद्धिमेषा गमिष्यति ॥ १६ ॥

देवयानी बोली– धर्म और कामके बारेमें मेरे द्वारा (प्रणय) भिक्षा मांगने पर भी तुम (भिक्षा देनेसे) इन्कार करते हो, इसलिए, हे कच! यह संजीवनी विद्या तुम्हें सिद्ध अर्थात् फलदायक नहीं होगी ॥ १६ ॥

कच उवाच

गुरुपुत्रीति कृत्वाहं प्रत्याचक्षे न दोषतः ।
गुरुणा चाभ्यनुज्ञातः काममेवं शपस्व माम् ॥ १७ ॥

कच बोले– मैं तुमको गुरुपुत्री समझ कर ही नहीं स्वीकार कर रहा, कोई अन्य दोष समझ करके ही ऐसा नहीं कर रहा, इसके अलावा इस विषयमें गुरुने मुझे आज्ञा नहीं दी है, इसलिए तुम जो चाहती हो शाप दो ॥ १७ ॥

आर्षं धर्मं ब्रुवाणोऽहं देवयानि यथा त्वया ।
शप्तो नार्होऽस्मि शापस्य कामतोऽद्य न धर्मतः ॥ १८ ॥

हे देवयानि! ऋषियोंका जैसा धर्म है, उसके अनुसार मेरे व्यवहार करनेसे धर्मानुसार मैं शापके योग्य नहीं हूं, उस पर भी तुम कामके वश होकर यह शाप दे रही हो, धर्मपूर्वक नहीं ॥ १८ ॥

तस्माद्भवत्या यः कामो न तथा स भविष्यति ।
ऋषिपुत्रो न ते कश्चिज्जातु पाणिं ग्रहीष्यति　　　　॥ १९ ॥

पर तुमने कामके वश होकर मुझको शाप दिया, इसलिए तुम्हारी कामना पूरी नहीं होगी- कोई ऋषिपुत्र तुमसे विवाह नहीं करेगा ॥ १९ ॥

फलिष्यति न ते विद्या यत्त्वं मामात्थ तत्तथा ।
अध्यापयिष्यामि तु यं तस्य विद्या फलिष्यति　　　　॥ २० ॥

और तुमने जो शाप दिया, कि तुम्हारी वह विद्या सफल नहीं होगी, वह सत्यही होगा, पर मैं जिसको वह विद्या पढाऊंगा, उसकी वह विद्या अवश्य सफल होगी ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा द्विजश्रेष्ठो देवयानीं कचस्तदा ।
त्रिदशेशालयं शीघ्रं जगाम द्विजसत्तमः　　　　॥ २१ ॥

वैशम्पायन बोले– द्विजोंमें श्रेष्ठ और उत्तम कच देवयानीसे ऐसा कहकर वेगसे स्वर्गके राजा इन्द्रके घर गये ॥ २१ ॥

तमागतमभिप्रेक्ष्य देवा इन्द्रपुरोगमाः ।
बृहस्पतिं सभाज्येदं कचमाहुर्मुदान्विताः　　　　॥ २२ ॥

सदा इन्द्रको आगे रखनेवाले देवता उनको आते देखकर बृहस्पतिकी ओर प्रीतिसे देखके कचसे प्रसन्न होकर बोले, ॥ २२ ॥

यत्त्वमस्मद्धितं कर्म चकर्थ परमाद्भुतम् ।
न ते यशः प्रणशिता भागभाङ् नो भविष्यसि　　　　॥ २३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥ २७४३ ॥

क्योंकि तुमने अत्यन्त आश्चर्यकारक और हमारे लिए हितकारी कार्य किया है, इससे तुम्हारा यश सदा स्थायी होगा और तुम हमारे यज्ञके अंशके भागी होगे ॥ २३ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें बहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७२ ॥ २७४३ ॥

: ७३ :

वैशम्पायन उवाच

कृतविद्ये कचे प्राप्ते हृष्टरूपा दिवौकसः ।
कचादधीत्य तां विद्यां कृतार्था भरतर्षभ ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे भरतश्रेष्ठ ! संजीवनी विद्या प्राप्त करके लौटकर आए हुए कचको देखकर आनन्दित हुए हुए देव परमसन्तुष्ट चित्तसे उनसे वह विद्या पढकर कृतार्थ हुए ॥१॥

सर्व एव समागम्य शतक्रतुमथाब्रुवन् ।
कालस्ते विक्रमस्याद्य जहि शत्रून्पुरन्दर ॥ २ ॥

इसके बाद सब देवता देवराजके निकट आकर बोले, कि हे पुरन्दर ! आपके विक्रम प्रगट करनेका यही समय है, इसी क्षण शत्रुकुलको नष्ट कीजिये ॥ २ ॥

एवमुक्तस्तु सहितैस्त्रिदशैर्मघवांस्तदा ।
तथेत्युक्त्वोपचक्राम सोऽपश्यत वने स्त्रियः ॥ ३ ॥

सम्पूर्ण देवोंके मिलकर ऐसा कहनेपर इन्द्र 'तथास्तु' कहके शत्रुओंको नष्ट करनेके निमित्त चले और उन्होंने वनमें स्त्रियोंको देखा ॥ ३ ॥

क्रीडन्तीनां तु कन्यानां वने चैत्ररथोपमे ।
वायुभूतः स वस्त्राणि सर्वाण्येव व्यमिश्रयत् ॥ ४ ॥

चैत्ररथके समान सुन्दर एक वनमें खेलती हुई कन्याओंके सभी कपडोंको उन इन्द्रने वायुका स्वरूप लेकर एक दूसरेसे मिला दिया ॥ ४ ॥

ततो जलात्समुत्तीर्य कन्यास्ताः सहितास्तदा ।
वस्त्राणि जगृहुस्तानि यथासन्नान्यनेकशः ॥ ५ ॥

इसके बाद सब कन्यायें एकही साथ जलसे निकलीं और जिसको जो वस्त्र मिला, वही उसने पहिन लिया ॥ ५ ॥

तत्र वासो देवयान्याः शर्मिष्ठा जगृहे तदा ।
व्यतिमिश्रमजानन्ती दुहिता वृषपर्वणः ॥ ६ ॥

तब राजा वृषपर्वाकी कन्या शर्मिष्ठाने वस्त्रोंकी मिलावट न जानकर देवयानीका वस्त्र ले लिया ॥ ६ ॥

ततस्तयोर्मिथस्तत्र विरोधः समजायत ।
देवयान्याश्च राजेन्द्र शर्मिष्ठायाश्च तत्कृते ॥ ७ ॥

हे राजेन्द्र ! तब उसके कारण वहां शर्मिष्ठा और देवयानी दोनोंका आपसमें झगडा खडा हो गया ॥ ७ ॥

देवयान्युवाच

कस्माद् गृह्णासि मे वस्त्रं शिष्या भूत्वा ममासुरि ।
समुदाचारहीनाया न ते श्रेयो भविष्यति ॥ ८ ॥

देवयानी बोली– असुरपुत्री ! तू शिष्या होकर मेरा वस्त्र क्यों ले रही है ? शिष्टाचारसे रहित तेरा कभी भी मङ्गल नहीं होगा ॥ ८ ॥

शर्मिष्ठोवाच

आसीनं च शयानं च पिता ते पितरं मम ।
स्तौति वन्दति चाभीक्ष्णं नीचैः स्थित्वा विनीतवत् ॥ ९ ॥

शर्मिष्ठा बोली– मेरे पिता जब बैठे वा सोये रहते हैं, तेरे पिता तब नीचे खडे होकर नम्र-भावसे भाटकी भांति सदा उनकी स्तुति किया करते हैं ॥ ९ ॥

याचतस्त्वं हि दुहिता स्तुवतः प्रतिगृह्णतः ।
सुताहं स्तूयमानस्य ददतोऽप्रतिगृह्णतः ॥ १० ॥

तू मांगनेवाले, स्तुति करनेवाले और दान लेनेवालेकी लडकी है और मैं स्तुत होनेवाले, देनेवाले और कभी दान न लेनेवालेकी लडकी हूँ ॥ १० ॥

अनायुधा सायुधाया रिक्ता क्षुभ्यसि भिक्षुकि ।
लप्स्यसे प्रतियोद्धारं न हि त्वां गणयाम्यहम् ॥ ११ ॥

हे भीख मांगनेवाली ! (यह ध्यान रख) तू अस्त्रसे रहित है और मेरे पास अस्त्र हैं । इसलिए तू बेकार ही नाराज हो रही है । तू चाहे क्रोध कर, क्षुब्ध हो, तू अपने समान ही प्रतियोद्धाको प्राप्त करेगी, मैं तो तुझे कुछ गिनती ही नहीं हूं ॥ ११ ॥

वैशम्पायन उवाच

समुच्छ्रयं देवयानीं गतां सक्तां च वाससि ।
शर्मिष्ठा प्राक्षिपत्कूपे ततः स्वपुरमाव्रजत् ॥ १२ ॥

वैशम्पायन बोले– शर्मिष्ठाने वस्त्रके लिये देवयानीकी बडी आसक्ति देखकर उसको कूपमें डाल दिया और अपने नगरको चली गई ॥ १२ ॥

हतेयमिति विज्ञाय शर्मिष्ठा पापनिश्चया ।
अनवेक्ष्य ययौ वेश्म क्रोधवेगपरायणा ॥ १३ ॥

पापचित्तवाली शर्मिष्ठा यह समझकर, कि देवयानी मर गयी है; उसे न देख करके ही क्रोधसे अपने घर चली गयी ॥ १३ ॥

अथ तं देशमभ्यागाद्ययातिर्नहुषात्मजः ।
श्रान्तयुग्यः श्रान्तहयो मृगलिप्सुः पिपासितः ॥ १४ ॥

उसके बाद थके वाहन और घोडोंवाला हिरणका अभिलाषी प्यासा नहुषपुत्र ययाति मृगयाके लिये उस वनमें आया ॥ १४ ॥

स नाहुषः प्रेक्षमाण उदपानं गतोदकम् ।
ददर्श कन्यां तां तत्र दीप्तामग्निशिखामिव ॥ १५ ॥

उस ययातिने जलकी खोज करते हुए एक सूखा कूंआ पाया और उसमें अग्निकी शिखा समान तेजयुक्त एक कन्याको देखा ॥ १५ ॥

तामपृच्छत्स दृष्ट्वैव कन्याममरवर्णिनीम् ।
सान्त्वयित्वा नृपश्रेष्ठः साम्ना परमवल्गुना ॥ १६ ॥

नृपोत्तम ययातिने उस दिव्यदेह धारण करनेवाली कन्याको देखकरके ही मन हरनेवाली मीठी बोलीसे समझाकर उससे पूछा ॥ १६ ॥

का त्वं ताम्रनखी श्यामा सुमृष्टमणिकुण्डला ।
दीर्घं ध्यायसि चात्यर्थं कस्माच्छ्वसिषि चातुरा ॥ १७ ॥

तांबेके रङ्गकी नखवाली सुन्दर, मली हुई मणिके कुण्डलवाली युवती नारी ! तुम कौन हो ? क्यों ऐसी चिन्ता कर रही हो ? क्यों कातर होकर शोक प्रकाश कर रही हो ? ॥१७॥

कथं च पतितास्यस्मिन्कूपे वीरुत्तृणावृते ।
दुहिता चैव कस्य त्वं वद सत्यं सुमध्यमे ॥ १८ ॥

और इस घासपातसे ढंपे हुए कूपमें कैसे गिर गयी ? तुम किसकी बेटी हो ? हे सुन्दरी ! यह सब सच बोलो ॥ १८ ॥

देवयान्युवाच

योऽसौ देवैर्हतान्दैत्यानुत्थापयति विद्यया ।
तस्य शुक्रस्य कन्याहं स मां नूनं न बुध्यते ॥ १९ ॥

देवयानी बोली— देवोंसे दैत्योंके मारे जानेपर उन मरे दैत्योंको जो विद्याके बलसे जिलाते हैं, मैं उन शुक्रकी कन्या हूं, वह मेरी यह दशा जान नहीं सके हैं ॥ १९ ॥

एष मे दक्षिणो राजन्पाणिस्ताम्रनखाङ्गुलिः ।
समुद्धर गृहीत्वा मां कुलीनस्त्वं हि मे मतः ॥ २० ॥

हे राजन् ! इस तांबेके रंगवाले नखवाली उंगली युक्त दाहिने हाथको पकडकर मुझे निकालिये, क्योंकि आप सुवंशी हैं ऐसा मेरा विचार है ॥ २० ॥

जानामि हि त्वां संशान्तं वीर्यवन्तं यशस्विनम् ।
तस्मान्मां पतितामस्मात्कूपादुद्धर्तुमर्हसि ॥ २१ ॥

और निश्चय जानती हूं, कि आप बडे धीर, वीर्य और यशवाले हैं, इससे कुंएमें गिरी हुई मुझे आप इस कूपसे निकाल सकते हैं ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

तामथ ब्राह्मणीं स्त्रीं च विज्ञाय नहुषात्मजः ।
गृहीत्वा दक्षिणे पाणावुज्जहार ततोऽवटात् ॥ २२ ॥

वैशम्पायन बोले– नहुषपुत्र राजा ययातिने उसको ब्राह्मणकी कन्या जानकर उसका दाहिना हाथ पकडकर उसे कूपसे निकाला ॥ २२ ॥

उद्धृत्य चैनां तरसा तस्मात्कूपान्नराधिपः ।
आमन्त्रयित्वा सुश्रोणीं ययातिः स्वपुरं ययौ ॥ २३ ॥

वह राजा ययाति उस सुन्दरी देवयानीको उस कुंएसे शीघ्रतासे निकालकर उचित सम्भाषण कर उसी क्षण अपने नगरको चला गया ॥ २३ ॥

देवयान्युवाच

त्वरितं घूर्णिके गच्छ सर्वमाचक्ष्व मे पितुः ।
नेदानीं हि प्रवेक्ष्यामि नगरं वृषपर्वणः ॥ २४ ॥

देवयानी बोली– हे घूर्णिके ! तू शीघ्र जाकर मेरे पितासे सब बातें कह कि मैं अब राजा वृषपर्वाके नगरमें नहीं घुसूंगी ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

सा तु वै त्वरितं गत्वा घूर्णिकासुरमन्दिरम् ।
दृष्ट्वा काव्यमुवाचेदं सम्भ्रमाविष्टचेतना ॥ २५ ॥

वैशम्पायन बोले– वह दासी घूर्णिका द्रुत वेगसे असुर मन्दिरमें जाकर शुक्रको देखकरके संभ्रमसे युक्त मनवाली होकर बोली ॥ २५ ॥

आचक्षे ते महाप्राज्ञ देवयानी वने हता ।
शर्मिष्ठया महाभाग दुहित्रा वृषपर्वणः ॥ २६ ॥

हे महाभाग ! श्रेष्ठ ब्रह्मन् ! वृषपर्वाकी कन्या शर्मिष्ठाके द्वारा वनमें मारी गई देवयानीने आपसे कहा है ॥ २६ ॥

श्रुत्वा दुहितरं काव्यस्तत्र शर्मिष्ठया हताम् ।
त्वरया निर्ययौ दुःखान्मार्गमाणः सुतां वने ॥ २७ ॥

शर्मिष्ठाके द्वारा अपनी पुत्रीके घायल होनेकी बात सुनकर शुक्र वनमें कन्याको ढूंढनेके लिये दुःखी चित्तसे वेगपूर्वक चले ॥ २७ ॥

दृष्ट्वा दुहितरं काव्यो देवयानीं ततो वने ।
बाहुभ्यां संपरिष्वज्य दुःखितो वाक्यमब्रवीत् ॥ २८ ॥

तब वनमें अपनी पुत्री देवयानीको देखकर स्नेहवश दुःखित हृदयसे उसे गलेसे लगाकर कविके पुत्र शुक्र बोले— ॥ २८ ॥

आत्मदोषैर्नियच्छन्ति सर्वे दुःखसुखे जनाः ।
मन्ये दुश्चरितं तेऽस्ति यस्येयं निष्कृतिः कृता ॥ २९ ॥

सभी जन निज दोष और गुणके अनुसार दुःख और सुख भोगते हैं; मैं समझता हूं, कि तुमने कोई बुरा कार्य किया होगा, उसीका यह फल तुम्हें मिला है ॥ २९ ॥

देवयान्युवाच

निष्कृतिर्मेऽस्तु वा मास्तु शृणुष्वावहितो मम ।
शर्मिष्ठया यदुक्तास्मि दुहित्रा वृषपर्वणः ।
सत्यं किलैतत्सा प्राह दैत्यानामसि गायनः ॥ ३० ॥

देवयानी बोली— यह मेरे कर्मका फल हो या न हो, वृषपर्वाकी कन्या शर्मिष्ठाने मुझसे जैसा कहा है, उसको ध्यान देकर सुनिये । शर्मिष्ठाने कहा है, कि आप दैत्योंके भाट हैं, क्या सच है ? ॥ ३० ॥

एवं हि मे कथयति शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी ।
वचनं तीक्ष्णपरुषं क्रोधरक्तेक्षणा भृशम् ॥ ३१ ॥

और क्रोधसे आंखें लालकर अति कटीली और कडवी बातोंसे वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाने मुझसे यह भी कहा ॥ ३१ ॥

स्तुवतो दुहिता हि त्वं याचतः प्रतिगृह्णतः ।
सुताहं स्तूयमानस्य ददतोऽप्रतिगृह्णतः ॥ ३२ ॥

कि तुम स्तुति पाठ करनेवाले, सदा मांगनेवाले और दान लेनेवालेकी पुत्री हो और मैं स्तुति किये जाते हुए, सदा दान देनेवाले पर कभी न मांगनेवालेकी पुत्री हूँ ॥ ३२ ॥

इति मामाह शर्मिष्ठा दुहिता वृषपर्वणः ।
क्रोधसंरक्तनयना दर्पपूर्णा पुनः पुनः ॥ ३३ ॥

अहङ्कारसे भरी हुई वृषपर्वाकी कन्या शर्मिष्ठाने क्रोधसे आंखें लाल करके बार बार मुझसे ऐसा कहा ॥ ३३ ॥

यद्यहं स्तुवतस्ताल दुहिता प्रतिगृह्णतः ।
प्रसादयिष्ये शर्मिष्ठामित्युक्ता हि सखी मया ॥ ३४ ॥

पिता ! मैंने सखीसे यह बात कही है, कि यदि मैं स्तुतिपाठ करनेवाले और दान लेनेवालेकी बेटी हूं, तो शर्मिष्ठाको प्रसन्न करूंगी ॥ ३४ ॥

शुक्र उवाच

स्तुवतो दुहिता न त्वं भद्रे न प्रतिगृह्णतः ।
अस्तोतुः स्तूयमानस्य दुहिता देवयान्यसि ॥ ३५ ॥

शुक्र बोले– कल्याणी देवयानि ! तुम स्तुति पढनेवाले, वा दान लेनेहारेकी बेटी नहीं हो, स्तुति न पढनेवाले और दूसरोंके द्वारा स्तुति किये जानेवाले जनकी तुम कन्या हो ॥३५॥

वृषपर्वैव तद्वेद शक्रो राजा च नाहुषः ।
अचिन्त्यं ब्रह्म निर्द्वन्द्वमैश्वरं हि बलं मम ॥ ३६ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥ २७७९ ॥

वृषपर्वाके समान इन्द्र और नहुषपुत्र ययाति आदि सब लोग जानते हैं, मेरा बल विरोधवर्जित, अचिंत्य और ऐश्वरिक है ॥ ३६ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें तिहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७३ ॥ २७७९ ॥

: ७४ :

शुक्र उवाच

यः परेषां नरो नित्यमतिवादांस्तितिक्षति ।
देवयानि विजानीहि तेन सर्वमिदं जितम् ॥ १ ॥

शुक्र बोले–जो अन्य जनसे निन्दित होकर निन्दाकी बातको हमेशा सह लेते हैं, देवयानि ! तुम समझ लो, कि उन्होंने ही इस सम्पूर्ण जगत्का जय कर लिया ॥ १ ॥

यः समुत्पतितं क्रोधं निगृह्णाति हयं यथा ।
स यन्तेत्युच्यते सद्भिर्न यो रश्मिषु लम्बते ॥ २ ॥

जो उछलते हुए क्रोधको शासित घोडेके समान वशमें कर लेता है, वही साधुओंसे सारथि कहा जाता है, जो केवल रास पकडे रहता है वह सारथि नहीं कहाता ॥ २ ॥

×

य: समुत्पतितं क्रोधमक्रोधेन निरस्यति।
देवयानि विजानीहि तेन सर्वमिदं जितम् ॥ ३ ॥

जो क्षमासे चढे हुए क्रोधको दूर कर देता है, देवयानि! तुम समझ लो, कि वह ही इस सम्पूर्ण जगत्का जय कर सकता है ॥ ३ ॥

य: समुत्पतितं क्रोधं क्षमयेह निरस्यति।
यथोरगस्त्वचं जीर्णां स वै पुरुष उच्यते ॥ ४ ॥

जो सर्पके द्वारा केंचुली छोडनेकी भांति चढे हुए क्रोधको क्षमासे रोक लेते हैं, वेही पुरुष कहे जाते हैं ॥ ४ ॥

य: संधारयते मन्युं योऽतिवादांस्तितिक्षति।
यश्च तप्तो न तपति दृढं सोऽर्थस्य भाजनम् ॥ ५ ॥

जो क्रोधको रोकते हैं और निन्दाको सह लेते हैं, तथा आप दु:खित होने पर भी औरोंको दु:ख नहीं देते हैं, वही पुरुषार्थके भागी हैं ॥ ५ ॥

यो यजेदपरिश्रान्तो मासि मासि शतं समा:।
न क्रुद्ध्येद्यश्च सर्वस्य तयोरक्रोधनोऽधिक: ॥ ६ ॥

जो विना थके महीने महीने यागकी क्रिया करते हैं और जो अक्रोधी रहते हैं इन दोनोंमें अक्रोधी पुरुष ही श्रेष्ठ हैं ॥ ६ ॥

यत्कुमारा कुमार्यश्च वैरं कुर्युरचेतस:।
न तत्प्राज्ञोऽनुकुर्वीत विदुस्ते न बलाबलम् ॥ ७ ॥

अज्ञान बालक बालिका आपसमें जो शत्रुता किया करते हैं, प्राज्ञलोग उसका अनुकरण नहीं करते, क्योंकि वे बालक बालिका बलाबलको नहीं जानते ॥ ७ ॥

देवयान्युवाच

वेदाहं तात बालापि धर्माणां यदिहान्तरम्।
अक्रोधे चातिवादे च वेद चापि बलाबलम् ॥ ८ ॥

देवयानी बोली– पिता! मैं बालिका होने पर भी धर्मका जो मर्म है, उसे जानती हूं और अक्रोध और क्रोधके विषयमें बलाबल भी जानती हूं ॥ ८ ॥

शिष्यस्याशिष्यवृत्तेर्हि न क्षन्तव्यं बुभूषता।
तस्मात्संकीर्णवृत्तेषु वासो मम न रोचते ॥ ९ ॥

पर जो शिष्य होकर भी शिष्यके समान व्यवहार नहीं करता, मङ्गलेच्छुक जनको उसे क्षमा नहीं करना चाहिये और ऐसे संकुचित और निकृष्ट व्यवहारवाले देशमें वसनेकी मेरी इच्छा नहीं होती ॥ ९ ॥

पुमांसो ये हि निन्दन्ति वृत्तेनाभिजनेन च ।
न तेषु निवसेत्प्राज्ञः श्रेयोऽर्थी पापबुद्धिषु ॥ १० ॥

जो पुरुष कुल और चरित्रके विषयमें निन्दा करते हैं, उन पापबुद्धियोंके साथ मङ्गलार्थी बुद्धिमान् जन कभी न रहे ॥ १० ॥

ये त्वेनमभिजानन्ति वृत्तेनाभिजनेन च ।
तेषु साधुषु वस्तव्यं स वासः श्रेष्ठ उच्यते ॥ ११ ॥

जो साधु कुल और शीलको जानते हैं उनके साथ ही रहना उचित है, और वह वास ही श्रेष्ठ कहा जाता है ॥ ११ ॥

वाग्दुरुक्तं महाघोरं दुहितुर्वृषपर्वणः ।
न ह्यतो दुष्करतरं मन्ये लोकेष्वपि त्रिषु ।
यः सपत्नश्रियं दीप्तां हीनश्रीः पर्युपासते ॥ १२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥ २७९१ ॥

वृषपर्वाकी कन्याके द्वारा कही गई बात अति कठोर और कटीली है । मैं जानती हूं, कि तीनों लोकोंमें इससे अधिक असाध्य कार्य कोई दूसरा नहीं है, कि जो धनहीन जन शत्रुओंकी प्रज्वलित श्री देखकर उनकी उपासना करते हैं ॥ १२ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें चौहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७४ ॥ २७९१ ॥

: ७५ :

वैशंपायन उवाच

ततः काव्यो भृगुश्रेष्ठः समन्युरुपगम्य ह ।
वृषपर्वाणमासीनमित्युवाचाविचारयन् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– अनन्तर भृगुश्रेष्ठ काव्य शुक्र क्रोधसे बैठे हुए वृषपर्वाके पास पहुंच करके विना विचारके यह कहने लगे ॥ १ ॥

नाधर्मश्चरितो राजन्सद्यः फलति गौरिव ।
पुत्रेषु वा नप्तृषु वा न चेदात्मनि पश्यति ।
फलत्येव ध्रुवं पापं गुरुभुक्तमिवोदरे ॥ २ ॥

राजन् ! अधर्माचरण करनेसे उसी दिन उसका फल दीख तो नहीं पडता है, पर जिस प्रकार धरतीको जोतने बोनेसे धरती उचित समयमें फल देती है, उसी प्रकार अधर्म भी धीरे धीरे फल देता है । जिस प्रकार अधिक भोजन करनेसे उसी क्षण हानि न होनेपर भी अन्तमें अवश्य ही हानि होती है, वैसे ही पापकार्यका फल यदि अपनेमें न दीख पडता हो, तो पुत्र वा पौत्रमें वह अवश्य ही दीख पडेगा ॥ २ ॥

यद्घातयथा विप्रं कचमांगिरसं तदा।
अपापशीलं धर्मज्ञं शुश्रूषुं मद्गृहे रतम् ॥ ३ ॥

हे वृषपर्वन् ! मेरे घरमें रहते हुए धर्मज्ञ, गुरु-सेवक और निष्पापी ब्राह्मण बृहस्पति पुत्र कचका तुमने वध किया था ॥ ३ ॥

वधादनर्हतस्तस्य वधाच्च दुहितुर्मम।
वृषपर्वन्निबोधेदं त्यक्ष्यामि त्वां सबान्धवम्।
स्थातुं त्वद्विषये राजन्न शक्ष्यामि त्वया सह ॥ ४ ॥

वधके अयोग्य उस कचके वधके कारण और मेरी पुत्रीके भी वधके कारण तुम निश्चय जानना, कि तुमको और तुम्हारे बान्धवोंको मैं त्याग दूंगा। और, हे वृषपर्वा ! तुम्हारे राज्यमें मैं न रह सकूंगा ॥ ४ ॥

अहो मामभिजानासि दैत्य मिथ्याप्रलापिनम्।
यथेममात्मनो दोषं न नियच्छस्युपेक्षसे ॥ ५ ॥

अहो दैत्यराज ! जो कि तुम मुझको निरर्थक प्रलाप करनेवाला समझते हो, पर यह तुम्हारा अपना दोष है, उसे तुम न सुधारकर उसकी उपेक्षा करते हो ॥ ५ ॥

वृषपर्वोवाच

नाधर्मं न मृषावादं त्वयि जानामि भार्गव।
त्वयि धर्मश्च सत्यं च तत्प्रसीदतु नो भवान् ॥ ६ ॥

वृषपर्वा बोले- हे भार्गव ! मैं आपको झूठ बोलनेवाला वा अधार्मिक नहीं समझता; आपहीमें सत्य और धर्म टिके हुए हैं, अतः आप मुझपर प्रसन्न होवें ॥ ६ ॥

यद्यस्मानपहाय त्वमितो गच्छसि भार्गव।
समुद्रं संप्रवेक्ष्यामो नान्यदस्ति परायणम् ॥ ७ ॥

हे भार्गव ! यदि आप हमको छोडकर यहांसे चले जायेंगे, तो हम समुद्रमें डूबकर मर जाएंगे, क्योंकि आपके विना हमारी कोई और गति नहीं है ॥ ७ ॥

शुक्र उवाच

समुद्रं प्रविशध्वं वा दिशो वा द्रवतासुराः।
दुहितुर्नाप्रियं सोढुं शक्तोऽहं दयिता हि मे ॥ ८ ॥

शुक्र बोले- असुरगण ! तुम चाहे समुद्रमें डूबो वा किसी दिशामें भाग जाओ, पर मैं बेटीका अनिष्टाचरण सह नहीं सकूंगा, क्योंकि वह बेटी मेरी बडी स्नेहपात्री है ॥ ८ ॥

प्रसाद्यतां देवयानी जीवितं ह्यत्र मे स्थितम् ।
योगक्षेमकरस्तेऽहमिन्द्रस्येव बृहस्पतिः ॥ ९ ॥
बृहस्पति जैसे इन्द्रके यागके निर्वाह करनेवाले हैं, मैं भी तुम्हारे लिए वैसा हूं, पर मेरा जीवन देवयानीके अधीन है, अतएव देवयानीको प्रसन्न करो ॥ ९ ॥

वृषपर्वोवाच

यत्किंचिदसुरेन्द्राणां विद्यते वसु भार्गव ।
भुवि हस्तिगवाश्वं च तस्य त्वं मम चेश्वरः ॥ १० ॥
वृषपर्वा बोले— हे भार्गव ! इस भूमण्डलमें असुरोंके हाथी, गौ, घोडे और जितना धन सम्पद् हैं, आप उन सबोंके और मेरे भी ईश्वर हैं ॥ १० ॥

शुक्र उवाच

यत्किंचिदस्ति द्रविणं दैत्येन्द्राणां महासुर ।
तस्येश्वरोऽस्मि यदि ते देवयानी प्रसाद्यताम् ॥ ११ ॥
शुक्र बोले— हे महासुर ! असुरराजोंका जितना ऐश्वर्य है, यदि मैं सबका अधीश हूं, तो (मेरी आज्ञा है कि तुम) देवयानीको प्रसन्न करो ॥ ११ ॥

देवयान्युवाच

यदि त्वमीश्वरस्तात राज्ञो वित्तस्य भार्गव ।
नाभिजानामि तत्तेऽहं राजा तु वदतु स्वयम् ॥ १२ ॥
देवयानी बोली— हे पिता ! मैं भलीभांति नहीं जानती हूं, कि आप दैत्यराजकी सम्पूर्ण सम्पत्तिके अधीश हैं, अतः राजा स्वयं (मेरे सामने) यह बात कहें ॥ १२ ॥

वृषपर्वोवाच

यं काममभिकामासि देवयानि शुचिस्मिते ।
तत्तेऽहं संप्रदास्यामि यदि चेदपि दुर्लभम् ॥ १३ ॥
वृषपर्वा बोले— हे सुन्दर मुस्कराहटोंवाली देवयानि ! तुम्हारी जो कामना हो, सो कहो, यदि वह दुर्लभ भी हो, तो भी मैं उसे पूरी करूंगा ॥ १३ ॥

देवयान्युवाच

दासीं कन्यासहस्रेण शर्मिष्ठामभिकामये ।
अनु मां तत्र गच्छेत्सा यत्र दास्यति मे पिता ॥ १४ ॥
देवयानी बोली— मैं कामना करती हूं, कि सहस्र कन्याओंके साथ शर्मिष्ठा मेरी दासी बने, मेरे पिता मुझको जहां दान करें, शर्मिष्ठा भी वहां मेरे साथ जाये ॥ १४ ॥

वृषपर्वोवाच

उत्तिष्ठ हे संग्रहीत्रि शर्मिष्ठां शीघ्रमानय।
यं च कामयते कामं देवयानी करोतु तम् ॥ १५ ॥

वृषपर्वा निकटकी दासीसे बोले– दासी ! उठो, शीघ्र जाकर शर्मिष्ठाको ले लाओ, देवयानी जो कामना कर रही है, शर्मिष्ठा उसे पूरी करे ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो धात्री तत्र गत्वा शर्मिष्ठां वाक्यमब्रवीत्।
उत्तिष्ठ भद्रे शर्मिष्ठे ज्ञातीनां सुखमावह ॥ १६ ॥

वैशम्पायन बोले– तब दासीने शर्मिष्ठाके पास जाकर यह वाक्य कहा; हे भद्रे ! शर्मिष्ठे ! उठो; बन्धुओंका कल्याण करो ॥ १६ ॥

त्यजति ब्राह्मणः शिष्यान्देवयान्या प्रचोदितः।
सा यं कामयते कामं स कार्योऽद्य त्वयानघे ॥ १७ ॥

ब्राह्मण शुक्र देवयानीसे प्रेरित होकर अपने शिष्य दैत्योंको त्याग रहे हैं। हे अनघे ! आज वह शुक्रकन्या जो कामना करे वह तुम्हें पूरी करनी पडेगी ॥ १७ ॥

शर्मिष्ठोवाच

सा यं कामयते कामं करवाण्यहमद्य तम्।
मा त्वेवापगमच्छुक्रो देवयानी च मत्कृते ॥ १८ ॥

शर्मिष्ठा बोली– आज देवयानी जो कामना करेगी उसको मैं पूरी करनेको तैय्यार हूं, मेरे दोषके कारण शुक्र और देवयानी हमसे दूर न जायें ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः कन्यासहस्रेण वृता शिबिकया तदा।
पितुर्नियोगात्त्वरिता निश्चक्राम पुरोत्तमात् ॥ १९ ॥

वैशम्पायन बोले– तब पिताकी आज्ञा पाकर पालकीपर चढकर सहस्र कन्याओंसे घिरी हुई वह शार्मिष्ठा अपने उत्तम पुरसे शीघ्र निकली ॥ १९ ॥

शर्मिष्ठोवाच

अहं कन्यासहस्रेण दासी ते परिचारिका।
अनु त्वां तत्र यास्यामि यत्र दास्यति ते पिता ॥ २० ॥

और देवयानीके पास आकर शर्मिष्ठा बोली– मैं सहस्र कन्याओंके साथ तुम्हारी सेवा करनेवाली दासी हूं, तुम्हारे पिता जहां तुमको दान करेंगे, मैं वहां तुम्हारे साथ जाऊंगी ॥ २० ॥

देवयान्युवाच

स्तुवतो दुहिता तेऽहं बन्दिनः प्रतिगृह्णतः ।
स्तूयमानस्य दुहिता कथं दासी भविष्यसि ॥ २१ ॥

देवयानी बोली– मैं तुम्हारी स्तुति पढनेवाले भाट और दान लेनेवालेकी कन्या हूं; तुम स्तुति किये जानेवालेकी पुत्री हो, फिर तुम क्यों दासी बनोगी ? ॥ २१ ॥

शर्मिष्ठोवाच

येन केनचिदार्तानां ज्ञातीनां सुखमावहेत् ।
अतस्त्वामनुयास्यामि यत्र दास्यति ते पिता ॥ २२ ॥

शर्मिष्ठाने उत्तर दिया– जिस उपायसे दुःखी बन्धुवर्ग सुख प्राप्त करें, वही मुझको करना होगा, इसलिए तुम्हारे पिता जहां तुम्हारा दान करेंगे, मैं वहां तुम्हारे पीछे पीछे चलूंगी ॥२२॥

वैशम्पायन उवाच

प्रतिश्रुते दासभावे दुहित्रा वृषपर्वणः ।
देवयानी नृपश्रेष्ठ पितरं वाक्यमब्रवीत् ॥ २३ ॥

वैशम्पायन बोले– हे नृपश्रेष्ठ ! वृषपर्वाकी बेटीके दासीपन स्वीकार करने पर देवयानी पिताके पास जाकर यह वाक्य बोली ॥ २३ ॥

प्रविशामि पुरं तात तुष्टास्मि द्विजसत्तम ।
अमोघं तव विज्ञानमस्ति विद्याबलं च ते ॥ २४ ॥

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! अब मैं सन्तुष्ट हूं, अतः अब मैं नगरको जाऊंगी, मैं जान चुकी, कि आपका विज्ञान और विद्याका बल अव्यर्थ है ॥ २४ ॥

एवमुक्तो दुहित्रा स द्विजश्रेष्ठो महायशाः ।
प्रविवेश पुरं हृष्टः पूजितः सर्वदानवैः ॥ २५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥ २८१६ ॥

महायशस्वी द्विजश्रेष्ठ शुक्र पुत्रीकी यह बात सुनकर सब दानवोंसे पूजे जाकर प्रसन्नचित्तसे असुरपुरको पधारे ॥ २५ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें पिचहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७५ ॥ २८१६ ॥

: ७६ :

वैशम्पायन उवाच

अथ दीर्घस्य कालस्य देवयानी नृपोत्तम।
वनं तदेव निर्याता क्रीडार्थं वरवर्णिनी ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे नृपोत्तम! तदनन्तर बहुकालके पश्चात् सुन्दरी देवयानी खेलनेके निमित्त पूर्व कथित उसी वनमें गयी ॥ १ ॥

तेन दासीसहस्रेण सार्धं शर्मिष्ठया तदा।
तमेव देशं संप्राप्ता यथाकामं चचार सा।
ताभिः सखीभिः सहिता सर्वाभिर्मुदिता भृशम् ॥ २ ॥

तब सहस्र दासी और शर्मिष्ठाके साथ उसी जंगलमें पहुंचकर मनमाना घूमने लगी। वह वहीं सम्पूर्ण सहेलियोंके साथ परम आनन्द भोगने लगी ॥ २ ॥

क्रीडन्त्योऽभिरताः सर्वाः पिबन्त्यो मधुमाधवीम्।
खादन्त्यो विविधान्भक्ष्यान्विदशन्त्यः फलानि च ॥ ३ ॥

वे सब मधु–वृक्षका मधु पीकर आपसमें मिलकर खेलने लगीं तथा भांति भांतिके फलोंको चबाते हुए भांति भांतिकी भोजनीय सामग्री खाने लगीं ॥ ३ ॥

पुनश्च नाहुषो राजा मृगलिप्सुर्यदृच्छया।
तमेव देशं संप्राप्तो जलार्थी श्रमकर्शितः ॥ ४ ॥

ऐसे समयमें ही शिकार खेलनेकी इच्छावाला नहुषपुत्र राजा ययाति थकावटसे जलपानार्थी होकर स्वेच्छापूर्वक वहीं आ पहुंचा ॥ ४ ॥

ददर्श देवयानीं च शर्मिष्ठां ताश्च योषितः।
पिबन्तीर्ललमानाश्च दिव्याभरणभूषिताः ॥ ५ ॥

उन्होंने वहां देवयानी, शर्मिष्ठा और अनुपम रूपवती दिव्य आभूषणोंसे सजी धजी मधु-पानसे उन्मत्ता खेलती हुई कामिनियोंको देखा ॥ ५ ॥

उपविष्टां च ददर्श देवयानीं शुचिस्मिताम्।
रूपेणाप्रतिमां तासां स्त्रीणां मध्ये वराङ्गनाम्।
शर्मिष्ठया सेव्यमानां पादसंवाहनादिभिः ॥ ६ ॥

मधुर हासिनी, अनुपम रूपवती, नारियोंमें प्रधान उन बालाओंमें बैठी हुई शर्मिष्ठा द्वारा पांवआदि दाबकर सेवा करवाती हुई देवयानीको देखा ॥ ६ ॥

यथातिरुवाच

द्वाभ्यां कन्यासहस्राभ्यां द्वे कन्ये परिवारिते ।
गोत्रे च नामनी चैव द्वयोः पृच्छामि वामहम् ॥ ७ ॥

(यह देखकर) राजा ययाति निकट जाकर बोले, शुभे ! तुम दो कन्या तथा दो सहस्र कन्याओंसे घिरी हुई हो, मैं तुम दोनोंके नाम गोत्र जानना चाहता हूं ॥ ७ ॥

देवयान्युवाच

आख्यास्याम्यहमादत्स्व वचनं मे नराधिप ।
शुक्रो नामासुरगुरुः सुतां जानीहि तस्य माम् ॥ ८ ॥

देवयानी बोली—हे नराधिप ! मैं कहती हूं, मेरी बात ध्यानसे सुनिये । जो असुरोंके गुरु शुक्र नामसे प्रख्यात हैं, मुझे उनकी कन्या समझो ॥ ८ ॥

इयं च मे सखी दासी यत्राहं तत्र गामिनी ।
दुहिता दानवेन्द्रस्य शर्मिष्ठा वृषपर्वणः ॥ ९ ॥

यह वृषपर्वा नामक दैत्यराजकी दुहिता है, इसका नाम शर्मिष्ठा है, यह मेरी सहेली और दासी है, मैं जहां जाती हूं, यह मेरे साथ जाती है ॥ ९ ॥

ययातिरुवाच

कथं नु ते सखी दासी कन्येयं वरवर्णिनी ।
असुरेन्द्रसुता सुभ्रु परं कौतूहलं हि मे ॥ १० ॥

ययाति बोले— हे सुन्दर भौहोंवाली ! यह जाननेके लिये मेरा कौतूहल बढ रहा है, कि दैत्य-राजकी यह सुन्दरी दुहिता तुम्हारी दासी और सखी कैसे हुई ? ॥ १० ॥

देवयान्युवाच

सर्व एव नरव्याघ्र विधानमनुवर्तते ।
विधानविहितं मत्वा मा विचित्राः कथाः कृथाः ॥ ११ ॥

देवयानी बोली— हे नरव्याघ्र ! सभी कुछ दैव ही के वशीभूत है, इसलिए सब कुछ दैवाधीन मानकर कुछ भी आश्चर्य मत करो ॥ ११ ॥

राजवद्रूपवेषौ ते ब्राह्मीं वाचं बिभर्षि च ।
किंनामा त्वं कुतश्चासि कस्य पुत्रश्च शंस मे ॥ १२ ॥

आपका रूप और वेष राजाकी भांति देखती हूं, आप वैदिक वाक्य कह रहे हैं; मुझसे कहिये, कि आप कौन, किनके पुत्र और कहांसे आते हैं ? ॥ १२ ॥

×

यथातिरुवाच

ब्रह्मचर्येण कृत्स्नो मे वेदः श्रुतिपथं गतः ।
राजाहं राजपुत्रश्च ययातिरिति विश्रुतः ॥ १३ ॥

ययाति बोले— मैंने ब्रह्मचर्य व्रत लेकर सम्पूर्ण वेद पाठ किये हैं; मैं राजा और राजपुत्र हूं, मेरा नाम ययाति है ॥ १३ ॥

देवयान्युवाच

केनास्यर्थेन नृपते इमं देशमुपागतः ।
जिघृक्षुर्वारिजं किंचिदथवा मृगलिप्सया ॥ १४ ॥

देवयानी बोली— कहिये, आप जलकी मछली आदि मारने, वा मृगयाकी इच्छासे अथवा अन्य किस कारणसे इस जंगलमें आये हैं ? १४ ॥

ययातिरुवाच

मृगलिप्सुरहं भद्रे पानीयार्थमुपागतः ।
बहु चाप्यनुयुक्तोऽस्मि तन्मानुज्ञातुमर्हसि ॥ १५ ॥

ययाति बोले— हे भद्रे ! मृगयाके लिये निकल कर मैं यहां जल पीनेके लिए आया हूं, इस समय नाना प्रकारसे थका हुआ हूं । आज्ञा हो, तो चला जाऊं ॥ १५ ॥

देवयान्युवाच

द्वाभ्यां कन्यासहस्राभ्यां दास्या शर्मिष्ठया सह ।
त्वदधीनास्मि भद्रं ते सखा भर्ता च मे भव ॥ १६ ॥

देवयानी बोली— इन दो सहस्र कन्याओं और दासी शर्मिष्ठाके साथ मैं आपके अधीन हूं, आपका मङ्गल हो, आप मेरे सखा और भर्त्ता होवें ॥ १६ ॥

ययातिरुवाच

विद्ध्यौशनसि भद्रं ते न त्वामर्होऽस्मि भामिनि ।
अविवाह्या हि राजानो देवयानि पितुस्तव ॥ १७ ॥

ययाति बोले— हे शुक्रनन्दिनी, भामिनी, देवयानि ! तुम्हारा मङ्गल होवे, मैं तुम्हारे योग्य पात्र नहीं हूं, तुम्हारे पिता जैसे हैं उससे राजालोग तुम्हारे विवाहके योग्य नहीं हो सकते ॥ १७ ॥

देवयान्युवाच

संसृष्टं ब्रह्मणा क्षत्रं क्षत्रं च ब्रह्मसंहितम् ।
ऋषिश्च ऋषिपुत्रश्च नाहुषाङ्ग वहस्व माम् ॥ १८ ॥

देवयानी बोली— ब्राह्मणके साथ क्षत्रिय और क्षत्रियके साथ ब्राह्मण मिले हुए हैं । हे नहुषपुत्र ! आपभी उसके अनुसार ऋषि और ऋषिपुत्र हैं, इसलिए आप मुझसे विवाह कीजिये ॥१८॥

ययातिरुवाच

एकदेहोद्भवा वर्णाश्चत्वारोऽपि वराङ्गने ।
पृथग्धर्माः पृथक्शौचास्तेषां तु ब्राह्मणो वरः ॥ १९ ॥

ययाति बोले— हे वराङ्गने! चारों वर्ण एक ब्रह्माकी देहसे उत्पन्न तो हुए हैं, पर उनमेंसे हरेकके धर्म और शौचादि अलग अलग निर्दिष्ट हैं, उनमें ब्राह्मण सबसे श्रेष्ठ हैं ॥ १९ ॥

देवयान्युवाच

पाणिधर्मो नाहुषायं न पुंभिः सेवितः पुरा ।
तं मे त्वमग्रहीरग्रे वृणोमि त्वामहं ततः ॥ २० ॥

देवयानी बोली— हे नहुष-पुत्र! किसी और पुरुषने पहिले मेरा हाथ नहीं थामा है, आपहीने सबसे पहिले मेरा पाणिग्रहण किया है, इससे आपको ही पतित्वमें वरण करती हूं ॥ २० ॥

कथं नु मे मनस्विन्याः पाणिमन्यः पुमान्स्पृशेत् ।
गृहीतमृषिपुत्रेण स्वयं वाप्यृषिणा त्वया ॥ २१ ॥

आपने ऋषि अथवा ऋषिपुत्र होकरके स्वयं मेरा पाणिग्रहण किया है और मुझ मनस्विनीके हाथका कोई दूसरा पुरुष स्पर्श कैसे करेगा ? ॥ २१ ॥

ययातिरुवाच

क्रुद्धादाशीविषात्सर्पाज्ज्वलनात्सर्वतोमुखात् ।
दुराधर्षतरो विप्रः पुरुषेण विजानता ॥ २२ ॥

ययाति बोले— ज्ञानी पुरुष जानते हैं, कि ब्राह्मण क्रोधपूरित विषयुक्त चारों ओर मुखद्वारा अग्नि निकालनेवाले सर्प और तेज शस्त्रसे भी ज्यादा भयंकर होते हैं ॥ २२ ॥

देवयान्युवाच

कथमाशीविषात्सर्पाज्ज्वलनात्सर्वतोमुखात् ।
दुराधर्षतरो विप्र इत्यात्थ पुरुषर्षभ ॥ २३ ॥

देवयानीने पूछा— हे पुरुषर्षभ ! ब्राह्मण क्रोधपूरित तेज विषयुक्त और मुखसे चिनगारी निकालनेवाले सर्प और तेज शस्त्रसे भी ज्यादा भयंकर होते हैं यह बात आपने कैसे कही ? ॥ २३ ॥

ययातिरुवाच

एकमाशीविषो हन्ति शस्त्रेणैकश्च वध्यते ।
हन्ति विप्रः सराष्ट्राणि पुराण्यपि हि कोपितः ॥ २४ ॥

ययाति बोले— सर्पके काटनेसे एक ही मनुष्य मरता है और शस्त्रसे भी एक ही मनुष्य मारा जाता है, पर ब्राह्मण तो क्रोधित होकर राज्य और नगरको एकही समयमें नष्ट कर डालता है ॥ २४ ॥

दुराधर्षतरो विप्रस्तस्माद्भीरु मतो मम ।
अतोऽदत्तां च पित्रा त्वां भद्रे न विवहाम्यहम् ॥ २५ ॥

हे भद्रे ! मैं इन कारणोंसे ब्राह्मणको बडा भयंकर समझता हूं, इसलिए हे भीरु ! तुम्हारे पिताके विना दान किये मैं तुमसे विवाह नहीं कर सकता ॥ २५ ॥

देवयान्युवाच

दत्तां वहस्व पित्रा मां त्वं हि राजन्वृतो मया ।
अयाचतो भयं नास्ति दत्तां च प्रतिगृह्णतः ॥ २६ ॥

देवयानी बोली– महाराज ! मैंने आपको वरण किया है, इसलिए दी गई मुझे अपनाइये । अब आपके न मांगने पर भी पिताके दान करने पर मुझे ग्रहण करनेमें भयकी क्या बात है ? ॥ २६ ॥

वैशम्पायन उवाच

त्वरितं देवयान्याथ प्रेषितं पितुरात्मनः ।
श्रुत्वैव च स राजानं दर्शयामास भार्गवः ॥ २७ ॥

वैशम्पायन बोले– तब देवयानीने वेगपूर्वक पितासे संपूर्ण वृत्तान्त कहनेकी आज्ञा दी । वह सब वृत्तान्त सुनकर वनमें आकर भार्गव शुक्रने राजाको अपना दर्शन दिया ॥ २७ ॥

दृष्ट्वैव चागतं शुक्रं ययातिः पृथिवीपतिः ।
ववन्दे ब्राह्मणं काव्यं प्राञ्जलिः प्रणतः स्थितः ॥ २८ ॥

पृथ्वीनाथ ययाति ब्राह्मण शुक्रको आया देखकर उन कविपुत्र शुक्रको शिर नवा करके प्रणाम कर दोनों हाथोंको जोडके खडे रहे ॥ २८ ॥

देवयान्युवाच

राजायं नाहुषस्तात दुर्गे मे पाणिमग्रहीत् ।
नमस्ते देहि मामस्मै नान्यं लोके पतिं वृणे ॥ २९ ॥

देवयानी बोली– पिता ! इन राजा नहुषके पुत्रने विपत्कालमें मेरा पाणिग्रहण किया था, अतः मैं सिर नवाकर प्रार्थना करती हूं, कि आप इस पात्रके लिए मुझे दीजिये, किसी औरको मैं नहीं वरूंगी ॥ २९ ॥

शुक्र उवाच

वृतोऽनया पतिर्वीर सुतया त्वं ममेष्टया ।
गृहाणेमां मया दत्तां महिषीं नहुषात्मज ॥ ३० ॥

शुक्र बोले– हे वीर नहुषपुत्र ! मेरी इस प्रिय कन्याने तुमको पति वरण किया है, मेरे द्वारा दी गई इसको तुम अपनी पटरानी बनाओ ॥ ३० ॥

ययातिरुवाच

अधर्मो न स्पृशेदेवं महान्मामिह भार्गव ।
वर्णसंकरजो ब्रह्मन्निति त्वां प्रवृणोम्यहम् ॥ ३१ ॥

ययाति बोले– हे ब्राह्मण भार्गव ! मैं आपसे यह वर मांगता हूं, कि इस विषयमें वर्ण-सङ्करके कारण होनेवाला महान् अधर्म मुझको स्पर्श न करे ॥ ३१ ॥

शुक्र उवाच

अधर्मात्त्वां विमुञ्चामि वरयस्व यथेप्सितम् ।
अस्मिन्विवाहे मा ग्लासीरहं पापं नुदामि ते ॥ ३२ ॥

शुक्र बोले– मैं तुमको अधर्मसे बचाता हूं, तुम मनमाना वर मांगो, इस विवाहसे तुम दुःखी मत होओ, तुम्हारा सम्पूर्ण पाप दूर किये देता हूं ॥ ३२ ॥

वहस्व भार्यां धर्मेण देवयानीं सुमध्यमाम् ।
अनया सह संप्रीतिमतुलां समवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

तुम इस सुन्दरी देवयानीसे धर्मानुसार विवाह कर लो, इसके साथ रहकर तुम अपार प्रीति पाओगे ॥ ३३ ॥

इयं चापि कुमारी ते शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी ।
संपूज्या सततं राजन्मा चैनां शयने ह्वयेः ॥ ३४ ॥

और यह कुमारी वृषपर्वाकी दुहिता शर्मिष्ठा भी तुम्हारी सदा पूज्य बनी रहे, परंतु, हे राजन् ! इसको बिस्तरे पर कभी न बुलाना ॥ ३४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तो ययातिस्तु शुक्रं कृत्वा प्रदक्षिणम् ।
जगाम स्वपुरं हृष्टो अनुज्ञातो महात्मना ॥ ३५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥ २८५१ ॥

वैशम्पायन बोले– शुक्रकी यह बात सुनकर राजा ययातिने उनकी प्रदक्षिणा करके और महात्मा शुक्रकी आज्ञा पाकर प्रसन्न चित्तसे अपनी राजधानीको पधारे ॥ ३५ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें छिहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७६ ॥ २८५१ ॥

: ७७ :

वैशम्पायन उवाच

ययातिः स्वपुरं प्राप्य महेन्द्रपुरसन्निभम् ।
प्रविश्यान्तःपुरं तत्र देवयानीं न्यवेशयत् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– इसके बाद ययातिने महेन्द्रकी पुरीसी अपनी पुरीमें पहुंचकर अन्तःपुरमें प्रवेश कराकर देवयानीको योग्य वासस्थान दिया ॥ १ ॥

देवयान्याश्चानुमते तां सुतां वृषपर्वणः ।
अशोकवनिकाभ्याशे गृहं कृत्वा न्यवेशयत् ॥ २ ॥

और देवयानीकी अनुमतिसे अशोक वनके निकट घर बनवाकर उसमें वृषपर्वाकी पुत्रीके लिए वासस्थान बनवा दिया ॥ २ ॥

वृतां दासीसहस्रेण शर्मिष्ठामासुरायणीम् ।
वासोभिरन्नपानैश्च संविभज्य सुसत्कृताम् ॥ ३ ॥

और दो सहस्र दासीके साथ उस असुर पुत्री शर्मिष्ठाके लिए वस्त्र, अलङ्कार अन्नपानादिसे यथोचित विभाग करके उसे आदर सत्कारपूर्वक रखा ॥ ३ ॥

देवयान्या तु सहितः स नृपो नहुषात्मजः ।
विजहार बहूनब्दान्देववन्मुदितो भृशम् ॥ ४ ॥

इसके बाद वह नहुषपुत्र राजा ययातिने देवयानीसे विहार करते हुए देवोंके समान प्रसन्न होकर बहुतवर्ष विताये ॥ ४ ॥

ऋतुकाले तु संप्राप्ते देवयानी वराङ्गना ।
लेभे गर्भं प्रथमतः कुमारं च व्यजायत ॥ ५ ॥

यथासमय देवयानीका ऋतुकाल आनेपर सुन्दरी देवयानीने गर्भ धारण किया; इससे उसके एक सुकुमार पुत्रका जन्म हुआ ॥ ५ ॥

गते वर्षसहस्रे तु शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी ।
ददर्श यौवनं प्राप्ता ऋतुं सा चान्वचिन्तयत् ॥ ६ ॥
ऋतुकालश्च संप्राप्तो न च मेऽस्ति पतिर्वृतः ।
किं प्राप्तं किं नु कर्तव्यं किं वा कृत्वा कृतं भवेत् ॥ ७ ॥

सहस्र वर्ष व्यतीत होनेपर यौवनको प्राप्त हुई हुई वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाका ऋतुकाल आ पहुंचा । तब वह सोचने लगी, कि मेरा ऋतुकाल आ पहुंचा है, पर विवाह किया हुआ पति नहीं है, क्या होगा ! क्या करूं ! अथवा कैसे कार्य पूरा होगा ? ॥ ६–७ ॥

देवयानी प्रजातास्मि वृथाहं प्राप्तयौवना ।
यथा तया वृतो भर्ता तथैवाहं वृणोमि तम् ॥ ८ ॥

देवयानीने पुत्र प्रसव किया है, मेरी यौवनदशा व्यर्थ ही बीती जा रही है, अतः देवयानीने जिस प्रकार राजाको पतिरूपमें वरण किया है, उसी प्रकार मैं भी उसीको वरूंगी ॥ ८ ॥

राज्ञा पुत्रफलं देयमिति मे निश्चिता मतिः ।
अपीदानीं स धर्मात्मा इयान्मे दर्शनं रहः ॥ ९ ॥

मुझको निश्चय जान पडता है, कि राजासे पुत्ररूपी फल प्राप्त करूंगी, अब उन धर्मात्माको एकान्तमें पाऊं तब ठीक हो ॥ ९ ॥

अथ निष्क्रम्य राजासौ तस्मिन्काले यदृच्छया ।
अशोकवनिकाभ्याशे शर्मिष्ठां प्राप्य विष्ठितः ॥ १० ॥

वैशम्पायन बोले– तब उस समय राजा इच्छानुसार महलसे निकलकर अशोकवनके निकट पहुंचकर शर्मिष्ठाको देखकर बैठ गये ॥ १० ॥

तमेकं रहिते दृष्ट्वा शर्मिष्ठा चारुहासिनी ।
प्रत्युद्गम्याञ्जलिं कृत्वा राजानं वाक्यमब्रवीत् ॥ ११ ॥

मधुरहासिनी शर्मिष्ठा एकान्तमें उनको अकेले पाकरके उनके पास जाकर दोनों हाथ जोड-कर उनसे यह वचन बोली ॥ ११ ॥

सोमस्येन्द्रस्य विष्णोर्वा यमस्य वरुणस्य वा ।
तव वा नाहुष कुले कः स्त्रियं स्प्रष्टुमर्हति ॥ १२ ॥

हे नहुषपुत्र ! चन्द्र, इन्द्र, विष्णु, यम वा वरुणके और आपके अन्तःपुरमें रहनेवाली स्त्रीको भला कौन देख सकता है ? ॥ १२ ॥

रूपाभिजनशीलैर्हि त्वं राजन्वेत्थ मां सदा ।
सा त्वां याचे प्रसाद्याहमृतुं देहि नराधिप ॥ १३ ॥

हे राजन् ! आप मेरे रूप, कुल और शीलकी बात सदासे जानते हैं, अतः हे नराधिप ! मैं आपको प्रसन्न करके प्रार्थना करती हूं, आप मेरे ऋतुकी रक्षा कीजिये ॥ १३ ॥

ययातिरुवाच

वेद्मि त्वां शीलसंपन्नां दैत्यकन्यामनिन्दिताम् ।
रूपे च ते न पश्यामि सूच्यग्रमपि निन्दितम् ॥ १४ ॥

ययाति बोले– सुशीला, अनिन्दनीया, दानवकन्या तुम्हें जानता हूँ, तुम्हारा रूप सूईके अगले भागके जितना भी निन्दायोग्य नहीं है ॥ १४ ॥

अब्रवीदुशना काव्यो देवयानीं यदावहम्।
नेयमाह्वयितव्या ते शयने वार्षपर्वणी ॥ १५ ॥

पर मैंने जब देवयानीसे विवाह किया था, तब भगवान् उशनाने कहा था, कि तुम इस वृषपर्वाकी कन्याको बिस्तर पर मत बुलाना ॥ १५ ॥

शर्मिष्ठोवाच

न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति न स्त्रीषु राजन्न विवाहकाले।
प्राणात्यये सर्वधनापहारे पञ्चानृतान्याहुरपातकानि ॥ १६ ॥

शर्मिष्ठा बोली– हे राजन्! हंसीमें, स्त्रीसे मिलनेमें और विवाहके समय और प्राण जानेकी संभावनामें, और सब धनके अपहरणके समय इन पांच स्थानमें झूठी बात कहनेसे पाप नहीं लगता ॥ १६ ॥

पृष्टं तु साक्ष्ये प्रवदन्तमन्यथा वदन्ति मिथ्योपहितं नरेन्द्र।
एकार्थतायां तु समाहितायां मिथ्या वदन्तमनृतं हिनस्ति ॥ १७ ॥

हे नरेन्द्र! लोगोंका ऐसा कहना, कि पूछे जाकर झूठी बात कहनेसे मनुष्य पतित होता है, यह बात गलत है; (क्योंकि गौ, ब्राह्मण, स्त्री, दीन, अनाथ आदिके लिये विशेष विशेष स्थानोंमें झूठी साक्षी देनेसे पुण्यभी होता है) जिस स्थलमें दोनोंका एकार्थ समाधान करना हो, वहां झूठी बात दोषकी होती है ॥ १७ ॥

ययातिरुवाच

राजा प्रमाणं भूतानां स नश्येत मृषा वदन्।
अर्थकृच्छ्रमपि प्राप्य न मिथ्या कर्तुमुत्सहे ॥ १८ ॥

ययाति बोले– राजा प्रजाओंके लिए आदर्श रूप होता है, वह झूठ बोलनेसे नष्ट हो जाता है, अतएव यदि धनका कष्ट भोगना भी पडे, तो भी मिथ्या कहनेका मुझमें साहस नहीं होता ॥ १८ ॥

शर्मिष्ठोवाच

समावेतौ मतौ राजन्पतिः सख्याश्च यः पतिः।
समं विवाहमित्याहुः सख्या मेऽसि पतिर्वृतः ॥ १९ ॥

शर्मिष्ठा बोली– हे राजन्! सहेलीका पति और अपना पति दोनों समान हैं। दो सहेलियोंमें एकका विवाह होनेसे दोनोंका विवाह सिद्ध होता है; पहिले मेरी सहेलीने आपको वरण किया है, उससेही आप मेरे भी पति हो गये हैं ॥ १९ ॥

ययातिरुवाच

दातव्यं याचमानेभ्य इति मे व्रतमाहितम् ।
त्वं च याचसि मां कामं ब्रूहि किं करवाणि ते ॥ २० ॥

ययाति बोले— मेरा यह एक व्रत है, कि मांगनेवाला जन जो मांगेगा मैं वही दे दूंगा, तुम मुझसे मांग रही हो, अतः कहो तुम्हारी कौनसी अभिलाषा पूरी करूं ॥ २० ॥

शर्मिष्ठोवाच

अधर्मात्त्राहि मां राजन्धर्मं च प्रतिपादय ।
त्वत्तोऽपत्यवती लोके चरेयं धर्ममुत्तमम् ॥ २१ ॥

शर्मिष्ठा बोली— हे महाराज ! आप मुझे अधर्मसे बचावें और धर्मकी रक्षा करें। आपसे पुत्रवती होकर मैं संसारमें भली भांति धर्मानुष्ठान करूं ॥ २१ ॥

त्रय एवाधना राजन्भार्या दासस्तथा सुतः ।
यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम् ॥ २२ ॥

राजन् ! भार्या, दास और पुत्र यह तीन धनवान् नहीं होते, पर यह जो धन उपार्जन करते हैं, वह धन उनका होता है, जिनके वे अधीन हैं ॥ २२ ॥

देवयान्या भुजिष्यास्मि वश्या च तव भार्गवी ।
सा चाहं च त्वया राजन्भरणीये भजस्व माम् ॥ २३ ॥

हे राजन् ! मैं देवयानीकी दासी और भार्गवकन्या देवयानी आपके वशमें है, इसप्रकार देवयानी और मैं दोनों आपके उपभोगके लिए योग्य हैं, इसलिए आप मेरा उपभोग करें ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु राजा स तथ्यमित्येव जज्ञिवान् ।
पूजयामास शर्मिष्ठां धर्मं च प्रत्यपादयत् ॥ २४ ॥

वैशम्पायन बोले— राजाने शर्मिष्ठाकी बात सुनकर उसे ठीक जान करके शर्मिष्ठाकी पूजा की और उसका मनोरथ सफल करके धर्मरक्षा की ॥ २४ ॥

समागम्य च शर्मिष्ठां यथाकाममवाप्य च ।
अन्योन्यमभिसंपूज्य जग्मतुस्तौ यथागतम् ॥ २५ ॥

इच्छानुरूप सङ्गमसे शर्मिष्ठाका मनोरथ पूरा होनेपर वे दोनों उचित सम्मानसे सम्भाषण-कर योग्य स्थानोंमें चले गये २५ ॥

×

तस्मिन्समागमे सुभ्रूः शर्मिष्ठा चारुहासिनी।
लेभे गर्भं प्रथमतस्तस्मान्नृपतिसत्तमात् ॥ २६ ॥

हे राजन् ! प्रसन्ननेत्रा, सुन्दर भौंहवाली मधुरहासिनी शर्मिष्ठा उस पहिले संगम ही में उन नृपोत्तमसे गर्भवती हुई ॥ २६ ॥

प्रजज्ञे च ततः काले राजन्राजीवलोचना।
कुमारं देवगर्भाभं राजीवनिभलोचनम् ॥ २७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥ २८७८ ॥

और कमलके समान सुन्दर आंखोंवाली उसने उचित समयमें देवकुमारके समान कमलके समान सुन्दर प्रसन्न नेत्रवाला एक पुत्र उत्पन्न किया ॥ २७ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें सतहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७७ ॥ २८७८ ॥

: ७८ :

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा कुमारं जातं तु देवयानी शुचिस्मिता।
चिन्तयामास दुःखार्ता शर्मिष्ठां प्रति भारत ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे भारत ! शर्मिष्ठाके पुत्र जन्मा है, यह सुनकर मधुर मुस्कानवाली देवयानी दुःखीचित्त हुई ॥ १ ॥

अभिगम्य च शर्मिष्ठां देवयान्यब्रवीदिदम्।
किमिदं वृजिनं सुभ्रु कृतं ते कामलुब्धया ॥ २ ॥

और शर्मिष्ठाके समीप जाकर देवयानी यह बोली– हे सुन्दर भौंहवाली! तुमने कामके वशीभूत होकर यह कैसा पापकर्म कर डाला है ? ॥ २ ॥

शर्मिष्ठोवाच

ऋषिरभ्यागतः कश्चिद्धर्मात्मा वेदपारगः।
स मया वरदः कामं याचितो धर्मसंहितम् ॥ ३ ॥

शर्मिष्ठा बोली– हे सुन्दरी ! मेरे पास कोई धर्मात्मा वेदज्ञ एक ऋषि आये थे, उनके वर देनेको उद्यत होनेपर मैंने धर्मानुसार उनसे ऋतु रक्षाकी प्रार्थना की थी ॥ ३ ॥

नाहमन्यायतः काममाचरामि शुचिस्मिते ।
तस्माद्दृषेर्ममापत्यमिति सत्यं ब्रवीमि ते ॥ ४ ॥

हे पवित्र मुस्कराहटोंवाली ! मैं अन्यायपूर्वक काम-चारिणी नहीं हुई हूं । मैं सच कहती हूं, कि मेरा गर्भोत्पन्न यह पुत्र उन ऋषिका ही पुत्र है ॥ ४ ॥

देवयान्युवाच

शोभनं भीरु सत्यं चेदथ स ज्ञायते द्विजः ।
गोत्रनामाभिजनतो वेत्तुमिच्छामि तं द्विजम् ॥ ५ ॥

देवयानी बोली– हे भीरु ! यदि यह सच हो तो अच्छा है, पर क्या तुम उन ब्राह्मणको जानती हो ? मैं उस ब्राह्मणका नाम, गोत्र और कुल जानना चाहती हूं ॥ ५ ॥

शर्मिष्ठोवाच

ओजसा तेजसा चैव दीप्यमानं रविं यथा ।
तं दृष्ट्वा मम संप्रष्टुं शक्तिर्नासीच्छुचिस्मिते ॥ ६ ॥

शर्मिष्ठा बोली– हे सुन्दर स्मितवाली ! वह ब्राह्मण ओज और तेजसे सूर्यके समान तेजस्वी, थे उनको देखकर उनसे कुछ पूछनेका मुझे साहस नहीं हुआ ॥ ६ ॥

देवयान्युवाच

यद्येतदेवं शर्मिष्ठे न मन्युर्विद्यते मम ।
अपत्यं यदि ते लब्धं ज्येष्ठाच्छ्रेष्ठाच्च वै द्विजात् ॥ ७ ॥

देवयानी बोली– हे शर्मिष्ठे ! यदि ऐसा हो और यदि तुमने अति श्रेष्ठ ब्राह्मणसे पुत्रलाभ किया हो, तो तुमपर मेरे क्रोधका कोई कारण नहीं है ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच

अन्योन्यमेवमुक्त्वा तु संप्रहस्य च ते मिथः ।
जगाम भार्गवी वेश्म तथ्यमित्येव जज्ञुषी ॥ ८ ॥

वैशम्पायन बोले– वे दोनों एकान्तमें ऐसा कहकर हंसी मजाक करके देवयानी यह बात ठीक जानकर निज पुरीको चली गई ॥ ८ ॥

ययातिर्देवयान्यां तु पुत्रावजनयन्नृपः ।
यदुं च तुर्वसुं चैव शक्रविष्णू इवापरौ ॥ ९ ॥

अनन्तर राजर्षि ययातिने देवयानीके गर्भसे दूसरे इन्द्र और उपेन्द्र (विष्णु) के समान यदु और तुर्वसु नामक दो पुत्रोंको जन्म दिया ॥ ९ ॥

तस्मादेव तु राजर्षेः शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी।
द्रुह्युं चानुं च पूरुं च त्रीन्कुमारानजीजनत् ॥ १० ॥

उसी राजर्षिसे वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाने द्रुह्यु, अनु और पूरु यह तीन कुमार प्रसूत किये ॥ १० ॥

ततः काले तु कस्मिंश्चिद्देवयानी शुचिस्मिता।
ययातिसहिता राजन्निर्जगाम महावनम् ॥ ११ ॥

हे राजन्! अनन्तर कुछ काल बीतनेपर सुन्दरी देवयानी ययातिके साथ उस महा वनको गयी ॥ ११ ॥

ददर्श च तदा तत्र कुमारान्देवरूपिणः।
क्रीडमानान्सुविश्रब्धान्विस्मिता चेदमब्रवीत् ॥ १२ ॥

वहां निर्भीकतासे खेलते हुए देवके समान तीन कुमारोंको देखकर देवयानीने अचरज मानकर राजासे पूछा ॥ १२ ॥

कस्यैते दारका राजन्देवपुत्रोपमाः शुभाः।
वर्चसा रूपतश्चैव सदृशा मे मतास्तव ॥ १३ ॥

राजन्, देवकुमारके समान यह कुमार किसकी सन्तानें हैं, मुझको जान पडता है, कि रूप और तेजमें यह तुम्हारे ही समान हैं ॥ १३ ॥

एवं पृष्ट्वा तु राजानं कुमारान्पर्यपृच्छत।
किंनामधेयगोत्रो वः पुत्रका ब्राह्मणः पिता।
विब्रूत मे यथातथ्यं श्रोतुमिच्छामि तं ह्यहम् ॥ १४ ॥

देवयानीने राजासे यह बात कहकर कुमारोंसे पूछा, बालको! तुम्हारे नाम क्या हैं? तुमने किस गोत्रमें जन्म लिया है? कौनसा ब्राह्मण तुम्हारा पिता है? सच सच कहो, मैं उसे सुनना चाहती हूं ॥ १४ ॥

तेऽदर्शयन्प्रदेशिन्या तमेव नृपसत्तमम्।
शर्मिष्ठां मातरं चैव तस्याचख्युश्च दारकाः ॥ १५ ॥

बालकोंने उङ्गलियोंसे उन राजश्रेष्ठ ययातिहीको दिखाया और कहा कि शर्मिष्ठा हमारी माता है ॥ १५ ॥

इत्युक्त्वा सहितास्ते तु राजानमुपचक्रमुः ।
नाभ्यनन्दत तान्राजा देवयान्यास्तदान्तिके ।
रुदन्तस्तेऽथ शर्मिष्ठामभ्ययुर्बालकास्ततः ॥ १६ ॥

लडके यह बात कह करके सब मिलकर राजाके पास गये, पर राजाने तब देवयानीके सामने उनका आदर नहीं किया । तब वे रोते हुए शर्मिष्ठाके पास जा पहुंचे ॥ १६ ॥

दृष्ट्वा तु तेषां बालानां प्रणयं पार्थिवं प्रति ।
बुद्ध्वा च तत्त्वतो देवी शर्मिष्ठामिदमब्रवीत् ॥ १७ ॥

देवी देवयानी राजापर लडकोंकी प्रीति देखकर सत्य तत्त्व जानकर शर्मिष्ठासे यह बोली ॥१७॥

मदधीना सती कस्मादकार्षीर्विप्रियं मम ।
तमेवासुरधर्मं त्वमास्थिता न बिभेषि किम् ॥ १८ ॥

तुमने मेरी अधीना होकर भी मेरा अप्रिय कार्य क्यों किया ? तुमने वही असुर-धर्मका आश्रय लिया, क्या मुझसे नहीं डरती ? ॥ १८ ॥

शर्मिष्ठोवाच

यदुक्तमृषिरित्येव तत्सत्यं चारुहासिनि ।
न्यायतो धर्मतश्चैव चरन्ती न बिभेमि ते ॥ १९ ॥

शर्मिष्ठा बोली- हे मधुरहासिनी ! मैंने जो अपने प्रेमीको ऋषि बताया था, वह बात झूठी नहीं है; मैंने न्याय और धर्मके अनुसार ही व्यवहार किया है, अतः तुमसे नहीं डरती ॥१९॥

यदा त्वया वृतो राजा वृत एव तदा मया ।
सखीभर्ता हि धर्मेण भर्ता भवति शोभने ॥ २० ॥

हे शोभने ! तुमने जब इन राजाको पतिके रूपमें वरण किया था, मैंने भी तभी इनको वर लिया था, क्योंकि सहेलीके भर्ता धर्मानुसार उस स्त्रीके भी भर्ता होते हैं ॥ २० ॥

पूज्यासि मम मान्या च ज्येष्ठा श्रेष्ठा च ब्राह्मणी ।
त्वत्तोऽपि मे पूज्यतमो राजर्षिः किं न वेत्थ तत् ॥ २१ ॥

तुम ब्राह्मणी और बडी हो, अतः मेरी पूजनीया और माननीया हो, पर क्या तुम यह नहीं जानती कि यह राजर्षि मेरे लिए तुमसे भी अधिक पूजनीय हुए हैं ? ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा तस्यास्ततो वाक्यं देवयान्यब्रवीदिदम् ।
राजन्नाद्येह वत्स्यामि विप्रियं मे कृतं त्वया ॥ २२ ॥

वैशम्पायन बोले- तब देवयानी शर्मिष्ठाकी यह बात सुनकर राजासे बोली, कि राजन् ! अब फिर मैं यहां नहीं रहूंगी । तुमने मेरा अप्रिय कार्य किया है ॥ २२ ॥

सहसोत्पतितां श्यामां दृष्ट्वा तां साश्रुलोचनाम्।
त्वरितं सकाशं काव्यस्य प्रस्थितां व्यथितस्तदा ॥ २३ ॥
अनुवव्राज संभ्रान्तः पृष्ठतः सान्त्वयन्नृपः।
न्यवर्तत न चैव स्म क्रोधसंरक्तलोचना ॥ २४ ॥

श्यामा अर्थात सुन्दरी देवयानीको इतना कहकर आंसूभरी आंखोंमे एकायक उठ कर उसी क्षण शुक्रके पास जाती हुई देखकर व्यथित होकर राजा भारी हृदयसे सम्मानसहित समझाते हुए उसके पीछे चलने लगे, पर क्रोधसे लाल आंखोंवाली वह देवयानी किसी भी प्रकार न लौटी ॥ २३–२४ ॥

अविब्रुवन्ती किंचित्तु राजानं चारुलोचना।
अचिरादेव संप्राप्ता काव्यस्योशनसोऽन्तिकम् ॥ २५ ॥

तब राजाको कोई उत्तर न देकरके ही आंसुभरे नेत्रोंसे उसीक्षण उशनसके पुत्र शुक्रके पास जा पहुंची ॥ २५ ॥

सा तु दृष्ट्वैव पितरमभिवाद्याग्रतः स्थिता।
अनन्तरं ययातिस्तु पूजयामास भार्गवम् ॥ २६ ॥

पिताको देखकर प्रणाम कर सामने खडी हो गई, उसके बाद ययातिने भी भार्गवकी पूजा की ॥ २६ ॥

देवयान्युवाच

अधर्मेण जितो धर्मः प्रवृत्तमधरोत्तरम्।
शर्मिष्ठयातिवृत्तास्मि दुहित्रा वृषपर्वणः ॥ २७ ॥

देवयानी बोली– हे पिता ! अधर्मने धर्मको जीत लिया है, नीचकी वृद्धि हुई है, वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाने मेरा उल्लंघन किया है ॥ २७ ॥

त्रयोऽस्यां जनिताः पुत्रा राज्ञानेन ययातिना।
दुर्भगाया मम द्वौ तु पुत्रौ तात ब्रवीमि ते ॥ २८ ॥

हे पिता ! इस ययातिने शर्मिष्ठाके गर्भसे तीन पुत्रोंको जन्म दिया है, मैं दुर्भागी हूं, क्योंकि मेरे केवल दो ही पुत्र हुए हैं, हे तात ! यह सच बात मैं आपसे कहती हूँ ॥ २८ ॥

धर्मज्ञ इति विख्यात एष राजा भृगूद्वह।
अतिक्रान्तश्च मर्यादां काव्यैतत्कथयामि ते ॥ २९ ॥

हे भार्गव काव्य ! यह राजा धर्मज्ञके रूपमें प्रख्यात हैं, पर यह भी आपसे कह देती हूं, कि इन्होंने मर्यादाका अतिक्रमण किया है ॥ २९ ॥

शुक्र उवाच

धर्मज्ञः सन्महाराज योऽधर्ममकृथाः प्रियम् ।
तस्माज्जरा त्वामचिराद्धर्षयिष्यति दुर्जया ॥ ३० ॥

शुक्र बोले– महाराज ! तुमने धर्मज्ञ होकर भी अधर्मको प्रिय जाना, अतः विना विलम्ब, कभी न जीते जानेवाला बुढापा तुमको नष्ट करेगा ॥ ३० ॥

ययातिरुवाच

ऋतुं वै याचमानाया भगवन्नान्यचेतसा ।
दुहितुर्दानवेन्द्रस्य धर्म्यमेतत्कृतं मया ॥ ३१ ॥

ययाति बोले– भगवन् ! दानवेन्द्रकी पुत्रीने अनन्य चित्तसे ऋतुरक्षाकी प्रार्थना की थी, उसपर मैंने धर्मकार्य जान करके ही ऐसा किया है, कामके वशीभूत होकर नहीं किया ॥ ३१ ॥

ऋतुं वै याचमानाया न ददाति पुमान्वृतः ।
भ्रूणहेत्युच्यते ब्रह्मन्स इह ब्रह्मवादिभिः ॥ ३२ ॥

ब्रह्मन् ! किसी कामिनीके ऋतुरक्षाकी प्रार्थना करनेपर जो पुरुष ऋतुकी रक्षा नहीं करता, ब्रह्मवादी ब्राह्मणगण उसको भ्रूणहत्याका पापी बताते हैं ! ॥ ३२ ॥

अभिकामां स्त्रियं यस्तु गम्यां रहसि याचितः ।
नोपैति स च धर्मेषु भ्रूणहेत्युच्यते बुधैः ॥ ३३ ॥

समागमके योग्य कामिनीके कामवती होनेपर और एकान्त मिलनेकी प्रार्थना करनेपर जो पुरुष उससे नहीं मिलता, पण्डितलोग धर्मशास्त्रोंमें उसको भ्रूणहत्याकारी कहते हैं ॥ ३३ ॥

इत्येतानि समीक्ष्याहं कारणानि भृगूद्वह ।
अधर्मभयसंविग्नः शर्मिष्ठामुपजग्मिवान् ॥ ३४ ॥

हे भार्गव ! मैं अधर्मके भयसे भीत होकर इन सब कारणोंकी भली भांति आलोचना करके शर्मिष्ठासे मिला हूं ॥ ३४ ॥

शुक्र उवाच

नन्वहं प्रत्यवेक्ष्यस्ते मदधीनोऽसि पार्थिव ।
मिथ्याचारस्य धर्मेषु चौर्यं भवति नाहुष ॥ ३५ ॥

शुक्र बोले– पृथ्वीनाथ ! नहुष पुत्र ययाते ! तुम मेरे अधीन हो, इसलिए तुम्हें पहले मुझसे आज्ञा लेनी चाहिए थी । तुमने वह नहीं किया है, धर्मविषयमें ऐसा मिथ्याचार करनेसे चोरीके दोषका दोषी बनना पडता है ॥ ३५ ॥

वैशम्पायन उवाच

क्रुद्धेनोशनसा शप्तो ययातिर्नाहुषस्तदा ।
पूर्वं वयः परित्यज्य जरां सद्योऽन्वपद्यत ॥ ३६ ॥

वैशम्पायन बोले-- तब शुक्रके क्रोधयुक्त होकर शाप देनेपर नहुपपुत्र ययाति उसी क्षण पूर्व अवस्थाको छोडकर बुढापेको प्राप्त हुए ॥ ३६ ॥

ययातिरुवाच

अतृप्तो यौवनस्याहं देवयान्यां भृगूद्वह ।
प्रसादं कुरु मे ब्रह्मञ्जरेयं मा विशेत माम् ॥ ३७ ॥

तब ययाति बोले-- हे भार्गव ! मैं यौवन दशामें देवयानीसे तृप्त नहीं हुआ हूं, हे ब्रह्मन् ! आप प्रसन्न होवें, कि यह बुढापा मुझमें प्रविष्ट न हो ॥ ३७ ॥

शुक्र उवाच

नाहं मृषा ब्रवीम्येतज्जरां प्राप्तोऽसि भूमिप ।
जरां त्वेतां त्वमन्यस्मै संक्रामय यदीच्छसि ॥ ३८ ॥

शुक्र बोले- हे पृथ्वीपाल ! मेरी बात झूठी नहीं ठहरती है, तुम बुढापेसे ग्रासित हुए हो, पर चाहो तो इस बुढापेको दूसरे जनमें स्थापित कर सकोगे ॥ ३८ ॥

ययातिरुवाच

राज्यभाक्स भवेद्ब्रह्मन्पुण्यभाक्कीर्तिभाक्तथा ।
यो मे दद्याद्वयः पुत्रस्तद्भवाननुमन्यताम् ॥ ३९ ॥

ययाति बोले- हे ब्रह्मन् ! अनुमति दीजिये, कि मेरा जो पुत्र मुझको अपना यौवन देगा, वही पुत्र राज्यभागी, पुण्यभागी और कीर्ति-भागी होगा ॥ ३९ ॥

शुक्र उवाच

संक्रामयिष्यसि जरां यथेष्टं नहुषात्मज ।
मामनुध्याय भावेन न च पापमवाप्स्यसि ॥ ४० ॥

शुक्र बोले-- हे नहुष पुत्र ! तुम एक चित्तसे मेरा ध्यान करके इच्छानुसार बुढापेको दूसरेमें प्रविष्ट करा सकोगे, उससे तुम पापके भागी नहीं होगे ॥ ४० ॥

वयो दास्यति ते पुत्रो यः स राजा भविष्यति ।
आयुष्मान्कीर्तिमांश्चैव बह्वपत्यस्तथैव च ॥ ४१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥ २९१८ ॥

जो पुत्र तुमको अपनी युवावस्था देगा, वह आयुष्मान्, कीर्तिमान्, राज्याधिकारी और अनेक सन्तानयुक्त होगा ॥ ४१ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें अठहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७८ ॥ २९१८ ॥

: ७९ :

वैशम्पायन उवाच

जरां प्राप्य ययातिस्तु स्वपुरं प्राप्य चैव हि ।
पुत्रं ज्येष्ठं वरिष्ठं च यदुमित्यब्रवीद्वचः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– इसके बाद राजा ययाति बुढापेसे ग्रसित होकर निजपुरमें जाकर बडे और श्रेष्ठ पुत्र यदुसे यह बात बोले ॥ १ ॥

जरा वली च मां तात पलितानि च पर्यगुः ।
काव्यस्योशनसः शापान्न च तृप्तोऽस्मि यौवने ॥ २ ॥

हे तात ! शुक्रके शापसे प्राप्त इस बुढापेके कारण (मेरे शरीरमें) झुर्रियां पड गई हैं और केश पक गये हैं, पर मैं यौवनके भोगसे भलीभांति तृप्त नहीं हुआ हूं ॥ २ ॥

त्वं यदो प्रतिपद्यस्व पाप्मानं जरया सह ।
यौवनेन त्वदीयेन चरेयं विषयानहम् ॥ ३ ॥

इसलिए हे यदु ! अतएव तुम मेरे इस बुढापेके साथ पापको ले लो, तुम्हारे यौवनसे मैं कामके विषय भोगूं ॥ ३ ॥

पूर्णे वर्षसहस्रे तु पुनस्ते यौवनं त्वहम् ।
दत्त्वा स्वं प्रतिपत्स्यामि पाप्मानं जरया सह ॥ ४ ॥

और सहस्र वर्ष पूरे हो जाने पर मैं तुम्हारा यौवन तुमको लौटा देकर अपनी जराके साथ पाप वापस ले लूंगा ॥ ४ ॥

यदुरुवाच

सितश्मश्रुशिरा दीनो जरया शिथिलीकृतः ।
वलीसंततगात्रश्च दुर्दर्शो दुर्बलः कृशः ॥ ५ ॥
अशक्तः कार्यकरणे परिभूतः स यौवनैः ।
सहोपजीविभिश्चैव तां जरां नाभिकामये ॥ ६ ॥

यदु बोले– जिस बुढापेसे लोग सफेद दाढीयुक्त, दीन, शिथिल अवयववाले तथा झुर्रियोंसे युक्त शरीरवाले, दुर्दशावाले दुर्बल, पतले किसी भी कार्यको करनेमें असमर्थ और तरुणों तथा साथियोंसे अनादृत होते हैं, उस जराको मैं भोगना नहीं चाहता ॥ ५–६ ॥

ययातिरुवाच

यत्त्वं मे हृदयज्जातो वयः स्वं न प्रयच्छसि ।
तस्मादराज्यभाक्तात प्रजा ते वै भविष्यति ॥ ७ ॥

ययाति बोले– हे पुत्र ! मेरे हृदयसे जन्म ले करके भी तुमने अपनी अवस्था नहीं दी, अतः तुम्हारे वंशमें कोई राज्याधिकारी नहीं होगा ॥ ७ ॥

तुर्वसो प्रतिपद्यस्व पाप्मानं जरया सह।
यौवनेन चरेयं वै विषयांस्तव पुत्रक ॥ ८ ॥

(तब तुर्वसुसे बोले) हे पुत्र तुर्वसो ! तुम मेरी इस जराके साथ पापको लेलो, मैं तुम्हारे यौवनसे विषय भोगूं ॥ ८ ॥

पूर्णे वर्षसहस्रे तु पुनर्दास्यामि यौवनम्।
स्वं चैव प्रतिपत्स्यामि पाप्मानं जरया सह ॥ ९ ॥

बादमें सहस्र वर्ष पूरे होनेपर तुम्हारा यौवन तुमको देकर अपनी जराके साथ पाप ले लूंगा ॥ ९ ॥

तुर्वसुरुवाच

न कामये जरां तात कामभोगप्रणाशिनीम्।
बलरूपान्तकरणीं बुद्धिप्राणप्रणाशिनीम् ॥ १० ॥

तुर्वसुने उत्तर दिया– हे पिता ! जिससे मनमाने भोगसे हाथ धोना पडता है, जिससे बल और रूप बिगड जाता है, जिससे बुद्धि जाती रहती है और जिससे प्राण नष्ट हो जाता है, उस बुढापेको मैं नहीं चाहता हूं ॥ १० ॥

ययातिरुवाच

यत्त्वं मे हृदयाज्जातो वयः स्वं न प्रयच्छसि।
तस्मात्प्रजा समुच्छेदं तुर्वसो तव यास्यति ॥ ११ ॥

ययाति बोले– हे तुर्वसो ! तुमने मेरे हृदयसे जन्म लेकरके भी अपनी अवस्था नहीं दी, इसलिए तुम्हारी प्रजा सम्पूर्णरूपसे नष्ट हो जायगी ॥ ११ ॥

संकीर्णाचारधर्मेषु प्रतिलोमचरेषु च।
पिशिताशिषु चान्त्येषु मूढ राजा भविष्यसि ॥ १२ ॥

और जिनके आचार और धर्म बहुत संकीर्ण हैं, जो लोग अति लोभाचारी और मांस खानेवाले हैं, उन नीच कुलमें जन्मे हुए लोगोंमें, हे मूर्ख ! तुम राजा होओगे ॥ १२ ॥

गुरुदारप्रसक्तेषु तिर्यग्योनिगतेषु च।
पशुधर्मिषु पापेषु म्लेच्छेषु प्रभविष्यसि ॥ १३ ॥

जो अपने गुरुकी पत्नीसे आसक्त हैं, जिनके आचार पक्षियोंकी भांति हैं और जो पापिष्ठ पशुधर्मी तथा म्लेच्छ हैं, उनके तुम राजा होगे ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं स तुर्वसुं शप्त्वा ययातिः सुतमात्मनः ।
शर्मिष्ठायाः सुतं द्रुह्युमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १४ ॥

वैशम्पायन बोले– ययाति अपने पुत्र तुर्वसुको इस प्रकार शाप देकर शर्मिष्ठाके पुत्र द्रुह्युसे यह वचन बोले ॥ १४ ॥

द्रुह्यो त्वं प्रतिपद्यस्व वर्णरूपविनाशिनीम् ।
जरां वर्षसहस्रं मे यौवनं स्वं ददस्व च ॥ १५ ॥

हे द्रुह्यो ! सहस्र वर्षके लिये मेरे रङ्ग तथा रूपका नाश करनेवाली इस जराको लेकर अपना यौवन मुझे दो ॥ १५ ॥

पूर्णे वर्षसहस्रे तु प्रतिदास्यामि यौवनम् ।
स्वं चादास्यामि भूयोऽहं पाप्मानं जरया सह ॥ १६ ॥

जब सहस्र वर्ष पूरे हो जाएंगे तब तुम्हारा यौवन तुमको देकर फिर अपने पापके साथ जराको ले लूंगा ॥ १६ ॥

द्रुह्युरुवाच

न गजं न रथं नाश्वं जीर्णो भुंक्ते न च स्त्रियम् ।
वाग्भङ्गश्चास्य भवति तज्जरां नाभिकामये ॥ १७ ॥

द्रुह्यु बोला– जराग्रस्त जन जीर्ण शरीर धारी होनेके कारण घोडे, रथ, हाथी, स्त्री आदिको भोग नहीं सकता और उसकी वाणी भी बिगड जाती है, अतः मैं बुढापेको नहीं चाहता ॥ १७ ॥

ययातिरुवाच

यत्त्वं मे हृदयाज्जातो वयः स्वं न प्रयच्छसि ।
तस्माद्द्रुह्यो प्रियः कामो न ते संपत्स्यते क्वचित् ॥ १८ ॥

ययाति बोले– द्रुह्यो ! तुमने मेरे हृदयसे जन्म ले करके भी अपनी अवस्था नहीं दी, सो तुम्हारी अति प्रिय इच्छा भी कभी पूरी नहीं होगी ॥ १८ ॥

उडुपप्लवसंतारो यत्र नित्यं भविष्यति ।
अराजा भोजशब्दं त्वं तत्रावाप्स्यसि सान्वयः ॥ १९ ॥

तुम वंशसहित उस देशमें रहोगे कि जहां सदा बेडे और नावोंपरसे जाना पडता है, वहां लोग तुम्हें राजा न कहकर भोज कहा करेंगे ॥ १९ ॥

अनो त्वं प्रतिपद्यस्व पाप्मानं जरया सह।
एकं वर्षसहस्रं तु चरेयं यौवनेन ते ॥ २० ॥

अनन्तर अनु नामक पुत्रसे बोले— हे अनो ! तुम मेरे पापके सहित यह बुढापा ले लो, मैं तुम्हारे यौवनसे एक सहस्र वर्षतक विषय भोगूं ॥ २० ॥

अनुरुवाच

जीर्णः शिशुवदादत्तेऽकालेऽन्नमशुचिर्यथा।
न जुहोति च कालेऽग्निं तां जरां नाभिकामये ॥ २१ ॥

अनुने उत्तर दिया— जराग्रस्त जन अकालमें ही बच्चेके समान अशुचि शरीरसे अन्न ग्रहण करते हैं, उचित समयमें अग्निमें आहुति भी नहीं दे सकते, इससे जराको नहीं ले सकूंगा ॥ २१ ॥

ययातिरुवाच

यत्त्वं मे हृदयाज्जातो वयः स्वं न प्रयच्छसि।
जरादोषस्त्वयोक्तोऽयं तस्मात्त्वं प्रतिपत्स्यसे ॥ २२ ॥

ययाति बोले— तुमने मेरे हृदयसे जन्म ले करके भी अपनी युवावस्था नहीं दी, इस हेतु तुमने जो जराके दोष कहे हैं, उन्हींको प्राप्त करोगे ॥ २२ ॥

प्रजाश्च यौवनप्राप्ता विनशिष्यन्त्यनो तव।
अग्निप्रस्कन्दनपरस्त्वं चाप्येवं भविष्यसि ॥ २३ ॥

हे अनो ! तुम्हारी प्रजा यौवनमें पहुंचते ही मर जायगी और तुम भी श्रुति और स्मृतिके अनुसार अग्निकार्य्यसे वर्जित होवोगे ॥ २३ ॥

पूरो त्वं मे प्रियः पुत्रस्त्वं वरीयान्भविष्यसि।
जरा वली च मे तात पलितानि च पर्यगुः।
काव्यस्योशनसः शापान्न च तृप्तोऽस्मि यौवने ॥ २४ ॥

(अनन्तर पूरुसे बोले)— हे पूरो ! तुम मेरे प्यारे पुत्र हो, तुम्हीं सबसे श्रेष्ठ होगे, तात! बुढापे झुर्रिया और सफेदीने मुझपर चढाई कर दी है, मैं शुक्रके शापसे जराग्रस्त होनेके कारण यौवनसे भलीभांति तृप्त नहीं हो सका हूं ॥ २४ ॥

पूरो त्वं प्रतिपद्यस्व पाप्मानं जरया सह।
कंचित्कालं चरेयं वै विषयान्वयसा तव ॥ २५ ॥

हे पूरो ! तुम मेरे पापके साथ इस जराको ले लो, मैं तुम्हारे यौवनसे कुछ दिनोंतक विषय भोगूं ॥ २५ ॥

पूर्णे वर्षसहस्रे तु प्रतिदास्यामि यौवनम् ।
स्वं चैव प्रतिपत्स्यामि पाप्मानं जरया सह ॥ २६ ॥

बादमें सहस्र वर्ष पूरे होनेपर तुम्हारा यौवन तुमको देकर निज पापके साथ जराको ले लूंगा ॥ २६ ॥

वैशंपायन उवाच

एवमुक्तः प्रत्युवाच पूरुः पितरमञ्जसा ।
यथात्थ मां महाराज तत्करिष्यामि ते वचः ॥ २७ ॥

वैशम्पायन बोले-- पिताकी यह बात सुनते ही पूरुने विनयतासे उत्तर दिया, हे महाराज ! आपने जैसी आज्ञा दी है, मैं वही बात करूंगा ॥ २७ ॥

प्रतिपत्स्यामि ते राजन्पाप्मानं जरया सह ।
गृहाण यौवनं मत्तश्चर कामान्यथेप्सितान् ॥ २८ ॥

हे राजन् ! मैं आपके पापके साथ जराको ले लूंगा । हे राजन् ! आप मेरा यौवन ले लें और मनमाना विषय भोगिये ! ॥ २८ ॥

जरयाहं प्रतिच्छन्नो वयोरूपधरस्तव ।
यौवनं भवते दत्वा चरिष्यामि यथात्थ माम् ॥ २९ ॥

मैं आपकी अवस्था और रूपको धरकर जराग्रस्त होकर आपको यौवन देकर आपकी आज्ञाके अनुसार कार्य करूंगा ॥ २९ ॥

ययातिरुवाच

पूरो प्रीतोऽस्मि ते वत्स प्रीतश्चेदं ददामि ते ।
सर्वकामसमृद्धा ते प्रजा राज्ये भविष्यति ॥ ३० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥ २९४९ ॥

ययाति बोले– बेटा पूरो ! मैं तुम पर प्रसन्न हुआ, प्रीतिचित्तसे तुम्हें यह वर देता हूं, कि तुम्हारे राज्यमें प्रजा सभी कामनाओंको पाकर समृद्ध होगी ॥ ३० ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें उनासीवां अध्याय समाप्त ॥ ७९ ॥ ॥ २९४९ ॥

: ८० :

वैशम्पायन उवाच

पौरवेणाथ वयसा ययातिर्नहुषात्मजः।
प्रीतियुक्तो नृपश्रेष्ठश्चचार विषयान्प्रियान् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— नहुषपुत्र राजश्रेष्ठ ययाति प्रीतियुक्त होकर पूरुके यौवनसे प्रिय विषयोंको भोगने लगे ॥ १ ॥

यथाकामं यथोत्साहं यथाकालं यथासुखम्।
धर्माविरुद्धान्राजेन्द्रो यथार्हति स एव हि ॥ २ ॥

हे राजेन्द्र ! उनकी जैसी कामना और जैसा उत्साह था, वह उसके अनुसार उचित समयमें यथायोग्य धर्मसे विना विरोध किये वे सुख भोगने लगे ॥ २ ॥

देवानतर्पयद्यज्ञैः श्राद्धैस्तद्वत्पितॄनपि।
दीनाननुग्रहैरिष्टैः कामैश्च द्विजसत्तमान् ॥ ३ ॥
अतिथीनन्नपानैश्च विशश्च परिपालनैः।
आनृशंस्येन शूद्रांश्च दस्यून्संनिग्रहेण च ॥ ४ ॥

वह यज्ञोंसे देवोंको, श्राद्धसे पितरोंको, मनमानी कृपासे दीनोंको, कामनाओंको पूर्ण करके ब्राह्मणोंको, अन्नपानसे अतिथियोंको, भले प्रकार पालनसे प्रजाओंको और अनिर्दयतासे शूद्रोंको भली भांति तृप्त कर और लुटेरोंको वशमें करके ॥ ३–४ ॥

धर्मेण च प्रजाः सर्वा यथावदनुरञ्जयन्।
ययातिः पालयामास साक्षादिन्द्र इवापरः ॥ ५ ॥

तथा धर्मसे संपूर्ण प्रजाओंको अनुरक्त करके ययाति दूसरे देवराजके समान प्रजाको पालने लगे ॥ ५ ॥

स राजा सिंहविक्रान्तो युवा विषयगोचरः।
अविरोधेन धर्मस्य चचार सुखमुत्तमम् ॥ ६ ॥

सिंहवत् विक्रमी वह राजा विषयमें आसक्त होकर धर्मसे विना विरोध किये उत्तम सुखका भली प्रकार भोग करने लगे ॥ ६ ॥

स संप्राप्य शुभान्कामांस्तृप्तः खिन्नश्च पार्थिवः।
कालं वर्षसहस्रान्तं सस्मार मनुजाधिपः ॥ ७ ॥

वह अच्छी कामनाकी सामग्री पाकर सन्तुष्ट हुए, पर यह स्मरण कर कि, मेरी यौवनावस्था सहस्र वर्षमें पूरी होजायगी अति खेदयुक्तभी हुए ॥ ७ ॥

परिसंख्याय कालज्ञः कलाः काष्ठाश्च वीर्यवान् ।
पूर्णं मत्वा ततः कालं पूरुं पुत्रमुवाच ह ॥ ८ ॥

वीर्यवान् और कालको जाननेवाले राजर्षि कला काष्ठा आदि कालको गिनकर सहस्र वर्षोंको पूरा हुआ जानकर पुत्र पूरुसे बोले ॥ ८ ॥

यथाकामं यथोत्साहं यथाकालमरिंदम ।
सेविता विषयाः पुत्र यौवनेन मया तव ॥ ९ ॥

हे अरिन्दम पुत्र ! मैं तुम्हारे यौवनसे अभिलाषा और उत्साहके अनुसार उचित कालमें विषय भोग चुका हूं । ॥ ९ ॥

पूरो प्रीतोऽस्मि भद्रं ते गृहाणेदं स्वयौवनम् ।
राज्यं चैव गृहाणेदं त्वं हि मे प्रियकृत्सुतः ॥ १० ॥

हे पूरो ! तुम्हीं मेरे प्रियकार्य करनेहारे पुत्र हो, मैं तुम पर प्रसन्न हुआ हूं, तुम्हारा कल्याण होगा, तुम अपना यह यौवन लेकर इस राज्यको भी स्वीकार करो ॥ १० ॥

प्रतिपेदे जरां राजा ययातिर्नाहुषस्तदा ।
यौवनं प्रतिपेदे च पूरुः स्वं पुनरात्मनः ॥ ११ ॥

अनन्तर नहुषपुत्र ययातिने जराको ले लिया और पूरुने भी फिर अपना यौवन प्राप्त कर लिया ॥ ११ ॥

अभिषेक्तुकामं नृपतिं पूरुं पुत्रं कनीयसम् ।
ब्राह्मणप्रमुखा वर्णा इदं वचनमब्रुवन् ॥ १२ ॥

राजाके कनिष्ठ पुत्रको राज्यमें अभिषिक्त करनेकी अभिलाषा प्रगट करने पर ब्राह्मणादि चारों वर्णोंने राजाके समीप आकर यह कहा ॥ १२ ॥

कथं शुक्रस्य नप्तारं देवयान्याः सुतं प्रभो ।
ज्येष्ठं यदुमतिक्रम्य राज्यं पूरोः प्रदास्यसि ॥ १३ ॥

हे प्रभो ! शुक्रके नाती देवयानीसे जन्मे ज्येष्ठ यदुको छोड कर पूरुको क्यों राज्य देना चाहते हैं? ॥ १३ ॥

यदुर्ज्येष्ठस्तव सुतो जातस्तमनु तुर्वसुः ।
शर्मिष्ठायाः सुतो द्रुह्युस्ततोऽनुः पूरुरेव च ॥ १४ ॥

यदु आपके ज्येष्ठ पुत्र, तुर्वसु दूसरे और शर्मिष्ठाके गर्भमें उत्पन्न द्रुह्यु तीसरे, अनु चौथे और पूरु सबसे कनिष्ठ हैं ॥ १४ ॥

कथं ज्येष्ठानतिक्रम्य कनीयान्राज्यमर्हति।
एतत्संबोधयामस्त्वां धर्मं त्वमनुपालय ॥ १५ ॥

अतएव ज्येष्ठोंको छोडकर कनिष्ठ कैसे राज्याधिकारी हो सकता है? हमने यह आवेदन किया है, आप यथायोग्य धर्मका पालन कीजिये ॥ १५ ॥

ययातिरुवाच

ब्राह्मणप्रमुखा वर्णाः सर्वे शृण्वन्तु मे वचः।
ज्येष्ठं प्रति यथा राज्यं न देयं मे कथंचन ॥ १६ ॥

ययाति बोले— हे ब्राह्मणादि वर्णो! तुम सब मेरी बात सुनो, मैं ज्येष्ठको किसी प्रकार राज्य नहीं दूंगा ॥ १६ ॥

मम ज्येष्ठेन यदुना नियोगो नानुपालितः।
प्रतिकूलः पितुर्यश्च न स पुत्रः सतां मतः ॥ १७ ॥

ज्येष्ठ यदुने मेरी आज्ञा नहीं पाली है। जो पुत्र पिताके प्रतिकूल आचरण करता है, साधुओंके मतसे वह पुत्र नहीं माना जाता ॥ १७ ॥

मातापित्रोर्वचनकृद्धितः पथ्यश्च यः सुतः।
स पुत्रः पुत्रवद्यश्च वर्तते पितृमातृषु ॥ १८ ॥

जो पुत्र माता और पिताकी आज्ञासे चलनेवाला तथा हितकारी है, और पिता माता पर पुत्रके समान स्नेह करता है, वही पुत्र पुत्र है ॥ १८ ॥

यदुनाहमवज्ञातस्तथा तुर्वसुनापि च।
द्रुह्युना चानुना चैव मय्यवज्ञा कृता भृशम् ॥ १९ ॥

यदुने मेरी अवज्ञा की है, तथा उसी प्रकार तुर्वसु, द्रुह्यु, अनुने भी मेरे प्रति बडा अनादर प्रगट किया है ॥ १९ ॥

पूरुणा मे कृतं वाक्यं मानितश्च विशेषतः।
कनीयान्मम दायादो जरा येन धृता मम।
मम कामः स च कृतः पूरुणा पुत्ररूपिणा ॥ २० ॥

पूरुने मेरी बातको विशेष मानकर मेरी जराको ले लिया था, इससे पूरु कनिष्ठ होनेसे भी मेरा उत्तराधिकारी दायाद होगा। पुत्ररूपी पूरुने मेरी अभिलाषा पूरी की है ॥ २० ॥

शुक्रेण च वरो दत्तः काव्येनोशनसा स्वयम् ।
पुत्रो यस्त्वानुवर्तेत स राजा पृथिवीपतिः ।
भवतोऽनुनयाम्येवं पुरू राज्येऽभिषिच्यताम् ॥ २१ ॥

और कविपुत्र उशना शुक्रने स्वयं मुझको यह वर दिया है, कि जो पुत्र तुम्हारा आज्ञाकारी होगा, वही राज्याधिकारी होगा; अतएव तुमसे विनय करता हूं, कि तुम पूरुको राज्य-पर बैठाओ ॥ २१ ॥

प्रकृतय ऊचुः

यः पुत्रो गुणसंपन्नो मातापित्रोर्हितः सदा ।
सर्वमर्हति कल्याणं कनीयानपि स प्रभो ॥ २२ ॥

तब प्रजाओंने कहा – हे प्रभो ! जो पुत्र गुणयुक्त साधु, श्रेष्ठ और सदा पिता माताका हित-कारी होता है, वह कनिष्ठ होने परभी संपूर्ण कल्याणका पात्र हो सकता है ॥ २२ ॥

अर्हः पूरुरिदं राज्यं यः सुतः प्रियकृत्तव ।
वरदानेन शुक्रस्य न शक्यं वक्तुमुत्तरम् ॥ २३ ॥

अतएव आपका प्रियकारी पुत्र पूरु इस राज्यको प्राप्त करनेके योग्य है, इस विषयमें शुक्रने भी वर दिया है, अतः उसका उत्तर नहीं दिया जा सकता ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच

पौरजानपदैस्तुष्टैरित्युक्तो नाहुषस्तदा ।
अभ्यषिञ्चत्ततः पूरुं राज्ये स्वे सुतमात्मजम् ॥ २४ ॥

वैशम्पायन बोले— पुरवासी और जनपदवासियोंके सन्तुष्ट होकर वैसा कहने पर नहुष पुत्र ययातिने अपने पुत्र पूरुको राज्य पर अभिषिक्त किया ॥ २४ ॥

दत्त्वा च पूरवे राज्यं वनवासाय दीक्षितः ।
पुरात्स निर्ययौ राजा ब्राह्मणैस्तापसैः सह ॥ २५ ॥

राजा ययाति पूरुको राज्य देकर वनवासके लिये दीक्षित हो करके ब्राह्मण और तपस्वियोंके साथ पुरसे निकले ॥ २५ ॥

यदोस्तु यादवा जातास्तुर्वसोर्यवनाः सुताः ।
द्रुह्योरपि सुता भोजा अनोस्तु म्लेच्छजातयः ॥ २६ ॥

राजा ययातिके पुत्रोंमें यदुके वंशसे यादव, तुर्वसुके वंशसे यवन, द्रुह्युके वंशसे भोज और अनुके वंशसे म्लेच्छ जातिने जन्म लिया ॥ २६ ॥

×

पूरोस्तु पौरवो वंशो यत्र जातोऽसि पार्थिव।
इदं वर्षसहस्राय राज्यं कारयितुं वशी ॥ २७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥ २९७६ ॥

हे पृथ्वीनाथ! जिस वंशसे आपने संयतेन्द्रिय होकर सहस्र वर्ष राज्य करनेके लिये जन्म लिया है, वह पौरव वंश पूरुहीसे उत्पन्न हुआ है ॥ २७ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें अस्सीवां अध्याय समाप्त ॥ ८० ॥ २९७६ ॥

: ८१ :

वैशंपायन उवाच

एवं स नाहुषो राजा ययातिः पुत्रमीप्सितम्।
राज्येऽभिषिच्य मुदितो वानप्रस्थोऽभवन्मुनिः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– नहुपपुत्र राजा ययाति इस प्रकार अपने प्रिय पुत्रको राज्यपर अभिषिक्त कर प्रसन्नचित्तसे वानप्रस्थाश्रमका आश्रय कर मुनि हो गये ॥ १ ॥

उषित्वा च वने वासं ब्राह्मणैः सह संश्रितः।
फलमूलाशनो दान्तो यथा स्वर्गमितो गतः ॥ २ ॥

वह जितेन्द्रिय संयतव्रत और फलमूल भक्षी होकर ब्राह्मणोंके साथ कुछ काल वनमें रहकर स्वर्गको पधारे ॥ २ ॥

स गतः सुरवासं तं निवसन्मुदितः सुखम्।
कालस्य नातिमहतः पुनः शक्रेण पातितः ॥ ३ ॥

स्वर्गमें जाकर उन्होंने कुछकाल परम सुखसे काटा। पर बादमें थोडे समयके बाद देवराजने फिर उनको स्वर्गसे नीचे गिरा दिया ॥ ३ ॥

निपतन्प्रच्युतः स्वर्गादप्राप्तो मेदिनीतलम्।
स्थित आसीदन्तरिक्षे स तदेति श्रुतं मया ॥ ४ ॥

सुना है, कि वह स्वर्गसे च्युत होकर भूतलको प्राप्त नहीं हुए थे, अपितु आकाशहीमें ठहर गए थे ॥ ४ ॥

तत एव पुनश्चापि गतः स्वर्गमिति श्रुतिः ।
राज्ञा वसुमता सार्धमष्टकेन च वीर्यवान् ।
प्रतर्दनेन शिबिना समेत्य किल संसदि ॥ ५ ॥

बादमें ऐसा सुना जाता है कि उस वीर्यवान् राजाने वसुमान्, अष्टक, प्रतर्दन और शिबिके साथ एकत्र होकर फिर स्वर्गारोहण किया ॥ ५ ॥

जनमेजय उवाच

कर्मणा केन स दिवं पुनः प्राप्तो महीपतिः ।
सर्वमेतदशेषेण श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ।
कथ्यमानं त्वया विप्र विप्रर्षिगणसंनिधौ ॥ ६ ॥

जनमेजय बोले-- यह कथा आद्योपान्त भली प्रकार सुनना चाहता हूं, कि महीपति ययाति किस कार्यसे फिर देवलोकको प्राप्त हुए, आप इन ब्राह्मणों और ऋषियोंके सामने कहिये ॥६॥

देवराजसमो ह्यासीद्ययातिः पृथिवीपतिः ।
वर्धनः कुरुवंशस्य विभावसुसमद्युतिः ॥ ७ ॥
तस्य विस्तीर्णयशसः सत्यकीर्तेर्महात्मनः ।
चरितं श्रोतुमिच्छामि दिवि चेह च सर्वशः ॥ ८ ॥

वह कुरुवंशके बढानेवाले, सूर्यके समान तेजस्वी पृथ्वीपति ययाति देवराजके सदृश थे; सर्वत्र फैले हुए यशवाले, सत्य कीर्तिवाले उन महात्माके इस लोक और परलोककी संपूर्ण कथा सुननेका अभिलाषी हूं ॥ ७-८ ॥

वैशम्पायन उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि ययातेरुत्तरां कथाम् ।
दिवि चेह च पुण्यार्थां सर्वपापप्रणाशिनीम् ॥ ९ ॥

वैशम्पायन बोले- हे राजन्! स्वर्गमें और इस लोकमें पुण्य उपजानेवाली सर्व पापनाशिनी राजा ययातिकी उत्तर अर्थात् बादकी कथा आपसे कहता हूं, सुनिये ॥ ९ ॥

ययातिर्नाहुषो राजा पूरुं पुत्रं कनीयसम् ।
राज्येऽभिषिच्य मुदितः प्रवव्राज वनं तदा ॥ १० ॥

तब नहुष-पुत्र राजा ययाति कनिष्ठपुत्र पूरुको राज्यपर अभिषिक्त कर प्रसन्न होकर वनको चले गए ॥ १० ॥

अन्तेषु स विनिक्षिप्य पुत्रान्यदुपुरोगमान् ।
फलमूलाशनो राजा वने संन्यवसच्चिरम् ॥ ११ ॥

और यदु आदि पुत्रोंको नीच देशमें स्थापित करके फलमूलभक्षक होकरके बहुकालतक वनमें रहे ॥ ११ ॥

संशितात्मा जितक्रोधस्तर्पयन्पितृदेवताः ।
अग्नींश्च विधिवज्जुह्वन्वानप्रस्थविधानतः ॥ १२ ॥

उसकालमें उन्होंने संयतात्मा और जितक्रोध होकर देवता और पितरोंका तर्पण करते हुए वानप्रस्थकी विधिसे विधिपूर्वक अग्निमें आहुति दी ॥ १२ ॥

अतिथीन्पूजयामास वन्येन हविषा विभुः ।
शिलोञ्छवृत्तिमास्थाय शेषान्नकृतभोजनः ॥ १३ ॥

वह राजा वनके फल मूल और घृतसे अतिथियोंकी पूजा किया करते थे। विभु शिल और उञ्छवृत्ति अवलम्बन कर शस्यको चुन चुनकर शेष अन्नका भोजन करते थे ॥ १३ ॥

पूर्णं वर्षसहस्रं च एवंवृत्तिरभून्नृपः ।
अब्भक्षः शरदस्त्रिंशदासीन्नियतवाङ्मनाः ॥ १४ ॥

इस प्रकारकी वृत्तिसे उस राजाने पूरे सहस्र वर्ष व्यतीत किये थे; आगे उन्होंने संयतचित्त होकर कुछ न खाते हुए तीस वर्ष काटे ॥ १४ ॥

ततश्च वायुभक्षोऽभूत्संवत्सरमतन्द्रितः ।
पञ्चाग्निमध्ये च तपस्तेपे संवत्सरं नृपः ॥ १५ ॥

अनन्तर तन्द्रा रहित होकर वर्षभर वायु पीकर जीवित रहे; अन्तमें एक वर्ष पञ्चाग्निके बीचमें तपस्या की ॥ १५ ॥

एकपादस्थितश्चासीत्षण्मासाननिलाशनः ।
पुण्यकीर्तिस्ततः स्वर्गं जगामावृत्य रोदसी ॥ १६ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥ २९९२ ॥

छः महीने वायुका भक्षण करते हुए एक पांवके बल खडे रहे, अनन्तर पुण्यकीर्ति नहुषनन्दनने आकाश-मण्डलको चमका कर स्वर्गारोहण किया ॥ १६ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें इक्क्यासीवां अध्याय समाप्त ॥ ८१ ॥ २९९२ ॥

: ८२ :

वैशम्पायन उवाच

स्वर्गतः स तु राजेन्द्रो निवसन्देवसद्मनि ।
पूजितस्त्रिदशैः साध्यैर्मरुद्भिर्वसुभिस्तथा ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– वह राजेन्द्र ययाति देव, साध्य, मरुत और वसुओंसे भली भांति पूजे जाकर देवालयमें रहने लगे ॥ १ ॥

देवलोकाद्ब्रह्मलोकं संचरन्पुण्यकृद्वशी ।
अवसत्पृथिवीपालो दीर्घकालमिति श्रुतिः ॥ २ ॥

और देवलोकसे ब्रह्मलोकमें विचरते हुए पुण्यकारी, जितेन्द्रिय उस पृथ्वीपतिने इस प्रकारसे बहुतकाल स्वर्गवास किया, ऐसा सुना जाता है ॥ २ ॥

स कदाचिन्नृपश्रेष्ठो ययातिः शक्रमागमत् ।
कथान्ते तत्र शक्रेण पृष्टः स पृथिवीपतिः ॥ ३ ॥

एक समय वह नृपश्रेष्ठ ययाति देवराजके पास गए, तब बातचीतके अन्तमें इन्द्रने उनसे पूछा ॥ ३ ॥

शक्र उवाच

यदा स पूरुस्तव रूपेण राजञ्जरां गृहीत्वा प्रचचार भूमौ ।
तदा राज्यं संप्रदायैव तस्मै त्वया किमुक्तः कथयेह सत्यम् ॥ ४ ॥

इन्द्र बोले– राजन् ! जब पूरु तुम्हारा स्वरूप धरकर और बुढापा लेकर भूमण्डलमें घूमे फिरे थे, तब सच कहो तुमने उनको राज्य देकर क्या कहा था ॥ ४ ॥

ययातिरुवाच

गङ्गायमुनयोर्मध्ये कृत्स्नोऽयं विषयस्तव ।
मध्ये पृथिव्यास्त्वं राजा भ्रातरोऽन्त्याधिपास्तव ॥ ५ ॥

ययाति बोले– (तब मैंने पूरुसे यह कहा था, कि) गङ्गा और यमुनाके बीचमें जितने देश हैं, वह सभी तुम्हारे हैं, इन दोनों नदियोंके बीचके भूमण्डलके तुम्हीं राजा हो और तुम्हारे दूसरे भाई नीच जातियोंके राजा हैं ॥ ५ ॥

अक्रोधनः क्रोधनेभ्यो विशिष्टस्तथा तितिक्षुरतितिक्षोर्विशिष्टः ।
अमानुषेभ्यो मानुषाश्च प्रधाना विद्वांस्तथैवाविदुषः प्रधानः ॥ ६ ॥

और यह उपदेश भी किया था, कि क्रोधीसे अक्रोधी श्रेष्ठ, अक्षमीसे क्षमी श्रेष्ठ, नीच जीवसे मनुष्य जाति श्रेष्ठ और अविद्वान् जनसे विद्वान्जन श्रेष्ठ कहे जाते हैं ॥ ६ ॥

आक्रुश्यमानो नाक्रोशेन्मन्युरेव तितिक्षतः।
आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चास्य विन्दति ॥ ७ ॥

किसीके आक्रोश करने पर बदलेमें आक्रोश मत करना, क्योंकि सहनशील जनका मन्युही आक्रोशकारीको जला देती है और उस क्षमाशील जनको पुण्य भी प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

नारुन्तुदः स्यान्न नृशंसवादी न हीनतः परमभ्याददीत।
ययास्य वाचा पर उद्विजेत न तां वदेद्रुशतीं पापलोक्याम् ॥ ८ ॥

औरोंके पीडा देनेवाला वा निष्ठुर वाणी कहनेवाला न होना, अभिचार आदि नीच उपायोंसे शत्रुको वशमें न लाना और जिस बातसे औरोंके चित्तमें दुःख पहुंचनेकी संभावना हो, ऐसी जलानेवाली पापयुक्त बात भी किसीसे न कहना ॥ ८ ॥

अरुन्तुदं पुरुषं रूक्षवाचं वाक्कण्टकैर्वितुदन्तं मनुष्यान्।
विद्यादलक्ष्मीकतमं जनानां मुखे निबद्धां निर्ऋतिं वहन्तम् ॥ ९ ॥

जो जन वाक्यरूपी कांटोंसे मनुष्योंको बींधता है, जिसके मुखमें औरको पीडा पहुंचानेवाला वाक्यरूपी राक्षस बैठा है, ऐसे कडे कहनेवाले निष्ठुरजनको देखनेसे भी लक्ष्मी छूट जाती है ॥ ९ ॥

सद्भिः पुरस्तादभिपूजितः स्यात्सद्भिस्तथा पृष्ठतो रक्षितः स्यात्।
सदासतामतिवादांस्तितिक्षेत्सतां वृत्तं चाददीतार्यवृत्तः ॥ १० ॥

सुचरित्रजन असाधुओंसे लाञ्छित होनेसे भी सदा साधुओंसे पहिले पूजित और पीछेसे रक्षित भी होते हैं। इसलिए उत्तम चरित्रवाले जन हमेशा दुष्टोंके कटुशब्दोंको सुनकर भी उन्हें सहता और दुष्टोंको क्षमा करता रहे और सज्जनोंके आचरणको ही अपने जीवनमें उतारता जाए ॥ १० ॥

वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति यैराहतः शोचति रात्र्यहानि।
परस्य वा मर्मसु ये पतन्ति तान्पण्डितो नावसृजेत्परेषु ॥ ११ ॥

मुखसे वाक्यरूपी तेजबाण निकलकर अन्यके मर्मस्थान हीमें गिरते हैं, उससे जो जन घायल होता है, वह दिन रात मनके दुःखसे दुःखी रहता है, अतएव पण्डित जन किसीके मर्म पर जाकर गिरनेवाले वह वाक्यबाण नहीं मारते ॥ ११ ॥

न हीदृशं संवननं त्रिषु लोकेषु विद्यते।
यथा मैत्री च भूतेषु दानं च मधुरा च वाक् ॥ १२ ॥

सब जीवोंसे मित्रता, दान और मीठी बात इनके समान धन तीनों भुवनमें दूसरा नहीं है ॥ १२ ॥

तस्मात्सान्त्वं सदा वाच्यं न वाच्यं परुषं क्वचित् ।
पूज्यान्संपूजयेद्दद्यान्न च याचेत्कदाचन ॥ १३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥ २००५ ॥

अतएव सदा शान्त वचन कहना चाहिए, कदापि निष्ठुर बात नहीं कहनी चाहिए, पूजनीय जनकी पूजा करनी और दानशील होना, कभी भीख नहीं मांगना चाहिए ॥ १३ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें बयासीवां अध्याय समाप्त ॥ ८२ ॥ २००५ ॥

: ८३ :

इन्द्र उवाच

सर्वाणि कर्माणि समाप्य राजन्गृहान्परित्यज्य वनं गतोऽसि ।
तत्त्वां पृच्छामि नहुषस्य पुत्र केनासि तुल्यस्तपसा ययाते ॥ १ ॥

इन्द्र बोले– हे राजन् नहुष-पुत्र ययाति ! जब तुम सम्पूर्ण कर्म पूरे कर गृहाश्रमको त्याग कर वनमें सिधारे, तब मैं तुमसे पूछता हूं कि तपस्यामें तुम किसके सदृश हो ॥ १ ॥

ययातिरुवाच

नाहं देवमनुष्येषु न गन्धर्वमहर्षिषु ।
आत्मनस्तपसा तुल्यं कंचित्पश्यामि वासव ॥ २ ॥

ययाति बोले– हे वासव ! देव, मानव, गन्धर्व और महर्षियोंमें मैं अपने समान तपस्वी किसीको नहीं देखता ॥ २ ॥

इन्द्र उवाच

यदावमंस्थाः सदृशः श्रेयसश्च पापीयसश्चाविदितप्रभावः ।
तस्माल्लोका अन्तवन्तस्तवेमे क्षीणे पुण्ये पतितास्यद्य राजन् ॥ ३ ॥

इन्द्र बोले– हे राजन् ! तुमने औरोंके प्रभाव न जान करकेही अपनेसे श्रेष्ठ, तुल्य और अधम सबोंका अपमान किया, इस हेतु तुम्हारा पुण्यक्षय हो गया, उसके साथ ही तुम्हारे इस स्वर्गभोगका भी अन्त हुआ, इसलिये तुम आज ही देवलोकसे नीचे गिरोगे ॥ ३ ॥

ययातिरुवाच

सुरर्षिगन्धर्वनरावमानात्क्षयं गता मे यदि शक्र लोकाः ।
इच्छेयं वै सुरलोकाद्विहीनः सतां मध्ये पतितुं देवराज ॥ ४ ॥

ययाति बोले– हे देवराज ! देव, ऋषि, गन्धर्व और मनुष्योंका अपमान प्रगट करनेसे यदि मेरा स्वर्ग–भोगका अन्त हुआ हो, च्युत होकर साधु–समाजमें चाहता हूं ॥ ४ ॥

इन्द्र उवाच

सतां सकाशे पतितासि राजंश्च्युतः प्रतिष्ठां यत्र लब्धासि भूयः।
एवं विदित्वा तु पुनर्ययाते न तेऽवमान्याः सदृशः श्रेयसश्च ॥ ५ ॥

इन्द्र बोले– हे राजन् ! तुम स्वर्गसे भ्रष्ट होकर साधुओंके निकट गिरोगे और वहां फिर प्रतिष्ठा लाभ कर सकोगे। हे ययाते ! तुमको अब धर्मका मर्म ज्ञात हुआ है, सो फिर कभी तुल्य और श्रेष्ठ जनोंका अनादर मत करना ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रहायामरराजजुष्टान्पुण्याँल्लोकान्पतमानं ययातिम्।
संप्रेक्ष्य राजर्षिवरोऽष्टकस्तमुवाच सद्धर्मविधानगोप्ता ॥ ६ ॥

वैशम्पायन बोले– तब राजा ययाति देवराजसे सुशोभित पुण्यलोकको छोडकर गिर रहे थे कि ऐसे समयमें साधुके रक्षक राजर्षिश्रेष्ठ अष्टक उनको देखकर बोले ॥ ६ ॥

कस्त्वं युवा वासवतुल्यरूपः स्वतेजसा दीप्यमानो यथाग्निः।
पतस्युदीर्णाम्बुधरान्धकारात्खात्खेचराणां प्रवरो यथार्कः ॥ ७ ॥

अपने तेजसे अग्नि समान प्रज्वलित, इन्द्रके सदृश रूप–यौवनयुक्त और आकाशमें चरने-वालोंमें श्रेष्ठ, सूर्यके समान तुम कौन मेघरूपी अंधियारेको हटाते हुए आकाशसे गिर रहे हो ? ॥ ७ ॥

दृष्ट्वा च त्वां सूर्यपथात्पतन्तं वैश्वानरार्कद्युतिमप्रमेयम्।
किं नु स्विदेतत्पततीति सर्वे वितर्कयन्तः परिमोहिताः स्मः ॥ ८ ॥

अग्नि वा सूर्यके समान प्रकाशमान तुमको सूर्यके मार्गसे गिरते हुए देखकर हम सभी लोग मोहित होकर " यह क्या गिर रहा है" कहके तर्क वितर्क कर रहे हैं ॥ ८ ॥

दृष्ट्वा च त्वां विष्ठितं देवमार्गे शक्रार्कविष्णुप्रतिमप्रभावम्।
अभ्युद्गतास्त्वां वयमद्य सर्वे तत्त्वं पाते तव जिज्ञासमानाः ॥ ९ ॥

हम सब तुमको उपेन्द्र, इन्द्र और सूर्यके सदृश प्रभावी और देवमार्गमें स्थित देखकर तुम्हारे गिरनेके कारण जाननेके लिये उठ खडे हुए हैं ॥ ९ ॥

न चापि त्वां धृष्णुमः प्रष्टुमग्रे न च त्वमस्मान्पृच्छसि ये वयं स्मः।
तत्त्वां पृच्छामः स्पृहणीयरूपं कस्य त्वं वा किंनिमित्तं त्वमागाः ॥ १० ॥

उत्तम रूपवान् पहिले तुमसे तुम्हारा परिचय पूछनेकी धृष्टता हम नहीं कर सकते पर आप यह भी नहीं पूछते कि हम कौन हैं; इस हेतुसे पूछते हैं, कि तुम किसके पुत्र हो ? और क्यों आ रहे हो ? ॥ १० ॥

भयं तु ते व्येतु विषादमोहौ त्यजाशु देवेन्द्रसमानरूप ।
त्वां वर्तमानं हि सतां सकाशे नालं प्रसोढुं बलहापि शक्रः　　　॥ ११ ॥
हे इन्द्रके समान प्रभावी ! तुम्हारा भय दूर होवे, तुम खेद और मोहको झट दूर करो, तुम्हारे इन साधुओंके पास ठहरनेसे बलनाशी इन्द्र भी तुमको सता नहीं सकेंगे ॥ ११ ॥

सन्तः प्रतिष्ठा हि सुखच्युतानां सतां सदैवामरराजकल्प ।
ते संगताः स्थावरजङ्गमेशाः प्रतिष्ठितस्त्वं सदृशेषु सत्सु　　　॥ १२ ॥
हे अमरराज इन्द्रके समान ! सुखसे च्युत हुए हुए सज्जनोंकी साधु-लोगही भली भांति सदा रक्षा करते हैं, इस स्थानमें उन चराचर भूतोंके प्रभु वे साधु भी बहुत एकत्र हैं, अतएव तुम अपने समान सज्जनोंके निकटही आ पहुंचे हो ॥ १२ ॥

प्रभुरग्निः प्रतपने भूमिरावपने प्रभुः ।
प्रभुः सूर्यः प्रकाशित्वे सतां चाभ्यागतः प्रभुः　　　॥ १३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३ ॥ ३०१६ ॥

जिस प्रकार अग्नि ताप देनेमें समर्थ हैं, भूमि बीज आदिके बोनेके लिए उपयुक्त है और सूर्य अंधेरा दूर करनेमें समर्थ है, उसी प्रकार साधुओंके लिए अतिथि जन प्रभु होते हैं ॥ १३ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें तिरासीवां अध्याय समाप्त ॥ ८३ ॥ ३०१६ ॥

: ८४ :

ययातिरुवाच

अहं ययातिर्नहुषस्य पुत्रः पूरोः पिता सर्वभूतावमानात् ।
प्रभ्रंशितः सुरसिद्धर्षिलोकात्परिच्युतः प्रपताम्यल्पपुण्यः　　　॥ १ ॥
ययाति बोले- मैं नहुषका पुत्र और पूरुका पिता हूं, मेरा नाम ययाति है । मैंने सब जीवोंका अपमान किया था, इस हेतु पुण्य घटनेसे सुर, सिद्ध और ऋषिलोकसे च्युत होकर गिर रहा हूं; ॥ १ ॥

अहं हि पूर्वो वयसा भवद्भ्यस्तेनाभिवादं भवतां न प्रयुञ्जे ।
यो विद्यया तपसा जन्मना वा वृद्धः स पूज्यो भवति द्विजानाम्　　॥ २ ॥
मैं तुमसे आयुमें ज्येष्ठ हूं, इस हेतु मैंने तुमको नमस्कार नहीं किया, क्योंकि जो जन विद्या या तपस्या अथवा जन्मसे वृद्ध होते हैं वही द्विजातियोंमें पूजनीय होते हैं ॥ २ ॥

×

अष्टक उवाच

अवादीश्चेद्वयसा यः स वृद्ध इति राजन्नाभ्यवदः कथंचित्।
यो वै विद्वान्वयसा सन्स्म वृद्धः स एव पूज्यो भवति द्विजानाम् ॥ ३ ॥

अष्टक बोले— हे राजन् ! तुमने जो कहा, कि जो जन आयुमें वृद्ध होते हैं, वह पूजनीय होते हैं, यह गलत है, क्योंकि ऐसा कहा है, कि जो जन विद्या और तपस्यासे वृद्ध हैं, वही द्विजोंमें पूजनीय होते हैं ॥ ३ ॥

ययातिरुवाच

प्रतिकूलं कर्मणां पापमाहुस्तद्वर्ततेऽप्रवणे पापलोक्यम्।
सन्तोऽसतां नानुवर्तन्ति चैतद्यथा आत्मैषामनुकूलवादी ॥ ४ ॥

ययाति बोले— विद्या और तपस्यादि कर्मके विषयमें अहङ्कारको पण्डितोंने नरक उपजानेवाला पाप कहा है, वह अहङ्कार स्वतन्त्र जनमें ही वर्तता है, साधु लोग उन स्वतन्त्र असाधुओंके समान अहंकारके वशमें नहीं होते, पूर्वकालके सज्जन भी ऐसे थे; मैं वैसा न करके ही स्वर्गसे च्युत हुआ हूं ॥ ४ ॥

अभूद्धनं मे विपुलं महद्वै विचेष्टमानो नाधिगन्ता तदस्मि।
एवं प्राधार्यात्महिते निविष्टो यो वर्तते स विजानाति जीवन् ॥ ५ ॥

हे ऋषे ! मुझमें पुण्यरूपी प्रचुर धन संचित था, वह मेरे अहंकारहीसे नष्ट हुआ है, इस समय विशेष प्रयत्न करके भी उसको फिर पा नहीं सकता। जो मेरी ऐसी गति देखकर आत्महित साधनेमें प्रयत्नशील होंगे, वही बुद्धिमान् हैं ॥ ५ ॥

नानाभावा बहवो जीवलोके दैवाधीना नष्टचेष्टाधिकाराः।
तत्तत्प्राप्य न विहन्येत धीरो दिष्टं बलीय इति मत्वात्मबुद्ध्या ॥ ६ ॥

इस जीवलोकमें नाना भावनावाले अनेक जन हैं, क्योंकि सभी दैवाधीन हैं, इससे उनकी चेष्टा और योग्यता सभी विनष्ट होजाती है। अतएव धीर पुरुष अपनी बुद्धिसे अदृष्टका बल समझकर सुख वा दुःख आनेपर उनसे क्रोध या द्वेष करके आत्मशक्ति क्षीण नहीं करते ॥ ६ ॥

सुखं हि जन्तुर्यदि वापि दुःखं दैवाधीनं विन्दते नात्मशक्त्या।
तस्माद्दिष्टं बलवन्मन्यमानो न संज्वरेन्नापि हृष्येत्कदाचित् ॥ ७ ॥

प्राणी सुख वा दुःख अपने पूर्वकृतकर्मोंके या भाग्यके अनुसार ही भोगते हैं, अपनी आत्मशक्तिके अनुसार नहीं। अतएव दैवको औरोंसे बली जानकर सुख दुःखमें प्रसन्न वा दुःखी होना किसी प्रकार उचित नहीं है ॥ ७ ॥

दुःखे न तप्येन्न सुखेन हृष्येत्समेन वर्तेत सदैव धीरः ।
दिष्टं बलीय इति मन्यमानो न संज्वरेन्नापि हृष्येत्कदाचित् ॥ ८ ॥
धीर जन दुःख भोगनेके कालमें दुःखी वा सुख भोगनेके कालमें प्रसन्न नहीं होते, सदा एकभावसे रहते हैं; वह भाग्य बडा बलवान् है यह जानकर किसी प्रकार भी संताप असंतोषमें लिप्त नहीं होते ॥ ८ ॥

भये न मुह्याम्यष्टकाहं कदाचित्संतापो मे मानसो नास्ति कश्चित् ।
धाता यथा मां विदधाति लोके ध्रुवं तथाहं भवितेति मत्वा ॥ ९ ॥
हे अष्टक ! विधाताने मुझे जैसा बना दिया है, वैसा ही मैं बनूंगा, यह सोचकर मैं कभी भयसे मोहित नहीं हुआ और मेरा मानसिक कोई सन्ताप भी नहीं है ॥ ९ ॥

संस्वेदजा अण्डजा उद्भिदाश्च सरीसृपाः कृमयोऽथाप्सु मत्स्याः ।
तथाश्मानस्तृणकाष्ठं च सर्वं दिष्टक्षये स्वां प्रकृतिं भजन्ते ॥ १० ॥
देखो, पसीनेसे, अण्डेसे और भूमि फोडकर उत्पन्न होनेवाले, सर्प, बिच्छू, मछली आदि जलके और स्थलके कीट, पत्थर और तृण काष्ठादि पदार्थ हैं सभी नियतिके अन्तमें अपनी अपनी प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं ॥ १० ॥

अनित्यतां सुखदुःखस्य बुद्ध्वा कस्मात्संतापमष्टकाहं भजेयम् ।
किं कुर्यां वै किं च कृत्वा न तप्ये तस्मात्संतापं वर्जयाम्यप्रमत्तः ॥ ११ ॥
हे अष्टक ! सुख दुःख अनित्य हैं, अतएव क्यों उनसे तापित हूंगा ? यह विचार कर कि क्या करूं, क्या करनेसे संताप जाता रहेगा, अप्रमत्त होकर संतापका विसर्जन कर दिया है ॥ ११ ॥

अष्टक उवाच

ये ये लोकाः पार्थिवेन्द्र प्रधानास्त्वया भुक्ता यं च कालं यथा च ।
तन्मे राजन्ब्रूहि सर्वं यथावत्क्षेत्रज्ञवद्भाषसे त्वं हि धर्मान् ॥ १२ ॥
अष्टकने पूछा– हे पृथ्वीपते ! तुम क्षेत्रज्ञ आदिके समान धर्मकी कथा कह रहे हो, अतएव तुमने जितने कालमें जिस प्रकारसे जिन जिन प्रधान लोकोंका भोग किया है, वह सब मुझसे कहो ॥ १२ ॥

ययातिरुवाच

राजाहमासमिह सार्वभौमस्ततो लोकान्महतो अजयं वै ।
तत्रावसं वर्षसहस्रमात्रं ततो लोकं परमस्म्यभ्युपेतः ॥ १३ ॥
ययाति बोले– मैं इसलोकमें सार्वभौम राजा था, उसके बाद महत् लोकको जीता, वहां सहस्र वर्षतक वास किया, पश्चात् मैंने परमलोकको प्राप्त किया ॥ १३ ॥

ततः पुरीं पुरुहूतस्य रम्यां सहस्रद्वारां शतयोजनायताम् ।
अध्यावसं वर्षसहस्रमात्रं ततो लोकं परमस्म्यभ्युपेतः ॥ १४ ॥
उसके बाद सहस्र द्वारयुक्त सौ योजन फैली हुई सुन्दर इन्द्रपुरीमें सहस्र वर्षतक वास किया, अनन्तर दूसरे लोकको प्राप्त किया ॥ १४ ॥

ततो दिव्यमजरं प्राप्य लोकं प्रजापतेर्लोकपतेर्दुरापम् ।
तत्रावसं वर्षसहस्रमात्रं ततो लोकं परमस्म्यभ्युपेतः ॥ १५ ॥
जो उससे भी श्रेष्ठ दुष्प्राप्य दिव्य अजर लोकपति प्रजापतिलोकको प्राप्त कर वहां भी सहस्र वर्ष वास किया, आगे उससे भी परम लोकको पाया ॥ १५ ॥

देवस्य देवस्य निवेशने च विजित्य लोकानवसं यथेष्टम् ।
संपूज्यमानस्त्रिदशैः समस्तैस्तुल्यप्रभावद्युतिरीश्वराणाम् ॥ १६ ॥
देव-देवके घरमें विहार कर देवोंसे पूजे जाकर तथा देवोंके तुल्य प्रभावी और तुल्य द्युतिमान् होकर मनमाने लोकोंमें वास किया ॥ १६ ॥

तथावसं नन्दने कामरूपी संवत्सराणामयुतं शतानाम् ।
सहाप्सरोभिर्विहरन्पुण्यगन्धान्पश्यन्नगान्पुष्पितांश्चारुरूपान् ॥ १७ ॥
अन्तमें कामरूपी होकर दश लक्ष वर्ष नन्दनवनमें वास किया, सुगन्धवाले फूल लगे हुए मनोहर वृक्षदल और पर्वतोंको देखता हुआ अप्सराओंके साथ विहार करने लगा ॥ १७ ॥

तत्रस्थं मां देवसुखेषु सक्तं कालेऽतीते महति ततोऽतिमात्रम् ।
दूतो देवानामब्रवीदुग्ररूपो ध्वंसेत्युच्चैस्त्रिः प्लुतेन स्वरेण ॥ १८ ॥
इस प्रकार स्वर्गीय सुखमें आसक्त रहनेमें बहुत काल व्यतीत हुआ । अनन्तर उग्ररूपी देवदूतने मेरे पास आकर " च्युत हो " यह बात उच्च प्लुतस्वरसे तीन बार कही ॥ १८ ॥

एतावन्मे विदितं राजसिंह ततो भ्रष्टोऽहं नन्दनात्क्षीणपुण्यः ।
वाचोऽश्रौषं चान्तरिक्षे सुराणामनुक्रोशाच्छोचतां मानवेन्द्र ॥ १९ ॥
हे राजसिंह ! मैं इतना ही मात्र जानता हूं, आगे उसीक्षण में अल्प पुण्यवान् होकर नन्दन वनसे च्युत हुआ । हे नरेन्द्र ! तब शोक करनेवाले सुरोंका यह खेद वाक्य आकाश-मार्गमें सुना ॥ १९ ॥

अहो कष्टं क्षीणपुण्यो ययातिः पतत्यसौ पुण्यकृत्पुण्यकीर्तिः ।
तानब्रुवं पतमानस्ततोऽहं सतां मध्ये निपतेयं कथं नु ॥ २० ॥
हाय ! कैसे दुःखकी बात है ! वह देखो, पुण्य-कारी, पुण्य-कीर्तिमान् ययाति क्षीणपुण्य होकर गिर रहे हैं ! तब मैंने गिरते हुए ही उनसे पूछा, कि मैं साधु समाजमें कैसे गिर सकता हूं ? ॥ २० ॥

तैराख्याता भवतां यज्ञभूमिः समीक्ष्य चैनां त्वरितमुपागतोऽस्मि ।
हविर्गन्धं देशिकं यज्ञभूमेर्धूमापाङ्गं प्रतिगृह्य प्रतीतः ॥ २१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥ ३०३७ ॥

अनन्तर जिन्होंने मुझको तुम्हारी यह यज्ञ-भूमि दिखायी; इस यज्ञ भूमिमें धुंएसे सूचित उपदेश करनेवालेकी भांति हविका गन्ध सूंघकर प्रसन्नचित्त होकर इस यज्ञभूमिमें शीघ्र चला आया ॥ २१ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें चौरासीवां अध्याय समाप्त ॥ ८४ ॥ ३०३७ ॥

: ८५ :

अष्टक उवाच

यदावसो नन्दने कामरूपी संवत्सराणामयुतं शतानाम् ।
किं कारणं कार्तयुगप्रधान हित्वा तत्त्वं वसुधामन्वपद्यः ॥ १ ॥

अष्टक बोले– हे सत्यशील ! तुम कामरूपी होकर दश लक्ष वर्ष नन्दनवनमें वसे थे, अनन्तर किस हेतु उसको छोडकर भूतलमें उतरे ? ॥ १ ॥

ययातिरुवाच

ज्ञातिः सुहृत्स्वजनो यो यथेह क्षीणे वित्ते त्यज्यते मानवैर्हि ।
तथा तत्र क्षीणपुण्यं मनुष्यं त्यजन्ति सद्यः सेश्वरा देवसङ्घाः ॥ २ ॥

ययाति बोले– जिस प्रकार इस लोकमें भी किसीके स्वल्पवित्त होनेपर उसको ज्ञाति, मित्र और स्वजनगण त्याग देते हैं, उसी प्रकार वहां मनुष्योंके क्षीण-पुण्य होनेपर ऐश्वर्यवान् देवगण उनको उसी क्षण त्याग देते हैं ॥ २ ॥

अष्टक उवाच

कथं तस्मिन्क्षीणपुण्या भवन्ति संमुह्यते मेऽत्र मनोऽतिमात्रम् ।
किंविशिष्टाः कस्य धामोपयान्ति तद्वै ब्रूहि क्षेत्रवित्त्वं मतो मे ॥ ३ ॥

अष्टकने कहा– उस देवलोकमें वहांके लोग क्षी -पुण्य कैसे होते हैं ? इस विषयमें मुझे वडी शङ्का हो रही है । फिर यह भी कु के किस पुण्यके करनेसे कौनसे प्रजापति-धाममें लोग जाते हैं, क्योंकि तुम ॥

ययातिरुवाच

इमं भौमं नरकं ते पतन्ति लालप्यमाना नरदेव सर्वे।

ये कङ्कगोमायुबलाशनार्थं क्षीणा विवृद्धिं बहुधा व्रजन्ति ॥ ४ ॥

ययाति बोले– हे नरदेव ! जो लोग अपनी उन्नति निज मुखसे प्रगट करते हैं, वे क्षीण-पुण्य होकर देवलोकसे इस भूतलरूपी नरकमें गिरकर भोगकी अभिलाषासे थक जाते हैं, और पक्षी सियार आदिके भोजनके निमित्त कष्टदायी नाना प्रकारके शरीर प्राप्त करते हैं ॥४॥

तस्मादेतद्वर्जनीयं नरेण दुष्टं लोके गर्हणीयं च कर्म।

आख्यातं ते पार्थिव सर्वमेतद् भूयश्चेदानीं वद किं ते वदामि ॥ ५ ॥

हे नरेन्द्र ! इस कारणसे दोषयुक्त और लोकोंमें निन्दाके योग्य कर्म त्याग देना चाहिए। हे पृथ्वीनाथ ! तुमसे सब कुछ कह चुका; कहो, अब क्या कहना होगा ॥ ५ ॥

अष्टक उवाच

यदा तु तान्वितुदन्ते वयांसि तथा गृध्राः शितिकण्ठाः पतङ्गाः।

कथं भवन्ति कथमाभवन्ति न भौममन्यं नरकं शृणोमि ॥ ६ ॥

अष्टक बोले– जब गिद्ध शितिकण्ठ आदि पक्षी और पतिङ्गे मनुष्योंको खा लेते हैं, तब किस प्रकारसे जीव वर्तमान रहता है ? फिर कैसे प्रगट होता है ? और रौरव, वैतरणी आदि जो नरक प्रसिद्ध हैं, उनके अतिरिक्त भौम नरक क्या है ? यह सब सुनना चाहता हूं ॥ ६ ॥

ययातिरुवाच

ऊर्ध्वं देहात्कर्मणो जृम्भमाणाद्व्यक्तं पृथिव्यामनुसंचरन्ति।

इमं भौमं नरकं ते पतन्ति नावेक्षन्ते वर्षपूगाननेकान् ॥ ७ ॥

ययाति बोले– सम्पूर्ण जीव अनुष्ठान किये हुए कर्मके अनुसार देह छोडनेके बाद माताकी कोखमें जन्म लेकर उस स्थानमें संपूर्ण अङ्ग प्रत्यङ्ग युक्त देहकी उत्पत्ति होनेपर प्रसव किये जाकर प्रकाश रूपसे पृथ्वीमें चलते फिरते रहते हैं, वही जीवके लिये भौम नरक कहा जाता है, क्योंकि इस प्रकारसे वहां गिरनेसे अपनी अवस्थाकी वृद्धि नहीं देखते, अज्ञानवश केवल विषयके भोगहीमें वर्षोंको व्यतीत किया करते हैं ॥ ७ ॥

षष्टिं सहस्राणि पतन्ति व्योम्नि तथा अशीतिं परिवत्सराणि।

तान्वै तुदन्ति प्रपततः प्रपातं भीमा भौमा राक्षसास्तीक्ष्णदंष्ट्राः ॥ ८ ॥

कोई जीव निजके किये हुए कर्मके अनुसार कुछकाल स्वर्ग भोग कर स्वर्गसे गिरनेके कालमें साठ सहस्र वा अस्सी सहस्र वर्ष भी आकाशमें रहकर कष्ट भोगते हैं, गिरनेवाले उन जीवों-को बडे बडे दांतवाले भयङ्कर हस्ती, भैंसे और राक्षस लोग हिंसा करते रहते हैं ॥ ८ ॥

अष्टक उवाच

यदेनसस्ते पतनस्तुदन्ति भीमा भौमा राक्षसास्तीक्ष्णदंष्ट्राः ।

कथं भवन्ति कथमाभवन्ति कथंभूता गर्भभूता भवन्ति ॥ ९ ॥

अष्टक बोले– जो लोग पापके हेतु स्वर्गसे च्युत होते हैं, काटनेवाले भयावने भौम राक्षसोंके द्वारा उनकी हिंसा करने पर वे कैसे बने रहते हैं? कैसे इन्द्रियादि युक्त होते हैं? अथवा कैसे गर्भमें जाकर जन्म लेते हैं ॥ ९ ॥

ययातिरुवाच

अस्रं रेतः पुष्पफलानुपृक्तमन्वेति तद्वै पुरुषेण सृष्टम् ।

स वै तस्या रज आपद्यते वै स गर्भभूतः समुपैति तत्र ॥ १० ॥

ययाति बोले– सूक्ष्म भूतसे आवृत्त जीव जलयुक्त शरीर धरकर वीर्यका स्वरूप प्राप्त करता है; पुरुषसे गिराये जाकर वह वीर्य स्त्रीके शोणितसे मिलने पर फल फूलके "रज" संज्ञा पाता है। रज स्त्रीके पेटमें गर्भके स्वरूपमें उत्पन्न होता है ॥ १० ॥

वनस्पतींश्चौषधीश्चाविशन्ति अपो वायुं पृथिवीं चान्तरिक्षम् ।

चतुष्पदं द्विपदं चापि सर्वमेवंभूता गर्भभूता भवन्ति ॥ ११ ॥

जीवगण पहिले जल, वायु, पृथिवी, आकाश और तेज इन पांच महाभूतोंमें प्रविष्ट होते हैं, आगे वनस्पति और औषधिमें व्याप्त होते हैं, अनन्तर शुक्र और शोणितके स्वरूपको पाकर गर्भोत्पत्ति करते हैं। क्रमसे दो पाये चार पाये आदिके शरीर प्राप्त करते हैं ॥ ११ ॥

अष्टक उवाच

अन्यद्वपुर्विदधातीह गर्भं उताहो स्वित्स्वेन कामेन याति ।

आपद्यमानो नरयोनिमेतामाचक्ष्व मे संशयात्प्रब्रवीमि ॥ १२ ॥

अष्टक बोले– जब जीव नरयोनिको प्राप्त करता है, क्या तब अपने इच्छानुसार शरीरहीको लेकर माताकी कोखमें घुसता है? अथवा कोई अन्य भौतिक शरीर धरकर घुसता है? यह मुझसे कहिये, मैं शङ्कायुक्त होकर पूछता हूं ॥ १२ ॥

शरीरदेहादिसमुच्छ्रयं च चक्षुःश्रोत्रे लभते केन संज्ञाम् ।

एतत्तत्त्वं सर्वमाचक्ष्व पृष्टः क्षेत्रज्ञं त्वां तात मन्यास सर्वे ॥ १३ ॥

और जीवोंके क्यों शरीर देह आदि होते हैं? अथवा अपने आंख, कान आदि संपूर्ण इंद्रिय, रूप और शब्दादि विषयोंका ज्ञान कैसे लाभ करते हैं? हे पिता! हम तुमको क्षेत्रज्ञ समझ कर पूछ रहे हैं, तुम सब सच्ची रीतिसे कहो ॥ १३ ॥

ययातिरुवाच

वायुः समुत्कर्षति गर्भयोनिमृतौ रेतः पुष्परसानुपृक्तम् ।
स तत्र तन्मात्रकृताधिकारः क्रमेण संवर्धयतीह गर्भम् ॥ १४ ॥

ययाति बोले– पांच प्राण, मन, बुद्धि और दश इन्द्रिययुक्त अपञ्चीकृत भूतसे बने बनाये सूक्ष्म शरीरमें वीर्यके स्वरूपको धारण कर स्त्रियोंकी ऋतुमें पुष्परससे अनुसंबद्ध गर्भाश्रित वह जीव तन्मात्रके अधिकारसे युक्त किसी विशेष वायुसे उत्कृष्टता और क्रमसे वृद्धिको प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

स जायमानो विगृहीतगात्रः षड्ज्ञाननिष्ठायतनो मनुष्यः
स श्रोत्राभ्यां वेदयतीह शब्दं सर्वं रूपं पश्यति चक्षुषा च ॥ १५ ॥

आगे जब संपूर्ण आकार पाकर छ प्रकारके ज्ञानसे युक्त मनुष्यके आकारमें जन्म लेता है, तब कानसे शब्दका ज्ञान करता है, चक्षुसे रूप देखता है ॥ १५ ॥

घ्राणेन गन्धं जिह्वयाथो रसं च त्वचा स्पर्शं मनसा वेद भावम् ।
इत्यष्टकेहोपचितिं च विद्धि महात्मनः प्राणभृतः शरीरे ॥ १६ ॥

नाकसे गंध सूंघता है, जिह्वासे स्वाद लेता है, त्वचासे अनुभव कर सकता है और मनसे पदार्थोंको जान सकता है । हे अष्टक ! जीवात्माका सूक्ष्मरूपी वह लिङ्ग शरीर इस प्रकार स्थूल शरीरमें आ पहुंचता है ॥ १६ ॥

अष्टक उवाच

यः संस्थितः पुरुषो दह्यते वा निखन्यते वापि निघृष्यते वा ।
अभावभूतः स विनाशमेत्य केनात्मानं चेतयते पुरस्तात् ॥ १७ ॥

अष्टक बोले– जो पुरुष मर जाता है, लोग उसको जलाते वा गाडते हैं, अथवा अन्य किसी प्रकारसे उसके शरीरको नष्टकर डालते हैं, सो स्थूल शरीरके साथ लिङ्ग शरीर भी नष्ट हो जाता है, अतएव वह लिङ्ग शरीर नाशको प्राप्त कर मांस पिण्डरूपी स्थूलदेहको चेतनायुक्त कैसे करता है ? ॥ १७ ॥

ययातिरुवाच

हित्वा सोऽसून्सुप्तवन्निष्टनित्वा पुरोधाय सुकृतं दुष्कृतं च ।
अन्यां योनिं पवनाग्रानुसारी हित्वा देहं भजते राजसिंह ॥ १८ ॥

ययाति बोले– हे राजसिंह ! जीवात्मा मृत्युके कालमें पवनके आगे चलनेवाले पञ्च प्राणादि लिङ्ग शरीरको धारण करके निद्रितकी भांति स्थूलदेहको छोडकर सुकृत और दुष्कृतको आगे करके अन्य योनिमें जन्म लेता है ॥ १८ ॥

पुण्यां योनिं पुण्यकृतो व्रजन्ति पापां योनिं पापकृतो व्रजन्ति ।
कीटाः पतङ्गाश्च भवन्ति पापा न मे विवक्षास्ति महानुभाव ॥ १९ ॥

उनमें पुण्यात्मा पुरुष पुण्ययोनिमें जन्म लेता है और पापकारी पुरुष पाप योनिमें कीट पतङ्गादिके स्वरूपमें उत्पन्न होते हैं, इससे अधिक और कुछ कहनेकी मेरी इच्छा नहीं है ॥१९॥

चतुष्पदा द्विपदाः षट्पदाश्च तथाभूता गर्भभूता भवन्ति ।
आख्यातमेतन्निखिलेन सर्वं भूयस्तु किं पृच्छसि राजसिंह ॥ २० ॥

राजसिंह ! छः पाये, चार पाये, दो पाये आदि जीवगण इस प्रकारसे गर्भमें आविर्भूत होते हैं । मैं सब कुछ कथा तुमसे कह चुका, कहो और क्या पूछना चाहते हो ॥ २० ॥

अष्टक उवाच

किं स्वित्कृत्वा लभते तात लोकान्मर्त्यः श्रेष्ठांस्तपसा विद्यया वा ।
तन्मे पृष्टः शंस सर्वं यथावच्छुभाँल्लोकान्येन गच्छेत्क्रमेण ॥ २१ ॥

अष्टक बोले— हे तात ! तपस्या और विद्या इन दोनोंमें किससे मनुष्य श्रेष्ठलोक प्राप्त करता है और जिस क्रमसे शुभ लोकमें जाया जाता है, वह सब सत्यरूपसे कहो ॥ २१ ॥

ययातिरुवाच

तपश्च दानं च शमो दमश्च ह्रीरार्जवं सर्वभूतानुकम्पा
नश्यन्ति मानेन तमोऽभिभूताः पुंसः सदैवेति वदन्ति सन्तः ॥ २२ ॥

ययाति बोले— तपस्या दान, शम, दम, लज्जा, ऋजुता और सर्व जीवों पर कृपा ये सब तमसे अभिभूत अहंकारी मनुष्यके नष्ट हो जाते हैं, ऐसा सज्जन पुरुष कहते हैं ॥ २२ ॥

अधीयानः पण्डितं मन्यमानो यो विद्यया हन्ति यशः परेषाम् ।
तस्यान्तवन्तश्च भवन्ति लोका न चास्य तद्ब्रह्म फलं ददाति ॥ २३ ॥

जो जन पढ करके मैं ही पण्डित हूं इस प्रकारके अहंकारसे विद्यासे औरोंके यशको लोप करता है, उसका ज्ञान उसे कुछ भी फल नहीं देता और उसके लोक नष्ट हो जाते हैं ॥ २३ ॥

चत्वारि कर्माण्यभयंकराणि भयं प्रयच्छन्त्ययथाकृतानि ।
मानाग्निहोत्रमुत मानमौनं मानेनाधीतमुत मानयज्ञः ॥ २४ ॥

अग्निहोत्र, मौनव्रत, अध्ययन, यज्ञ चार प्रकारके कर्म शुभ करनेवाले तो हैं, पर अहंकारके साथ यह सब कर्म किये जाने पर अनुचित रूपसे आचरित होकर भय देनेवाले होते हैं ॥२४॥

न मान्यमानो मुदमाददीत न संतापं प्राप्नुयाच्चावमानात् ।
सन्तः सतः पूजयन्तीह लोके नासाधवः साधुबुद्धिं लभन्ते ॥ २५ ॥

मनुष्य अति सम्मानका पात्र होनेसे भी हर्ष युक्त न होवे और अपमानित होनेसे खेदयुक्त भी न बने, क्योंकि इस लोकमें साधु—लोगही साधु—लोगोंकी पूजा किया करते हैं, असाधु-लोग कभी साधुओंके समान आचरण नहीं करते ॥ २५ ॥

इति दद्यादिति यजेदित्यधीयीत मे व्रतम् ।
इत्यस्मिन्नभयान्याहुस्तानि वर्ज्यानि नित्यशः ॥ २६ ॥

पण्डितोंने ऐसा कहा है, कि इस प्रकार अहङ्कारसे दान देने, यज्ञ करने, पाठ करने और व्रत करने पर भी मनुष्यकी सुगति नहीं होती, अतएव सर्वप्रकारसे अहङ्कारको छोडना ही उचित है ॥ २६ ॥

येनाश्रयं वेदयन्ते पुराणं मनीषिणो मानसमानभक्तम् ।
तन्निःश्रेयस्तैजसं रूपमेत्य परां शान्तिं प्राप्नुयुः प्रेत्य चेह ॥ २७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥ ३०६६ ॥

पर जो विद्वान्‌लोग अदृश्य और अपने समान साधुओंके मङ्गलकारी सनातन ब्रह्मको संयत चित्त होकर अपना आश्रय करके जानते हैं, वे समाधिसे उस ब्रह्मके साथ एकत्र भाव प्राप्त कर अच्छी शांति अर्थात् मुक्तिलाभ करते हैं ॥ २७ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें पिच्चासीवां अध्याय समाप्त ॥ ८५ ॥ ३०६६ ॥

: ८६ :

अष्टक उवाच

चरन्गृहस्थः कथमेति देवान्कथं भिक्षुः कथमाचार्यकर्मा ।
वानप्रस्थः सत्पथे संनिविष्टो बहून्यस्मिन्संप्रति वेदयंति ॥ १ ॥

अष्टक बोले— वैदिकगण इस विषयमें भांति भांतिकी बातें कहा करते हैं कि गृही, भिक्षु, ब्रह्मचारी, आचार्य और वानप्रस्थ, सुपथमें रहकर कैसे आचरण करनेसे देवोंको प्राप्त करनेको समर्थ होते हैं ॥ १ ॥

ययातिरुवाच

आहूताध्यायी गुरुकर्मस्वचोद्यः पूर्वोत्थायी चरमं चोपशायी ।
मृदुर्दान्तो धृतिमानप्रमत्तः स्वाध्यायशीलः सिध्यति ब्रह्मचारी ॥ २ ॥

ययाति बोले— ब्रह्मचारी गुरुके घरमें वासकर गुरुके बुलाने पर अध्ययन करे, गुरुके कार्यमें सदा उत्साही बने रहे, बडे सबेरे गुरुके उठनेके पहिले उठे, रातको गुरुके सोनेके पीछे सोवे और धीर, जितेन्द्रिय, धीरजयुक्त बकवादवर्जित पठनशील होवे, तो उसका ब्रह्मचर्य सिद्ध होता है ॥ २ ॥

धर्मागतं प्राप्य धनं यजेत दद्यात्सदैवातिथीन्भोजयेच्च ।
अनाददानश्च परैरदत्तं सैषा गृहस्थोपनिषत्पुराणी ॥ ३ ॥

प्राचीन उपनिषदोंमें कहा है, कि, गृहीजन धर्मानुसार धनार्जन करके नित्य नैमित्तिकादि करके अतिथियोंको भोजन करावे और किसीके द्वारा न दिए जाने तक किसीसे कुछ न ले ॥ ३ ॥

स्ववीर्यजीवी वृजिनान्निवृत्तो दाता परेभ्यो न परोपतापी ।
तादृङ्मुनिः सिद्धिमुपैति मुख्यां वसन्नरण्ये नियताहारचेष्टः ॥ ४ ॥

वनवासीजन निज शक्तिसे प्राप्त किये हुए फल मूल पर जीते हुए, पापकार्यसे निवृत्त, दानशील, नियमित भक्षक सदा क्रियाशील और परायी हिंसा आदिसे रहित होनेसे मुनिके स्वरूपमें अच्छी सिद्धि प्राप्त करते हैं ॥ ४ ॥

अशिल्पजीवी नगृहश्च नित्यं जितेन्द्रियः सर्वतो विप्रमुक्तः ।
अनोकसारी लघुरल्पचारश्चरन्देशानेकचरः स भिक्षुः ॥ ५ ॥

जो घर बना कर न रहनेवाले नित्य जितेन्द्रिय और थोडे वस्त्र पहिनेवाले होते हैं और शिल्पसे जीविका नहीं करते हैं । जो बिना घर बनाये सर्वत्र संचार करते हैं और स्वल्प चलते हैं, पर तिसपरभी नाना देशोंमें घूमते हैं वही भिक्षु कहे जाते हैं ॥ ५ ॥

राज्या यया चाभिजिताश्च लोका भवन्ति कामा विजिताः सुखाश्च ।
तामेव रात्रिं प्रयतेत विद्वानरण्यसंस्थो भवितुं यतात्मा ॥ ६ ॥

जिस समय सब विषय तुच्छ हो जाते हैं और सुखदेनेवाली वस्तुयें छोड दी जाती हैं, विद्वान् जन उस समयहीमें संयत होकर ब्रह्मनिष्ठाके निमित्त वनमें जानेकी चेष्टा करें ॥६॥

दशैव पूर्वान्दश चापरांस्तु ज्ञातीन्सहात्मानमथैकविंशम् ।
अरण्यवासी सुकृते दधाति विमुच्यारण्ये स्वशरीरधातून् ॥ ७ ॥

वानप्रस्थजन निज शरीर और संपूर्ण इंद्रियोंको वनमें छोड दें तो ऊपरके पितृपितामहादि दश पुरुषोंको, नीचेकी पुत्र पौत्रादि दश पीढियोंको तथा निजको परब्रह्ममें लीन करते हैं ॥ ७ ॥

अष्टक उवाच

कति स्विदेव मुनयो मौनानि कति चाप्युत ।
भवन्तीति तदाचक्ष्व श्रोतुमिच्छामहे वयम् ॥ ८ ॥

अष्टक बोले– हम यह सुनना चाहते हैं कि मुनि कितने प्रकारके होते हैं और मौनव्रतभी कितने प्रकारके होते हैं । अतः वह कहो ॥ ८ ॥

ययातिरुवाच

अरण्ये वसतो यस्य ग्रामो भवति पृष्ठतः।
ग्रामे वा वसतोऽरण्यं स मुनिः स्याज्जनाधिप ॥ ९ ॥

ययाति बोले– हे जनाधिप ! वनमें वसनेसे सम्पूर्ण ग्रामकी वस्तु जिनके समीप रहती है और ग्राममें टिकने पर भी संपूर्ण वनके पदार्थ जिनके सामने आते हैं, उनका नाम मुनि है ॥ ९ ॥

अष्टक उवाच

कथं स्विद्वसतोऽरण्ये ग्रामो भवति पृष्ठतः।
ग्रामे वा वसतोऽरण्यं कथं भवति पृष्ठतः ॥ १० ॥

अष्टक बोले– वनमें वसनेसे ग्रामकी वस्तु और ग्राममें वसनेसे वनकी वस्तु कैसे सामने आ सकती हैं ? ॥ १० ॥

ययातिरुवाच

न ग्राम्यमुपयुञ्जीत य आरण्यो मुनिर्भवेत्।
तथास्य वसतोऽरण्ये ग्रामो भवति पृष्ठतः ॥ ११ ॥

ययाति बोले– मुनिके वनमें वसनेसे उनको ग्रामकी वस्तु इकट्ठी करनी नहीं पडती, उनके योगबलसे स्वयं संपूर्ण पदार्थ सामने आजाते हैं, ॥ ११ ॥

अनग्निरनिकेतश्च अगोत्रचरणो मुनिः।
कौपीनाच्छादनं यावत्तावदिच्छेच्च चीवरम् ॥ १२ ॥

वे अग्नि रहित, घर रहित और गोत्र आदियोंसे रहित मुनि होते हैं एवं कौपीन तथा उसके ढंपनेके योग्य वस्त्रमात्रको लेते हैं ॥ १२ ॥

यावत्प्राणाभिसंधानं तावदिच्छेच्च भोजनम्।
तथास्य वसतो ग्रामेऽरण्यं भवति पृष्ठतः ॥ १३ ॥

और उतनाही भोजन करते हैं, कि जिससे केवल प्राण धारण हो सके, उनके ग्राममें वसनेसेभी वनके व्यवहार सब उनके वशमें हो जाते हैं; ॥ १३ ॥

यस्तु कामान्परित्यज्य त्यक्तकर्मा जितेन्द्रियः।
आतिष्ठेत मुनिर्मौनं स लोके सिद्धिमाप्नुयात् ॥ १४ ॥

जो मुनि संपूर्ण कर्म और कामना त्यागकर जितेन्द्रिय होकर मौनव्रत आश्रय किये रहता है, वह लोकमें सिद्धिको प्राप्त करता है; ॥ १४ ॥

धौतदन्तं कृत्तनखं सदा स्नातमलंकृतम् ।
असितं सितकर्मस्थं कस्तं नार्चितुमर्हति ॥ १५ ॥

शुद्ध दांत (शुद्धाहार) वाले, कटे हुए नखूनोंवाले (हिंसारहित), नित्य स्नान किए हुए (शुद्धचित्त), शमदमादि अलंकारोंसे युक्त काले होते (वासनादि रहित) हुए भी, शुभ्र (उत्तम) कर्मवाले मुनिको कौनसा जन न पूजेगा ? ॥ १५ ॥

तपसा कर्शितः क्षामः क्षीणमांसास्थिशोणितः ।
यदा भवति निर्द्वन्द्वो मुनिर्मौनं समास्थितः ।
अथ लोकमिमं जित्वा लोकं विजयते परम् ॥ १६ ॥

जो क्षमाशील और तपस्यासे दुबले पतले और जिनका मांस हड्डी और रक्त क्षीण हो गया है तथा जब मौनकी भली भांति आश्रय किये हुए मुनि अद्वैतभावके अवलम्बनसे द्वन्द्व वर्जित होते हैं, तब वे इस लोकको जीतकर परलोकमें भी जयको प्राप्त होते हैं ॥ १६ ॥

आस्येन तु यदाहारं गोवन्मृगयते मुनिः ।
अथास्य लोकः पूर्वो यः सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥ ३०८३ ॥

गायके समान मुनि जब मुखसे भक्ष्य पदार्थोंको खाता है, तब ये सब लोक उसीके होते हैं और वह मोक्षको प्राप्त होता है (अर्थात् जिस प्रकारसे गौ आदि पशु, हाथ पांव आदिकी चेष्टासे भोजनको न बटोर कर केवल मुखसे आहार निर्वाह करते हैं, उस ही प्रकार जब मुनि प्रत्यगात्मामें एकाग्र होकर बिन मांगे पहुंची हुई भोजनकी सामग्रीको प्राण धरनेहीके निमित्त मुखसे उठाते हैं, हाथ पांवसे कोई चेष्टा नहीं करते, ऐसी अवस्था होनेसे उनके सामने संपूर्ण लोग अमृतके स्वरूप होते हैं) ॥ १७ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें छियासीवां अध्याय समाप्त ॥ ८६ ॥ ३०८३ ॥

: ८७ :

अष्टक उवाच

कतरस्त्वेतयोः पूर्वं देवानामेति सात्म्यताम्।
उभयोर्धावतो राजन्सूर्याचन्द्रमसोरिव ॥ १ ॥

अष्टक बोले— सूर्य और चन्द्रके समान दौडनेवाले यति और वानप्रस्थ इन दोनोंमें कौन पहिले देववत् अर्थात् मुक्त हो सकते हैं ? ॥ १ ॥

ययातिरुवाच

अनिकेतो गृहस्थेषु कामवृत्तेषु संयतः।
ग्राम एव वसन्भिक्षुस्तयोः पूर्वतरं गतः ॥ २ ॥

ययाति बोले— गृहस्थोंमें रहता हुआ भी घरमें न रहनेवाला, कामाचरण करनेवालोंके बीचमें रहते हुए भी संयमी, गांवोंमें रहते हुए भी भिक्षावृत्तिसे रहनेवाला यति पहिले मुक्त होता है ॥ २ ॥

अप्राप्य दीर्घमायुस्तु यः प्राप्तो विकृतिं चरेत्।
तप्येत यदि तत्कृत्वा चरेत्सोऽन्यत्ततस्तपः ॥ ३ ॥

दीर्घायु न मिलनेके कारण जिसकी तपस्या बीचमें ही टूट जाती है, उसे यदि अपने किये हुए कामपर पश्चात्ताप हो तो वह फिर उत्तम तपस्या करके मुक्त होता है ॥ ३ ॥

यद्वै नृशंसं तदपथ्यमाहुर्यः सेवते धर्ममनर्थबुद्धिः।
अस्वोऽप्यनीशश्च तथैव राजंस्तदार्जवं स समाधिस्तदार्यम् ॥ ४ ॥

हे राजन् ! मोक्षकी खोज न करके अनित्य स्वर्ग भोगनेके लिये जिस धर्मका अनुष्ठान किया जाता है, उस धर्मको पण्डितोंने अजितेन्द्रिय जनके धनके सदृश कष्टदायी और असत्य करके कहा है; पर जिस निष्काम धर्मसे मोक्षफलकी प्राप्ति होती है, उसीको उचित पथ और समाधि करके कहा है, एवम् उसी पर चलना योग्य है ॥ ४ ॥

अष्टक उवाच

केनासि दूत प्रहितोऽद्य राजन्युवा स्रग्वी दर्शनीयः सुवर्चाः।
कुत आगतः कतरस्यां दिशि त्वमुताहो स्वित्पार्थिवं स्थानमस्ति ॥ ५ ॥

अष्टक बोले— हे राजन् ! मालाधारी, सुतेजस्वी और परम सुन्दर युवा पुरुष तुम कहांसे आये हो ! और किस जनके दूतरूपी होकर किस ओर भेजे गये हो ? अथवा पृथ्वीहीमें तुम्हारा जाने योग्य स्थान कौनसा है ? ॥ ५ ॥

ययातिरुवाच

इमं भौमं नरकं क्षीणपुण्यः प्रवेष्टुमुर्वीं गगनाद्विप्रकीर्णः ।

उक्त्वाहं वः प्रपतिष्याम्यनन्तरं त्वरन्ति मां ब्राह्मणा लोकपालाः ॥ ६ ॥

ययाति बोले— मैं क्षीणपुण्य होनेसे स्वर्गसे च्युत होकर इस भौम नरकमें गिरनेके लिये आकाशसे प्रवेश कर रहा हूं; तुम्हारे साथ वार्तालाप करके गिरूंगा, इस लिये लोक-पाल लोग मुझसे शीघ्रता करनेके लिए कहते हैं ॥ ६ ॥

सतां सकाशे तु वृतः प्रपातस्ते संगता गुणवन्तश्च सर्वे ।

शक्राच्च लब्धो हि वरो मयैष पतिष्यता भूमितले नरेंद्र ॥ ७ ॥

हे नरेंद्र ! भूतलमें गिरनेके पहिले इंद्रसे प्रार्थना करनेपर मैंने उनसे एक वर पाया था कि तुम गुणवन्त और संगत साधुमण्डलोंके समीप गिरोगे ॥ ७ ॥

अष्टक उवाच

पृच्छामि त्वां मा प्रपत प्रपातं यदि लोकाः पार्थिव सन्ति मेऽत्र ।

यद्यन्तरिक्षे यदि वा दिवि श्रिताः क्षेत्रज्ञं त्वां तस्य धर्मस्य मन्ये ॥ ८ ॥

अष्टक बोले— हे पृथ्वीनाथ ! तुम मत गिरो । मुझको जान पडता है, कि तुम धर्मके फलरूपी सब सिद्ध स्थानोंको जानते हो, अतएव पूछता हूं, कि स्वर्गलोक अथवा नक्षत्र लोकादिमें मेरे पुण्यसे उपार्जित कोई भोगनेका स्थान है वा नहीं ? ॥ ८ ॥

ययातिरुवाच

यावत्पृथिव्यां विहितं गवाश्वं सहारण्यैः पशुभिः पर्वतैश्च ।

तावल्लोका दिवि ते संस्थिता वै तथा विजानीहि नरेन्द्रसिंह ॥ ९ ॥

ययाति बोले—हे नरेन्द्रसिंह ! सुनो, इस भूमण्डलमें गौ, घोडे और जितने वनके और पार्वतीय पशु हैं, देवलोकमें उतने ही तुम्हारे पुण्यसे उपार्जन किये हुए स्थान हैं ॥ ९ ॥

अष्टक उवाच

तांस्ते ददामि मा प्रपत प्रपातं ये मे लोका दिवि राजेन्द्र सन्ति ।

यद्यन्तरिक्षे यदि वा दिवि श्रितास्तानाक्रम क्षिप्रममित्रसाह ॥ १० ॥

अष्टक बोले— हे शत्रुनाशी राजेन्द्र ! यदि अन्तरिक्षलोक या द्युलोकमें अथवा स्वर्गधाममें मेरे पुण्यसे उपार्जन किये हुए स्थान हों, तो वह सब तुमको दे देता हूं, मत गिरो, उनको अधिकारमें लाओ ॥ १० ॥

यथातिरुवाच

नास्मद्विधोऽब्राह्मणो ब्रह्मविच्च प्रतिग्रहे वर्तते राजमुख्य।
यथा प्रदेयं सततं द्विजेभ्यस्तथाददं पूर्वमहं नरेन्द्र ॥ ११ ॥

ययाति बोले— हे राजश्रेष्ठ! मेरे जैसे अब्राह्मण वेदत्यागी जन कभी दान नहीं स्वीकार करते। हे नरेन्द्र! ब्राह्मणोंको जैसा दान देना होता है मैंने पहिले वैसा दान दिया है ॥११॥

नाब्राह्मणः कृपणो जातु जीवेद्या चापि स्याद्ब्राह्मणी वीरपत्नी।
सोऽहं यदैवाकृतपूर्वं चरेयं विवित्समानः किमु तत्र साधु ॥ १२ ॥

अब्राह्मण दीन होकर कभी जीवित नहीं रहता, भिक्षा ब्राह्मणोंकी वीरपत्नी हो। अहो! मैं सुकर्म करनेका अभिलाषी होकर, जो कार्य मैंने पहिले कभी नहीं किया था, वही काम अब कैसे करूं? ॥ १२ ॥

प्रतर्दन उवाच

पृच्छामि त्वां स्पृहणीयरूप प्रतर्दनोऽहं यदि मे सन्ति लोकाः।
यद्यन्तरिक्षे यदि वा दिवि श्रिताः क्षेत्रज्ञं त्वां तस्य धर्मस्य मन्ये ॥ १३ ॥

अनन्तर वहां टिके हुए प्रतर्दन नामक एक राजाने कहा, कि हे स्पृहणीय-रूप-धारिन्! मैं प्रतर्दन हूं, तुमसे पूछता हूं, कि यदि नक्षत्रलोक वा देवलोकमें मेरे पुण्यसे उपार्जन किया हुआ स्थान हो, तो कहो; मुझको समझ पडता है, कि धर्मानुष्ठानसे उपार्जन किए हुए संपूर्ण सिद्ध स्थान तुम्हें ज्ञात हैं ॥ १३ ॥

ययातिरुवाच

सन्ति लोका बहवस्ते नरेन्द्र अप्येकैकः सप्त सप्ताप्यहानि।
मधुच्युतो घृतपृक्ता विशोकास्ते नान्तवन्तः प्रतिपालयन्ति ॥ १४ ॥

ययाति बोले— हे नरेन्द्र! मधु और घृतसे भरपूर परम सुख देनेवाले इतने अधिक स्थान तुम्हारे हैं, कि हर स्थानमें सात सात दिन रहनेसे भी उनका अन्त नहीं हो सकता ॥१४॥

प्रतर्दन उवाच

तांस्ते ददामि मा प्रपत प्रपातं ये मे लोकास्तव ते वै भवन्तु।
यद्यन्तरिक्षे यदि वा दिवि श्रितास्तानाक्रम क्षिप्रमपेतमोहः ॥ १५ ॥

प्रतर्दन बोले— यदि नक्षत्रलोक वा स्वर्गमें मेरे पुण्यसे उपार्जन किये हुए स्थान हों, तो वह सब तुमको दे देता हूं, वह सब तुम्हारे ही होवें, तुम और न गिरो, मोहवर्जित होकर शीघ्र वहां जाकर रहो ॥ १५ ॥

ययातिरुवाच

न तुल्यतेजाः सुकृतं कामयेत योगक्षेमं पार्थिव पार्थिवः सन् ।
दैवादेशादापदं प्राप्य विद्वांश्चरेन्नृशंसं न हि जातु राजा ॥ १६ ॥

ययाति बोले– पृथ्वीनाथ ! तुल्य तेजयुक्त भूपाल होकरके कोई दूसरे राजासे योगक्षेम करनेवाले सुकृतकी प्रार्थना नहीं करते; ज्ञानी राजा दैवकी आज्ञासे विपद्ग्रस्त होनेपर भी कभी निष्ठुर व्यवहार न करे ॥ १६ ॥

धर्म्यं मार्गं चेतयानो यशस्यं कुर्यान्नृपो धर्ममवेक्षमाणः ।
न मद्विधो धर्मबुद्धिः प्रजानन्कुर्यादेवं कृपणं मां यथात्थ ।
कुर्यामपूर्वं न कृतं यदन्यैर्विवित्समानः किमु तत्र साधु ॥ १७ ॥

राजाको धर्मकी ओर दृष्टि रखकर धर्मके मार्गपर चलते हुए यशदायी कार्य करना चाहिये । पर तुम जो कहते हो, वह दीन कर्म है, अतएव मेरे ऐसे धर्मज्ञ जनको जान बूझकर यह कर्म नहीं करना चाहिए । दूसरे राजाओंने जो दान लेनेका कार्य कभी नहीं किया है, मैं सुकर्म करनेका अभिलाषी होकर वह क्यों करूं ? ॥ १७ ॥

ब्रुवाणमेवं नृपतिं ययातिं नृपोत्तमो वसुमनाब्रवीत्तम् ॥ १८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥ ३१०१ ॥

नृपति ययाति ऐसा कह रहे थे, कि उसी समयमें वसुमना नामक नृपोत्तम उनसे बोले ॥ १८ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें सतासीवां अध्याय समाप्त ॥ ८७ ॥ ३१०१ ॥

: ८८ :

वसुमना उवाच

पृच्छामि त्वां वसुमना रौशदश्विर्यद्यस्ति लोको दिवि मह्यं नरेन्द्र ।
यद्यन्तरिक्षे प्रथितो महात्मन्क्षेत्रज्ञं त्वां तस्य धर्मस्य मन्ये ॥ १ ॥

वसुमना बोले– हे नरेंद्र ! मैं औशदश्वि वसुमान, तुमसे पूछता हूं, कि यदि नक्षत्रमण्डल वा स्वर्गधाममें मेरे पुण्यसे उपार्जित प्रख्यात स्थान हों, तो कहो; हे महात्मन् ! मुझको जान पडता है, कि तुम्हें धर्मसे लाभ करने योग्य सम्पूर्ण पुण्यलोक ज्ञात हैं ॥ १ ॥

×

ययातिरुवाच

यदन्तरिक्षं पृथिवी दिशश्च यत्तेजसा तपते भानुमांश्च।

लोकास्तावन्तो दिवि संस्थिता वै ते नान्तवन्तः प्रतिपालयन्ति ॥ २ ॥

ययाति बोले– सूर्यदेव आकाशमण्डल, पृथ्वी और दिशाओंमें जितना स्थान तापयुक्त करते हैं, देवलोकमें उतने अनन्त पुण्यलोक तुम्हारी प्रतीक्षामें हैं ॥ २ ॥

वसुमना उवाच

तांस्ते ददामि पत मा प्रपातं ये मे लोकास्तव ते वै भवन्तु।

क्रीणीष्वैनांस्तृणकेनापि राजन्प्रतिग्रहस्ते यदि सम्यक्प्रदुष्टः ॥ ३ ॥

वसुमना बोले– हे राजन् ! वह सब पुण्यलोक तुमको दान देता हूं, वह तुम्हारे ही होवें, तुम मत गिरो, हे धीमान् ! यदि तुमको दान लेना नीच कर्म जान पडे तो तुम वह सब लोक तिनका देकर मोल ले लो ॥ ३ ॥

ययातिरुवाच

न मिथ्याहं विक्रयं वै स्मरामि वृथा गृहीतं शिशुकाच्छङ्कमानः।

कुर्यां न चैवाकृतपूर्वमन्यैर्विवित्समानः किमु तत्र साधु ॥ ४ ॥

ययाति बोले– मैंने कभी झूठ बोलकर विक्री नहीं की और छोटे बच्चेसे भी कोई चीज मुफ्तमें लेनेका स्मरण मुझे नहीं है और राजाओंने जो कभी नहीं की, वह मैं सुकर्म करनेका अभिलाषी होकर कैसे करूं ? ॥ ४ ॥

वसुमना उवाच

तांस्त्वं लोकान्प्रतिपद्यस्व राजन्मया दत्तान्यदि नेष्टः क्रयस्ते।

अहं न तान्वै प्रतिगन्ता नरेन्द्र सर्वे लोकास्तव ते वै भवन्तु ॥ ५ ॥

वसुमना बोले– हे राजन् ! यदि तुमको मोल लेना अभीष्ट न हो तो भी मेरे दिये हुए वह सब पुण्यलोक ले लो, हे नरेंद्र ! मैं उन लोकोंमें नहीं जाऊंगा, वह सब लोक तुम्हारे होवें ॥ ५ ॥

शिबिरुवाच

पृच्छामि त्वां शिबिरौशीनरोऽहं ममापि लोका यदि सन्तीह तात।

यद्यन्तरिक्षे यदि वा दिवि श्रिताः क्षेत्रज्ञं त्वां तस्य धर्मस्य मन्ये ॥ ६ ॥

अनन्तर शिवि नामक नृपोत्तमने कहा– मैं उशीनरका पुत्र शिवि हूं, तुमसे पूछता हूं, कि नक्षत्रलोक वा देवलोकमें यदि मेरे पुण्यार्जित स्थान होवें, तो कहो; हे तात ! मुझको जान पडता है, कि धर्मार्जित उन सब पुण्यलोकोंसे तुम ज्ञात हो ॥ ६ ॥

ययातिरुवाच

न त्वं वाचा हृदयेनापि विद्वन्परीप्समानान्नावमंस्था नरेन्द्र ।
तेनानन्ता दिवि लोकाः श्रितास्ते विद्युद्रूपाः स्वनवन्तो महान्तः ॥ ७ ॥

ययाति बोले– हे नरेंद्र ! तुमने कभी वाक्यसे वा मनसे साधु याचक जनका अनादर नहीं किया है, इस कारण देवलोकमें बिजलीके समान ध्वनि युक्त प्रख्यात अनन्त महत् स्थान तुम्हारे लिये हैं ॥ ७ ॥

शिबिरुवाच

तांस्त्वं लोकान्प्रतिपद्यस्व राजन्मया दत्तान्यदि नेष्टः क्रयस्ते ।
न चाहं तान्प्रतिपत्स्येह दत्त्वा यत्र गत्वा त्वमुपास्से ह लोकान् ॥ ८ ॥

शिबि बोले– हे राजन् ! तुमको मोल लेना अभीष्ट न हो, तो वह सब पुण्यलोक दान कर देता हूं, तुम ले लो, मैं उन्हें देकर फिर लौटा न लूंगा, उन स्थानोंमें जाने जानकर तुम आरामसे रहो ॥ ८ ॥

ययातिरुवाच

यथा त्वमिन्द्रप्रतिमप्रभावस्ते चाप्यनन्ता नरदेव लोकाः ।
तथाद्य लोके न रमेऽन्यदत्ते तस्माच्छिबे नाभिनन्दामि दायम् ॥ ९ ॥

ययाति बोले– हे नरदेव ! तुम इंद्रके समान प्रभावी हो और तुम्हारे सब पुण्यलोक भी अनन्त हैं, पर हे शिबे ! अन्यके दिये हुए पुण्यलोकमें मैं रमना नहीं चाहता, अतएव तुम्हारा यह दान मुझे स्वीकृत नहीं है ॥ ९ ॥

अष्टक उवाच

न चेदेकैकशो राजँल्लोकान्नः प्रतिनन्दसि ।
सर्वे प्रदाय भवते गन्तारो नरकं वयम् ॥ १० ॥

अष्टक बोले– हे राजन् ! हम सबोंसे हरेकने निज निज पुण्यार्जित लोक अलग अलग तुमको दान कर दिये, उनका यदि लेना सम्मत तुमको न हो, तो हम सब एकत्र होकर अपने संपूर्ण पुण्यलोक तुमको देकर भौमनरकमें जानेके लिए तैय्यार हैं ॥ १० ॥

ययातिरुवाच

यदर्हाय ददध्वं तत्सन्तः सत्यानृशंस्यतः ।
अहं तु नाभिधृष्णोमि यत्कृतं न मया पुरा ॥ ११ ॥

ययाति बोले– हे सत्यप्रिय साधुओ ! मैंने जो पहिले कभी नहीं किया है, वह स्वीकार नहीं करूंगा, मैं जिस विषयके योग्य हूं, वही पदार्थ तुम मुझे दो क्योंकि सज्जन केवल सत्यको ही उत्तम मानते हैं ॥ ११ ॥

अष्टक उवाच

कस्यैते प्रतिदृश्यन्ते रथाः पञ्च हिरण्मयाः ।
उच्चैः सन्तः प्रकाशन्ते ज्वलन्तोऽग्निशिखा इव ॥ १२ ॥

अष्टक बोले– उस आकाशमण्डलमें सुवर्णमय ये पांच रथ किसके हैं, जो ऊंचाई पर होते हुए भी प्रदीप्त अग्निकी ज्वालाके समान प्रकाशित हो रहे हैं ? ॥ १२ ॥

ययातिरुवाच

युष्मानेते हि वक्ष्यन्ति रथाः पञ्च हिरण्मयाः ।
उच्चैः सन्तः प्रकाशन्ते ज्वलन्तोऽग्निशिखा इव ॥ १३ ॥

ययाति बोले– वह जो अग्निशिखाके सदृश प्रज्वलित उच्च, पांच रथ आकाशमण्डलमें प्रगट हो रहे हैं, वे तुम लोगोंको बैठाकर देवताओंके यहां ले जायेंगे ॥ १३ ॥

अष्टक उवाच

आतिष्ठस्व रथं राजन्विक्रमस्व विहायसा ।
वयमप्यनुयास्यामो यदा कालो भविष्यति ॥ १४ ॥

अष्टक बोले– हे राजन् ! तुम रथ पर बैठो और आकाशपथको पधारो, जब काल उपस्थित होगा, तब हम भी तुम्हारे पीछे आयेंगे ॥ १४ ॥

ययातिरुवाच

सर्वैरिदानीं गन्तव्यं सहस्वर्गजितो वयम् ।
एष नो विरजाः पन्था दृश्यते देवसद्मनः ॥ १५ ॥

ययाति बोले– इसी क्षण हम सभी निष्पाप और स्वर्गजयकारी हुए हैं, अतएव हमको एकत्र होकर चलना पडेगा, वह देखो, देवलोकका निर्मल पथ दीख पडता है ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

तेऽधिरुह्य रथान्सर्वे प्रयाता नृपसत्तमाः ।
आक्रमन्तो दिवं भाभिर्धर्मेणावृत्य रोदसी ॥ १६ ॥

वैशम्पायन बोले– इसके बाद वे सब नरेश धर्मके प्रभावसे आकाशमण्डलको व्याप्त करके रथों पर आरूढ होकर पधारे ॥ १६ ॥

अष्टक उवाच

अहं मन्ये पूर्वमेकोऽस्मि गन्ता सखा चेन्द्रः सर्वथा मे महात्मा ।
कस्मादेवं शिबिरौशीनरोऽयमेकोऽत्यगात्सर्ववेगेन वाहान् ॥ १७ ॥

अष्टक बोले— मैंने सोचा था, कि महात्मा देवराज सब प्रकारसे मेरे मित्र हैं, अतएव मैं ही पहिले अकेला जाऊंगा, पर यह उशीनरके पुत्र शिबि अकेले क्यों हम सबको छोडकर वेगसे चले गए ? ॥ १७ ॥

ययातिरुवाच

अददाद्देवयानाय यावद्वित्तमविन्दत ।
उशीनरस्य पुत्रोऽयं तस्माच्छ्रेष्ठो हि नः शिबिः ॥ १८ ॥

ययाति बोले— इस उशीनरके पुत्र शिबिने ब्रह्मलोक पानेके निमित्त जितना धन पाया था वह सब दान कर दिया था, सो यह हमसे भी श्रेष्ठ है ॥ १८ ॥

दानं तपः सत्यमथापि धर्मो ह्रीः श्रीः क्षमा सौम्य तथा तितिक्षा ।
राजन्नेतान्यप्रतिमस्य राज्ञः शिबेः स्थितान्यनृशंसस्य बुद्ध्या ।
एवंवृत्तो ह्रीनिषेधश्च यस्मात्तस्माच्छिबिरत्यगाद्वै रथेन ॥ १९ ॥

हे राजन् ! दान, तपस्या, सत्य, धर्म, लज्जा, श्री, क्षमा, सौम्यता और तितिक्षा यह सब गुण उपमा-रहित राजा शिबिके इतने हैं, कि बुद्धिसे उनका नाप नहीं हो सकता; शिबि इतने गुणशाली और लज्जाके भारसे नम्र होनेहीसे उनका रथ हमको छोडकर चला गया है ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच

अथाष्टकः पुनरेवान्वपृच्छन्मातामहं कौतुकादिन्द्रकल्पम् ।
पृच्छामि त्वां नृपते ब्रूहि सत्यं कुतश्च कस्यासि सुतश्च कस्य ।
कृतं त्वया यद्धि न तस्य कर्ता लोके त्वदन्यः क्षत्रियो ब्राह्मणो वा ॥ २० ॥

वैशम्पायन बोले— अनन्तर अष्टकने कौतूहलयुक्त होकर इन्द्र सदृश मातामहसे फिर पूछा, कि हे नृपते ! मैं पूछता हूं सच कहो, कि तुम कहांसे आये हो ? किसकी सन्तान और स्वयं किसके हो ? तुमने जो कार्य किया है, वह जग मण्डलमें तुम्हारे विना ब्राह्मण वा क्षत्रिय कोई नहीं कर सकता है ॥ २० ॥

ययातिरुवाच

ययातिरस्मि नहुषस्य पुत्रः पूरोः पिता सार्वभौमस्त्विहासम् ।
गुह्यमर्थं मामकेभ्यो ब्रवीमि मातामहोऽहं भवतां प्रकाशः ॥ २१ ॥

ययाति बोले— मैं नहुषका पुत्र और पूरुका पिता हूं, मेरा नाम ययाति है, मैं इस धरती मण्डलमें सार्वभौम राजा था; तुम मेरे परम आत्मजन हो, तुमसे स्पष्ट यह गुप्त बात कहता हूं, कि मैं तुम्हारा मातामह हूं ॥ २१ ॥

सर्वामिमां पृथिवीं निर्जिगाय प्रस्थे बद्ध्वा ह्यददं ब्राह्मणेभ्यः।
मेध्यानश्वानेकशफान्सुरूपांस्तदा देवाः पुण्यभाजो भवन्ति ॥ २२ ॥
मैंने संपूर्ण भूमण्डलको जीतकर ब्राह्मणोंको बांध कर दान किया, पवित्र और सुन्दर एक खुरवाले घोडे देवोंके नामसे उत्सर्ग कर दिये थे; जो ऐसा करते हैं, देवगण उन पुण्यवान् जनोंकी उपासना करते हैं ॥ २२ ॥

अदामहं पृथिवीं ब्राह्मणेभ्यः पूर्णामिमामखिलां वाहनस्य।
गोभिः सुवर्णेन धनैश्च मुख्यैस्तत्रासन्गाः शतमर्बुदानि ॥ २३ ॥
वाहन, गौ, सुवर्ण तथा दूसरे और उत्कृष्ट धनोंसे भरी पूरी यह पृथ्वी और सौ अर्बुद गौ ब्राह्मणोंको दान कर दी थी ॥ २३ ॥

सत्येन मे द्यौश्च वसुंधरा च तथैवाग्निर्ज्वलते मानुषेषु।
न मे वृथा व्याहृतमेव वाक्यं सत्यं हि सन्तः प्रतिपूजयन्ति।
सर्वे च देवा मुनयश्च लोकाः सत्येन पूज्या इति मे मनोगतम् ॥ २४॥
और मेरी कथित बात कभी निष्फल नहीं हुई; मेरे सत्यसे आकाशमण्डल तथा धरती बनी है और मर्त्यलोकमें अग्नि जल रही है, इस हेतु साधुलोग सत्यहीकी पूजा करते हैं। यह मुझे निश्चय है, कि मुनिगण और देवगण एक सत्यनिष्ठाहीसे पूज्य होते हैं ॥ २४ ॥

यो नः स्वर्गजितः सर्वान्यथावृत्तं निवेदयेत्।
अनसूयुर्द्विजाग्र्येभ्यः स लभेन्नः सलोकताम् ॥ २५ ॥
जो जन द्वेषरहित होकर हमारे इस स्वर्ग प्राप्तिका वृत्तान्त आद्योपान्त संपूर्ण ब्राह्मणोंको सुनावेगा, वह हमारे पुण्यार्जित स्थानको प्राप्त करेगा ॥ २५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं राजा स महात्मा ह्यतीव स्वैर्दौहित्रैस्तारितोऽमित्रसाहः।
त्यक्त्वा महीं परमोदारकर्मा स्वर्गं गतः कर्मभिर्व्याप्य पृथ्वीम् ॥ २६ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥ ३१२७ ॥

वैशम्पायन बोले— अति महात्मा शत्रुनाशी, उदारकर्मी राजा ययाति नातियोंसे रक्षित होकर कीर्तिसे पृथ्वी छोडकरके मित्रोंके साथ अपने कर्मोंसे पृथ्वीको व्याप्त करके स्वर्गको गए ॥ २६ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें अट्ठासीवां अध्याय समाप्त ॥ ८८ ॥ ३१२७ ॥

: ८९ :

जनमेजय उवाच

भगवञ्श्रोतुमिच्छामि पूरोर्वंशकरान्नृपान् ।
यद्वीर्या यादृशाश्चैव यावन्तो यत्पराक्रमाः ॥ १ ॥

जनमेजय बोले– भगवन् ! पुरुवंशी राजाओंमें जिनका जैसा विक्रम और वीर्य था और जो जैसे थे, वह सुनना चाहता हूं ॥ १ ॥

न ह्यस्मिञ्शीलहीनो वा निर्वीर्यो वा नराधिपः ।
प्रजाविरहितो वापि भूतपूर्वः कदाचन ॥ २ ॥

इस वंशमें कोई राजा पहले कभी कुचरित्र, वीर्यवर्जित अथवा प्रजारहित नहीं हुआ ॥ २ ॥

तेषां प्रथितवृत्तानां राज्ञां विज्ञानशालिनाम् ।
चरितं श्रोतुमिच्छामि विस्तरेण तपोधन ॥ ३ ॥

हे तपोधन ! प्रख्यात चरित्र और विज्ञानयुक्त उन राजाओंके चरित्र विस्तृत रूपसे सुनने की इच्छा हो रही है ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

हंत ते कथयिष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
पूरोर्वंशधरान्वीराञ्शक्रप्रतिमतेजसः ॥ ४ ॥

वैशम्पायन बोले–हे राजन् ! पूरुवंशका वृत्तान्त जो हमसे पूछा, अतः उन देवराजके समान तेजस्वी पूरुके वंशधरोंका वृत्तान्त कह सुनाता हूँ ॥ ४ ॥

प्रवीरेश्वररौद्राश्वास्त्रयः पुत्रा महारथाः
पूरोः पौष्टयामजायन्त प्रवीरस्तत्र वंशकृत् ॥ ५ ॥

पूरुकी पौष्टि नाम्नी महिषीसे प्रवीर, ईश्वर और रौद्राश्व इन तीन महारथी पुत्रोंका जन्म हुआ था, उनमें प्रवीर वंशधर हुए ॥ ५ ॥

मनस्युरभवत्तस्माच्छूरः श्येनीसुतः प्रभुः ।
पृथिव्याश्चतुरन्ताया गोप्ता राजीवलोचनः ॥ ६ ॥

प्रवीरके वीर्य और श्येनीके गर्भसे शूर मनस्यु नामक पुत्रने जन्म लिया; प्रसन्ननेत्रयुक्त सर्व-प्रभु मनस्युने चार समुद्रतक पृथ्वीका शासन किया ६ ॥

सुभ्रूः संहननो वाग्मी सौवीरीतनयास्त्रयः।
मनस्योरभवन्पुत्राः शूराः सर्वे महारथाः ॥ ७ ॥

मनस्युके वीर्य और सौवीरीके गर्भसे सुभ्रू, संहनन और वाग्मी यह तीन पुत्र उत्पन्न हुए, वे सभी शूर और महारथी थे ॥ ७ ॥

रौद्राश्वस्य महेष्वासा दशाप्सरसि सूनवः।
यज्वानो जज्ञिरे शूराः प्रजावन्तो बहुश्रुताः।
सर्वे सर्वास्त्रविद्वांसः सर्वे धर्मपरायणाः ॥ ८ ॥

मनस्वी रौद्राश्वके वीर्य और अप्सराके गर्भसे दस पुत्रोंने जन्म लिया था; वे सभी सर्व शास्त्रोंमें निपुण, धर्मशील, बडे धनुपधारी, यागशील, शूर, प्रजायुक्त और सर्व शास्त्रज्ञ हुए ॥ ८ ॥

ऋचेपुरथ कक्षेपुः कृकणेपुश्च वीर्यवान्।
स्थण्डिलेपुर्वनेपुश्च स्थलेपुश्च महारथः ॥ ९ ॥

उनसे ऋचेपु, कक्षेपु, वीर्यवान् कृकणेपु, स्थण्डिलेपु, वनेपु, महारथी स्थलेपु ॥ ९ ॥

तेजेपुर्बलवान्धीमान्सत्येपुश्चेन्द्रविक्रमः।
धर्मेपुः संनतेपुश्च दशमो देवविक्रमः।
अनाधृष्टिसुतास्तात राजसूयाश्वमेधिनः ॥ १० ॥

बलवान् तेजेपु, धीमान् सत्येपु, इन्द्रके समान विक्रमी धर्मेपु और देवसदृश पराक्रमी दसवें सन्नतेपु, इन दस पुत्रोंने जन्म लिया था। अनाधृष्टिके पुत्र राजसूय और अश्वमेध यज्ञ करनेवाले थे ॥ १० ॥

मतिनारस्ततो राजा विद्वांश्चर्चेपुतोऽभवत्।
मतिनारसुता राजंश्चत्वारोऽमितविक्रमाः।
तंसुर्महानतिरथो द्रुह्युश्चाप्रतिमद्युतिः ॥ ११ ॥

विद्वान् राजा मतिनारने ऋचेपु अनाधृष्टिसे जन्म लिया, हे राजन्! मतिनारके औरससे तंसु, महान्, अतिरथ और महा द्योतवान् द्रुह्यु यह चार अति पराक्रमी पुत्र उत्पन्न हुए ॥ ११ ॥

तेषां तंसुर्महावीर्यः पौरवं वंशमुद्वहन्।
आजहार यशो दीप्तं जिगाय च वसुन्धराम् ॥ १२ ॥

उनमें तंसु अति वीर्यवान् और पूरु वंशके वर्धक थे, उन्होंने भूमण्डलको जीत कर प्रदीप्त यशका उपार्जन किया! ॥ १२ ॥

इलिनं तु सुतं तंसुर्जनयामास वीर्यवान् ।
सोऽपि कृत्स्नामिमां भूमिं विजिग्ये जयतां वरः　　॥ १३ ॥

वीर्यवान् तंसुने इलिन नामक पुत्रको जन्म दिया; जयशील उन तंसुके पुत्रने भी सम्पूर्ण धरतीतलको जीत लिया ॥ १३ ॥

रथन्तर्यां सुतान्पञ्च पञ्चभूतोपमांस्ततः ।
इलिनो जनयामास दुःषन्तप्रभृतीन्नृप　　॥ १४ ॥

अनंतर रथन्तरीके गर्भ और राजा इलिनके वीर्यसे पञ्चभूतोंके समान दुःषन्त आदि पांच पुत्र उत्पन्न हुए ॥ १४ ॥

दुःषन्तं शूरभीमौ च प्रपूर्वं वसुमेव च ।
तेषां ज्येष्ठोऽभवद्राजा दुःषन्तो जनमेजय　　॥ १५ ॥

उनके नाम दुःषन्त, शूर, भीम, प्रवसु और वसु थे । हे जनमेजय ! उनमेंसे श्रेष्ठ दुःषन्त राजा हुए ॥ १५ ॥

दुःषन्ताद्भरतो जज्ञे विद्वाञ्शाकुन्तलो नृपः ।
तस्माद्भरतवंशस्य विप्रतस्थे महद्यशः　　॥ १६ ॥

दुःषन्तसे शकुन्तलाके गर्भसे विद्वान् भरतने जन्म लिया, उनसेही भरतवंशका महान् यश फैला ॥ १६ ॥

भरतस्तिसृषु स्त्रीषु नव पुत्रानजीजनत् ।
नाभ्यनन्दत तान्राजा नानुरूपा ममेत्युत　　॥ १७ ॥

भूपाल भरतके तीन महिषियोंसे नौ पुत्रोंने जन्म लिया, वे मुझ राजाके योग्य पुत्र नहीं हुए यह कहके राजा उनपर असंतुष्ट थे ॥ १७ ॥

ततो महद्भिः क्रतुभिरीजानो भरतस्तदा ।
लेभे पुत्रं भरद्वाजाद्भुमन्युं नाम भारत　　॥ १८ ॥

हे भारत ! तब राजा भरतने महायज्ञका अनुष्ठान करके भरद्वाजसे भुमन्यु नाम पुत्र प्राप्त किया ॥ १८ ॥

ततः पुत्रिणमात्मानं ज्ञात्वा पौरवनन्दनः ।
भुमन्युं भरतश्रेष्ठ यौवराज्येऽभ्यषेचयत्　　॥ १९ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! तब पौरवनन्दन भरतने अपनेको पुत्रवान् जानकर उस भुमन्यु नामक पुत्रको यौवराज्यपर अभिषिक्त किया ॥ १९ ॥

×

ततस्तस्य महीन्द्रस्य वितथः पुत्रकोऽभवत् ।
ततः स वितथो नाम सुमन्योरभवत्सुतः ॥ २० ॥

तब उस श्रेष्ठ राजाके वितथ नामका पुत्र हुआ। वह वितथ नामका सुमन्युका पुत्र हुआ ॥ २० ॥

सुहोत्रश्च सुहोता च सुहविः सुयजुस्तथा ।
पुष्करिण्यामृचीकस्य सुमन्योरभवन्सुताः ॥ २१ ॥

ऋचीककी पुष्करिणीमें सुमन्यसे सुहोत्र, सुहोता, सुहवि, सुयजु, इन सब पुत्रोंने जन्म लिया ॥ २१ ॥

तेषां ज्येष्ठः सुहोत्रस्तु राज्यमाप महीक्षिताम् ।
राजसूयाश्वमेधाद्यैः सोऽयजद्बहुभिः सवैः ॥ २२ ॥

इनमेंसे सुहोत्र ज्येष्ठपुत्र थे, सो उन्होंने राजाओंका राज्य पाया। उसने राजसूय अश्वमेध आदि नाना यज्ञ किए ॥ २२ ॥

सुहोत्रः पृथिवीं सर्वां बुभुजे सागराम्बराम् ।
पूर्णां हस्तिगवाश्वस्य बहुरत्नसमाकुलाम् ॥ २३ ॥

और हाथी और घोडोंसे भरी, नाना रत्नोंसे भरपूर, समुद्रसे घिरी सम्पूर्ण पृथ्वीका भोग किया ॥ २३ ॥

ममज्जेव मही तस्य भूरिभारावपीडिता ।
हस्त्यश्वरथसंपूर्णा मनुष्यकलिला भृशम् ॥ २४ ॥

तब हाथी, घोडे और रथोंसे पूरित और अगणित मनुष्योंसे विकल होकर अति भारसे पीडित होनेके कारण पृथ्वी डूबने सी लगी ॥ २४ ॥

सुहोत्रे राजनि तदा धर्मतः शासति प्रजाः ।
चैत्ययूपाङ्किता चासीद्भूमिः शतसहस्रशः ।
प्रवृद्धजनसस्या च सहदेवा व्यरोचत ॥ २५ ॥

राजा सुहोत्रके धर्मानुसार प्रजा शासन करनेसे धरतीमण्डल सैकडों सहस्रों स्थानोंमें देवालय और यज्ञके यूपोंसे चित्रित और मनुष्य, धान्य और देवोंसे सुशोभित हुआ ॥ २५ ॥

ऐक्ष्वाकी जनयामास सुहोत्रात्पृथिवीपतेः ।
अजमीढं सुमीढं च पुरुमीढं च भारत ॥ २६ ॥

हे भारत ! पृथ्वीनाथ सुहोत्रसे स्त्री ऐक्ष्वाकीने अजमीढ, सुमीढ और पुरुमीढ यह तीन पुत्र प्रसव किये ॥ २६ ॥

अजमीढो वरस्तेषां तस्मिन्वंशः प्रतिष्ठितः ।
षट् पुत्रान्सोऽप्यजनयत्तिसृषु स्त्रीषु भारत ॥ २७ ॥

उनमेंसे अजमीढ ज्येष्ठ पुत्र थे, उनसे ही वंश प्रतिष्ठित हुआ । हे भारत ! अजमीढने तीन रानियोंसे छः पुत्र उत्पन्न किये ॥ २७ ॥

ऋक्षं धूमिन्यथो नीली दुःषन्तपरमेष्ठिनौ ।
केशिन्यजनयज्जह्नुमुभौ च जनरूपिणौ ॥ २८ ॥

उनमें धुमिनीके गर्भसे ऋक्ष, नीलीके गर्भसे दुःषन्त तथा परमेष्ठी और केशिनीके गर्भसे जन्हु, जन और रूपिन इन तीन पुत्रोंने जन्म लिया ॥ २८ ॥

तथेमे सर्वपाञ्चाला दुःषन्तपरमेष्ठिनोः ।
अन्वयाः कुशिका राजञ्जह्नोरमिततेजसः ॥ २९ ॥

दुःषन्त और परमेष्ठीके वंशमें यह सब पाञ्चाल राजा उत्पन्न हुए । अमिततेजस्वी जन्हुके वंशसे कुशिकोंने जन्म लिया ॥ २९ ॥

जनरूपिणयोर्ज्येष्ठमृक्षमाहुर्जनाधिपम् ।
ऋक्षात्संवरणो जज्ञे राजन्वंशकरस्तव ॥ ३० ॥

जनाधिप ऋक्ष, जन और रूपिनसे ज्येष्ठ थे, ऋक्षसे तुम्हारा वंश बढानेवाले संवरण नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ३० ॥

आर्क्षे संवरणे राजन्प्रशासति वसुंधराम् ।
संक्षयः सुमहानासीत्प्रजानामिति शुश्रुमः ॥ ३१ ॥

हे राजन् ! हमने सुना है कि जब ऋक्षपुत्र सम्वरणने धरतीका शासन किया था, तब प्रजाका महान् क्षय होने लगा ॥ ३१ ॥

व्यशीर्यत ततो राष्ट्रं क्षयैर्नानाविधैस्तथा ।
क्षुन्मृत्युभ्यामनावृष्ट्या व्याधिभिश्च समाहतम् ।
अभ्यघ्नन्भारतांश्चैव सपत्नानां बलानि च ॥ ३२ ॥

क्षुधा, मृत्यु, अनावृष्टि और व्याधि आदि नाना कारणोंसे प्रजाके लोप होनेपर राष्ट्र नष्ट हो गया, शत्रुपक्षकी सेना भारतपक्षीय योद्धोंको मारने लगी ॥ ३२ ॥

चालयन्वसुधां चैव बलेन चतुरङ्गिणा ।
अभ्ययात्तं च पाञ्चाल्यो विजित्य तरसा महीम् ।
अक्षौहिणीभिर्दशभिः स एनं समरेऽजयत् ॥ ३३ ॥

पाञ्चालके राजा पराक्रमसे भूमण्डलको जीतकर चतुरङ्गिणी सेनासे पृथ्वीको कंपाते हुए हुए राजा संवरणके निकट आ पहुंचे; और युद्धस्थलमें दश अक्षौहिणी सेनासे राजा संम्वरणको पराजित किया ॥ ३३ ॥

ततः सदारः सामात्यः सपुत्रः ससुहृज्जनः ।
राजा संवरणस्तस्मात्पलायत महाभयात् ॥ ३४ ॥

तब वह राजा संवरण भयसे स्त्री, पुत्र, मंत्री और मित्रोंके साथ भाग गया ॥ ३४ ॥

सिन्धोर्नदस्य महतो निकुञ्जे न्यवसत्तदा ।
नदीविषयपर्यन्ते पर्वतस्य समीपतः ।
तत्रावसन्बहून्कालान्भारता दुर्गमाश्रिताः ॥ ३५ ॥

सिंधु नामक महानदीके तटसे पर्वतके निकट तक फैली हुई एक कुंजमें छिपकर रहने लगा, भारतगण उस दुर्गके आश्रयसे बहुत समय तक रहे ॥ ३५ ॥

तेषां निवसतां तत्र सहस्रं परिवत्सरान् ।
अथाभ्यगच्छद्भरतान्वसिष्ठो भगवानृषिः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार उनके वहां रहते हुए एक हजार वर्ष बीत गए, तो एक समय भगवान् ऋषि वसिष्ठ उनके पास आये ॥ ३६ ॥

तमागतं प्रयत्नेन प्रत्युद्गम्याभिवाद्य च ।
अर्घ्यमभ्याहरंस्तस्मै ते सर्वे भारतास्तदा ।
निवेद्य सर्वमृषये सत्कारेण सुवर्चसे ॥ ३७ ॥

भरतवंशी लोगोंने उनको आया देखकर यत्नके साथ नमस्कार करके अर्घ दिया और उस तेजस्वी ऋषिका सत्कार करके सब कहा ॥ ३७ ॥

तं समामष्टमीमुष्टं राजा वव्रे स्वयं तदा ।
पुरोहितो भवान्नोऽस्तु राज्याय प्रयतामहे ।
ओमित्येवं वसिष्ठोऽपि भारतान्प्रत्यपद्यत ॥ ३८ ॥

आगे उन बडे तेजस्वी ऋषिके बैठने पर राजाने उनका वरण किया कि आप हमारे पुरोहित होवें; हम राज्यको फिर पानेका यत्न करना चाहते हैं। वसिष्ठने इन भरतवंशियोंके निकट वह स्वीकार किया ॥ ३८ ॥

अथाभ्यषिञ्चत्साम्राज्ये सर्वक्षत्रस्य पौरवम् ।
विषाणभूतं सर्वस्यां पृथिव्यामिति नः श्रुतम् ॥ ३९ ॥

और सम्पूर्ण भूमण्डलकी चोटीके समान श्रेष्ठ पौरव संवरणको क्षत्रियोंके आधिपत्यरूपी साम्राज्यपर अभिषिक्त किया ऐसा हमने सुना है ॥ ३९ ॥

भरताध्युषितं पूर्वं सोऽध्यतिष्ठत्पुरोत्तमम् ।
पुनर्बलिभृतश्चैव चक्रे सर्वमहीक्षितः ॥ ४० ॥

भूपाल संवरण भरतके पहिले बसे हुए सुन्दर नगरमें फिर अधिष्ठान बना करके संपूर्ण भूपालोंको करदाता बनाने लगे ॥ ४० ॥

ततः स पृथिवीं प्राप्य पुनरीजे महाबलः।
आजमीढो महायज्ञैर्बहुभिर्भूरिदक्षिणैः ॥ ४१ ॥
अजमीढके पौत्र महाबली संवरण फिर पृथ्वीको प्राप्तकर बहुत दक्षिणायुक्त अनेक यज्ञोंका अनुष्ठान करने लगे ॥ ४१ ॥

ततः संवरणात्सौरी सुषुवे तपती कुरुम्।
राजत्वे तं प्रजाः सर्वा धर्मज्ञ इति वव्रिरे ॥ ४२ ॥
अनन्तर सूर्यपुत्री तपतीने भूपति श्रेष्ठ संवरणसे कुरु नामक पुत्र प्रसव किया। हे राजन्! सम्पूर्ण प्रजाओंने कुरुको धर्मज्ञ देखकर वरण किया ॥ ४२ ॥

तस्य नाम्नाभिविख्यातं पृथिव्यां कुरुजाङ्गलम्।
कुरुक्षेत्रं स तपसा पुण्यं चक्रे महातपाः ॥ ४३ ॥
उन महातपा कुरुकी तपस्यासे कुरुजाङ्गल नामक स्थान पवित्र और उनके नामके अनुसार कुरुक्षेत्र नामसे प्रसिद्ध हुआ ॥ ४३ ॥

अश्ववन्तमभिष्वन्तं तथा चित्ररथं मुनिम्।
जनमेजयं च विख्यातं पुत्रांश्चास्यानुशुश्रुम।
पञ्चैतान्वाहिनी पुत्रान्व्यजायत मनस्विनी ॥ ४४ ॥
वाहिनी नाम्नी उनकी मनस्विनी रानीने उनसे अश्ववन्त, अभिष्वत, चित्ररथ, मुनि और प्रख्यात जनमेजय यह पांच पुत्र प्रसव किये ॥ ४४ ॥

अभिष्वतः परिक्षित्तु शबलाश्वश्च वीर्यवान्।
अभिराजो विराजश्च शल्मलश्च महाबलः ॥ ४५ ॥
अभिष्वतके परिक्षित्, शबलाश्व, वीर्यवंत अभिराज, विराज, महाबली, शाल्मल ॥ ४५ ॥

उच्चैःश्रवा भद्रकारो जितारिश्चाष्टमः स्मृतः।
एतेषामन्ववाये तु ख्यातास्ते कर्मजैर्गुणैः ॥ ४६ ॥
उच्चैःश्रवा, भद्रकार और जितारी यह आठ पुत्र उत्पन्न हुए; इनके वंशमें कर्मसे उत्पन्न हुए हुए गुणसे प्रसिद्ध हुए ॥ ४६ ॥

जनमेजयादयः सप्त तथैवान्ये महाबलाः।
परिक्षितोऽभवन्पुत्राः सर्वे धर्मार्थकोविदाः ॥ ४७ ॥
जनमेजय आदि सात और दूसरे अनेक महाबलियोंने जन्म लिया। परिक्षित्के सभी पुत्र धर्म और अर्थके ज्ञानी थे ॥ ४७ ॥

कक्षसेनोग्रसेनौ च चित्रसेनश्च वीर्यवान्।
इन्द्रसेनः सुषेणश्च भीमसेनश्च नामतः ॥ ४८ ॥
उनके नाम कक्षसेन, उग्रसेन, वीर्यशाली, चित्रसेन, इन्द्रसेन, सुषेण और भीमसेन थे ॥४८॥

जनमेजयस्य तनया भुवि ख्याता महाबलाः ।
धृतराष्ट्रः प्रथमजः पाण्डुर्बाह्लीक एव च ॥ ४९ ॥

जनमेजयके पुत्र महाबलशाली पृथ्वीभरमें प्रख्यात प्रथम धृतराष्ट्र, पाण्डु, बाह्लीक, ॥४९॥

निषधश्च महातेजास्तथा जाम्बूनदो बली ।
कुण्डोदरः पदातिश्च वसातिश्चाष्टमः स्मृतः ।
सर्वे धर्मार्थकुशलाः सर्वे भूतहिते रताः ॥ ५० ॥

महातेजस्वी निषध, बलशाली जांबुनद, कुण्डोदर, पदाति और अष्टम वसाति हैं, ये सभी धर्म और अर्थमें कुशल और सब प्राणियोंके हितकारी थे ॥ ५० ॥

धृतराष्ट्रोऽथ राजासीत्तस्य पुत्रोऽथ कुण्डिकः ।
हस्ती वितर्कः क्राथश्च कुण्डलश्चापि पञ्चमः ।
हविःश्रवास्तथेन्द्राभः सुमन्युश्चापराजितः ॥ ५१ ॥

इनमें धृतराष्ट्र राजा हुए । कुण्डिक, हस्ती, वितर्क, क्राथ, पांचवां कुण्डल, हविःश्रवा, इन्द्राभ और अपराजित सुमन्यु यह धृतराष्ट्रके पुत्र हैं ॥ ५१ ॥

प्रतीपस्य त्रयः पुत्रा जज्ञिरे भरतर्षभ ।
देवापिः शन्तनुश्चैव बाह्लीकश्च महारथः ॥ ५२ ॥

हे भरतवंशश्रेष्ठ ! देवापि, शन्तनु और बाह्लीक, इन तीन महारथी पुत्रोंने प्रतीपसे जन्म लिया ॥ ५२ ॥

देवापिस्तु प्रवव्राज तेषां धर्मपरीप्सया ।
शन्तनुश्च महीं लेभे बाह्लीकश्च महारथः ॥ ५३ ॥

उनमें देवापिने धर्मलाभके लिये प्रव्रज्या ग्रहण की और महारथी शन्तनु तथा बाह्लीक भूमण्डलके अधीश हुए ॥ ५३ ॥

भरतस्यान्वये जाताः सत्त्ववन्तो महारथाः ।
देवर्षिकल्पा नृपते बहवो राजसत्तमाः ॥ ५४ ॥

हे नृपते ! देवर्षिसदृश सत्वयुक्त महारथी बहुतेरे भूपालोंने भरतवंशमें जन्म लिया ॥ ५४ ॥

एवंविधाश्चाप्यपरे देवकल्पा महारथाः ।
जाता मनोरन्ववाये ऐलवंशविवर्धनाः ॥ ५५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि एकोनवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥ ३१८२ ॥

ऐसे देवर्षि सदृश ऐलवंशकी वृद्धि करनेवाले बहुतसे महारथी भूपतियोंने मनुवंशमें जन्म लिया ॥ ५५ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें नवासीवां अध्याय समाप्त ॥ ८९ ॥ ३१८२ ॥

: ९० :

जनमेजय उवाच

श्रुतस्त्वत्तो मया विप्र पूर्वेषां संभवो महान् ।
उदाराश्चापि वंशेऽस्मिन्राजानो मे परिश्रुताः ॥ १ ॥

जनमेजय बोले– हे ब्रह्मन् ! आपसे पूर्वज पुरुषोंकी महान् उत्पत्तिकी कथा सुनी और इस वंशके उदारचरित राजाओंके वृत्तान्तोंको भी सुना ॥ १ ॥

किंतु लघ्वर्थसंयुक्तं प्रियाख्यानं न मामति ।
प्रीणात्यतो भवान्भूयो विस्तरेण ब्रवीतु मे ॥ २ ॥

पर यह परमप्रिय उपाख्यान संक्षेपमें कहा गया है, उससे भली प्रकार तृप्त नहीं हुआ हूं, आप फिर विस्तृत रूपसे कहिये ॥ २ ॥

एतामेव कथां दिव्यामा प्रजापतितो मनोः ।
तेषामाजननं पुण्यं कस्य न प्रीतिमावहेत् ॥ ३ ॥

प्रजापति मनुसे लेकर सम्पूर्ण राजाओंके पवित्र जन्म–वृत्तान्त रूपी यह दिव्य कथा सुननेमें किस मनुष्यकी प्रीति नहीं हो ? ॥ ३ ॥

सद्धर्मगुणमाहात्म्यैरभिवर्धितमुत्तमम् ।
विष्टभ्य लोकांस्त्रीनेषां यशः स्फीतमवस्थितम् ॥ ४ ॥

उनके सुधर्म, गुण और महात्म्यसे बढा हुआ यश तीनों लोकमें व्याप्त होकर और बढकर आजतक विद्यमान है; ॥ ४ ॥

गुणप्रभाववीर्यौजःसत्त्वोत्साहवतामहम् ।
न तृप्यामि कथां शृण्वन्नमृतास्वादसंमिताम् ॥ ५ ॥

गुण, प्रभाव, वीर्य, ओज, शक्ति, उत्साहसे युक्त उनकी अमृत सदृश मीठी कथा संक्षेपमें सुनकर भली प्रकार तृप्त नहीं हो सका हूं ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच

शृणु राजन्पुरा सम्यङ् मया द्वैपायनाच्छ्रुतम् ।
प्रोच्यमानमिदं कृत्स्नं स्ववंशजननं शुभम् ॥ ६ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजन् ! मैंने पहिले द्वैपायनसे आपके शुभवंशके वृत्तान्तोंको जैसा सुना था, वह सब कहता हूं, सुनिये ॥ ६ ॥

दक्षस्यादितिः। अदितेर्विवस्वान्। विवस्वतो मनुः। मनोरिला।
इलायाः पुरूरवाः। पुरूरवस आयुः। आयुषो नहुषः। नहुषस्य ययातिः ॥ ७॥ ययातेर्द्वे भार्ये बभूवतुः। उशनसो दुहिता देवयानी वृषपर्वणश्च दुहिता शर्मिष्ठा नाम। अत्रानुवंशो भवति ॥ ८॥

दक्षसे अदिति, अदितिसे विवस्वान्, विवस्वानसे मनु, मनुसे इला, इलासे पुरूरवा, पुरूरवासे आयु, आयुसे नहुष और नहुषसे ययातिने जन्म लिया था ॥ ७॥ ययातिके दो स्त्रियां थीं, शुक्रकी पुत्री देवयानी और वृषपर्वाकी कन्या शर्मिष्ठा। इस स्थानमें वंशकी कथा–सम्बन्धी श्लोक है ॥ ८॥

यदुं च तुर्वसुं चैव देवयानी व्यजायत।
द्रुह्युं चानुं च पूरुं च शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी ॥ ९॥

देवयानीने यदु और तुर्वसु इन दो पुत्रोंको और वृषपर्वाकी कन्या शर्मिष्ठाने द्रुह्यु, अनु और पूरु इन तीन पुत्रोंको जन्म दिया था ॥ ९॥

तत्र यदोर्यादवाः। पूरोः पौरवाः ॥ १०॥ पूरोर्भार्या कौसल्या नाम। तस्यामस्य जज्ञे जनमेजयो नाम। यस्त्रीनश्वमेधानाजहार। विश्वजिता चेष्ट्वा वनं प्रविवेश ॥ ११॥ जनमेजयः खल्वनन्तां नामोपयेमे माधवीम्। तस्यामस्य जज्ञे प्राचिन्वान्। यः प्राचीं दिशं जिगाय यावत्सूर्योदयात्। ततस्तस्य प्राचिन्वत्वम् ॥ १२॥ प्राचिन्वान्खल्वश्मकीमुपयेमे। तस्यामस्य जज्ञे संयातिः ॥ १३॥ संयातिः खलु दृषद्वतो दुहितरं वराङ्गीं नामोपयेमे। तस्यामस्य जज्ञे अहंपातिः ॥ १४॥

आगे यदुसे यादव वंश और पूरुसे पौरव वंश उत्पन्न हुआ ॥ १०॥ पूरुकी भार्याका नाम कौसल्या था। उससे जनमेजय नामवालेने जन्म लिया। उन्होंने तीन बार अश्वमेध और एकबार विश्वजित यज्ञ करके वनमें प्रवेश किया ॥ ११॥ उन्होंने माधवकी अनन्ता नाम्नी कन्यासे विवाह किया। उससे प्राचिन्वान् नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। सूर्योदयके होने तक प्राची दिशा जीतनेके कारण उनका नाम प्राचिन्वान् हुआ ॥ १२॥ प्राचिन्वान्‌ने अश्मकी नाम्नी कन्यासे विवाह किया। उनसे संयातिकी उत्पत्ति हुई ॥ १३॥ संयातिने दृषद्वतकी कन्या वराङ्गीसे विवाह किया। उसके गर्भसे अहंपातिने जन्म लिया ॥ १४॥

अर्हंपातिस्तु खलु कृतवीर्यदुहितरमुपयेमे भानुमतीं नाम ।
तस्यामस्य जज्ञे सार्वभौमः ॥ १५ ॥ सार्वभौमः खलु जित्वा-
जहार कैकेयीं सुनन्दां नाम । तस्यामस्य जज्ञे जयत्सेनः ॥१६॥
जयत्सेनः खलु वैदर्भीमुपयेमे सुषुवां नाम । तस्यामस्य जज्ञे
अराचीनः ॥ १७ ॥ अराचीनोऽपि वैदर्भीमेवापरामुपयेमे
मर्यादां नाम । तस्यामस्य जज्ञे महाभौमः ॥ १८ ॥

अर्हंपातिने कृतवीर्यकी कन्या भानुमतिका पाणिग्रहण किया; भानुमतिके गर्भसे सार्वभौमने जन्म लिया ॥ १५ ॥ सार्वभौमने कैकेयराजको जीतकर उनकी पुत्री सुनन्दाको हर लिया । उसके गर्भसे जयत्सेनकी उत्पत्ति हुई ॥ १६ ॥ जयत्सेनने विदर्भराजकुमारी सुषुवाका पाणिग्रहण किया । उससे अराचीनका जन्म हुआ ॥ १७ ॥ अराचीनने दूसरी वैदर्भी मर्यादा नाम्नी कन्यासे विवाह किया । इससे महाभौमका जन्म हुआ ॥ १८ ॥

महाभौमः खलु प्रासेनजितीमुपयेमे सुयज्ञां नाम । तस्यामस्य
जज्ञे अयुतनायी । यः पुरुषमेधानामयुतमानयत् । तदस्यायुत-
नायित्वम् ॥ १९ ॥ अयुतनायी खलु पृथुश्रवसो दुहितरमुप-
येमे भासां नाम । तस्यामस्य जज्ञे अक्रोधनः ॥ २० ॥ अक्रो-
धनः खलु कालिङ्गीं करण्डुं नामोपयेमे । तस्यामस्य जज्ञे
देवातिथिः ॥ २१ ॥ देवातिथिः खलु वैदेहीमुपयेमे मर्यादां
नाम । तस्यामस्य जज्ञे ऋचः ॥ २२ ॥

महाभौमने प्रसेनजित्की कन्या सुयज्ञासे विवाह किया । उससे अयुतनायीका जन्म हुआ; इनके अयुत नरमेध यज्ञ करनेसे इनका नाम अयुतनायी हुआ ॥ १९ ॥ अयुतनायीने पृथुश्रवाकी कन्या भासासे विवाह किया; इससे भासाके गर्भसे अक्रोधनने जन्म लिया ॥२०॥ कलिङ्ग राजकन्या करण्डुके साथ अक्रोधनका विवाह हुआ, उसके गर्भसे देवातिथिने जन्म लिया ॥ २१ ॥ देवातिथिने विदेह राजपुत्री मर्यादासे विवाह किया । मर्यादाके गर्भसे ऋचने जन्म लिया ॥ २२ ॥

ऋचः खल्वाङ्गेयीमुपयेमे सुदेवां नाम तस्यां पुत्रमजनयदृ-
क्षम् ॥ २३ ॥ ऋक्षः खलु तक्षकदुहितरमुपयेमे ज्वालां नाम ।
तस्यां पुत्रं मतिनारं नामोत्पादयामास ॥ २४ ॥ मतिनारः

ऋचने अङ्गराजकी सुदेवा नाम्नी कन्यासे विवाह किया । सुदेवाने ऋक्ष नामक पुत्र प्रसूत किया ॥ २३ ॥ तक्षककी पुत्री ज्वालाके साथ ऋक्षका विवाह हुआ । उस ज्वालाके गर्भसे

×

खलु सरस्वत्यां द्वादशवार्षिकं सत्रमाजहार ॥ २५ ॥ निवृत्ते
च सत्रे सरस्वत्यभिगम्य तं भर्तारं वरयामास । तस्यां पुत्र-
मजनयत्तंसुं नाम ॥ २६ ॥ अत्रानुवंशो भवति ॥ २७ ॥

मतिनारने जन्म लिया ॥ २४ ॥ मतिनारने सरस्वती नदीके तटपर बारह वर्षमें अनुष्ठान होनेवाले यज्ञका अनुष्ठान किया था ॥ २५ ॥ उस महायज्ञके समाप्त होनेपर सरस्वतीने आकर उनको पतित्वमें वरण किया। इससे सरस्वतीके गर्भसे तंसु नाम पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ २६ ॥ इस स्थानमें वंश कथाका श्लोक है ॥ २७ ॥

तंसुं सरस्वती पुत्रं मतिनारादजीजनत्।
इलिनं जनयामास कालिन्द्यां तंसुरात्मजम् ॥ २८ ॥

सरस्वतीने मतिनारसे तंसुनामक पुत्रको प्रसव किया। तंसुने कालिन्दीसे इलिन नामक पुत्र उत्पन्न किया ॥ २८ ॥

इलिनस्तु रथन्तर्यां दुःषन्ताद्यान्पञ्च पुत्रानजनयत् ॥ २९ ॥
दुःषन्तः खलु विश्वामित्रदुहितरं शकुन्तलां नामोपयेमे।
तस्यामस्य जज्ञे भरतः। तत्र श्लोकौ भवतः ॥ ३० ॥

राजा इलिनने और रथन्तरीमें गर्भसे दुःपन्तादि पांच पुत्र पैदा किए ॥ २९ ॥ दुःपन्तने विश्वामित्रकी कन्या शकुन्तलासे विवाह किया। उससे भरतका जन्म हुआ। इस स्थलमें वंशानुकीर्तनके दो श्लोक हैं ॥ ३० ॥

माता भस्त्रा पितुः पुत्रो येन जातः स एव सः।
भरस्व पुत्रं दुःषन्त मावमंस्थाः शकुन्तलाम् ॥ ३१ ॥

"हे दुःपन्त! माता चमडेके कोशके समान है, उसमें पिता स्वयं पुत्रके स्वरूपमें जन्म लेता है, अतएव पुत्रको पोषो, पालो, शकुन्तलाका अनादर मत करो ॥ ३१ ॥

रेतोधाः पुत्र उन्नयति नरदेव यमक्षयात्।
त्वं चास्य धाता गर्भस्य सत्यमाह शकुन्तला ॥ ३२ ॥

हे नरदेव! निज वीर्यसे उत्पन्न हुई सन्तान यमराजके घरसे उद्धार करती है और तुम्हींने यह गर्भाधान किया है; वह सच है, शकुन्तलाने जो कहा है ॥ ३२ ॥

ततोऽस्य भरतत्वम् ॥ ३३ ॥ भरतः खलु काशेयीमुपयेमे
सार्वसेनीं सुनन्दां नाम। तस्यामस्य जज्ञे भुमन्युः ॥ ३४ ॥

अतएव हे पौरव! इस हेतु दुःषन्तके पुत्रका नाम भरत हुआ ॥ ३३ ॥ भरतने काशीराज सर्वसेनकी पुत्री सुनन्दासे विवाह किया, इससे सुनन्दाके गर्भसे भुमन्युकी उत्पत्ति हुई ॥ ३४ ॥

सुमन्युः खलु दाशार्हीमुपयेमे जयां नाम। तस्यामस्य जज्ञे सुहोत्रः ॥ ३५॥ सुहोत्रः खल्विक्ष्वाकुकन्यामुपयेमे सुवर्णां नाम। तस्यामस्य जज्ञे हस्ती। य इदं हास्तिनपुरं स्थापयामास। एतदस्य हास्तिनपुरत्वम् ॥ ३६ ॥

सुमन्युने दशार्हकी कन्या जयासे विवाह किया। और उसमें सुहोत्र नामक पुत्रोत्पादन किया ॥ ३५॥ सुहोत्रने इक्ष्वाकुकी कन्या सुवर्णासे विवाह किया, उससे सुवर्णाके गर्भसे हस्ती नामक राजपुत्रका जन्म हुआ; जिन महाराज हस्तीने अपने नामसे हस्तिनापुर स्थापित किया; इसलिये हस्तिनापुर प्रख्यात हुआ है॥ ३६॥

हस्ती खलु त्रैगर्तीमुपयेमे यशोधरां नाम। तस्यामस्य जज्ञे विकुण्ठनः ॥ ३७॥ विकुण्ठनः खलु दाशार्हीमुपयेमे सुदेवां नाम। तस्यामस्य जज्ञे अजमीढः ॥३८॥ अजमीढस्य चतुर्विंशं पुत्रशतं बभूव कैकेय्यां नागायां गान्धार्यां विमलायामृक्षायां चेति। पृथक्पृथग्वंशकरा नृपतयः। तत्र वंशकरः संवरणः ॥३९॥ संवरणः खलु वैवस्वतीं तपतीं नामोपयेमे। तस्यामस्य जज्ञे कुरुः ॥ ४० ॥

हस्तीने त्रिगर्त राजकन्या यशोधरासे विवाह किया। उससे विकुण्ठन नामक पुत्र उत्पन्न किया था ॥ ३७॥ विकुण्ठनने दशार्हकी पुत्री सुदेवासे विवाह किया, सुदेवाके गर्भसे अजमीढने जन्म लिया ॥ ३८ ॥ अजमीढके कैकेयी, नागा, गान्धारी, विमला और ऋक्षा इन पत्नियोंसे चौबीस सौ पुत्रोंका जन्म हुआ। वे सब भूपाल अलग अलग वंशधर हुए, उनमेंसे संवरणके पुत्रहीसे वंश प्रतिष्ठित था ॥ ३९ ॥ संवरणने सूर्य्यकी पुत्री तपतीसे विवाह किया। तपतीके गर्भसे कुरुका जन्म हुआ ॥ ४० ॥

कुरुः खलु दाशार्हीमुपयेमे शुभाङ्गीं नाम। तस्यामस्य जज्ञे विडूरथः ॥ ४१ ॥ विडूरथस्तु मागधीमुपयेमे संप्रियां नाम। तस्यामस्य जज्ञे अरुग्वान्नाम ॥ ४२ ॥ अरुग्वान्खलु मागधीमुपयेमे अमृतां नाम। तस्यामस्य जज्ञे परिक्षित् ॥ ४३ ॥ परिक्षित्खलु बाहुदामुपयेमे सुयशां नाम। तस्यामस्य जज्ञे भीमसेनः ॥ ४४ ॥

कुरुने दशार्हकी पुत्री शुभाङ्गीसे विवाह किया। शुभाङ्गीके गर्भसे विडूरथका जन्म हुआ ॥४१॥ मगध देशकी कन्या संप्रियासे विडूरथने विवाह किया। संप्रियाके गर्भसे अरुग्वान्ने जन्म लिया ॥ ४२ ॥ अरुग्वान्ने अमृता नाम्नी मगधराज कुमारीसे विवाह किया। उसके गर्भसे परिक्षित् नामक पुत्रोत्पादन किया ॥ ४३ ॥ परिक्षित्ने बहुदकी कन्या सुयशासे विवाह किया, सुयशाके गर्भसे भीमसेन नामक पुत्रने जन्म लिया ॥ ४४ ॥

भीमसेनः खलु कैकेयीमुपयेमे सुकुमारीं नाम। तस्यामस्य जज्ञे पर्यश्रवाः। यमाहुः प्रतीपं नाम ॥ ४५॥ प्रतीपः खलु शैव्यामुपयेमे सुनन्दां नाम। तस्यां पुत्रानुत्पादयामास देवापिं शन्तनुं बाह्लीकं चेति ॥४६॥ देवापिः खलु बाल एवारण्यं प्रविवेश। शन्तनुस्तु महीपालोऽभवत्। अत्राऽनुवंशो भवति ॥ ४७॥

भीमसेनने कैकेय राजकुमारी सुकुमारीसे विवाह किया। सुकुमारीके गर्भसे पर्यश्रवा नाम पुत्रका जन्म हुआ। जिसे प्रतीप भी कहते हैं॥ ४५ ॥ प्रतीपने शैव्यराजकुमारी सुनन्दासे विवाह किया। उसके गर्भसे देवापि, शन्तनु और बाह्लीक यह तीन पुत्र उत्पन्न हुए ॥४६॥ देवापि बालपनहीमें वन चले गए। शन्तनु राजा हुए। इस स्थानमें वंश कीर्तनका श्लोक है ॥ ४७ ॥

यं यं कराभ्यां स्पृशति जीर्णं स सुखमश्नुते।
पुनर्युवा च भवति तस्मात्तं शन्तनुं विदुः ॥ ४८ ॥

वह भूप हाथसे जिन जिन जीर्ण जनोंको स्पर्श करते थे, वे सब फिर युवा (शान्त-तनु) होकर सुख भोगते थे ॥ ४८ ॥

तदस्य शन्तनुत्वम् ॥ ४९ ॥ शन्तनुः खलु गङ्गां भागीरथीमुपयेमे। तस्यामस्य जज्ञे देवव्रतः। यमाहुर्भीष्म इति ॥५०॥ भीष्मः खलु पितुः प्रियचिकीर्षया सत्यवतीमुदवहन्मातरम्। यामाहुर्गन्धकालीति ॥ ५१ ॥ तस्यां कानीनो गर्भः पराशराद्द्वैपायनः। तस्यामेव शन्तनोर्द्वौ पुत्रौ बभूवतुः। चित्राङ्गदो विचित्रवीर्यश्च ॥ ५२ ॥

इस हेतु इनका नाम शन्तनु हुआ ॥ ४९ ॥ शन्तनुने भागीरथी गङ्गासे विवाह किया। उससे गंगाके गर्भसे देवव्रतने जन्म लिया, जिनको सब भीष्म कहते हैं ॥ ५० ॥ भीष्मने पिताका प्रिय कार्य करनेकी इच्छासे उनके साथ माता सत्यवतीका विवाह कर दिया, उस सत्यवतीका और एक नाम गन्धकाली भी प्रसिद्ध था ॥ ५१ ॥ पहिले सत्यवतीकी कन्यादशामें पराशरसे द्वैपायनका जन्म हुआ था; आगे शन्तनुके उसके गर्भमे दो और पुत्रोंने जन्म लिया, उनके नाम विचित्रवीर्य्य और चित्रांगद थे ॥ ५२ ॥

तयोरप्राप्तयौवन एव चित्राङ्गदो गन्धर्वेण हतः। विचित्रवीर्यस्तु राजा समभवत् ॥ ५३ ॥ विचित्रवीर्यः खलु कौसल्या-

चित्रांगद यौवनको प्राप्त करनेके पहिले ही गन्धर्वसे मार दिए गये थे। विचित्रवीर्य राजा हुए ॥ ५३ ॥ विचित्रवीर्यने कौशल्याके गर्भोत्पन्न काशिराजपुत्री अम्बिका और अम्बालिका

तत्रजे अम्बिकाम्बालिके काशिराजदुहितरावुपयेमे ॥ ५४ ॥ विचित्रवीर्यस्त्वनपत्य एव विदेहत्वं प्राप्तः ॥ ५५ ॥ ततः सत्यवती चिन्तयमास। दौःषन्तो वंश उच्छिद्यते इति ॥ ५६ ॥

इन दो कन्याओंसे विवाह किया ॥ ५४ ॥ पर वह सन्तान रहित ही परलोकको चले गए ॥ ५५ ॥ सत्यवती सोचने लगी कि दुःषन्तका वंश समाप्त होने वाला है ॥ ५६ ॥

सा द्वैपायनमृषिं चिन्तयामास ॥ ५७ ॥ स तस्याः पुरतः स्थितः किं करवाणीति ॥ ५८ ॥ सा तमुवाच । भ्राता तवानपत्य एव स्वर्यातो विचित्रवीर्यः । साध्वपत्यं तस्योत्पादयेति ॥ ५९ ॥ स परमित्युक्त्वा त्रीन्पुत्रानुत्पादयामास धृतराष्ट्रं पाण्डुं विदुरं चेति ॥ ६० ॥ तत्र धृतराष्ट्रस्य राज्ञः पुत्रशतं बभूव गान्धार्यां वरदानाद्द्वैपायनस्य ॥६१॥ तेषां धृतराष्ट्रस्य पुत्राणां चत्वारः प्रधाना बभूवुर्दुर्योधनो दुःशासनो विकर्णश्चित्रसेन इति ॥ ६२ ॥

तब उसने निजपुत्र द्वैपायन ऋषिको स्मरण किया ॥५७॥ द्वैपायनने उसके सम्मुख उपस्थित होकर पूछा कि क्या करना होगा ? ॥ ५८ ॥ सत्यवती बोली– तुम्हारे भाई विचित्रवीर्य विना सन्तान ही परलोकको सिधार गए । उनके लिए उत्तम पुत्रोत्पादन करो ॥ ५९ ॥ द्वैपायनने स्वीकार किया ! अनन्तर उन्होंने धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर ये तीन पुत्र उत्पन्न किये ॥ ६० ॥ आगे द्वैपायनके वरदानके प्रभावसे गान्धारीके गर्भसे धृतराष्ट्रके सौ पुत्र हुए ॥ ६१ ॥ उन धृतराष्ट्रके पुत्रोंमें दुर्योधन, दुःशासन, विकर्ण और चित्रसेन यह चार पुत्र प्रधान थे ॥ ६२ ॥

पाण्डोस्तु द्वे भार्ये बभूवतुः कुन्ती माद्री चेत्युभे स्त्रीरत्ने ॥ ६३ ॥ अथ पाण्डुर्मृगयां चरन्मैथुनगतमृषिमपश्यन्मृग्यां वर्तमानम् । तथैवाऽप्लुतमनासादितकामरसमतृप्तं बाणेनाभिजघान ॥ ६४ ॥ स बाणविद्ध उवाच पाण्डुम् । चरता धर्म-

कुन्ती और माद्री यह दो स्त्री–रत्न पाण्डुकी भार्या थीं; ॥ ६३ ॥ अनन्तर एक समय पाण्डु मृगयाके निमित्त वनमें गये थे; वहां देखा, कि एक ऋषि मृगीसे मैथुन कर रहे हैं । तबतक कामरसके पूर्ण न होनेके कारण भली प्रकार तृप्त नहीं हुए थे, उन अद्भुत मृगरूपी ऋषि पर उन्होंने बाण मारा ॥ ६४ ॥ ऋषि बाणसे विद्ध होकर पाण्डुसे बोले

मिमं येन त्वयाभिज्ञेन कामरसस्याहमनवाप्तकामरसोऽभिहन्तस्तस्मात्त्वमप्येतामवस्थामासाद्यानवाप्तकामरसः पञ्चत्वमाप्स्यसि क्षिप्रमेवेति ॥६५॥ स विवर्णरूपः पाण्डुः शापं परिहरमाणो नोपासर्पत भार्यें ॥ ६६ ॥

कि तुमने धर्म और काम रसके अभिज्ञ होकर भी मुझको अपूर्ण मनोरथ देखने परभी मार डाला! इस हेतु तुमभी इस अवस्थाको पाकर कामरसमें अतृप्त रह कर उसहीमें शीघ्र परलोकको सिधारोगे ॥ ६५ ॥ यह शाप सुनतेही उसी क्षण पीले पडे हुए पांडुने शापसे बचनेके लिये स्त्रीसे मिलना छोड दिया ॥ ६६ ॥

वाक्यं चोवाच। स्वचापल्यादिदं प्राप्तवानहम्। शृणोमि च नानपत्यस्य लोकाः सन्तीति ॥ ६७ ॥ सा त्वं मदर्थे पुत्रानुत्पादयेति कुन्तीमुवाच ॥ ६८ ॥ सा तत्र पुत्रानुत्पादयामास धर्माद्युधिष्ठिरं मारुताद्भीमसेनं शक्रादर्जुनमिति ॥ ६९ ॥ स तां हृष्टरूपः पाण्डुरुवाच। इयं ते सपत्न्यनपत्या। साध्वस्यामपत्यमुत्पाद्यतामिति ॥ ७० ॥

उन्होंने कुन्ती और माद्रीसे कहा, कि मैंने अपनी चपलतासे यह कुदशा प्राप्त की है; सुना है, कि पुत्रकी उत्पत्ति न होनेसे स्वर्गकी प्राप्ति नहीं होती ॥ ६७ ॥ तब कुन्तीसे बोले, तुम मेरे लिये पुत्र उत्पन्न करो ॥ ६८ ॥ तब कुन्तीने पतिके उस नियोगके अनुसार धर्मसे युधिष्ठिर, पवनसे भीम और इन्द्रसे अर्जुन इस प्रकार तीन पुत्र उत्पन्न किये ॥ ६९ ॥ पाण्डु उसपर प्रसन्न होकर बोले, तुम्हारी सौत यह माद्री निःसन्तान है, तुम इसमें भी अच्छे पुत्र उत्पन्न कर दो ॥ ७० ॥

स एवमस्त्वित्युक्तः कुन्त्या ॥ ७१ ॥ ततो माद्र्यामश्विभ्यां नकुलसहदेवावुत्पादितौ ॥ ७२ ॥ माद्रीं खल्वलंकृतां दृष्ट्वा पाण्डुर्भावं चक्रे ॥ ७३ ॥ स तां स्पृष्ट्वैव विदेहत्वं प्राप्तः ॥७४॥ तत्रैनं चितास्थं माद्री समन्वारुरोह ॥ ७५ ॥

कुन्तीने वह स्वीकार कर "ठीक है" ऐसा कहा ॥७१॥ तब माद्रीने भी दोनों अश्विनीकुमारोंसे नकुल और सहदेव यह दो यमज पुत्र उत्पन्न किये ॥ ७२ ॥ एक समय पाण्डु माद्रीको गहनोंसे सजी हुई देखकर कामवश हो गये ॥ ७३ ॥ पर माद्रीके स्पर्श करते ही वे मर गए ॥ ७४ ॥ पाण्डुकी देह चिताकी आगमें जला दी जानेपर माद्री उनके पीछे सती हो गयी ॥ ७५ ॥

उवाच कुन्तीम्। यमयोरार्ययाप्रमत्तया भवितव्यमिति ॥७६॥
ततस्ते पञ्च पाण्डवाः कुन्त्या सहिता हास्तिनपुरमानीय
तापसैर्भीष्मस्य विदुरस्य च निवेदिताः ॥ ७७॥ तत्रापि जतु-
गृहे दग्धुं समारब्धा न शकिता विदुरमन्त्रितेन ॥ ७८ ॥ ततश्च
हिडिम्बमन्तरा हत्वा एकचक्रां गताः ॥ ७९ ॥

और उस समय कुन्तीसे कहा, कि तुम सावधान होकर मेरी इन दो यमज सन्तानोंको पालना ॥ ७६ ॥ अनन्तर तपस्वीगणोंने कुन्तीके साथ पांचों पाण्डवोंको हस्तिनापुरमें लाकर भीष्म और विदुरको सौंप दिया ॥ ७७ ॥ वे दुर्योधनके कारणसे जतुगृहमें जलनेवाले होने पर भी विदुरके परामर्शके प्रभावसे बाल बाल बच गए ॥ ७८ ॥ उसके बाद बीचमें हिडि-म्बको मारकर एकचक्रा नगरीमें गये ॥ ७९ ॥

तस्यामप्येकचक्रायां बकं नाम राक्षसं हत्वा पाञ्चालनगरम-
भिगताः ॥ ८० ॥ तस्माद्द्रौपदीं भार्यामविन्दन्स्वविषयं
चाजग्मुः कुशलिनः ॥ ८१ ॥ पुत्रांश्चोत्पादयामासुः । प्रतिवि-
न्ध्यं युधिष्ठिरः । सुतसोमं वृकोदरः । श्रुतकीर्तिमर्जुनः । शता-
नीकं नकुलः । श्रुतकर्माणं सहदेव इति ॥ ८२ ॥

उस एकचक्रा नगरीमें भी बक नामक राक्षसको मारकर पाञ्चाल नगरमें गये ॥ ८० ॥ वहां द्रौपदीको भार्याके रूपमें प्राप्त करके कुशलपूर्वक अपने राज्यमें लौट आए ॥ ८१ ॥ उन्होंने द्रौपदीके गर्भसे पांच पुत्र उत्पन्न किए । उनमें युधिष्ठिरके वीर्यसे प्रतिविन्ध्य, भीमके वीर्यसे सुतसोम, अर्जुनके वीर्यसे श्रुतकीर्त्ति, नकुलके वीर्यसे शतानीक और सहदेवके वीर्यसे श्रुतकर्माका जन्म हुआ ॥ ८२ ॥

युधिष्ठिरस्तु गोवासनस्य शैब्यस्य देविकां नाम कन्यां स्वयं-
वरे लेभे । तस्यां पुत्रं जनयामास यौधेयं नाम ॥ ८३ ॥ भीम-
सेनोऽपि काश्यां बलधरां नामोपयेमे वीर्यशुल्काम् । तस्यां
पुत्रं सर्वगं नामोत्पादयामास ॥ ८४ ॥ अर्जुनः खलु द्वारवतीं
गत्वा भगिनीं वासुदेवस्य सुभद्रां नाम भार्यामुदवहत्। तस्यां
पुत्रमभिमन्युं नाम जनयामास ॥ ८५ ॥ नकुलस्तु चैद्यां करे-

युधिष्ठिरने गोवासन नामक शैब्य राजकी कन्या देविकाको स्वयंवरमें प्राप्त किया । उस देविकाके गर्भसे यौधेय नामक पुत्र उत्पन्न किया ॥८३॥ भीमसेनने वीर्यरूपी शुल्कके द्वारा काशीराजकी पुत्री बलधरासे विवाह किया । उसके गर्भसे सर्वग नामक पुत्रको उत्पन्न किया ॥ ८४ ॥ अर्जुनने द्वारकामें जाकरके वासुदेवकी बहिन सुभद्रासे विवाह किया । और उस सुभद्रासे अभिमन्यु नामक पुत्रको उत्पन्न किया ॥ ८५ ॥ नकुलने चेदिराज

णुवतीं नाम भार्यामुदवहत् । तस्यां पुत्रं निरमित्रं नामाजनयत् ॥८६॥ सहदेवोऽपि माद्रीमेव स्वयंवरे विजयां नामोपयेमे। तस्यां पुत्रमजनयत्सुहोत्रं नाम ॥ ८७ ॥

कुमारी करेणुमतीनाम्नी कन्यासे विवाह किया। उससे निरमित्र नामक पुत्रको उत्पन्न किया ॥ ८६ ॥ सहदेवने स्वयंवरमें मद्रराजकी कन्या विजयासे विवाह किया। विजयाके गर्भसे सुहोत्र नाम पुत्रको उत्पन्न किया ॥ ८७ ॥

भीमसेनस्तु पूर्वमेव हिडिम्बायां राक्षस्यां घटोत्कचं नाम पुत्रं जनयामास ॥ ८८ ॥ इत्येते एकादश पाण्डवानां पुत्राः ॥ ८९ ॥ विराटस्य दुहितरमुत्तरां नामाभिमन्युरुपयेमे। तस्यामस्य परासुर्गर्भोऽजायत ॥ ९० ॥ तमुत्सङ्गेन प्रतिजग्राह पृथा नियोगात्पुरुषोत्तमस्य वासुदेवस्य। षाण्मासिकं गर्भमहमेनं जीवयिष्यामीति ॥ ९१ ॥ संजीवयित्वा चैनमुवाच। परिक्षीणे कुले जातो भवत्वयं परिक्षिन्नामेति ॥ ९२ ॥

भीमसेनने पहिले ही राक्षसी हिडिम्बासे घटोत्कच नामक पुत्रको उत्पन्न किया ॥ ८८ ॥ इस प्रकार पाण्डवोंके यह ग्यारह पुत्र थे ॥ ८९ ॥ अभिमन्युने विराट राजकी पुत्री उत्तरासे विवाह किया। उसके वीर्य और उत्तराके गर्भसे मरा पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ९० ॥ पुरुषोत्तम वासुदेवने "मैं इस छे मासके बालकको—संतानको जिलाऊंगा" कहके कुंतीसे कहा। उनकी आज्ञाके अनुसार कुन्तीने उस मरे हुए बालकको गोदमें लिया ॥ ९१ ॥ अनंतर उसे जीवित करके बोले— कुलके परिक्षीण होनेपर इस बालकने जन्म लिया है, इस हेतु इसका नाम परिक्षित् हो ॥ ९२ ॥

परिक्षित्तु खलु माद्रवतीं नामोपयेमे। तस्यामस्य जनमेजयः ॥ ९३ ॥ जनमेजयात्तु वपुष्टमायां द्वौ पुत्रौ शतानीकः शङ्कुश्च ॥ ९४ ॥ शतानीकस्तु खलु वैदेहीमुपयेमे। तस्यामस्य जज्ञे पुत्रोऽश्वमेधदत्तः ॥ ९५ ॥

महाराज ! परिक्षित्‌ने माद्रवतीसे विवाह किया। उससे जनमेजयने जन्म लिया ॥ ९३ ॥ जनमेजयने वपुष्टमा नाम्नी रानीसे शतानीक और शंकु यह दो पुत्र उत्पन्न किये ॥ ९४ ॥ शतानीकने वैदेहीसे विवाह किया और उससे अश्वमेधदत्त नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ९५ ॥

इत्येष पूरोर्वंशस्तु पाण्डवानां च कीर्तितः ।
पुरोर्वंशमिमं श्रुत्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते　　॥ ९६ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥ ३२७८ ॥

हे नृपते ! पूरु और पाण्डवोंकी यह वंश-कथा कह चुका । पूरुओंकी इस वंशावलीको सुनकर मनुष्य सब पापोंसे छूट जाता है ॥ ९६ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें नव्वेवां अध्याय समाप्त ॥ ९० ॥ ३२७८ ॥

: ९१ :

वैशम्पायन उवाच

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो राजासीत्पृथिवीपतिः ।
महाभिष इति ख्यातः सत्यवाक्सत्यविक्रमः　　॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– इक्ष्वाकु वंशमें उत्पन्न महाभिष नामसे प्रख्यात सत्यवादी और सत्य विक्रमी एक राजा थे ॥ १ ॥

सोऽश्वमेधसहस्रेण वाजपेयशतेन च ।
तोषयामास देवेन्द्रं स्वर्गं लेभे ततः प्रभुः　　॥ २ ॥

उन्होंने सहस्र अश्वमेध और शत संख्यायुक्त वाजपेय यज्ञसे देवाधीश इन्द्रको सन्तुष्ट किया, इससे वह अन्तकालमें स्वर्गको पधारे ॥ २ ॥

ततः कदाचिद्ब्रह्माणमुपासाञ्चक्रिरे सुराः ।
तत्र राजर्षयो आसन्स च राजा महाभिषः　　॥ ३ ॥

एक समय सुरलोग ब्रह्माकी उपासना कर रहे थे; उस समय अनेक राजर्षि और राजा महाभिष उस स्थानमें उपस्थित थे ॥ ३ ॥

अथ गङ्गा सरिच्छ्रेष्ठा समुपायात्पितामहम् ।
तस्या वासः समुद्धूतं मारुतेन शशिप्रभम्　　॥ ४ ॥

तब नदियोंमें प्रधान गङ्गा उस समय पितामहके निकट उपस्थित हुई, उनका चंद्रके समान शुभ्र वस्त्र पवनने ऊपर उठा दिया ॥ ४ ॥

ततोऽभवन्सुरगणाः सहसावाङ्मुखास्तदा ।
महाभिषस्तु राजर्षिरशङ्को दृष्टवान्नदीम्　　॥ ५ ॥

देवताओंने देखते ही मुख नीचे कर लिये, राजर्षि महाभिष निःशङ्क चित्तसे उस नदीकी तरफ ताकते रहे ॥ ५ ॥

अपध्यातो भगवता ब्रह्मणा स महाभिषः ।
उक्तश्च जातो मर्त्येषु पुनर्लोकानवाप्स्यसि　　॥ ६ ॥

इस हेतु भगवान् ब्रह्माने महाभिषको शाप देकर कहा, कि तुम मर्त्यलोकमें जन्म लोगे और कुछ काल बाद इस पुण्यलोकमें आओगे ॥ ६ ॥

स चिन्तयित्वा नृपतिर्नृपान्सर्वांस्तपोधनान् ।
प्रतीपं रोचयामास पितरं भूरिवर्चसम्   ॥ ७ ॥

नृपति महाभिषने राजालोग और दूसरे तपोधनोंके बारेमें कुछ काल सोच करके अति वर्चस्वी राजा प्रतीपके वीर्यसे जन्म लेनेकी अभिलाषा की ॥ ७ ॥

महाभिषं तु तं दृष्ट्वा नदी धैर्याच्च्युतं नृपम् ।
तमेव मनसाध्यायमुपावर्तत्सरिद्वरा   ॥ ८ ॥

नदियोंमें श्रेष्ठ गङ्गा नदी नृपति महाभिषको उस प्रकार धैर्यसे च्युत हुआ हुआ देखकर उन्हींका मन ही मनमें ध्यान करती हुई चली गयी ॥ ८ ॥

सा तु विध्वस्तवपुषः कश्मलाभिहतौजसः ।
ददर्श पथि गच्छन्ती वसून्देवान्दिवौकसः   ॥ ९ ॥

उस नदीने जाते हुए पथमें स्वर्गधामवाले देव वसुओंको तेजसे रहित होकर अस्तव्यस्त शरीरसे युक्त देखा ॥ ९ ॥

तथारूपांश्च तान्दृष्ट्वा पप्रच्छ सरितां वरा ।
किमिदं नष्टरूपाः स्थ कच्चित्क्षेमं दिवौकसाम्   ॥ १० ॥

नदियोंमें श्रेष्ठ भागीरथीने उनको उस दशामें देखकर पूछा, कि तुम क्यों श्री भ्रष्ट हुए हो ? देवोंका मङ्गल तो है न ? ॥ १० ॥

तामूचुर्वसवो देवाः शप्ताः स्मो वै महानदि ।
अल्पेऽपराधे संरम्भाद्वसिष्ठेन महात्मना   ॥ ११ ॥

उससे वसुओंने कहा– हे महानदी ! महात्मा वसिष्ठने छोटेसे अपराधके कारण क्रोधित होकर हमें शाप दिया है ॥ ११ ॥

विमूढा हि वयं सर्वे प्रच्छन्नमृषिसत्तमम् ।
सन्ध्यां वसिष्ठमासीनं तमत्यभिसृताः पुरा   ॥ १२ ॥

ऋषिश्रेष्ठ वसिष्ठ छिपकर सन्ध्योपासन कर रहे थे, हम मुग्ध चित्त होकरके उनको लांघ गये थे ॥ १२ ॥

तेन कोपाद्वयं शप्ता योनौ संभवतेति ह ।
न शक्यमन्यथा कर्तुं यदुक्तं ब्रह्मवादिना   ॥ १३ ॥

इससे उन्होंने क्रोधयुक्त होकरके हमको शाप दिया है, कि तुम नरयोनिमें जन्म लो । ब्रह्म-वादी महर्षिने जो कहा है, उसे अन्यथा नहीं किया जा सकता ॥ १३ ॥

त्वं तस्मान्मानुषी भूत्वा सूष्व पुत्रान्वसून्भुवि ।
न मानुषीणां जठरं प्रविशेमाशुभं वयम्   ॥ १४ ॥

अतएव तुम भूमण्डलमें मानवी बनकर हम वसुओंको पुत्ररूपमें उत्पन्न करो । हम मानवीके अशुभ पेटमें नहीं घुसना चाहते ॥ १४ ॥

इत्युक्ता तान्वसून्गङ्गा तथेत्युक्त्वाब्रवीदिदम् ।
मर्त्येषु पुरुषश्रेष्ठः को वः कर्ता भविष्यति ॥ १५ ॥

गंगाने वसुओंकी बातको सुनकर "तथास्तु" कहकर उनसे पूछा कि मर्त्यलोकमें कौनसा श्रेष्ठ पुरुष तुम्हारा जन्मदाता होगा ? ॥ १५ ॥

वसव ऊचुः

प्रतीपस्य सुतो राजा शन्तनुर्नाम धार्मिकः ।
भविता मानुषे लोके स नः कर्ता भविष्यति ॥ १६ ॥

वसु बोले– नरलोकमें प्रतीप नामक पृथ्वीनाथके पुत्र शंतनु नामसे एक बडे भारी राजा होंगे, वह हमारे जन्मदाता होंगे ॥ १६ ॥

गङ्गोवाच

ममाप्येवं मतं देवा यथावदत मानघाः ।
प्रियं तस्य करिष्यामि युष्माकं चैतदीप्सितम् ॥ १७ ॥

गंगा बोली– हे निष्पापी देवगण! तुम मुझसे जैसा कहते हो, मेरा भी वही मत है; मैं उन शंतनु राजाका प्रिय करूंगी, साथ ही तुम्हारा भी प्रिय करूंगी ॥ १७ ॥

वसव ऊचुः

जातान्कुमारान्स्वानप्सु प्रक्षेप्तुं वै त्वमर्हसि ।
यथा नचिरकालं नो निष्कृतिः स्यात्त्रिलोकगे ॥ १८ ॥

वसु बोले– हे तीनों लोकोंमें जानेवाली ! जब हम तुम्हारे पुत्रके स्वरूपमें जन्म लें, तब तुम हमको जलमें फेंकना, ताकि सदा हमको मर्त्यलोकमें रहना न पडे ॥ १८ ॥

गङ्गोवाच

एवमेतत्करिष्यामि पुत्रस्तस्य विधीयताम् ।
नास्य मोघः संगमः स्यात्पुत्रहेतोर्मया सह ॥ १९ ॥

गंगा बोली– तुम जैसा कहते हो, वही करूंगी, पर पुत्र पानेकी अभिलाषावाले शंतनुका मुझसे मिलना व्यर्थ न हो, इस हेतु ऐसा करो, कि मेरा एक पुत्र जीवित रहे ॥ १९ ॥

वसव ऊचुः

तुरीयार्धं प्रदास्यामो वीर्यस्यैकैकशो वयम् ।
तेन वीर्येण पुत्रस्ते भविता तस्य चेप्सितः ॥ २० ॥

वसु बोले– हम अपनेसे हरेक अपने अपने तेजका आठवां भाग देंगे, उस तेजसे तुम्हारी और उनकी अभिलाषानुरूप एक पुत्र उत्पन्न होकर जीवित रहेगा ॥ २० ॥

न संपत्स्यति मर्त्येषु पुनस्तस्य तु संततिः ।
तस्मादपुत्रः पुत्रस्ते भविष्यति स वीर्यवान् ॥ २१ ॥

पर मर्त्यलोकमें उसका वंश नहीं रहेगा, वह तुम्हारी वीर्यवान् संतान निःसंतान होगी ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ते समयं कृत्वा गङ्गया वसवः सह ।
जग्मुः प्रहृष्टमनसो यथासंकल्पमञ्जसा ॥ २२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि एकनवतितमोऽध्यायः ॥ ९१ ॥ ३३०० ॥

वैशम्पायन बोले— वसु गंगाके साथ ऐसी शर्त बांधकर उसी क्षण मनमाने स्थानको प्रसन्न चित्तसे पधारे ॥ २२ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें इक्यानवेवां अध्याय समाप्त ॥ ९१ ॥ ३३०० ॥

: ९२ :

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रतीपो राजा स सर्वभूतहिते रतः ।
निषसाद समा बह्वीर्गङ्गातीरगतो जपन् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— इसके बाद सर्व भूतोंके हितमें रत भूपति प्रतीप बहुतवर्षतक गंगाके किनारे जाकर जप करने लगे ॥ १ ॥

तस्य रूपगुणोपेता गङ्गा श्रीरिव रूपिणी ।
उत्तीर्य सलिलात्तस्माल्लोभनीयतमाकृतिः ॥ २ ॥

रूपगुणयुक्त अति लुभानेवाली लक्ष्मी जैसी रूपिणी गंगा उस जलसे निकल कर बाहर आई ॥ २ ॥

अधीयानस्य राजर्षेर्दिव्यरूपा मनस्विनी ।
दक्षिणं शालसङ्काशमूरुं भेजे शुभानना ॥ ३ ॥

सुमुखी, दिव्यरूपा, मनस्विनी वह गंगा पाठ करते हुए राजर्षिके शालवृक्षके समान विशाल दाहिनी जांघ पर जाकर बैठ गई ॥ ३ ॥

प्रतीपस्तु महीपालस्तामुवाच मनस्विनीम् ।
करवाणि किं ते कल्याणि प्रियं यत्तेऽभिकांक्षितम् ॥ ४ ॥

महीपाल प्रतीप उस मनस्विनीसे बोले, हे कल्याणि ! तुम्हारा अभिलषित कौनसा प्रिय कार्य करूं ? ॥ ४ ॥

स्त्र्युवाच

त्वामहं कामये राजन्कुरुश्रेष्ठ भजस्व माम् ।
त्यागः कामवतीनां हि स्त्रीणां सद्भिर्विगर्हितः ॥ ५ ॥

नारी बोली— कुरुओंमें श्रेष्ठ ! मैं तुम्हारी कामना करती हूं, अतः तुम मेरा सेवन करो । साधु-लोग इच्छावती कामिनीको त्याग देना दोषयुक्त कहा करते हैं ॥ ५ ॥

प्रतीप उवाच

नाहं परस्त्रियं कामाद्गच्छेयं वरवर्णिनि ।
न चासवर्णां कल्याणि धर्म्यं तद्विद्धि मे व्रतम् ॥ ६ ॥

प्रतीप बोले— हे सुंदरी, कल्याणि ! मेरा धर्मयुक्त व्रत यह है, कि मैं कामके वशमें होकर परायी नारी वा असवर्णा स्त्रीसे नहीं मिलता ॥ ६ ॥

स्त्र्युवाच

नाश्रेयस्यस्मि नागम्या न वक्तव्या च कर्हिचित् ।
भज मां भजमानां त्वं राजन्कन्यां वरस्त्रियम् ॥ ७ ॥

नारी फिर बोली— महाराज ! मैं अलक्षणा, मिलनेके अयोग्य वा निंदित स्त्री नहीं हूं; अतः हे राजन् ! तुम्हारी कामना करनेवाली मुझ श्रेष्ठ कन्यासे सम्बन्ध करो ॥ ७ ॥

प्रतीप उवाच

मयातिवृत्तमेतत्ते यन्मां चोदयसि प्रियम् ।
अन्यथा प्रतिपन्नं मां नाशयेद्धर्मविप्लवः ॥ ८ ॥

प्रतीप बोले— तुम जिस प्रिय कार्यके लिये मुझे प्रेरणा दे रही हो मैं उससे निवृत्त हूं, यदि इसक्षण उसका विरुद्धाचरण करूं, तो यह धर्म विरोध मुझको नष्ट कर देगा ॥ ८ ॥

प्राप्य दक्षिणमूरुं मे त्वमाश्लिष्टा वराङ्गने ।
अपत्यानां स्नुषाणां च भीरु विद्ध्येतदासनम् ॥ ९ ॥

विशेष तुमने दक्षिण जांघ पर बैठ कर मेरा आलिङ्गन किया है, अतः हे भीरु वराङ्गने ! पुरुषकी दाहिनी जांघ पुत्र, कन्या और पुत्रवधूका आसन है यह तुम जानो ॥ ९ ॥

सव्यतः कामिनीभागस्त्वया स च विवर्जितः।
तस्मादहं नाचरिष्ये त्वयि कामं वराङ्गने ॥ १० ॥

और बांयी जांघ प्रणयिनीके भोगनेके योग्य है; तुमने उस बांयी ऊरुको छोड दिया है इसलिए, हे सुन्दर अंगोंवाली। मैं तुमसे काम–युक्त आचरण नहीं कर सकता ॥ १० ॥

स्नुषा मे भव कल्याणि पुत्रार्थे त्वां वृणोम्यहम्।
स्नुषापक्षं हि वामोरु त्वमागम्य समाश्रिता ॥ ११ ॥

हे कल्याणि! क्यों कि तुम आकर मेरी पुत्रवधूके समान दाहिनी जांघ पर बैठी हो, अतः तुम मेरी पुत्रवधू होओ, अतएव अपने पुत्रके निमित्त तुमको चुनता हूँ ॥ ११ ॥

स्त्र्युवाच
एवमप्यस्तु धर्मज्ञ संयुज्येयं सुतेन ते।
त्वद्भक्त्यैव भजिष्यामि प्रख्यातं भारतं कुलम् ॥ १२ ॥

नारी बोली– हे धर्मज्ञ! तुम अपने पुत्रके साथ मेरा विवाह करनेके लिये जो कुछ कह रहे हो, वही होवे, मैं तुम्हारे पुत्रसे ही संयुक्त होऊं। तुम पर भक्ति करके मैं इस प्रसिद्ध भरत वंशकी सेवा करूंगी ॥ १२ ॥

पृथिव्यां पार्थिवा ये च तेषां यूयं परायणम्।
गुणा न हि मया शक्या वक्तुं वर्षशतैरपि।
कुलस्य ये वः प्रथितास्तत्साधुत्वमनुत्तमम् ॥ १३ ॥

भूमण्डलमें जितने भूपाल हैं, तुम्हीं उनकी गति हो। तुम्हारे इस वंशके जितने गुण हैं, वह मैं सैकडों वर्षोंमें भी नहीं कह सकती और इस वंशमें जो प्रख्यात थे, उनकी जितनी साधुता और श्रेष्ठता थी, वहभी नहीं कही जा सकती ॥ १३ ॥

स मे नाभिजनज्ञः स्यादाचरेयं च यद्विभो।
तत्सर्वमेव पुत्रस्ते न मीमांसेत कर्हिचित् ॥ १४ ॥

मेरे साथ यह एक शर्त करनी पडेगी, कि मैं जो कुछ करूंगी, तुम्हारा पुत्र उसकी कभी आलोचना नहीं कर सकेगा ॥ १४ ॥

एवं वसन्ती पुत्रे ते वर्धयिष्याम्यहं प्रियम्।
पुत्रैः पुण्यैः प्रियैश्चापि स्वर्गं प्राप्स्यति ते सुतः ॥ १५ ॥

मैं ऐसेही शर्तमें रहकर तुम्हारे पुत्रसे प्रेम बढाऊंगी, तुम्हारे पुत्र प्रणय, प्रियकार्य और पुत्रसे स्वर्गकी प्राप्ति करेंगे ॥ १५ ॥

वैशंपायन उवाच

तथेत्युक्त्वा तु सा राजंस्तत्रैवान्तरधीयत ।
पुत्रजन्म प्रतीक्षंस्तु स राजा तदधारयत् ॥ १६ ॥

वैशम्पायन बोले— हे राजन् ! गङ्गा ऐसा कहकर उसी स्थानमें लुप्त हो गई । राजाने पुत्रके जन्मकी प्रतीक्षा करके वही निश्चय किया ॥ १६ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु प्रतीपः क्षत्रियर्षभः ।
तपस्तेपे सुतस्यार्थे सभार्यः कुरुनन्दन ॥ १७ ॥

उसी समयसे ही क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ कुरुकुलप्रदीप प्रतीप स्त्रीके सहित पुत्रके लिये तप करने लगे ॥ १७ ॥

तयोः समभवत्पुत्रो वृद्धयोः स महाभिषः ।
शान्तस्य जज्ञे सन्तानस्तस्मादासीत्स शन्तनुः ॥ १८ ॥

बादमें दम्पतिके बुढापेसें उन महात्मा महाभिषने जन्म लिया, वृद्ध भूपालके शान्तचित्त होने पर उस कालमें उस सन्तानका जन्म हुआ, इस हेतु उनका नाम शंतनु हुआ ॥ १८ ॥

संस्मरंश्चाक्षयाँल्लोकान्विजातान्स्वेन कर्मणा ।
पुण्यकर्मकृदेवासीच्छन्तनुः कुरुसत्तम ॥ १९ ॥

कुरुश्रेष्ठ शंतनु निज कर्मसे जीते गए अक्षय पुण्यलोकोंको मनमें स्मरण कर पुण्य कर्मों का ही अनुष्ठान करने लगे ॥ १९ ॥

प्रतीपः शन्तनुं पुत्रं यौवनस्थं ततोऽन्वशात् ।
पुरा मां स्त्री समभ्यागाच्छन्तनो भूतये तव ॥ २० ॥

अनंतर राजा प्रतीप अपने पुत्र शंतनुको युवा देखकर बोले, "हे शंतनो ! तुम्हारे मंगलके निमित्त पूर्वकालमें एक सुंदरी नारी मेरे पास आई थी ॥ २० ॥

त्वामाव्रजेद्यदि रहः सा पुत्र वरवर्णिनी ।
कामयानाभिरूपाढ्या दिव्या स्त्री पुत्रकाम्यया ।
सा त्वया नानुयोक्तव्या कासि कस्यासि वाङ्गने ॥ २१ ॥

हे पुत्र ! वह अनुपम रूपवती युवती वरवर्णिनी अपनी इच्छासे सर्वत्र गमन करनेवाली दिव्य स्त्री यदि पुत्रकी कामनासे तुम्हारे पास एकान्तमें आवे, तो तुम उससे ऐसा मत पूछना, कि " हे अङ्गने ? तुम कौन और किसकी बेटी हो ? ॥ २१ ॥

यच्च कुर्यान्न तत्कार्यं प्रष्टव्या सा त्वयानघ ।
मन्नियोगाद्भजन्तीं तां भजेथा इत्युवाच तम् ॥ २२ ॥

हे अनघ ! वह कामिनी जो भी कर्म करे वह भी तुम उससे मत पूछना; मैं तुम्हें यह आज्ञा देता हूं, कि इस आज्ञाके अनुसार तुम उस भजनेवाले युवतीको स्वीकार करना। " इस प्रकार प्रतीपने शंतनुसे कहा ॥ २२ ॥

एवं संदिश्य तनयं प्रतीपः शन्तनुं तदा ।
स्वे च राज्येऽभिषिच्यैनं वनं राजा विवेश ह ॥ २३ ॥

वैशम्पायन बोले– राजा प्रतीप तब अपने पुत्र शन्तनुको ऐसी आज्ञा देनेके बाद उसे अपने राज्यपर अभिषिक्त करके वनको पधारे ॥ २३ ॥

स राजा शन्तनुर्धीमान्ख्यातः पृथ्व्यां धनुर्धरः ।
बभूव मृगयाशीलः सततं वनगोचरः ॥ २४ ॥

पृथ्वीमें श्रेष्ठ धनुर्धारीके रूपमें प्रसिद्ध धीमान् धरतीनाथ शन्तनु सदा वनमें जाकर मृगया करने लगे ॥ २४ ॥

स मृगान्महिषांश्चैव विनिघ्नन्राजसत्तमः ।
गङ्गामनुचचारैकः सिद्धचारणसेविताम् ॥ २५ ॥

महाराज ! एक समय वह राजश्रेष्ठ मृग और भैंसका वध करते हुए सिद्धचारणोंसे सेवित गंगाके सामने अकेले घूम रहे थे ॥ २५ ॥

स कदाचिन्महाराज ददर्श परमस्त्रियम् ।
जाज्वल्यमानां वपुषा साक्षात्पद्मामिव श्रियम् ॥ २६ ॥
सर्वानवद्यां सुदतीं दिव्याभरणभूषिताम् ।
सूक्ष्माम्बरधरामेकां पद्मोदरसमप्रभाम् ॥ २७ ॥

उसी समय साक्षात् लक्ष्मीके सदृश शरीरसे तेजस्वी कान्तिवती, अनिन्दिता, दिव्य आभूषणोंसे सजी, शोभा देनेवाले दांतोंसे सुशोभित, पद्मोदर सदृश सुन्दरी, पतला वस्त्र पहिने हुए किसी बहुत सुन्दर स्त्रीको उन्होंने देखा ॥ २६–२७ ॥

तां दृष्ट्वा हृष्टरोमाभूद्विस्मितो रूपसंपदा ।
पिबन्निव च नेत्राभ्यां नातृप्यत नराधिपः ॥ २८ ॥

उस रमणीको देखकर उसके रूपैश्वर्यसे राजा विस्मित हो गए और हर्षसे उनके रोंगटे खडे हो गए और उनके नेत्र उसे पीकर तृप्त नहीं हुए ॥ २८ ॥

सा च दृष्ट्वैव राजानं विचरन्तं महाद्युतिम् ।
स्नेहादागतसौहार्दा नातृप्यत विलासिनी ॥ २९ ॥

और विलासिनी नारी भी राजाको अति उज्ज्वल रूपलावण्यसे चमकते और घूमते देखकर स्नेह और प्रेममें फंसकर अपनी देखनेकी लालसाको भली प्रकार पूर्ण नहीं कर सकी ॥ २९ ॥

तामुवाच ततो राजा सान्त्वयञ्श्लक्ष्णया गिरा ।
देवी वा दानवी वा त्वं गन्धर्वी यदि वाप्सराः　　　॥ ३० ॥

राजाने उसको मीठी बातोंसे समझाकर कहा, तुम चाहे देवी वा दानवी अथवा गन्धर्वी वा अप्सरा जो हो ॥ ३० ॥

यक्षी वा पन्नगी वापि मानुषी वा सुमध्यमे ।
या वा त्वं सुरगर्भाभे भार्या मे भव शोभने　　　॥ ३१ ॥

या पन्नगी, यक्षी वा मानवी जो हो, हे देवोंकी पुत्रीके समान कान्तिवाली शोभने ! मैं तुमसे प्रार्थना करता हूं कि तुम मेरी स्त्री बनो ॥ ३१ ॥

एतच्छ्रुत्वा वचो राज्ञः सस्मितं मृदु वल्गु च ।
वसूनां समयं स्मृत्वा अभ्यगच्छदनिन्दिता　　　॥ ३२ ॥
उवाच चैव राज्ञः सा ह्लादयन्ती मनो गिरा ।
भविष्यामि महीपाल महिषी ते वशानुगा　　　॥ ३३ ॥

अनिन्दिता गङ्गा राजाकी मृदु और मनोहर वाणी मन्द हंसीके साथ सुनकर वसुओंके नियमको स्मरण करके उनके सामने गयी और बातोंसे भूपतिके चित्तको प्रसन्न करती हुई बोली, कि हे महीपाल ! मैं तुम्हारे वशमें रहनेवाली रानी बनूंगी ॥ ३२–३३ ॥

यत्तु कुर्यामहं राजञ्शुभं वा यदि वाशुभम् ।
न तद्वारयितव्यास्मि न वक्तव्या तथाप्रियम्　　　॥ ३४ ॥

पर मैं शुभ वा अशुभ जो कुछ भी कार्य करूं, तो भी तुम मुझे रोकने वा अप्रिय बात कहने नहीं पाओगे ॥ ३४ ॥

एवं हि वर्तमानेऽहं त्वयि वत्स्यामि पार्थिव ।
वारिता विप्रियं चोक्ता त्यजेयं त्वामसंशयम्　　　॥ ३५ ॥

हे पृथ्वीपाल ! तुम यदि ऐसे नियमसे मेरे साथ रह सको तो मैं भी तुम्हारे साथ रहूंगी, यदि रोकोगे वा अप्रिय वाणी कहोगे तो निश्चय तुमको त्याग दूंगी ॥ ३५ ॥

तथेति राज्ञा सा तूक्ता तदा भरतसत्तम ।
प्रहर्षमतुलं लेभे प्राप्य तं पार्थिवोत्तमम्　　　॥ ३६ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! राजाके द्वारा "ठीक है" कहकर वह बात मानने पर गङ्गाने उन भूपाल-श्रेष्ठको प्राप्त कर अपार आनन्द लाभ किया ॥ ३६ ॥

आसाद्य शन्तनुस्तां च बुभुजे कामतो वशी ।
न प्रष्टव्येति मन्वानो न स तां किंचिदूचिवान्　　　॥ ३७ ॥

भूपति शन्तनु भी उसको पाकर उसके वशमें होकर मनमाना भोग करने लगे; पूछना उचित न समझकर उससे कुछ पूछते नहीं थे ॥ ३७ ॥

×

स तस्याः शीलवृत्तेन रूपौदार्यगुणेन च ।
उपचारेण च रहस्तुतोष जगतीपतिः ॥ ३८ ॥

वरन् उसकी शीलता, सुव्यवहार, सुन्दरता, उदारता और एकान्तकी सेवासे वह राजा सन्तुष्ट हुए ॥ ३८ ॥

दिव्यरूपा हि सा देवी गङ्गा त्रिपथगा नदी ।
मानुषं विग्रहं श्रीमत्कृत्वा सा वरवर्णिनी ॥ ३९ ॥
भाग्योपनतकामस्य भार्येवोपस्थिताभवत् ।
शन्तनो राजसिंहस्य देवराजसमद्युतेः ॥ ४० ॥

सुन्दरी दिव्यरूपा त्रिपथगा वह देवी गङ्गा नदी शोभनीय मानवी शरीर धरकर देवराजके समान तेजस्वी नृपसिंह शन्तनुके सौभाग्यसे उनका मनोरथ सफल करती हुई प्रिय पत्नी हुई ॥ ३९–४० ॥

संभोगस्नेहचातुर्यैर्हावलास्यैर्मनोहरैः ।
राजानं रमयामास यथा रेमे तथैव सः ॥ ४१ ॥

वह सम्भोग, स्नेह, चतुरता, सुन्दर नाच और मनोहर हाव भावसे राजाका मन बहलाने लगी, राजाभी हर तरहसे उसका मन बहलाने लगे ॥ ४१ ॥

स राजा रतिसक्तत्वादुत्तमस्त्रीगुणैर्हृतः ।
संवत्सरानृतून्मासान्न बुबोध न बहून्गतान् ॥ ४२ ॥

वह अच्छी स्त्रीके गुणके वशीभूत होकर क्रीडामें आसक्त रहनेसे यह जान नहीं सके, कि अनेक महीने, ऋतु और वर्ष बीत रहे हैं ॥ ४२ ॥

रममाणस्तया सार्धं यथाकामं जनेश्वरः ।
अष्टावजनयत्पुत्रांस्तस्याममरवर्णिनः ॥ ४३ ॥

नरेशने उससे यथेच्छ क्रीडा करते हुए उसके गर्भसे क्रमशः देवोंके समान आठ पुत्र उत्पन्न किये ॥ ४३ ॥

जातं जातं च सा पुत्रं क्षिपत्यम्भसि भारत ।
प्रीणामि त्वाहमित्युक्त्वा गङ्गास्रोतस्यमज्जयत् ॥ ४४ ॥

हे भारत ! जब जो पुत्र जन्म लेता था, तभी गङ्गा उसको जलमें डाल देती और कुमारको गंगाके सोतेमें डुबा देती थी, और कहती थी कि तुमको प्रसन्न करती हूं ॥ ४४ ॥

तस्य तन्न प्रियं राज्ञः शन्तनोरभवत्तदा ।
न च तां किंचनोवाच त्यागाद्भीतो महीपतिः　　　　॥ ४५ ॥

इस प्रकार क्रमसे सात पुत्रोंको डाल देने पर गंगाका ऐसा निर्दयी व्यवहार राजाके लिये अति असन्तोषदायक होने लगा, पर इस भयसे, कि कहीं छोडकर चली न जाय, उससे कुछ कहते नहीं थे ॥ ४५ ॥

अथ तामष्टमे पुत्रे जाते प्रहसितामिव ।
उवाच राजा दुःखार्तः परीप्सन्पुत्रमात्मनः　　　　॥ ४६ ॥

अनन्तर आठवें पुत्रके जन्म लेने पर जब गङ्गा हंस रही थी, उसी समय राजा अति दुःखी होकर अपने पुत्रकी रक्षाके निमित्त उससे बोले ॥ ४६ ॥

मा वधीः कासि कस्यासि किं हिंससि सुतानिति ।
पुत्रघ्नि सुमहत्पापं मा प्रापस्तिष्ठ गर्हिते　　　　॥ ४७ ॥

पुत्रको मत मारो, तुम कौन और किसकी बेटी हो ? क्यों पुत्रको मार डालती हो ? हे पुत्रघात करनेवाली निन्दनीये ! पुत्रको मारना बडा भारी पाप है, अतः तुम यह पाप मत करो ॥ ४७ ॥

स्त्र्युवाच

पुत्रकाम न ते हन्मि पुत्रं पुत्रवतां वर ।
जीर्णस्तु मम वासोऽयं यथा स समयः कृतः　　　　॥ ४८ ॥

नारी बोली– हे पुत्र-कामी ! पुत्रवान् जनोंमें श्रेष्ठ, तुम्हारे इस पुत्रको नहीं मारूंगी; पर मैंने जो शर्त बांधी थी, उसके अनुसार तुम्हारे पास मेरे रहनेका काल समाप्त हो गया है ॥ ४८ ॥

अहं गङ्गा जह्नुसुता महर्षिगणसेविता ।
देवकार्यार्थसिद्ध्यर्थमुषिताहं त्वया सह　　　　॥ ४९ ॥

मैं महर्षियोंसे सेवित जन्हुकी कन्या गंगा हूं, देवताके कार्य साधनेके लिये मैंने तुमसे सहवास किया था ॥ ४९ ॥

अष्टेमे वसवो देवा महाभागा महौजसः ।
वसिष्ठशापदोषेण मानुषत्वमुपागताः　　　　॥ ५० ॥

ये तुम्हारे पुत्र महातेजस्वी महाभाग अष्टवसु देव वसिष्ठके शापके दोषसे मनुष्य होकर जन्मे थे ॥ ५० ॥

तेषां जनयिता नान्यस्त्वदृते भुवि विद्यते।
मद्विधा मानुषी धात्री न चैवास्तीह काचन ॥ ५१ ॥

इस मर्त्यलोकमें तुम्हारे सिवाय उनका जन्मदाता होने योग्य कोई नहीं और मेरे सिवाय कोई उनकी माता होने योग्य भी नहीं है ॥ ५१ ॥

तस्मात्तज्जननीहेतोर्मानुषत्वमुपागता ।
जनयित्वा वसूनष्टौ जिता लोकास्त्वयाक्षयाः ॥ ५२ ॥

इस हेतु मैंने वसुओंकी माता होनेके लिये मानवी शरीरको धारण किया था, तुमने अष्टवसुओंको जन्म देकर अक्षयलोक जीत लिया है ॥ ५२ ॥

देवानां समयस्त्वेष वसूनां संश्रुतो मया ।
जातं जातं मोक्षयिष्ये जन्मतो मानुषादिति ॥ ५३ ॥

वसुदेवोंसे मैंने यह प्रतिज्ञा की थी, कि जन्म लेते ही मैं उनको मानवी जन्मसे मुक्त करूंगी ॥ ५३ ॥

तत्ते शापाद्विनिर्मुक्ता आपवस्य महात्मनः ।
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि पुत्रं पाहि महाव्रतम् ॥ ५४ ॥

इसलिये उनको उस प्रकारसे जलमें डाल दिया था, इससे वे महात्मा आपव ऋषिके शापसे मुक्त हुए, इस समय तुम इस महाव्रत पुत्रको पालो; तुम्हारा कल्याण हो, मैं जाती हूं ॥५४॥

एष पर्यायवासो मे वसूनां संनिधौ कृतः ।
मत्प्रसूतं विजानीहि गङ्गादत्तमिमं सुतम् ॥ ५५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि द्विनवतितमोऽध्यायः ॥ ९२ ॥ ३३५५ ॥

मैंने तुम्हारे लिये वसुओंके निकट एक पुत्र मांगा था, इससे हरेक वसुके आठवें भागसे इस पुत्रका जन्म हुआ है । सो मेरे प्रसव किये हुए, इस पुत्रको "गंगादत्त" अर्थात् गंगाका दिया हुआ जानना ॥ ५५ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें बयानवेवां अध्याय समाप्त ॥ ९२ ॥ ३३५५ ॥

: ९३ :

शंतनुरुवाच

आपवो नाम को न्वेष वसूनां किं च दुष्कृतम् ।
यस्याभिशापात्ते सर्वे मानुषीं तनुमागताः ॥ १ ॥

शन्तनु बोले– आपव नामके कौनसे ऋषि हैं ? और वसुओंने उनका कौनसा दोष किया था ? जिनके कारण उन्हें यह मानवी शरीर धारण करना पडा ॥ १ ॥

अनेन च कुमारेण गङ्गादत्तेन किं कृतम् ।
यस्य चैव कृतेनायं मानुषेषु निवत्स्यति ॥ २ ॥

और गंगाके द्वारा दिये गए इस पुत्रने कौनसा दोष किया था, कि उस कर्मफलसे वह मानवलोकमें वास करेगा ? ॥ २ ॥

ईशानाः सर्वलोकस्य वसवस्ते च वै कथम् ।
मानुषेषूदपद्यन्त तन्ममाचक्ष्व जाह्नवि ॥ ३ ॥

हे जाह्नवी ! वसुलोग सब लोकोंके ईश्वर हैं, इसलिए मुझे यह बताओ, कि वे मर्त्यलोकमें क्यों उत्पन्न हुए ? ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

सैवमुक्ता ततो गङ्गा राजानमिदमब्रवीत् ।
भर्तारं जाह्नवी देवी शन्तनुं पुरुषर्षभम् ॥ ४ ॥

वैशम्पायन बोले– इस प्रकार कही जानेपर देवी जाह्नवी गंगा पुरुषश्रेष्ठ पति राजा शन्तनुसे यह कहने लगी ॥ ४ ॥

यं लेभे वरुणः पुत्रं पुरा भरतसत्तम ।
वसिष्ठो नाम स मुनिः ख्यात आपव इत्युत ॥ ५ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! पूर्वकालमें वरुणदेवने जिनको अपना पुत्र बना लिया था; वह वसिष्ठ नामक मुनि आपव नामसे प्रसिद्ध हुए ॥ ५ ॥

तस्याश्रमपदं पुण्यं मृगपक्षिगणान्वितम् ।
मेरोः पार्श्वे नगेन्द्रस्य सर्वर्तुकुसुमावृतम् ॥ ६ ॥

पर्वतोंमें श्रेष्ठ सुमेरुके किनारे उनका पवित्र आश्रम था, वह आश्रम मृग पक्षियोंसे गूंजता हुआ और सदा सब ऋतुओंके फूलोंसे घिरा रहता था ॥ ६ ॥

स वारुणिस्तपस्तेपे तस्मिन्भरतसत्तम ।
वने पुण्यकृतां श्रेष्ठः स्वादुमूलफलोदके ॥ ७ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! पुण्यवानोंमें श्रेष्ठ वही वरुणपुत्र मीठे फल मूल और जलयुक्त उस आश्रमके वनमें तप किया करते थे ॥ ७ ॥

दक्षस्य दुहिता या तु सुरभीत्यतिगर्विता।
गां प्रजाता तु सा देवी कश्यपाद्भरतर्षभ ॥ ८ ॥

हे भरतर्षभ ! एक समय अति गर्वित सुरभी नाम्नी देवी दक्षपुत्रीने कश्यपके वीर्यसे एक गाय उत्पन्न की ॥ ८ ॥

अनुग्रहार्थं जगतः सर्वकामदुघां वराम्।
तां लेभे गां तु धर्मात्मा होमधेनुं स वारुणिः ॥ ९ ॥

जगत् पर अनुग्रह करनेके लिए धर्मात्मा वरुण पुत्र वसिष्ठने सब कामधेनुओंमें श्रेष्ठ उस गायको लेकर हवनधेनु बनायी ॥ ९ ॥

सा तस्मिंस्तापसारण्ये वसन्ती मुनिसेविते।
चचार रम्ये धर्म्ये च गौरपेतभया तदा ॥ १० ॥

सुरभीकी कन्या गौ उन मुनियोंसे सेवित, धर्मयुक्त और रमणीय उपवनमें वासकर निर्भय चित्तसे चरने लगी ॥ १० ॥

अथ तद्वनमाजग्मुः कदाचिद्भरतर्षभ।
पृथ्वाद्या वसवः सर्वे देवदेवर्षिसेवितम् ॥ ११ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! अनन्तर किसी समयमें पृथ्वादि देव वसुगण देवर्षिसेवित उस वनमें आए ॥ ११ ॥

ते सदारा वनं तच्च व्यचरन्त समन्ततः।
रेमिरे रमणीयेषु पर्वतेषु वनेषु च ॥ १२ ॥

और वे अपनी अपनी स्त्रीके साथ उस वनमें विचरने लगे और रमणीय पर्वत और कुञ्जोंमें इधर उधर क्रीडा करने लगे ॥ १२ ॥

तत्रैकस्य तु भार्या वै वसोर्वासवविक्रम।
सा चरन्ती वने तस्मिन्गां ददर्श सुमध्यमा।
या सा वसिष्ठस्य मुनेः सर्वकामधुगुत्तमा ॥ १३ ॥

हे इन्द्रके समान विक्रमी ! उनमेंसे एक वसुकी सुन्दरी एक स्त्रीने उस वनमें घूमती हुई जो वसिष्ठ मुनिकी सब कामधेनुओंमें उत्तम सुरभीकी कन्या नन्दिनी थी उसको देखा ॥१३॥

सा विस्मयसमाविष्टा शीलद्रविणसंपदा।
दिवे वै दर्शयामास तां गां गोवृषभेक्षण ॥ १४ ॥

शीलसम्पदसे भरी पूरी वह वसुकी स्त्री उसे देखकर आश्चर्य चकित रह गई। हे गौबैल समान आंखवाले ! उसने वह गाय अपने देवको भी दिखाई ॥ १४ ॥

स्वापीनां च सुदोग्ध्रीं च सुवालधिमुखां शुभाम् ।
उपपन्नां गुणैः सर्वैः शीलेनानुत्तमेन च　　　　॥ १५ ॥

वह गाय सबकामदुघाओंमें श्रेष्ठ, प्रशस्त थनवाली, अच्छी दुधारु, सुन्दर पूंछ और खुरयुक्त, शुभलक्षणा, सुशीला और सर्वगुणवती थी ॥ १५ ॥

एवंगुणसमायुक्तां वसवे वसुनन्दिनी ।
दर्शयामास राजेन्द्र पुरा पौरवनन्दन　　　　॥ १६ ॥

हे पूरुके पुत्र राजेन्द्र ! वसुनन्दिनीने इस प्रकार गुणसे युक्त गायको अपने वसुको दिखाया ॥ १६ ॥

द्यौस्तदा तां तु दृष्ट्वैव गां गजेन्द्रेन्द्रविक्रम ।
उवाच राजंस्तां देवीं तस्या रूपगुणान्वदन्　　　　॥ १७ ॥

हे गजेन्द्रके सामन विक्रमी पौरव–नन्दन ! द्यु नामक वसुने तब उस सुरभीकी पुत्रीको देख कर अपनी प्रेमिका देवीसे उसके रूप और गुणका वर्णन कर कहा ॥ १७ ॥

एषा गौरुत्तमा देवि वारुणेरसितेक्षणे ।
ऋषेस्तस्य वरारोहे यस्येदं वनमुत्तमम्　　　　॥ १८ ॥

हे काली आंखोंवाली तथा कमलके समान सुन्दरी ! जिन ऋषिका यह उत्तम तपोवन है, यह देवी सुरभीकी पुत्री उन वरुणपुत्रकी उत्तम गौ है ॥ १८ ॥

अस्याः क्षीरं पिबेन्मर्त्यः स्वादु यो वै सुमध्यमे ।
दश वर्षसहस्राणि स जीवेत्स्थिरयौवनः　　　　॥ १९ ॥

हे सुन्दरी ! जो मनुष्य इस नंदिनीका मीठा दूध पीयेगा, वह अटल यौवन पाकर दसहजार वर्ष तक जीवित रहेगा ॥ १९ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु सा देवी नृपोत्तम सुमध्यमा ।
तमुवाचानवद्याङ्गी भर्तारं दीप्ततेजसम्　　　　॥ २० ॥

हे नृपोत्तम ! सुमध्यमा अनिन्दित अंगोंवाली सुंदरी देवी वसुपत्नीने यह सुनकर अति तेजस्वी अपने पतिसे कहा ॥ २० ॥

अस्ति मे मानुषे लोके नरदेवात्मजा सखी ।
नाम्ना जिनवती नाम रूपयौवनशालिनी　　　　॥ २१ ॥

मर्त्यलोकमें रूप–यौवनसे युक्त जिनवती नामक एक राजपुत्री मेरी सहेली है ॥ २१ ॥

उशीनरस्य राजर्षेः सत्यसन्धस्य धीमतः ।
दुहिता प्रथिता लोके मानुषे रूपसंपदा ॥ २२ ॥

वह धीमान् सत्यप्रेमी राजर्षि उशीनरकी बेटी है, वह अपनी रूप सम्पत्तिके कारण सम्पूर्ण मानव लोकमें प्रसिद्ध है ॥ २२ ॥

तस्या हेतोर्महाभाग सवत्सां गां ममेप्सिताम् ।
आनयस्वामरश्रेष्ठ त्वरितं पुण्यवर्धन ॥ २३ ॥

हे महाभाग ! उसके लिये मुझे बछडा-सहित इस गौको लेनेकी बडी अभिलाषा है। हे पुण्य बढानेवाले अमर श्रेष्ठ ! शीघ्र गौको लाइये ॥ २३ ॥

यावदस्याः पयः पीत्वा सा सखी मम मानद
मानुषेषु भवत्वेका जरारोगविवर्जिता ॥ २४ ॥

ताकि, हे मानद ! मेरी वह सहेली ही केवल इस गौका दूध पीकर मर्त्यलोकमें जरारहित और रोगवर्जित होगी ॥ २४ ॥

एतन्मम महाभाग कर्तुमर्हस्यनिन्दित ।
प्रियं प्रियतरं ह्यस्मान्नास्ति मेऽन्यत्कथंचन ॥ २५ ॥

हे अनिन्दित महाभाग ! मेरा यह प्रियकार्य करना आपका कर्तव्य है, यही काम मेरे लिए अत्यन्त प्रिय है, इससे अधिक प्रिय मेरे लिए कुछ नहीं है ॥ २५ ॥

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्या देव्याः प्रियचिकीर्षया ।
पृथ्वाद्यैर्भ्रातृभिः सार्धं द्यौस्तदा तां जहार गाम् ॥ २६ ॥

द्युनामक वसुने यह बात सुनकर अपनी प्रिय देवीका प्रिय अनुष्ठान करनेकी इच्छासे पृथु आदि भाइयोंके साथ उस कामधेनुको हर लिया ! ॥ २६ ॥

तया कमलपत्राक्ष्या नियुक्तो द्यौस्तदा नृप ।
ऋषेस्तस्य तपस्तीव्रं न शशाक निरीक्षितुम् ।
हृता गौः सा तदा तेन प्रपातस्तु न तर्कितः ॥ २७ ॥

हे भूप ! वह उस कालमें अपनी कमलनेत्रा स्त्रीकी बातोंमें आकर उन ऋषिकी कठोर तपस्याका भलीभांति निरीक्षण नहीं कर सका । उसने एकवार भी मनमें विचार नहीं किया कि इस गौके हरनेसे हमारा पतन होगा ॥ २७ ॥

अथाश्रमपदं प्राप्तः फलान्यादाय वारुणिः ।
न चापश्यत गां तत्र सवत्सां काननोत्तमे ॥ २८ ॥

अनन्तर वरुणपुत्र ऋषि फल बटोरकर आश्रममें उपस्थित हुए; पर अपने सुहावने काननमें बछडा सहित उस गौको नहीं देखा ॥ २८ ॥

ततः स मृगयामास वने तस्मिंस्तपोधनः ।
नाध्यगच्छच्च मृगयंस्तां गां मुनिरुदारधीः ॥ २९ ॥
ज्ञात्वा तथापनीतां तां वसुभिर्दिव्यदर्शनः ।
ययौ क्रोधवशं सद्यः शशाप च वसूंस्तदा ॥ ३० ॥

तब उदारधीमान् तपोधन वे ऋषि वनमें इधर उधर ढूंढने लगे । पर देरतक ढूंढने पर भी वे उस गायको नहीं पा सके । आगे दिव्य नेत्रसे जाना, कि वसुओंने गौ हर ली है, इससे उन्होंने उसी क्षण क्रोधयुक्त होकर वसुओंको यह शाप दिया ॥ २९-३० ॥

यस्मान्मे वसवो जह्रुर्गां वै दोग्ध्रीं सुवालधिम् ।
तस्मात्सर्वे जनिष्यन्ति मानुषेषु न संशयः ॥ ३१ ॥

चूंकि वसुओंने मेरी सुलक्षणवती, अच्छी पूंछवाली, दुधारु कामधेनुको हर लिया है, इसलिए इसमें सन्देह नहीं, कि वे सब मर्त्यलोकमें जन्म लेंगे ॥ ३१ ॥

एवं शशाप भगवान्वसूंस्तान्मुनिसत्तमः ।
वशं कोपस्य संप्राप्त आपवो भरतर्षभ ॥ ३२ ॥

हे भरतकुलप्रदीप ! मुनियोंमें श्रेष्ठ भगवान् आपवने क्रोधके वशमें होकर उन वसुओंको यह शाप दिया ॥ ३२ ॥

शप्त्वा च तान्महाभागस्तपस्येव मनो दधे ।
एवं स शप्तवान्राजन्वसूनष्टौ तपोधनः ।
महाप्रभावो ब्रह्मर्षिर्देवान्रोषसमन्वितः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार उन महाप्रभावशाली, ब्रह्मर्षि तपोधन ऋषिने क्रोधित होकर उन आठ वसुओंको शाप दिया, और इस प्रकार उन्हें शाप देकर उस महाभागने अपना मन फिर तपस्यामें लगाया ॥ ३३ ॥

अथाश्रमपदं प्राप्य तं स्म भूयो महात्मनः ।
शप्ताः स्म इति जानन्त ऋषिं तमुपचक्रमुः ॥ ३४ ॥

वसुगण शापके वृत्तान्तसे ज्ञात होकर फिर उन महात्मा ऋषिके आश्रममें आकर उनकी उपासना करने लगे ॥ ३४ ॥

प्रसादयन्तस्तमृषिं वसवः पार्थिवर्षभ ।
न लेभिरे च तस्मात्ते प्रसादमृषिसत्तमात् ।
आपवात्पुरुषव्याघ्र सर्वधर्मविशारदात् ॥ ३५ ॥

हे पृथ्वीपालश्रेष्ठ पुरुषव्याघ्र ! वसुगणने आपवको प्रसन्न करनेके लिये बडी चेष्टा की, उस सब धर्मको जाननेवाले ऋषिश्रेष्ठ आपवसे प्रसन्नता प्राप्त न कर सके ॥ ३५ ॥

×

उवाच च स धर्मात्मा सप्त यूयं धरादयः ।
अनुसंवत्सराच्छापमोक्षं वै समवाप्स्यथ ॥ ३६ ॥

अनन्तर धर्मात्मा ऋषिने कहा, कि मैंने धर आदि तुम सबोंको जो शाप दिया है, वर्षभरमें तुम उस शापसे मुक्त हो सकोगे ॥ ३६ ॥

अयं तु यत्कृते यूयं मया शप्ताः स वत्स्यति ।
द्यौस्तदा मानुषे लोके दीर्घकालं स्वकर्मणा ॥ ३७ ॥

पर तुम जिसके लिये शापग्रस्त हुए हो, वह द्युनामक वसु ही केवल निजकर्मके दोषसे मनुष्य-लोकमें दीर्घकालतक वसेगा ॥ ३७ ॥

नानृतं तच्चिकीर्षामि युष्मान्क्रुद्धो यदब्रुवम् ।
न प्रजास्यति चाप्येष मानुषेषु महामनाः ॥ ३८ ॥

मैंने क्रोधित होकर तुमसे जो कहा है, उसे मिथ्या नहीं कर सकूंगा। यह महामना द्यु नामक वसु मर्त्यलोकमें सन्तान उत्पादन नहीं करेगा ॥ ३८ ॥

भविष्यति च धर्मात्मा सर्वशास्त्रविशारदः ।
पितुः प्रियहिते युक्तः स्त्रीभोगान्वर्जयिष्यति
एवमुक्त्वा वसून्सर्वाञ्जगाम भगवानृषिः ॥ ३९ ॥

स्त्रीमिलन त्याग देगा, और धर्मात्मा सर्व शास्त्रोंमें पण्डित होकर पिताके प्रिय कार्यमें सदा नियुक्त रहेगा। भगवान् ऋषि सब वसुओंसे यह बात कहकर चले गये ॥ ३९ ॥

ततो मामुपजग्मुस्ते समस्ता वसवस्तदा ।
अयाचन्त च मां राजन्वरं स च मया कृतः ।
जाताञ्जातान्प्रक्षिपास्मान्स्वयं गङ्गे त्वमम्भसि ॥ ४० ॥

तब सब वसुओंने एकत्र होकर मेरे पास आकर प्रार्थनापूर्वक कहा, कि हे गंगे! हमारे जन्म लेते ही तुम स्वयं हमें जलमें डाल देना। हे राजश्रेष्ठ! शापसे ग्रसित वसुओंको शापसे बचानेके लिये मैंने वैसा किया है ॥ ४० ॥

एवं तेषामहं सम्यक् शप्तानां राजसत्तम ।
मोक्षार्थं मानुषाल्लोकाद्यथावत्कृतवत्यहम् ॥ ४१ ॥

हे राजश्रेष्ठ! उन शापग्रस्त वसुओंको मनुष्यलोकसे छुडानेके लिए मैंने यह सब किया है ॥ ४१ ॥

अयं शापादृषेस्तस्य एक एव नृपोत्तम ।
द्यौ राजन्मानुषे लोके चिरं वत्स्यति भारत ॥ ४२ ॥

हे नृपोत्तम भारत ! उन ऋषिके शापसे यह द्यु नामक वसु अकेले दीर्घकालतक मनुष्य-लोकमें बसेंगे ॥ ४२ ॥

एतदाख्याय सा देवी तत्रैवान्तरधीयत ।
आदाय च कुमारं तं जगामाथ यथेप्सितम् ॥ ४३ ॥

देवी गंगा यह कहकर उसी स्थानपर अन्तर्हित हो गई और उस कुमारको लेकर मनमाने स्थानको पधारीं ॥ ४३ ॥

स तु देवव्रतो नाम गाङ्गेय इति चाभवत् ।
द्विनाम्ना शंतनोः पुत्रः शंतनोरधिको गुणैः ॥ ४४ ॥

वह द्वि नामक वसु शन्तनुकी सन्तान होकर देवव्रत और गांगेय नामसे प्रसिद्ध हुए और शन्तनुसे भी अधिक गुणशील थे ॥ ४४ ॥

शंतनुश्चापि शोकार्तो जगाम स्वपुरं ततः ।
तस्याहं कीर्तयिष्यामि शन्तनोरमितान्गुणान् ॥ ४५ ॥

इधर शन्तनुने शोकयुक्त होकर निज पुरमें प्रवेश किया । हे महाराज ! अब उन महात्मा भारत राजा शन्तनुके अनुपम गुण कहूंगा ॥ ४५ ॥

महाभाग्यं च नृपतेर्भारतस्य यशस्विनः ।
यस्येतिहासो द्युतिमान्महाभारतमुच्यते ॥ ४६ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि त्रिनवतितमोऽध्यायः ॥ ९३ ॥ ३४०१ ॥

साथ ही यशस्वी भरतवंशी राजा महाभाग्यकी कथा कहूंगा, जिनका देदीप्यमान इतिहास महाभारतके नामसे प्रसिद्ध हुआ है ॥ ४६ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें तिरानवां अध्याय समाप्त ॥ ९३ ॥ ॥ ३४०१ ॥

: ९४ :

वैशम्पायन उवाच

स एवं शन्तनुर्धीमान्देवराजर्षिसत्कृतः ।
धर्मात्मा सर्वलोकेषु सत्यवागिति विश्रुतः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— धीमान् शन्तनु सत्यवादी, सर्व लोकोंमें प्रसिद्ध और देवता तथा राजर्षि-योंसे सत्कृत होते थे ॥ १ ॥

दमो दानं क्षमा बुद्धिर्ह्रीर्धृतिस्तेज उत्तमम्।
नित्यान्यासन्महासत्त्वे शन्तनौ पुरुषर्षभे ॥ २ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! महासत्त्व शन्तनुमें दम, दान, क्षमा, बुद्धि, लज्जा, धैर्य और उत्तम तेज यह सब गुण सदा विद्यमान थे ॥ २ ॥

एवं स गुणसंपन्नो धर्मार्थकुशलो नृपः
आसीद्भरतवंशस्य गोप्ता साधुजनस्य च ॥ ३ ॥

ऐसे सुगुणशाली, धर्मार्थपरायण वह राजा भरतवंश और साधु जनोंके रक्षक थे ॥ ३ ॥

कम्बुग्रीवः पृथुव्यंसो मत्तवारणविक्रमः।
धर्म एव परः कामादर्थाच्चेति व्यवस्थितः ॥ ४ ॥

वह शङ्खसी ग्रीवायुक्त, बृहत् स्कन्धधारी, उन्मत्त हस्तिवत् पराक्रमी, विक्रमी, काम और अर्थसे धर्म ही को श्रेष्ठ माननेवाले थे ॥ ४ ॥

एतान्यासन्महासत्त्वे शंतनौ भरतर्षभ।
न चास्य सदृशः कश्चित्क्षत्रियो धर्मतोऽभवत् ॥ ५ ॥

हे भरतवंशियोंमें सर्वश्रेष्ठ ! महासत्त्व शन्तनुमें यह सब गुण थे। कोई पृथ्वीपाल धर्मके विषयमें उनके समान नहीं हो सके ॥ ५ ॥

वर्तमानं हि धर्मे स्वे सर्वधर्मविदां वरम्।
तं महीपा महीपालं राजराज्येऽभ्यषेचयन् ॥ ६ ॥

भूपोंने उन राजाको धर्मपथमें वर्तमान और धार्मिकोंमें प्रधान देखकर राजाओंके प्रधान पद पर बैठाया ॥ ६ ॥

वीतशोकभयाबाधाः सुखस्वप्नविबोधनाः।
प्रति भारतगोप्तारं समपद्यन्त भूमिपाः ॥ ७ ॥

वे शोक, भय और बाधाओंसे रहित होकर सुखसे सोते और सुखसे जागते थे, इसलिए भारतवर्षाधिप शन्तनुको उन्होंने भारतका रक्षक समझा ॥ ७ ॥

शंतनुप्रमुखैर्गुप्ते लोके नृपतिभिस्तदा।
नियमात्सर्ववर्णानां ब्रह्मोत्तरमवर्तत ॥ ८ ॥

तब शन्तनु आदि भूपालोंसे प्रजा रक्षित और सुनियमसे होकर भलीभांति स्थापित होनेसे सब वर्णोंका धर्म बढने लगा ॥ ८ ॥

ब्रह्म पर्यचरत्क्षत्रं विशः क्षत्रमनुव्रताः ।
ब्रह्मक्षत्रानुरक्ताश्च शूद्राः पर्यचरन्विशः ॥ ९ ॥

क्षत्रिय लोग ब्राह्मणोंकी सेवामें, वैश्य लोग क्षत्रियोंकी सेवामें और शूद्र लोग ब्राह्मण और क्षत्रियोंके अनुकूल रहकर वैश्योंकी सेवामें रत रहते थे ॥ ९ ॥

स हास्तिनपुरे रम्ये कुरूणां पुटभेदने ।
वसन्सागरपर्यन्तामन्वशाद्वै वसुंधराम् ॥ १० ॥

राजा शन्तनु कुरुवंशियोंकी रमणीय राजधानी हस्तिनापुरमें बसकर सागर सहित धरतीका शासन करने लगे ॥ १० ॥

स देवराजसदृशो धर्मज्ञः सत्यवागृजुः ।
दानधर्मतपोयोगाच्छ्रिया परमया युतः ॥ ११ ॥

धर्मशील, सत्यवादी और सरल स्वभावी राजा शन्तनु दान, धर्म और तपस्याके बलसे देवराजके समान श्रीमान् थे ॥ ११ ॥

अरागद्वेषसंयुक्तः सोमवत्प्रियदर्शनः ।
तेजसा सूर्यसंकाशो वायुवेगसमो जवे ।
अन्तकप्रतिमः कोपे क्षमया पृथिवीसमः ॥ १२ ॥

वह क्रोधद्वेष-वर्जित, देखनेमें चन्द्रमासे प्रिय, तेजमें सूर्य सदृश, वेगमें पवन समान, क्रोधमें यमराजकी भांति और क्षमागुणमें पृथ्वीके समान थे ॥ १२ ॥

वधः पशुवराहाणां तथैव मृगपक्षिणाम् ।
शंतनौ पृथिवीपाले नावर्तत वृथा नृप ॥ १३ ॥

हे राजन् ! शंतनुके राजा होनेपर पशु, सुअर, मृग, पक्षी आदि जीव फिजूल नहीं मारे जाते थे ॥ १३ ॥

धर्मब्रह्मोत्तरे राज्ये शंतनुर्विनयात्मवान् ।
समं शशास भूतानि कामरागविवर्जितः ॥ १४ ॥

वह राज्यको अहिंसा रूपी ब्रह्मधर्मसे अलंकृत करके स्वयं काम क्रोधसे रहित, नम्र और यत्नशील होकर विना पक्षपातके सब प्राणियोंपर शासन करते थे ॥ १४ ॥

देवर्षिपितृयज्ञार्थमारभ्यन्त तदा क्रियाः ।
न चाधर्मेण केषांचित्प्राणिनामभवद्वधः ॥ १५ ॥

उन दिनों देव–यज्ञ, ऋषियज्ञ और पितृयज्ञकी क्रिया होने लगीं, कोई अधर्मसे किसी जीवको मारता नहीं था ॥ १५ ॥

अस्वालासनाथानां तिर्यग्योनिषु वर्ततास् ।
स एव राजा भूतानां सर्वेषामभवत्पिता ॥ १६ ॥

वह राजा दीन, दुःखी, अनाथ और पक्षी योनिमें जन्म लिये हुए सब जीवोंके पिताके समान थे ॥ १६ ॥

तस्मिन्कुरुपतिश्रेष्ठे राजराजेश्वरे सति ।
श्रिता वागभवत्सत्यं दानधर्माश्रितं मनः ॥ १७ ॥

और उस कुरुवंशियोंमें श्रेष्ठ शंतनुके सम्राट् होनेपर वाणीने सत्यका तथा मनने दान-धर्मका आश्रय लिया ॥ १७ ॥

स समाः षोडशाष्टौ च चतस्रोऽष्टौ तथापराः ।
रतिमप्राप्नुवन्स्त्रीषु बभूव वनगोचरः ॥ १८ ॥

और वह १६+८+४+८ = ३६ वर्ष तक स्त्री सम्भोगादि विषय सुख न प्राप्त होनेके कारण वनको गए ॥ १८ ॥

तथारूपस्तथाचारस्तथावृत्तस्तथाश्रुतः ।
गाङ्गेयस्तस्य पुत्रोऽभून्नाम्ना देवव्रतो वसुः ॥ १९ ॥

गंगाके गर्भसे जन्मे वसुरूप उनके पुत्र देवव्रत सुन्दरता, आचार चरित्र और विद्या सब विषयमें शंतनुके सदृश ही थे ॥ १९ ॥

सर्वास्त्रेषु स निष्णातः पार्थिवेष्वितरेषु च ।
महाबलो महासत्त्वो महावीर्यो महारथः ॥ २० ॥
स कदाचिन्मृगं विद्ध्वा गङ्गामनुसरन्नदीम् ।
भागीरथीमल्पजलां शंतनुर्दृष्टवान्नृपः ॥ २१ ॥

सब अन्य राजाओंके बीचमें महाबलवीर्यवान्, महासत्ववान्, महारथी और गदादि सब अस्त्रोंके चलानेमें निपुण नृपवर शन्तनुने एक समय एक मृगको बींधकर उसका पीछा करते हुए हुए नदी भागीरथी गंगाको स्वल्प जलयुक्त देखा ॥ २०—२१ ॥

तां दृष्ट्वा चिन्तयामास शंतनुः पुरुषर्षभः ।
स्यन्दते किं न्वियं नाद्य सरिच्छ्रेष्ठा यथा पुरा ॥ २२ ॥

पुरुषश्रेष्ठ शन्तनु यह देखकर सोचने लगे, कि नदियोंमें श्रेष्ठ गंगा आज पहिलेके समान क्यों नहीं वह रही है? ॥ २२ ॥

ततो निमित्तमन्विच्छन्ददर्श स महामनाः ।
कुमारं रूपसंपन्नं बृहन्तं चारुदर्शनम् ॥ २३ ॥
दिव्यमस्त्रं विकुर्वाणं यथा देवं पुरन्दरम् ।
कृत्स्नां गङ्गां समावृत्य शरैस्तीक्ष्णैरवस्थितम् ॥ २४ ॥

तब उसका कारण ढूंढते हुए उस महात्मा राजाने दिव्य अस्त्रोंको प्रकट करते हुए, देव इन्द्रके समान तेजस्वी तथा तीक्ष्ण शस्त्रोंसे सारी गंगाको रोककर खडे हुए बहुत बडे, अति सुन्दर और रूपसे युक्त एक कुमारको देखा ॥ २३-२४ ॥

तां शरैरावृतां दृष्ट्वा नदीं गङ्गां तदन्तिके ।
अभवद्विस्मितो राजा कर्म दृष्ट्वातिमानुषम् ॥ २५ ॥

राजाने अपने पास ही में नदी गंगाको बाणोंसे रुकी हुई देखकरके बालकका अलौकिक आश्चर्य कार्य निहार कर आश्चर्यचकित हो गए ॥ २५ ॥

जातमात्रं पुरा दृष्टं तं पुत्रं शंतनुस्तदा ।
नोपलेभे स्मृतिं धीमानभिज्ञातुं तमात्मजम् ॥ २६ ॥

धीमान् शन्तनुने पहिले जन्मके समय ही पुत्रको देखा था, अतः इस क्षण अपने पुत्रको जानने योग्य कोई लक्षण उन्हें याद नहीं आया ॥ २६ ॥

स तु तं पितरं दृष्ट्वा मोहयामास मायया ।
संमोह्य तु ततः क्षिप्रं तत्रैवान्तरधीयत ॥ २७ ॥

कुमारने पिताको देखकर ही मायासे उनको मुग्ध कर दिया और उन्हें मुग्ध करके वह कुमार उसी स्थानपर गायब हो गया ॥ २७ ॥

तदद्भुतं तदा दृष्ट्वा तत्र राजा स शंतनुः ।
शङ्कमानः सुतं गङ्गामब्रवीद्दर्शयेति ह ॥ २८ ॥

तब राजा शन्तनु वह आश्चर्य लीला देखकर शङ्कायुक्त होकरके गंगासे बोले, उस अन्तर्हित हुए कुमारको मुझे दिखाओ ॥ २८ ॥

दर्शयामास तं गङ्गा बिभ्रती रूपमुत्तमम् ।
गृहीत्वा दक्षिणे पाणौ तं कुमारमलंकृतम् ॥ २९ ॥

गंगाने उत्तम रूप धरकर दाहिने हाथमें उस अलंकृत कुमारको पकडकर राजाको दिखाया ॥ २९ ॥

अलंकृतामाभरणैररजोम्बरधारिणीम् ।
दृष्टपूर्वामपि सतीं नाभ्यजानात्स शंतनुः ॥ ३० ॥

निर्मल वस्त्रको भली भांति पहिने हुई और नाना आभूषणोंसे सजी हुई गंगाको पहिले देखने पर भी इस समय उन्होंने नहीं पहिचाना ! ॥ ३० ॥

गङ्गोवाच

यं पुत्रमष्टमं राजंस्त्वं पुरा मय्यजायिथाः ।
स तेऽयं पुरुषव्याघ्र नयस्वैनं गृहान्तिकम् ॥ ३१ ॥

तब गंगा बोली— हे पुरुषव्याघ्र नृपते ! पहिले तुमने मेरे गर्भसे जो आठवां पुत्र प्राप्त किया था, यह वही पुत्र है। इसे अपने घर ले जाओ ॥ ३१ ॥

वेदानधिजगे साङ्गान्वसिष्ठादेव वीर्यवान् ।
कृतास्त्रः परमेष्वासो देवराजसमो युधि ॥ ३२ ॥

यह कुमार युद्धमें देवराजके समान, बडा धनुपधारी, अस्त्र विद्यामें दक्ष और वर्यिवान् है; तुम्हारे इस पुत्रने ऋषि वसिष्ठसे छओं अंगके सहित वेदोंको पढ लिया है ॥ ३२ ॥

सुराणां संमतो नित्यमसुराणां च भारत ।
उशना वेद यच्छास्त्रमयं तद्वेद सर्वशः ॥ ३३ ॥

हे भारत ! यह सुरोंको प्रिय है, उसी प्रकार असुरोंको भी प्रिय है। असुरोंके गुरु उशना जिन जिन शास्त्रोंको जानते हैं, इस पुत्रने वह सब पढ लिये हैं ॥ ३३ ॥

तथैवाङ्गिरसः पुत्रः सुरासुरनमस्कृतः ।
यद्वेद शास्त्रं तच्चापि कृत्स्नमस्मिन्प्रतिष्ठितम् ।
तव पुत्रे महाबाहौ साङ्गोपाङ्गं महात्मनि ॥ ३४ ॥

और अंगिराके पुत्र तथा सुरासुरोंके द्वारा नमस्कारके योग्य बृहस्पति जो जो शास्त्र जानते हैं, इस पुत्रने वह सबभी सीख लिये हैं। अंग और उपांगों सहित वे सब शास्त्र महात्मा तथा विशाल भुजाओंवाले तेरे इस पुत्रमें प्रतिष्ठित हैं ॥ ३४ ॥

ऋषिः परैरनाधृष्यो जामदग्न्यः प्रतापवान् ।
यदस्त्रं वेद रामश्च तदप्यस्मिन्प्रतिष्ठितम् ॥ ३५ ॥

शत्रुओंसे अपराजित ऋषि जामदग्न्य राम जिन सब अस्त्रविद्याओंको जानते हैं, इस महाबाहु महात्मा पुत्रमें वह सब विद्यायें अधिष्ठित हुई हैं ॥ ३५ ॥

महेष्वासमिमं राजन्राजधर्मार्थकोविदम् ।
मया दत्तं निजं पुत्रं वीरं वीर गृहाणाय ॥ ३६ ॥

हे राजन्, हे वीर ! राजधर्म और अर्थज्ञानमें निपुण महाधनुर्धारी तुम्हारे इस वीर पुत्रको मैं देती हूं, इसे घर लेते जाओ ॥ ३६ ॥

वैशम्पायन उवाच

तयैवं समनुज्ञातः पुत्रमादाय शंतनुः ।
भ्राजमानं यथादित्यमाययौ स्वपुरं प्रति ॥ ३७ ॥

वैशम्पायन बोले– राजा शन्तनु गंगासे ऐसी आज्ञा पाकर सूर्यके समान देदीप्यमान पुत्रको लेकर अपने नगरमें आये ॥ ३७ ॥

पौरवः स्वपुरं गत्वा पुरन्दरपुरोपमम् ।
सर्वकामसमृद्धार्थं मेने आत्मानमात्मना ।
पौरवेषु ततः पुत्रं यौवराज्येऽभ्यषेचयत् ॥ ३८ ॥

और उन्होंने इन्द्रके नगर ऐसी पुरीमें प्रवेशकर अपनेको अति सम्पद्युक्त और सिद्धकाम समझा । अनन्तर पौरववंशके राज्यको भली प्रकार चलानेके निमित्त पुत्रको यौवराज्यमें अभिषिक्त किया ॥ ३८ ॥

पौरवाञ्शंतनोः पुत्रः पितरं च महायशाः ।
राष्ट्रं च रञ्जयामास वृत्तेन भरतर्षभ ॥ ३९ ॥

हे भरतर्षभ ! महायशस्वी शन्तनुपुत्रने सुचरित्रसे अपने पिता, पौरवगण और प्रजावृन्द सबोंको आनन्दित किया ॥ ३९ ॥

स तथा सह पुत्रेण रममाणो महीपतिः ।
वर्तयामास वर्षाणि चत्वार्यमितविक्रमः ॥ ४० ॥

अपरिमित विक्रमयुक्त महीपाल शन्तनुने अपने पुत्रके साथ आनन्दमें चार वर्ष व्यतीत किए ॥ ४० ॥

स कदाचिद्वनं यातो यमुनामभितो नदीम् ।
महीपतिरनिर्देश्यमाजिघ्रद्गन्धमुत्तमम् ॥ ४१ ॥

किसी समय उन महीपति शन्तनुने यमुनातटके वनमें जाकर एक प्रकारकी अनजानी अच्छी गन्धका अनुभव किया ॥ ४१ ॥

×

तस्य प्रभवमन्विच्छन्विचचार समन्ततः ।
स ददर्श तदा कन्यां दाशानां देवरूपिणीम् ॥ ४२ ॥

यह पता लगानेके लिये, कि कहांसे वह गन्ध आ रही थी, चारों ओर घूमघाम कर अन्तमें दाशोंकी एक देवरूपिणी कन्याको देखा ॥ ४२ ॥

तामपृच्छत्स दृष्ट्वैव कन्यामसितलोचनाम् ।
कस्य त्वमसि का चासि किं च भीरु चिकीर्षसि ॥ ४३ ॥

काली आंखवाली उस कन्याको देख करके उन्होंने पूछा, कि हे भीरु! तुम कौन हो और किसकी बेटी हो ? और क्या करना चाहती हो ॥ ४३ ॥

साब्रवीद्दाशकन्यास्मि धर्मार्थं वाहये तरीम् ।
पितुर्नियोगाद्भद्रं ते दाशराज्ञो महात्मनः ॥ ४४ ॥

वह बोली– तुम्हारा मङ्गल हो, मैं दाशकन्या हूं, अपने पिता महात्मा दाशराजकी आज्ञासे मैं धर्मके लिये नाव चलाती हूं ॥ ४४ ॥

रूपमाधुर्यगन्धैस्तां संयुक्तां देवरूपिणीम् ।
समीक्ष्य राजा दाशेयीं कामयामास शंतनुः ॥ ४५ ॥

राजा शन्तनुने उस दाशकन्याको रूपवती, सुगन्धवती, मधुरतासे मोहिनी और देवरूपिणी देखकर मनही मनमें उसकी कामना की ॥ ४५ ॥

स गत्वा पितरं तस्या वरयामास तां तदा ।
पर्यपृच्छत्ततस्तस्याः पितरं चात्मकारणात् ॥ ४६ ॥

तब उसके पिताके पास जाकर उस राजाने वह कन्या मांगी और यह भी पूछा, कि मुझसे विवाह कर देनेमें संमत हो वा नहीं ॥ ४६ ॥

स च तं प्रत्युवाचेदं दाशराजो महीपतिम् ।
जातमात्रैव मे देया वराय वरवर्णिनी ।
हृदि कामस्तु मे कश्चित्तं निबोध जनेश्वर ॥ ४७ ॥

तब दाशराजने उस राजाको यह उत्तर दिया कि हे नरेश! इस सुन्दरीने जब जन्म लिया है, तभी मैंने निश्चय किया था कि यह कन्या किसी वरको दी जायगी, पर मेरे हृदयमें मेरी कोई एक इच्छा है, हे राजन्! उसे सुनिये ॥ ४७ ॥

यदीमां धर्मपत्नीं त्वं मत्तः प्रार्थयसेऽनघ ।
सत्यवागसि सत्येन समयं कुरु मे ततः ॥ ४८ ॥

हे अनघ! आप सत्यवादी हैं, अतएव यदि इस कन्याको आप मुझसे धर्मपत्नीके रूपमें मांगते हैं, तो आपको मेरी एक शर्त स्वीकार करनी होगी ॥ ४८ ॥

समयेन प्रदद्यां ते कन्यामहमिमां नृप ।
न हि मे त्वत्समः कश्चिद्वरो जातु भविष्यति ॥ ४९ ॥

हे नृप ! उसके अंगिकार करनेके बाद ही मैं कन्याको दान कर सकूंगा । मेरे लिये आपके समान सुपात्र फिर कभी नहीं मिलेगा ॥ ४९ ॥

शंतनुरुवाच

श्रुत्वा तव वरं दाश व्यवस्येयमहं न वा ।
दातव्यं चेत्प्रदास्यामि न त्वदेयं कथंचन ॥ ५० ॥

शन्तनु बोले– हे दाश ! कहो, तुम क्या वर मांगते हो । मैं सुनकर उस पर विचार करूंगा, यदि देने योग्य होगा तो दूंगा और न देने योग्य होगा तो नहीं दूंगा ॥ ५० ॥

दाश उवाच

अस्यां जायेत यः पुत्रः स राजा पृथिवीपतिः ।
त्वदूर्ध्वमभिषेक्तव्यो नान्यः कश्चन पार्थिव ॥ ५१ ॥

दाशराजने कहा– हे पृथ्वीनाथ ! इस कन्याके गर्भसे जो पुत्र जन्म ले वही पुत्र आपके पीछे पृथ्वीका पालक राजा हो; अपने बाद उसीको अभिषिक्त करना होगा, दूसरे पुत्रको आप अभिषिक्त नहीं कर सकेंगे ॥ ५१ ॥

वैशंपायन उवाच

नाकामयत तं दातुं वरं दाशाय शंतनुः ।
शरीरजेन तीव्रेण दह्यमानोऽपि भारत ॥ ५२ ॥

वैशम्पायन बोले– हे भारत ! राजा शन्तनु शरीरमें उत्पन्न कठिन कामपीडासे जलने परभी दाशको वह वर देनेको तैय्यार नहीं हुए ॥ ५२ ॥

स चिन्तयन्नेव तदा दाशकन्यां महीपतिः ।
प्रत्ययाद्धास्तिनपुरं शोकोपहतचेतनः ॥ ५३ ॥

वह राजा उस दाश–कन्याके बारेमें सोचते हुए शोकसे चेतना रहित होकर हस्तिनापुरको लौट गये ॥ ५३ ॥

ततः कदाचिच्छोचन्तं शंतनुं ध्यानमास्थितम् ।
पुत्रो देवव्रतोऽभ्येत्य पितरं वाक्यमब्रवीत् ॥ ५४ ॥

थोडे समयके बाद एक समय उनके पुत्र देवव्रत शोकसे विह्वल होकर विचारमें मग्न अपने पिता शन्तनुके पास आकर यह वाक्य बोले ॥ ५४ ॥

सर्वतो भवतः क्षेमं विधेयाः सर्वपार्थिवाः ।
तात्किमर्थमिहाभीक्ष्णं परिशोचसि दुःखितः ।
ध्यायन्निव च किं राजन्नाभिभाषसि किंचन ॥ ५५ ॥

सब राजालोग सबप्रकारसे आपका कुशल करते हैं, इसपरभी आप यहां बैठे बैठे क्यों दुःखित होकर शोक प्रगट कर रहे हैं और किसी ध्यानमें रत रहते हुए आप मुझसे कुछ बोलते क्यों नहीं ? ॥ ५५ ॥

एवमुक्तः स पुत्रेण शंतनुः प्रत्यभाषत ।
असंशयं ध्यानपरं यथा मात्थ तथास्म्युत ॥ ५६ ॥

पुत्रकी यह बात सुनकर शन्तनु बोले— इसमें सन्देह नहीं है, कि मैं सोचमें पडा हुआ हूं। तुम जैसे कह रहे हो, वैसा ही मैं शोकाकुल हूँ ॥ ५६ ॥

अपत्यं नस्त्वमेवैकः कुले महति भारत ।
अनित्यता च मर्त्यानामतः शोचामि पुत्रक ॥ ५७ ॥

ऐ भरत–कुल प्रदीप ! हमारे इस महत् वंशमें तुम्हीं एकमात्र सन्तान हो, मनुष्यकी अनित्यता समझ कर मैं शोकयुक्त हूं ॥ ५७ ॥

कथंचित्तव गाङ्गेय विपत्तौ नास्ति नः कुलम् ।
असंशयं त्वमेवैकः शतादपि वरः सुतः ॥ ५८ ॥

हे गाङ्गेय ! यदि किसी प्रकार तुम पर कोई विपत्ति आ जाए तो हमारा वंश ही नहीं रहेगा, पर इसमें सन्देह नहीं, तुम एक पुत्र ही मेरे सैंकडों पुत्रोंसे श्रेष्ठ हो ॥ ५८ ॥

न चाप्यहं वृथा भूयो दारान्कर्तुमिहोत्सहे ।
सन्तानस्याविनाशाय कामये भद्रमस्तु ते ।
अनपत्यतैकपुत्रत्वमित्याहुर्धर्मवादिनः ॥ ५९ ॥

इस हेतु मैं फिर विवाह करनेकी इच्छाभी नहीं करता, केवल वंशकी रक्षाके लिये इतनीही कामना करता हूं, कि तुम कुशलसे रहो; धर्मवादी लोग कहा करते हैं कि जिसके एक ही पुत्र है, वह निःसन्तानके समान ही है ॥ ५९ ॥

अग्निहोत्रं त्रयो वेदा यज्ञाश्च सहदक्षिणाः ।
सर्वाण्येतान्यपत्यस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ ६० ॥

अग्निहोत्र, वेदाध्ययन और दक्षिणायुक्त यज्ञ इन सबके अक्षय फल देनेवाले होने पर भी ये सब पुत्रके सोलह भागके एकांशके भी तुल्य नहीं होते ॥ ६० ॥

एवमेव मनुष्येषु स्याच्च सर्वप्रजास्वपि ।
यदपत्यं महाप्राज्ञ तत्र मे नास्ति संशयः ।
एषा त्रयी पुराणानामुत्तमानां च शाश्वती ॥ ६१ ॥

और पुत्र जिस प्रकार मनुष्यके लिये कल्याण करनेवालेके रूपमें प्रसिद्ध है, उस प्रकार पशु पक्षी आदि दूसरे जीवोंके लिये भी प्रसिद्ध हुआ है । हे महाप्राज्ञ ! इसमें मुझे संशय नहीं है, कि पुत्रसे स्वर्ग प्राप्त होता है । सब पुराणोंकी जड और देवोंके प्रमाणभूत जो वेद हैं उससे सदा इसका प्रमाण मिलता है ॥ ६१ ॥

त्वं च शूरः सदामर्षी शस्त्रनित्यश्च भारत ।
नान्यत्र शस्त्रात्तस्मात्ते निधनं विद्यतेऽनघ ॥ ६२ ॥

हे भारत ! तुम शूर, क्रोधयुक्त और अस्त्र चलानेमें सदा रत रहते हो, इससे, हे अनघ ! शस्त्रके अलावा और किसीसे तुम्हारे नष्ट होनेकी सम्भावना नहीं है ॥ ६२ ॥

सोऽस्मि संशयमापन्नस्त्वयि शान्ते कथं भवेत् ।
इति ते कारणं तात दुःखस्योक्तमशेषतः ॥ ६३ ॥

तुम्हारे मर जानेपर वंशकी कैसी गति होगी ? इसीलिये मैं संशययुक्त हूं । हे तात ! तुमको अपने दुःखके सम्पूर्ण कारण बता दिए हैं ॥ ६३ ॥

ततस्तत्कारणं ज्ञात्वा कृत्स्नं चैवमशेषतः ।
देवव्रतो महाबुद्धिः प्रययावनुचिन्तयन् ॥ ६४ ॥

महाबुद्धि देवव्रत राजासे वह सब कारण ज्ञात होनेपर सोचते हुए चले गए ॥ ६४ ॥

अभ्यगच्छत्तदैवाशु वृद्धामात्यं पितुर्हितम् ।
तमपृच्छत्तदाभ्येत्य पितुस्तच्छोककारणम् ॥ ६५ ॥

उसी क्षण पिताका हित करनेवाले वृद्ध मन्त्रीके पास गए और देवव्रतने उससे पिताके उस शोकके कारणका वृत्तान्त पूछा ॥ ६५ ॥

तस्मै स कुरुमुख्याय यथावत्परिपृच्छते ।
वरं शशंस कन्यां तामुद्दिश्य भरतर्षभ ॥ ६६ ॥

हे भरतर्षभ ! इस कुरुराजके पुत्र देवव्रतके यथावत् पूछनेपर उस गन्धवती कन्याके लिये दाशराजने जो वर मांगा था, मन्त्रीने वह कह सुनाया ॥ ६६ ॥

ततो देवव्रतो वृद्धैः क्षत्रियैः सहितस्तदा ।
अभिगम्य दाशराजानं कन्यां वव्रे पितुः स्वयम् ॥ ६७ ॥

तब देवव्रतने वृद्ध क्षत्रियोंसे मिलकर स्वयं दाशराजके पास जाकरके पिताके लिये वह कन्या मांगी ॥ ६७ ॥

तं दाशः प्रतिजग्राह विधिवत्प्रतिपूज्य च ।
अब्रवीच्चैनमासीनं राजसंसदि भारत ॥ ६८ ॥

दाशराजने विधिपूर्वक पूजकर उनका स्वागत किया, और हे भारत ! देवव्रतके उस दाश-राजकी सभामें बैठनेपर दाशराजने उनसे कहा ॥ ६८ ॥

त्वमेव नाथः पर्याप्तः शंतनो पुरुषर्षभ ।
पुत्रः पुत्रवतां श्रेष्ठः किं नु वक्ष्यामि ते वचः ॥ ६९ ॥

हे पुरुषोंमें श्रेष्ठ ! आप पुत्रवानोंमें श्रेष्ठ और शन्तनुके एक मात्र पुत्र हैं; आप सबमें प्रधान हैं, अतः आपसे क्या कहूँ ॥ ६९ ॥

को हि संबन्धकं श्लाघ्यमीप्सितं यौनमीदृशम् ।
अतिक्रामन्न तप्येत साक्षादपि शतक्रतुः ॥ ७० ॥

कन्याका पिता यदि साक्षात् देवराज इन्द्र भी हो, तो वह भी ऐसे मानयुक्त और प्रार्थनीय सम्बन्धको स्वीकार न करनेपर अवश्य ही सन्तापित होगा ॥ ७० ॥

अपत्यं चैतदार्यस्य यो युष्माकं समो गुणैः ।
यस्य शुक्रात्सत्यवती प्रादुर्भूता यशस्विनी ॥ ७१ ॥

जो आर्य तुम्हारे सदृश गुणवान् हैं, उन्हींके वीर्यसे इस सत्यवती नाम्नी सुन्दरी यशस्विनी कन्याने जन्म लिया है ॥ ७१ ॥

तेन मे बहुशस्तात पिता ते परिकीर्तितः ।
अर्हः सत्यवतीं वोढुं सर्वराजसु भारत ॥ ७२ ॥

उन्होंने बहुत बार मेरे पास आपके पिताका नाम लेकर कहा था, कि सब राजाओंमें वे ही सत्यवतीसे विवाह करनेके योग्य हैं ॥ ७२ ॥

असितो ह्यपि देवर्षिः प्रत्याख्यातः पुरा मया ।
सत्यवत्या भृशं ह्यर्थी स आसीदृषिसत्तमः ॥ ७३ ॥

ऋषिश्रेष्ठ देवर्षि असितने पहिले इस सत्यवतीके लिये बार बार प्रार्थना की थी, पर मैंने उन्हें भी मना कर दिया ॥ ७३ ॥

कन्यापितृत्वात्किंचित्तु वक्ष्यामि भरतर्षभ ।
बलवत्सपत्नतामत्र दोषं पश्यामि केवलं ॥ ७४ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! मैं कन्याका पिता हूं, इसलिये यह एक बात कहना चाहता हूं, कि इसमें केवल एक बलवान् सपत्न दोष ही मुझे दिखाई देता है ॥ ७४ ॥

यस्य हि त्वं सपत्नः स्या गन्धर्वस्यासुरस्य वा ।
न स जातु सुखं जीवेत्त्वयि क्रुद्धे परंतप ॥ ७५ ॥

हे शत्रुको पीडा देनेवाले ! आप जिसके विरुद्ध हैं, चाहे वह गन्धर्व हो या असुर तथापि आपके क्रोधित होनेसे वह दीर्घकाल तक सुखसे जी नहीं सकेगा ॥ ७५ ॥

एतावानत्र दोषो हि नान्यः कश्चन पार्थिव ।
एतज्जानीहि भद्रं ते दानादाने परंतप ॥ ७६ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! इस विषयमें केवल इतना ही दोष है, दूसरा कोई दोष नहीं है, हे परन्तप ! आपका मंगल होवे, देने और न देनेके विषयमें यही जानीये ॥ ७६ ॥

एवमुक्तस्तु गाङ्गेयस्तद्युक्तं प्रत्यभाषत ।
शृण्वतां भूमिपालानां पितुरर्थाय भारत ॥ ७७ ॥

हे भारत ! गंगापुत्र देवव्रत दाशराजकी यह बात सुनकर पिताका हित करनेके लिए सब वृद्ध क्षत्रियोंके सामने बोले ॥ ७७ ॥

इदं मे मतमादत्स्व सत्यं सत्यवतां वर ।
नैव जातो न वाजात ईदृशं वक्तुमुत्सहेत् ॥ ७८ ॥

मेरा यह विचार सुन लो । हे बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ ! मैं सत्य कहता हूं ऐसा कोई मनुष्य नहीं जन्मा है, और ना ही आगे जन्म लेगा, जो इस प्रकार कह सके ॥ ७८ ॥

एवमेतत्करिष्यामि यथा त्वमनुभाषसे ।
योऽस्यां जनिष्यते पुत्रः स नो राजा भविष्यति ॥ ७९ ॥

तुम जो कहते हो, मैं वैसा ही करूंगा, तुम्हारी इस कन्याके गर्भसे जो पुत्र उत्पन्न होगा, वह ही हमारा राजा होगा ॥ ७९ ॥

इत्युक्तः पुनरेवाथ तं दाशः प्रत्यभाषत ।
चिकीर्षुर्दुष्करं कर्म राज्यार्थे भरतर्षभ ॥ ८० ॥

हे भरतर्षभ ! उनकी यह बात सुनकर राज्यके लिये कठोर कर्म करनेकी इच्छावाले दाशराजने फिर कहा ॥ ८० ॥

त्वमेव नाथः पर्याप्तः शंतनोरमितद्युतेः ।
कन्यायाश्चैव धर्मात्मन्प्रभुर्दानाय चेश्वरः ॥ ८१ ॥

हे धर्मात्मन् ! अति प्रकाशमान् आप शन्तनु पक्षके कर्ता होकर आये हैं पर इस कन्या दानके भी आप ही कर्ता हैं ॥ ८१ ॥

इदं तु वचनं सौम्य कार्यं चैव निबोध मे।
कौमारिकाणां शीलेन वक्ष्याम्यहमरिंदम ॥ ८२ ॥

हे शान्तशील ! मेरी एक और बात आपको माननी पडेगी, वह आप सुनिए। हे अरिन्दम ! मैं कन्याके प्रेमसे ही यह कहता हूं ॥ ८२ ॥

यत्त्वया सत्यवत्यर्थे सत्यधर्मपरायण।
राजमध्ये प्रतिज्ञातमनुरूपं तवैव तत् ॥ ८३ ॥

हे सत्यधर्मशील ! इन राजाके बीचमें आपने सत्यवतीके निमित्त जो प्रतिज्ञा की, वह आप जैसे महानुभावके योग्य ही है ॥ ८३ ॥

नान्यथा तन्महाबाहो संशयोऽत्र न कश्चन।
तवापत्यं भवेद्यत्तु तत्र नः संशयो महान् ॥ ८४ ॥

हे महाबाहो ! इस विषयमें मुझे कुछ भी शङ्का नहीं है, कि उसका विपरीत नहीं होगा, पर आपकी जो सन्तान होगी उसके लिये मुझे बडा संशय होता है ॥ ८४ ॥

तस्य तन्मतमाज्ञाय सत्यधर्मपरायणः।
प्रत्यजानात्तदा राजन्पितुः प्रियचिकीर्षया ॥ ८५ ॥

हे राजन् ! सत्य धर्मशील, सत्यव्रतधारी, गङ्गापुत्र देवव्रत दाशराजका अभिप्राय जानकर पिताकी प्रीतिके लिये प्रतिज्ञापूर्वक बोले ॥ ८५ ॥

देवव्रत उवाच

दाशराज निबोधेदं वचनं मे नृपोत्तम।
शृण्वतां भूमिपालानां यद्ब्रवीमि पितुः कृते ॥ ८६ ॥

देवव्रत बोले– हे नृपोत्तम दाशराज ! मैं पिताके लिये इन राजाओंके सम्मुख जो कहता हूं इस मेरे वचनको सुनो ॥ ८६ ॥

राज्यं तावत्पूर्वमेव मया त्यक्तं नराधिप।
अपत्यहेतोरपि च करोम्येष विनिश्चयम् ॥ ८७ ॥

हे राजन् ! मैंने पहिले ही राज्य छोड दिया है, अब पुत्रके बारेमें भी मैं प्रतिज्ञा करता हूं ॥ ८७ ॥

अद्य प्रभृति मे दाश ब्रह्मचर्यं भविष्यति।
अपुत्रस्यापि मे लोका भविष्यन्त्यक्षया दिवि ॥ ८८ ॥

हे दाश ! आजसे लेकर जीवनतकके लिये ब्रह्मचर्य अवलम्बन करूंगा। इससे मेरे निःसन्तान होने पर भी स्वर्गमें मेरे लोक अक्षय होंगे ॥ ८८ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा संप्रहृष्टतनूरुहः।
ददानीत्येव तं दाशो धर्मात्मा प्रत्यभाषत ॥ ८९ ॥

वैशम्पायन बोले– धर्मात्मा दाशराज उनकी वह बात सुनकर परमानन्दसे गदगद् होकर बोला कि मैं अपनी कन्या देता हूँ ॥ ८९ ॥

ततोऽन्तरिक्षेऽप्सरसो देवा सर्षिगणास्तथा।
अभ्यवर्षन्त कुसुमैर्भीष्मोऽयमिति चाब्रुवन् ॥ ९० ॥

तब आकाशसे अप्सरागण, देवगण और ऋषिगण गंगानन्दन देवव्रतके वैसे भयानक संकल्पको सुनकर यह कहके, कि " यह भीष्म है " उनपर फूल वर्षाने लगे ॥ ९० ॥

ततः स पितुरर्थाय तामुवाच यशस्विनीम्।
अधिरोह रथं मातर्गच्छावः स्वगृहानिति ॥ ९१ ॥

इसके बाद भीष्म पिताके लिये उस यशस्विनी योजनगन्धा कन्यासे बोले, हे माता ! रथपर चढो अब हम अपने घर चलें ॥ ९१ ॥

एवमुक्त्वा तु भीष्मस्तां रथमारोप्य भामिनीम्।
आगम्य हास्तिनपुरं शंतनोः संन्यवेदयत् ॥ ९२ ॥

भीष्मने यह बात कह कर उस स्त्री गन्धवतीको रथपर चढाकर हस्तिनापुरमें आ करके शन्तनुसे सब कह सुनाया ॥ ९२ ॥

तस्य तद्दुष्करं कर्म प्रशशंसुर्नराधिपाः।
समेताश्च पृथक्चैव भीष्मोऽयमिति चाब्रुवन् ॥ ९३ ॥

राजगण भी सब मिल करके और हरेक मनुष्य पृथक् रूपसे उनके उस दुष्कर कार्यकी प्रशंसा करने लगे और बोले– यह भीष्म हैं ॥ ९३ ॥

तद्दृष्ट्वा दुष्करं कर्म कृतं भीष्मेण शंतनुः।
स्वच्छन्दमरणं तस्मै ददौ तुष्टः पिता स्वयम् ॥ ९४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चतुर्नवतितमोऽध्यायः ॥ ९४ ॥ ३४९५ ॥

महाराज शन्तनुने भीष्मके द्वारा किए गए उस दुःसाध्य कार्यको देखकर सन्तुष्ट होकरके पिताने स्वयं उनको इच्छामृत्युका वर दिया ॥ ९४ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें चोरानवेवां अध्याय समाप्त ॥ ९४ ॥ ३४९५ ॥

: ९५ :

वैशम्पायन उवाच

ततो विवाहे निर्वृत्ते स राजा शंतनुर्नृपः ।
तां कन्यां रूपसंपन्नां स्वगृहे संन्यवेशयत् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– विवाह हो जानेके अनन्तर राजा शन्तनुने उस रूपवती कन्या सत्यवतीको अपने घरमें प्रवेश कराया ॥ १ ॥

ततः शान्तनवो धीमान्सत्यवत्यामजायत ।
वीरश्चित्राङ्गदो नाम वीर्येण मनुजानति ॥ २ ॥

उनके वीर्य और सत्यवतीके गर्भसे चित्रांगद नामक धीमान् वीर्यवान् पुरुष-श्रेष्ठ एक वीर-पुत्रने जन्म लिया ॥ २ ॥

अथापरं महेष्वासं सत्यवत्यां पुनः प्रभुः ।
विचित्रवीर्यं राजानं जनयामास वीर्यवान् ॥ ३ ॥

इसके बाद वीर्यवान् प्रभु शन्तनुने उस सत्यवतीसे विचित्रवीर्य नामक बडे धनुषधारी एक पुत्रको उत्पन्न किया ॥ ३ ॥

अप्राप्तवति तस्मिंश्च यौवनं भरतर्षभ ।
स राजा शंतनुर्धीमान्कालधर्ममुपेयिवान् ॥ ४ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! विचित्रवीर्यके वयःप्राप्त होनेके पहिले ही धीमान् राजा शन्तनु कालके वशमें हो गए अर्थात् मर गए ॥ ४ ॥

स्वर्गते शंतनौ भीष्मश्चित्राङ्गदमरिंदमम् ।
स्थापयामास वै राज्ये सत्यवत्या मते स्थितः ॥ ५ ॥

शंतनुके स्वर्गको सिधार जानेपर भीष्मने सत्यवतीकी बात मानकर शत्रुको नष्ट करनेमें समर्थ चित्रांगदको राज्य पर अभिषिक्त किया ॥ ५ ॥

स तु चित्राङ्गदः शौर्यात्सर्वांश्चिक्षेप पार्थिवान् ।
मनुष्यं न हि मेने स कंचित्सदृशमात्मनः ॥ ६ ॥

चित्रांगदने शूरतासे सम्पूर्ण राजाओंको पराजित किया ! वह किसी भी मनुष्यको अपने समान नहीं समझते थे ॥ ६ ॥

तं क्षिपन्तं सुरांश्चैव मनुष्यानसुरांस्तथा ।
गन्धर्वराजो बलवांस्तुल्यनामाभ्ययात्तदा ।
तेनास्य सुमहद्युद्धं कुरुक्षेत्रे बभूव ह ॥ ७ ॥

सुर असुर मनुष्योंको पराजित करते हुए उसे देखकर उन्हींके नामवाले गन्धर्वराजने उनके ऊपर आक्रमण कर दिया। तब शन्तनुके पुत्र चित्रांगदके साथ गन्धर्वराज चित्रांगदका कुरुक्षेत्रमें अत्यन्त भयंकर युद्ध हुआ ॥ ७ ॥

तयोर्बलवतोस्तत्र गन्धर्वकुरुमुख्ययोः ।
नद्यास्तीरे हिरण्वत्याः समास्तिस्रोऽभवद्रणः ॥ ८ ॥

गंधर्वराज और कुरुराज दोनों महाबली थे; अतः तीन वर्षतक हिरण्वती नदीके तटपर दोनोंका युद्ध हुआ ॥ ८ ॥

तस्मिन्विमर्दे तुमुले शस्त्रवृष्टिसमाकुले ।
मायाधिकोऽवधीद्वीरं गन्धर्वः कुरुसत्तमम् ॥ ९ ॥

उसमें शस्त्रवृष्टियुक्त घोर युद्धके अंतमें बडी बडी माया करनेवाले गन्धर्वराजने वीर कुरुनंदनको मार दिया ॥ ९ ॥

चित्राङ्गदं कुरुश्रेष्ठं विचित्रशरकार्मुकम् ।
अन्ताय कृत्वा गन्धर्वो दिवमाचक्रमे ततः ॥ १० ॥

इस प्रकार कुरुओंमें श्रेष्ठ और विचित्र बाण और धनुषवाले चित्रांगदको मारकर गंधर्व द्युलोकको चला गया ॥ १० ॥

तस्मिन्नृपतिशार्दूले निहते भूरिवर्चसि ।
भीष्मः शान्तनवो राजन्प्रेतकार्याण्यकारयत् ॥ ११ ॥

अति वर्चस्वी और राजाओंमें शेरके समान चित्रांगदके मार दिये जानेपर शंतनुनंदन भीष्मने उनकी सम्पूर्ण अंतक्रिया सम्पन्न की ॥ ११ ॥

विचित्रवीर्यं च तदा बालमप्राप्तयौवनम् ।
कुरुराज्ये महाबाहुरभ्यषिञ्चदनन्तरम् ॥ १२ ॥

उसके पश्चात् उन महाभुज भीष्मने यौवन न पाये हुए बालक विचित्रवीर्यको कुरुराज्यके सिंहासन पर अभिषिक्त किया ॥ १२ ॥

विचित्रवीर्यस्तु तदा भीष्मस्य वचने स्थितः ।
अन्वशासन्महाराज पितृपैतामहं पदम् ॥ १३ ॥

महाराज ! विचित्रवीर्य भीष्मकी आज्ञानुसार पितापितामहके राज्यका शासन करने लगे ॥ १३ ॥

स धर्मशास्त्रकुशलो भीष्मं शान्तनवं नृपः।
पूजयामास धर्मेण स चैनं प्रत्यपालयत् ॥ १४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पञ्चनवतितमोऽध्यायः ॥ ९५ ॥ ३५०९ ॥

वह धर्मशास्त्रज्ञ शन्तनुपुत्र विचित्रवीर्य भीष्मको जिस प्रकार पूजते थे, भीष्मने भी वैसे ही धर्मानुसार उनका पालन किया ॥ १४ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें पिच्चानवेवां अध्याय समाप्त ॥ ९५ ॥ ३५०९ ॥

: ९६ :

वैशम्पायन उवाच

हते चित्राङ्गदे भीष्मो बाले भ्रातरि चानघ।
पालयामास तद्राज्यं सत्यवत्या मते स्थितः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे कौरव ! भ्राता चित्रांगदके मारे जानेपर भ्राता विचित्रवीर्यके बालक होनेके कारण भीष्म सत्यवतीके सलाहके अनुसार राज्य पर शासन करने लगे ॥ १ ॥

संप्राप्तयौवनं पश्यन्भ्रातरं धीमतां वरम्।
भीष्मो विचित्रवीर्यस्य विवाहायाकरोन्मतिम् ॥ २ ॥

अनन्तर भीष्मने बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ विचित्रवीर्यको यौवन प्राप्त होते देखकर उनके विवाहका विचार किया ॥ २ ॥

अथ काशिपतेर्भीष्मः कन्यास्तिस्रोऽप्सरःसमाः।
शुश्राव सहिता राजन्वृणवतीर्वै स्वयं वरम् ॥ ३ ॥

हे राजन् ! तब उन्होंने सुना, कि काशीराजकी अप्सराके समान तीन कन्याएं एक साथ स्वयं वर चुननेवाली हैं ॥ ३ ॥

ततः स रथिनां श्रेष्ठो रथेनैकेन वर्मभृत्।
जगामानुमते मातुः पुरीं वाराणसीं प्रति ॥ ४ ॥

तब महारथी कवचधारी रथियोंमें श्रेष्ठ भीष्म माताकी आज्ञा लेकर एक रथपर चढकर वाराणसी पुरी गये ॥ ४ ॥

तत्र राज्ञः समुदितान्सर्वतः समुपागतान् ।
ददर्श कन्यास्ताश्चैव भीष्मः शंतनुनन्दनः ॥ ५ ॥

उन्होंने वहां पहुंचकर देखा, कि सब ओरसे राजालोग आकर उपस्थित हुए हैं, और उनके बीचमें स्वयंवरकी अभिलाषिणी वे तीन कन्याएं भी विद्यमान हैं ॥ ५ ॥

कीर्त्यमानेषु राज्ञां तु नाम स्वथ सहस्रशः ।
भीष्मः स्वयं तदा राजन्वरयामास ताः प्रभुः ॥ ६ ॥

हे राजन् ! हजारों राजाओंके नाम कहे जानेपर भीष्मने स्वयं उन तीन कन्याओंको चुना ॥ ६ ॥

उवाच च महीपालान्राजञ्जलदनिःस्वनः ।
रथमारोप्य ताः कन्या भीष्मः प्रहरतां वरः ॥ ७ ॥

और, हे राजन् ! प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ उस भीष्मने उन कन्याओंको अपने रथपर चढाकर मेघ जैसी गंभीर आवाजमें कहा ॥ ७ ॥

आहूय दानं कन्यानां गुणवद्भ्यः स्मृतं बुधैः ।
अलंकृत्य यथाशक्ति प्रदाय च धनान्यपि ॥ ८ ॥

बुधोंने कहा है, कि गुणवान् वरको बुलवाकर यथाशक्ति कन्याको अलंकृत करके धनदानपूर्वक प्रदान करना चाहिए ॥ ८ ॥

प्रयच्छन्त्यपरे कन्यां मिथुनेन गवामपि ।
वित्तेन कथितेनान्ये बलेनान्येऽनुमान्य च ॥ ९ ॥

कुछ लोग दो गौ देकर कन्यादान करते हैं । कोई कोई पण्डित धन देकर कन्यादान करते हैं, कोई कोई बलपूर्वक कन्याको ले जाते हैं, कोई कोई कन्याकी सम्मतिसे विवाह करते हैं ॥९॥

प्रमत्तामुपयान्त्यन्ये स्वयमन्ये च विन्दते ।
अष्टमं तमथो वित्त विवाहं कविभिः स्मृतम् ॥ १० ॥

कोई कोई प्रमत्ता कन्यासे मिलते हैं, कुछ लोग स्वयं जाकर कन्या प्राप्त करते हैं इस प्रकार विद्वानोंने आठ प्रकारके विवाह बताये हैं ॥ १० ॥

स्वयंवरं तु राजन्याः प्रशंसन्त्युपयान्ति च ।
प्रमथ्य तु हृतामाहुर्ज्यायसीं धर्मवादिनः ॥ ११ ॥

पर राजकुमारियोंके स्वयंवर हीकी प्रशंसा करते हैं और उसमें ही राजा जाते हैं; परन्तु धर्मवादी जन कहते हैं, कि स्वयंवरके स्थलसे विपक्षपक्षको हटाकर बलपूर्वक जो कन्या हरण की जाती हैं, वही श्रेष्ठ है ॥ ११ ॥

ता इमाः पृथिवीपाला जिहीर्षामि बलादितः।
ते यतध्वं परं शक्त्या विजयायेतराय वा।
स्थितोऽहं पृथिवीपाला युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ १२ ॥

इस कारण मैं बलपूर्वक इस स्थानसे कन्याओंको हरकर ले जा रहा हूं, हे राजवृंद! तुममें जिसकी जितनी शक्ति हो, उसके अनुसार जयके लिये अथवा पराजयके लिए यत्नवान् होओ, हे राजाओ! मैं युद्धके लिये निश्चित संकल्प किए हुए हूँ ॥ १२ ॥

एवमुक्त्वा महीपालान्काशिराजं च वीर्यवान्।
सर्वाः कन्याः स कौरव्यो रथमारोपयत्स्वकम्।
आमन्त्र्य च स तान्प्रायाच्छीघ्रं कन्याः प्रगृह्य ताः ॥ १३ ॥

वीर्यवान् कौरवनंदन भीष्म काशीराज और दूसरे महीपालोंसे ऐसा कहकर कन्याओंको अपने रथपर चढा करके राजाओंको युद्धार्थ बुलाकर उन कन्याओंको लेकर शीघ्र चले गए ॥१३॥

ततस्ते पार्थिवाः सर्वे समुत्पेतुरमर्षिताः।
संस्पृशन्तः स्वकान्बाहून्दशन्तो दशनच्छदान् ॥ १४ ॥

तब संपूर्ण राजगण क्रोधित होकर अपनी अपनी भुजाओंपर हाथ फेरते हुए तथा दांतोंसे होंठ काटते हुए उठ खडे हुए ॥ १४ ॥

तेषामाभरणान्याशु त्वरितानां विमुञ्चताम्।
आमुञ्चतां च वर्माणि संभ्रमः सुमहानभूत् ॥ १५ ॥

और उनमेंसे किसी किसीने तो क्रोधवश ऐसी शीघ्रता की, कि उनके पहिने हुए आभूषण और कवचादि शरीरसे गिरने लगे और वहां एक कोलाहल मच गया ॥ १५ ॥

ताराणामिव संपातो बभूव जनमेजय।
भूषणानां च शुभ्राणां कवचानां च सर्वशः ॥ १६ ॥

उनके वह गिरते हुए, कवच और उज्ज्वल आभूषण ऐसे दिखाई पडे कि मानों तारे गिर रहे हों ॥ १६ ॥

सवर्मभिर्भूषणैस्ते द्राग्भ्राजद्भिरितस्ततः।
सक्रोधामर्षजिह्मभ्रूसकषायदृशस्तथा ॥ १७ ॥
सूतोपक्लृप्तान्रुचिरान्सदश्वोद्यतधूर्गतान्।
रथानास्थाय ते वीराः सर्वप्रहरणान्विताः।
प्रयान्तमेकं कौरव्यमनुसस्रुरुदायुधाः। ॥ १८ ॥

वह सब राजालोग इधर उधर कवच और अलङ्कारोंके गिर जानेसे क्रोध और अमर्षवश भौंहें चढाये और आंखें लाल लाल किए अस्त्रशस्त्र लेकर सारथियोंसे अच्छे घोडे जोते हुए, प्रस्तुत सुन्दर रथोंपर चढके अस्त्रशस्त्र उठाकर चले जाते हुए भीष्मका पीछा करते हुए चले ॥१७-१८॥

ततः समभवद्युद्धं तेषां तस्य च भारत ।
एकस्य च बहूनां च तुमुलं लोमहर्षणम् ॥ १९ ॥

हे भारत ! तब अकेले भीष्मसे उन सब राजाओंका रोंयें खडा कर देनेवाला घोर युद्ध शुरू हुआ ॥ १९ ॥

ते त्विषून्दशसाहस्रांस्तस्मै युगपदाक्षिपन् ।
अप्राप्तांश्चैव तानाशु भीष्मः सर्वांस्तदाच्छिनत् ॥ २० ॥

राजा लोगोंने एक ही साथ भीष्मपर दश हजार बाण मारे, भीष्मने उसीक्षण अर्थात् उन बाणोंके आ पहुंचनेके पहले पथमें ही उन बाणोंको काट डाला ॥ २० ॥

ततस्ते पार्थिवाः सर्वे सर्वतः परिवारयन् ।
ववर्षुः शरवर्षेण वर्षेणेवाद्रिमम्बुदाः ॥ २१ ॥

तब सब राजालोग चारों ओरसे उनको घेरकर, जिस प्रकार बादल पर्वतपर बिना रोक टोक जलधारा वर्षाते हैं, उसी प्रकार उनपर बाण बरसाने लगे ॥ २१ ॥

स तद्बाणमयं वर्षं शरैरावार्य सर्वतः ।
ततः सर्वान्महीपालान्प्रत्यविध्यत्त्रिभिस्त्रिभिः ॥ २२ ॥

तब भीष्मने बाणजालसे उन सब बाणोंकी वर्षा रोककर तीन तीन बाणोंसे हरेक महीपालको विद्ध किया ॥ २२ ॥

तस्याति पुरुषानन्याल्लाँघवं रथचारिणः ।
रक्षणं चात्मनः संख्ये शत्रवोऽप्यभ्यपूजयन् ॥ २३ ॥

तब रथपर चढे हुए राजालोगोंने शत्रुपक्षी होनेपर भी उनके अलौकिक आश्चर्य कार्य, शीघ्र हाथ चलानेका कौशल और आत्मरक्षाको देखकर उनकी प्रशंसा की ॥ २३ ॥

तान्विनिर्जित्य तु रणे सर्वशास्त्रविशारदः ।
कन्याभिः सहितः प्रायाद्भारतो भारतान्प्रति ॥ २४ ॥

तब शस्त्र चलानेमें निपुण भरतवंशतिलक भीष्म युद्धमें राजाओंको पराजित कर कन्याओंके साथ अपने नगरकी ओर चले ॥ २४ ॥

ततस्तं पृष्ठतो राजञ्शाल्वराजो महारथः ।
अभ्याहनदमेयात्मा भीष्मं शान्तनवं रणे ॥ २५ ॥
वारणं जघने निघ्नन्दन्ताभ्यामपरो यथा ।
वाशितामनुसंप्राप्तो यूथपो बलिनां वरः ॥ २६ ॥

हे राजन् ! जिस प्रकार महाबली हस्तीदलपति किसी हस्तिनीके वशमें आए हुए दूसरे हाथीके दो जंघाको फाड कर हस्तिनीकी ओर दौडता है, उसी प्रकार अमेयात्मा महारथी शाल्वराज युद्धमें शन्तनुपुत्र भीष्मके पीछे दौडे ॥ २५–२६ ॥

स्त्रीकाम तिष्ठ तिष्ठेति भीष्ममाह स पार्थिवः।
शाल्वराजो महाबाहुरमर्षेणाभिचोदितः ॥ २७ ॥

और वह स्त्रीकामी महाभुज राजा शाल्वराज क्रोधसे प्रेरित होकर "खडा रह, खडा रह" ऐसा कहने लगे ॥ २७ ॥

ततः स पुरुषव्याघ्रो भीष्मः परबलार्दनः।
तद्वाक्याकुलितः क्रोधाद्विधूमोऽग्निरिव ज्वलन् ॥ २८ ॥

शत्रुबलको मथनेवाले पुरुषव्याघ्र भीष्म उस वाक्यसे आकुलित होकर क्रोधसे धूम रहित अग्निके समान जल उठे ॥ २८ ॥

क्षत्रधर्मं समास्थाय व्यपेतभयसंभ्रमः।
निवर्तयामास रथं शाल्वं प्रति महारथः ॥ २९ ॥

क्षत्रिय धर्ममें सच्चे निष्ठावान् उस महारथीने निडर और स्थिर चित्तवाले होकर अपने रथको शाल्वराजकी ओर मोड दिया ॥ २९ ॥

निवर्तमानं तं दृष्ट्वा राजानः सर्व एव ते।
प्रेक्षकाः समपद्यन्त भीष्मशाल्वसमागमे ॥ ३० ॥

सम्पूर्ण राजालोग भीष्मको लौटते देखकर भीष्म और शाल्व दोनोंके युद्धको देखनेके लिये खडे हो गये ॥ ३० ॥

तौ वृषाविव नर्दन्तौ बलिनौ वाशितान्तरे।
अन्योन्यमभिवर्तेतां बलविक्रमशालिनौ ॥ ३१ ॥

ऋतुमती गौके लिये बलवान् दो बैल जिस प्रकार गर्जना करते हैं, वैसे ही महाबली पराक्रमी दोनों राजा आपसमें विक्रम प्रगट करते हुए एक दूसरे पर आक्रमण करने लगे ॥ ३१ ॥

ततो भीष्मं शान्तनवं शरैः शतसहस्रशः।
शाल्वराजो नरश्रेष्ठः समवाकिरदाशुगैः ॥ ३२ ॥

नरोंमें श्रेष्ठ शाल्वराजने शतसहस्र शीघ्रगामी शरोंसे शन्तनुपुत्र भीष्मको ढक दिया ॥ ३२ ॥

पूर्वमभ्यर्दितं दृष्ट्वा भीष्मं शाल्वेन ते नृपाः।
विस्मिताः समपद्यन्त साधु साध्विति चाब्रुवन् ॥ ३३ ॥

राजालोग पहिले ही शाल्वराजसे भीष्मको मथे जाते देखकर अचरज मानकर शाल्वको बार बार साधुवाद करने लगे ॥ ३३ ॥

लाघवं तस्य ते दृष्ट्वा संयुगे सर्वपार्थिवाः।
अपूजयन्त संहृष्टा वाग्भिः शाल्वं नराधिपाः ॥ ३४ ॥

और शाल्वराजकी रणमें चतुरताको अवलोकन कर प्रसन्नचित्तसे बडी प्रशंसा करने लगे ॥ ३४ ॥

क्षत्रियाणां तदा वाचः श्रुत्वा परपुरंजयः ।
क्रुद्धः शान्तनवो भीष्मस्तिष्ठ तिष्ठेत्यभाषत ॥ ३५ ॥

तब शत्रुओंके नगरोंको जीतनेवाले शन्तनुपुत्रने क्षत्रियोंकी वह प्रशंसाकी वाणी सुन करके क्रोधयुक्त होकर "ठहर, ठहर" कहकर ललकारा ॥ ३५ ॥

सारथिं चाब्रवीत्क्रुद्धो याहि यत्रैष पार्थिवः ।
यावदेनं निहन्म्यद्य भुजङ्गमिव पक्षिराट् ॥ ३६ ॥

और क्रोधपूर्वक सारथीसे बोले– जहां वह शाल्वराज है, वहां रथको ले चलो; जिस प्रकार गरुड सर्पको नष्ट करता है, उसी प्रकार मैं आज उसका पूर्ण नाश करूंगा ॥ ३६ ॥

ततोऽस्त्रं वारुणं सम्यग्योजयामास कौरवः ।
तेनाश्वांश्चतुरोऽमृद्गाच्छाल्वराज्ञो नराधिप ॥ ३७ ॥

उसके बाद कुरुनन्दन भीष्मने वारुणास्त्रको अपने धनुषपर जोडा और उससे शाल्वराजके चारों घोडे नष्ट किये ॥ ३७ ॥

अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य शाल्वराज्ञः स कौरवः ।
भीष्मो नृपतिशार्दूल न्यवधीत्तस्य सारथिम् ।
अस्त्रेण चाप्यथैकेन न्यवधीत्तुरगोत्तमान् ॥ ३८ ॥

और राजाओंमें सिंहके समान भीष्मने अस्त्रसे शाल्वराजके सम्पूर्ण अस्त्र दूरकर उनके सारथीको मार गिराया और एक अस्त्रसे उनके श्रेष्ठ घोडोंको मार गिराया ॥ ३८ ॥

कन्याहेतोर्नरश्रेष्ठ भीष्मः शांतनवस्तदा ।
जित्वा विसर्जयामास जीवन्तं नृपसत्तमम् ।
ततः शाल्वः स्वनगरं प्रययौ भरतर्षभ ॥ ३९ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! शन्तनुनन्दन भीष्मने कन्याओंके लिये इस प्रकार नृपश्रेष्ठ शाल्वराजको जीतकर जीवित ही छोड दिया तब राजा शाल्व अपने नगरको चले गए ॥ ३९ ॥

राजानो ये च तत्रासन्स्वयंवरदिदृक्षवः ।
स्वान्येव तेऽपि राष्ट्राणि जग्मुः परपुरंजय ॥ ४० ॥

शत्रुके नगरोंके विजयी जो सब भूप वहां स्वयंवर देखनेको आये थे, वे भी अपने अपने राज्यको पधारे ॥ ४० ॥

एवं विजित्य ताः कन्या भीष्मः प्रहरतां वरः ।
प्रययौ हास्तिनपुरं यत्र राजा स कौरवः ॥ ४१ ॥

महायोद्धा कुरुपुत्र भीष्म इस प्रकार उन कन्याओंको जीतकर हस्तिनापुरमें उस स्थानकी ओर चले जिस स्थानमें कौरवराज विचित्रवीर्य विराज रहे थे ॥ ४१ ॥

×

सोऽचिरेणैव कालेन अत्यक्रामन्नराधिप ।
वनानि सरितश्चैव शैलांश्च विविधद्रुमान् ॥ ४२ ॥

हे नराधिप ! भीष्मने स्वल्पकालमें ही वनों, जलों, पर्वतों और भांति भांतिके वृक्षयुक्त उपवनोंको पार कर लिया ॥ ४२ ॥

अक्षतः क्षपयित्वारीन्संख्येऽसंख्येयविक्रमः ।
आनयामास काश्यस्य सुताः सागरगासुतः ॥ ४३ ॥

और इस प्रकार अत्यन्त विक्रमी गंगाके पुत्र भीष्म शत्रुकुलको नष्टकर रणस्थलसे स्वयं अक्षत होकर काशीराजकी कन्याओंको ले आये ॥ ४३ ॥

स्नुषा इव स धर्मात्मा भगिन्य इव चानुजाः ।
यथा दुहितरश्चैव प्रतिगृह्य ययौ कुरून् ॥ ४४ ॥

वह धर्मशील भीष्म पुत्रवधू, छोटी बहिन और बेटीके समान उन कन्याओंको लेकर कौरवोंके पास आए ॥ ४४ ॥

ताः सर्वा गुणसंपन्ना भ्राता भ्रात्रे यवीयसे ।
भीष्मो विचित्रवीर्याय प्रददौ विक्रमाहृताः ॥ ४५ ॥

पराक्रमसे हरकर लाई गई उन सर्वगुणसम्पन्न कन्याओंको भाई भीष्मने अपने छोटे भाई विचित्रवीर्यको दे दीं ॥ ४५ ॥

सतां धर्मेण धर्मज्ञः कृत्वा कर्मातिमानुषम् ।
भ्रातुर्विचित्रवीर्यस्य विवाहायोपचक्रमे ।
सत्यवत्या सह मिथः कृत्वा निश्चयमात्मवान् ॥ ४६ ॥

वह धर्मज्ञ तथा आत्मवान् भीष्म उक्त प्रकार धर्मानुसार अलौकिक कार्य पूराकर भ्राता विचित्रवीर्यके विवाहके लिये सत्यवतीके साथ विचार करके प्रबन्ध करने लगे ॥ ४६ ॥

विवाहं कारयिष्यन्तं भीष्मं काशिपतेः सुता ।
ज्येष्ठा तासामिदं वाक्यमब्रवीद्ध सती तदा ॥ ४७ ॥

विवाह करवानेके समय भीष्मसे उन कन्याओंमेंसे बडी तथा सती साध्वी काशीराजकी कन्या अम्बा यह बोली— ॥ ४७ ॥

मया सौभपतिः पूर्वं मनसाभिवृतः पतिः ।
तेन चास्मि वृता पूर्वमेष कामश्च मे पितुः ॥ ४८ ॥

मैं पहिले सौभराज्यके अधीश शाल्वको मन ही मनमें पति बना चुकी हूं, उन्होंने भी मन ही मनमें मुझको भार्या बनाया है, इसमें मेरे पिताकी इच्छा भी थी ॥ ४८ ॥

मया वरयितव्योऽभूच्छाल्वस्तस्मिन्स्वयंवरे ।
एतद्विज्ञाय धर्मज्ञ ततस्त्वं धर्ममाचर ॥ ४९ ॥

उस स्वयंवर स्थलमें मैं शाल्वहीको वरमाल देती, आप धर्मशील हैं; यह विचारकर धर्मानुसार कार्य करें ॥ ४९ ॥

एवमुक्तस्तया भीष्मः कन्यया विप्रसंसदि ।
चिन्तामभ्यगमद्वीरो युक्तां तस्यैव कर्मणः ॥ ५० ॥

उस कन्याके विप्रोंकी सभामें यह बात कहने पर धर्मज्ञ वीर भीष्म यह सोचने लगे, कि इस विषयमें क्या करना चाहिए ॥ ५० ॥

स विनिश्चित्य धर्मज्ञो ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ।
अनुजज्ञे तदा ज्येष्ठामम्बां काशिपतेः सुताम् ॥ ५१ ॥

उन्होंने वेदपारग ब्राह्मणोंसे सलाहकरके काशी नरेशकी अम्बा नाम्नी उस बडी कन्याको अपना अभीष्ट पूर्ण करनेकी आज्ञा दी ॥ ५१ ॥

अम्बिकाम्बालिके भार्ये प्रादाद्भ्रात्रे यवीयसे ।
भीष्मो विचित्रवीर्याय विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ५२ ॥

अनन्तर यथाविधि कर्मानुसार अम्बिका और अम्बालिका नाम्नी काशीराजकी दो छोटी बेटियोंसे विचित्रवीर्यका विवाह कर दिया ॥ ५२ ॥

तयोः पाणिं गृहीत्वा स रूपयौवनदर्पितः ।
विचित्रवीर्यो धर्मात्मा कामात्मा समपद्यत ॥ ५३ ॥

रूप यौवनयुक्त धर्मात्मा विचित्रवीर्य अम्बिका, अम्बालिकाका पाणिग्रहण कर कामानुवर्ती हो गए ॥ ५३ ॥

ते चापि बृहती श्यामे नीलकुञ्चितमूर्धजे ।
रक्ततुङ्गनखोपेते पीनश्रोणिपयोधरे ॥ ५४ ॥

घुंघराले नीले केशवाली, लाल और बडे बडे नखयुक्त, काली और सुलक्षणा कल्याणी अम्बिका और अम्बालिका दोनों पीननितम्बिनी और पीनपयोधरा थीं ॥ ५४ ॥

आत्मनः प्रतिरूपोऽसौ लब्धः पतिरिति स्थिते ।
विचित्रवीर्यं कल्याणं पूजयामासतुस्तु ते ॥ ५५ ॥

वे कल्याणकारक विचित्रवीर्यको अपने अनुरूप पति पाकर सन्तोषपूर्वक उनकी उपासना करने लगीं ॥ ५५ ॥

स चाश्विरूपसदृशो देवसत्त्वपराक्रमः।
सर्वासामेव नारीणां चित्तप्रमथनोऽभवत् ॥ ५६ ॥

अश्विनीकुमारके समान रूपवान् और देववत् विक्रमी विचित्रवीर्य दोनों नारियोंके चित्तोंको मथनेवाले बने ॥ ५६ ॥

ताभ्यां सह समाः सप्त विहरन्पृथिवीपतिः।
विचित्रवीर्यस्तरुणो यक्ष्माणं समपद्यत ॥ ५७ ॥

वह उन नारियोंके साथ लगातार सात वर्षतक विहार कर यौवन कालहीमें भयानक क्षय रोगसे जकड लिए गये ॥ ५७ ॥

सुहृदां यतमानानामाप्तैः सह चिकित्सकैः।
जगामास्तमिवादित्यः कौरव्यो यमसादनम् ॥ ५८ ॥

तब विश्वासी चिकित्सकोंके द्वारा आरोग्यके लिये मित्रोंके यत्न करने पर भी कुरुकुलके प्रदीप विचित्रवीर्य कालके वशमें होकर अस्ताचलको गये और सूर्यके समान अदृश्य हो गए ॥५८॥

प्रेतकार्याणि सर्वाणि तस्य सम्यगकारयत्।
राज्ञो विचित्रवीर्यस्य सत्यवत्या मते स्थितः।
ऋत्विग्भिः सहितो भीष्मः सर्वैश्च कुरुपुङ्गवैः ॥ ५९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि षण्णवतितमोऽध्यायः ॥ ९६ ॥ ३५६८ ॥

भीष्मने ऋत्विक् और सम्पूर्ण कौरवोंके साथ सत्यवतीकी सलाहके अनुसार राजा विचित्रवीर्यके सब प्रेतकर्म भली प्रकार किये ॥ ५९ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें छियानवेवां अध्याय समाप्त ॥ ९६ ॥ ३५६८ ॥

: ९७ :

वैशम्पायन उवाच

ततः सत्यवती दीना कृपणा पुत्रगृद्धिनी।
पुत्रस्य कृत्वा कार्याणि स्नुषाभ्यां सह भारत ॥ १ ॥
धर्मं च पितृवंशं च मातृवंशं च मानिनी।
प्रसमीक्ष्य महाभागा गाङ्गेयं वाक्यमब्रवीत् ॥ २ ॥

वैशम्पायन बोले– हे भारत! अनन्तर महाभागा सत्यवती पुत्र शोकसे विह्वल, दीन और क्षुब्धचित्त होकर पुत्रवधुओंके साथ पुत्रकी और्ध्वदैहिक क्रिया पूरी कर मातृवंश और पितृवंशकी दशाका विचार कर धर्मको दृष्टिमें रखकरके भीष्मसे यह वचन बोली ॥ १–२ ॥

शंतनोर्धर्मनित्यस्य कौरव्यस्य यशस्विनः ।
त्वयि पिण्डश्च कीर्तिश्च संतानं च प्रतिष्ठितम् ॥ ३ ॥

धर्मशील यशस्वी कुरुवंशी नरेश शन्तनुका वंश, कीर्ति और पिण्ड एक तुम्हीं पर निर्भर है ॥३॥

यथा कर्म शुभं कृत्वा स्वर्गोपगमनं ध्रुवम् ।
यथा चायुर्ध्रुवं सत्ये त्वयि धर्मस्तथा ध्रुवः ॥ ४ ॥

जिस प्रकार शुभ कर्मसे निश्चय ही स्वर्ग प्राप्त होता है, और सत्यशीलतासे निश्चयही आयु की वृद्धि होती है, उसी प्रकार तुममें निश्चय ही धर्म प्रतिष्ठित है ॥ ४ ॥

वेत्थ धर्मांश्च धर्मज्ञ समासेनेतरेण च ।
विविधास्त्वं श्रुतीर्वेत्थ वेत्थ वेदांश्च सर्वशः ॥ ५ ॥

हे धर्मज्ञ ! तुम धर्म और नानाप्रकारकी श्रुति और सम्पूर्ण वेदांगोंको संक्षेपमें और विस्तृत रूपसे जानते हो ॥ ५ ॥

व्यवस्थानं च ते धर्मे कुलाचारं च लक्षये ।
प्रतिपत्तिं च कृच्छ्रेषु शुक्राङ्गिरसयोरिव ॥ ६ ॥

शुक्र और अङ्गिराके समान तुममें धर्मशीलता और कुलाचार तथा विपत्कालमें विचार करनेका सामर्थ्य भी है ॥ ६ ॥

तस्मात्सुभृशमाश्वस्य त्वयि धर्मभृतां वर ।
कार्ये त्वां विनियोक्ष्यामि तच्छ्रुत्वा कर्तुमर्हसि ॥ ७ ॥

इसलिये, हे धर्मधारियोंमें श्रेष्ठ ! मैं तुमपर बडा भरोसा रखकर तुमको किसी कार्यमें नियुक्त करूंगी । यह सुनकर तुम उसे पूरा करो ॥ ७ ॥

मम पुत्रस्तव भ्राता वीर्यवान्सुप्रियश्च ते ।
बाल एव गतः स्वर्गमपुत्रः पुरुषर्षभ ॥ ८ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! तुम्हारा प्रिय भ्राता मेरा पुत्र वीर्यवान् विचित्रवीर्य पुत्र न होते ही बालपनमें स्वर्गको सिधार गया है ॥ ८ ॥

इमे महिष्यौ भ्रातुस्ते काशिराजसुते शुभे ।
रूपयौवनसंपन्ने पुत्रकामे च भारत ॥ ९ ॥

हे भारत ! तुम्हारे भ्राताकी ये रानियां ये काशिराजकी कन्यायें रूपयौवनयुक्त शुभलक्षणा और पुत्रकामा हैं ॥ ९ ॥

तयोरुत्पादयापत्यं संतानाय कुलस्य नः ।
मन्नियोगान्महाभाग धर्मं कर्तुमिहार्हसि ॥ १० ॥

हे महाभाग ! हमारे वंश परम्पराकी [illegible] लिये मेरी आज्ञासे उन दोनों पुत्रवधुओंमें पुत्रोत्पादन कर धर्मरक्षा करो ॥ १० ॥

राज्ये चैवाभिषिच्यस्व भारताननुशाधि च।
दारांश्च कुरु धर्मेण मा निमज्जीः पितामहान् ॥ ११ ॥

तुम राज्यमें अभिषिक्त होकर भारत राज्यका शासन करो और धर्मानुसार विवाह कर लो। पितरोंको मत डुबाओ ॥ ११ ॥

तथोच्यमानो मात्रा च सुहृद्भिश्च परंतपः।
प्रत्युवाच स धर्मात्मा धर्म्यमेवोत्तरं वचः ॥ १२ ॥

माता और मित्रोंके ऐसा कहनेपर धर्मात्मा और परन्तप भीष्मने धर्मसंयुक्त यह उत्तर दिया ॥ १२ ॥

असंशयं परो धर्मस्त्वया मातरुदाहृतः।
त्वमपत्यं प्रति च मे प्रतिज्ञां वेत्थ वै पराम् ॥ १३ ॥

हे माता! इसमें सन्देह नहीं है, कि तुमने जो कुछ कहा है वह धर्मयुक्त है, पर सन्तानके प्रति मेरी जो प्रतिज्ञा है वह भी तुमको ज्ञात है ॥ १३ ॥

जानासि च यथावृत्तं शुल्कहेतोस्त्वदन्तरे।
स सत्यवति सत्यं ते प्रतिजानाम्यहं पुनः ॥ १४ ॥
परित्यजेयं त्रैलोक्यं राज्यं देवेषु वा पुनः।
यद्वाप्यधिकमेताभ्यां न तु सत्यं कथंचन ॥ १५ ॥

हे सत्यवती! तुम्हारे शुल्क देनेके समय जो कुछ भी बात हुई थी, वह तुम जानती ही हो, उस सत्यकी रक्षाके लिये फिर भी प्रतिज्ञा करता हूं, कि तीनों लोक और देवलोकका राज्य भी त्याग सकता हूं, अथवा इससे भी अधिक जो कुछ हो, उसको भी छोड सकता हूं, परन्तु सत्यको किसी प्रकार छोड नहीं सकता ॥ १४–१५ ॥

त्यजेच्च पृथिवी गन्धमापश्च रसमात्मनः।
ज्योतिस्तथा त्यजेद्रूपं वायुः स्पर्शगुणं त्यजेत् ॥ १६ ॥

भले ही पृथ्वी गन्धको छोड दे, जल अपने रसको छोड दे, ज्योति रूपको छोड दे, पवन स्पर्शगुणको छोड दे ॥ १६ ॥

प्रभां समुत्सृजेदर्को धूमकेतुस्तथोष्णताम्।
त्यजेच्छब्दं तथाकाशः सोमः शीतांशुतां त्यजेत् ॥ १७ ॥

सूर्य अपने प्रकाशको छोड दे, पुच्छलतारा गर्मीको छोड दे, आकाश शब्दको छोड दे, चन्द्रमा ठंडी किरणको छोड दे ॥ १७ ॥

विक्रमं वृत्रहा जह्याद्धर्मं जह्याच्च धर्मराट् ।
न त्वहं सत्यमुत्स्रष्टुं व्यवसेयं कथंचन ॥ १८ ॥

इन्द्र विक्रमको त्याग दे और धर्मराज धर्मको त्याग दे परन्तु मैं सत्यको किसी प्रकार त्यागनेको प्रवृत्त नहीं होऊंगा ॥ १८ ॥

एवमुक्ता तु पुत्रेण भूरिद्रविणतेजसा ।
माता सत्यवती भीष्ममुवाच तदनन्तरम् ॥ १९ ॥

बहुत बलको धारण करनेवाले और तेजस्वी पुत्रके ऐसा कहनेपर माता सत्यवतीने उन भीष्मसे कहा ॥ १९ ॥

जानामि ते स्थितिं सत्ये परां सत्यपराक्रम ।
इच्छन्सृजेथास्त्रीँल्लोकानन्यांस्त्वं स्वेन तेजसा ॥ २० ॥

हे सत्यपराक्रमी ! सत्यमें जो तुम्हारी परमनिष्ठा है, वह मैं जानती हूं । तुम इच्छा करते हुए अपने तेजसे एक अन्य त्रिलोक भी रच सकते हो ॥ २० ॥

जानामि चैवं सत्यं तन्मदर्थं यदभाषथाः ।
आपद्धर्ममवेक्षस्व वह पैतामहीं धुरम् ॥ २१ ॥

तुमने मेरे निमित्त जो सत्य प्रतिज्ञा की थी, उसे भी मैं जानती हूं; पर तुम इस विपद्की दशापर ध्यान देकर पैतृक वंशका भार वहन करो ॥ २१ ॥

यथा ते कुलतन्तुश्च धर्मश्च न पराभवेत् ।
सुहृदश्च प्रहृष्येरंस्तथा कुरु परंतप ॥ २२ ॥

हे परंतप ! ऐसा करो, कि जिससे तुम्हारे कुलका क्रम न टूटे और धर्म भी नष्ट न हो और मित्रवर्ग आनन्दित होवें ॥ २२ ॥

लालप्यमानां तामेवं कृपणां पुत्रगृद्धिनीम् ।
धर्मादपेतं ब्रुवतीं भीष्मो भूयोऽब्रवीदिदम् ॥ २३ ॥

विलाप करती हुई, दीन और पुत्र प्राप्तिके लिए अत्यधिक लोभी होनेके कारण धर्मके विरुद्ध बोलनेवाली उस सत्यवतीसे भीष्म फिर यह वचन बोले ॥ २३ ॥

राज्ञि धर्मानवेक्षस्व मा नः सर्वान्व्यनीनशः ।
सत्याच्च्युतिः क्षत्रियस्य न धर्मेषु प्रशस्यते ॥ २४ ॥

हे राज्ञी ! तुम धर्मपर दृष्टि रखो, हम सबोंको नष्ट मत करो, क्योंकि क्षत्रियका असत्य व्यवहार धर्मशास्त्रमें प्रशंसित नहीं होता ॥ २४ ॥

शंतनोरपि संतानं यथा स्यादक्षयं भुवि।
तत्ते धर्मं प्रवक्ष्यामि क्षात्रं राज्ञि सनातनम् ॥ २५ ॥

हे रानी! आपसे ऐसा सनातन क्षत्रियधर्म कहता हूं, कि जिससे भूमण्डलमें शन्तनुका वंश अक्षय बना रहे ॥ २५ ॥

श्रुत्वा तं प्रतिपद्येथाः प्राज्ञैः सह पुरोहितैः।
आपद्धर्मार्थकुशलैर्लोकतन्त्रमवेक्ष्य च ॥ २६ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सप्तनवतितमोऽध्यायः ॥ ९७ ॥ ३५९४ ॥

आप उसे सुनकर लोकयात्रा पर दृष्टि रख करके पुरोहित और उनके साथ, जो सब प्राज्ञ आपद् धर्मार्थ विषयोंमें पण्डित हैं उनसे विचारिये ॥ २६ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें सत्तानवेवां अध्याय समाप्त ॥ ९७ ॥ ३५९४ ॥

: ९८ :

भीष्म उवाच

जामदग्न्येन रामेण पितुर्वधममृष्यता।
क्रुद्धेन च महाभागे हैहयाधिपतिर्हतः।
शतानि दश बाहूनां निकृत्तान्यर्जुनस्य वै ॥ १ ॥

भीष्म बोले— हे महाभागे! पूर्वकालमें जमदग्निके कुमार रामने पिताके वधसे दुःखी होकर क्रोधसे हैहय देशके अधीश कार्तवीर्यार्जुनको मार डाला। उनके सहस्र भुजाओंको काट डाला ॥ १ ॥

पुनश्च धनुरादाय महास्त्राणि प्रमुञ्चता।
निर्दग्धं क्षत्रमसकृद्रथेन जयता महीम् ॥ २ ॥

उससे भी न शान्त होकर फिर रथपर भूमण्डलको जीतनेके लिये धनुप लेकर महास्त्रोंके प्रयोगसे बारबार क्षत्रियकुलको नष्ट किया ॥ २ ॥

एवमुच्चावचैरस्त्रैर्भार्गवेण महात्मना।
त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवी कृता निःक्षत्रिया पुरा ॥ ३ ॥

उन महात्मा भृगुके पुत्र परशुरामने नाना अस्त्रोंसे इक्कीस बार धरतीको क्षत्रियोंसे खाली किया ॥ ३ ॥

ततः संभूय सर्वाभिः क्षत्रियाभिः समन्ततः।
उत्पादितान्यपत्यानि ब्राह्मणैर्नियतात्मभिः ॥ ४ ॥

तब सब स्थानोंकी सम्पूर्ण क्षत्रियोंकी स्त्रियोंने जितेन्द्रिय ब्राह्मणोंसे सन्तानें उत्पन्न करायीं ॥ ४ ॥

पाणिग्राहस्य तनय इति वेदेषु निश्चितम्।
धर्मं मनसि संस्थाप्य ब्राह्मणांस्ताः समभ्ययुः।
लोकेऽप्याचरितो दृष्टः क्षत्रियाणां पुनर्भवः ॥ ५ ॥

वेदमें यह निश्चित है, कि जो जन विवाह करता है, उसके क्षेत्रमें सन्तान होनेसे उसकी ही होती है, अतएव धर्म जानकरके ही क्षत्रिय पत्नियोंने ब्राह्मणोंसे संसर्ग किया था; इससे ही लोकमें क्षत्रियोंकी फिर उत्पत्ति दिखाई देने लगी ॥ ५ ॥

अथोतथ्य इति ख्यात आसीद्धीमानृषिः पुरा।
ममता नाम तस्यासीद्भार्या परमसंमता ॥ ६ ॥

पूर्वकालमें उतथ्य नामक बुद्धिमान् एक ऋषि थे; उनकी परम प्रिय ममता नामकी एक भार्या थी ॥ ६ ॥

उतथ्यस्य यवीयांस्तु पुरोधास्त्रिदिवौकसाम्।
बृहस्पतिर्बृहत्तेजा ममतां सोऽन्वपद्यत ॥ ७ ॥

एक समय उतथ्यके कनिष्ठ भ्राता देवोंके पुरोहित और परम तेजस्वी बृहस्पति उस ममताके पास गए ॥ ७ ॥

उवाच ममता तं तु देवरं वदतां वरम्।
अन्तर्वत्नी अहं भ्रात्रा ज्येष्ठेनारम्यतामिति ॥ ८ ॥

तब ममता उन बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ देवरसे बोली– तुम्हारे बडे भाईसे मैं गर्भवती हुई हूं; इसलिए तुम लौट जाओ ॥ ८ ॥

अयं च मे महाभाग कुक्षावेव बृहस्पते।
औतथ्यो वेदमत्रैव षडङ्गं प्रत्यधीयत ॥ ९ ॥

हे महाभाग बृहस्पते ! मेरे गर्भमें स्थित इस उतथ्य मुनिके पुत्रने कोखमें स्थित होकरकेही षडंग वेदका पाठ किया है ॥ ९ ॥

अमोघरेतास्त्वं चापि नूनं भवितुमर्हसि।
तस्मादेवंगतेऽद्य त्वमुपारमितुमर्हसि ॥ १० ॥

तुम भी निश्चयसे अमोघ वीर्यवान् हो, इसलिये ऐसा होनेके कारण आज तुम लौट जाओ ॥ १० ॥

×

एवमुक्तस्तया सम्यग्बृहत्तेजा बृहस्पतिः ।
कामात्मानं तदात्मानं न शशाक नियच्छितुम् ॥ ११ ॥

ममताके ऐसा कहनेपर बृहस्पति अतिप्रदीप्त तेजस्वी होने पर भी कामके वशमें होकर अपने चित्तको रोक नहीं सके ॥ ११ ॥

संबभूव ततः कामी तया सार्धमकामया ।
उत्सृजन्तं तु तं रेतः स गर्भस्थोऽभ्यभाषत ॥ १२ ॥

और कामना किए जानेके अयोग्य कामिनी पर भी अनुरागी हुए। अनन्तर वीर्य गिरानेमें उद्यत बृहस्पतिसे गर्भमें स्थित बालकने कहा ॥ १२ ॥

भोस्तात कन्यस वदे द्वयोर्नास्त्यत्र संभवः ।
अमोघशुक्रश्च भवान्पूर्वं चाहमिहागतः ॥ १३ ॥

हे तात! आप शान्त होवें; इस गर्भमें दोकी स्थिति संभव नहीं हो सकती। मैं पहिले यहां आया हूं और आप अमोघ वीर्यवान् हैं, अर्थात् आपका वीर्य व्यर्थ जानेवाला नहीं है ॥ १३ ॥

शशाप तं ततः क्रुद्ध एवमुक्तो बृहस्पतिः ।
उतथ्यपुत्रं गर्भस्थं निर्भर्त्स्य भगवानृषिः ॥ १४ ॥

यह सुनकर भगवान् ऋषि बृहस्पतिने क्रोधित होकर गर्भमें स्थित उतथ्य पुत्रको डांट कर शाप दिया ॥ १४ ॥

यस्मात्त्वमीदृशे काले सर्वभूतेप्सिते सति ।
एवमात्थ वचस्तस्मात्तमो दीर्घं प्रवेक्ष्यसि ॥ १५ ॥

क्योंकि सब प्राणियोंके द्वारा चाहे जाने योग्य ऐसे उत्तम कालमें तुमने मुझको ऐसी बात कही है इसलिए तुम दीर्घ अंधेरेमें प्रविष्ट होगे अर्थात् अन्धे होगे ॥ १५ ॥

स वै दीर्घतमा नाम शापादृषिरजायत ।
बृहस्पतेर्बृहत्कीर्तेर्बृहस्पतिरिवौजसा ॥ १६ ॥

महान् यशवाले बृहस्पतिके इस शापके कारण बृहस्पति सदृश तेजस्वी वह ऋषि जन्म लेकर दीर्घतमा नामसे प्रसिद्ध हुए ॥ १६ ॥

स पुत्राञ्जनयामास गौतमादीन्महायशाः ।
ऋषेरुतथ्यस्य तदा सन्तानकुलवृद्धये ॥ १७ ॥

उस महायशस्वीने उतथ्य ऋषिके कुलको बढानेके लिये गौतमादि पुत्र उत्पन्न किये ॥ १७ ॥

लोभमोहाभिभूतास्ते पुत्रास्तं गौतमादयः ।
काष्ठे समुद्रे प्रक्षिप्य गङ्गायां समवासृजन् ॥ १८ ॥

लोभ और मोहसे अभिभूत होकर गौतमादि पुत्रोंने अन्धे बापको बांधकर बेडे पर रख करके गङ्गामें बहा दिया ॥ १८ ॥

न स्यादन्धश्च वृद्धश्च भर्तव्योऽयमिति स्म ते ।
चिन्तयित्वा ततः क्रूराः प्रतिजग्मुरथो गृहान् ॥ १९ ॥

अनन्तर वे कुटिल पुत्र यह सोचते हुए घरको लौटे, कि अब हमें इस अन्धे और बूढेका भरण पोषण नहीं करना पडेगा ॥ १९ ॥

सोऽनुस्रोतस्तदा राजन्प्लवमान ऋषिस्ततः ।
जगाम सुबहून्देशानन्धस्तेनोडुपेन ह ॥ २० ॥

हे राजन् ! तब अन्धे ऋषि बेडे पर गङ्गाके सोतेमें बहते हुए, उस बेडेके द्वारा अनेक देशोंको गए ॥ २० ॥

तं तु राजा बलिर्नाम सर्वधर्मविशारदः ।
अपश्यन्मज्जनगतः स्रोतसाभ्याशमागतम् ॥ २१ ॥

स्नानके लिए गए हुए धार्मिक श्रेष्ठ बलि नामक एक राजाने प्रवाहके कारण निकट आये हुए, उन अन्धे ऋषिको देखा ॥ २१ ॥

जग्राह चैनं धर्मात्मा बलिः सत्यपराक्रमः ।
ज्ञात्वा चैवं स वव्रेऽथ पुत्रार्थं मनुजर्षभ ॥ २२ ॥

हे मनुष्योंमें श्रेष्ठ ! सत्य पराक्रमी धर्मशील बलि उन्हें अपने घरमें लाये और उनका सब वृत्तान्त जानकर अपने पुत्रके लिये उनसे प्रार्थना कर बोले ॥ २२ ॥

संतानार्थं महाभाग भार्यासु मम मानद ।
पुत्रान्धर्मार्थकुशलानुत्पादयितुमर्हसि ॥ २३ ॥

हे मानद, महाभाग ! मेरे वंशकी रक्षाके लिये मेरी स्त्रियोंसे धर्म और अर्थमें कुशल सन्तान उत्पन्न कीजिये ॥ २३ ॥

एवमुक्तः स तेजस्वी तं तथेत्युक्तवानृषिः ।
तस्मै स राजा स्वां भार्यां सुदेष्णां प्राहिणोत्तदा ॥ २४ ॥

तेजस्वी ऋषिने राजाकी यह बात सुनकर "तथास्तु" कहकर उनकी बात मान ली, तब राजाने उनके पास अपनी सुदेष्णा नामकी स्त्रीको भेजा ॥ २४ ॥

अन्धं वृद्धं च तं मत्वा न सा देवी जगाम ह।
स्वां तु धात्रेयिकां तस्मै वृद्धाय प्राहिणोत्तदा ॥ २५ ॥

पर राजरानी सुदेष्णा उनको अन्धा और बूढा देखकर स्वयं उनके पास नहीं गई और उस वृद्धके पास अपनी एक दासीको भेजा ॥ २५ ॥

तस्यां काक्षीवदादीन्स शूद्रयोनावृषिर्वशी।
जनयामास धर्मात्मा पुत्रानेकादशैव तु ॥ २६ ॥

धर्मात्मा जितेन्द्रिय ऋषिने उस शूद्रयोनिमें काक्षीवदादि ग्यारह पुत्र उत्पन्न किये ॥२६॥

काक्षीवदादीन्पुत्रांस्तान्दृष्ट्वा सर्वानधीयतः।
उवाच तमृषिं राजा ममैत इति वीर्यवान् ॥ २७ ॥

तब एकबार वीर्यवान् राजाने काक्षीवदादि पुत्रोंको पढते देखकर उस अन्धे ऋषिसे कहा, कि " यह मेरे पुत्र हैं। " ॥ २७ ॥

नेत्युवाच महर्षिस्तं ममैवैत इति ब्रुवन्।
शूद्रयोनौ मया हीमे जाताः काक्षीवदादयः ॥ २८ ॥

परन्तु महर्षिने कहा, कि यह तुम्हारे पुत्र नहीं हैं; यह मेरे हैं, इन कक्षीवान् आदियोंने मुझसे शूद्र स्त्रीमें जन्म लिया है ॥ २८ ॥

अन्धं वृद्धं च मां मत्वा सुदेष्णा महिषी तव।
अवमन्य ददौ मूढा शूद्रां धात्रेयिकां हि मे ॥ २९ ॥

सुदेष्णा नामकी तुम्हारी मूर्ख रानीने मुझको अन्धा और बूढा देखकर, अनादर करके शूद्रा दासीको भेज दिया था ॥ २९ ॥

ततः प्रसादयामास पुनस्तमृषिसत्तमम्।
बलिः सुदेष्णां भार्यां च तस्मै तां प्राहिणोत्पुनः ॥ ३० ॥

तब बलिने फिर उन ऋषिको प्रसन्न किया और अपनी स्त्री सुदेष्णाको उनके पास फिर भेजा ॥ ३० ॥

तां स दीर्घतमाङ्गेषु स्पृष्ट्वा देवीमथाब्रवीत्।
भविष्यति कुमारस्ते तेजस्वी सत्यवागिति ॥ ३१ ॥

ऋषि दीर्घतमा देवी सुदेष्णाके अङ्गोंको स्पर्श कर बोले– तुम्हारे सत्यशील और तेजस्वी पुत्र उत्पन्न होंगे। ॥ ३१ ॥

तत्राङ्गो नाम राजर्षिः सुदेष्णायामजायत ।
एवमन्ये महेष्वासा ब्राह्मणैः क्षत्रिया भुवि ॥ ३२ ॥
जाताः परमधर्मज्ञा वीर्यवन्तो महाबलाः ।
एतच्छ्रुत्वा त्वमप्यत्र मातः कुरु यथेप्सितम् ॥ ३३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अष्टनवतितमोऽध्यायः ॥ ९८ ॥ ३६२७ ॥

तब उस सुदेष्णासे अंग नामका एक राजर्षि पैदा हुआ । इस प्रकार इस पृथ्वीपर बडे बडे धनुर्धारी बहुतेरे क्षत्रियोंने ब्राह्मणोंके वीर्यसे जन्म लिया जो बहुत धर्मशील, पराक्रमी और महाबलवान् हुए । हे मा ! आप यह सुनकर जो मनमें चाहे करें ॥ ३२-३३ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें अट्ठानवेवां अध्याय समाप्त ॥ ९८ ॥ ३६२७ ॥

: ९९ :

भीष्म उवाच

पुनर्भरतवंशस्य हेतुं सन्तानवृद्धये ।
वक्ष्यामि नियतं मातस्तन्मे निगदतः शृणु ॥ १ ॥

भीष्म बोले– हे माता ! भरतवंशकी सन्तान बढानेके लिये योग्य उपाय बताता हूं, इस मेरे कथनको सुनो ॥ १ ॥

ब्राह्मणो गुणवान्कश्चिद्धनेनोपनिमन्त्र्यताम् ।
विचित्रवीर्यक्षेत्रेषु यः समुत्पादयेत्प्रजाः ॥ २ ॥

किसी गुणवान् ब्राह्मणको धन देकर निमंत्रित कीजिए जो विचित्रवीर्यके क्षेत्रमें पुत्रोत्पादन करे ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः सत्यवती भीष्मं वाचा संसज्जमानया ।
विहसन्तीव सव्रीडमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ३ ॥

वैशम्पायन बोले– तब भीष्मके इसप्रकारके कथनसे सत्यवती लज्जासे हंसती हुई भीष्मसे बोली ॥ ३ ॥

सत्यमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत ।
विश्वासात्ते प्रवक्ष्यामि सन्तानाय कुलस्य च ।
न ते शक्यमनाख्यातुमापद्धीयं तथाविधा ॥ ४ ॥

हे महाभुज, भारत ! तुम जो कहते हो, सब ठीक है । परन्तु तुम पर विश्वास करके अपने वंशकी वृद्धिके लिये कुछ कहूंगी, उस प्रकारके आपद्धर्मका तुम खण्डन नहीं कर सकोगे ॥४॥

त्वमेव नः कुले धर्मस्त्वं सत्यं त्वं परा गतिः ।
तस्मान्निशम्य वाक्यं मे कुरुष्व यदनन्तरम् ॥ ५ ॥

हमारे वंशमें तुम्ही धर्म, तुम्ही सत्य और तुम्ही परम गति हो, इसलिए मेरी सत्य बातको सुनकर आगे जैसा कर्तव्य होवे, वही करो ॥ ५ ॥

धर्मयुक्तस्य धर्मात्मन्पितुरासीत्तरी मम ।
सा कदाचिदहं तत्र गता प्रथमयौवने ॥ ६ ॥

हे धर्मात्मन् ! धार्मिक मेरे पिताकी एक नाव थी । एक समय मैं अपने नवयौवनके दिनोंमें उस नावके पास गई ॥ ६ ॥

अथ धर्मभृतां श्रेष्ठः परमर्षिः पराशरः ।
आजगाम तरीं धीमांस्तरिष्यन्यमुनां नदीम् ॥ ७ ॥

उसी समय धीमान् धार्मिक श्रेष्ठ परमर्षि पराशर यमुना नदीके पार उतरनेके लिये आकर मेरी नावपर चढे ॥ ७ ॥

स तार्यमाणो यमुनां मामुपेत्याब्रवीत्तदा ।
सान्त्वपूर्वं मुनिश्रेष्ठः कामार्तो मधुरं बहु ॥ ८ ॥

मैं उन मुनिश्रेष्ठको यमुना पार करा रही थी, कि ऐसे समयमें वह कामवश होकर मीठी बातोंमें मुझको लुभाते हुए मेरे पास आकर बोले ॥ ८ ॥

तमहं शापभीता च पितुर्भीता च भारत ।
वरैरसुलभैरुक्ता न प्रत्याख्यातुमुत्सहे ॥ ९ ॥

हे भारत ! मैं पिताके भयसे और ऋषिके शापके भयसे मूल्यवान् वर पाकर उनकी बातको इन्कार नहीं सकी ॥ ९ ॥

अभिभूय स मां बालां तेजसा वशमानयत् ।
तमसा लोकमावृत्य नौगतामेव भारत ॥ १० ॥

हे भारत ! उन ऋषिने नावपर स्थित और बालिका रूप मुझे पाकर तेजसे विवश कर अंधेरेसे भूमण्डलको छाकर अपने वशमें कर लिया ॥ १० ॥

मत्स्यगन्धो महानासीत्पुरा मम जुगुप्सितः ।
तमपास्य शुभं गन्धमिमं प्रादात्स मे मुनिः ॥ ११ ॥

पहिले मेरे शरीरसे मछलीकी बडी बुरी गन्ध आती थी, पर उस मुनिने उसको हटाकर यह सुन्दर गन्ध मुझे दे दी ॥ ११ ॥

ततो मामाह स मुनिर्गर्भमुत्सृज्य मामकम् ।
द्वीपेऽस्या एव सरितः कन्यैव त्वं भविष्यसि ॥ १२ ॥

और तब वे मुनि मुझसे बोले– तुम इस यमुना नदीके द्वीप पर ही मेरे वीर्यसे पैदा हुए इस गर्भको छोडकर फिर कन्यावस्थाहीमें रहोगी ॥ १२ ॥

पाराशर्यो महायोगी स बभूव महानृषिः ।
कन्यापुत्रो मम पुरा द्वैपायन इति स्मृतः ॥ १३ ॥

उससे यमुनाके द्वीप पर मेरी कन्यावस्थाके उस गर्भसे पराशरके पुत्र महर्षि महायोगी जन्म लेकर द्वैपायन नामसे प्रसिद्ध हुए ॥ १३ ॥

यो व्यस्य वेदांश्चतुरस्तपसा भगवानृषिः ।
लोके व्यासत्वमापेदे कार्ष्ण्यात्कृष्णत्वमेव च ॥ १४ ॥

वह भगवान् ऋषि तपके प्रभावसे चारों वेदोंके व्यास अर्थात् विभाग कर व्यास नामसे प्रख्यात हुए और कृष्णवर्ण होनेसे उनका नाम कृष्ण हुआ ॥ १४ ॥

सत्यवादी शमपरस्तपस्वी दग्धकिल्बिषः ।
स नियुक्तो मया व्यक्तं त्वया च अमितद्युते ।
भ्रातुः क्षेत्रेषु कल्याणमपत्यं जनयिष्यति ॥ १५ ॥

हे अति तेजस्वी भीष्म ! सत्यवादी शान्तशील बहुत बडे तपस्वी और पापरहित वे व्यास मेरे और तुम्हारे द्वारा नियुक्त होकर वह तुम्हारे भ्राताके क्षेत्रमें उत्तम पुत्र उत्पन्न कर सकते हैं ॥ १५ ॥

स हि मामुक्तवांस्तत्र स्मरेः कृत्येषु मामिति ।
तं स्मरिष्ये महाबाहो यदि भीष्म त्वमिच्छसि ॥ १६ ॥

हे महाभुज ! उन्होंने पहिले मुझसे कहा था, कि यदि कोई कार्य आ पडे तो मुझे स्मरण करना । हे भीष्म ! यदि तुम चाहो, तो अब उनको स्मरण करूं ॥ १६ ॥

तव ह्यनुमते भीष्म नियतं स महातपाः ।
विचित्रवीर्यक्षेत्रेषु पुत्रानुत्पादयिष्यति ॥१७॥

हे भीष्म ! तुम्हारी सम्मति होनेसे वह महातपस्वी द्वैपायन अवश्य ही विचित्रवीर्यके क्षेत्रमें सन्तान उत्पादन करेंगे ॥ १७ ॥

महर्षेः कीर्तने तस्य भीष्मः प्राञ्जलिरब्रवीत्।
धर्ममर्थं च कामं च त्रीनेतान्योऽनुपश्यति ॥ १८ ॥

उन महर्षि कृष्णद्वैपायनका नाम कहते ही भीष्मने दोनों हाथ जोडकर कहा, कि जो धर्म, अर्थ और काम इन विषयोंकी भली प्रकार आलोचना करता है ॥ १८ ॥

अर्थमर्थानुबन्धं च धर्मं धर्मानुबन्धनम् ।
कामं कामानुबन्धं च विपरीतान्पृथक्पृथक्।
यो विचिन्त्य धिया सम्यग्व्यवस्यति स बुद्धिमान् ॥ १९ ॥

और इस प्रकार अर्थ और अर्थसे संबंधित, धर्म और धर्मसे संबंधित व्यवहारोंको तथा उनके विपरीत पृथक् पृथक् व्यवहारोंको जो अपनी बुद्धिसे विचार करके जानता और तदनुसार अनुष्ठान करता है वही बुद्धिमान् कहा जाता है ॥ १९ ॥

तदिदं धर्मयुक्तं च हितं चैव कुलस्य नः ।
उक्तं भवत्या यच्छ्रेयः परमं रोचते मम ॥ २० ॥

आपने मेरे कुलके लिए हितजनक धर्मयुक्त और मङ्गलकारी जो वचन मुझसे कहा है उससे मैं पूर्ण रूपसे सहमत हूं ॥ २० ॥

ततस्तस्मिन्प्रतिज्ञाते भीष्मेण कुरुनन्दन ।
कृष्णद्वैपायनं काली चिन्तयामास वै मुनिम् ॥ २१ ॥

हे कुरुनन्दन ! तब भीष्मके उस विषयमें सहमत होजानेपर कालीने मुनि कृष्णद्वैपायनका स्मरण किया ॥ २१ ॥

स वेदान्विब्रुवन्धीमान्मातुर्विज्ञाय चिन्तितम्।
प्रादुर्बभूवाविदितः क्षणेन कुरुनन्दन ॥ २२ ॥

धीमान् वेदव्यास वेदकी व्याख्या कर रहे थे, कि ऐसे समयमें माताकी चिन्ता जानकर क्षणमें ही माताके सम्मुख प्रगट हो गए ॥ २२ ॥

तस्मै पूजां तदा दत्त्वा सुताय विधिपूर्वकम्।
परिष्वज्य च बाहुभ्यां प्रस्नवैरभिषिच्य च ।
मुमोच बाष्पं दाशेयी पुत्रं दृष्ट्वा चिरस्य तम् ॥ २३ ॥

आगे धीवरकी बेटीने पुत्रका विधिपूर्वक समादर कर हाथोंसे गले लगाकर स्तन दुग्धसे नहलाया और बहुत कालके बाद पुत्रको देखकर अश्रुजलसे आप भी नहा गयी ॥ २३ ॥

ताम‌द्भिः परिषिच्यार्तां महर्षिरभिवाद्य च ।
मातरं पूर्वजः पुत्रो व्यासो वचनमब्रवीत् ॥ २४ ॥

पहले पैदा हुए हुए पुत्र व्यास दुःखिता माताको जलके छींटोंसे सांत्वना देकर प्रणाम-पूर्वक यह वचन बोले ॥ २४ ॥

भवत्या यदभिप्रेतं तदहं कर्तुमागतः ।
शाधि मां धर्मतत्त्वज्ञे करवाणि प्रियं तव ॥ २५ ॥

हे धर्मतत्त्वको जाननेवाली ! आपकी जैसी इच्छा है, उसको पूरी करनेके लिये मैं आया हूं, आप आज्ञा कीजिये, आपका प्रिय करूंगा ॥ २५ ॥

तस्मै पूजां ततोऽकार्षीत्पुरोधाः परमर्षये ।
स च तां प्रतिजग्राह विधिवन्मन्त्रपूर्वकम् ॥ २६ ॥

अनन्तर पुरोहितने आकर उन परमर्षिकी यथाविधि पूजा की; उन्होंने भी मंत्रपूर्वक वह पूजा स्वीकार की ॥ २६ ॥

तमासनगतं माता पृष्ट्वा कुशलमव्ययम् ।
सत्यवत्यभिवीक्ष्यैनमुवाचेदमनन्तरम् ॥ २७ ॥

तब माता सत्यवतीने उनको आसन पर बैठे हुए देखकर कुशल पूछ करके यह कहा ॥ २७ ॥

मातापित्रोः प्रजायन्ते पुत्राः साधारणाः कवे ।
तेषां पिता यथा स्वामी तथा माता न संशयः ॥ २८ ॥

हे कवि ! पितासे जो उत्पन्न होते हैं, वे पिता माता दोनोंके लिए समान होते हैं । पुत्र पर पिताका जैसा अधिकार है, इसमें सन्देह नहीं है, कि माताका भी वैसा ही अधिकार रहता है ॥ २८ ॥

विधातृविहितः स त्वं यथा मे प्रथमः सुतः ।
विचित्रवीर्यो ब्रह्मर्षे तथा मेऽवरजः सुतः ॥ २९ ॥

हे ब्रह्मर्षि ! दैवविधानसे पैदा हुए हुए तुम मेरे जिस प्रकार प्रथम पुत्र हो, विचित्रवीर्य भी उस प्रकार मेरा कनिष्ठ पुत्र था ॥ २९ ॥

यथैव पितृतो भीष्मस्तथा त्वमपि मातृतः ।
भ्राता विचित्रवीर्यस्य यथा वा पुत्र मन्यसे ॥ ३० ॥

और विचित्रवीर्य तथा भीष्म एक पिताके पुत्र होनेसे भीष्म जिस प्रकार विचित्रवीर्यके भ्राता हैं, उसी प्रकार तुम और विचित्रवीर्य एक मातासे होनेके कारण तुम भी विचित्र-वीर्यके भ्राता हो, आगे तुम जैसा मानो ॥ ३० ॥

×

अयं शान्तनवः सत्यं पालयन्सत्यविक्रमः।
बुद्धिं न कुरुतेऽपत्ये तथा राज्यानुशासने ॥ ३१ ॥

यह शन्तनु–पुत्र सत्यविक्रमी भीष्म सत्यका पालन करते हुए राज्यशासन एवं पुत्रोत्पादन करनेको सहमत नहीं होते ॥ ३१ ॥

स त्वं व्यपेक्षया भ्रातुः सन्तानाय कुलस्य च।
भीष्मस्य चास्य वचनान्नियोगाच्च ममानघ ॥ ३२ ॥
अनुक्रोशाच्च भूतानां सर्वेषां रक्षणाय च।
आनृशंस्येन यद्ब्रूयां तच्छ्रुत्वा कर्तुमर्हसि ॥ ३३ ॥

अतएव हे अनघ ! अपने भाई विचित्रवीर्य पर स्नेहवश होके कुरुवंशकी रक्षा, प्रजाका पालन, भीष्मकी बात, मेरी आज्ञाको पूरा करने और सब जीवोंपर कृपा करनेके लिए अनिर्दयतासे मैं जो कुछ कहूं, उसे सुनकर तुम पूरा करो ॥ ३२-३३ ॥

यवीयसस्तव भ्रातुर्भार्ये सुरसुतोपमे।
रूपयौवनसंपन्ने पुत्रकामे च धर्मतः ॥ ३४ ॥

तुम्हारे कनिष्ठ भ्राताकी देवकन्याके समान रूप और यौवनवती दो भार्या हैं, वे धर्मानुसार पुत्रकामा हैं ॥ ३४ ॥

तयोरुत्पादयापत्यं समर्थो ह्यसि पुत्रक।
अनुरूपं कुलस्यास्य संतत्याः प्रसवस्य च ॥ ३५ ॥

हे पुत्र ! तुम समर्थ हो, इसलिए उन दोनों रानियोंसे इस कुलकी परम्पराको बनाये रखनेके लिए अनुरूप पुत्रोंको उत्पन्न करो ॥ ३५ ॥

व्यास उवाच

वेत्थ धर्मं सत्यवति परं चापरमेव च।
यथा च तव धर्मज्ञे धर्मे प्रणिहिता मतिः ॥ ३६ ॥

व्यास बोले– हे धर्मको जाननेवाली सत्यवती ! आप अपर और पर दोनों प्रकारके धर्मोंको जिस प्रकार जानती हैं, उस विषयमें आपका चित्त भी उसी प्रकार धर्ममें स्थित है ॥३६॥

तस्मादहं त्वन्नियोगाद्धर्ममुद्दिश्य कारणम्।
ईप्सितं ते करिष्यामि दृष्टं ह्येतत्पुरातनम् ॥ ३७ ॥

अतएव मैं आपकी आज्ञाके अनुसार धर्मको स्मरणकर आपकी इच्छा पूरी करूंगा, क्योंकि यह देवोंका धर्म है ॥ ३७ ॥

भ्रातुः पुत्रान्प्रदास्यामि मित्रावरुणयोः समान् ।
व्रतं चरेतां ते देव्यौ निर्दिष्टमिह यन्मया ॥ ३८ ॥

मैं भ्राताको मित्र-वरुणके सदृश पुत्र प्रदान करूंगा; पर वे दोनों देवियां मेरे बताए हुए व्रतका आचरण करें ॥ ३८ ॥

संवत्सरं यथान्यायं ततः शुद्धे भविष्यतः ।
न हि मामव्रतोपेता उपेयात्काचिदङ्गना ॥ ३९ ॥

वधूगण न्यायानुसार वर्ष भर व्रत किये रहें; तभी वे शुद्ध होंगी, क्योंकि व्रत न करके कोई नारी मेरे पास नहीं आसकेगी ॥ ३९ ॥

सत्यवत्युवाच

यथा सद्यः प्रपद्येत देवी गर्भं तथा कुरु ।
अराजकेषु राष्ट्रेषु नास्ति वृष्टिर्न देवताः ॥ ४० ॥

सत्यवती बोली– ऐसा करो, कि जिससे देवी राजरानियां जल्दी ही गर्भवती होवें। क्योंकि राजासे रहित राष्ट्रोंमें न वृष्टि होती है और न देवगण ही रहते हैं ॥ ४० ॥

कथमराजकं राष्ट्रं शक्यं धारयितुं प्रभो ।
तस्माद्गर्भं समाधत्स्व भीष्मस्तं वर्धयिष्यति ॥ ४१ ॥

हे प्रभो ! विना राजाके राज्यकी कैसे रक्षा हो सकती है ? अतएव तुम आज ही गर्भाधान करो, भीष्म उस गर्भजात बालकको बढायेंगे ॥ ४१ ॥

व्यास उवाच

यदि पुत्रः प्रदातव्यो मया क्षिप्रमकालिकम् ।
विरूपतां मे सहतामेतदस्याः परं व्रतम् ॥ ४२ ॥

व्यास बोले– यदि विलम्ब न करके जल्दी ही पुत्र उत्पन्न करना है, तो वे रानियां मेरी कुरूपताको सहें, यही उनका परम व्रत होगा ॥ ४२ ॥

यदि मे सहते गन्धं रूपं वेषं तथा वपुः ।
अद्यैव गर्भं कौसल्या विशिष्टं प्रतिपद्यताम् ॥ ४३ ॥

यदि कौशल देशकी कुमारी अम्बिका मेरे गन्ध, रूप, वेश और शरीरको सह सके, तो वह आज ही विशेष गर्भ धारण कर सकेगी ॥ ४३ ॥

वैशम्पायन उवाच

समागमनमाकाङ्क्षन्निति सोऽन्तर्हितो मुनिः ।
ततोऽभिगम्य सा देवी स्नुषां रहसि संगताम् ।
धर्म्यमर्थसमायुक्तमुवाच वचनं हितम् ॥ ४४ ॥

वैशम्पायन बोले– इस प्रकार समागमकी इच्छा करते हुए वे मुनि गायब हो गए। सत्यवती पुत्रवधूके पास जाकर उससे एकान्तमें मिलकर उससे धर्म और अर्थसे युक्त और हितकारक यह बात बोली ॥ ४४ ॥

कौसल्ये धर्मतन्त्रं यद्ब्रवीमि त्वां निबोध मे ।
भरतानां समुच्छेदो व्यक्तं मद्भाग्यसंक्षयात् ॥ ४५ ॥

हे कौसल्ये! तुमसे धर्मसम्मत जो बात कहती हूं, उसे सुनो। मेरे दुर्भाग्यसे भरतवंश समाप्त सा हो गया है ॥ ४५ ॥

व्यथितां मां च संप्रेक्ष्य पितृवंशं च पीडितम् ।
भीष्मो बुद्धिमदान्मेऽत्र धर्मस्य च विवृद्धये ॥ ४६ ॥
सा च बुद्धिस्तवाधीना पुत्रि ज्ञातं मयेति ह ।
नष्टं च भारतं वंशं पुनरेव समुद्धर ॥ ४७ ॥

भीष्मने उससे मुझको पीडित देखकर और पिताके वंशको नष्ट होता हुआ विचारकरके धर्म बढानेके लिये मुझको एक उपाय बताया है, हे पुत्री! वह उपाय तुम्हारे अधीन है, यह मैं जानती हूँ। अतएव तुम विनष्ट भरतवंशका फिर उद्धार करो ॥ ४६–४७ ॥

पुत्रं जनय सुश्रोणि देवराजसमप्रभम् ।
स हि राज्यधुरं गुर्वीमुद्वक्ष्यति कुलस्य नः ॥ ४८ ॥

हे सुन्दरी! तुम देवराजके समान पुत्रका प्रसव करो, वह कुमार हमारे इस भारी राज्यके भारको संभाल लेगा ॥ ४८ ॥

सा धर्मतोऽनुनीयैनां कथंचिद्धर्मचारिणीम् ।
भोजयामास विप्रांश्च देवर्षीनतिथींस्तथा ॥ ४९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि एकोनशततमोऽध्यायः ॥ ९९ ॥ ३६७६ ॥

सत्यवतीने उस धर्मचारिणीसे धर्मानुसार विनय करके किसी प्रकार सहमत कराके देव, ऋषि, ब्राह्मण और अतिथियोंको भोजन कराया ॥ ४९ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें निन्यानवेवां अध्याय समाप्त ॥ ९९ ॥ ३६७६ ॥

: 100 :

वैशम्पायन उवाच

ततः सत्यवती काले वधूं स्नातामृतौ तदा ।
संवेशयन्ती शयने शनकैर्वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— अनन्तर वधू कौशल्याके योग्यसमयमें ऋतुस्नान करने पर उसे भली प्रकार सजे हुए बिस्तर पर बैठाकर धीमे स्वरसे सत्यवती बोली ॥ १ ॥

कौसल्ये देवरस्तेऽस्ति सोऽद्य त्वानुप्रवेक्ष्यति ।
अप्रमत्ता प्रतीक्षैनं निशीथे आगमिष्यति ॥ २ ॥

हे कौसल्ये ! तुम्हारे एक देवर हैं; वे तुम्हारा गर्भाधान करेंगे। वह आज रात्रिको तुम्हारे पास आवेंगे; तुम एकमन होकर उनकी प्रतीक्षा करो ॥ २ ॥

श्वश्र्वास्तद्वचनं श्रुत्वा शयाना शयने शुभे ।
साचिन्तयत्तदा भीष्ममन्यांश्च कुरुपुङ्गवान् ॥ ३ ॥

अम्बिका सासकी वह बात सुनकर उत्तम बिस्तर पर लेटकर भीष्म और दूसरे कुरुश्रेष्ठोंके बारेमें सोचने लगी ॥ ३ ॥

ततोऽम्बिकायां प्रथमं नियुक्तः सत्यवागृषिः ।
दीप्यमानेषु दीपेषु शयनं प्रविवेश ह ॥ ४ ॥

तब सत्य बात बोलनेवाले ऋषिने पहिले अम्बिकाके लिये नियुक्त होकर दीपोंके जलनेपर शयन घरमें प्रवेश किया ॥ ४ ॥

तस्य कृष्णस्य कपिला जटा दीप्ते च लोचने ।
बभ्रूणि चैव श्मश्रूणि दृष्ट्वा देवी न्यमीलयत् ॥ ५ ॥

अम्बिकाने उन कृष्णवर्ण पुरुषकी पिङ्गल जटा, बडी भारी दाढी और जलते हुए नेत्रोंको, बडी बडी भौंहों और मूछोंको देखकर आंखें मूंद लीं ॥ ५ ॥

संबभूव तया रात्रौ मातुः प्रियचिकीर्षया ।
भयात्काशिसुता तं तु नाशक्नोदभिवीक्षितुम् ॥ ६ ॥

द्वैपायनने माताका प्रिय करनेके लिये उसके साथ रातमें संगम किया; पर काशीराजकी कन्या भयसे उनको देख नहीं सकी ॥ ६ ॥

ततो निष्क्रान्तमासाद्य माता पुत्रमथाब्रवीत् ।
अप्यस्यां गुणवान्पुत्र राजपुत्रो भविष्यति ॥ ७ ॥

तब व्यासके घरसे निकलने पर उनकी माताने उनसे पूछा— हे पुत्र ! क्या इस वधूसे गुणवान् राजपुत्र जन्म लेगा ? ॥ ७ ॥

निशम्य तद्वचो मातुर्व्यासः परमबुद्धिमान् ।
प्रोवाचातीन्द्रियज्ञानो विधिना संप्रचोदितः ॥ ८ ॥

इन्द्रियोंसे भी अतीत ज्ञान रखनेवाले परम बुद्धिमान् व्यास माताकी यह बात सुनकर विधिसे प्रेरित होकर यह बोले ॥ ८ ॥

नागायुतसमप्राणो विद्वान्राजर्षिसत्तमः ।
महाभागो महावीर्यो महाबुद्धिर्भविष्यति ॥ ९ ॥

यह गर्भमें स्थित बालक दस हजार हाथियोंके समान बलवान् , विद्वान् , राजर्षियोंमें श्रेष्ठ, महाभाग, महा वीर्यवान् और बुद्धिमान् होगा ॥ ९ ॥

तस्य चापि शतं पुत्रा भविष्यन्ति महाबलाः ।
किं तु मातुः स वैगुण्यादन्ध एव भविष्यति ॥ १० ॥

और उससे भी सौ महाबलशाली सन्तानें उत्पन्न होंगी; पर माताके दोषसे वह अन्धा ही होगा ॥ १० ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा माता पुत्रमथाब्रवीत् ।
नान्धः कुरूणां नृपतिरनुरूपस्तपोधन ॥ ११ ॥

उसकी वह बात सुनकर माता पुत्रसे बोली– हे तपोधन ! वह अन्धा पुरुष कुरुवंशके योग्य राजा नहीं हो सकता ॥ ११ ॥

ज्ञातिवंशस्य गोप्तारं पितॄणां वंशवर्धनम् ।
द्वितीयं कुरुवंशस्य राजानं दातुमर्हसि ॥ १२ ॥

अतएव जाति और कुलके रक्षक, पितरोंके वंशधर और कुरुवंशका राजा हो सके, ऐसा एक दूसरा पुत्र उत्पन्न करो ॥ १२ ॥

स तथेति प्रतिज्ञाय निश्चक्राम महातपाः ।
सापि कालेन कौसल्या सुषुवेऽन्धं तमात्मजम् ॥ १३ ॥

महातपस्वी व्यास उसे स्वीकृत कर चले गये। आगे समय आनेपर कौसल्याने ऋषिकथित एक अन्धा पुत्र उत्पन्न किया ॥ १३ ॥

पुनरेव तु सा देवी परिभाष्य स्नुषां ततः ।
ऋषिमावाहयत्सत्या यथापूर्वमनिन्दिता ॥ १४ ॥

तब अनिन्दित देवी सत्यवतीने पूर्ववत् पुत्रवधूको आज्ञा देकर फिर उन ऋषिको बुलाया ॥ १४ ॥

ततस्तेनैव विधिना महर्षिस्तामपद्यत ।
अम्बालिकामथाभ्यागादृषिं दृष्ट्वा च सापि तम् ।
विषण्णा पाण्डुसंकाशा समपद्यत भारत ॥ १५ ॥

महर्षि पूर्ववत् विधिके अनुसार अम्बालिकाके पास आए और उन्होंने उससे समागम किया। हे भारत ! वह अम्बालिका भी उन ऋषिको आया हुआ देखकर दुःखी और पीली हो गयी ॥ १५ ॥

तां भीतां पाण्डुसंकाशां विषण्णां प्रेक्ष्य पार्थिव ।
व्यासः सत्यवतीपुत्र इदं वचनमब्रवीत् ॥ १६ ॥

हे राजन् ! सत्यवतीके सुत व्यास उसको भीत, दुःखित और पीली देखकर यह वचन बोले ॥ १६ ॥

यस्मात्पाण्डुत्वमापन्ना विरूपं प्रेक्ष्य मामपि ।
तस्मादेष सुतस्तुभ्यं पाण्डुरेव भविष्यति ॥ १७ ॥

चूंकि तुम मुझको विरूप देखकर पीली पड गई हो, इसलिए तुम्हारा यह पुत्र भी पीला ही होगा ॥ १७ ॥

नाम चास्य तदेवेह भविष्यति शुभानने ।
इत्युक्त्वा स निराक्रामद्भगवानृषिसत्तमः ॥ १८ ॥

हे शुभानने ! वह पुत्र पीला अर्थात् पाण्डु नामहीसे प्रख्यात होगा । भगवान् ऋषिश्रेष्ठ यह बात कहकर घरसे निकल आए ॥ १८ ॥

ततो निष्क्रान्तमालोक्य सत्या पुत्रमभाषत ।
शशंस स पुनर्मात्रे तस्य बालस्य पाण्डुताम् ॥ १९ ॥

उन्हें बाहर आया हुआ देखकर सत्यवतीने उनसे सन्तानकी बात पूछी । व्यासने माताको फिर पुत्रके पीला होनेकी कथा कह सुनायी ॥ १९ ॥

तं माता पुनरेवान्यमेकं पुत्रमयाचत ।
तथेति च महर्षिस्तां मातरं प्रत्यभाषत ॥ २० ॥

सत्यवतीने वह सुनकर फिर उनसे और एक पुत्रकी प्रार्थना की; महर्षिने भी माताको उत्तर दिया "ठीक है" ॥ २० ॥

ततः कुमारं सा देवी प्राप्तकालमजीजनत् ।
पाण्डुं लक्षणसंपन्नं दीप्यमानमिव श्रिया ।
तस्य पुत्रा महेष्वासा जज्ञिरे पञ्च पाण्डवाः ॥ २१ ॥

उसके बाद समय आनेपर देवी अम्बालिकाने सुन्दर शोभासे देदीप्यमान पाण्डुवर्ण एक कुमारको प्रसव किया, जिनके पुत्र पांच पाण्डव बडे धनुर्धारी हुए ॥ २१ ॥

ऋतुकाले ततो ज्येष्ठां वधूं तस्मै न्ययोजयत्।
सा तु रूपं च गन्धं च महर्षेः प्रविचिन्त्य तम्।
नाकरोद्वचनं देव्या भयात्सुरसुतोपमा ॥ २२ ॥

अनन्तर बडी वधूका ऋतुकाल आनेपर सत्यवतीने उसको उन ऋषिके निकट जानेकी आज्ञा दी। पर ऋषिके शरीरका रूप और गन्धका स्मरण कर देवकन्याके समान उस रानीने भयके कारण सत्यवती देवीके वाक्यानुरूप कर्म नहीं किया ॥ २२ ॥

ततः स्वैर्भूषणैर्दासीं भूषयित्वाप्सरोपमाम्।
प्रेषयामास कृष्णाय ततः काशिपतेः सुता ॥ २३ ॥

तब उस काशीराजकी पुत्रीने अप्सराके समान एक दासीको अपने आभूषणोंसे अलंकृत कर कृष्ण द्वैपायनके निकट भेज दिया ॥ २३ ॥

दासी ऋषिमनुप्राप्तं प्रत्युद्गम्याभिवाद्य च।
संविवेशाभ्यनुज्ञाता सत्कृत्योपचचार ह ॥ २४ ॥

ऋषिके आनेपर दासी उठकर नमस्कारपूर्वक ऋषिकी आज्ञानुसार उनकी सेवा और सत्कार कर बिस्तर पर जा बैठी ॥ २४ ॥

कामोपभोगेन तु स तस्यां तुष्टिमगादृषिः।
तया सहोषितो रात्रिं महर्षिः प्रीयमाणया ॥ २५ ॥

महर्षि उस रात प्रसन्नतासे उसके सहवासमें कामको भोगकर उसपर अति प्रसन्न हुए ॥२५॥

उत्तिष्ठन्नब्रवीदेनामभुजिष्या भविष्यसि।
अयं च ते शुभे गर्भः श्रेयानुदरमागतः।
धर्मात्मा भविता लोके सर्वबुद्धिमतां वरः ॥ २६ ॥

और उठकर जानेके समय उससे बोले— तुम्हारा दासीपन मुक्त होगा। हे शुभे ! तुम्हारे गर्भमें स्थित सन्तान धर्मात्मा, मङ्गलभाजन और यह बुद्धिमान् जनोंमें सबसे श्रेष्ठ होगी ॥ २६ ॥

स जज्ञे विदुरो नाम कृष्णद्वैपायनात्मजः।
धृतराष्ट्रस्य च भ्राता पाण्डोश्चामितबुद्धिमान् ॥ २७ ॥

महाराज ! कृष्णद्वैपायनके वीर्य और उसके गर्भसे धृतराष्ट्र और पाण्डुके भाई अत्यन्त बुद्धिमान् विदुरने जन्म लिया ॥ २७ ॥

धर्मो विदुररूपेण शापात्तस्य महात्मनः ।
माण्डव्यस्यार्थतत्त्वज्ञः कामक्रोधविवर्जितः ॥ २८ ॥
स धर्मस्यानृणो भूत्वा पुनर्मात्रा समेत्य च ।
तस्यै गर्भं समावेद्य तत्रैवान्तरधीयत ॥ २९ ॥

अर्थतत्त्व जाननेवाले और काम क्रोधसे रहित कृष्णद्वैपायनने महात्मा माण्डव्यके शापसे धर्मका विदुरके स्वरूपमें जन्म और अपने सामने उस गर्भकी कथा माताके निकट कहकर धर्मानुसार ऋणसे छुटकारा पाकर उस स्थानहीमें अन्तर्हित हो गए ॥ २८–२९ ॥

एते विचित्रवीर्यस्य क्षेत्रे द्वैपायनादपि ।
जज्ञिरे देवगर्भाभाः कुरुवंशविवर्धनाः ॥ ३० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि शततमोऽध्यायः ॥ १०० ॥ ३७०६ ॥

द्वैपायनके वीर्य और विचित्रवीर्यकी रानियोंमें कुरुकुलके बढानेवाले देवकुमारके समान कुमारोंने इस प्रकार जन्म लिया था ॥ ३० ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें सौवां अध्याय समाप्त ॥ १०० ॥ ३७०६ ॥

: १०१ :

जनमेजय उवाच

किं कृतं कर्म धर्मेण येन शापमुपेयिवान् ।
कस्य शापाच्च ब्रह्मर्षे शूद्रयोनावजायत ॥ १ ॥

जनमेजय बोले– धर्मने ऐसा कौनसा कर्म किया था, कि उस कारण शापसे ग्रसित हुए और किस ब्रह्मर्षिके शापसे शूद्रयोनिमें उन्होंने जन्म लिया ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

बभूव ब्राह्मणः कश्चिन्माण्डव्य इति विश्रुतः ।
धृतिमान्सर्वधर्मज्ञः सत्ये तपसि च स्थितः ॥ २ ॥

वैशम्पायन बोले– माण्डव्यके नामसे प्रसिद्ध सर्वधर्मज्ञ, धृतिमान्, सत्यनिष्ठ और तपमें रत रहनेवाले युक्त एक ब्राह्मण थे ॥ २ ॥

×

स आश्रमपदद्वारि वृक्षमूले महातपाः।
ऊर्ध्ववाहुर्महायोगी तस्थौ मौनव्रतान्वितः ॥ ३ ॥
वे महातपस्वी और महायोगी आश्रमके द्वारपर स्थित वृक्षकी जडमें ऊर्ध्ववाहु और मौनी होकर बहुत दिनोंसे तप कर रहे थे ॥ ३ ॥

तस्य कालेन महता तस्मिंस्तपसि तिष्ठतः।
तमाश्रमपदं प्राप्ता दस्यवो लोप्त्रहारिणः।
अनुसार्यमाणा बहुभी रक्षिभिर्भरतर्षभ ॥ ४ ॥
इस प्रकार उनके तप करते हुए बहुतसा समय बीत गया, ऐसे समयमें एक दिन लुटेरे लूटी हुई वस्तुओंको लेकर उनके उस आश्रममें आये। हे भरतवंशश्रेष्ठ! बहुतसे सिपाही उन चोरोंका पीछा कर रहे थे ॥ ४ ॥

ते तस्यावसथे लोप्त्रं निदधुः कुरुसत्तम।
निधाय च भयाल्लीनास्तत्रैवान्वागते बले ॥ ५ ॥
अतः हे कुरुश्रेष्ठ! वे लुटेरे भयसे रखवालोंके आते न आते उस आश्रममें लूटे हुए धनको छिपाकर स्वयं भी वहीं छिप गये ॥ ५ ॥

तेषु लीनेष्वथो शीघ्रं ततस्तद्रक्षिणां बलम्।
आजगाम ततोऽपश्यंस्तमृषिं तस्करानुगाः ॥ ६ ॥
वहीं चोरोंके छिप जानेपर उनका पीछा करते हुए रखवाले भी उसी क्षण उस स्थानमें आपहुंचे और वहां उस ऋषिको देखा ॥ ६ ॥

तमपृच्छंस्ततो राजंस्तथावृत्तं तपोधनम्।
कतरेण पथा याता दस्यवो द्विजसत्तम।
तेन गच्छामहे ब्रह्मन्पथा शीघ्रतरं वयम् ॥ ७ ॥
हे राजन्! उन्होंने उस दशामें तपस्वी उस ऋषिको देखकर पूछा, हे द्विजवर! लुटेरे किस पथसे गये? हे ब्राह्मण! बता दीजिये, ताकि हम शीघ्र उस पथमें जा सकें ॥ ७ ॥

तथा तु रक्षिणां तेषां ब्रुवतां स तपोधनः।
न किंचिद्वचनं राजन्नवदत्साध्वसाधु वा ॥ ८ ॥
हे राजन्! रखवालोंके उस प्रकार पूछनेपर तपोधन माण्डव्यने भला या बुरा कुछ भी नहीं कहा ॥ ८ ॥

ततस्ते राजपुरुषा विचिन्वानास्तमाश्रमम्।
ददृशुस्तत्र संलीनांस्तांश्चोरान्द्रव्यमेव च ॥ ९ ॥
तब राजपुरुषोंने उस आश्रममें ढूंढते हुए चुराये हुए पदार्थोंके साथ चोरोंको छिपे हुए पाया ॥ ९ ॥

ततः शङ्का समभवद्रक्षिणां तं मुनिं प्रति ।
संयम्यैनं ततो राज्ञे दस्यूंश्चैव न्यवेदयन् ॥ १० ॥

तब उन मुनिपर रखवालोंको सन्देह हो गया और उन्होंने लुटेरों और मुनिको बांधकर राजाके सामने ला खडा किया ॥ १० ॥

तं राजा सह तैश्चोरैरन्वशाद्वध्यतामिति ।
स वध्यघातैरज्ञातः शूले प्रोतो महातपाः ॥ ११ ॥

राजाने लुटेरोंके साथ मुनिको भी मारनेकी आज्ञा दी । जल्लादोंने महातपस्वी माण्डव्यको न जानकर शूलीपर चढा दिया; ॥ ११ ॥

ततस्ते शूलमारोप्य तं मुनिं रक्षिणस्तदा ।
प्रतिजग्मुर्महीपालं धनान्यादाय तान्यथ ॥ १२ ॥

उस ऋषिको शूली पर चढाकर वे सिपाही चुरायी हुई वस्तुओंको लेकर राजाके पास गये ॥ १२ ॥

शूलस्थः स तु धर्मात्मा कालेन महता ततः ।
निराहारोऽपि विप्रर्षिर्मरणं नाभ्युपागमत् ।
धारयामास च प्राणानृषींश्च समुपानयत् ॥ १३ ॥

धर्मात्मा विप्रर्षि बहुतकालतक शूलीपर चढे होने और विना भोजनके रहने पर भी मृत्युको प्राप्त नहीं हुए । वह तपके बलसे जीवित रहे और ऋषिओंको अपने पास बुलवाया ॥ १३ ॥

शूलाग्रे तप्यमानेन तपस्तेन महात्मना ।
संतापं परमं जग्मुर्मुनयोऽथ परंतप ॥ १४ ॥

हे परंतप! उन महात्माको शूलीके ऊपर तपमें मग्न देखकर वे मुनि अति दुःखी हुए ॥ १४ ॥

ते रात्रौ शकुना भूत्वा संन्यवर्तन्त सर्वतः ।
दर्शयन्तो यथाशक्ति तमपृच्छन्द्विजोत्तमम् ।
श्रोतुमिच्छामहे ब्रह्मन्किं पापं कृतवानसि ॥ १५ ॥

वे रातमें पक्षियोंका रूप धारण कर चारों ओरसे आए और उन्होंने अपने रूपको धारण कर द्विजोत्तमसे पूछा, हे ब्रह्मन्! हम सुनना चाहते हैं, कि तुमने कौनसा पाप किया है ॥ १५ ॥

ततः स मुनिशार्दूलस्तानुवाच तपोधनान् ।
दोषतः कं गमिष्यामि न हि मेऽन्योऽपराध्यति ॥ १६ ॥

तब मुनियोंमें श्रेष्ठ माण्डव्यने उन तपोधनोंसे कहा, कि मैं किसको दोष लगाऊं, कोई और मनुष्य इस विषयमें दोषी नहीं है ॥ १६ ॥

राजा च तमृषिं श्रुत्वा निष्क्रम्य सह मन्त्रिभिः ।
प्रसादयामास तदा शूलस्थमृषिसत्तमम् ॥ १७ ॥

वह सुनकर राजा तब मन्त्रियोंके साथ वहां आकर उस शूलीपर स्थित ऋषि श्रेष्ठको प्रसन्न करनेके लिये विनयके साथ कहने लगे ॥ १७ ॥

यन्मयापकृतं मोहादज्ञानादृषिसत्तम ।
प्रसादये त्वां तत्राहं न मे त्वं क्रोद्धुमर्हसि ॥ १८ ॥

मैंने मोहवश अज्ञानतासे आपका अपकार किया है, अब आपकी प्रसन्नताके लिये मैं प्रार्थना करता हूं, आप मुझपर क्रोधित न होवें ॥ १८ ॥

एवमुक्तस्ततो राज्ञा प्रसादमकरोन्मुनिः ।
कृतप्रसादो राजा तं ततः समवतारयत् ॥ १९ ॥

राजाकी ऐसी बात सुनकर मुनि प्रसन्न हुए। भूपालने उनको प्रसन्न देखकर शूलीके खम्भेसे उतरवा दिया ॥ १९ ॥

अवतार्य च शूलाग्रात्तच्छूलं निश्चकर्ष ह ।
अशक्नुवंश्च निष्क्रष्टुं शूलं मूले स चिच्छिदे ॥ २० ॥

उन्हें शूलके अग्रभागसे उतार कर शूलको खींचा पर वह शूल खिंच नहीं पाया, तब देहके भीतर घुसी हुई शूलीकी जड काट डाली ॥ २० ॥

स तथान्तर्गतेनैव शूलेन व्यचरन्मुनिः ।
स तेन तपसा लोकान्विजिग्ये दुर्लभान्परैः ।
अणीमाण्डव्य इति च ततो लोकेषु कथ्यते ॥ २१ ॥

तब मुनि भीतर घुसी हुई शूलीको ले करके ही सर्वत्र विचरने लगे और कठोर तपस्या करने लगे; उससे औरोंके लिये दुर्लभ पुण्यलोकको जीत लिया । वह अणी अर्थात् शूलीके अगले भागको लिये रहनेके कारण अणीमाण्डव्यके नामसे लोकोंमें प्रसिद्ध हुए ॥ २१ ॥

स गत्वा सदनं विप्रो धर्मस्य परमार्थवित् ।
आसनस्थं ततो धर्मं दृष्ट्वोपालभत प्रभुः ॥ २२ ॥

तत्त्वज्ञ ब्राह्मण अणीमाण्डव्य एक समय धर्मके पास गये। धर्मको वहां बैठे देखकर प्रभु अणीमाण्डव्य उनपर लाञ्छन लगाकर बोले ॥ २२ ॥

किं नु तद्दुष्कृतं कर्म मया कृतमजानता ।
यस्येयं फलनिर्वृत्तिरीदृश्यासादिता मया ।
शीघ्रमाचक्ष्व मे तत्त्वं पश्य मे तपसो बलम् ॥ २३ ॥

मैंने अज्ञानतासे कौनसा कुकर्म किया है, कि जिसका ऐसा फल मैंने पाया ? इसका गूढ तत्त्व मुझे शीघ्र बताओ और फिर मेरी तपस्याका प्रभाव देखो ॥ २३ ॥

धर्म उवाच

पतंगकानां पुच्छेषु त्वयेषीका प्रवेशिता ।
कर्मणस्तस्य ते प्राप्तं फलमेतत्तपोधन ॥ २४ ॥

धर्म बोले– तुमने एक दिन पतंगोंकी पूंछमें इषीका अर्थात् तिनका घुसा दिया था, हे तपोधन ! तुमने उस कर्मका ही यह फल प्राप्त किया है ॥ २४ ॥

अणीमाण्डव्य उवाच

अल्पेऽपराधे विपुलो मम दण्डस्त्वया कृतः ।
शूद्रयोनावतो धर्म मानुषः संभविष्यसि ॥ २५ ॥

हे धर्म ! मेरे इस छोटेसे अपराधका तुमने इतना भारी दण्ड दिया है । इस हेतु तुम मनुष्य होकर शूद्रयोनिमें जन्म लोगे ॥ २५ ॥

मर्यादां स्थापयाम्यद्य लोके धर्मफलोदयाम् ।
आ चतुर्दशकाद्वर्षान्न भविष्यति पातकम् ।
परेण कुर्वतामेवं दोष एव भविष्यति ॥ २६ ॥

आजसे मैं कर्मके फल भोगनेके विषयमें लोकोंमें यह मर्यादा स्थापित करता हूं, कि चौदह वर्षकी आयुतक पाप कर्म करनेसे भी पाप नहीं लगेगा ! चौदह वर्षके बाद ही पापकर्म करनेसे उसका फल भोगना पडेगा ॥ २६ ॥

वैशंपायन उवाच

एतेन त्वपराधेन शापात्तस्य महात्मनः ।
धर्मो विदुररूपेण शूद्रयोनावजायत ॥ २७ ॥

वैशम्पायन बोले– इस दोषके कारण और महात्मा अणीमाण्डव्यके शापसे धर्मने विदुरके स्वरूपमें शूद्रयोनिमें जन्म लिया ॥ २७ ॥

धर्मे चार्थे च कुशलो लोभक्रोधविवर्जितः ।
दीर्घदर्शी शमपरः कुरूणां च हिते रतः ॥ २८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि एकाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०१ ॥ ३७३४ ॥

वह धर्म और अर्थके विषयमें पण्डित, लोभ क्रोधसे रहित, शांत और दूरदर्शी होकर कुरुवंशके हित साधनेमें सदा उत्साही थे ॥ २८ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ एकवां अध्याय समाप्त ॥ १०१ ॥ ॥ ३७३४ ॥

: १०२ :

वैशम्पायन उवाच

तेषु त्रिषु कुमारेषु जातेषु कुरुजाङ्गलम्।
कुरवोऽथ कुरुक्षेत्रं त्रयमेतदवर्धत ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– उन तीन कुमारोंके जन्म लेने पर कौरवगण, कुरुजाङ्गल देश और कुरुक्षेत्र इन तीनोंकी पूरी उन्नति हुई ॥ १ ॥

ऊर्ध्वसस्याभवद्भूमिः सस्यानि फलवन्ति च।
यथर्तुवर्षी पर्जन्यो बहुपुष्पफला द्रुमाः ॥ २ ॥

तब भूमिमें बहुत शस्य उपजने लगे, शस्य फलयुक्त हुए, बादलोंके उचित समयमें वृष्टि करनेसे वृक्ष अपरिमित फल और फूलसे युक्त होने लगे ॥ २ ॥

वाहनानि प्रहृष्टानि मुदिता मृगपक्षिणः।
गन्धवन्ति च माल्यानि रसवन्ति फलानि च ॥ ३ ॥

उन दिनों सब वाहन प्रसन्न, मृग पक्षी प्रमुदित, पुष्प गन्धसे युक्त और फल अच्छे रससे युक्त होते थे ॥ ३ ॥

वणिग्भिश्चावकीर्यन्त नगराण्यथ शिल्पिभिः।
शूराश्च कृतविद्याश्च सन्तश्च सुखिनोऽभवन् ॥ ४ ॥

तब नगर उद्योगपतियों और शिल्पियोंसे भरा पूरा हो गया और शूरलोग, विद्वान्लोग और साधुगण सुखी हो गए ॥ ४ ॥

नाभवन्दस्यवः केचिन्नाधर्मरुचयो जनाः।
प्रदेशेष्वपि राष्ट्राणां कृतं युगमवर्तत ॥ ५ ॥

उस समय कोई लुटेरा उन राज्योंमे न था और न कोई अधर्मशील ही था, इसलिए राज्यके सब प्रदेशोंमें मानों सत्ययुगका राज्य हो गया था ॥ ५ ॥

दानक्रियाधर्मशीला यज्ञव्रतपरायणाः।
अन्योन्यप्रीतिसंयुक्ता व्यवर्धन्त प्रजास्तदा ॥ ६ ॥

प्रजायें दानशील, धर्मशील, यज्ञशील और आपसमें प्रेमसे युक्त होकर विशेष बढने लगीं ॥६॥

कामक्रोधविहीनाश्च जना लोभविवर्जिताः।
अन्योन्यमभ्यवर्धन्त धर्मोत्तरमवर्तत ॥ ७ ॥

संपूर्ण जन क्रोध, लोभ और अभिमानसे रहित होकर परस्पर एक दूसरेको बढाने लगे। इस प्रकार धर्मकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई ॥ ७ ॥

तन्महोदधिवत्पूर्णं नगरं वै व्यरोचत ।
द्वारतोरणनिर्यूहैर्युक्तमभ्रचयोपमैः ।
प्रासादशतसंबाधं महेन्द्रपुरसंनिभम् ॥ ८ ॥

उस कालमें वह नगर बडे भारी समुद्रके समान भरा, सैंकडों बडे बडे भवनोंसे युक्त और बादल दलके सदृश द्वार और तोरणोंसे संयुक्त होकर अमरावतीकी सी अपूर्व शोभा पाने लगा ॥ ८ ॥

नदीषु वनखण्डेषु वापीपल्वलसानुषु ।
काननेषु च रम्येषु विजह्रुर्मुदिता जनाः ॥ ९ ॥

मानवगण नदी, वन, तडाग, सरोवर, रमणीय फुलवारी और पर्वतोंकी समभूमि पर प्रसन्न चित्तसे विहार करने लगे ॥ ९ ॥

उत्तरैः कुरुभिः सार्धं दक्षिणाः कुरवस्तदा ।
विस्पर्धमाना व्यचरंस्तथा सिद्धर्षिचारणैः ।
नाभवत्कृपणः कश्चिन्नाभवन्विधवाः स्त्रियः ॥ १० ॥

दक्षिण कुरु और उत्तर कुरु एक दूसरेके साथ स्पर्धा करते हुए सिद्ध, ऋषि और चारणोंके साथ विचरने लगे । उस नगरमें कोई कृपण नहीं था और कोई नारी विधवा नहीं होती थी ॥ १० ॥

तस्मिञ्जनपदे रम्ये बहवः कुरुभि कृताः ।
कूपारामसभावाप्यो ब्राह्मणावसथास्तथा ।
भीष्मेण शास्त्रतो राजन्सर्वतः परिरक्षिते ॥ ११ ॥

हे राजन् ! भीष्मसे शास्त्रानुसार चारों ओरसे सुरक्षित उस सुन्दर नगरमें कुरुओंके द्वारा बनाए गए कूप, उपवन, तडाग, सभा और ब्राह्मणोंकी वस्ती आदि थे ॥ ११ ॥

बभूव रमणीयश्च चैत्ययूपशताङ्कितः ।
स देशः परराष्ट्राणि प्रतिगृह्याभिवर्धितः ।
भीष्मेण विहितं राष्ट्रे धर्मचक्रमवर्तत ॥ १२ ॥

भीष्मके विधानसे उस राज्यमें धर्मचक्र प्रवर्तित हुआ । सैंकडों यज्ञयूपोंसे चित्रित होकर वह राज्य अन्य राज्योंको नीचा दिखाकर अत्युन्नत हो गया था ॥ १२ ॥

क्रियमाणेषु कृत्येषु कुमाराणां महात्मनाम् ।
पौरजानपदाः सर्वे बभूवुः सततोत्सवाः ॥ १३ ॥

महात्मा कुरुकुमारोंसे किये जाते हुए कार्योंको देखकर जनपद और पुरवासी सब नित्य उत्सव करने लगे ॥ १३ ॥

गृहेषु कुरुमुख्यानां पौराणां च नराधिप।
दीयतां भुज्यतां चेति वाचोऽश्रूयन्त सर्वशः ॥ १४ ॥

हे नराधिप! प्रधान कौरवों और पुरवासियोंके घरोंमें "खाओ, दो" की बात सदा सुनाई देने लगी ॥ १४ ॥

धृतराष्ट्रश्च पाण्डुश्च विदुरश्च महामतिः।
जन्मप्रभृति भीष्मेण पुत्रवत्परिपालिताः ॥ १५ ॥

धृतराष्ट्र, पाण्डु और महामति विदुर जन्महीसे भीष्मसे पुत्रकी भांति पाले गए ॥ १५ ॥

संस्कारैः संस्कृतास्ते तु व्रताध्ययनसंयुताः।
श्रमव्यायामकुशलाः समपद्यन्त यौवनम् ॥ १६ ॥

वे जातिके योग्य संस्कारोंसे संस्कृत, व्रत तथा पठनमें नियुक्त, और श्रम तथा व्यायाममें पण्डित होकर उचित समयमें यौवनदशाको प्राप्त हुए ॥ १६ ॥

धनुर्वेदेऽश्वपृष्ठे च गदायुद्धेऽसिचर्मणि।
तथैव गजशिक्षायां नीतिशास्त्रे च पारगाः ॥ १७ ॥

वे धनुर्वेदमें घुडसवारीमें, गदा–युद्धमें, खड्ग–चर्म चलानेमें, गजशिक्षामें और नीतिशास्त्रमें पण्डित हो गए ॥ १७ ॥

इतिहासपुराणेषु नानाशिक्षासु चाभिभो।
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञाः सर्वत्र कृतनिश्रमाः ॥ १८ ॥

वे वेद वेदाङ्गके तत्त्वज्ञ होकर इतिहास, पुराण और दूसरे नाना विषयोंकी शिक्षा आदि सब विषयोंमें पण्डित हो गए ॥ १८ ॥

पाण्डुर्धनुषि विक्रान्तो नरेभ्योऽभ्यधिकोऽभवत्।
अत्यन्यान्बलवानासीद्धृतराष्ट्रो महीपतिः ॥ १९ ॥

विक्रमी पाण्डु धनुर्विद्यामें सब मनुष्योंसे तेज निकले और महीपति धृतराष्ट्र बलमें सबसे श्रेष्ठ निकले ॥ १९ ॥

त्रिषु लोकेषु न त्वासीत्कश्चिद्विदुरसंमितः।
धर्मनित्यस्ततो राजन्धर्मे च परमं गतः ॥ २० ॥

हे राजन्! तीनों लोकोंमें विदुरके समान धर्मशील और धर्मविषयमें परम तत्त्वज्ञ कोई दूसरा नहीं था ॥ २० ॥

प्रनष्टं शन्तनोर्वंशं समीक्ष्य पुनरुद्धृतम् ।
ततो निर्वचनं लोके सर्वराष्ट्रेष्ववर्तत ॥ २१ ॥

उस कालमें राजा शन्तनुके नष्ट होते हुए वंशको फिर उन्नत होते देखकर संपूर्ण राज्योंमें यह प्रशंसा होने लगी ॥ २१ ॥

वीरसूनां काशिसुते देशानां कुरुजाङ्गलम् ।
सर्वधर्मविदां भीष्मः पुराणां गजसाह्वयम् ॥ २२ ॥

कि वीर प्रसविनी स्त्रियोंमें दोनों काशीराजकी बेटियां, देशोंमें कुरुजाङ्गल, सर्व धर्मज्ञ जनोंमें भीष्म और नगरोंमें हस्तिनापुर श्रेष्ठ है ॥ २२ ॥

धृतराष्ट्रस्त्वचक्षुष्ट्वाद्राज्यं न प्रत्यपद्यत ।
करणत्वाच्च विदुरः पाण्डुरासीन्महीपतिः ॥ २३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि द्व्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०२ ॥ ३७५७ ॥

धृतराष्ट्र जन्मान्ध होनेके कारण राज्याधिकारी न हो सके और विदुरको शूद्राणीके गर्भमें जन्म लेनेके कारण राज्यकी प्राप्ति नहीं हुई, अतः पाण्डु ही राज्याधिप हुए ॥ २३ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ दूसरा अध्याय समाप्त ॥ १०२ ॥ ३७५७ ॥

: १०३ :

भीष्म उवाच

गुणैः समुदितं सम्यगिदं नः प्रथितं कुलम् ।
अत्यन्यान्पृथिवीपालान्पृथिव्यामधिराज्यभाक् ॥ १ ॥

भीष्म बोले– हमारा यह सर्वगुण युक्त और सर्वत्र प्रख्यात कुरुकुल पृथ्वी भरमें दूसरे सब पृथ्वीपालोंपर अधिकार करता आया है ॥ १ ॥

रक्षितं राजभिः पूर्वैर्धर्मविद्भिर्महात्मभिः ।
नोत्सादमगमच्चेदं कदाचिदिह नः कुलम् ॥ २ ॥

प्राचीन धर्मशील, महात्मा राजाओंके द्वारा पहिलेसे रक्षित हमारा यह कुल कभी नष्ट नहीं हुआ ॥ २ ॥

मया च सत्यवत्या च कृष्णेन च महात्मना ।
समवस्थापितं भूयो युष्मासु कुलतन्तुषु ॥ ३ ॥

मेरे, सत्यवतीके और महात्मा कृष्णद्वैपायनके प्रयत्नसे तुम तीनोंमें कुलतन्तु फिर स्थापित हुआ है ॥ ३ ॥

×

वर्धते तदिदं पुत्र कुलं सागरवद्यथा ।
तथा मया विधातव्यं त्वया चैव विशेषतः ॥ ४ ॥

अतः मेरा और विशेषकर तुम्हारा ऐसा प्रयत्न होना चाहिये, कि यह कुल सागरके सदृश बढे ॥ ४ ॥

श्रूयते यादवी कन्या अनुरूपा कुलस्य नः ।
सुबलस्यात्मजा चैव तथा मद्रेश्वरस्य च ॥ ५ ॥

सुना है, कि यदुवंशी शूरसेनकी कन्या, सुबलराजकी पुत्री और मद्रदेशाधिपकी बेटी, यह तीन कन्यायें हमारे वंशके योग्य हैं ॥ ५ ॥

कुलीना रूपवत्यश्च नाथवत्यश्च सर्वशः ।
उचिताश्चैव संबन्धे तेऽस्माकं क्षत्रियर्षभाः ॥ ६ ॥

हे पुत्र ! क्षत्राणियोंमें श्रेष्ठ वे कन्यायें कुलीन, रूपवती, संरक्षकसहित और हर बातमें हमारे साथ सम्बन्धके योग्य हैं ॥ ६ ॥

मन्ये वरयितव्यास्ता इत्यहं धीमतां वरः ।
सन्तानार्थं कुलस्यास्य यद्वा विदुर मन्यसे ॥ ७ ॥

हे बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ विदुर ! मैं समझता हूं, कि इस वंशकी सन्तानके निमित्त उन्हींसे विवाह करना उचित है, अथवा तुम्हारी समझमें जो अच्छा होवे, कहो ॥ ७ ॥

विदुर उवाच

भवान्पिता भवान्माता भवान्नः परमो गुरुः ।
तस्मात्स्वयं कुलस्यास्य विचार्य कुरु यद्धितम् ॥ ८ ॥

विदुर बोले– आप हमारे पिता हैं, आप ही हमारी माता हैं और आप ही हमारे परम गुरु हैं, अतएव आप ही स्वयं विचारकर जो इस वंशके लिए मंगलकारी हो वही कीजिये ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच

अथ शुश्राव विप्रेभ्यो गान्धारीं सुबलात्मजाम् ।
आराध्य वरदं देवं भगनेत्रहरं हरम् ।
गान्धारी किल पुत्राणां शतं लेभे वरं शुभा ॥ ९ ॥

वैशम्पायन बोले– ब्राह्मणोंके मुखसे सुना, कि शुभ लक्षणयुक्त सुबलपुत्री गान्धारीने भग-नेत्रके विनाशक एवं वर देनेवाले महादेवकी आराधना कर सौ पुत्र पानेका वर प्राप्त किया है ॥ ९ ॥

इति श्रुत्वा च तत्त्वेन भीष्मः कुरुपितामहः ।
ततो गान्धारराजस्य प्रेषयामास भारत ॥ १० ॥

हे भारत ! इस प्रकार कुरुओंके पितामह भीष्मने सुनकर गान्धारराजके निकट दूत भेजा ॥ १० ॥

अचक्षुरिति तत्रासीत्सुबलस्य विचारणा ।
कुलं ख्यातिं च वृत्तं च बुद्ध्या तु प्रसमीक्ष्य सः ।
ददौ तां धृतराष्ट्राय गान्धारीं धर्मचारिणीम् ॥ ११ ॥

धृतराष्ट्र अन्धे हैं यह जानकर गान्धार राजने बहुत विचार किया । पर उन्होंने कौरवोंके कुल, प्रसिद्धि और चरित्रको भली प्रकार देख करके धृतराष्ट्रको धर्मका आचरण करनेवाली गान्धारी नामकी कन्याको देनेका निश्चय किया ॥ ११ ॥

गान्धारी त्वपि शुश्राव धृतराष्ट्रमचक्षुषम् ।
आत्मानं दित्सितं चास्मै पित्रा मात्रा च भारत ॥ १२ ॥

हे भारत ! अनन्तर गान्धारीने भी सुना, कि धृतराष्ट्र अन्धे हैं फिर भी उसके माता पिता उसे उस अन्धेको देना चाहते हैं ॥ १२ ॥

ततः सा पट्टमादाय कृत्वा बहुगुणं शुभा ।
बबन्ध नेत्रे स्वे राजन्पतिव्रतपरायणा ।
नात्यश्नीयां पतिमहमित्येवं कृतनिश्चया ॥ १३ ॥

हे राजन् ! पतिव्रत धर्ममें परायण गांधारीने– " मैं भी पतिकी अपेक्षा ज्यादा भोगोंका उपभोग नहीं करूंगी " इस प्रकारका निश्चय करके एक कपडा लिया और उसके अनेक पर्त बनाकर उससे अपनी आंखोंको बांध दिया ॥ १३ ॥

ततो गान्धारराजस्य पुत्रः शकुनिरभ्ययात् ।
स्वसारं परया लक्ष्म्या युक्तामादाय कौरवान् ॥ १४ ॥

इसके बाद गान्धारराजके कुमार शकुनि रूप और यौवनवती अपनी भगिनीको लेकर कौरवोंके निकट गया ॥ १४ ॥

दत्त्वा स भगिनीं वीरो यथार्हं च परिच्छदम् ।
पुनरायात्स्वनगरं भीष्मेण प्रतिपूजितः ॥ १५ ॥

वीर शकुनि धृतराष्ट्रको यथोचित वस्त्रादि देकर बहिनको सम्प्रदान करके भीष्मसे भली प्रकार आदर सत्कार पाकर अपने नगरको चला आया ॥ १५ ॥

गान्धार्यपि वरारोहा शीलाचारविचेष्टितैः ।
तुष्टिं कुरूणां सर्वेषां जनयामास भारत ॥ १६ ॥

हे भरतवंश तिलक ! सुन्दरी गान्धारी शीलता, सदाचार और सत्कर्मसे सम्पूर्ण कौरवोंको सन्तुष्ट करने लगी ! ॥ १६ ॥

वृत्तेनाराध्य तान्सर्वान्पतिव्रतपरायणा ।
वाचापि पुरुषानन्यान्सुव्रता नान्वकीर्तयत् ॥ १७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि त्र्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०३ ॥ ३७५८ ॥

पतिव्रता, उत्तम व्रतशील गान्धारी सुन्दर व्यवहारसे गुरुओंकी सेवा किया करती थी, वाक्यसे भी कभी अन्य पुरुषका नाम नहीं लेती थी ॥ १७ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ तीसरा अध्याय समाप्त ॥ १०३ ॥ ३७५८ ॥

: १०४ :

वैशंपायन उवाच

शूरो नाम यदुश्रेष्ठो वसुदेवपिताभवत् ।
तस्य कन्या पृथा नाम रूपेणासदृशी भुवि ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– वसुदेवके पिता शूरनामक एक महात्मा यदुकुलमें श्रेष्ठ थे। उनकी पृथा नाम्नी एक कन्या थी। वह कन्या ऐसी रूपवती थी कि भूमण्डलमें कोई नारी उसके रूपकी बराबरी नहीं कर सकती थी ॥ १ ॥

पैतृष्वस्रेयाय स तामनपत्याय वीर्यवान् ।
अग्र्यमग्रे प्रतिज्ञाय स्वस्यापत्यस्य वीर्यवान् ॥ २ ॥

हे भारत ! उस वीर्यवान् शूरने अपने पुत्ररहित फुफेरे भाई भोजराजसे पहले यह प्रतिज्ञा की थी कि– "मेरी सर्व प्रथम जो सन्तान होगी, वह तुम्हें दे दूंगा।" ॥ २ ॥

अग्रजातेति तां कन्यामग्र्यानुग्रहकाङ्क्षिणे ।
प्रददौ कुन्तिभोजाय सखा सख्ये महात्मने ॥ ३ ॥

उस प्रतिज्ञाके अनुसार मित्र शूरके प्रथम गर्भसे जन्मी हुई उस कन्याको अपने मित्र महात्मा और अनुग्रहके अभिलाषी कुन्तिभोजको दे दिया ॥ ३ ॥

सा नियुक्ता पितुर्गेहे देवतातिथिपूजने
उग्रं पर्यचरद्घोरं ब्राह्मणं संशितव्रतम् ॥ ४ ॥

उस पिताके घरमें देवताओंकी सेवा और अतिथियोंके सत्कारमें नियुक्त उस पृथाने एक बार एक जितेन्द्रिय और क्रोधी ब्राह्मणकी सेवा की ॥ ४ ॥

निगूढनिश्चयं धर्मे यं तं दुर्वाससं विदुः ।
तमुग्रं संशितात्मानं सर्वयत्नैरतोषयत् ॥ ५ ॥

व्रतशील, उग्रस्वभावी और धर्मके गूढ तत्त्वोंके जाननेवाले ब्राह्मण दुर्वासाको प्रयत्नसे सेवा करके प्रसन्न किया ! ॥ ५ ॥

तस्यै स प्रददौ मन्त्रमापद्धर्मान्ववेक्षया ।
अभिचाराभिसंयुक्तमब्रवीच्चैव तां मुनिः ॥ ६ ॥

उस मुनिने भविष्यत्में आपद्धर्मकी बात सोचकर उसको अभिचारयुक्त मन्त्र दिया और उससे बोले ॥ ६ ॥

यं यं देवं त्वमेतेन मन्त्रेणावाहयिष्यसि ।
तस्य तस्य प्रभावेण पुत्रस्तव भविष्यति ॥ ७ ॥

तुम इस मन्त्रसे जिन जिन देवताओंको बुलाओगी उन उन देवताओंके प्रभावसे तुम्हारे पुत्र उत्पन्न होगा ॥ ७ ॥

तथोक्ता सा तु विप्रेण तेन कौतूहलात्तदा ।
कन्या सती देवमर्कमाजुहाव यशस्विनी ॥ ८ ॥

यशस्विनी बाला पृथाने दुर्वासाकी यह बात सुन करके अचरजसे कन्यावस्थाहीमें सूर्यदेवको बुलाया ॥ ८ ॥

सा ददर्श तमायान्तं भास्करं लोकभावनम् ।
विस्मिता चानवद्याङ्गी दृष्ट्वा तन्महदद्भुतम् ॥ ९ ॥

तब उस अनिन्दित अङ्गवालीने लोकभावन आदित्यको आते देखा और उस महान् आश्चर्यको देखकर चकित रह गई ॥ ९ ॥

प्रकाशकर्मा तपनः तस्यां गर्भं दधौ ततः ।
अजीजनत्ततो वीरं सर्वशस्त्रभृतां वरम् ।
आमुक्तकवचः श्रीमान्देवगर्भश्रियावृतः ॥ १० ॥

प्रकाश करनेवाले सूर्यने उस पृथामें गर्भ स्थापित किया, उससे सब शस्त्रोंको धारण करनेवालोंमें श्रेष्ठ, कवच पहने हुए, श्रीमान् और देवके पुत्रके समान तेजस्वी एक कुमार उत्पन्न हुआ ॥ १० ॥

सहजं कवचं बिभ्रत्कुण्डलोद्द्योतिताननः ।
अजायत सुतः कर्णः सर्वलोकेषु विश्रुतः ॥ ११ ॥

जन्मके साथ कवचकुण्डलोंको धारण करनेके कारण तेजस्वी मुखवाला वह पुत्र कर्ण नामसे सब लोकोंमें प्रसिद्ध हुआ ॥ ११ ॥

प्रादाच्च तस्याः कन्यात्वं पुनः स परमद्युतिः ।
दत्त्वा च ददतां श्रेष्ठो दिवमाचक्रमे ततः ॥ १२ ॥

इसके बाद परम द्युतिमान् दानियोंमें श्रेष्ठ आदित्य फिर उसको कन्यावस्था देकर आकाशमें चले गये ॥ १२ ॥

गूहमानापचारं तं बन्धुपक्षभयात्तदा ।
उत्ससर्ज जले कुन्ती तं कुमारं सलक्षणम् ॥ १३ ॥

अनन्तर बन्धुओंके डरसे उस बुरी लीलाको छिपानेके लिए कुन्तीने उस उत्तम लक्षणवाले कुमारको जलमें बहा दिया ॥ १३ ॥

तमुत्सृष्टं तदा गर्भं राधाभर्ता महायशाः ।
पुत्रत्वे कल्पयामास सभार्यः सूतनन्दनः ॥ १४ ॥

अति यशस्वी सूतपुत्र राधापतिने अपनी स्त्रीकी सहमतिसे जलमें छोडे हुए बालकको उठाकर पुत्र बना लिया ॥ १४ ॥

नामधेयं च चक्राते तस्य बालस्य तावुभौ ।
वसुना सह जातोऽयं वसुषेणो भवत्विति ॥ १५ ॥

उस बालकने वसु अर्थात् कुण्डल और कवचरूपी धनके साथ जन्म लिया था, इससे राधापति और उसकी स्त्रीने उस बालकका वसुषेण नाम रखा ॥ १५ ॥

स वर्धमानो बलवान्सर्वास्त्रेषूद्यतोऽभवत् ।
आ पृष्ठतापादादित्यमुपतस्थे स वीर्यवान् ॥ १६ ॥

बलशाली और प्रभावशाली वह बालक ज्यों ज्यों बढने लगा, त्यों त्यों अस्त्र विद्याओंमें भी दक्ष होने लगा। वह वीर्यवान् बालक जबतक पीठ गरम नहीं हो जाती थी, तबतक सूर्यकी उपासना किया करता था ॥ १६ ॥

यस्मिन्काले जपन्नास्ते स वीरः सत्यसंगरः ।
नादेयं ब्राह्मणेष्वासीत्तस्मिन्काले महात्मनः ॥ १७ ॥

उपासना करनेके समय रण कुशल, महात्मा वसुषेणके पास भूमण्डलमें ऐसी कोई चीज नहीं थी, जो वह ब्राह्मणोंको नहीं देते थे ॥ १७ ॥

तमिन्द्रो ब्राह्मणो भूत्वा भिक्षार्थं भूतभावनः ।
कुण्डले प्रार्थयामास कवचं च महाद्युतिः ॥ १८ ॥

एक समय भूतभावन और महातेजस्वी देवराज इन्द्रने भिक्षाके लिए ब्राह्मणका वेष धरकर उससे कवच और कुंडल मांगा ॥ १८ ॥

उत्कृत्य विमनाः स्वाङ्गात्कवचं रुधिरस्रवम् ।
कर्णस्तु कुण्डले छित्त्वा प्रायच्छत्स कृताञ्जलिः ॥ १९ ॥

उसपर कर्णने हाथ जोडकर दुःखी होकर अपने शरीरसे रक्तयुक्त कवचको और अपने कानसे कुण्डलको काटकर इन्द्रको दे दिया ॥ १९ ॥

शक्तिं तस्मै ददौ शक्रः विस्मितो वाक्यमब्रवीत् ।
देवासुरमनुष्याणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
यस्मै क्षेप्स्यसि रुष्टः सन्सोऽनया न भविष्यति ॥ २० ॥

इन्द्रने कर्णके इस प्रकार कार्यसे विस्मित होकर उनको शक्तिअस्त्र दिया और कहा, कि देव, असुर, मनुष्य, गंधर्व, उरग और राक्षस इनमेंसे जिस पर भी तुम रुष्ट होकर यह शक्ति फेंकोगे, वह जीवित नहीं बच सकता ॥ २० ॥

पुरा नाम तु तस्यासीद्वसुषेण इति श्रुतम् ।
ततो वैकर्तनः कर्णः कर्मणा तेन सोऽभवत् ॥ २१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चतुरधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०४ ॥ ३७९५ ॥

सूर्यके पुत्र पहिले वसुषेण नामसे प्रसिद्ध थे पर कवच काटनेके कर्मसे कर्ण और वैकर्तनके नामसे प्रख्यात हुए ॥ २१ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ चौथा अध्याय समाप्त ॥ १०४ ॥ ३७९५ ॥

: १०५ :

वैशम्पायन उवाच

रूपसत्त्वगुणोपेता धर्मारामा महाव्रता ।
दुहिता कुन्तिभोजस्य कृते पित्रा स्वयंवरे ॥ १ ॥
सिंहदंष्ट्रं गजस्कन्धमृषभाक्षं महाबलम् ।
भूमिपालसहस्राणां मध्ये पाण्डुमविन्दत ॥ २ ॥

वैशम्पायन बोले– कुंतिभोजकी कन्या पृथा रूपवती, सत्त्वगुणयुक्त, व्रतशील और धर्मप्रेमी थी, पिता द्वारा उसका स्वयंवर किया जानेपर उसने हजारों राजाओंमेंसे सिंहके सदृश, विक्रमी, हाथीके समान कंधोंवाले, बैलकी भांति नेत्रवाले, महाबली पाण्डुको ही चुना ॥ १-२ ॥

स तया कुन्तिभोजस्य दुहित्रा कुरुनन्दनः।
युयुजेऽमितसौभाग्यः पौलोम्या मघवानिव ॥ ३ ॥

देवराज जिस प्रकार शचीके साथ मिले थे, उसके समान ही अतुल सौभाग्ययुक्त कुरुनन्दन कुन्तीभोजकी कन्यासे मिले ॥ ३ ॥

यात्वा देवव्रतेनापि मद्राणां पुटभेदनम्।
विश्रुता त्रिषु लोकेषु माद्री मद्रपतेः सुता ॥ ४ ॥
सर्वराजसु विख्याता रूपेणासदृशी भुवि।
पाण्डोरर्थे परिक्रीता धनेन महता तदा।
विवाहं कारयामास भीष्मः पाण्डोर्महात्मनः ॥ ५ ॥

देवव्रत भीष्मने भी जाकर तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध मद्रराजकी पुत्री माद्रीको जो सब राजाओंमें प्रसिद्ध और रूपमें विश्वमें अद्वितीय थी, उसे पाण्डुके लिए बहुत धन देकर खरीद ली, और भीष्मने महात्मा पाण्डुके साथ उसका विवाह करवा दिया ॥ ४–५ ॥

सिंहोरस्कं गजस्कन्धमृषभाक्षं मनस्विनम्।
पाण्डुं दृष्ट्वा नरव्याघ्रं व्यस्मयन्त नरा भुवि ॥ ६ ॥

शेरके समान जांघ, हाथीके समान कंधे, बैलके समान आंखोंवाले इस नरश्रेष्ठ मनस्वी पाण्डुको देखकर पृथिवीके सब मनुष्य आश्चर्यचकित होते थे ॥ ६ ॥

कृतोद्वाहस्ततः पाण्डुर्बलोत्साहसमन्वितः।
जिगीषमाणो वसुधां ययौ शत्रूननेकशः ॥ ७ ॥

विवाह करके बल और उत्साहसे सम्पन्न पाण्डुने पृथ्वीको जीतनेकी इच्छासे अनेक शत्रुओं-को परास्त किया ॥ ७ ॥

पूर्वमागस्कृतो गत्वा दशार्णाः समरे जिताः।
पाण्डुना नरसिंहेन कौरवाणां यशोभृता ॥ ८ ॥

कौरवोंके यश बढानेवाले नरोंमें सिंहरूपी पाण्डुने पहिले ही दोषी दशार्ण देशके राजाओंको लडाईमें परास्त किया ॥ ८ ॥

ततः सेनामुपादाय पाण्डुर्नानाविधध्वजाम्।
प्रभूतहस्त्यश्वरथां पदातिगणसंकुलाम् ॥ ९ ॥
आगस्कृत्सर्ववीराणां वैरी सर्वमहीभृताम्।
गोप्ता मगधराष्ट्रस्य दार्वो राजगृहे हतः ॥ १० ॥

इसके बाद पाण्डुने रंगबिरंगे झण्डोंके साथ अगणित हाथी, घोडे, रथ और पैदलोंसे बनी हुई सेनाको लेकर अनेक राजाओंको नुकसान पहुंचानेवाले सभी राजाओंके शत्रु मगधके रक्षक दार्व नामक राजाका राजमन्दिरहीमें वध किया ॥ ९-१० ॥

तत: कोशं समादाय वाहनानि बलानि च।
पाण्डुना मिथिलां गत्वा विदेहाः समरे जिताः ॥ ११ ॥

वहांसे कोष और बहुत वाहन और सेना लूटकर पाण्डुने मिथिलामें जाकरके विदेहवासियोंको परास्त किया ॥ ११ ॥

तथा काशिषु सुह्मेषु पुण्ड्रेषु भरतर्षभ।
स्वबाहुबलवीर्येण कुरूणामकरोद्यशः ॥ १२ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! अनन्तर उन्होंने काशी, सुह्म और पुण्ड्रदेशमें जाकर अपने भुजवीर्यसे कौरव वंशका यश फैलाया ॥ १२ ॥

तं शरौघमहाज्वालमस्त्रार्चिषमरिन्दमम्।
पाण्डुपावकमासाद्य व्यदह्यन्त नराधिपाः ॥ १३ ॥

तब बाणरूपी ज्वालाओंसे सुशोभित और शस्त्ररूपी तेजसे प्रज्ज्वलित शत्रुनाशी पाण्डुरूपी अग्निमें भूपाललोग जल जल कर मरने लगे ॥ १३ ॥

ते ससेनाः ससैन्येन विध्वंसितबला नृपाः।
पाण्डुना वशगाः कृत्वा कुरुकर्मसु योजिताः ॥ १४ ॥

सेना सहित पाण्डुने सेनासहित नरेशोंके बलको तोड कर और वशमें लाकर कौरवोंके अधिकारमें नियुक्त किया ॥ १४ ॥

तेन ते निर्जिताः सर्वे पृथिव्यां सर्वपार्थिवाः।
तमेकं मेनिरे शूरं देवेष्विव पुरन्दरम् ॥ १५ ॥

धरती भरके सब भूपोंने पाण्डुसे परास्त होकर मानवोंमें उनको ऐसा वीर समझा, कि जैसे देवोंमें इन्द्र है ॥ १५ ॥

तं कृताञ्जलयः सर्वे प्रणता वसुधाधिपाः।
उपाजग्मुर्धनं गृह्य रत्नानि विविधानि च ॥ १६ ॥

वे सब राजा हाथ जोड उनको प्रणाम कर नाना रत्न और धनोंको लेकर पाण्डुके पास गए ॥ १६ ॥

मणिमुक्ताप्रवालं च सुवर्णं रजतं तथा।
गोरत्नान्यश्वरत्नानि रथरत्नानि कुञ्जरान् ॥ १७ ॥
खरोष्ट्रमहिषांश्चैव यच्च किंचिदजाविकम्।
तत्सर्वं प्रतिजग्राह राजा नागपुराधिपः ॥ १८ ॥

इनके अलावा वे राजा अस्त्र, मणि, मुक्ता, प्रवाल, सुवर्ण, चांदी, उत्तम गौ, उत्तम घोडे, उत्तम रथ और हाथी, गदहे, ऊंट, भैंसे, बकरे इत्यादि नाना धन भेंट लेकर उनके सामने खडे हुए। हस्तिनापुरके नाथ पाण्डुने उन सबको ले लिया ॥ १७-१८ ॥

×

तदादाय ययौ पाण्डुः पुनर्मुदितवाहनः ।
हर्षयिष्यन्स्वराष्ट्राणि पुरं च गजसाह्वयम् ॥ १९ ॥

तब उन सबको लेकर वह अति प्रसन्न हो सेनाओंके साथ अपने राज्यकी प्रजा और पुरवासियोंको आनन्द देते हुए हस्तिनापुरमें लौट गये ॥ १९ ॥

शंतनो राजसिंहस्य भरतस्य च धीमतः ।
प्रनष्टः कीर्तिजः शब्दः पाण्डुना पुनरुद्धृतः ॥ २० ॥

धीमान् भरत और राजाओंके सिंहरूपी शन्तनुकी नष्ट होती हुई कीर्तिका अब पाण्डुने फिर उद्धार किया ॥ २० ॥

ये पुरा कुरुराष्ट्राणि जह्रुः कुरुधनानि च ।
ते नागपुरसिंहेन पाण्डुना करदाः कृताः ॥ २१ ॥

जिन राजाओंने पहले कुरुवंशके धन और राज्य हर लिया था, अब हस्तिनापुरके राजा पाण्डुने उन राजाओंको कर देनेवाला बनाया ॥ २१ ॥

इत्यभाषन्त राजानो राजामात्याश्च संगताः ।
प्रतीतमनसो हृष्टाः पौरजानपदैः सह ॥ २२ ॥

इस प्रकारकी बातें राजागण, मंत्रीगण और प्रसन्न मनवाले पुरजन सब मिलकर आपसमें कर रहे थे ॥ २२ ॥

प्रत्युद्ययुस्तं संप्राप्तं सर्वे भीष्मपुरोगमाः ।
ते नदूरमिवाध्वानं गत्वा नागपुरालयाः ।
आवृतं ददृशुर्लोकं हृष्टा बहुविधैर्जनैः ॥ २३ ॥

तब पाण्डुके निकट आनेपर भीष्म आदि कौरव हृदयसे उनका स्वागत करनेको चले। वे हस्तिनापुरसे कुछ दूर जाकर राजाके साथियोंको बहुत तरहके जनोंसे घिरा देखकर प्रसन्न हुए ॥ २३ ॥

नानायानसमानीतै रत्नैरुच्चावचैस्तथा ।
हस्त्यश्वरथरत्नैश्च गोभिरुष्ट्रैरथाविकैः ।
नान्तं ददृशुरासाद्य भीष्मेण सह कौरवाः ॥ २४ ॥

नाना यानोंपर लाये गए बहुमूल्य रत्न, बडे बडे हाथी, घोडे, रथ, गाय, ऊंट तथा भेड आदि नाना धन रत्न इतने अधिक थे, कि भीष्म सहित कौरवोंने उनका अंत नहीं देखा ॥ २४ ॥

सोऽभिवाद्य पितुः पादौ कौसल्यानन्दवर्धनः ।
यथार्हं मानयामास पौरजानपदानपि ॥ २५ ॥

कोसल देशकी राजपुत्री अम्बालिकाके आनंदको बढानेवाले पांडुने अपने पिता स्वरूप भीष्मके पांव छूकर नगर तथा जनपदवासियोंका भी यथोचित सम्मान किया ॥ २५ ॥

प्रमृद्य परराष्ट्राणि कृतार्थं पुनरागतम् ।
पुत्रमासाद्य भीष्मस्तु हर्षादश्रूण्यवर्तयत् ॥ २६ ॥

शत्रुओंके राष्ट्रोंको तोडकर सफल मनोरथवाले होकर घरको लौटे हुए अपने पुत्ररूप पांडुको पाकर भीष्म आनंदसे आंसू बहाने लगे ॥ २६ ॥

स तूर्यशतसंघानां भेरीणां च महास्वनैः ।
हर्षयन्सर्वशः पौरान्विवेश गजसाह्वयम् ॥ २७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०५ ॥ ३८२२ ॥

पाण्डुने अनेक तूर्य और भोंपू आदिके घोर शब्दसे संपूर्ण पुरवासियोंको प्रसन्न कर हस्तिनापुरमें प्रवेश किया ॥ २७ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ पांचवां अध्याय समाप्त ॥ १०५ ॥ ३८२२ ॥

: १०६ :

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञातः स्वबाहुविजितं धनम् ।
भीष्माय सत्यवत्यै च मात्रे चोपजहार सः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– अनन्तर पाण्डुने धृतराष्ट्रकी आज्ञा लेकर अपने भुजबलसे प्राप्त किये हुए धनको भीष्म, सत्यवती और माता अम्बालिकाको भेंटमें दे दिया ॥ १ ॥

विदुराय च वै पाण्डुः प्रेषयामास तद्धनम् ।
सुहृदश्चापि धर्मात्मा धनेन समतर्पयत् ॥ २ ॥

पाण्डुने कुछ धन विदुरके पास भी भेजा और उस धर्मात्मा पाण्डुने आत्मजनोंको भी धनसे सन्तुष्ट किया ॥ २ ॥

ततः सत्यवतीं भीष्मः कौसल्यां च यशस्विनीम् ।
शुभैः पाण्डुजितै रत्नैस्तोषयामास भारत ॥ ३ ॥

हे भारत ! भीष्मने पाण्डुके द्वारा जीत कर लाये हुए नाना रत्नोंसे सत्यवती और यशस्विनी कौसल्याको प्रसन्न किया ॥ ३ ॥

ननन्द माता कौसल्या तमप्रतिमतेजसम् ।
जयन्तमिव पौलोमी परिष्वज्य नरर्षभम् ॥ ४ ॥

शची जिस प्रकार जयन्तको गलेसे लगाकर सुखको प्राप्त करती है, वैसे ही कौसल्याने अतुल तेजस्वी नरश्रेष्ठ पाण्डुको गले लगा करके आनन्द पाया ॥ ४ ॥

तस्य वीरस्य विक्रान्तैः सहस्रशतदक्षिणैः ।
अश्वमेधशतैरीजे धृतराष्ट्रो महामखैः ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्रने वीरवर पाण्डुके बलार्जित धनसे सैंकडों सहस्रों दक्षिणावाले सैंकडों अश्वमेध यज्ञ तथा अन्य महायज्ञ किए ॥ ५ ॥

संप्रयुक्तश्च कुन्त्या च माद्र्या च भरतर्षभ ।
जिततन्द्रीस्तदा पाण्डुर्बभूव वनगोचरः ॥ ६ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! आलस्यको जीते हुए पाण्डु, कुन्ती और माद्रीके साथ संयुक्त होकर वनमें जा बसे ! ॥ ६ ॥

हित्वा प्रासादनिलयं शुभानि शयनानि च ।
अरण्यनित्यः सततं बभूव मृगयापरः ॥ ७ ॥

वह पाण्डु सुखदायी भवन और कोमल बिस्तर छोडकर वनमें सदा रहते हुए शिकार खेलने लगे ॥ ७ ॥

स चरन्दक्षिणं पार्श्वं रम्यं हिमवतो गिरेः ।
उवास गिरिपृष्ठेषु महाशालवनेषु च ॥ ८ ॥

वह हिमालय पहाडके सुन्दर दाहिने भागमें घूमघाम कर बडे बडे साल वनोंसे शोभित पहाडकी चोटी पर रहने लगे ॥ ८ ॥

रराज कुन्त्या माद्र्या च पाण्डुः सह वने वसन् ।
करेण्वोरिव मध्यस्थः श्रीमान्पौरन्दरो गजः ॥ ९ ॥

श्रीमान् पाण्डु, कुन्ती और माद्रीके संग वनमें रहते हुए दो हथनियोंके बीचमें इन्द्रके हाथी ऐरावतके समान शोभा पाने लगे ॥ ९ ॥

भारतं सह भार्याभ्यां बाणखड्गधनुर्धरम् ।
विचित्रकवचं वीरं परमास्त्रविदं नृपम् ।
देवोऽयमित्यमन्यन्त चरन्तं वनवासिनः ॥ १० ॥

दो स्त्रियां साथ लिये, खड्ग, वाण और धनुष धारे हुए, परमास्त्र चलानेमें दक्ष, विचित्र कवचसे सुशोभित, विचरते हुए पाण्डुको देख करके वनवासी लोग देवता समझने लगे ॥ १० ॥

तस्य कामांश्च भोगांश्च नरा नित्यमतन्द्रिताः ।
उपजह्रुर्वनान्तेषु धृतराष्ट्रेण चोदिताः ॥ ११ ॥

धृतराष्ट्रकी आज्ञासे मनुष्यगण सदा आलस्यसे रहित होकर वनमें उनके लिये कामना और भोगकी सामग्री पहुंचाने लगे ॥ ११ ॥

अथ पारशवीं कन्यां देवकस्य महीपतेः ।
रूपयौवनसंपन्नां स शुश्रावापगासुतः ॥ १२ ॥

इधर गङ्गापुत्र भीष्मने सुना, कि महीपाल देवकके शूद्राणीके गर्भसे जन्मी हुई रूप और यौवनयुक्त एक कन्या है ॥ १२ ॥

ततस्तु वरयित्वा तामानाय्य पुरुषर्षभः ।
विवाहं कारयामास विदुरस्य महामतेः ॥ १३ ॥

तब पुरुषोंमें श्रेष्ठ उन्होंने राजा देवकसे मांगकर वह कन्या ला करके महामति विदुरका विवाह कर दिया ॥ १३ ॥

तस्यां चोत्पादयामास विदुरः कुरुनन्दनः ।
पुत्रान्विनयसंपन्नानात्मनः सदृशान्गुणैः ॥ १४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि षडधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०६ ॥ ३८३६ ॥

कुरुनन्दन विदुरने उस कन्यासे अपने समान गुण और नम्रतासे युक्त अनेक पुत्रोंको उत्पन्न किया ॥ १४ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ छठवां अध्याय समाप्त ॥ १०६ ॥ ३८३६ ॥

: १०७ :

वैशंपायन उवाच

ततः पुत्रशतं जज्ञे गान्धार्यां जनमेजय ।
धृतराष्ट्रस्य वैश्यायामेकश्चापि शतात्परः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे जनमेजय ! इसके बाद धृतराष्ट्रके वीर्य और गन्धारीके गर्भसे सौ पुत्र और वैश्याके गर्भसे एक और पुत्रने जन्म लिया ॥ १ ॥

पाण्डोः कुन्त्यां च माद्र्यां च पञ्च पुत्रा महारथाः ।
देवेभ्यः समपद्यन्त सन्तानाय कुलस्य वै ॥ २ ॥

और पाण्डुके वंशकी रक्षाके लिये देवोंने कुंती और माद्रीके गर्भसे महारथी पांच पुत्र उत्पन्न किये ॥ २ ॥

जनमेजय उवाच

कथं पुत्रशतं जज्ञे गान्धार्यां द्विजसत्तम।
कियता चैव कालेन तेषामायुश्च किं परम् ॥ ३ ॥

जनमेजयने पूछा– हे द्विजश्रेष्ठ! गांधारीके गर्भसे कैसे और कितने दिनोंमें सौ पुत्र उत्पन्न हुए? उनकी आयु कितनी थी ॥ ३ ॥

कथं चैकः स वैश्यायां धृतराष्ट्रसुतोऽभवत्।
कथं च सदृशीं भार्यां गन्धारीं धर्मचारिणीम्।
आनुकूल्ये वर्तमानां धृतराष्ट्रोऽत्यवर्तत ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्रने वैश्याके गर्भसे क्यों एक पुत्रको उत्पन्न किया? गांधारीके पतिव्रता और अपने पतिके अनुकूल आचरण करनेवाली होने पर भी धृतराष्ट्रने अपनी पत्नीका अतिक्रमण क्यों किया? ॥ ४ ॥

कथं च शप्तस्य सतः पाण्डोस्तेन महात्मना।
समुत्पन्ना दैवतेभ्यः पुत्राः पञ्च महारथाः ॥ ५ ॥

महात्मा मृगरूपी मुनिके शाप देनेपर भी देवोंसे पाण्डुके पांच महारथी पुत्र कैसे उत्पन्न हुए ॥ ५ ॥

एतद्विद्वन्यथावृत्तं विस्तरेण तपोधन।
कथयस्व न मे तृप्तिः कथ्यमानेषु बन्धुषु ॥ ६ ॥

हे विद्वन् तपोधन! यह सब कथा विस्तृत रूपसे यथारीतिसे कहिये, अपने कुलका चरित्र सुनकर मैं तृप्त नहीं हूं ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

क्षुच्छ्रमाभिपरिग्लानं द्वैपायनमुपस्थितम्।
तोषयामास गान्धारी व्यासस्तस्यै वरं ददौ ॥ ७ ॥

वैशम्पायन बोले– एक समय भगवान् द्वैपायनके भूख और थकावटसे कातर होकर गांधारीके पास आने पर गांधारीने उनको संतुष्ट किया था; तब व्यासने गांधारीको वर दिया ॥ ७ ॥

सा वव्रे सदृशं भर्तुः पुत्राणां शतमात्मनः।
ततः कालेन सा गर्भं धृतराष्ट्रादथाग्रहीत् ॥ ८ ॥

गांधारीने यह वर मांगा कि उसके पतिसे पतिके समान ही सौ पुत्र हों। अनन्तर गांधारी योग्य कालमें धृतराष्ट्रसे गर्भवती हुई ॥ ८ ॥

संवत्सरद्वयं तं तु गान्धारी गर्भमाहितम् ।
अप्रजा धारयामास ततस्तां दुःखमाविशत् ॥ ९ ॥

स्थापित किए गर्भको गांधारी दो वर्षतक विना कुछ प्रसूत किए धारण किए रही, (उस पर भी कुछ प्रसूत न हुआ देखकर) वह वडी दुःखी हो गई ॥ ९ ॥

श्रुत्वा कुन्तीसुतं जातं बालार्कसमतेजसम् ।
उदरस्यात्मनः स्थैर्यमुपलभ्यान्वचिन्तयत् ॥ १० ॥

तब यह सुन कर कि कुंतीके बालसूर्यके समान पुत्र हुए हैं, अपने गर्भको स्थिर देखकर विचारमें पड गई ॥ १० ॥

अज्ञातं धृतराष्ट्रस्य यत्नेन महता ततः ।
सोदरं पातयामास गान्धारी दुःखमूर्च्छिता ॥ ११ ॥

तब दुःखसे मूर्च्छित होकर उसने धृतराष्ट्रके न जानते हुए बडे यत्नपूर्वक अपने गर्भको गिरा दिया ॥ ११ ॥

ततो जज्ञे मांसपेशी लोहाष्ठीलेव संहता ।
द्विवर्षसंभृतां कुक्षौ तामुत्स्रष्टुं प्रचक्रमे ॥ १२ ॥

उससे दो वर्षका वह गर्भ कटी हुई लोहेकी गेंदके समान मांस पिण्डके रूपमें भूमिपर गिरा और गांधारी उसे त्यागनेके लिए तैय्यार हुई ॥ १२ ॥

अथ द्वैपायनो ज्ञात्वा त्वरितः समुपागमत् ।
तां स मांसमयीं पेशीं ददर्श जपतां वरः ॥ १३ ॥

जपनेवालोंमें श्रेष्ठ द्वैपायनने उस बातको जानकर तुरन्त वहां पहुंच करके उस मांसपेशी-को देखा ॥ १३ ॥

ततोऽब्रवीत्सौबलेयीं किमिदं ते चिकीर्षितम् ।
सा चात्मनो मतं सत्यं शशंस परमर्षये ॥ १४ ॥

और तब सुबलराजकी कन्या गांधारीसे बोले– तुम यह क्या करनेको उद्यत हुई हो । गांधारीने महर्षिसे अपनी यह सच्ची इच्छा प्रगट कर दी ॥ १४ ॥

ज्येष्ठं कुन्तीसुतं जातं श्रुत्वा रविसमप्रभम् ।
दुःखेन परमेणेदमुदरं पातितं मया ॥ १५ ॥

कुन्तीके सूर्यके समान प्रकाशमान् एक ज्येष्ठ पुत्र उत्पन्न हुआ सुनकर अति दुःखसे मैंने गर्भ गिरा दिया है ॥ १५ ॥

शतं च किल पुत्राणां वितीर्णं मे त्वया पुरा।
इयं च मे मांसपेशी जाता पुत्रशताय वै ॥ १६ ॥

आपने पहिले मुझको वर दिया था, कि सौ पुत्र उत्पन्न होंगे, अब सौ पुत्रोंके बदले यह मांसपेशी पैदा हुई है ॥ १६ ॥

व्यास उवाच

एवमेतत्सौबलेयि नैतज्जात्वन्यथा भवेत्।
वितथं नोक्तपूर्वं मे स्वैरेष्वपि कुतोऽन्यथा ॥ १७ ॥

व्यास बोले– हे सुबलपुत्री ! जो कहा था, सोही होगा, कदापि बात मिथ्या नहीं होगी। हँसीमें भी मैंने कभी पहले झूठी बात नहीं कही है, फिर यह बात मिथ्या कैसे हो सकती है ॥ १७ ॥

घृतपूर्णं कुण्डशतं क्षिप्रमेव विधीयताम्।
शीताभिरद्भिरष्ठीलामिमां च परिषिञ्चत ॥ १८ ॥

अब घृतसे सौ घडे भरकर जल्दी ही तैय्यार करो और ठण्डे जलसे इस मांसपेशीको नहलाओ ॥ १८ ॥

वैशंपायन उवाच

सा सिच्यमाना अष्ठीला अभवच्छतधा तदा।
अङ्गुष्ठपर्वमात्राणां गर्भाणां पृथगेव तु ॥ १९ ॥

वैशम्पायन बोले– तब नहलाते नहलाते उस मांसपेशीके सौ टुकडे हो गए और प्रत्येक भाग अंगूठेके पोरके समान था ॥ १९ ॥

एकाधिकशतं पूर्णं यथायोगं विशां पते।
मांसपेश्यास्तदा राजन्क्रमशः कालपर्ययात् ॥ २० ॥

हे प्रजापालक राजन् ! समयके आनेपर क्रमशः उस मांस पिण्डके एक सौ एक टुकडे पूर्ण हो गए ॥ २० ॥

ततस्तांस्तेषु कुण्डेषु गर्भानवदधे तदा।
स्वनुगुप्तेषु देशेषु रक्षां च व्यदधात्ततः ॥ २१ ॥

तब वह मांसपेशियां घीसे भरे घडोंमें रखकर भले अच्छे गुप्त स्थानमें भली भांति रख दी गईं ॥ २१ ॥

शशास चैव भगवान्कालेनैतावता पुनः ।
विघट्टनीयान्येतानि कुण्डानीति स्म सौबलीम् ॥ २२ ॥

भगवान् व्यास तब सुवलकन्यासे बोले— इतने समयके ही अर्थात् दो वर्ष बाद यह सब घडे खोलना ॥ २२ ॥

इत्युक्त्वा भगवान्व्यासस्तथा प्रतिविधाय च ।
जगाम तपसे धीमान्हिमवन्तं शिलोच्चयम् ॥ २३ ॥

धीमान् भगवान् द्वैपायन यह कहकर वह सब गर्भ स्थापन कराके फिर तपके लिये ऊंची ऊंची चट्टानोंवाले हिमाचलको चले गए ॥ २३ ॥

जज्ञे क्रमेण चैतेन तेषां दुर्योधनो नृपः ।
जन्मतस्तु प्रमाणेन ज्येष्ठो राजा युधिष्ठिरः ॥ २४ ॥

इसके बाद योग्यकालमें उन टुकडोंमेंसे पहिले राजा दुर्योधनका जन्म हुआ, पर राजा युधिष्ठिर पहिले जन्म लेनेके कारण ज्येष्ठ थे ॥ २४ ॥

जातमात्रे सुते तस्मिन्धृतराष्ट्रोऽब्रवीदिदम् ।
समानीय बहून्विप्रान्भीष्मं विदुरमेव च ॥ २५ ॥

हे महाराज ! उस पुत्रके उत्पन्न होते ही राजा धृतराष्ट्र भीष्म, विदुर और बहुतसे ब्राह्मणोंको बुलवाकर बोले ॥ २५ ॥

युधिष्ठिरो राजपुत्रो ज्येष्ठो नः कुलवर्धनः ।
प्राप्तः स्वगुणतो राज्यं न तस्मिन्वाच्यमस्ति नः ॥ २६ ॥

हमारे वंश बढानेवाले राजपुत्र युधिष्ठिर ज्येष्ठ हैं, अतः वह अपने ही गुणसे राज्यको पानेके अधिकारी हैं, उस विषयमें मुझे कुछ कहना नहीं है ॥ २६ ॥

अयं त्वनन्तरस्तस्मादपि राजा भविष्यति ।
एतद्धि ब्रूत मे सत्यं यदत्र भविता ध्रुवम् ॥ २७ ॥

पर मेरे इस पुत्रने युधिष्ठिरके बाद जन्म लिया है, उससे क्या यह कुमार राजा हो सकेगा ? इस विषयमें जो ठीक हो, वह आप मुझसे सच सच कहिये ॥ २७ ॥

वाक्यस्यैतस्य निधने दिक्षु सर्वासु भारत ।
क्रव्यादाः प्राणदन्घोराः शिवा[illegible]मांसिनः ॥ २८ ॥

हे भारत ! इस बातके कहे जानेपर सभी [illegible]यार और मांस [illegible] जंतु अमङ्गलकारी शब्द मचाने लगे ॥

लक्षयित्वा निमित्तानि तानि घोराणि सर्वशः ।
तेऽब्रुवन्ब्राह्मणा राजन्विदुरश्च महामतिः ॥ २९ ॥
व्यक्तं कुलान्तकरणो भवितैष सुतस्तव ।
तस्य शान्तिः परित्यागे पुष्ट्या त्वपनयो महान् ॥ ३० ॥

चारों ओर यह सब अमङ्गल चिह्न देख करके ब्राह्मणगण और महामति विदुर धृतराष्ट्रसे बोले– यह स्पष्ट है कि आपका यह पुत्र कुलको समाप्त करनेवाला होगा, इसको त्याग देनेहीसे कुलकी शांति हो सकती है अन्यथा यदि आप इसका पोषण करेंगे, तो बहुत आपत्तिकारक होगा ॥ २९-३० ॥

शतमेकोनमप्यस्तु पुत्राणां ते महीपते ।
एकेन कुरु वै क्षेमं लोकस्य च कुलस्य च ॥ ३१ ॥

हे महीपाल! आपके निन्यानव्वे पुत्र तो बचेंगे, आप एकको छोडकर इस वंश और जगत्का हित कीजिये ॥ ३१ ॥

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥ ३२ ॥

हे महाराज ! कहा है, कि कुलकी रक्षाके लिये एकको त्याग दे, ग्रामकी भलाईके लिये कुलको त्याग दे, देशकी भलाईके लिये ग्रामको त्याग दे और आत्माके लिये पृथ्वीको त्याग देवे ॥ ३२ ॥

स तथा विदुरेणोक्तस्तैश्च सर्वैर्द्विजोत्तमैः ।
न चकार तथा राजा पुत्रस्नेहसमन्वितः ॥ ३३ ॥

उन सब द्विजों और विदुरके ऐसा कहने पर भी राजा धृतराष्ट्रने पुत्रके स्नेहमे उनकी बात नहीं मानी ॥ ३३ ॥

ततः पुत्रशतं सर्वं धृतराष्ट्रस्य पार्थिव ।
मासमात्रेण संजज्ञे कन्या चैका शताधिका ॥ ३४ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! अनन्तर महीने भरमें धृतराष्ट्रके सौ पुत्र और एक सौ एकवें कन्याने जन्म लिया ॥ ३४ ॥

गान्धार्यां क्लिश्यमानायामुदरेण विवर्धता ।
धृतराष्ट्रं महाबाहुं वैश्या पर्यचरत्किल ॥ ३५ ॥

गांधारी जब बढते हुए गर्भकी पीडासे कातर थी, उस समय उस महाबाहु धृतराष्ट्रकी सेवा एक वैश्या अर्थात् वैश्य जातिकी एक स्त्री करती थी ॥ ३५ ॥

तस्मिन्संवत्सरे राजन्धृतराष्ट्रान्महायशाः ।
जज्ञे धीमांस्ततस्तस्यां युयुत्सुः करणो नृप ॥ ३६ ॥

उसी वर्ष, हे राजन् ! उस वैश्याके गर्भसे धृतराष्ट्रने अतियशस्वी और धीमान् युयुत्सु नामक एक करण पुत्र उत्पन्न किया (वैश्याके गर्भ और क्षत्रियके वीर्यसे जन्म लेनेके हेतु वह पुत्र करण कहा गया है) ॥ ३६ ॥

एवं पुत्रशतं जज्ञे धृतराष्ट्रस्य धीमतः ।
महारथानां वीराणां कन्या चैकाथ दुःशला ॥ ३७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सप्ताधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०७ ॥ ३८७३ ॥

इस प्रकार धीमान् धृतराष्ट्रसे महारथी वीर सौ पुत्र और एक कन्या दुःशला उत्पन्न हुई ॥ ३७ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ सातवां अध्याय समाप्त ॥ १०७ ॥ ३८७३ ॥

: १०८ :

जनमेजय उवाच

ज्येष्ठानुज्येष्ठतां तेषां नामधेयानि चाभिभो ।
धृतराष्ट्रस्य पुत्राणामानुपूर्व्येण कीर्तय ॥ १ ॥

जनमेजय बोले– धृतराष्ट्रके बडे छोटेके क्रमसे सब लडकोंके और हरेकका अलग नाम आद्योपांत कहिये ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

दुर्योधनो युयुत्सुश्च राजन्दुःशासनस्तथा ।
दुःसहो दुःशलश्चैव जलसन्धः समः सहः ॥ २ ॥

वैशम्पायन बोले– हे महाराज ! दुर्योधन, युयुत्सु, दुःशासन तथा दुःसह, दुःशल, जलसन्ध, सम, सह ॥ २ ॥

विन्दानुविन्दौ दुर्धर्षः सुबाहुर्दुष्प्रधर्षणः ।
दुर्मर्षणो दुर्मुखश्च दुष्कर्णः कर्ण एव च ॥ ३ ॥

विंद, अनुविंद, दुर्धर्ष, सुबाहु, दुष्प्रधर्षण, दुर्मर्षण और दुर्मुख, दुष्कर्ण और कर्ण ॥ ३ ॥

विविंशतिर्विकर्णश्च जलसंधः सुलोचनः ।
चित्रोपचित्रौ चित्राक्षश्चारुचित्रः शरासनः ॥ ४ ॥

विविंशति, विकर्ण, जलसंध, सुलोचन, चित्र, उपचित्र, चित्राक्ष, चारुचित्र, शरासन ॥४॥

दुर्मदो दुष्प्रगाहश्च विवित्सुर्विकटः समः ।
ऊर्णनाभः सुनाभश्च तथा नन्दोपनन्दकौ ॥ ५ ॥

दुर्मद, दुष्प्रगाह, विवित्सु, विकट, सम, ऊर्णनाभ, सुनाभ तथा नंद, उपनन्द ॥ ५ ॥

सेनापतिः सुषेणश्च कुण्डोदरमहोदरौ।
चित्रबाणश्चित्रवर्मा सुवर्मा दुर्विमोचनः ॥ ६ ॥

सेनापति, सुषेण, कुण्डोदर महोदर, चित्रबाण, चित्रवर्मा, सुवर्मा, दुर्विमोचन ॥ ६ ॥

अयोबाहुर्महाबाहुश्चित्राङ्गश्चित्रकुण्डलः ।
भीमवेगो भीमबलो बलाकी बलवर्धनः ॥ ७ ॥

अयोबाहु, महाबाहु, चित्रांग, चित्रकुण्डल, भीमवेग, भीमबल, बलाकी, बलवर्धन ॥ ७ ॥

उग्रायुधो भीमकर्मा कनकायुर्दृढायुधः ।
दृढवर्मा दृढक्षत्रः सोमकीर्तिरनूदरः ॥ ८ ॥

उग्रायुध, भीमकर्मा, कनकायुः, दृढायुध, दृढवर्मा, दृढक्षत्र, सोमकीर्ति, अनूदर ॥ ८ ॥

दृढसन्धो जरासन्धः सत्यसन्धः सदःसुवाक् ।
उग्रश्रवा अश्वसेनः सेनानीर्दुष्पराजयः ॥ ९ ॥

दृढसन्ध, जरासन्ध, सत्यसन्ध, सदःसुवाक्, उग्रश्रवा, अश्वसेन, सेनानी, दुष्पराजय ॥९॥

अपराजितः पण्डितको विशालाक्षो दुरावरः ।
दृढहस्तः सुहस्तश्च वातवेगसुवर्चसौ ॥ १० ॥

अपराजित, पण्डितक, विशालाक्ष, दुरावर, दृढहस्त, सुहस्त, वातवेग, सुवर्चे ॥ १० ॥

आदित्यकेतुर्बह्वाशी नागदन्तोग्रयायिनौ ।
कवची निषङ्गी पाशी च दण्डधारो धनुर्ग्रहः ॥ ११ ॥

आदित्यकेतु, बह्वाशी, नागदन्त, उग्रयायी, कवची, निषंगी, पाशी, दण्डधार, धनुग्रह ॥११॥

उग्रो भीमरथो वीरो वीरबाहुरलोलुपः ।
अभयो रौद्रकर्मा च तथा दृढरथस्त्रयः ॥ १२ ॥

उग्र, भीमरथ, वीरबाहु, अलोलुप, अभय, रौद्रकर्मा और दृढरथ ये तीन ॥ १२ ॥

अनाधृष्यः कुण्डभेदी विरावी दीर्घलोचनः ।
दीर्घबाहुर्महाबाहुर्व्यूढोरुः कनकध्वजः ॥ १३ ॥

अनाधृष्य, कुण्डभेदी, विरावी, दीर्घलोचन, दीर्घबाहु, महाबाहु, व्यूढोरु, कनकध्वज ॥ १३ ॥

कुण्डाशी विरजाश्चैव दुःशला च शताधिका ।
एतदेकशतं राजन्कन्या चैका प्रकीर्तिता ॥ १४ ॥

कुण्डाशी, विरजा, यह सौ पुत्र और एकसौ एकवीं कन्या दुःशला है। महाराज ! धृतराष्ट्रके सौ पुत्रोंके और सौके अतिरिक्त कन्या दुःशलाका नाम यह कह चुका ॥ १४ ॥

नामधेयानुपूर्व्येण विद्धि जन्मक्रमं नृप ।
सर्वे त्वतिरथाः शूराः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ १५ ॥
सर्वे वेदविदश्चैव राजशास्त्रेषु कोविदाः ।
सर्वे संसर्गविद्यासु विद्याभिजनशोभिनः ॥ १६ ॥

हे महाराज ! इन नामोंके क्रमके अनुसार इनके जन्मका क्रम भी जानना । वे सबके सब महारथी शूर, युद्धमें दक्ष, वेदमें पंडित और सब राजशास्त्रमें निपुण थे सभी संसर्ग अर्थात् सृष्टि विषयक जो ज्ञान विज्ञान था, सभीमें कुशल थे ॥ १५-१६ ॥

सर्वेषामनुरूपाश्च कृता दारा महीपते ।
धृतराष्ट्रेण समये समीक्ष्य विधिवत्तदा ॥ १७ ॥

हे महीपाल ! धृतराष्ट्रने परीक्षा द्वारा योग्य कन्याओंका निश्चयकर उचित समयमें यथारीति उन सबोंका विवाह कर दिया ॥ १७ ॥

दुःशलां समये राजा सिन्धुराजाय भारत ।
जयद्रथाय प्रददौ सौबलानुमते तदा ॥ १८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अष्टाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०८ ॥ ३८९१ ॥

हे भरतकुल प्रदीप ! अनन्तर धृतराष्ट्रने योग्य कालमें सौबलकी अनुमतिसे सिन्धुराज जयद्रथको दुःशला नामकी कन्या सम्प्रदान कर दी ॥ १८ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एक सौ आठवां अध्याय समाप्त ॥ १०८ ॥ ३८९१ ॥

: १०९ :

जनमेजय उवाच

कथितो धार्तराष्ट्राणामार्षः संभव उत्तमः।
अमानुषो मानुषाणां भवता ब्रह्मवित्तम ॥ १ ॥

जनमेजय बोले– हे ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ! मनुष्य धृतराष्ट्रके पुत्रोंके श्रेष्ठ अमानुष अर्थात् अलौकिक आर्ष जन्मकी कथा आप कह चुके ॥ १ ॥

नामधेयानि चाप्येषां कथ्यमानानि भागशः।
त्वत्तः श्रुतानि मे ब्रह्मन्पाण्डवानां तु कीर्तय ॥ २ ॥

और उनके अलग अलग नाम भी कह चुके हैं। हे ब्राह्मण! वह सब आपसे सुन लिया है, अब पांडवोंके चरित्रकी कथा कहिये ॥ २ ॥

ते हि सर्वे महात्मानो देवराजपराक्रमाः।
त्वयैवांशावतरणे देवभागाः प्रकीर्तिताः ॥ ३ ॥

आपने वंशोंके अवतरणमें कहा है, कि पांडवगण सब महात्मा तथा इन्द्रके समान पराक्रमी थे और उन्होंने देवोंके अंशोंसे जन्म लिया था ॥ ३ ॥

तस्मादिच्छाम्यहं श्रोतुमतिमानुषकर्मणाम्।
तेषामाजननं सर्वं वैशम्पायन कीर्तय ॥ ४ ॥

इसलिये मैं उन अलौकिक कर्म करनेवाले पांडवोंकी जन्मसे लेकर आद्योपांत संपूर्ण कथा सुनना चाहता हूं, हे वैशम्पायन! आप कहिये ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

राजा पाण्डुर्महारण्ये मृगव्यालनिषेविते।
वने मैथुनकालस्थं ददर्श मृगयूथपम् ॥ ५ ॥

वैशम्पायन बोले– महाराज! राजा पांडुने मृगव्यालोंसे भरे एक बडे वनमें मैथुनकालमें आसक्त एक यूथपति मृगको देखा ॥ ५ ॥

ततस्तां च मृगीं तं च रुक्मपुङ्खैः सुपत्रिभिः।
निर्बिभेद शरैस्तीक्ष्णैः पाण्डुः पञ्चभिराशुगैः ॥ ६ ॥

तब उन्होंने सोनेकी पूंछसे सुशोभित सुंदर पंखवाले नोकदार और तेज चलनेवाले पांच बाणोंसे उस मृग और मृगीको विद्ध किया ॥ ६ ॥

स च राजन्महातेजा ऋषिपुत्रस्तपोधनः ।
भार्यया सह तेजस्वी मृगरूपेण संगतः ॥ ७ ॥

हे महाराज ! कोई बडे तेजस्वी तपोधन ऋषिकुमार मृगका स्वरूप लेकर स्त्रीके साथ उस प्रकारसे समागम कर रहे थे ॥ ७ ॥

संसक्तस्तु तया मृग्या मानुषीमीरयन्गिरम् ।
क्षणेन पतितो भूमौ विललापाकुलेन्द्रियः ॥ ८ ॥

वह उस मृगीसे लिपटे हुए थे कि उसी समय बाणाघातसे क्षण भरमें धरतीपर गिरकर विकल-चित्तसे मनुष्यकी वाणीमें पांडुसे बोले ॥ ८ ॥

मृग उवाच

काममन्युपरीतापि बुद्ध्यङ्गरहितापि च ।
वर्जयन्ति नृशंसानि पापेष्वभिरता नराः ॥ ९ ॥

काम क्रोधयुक्त, हीनबुद्धि और सदा पापमें रत जन भी ऐसा निष्ठुर कार्य नहीं करते ॥९॥

न विधिं ग्रसते प्रज्ञा प्रज्ञां तु ग्रसते विधिः ।
विधिपर्यागतानर्थान्प्रज्ञा न प्रतिपद्यते ॥ १० ॥

पर मानवी बुद्धि दैवका पार नहीं पा सकती, दैव ही मानवी बुद्धिसे बढा चढा होता है, इसलिये दैवी विषयको बुद्धिमान् जन भी समझ नहीं सकते ॥ १० ॥

शश्वद्धर्मात्मनां मुख्ये कुले जातस्य भारत ।
कामलोभाभिभूतस्य कथं ते चलिता मतिः ॥ ११ ॥

हे भारत ! तुम सदासे धर्मयुक्त प्रधान वंशमें जन्म लेकर क्यों काम लोभसे अभिभूत हुए, और क्यों तुम्हारा चित्त ऐसा डगमगाया ? ॥ ११ ॥

पाण्डुरुवाच

शत्रूणां या वधे वृत्तिः सा मृगाणां वधे स्मृता ।
राज्ञां मृग न मां मोहात्त्वं गर्हयितुमर्हसि ॥ १२ ॥

पाण्डु बोले– हे मृग ! राजालोगोंकी शत्रुनाशनमें जैसी वृत्ति होती है, मृग वेधनेमें भी वैसी ही वृत्ति होती है, इसलिये तुम्हें मोहसे मुझ पर ऐसा लाञ्छन नहीं लगाना चाहिये ॥१२॥

अच्छद्मनामायया च मृगाणां वध इष्यते ।
स एव धर्मो राज्ञां तु तद्विद्वान्किं नु गर्हसे ॥ १३ ॥

छिपकर और कौशलसे मृगका वध करना चाहिए, यही राजाओंका धर्म है; तुम फिर विद्वान् होते हुए भी इस विषयमें मेरी निन्दा क्यों कर रहे हो ? ॥ १३ ॥

अगस्त्यः सत्रमासीनश्चचार मृगयामृषिः ।
आरण्यान्सर्वदैवत्यान्मृगान्प्रोक्ष्य महावने ॥ १४ ॥

ऋषि अगस्त्यने यज्ञकर सम्पूर्ण वनमें सब देवोंके लिए सम्पूर्ण मृगोंका प्रोक्षण कर मृगया की थी ॥ १४ ॥

प्रमाणदृष्टधर्मेण कथमस्मान्विगर्हसे ।
अगस्त्यस्याभिचारेण युष्माकं वै वपा हुता ॥ १५ ॥

उन्होंने अभिचार कर्मके लिये तुम्हारी वपा-चर्बीसे हवन किया था; अतः प्रमाणित धर्मके अनुसार तुम मुझसे मारे गये हो, फिर क्यों हमारी निन्दा कर रहे हो? ॥ १५ ॥

मृग उवाच

न रिपून्वै समुद्दिश्य विमुञ्चन्ति पुरा शरान् ।
रन्ध्र एषां विशेषेण वधकालः प्रशस्यते ॥ १६ ॥

मृग बोला– मनुष्यलोग शत्रुको भलीभांति न देखकर पहले ही बाण नहीं चलाते, विशेष जिस समय शत्रुसे अपराध होता है, वही समय शत्रुको मारनेका सुन्दर अवसर होताहै ॥ १६ ॥

पाण्डुरुवाच

प्रमत्तमप्रमत्तं वा विवृतं घ्नन्ति चौजसा ।
उपायैरिषुभिस्तीक्ष्णैः कस्मान्मृग विगर्हसे ॥ १७ ॥

पाण्डु बोले– हे मृग ! मृग प्रमत्त हों वा अप्रमत्त ही हों, लोग नाना तीक्ष्ण बाणोंसे खुले रूपमें उनका वध करते हैं, अतएव तुम फिर मेरी क्यों निन्दा करते हो ? ॥ १७ ॥

मृग उवाच

नाहं घ्नन्तं मृगान्राजन्विगर्हे आत्मकारणात् ।
मैथुनं तु प्रतीक्ष्यं मे स्यात्त्वयेहानृशंसतः ॥ १८ ॥

मृग बोला– महाराज ! तुमने अपने लिए मृग मारा है, इसलिये तुम्हारी निन्दा नहीं करता ! पर तुमको इस समय निष्ठुर व्यवहार न कर मेरे मैथुनकालतक ठहरे रहना चाहिये था ॥ १८ ॥

सर्वभूतहिते काले सर्वभूतेप्सिते तथा ।
को हि विद्वान्मृगं हन्याच्चरन्तं मैथुनं वने ।
पुरुषार्थफलं कान्तं तु यत्त्वया वितथं कृतम् ॥ १९ ॥

सर्वभूतोंके प्रिय और सर्वभूतोंके हितयुक्त ऐसे समयमें क्या कोई भी विद्वान् जन वनमें मैथुन करते हुए मृगका वध कर सकता है ? तुमने मेरे पुरुषार्थके सुन्दर फलको व्यर्थ कर दिया ॥ १९ ॥

पौरवाणामृषीणां च तेषामक्लिष्टकर्मणाम् ।
वंशे जातस्य कौरव्य नानुरूपमिदं तव ॥ २० ॥

हे कुरुवंशमें उत्पन्न राजन् ! तुमने शुद्ध कर्म करनेवाले पौरव ऋषियोंके वंशमें जन्म लिया है, इसलिये यह कार्य तुम्हारे योग्य नहीं है ॥ २० ॥

नृशंसं कर्म सुमहत्सर्वलोकविगर्हितम् ।
अस्वर्ग्यमयशस्यं च अधर्मिष्ठं च भारत ॥ २१ ॥

हे भारत ! यह बडा निष्ठुर कर्म स्वर्गनाशी, यशनाशी, धर्मनाशी और सब लोकोंके द्वारा निन्दनीय है ॥ २१ ॥

स्त्रीभोगानां विशेषज्ञः शास्त्रधर्मार्थतत्त्ववित् ।
नार्हस्त्वं सुरसंकाश कर्तुमस्वर्ग्यमीदृशम् ॥ २२ ॥

हे देवोपम ! स्त्री भोगोंके विषयमें जाननेवाले, धर्मार्थ तत्त्वोंके जाननेवाले और स्त्रीसे मिलनके सुखको अनुभव करनेवाले होकरके भी तुमने जो यह स्वर्गनाशी कार्य किया है, वह तुम्हारे योग्य नहीं हुआ है ॥ २२ ॥

त्वया नृशंसकर्तारः पापाचाराश्च मानवाः ।
निग्राह्याः पार्थिवश्रेष्ठ त्रिवर्गपरिवर्जिताः ॥ २३ ॥

हे नरेशोंमें श्रेष्ठजन ! जो सब लोग निष्ठुर कार्य करनेवाले पापाचारी और धर्मार्थ कामसे रहित होते हैं, तुम्हें उनको दण्ड देना चाहिये ॥ २३ ॥

किं कृतं ते नरश्रेष्ठ निघ्नतो मामनागसम् ।
मुनिं मूलफलाहारं मृगवेषधरं नृप ।
वसमानमरण्येषु नित्यं शमपरायणम् ॥ २४ ॥
त्वयाहं हिंसितो यस्मात्तस्मात्त्वामप्यसंशयम् ।
द्वयोर्नृशंसकर्तारमवशं काममोहितम् ।
जीवितान्तकरो भाव एवमेवागमिष्यति ॥ २५ ॥

हे महाप्राज्ञ ! मृगके स्वरूपमें फल मूल पर जीनेवाले, जंगलमें रहनेवाले, सदा शमपरायण निरपराध मुझ मुनिको मार कर तुमने कौनसा बडा लाभ उठाया ? चूंकि तुमने मुझे मारा है, अतः तुमने जिस प्रकार हम स्त्री पुरुषको मार दिया है उसी प्रकार जब स्वयं कामयुक्त होकर विवश होओगे, तब तुम भी ऐसी ही जीवनाशी दशा प्राप्त करोगे ॥ २४–२५ ॥

अहं हि किंदमो नाम तपसाप्रतिमो मुनिः ।
व्यपत्रपन्मनुष्याणां मृग्यां मैथुनमाचरम् ॥ २६ ॥

मैं किन्दम नामका तपस्वी मुनि हूं, मनुष्योंकी लज्जासे बचनेके लिये मृगीसे मैथुन कर रहा था ॥ २६ ॥

मृगो भूत्वा मृगैः सार्धं चरामि गहने वने ।
न तु ते ब्रह्महत्येयं भविष्यत्यविजानतः ।
मृगरूपधरं हत्वा मामेवं काममोहितम् ॥ २७ ॥
अस्य तु त्वं फलं मूढ प्राप्स्यसीदृशमेव हि ।
प्रियया सह संवासं प्राप्य कामविमोहितः ।
त्वमप्यस्यामवस्थायां प्रेतलोकं गमिष्यसि ॥ २८ ॥

मैं मृगका रूप धारण कर मृगोंके साथ वनमें संचार करता हूँ, पर तुम इस बातको नहीं जानते थे; अतः तुम पर ब्रह्महत्याका पाप नहीं लगेगा । तुमने मृग रूपधारी काममोहित मुझको इस प्रकार मार डाला। अतः, हे मूर्ख ! तुम भी इसका फल इसी प्रकार प्राप्त करोगे। तुम कामवश प्रियासे समागम करते ही इसी दशामें प्रेतलोकको सिधारोगे ॥२७-२८॥

अन्तकाले च संवासं यया गन्तासि कान्तया ।
प्रेतराजवशं प्राप्तं सर्वभूतदुरत्ययम् ।
भक्त्या मतिमतां श्रेष्ठ सैव त्वामनुयास्यति ॥ २९ ॥

हे मतिमन् ! तुम अन्तकालमें जिस स्त्रीसे मिलोगे, वह प्यारी भी सब लोकोंके द्वारा जानेके अयोग्य प्रेतलोकोंमें भक्तिपूर्वक तुम्हारे साथ जायगी ॥ २९ ॥

वर्तमानः सुखे दुःखं यथाहं प्रापितस्त्वया ।
तथा सुखं त्वां संप्राप्तं दुःखमभ्यागमिष्यति ॥ ३० ॥

मुझको जिस प्रकार सुखके समय तुमसे दुःख मिला, वैसे ही तुम भी सुख पानेके समय दुःख प्राप्त करोगे ॥ ३० ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा सुदुःखार्तो जीवितात्स व्ययुज्यत ।
मृगः पाण्डुश्च शोकार्तः क्षणेन समपद्यत ॥ ३१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि नवाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०९ ॥ ३९२२ ॥

वैशम्पायन बोले– मृगने यह बात कहकर अति दुःखी होकर प्राण छोडा। राजा पाण्डु भी उसी क्षण बहुत शोकाकुल हो गए ॥ ३१ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ नौवां अध्याय समाप्त ॥ १०९ ॥ ३९२२ ॥

: ११० :

वैशम्पायन उवाच

तं व्यतीतमतिक्रम्य राजा स्वमिव बान्धवम् ।
सभार्यः शोकदुःखार्तः पर्यदेवयदातुरः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– राजा पांडु अपने मित्र समान उस ऋषिको छोडकर स्त्रियोंके सहित शोक दुःखसे पीडित और विकल होकर बहुत पछताने लगे ॥ १ ॥

पाण्डुरुवाच

सतामपि कुले जाताः कर्मणा बत दुर्गतिम् ।
प्राप्नुवन्त्यकृतात्मानः कामजालविमोहिताः ॥ २ ॥

पांडु कहने लगे– हाय ! बुरी आत्मा युक्त जन अच्छे वंशमें जन्म लेनेपर भी कामके फन्देमें फंसकर अपने कर्मके दोषसे कुगति प्राप्त करते हैं ॥ २ ॥

शश्वद्धर्मात्मना जातो बाल एव पिता मम ।
जीवितान्तमनुप्राप्तः कामात्मैवेति नः श्रुतम् ॥ ३ ॥

मैंने सुना है, कि मेरे पिता विचित्रवीर्य धर्मात्मा शंतनुसे जन्म लेकरके केवल कामयुक्त आत्मा होनेहीसे बालकपनहीमें परलोकको सिधारे गए ॥ ३ ॥

तस्य कामात्मनः क्षेत्रे राज्ञः संयतवागृषिः ।
कृष्णद्वैपायनः साक्षाद्भगवान्मामजीजनत् ॥ ४ ॥

उन कामयुक्त राजाके क्षेत्रमें साक्षात् भगवान् ऋषि संयतवादी श्रीकृष्णद्वैपायनने मुझे उत्पन्न किया था ॥ ४ ॥

तस्याद्य व्यसने बुद्धिः संजातेयं ममाधमा ।
त्यक्तस्य देवैरनयान्मृगयायां दुरात्मनः ॥ ५ ॥

इस मृगयामें रत रहनेवाले मेरी बुरी बुद्धि आज व्यसनके विषयमें लिप्त हुई है, तो देवोंने मुझको त्याग दिया है ॥ ५ ॥

मोक्षमेव व्यवस्यामि बन्धो हि व्यसनं महत् ।
सुवृत्तिमनुवर्तिष्ये तामहं पितुरव्ययाम् ।
अतीव तपसात्मानं योजयिष्याम्यसंशयम् ॥ ६ ॥

अब मैं मोक्षमार्गका पाथिक बनूंगा, पुत्र उत्पादन आदि सांसारिक बंधन ही अति दुःखका कारण है, इसलिये मैं ब्रह्मचारी बनकर जन्मदाता व्यासके द्वारा किये जाते हुए कार्यमें नियुक्त होऊंगा । मैं अपने चित्तको बिना संदेह कठोर तपमें नियुक्त करूंगा ॥ ६ ॥

तस्मादेकोऽहमेकाहमेकैकस्मिन्वनस्पतौ ।
चरन्भैक्ष्यं मुनिर्मुण्डश्चरिष्यामि महीमिमाम् ॥ ७ ॥

उससे भार्यादि त्याग कर अकेले सिर मुंडाकर मुनि हो इन सब वृक्षोंमेंसे एक एकसे भीख मांग मांग जीवनको बचाऊंगा और इस प्रकार सारी पृथ्वीपर विचरूंगा ॥ ७ ॥

पांसुना समवच्छन्नः शून्यागारप्रतिश्रयः ।
वृक्षमूलनिकेतो वा त्यक्तसर्वप्रियाप्रियः ॥ ८ ॥

सब प्रिय और अप्रियको छोडकर धूल देहमें लगाकर खाली घरमें वा पेडकी जडमें रहूंगा ॥ ८ ॥

न शोचन्न प्रहृष्यंश्च तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ।
निराशीर्निर्नमस्कारो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ॥ ९ ॥

किसी प्रकारसे न तो हर्षित होऊंगा और न शोक करूंगा, अपनी निंदा और प्रशंसाको समान समझूंगा, अशीस वा प्रणामकी इच्छा न करूंगा; और द्वन्द्व रहित होकर तथा किसीसे दान न लेकर दिन काटूंगा ॥ ९ ॥

न चाप्यवहसन्कंचिन्न कुर्वन्भ्रुकुटीं क्वचित् ।
प्रसन्नवदनो नित्यं सर्वभूतहिते रतः ॥ १० ॥

मैं किसीपर न तो हँसूंगा और न भौंहें चढाऊंगा; सदा प्रसन्नमुख होकर सब भूतोंके हितमें नियुक्त रहूंगा ॥ १० ॥

जङ्गमाजङ्गमं सर्वमविहिंसंश्चतुर्विधम् ।
स्वासु प्रजास्विव सदा समः प्राणभृतां प्रति ॥ ११ ॥

अण्ड, स्वेद, जरायु और उद्भिजसे जन्म लिये हुए इन चार प्रकारके स्थावर जंगम प्राणियों-की हिंसा नहीं करूंगा; अपनी प्रजावत् सब भूतों पर तुल्य दृष्टि रखूंगा ॥ ११ ॥

एककालं चरन्भैक्षं कुलानि द्वे च पञ्च च ।
असंभवे वा भैक्षस्य चरन्ननशनान्यपि ॥ १२ ॥

नित्य दो वा पांच घरोंमें एक ही बार भीख मागूंगा; उनसे भीख न मिले तो बिना भोजनके भी दिन बिताऊंगा ॥ १२ ॥

अल्पमल्पं यथाभोज्यं पूर्वलाभेन जातुचित् ।
नित्यं नातिचरल्लाँभे अलाभे सप्त पूरयन् ॥ १३ ॥

स्वल्प भोजन किया करूंगा, पर तो भी एक बारमें न मिले, तो फिर कभी भीख न मागूंगा; लोभसे दूसरे घरमें फिर नहीं जाऊंगा ॥ १३ ॥

वास्यैकं तक्षतो बाहुं चन्दनेनैकमुक्षतः ।
नाकल्याणं न कल्याणं प्रध्यायन्नुभयोस्तयोः ॥ १४ ॥

मेरे कोई यदि एक हाथको काटे और दूसरा चंदनसे दूसरे हाथको सुगंध युक्त कर दे तो भी दोनोंमेंसे किसीका न तो अकल्याण करूंगा, न दूसरेका कल्याण ॥ १४ ॥

न जिजीविषुवत्किंचिन्न मुमूर्षुवदाचरन् ।
मरणं जीवितं चैव नाभिनन्दन्न च द्विषन् ॥ १५ ॥

मैं जीवनसे प्रेम और मृत्युसे द्वेष प्रगट करके न तो कभी प्रसन्न होऊंगा और न कभी मुरझाऊंगा ॥ १५ ॥

याः काश्चिज्जीवता शक्याः कर्तुमभ्युदयक्रियाः ।
ताः सर्वाः समतिक्रम्य निमेषादिष्ववस्थितः ॥ १६ ॥

चेतनयुक्त जन निमेषादि कालके नियमसे जो सब स्वर्गादि फलदायी मङ्गलयुक्त कार्य कर सकते हैं, मैं संपूर्ण रूपसे चित्तके पापको धोकर उन सब क्रियादिको करूंगा ॥ १६ ॥

तासु सर्वास्ववस्थासु त्यक्तसर्वेन्द्रियक्रियः ।
संपरित्यक्तधर्मात्मा सुनिर्णिक्तात्मकल्मषः ॥ १७ ॥

उन सब अवस्थाओंमें त्याग और अनित्य फल देनेवाली सब इंद्रियोंकी क्रियाओंको त्याग दूंगा, अपने अन्तःकरणका सब मल धोकर शुद्ध कर दूंगा ॥ १७ ॥

निर्मुक्तः सर्वपापेभ्यो व्यतीतः सर्ववागुराः ।
न वशे कस्यचित्तिष्ठन्सधर्मा मातरिश्वनः ॥ १८ ॥

और अविद्यादि सब प्रकारके जालको तोडकर सब पापोंसे साफ होकर वायुका गुण लिये रहूंगा, किसीके वशमें नहीं जाऊंगा ॥ १८ ॥

एतया सततं वृत्त्या चरन्नेवंप्रकारया ।
देहं संधारयिष्यामि निर्भयं मार्गमास्थितः ॥ १९ ॥

सदा ऐसी रीतिसे चलकर निर्भय पथका आश्रय करके देह धारण करूंगा ॥ १९ ॥

नाहं श्वाचरिते मार्गे अवीर्यकृपणोचिते ।
स्वधर्मात्सततापेते रमेयं वीर्यवर्जितः ॥ २० ॥

वीर्य वर्जित होकर आत्मतत्त्वरूपी धर्मसे सदा च्युत निजवीर्यनाशी कुमार्ग पर कभी पांवको न रखूंगा ॥ २० ॥

सत्कृतोऽसत्कृतो वापि योऽन्यां कृपणचक्षुषा ।
उपैति वृत्तिं कामात्मा स शुनां वर्तते पथि ॥ २१ ॥

काम रहित होने पर भी जो कामयुक्त होकर दीनके समान फिर काम–क्रियामें फंसता है, वह सुकार्य करे वा कुकार्य करे अवश्य ही कुत्तेके पथमें चलता है अर्थात् जूठा चाटनेवाला है ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा सुदुःखार्तो निःश्वासपरमो नृपः।
अवेक्ष्यमाणः कुन्तीं च माद्रीं च समभाषत ॥ २२ ॥

वैशम्पायन बोले– राजा अति दुःखी चित्तसे यह सब बातें कह कर लम्बी सांस छोडकर कुन्ती और माद्रीकी ओर देख कर बोले ॥ २२ ॥

कौशल्या विदुरः क्षत्ता राजा च सह बन्धुभिः।
आर्या सत्यवती भीष्मस्ते च राजपुरोहिताः ॥ २३ ॥

कौशल्या, विदुर, बन्धु सहित राजा धृतराष्ट्र, आर्या सत्यवती, भीष्म, राजपुरोहित लोग ॥ २३ ॥

ब्राह्मणाश्च महात्मानः सोमपाः संशितव्रताः।
पौरवृद्धाश्च ये तत्र निवसन्त्यस्मदाश्रयाः।
प्रसाद्य सर्वे वक्तव्याः पाण्डुः प्रव्रजितो वनम् ॥ २४ ॥

व्रतशील सोम पीनेवाले महात्मा ब्राह्मणगण और जितने नगरके वृद्धजन मेरे आश्रयमें हैं, उन सबोंसे प्रसन्न कर कहना, कि पाण्डु प्रव्रज्या लेकर वनमें चला गया है ! ॥ २४ ॥

निशम्य वचनं भर्तुर्वनवासे धृतात्मनः।
तत्समं वचनं कुन्ती माद्री च समभाषताम् ॥ २५ ॥

कुन्ती और माद्री वनवासका संकल्प किए हुए पतिके वचन सुनकर यथायोग्य वाक्य बोलीं ॥ २५ ॥

अन्येऽपि ह्याश्रमाः सन्ति ये शक्या भरतर्षभ।
आवाभ्यां धर्मपत्नीभ्यां सह तप्त्वा तपो महत्।
त्वमेव भविता सार्थः स्वर्गस्यापि न संशयः ॥ २६ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! दूसरे बहुत आश्रम हैं, जिनमें रहकर आप इन दो धर्मपत्नियोंके साथ कठोर तपस्या कर सकेंगे और इसमें सन्देह नहीं है कि इस प्रकार आप स्वर्गके स्वामी भी हो सकेंगे ॥ २६ ॥

प्रणिधायेन्द्रियग्रामं भर्तृलोकपरायणे।
त्यक्तकामसुखे ह्यावां तप्स्यावो विपुलं तपः ॥ २७ ॥

हम दोनों भी पतिलोकयुक्त होकर अब इन्द्रियोंको रोककर कामना और सुखको तजकर कडी तपस्या करेंगी ॥ २७ ॥

यदि आवां महाप्राज्ञ त्यक्ष्यसि त्वं विशां पते।
अद्यैवावां प्रहास्यावो जीवितं नात्र संशयः ॥ २८ ॥

हे महाप्राज्ञ पृथ्वीनाथ ! यदि आप हमको छोड देंगे तो बिना सन्देह हम आज ही प्राण छोडेंगी ॥ २८ ॥

पाण्डुरुवाच

यदि व्यवसितं ह्येतद्युवयोर्धर्मसंहितम् ।
स्ववृत्तिमनुवर्तिष्ये तामहं पितुरव्ययाम् ॥ २९ ॥

पाण्डु बोले– तुम दोनोंका यह निश्चय यदि धर्मके अनुसार होवे, तो मैं अपने पिता (वेद-व्यास) की अव्ययवृत्ति अर्थात् वानप्रस्थाश्रमका आश्रय कर लूंगा ॥ २९ ॥

त्यक्त्वा ग्राम्यसुखाचारस्तप्यमानो महत्तपः ।
वल्कली फलमूलाशी चरिष्यामि महावने ॥ ३० ॥

ग्रामके भोजन और ग्रामके सुखको छोडकर वल्कल पहिन कर और फल मूल खाता हुआ भारी तपकर घने वनमें घूमूंगा ॥ ३० ॥

अग्निं जुह्वन्नुभौ कालावुभौ कालावुपस्पृशन् ।
कृशः परिमिताहारश्चीरचर्मजटाधरः ॥ ३१ ॥
शीतवातातपसहः क्षुत्पिपासाश्रमान्वितः ।
तपसा दुश्चरेणेदं शरीरमुपशोषयन् ॥ ३२ ॥

चीर, चर्म और जटा धारण कर नियमित भोजन कर दोनों समय स्नान कर एवं अग्नि प्रज्वलित करता हुआ, भूख प्यास पर ध्यान न रखकर ठण्डी हवा और धूपको सहकर कठोर तपस्यासे इस शरीरको सुखा डालूंगा ॥ ३१–३२ ॥

एकान्तशीली विमृशन्पक्वापक्वेन वर्तयन् ।
पितॄन्देवांश्च वन्येन वाग्भिरद्भिश्च तर्पयन् ॥ ३३ ॥

एकान्तमें रहकर कच्चा और पक्का और वानप्रस्थके योग्य शास्त्रकी चर्चा करता हुआ, वनके फल, जल और बातोंसे पितर और देवोंका तर्पण करूंगा ॥ ३३ ॥

वानप्रस्थजनस्यापि दर्शनं कुलवासिनाम् ।
नाप्रियाण्याचरज्जातु किं पुनर्ग्रामवासिनाम् ॥ ३४ ॥

ग्रामवासियोंकी बात तो दूर रही, एक ही घरमें टिके हुए, वानप्रस्थोंका भी कभी अप्रिय कार्य नहीं करूंगा ॥ ३४ ॥

एवमारण्यशास्त्राणामुग्रमुग्रतरं विधिम् ।
काङ्क्षमाणोऽहमासिष्ये देहस्यास्य समापनात् ॥ ३५ ॥

जबतक यह देह न छूटेगी तबतक मैं योंही इन सब वनके शास्त्रोंकी कठोर विधियोंको पालन करता हुआ जीवित रहूंगा ॥ ३५ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्त्वा भार्ये ते राजा कौरववंशजः।
ततश्चूडामणिं निष्कमङ्गदे कुण्डलानि च।
वासांसि च महार्हाणि स्त्रीणामाभरणानि च ॥ ३६ ॥

प्रदाय सर्वं विप्रेभ्यः पाण्डुः पुनरभाषत।
गत्वा नागपुरं वाच्यं पाण्डुः प्रव्रजितो वनम् ॥ ३७ ॥

वैशम्पायन बोले– कौरवनन्दन राजा पाण्डु दोनों स्त्रियोंसे यह बात कह कर चूडामणि, निष्क, अङ्गद, कुण्डल, मूल्यवान् वस्त्र और स्त्रियोंके आभूषण आदि सब वस्तु ब्राह्मणोंको देकर साथियोंसे बोले– तुम हस्तिनापुरमें जाकर कहना, कि कुरुनन्दन पाण्डु वनमें चले गए हैं ॥ ३६–३७ ॥

अर्थं कामं सुखं चैव रतिं च परमात्मिकाम्।
प्रतस्थे सर्वमुत्सृज्य सभार्यः कुरुपुंगवः ॥ ३८ ॥

अर्थ, काम, सुख और परम प्रिय स्त्रीसे मिलनेके सुख सबको तज प्रवज्याश्रम लेकरके स्त्रियोंके संग वनको चले गए हैं ॥ ३८ ॥

ततस्तस्यानुयात्राणि ते चैव परिचारकाः।
श्रुत्वा भरतसिंहस्य विविधाः करुणा गिरः।
भीममार्तस्वरं कृत्वा हाहेति परिचुक्रुशुः ॥ ३९ ॥

अनन्तर उनके साथी और नौकर उन भरतवंशके सिंहरूपी नरेशकी नाना करुणाकी बातें सुनकर अति दुःखयुक्त होकर हाहाकार करते हुए रोने लगे ॥ ३९ ॥

उष्णमश्रु विमुञ्चन्तस्तं विहाय महीपतिम्।
ययुर्नागपुरं तूर्णं सर्वमादाय तद्वचः ॥ ४० ॥

आगे राजाको छोड कर शोकके आंसू गिराते हुए उनके उस कथनको स्वीकार कर विना विलम्ब हस्तिनापुरमें जा पहुंचे ॥ ४० ॥

श्रुत्वा च तेभ्यस्तत्सर्वं यथावृत्तं महावने।
धृतराष्ट्रो नरश्रेष्ठः पाण्डुमेवान्वशोचत ॥ ४१ ॥

नरश्रेष्ठ धृतराष्ट्र उनके मुखसे उनकी सब घटनाओंको सुनकर पाण्डुके लिये वडा शोक करने लगे ॥ ४१ ॥

राजपुत्रस्तु कौरव्यः पाण्डुर्मूलफलाशनः ।
जगाम सह भार्याभ्यां ततो नागसभं गिरिम् ॥ ४२ ॥

इधर कौरववंशी राजकुमार पाण्डु फल मूल खाते हुए दोनों स्त्रियोंके साथ नागसभ पर्वतको पधारे ॥ ४२ ॥

स चैत्ररथमासाद्य वारिषेणमतीत्य च ।
हिमवन्तमतिक्रम्य प्रययौ गन्धमादनम् ॥ ४३ ॥

वे उस चैत्ररथ पर चढकर वारिषेण पर्वतको पीछे छोडकर हिमाचलसे होते हुए गन्धमादनपर जा पहुंचे ॥ ४३ ॥

रक्ष्यमाणो महाभूतैः सिद्धैश्च परमर्षिभिः ।
उवास स तदा राजा समेषु विषमेषु च ॥ ४४ ॥

हे महाराज! वह राजा महाभूत, सिद्ध और परम ऋषियोंसे रक्षित होकर समभूमि और ऊबड, खाबड स्थानोंमें रहने लगे ॥ ४४ ॥

इन्द्रद्युम्नसरः प्राप्य हंसकूटमतीत्य च ।
शतशृङ्गे महाराज तापसः समपद्यत ॥ ४५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११० ॥ ३९६७ ॥

अन्तमें इन्द्रद्युम्न तालको प्राप्तकरके हंसकूटको पीछे छोड कर शतशृङ्ग नामक पहाड पर तपस्वी राजा पंहुचे ॥ ४५ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ दसवां अध्याय समाप्त ॥ ११० ॥ ३९६७ ॥

: १११ :

वैशम्पायन उवाच

तत्रापि तपसि श्रेष्ठे वर्तमानः स वीर्यवान् ।
सिद्धचारणसङ्घानां बभूव प्रियदर्शनः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे भारत! वीर्यवान् पाण्डु उस स्थानमें भी बडी तपस्यामें सदा नियुक्त रहकर सिद्धचारणोंके अति प्रिय बने ॥ १ ॥

शुश्रूषुरनहंवादी संयतात्मा जितेन्द्रियः ।
स्वर्गं गन्तुं पराक्रान्तः स्वेन वीर्येण भारत ॥ २ ॥

वह गुरुसेवक, अहङ्कारवार्जित, संयतात्मा और जितेन्द्रिय होकर निज वीर्यसे स्वर्गको प्राप्त करनेके योग्य पराक्रमी बने ॥ २ ॥

केषांचिदभवद्भ्राता केषांचिदभवत्सखा।
ऋषयस्त्वपरे चैनं पुत्रवत्पर्यपालयन् ॥ ३ ॥

कोई कोई ऋषि उनको भाई, दूसरे मित्र समझने लगे और सब अन्यऋषि उनको पुत्रवत् पालने लगे ॥ ३ ॥

स तु कालेन महता प्राप्य निष्कल्मषं तपः।
ब्रह्मर्षिसदृशः पाण्डुर्बभूव भरतर्षभ ॥ ४ ॥

हे भरतश्रेष्ठ! अनन्तर पाण्डु बहुत दिनों तक विना कलङ्क तपोबल बटोरकर ब्रह्मर्षिके समान बन गए ॥ ४ ॥

स्वर्गपारं तितीर्षन्स शतशृङ्गादुदङ्मुखः।
प्रतस्थे सह पत्नीभ्यामब्रुवंस्तत्र तापसाः।
उपर्युपरि गच्छन्तः शैलराजमुदङ्मुखाः ॥ ५ ॥
दृष्टवन्तो गिरेरस्य दुर्गान्देशान्बहून्वयम्।
आक्रीडभूतान्देवानां गन्धर्वाप्सरसां तथा ॥ ६ ॥

स्वर्गको पार करनेके लिये यकायक उठकर दोनों स्त्रियोंके साथ शतशृङ्गसे उत्तरकी ओर चले। तब तपस्वियोंने उनसे कहा, कि हमने उत्तरकी ओर शैलराजसे क्रमशः ऊपरको चलते हुए इस सुन्दर पर्वतके अगणित अगम्य देश देखे हैं, जो देव, गंधर्व और अप्सराओंकी क्रीडा भूमि हैं ॥ ५–६ ॥

उद्यानानि कुबेरस्य समानि विषमाणि च।
महानदीनितम्बांश्च दुर्गांश्च गिरिगह्वरान् ॥ ७ ॥

कहीं कहीं, कुबेरकी सम और विषम फुलवाडी बडी बडी नदी और दुर्गम कन्दरायें हैं ॥ ७ ॥

सन्ति नित्यहिमा देशा निर्वृक्षमृगपक्षिणः।
सन्ति केचिन्महावर्षा दुर्गाः केचिद्दुरासदाः ॥ ८ ॥

कोई कोई स्थान सदा हिमसे ढके रहते हैं; वहां न तो वृक्ष, मृग अथवा पक्षी हैं न और कुछ है; कहीं कहीं ऐसी भारी वर्षा होती है, कि वह स्थान दुर्गम फिसलनेवाले हो जाते हैं ॥ ८ ॥

अतिक्रामेन्न पक्षी यान्कुत एवेतरे मृगाः।
वायुरेकोऽतिगाद्यत्र सिद्धाश्च परमर्षयः ॥ ९ ॥

किसी पशुकी बात तो दूर रही, पखेरू भी वहां पहुंच नहीं सकते, केवल अकेला वायु और सिद्ध तथा परम ऋषि लोग वहां जा सकते हैं ॥ ९ ॥

गच्छन्त्यौ शैलराजेऽस्मिन्राजपुत्र्यौ कथं त्विमे ।
न सीदेतामदुःखार्हे मा गमो भरतर्षभ ॥ १० ॥

इन राज–कन्याओंने कभी दुःख सहन नहीं किया है, अतः दुर्गम शैलराज पर चलनेमें क्यों नहीं कष्ट होंगे, अतएव हे भरतश्रेष्ठ ! तुम मत आओ ॥ १० ॥

पाण्डुरुवाच

अप्रजस्य महाभागा न द्वारं परिचक्षते ।
स्वर्गे तेनाभितप्तोऽहमप्रजस्तद्ब्रवीमि वः ॥ ११ ॥

पांडु बोले– हे महाभागवृन्द ! कहा है, कि जिसके सन्तान नहीं है, उसके स्वर्गमें घुसनेके द्वार नहीं हैं, मेरी सन्तान नहीं है, अतः अति दुःखसे जलकर आपसे ऐसा कहता हूं ॥ ११ ॥

ऋणैश्चतुर्भिः संयुक्ता जायन्ते मनुजा भुवि ।
पितृदेवर्षिमनुजदेयैः शतसहस्रशः ॥ १२ ॥

मनुष्यलोग पितरोंके, देवोंके, ऋषियोंके और मनुष्योंसे सम्बन्धित सैंकडों हजारों ऋणोंको लेकर इस धरतीमें जन्म लेते हैं ॥ १२ ॥

एतानि तु यथाकालं यो न बुध्यति मानवः ।
न तस्य लोकाः सन्तीति धर्मविद्भिः प्रतिष्ठितम् ॥ १३ ॥

धर्म जाननेवाले कहते हैं, कि जो मनुष्य इन स्वाभाविक ऋणोंसे उऋण होनेके लिये उचित समयमें प्रयत्न नहीं करता है, उसको सुगति प्राप्त नहीं होती है ॥ १३ ॥

यज्ञैश्च देवान्प्रीणाति स्वाध्यायतपसा मुनीन् ।
पुत्रैः श्राद्धैः पितॄंश्चापि आनृशंस्येन मानवान् ॥ १४ ॥

मानव लोग यागसे देवोंको, पठन तथा तपसे मुनियोंको, पुत्रोत्पादन तथा पिण्ड दानसे पितरोंको और निष्ठुरतासे रहित होकर मनुष्योंको तुष्टकर उनके ऋणोंसे मुक्त होते हैं ॥ १४ ॥

ऋषिदेवमनुष्याणां परिमुक्तोऽस्मि धर्मतः ।
पित्र्यादृणादनिर्मुक्तस्तेन तप्ये तपोधनाः ॥ १५ ॥

मैं देव, ऋषि और मनुष्य, इनके ऋणसे धर्मानुसार मुक्त हुआ हूं, पर पितृऋणसे मैं अभी मुक्त नहीं हो पाया हूँ, इसीलिए, हे तपोधनो ! मैं तप कर रहा हूँ ॥ १५ ॥

देहनाशे ध्रुवो नाशः पितॄणामेष निश्चयः ।
इह तस्मात्प्रजाहेतोः प्रजायन्ते नरोत्तमाः ॥ १६ ॥

मेरे मर जानेपर मेरे पितरोंका नाश भी निश्चित ही है । हे तपस्वीगण ! मनुष्योंमें श्रेष्ठ लोगमें पितरोंके ऋणको भरनेको सन्तान पैदा करनेके निमित्त पृथ्वीमें जन्म लेते हैं ॥ १६ ॥

यथैवाहं पितुः क्षेत्रे सृष्टस्तेन महात्मना।
तथैवास्मिन्मम क्षेत्रे कथं वै संभवेत्प्रजा ॥ १७ ॥

इसलिये पूछता हूं, कि मैंने जिस प्रकार पिता विचित्रवीर्यके क्षेत्रमें महात्मा व्याससे जन्म लिया है, क्या वैसे ही मेरे इस क्षेत्रमें सन्तान उत्पन्न हो सकेगी ? ॥ १७ ॥

तापसा ऊचुः

अस्ति वै तव धर्मात्मन्विद्म देवोपमं शुभम्।
अपत्यमनघं राजन्वयं दिव्येन चक्षुषा ॥ १८ ॥

तपस्वीगण लोग बोले– हे धार्मिक नरेश ! हम दिव्य नेत्रोंसे देखते हैं, कि तुम्हारे पाप रहित देववत् शुभ पुत्र उत्पन्न होंगे ॥ १८ ॥

दैवदिष्टं नरव्याघ्र कर्मणेहोपपादय।
अक्लिष्टं फलमव्यग्रो विन्दते बुद्धिमान्नरः ॥ १९ ॥

अतः, हे नरव्याघ्र ! तुम कर्मसे देवोंका अभिप्राय पूरा करो, क्योंकि बुद्धिमान् जन न घबराकर सुन्दर फल प्राप्त करते हैं ॥ १९ ॥

तस्मिन्दृष्टे फले तात प्रयत्नं कर्तुमर्हसि।
अपत्यं गुणसंपन्नं लब्ध्वा प्रीतिमवाप्स्यसि ॥ २० ॥

हे तात ! तुम्हारा फल दीख पडता है, तुम सन्तान उत्पन्न करनेका प्रयत्न करो, उससे अवश्य ही आनन्द देनेवाले सर्व गुणोंसे सजे हुए पुत्र पा सकोगे ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा तापसवचः पाण्डुश्चिन्तापरोऽभवत्।
आत्मनो मृगशापेन जानन्नुपहतां क्रियाम् ॥ २१ ॥

वैशम्पायन बोले– राजा पाण्डु तपस्वियोंकी वह बात सुनकर और मृगके शापसे उनकी पुत्र पैदा करनेकी शक्ति नष्ट हो गयी है यह सोचकर चिन्तायुक्त हुए ॥ २१ ॥

सोऽब्रवीद्विजने कुन्तीं धर्मपत्नीं यशस्विनीम्।
अपत्योत्पादने योगमापदि प्रसमर्थयन् ॥ २२ ॥

वह यशस्विनी धर्मपत्नी कुन्तीसे एकान्तमें बोले– हे कुन्ती ! तुम इस विपत्कालमें पुत्र उत्पन्न करनेका प्रयत्न करो ॥ २२ ॥

अपत्यं नाम लोकेषु प्रतिष्ठा धर्मसंहिता।
इति कुन्ति विदुर्धीराः शाश्वतं धर्ममादितः ॥ २३ ॥

हे कुन्ती ! धर्म कहनेवाले सदा कहते हैं, कि सन्तान इन तीनों लोकोंमें धर्मसे भरी हुई प्रतिष्ठा है ॥ २३ ॥

इष्टं दत्तं तपस्तप्तं नियमश्च स्वनुष्ठितः ।
सर्वमेवानपत्यस्य न पावनमिहोच्यते ॥ २४ ॥

याग, दान की गई, तपस्या और भले प्रकार अनुष्ठान किया नियम, यह सब उनको पवित्र नहीं करते हैं, जिनके कि सन्तान नहीं होती ॥ २४ ॥

सोऽहमेवं विदित्वैतत्प्रपश्यामि शुचिस्मिते ।
अनपत्यः शुभाँल्लोकान्नावाप्स्यामीति चिन्तयन् ॥ २५ ॥

हे सुन्दर मुस्कानवाली ! यह जाननेके ही कारण मैं देखता हूं, कि मेरे पुत्र पैदा न होनेसे मैं शुभलोकको नहीं प्राप्त कर सकूंगा ॥ २५ ॥

मृगाभिशापान्नष्टं मे प्रजनं ह्यकृतात्मनः ।
नृशंसकारिणो भीरु यथैवोपहतं तथा ॥ २६ ॥

हे भीरु ! पहिले जैसे मैं बुरे आत्मयुक्त और निष्ठुर कार्यमें दत्तचित्त था, वैसे ही मृगके शापसे मेरी सन्तान पैदा करनेकी शक्ति जाती रही है ॥ २६ ॥

इमे वै बन्धुदायादाः षट् पुत्रा धर्मदर्शने ।
षडेवाबन्धुदायादाः पुत्रास्ताञ्शृणु मे पृथे ॥ २७ ॥

धर्मशास्त्रोंमें कहा है, कि छः प्रकारके पुत्र बन्धुके धनके अधिकारी होते हैं, और छः प्रकार के पुत्र उसके अधिकारी नहीं होते । हे पृथे ! मैं उन बारह प्रकारके पुत्रोंकी बात कहता हूं, सुनो ॥ २७ ॥

स्वयंजातः प्रणीतश्च परिक्रीतश्च यः सुतः ।
पौनर्भवश्च कानीनः स्वैरिण्यां यश्च जायते ॥ २८ ॥

(पहिला) औरस अर्थात् जो व्याही स्त्रीसे स्वयंसे पैदा हो, (दूसरा) प्रणीत, अर्थात् जो अच्छे पुरुषके द्वारा अपनी पत्नीसे पैदा हुआ हो, (तीसरा) परिक्रीत, अर्थात् जो मोल लिये हुए वीर्यके द्वारा निज क्षेत्रसे पैदा हुआ हो, (चौथा) पौनर्भव अर्थात् जो विधवाके गर्भसे अन्यके द्वारा पैदा हुआ हो, (पांचवा) कानीन अर्थात् जो कन्यावस्थामें पैदा हुआ हो, (छठवां) स्वैरिणीके गर्भसे पैदा हुआ, अर्थात् जो गूढ वा कुण्ड नामसे प्रसिद्ध है ॥ २८ ॥

दत्तः क्रीतः कृत्रिमश्च उपगच्छेत्स्वयं च यः ।
सहोढो जातरेताश्च हीनयोनिधृतश्च यः ॥ २९ ॥

(सातवां) दत्त अर्थात् जो पिता मातासे दे दिया जाय, (आठवां) क्रीत, अर्थात् जो धन देकर ले लिया गया हो, (नवां) उपक्रीत, अर्थात् जो कृत्रिम हो, (दशवां) स्वयं उपागत अर्थात् मैं तुम्हारा पुत्र बना, यह कहके जो स्वयं आवे, (ग्यारहवां) जात रेता सहोढ अर्थात् जो भाई आदिसे गर्भवती स्त्रीसे विवाह करने पर उसके गर्भसे पैदा हो, (बारहवां) हीनयोनिधृत, अर्थात् जो हीन जातिकी स्त्रीसे पैदा हो ॥ २९ ॥

पूर्वपूर्वतमाभावे मत्वा लिप्सेत वै सुतम्।
उत्तमादवराः पुंसः काङ्क्षन्ते पुत्रमापदि ॥ ३० ॥

इन बारह प्रकारके पुत्रोंमें पहिला न बन पडे, तो उससे पिछला, फिर उससे पिछला; फिर वह भी न हो तो उससे पिछला, इस प्रकारसे माताको पुत्रकी इच्छा करनी चाहिये। लोग आपत्कालमें उत्तम छोटेसे पुत्रकी कामना किया करते हैं ॥ ३० ॥

अपत्यं धर्मफलदं श्रेष्ठं विन्दन्ति साधवः
आत्मशुक्रादपि पृथे मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् ॥ ३१ ॥

स्वायंभुव मनुने कहा है, कि मनुष्यगण अपने वीर्यके विना भी धर्म–फल देनेवाले श्रेष्ठ पुत्र प्राप्त कर सकते हैं ॥ ३१ ॥

तस्मात्प्रहेष्याम्यद्य त्वां हीनः प्रजननात्स्वयम्।
सदृशाच्छ्रेयसो वा त्वं विद्ध्यपत्यं यशस्विनि ॥ ३२ ॥

अतएव, यशस्विनी हे कुन्ती! मैं इस समय सन्तान पैदा करनेकी शक्तिसे रहित हुआ हूं, इसलिये तुम्हें नियोग करता हूं, तुम सत्य वा श्रेष्ठजनसे यशस्वी पुत्रका प्रसव करो ॥३२॥

शृणु कुन्ति कथां चेमां शारदण्डायनीं प्रति।
या वीरपत्नी गुरुभिर्नियुक्तापत्यजन्मनि ॥ ३३ ॥

हे पृथे! शारदण्डायनकी कन्याकी कथा कहता हूं, सुनो। वह वीरकी स्त्री पतिसे पुत्र पैदा करनेके लिए नियुक्त होकर ॥ ३३ ॥

पुष्पेण प्रयता स्नाता निशि कुन्ति चतुष्पथे।
वरयित्वा द्विजं सिद्धं हुत्वा पुंसवनेऽनलम् ॥ ३४ ॥

ऋतु–स्नान करके रात्रिको चौराहे पर खडी हुई। तब एक सिद्ध ब्राह्मणको वरण कर पुंसवन यज्ञमें अग्निकी आहुति चढाकर ॥ ३४ ॥

कर्मण्यवसिते तस्मिन्सा तेनैव सहावसत्।
तत्र त्रीञ्जनयामास दुर्जयादीन्महारथान् ॥ ३५ ॥

उस कर्मको पूरा करनेके बाद उनसे मिली। इससे दुर्जय आदि तीन महारथियोंको उत्पन्न किया ॥ ३५ ॥

तथा त्वमपि कल्याणि ब्राह्मणात्तपसाधिकात्।
मन्नियोगाद्यत क्षिप्रमपत्योत्पादनं प्रति ॥ ३६ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि एकादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १११ ॥ ४००३ ॥

हे कल्याणि! उस प्रकार तुम भी मेरे नियोगसे ऐसे किसी ब्राह्मणसे, जो मुझसे तपमें श्रेष्ठ हो, शीघ्र सन्तान पैदा करनेकी चेष्टा करो ॥ ३६ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ ग्यारहवां अध्याय समाप्त ॥ १११ ॥ ४००३ ॥

: ११२ :

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ता महाराज कुन्ती पाण्डुमभाषत ।
कुरूणामृषभं वीरं तदा भूमिपतिं पतिम् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे महाराज ! कुन्ती यह बात सुनकर कुरुवंशियोंमें श्रेष्ठ वीर भूपति अपने पति पाण्डुसे बोली ॥ १ ॥

न मामर्हसि धर्मज्ञ वक्तुमेवं कथंचन ।
धर्मपत्नीमभिरतां त्वयि राजीवलोचन ॥ २ ॥

हे धर्मज्ञ राजीवनेत्र ! मैं आपकी धर्मपत्नी और आपहीके प्रेममें फंसी हुई हूं; अतः आपको मुझसे ऐसा कहना कभी उचित नहीं है ॥ २ ॥

त्वमेव तु महाबाहो मय्यपत्यानि भारत ।
वीर वीर्योपपन्नानि धर्मतो जनयिष्यसि ॥ ३ ॥

हे वीर महाभुज ! धर्मानुसार आपहीको मुझसे अपने वीर्यके द्वारा सन्तान पैदा करनी चाहिये ॥ ३ ॥

स्वर्गं मनुजशार्दूल गच्छेयं सहिता त्वया ।
अपत्याय च मां गच्छ त्वमेव कुरुनन्दन ॥ ४ ॥

हे मानवोंमें व्याघ्ररूपी पुरुष ! ऐसा ही होनेसे मैं आपके साथ स्वर्गमें जा सकूंगी; अतएव हे कुरुनन्दन ! आप ही सन्तानके लिये मुझसे समागम कीजिए ॥ ४ ॥

न ह्यहं मनसाप्यन्यं गच्छेयं त्वदृते नरम् ।
त्वत्तः प्रतिविशिष्टश्च कोऽन्योऽस्ति भुवि मानवः ॥ ५ ॥

क्योंकि मैं मनसे भी तुम्हें छोडकर किसी दूसरे पुरुषसे मिलना नहीं चाहती; इस भूमण्डलमें ऐसा कौन है, जो आपसे श्रेष्ठ हो सके ? ॥ ५ ॥

इमां च तावद्धर्म्यां त्वं पौराणीं शृणु मे कथाम् ।
परिश्रुतां विशालाक्ष कीर्तयिष्यामि यामहम् ॥ ६ ॥

हे विशालाक्ष ! पहिले मैंने एक पौराणिक धर्मकथा सुनी थी, उसको आपसे कहती हूं सुनिये ॥ ६ ॥

व्युषिताश्व इति ख्यातो बभूव किल पार्थिवः ।
पुरा परमधर्मिष्ठः पूरोर्वंशविवर्धनः ॥ ७ ॥

पूर्वकालमें कुरुवंश बढानेवाले परम धार्मिक व्युषिताश्व नामक एक प्रसिद्ध राजा थे ॥ ७ ॥

तस्मिंश्च यजमाने वै धर्मात्मनि महात्मनि ।
उपागमंस्ततो देवाः सेन्द्राः सह महर्षिभिः ॥ ८ ॥

उन धर्मातमा महात्मा नरेशके याग आरम्भ कर देने पर इन्द्र सहित देवता और महर्षि लोग वहां आ पहुंचे ॥ ८ ॥

अमाद्यदिन्द्रः सोमेन दक्षिणाभिर्द्विजातयः ।
व्युषिताश्वस्य राजर्षेस्ततो यज्ञे महात्मनः ॥ ९ ॥

तब उन महात्मा राजर्षि व्युषिताश्वके यज्ञमें देवराज सोमरस पीकर और ब्राह्मणलोग दक्षिणा पाकर आनन्दित हो गये ॥ ९ ॥

व्युषिताश्वस्ततो राजन्नति मर्त्यान्व्यरोचत ।
सर्वभूतान्यति यथा तपनः शिशिरात्यये ॥ १० ॥

हे राजन् ! जिस प्रकार हिमके अन्त होनेपर भगवान् आदित्य सम्पूर्ण भूतोंको पीछे रखकर आगे बढकर प्रकाशमान होते हैं, वैसे ही व्युषिताश्व सब लोकोंको पीछे रखकर सोहने लगे ॥ १० ॥

स विजित्य गृहीत्वा च नृपतीन्राजसत्तमः ।
प्राच्यानुदीच्यान्मध्यांश्च दक्षिणात्यानकालयत् ॥ ११ ॥
अश्वमेधे महायज्ञे व्युषिताश्वः प्रतापवान् ।
बभूव स हि राजेन्द्रो दशनागबलान्वितः ॥ १२ ॥

हे श्रेष्ठभूप ! पूर्व, मध्य, उत्तर और दक्षिण, उन चारों ओरके राजाओंको हराके पकड पकड कर दस हाथियोंके बलवाला वह राजाओंमें श्रेष्ठ व्युषिताश्व अश्वमेध महायज्ञमें बहुत प्रतापवान् हुआ ॥ ११–१२ ॥

अप्यत्र गाथां गायन्ति ये पुराणविदो जनाः ।
व्युषिताश्वः ससमुद्रान्तां विजित्येमां वसुन्धराम् ।
अपालयत्सर्ववर्णान्पिता पुत्रानिवौरसान् ॥ १३ ॥

पुराण कहनेवाले लोग यह कथा कहा करते हैं, कि उन्होंने समुद्रतक इस धरतीको जीतकर सब वर्णोंका उसी प्रकार पालन किया था, कि जैसे पिता औरस पुत्रको पालते हैं ॥ १३ ॥

यजमानो महायज्ञैर्ब्राह्मणेभ्यो ददौ धनम् ।
अनन्तरत्नान्यादाय आजहार महाक्रतून् ।
सुषाव च बहून्सोमान्सोमसंस्थास्ततान च ॥ १४ ॥

उन्होंने अनन्त रत्न बटोरकर सोमसंस्था अर्थात् ज्योतिष्टोमादि महायज्ञोंको बढाकर अगणित सोमलता निचोडी और ब्राह्मणोंको प्रचुर धन दिया था ॥ १४ ॥

आसीत्काक्षीवती चास्य भार्या परमसंमता ।
भद्रा नाम मनुष्येन्द्र रूपेणासदृशी भुवि ॥ १५ ॥

राजा काक्षीवान् की कन्या भद्रा उनकी परम प्यारी स्त्री थी। हे मनुष्योंमें इंद्ररूपी! भूमण्डलभरमें उन भद्राके समान अनुपम रूपवती नारी कोई दूसरी नहीं थी ॥ १५ ॥

कामयामासतुस्तौ च परस्परमिति श्रुतिः ।
स तस्यां कामसंमत्तो यक्ष्माणं समपद्यत ॥ १६ ॥

उस दम्पतिमें भद्रा जिस प्रकार पतिकी कामना करती थी, उसी प्रकार पति भी उस भद्राके प्रेमी थे। अनन्तर भद्राके साथ काम संभोगमें ही लगे रहनेसे व्युषिताश्वको क्षयने आ घेरा ॥ १६ ॥

तेनाचिरेण कालेन जगामास्तमिवांशुमान् ।
तस्मिन्प्रेते मनुष्येन्द्रे भार्यास्य भृशदुःखिता ॥ १७ ॥

इससे वह सूर्यकी भांति स्वल्प कालके बीचमें अस्त हो गये। उस भूपालके परलोकको सिधारने पर उनकी स्त्री शोकसे बडी विह्वल हुई ॥ १७ ॥

अपुत्रा पुरुषव्याघ्र विललापेति नः श्रुतम् ।
भद्रा परमदुःखार्ता तन्निबोध नराधिप ॥ १८ ॥

हे पुरुषोंमें व्याघ्ररूपी नरेश! पुत्रहीन भद्राने अति दुःखी होकर बहुत विलाप किया, ऐसा हमने सुना है, वह मैं कहती हूं, सुनिये ॥ १८ ॥

नारी परमधर्मज्ञ सर्वा पुत्रविनाकृता ।
पतिं विना जीवति या न सा जीवति दुःखिता ॥ १९ ॥

भद्रा भर्ताको लक्ष्यकर बोली, कि हे परम धर्मज्ञ! पुत्रके विना नारी अति निष्फला होती है। जो नारी पतिके बिना जीवनको धारण किये रहती है, वह सदा दुःखी होकर मरीसी बनी रहती है ॥ १९ ॥

पतिं विना मृतं श्रेयो नार्याः क्षत्रियपुङ्गव ।
त्वद्गतिं गन्तुमिच्छामि प्रसीदस्व नयस्व माम् ॥ २० ॥

हे क्षत्रियश्रेष्ठ! पतिके विना स्त्रियोंकी मृत्यु ही मङ्गलदायी होती है, अतएव मैं तुम्हारे साथ आना चाहती हूं, प्रसन्न होकर मुझको साथ ही ले चलो ॥ २० ॥

त्वया हीना क्षणमपि नाहं जीवितुमुत्सहे ।
प्रसादं कुरु मे राजन्नितस्तूर्णं नयस्व माम् ॥ २१ ॥

हे महाराज! तुम्हारे विना क्षणभर भी जीनेकी मेरी इच्छा नहीं है, अतएव प्रसन्न होओ, मुझको विना विलम्ब यहांसे ले जाओ ॥ २१ ॥

×

पृष्ठतोऽनुगमिष्यामि समेषु विषमेषु च।
त्वामहं नरशार्दूल गच्छन्तमनिवर्तिनम् ॥ २२ ॥

हे राजओंमें व्याघ्ररूपी पुरुष ! चाहे सुख हो या दुःख हो, हर स्थानमें मैं अब कभी वापस न आनेवाले तुम्हारे सङ्ग पीछे पीछे चलूंगी, पीछे नहीं लौटूंगी ॥ २२ ॥

छायेवानपगा राजन्सततं वशवर्तिनी।
भविष्यामि नरव्याघ्र नित्यं प्रियहिते रता ॥ २३ ॥

हे नरव्याघ्र ! मैं तुम्हारी प्रिय और हित करनेमें सन्नद्ध, परछाईंके समान पीछे चलती हुई और सदा आज्ञा माननेवाली बनी रहूंगी ! ॥ २३ ॥

अद्य प्रभृति मां राजन्कष्टा हृदयशोषणाः।
आधयोऽभिभविष्यन्ति त्वदृते पुष्करेक्षण ॥ २४ ॥

हे पुष्करेक्षण ! तुम्हारे विना आजसे कष्टदायी हृदय सोखने–हारी चित्तपीडा मुझको जकड लेगी ॥ २४ ॥

अभाग्यया मया नूनं वियुक्ताः सहचारिणः।
संयोगा विप्रयुक्ता वा पूर्वदेहेषु पार्थिव ॥ २५ ॥

दुर्भाग्यशाली मैंने पूर्वजन्ममें इकठे विराजते हुए दम्पतियोंको एक दूसरेसे अलग कर दिया था ॥ २५ ॥

तदिदं कर्मभिः पापैः पूर्वदेहेषु संचितम्।
दुःखं मामनुसंप्राप्तं राजंस्त्वद्विप्रयोगजम् ॥ २६ ॥

उस पापकर्मसे बटोरा हुआ दुःख इस समय आपके विरहका स्वरूप लेकर मुझे प्राप्त हुआ है ॥ २६ ॥

अद्य प्रभृत्यहं राजन्कुशप्रस्तरशायिनी।
भविष्याम्यसुखाविष्टा त्वद्दर्शनपरायणा ॥ २७ ॥

हे भूपाल ! मैं आजसे तुमको आंखोंके सामने रखकर कुशाके विस्तरपर लेटूंगी। किसी सुखसे सुखी न होऊंगी ॥ २७ ॥

दर्शयस्व नरव्याघ्र साधु मामसुखान्विताम्।
दीनामनाथां कृपणां विलपन्तीं नरेश्वर ॥ २८ ॥

हे नरव्याघ्र ! दर्शन दीजिये। हे नाथ ! हे नरनाथ ! कातर होकर विलपती हुई, असुखी इस दीना अधीनाको सुख दो ॥ २८ ॥

एवं बहुविधं तस्यां विलपन्त्यां पुनः पुनः ।
तं शवं संपरिष्वज्य वाक्किलान्तर्हिताब्रवीत् ॥ २९ ॥

इस प्रकारसे वह व्युषिताश्वकी स्त्री उस मुर्देसे लिपटकर बार बार भांति भांतिके विलाप कर रही थी, कि ऐसे समयमें यह आकाशवाणी हुई ॥ २९ ॥

उत्तिष्ठ भद्रे गच्छ त्वं ददानीह वरं तव ।
जनयिष्याम्यपत्यानि त्वय्यहं चारुहासिनि ॥ ३० ॥

" भद्रे ! उठो, जाओ; हे मधुरहासिनी ! तुमको वर देता हूं, मैं तुममें संतान पैदा करूंगा ॥ ३० ॥

आत्मीये च वरारोहे शयनीये चतुर्दशीम् ।
अष्टमीं वा ऋतुस्नाता संविशेथा मया सह ॥ ३१ ॥

हे सुन्दर आंखोंवाली सुन्दरी ! अष्टमी अथवा चतुर्दशीमें तुम ऋतुस्नान कर मेरे साथ अपने बिस्तर पर लेटना " ॥ ३१ ॥

एवमुक्ता तु सा देवी तथा चक्रे पतिव्रता ।
यथोक्तमेव तद्वाक्यं भद्रा पुत्रार्थिनी तदा ॥ ३२ ॥

यह आकाशवाणी होनेपर पुत्र चाहती हुई देवी पतिव्रता भद्राने उस बातके अनुसार उसी प्रकार किया ॥ ३२ ॥

सा तेन सुषुवे देवी शवेन मनुजाधिप ।
त्रीञ्शाल्वांश्चतुरो मद्रान्सुतान्भरतसत्तम ॥ ३३ ॥

हे भरतवंशमें श्रेष्ठ राजन् ! उस देवीने उस शवके वीर्यसे तीन शाल्व और चार मद्र इस प्रकार सात सन्तानें प्रसूत कीं ॥ ३३ ॥

तथा त्वमपि मय्येव मनसा भरतर्षभ ।
शक्तो जनयितुं पुत्रांस्तपोयोगबलान्वयात् ॥ ३४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११२ ॥ ४०३७ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! उसी प्रकार आप भी तप और योगके बलसे मानसके द्वारा मुझसे सन्तान पैदा कर सकते हैं ॥ ३४ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ बारहवां अध्याय समाप्त ॥ ११२ ॥ ४०३७ ॥

: ११३ :

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तया राजा तां देवीं पुनरब्रवीत्।
धर्मविद्धर्मसंयुक्तमिदं वचनमुत्तमम् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— धर्मज्ञ राजा पाण्डु देवीसे यह बात सुनकर फिर उससे अच्छा धर्मयुक्त यह वाक्य बोले ॥ १ ॥

एवमेतत्पुरा कुन्ति व्युषिताश्वश्चकार ह।
यथा त्वयोक्तं कल्याणि स ह्यासीदमरोपमः ॥ २ ॥

हे कुन्ति! तुमने जो कहा, वह ठीक ही है। व्युषिताश्वने ऐसा ही किया था, क्योंकि वह देववत् थे ॥ २ ॥

अथ त्विमं प्रवक्ष्यामि धर्मं त्वेतं निबोध मे।
पुराणमृषिभिर्दृष्टं धर्मविद्भिर्महात्मभिः ॥ ३ ॥

पर धर्मज्ञ महात्मा महर्षियोंने पुराणोंमें धर्मका जो तत्त्व दिखाया है, उस धर्मके तत्त्वको मैं तुमसे कहता हूं, सुनो ॥ ३ ॥

अनावृताः किल पुरा स्त्रिय आसन्वरानने।
कामचारविहारिण्यः स्वतन्त्राश्चारुलोचने ॥ ४ ॥

हे सुन्दरि! पूर्वकालमें स्त्रियोंको कुछ मनाई नहीं थी; हे मधुरहासिनी! वे उन दिनों स्वतन्त्र अर्थात् पति आदियोंसे न रोकी जाकर भोगके सुखकी आशामें घूमा करती थीं ॥४॥

तासां व्युच्चरमाणानां कौमारात्सुभगे पतीन्।
नाधर्मोऽभूद्वरारोहे स हि धर्मः पुराभवत् ॥ ५ ॥

हे सुन्दरी! वे कुमारी–दशा हीमें व्यभिचार करती थीं, इससे उनके लिए वह अधर्म नहीं होता था, क्योंकि वही पूर्वकालका धर्म था ॥ ५ ॥

तं चैव धर्मं पौराणं तिर्यग्योनिगताः प्रजाः।
अद्याप्यनुविधीयन्ते कामद्वेषविवर्जिताः।
पुराणदृष्टो धर्मोऽयं पूज्यते च महर्षिभिः ॥ ६ ॥

हे सुन्दरि! आजतक तिर्यग् योनिकी प्रजा काम द्वेषसे रहित होकर उस पुराने धर्मके अनुसार चलती है। महर्षिलोग भी पुराणसे दर्शाये हुए इस धर्मकी प्रशंसा किया करते हैं ॥६॥

उत्तरेषु च रम्भोरु कुरुष्वद्यापि वर्तते ।
स्त्रीणामनुग्रहकरः स हि धर्मः सनातनः । ॥ ७ ॥

हे सुन्दरि ! उत्तरकुरुओंमें आजतक इस धर्मकी पूजा हो रही है, क्योंकि वह सनातन धर्म स्त्रियोंपर कृपा करनेवाला है ॥ ७ ॥

अस्मिंस्तु लोके नचिरान्मर्यादेयं शुचिस्मिते ।
स्थापिता येन यस्माच्च तन्मे विस्तरतः शृणु ॥ ८ ॥

पर थोडे कालसे इस विषयमें वर्तमान नियम निश्चित हो गया है; जिस कारण तथा जिनके द्वारा यह स्थापित हुआ है, विस्तारपूर्वक कहता हूं, सुनो ॥ ८ ॥

बभूवोद्दालको नाम महर्षिरिति नः श्रुतम् ।
श्वेतकेतुरिति ख्यातः पुत्रस्तस्याभवन्मुनिः ॥ ९ ॥

हमने सुना है, कि उद्दालक नामक एक महर्षि थे । उनके श्वेतकेतुके नामसे एक मुनि पुत्र-रूपमें उत्पन्न हुए ॥ ९ ॥

मर्यादेयं कृता तेन मानुषेष्विति नः श्रुतम् ।
कोपात्कमलपत्राक्षि यदर्थं तन्निबोध मे ॥ १० ॥

हे पद्मनेत्रवती ! उन्होंने क्रोधित होकर मनुष्योंमें एक मर्यादा बांध दी थी, ऐसा हमने सुना है, जिस कारण उन्होंने यह मर्यादा बांध दी थी, मैं उसे कहता हूँ, सुनो ॥ १० ॥

श्वेतकेतोः किल पुरा समक्षं मातरं पितुः ।
जग्राह ब्राह्मणः पाणौ गच्छाव इति चाब्रवीत् ॥ ११ ॥

एक समय एक ब्राह्मण श्वेतकेतुके सामने ही उसकी माताका हाथ थामकर बोला, कि आओ हम चलें ॥ ११ ॥

ऋषिपुत्रस्ततः कोपं चकारामर्षितस्तदा ।
मातरं तां तथा दृष्ट्वा नीयमानां बलादिव ॥ १२ ॥

अनन्तर ऋषिकुमार श्वेतकेतु अन्य पुरुषसे माताको जबर्दस्ती लिवाये जाते देखकर दुःखी और क्रोधित हुए ॥ १२ ॥

क्रुद्धं तं तु पिता दृष्ट्वा श्वेतकेतुमुवाच ह ।
मा तात कोपं कार्षीस्त्वमेष धर्मः सनातनः ॥ १३ ॥

श्वेतकेतुके पिता उद्दालक उनको क्रोधसे कांपते हुए देखकर बोले, कि बेटा ! तुम क्रोधित मत होओ, सनातन धर्म ऐसा ही है ॥ १३ ॥

अनावृता हि सर्वेषां वर्णानामङ्गना भुवि ।
यथा गावः स्थितास्तात स्वे स्वे वर्णे तथा प्रजाः ॥ १४ ॥

इस भूमण्डलमें सब वर्णोंकी ही स्त्रियां बिना रोक टोक सबोंसे मिल सकती हैं । हे बेटा ! गौके समान सब वर्णोंकी प्रजा भी निज निज वर्णोंसे व्यवहार किया करती हैं ॥ १४ ॥

ऋषिपुत्रोऽथ तं धर्मं श्वेतकेतुर्न चक्षमे।
चकार चैव मर्यादामिमां स्त्रीपुंसयोर्भुवि ॥ १५ ॥

आगे ऋषिकुमार उस धर्मको सह न सके और भूमण्डलमें स्त्रीपुरुषोंकी यह मर्यादा ठहरायी ॥ १५ ॥

मानुषेषु महाभागे न त्वेवान्येषु जन्तुषु।
तदा प्रभृति मर्यादा स्थितेयमिति नः श्रुतम् ॥ १६ ॥

हे महाभागे! हमने सुना है, कि तबसे मनुष्य समाजमें यह नियम निश्चित हो गया है; यह दूसरे प्राणियों पर नहीं लागू होता है ॥ १६ ॥

व्युच्चरन्त्याः पतिं नार्या अद्य प्रभृति पातकम्।
भ्रूणहत्याकृतं पापं भविष्यत्यसुखावहम् ॥ १७ ॥

श्वेतकेतुने यह नियम बनाया, कि आजसे जो नारी पतिको तजकर व्यभिचार करेगी, उसको दुःखदायी भ्रूणहत्याका पाप लगेगा ॥ १७ ॥

भार्यां तथा व्युच्चरतः कौमारीं ब्रह्मचारिणीम्।
पतिव्रतामेतदेव भविता पातकं भुवि ॥ १८ ॥

तथा इस भूमण्डलमें जो पुरुष कुमारी ब्रह्मचारिणी तथा पतिव्रता प्यारी स्त्रीको तजकर परायी नारीसे मिलेगा उसके भी वैसा ही पाप लगेगा ॥ १८ ॥

पत्या नियुक्ता या चैव पत्न्यपत्यार्थमेव च।
न करिष्यति तस्याश्च भविष्यत्येतदेव हि ॥ १९ ॥

जो स्त्री पुत्र पैदा करनेके लिये पतिसे नियुक्त होकर भी उनकी बात नहीं मानेगी, उसको भी वैसा ही पाप लगेगा ॥ १९ ॥

इति तेन भीरु मर्यादा स्थापिता बलात्।
उद्दालकस्य पुत्रेण धर्म्या वै श्वेतकेतुना ॥ २० ॥

हे भीरु! उन उद्दालकके पुत्र श्वेतकेतुने बलपूर्वक धर्मके अनुसार यह मर्यादा ठहरायी थी ॥ २० ॥

सौदासेन च रम्भोरु नियुक्तापत्यजन्मनि।
मदयन्ती जगामर्षिं वसिष्ठमिति नः श्रुतम् ॥ २१ ॥

हे सुन्दरी! हमने सुना है, कि सौदासकी स्त्री मदयन्ती पतिसे पुत्र पैदा करनेके लिए नियुक्त होकर महर्षि वसिष्ठके निकट गयी थी ॥ २१ ॥

तस्माल्लेभे च सा पुत्रमश्मकं नाम भामिनी ।
भार्या कल्माषपादस्य भर्तुः प्रियचिकीर्षया ॥ २२ ॥

और उनसे अश्मक नामक पुत्र प्राप्त किया था । कल्माषपादकी स्त्री उस भामिनीने भर्ताका प्रिय कार्य करने हीके लिये ऐसा किया था ॥ २२ ॥

अस्माकमपि ते जन्म विदितं कमलेक्षणे ।
कृष्णद्वैपायनाद्भीरु कुरूणां वंशवृद्धये ॥ २३ ॥

हे पद्मनेत्रे ! तुम यह भी जानती हो, कि कुरुओंका वंश बढानेके लिये भगवान् कृष्णद्वैपायनसे हम लोगोंका जन्म हुआ ॥ २३ ॥

अत एतानि सर्वाणि कारणानि समीक्ष्य वै ।
ममैतद्वचनं धर्म्यं कर्तुमर्हस्यनिन्दिते ॥ २४ ॥

अतएव, हे सुन्दरी ! इन सब विषयोंकी भलीभांति आलोचना करके मेरी इस धर्मानुसारी बातको तुम्हें मानना चाहिए ॥ २४ ॥

ऋतावृतौ राजपुत्रि स्त्रिया भर्ता यतव्रते ।
नातिवर्तव्य इत्येवं धर्मं धर्मविदो विदुः ॥ २५ ॥

हे व्रतशीले राजपुत्रि ! धर्म जाननेवाले पुरातन धर्मकी यह व्याख्या करते हैं, कि ऋतुकालमें स्त्रीको पतिकी बातका उल्लंघन नहीं करना चाहिए ॥ २५ ॥

शेषेष्वन्येषु कालेषु स्वातन्त्र्यं स्त्री किलार्हति ।
धर्ममेतं जनाः सन्तः पुराणं परिचक्षते ॥ २६ ॥

शेष अन्य समयमें वह स्वतन्त्र हो सकती हैं, विद्वान् जन इसे ही प्राचीन धर्म कहते हैं ॥२६॥

भर्ता भार्यां राजपुत्रि धर्म्यं वाधर्म्यमेव वा ।
यद्ब्रूयात्तत्तथा कार्यमिति धर्मविदो विदुः ॥ २७ ॥

हे राजपुत्रि ! चाहे धर्म वा अधर्म होवे, पति भार्यासे जो कहे, भार्याको वह अवश्य मानना चाहिये । यह धर्म जाननेवाले कहते हैं ॥ २७ ॥

विशेषतः पुत्रगृद्धी हीनः प्रजननात्स्वयम् ।
यथाहमनवद्याङ्गि पुत्रदर्शनलालसः ॥ २८ ॥

हे सुन्दरी ! विशेष मैं पैदा करनेकी शक्तिसे हाथ धो चुका हूं, पर पुत्र पानेकी इच्छा भी रखता हूं, इसलिये हे शुभे ! मैं पुत्र देखनेकी इच्छासे ॥ २८ ॥

तथा रक्ताङ्गुलितलः पद्मपत्रनिभः शुभे।
प्रसादार्थं मया तेऽयं शिरस्यभ्युद्यतोऽञ्जलिः ॥ २९ ॥

तुमको प्रसन्न करनेके लिये लाल उंगलियोंसे सुशोभित इस पद्मपत्र समानके हथेलीको तेरे सिर पर उठाता हूं ॥ २९ ॥

मन्नियोगात्सुकेशान्ते द्विजातेस्तपसाधिकात्।
पुत्रान्गुणसमायुक्तानुत्पादयितुमर्हसि।
त्वत्कृतेऽहं पृथुश्रोणि गच्छेयं पुत्रिणां गतिम् ॥ ३० ॥

हे सुकेशिनी! तुम मेरे नियोगके अनुसार किसी अच्छे तपस्यायुक्त ब्राह्मणसे गुणवान् पुत्रोंको उत्पन्न करो। हे पृथुश्रोणि! तुमसे मैं पुत्रवान् जनोंकी गति लाभ करूंगा ॥ ३० ॥

एवमुक्ता ततः कुन्ती पाण्डुं परपुरञ्जयम्।
प्रत्युवाच वरारोहा भर्तुः प्रियहिते रता ॥ ३१ ॥

पतिके प्रिय कार्य और हित चाहनेवाली सुन्दरी कुन्ती, शत्रुके नगरोंको तोडनेहारे पति पाण्डुकी यह बात सुन कर बोली ॥ ३१ ॥

पितृवेश्मन्यहं बाला नियुक्तातिथिपूजने।
उग्रं पर्यचरं तत्र ब्राह्मणं संशितव्रतम् ॥ ३२ ॥

बालपनमें मैं पिताके घरमें अतिथियोंकी सेवामें नियुक्त थी। उन दिनों एक प्रशंसित व्रत-युक्त एक क्रोधी ब्राह्मणकी भली प्रकार सेवा की थी ॥ ३२ ॥

निगूढनिश्चयं धर्मे यं तं दुर्वाससं विदुः।
तमहं संशितात्मानं सर्वयत्नैरतोषयम् ॥ ३३ ॥

एक समय धर्मके गूढ तत्त्व जाननेवाले दुर्वासा नामक प्रसिद्ध जितेन्द्रिय महर्षि वहां आये। मैंने उन संयतात्मा महर्षिको सब प्रकारके प्रयत्नसे सन्तुष्ट किया ॥ ३३ ॥

स मेऽभिचारसंयुक्तमाचष्ट भगवान्वरम्।
मन्त्रग्रामं च मे प्रादादब्रवीच्चैव मामिदम् ॥ ३४ ॥

उन भगवान्ने मुझको अभिचारयुक्त वर देकर एक मंत्र दे दिया और मुझसे यह कहा ॥३४॥

यं यं देवं त्वमेतेन मन्त्रेणावाहयिष्यसि।
अकामो वा सकामो वा स ते वशमुपैष्यति ॥ ३५ ॥

कि तुम इस मन्त्रसे जिन जिन देवोंको बुलाओगी, वह सकाम हों वा निष्काम हों उसी क्षण तुम्हारे वशमें हो जायंगे ॥ ३५ ॥

इत्युक्ताहं तदा तेन पितृवेश्मनि भारत ।
ब्राह्मणेन वचस्तथ्यं तस्य कालोऽयमागतः ॥ ३६ ॥

हे भारत ! पिताके घरमें उन दुर्वासाने मुझसे ऐसा कहा था । हे भूपाल ! ब्राह्मणकी बात झूठी नहीं होती । अब उसका समय आ पहुंचा है ॥ ३६ ॥

अनुज्ञाता त्वया देवामाह्वयेयमहं नृप ।
तेन मन्त्रेण राजर्षे यथा स्यान्नौ प्रजा विभो ॥ ३७ ॥

अतएव, हे राजर्षि ! आपकी आज्ञा होवे, तो उस मन्त्रसे देवोंको बुला सकती हूं, इससे हमें हित करनेवाला पुत्र प्राप्त होगा ॥ ३७ ॥

आवाहयामि कं देवं ब्रूहि तत्त्वविदां वर ।
त्वत्तोऽनुज्ञाप्रतीक्षां मां विद्ध्यस्मिन्कर्मणि स्थिताम् ॥ ३८ ॥

हे तत्त्वज्ञोंमें श्रेष्ठ ! कहिये, किस देवको बुलाऊं आपहीकी आज्ञासे मैं इस कार्यमें दत्तचित्त होती हूं । यह आप जान लीजिए ॥ ३८ ॥

पाण्डुरुवाच

अद्यैव त्वं वरारोहे प्रयतस्व यथाविधि ।
धर्ममावाहय शुभे स हि देवेषु पुण्यभाक् ॥ ३९ ॥

पाण्डु बोले– हे सुन्दरि ! तुम आज ही इस बातके लिए यथाविधि प्रयत्न करो । हे शुभे ! धर्मको बुलाओ, क्योंकि वह देवोंमें पुण्यात्मा है ॥ ३९ ॥

अधर्मेण न नो धर्मः संयुज्येत कथंचन ।
लोकश्चायं वरारोहे धर्मोऽयमिति मंस्यते ॥ ४० ॥

हे सुन्दरि ! धर्म हमको किसी प्रकारसे अधर्ममें डाल नहीं सकेंगे और लोक भी समझेंगे, यह काम धर्मयुक्त ही हुआ है ॥ ४० ॥

धार्मिकश्च कुरूणां स भविष्यति न संशयः ।
दत्तस्यापि च धर्मेण नाधर्मे रंस्यते मनः ॥ ४१ ॥

इसमें सन्देह नहीं है, कि धर्मका दिया हुआ वह पुत्र कुरुओंमें धार्मिक होगा और धर्मके द्वारा दिया हुआ होनेके कारण उसका मन कभी अधर्ममें नहीं रमेगा ॥ ४१ ॥

तस्माद्धर्मं पुरस्कृत्य नियता त्वं शुचिस्मिते ।
उपचाराभिचाराभ्यां धर्ममाराधयस्व वै ॥ ४२ ॥

अतः, हे सुन्दरि ! तुम संयत होकर और धर्मका आश्रय कर अभिचार तथा उपचारसे धर्म-हीको बुलाओ ॥ ४२ ॥

×

वैशम्पायन उवाच

सा तथोक्ता तथेत्युक्त्वा तेन भर्त्रा वराङ्गना।
अभिवाद्याभ्यनुज्ञाता प्रदक्षिणमवर्तत ॥ ४३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११३ ॥ ४०८० ॥

वैशम्पायन बोले— अनन्तर वह श्रेष्ठ नारी कुन्ती भर्ताकी वह बात सुन उसको मान, पांव छू करके दायीं ओर जाकर खडी हो गई ॥ ४३ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ तेरहवां अध्याय समाप्त ॥ ११३ ॥ ४०८० ॥

: ११४ :

वैशम्पायन उवाच

संवत्सराहिते गर्भे गान्धार्या जनमेजय।
आह्वयामास वै कुन्ती गर्भार्थं धर्ममच्युतम् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— हे जनमेजय! जब गान्धारीने वर्ष भर गर्भ धारण किया था, तब कुन्तीने गर्भके निमित्त अक्षर धर्मको बुलाया ॥ १ ॥

सा बलिं त्वरिता देवी धर्मायोपजहार ह।
जजाप जप्यं विधिवद्दत्तं दुर्वाससा पुरा ॥ २ ॥

और शीघ्र उनके लिए पूजा सामग्री ले आई और पहिले दुर्वासाने जो मन्त्र दिया था, उसको यथाविधि जपने लगी ॥ २ ॥

संगम्य सा तु धर्मेण योगमूर्तिधरेण वै।
लेभे पुत्रं वरारोहा सर्वप्राणभृतां वरम् ॥ ३ ॥

अनन्तर सुन्दरी कुन्तीने योगीका स्वरूप लिये हुए धर्मसे मिलकर सब जीवोंमें श्रेष्ठ पुत्र प्राप्त किया ॥ ३ ॥

ऐन्द्रे चन्द्रसमायुक्ते मुहूर्तेऽभिजितेऽष्टमे।
दिवा मध्यगते सूर्ये तिथौ पुण्येऽभिपूजिते ॥ ४ ॥

इसके पश्चात् कार्तिक महीनेकी अति प्रशंसित पूज्यतिथि अर्थात् शुक्ला अष्टमीकी चन्द्रयुक्त ज्येष्ठा नक्षत्रमें अभिजित् नामक आठवें मुहूर्तमें दिन दोपहरके समय ॥ ४ ॥

समृद्धयशसं कुन्ती सुषाव समये सुतम्।
जातमात्रे सुते तस्मिन्वागुवाचाशरीरिणी ॥ ५ ॥

कुन्तीने अति यशस्वी एक श्रेष्ठ पुत्र प्रसूत किया। उस पुत्रके जन्म लेते ही आकाशवाणी हुई ॥ ५ ॥

एष धर्मभृतां श्रेष्ठो भविष्यति न संशयः।
युधिष्ठिर इति ख्यातः पाण्डोः प्रथमजः सुतः ॥ ६ ॥

"पाण्डुका यह पहिला पुत्र धर्मशील जनोंमें श्रेष्ठ और युधिष्ठिरके नामसे प्रसिद्ध होगा ॥६॥

भविता प्रथितो राजा त्रिषु लोकेषु विश्रुतः।
यशसा तेजसा चैव वृत्तेन च समन्वितः ॥ ७ ॥

यह तीनों लोकोंमें प्रशंसित, यशस्वी, तेजस्वी और चरित्रशील होगा" ॥ ७ ॥

धार्मिकं तं सुतं लब्ध्वा पाण्डुस्तां पुनरब्रवीत्।
प्राहुः क्षत्रं बलज्येष्ठं बलज्येष्ठं सुतं वृणु ॥ ८ ॥

पाण्डु वह धार्मिक पुत्र पाकर फिर कुन्तीसे बोले, कि पण्डित लोग क्षत्रियको बलमें श्रेष्ठ कहते हैं, अतः तुम एक बलमें प्रधान पुत्रके लिए प्रार्थना करो ॥ ८ ॥

ततस्तथोक्ता पत्या तु वायुमेवाजुहाव सा।
तस्माज्जज्ञे महाबाहुर्भीमो भीमपराक्रमः ॥ ९ ॥

अनन्तर कुन्तीने पतिकी यह बात सुनकर पवनदेवको बुलाया। तब पवनदेवसे महाभुज भीमपराक्रमी भीमका जन्म हुआ ॥ ९ ॥

तमप्यतिबलं जातं वागभ्यवदद्च्युतम्।
सर्वेषां बलिनां श्रेष्ठो जातोऽयमिति भारत ॥ १० ॥

हे भारत! उस महाबली पुत्रके जन्म लेते ही आकाशवाणी हुई, "यह जन्म लिया हुआ बालक सम्पूर्ण बलियोंमें श्रेष्ठ होगा।" ॥ १० ॥

इदमत्यद्भुतं चासीज्जातमात्रे वृकोदरे।
यदङ्कात्पतितो मातुः शिलां गात्रैरचूर्णयत् ॥ ११ ॥

वृकोदरके जन्म लेते ही यह एक आश्चर्यजनक घटना हुई, कि उसने माताकी गोदसे गिरकर देहसे पत्थर तोड डाला ॥ ११ ॥

कुन्ती व्याघ्रभयोद्विग्ना सहसोत्पतिता किल।
नान्वबुध्यत संसुप्तमुत्सङ्गे स्वे वृकोदरम् ॥ १२ ॥

कुन्ती बाघके भयसे भयभीत होकर ... ड़ी हुई, उसे यह ध्यान नहीं
उसकी गोदमें वृकोदर सोया हुआ

तत: स वज्रसंघातः कुमारोऽभ्यपतद्गिरौ।
पतता तेन शतधा शिला गात्रैर्विचूर्णिता।
तां शिलां चूर्णितां दृष्ट्वा पाण्डुर्विस्मयमागमत् ॥ १३ ॥

तब यह वज्रसमान शरीरधारी कुमार पहाड पर गिर पडा, गिरनेपर उसकी देहकी चोटसे पत्थर सैंकडों भागोंमें चूर चूर हो गया। उस चट्टानको टूटा हुआ देखकर पाण्डुको बडा आश्चर्य हुआ ॥ १३ ॥

यस्मिन्नहनि भीमस्तु जज्ञे भरतसत्तम।
दुर्योधनोऽपि तत्रैव प्रजज्ञे वसुधाधिप ॥ १४ ॥

हे भरतश्रेष्ठ राजन्! जिस दिन भीमने जन्म लिया, उसी दिन दुर्योधनका जन्म हुआ ॥१४॥

जाते वृकोदरे पाण्डुरिदं भूयोऽन्वचिन्तयत्।
कथं नु मे वरः पुत्रो लोकश्रेष्ठो भवेदिति ॥ १५ ॥

वृकोदरका जन्म होनेपर पाण्डु फिर सोचने लगे, कि मेरे एक प्रधान लोकश्रेष्ठ पुत्र कैसे पैदा हो ॥ १५ ॥

दैवे पुरुषकारे च लोकोऽयं हि प्रतिष्ठितः।
तत्र दैवं तु विधिना कालयुक्तेन लभ्यते ॥ १६ ॥

यह भूमण्डल दैव और पुरुषकारसे पूरा प्रतिष्ठित है; उनमेंसे दैव कालके अनुसार विधि वश प्राप्त होता है ॥ १६ ॥

इन्द्रो हि राजा देवानां प्रधान इति नः श्रुतम्।
अप्रमेयबलोत्साहो वीर्यवानमितद्युतिः ॥ १७ ॥

सुनता हूं, कि इन्द्र देवोंके राजा तथा प्रधान हैं; वह अपरिमित बल और उत्साहयुक्त हैं, और उनका वीर्य तथा प्रकाश भी अपरिमित है ॥ १७ ॥

तं तोषयित्वा तपसा पुत्रं लप्स्ये महाबलम्।
यं दास्यति स मे पुत्रं स वरीयान्भविष्यति।
कर्मणा मनसा वाचा तस्मात्तप्स्ये महत्तपः ॥ १८ ॥

तपस्यासे उनको प्रसन्न कर महाबली पुत्र पा सकूंगा; वह मुझको जो पुत्र देंगे, इसलिये मैं कर्म, मन और वाक्यसे कठोर तप करूंगा ॥ १८ ॥

ततः पाण्डुर्महातेजा मन्त्रयित्वा महर्षिभिः।
दिदेश कुन्त्याः कौरव्यो व्रतं सांवत्सरं शुभम् ॥ १९ ॥

अनन्तर कौरवनन्दन महाराज पाण्डुने, महर्षियोंसे परामर्श कर कुन्तीको यह आज्ञा दी, कि वर्षभरमें पूर्ण होवे, ऐसा कोई शुभ व्रत करो ॥ १९ ॥

आत्मना च महाबाहुरेकपादस्थितोऽभवत् ।
उग्रं स तप आतस्थे परमेण समाधिना ॥ २० ॥

और स्वयं भी परम समाधिसे कठोर तपस्याको आश्रयकर एक पांवसे खडे हो तप करने लगे ॥ २० ॥

आरिराधयिषुर्देवं त्रिदशानां तमीश्वरम् ।
सूर्येण सह धर्मात्मा पर्यवर्तत भारत ॥ २१ ॥

देवोंके राजा इन्द्र देवको प्रसन्न करनेकी इच्छावाले धर्मात्मा पाण्डु सूर्यकी धूपमें उदयके कालसे अस्तकालतक तपने लगे ॥ २१ ॥

तं तु कालेन महता वासवः प्रत्यभाषत ।
पुत्रं तव प्रदास्यामि त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥ २२ ॥

बहुतकाल बीतने पर देवराज उनके पास आकर बोले, कि " मैं तुमको तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध एक श्रेष्ठ पुत्र दूंगा ॥ २२ ॥

देवानां ब्राह्मणानां च सुहृदां चार्थसाधकम् ।
सुतं तेऽग्र्यं प्रदास्यामि सर्वामित्रविनाशनम् ॥ २३ ॥

ब्राह्मण, देव और मित्रोंके हित करनेवाले और सम्पूर्ण शत्रुकुलका नाश करनेवाले एक पुत्रको तुम्हें दूंगा " ॥ २३ ॥

इत्युक्तः कौरवो राजा वासवेन महात्मना ।
उवाच कुन्तीं धर्मात्मा देवराजवचः स्मरन् ॥ २४ ॥

महात्मा इंद्रके यह बात कहनेपर, धर्मात्मा कौरव देवराजकी उस बातको स्मरण कर कुन्तीसे बोले ॥ २४ ॥

नीतिमन्तं महात्मानमादित्यसमतेजसम् ।
दुराधर्षं क्रियावन्तमतीवाद्भुतदर्शनम् ॥ २५ ॥

नीतियुक्त, महात्मा, सूर्यके समान तेजपूर्ण, न हारनेवाला, क्रियावान् , देखनेमें अद्भुत ॥२५॥

पुत्रं जनय सुश्रोणि धाम क्षत्रियतेजसाम् ।
लब्धः प्रसादो देवेन्द्रात्तमाह्वय शुचिस्मिते ॥ २६ ॥

क्षत्रियतेजसे पूरित ऐसे कीर्तियुक्त पुत्र उत्पन्न करो । हे सुन्दरी ! मैंने देवराजको प्रसन्न कर लिया है, तुम उनको बुलाओ ॥ २६ ॥

एवमुक्ता ततः शक्रमाजुहाव यशस्विनी ।
अथाजगाम देवेन्द्रो जनयामास चार्जुनम् ॥ २७ ॥

यशस्विनी कुन्तीने यह सुनकर इन्द्रको बुलाया । अनन्तर देवराजने आकर अर्जुनको जन्म दिया ॥ २७ ॥

जातमात्रे कुमारे तु वागुवाचाशरीरिणी।
महागम्भीरनिर्घोषा नभो नादयती तदा ॥ २८ ॥
कुमारके जन्म लेते ही बडे गंभीर शब्दसे आकाश गुंजाती आकाशवाणी बोली ॥ २८ ॥

कार्तवीर्यसमः कुन्ति शिबितुल्यपराक्रमः।
एष शक्र इवाजेयो यशस्ते प्रथयिष्यति ॥ २९ ॥
"हे कुन्ति! कार्तवीर्य सदृश वीर्यवान्, शिबि समान पराक्रमी, इन्द्रवत् अजेय यह कुमार सर्वत्र तुम्हारा यश फैलावेगा ॥ २९ ॥

अदित्या विष्णुना प्रीतिर्यथाभूदभिवर्धिता।
तथा विष्णुसमः प्रीतिं वर्धयिष्यति तेऽर्जुनः ॥ ३० ॥
विष्णुसे जिस प्रकार अदितिकी प्रीति बढी थी, वैसे ही उपेन्द्रवत् यह पुत्र तुम्हारी प्रीति और भी बढावेगा ॥ ३० ॥

एष मद्रान्वशे कृत्वा कुरूंश्च सह केकयैः।
चेदिकाशिकरूषांश्च कुरुलक्ष्म सुधास्यति ॥ ३१ ॥
यह कुमार मद्र, कुरु, कैकय, चेदि, काशी, करुष आदि देशोंको वशमें लाकर कौरव वंशकी राजलक्ष्मी धारण करेगा ॥ ३१ ॥

एतस्य भुजवीर्येण खाण्डवे हव्यवाहनः।
मेदसा सर्वभूतानां तृप्तिं यास्यति वै पराम् ॥ ३२ ॥
और इस पुत्रके भुजवीर्यसे अग्निदेव खाण्डवप्रस्थमें सर्वभूतोंके मेदसे बडा सन्तोष प्राप्त करेंगे ॥ ३२ ॥

ग्रामणीश्च महीपालानेष जित्वा महाबलः।
भ्रातृभिः सहितो वीरस्त्रीन्मेधानाहरिष्यति ॥ ३३ ॥
यह महाबली वीर पुरुष भाइयोंके सहित सम्पूर्ण महीपालोंको जीतकर तीन बार अश्वमेध यज्ञ करेगा ॥ ३३ ॥

जामदग्न्यसमः कुन्ति विष्णुतुल्यपराक्रमः।
एष वीर्यवतां श्रेष्ठो भविष्यत्यपराजितः ॥ ३४ ॥
हे कुन्ति! यह पुत्र जामदग्न्य और विष्णु समान पराक्रमी और वीर्यवान् जनोंमें श्रेष्ठ और अपराजित होगा ॥ ३४ ॥

तथा दिव्यानि चास्त्राणि निखिलान्याहरिष्यति।
विप्रनष्टां श्रियं चायमाहर्ता पुरुषर्षभः ॥ ३५ ॥
यह पुरुषोंमें श्रेष्ठ जन, सम्पूर्ण दिव्यास्त्र सीख कर नष्ट हुई हुई राजलक्ष्मीको फिर सुधारेगा" ॥ ३५ ॥

एतामत्यद्भुतां वाचं कुन्तीपुत्रस्य सूतके।
उक्तवान्वायुराकाशे कुन्ती शुश्राव चास्य ताम् ॥ ३६ ॥

कुन्तीने पुत्रके जन्मपर यह आश्चर्यमयी वाणी सुनी, आकाशमें यह बात वायुने कही और उसे कुन्तीने सुना ॥ ३६ ॥

वाचमुच्चारितामुच्चैस्तां निशम्य तपस्विनाम्।
बभूव परमो हर्षः शतशृङ्गनिवासिनाम् ॥ ३७ ॥

बडे जोरसे उच्चारी हुई उस वाणीको सुनकर शतशृङ्ग पर विराजते हुए तपस्वियोंको बडा आनन्द हुआ ॥ ३७ ॥

तथा देवऋषीणां च सेन्द्राणां च दिवौकसाम्।
आकाशे दुन्दुभीनां च बभूव तुमुलः स्वनः ॥ ३८ ॥

और विमानपर आरूढ देवगण भी बडे प्रसन्न हुए। आकाशमें बडे घोर कोलाहलसे नगाडे बजने लगे ॥ ३८ ॥

उदतिष्ठन्महाघोषः पुष्पवृष्टिभिरावृतः।
समवेत्य च देवानां गणाः पार्थमपूजयन् ॥ ३९ ॥

महान् शब्द होने लगा, विना रोक टोक फूल वर्षने लगे और सब देव मिलकर पार्थकी पूजा करने लगे ॥ ३९ ॥

काद्रवेया वैनतेया गन्धर्वाप्सरसस्तथा।
प्रजानां पतयः सर्वे सप्त चैव महर्षयः ॥ ४० ॥

कद्रु और विनताके पुत्रगण, गन्धर्वगण, अप्सरागण और प्रजापतिगण तथा सभी सात महर्षि गण ॥ ४० ॥

भरद्वाजः कश्यपो गौतमश्च विश्वामित्रो जमदग्निर्वसिष्ठः।
यश्चोदितो भास्करेऽभूत्प्रनष्टे सोऽप्यत्रात्रिर्भगवानाजगाम ॥ ४१ ॥

अर्थात् भरद्वाज, कश्यप, गौतम, विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ और सूर्यके नष्ट होने पर जो उदित हुए थे, वह भगवान् अत्रि इस प्रकार यह सात महर्षि वहां आये ॥ ४१ ॥

मरीचिरङ्गिराश्चैव पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
दक्षः प्रजापतिश्चैव गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥ ४२ ॥

मरीचि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रजापति दक्ष, गन्धर्व और अप्सरागण यह भी वहां आये ॥ ४२ ॥

दिव्यमाल्याम्बरधराः सर्वालङ्कारभूषिताः ।
उपगायन्ति बीभत्सुमुपनृत्यन्ति चाप्सराः ।
गन्धर्वैः सहितः श्रीमान्प्रागायत च तुम्बुरुः ॥ ४३ ॥

अप्सरावृन्द दिव्यमाला और दिव्यवस्त्र पहिनकर सब आभूषणोंसे बन ठन कर अर्जुनकी प्रशंसाके गीत गाने और नाचने लगी। श्रीमान् तुम्बुरुने गन्धर्वोंके साथ गीत आरंभ किया ॥ ४३ ॥

भीमसेनोग्रसेनौ च ऊर्णायुरनघस्तथा ।
गोपतिर्धृतराष्ट्रश्च सूर्यवर्चाश्च सप्तमः ॥ ४४ ॥

हे नरेश ! भीमसेन, उग्रसेन, ऊर्णायु और अनघ, गोपति, धृतराष्ट्र और सातवां सूर्यवर्चा ॥ ४४ ॥

युगपस्तृणपः कार्ष्णिर्नन्दिश्चित्ररथस्तथा ।
त्रयोदशः शालिशिराः पर्जन्यश्च चतुर्दशः ॥ ४५ ॥

युगप, तृणप, कार्ष्णि, नन्दि और चित्ररथ, तेरहवां शालिशिरा और चौदहवां पर्जन्य ॥४५॥

कलिः पञ्चदशश्चात्र नारदश्चैव षोडशः ।
सद्वा बृहद्वा बृहकः करालश्च महायशाः ॥ ४६ ॥

पन्द्रहवां कलि, सोलहवां नारद, सद्वा, बृहद्वा, बृहक, महायशस्वी कराल ॥ ४६ ॥

ब्रह्मचारी बहुगुणः सुपर्णश्चेति विश्रुतः ।
विश्वावसुर्भुमन्युश्च सुचन्द्रो दशमस्तथा ॥ ४७ ॥

ब्रह्मचारी, बहुगण, विख्यात सुपर्ण, विश्वावसु, भुमन्यु, सुचन्द्र, दशम ॥ ४७ ॥

गीतमाधुर्यसंपन्नौ विख्यातौ च हहाहुहू ।
इत्येते देवगन्धर्वा जगुस्तत्र नरर्षभम् ॥ ४८ ॥

और ललित गीत गानेवाले प्रख्यात हाहा और हूहू यह देव और गन्धर्व वह उस मनुष्य श्रेष्ठके लिए गीत गाने लगे ॥ ४८ ॥

तथैवाप्सरसो हृष्टाः सर्वालङ्कारभूषिताः ।
ननृतुर्वै महाभागा जगुश्चायतलोचनाः ॥ ४९ ॥

प्रशस्तलोचना, महाभागा अप्सरायें सब आभूषणोंसे सज धजकर प्रसन्न चित्तसे नाचने और गाने लगीं ॥ ४९ ॥

अनूना चानवद्या च प्रियमुख्या गुणावरा ।
अद्रिका च तथा साची मिश्रकेशी अलम्बुसा ॥ ५० ॥

अनूना, अनवद्या, प्रियमुख्या, गुणावरा, अद्रिका, साची, मिश्रकेशी, अलम्बुसा ॥ ५० ॥

मरीचिः शुचिका चैव विद्युत्पर्णा तिलोत्तमा ।
अम्बिका लक्षणा क्षेमा देवी रम्भा मनोरमा ॥ ५१ ॥

मरीचि, शुचिका, विद्युत्पर्णा, तिलोत्तमा, अम्बिका, लक्षणा, क्षेमा, देवी रंभा, मनोरमा ॥ ५१ ॥

असिता च सुबाहुश्च सुप्रिया सुवपुस्तथा ।
पुण्डरीका सुगन्धा च सुरथा च प्रमाथिनी ॥ ५२ ॥

असिता, सुबाहु, सुप्रिया और सुवपु, पुण्डरीका, सुगन्धा, सुरथा और प्रमाथिनी ॥ ५२ ॥

काम्या शारद्वती चैव ननृतुस्तत्र सङ्घशः ।
मेनका सहजन्या च पर्णिका पुञ्जिकस्थला ॥ ५३ ॥

काम्या और शारद्वती यह सब अप्सरायें आपसमें मिलकर नाचने लगीं और मेनका, सहजन्या, पर्णिका, पुंजिकस्थला ॥ ५३ ॥

क्रतुस्थला घृताची च विश्वाची पूर्वचित्त्यपि ।
उम्लोचेत्यभिविख्याता प्रम्लोचेति च ता दश ।
उर्वश्येकादशीत्येता जगुरायतलोचनाः ॥ ५४ ॥

क्रतुस्थला, घृताची, विश्वाची, पूर्वचित्ती, उम्लोचा, विख्यात प्रम्लोचा आदि दस और उर्वशी यह ग्यारह स्वर्गकी विशालनेत्रा अप्सरायें एकत्र होकर गीत गाने लगीं ॥ ५४ ॥

धातार्यमा च मित्रश्च वरुणोंऽशो भगस्तथा ।
इन्द्रो विवस्वान्पूषा च त्वष्टा च सविता तथा ॥ ५५ ॥

धाता, अर्यमा, मित्र, वरुण, अंश और भग, इन्द्र, विवस्वान्, पूषा, त्वष्टा और सविता ॥ ५५ ॥

पर्जन्यश्चैव विष्णुश्च आदित्याः पावकार्चिषः ।
महिमानं पाण्डवस्य वर्धयन्तोऽम्बरे स्थिताः ॥ ५६ ॥

और पर्जन्य, विष्णु, आदित्य तथा पावकगण आकाशमें विराजते हुए पाण्डुपुत्रकी महिमा बढाने लगे ॥ ५६ ॥

मृगव्याधश्च शर्वश्च निर्ऋतिश्च महायशाः
अजैकपादहिर्बुध्न्यः पिनाकी च परन्तपः ॥ ५७ ॥

हे शत्रुनाशी ! मृग–व्याध, शर्व, अति यशस्वी निर्ऋति, अजैकपात्, अहिर्बुध्न्य और शत्रुनाशक पिनाकी ॥ ५७ ॥

दहनोऽथेश्वरश्चैव कपाली च विशां पते।
स्थाणुर्भवश्च भगवान्रुद्रास्तत्रावतस्थिरे ॥ ५८ ॥

हे राजन्! दहन, ईश्वर, कपाली, स्थाणु और भगवान् भव यह ग्यारह रुद्र वहां आये ॥५८॥

अश्विनौ वसवश्चाष्टौ मरुतश्च महाबलाः।
विश्वेदेवास्तथा साध्यास्तत्रासन्परिसंस्थिताः ॥ ५९ ॥

दोनों अश्विनीकुमार, आठों वसु, महाबली मरुद्गण, विश्वदेवगण और साध्यगण आकर वहां विराजने लगे ॥ ५९ ॥

कर्कोटकोऽथ शेषश्च वासुकिश्च भुजङ्गमः।
कच्छपश्चापकुण्डश्च तक्षकश्च महोरगः ॥ ६० ॥

कर्कोटक, शेष तथा भुजगश्रेष्ठ वासुकी, कच्छप, कुण्ड और महोरग तक्षक ॥ ६० ॥

आययुस्तेजसा युक्ता महाक्रोधा महाबलाः।
एते चान्ये च बहवस्तत्र नागा व्यवस्थिताः ॥ ६१ ॥

वह सब तेज युक्त बडे क्रोधी महाबली सर्प और दूसरे बहुत सारे नाग वहां आपहुंचे ॥६१॥

तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च गरुडश्चासितध्वजः।
अरुणश्चारुणिश्चैव वैनतेया व्यवस्थिताः ॥ ६२ ॥

तार्क्ष्य, अरिष्टनेमि, गरुड, असितध्वज, अरुण और आरुणि यह सब विनताके पुत्र भी वहां आ गये ॥ ६२ ॥

तद्दृष्ट्वा महदाश्चर्यं विस्मिता मुनिसत्तमाः।
अधिकां स्म ततो वृत्तिमवर्तन्पाण्डवान्प्रति ॥ ६३ ॥

मुनियोंने वह सब अति आश्चर्य लीला देखकर अचरज माना और पाण्डवोंके प्रति उनकी श्रद्धा और अधिक हो गई ॥ ६३ ॥

पाण्डुस्तु पुनरेवैनां पुत्रलोभान्महायशाः।
प्राहिणोद्दर्शनीयाङ्गीं कुन्ती त्वेनमथाब्रवीत् ॥ ६४ ॥

अति यशस्वी पाण्डुने पुत्रके लोभसे फिर सुन्दर अंगोंवाली कुन्तीको भेजना चाहा। उस-पर कुन्ती उनसे बोली ॥ ६४ ॥

नातश्चतुर्थं प्रसवमापत्स्वपि वदन्त्युत।
अतः परं चारिणी स्यात्पञ्चमे बन्धकी भवेत् ॥ ६५ ॥

धर्म जाननेवाले लोग आपत्कालमें भी चौथे प्रसवकी प्रशंसा नहीं करते, क्योंकि चौथे पुरुषसे नारी स्वैरिणी होती है और पांचवें पुरुषसे मिलनेसे वेश्या होती है ॥ ६५ ॥

स त्वं विद्वन्धर्ममिमं बुद्धिगम्यं कथं नु माम् ।
अपत्यार्थं समुत्क्रम्य प्रमादादिव भाषसे ॥ ६६ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११४ ॥ ४१४६ ॥

हे विद्वन् ! आप यह बुद्धि द्वारा जानने योग्य धर्म जानने पर भी क्यों बावलेके समान फिर सन्तानके लिये मुझसे कहते हैं? ॥ ६६ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ चौदहवां अध्याय समाप्त ॥ ११४ ॥ ४१४६ ॥

: ११५ :

वैशंपायन उवाच

कुन्तीपुत्रेषु जातेषु धृतराष्ट्रात्मजेषु च ।
मद्रराजसुता पाण्डुं रहो वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– अनन्तर कुन्ती और गान्धारीके पुत्रोंके पैदा होने पर मद्रराजकी पुत्री माद्री एकान्तमें पाण्डुसे यह वचन बोली ॥ १ ॥

न मेऽस्ति त्वयि संतापो विगुणेऽपि परन्तप ।
नावरत्वे वरार्हायाः स्थित्वा चानघ नित्यदा ॥ २ ॥

हे शत्रुनाशिन् ! आपके मुझपर कृपायुक्त न रहनेके कारण भी मुझे कोई विशेष दुःख नहीं है, हे अनघ ! कुन्तीसे सदा अश्रेष्ठ बनी रहने पर भी मुझे दुःख नहीं है ॥ २ ॥

गान्धार्याश्चैव नृपते जातं पुत्रशतं तथा ।
श्रुत्वा न मे तथा दुःखमभवत्कुरुनन्दन ॥ ३ ॥

हे नरनाथ कुरुनन्दन ! गान्धारीके सौ पुत्र सुनकरके भी मुझे कोई बडा क्लेश नहीं हुआ ॥ ३ ॥

इदं तु मे महद्दुःखं तुल्यतायामपुत्रता ।
दिष्ट्या त्विदानीं भर्तुर्मे कुन्त्यामप्यस्ति सन्ततिः ॥ ४ ॥

पर इसका मुझे बडा दुःख है कि हम दोनों सौत समान हैं, पर तौ भी मेरे सन्तान नहीं हुई, भाग्यवश कुन्तीसे आपके सन्तानें हुई हैं ॥ ४ ॥

यदि त्वपत्यसंतानं कुन्तिराजसुता मयि ।
कुर्यादनुग्रहो मे स्यात्तव चापि हितं भवेत् ॥ ५ ॥

इस समय यदि कुन्तिराजपुत्री मेरे सन्तान होनेका उपाय कर दे, तो मुझपर बडी दया होवे और उससे आपका भी हित हो सकता है ॥ ५ ॥

स्तम्भो हि मे सपत्नीत्वाद्वक्तुं कुन्तिसुतां प्रति।
यदि तु त्वं प्रसन्नो मे स्वयमेनां प्रचोदय ॥ ६ ॥

कुन्तिपुत्री मेरी सौत है, अतः उससे स्वयं कहनेका साहस नहीं होता, यदि आप मुझ पर प्रसन्न हों, तो आप ही उनको आज्ञा दीजिये ॥ ६ ॥

पाण्डुरुवाच

ममाप्येष सदा माद्रि हृद्यर्थः परिवर्तते।
न तु त्वां प्रसहे वक्तुमिष्टानिष्टविवक्षया ॥ ७ ॥

पाण्डु बोले– हे माद्रि ! इस विषयमें मैं सदा मन ही मनमें विचार किया करता हूं, पर यह तुम्हें इष्ट है, वा नहीं, यह न जाननेके कारण तुमसे कहनेका साहस नहीं हुआ था ॥७॥

तव त्विदं मतं ज्ञात्वा प्रयतिष्याम्यतः परम्।
मन्ये ध्रुवं मयोक्ता सा वचो मे प्रतिपत्स्यते ॥ ८ ॥

अब तुम्हारा मत जान लिया, अतः अब उस विषयमें प्रयत्न भी करूंगा, मुझे आशा है कि मेरे कहनेसे कुन्ती मान लेगी ॥ ८ ॥

वैशंपायन उवाच

ततः कुन्तीं पुनः पाण्डुर्विविक्त इदमब्रवीत्।
कुलस्य मम सन्तानं लोकस्य च कुरु प्रियम् ॥ ९ ॥

वैशम्पायन बोले– एक दिन पाण्डु फिर एकान्तमें कुन्तीसे बोले– हे कल्याणि ! मेरी प्रीतिके लिये लोकोंके लिए प्रिय कल्याणयुक्त ऐसा काम करो ॥ ९ ॥

मम चापिण्डनाशाय पूर्वेषामपि चात्मनः।
मत्प्रियार्थं च कल्याणि कुरु कल्याणमुत्तमम् ॥ १० ॥

जिससे मेरा वंश न उखडे और मेरे, पितरोंके और तुम्हारे भी पिण्डलोप होनेकी संभावना न रहे। अतः हे कल्याणि ! मेरी प्रीतिके लिए तुम उत्तम कल्याण करो ॥१०॥

यशसोऽर्थाय चैव त्वं कुरु कर्म सुदुष्करम्।
प्राप्याधिपत्यमिन्द्रेण यज्ञैरिष्टं यशोऽर्थिना ॥ ११ ॥

हे भामिनि ! तुम यश प्राप्त करनेके लिये इस कठिन कार्यको करो, देवोंके अधिकारी होने पर भी केवल यश प्राप्त करनेके लिये देवराजने यज्ञ किया था ॥ ११ ॥

तथा मन्त्रविदो विप्रास्तपस्तप्त्वा सुदुष्करम् ।
गुरूनभ्युपगच्छन्ति यशसोऽर्थाय भामिनि ॥ १२ ॥

हे भामिनि! मन्त्र जाननेवाले ब्राह्मणलोग यशहीके लिये कठोर तप कर गुरुकी उपासना किया करते हैं ॥ १२ ॥

तथा राजर्षयः सर्वे ब्राह्मणाश्च तपोधनाः ।
चक्रुरुच्चावचं कर्म यशसोऽर्थाय दुष्करम् ॥ १३ ॥

और राजर्षि तथा तपोधन ब्राह्मण लोगोंने केवल यशहीके लिये नाना कठिन कर्म किये हैं ॥ १३ ॥

सा त्वं माद्रीं प्लवेनेव तारयेमामनिन्दिते ।
अपत्यसंविभागेन परां कीर्तिमवाप्नुहि ॥ १४ ॥

अतएव, हे अनिन्दित प्रिये! तुम सन्तानरूप वेडेसे माद्रीका उद्धार करो। उसको पुत्रवती बना कर परम कीर्ति प्राप्त करो ॥ १४ ॥

एवमुक्त्वाब्रवीन्माद्रीं सकृच्चिन्तय दैवतम् ।
तस्मात्ते भवितापत्यमनुरूपमसंशयम् ॥ १५ ॥

कुन्ती यह सुनकर माद्रीसे बोली— तुम एकबार किसी देवका स्मरण करो, इसमें सन्देह नहीं, कि उनसे तुम्हारे उन्हींके अनुरूप पुत्र होगा ॥ १५ ॥

ततो माद्री विचार्यैव जगाम मनसाश्विनौ ।
तावागम्य सुतौ तस्यां जनयामासतुर्यमौ ॥ १६ ॥

नकुलं सहदेवं च रूपेणाप्रतिमौ भुवि ।
तथैव तावपि यमौ वागुवाचाशरीरिणी ॥ १७ ॥

माद्रीने मन ही मनमें विचार कर दोनों अश्विनीकुमारोंको स्मरण किया। दोनों अश्विनी कुमारोंने वहां आकर नकुल और सहदेव नामक संसारमें अद्वितीय रूपवाले दो जुडवें पुत्र उत्पन्न किए। तब उसी प्रकार उन जुडवोंके लिए आकाशवाणी हुई ॥ १६–१७ ॥

रूपसत्त्वगुणोपेतावेतावन्याञ्जनानति ।
भासतस्तेजसात्यर्थं रूपद्रविणसम्पदा ॥ १८ ॥

" सत्यरूपी गुणसे युक्त यह दो कुमार रूपसंपद् और तेजसे सभी लोगोंसे श्रेष्ठ होंगे " ॥ १८ ॥

नामानि चक्रिरे तेषां शतशृङ्गनिवासिनः ।
भक्त्या च कर्मणा चैव तथाशीर्भिर्विशां पते ॥ १९ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! अनन्तर शतशृंग पर रहनेवाले ब्राह्मणोंने कुमारोंके कर्म और भक्ति देखकर अशीस देकर नाम रख दिये ॥ १९ ॥

ज्येष्ठं युधिष्ठिरेत्याहुर्भीमसेनेति मध्यमम् ।
अर्जुनेति तृतीयं च कुन्तीपुत्रानकल्पयन् ॥ २० ॥

उन्होंने कुन्तीके पुत्रोंमें बडेका नाम युधिष्ठिर, मंझलेका नाम भीमसेन, तीसरेका नाम अर्जुन रखा ॥ २० ॥

पूर्वजं नकुलेत्येवं सहदेवेति चापरम् ।
माद्रीपुत्रावकथयंस्ते विप्राः प्रीतमानसाः ।
अनुसंवत्सरं जाता अपि ते कुरुसत्तमाः ॥ २१ ॥

और प्रसन्न मनसे वे ब्राह्मण माद्रीके दो पुत्रोंमेंसे पहिले पुत्रको नकुल और दूसरेको सहदेव पुकारने लगे । कुरु-वंशमें श्रेष्ठ पाण्डुपुत्रगणकी आयु वर्ष भरकी हुई ॥ २१ ॥

कुन्तीमथ पुनः पाण्डुर्माद्र्यर्थे समचोदयत् ।
तमुवाच पृथा राजन्रहस्युक्ता सती सदा ॥ २२ ॥

अनन्तर पाण्डुने फिर एकान्तमें माद्रीके लिये कुन्तीसे विनय की, तब, हे राजन् ! इस प्रकार कही जानेपर कुन्तीने उन्हें उत्तर दिया ॥ २२ ॥

उक्ता सकृद्द्वन्द्वमेषा लेभे तेनास्मि वञ्चिता ।
बिभेम्यस्याः परिभवान्नारीणां गतिरीदृशी ॥ २३ ॥

कि मेरे एक बार कहनेसे माद्रीने दो पुत्र प्राप्त किये इससे मैं ठगी गयी हूं, अतः अब उससे मुझे हारनेका भय है क्योंकि नारियोंका स्वभाव ऐसा ही होता है ॥ २३ ॥

नाज्ञासिषमहं मूढा द्वन्द्वाह्वाने फलद्वयम् ।
तस्मान्नाहं नियोक्तव्या त्वयैषोऽस्तु वरो मम ॥ २४ ॥

मैं मूर्ख हूं, पहिले नहीं जानती थी, कि एक ही बार दो देवोंको बुलानेसे दो पुत्र पैदा होते हैं, अतः अब आपसे यह वर मांगती हूं, कि आप इस विषयमें मुझे आज्ञा न दें ॥ २४ ॥

एवं पाण्डोः सुताः पञ्च देवदत्ता महाबलाः ।
संभूताः कीर्तिमन्तस्ते कुरुवंशविवर्धनाः ॥ २५ ॥

महाराज ! इस प्रकारसे पाण्डुके देवों द्वारा दिये हुए महाबली कीर्त्तिशाली, कुरुवंश बढाने-वाले पांच पुत्र उत्पन्न हुए ॥ २५ ॥

शुभलक्षणसंपन्नाः सोमवत्प्रियदर्शनाः ।
सिंहदर्पा महेष्वासाः सिंहविक्रान्तगामिनः ।
सिंहग्रीवा मनुष्येन्द्रा ववृधुर्देवविक्रमाः ॥ २६ ॥

वे मानवोंमें श्रेष्ठ पाण्डवलोग शुभलक्षणयुक्त, चन्द्रमाके समान देखनेमें प्रिय, वडे धनुर्धारी, सिंहके समान सत्वयुक्त, सिंहकी भांति विक्रमी, सिंहकी भांति गर्दन युक्त, मनुष्योंमें इन्द्रके समान और देवोंके समान विक्रमयुक्त होकर दिनपर दिन बढने लगे ॥ २६ ॥

विवर्धमानास्ते तत्र पुण्ये हैमवते गिरौ ।
विस्मयं जनयामासुर्महर्षीणां समेयुषाम् ॥ २७ ॥

पवित्र हिमालयपर बढते हुए उन्होंने एकत्रित महर्षि लोगोंमें अचरज पैदा किया ॥ २७ ॥

ते च पञ्च शतं चैव कुरुवंशविवर्धनाः ।
सर्वे ववृधुरल्पेन कालेनाप्स्विव नीरजाः ॥ २८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११५ ॥ ४१७४ ॥

जिस प्रकार जलमें थोडे कालमें पद्मवन खिल उठता है, वैसे ही वे एक सौ पांच कौरव स्वल्प कालमें ही बढे ॥ २८ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ पन्द्रहवां अध्याय समाप्त ॥ ११५ ॥ ४१७४ ॥

: ११६ :

वैशम्पायन उवाच

दर्शनीयांस्ततः पुत्रान्पाण्डुः पञ्च महावने ।
तान्पश्यन्पर्वते रेमे स्वबाहुबलपालितान् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– अनंतर पाण्डु देखनेके योग्य तथा अपने बाहुबलसे पालित उन पांच पुत्रोंको देखकर उस पहाडपर भारी वनमें सुखसे काल काटने लगे ॥ १ ॥

सुपुष्पितवने काले कदाचिन्मधुमाधवे ।
भूतसंमोहने राजा सभार्यो व्यचरद्वनम् ॥ २ ॥

एक समय प्राणियोंके मोहनेवाले वसंतके आने पर नाना फूलोंसे सजे सजाये वनमें राजा पाण्डु स्त्रीके साथ घूमने लगे ॥ २ ॥

पलाशैस्तिलकैश्चूतैश्चम्पकैः पारिभद्रकैः ।
अन्यैश्च बहुभिर्वृक्षैः फलपुष्पसमृद्धिभिः ॥ ३ ॥

पलाश, तिल, आम, चम्पा, पारिभद्रक तथा फलफूलोंसे समृद्ध अन्य बहुतसे वृक्षोंसे समृद्ध ॥ ३ ॥

जलस्थानैश्च विविधैः पद्मिनीभिश्च शोभितम् ।
पाण्डोर्वनं तु संप्रेक्ष्य प्रजज्ञे हृदि मन्मथः ॥ ४ ॥

कमलोंसे सुशोभित, अनेक तरहके तालाबोंसे युक्त उस वनको देखकर राजाके हृदयमें कामदेव जाग्रत हो गए ॥ ४ ॥

प्रहृष्टमनसं तत्र विहरन्तं यथामरम् ।
तं माद्र्यनुजगामैका वसनं बिभ्रती शुभम् ॥ ५ ॥

उत्तम वस्त्र पहिने हुई माद्री अकेली प्रफुल्लितचित्त और देवताके समान घूमते हुए उन राजाके पीछे पीछे चलने लगी ॥ ५ ॥

समीक्षमाणः स तु तां वयःस्थां तनुवाससम् ।
तस्य कामः प्रववृधे गहनेऽग्निरिवोत्थितः ॥ ६ ॥

तब पतला वस्त्र पहिने हुई युवती माद्रीको देखकर राजाके हृदयमें उसी प्रकार मदनकी आग सुलग उठी, कि जैसे वनमें आग जल उठती है ॥ ६ ॥

रहस्यात्मसमां दृष्ट्वा राजा राजीवलोचनाम् ।
न शशाक नियन्तुं तं कामं कामबलात्कृतः ॥ ७ ॥

वह एकान्तमें उस पद्मनेत्रा बालाको देखते ही एकदम कामके वशमें हो गये और किसी प्रकार कामको रोक नहीं सके ॥ ७ ॥

तत एनां बलाद्राजा निजग्राह रहोगताम् ।
वार्यमाणस्तया देव्या विस्फुरन्त्या यथाबलम् ॥ ८ ॥

तब एकान्तमें आई हुई अपनी धर्मपत्नीको उन्होंने जबर्दस्ती पकड लिया। तब देवी माद्री अपने पूरे बल और शक्तिसे उन्हें रोकने लगी ॥ ८ ॥

स तु कामपरीतात्मा तं शापं नान्वबुध्यत ।
माद्रीं मैथुनधर्मेण गच्छमानो बलादिव ॥ ९ ॥

पर राजा तब कामसे बावले बन गए थे, अतः प्राणनाशी पूर्व कथित शापको उन्होंने स्मरण नहीं किया और मैथुनके लिए माद्रीको उन्होंने जबर्दस्ती पकड लिया ॥ ९ ॥

जीवितान्ताय कौरव्यो मन्मथस्य वशं गतः ।
शापजं भयमुत्सृज्य जगामैव बलात्प्रियाम् ॥ १० ॥

हे कौरव ! उस कालमें मदनकी आज्ञासे चलते हुए पाण्डुने विधिवश शापके भयको भूलकर मानो जीवन छोडनेहीके लिये बलसे माद्रीसे समागम किया ॥ १० ॥

तस्य कामात्मनो बुद्धिः साक्षात्कालेन मोहिता ।
संप्रमथ्येन्द्रियग्रामं प्रनष्टा सह चेतसा ॥ ११ ॥

उस कामयुक्त पुरुषकी बुद्धि साक्षात् कालसे मोहित होकर इन्द्रियोंको मंथनकर चेतनासहित जाती रही थी ॥ ११ ॥

स तया सह संगम्य भार्यया कुरुनन्दन ।
पाण्डुः परमधर्मात्मा युयुजे कालधर्मणा ॥ १२ ॥

इसलिए वह परम धार्मिक कुरुनन्दन पाण्डु स्त्रीसे मिलकर कालके धर्मके साथ मिल गए अर्थात् मृत्युको प्राप्त हुए ॥ १२ ॥

ततो माद्री समालिङ्ग्य राजानं गतचेतसम् ।
मुमोच दुःखजं शब्दं पुनः पुनरतीव ह ॥ १३ ॥

तब माद्री चेतना रहित भूपालसे लिपट कर बार बार दुःखसे विलाप करने लगी ॥ १३ ॥

सह पुत्रैस्ततः कुन्ती माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ।
आजग्मुः सहितास्तत्र यत्र राजा तथागतः ॥ १४ ॥

तब पुत्रोंके साथ कुन्ती और माद्रीके दोनों पुत्र उस शोकयुक्त शब्दको सुनकर एकत्र हो करके वहां आए, जहां राजाकी वह दशा हुई थी ॥ १४ ॥

ततो माद्र्यब्रवीद्राजन्नार्ता कुन्तीमिदं वचः ।
एकैव त्वमिहागच्छ तिष्ठन्त्वत्रैव दारकाः ॥ १५ ॥

हे महाराज ! तब माद्री कातर स्वरमे कुन्तीसे बोली, कि तुम अकेली ही यहां आओ, लडके वहीं रहें ॥ १५ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्यास्तत्रैवावार्य दारकान् ।
हताहमिति विक्रुश्य सहसोपजगाम ह ॥ १६ ॥

कुन्ती यह सुनकर लडकोंको वहीं छोडकर यह कहके रोती हुई कि ' मैं मारी गयी ' उसी क्षण वहां आ पहुंची ॥ १६ ॥

×

दृष्ट्वा पाण्डुं च माद्रीं च शयानौ धरणीतले।
कुन्ती शोकपरीताङ्गी विललाप सुदुःखिता ॥ १७ ॥

वह माद्रीके साथ पाण्डुको धरतीपर लेटे हुए देखकर शोकसे विह्वल हुई और अति दुःखसे विलपती हुई बोली ॥ १७ ॥

रक्ष्यमाणो मया नित्यं वीरः सततमात्मवान्।
कथं त्वमभ्यतिक्रान्तः शापं जानन्वनौकसः ॥ १८ ॥

इस जितेन्द्रिय वीरको मैं सदा बचाती फिरती थी, इन्होंने ऋषिके शापको जान करके भी क्योंकर तुझसे समागम किया ? ॥ १८ ॥

ननु नाम त्वया माद्रि रक्षितव्यो जनाधिपः।
सा कथं लोभितवती विजने त्वं नराधिपम् ॥ १९ ॥

हे माद्रि ! इस भूपालको तुझे बचाना चाहिए था, वह न करके तूने क्यों इस राजाको एकान्तमें लुभाया ? ॥ १९ ॥

कथं दीनस्य सततं त्वामासाद्य रहोगताम्।
तं विचिन्तयतः शापं प्रहर्षः समजायत ॥ २० ॥

यह शापसे ग्रसित होनेके कालसे सदा दुःखी चित्तसे उस शापके सोचमें रहते थे, फिर एकान्तमें तुझे पाकर क्योंकर इनके चित्तमें हर्ष पैदा हुआ ? ॥ २० ॥

धन्या त्वमसि बाह्लीकि मत्तो भाग्यतरा तथा।
दृष्टवत्यसि यद्वक्त्रं प्रहृष्टस्य महीपतेः ॥ २१ ॥

हे बाह्लीकि ! तू मुझसे धन्य और भाग्यवती है, क्योंकि तूने कामयुक्त भूपालका प्रफुल्ल मुख देखा है ! ॥ २१ ॥

माद्र्युवाच

विलोभ्यमानेन मया वार्यमाणेन चासकृत्।
आत्मा न वारितोऽनेन सत्यं दिष्टं चिकीर्षुणा ॥ २२ ॥

माद्री बोली– हे देवि ! मैं विलपती हुई बार बार रोकने लगी, पर राजा शापके कारण दुर्भाग्यको सफल करनेहीके लिये अपनेको नहीं रोक सके ॥ २२ ॥

कुन्त्युवाच

अहं ज्येष्ठा धर्मपत्नी ज्येष्ठं धर्मफलं मम।
अवश्यं भाविनो भावान्मा मां माद्रि निवर्तय ॥ २३ ॥

अनन्तर कुन्ती बोली– मैं बडी धर्मपत्नी हूं, प्रधान धर्मफल मुझको ही मिलना चाहिए, इसलिए, हे माद्री ! अवश्यमेव होनेवाले विषयसे मुझे मत रोक ॥ २३ ॥

अन्वेष्यामीह भर्तारमहं प्रेतवशं गतम् ।
उत्तिष्ठ त्वं विसृज्यैनमिमान्रक्षस्व दारकान् ॥ २४ ॥

मैं परलोकको सिधारे हुए पतिके साथ ही जाऊंगी, उठ, तू इनको छोडकर इन लडकोंको पाल ॥ २४ ॥

माद्र्युवाच

अहमेवानुयास्यामि भर्तारमपलायिनम् ।
न हि तृप्तास्मि कामानां तज्ज्येष्ठा अनुमन्यताम् ॥ २५ ॥

माद्री बोली– न भागनेवाले इन अपने पतिके साथ मैं ही जाऊंगी, क्योंकि मैं काम रससे भली प्रकार तृप्त नहीं हुई हूं; तुम बडी हो इसलिए मुझे आज्ञा दो ॥ २५ ॥

मां चाभिगम्य क्षीणोऽयं कामाद्भरतसत्तमः ।
तमुच्छिन्द्यामस्य कामं कथं नु यमसादने ॥ २६ ॥

यह भरत कुलके प्रदीप्त पाण्डु कामवश होकर मुझसे मिल करके ही गतप्राण हुए हैं, इसलिए मैं यमराजके घरमें क्यों इनके उस कामको नष्ट करूं ? ॥ २६ ॥

न चाप्यहं वर्तयन्ती निर्विशेषं सुतेषु ते ।
वृत्तिमार्ये चरिष्यामि स्पृशेदेनस्तथा हि माम् ॥ २७ ॥

हे आर्ये ! ऐसा जान नहीं पडता है, कि मैं जीती रहकर तुम्हारे पुत्रोंको अपने पुत्रोंकी भांति पाल सकूंगी, अतः उस हेतु मुझको पाप लग सकता है ॥ २७ ॥

तस्मान्मे सुतयोः कुन्ति वर्तितव्यं स्वपुत्रवत् ।
मां हि कामयमानोऽयं राजा प्रेतवशं गतः ॥ २८ ॥

अतएव, हे कुन्ति ! तुम मेरे इन दोनों पुत्रोंसे अपने पुत्रकी भांति वर्ताव करना, यह राजा मेरी ही कामना करके परलोकको सिधारे हैं ॥ २८ ॥

राज्ञः शरीरेण सह ममापीदं कलेवरम् ।
दग्धव्यं सुप्रतिच्छन्नमेतदार्ये प्रियं कुरु ॥ २९ ॥

इसलिए इनके शरीरसे मेरे इस शरीरको ढककर फूंकना। हे आर्ये ! मेरे इस प्रिय कार्यको करो ॥ २९ ॥

दारकेष्वप्रमत्ता च भवेथाश्च हिता मम ।
अतोऽन्यन्न प्रपश्यामि संदेष्टव्यं हि किंचन ॥ ३० ॥

तुम मेरे हित चाहनेवाली होकर लडकोंपर ध्यान रखना, इसके अतिरिक्त मैं नहीं समझती हूं, कि मुझे और कुछ कहनेको है ॥ ३० ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा तं चिताग्निस्थं धर्मपत्नी नरर्षभम्।
मद्रराजात्मजा तूर्णमन्वारोहद्यशस्विनी ॥ ३१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि षोडशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११६ ॥ ४२०५ ॥

वैशम्पायन बोले– धर्मपत्नी यशस्विनी मद्रराजकन्या यह कहकर बिना विलम्ब चिताकी आगमें स्थित पाण्डुके साथ बैठ गयी ॥ ३१ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ सोलहवां अध्याय समाप्त ॥ ११६ ॥ ४२०५ ॥

: ११७ :

वैशंपायन उवाच

पाण्डोरवभृथं कृत्वा देवकल्पा महर्षयः।
ततो मन्त्रमकुर्वन्त ते समेत्य तपस्विनः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– देवोंके सदृश महर्षि तपस्वीगण पाण्डुकी मृत्युको देखकर आपसमें कहने लगे ॥ १ ॥

हित्वा राज्यं च राष्ट्रं च स महात्मा महातपाः।
अस्मिन्स्थाने तपस्तप्तुं तापसाञ्शरणं गतः ॥ २ ॥

कि अति तपस्वी महात्मा पाण्डुने राज्य और राष्ट्रको छोडके इस स्थानमें तप करनेके लिए तपस्वियोंकी शरण ली थी ॥ २ ॥

स जातमात्रान्पुत्रांश्च दारांश्च भवतामिह।
प्रदायोपनिधिं राजा पाण्डुः स्वर्गमितो गतः ॥ ३ ॥

वह राजा पाण्डु स्त्री और बालकपुत्रोंको इस स्थानमें तुम्हारे पास निधिकी भांति रखकर यहींसे स्वर्गको पधारे हैं ॥ ३ ॥

ते परस्परमामन्त्र्य सर्वभूतहिते रताः।
पाण्डोः पुत्रान्पुरस्कृत्य नगरं नागसाह्वयम् ॥ ४ ॥

सब प्राणियोंके हितमें रत वे महर्षि आपसमें विचार कर पाण्डुके पुत्रोंको आगे करके हस्तिनापुर नगरको चले ॥ ४ ॥

उदारमनसः सिद्धा गमने चक्रिरे मनः ।
भीष्माय पाण्डवान्दातुं धृतराष्ट्राय चैव हि ॥ ५ ॥
तस्मिन्नेव क्षणे सर्वे तानादाय प्रतस्थिरे ।
पाण्डोर्दारांश्च पुत्रांश्च शरीरं चैव तापसाः ॥ ६ ॥

वे उदार चित्तवाले सिद्ध महर्षि उन पाण्डुके पुत्रोंको भीष्म और धृतराष्ट्रके निकट सौंप देनेके लिये वे तपस्वी उसी क्षण उन पाण्डुकी स्त्री, पुत्र और मृत शरीरको लेकर चले ॥५-६॥

सुखिनी सा पुरा भूत्वा सततं पुत्रवत्सला ।
प्रपन्ना दीर्घमध्वानं संक्षिप्तं तदमन्यत ॥ ७ ॥

पुत्रप्रेमयुक्त कुन्तीको पहिले सदा सुखी रहनेपर भी अब निज देशमें जानेके कौतूहलसे वह दूरी भी निकट ही जान पडी ॥ ७ ॥

सा नदीर्घेण कालेन संप्राप्ता कुरुजाङ्गलम् ।
वर्धमानपुरद्वारमाससाद यशस्विनी ॥ ८ ॥

वह यशस्विनी स्वल्पकालमें कुरुजाङ्गलमें पहुंचकर नगरके प्रधान द्वार पर पहुंची ॥ ८ ॥

तं चारणसहस्राणां मुनीनामागमं तदा ।
श्रुत्वा नागपुरे नृणां विस्मयः समजायत ॥ ९ ॥

हस्तिनापुरमें सहस्रों गुह्यक और मुनियोंके आनेका समाचार सुनकर पुरवासी प्रजाओंको वडा आश्चर्य हुआ ॥ ९ ॥

मुहूर्तोदित आदित्ये सर्वे धर्मपुरस्कृताः ।
सदारास्तापसान्द्रष्टुं निर्ययुः पुरवासिनः ॥ १० ॥

अनन्तर सूर्य उगनेके क्षणभर बाद पुरवासी लोग तपस्वियोंके दर्शनके निमित्त स्त्री पुत्रादिके साथ पहुंचने लगे ॥ १० ॥

स्त्रीसङ्घाः क्षत्रसङ्घाश्च यानसंघान्समास्थिताः ।
ब्राह्मणैः सह निर्जग्मुर्ब्राह्मणानां च योषितः ॥ ११ ॥

यानोंपर चढे स्त्री सहित क्षत्रियगण और ब्राह्मणोंके साथ ब्राह्मणियां चलीं ॥ ११ ॥

तथा विट्शूद्रसङ्घानां महान्व्यतिकरोऽभवत् ।
न कश्चिदकरोदीर्ष्यामभवन्धर्मबुद्धयः ॥ १२ ॥

वैश्य तथा शूद्रोंकी भी वडी भीड लग गई। उस समय किसीने किसी पर द्वेष प्रगट नहीं किया, सबोंकी बुद्धि धर्ममार्गमें बनी रही ॥ १२ ॥

तथा भीष्मः शान्तनवः सोमदत्तोऽथ वाह्लिकः

प्रज्ञाचक्षुश्च राजर्षिः क्षत्ता च विदुरः स्वयम् ॥ १३ ॥

शन्तनुपुत्र भीष्म, वाह्लीक, सोमदत्त, प्राज्ञनेत्र राजर्षि धृतराष्ट्र तथा स्वयं विदुर ॥ १३ ॥

सा च सत्यवती देवी कौसल्या च यशस्विनी ।

राजदारैः परिवृता गान्धारी च विनिर्ययौ ॥ १४ ॥

देवी सत्यवती, यशस्विनी काशीराजकन्या और राजरानियोंसे घिरी हुई गन्धारी भी निकली ॥ १४ ॥

धृतराष्ट्रस्य दायादा दुर्योधनपुरोगमाः ।

भूषिता भूषणैश्चित्रैः शतसङ्ख्या विनिर्ययुः ॥ १५ ॥

दुर्योधन आदि धृतराष्ट्रके सौ पुत्र भी नाना सुन्दर गहनोंसे सजकर आये ॥ १५ ॥

तान्महर्षिगणान्सर्वाञ्शिरोभिरभिवाद्य च ।

उपोपविविशुः सर्वे कौरव्याः सपुरोहिताः ॥ १६ ॥

पुरोहितके साथ कौरवलोग उन सब महर्षियोंको देखकर सिर नवाकर प्रणाम करके सामने बैठ गए ॥ १६ ॥

तथैव शिरसा भूमावभिवाद्य प्रणम्य च ।

उपोपविविशुः सर्वे पौरजानपदा अपि ॥ १७ ॥

उसी प्रकार नागरिक और ग्रामवासी सभी अभिवादन कर तथा सिर नवा करके प्रणाम पूर्वक भूमिपर उनके सामने जा बैठे ॥ १७ ॥

तमकूजमिवाज्ञाय जनौघं सर्वशस्तदा ।

भीष्मो राज्यं च राष्ट्रं च महर्षिभ्यो न्यवेदयत् ॥ १८ ॥

हे प्रभो ! अनन्तर भीष्मने चारों ओर सब लोगोंको चुपचाप देखकर राज्य और राजाका हाल उन महर्षियोंको कह सुनाया ॥ १८ ॥

तेषामथो वृद्धतमः प्रत्युत्थाय जटाजिनी ।

महर्षिं मतमाज्ञाय महर्षिरिदमब्रवीत् ॥ १९ ॥

इसके पश्चात् उनमें सबसे बूढे, जटा अजिन धरे हुए एक महर्षि उठे और साथी ऋषियों-की सम्मति लेकर यह बात बोले ॥ १९ ॥

यः स कौरव्यदायादः पाण्डुर्नाम नराधिपः ।

कामभोगान्परित्यज्य शतशृङ्गमितो गतः ॥ २० ॥

कौरव–राज्यके अधीश पाण्डु नामक जो भूपाल कामके भोगको तजकर यहांसे शतशृङ्ग पर गये थे ॥ २० ॥

ब्रह्मचर्यव्रतस्थस्य तस्य दिव्येन हेतुना ।
साक्षाद्धर्मादयं पुत्रस्तस्य जातो युधिष्ठिरः ॥ २१ ॥

उनके ब्रह्मचर्य व्रतके लेनेपर किसी दिव्य कारणसे उस शतशृङ्ग पर साक्षात् धर्मसे इस पुत्रका जन्म हुआ है, इनका नाम युधिष्ठिर है ॥ २१ ॥

तथेमं बलिनां श्रेष्ठं तस्य राज्ञो महात्मनः ।
मातरिश्वा ददौ पुत्रं भीमं नाम महाबलम् ॥ २२ ॥

उस महात्मा राजाको पवनने बलवानोंमें श्रेष्ठ भीम नामक यह महाबली पुत्र दिया है ॥ २२ ॥

पुरुहूतादयं जज्ञे कुन्त्यां सत्यपराक्रमः ।
यस्य कीर्तिर्महेष्वासान्सर्वानभिभविष्यति ॥ २३ ॥

सत्य पराक्रमी इस बालकने देवराजसे कुन्तीके गर्भसे जन्म लिया है, जिसकी कीर्त्ति संपूर्ण धनुर्धारियोंको पराजित करेगी ॥ २३ ॥

यौ तु माद्री महेष्वासावसूत कुरुसत्तमौ ।
अश्विभ्यां मनुजव्याघ्राविमौ तावपि तिष्ठतः ॥ २४ ॥

अन्य दोनों अश्विनी कुमारोंसे माद्रीने जो दो महा धनुर्धारी कुरुश्रेष्ठोंको प्रसूत किया है, वे दोनों पुरुषव्याघ्र भी यहां उपस्थित हैं ॥ २४ ॥

चरता धर्मनित्येन वनवासं यशस्विना ।
एष पैतामहो वंशः पाण्डुना पुनरुद्धृतः ॥ २५ ॥

यशस्वी पाण्डुने धार्मिक और वनचारी होकरके इस पितामह-वंशका फिर उद्धार किया है ॥ २५ ॥

पुत्राणां जन्म वृद्धिं च वैदिकाध्ययनानि च ।
पश्यतः सततं पाण्डोः शश्वत्प्रीतिरवर्धत ॥ २६ ॥

पुत्रोंके जन्म, वृद्धि और वेद पठनको भली प्रकार हमेशा देखते हुए पाण्डुकी प्रसन्नता भी बढी ॥ २६ ॥

वर्तमानः सतां वृत्ते पुत्रलाभमवाप्य च ।
पितृलोकं गतः पाण्डुरितः सप्तदशेऽहनि ॥ २७ ॥

पाण्डु साधुओंका आचरण कर और पुत्र प्राप्त कर आज सत्रह दिन हुए पितृलोकको सिधारे हैं ॥ २७ ॥

तं चितागतमाज्ञाय वैश्वानरमुखे हुतम् ।
प्रविष्टा पावकं माद्री हित्वा जीवितमात्मनः ॥ २८ ॥

पतिव्रता माद्रीने भी उनको चितापर स्थित और अग्निके मुखमें आहुति रूप होते देखकर अपना जीवन छोडकर उस अग्निमें प्रवेश किया ॥ २८ ॥

सा गता सह तेनैव पतिलोकमनुव्रता ।
तस्यास्तस्य च यत्कार्यं क्रियतां तदनन्तरम् ॥ २९ ॥

और वह भी पतिके पीछे चलकर पतिके साथ पतिलोकमें गयी है । अब उन पाण्डु और माद्रीकी परलोककी जो कुछ क्रिया करनी हो, करो ! ॥ २९ ॥

इमे तयोः शरीरे द्वे सुताश्चेमे तयोर्वराः ।
क्रियाभिरनुगृह्यन्तां सह मात्रा परन्तपाः ॥ ३० ॥

उनके यह दो शरीर उनके परन्तप ये श्रेष्ठ पुत्रगण माताके साथ क्रियासे शुद्ध होवें ॥३०॥

प्रेतकार्ये च निर्वृत्ते पितृमेधं महायशाः ।
लभतां सर्वधर्मज्ञः पाण्डुः कुरुकुलोद्वहः ॥ ३१ ॥

प्रेतक्रिया हो जानेपर अति यशस्वी सब–धर्म जाननेवाले कुरुवंशियोंमें श्रेष्ठ पुरुष पाण्डु पितृ–यज्ञको प्राप्त करें ॥ ३१ ॥

एवमुक्त्वा कुरून्सर्वान्कुरूणामेव पश्यताम् ।
क्षणेनान्तर्हिताः सर्वे चारणा गुह्यकैः सह ॥ ३२ ॥

चारण लोग सब कुरुओंसे यह कहकर कुरुओंके देखते देखते गुह्यकोंके साथ क्षण भरमें अन्तर्हित हो गए ॥ ३२ ॥

गन्धर्वनगराकारं तत्रैवान्तर्हितं पुनः ।
ऋषिसिद्धगणं दृष्ट्वा विस्मयं ते परं ययुः ॥ ३३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११७ ॥ ४२३८ ॥

उन ऋषि और सिद्धोंको गन्धर्वके नगरकी भांति उपस्थित होते और फिर अन्तर्हित होते देखकर सबको अचरज हुआ ॥ ३३ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ सत्रहवां अध्याय समाप्त ॥ ११७ ॥ ॥ ४२३८ ॥

: ११८ :

धृतराष्ट्र उवाच

पाण्डोर्विदुर सर्वाणि प्रेतकार्याणि कारय।
राजवद्राजसिंहस्य माद्र्याश्चैव विशेषतः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले– हे विदुर ! राजविधिके अनुसार राजाओंमें सिंहरूपी पाण्डु और माद्रीकी सम्पूर्ण प्रेतक्रिया भली प्रकार करो ॥ १ ॥

पशून्वासांसि रत्नानि धनानि विविधानि च।
पाण्डोः प्रयच्छ माद्र्याश्च येभ्यो यावच्च वाञ्छितम् ॥ २ ॥

पाण्डु और माद्रीके नामसे पशु, वस्त्र, रत्न और नाना धन, जिनकी जितनी इच्छा हो, उतना उनको दान कर दो ॥ २ ॥

यथा च कुन्ती सत्कारं कुर्यान्माद्र्यास्तथा कुरु।
यथा न वायुर्नादित्यः पश्येतां तां सुसंवृताम् ॥ ३ ॥

ऐसा करो, कि जिससे कुन्ती माद्रीका सत्कार करे और माद्रीको इस प्रकार ढक दो कि उसे पवन और सूर्य भी न देख सकें ॥ ३ ॥

नः शोच्यः पाण्डुरनघः प्रशस्यः स नराधिपः।
यस्य पञ्च सुता वीरा जाताः सुरसुतोपमाः ॥ ४ ॥

निष्पाप पाण्डुकी दशा बुरी नहीं है, अपितु प्रशंसनीय है क्योंकि उसके देवकुमारके समान पांच वीर पुत्र उत्पन्न हुए हैं ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

विदुरस्तं तथेत्युक्त्वा भीष्मेण सह भारत।
पाण्डुं संस्कारयामास देशे परमसंवृते ॥ ५ ॥

वैशम्पायन बोले– हे भारत ! विदुर उनसे " जो आज्ञा " कह कर भीष्मके साथ परम पवित्र स्थानमें पाण्डुके संस्कारमें प्रवृत्त हुए ॥ ५ ॥

ततस्तु नगरात्तूर्णमाज्यहोमपुरस्कृताः।
निर्हृताः पावका दीप्ताः पाण्डो राजन्पुरोहितैः ॥ ६ ॥

हे राजन् ! राजपुरोहितलोग शीघ्रतापूर्वक राजपुरीसे राजा पाण्डुके दाहके लिये आज्य और होमसे सुगन्धित प्रज्ज्वलित अग्निको ले आये ॥ ६ ॥

×

अथैनमार्तवैर्गन्धैर्माल्यैश्च विविधैर्वरैः ।
शिबिकां समलंचक्रुर्वाससाच्छाद्य सर्वशः ॥ ७ ॥

वस्त्रसे पाण्डुके शरीरको ढककर और भांति भांतिके ऋतुके अनुसार अच्छी गंधयुक्त माला आदिसे पालकीको सुशोभित किया ॥ ७ ॥

तां तथा शोभितां माल्यैर्वासोभिश्च महाधनैः ।
अमात्या ज्ञातयश्चैव सुहृदश्चोपतस्थिरे ॥ ८ ॥

तब मालाओं और बहुमूल्य वस्त्रोंसे सुशोभित उस पालकीके पास, मंत्रीगण, जातिके लोग और मित्रगण उपस्थित हुए ॥ ८ ॥

नृसिंहं नरयुक्तेन परमालंकृतेन तम् ।
अवहन्यानमुख्येन सह माद्र्या सुसंवृतम् ॥ ९ ॥

उसके पीछे उस सजे सजाये यानमें नरोंको जोतकर उसपर माद्रीसे लिपटे हुए भलीभांति ढंके हुए नरश्रेष्ठ पाण्डुको ले जाने लगे ॥ ९ ॥

पाण्डुरेणातपत्रेण चामरव्यजनेन च ।
सर्ववादित्रनादैश्च समलंचक्रिरे ततः ॥ १० ॥

और सफेद छत्र रख कर चंवर हिला कर और अनेक बाजे बजा कर उनको बहुत सजाया ॥ १० ॥

रत्नानि चाप्युपादाय बहूनि शतशो नराः ।
प्रददुः काङ्क्षमाणेभ्यः पाण्डोस्तत्रौर्ध्वदेहिकम् ॥ ११ ॥

पाण्डुकी और्ध्वदेहिक क्रियाके समय सैंकडों मनुष्य बहुत रत्न लेकर मांगनेवालोंको बांटने लगे ॥ ११ ॥

अथ छत्राणि शुभ्राणि पाण्डुराणि बृहन्ति च ।
आजह्रुः कौरवस्यार्थे वासांसि रुचिराणि च ॥ १२ ॥

और पाण्डुके लिये सफेद छत्र, बडा चंवर और मनोहर वस्त्र ले आए ॥ १२ ॥

याजकैः शुक्लवासोभिर्हूयमाना हुताशनाः ।
अगच्छन्नग्रतस्तस्य दीप्यमानाः स्वलंकृताः ॥ १३ ॥

सफेद वस्त्र पहने हुए याजकोंके द्वारा अलंकृत तथा आहुतियां डाली जानेके कारण प्रदीप्त हुई हुई अग्नियां उस पाण्डुके आगे चलने लगीं ॥ १३ ॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चैव सहस्रशः ।
रुदन्तः शोकसंतप्ता अनुजग्मुर्नराधिपम् ॥ १४ ॥
अयमस्मानपाहाय दुःखे चाधाय शाश्वते ।
कृत्वानाथान्परो नाथः क्व यास्यति नराधिपः ॥ १५ ॥

सहस्रों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र शोकयुक्त होकर रो रो कर यह कहते हुए राजाके पीछे चलने लगे, कि यह नराधिप हमको कठोर और शाश्वत दुःखमें डालकर तथा अनाथ कर कहां चले ? ॥ १४-१५ ॥

क्रोशन्तः पाण्डवाः सर्वे भीष्मो विदुर एव च ।
रमणीये वनोद्देशे गङ्गातीरे समे शुभे ॥ १६ ॥
न्यासयामासुरथ तां शिबिकां सत्यवादिनः ।
सभार्यस्य नृसिंहस्य पाण्डोरक्लिष्टकर्मणः ॥ १७ ॥

इसके बाद पाण्डवगण, भीष्म और विदुरने रोते हुए मङ्गलमय गङ्गातटके सुन्दर वनयुक्त खण्डमें समभूमि पर सत्यवादी उत्तम कर्म करनेवाले स्त्रीसहित नरसिंह पाण्डुकी पालकी रखी ॥ १६-१७ ॥

ततस्तस्य शरीरं तत्सर्वगन्धनिषेवितम् ।
शुचिकालीयकादिग्धं मुख्यस्नानाधिवासितम् ।
पर्यषिञ्चञ्जलेनाशु शातकुम्भमयैर्घटैः ॥ १८ ॥

उसके बाद उन्होंने कृष्णअगुरूसे लिप्त, मुख्य स्नानके सुगन्धसे सुगन्धित पाण्डुकी देहको सुवर्णके घडेमें लाये हुए जलसे शीघ्र नहलाया ॥ १८ ॥

चन्दनेन च मुख्येन शुक्लेन समलेपयन् ।
कालागुरुविमिश्रेण तथा तुङ्गरसेन च ॥ १९ ॥

और चारों ओर श्वेत-चन्दन लगा दिया और कृष्णअगुरूसे मिले हुए तुङ्गरस नामक सुगन्धि पदार्थका लेप किया ॥ १९ ॥

अथैनं देशजैः शुक्लैर्वासोभिः समयोजयन् ।
आच्छन्नः स तु वासोभिर्जीवन्निव नरर्षभः ।
शुशुभे पुरुषव्याघ्रो महार्हशयनोचितः ॥ २० ॥

उनको उसी देशमें बने हुए शुक्लवस्त्रसे ढक दिया । मूल्यवान् बिस्तर पर नरश्रेष्ठ पुरुष-व्याघ्र पांडु वस्त्रसे ढके जाकर जीवितके समान शोभा पाने लगे ॥ २० ॥

याजकैरभ्यनुज्ञातं प्रेतकर्मणि निष्ठितैः ।
घृतावसिक्तं राजानं सह माद्र्या स्वलंकृतम् ॥ २१ ॥
तुङ्गपद्मकमिश्रेण चन्दनेन सुगन्धिना ।
अन्यैश्च विविधैर्गन्धैरनल्पैः समदाहयन् ॥ २२ ॥

तब ऋत्विकोंकी आज्ञाके अनुसार प्रेतक्रिया होजाने पर उन्होंने घृतसे नहलाए गए और अलंकृत माद्री–सहित राजाको तुङ्ग और पद्मनामक सुगन्धि पदार्थोंसे मिली हुई सुगन्धित चन्दनकी लकडी तथा दूसरे भांति भांतिके अच्छे गन्धयुक्त पदार्थोंसे विधिपूर्वक जला दिया ॥ २१–२२ ॥

ततस्तयोः शरीरे ते दृष्ट्वा मोहवशं गता ।
हा हा पुत्रेति कौसल्या पपात सहसा भुवि ॥ २३ ॥

तब उन दोनोंके उन शरीरोंको देखकर काशीराजकी पुत्री कौसल्या मोहसे ' हा पुत्र ! हा पुत्र ! ' कहती हुई एकायक धरती पर गिर गयी ॥ २३ ॥

तां प्रेक्ष्य पतितामार्तां पौरजानपदो जनः ।
रुरोद सस्वनं सर्वो राजभक्त्या कृपान्वितः ॥ २४ ॥

नगर–वाले तथा जनपदवासी उसको शोकसे युक्त और गिरते देखकर राजभक्तिसे शोक-युक्त हो रोने लगे ॥ २४ ॥

क्लान्तानीवार्तनादेन सर्वाणि च विचुक्रुशुः ।
मानुषैः सह भूतानि तिर्यग्योनिगतान्यपि ॥ २५ ॥

वहांके तिर्यग्योनिसे उत्पन्न हुए सम्पूर्ण प्राणी भी उस आर्तनादसे मानों कातर होकर मनुष्यके साथ रोने लगे ॥ २५ ॥

तथा भीष्मः शान्तनवो विदुरश्च महामतिः ।
सर्वशः कौरवाश्चैव प्राणदन्भृशदुःखिताः ॥ २६ ॥

अनन्तर दाहकी क्रिया समाप्त होने पर शन्तनु पुत्र भीष्म, महाबुद्धिमान् विदुर तथा सभी कौरव बहुत दुःखी होकर रोने लगे ॥ २६ ॥

ततो भीष्मोऽथ विदुरो राजा च सह बन्धुभिः ।
उदकं चक्रिरे तस्य सर्वाश्च कुरुयोषितः ॥ २७ ॥

इसके बाद भीष्म, विदुर, राजा धृतराष्ट्र और सम्पूर्ण कौरवी स्त्रियोंने पाण्डुकी जलक्रिया की ॥ २७ ॥

कृतोदकांस्तानादाय पाण्डवाञ्शोककर्शितान् ।
सर्वाः प्रकृतयो राजञ्शोचन्त्यः पर्यवारयन् ॥ २८ ॥

हे महाराज ! सभी प्रजा, मन्त्रीगण जल क्रिया किये हुए और शोकसे व्याकुल उन पाण्डवोंको लेकर शोक करती हुई घरको लौट आयी ॥ २८ ॥

यथैव पाण्डवा भूमौ सुषुपुः सह बान्धवैः ।
तथैव नागरा राजञ्शिश्यिरे ब्राह्मणादयः ॥ २९ ॥

हे महाराज ! पाण्डवोंने जिस प्रकार बन्धुओंके साथ जमीन पर सो सो कर रात काटी, वैसे ही ब्राह्मण आदि नगरवाले भी धरती पर सोये ॥ २९ ॥

तदनानन्दमस्वस्थमाकुमारमहृष्टवत् ।
बभूव पाण्डवैः सार्धं नगरं द्वादश क्षपाः ॥ ३० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११८ ॥ ४२६८ ॥

सम्पूर्ण प्रजाओंने भी पाण्डवोंके साथ साथ बिना हर्ष, बिना आनन्द, बिना स्वास्थ्यके बारह रातें काटीं ॥ ३० ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ अठारहवां अध्याय समाप्त ॥ ११८ ॥ ४२६८ ॥

: ११९ :

वैशम्पायन उवाच

ततः क्षत्ता च राजा च भीष्मश्च सह बन्धुभिः ।
ददुः श्राद्धं तदा पाण्डोः स्वधामृतमयं तदा ॥ १ ॥
कुरूंश्च विप्रमुख्यांश्च भोजयित्वा सहस्रशः ।
रत्नौघान्द्विजमुख्येभ्यो दत्वा ग्रामवरानपि ॥ २ ॥

वैशम्पायन बोले– अनन्तर विदुर, धृतराष्ट्र और भीष्मने बन्धुओंके साथ सम्पूर्ण कौरवों और सहस्रों अच्छे अच्छे विप्रोंको भोजन कराके और अच्छे अच्छे विप्रोंको रत्न और सुन्दर सुन्दर ग्राम देकर पाण्डुका स्वधा और अमृत से युक्त श्राद्ध किया ॥ १–२ ॥

कृतशौचांस्ततस्तांस्तु पाण्डवान्भरतर्षभान् ।
आदाय विविशुः पौराः पुरं वारणसाह्वयम् ॥ ३ ॥

तब शुद्ध हुए हुए और भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ उन पाण्डवोंको लेकर पुरवासी हस्तिनापुरमें प्रविष्ट हुए ॥ ३ ॥

सततं स्मान्वतप्यन्त तमेव भरतर्षभम्।
पौरजानपदाः सर्वे मृतं स्वामिव बान्धवम् ॥ ४ ॥

नगर और जनपदवासी अपने मृत मित्रकी भांति उन पुरुषश्रेष्ठ पाण्डुके लिये सदा शोक करने लगे ॥ ४ ॥

श्राद्धावसाने तु तदा दृष्ट्वा तं दुःखितं जनम्।
संमूढां दुःखशोकार्तां व्यासो मातरमब्रवीत् ॥ ५ ॥

अनन्तर श्राद्ध क्रियाके अन्तमें सब जनोंको दुःखी देख कर मोहयुक्त और दुःख शोकसे विह्वल माता सत्यवतीसे व्यास बोले ॥ ५ ॥

अतिक्रान्तसुखाः कालाः प्रत्युपस्थितदारुणाः।
श्वः श्वः पापीयदिवसाः पृथिवी गतयौवना ॥ ६ ॥

मा ! सुखका दिन जाता रहा है, अब कठोर काल आ पहुंचा है, आगे आनेवाले दिन पापपूर्ण हो रहे हैं, पृथ्वीकी यौवनदशा समाप्त हो गई है ॥ ६ ॥

बहुमायासमाकीर्णो नानादोषसमाकुलः।
लुप्तधर्मक्रियाचारो घोरः कालो भविष्यति ॥ ७ ॥

भारी मायासे पूरित, धर्मक्रिया और आचारसे रहित, नाना दोषोंसे युक्त कठोर काल आएगा ॥ ७ ॥

गच्छ त्वं त्यागमास्थाय युक्ता वस तपोवने।
मा द्रक्ष्यसि कुलस्यास्य घोरं संक्षयमात्मनः ॥ ८ ॥

आप त्यागका आसरा लेकर तपोवनमें जाकर चित्तकी वृत्तियोंको रोककर बैठिये ! अपने इस वंशका और अपना भी घोर सर्वनाश न देखिये ॥ ८ ॥

तथेति समनुज्ञाय सा प्रविश्याब्रवीत्स्नुषाम्।
अम्बिके तव पुत्रस्य दुर्नयात्किल भारताः।
सानुबन्धा विनङ्क्ष्यन्ति पौत्राश्चैवेति नः श्रुतम् ॥ ९ ॥

सत्यवती "तथास्तु" कहकर अन्तःपुरमें जाकर पुत्रवधूसे बोली– हे अम्बिके ! मैंने सुना है, कि तुम्हारे पुत्रकी बुरी नीतिके कारण आत्मजनोंके साथ भरतवंशी और पौत्र नष्ट हो जायंगे ऐसा हमने सुना है ॥ ९ ॥

तत्कौसल्यामिमामार्तां पुत्रशोकाभिपीडिताम्।
वनमादाय भद्रं ते गच्छावो यदि मन्यसे ॥ १० ॥

अतः यदि तुम चाहो, तो तुम्हारा मङ्गल होवे, चलो हम इस पुत्रशोकसे विह्वल अम्बालिकाको लेकर वनमें चलें ॥ १० ॥

तथेत्युक्ते अम्बिकया भीष्ममामन्त्र्य सुव्रता ।
वनं ययौ सत्यवती स्नुषाभ्यां सह भारत ॥ ११ ॥

हे भारत ! " ठीक है " इस प्रकार आम्बिकाके कहनेपर सुव्रतयुक्त सत्यवती अम्बिकाके साथ विचार करके दोनों पुत्रवधुओंके साथ वनको चली गई ॥ ११ ॥

ताः सुघोरं तपः कृत्वा देव्यो भरतसत्तम ।
देहं त्यक्त्वा महाराज गतिमिष्टां ययुस्तदा ॥ १२ ॥

हे भरतश्रेष्ठ महाराज ! उन देवियोंने वहां कठोर तप करके देह छोडकरके यथेच्छ सुगति प्राप्त की ॥ १२ ॥

अवाप्नुवन्त वेदोक्तान्संस्कारान्पाण्डवास्तदा ।
अवर्धन्त च भोगांस्ते भुञ्जानाः पितृवेश्मनि ॥ १३ ॥

तब इसके बाद पाण्डव वेदानुसार संस्कारोंको पाकर नाना भोगके पदार्थोंका भोग करते हुए पिताके घरमें बढने लगे ॥ १३ ॥

धार्तराष्ट्रैश्च सहिताः क्रीडन्तः पितृवेश्मनि ।
बालक्रीडासु सर्वासु विशिष्टाः पाण्डवाभवन् ॥ १४ ॥

वे पाण्डव पिताके घरमें धृतराष्ट्रके पुत्रोंके साथ खेलते कूदते हुए सब लडकपनके खेलोंमें बढ चढकर निकले ॥ १४ ॥

जवे लक्ष्याभिहरणे भोज्ये पांसुविकर्षणे ।
धार्तराष्ट्रान्भीमसेनः सर्वान्स परिमर्दति ॥ १५ ॥

वेगमें, निशानेबाजीमें, सबोंसे पहिले भोजनकी सामग्री लेनेमें और धूल फेंकने इत्यादि लडकपनके खेलोंमें भीमसेन सम्पूर्ण धृतराष्ट्रकुमारोंको हरा कर सताया करते थे ॥ १५ ॥

हर्षादेतान्क्रीडमानान्गृह्य काकनिलीयने ।
शिरःसु च निगृह्यैनान्योधयामास पाण्डवः ॥ १६ ॥

हे महाराज ! जब धृतराष्ट्रके लडके आनन्दसे खेलते थे, तब उक्त पाण्डव भीम उनके बालोंको पकडकर एकसे दूसरेको अलग कर देते थे और उनके सिरोंको पकड पकड कर एक दूसरेसे लडा देते थे ॥ १६ ॥

शतमेकोत्तरं तेषां कुमाराणां महौजसाम् ।
एक एव विमृद्नाति नातिकृच्छ्राद्वृकोदरः ॥ १७ ॥

उन बडे तेजस्वी एकसौ एक कुमारोंको वृकोदर भीम अकेले ही सहजहीमें सताया करते थे ॥ १७ ॥

पादेषु च निगृह्यैनान्विनिहत्य बलाद्बली।
चकर्ष क्रोशतो भूमौ घृष्टजानुशिरोऽक्षिकान् ॥ १८ ॥

महाबली भीम बलसे उनके पैर पकडकर मारते पीटते थे और घुटने, सिर और आंखोंके छिल जानेके कारण चिल्लाते हुए उन कौरवोंको जमीन पर घसीटते थे ॥ १८ ॥

दश बालाञ्जले क्रीडन्भुजाभ्यां परिगृह्य सः।
आस्ते स्म सलिले मग्नः प्रमृतांश्च विमुञ्चति ॥ १९ ॥

वह जलमें खेलते हुए दोनों भुजाओंसे दस लडकोंको पकड कर जलमें डुबाये रहते थे, और उनके मरनेके समान होनेपर छोड देते थे ॥ १९ ॥

फलानि वृक्षमारुह्य प्रचिन्वन्ति च ते यदा।
तदा पादप्रहारेण भीमः कम्पयते द्रुमम् ॥ २० ॥

जब धृतराष्ट्रके पुत्र पेडोंपर चढकर फल तोडते थे, तब भीम उन पेडोंको लात मार मार हिलाते थे ॥ २० ॥

प्रहारवेगाभिहताद्द्रुमाद्व्याघूर्णितास्ततः।
सफलाः प्रपतन्ति स्म द्रुतं स्रस्ताः कुमारकाः ॥ २१ ॥

उन लातोंके प्रहारसे हिलने और डगमगाने पर लडके उसीक्षण पेडोंसे छूटकर फलके साथ गिर जाते थे ॥ २१ ॥

न ते नियुद्धे न जवे न योग्यासु कदाचन।
कुमारा उत्तरं चक्रुः स्पर्धमाना वृकोदरम् ॥ २२ ॥

वास्तवमें वे लडके स्पर्धा करते हुए बाहुयुद्धमें या वेगमें या शिक्षामें अर्थात् किसी बातमें भी वृकोदरसे आगे बढ नहीं पाते थे ॥ २२ ॥

एवं स धार्तराष्ट्राणां स्पर्धमानो वृकोदरः।
अप्रियेऽतिष्ठदत्यन्तं बाल्यान्न द्रोहचेतसा ॥ २३ ॥

बढता हुआ वह वृकोदर धृतराष्ट्रके पुत्रोंका केवल लडकपनके कारण ही अप्रिय करता था, किसी द्वेषभावसे नहीं ॥ २३ ॥

ततो बलमतिख्यातं धार्तराष्ट्रः प्रतापवान्।
भीमसेनस्य तज्ज्ञात्वा दुष्टभावमदर्शयत् ॥ २४ ॥

तब प्रतापी धृतराष्ट्र कुमार दुर्योधन भीमसेनके उस अति प्रख्यात बलको देखकर दुष्टभाव दिखाने लगा ॥ २४ ॥

तस्य धर्मादपेतस्य पापानि परिपश्यतः ।
मोहादैश्वर्यलोभाच्च पापा मतिरजायत ॥ २५ ॥
धर्महीन और पापकर्मको देखनेवाले उस दुर्योधनकी बुद्धि अज्ञानता और ऐश्वर्यके लोभसे पापी हो गई ॥ २५ ॥

अयं बलवतां श्रेष्ठः कुन्तीपुत्रो वृकोदरः ।
मध्यमः पाण्डुपुत्राणां निकृत्या संनिहन्यताम् ॥ २६ ॥
उसने विचार किया कि पाण्डवोंमें मंझला यह कुन्तीपुत्र वृकोदर सब बलवानोंमें श्रेष्ठ है, अतः उसको कौशलसे मार डालना चाहिये ॥ २६ ॥

अथ तस्मादवरजं ज्येष्ठं चैव युधिष्ठिरम् ।
प्रसह्य बन्धने बद्ध्वा प्रशासिष्ये वसुन्धराम् ॥ २७ ॥
उसके बाद उसके छोटे भाईयों और बडे भाई युधिष्ठिरको बलसे बांधकर मैं अकेला ही पृथ्वीपर शासन करूंगा ॥ २७ ॥

एवं स निश्चयं पापः कृत्वा दुर्योधनस्तदा ।
नित्यमेवान्तरप्रेक्षी भीमस्यासीन्महात्मनः ॥ २८ ॥
पापात्मा दुर्योधन यह निश्चय कर महात्मा भीमसेनको सदा अकेलेमें ढूंढने लगा ॥ २८ ॥

ततो जलविहारार्थं कारयामास भारत ।
चेलकम्बलवेश्मानि विचित्राणि महान्ति च ॥ २९ ॥
हे भारत ! तब उस पापात्माने जलक्रीडार्थ गंगाके तटपर प्रमाणकोटि नामक स्थानमें वस्त्र और कम्बलके सुन्दर और बडे बडे भवन बनवाए ॥ २९ ॥

प्रमाणकोट्यामुद्देशं स्थलं किंचिदुपेत्य च ।
क्रीडावसाने सर्वे ते शुचिवस्त्राः स्वलंकृताः ।
सर्वकामसमृद्धं तदन्नं बुभुजिरे शनैः ॥ ३० ॥
और प्रमाणकोटिमें किसी निश्चित स्थानपर जाकर जलमें खेलनेके बाद कुरुवंशियोंमें श्रेष्ठ वीरगण पवित्र वस्त्र पहिनकर अलंकृत हुए और सब कामनाओंसे समृद्ध उस अन्नको धीरे धीरे खाने लगे ॥ ३० ॥

दिवसान्ते परिश्रान्ता विहृत्य च कुरूद्वहाः ।
विहारावसथेष्वेव वीरा वासमरोचयन् ॥ ३१ ॥
खेलसे थककर दिन बीतनेपर कुरुकुलके वंशोद्धारक उन वीरोंने उस विहारके घरोंमें ही रहना पसन्द किया ॥ ३१ ॥

×

खिन्नस्तु बलवान्भीमो व्यायामाभ्याधिकस्तदा।
वाहयित्वा कुमारांस्ताञ्जलक्रीडागतान्विभुः।
प्रमाणकोट्यां वासार्थी सुष्वापारुह्य तत्स्थलम् ॥ ३२ ॥

महाबली भीम जलमें खेलते हुए कुमारोंको बहुत तंग करके थककर आराम करनेकी इच्छासे उस प्रमाणकोटिके स्थलभागपर आकरके सो गये ॥ ३२ ॥

शीतं वासं समासाद्य श्रान्तो मदविमोहितः।
निश्चेष्टः पाण्डवो राजन्सुष्वाप मृतकल्पवत् ॥ ३३ ॥

थके और विषके नशेमें अचेतन हुए हुए पाण्डुपुत्र भीम ठंडी हवा पाकर मरे हुएके समान बेहोश होकर सो गए ॥ ३३ ॥

ततो बद्ध्वा लतापाशैर्भीमं दुर्योधनः शनैः।
गम्भीरं भीमवेगं च स्थलाज्जलमपातयत् ॥ ३४ ॥

तब दुर्योधनने भीमको लताजालोंसे बांधकर धीरेसे स्थलसे गहरे और भयंकर वेगवाले जलमें फेंक दिया ॥ ३४ ॥

ततः प्रबुद्धः कौन्तेयः सर्वं संछिद्य बन्धनम्।
उदतिष्ठज्जलाद्भूयो भीमः प्रहरतां वरः ॥ ३५ ॥

तब प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ कुन्तीपुत्र भीम होशमें आकर बन्धनोंको काटकर जलसे बाहर निकल आए ॥ ३५ ॥

सुप्तं चापि पुनः सर्पैस्तीक्ष्णदंष्ट्रैर्महाविषैः।
कुपितैर्दंशयामास सर्वेष्वेवाङ्गमर्मसु ॥ ३६ ॥

इस भीमके पुनः सो जानेपर महाविषवाले, तीक्ष्ण दाढोंवाले तथा क्रोधित सांपोंने इसके सभी मर्मोंको काटा ॥ ३६ ॥

दंष्ट्राश्च दंष्ट्रिणां तेषां मर्मस्वपि निपातिताः।
त्वचं नैवास्य बिभिदुः सारत्वात्पृथुवक्षसः ॥ ३७ ॥

उन तीखी दाढवाले सांपोंकी दाढें भीमके मर्मों पर भी पडीं, पर उस विशाल सीनेके बलवान् होनेके कारण वहांकी चमडी भी नहीं उखडी ॥ ३७ ॥

प्रतिबुद्धस्तु भीमस्तान्सर्वान्सर्पानपोथयत्।
सारथिं चास्य दयितमपहस्तेन जघ्निवान् ॥ ३८ ॥

जागकर भीम उन सब नागोंका संहार करने लगा। उसके प्रिय सारथीको बायें हाथसे मार डाला ॥ ३८ ॥

भोजने भीमसेनस्य पुनः प्राक्षेपयद्विषम् ।
कालकूटं नवं तीक्ष्णं संभृतं लोमहर्षणम् ॥ ३९ ॥

उसके अनन्तर दुर्योधनने भीमसेनके भोजनके पदार्थमें फिर नया, तेज और रोंगटे खडे कर देनेवाला साक्षात् कालकूटके समान भयंकर विष मिलाया ॥ ३९ ॥

वैश्यापुत्रस्तदाचष्ट पार्थानां हितकाम्यया ।
तच्चापि भुक्त्वाजरयदविकारो वृकोदरः ॥ ४० ॥

वैश्याकुमार युयुत्सुने पाण्डवोंके हितके लिये वह बता भी दिया, पर तो भी विना विकारके वृकोदरने उसे खाकर पचा लिया ॥ ४० ॥

विकारं न ह्यजनयत्सुतीक्ष्णमपि तद्विषम् ।
भीमसंहननो भीमस्तदप्यजरयत्ततः ॥ ४१ ॥

वह विष तेज होने पर भी कोई विकार उपजा नहीं सका, और संहार करनेमें भयंकर भीमने उसको भी पचा डाला ॥ ४१ ॥

एवं दुर्योधनः कर्णः शकुनिश्चापि सौबलः ।
अनेकैरभ्युपायैस्ताञ्जिघांसन्ति स्म पाण्डवान् ॥ ४२ ॥

इस प्रकार दुर्योधन, कर्ण और सुवल पुत्र शकुनिने नाना उपायोंसे पाण्डवोंको नष्ट करनेकी चेष्टा की ॥ ४२ ॥

पाण्डवाश्चापि तत्सर्वं प्रत्यजानन्नरिंदमाः ।
उद्भावनमकुर्वन्तो विदुरस्य मते स्थिताः ॥ ४३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११९ ॥ ४३११ ॥

शत्रुको नष्ट करनेवाले पाण्डवगण उन सब बातोंको जानते हुए भी विदुरकी सलाहके अनुसार उस बातपर क्रोध प्रगट नहीं करते थे ॥ ४३ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ उन्नीसवां अध्याय समाप्त ॥ ११९ ॥ ४३११ ॥

: १२० :

जनमेजय उवाच

कृपस्यापि महाब्रह्मन्संभवं वक्तुमर्हसि।
शरस्तम्बात्कथं जज्ञे कथं चास्त्राण्यवाप्तवान् ॥ १ ॥

जनमेजय बोले– हे महा ब्रह्मन्! कृपके जन्मकी भी कथा कहिये। उन्होंने सरकण्डेसे कैसे जन्म लिया था और अस्त्रोंको कैसे प्राप्त किया था ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

महर्षेर्गौतमस्यासीच्छरद्वान्नाम नामतः।
पुत्रः किल महाराज जातः सह शरैर्विभो ॥ २ ॥

वैशम्पायन बोले– महाराज! महर्षि गौतमके शरद्वान् नामक एक पुत्र थे; उन शरद्वान्ने सरकण्डेसे जन्म लिया था ॥ २ ॥

न तस्य वेदाध्ययने तथा बुद्धिरजायत।
यथास्य बुद्धिरभवद्धनुर्वेदे परंतप ॥ ३ ॥

हे शत्रुनाशिन्! धनुर्वेदमें उनकी जैसी बुद्धि चलती थी, वेदपठनमें वैसी बुद्धि नहीं चलती थी ॥ ३ ॥

अधिजग्मुर्यथा वेदांस्तपसा ब्रह्मवादिनः।
तथा स तपसोपेतः सर्वाण्यस्त्राण्यवाप ह ॥ ४ ॥

जिस प्रकार ब्रह्मवादी लोग तपसे वेदका ज्ञान प्राप्त करते हैं, वैसे ही उन्होंने तपहीसे सब अस्त्रोंको प्राप्त किया था ॥ ४ ॥

धनुर्वेदपरत्वाच्च तपसा विपुलेन च।
भृशं संतापयामास देवराजं स गौतमः ॥ ५ ॥

उन गौतमने धनुर्वेदमें अपने अपरिमित ज्ञान और अनन्त तपस्यासे देवराजको भी बहुत संतप्त किया ॥ ५ ॥

ततो जालपदीं नाम देवकन्यां सुरेश्वरः।
प्राहिणोत्तपसो विघ्नं कुरु तस्येति कौरव ॥ ६ ॥

हे कौरव! तब देवेन्द्रने जालपदी नामकी एक देवबालाको यह आज्ञा देकर उनके पास भेजा, कि तुम गौतमकी तपस्यामें विघ्न डालो ॥ ६ ॥

साभिगम्याश्रमपदं रमणीयं शरद्वतः ।
धनुर्बाणधरं बाला लोभयामास गौतमम् ॥ ७ ॥

बाला जालपदी शरद्वान्‌के सुन्दर आश्रममें जाकर धनुषबाण धारी उन गौतमको लुभाने लगी ॥ ७ ॥

तामेकवसनां दृष्ट्वा गौतमोऽप्सरसं वने ।
लोकेऽप्रतिमसंस्थानामुत्फुल्लनयनोऽभवत् ॥ ८ ॥

उस वनमें लोकमें अनुपम सुन्दरी और एक वस्त्र पहिने हुए उस अप्सराको देखकर गौतमके नेत्रोंमें प्रफुल्लता छा गयी ॥ ८ ॥

धनुश्च हि शराश्चास्य कराभ्यां प्रापतन्भुवि ।
वेपथुश्चास्य तां दृष्ट्वा शरीरे समजायत ॥ ९ ॥

उस अप्सराको देखकर उस ऋषिके हाथोंसे धनुषबाण धरती पर गिर पडे और देहमें कम्पन पैदा हो गई ॥ ९ ॥

स तु ज्ञानगरीयस्त्वात्तपसश्च समन्वयात् ।
अवतस्थे महाप्राज्ञो धैर्येण परमेण ह ॥ १० ॥

पर वह महाप्राज्ञ ऋषि कुमार अपने उत्तम ज्ञान और तपस्यामें दृढ होनेके कारण परम धीरज धारण किए रहे ॥ १० ॥

यस्त्वस्य सहसा राजन्विकारः समपद्यत ।
तेन सुस्राव रेतोऽस्य स च तन्नावबुध्यत ॥ ११ ॥

महाराज ! पर उनमें एकाएक जो विकार पैदा हुआ, उसीसे उनका वीर्य गिर गया । पर वह उस बातको नहीं जान सके ॥ ११ ॥

स विहायाश्रमं तं च तां चैवाप्सरसं मुनिः ।
जगाम रेतस्तत्तस्य शरस्तम्बे पपात ह ॥ १२ ॥

तब वे मुनि उस आश्रम और अप्सराको छोडकर अन्य स्थानमें चले गये। उनका वीर्य सरकण्डे पर जा गिरा ॥ १२ ॥

शरस्तम्बे च पतितं द्विधा तदभवन्नृप ।
तस्याथ मिथुनं जज्ञे गौतमस्य शरद्वतः ॥ १३ ॥

हे राजन् ! सरकण्डे पर गिरनेसे वह दो भागोंमे हो गया और इस प्रकार शरद्वान्‌के पुत्र गौतमसे एक कन्या और एक पुत्रका जन्म हुआ ॥ १३ ॥

मृगयां चरतो राज्ञः शंतनोस्तु यदृच्छया।
कश्चित्सेनाचरोऽरण्ये मिथुनं तदपश्यत ॥ १४ ॥

तब मृगयाके लिये अपनी इच्छानुसार घूमनेवाले, राजा शन्तनुके एक सैनिकने वनमें उस पुत्र और कन्याको देखा ॥ १४ ॥

धनुश्च सशरं दृष्ट्वा तथा कृष्णाजिनानि च।
व्यवस्य ब्राह्मणापत्यं धनुर्वेदान्तगस्य तत्।
स राज्ञे दर्शयामास मिथुनं सशरं तदा ॥ १५ ॥

और वहां धनुर्बाण और मृगका चर्म देखकर समझा, कि यह दोनों धनुर्वेदमें दक्ष किसी ब्राह्मणकी सन्तान होंगी, तब उस सैनिकने धनुर्बाण और दोनों बच्चोंको लेजाकर राजाको दिखाया ॥ १५ ॥

स तदादाय मिथुनं राजाथ कृपयान्वितः।
आजगाम गृहानेव मम पुत्राविति ब्रुवन् ॥ १६ ॥

राजाने दयायुक्त होकर उन बच्चोंको ले लिया और यह कह कर, कि "यह मेरी सन्तानें हैं" अपने घर ले आए ॥ १६ ॥

ततः संवर्धयामास संस्कारैश्चाप्ययोजयत्।
गौतमोऽपि तदापेत्य धनुर्वेदपरोऽभवत्। ॥ १७ ॥

शन्तनुने गौतमके उस पुत्र और कन्याको सम्पूर्ण संस्कारसे सुधार और पाल पोषकर बढाया और गौतम भी उस आश्रमसे आकर धनुर्वेदमें रत रहने लगे ॥ १७ ॥

कृपया यन्मया बालाविमौ संवार्धिताविति।
तस्मात्तयोर्नाम चक्रे तदेव स महीपतिः ॥ १८ ॥

महीपाल शन्तनुने यह समझ कर, कि "मैंने कृपापूर्वक इन बच्चोंको जिलाया है" उनके कृप और कृपी ये नाम रख दिये ॥ १८ ॥

निहितौ गौतमस्तत्र तपसा तावविन्दत।
आगम्य चास्मै गोत्रादि सर्वमाख्यातवांस्तदा ॥ १९ ॥

गौतमने तपके द्वारा यह जानकर कि उस स्थानमें दोनों सन्तानें हुई हैं, वहां आकर अपने गोत्रादि सब बताये ॥ १९ ॥

चतुर्विधं धनुर्वेदमस्त्राणि विविधानि च ।
निखिलेनास्य तत्सर्वं गुह्यमाख्यातवांस्तदा ।
सोऽचिरेणैव कालेन परमाचार्यतां गतः ॥ २० ॥

उन्होंने कृपको चार प्रकारके धनुर्वेद, नाना तरहकी अस्त्र–विद्या और दूसरे गुप्त विषयोंकी शिक्षा दी । कृप स्वल्प कालमें ही परम आचार्य बन गए ॥ २० ॥

ततोऽधिजग्मुः सर्वे ते धनुर्वेदं महारथाः ।
धृतराष्ट्रात्मजाश्चैव पाण्डवाश्च महाबलाः ।
वृष्णयश्च नृपाश्चान्ये नानादेशसमागताः ॥ २१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२० ॥ ४३३२ ॥

महारथी धृतराष्ट्रके पुत्रगण, महाबली पाण्डवगण, वृष्णि और नानादेशोंसे आये हुए दूसरे भूपाल उनसे धनुर्वेद सीखने लगे ॥ २१ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ बीसवां अध्याय समाप्त ॥ १२० ॥ ४३३२ ॥

: १२१ :

वैशम्पायन उवाच

विशेषार्थी ततो भीष्मः पौत्राणां विनयेप्सया ।
इष्वस्त्रज्ञान्पर्यपृच्छदाचार्यान्वीर्यसंमतान् ॥ १ ॥
नाल्पधीर्नामहाभागस्तथानानास्त्रकोविदः ।
नादेवसत्त्वो विनयेत्कुरूनस्त्रे महाबलान् ॥ २ ॥

वैशम्पायन बोले– इसके बाद जो अच्छे बुद्धिमान् नहीं, महाभाग नहीं, नाना अस्त्रोंके चलानेमें पण्डित नहीं और देव समान महात्मा न हों, वह कौरवोंको अस्त्रविद्या न सिखावें यह विचार कर भीष्म पौत्रोंको विशेष रूपसे विद्या पढाने और विनय सिखानेके लिये बाण चलानेमें दक्ष, अस्त्रविद्यामें पण्डित, वीर्यवान् आचार्य ढूंढने लगे ॥ १–२ ॥

महर्षिस्तु भरद्वाजो हविर्धाने चरन्पुरा ।
ददर्शाप्सरसं साक्षाद्घृताचीमाप्लुतामृषिः ॥ ३ ॥

एक समय भरद्वाजने अग्निहोत्र करनेके अभिप्रायसे विचरते हुए नहाती हुई साक्षात् घृताची नामकी एक अप्सराको देखा ॥ ३ ॥

तस्या वायुः समुद्धूतो वसनं व्यपकर्षत।
ततोऽस्य रेतश्चस्कन्द तदृषिर्द्रोण आदधे ॥ ४ ॥

वायुके बहनेसे उसका वस्त्र गिर गया। उससे ऋषिका वीर्य गिर गया। ऋषिने तव द्रोण-नामक यज्ञके वर्तनमें उस वीर्यको रखा ॥ ४ ॥

तस्मिन्समभवद्द्रोणः कलशे तस्य धीमतः।
अध्यगीष्ट स वेदांश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः ॥ ५ ॥

धीमान् भरद्वाजके द्रोणमें रखे हुए उस वीर्यसे द्रोणका जन्म हुआ। उन्होंने वेद और वेदाङ्ग सब पढे ॥ ५ ॥

अग्निवेश्यं महाभागं भरद्वाजः प्रतापवान्।
प्रत्यपादयदाग्नेयमस्त्रं धर्मभृतां वरः ॥ ६ ॥

धर्मको धारण करनेवालोंमें प्रधान प्रतापी भरद्वाजने पहिले अग्निवेश्य नामक महाभाग महर्षिको अग्न्यस्त्र दिया था ॥ ६ ॥

अग्निष्टुज्जातः स मुनिस्ततो भरतसत्तम।
भारद्वाजं तदाग्नेयं महास्त्रं प्रत्यपादयत् ॥ ७ ॥

हे भरतश्रेष्ठ! अग्निसे जन्म लिये हुए उन ऋषि अग्निवेश्यने अपने गुरुपुत्र द्रोणको वह महा अग्न्यस्त्र दे दिया ॥ ७ ॥

भरद्वाजसखा चासीत्पृषतो नाम पार्थिवः।
तस्यापि द्रुपदो नाम तदा समभवत्सुतः ॥ ८ ॥

पृषत नामक एक राजा ऋषि भरद्वाजके मित्र थे, उनके भी द्रुपद नामक एक पुत्र पैदा हुआ ॥ ८ ॥

स नित्यमाश्रमं गत्वा द्रोणेन सह पार्षतः।
चिक्रीडाध्ययनं चैव चकार क्षत्रियर्षभः ॥ ९ ॥

क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ वह पृषत्पुत्र द्रुपद नित्य भरद्वाजके आश्रममें जाकर द्रोणके साथ खेलते थे और साथ साथ पढते भी थे ॥ ९ ॥

ततो व्यतीते पृषते स राजा द्रुपदोऽभवत्।
पाञ्चालेषु महाबाहुरुत्तरेषु नरेश्वरः ॥ १० ॥

वादमें राजा पृषतके परलोक सिधार जानेपर महाभुज द्रुपद उत्तर पाञ्चाल देशके राजा हुए ॥ १० ॥

भरद्वाजोऽपि भगवानारुरोह दिवं तदा ।
ततः पितृनियुक्तात्मा पुत्रलोभान्महायशाः ।
शारद्वतीं ततो द्रोणः कृपीं भार्यामविन्दत ॥ ११ ॥

उसी समय भगवान् ऋषि भरद्वाज भी स्वर्ग सिधार गए और उन अतियशस्वी द्रोणने पिताकी पहिलेकी आज्ञाके अनुसार पुत्रके लोभसे शारद्वतकी कन्या कृपीसे विवाह किया ॥ ११ ॥

अग्निहोत्रे च धर्मे च दमे च सततं रता ।
अलभद्गौतमी पुत्रमश्वत्थामानमेव च ॥ १२ ॥

उसके बाद अग्निहोत्रमें, इन्द्रियोंके रोकनेमें और धर्ममें सदा रत रहनेवाली उस गौतमकी पुत्री कृपीने अश्वत्थामा नामक पुत्र प्राप्त किया ॥ १२ ॥

स जातमात्रो व्यनदद्यथैवोच्चैःश्रवा हयः ।
तच्छ्रुत्वान्तर्हितं भूतमन्तरिक्षस्थमब्रवीत् ॥ १३ ॥

पुत्रने जन्म लेते ही उच्चैःश्रवा अश्वकी भांति शब्द किया, वह सुनकर उस समय आकाशमें स्थित किसी अदृश्य प्राणीने कहा ॥ १३ ॥

अश्वस्येवास्य यत्स्थाम नदतः प्रदिशो गतम् ।
अश्वत्थामैव बालोऽयं तस्मान्नाम्ना भविष्यति ॥ १४ ॥

कि घोडेके समान शब्द करनेवाले इस बालकका स्थाम (शब्द) नाना दिशाओंमें पहुंचा है, इस कारण यह बालक अश्वत्थामाके नामसे ही प्रसिद्ध होगा ॥ १४ ॥

सुतेन तेन सुप्रीतो भारद्वाजस्ततोऽभवत् ।
तत्रैव च वसन्धीमान्धनुर्वेदपरोऽभवत् ॥ १५ ॥
स शुश्राव महात्मानं जामदग्न्यं परंतपम् ।
ब्राह्मणेभ्यस्तदा राजन्दित्सन्तं वसु सर्वशः ॥ १६ ॥

उससे भरद्वाजपुत्र धीमान् द्रोण उस पुत्रसे बडे प्रसन्न हुए और उसी स्थानमें रहकर वे धनुर्वेदमें संलग्न रहे। हे महाराज! उन्होंने उसी समय ब्राह्मणोंके लिए हर तरहके धन देनेकी इच्छा करनेवाले तथा शत्रुओंको संताप देनेवाले महात्मा जमदग्निके पुत्र परशुरामके बारेमें सुना ॥ १५–१६ ॥

वनं तु प्रस्थितं रामं भारद्वाजस्तदाब्रवीत् ।
आगतं वित्तकामं मां विद्धि द्रोणं द्विजर्षभम् ॥ १७ ॥

तब द्रोण वनको जानेके लिए उद्यत महात्मा जामदग्न्य परशुरामसे यह बोले– हे महामते! धनकी लालसासे यहां आये हुए मुझे द्विजोंमें श्रेष्ठ द्रोण जानो ॥ १७ ॥

राम उवाच

हिरण्यं मम यच्चान्यद्वसु किंचन विद्यते।
ब्राह्मणेभ्यो मया दत्तं सर्वमेव तपोधन ॥ १८ ॥

राम बोले– हे तपोधन ! मेरा सुवर्ण और दूसरा धन जो कुछ था, सब ब्राह्मणोंको दे चुका हूं, अतः अब मेरे पास कुछ नहीं बचा है ॥ १८ ॥

तथैवेयं धरा देवी सागरान्ता सपत्तना।
कश्यपाय मया दत्ता कृत्स्ना नगरमालिनी ॥ १९ ॥

उसी तरह ग्राम और नगरोंकी मालासे सजी हुई, सागर तक चली गयी यह पृथ्वी भी मैंने कश्यपको दे दी है ॥ १९ ॥

शरीरमात्रमेवाद्य मयेदमवशेषितम्।
अस्त्राणि च महार्हाणि शस्त्राणि विविधानि च।
वृणीष्व किं प्रयच्छामि तुभ्यं द्रोण वदाशु तत् ॥ २० ॥

अब मेरे पास केवल बडे बडे मूल्यवान् नाना तरहके अस्त्र शस्त्र और मेरा यह शरीर ही शेष रह गया है। हे द्रोण ! शीघ्र कहो, कि इन दोनोंमेंसे क्या चाहते हो, मैं तुमको क्या दूँ? ॥ २० ॥

द्रोण उवाच

अस्त्राणि मे समग्राणि ससंहाराणि भार्गव।
सप्रयोगरहस्यानि दातुमर्हस्यशेषतः ॥ २१ ॥

द्रोण बोले– हे भार्गव ! प्रयोग, उपसंहार और रहस्योंके साथ सम्पूर्ण अस्त्रोंको भली प्रकार मुझको दीजिये ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथेत्युक्त्वा ततस्तस्मै प्रादादस्त्राणि भार्गवः।
सरहस्यव्रतं चैव धनुर्वेदमशेषतः ॥ २२ ॥

वैशम्पायन बोले– भार्गवने 'तथास्तु' कहकर उनको सम्पूर्ण अस्त्र और रहस्य और नियमोंके साथ धनुर्वेदको संपूर्ण रूपसे दे दिया ॥ २२ ॥

प्रतिगृह्य तु तत्सर्वं कृतास्त्रो द्विजसत्तमः।
प्रियं सखायं सुप्रीतो जगाम द्रुपदं प्रति ॥ २३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२१ ॥ ४३५५ ॥

द्विजोंमें श्रेष्ठ द्रोण सब अस्त्र शस्त्रोंको लेकर कृतार्थ होकरके प्रसन्नचित्तसे प्रिय मित्र द्रुपदके पास गये ॥ २३ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसो इकीसवां अध्याय समाप्त ॥ १२१ ॥ ४३५५ ॥

: १२२ :

वैशम्पायन उवाच

ततो द्रुपदमासाद्य भारद्वाजः प्रतापवान् ।
अब्रवीत्पार्षतं राजन्सखायं विद्धि मामिति ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– उसके बाद प्रतापी भरद्वाजके पुत्र द्रोण पृषत्पुत्र द्रुपदके यहां जाकर बोले– हे महाराज ! मुझको अपना मित्र समझो ॥ १ ॥

द्रुपद उवाच

अकृतेयं तव प्रज्ञा ब्रह्मन्नातिसमञ्जसी ।
यन्मां ब्रवीषि प्रसभं सखा तेऽहमिति द्विज ॥ २ ॥

द्रुपद बोले– हे विप्र ! तुम्हारी बुद्धि नहीं सुधरी और पक्की नहीं हुई है, क्योंकि तुमने एकाएक मुझसे कहा, कि मैं तुम्हारा मित्र हूं ॥ २ ॥

न हि राज्ञामुदीर्णानामेवंभूतैर्नरैः क्वचित् ।
सख्यं भवति मन्दात्मञ्श्रिया हीनैर्धनच्युतैः ॥ ३ ॥

हे स्वल्पबुद्धे ! अनन्त ऐश्वर्ययुक्त भूपालोंकी कभी ऐसे श्रीवर्जित और निर्धनजनोंसे मित्रता नहीं होती ॥ ३ ॥

सौहृदान्यपि जीर्यन्ते कालेन परिजीर्यताम् ।
सौहृदं मे त्वया ह्यासीत्पूर्वं सामर्थ्यबन्धनम् ॥ ४ ॥

काल सब वस्तुओंको नष्ट कर देता है, उससे मित्रता भी टूट जाती है; पहिले समान सामर्थ्य होनेके कारण तुमसे मेरी मित्रता हुई थी ॥ ४ ॥

न सख्यमजरं लोके जातु दृश्येत कर्हिचित् ।
कामो वैनं विहरति क्रोधश्चैनं प्रवृश्चति ॥ ५ ॥

पर भूमण्डलमें मित्रता कभी या कहीं अजर नहीं होती, क्योंकि कामसे वह दूर हो जाती है, अथवा क्रोध उसे काट डालता है ॥ ५ ॥

मैवं जीर्णमुपासिष्ठाः सख्यं नवमुपाकुरु ।
आसीत्सख्यं द्विजश्रेष्ठ त्वया [illegible] यनम् ॥ ६ ॥

अतः तुम उस पुरानी मित्रताकी पूजा मत [illegible] अब नई मित्रता प्राप्त करो [illegible]
द्विजश्रेष्ठ ! तुमसे मेरी अर्थके कारण मित्रता [illegible]

न दरिद्रो वसुमतो नाविद्वान्विदुषः सखा।
शूरस्य न सखा क्लीबः सखिपूर्वं किमिष्यते ॥ ७ ॥

दरिद्र कभी धनीका मित्र नहीं होता; मूर्ख कभी पण्डितसे मित्रता नहीं कर सकता, वीर्यरहित जन कभी वीरका मित्र नहीं हो सकता, फिर तुम क्यों पहिलेकी मित्रता चाहते हो ? ॥ ७ ॥

ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं कुलम्।
तयोः सख्यं विवाहश्च न तु पुष्टविपुष्टयोः ॥ ८ ॥

जिनका धन समान है, जिनका कुल समान है, उन्हींमें मित्रता और शादी हो सकती है, पुष्ट और अपुष्ट जनोंमें कभी मित्रता नहीं हो सकती ॥ ८ ॥

नाश्रोत्रियः श्रोत्रियस्य नारथी रथिनः सखा।
नाराज्ञा संगतं राज्ञः सखिपूर्वं किमिष्यते ॥ ९ ॥

जो श्रोत्रिय नहीं है, वह कभी श्रोत्रियका मित्र नहीं हो सकता; रथवालेसे रथ रहित जन कभी मित्रता नहीं कर सकता; राजा न होनेसे राजाके साथ मित्रता नहीं कर सकता, अतः अब क्यों पहिलेकी मित्रता चाहते हो ? ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच

द्रुपदेनैवमुक्तस्तु भारद्वाजः प्रतापवान्।
मुहूर्तं चिन्तयामास मन्युनाभिपरिप्लुतः ॥ १० ॥

वैशम्पायन बोले— द्रुपदसे इस प्रकार कहे जानेपर प्रतापी भारद्वाजने क्रोधसे जलकर क्षण-भर सोचा ॥ १० ॥

स विनिश्चित्य मनसा पाञ्चालं प्रति बुद्धिमान्।
जगाम कुरुमुख्यानां नगरं नागसाह्वयम् ॥ ११ ॥

वह बुद्धिमान् मन ही मनमें पाञ्चाल राजकी पराजयका उपाय सोचकर हस्तिनापुर नामक कौरवोंके नगरको चले गये ॥ ११ ॥

कुमारास्त्वथ निष्क्रम्य समेता गजसाह्वयात्।
क्रीडन्तो वीटया तत्र वीराः पर्यचरन्मुदा ॥ १२ ॥

एक बार युधिष्ठिर आदि वीर कुमार मिलकर हस्तिनापुरसे निकल कर "वीटा" अर्थात् गेंदका खेल खेलते हुए प्रसन्न चित्तसे घूमने लगे ॥ १२ ॥

पपात कूपे सा वीटा तेषां वै क्रीडतां तदा ।
न च ते प्रत्यपद्यन्त कर्म वीटोपलब्धये ॥ १३ ॥

तब खेलते हुए उनकी वह गेंद कुंएमें गिर गयी । पर उन्हें उस गेंदको पानेका कोई उपाय नहीं सूझा ॥ १३ ॥

अथ द्रोणः कुमारांस्तान्दृष्ट्वा कृत्यवतस्तदा ।
प्रहस्य मन्दं पैशल्यादभ्यभाषत वीर्यवान् ॥ १४ ॥
अहो नु धिग्बलं क्षात्रं धिगेतां वः कृतास्त्रताम् ।
भरतस्यान्वये जाता ये वीटां नाधिगच्छत ॥ १५ ॥

वीर्यवान् द्रोण लडकोंको विफल मनोरथवाला देखकर चतुरतासे कुछ हंसकर बोले– तुम्हारे क्षत्रिय बलपर धिक्कार है, तुम्हारे अस्त्र शिक्षापर भी धिक्कार है! क्योंकि तुम भरतकुलमें जन्म लेकरके भी इस गेंदको निकाल नहीं सके ॥ १४–१५ ॥

एष मुष्टिरिषीकाणां मयास्त्रेणाभिमन्त्रितः ।
अस्य वीर्यं निरीक्षध्वं यदन्यस्य न विद्यते ॥ १६ ॥

इन मुट्ठी भर इषीका अर्थात् सरकण्डेपर मैं अस्त्रका मन्त्र फूंक देता हूं, दूसरे अस्त्रमें जो वीर्य नहीं है, वही इसमें देखोगे ॥ १६ ॥

वेत्स्यामीषीकया वीटां तामिषीकामथान्यया ।
तामन्यया समायोगो वीटाया ग्रहणे मम ॥ १७ ॥

इस इषीकासे वह गेंद बींधकर दूसरी इषीकासे इस इषीकाको बींधूंगा फिर और इषीकासे उस दूसरेको भी विद्ध करूंगा, इस प्रकार क्रमसे इषीकाके योगसे उस गेंदको निकाल दूँगा ॥ १७ ॥

तदपश्यन्कुमारास्ते विस्मयोत्फुल्ललोचनाः ।
अवेक्ष्य चोद्धृतां वीटां वीटावेद्धारमब्रुवन् ॥ १८ ॥

लडकोंने अचरजसे आंखें फैलाकर वह लीला देखी और गेंदको निकाला हुआ देखकर वे गेंदको निकालनेवालेसे बोले ॥ १८ ॥

अभिवादयामहे ब्रह्मन्नैतदन्येषु विद्यते ।
कोऽसि कं त्वाभिजानीमो वयं किं करवामहे ॥ १९ ॥

ब्रह्मन्! हम आपको प्रणाम करते हैं, यह विद्या दूसरोंमें दीख नहीं पडती, अतः जानना चाहते हैं, कि आप कौन और किसके पुत्र हैं और यह भी कहिये कि हम आपके लिए क्या करें? ॥ १९ ॥

द्रोण उवाच

आचक्षध्वं च भीष्माय रूपेण च गुणैश्च माम् ।
स एव सुमहाबुद्धिः सांप्रतं प्रतिपत्स्यते ॥ २० ॥

द्रोण बोले– तुम भीष्मके पास जाकर मेरे रूप और गुणकी बात ठीक ठीक कहो । इससे वह महाबुद्धि भीष्म मुझको पहिचान लेंगे ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

तथेत्युक्त्वा तु ते सर्वे भीष्ममूचुः पितामहम् ।
ब्राह्मणस्य वचस्तथ्यं तच्च कर्म विशेषवत् ॥ २१ ॥

वैशम्पायन बोले– तब लडकोंने वह मानकर पितामह भीष्मके पास जाकर उन ब्राह्मणका ठीक ठीक हाल और विशेषकर आश्चर्य कार्यकी बात कह सुनायी ॥ २१ ॥

भीष्मः श्रुत्वा कुमाराणां द्रोणं तं प्रत्यजानत ।
युक्तरूपः स हि गुरुरित्येवमनुचिन्त्य च ॥ २२ ॥

भीष्म कुमारोंके मुखसे सब सुनकर समझ गए कि वे ब्राह्मण द्रोण हैं । और सोचा, कि यही आचार्य कार्यके योग्य हैं ॥ २२ ॥

अथैनमानीय तदा स्वयमेव सुसत्कृतम् ।
परिपप्रच्छ निपुणं भीष्मः शस्त्रभृतां वरः ।
हेतुमागमने तस्य द्रोणः सर्वं न्यवेदयत् ॥ २३ ॥

तब शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ भीष्मने स्वयं उसी क्षण वहां जाकर उनको आदरपूर्वक लिवा लाकर आनेका कारण योग्य रूपसे पूछा, तब द्रोणने आद्योपान्त सब कह सुनाया ॥ २३ ॥

महर्षेरग्निवेश्यस्य सकाशमहमच्युत ।
अस्त्रार्थमगमं पूर्वं धनुर्वेदजिघृक्षया ॥ २४ ॥

हे आयुष्मन् ! मैं पहिले धनुर्वेद और अस्त्रकी शिक्षा लेनेकी इच्छासे महर्षि अग्निवेशके यहां गया था ॥ २४ ॥

ब्रह्मचारी विनीतात्मा जटिलो बहुलाः समाः ।
अवसं तत्र सुचिरं धनुर्वेदचिकीर्षया ॥ २५ ॥

वहां धनुर्वेद सीखनेकी इच्छासे ब्रह्मचारी, नम्र, जटाधारी और उत्साहित होकर अनेक वर्ष तक रहा ॥ २५ ॥

पाञ्चालराजपुत्रस्तु यज्ञसेनो महाबलः ।
मया सहाकरोद्विद्यां गुरोः श्राम्यन्समाहितः ॥ २६ ॥

उन दिनों पाञ्चाल राजकुमार महाबली प्रभावी यज्ञसेन उन गुरुके निकट अस्त्रविद्या और धनुर्विद्या सीखनेके लिये मेरे साथ ही रहते थे ॥ २६ ॥

स मे तत्र सखा चासीदुपकारी प्रियश्च मे ।
तेनाहं सह संगम्य रतवान्सुचिरं बत ।
बाल्यात्प्रभृति कौरव्य सहाध्ययनमेव च ॥ २७ ॥

हे प्रभो ! वहां वह मेरे उपकारी, मित्र और प्रिय थे, उनके साथ एकत्र रहकर मैं बहुत दिन सुखसे वहां रहा, हे कौरव ! बालपनसे उनके साथ एकत्र मैंने पढा था ॥ २७ ॥

स समासाद्य मां तत्र प्रियवादी प्रियंवदः ।
अब्रवीदिति मां भीष्म वचनं प्रीतिवर्धनम् ॥ २८ ॥

इसलिये वह सदा मेरे साथ प्रिय बोलनेवाले और प्रिय कहनेवाले थे । हे भीष्म ! वे मुझे पाकर मेरी प्रीतिके लिये सदा मुझसे यह कहा करते थे ॥ २८ ॥

अहं प्रियतमः पुत्रः पितुर्द्रोण महात्मनः ।
अभिषेक्ष्यति मां राज्ये स पाञ्चाल्यो यदा तदा ॥ २९ ॥
त्वद्भोज्यं भविता राज्यं सखे सत्येन ते शपे ।
मम भोगाश्च वित्तं च त्वदधीनं सुखानि च ॥ ३० ॥

"हे द्रोण ! मैं महानुभाव पिताका बडा प्यारा पुत्र हूं, जब पाञ्चालराज मुझको राज्यपर बैठावेंगे, तब उस राज्यका भोग तुम करोगे, हे मित्र ! मेरा भोग, ऐश्वर्य और सुख सब तुम्हारे अधीन रहेंगे, यह मैं सत्यकी शपथ लेकर कहता हूं" ॥ २९-३० ॥

एवमुक्तः प्रवव्राज कृतास्त्रोऽहं धनेप्सया ।
अभिषिक्तं च श्रुत्वैनं कृतार्थोऽस्मीति चिन्तयन् ॥ ३१ ॥

जब मेरी शस्त्रास्त्रशिक्षा समाप्त हो गई और मैंने यह सुना कि द्रुपद राजा बन गया है, तब यह सोचकर कि अब मैं कृतार्थ हो गया हूँ, धनकी इच्छासे उसके पास गया ॥ ३१ ॥

प्रियं सखायं सुप्रीतो राज्यस्थं पुनराव्रजम् ।
संस्मरन्संगमं चैव वचनं चैव तस्य तत् ॥ ३२ ॥

मैं खुश होकर राज्यपर बैठे हुए अपने प्रिय मित्रके उन वचनोंको और उसके साथ रहनेकी बात याद करके उसके पास गया ॥ ३२ ॥

ततो द्रुपदमागम्य सखिपूर्वमहं प्रभो ।
अब्रुवं पुरुषव्याघ्र सखायं विद्धि मामिति ॥ ३३ ॥

मैंने उनके साथ हुई हुई पहलेकी मित्रताको याद कर उनके पास जाकर मित्रतासे कहा, कि, हे पुरुषव्याघ्र ! मुझे अपना मित्र समझो ॥ ३३ ॥

उपस्थितं तु द्रुपदः सखिवच्चाभिसंगतम् ।
स मां निराकारमिव प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥ ३४ ॥

वह द्रुपद अपने मित्रके रूपमें उपस्थित हुए मुझे देखकर नीच मनुष्यकी भांति मुझपर हंसकर बोला ॥ ३४ ॥

अकृतेयं तव प्रज्ञा ब्रह्मन्नातिसमञ्जसी ।
यदात्थ मां त्वं प्रसभं सखा तेऽहमिति द्विज ॥ ३५ ॥

हे ब्रह्मन् ! तुम्हारी यह बात बुद्धिमानोंकीसी और सुधरी हुई नहीं है । हे द्विज ! क्योंकि तुमने सहसा मुझसे कहा, कि " मैं तुम्हारा मित्र हूं " ॥ ३५ ॥

न हि राज्ञामुदीर्णानामेवंभूतैर्नरैः क्वचित् ।
सख्यं भवति मन्दात्मञ्श्रिया हीनैर्धनच्युतैः ॥ ३६ ॥

स्वल्पबुद्धे ! जो अनन्त ऐश्वर्यसे युक्त भूपाल हैं, उनकी कभी इस प्रकारके श्रीसे रहित तथा धनसे हीन लोगोंसे मित्रता नहीं हो सकती ॥ ३६ ॥

नाश्रोत्रियः श्रोत्रियस्य नारथी रथिनः सखा ।
नाराजा पार्थिवस्यापि सखिपूर्वं किमिष्यते ॥ ३७ ॥

बुद्धिमानोंकी मूर्खोंके साथ, रथरहितकी रथीके साथ, जो राजा नहीं है उसकी राजाके साथ कभी मित्रता नहीं होती, फिर क्यों तुम पहलेकी मित्रता चाहते हो ? ॥ ३७ ॥

द्रुपदेनैवमुक्तोऽहं मन्युनाभिपरिप्लुतः ।
अभ्यागच्छं कुरून्भीष्म शिष्यैरर्थी गुणान्वितैः ॥ ३८ ॥

हे भीष्म ! राजा द्रुपदसे इस प्रकार कहे जाकर मैं क्रोधित होकर गुणवान् शिष्योंकी खोजमें कुरुराज्यमें उपस्थित हुआ हूँ ॥ ३८ ॥

प्रतिजग्राह तं भीष्मो गुरुं पाण्डुसुतैः सह ।
पौत्रानादाय तान्सर्वान्वसूनि विविधानि च ॥ ३९ ॥

पाण्डवों सहित अपने पौत्रोंको तथा विविध धनोंको देकर भीष्मने उन्हें गुरुके रूपमें स्वीकार कर लिया ॥ ३९ ॥

शिष्या इति ददौ राजन्द्रोणाय विधिपूर्वकम् ।
स च शिष्यान्महेष्वासः प्रतिजग्राह कौरवान् ॥ ४० ॥

हे राजन् ! भीष्मने कौरवों और पाण्डवोंको शिष्यके रूपमें द्रोणके हाथोंमें विधिपूर्वक सौंप दिया और बडे धनुषधारी द्रोणने भी प्रसन्न चित्तसे उन्हें शिष्य बना लिया ॥ ४० ॥

प्रतिगृह्य च तान्सर्वान्द्रोणो वचनमब्रवीत् ।
रहस्येकः प्रतीतात्मा कृतोपसदनांस्तदा ॥ ४१ ॥

इसके बाद प्रसन्न मनवाले द्रोण अकेलेमें उन सबको ले जाकर कौरवोंसे एकान्तमें विश्वासपूर्वक बोले ॥ ४१ ॥

कार्यं मे काङ्क्षितं किंचिद्धृदि संपरिवर्तते ।
कृतास्त्रैस्तत्प्रदेयं मे तदृतं वदतानघाः ॥ ४२ ॥

हे निष्पाप शिष्यो ! कोई एक कामना मेरे हृदयमें विद्यमान है। प्रतिज्ञा करो कि जब तुम लोग अस्त्रविद्यामें दक्ष बन जाओगे तब मेरी वह इच्छा अवश्य पूरी करोगे ॥ ४२ ॥

तच्छ्रुत्वा कौरवेयास्ते तूष्णीमासन्विशां पते ।
अर्जुनस्तु ततः सर्वं प्रतिजज्ञे परंतपः ॥ ४३ ॥

हे परंतप पृथ्वीनाथ ! कौरवलोग यह सुनकर चुप हो गए। पर अर्जुनने उनकी सब कामनाओंको पूरा करनेकी प्रतिज्ञा की ॥ ४३ ॥

ततोऽर्जुनं मूर्ध्नि तदा समाघ्राय पुनः पुनः ।
प्रीतिपूर्वं परिष्वज्य प्ररुरोद मुदा तदा ॥ ४४ ॥

तब द्रोणने बार बार अर्जुनका सिर चूमकर प्रसन्नतासे उनको गलेसे लगाया और हर्षके मारे उनकी आंखोंसे आंसू गिरने लगे ॥ ४४ ॥

ततो द्रोणः पाण्डुपुत्रानस्त्राणि विविधानि च ।
ग्राहयामास दिव्यानि मानुषाणि च वीर्यवान् ॥ ४५ ॥

इसके बाद वह वीर्यवान् द्रोण पाण्डुनन्दनोंको दिव्य और मानवी नाना प्रकारके अस्त्रोंकी शिक्षा देने लगे ॥ ४५ ॥

राजपुत्रास्तथैवान्ये समेत्य भरतर्षभ ।
अभिजग्मुस्ततो द्रोणमस्त्रार्थे द्विजसत्तमम् ।
वृष्णयश्चान्धकाश्चैव नानादेश्याश्च पार्थिवाः ॥ ४६ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! तब वृष्णिवंशी, अन्धकवंशी और अनेक देशोंके दूसरे अनेक राजकुमार भी आकरके अस्त्रशिक्षाके लिये द्विजोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्यके पास एकत्रित होने लगे ॥ ४६ ॥

×

तस्य ज्यातलनिर्घोषं द्रोणः शुश्राव भारत ।
उपेत्य चैनमुत्थाय परिष्वज्येदमब्रवीत् ॥ ५ ॥

हे भारत ! आचार्य द्रोणने रात्रिके समय उनके धनुषकी डोरीका और बाणोंके छूटनेका शब्द सुना और उठ करके वहां गये और गले लगाकर अर्जुनसे बोले ॥ ५ ॥

प्रयतिष्ये तथा कर्तुं यथा नान्यो धनुर्धरः ।
त्वत्समो भविता लोके सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ ६ ॥

तुमसे सत्य कहता हूं, कि ऐसा प्रयत्न करूंगा, कि मर्त्यलोकभरमें तुम्हारे जैसा धनुर्धारी कोई दूसरा न होगा ॥ ६ ॥

ततो द्रोणोऽर्जुनं भूयो रथेषु च गजेषु च ।
अश्वेषु भूमावपि च रणशिक्षामशिक्षयत् ॥ ७ ॥

इसके बादसे वीर्यवान् द्रोणाचार्यने अर्जुनको रथ पर, हाथी पर, घोडे पर और भूमिपर युद्ध करनेकी शिक्षा दी ॥ ७ ॥

गदायुद्धेऽसिचर्यायां तोमरप्रासशक्तिषु ।
द्रोणः संकीर्णयुद्धेषु शिक्षयामास पाण्डवम् ॥ ८ ॥

और गदायुद्धमें, खड्ग चलानेमें, तोमर, प्रास, शक्ति आदि विशेष अस्त्र फेंकनेमें और संकीर्ण युद्धमें अर्थात् एक ही समय अनेक बाण चलाने अथवा एकबार ही अनेक जनोंके साथ युद्ध करनेमें अर्जुनको सुशिक्षित किया ॥ ८ ॥

तस्य तत्कौशलं दृष्ट्वा धनुर्वेदजिघृक्षवः ।
राजानो राजपुत्राश्च समाजग्मुः सहस्रशः ॥ ९ ॥

धनुर्वेदको सीखनेकी इच्छावाले सहस्रों राजा और राजकुमार उनके उस कौशलको देखकर वहां आए ॥ ९ ॥

ततो निषादराजस्य हिरण्यधनुषः सुतः ।
एकलव्यो महाराज द्रोणमभ्याजगाम ह ॥ १० ॥

हे महाराज ! हिरण्यधनु नामक निषादराजाका कुमार एकलव्य द्रोणके पास आया ॥ १० ॥

न स तं प्रतिजग्राह नैषादिरिति चिन्तयन् ।
शिष्यं धनुषि धर्मज्ञस्तेषामेवान्ववेक्षया ॥ ११ ॥

यह व्याधका पुत्र है और राजकुमारोंसे कहीं आगे न बढ जाए इस विचारसे धर्मज्ञ द्रोणने उसे शिष्य रूपमें स्वीकार नहीं किया ॥ ११ ॥

सूतपुत्रश्च राधेयो गुरुं द्रोणमियात्तदा ।
स्पर्धमानस्तु पार्थेन सूतपुत्रोऽत्यमर्षणः ।
दुर्योधनमुपाश्रित्य पाण्डवानत्यमन्यत ॥ ४७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२२ ॥ ४४०२ ॥

तब राधाकुमार सूतपुत्र कर्ण भी द्रोणाचार्यके शिष्य बने । सूतपुत्र कर्ण अति द्वेषयुक्त होकर अर्जुनसे स्पर्धा करता हुआ दुर्योधनका सहारा लेकर पाण्डवोंका अनादर करने लगे ॥४७॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ बाइसवां अध्याय समाप्त ॥ १२२ ॥ ४४०२ ॥

: १२३ :

वैशम्पायन उवाच

अर्जुनस्तु परं यत्नमातस्थे गुरुपूजने ।
अस्त्रे च परमं योगं प्रियो द्रोणस्य चाभवत् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– अर्जुन गुरुकी सेवामें बडा यत्न और अस्त्रोंके सीखनेमें बडा ध्यान देने लगे, इसलिए वह द्रोणाचार्यके बडे प्रिय बन गए ॥ १ ॥

द्रोणेन तु तदाहूय रहस्युक्तोऽन्नसाधकः
अन्धकारेऽर्जुनायान्नं न देयं ते कथंचन ॥ २ ॥

एक बार द्रोण रसोईएको एकान्तमें बुला कर बोले, कि तुम कभी भी अंधेरेमें अर्जुनको खानेके लिये अन्न मत देना ॥ २ ॥

ततः कदाचिद्भुञ्जाने प्रववौ वायुरर्जुने ।
तेन तत्र प्रदीपः स दीप्यमानो निवापितः ॥ ३ ॥

इसके बाद एक बार अर्जुनके भोजन करते हुए हवा चलने लगी और उसने जलते हुए प्रदीपको बुझा दिया ॥ ३ ॥

भुङ्क्त एवार्जुनो भक्तं न चास्यास्याद्व्यमुह्यत ।
हस्तस्तेजस्विनो नित्यमन्नग्रहणकारणात् ।
तदभ्यासकृतं मत्वा रात्रावभ्यस्त पाण्डवः ॥ ४ ॥

तेजस्वी अर्जुन तब अंधेरेमें ही भोजन करने लगे; अभ्यासके कारण उनका हाथ मुखके अलावा किसी और स्थानमें नहीं गया; इससे महाभुज पाण्डुनन्दन अर्जुन यह समझ कर कि अभ्याससे ही ऐसा होता है, रातमें भी शस्त्राभ्यास करने लगे ॥ ४ ॥

स तु द्रोणस्य शिरसा पादौ गृह्य परंतपः।
अरण्यमनुसंप्राप्तः कृत्वा द्रोणं महीमयम् ॥ १२ ॥

उस शत्रुनाशी एकलव्यने द्रोणाचार्यके पावों पर सिर झुकाकर वनमें जाकर मिट्टीसे द्रोणकी एक प्रतिमा गढी ॥ १२ ॥

तस्मिन्नाचार्यवृत्तिं च परमामास्थितस्तदा।
इष्वस्त्रे योगमातस्थे परं नियममास्थितः ॥ १३ ॥

और उस प्रतिमूर्तिमें आचार्यकी महती श्रद्धा रखकर एकचित्त होकर धनुर्वेद सीखने लगा ॥ १३ ॥

परया श्रद्धया युक्तो योगेन परमेण च।
विमोक्षादानसंधाने लघुत्वं परमाप सः ॥ १४ ॥

अपनी बडी श्रद्धा और एकचित्तताके कारण अस्त्रोंके विमोचन, आदान और सन्धानमें उसने बडी निपुणता प्राप्त करली ॥ १४ ॥

अथ द्रोणाभ्यनुज्ञाताः कदाचित्कुरुपाण्डवाः।
रथैर्विनिर्ययुः सर्वे मृगयामरिमर्दनाः ॥ १५ ॥

किसी समय शत्रुनाशी कौरव पाण्डव द्रोणाचार्यकी आज्ञासे रथ पर आरूढ होकर मृगयाके लिये गये ॥ १५ ॥

तत्रोपकरणं गृह्य नरः कश्चिद्यदृच्छया।
राजन्ननुजगामैकः श्वानमादाय पाण्डवान् ॥ १६ ॥

हे राजन् ! तब कोई एक मनुष्य मृगयाके योग्य जालादि लेकर, एक कुत्तेको साथमें लेकर, अपनी इच्छानुसार पाण्डवोंके सङ्ग चलने लगा ॥ १६ ॥

तेषां विचरतां तत्र तत्तत्कर्म चिकीर्षताम्।
श्वा चरन्स वने मूढो नैषादिं प्रति जग्मिवान् ॥ १७ ॥
स कृष्णं मलदिग्धाङ्गं कृष्णाजिनधरं वने।
नैषादिं श्वा समालक्ष्य भषंस्तस्थौ तदन्तिके ॥ १८ ॥

तब उस वनमें जब सब अपना अपना काम पूरा करनेके लिये घूमघाम रहे थे, तब उनका साथी वह कुत्ता इधर उधर घूमता हुआ उस निषाद पुत्र एकलव्यकी ओर निकल गया और वनमें काले, मालिन अंगोंवाले तथा कृष्णाजिन पहिने हुए उस निषादपुत्रको देखकर उसके सामने खडा होकर भोंकने लगा ॥ १७-१८ ॥

तदा तस्याथ भषतः शुनः सप्त शरान्मुखे ।
लाघवं दर्शयन्नस्त्रे मुमोच युगपद्यथा ॥ १९ ॥

तब व्याधपुत्रने अस्त्र चलानेमें शीघ्रता दिखाकर उस भोंकते हुए कुत्तेके मुंहमें एक ही बारमें सात बाण चलाये ॥ १९ ॥

स तु श्वा शरपूर्णास्यः पाण्डवानाजगाम ह ।
तं दृष्ट्वा पाण्डवा वीरा विस्मयं परमं ययुः ॥ २० ॥

बाणोंसे मुंह भर जानेपर कुत्ता पाण्डवोंके पास आया । वीर पाण्डवोंको उसे उस दशामें देखकर बडा अचरज हुआ ॥ २० ॥

लाघवं शब्दवेधित्वं दृष्ट्वा तत्परमं तदा ।
प्रेक्ष्य तं व्रीडिताश्चासन्प्रशशंसुश्च सर्वशः ॥ २१ ॥

तब सब लोग अस्त्र चलानेवालेकी बडी फुर्ती तथा शब्दवेधनेका सामर्थ्य देखकर बडे लज्जित हुए और सब प्रकारसे उसकी प्रशंसा करने लगे ॥ २१ ॥

तं ततोऽन्वेषमाणास्ते वने वननिवासिनम् ।
ददृशुः पाण्डवा राजन्नस्यन्तमनिशं शरान् ॥ २२ ॥

हे राजन् ! तब पाण्डवोंने उस वनमें रहनेवाले तथा अस्त्र चलानेवालेको वनमें ढूंढते हुए रातदिन बाण चलाते हुए एक वनवासीको देखा ॥ २२ ॥

न चैनमभिजानंस्ते तदा विकृतदर्शनम् ।
अथैनं परिपप्रच्छुः को भवान्कस्य वेत्युत ॥ २३ ॥

तब उन्होंने उस स्वरूप बिगाडे हुए व्याधको नहीं पहिचाना और अन्तमें उन्होंने पूछा, कि आप कौन हैं ? किसके पुत्र हैं ? ॥ २३ ॥

एकलव्य उवाच

निषादाधिपतेर्वीरा हिरण्यधनुषः सुतम् ।
द्रोणशिष्यं च मां वित्त धनुर्वेदकृतश्रमम् ॥ २४ ॥

एकलव्य बोला— हे वीरगण ! मैं निषादराज हिरण्यधनुका पुत्र हूं और धनुर्वेदमें परिश्रम करनेवाले मुझे द्रोणाचार्यका शिष्य जानो ॥ २४ ॥

वैशंपायन उवाच

ते तमाज्ञाय तत्त्वेन पुनरागम्य पाण्डवाः ।
यथावृत्तं च ते सर्वं द्रोणायाचख्युरद्भुतम् ॥ २५ ॥

वैशम्पायन बोले— इसके बाद पाण्डवोंने उसको ठीक ठीक पहिचानकर लौट कर वनमें जो कुछ हुआ था वह सब आश्चर्यजनक वृत्तान्त द्रोणाचार्यको कह सुनाया ॥ २५ ॥

कौन्तेयस्त्वर्जुनो राजन्नेकलव्यमनुस्मरन्।
रहो द्रोणं समागम्य प्रणयादिदमब्रवीत् ॥ २६ ॥

हे राजन्! कुन्तीपुत्र अर्जुन एकलव्यको स्मरण करते हुए द्रोणके पास पहुंच कर प्रेमसे एकान्तमें बोले ॥ २६ ॥

नन्वहं परिरभ्यैकः प्रीतिपूर्वमिदं वचः।
भवतोक्तो न मे शिष्यस्त्वद्विशिष्टो भविष्यति ॥ २७ ॥

हे आचार्य! पहिले आपने अकेले मुझको गलेसे लगाकर प्रेमसे यह कहा था, कि मेरा कोई शिष्य तुमसे श्रेष्ठ न होगा ॥ २७ ॥

अथ कस्मान्मद्विशिष्टो लोकादपि च वीर्यवान्।
अस्त्यन्यो भवतः शिष्यो निषादाधिपतेः सुतः ॥ २८ ॥

फिर तो वीर्यवान् निषादराजाका पुत्र आपका दूसरा शिष्य होकर मुझसे ही नहीं वरन् सम्पूर्ण लोगोंसे श्रेष्ठ क्यों हुआ? ॥ २८ ॥

मुहूर्तमिव तं द्रोणश्चिन्तयित्वा विनिश्चयम्।
सव्यसाचिनमादाय नैषादिं प्रति जग्मिवान् ॥ २९ ॥

तब द्रोण उस बातपर क्षणभर सोच विचार और कुछ निश्चय करके सव्यसाची अर्जुनको साथ लेकर उस निषादराजपुत्रके यहां गये ॥ २९ ॥

ददर्श मलदिग्धाङ्गं जटिलं चीरवाससम्।
एकलव्यं धनुष्पाणिमस्यन्तमनिशं शरान् ॥ ३० ॥

वहां मलसे युक्त शरीरवाले हुए जटाधारी, चीर पहिने, हाथोंसे धनुषको थामकर रातदिन बाण चलाते हुए एकलव्यको देखा ॥ ३० ॥

एकलव्यस्तु तं दृष्ट्वा द्रोणमायान्तमान्तिकात्।
अभिगम्योपसंगृह्य जगाम शिरसा महीम् ॥ ३१ ॥

एकलव्यने निकट आते हुए द्रोणाचार्यको देखकर निकट आकर पांव छूकर प्रणाम किया ॥ ३१ ॥

पूजयित्वा ततो द्रोणं विधिवत्स निषादजः।
निवेद्य शिष्यमात्मानं तस्थौ प्राञ्जलिरग्रतः ॥ ३२ ॥

विधिपूर्वक पूजकर तथा यह कहकर, कि मैं आपका शिष्य हूं, वह निषादराजका पुत्र दोनों हाथ जोडकर सामने खडा हो गया ॥ ३२ ॥

ततो द्रोणोऽब्रवीद्राजन्नेकलव्यमिदं वचः ।
यदि शिष्योऽसि मे तूर्णं वेतनं संप्रदीयताम् ॥ ३३ ॥

हे राजन् ! तब द्रोणने एकलव्यसे यह बात कही, कि हे वीर ! यदि तुम मेरे शिष्य हो, तो मुझको शीघ्र ही दक्षिणा दो ॥ ३३ ॥

एकलव्यस्तु तच्छ्रुत्वा प्रीयमाणोऽब्रवीदिदम् ।
किं प्रयच्छामि भगवन्नाज्ञापयतु मां गुरुः ॥ ३४ ॥

एकलव्यने यह सुनकर प्रसन्न चित्तसे यह कहा, कि भगवन् ! गुरु आप मुझे आज्ञा कीजिये, कि क्या दूं ? ॥ ३४ ॥

न हि किंचिददेयं मे गुरवे ब्रह्मवित्तम ।
तमब्रवीत्त्वयाङ्गुष्ठो दक्षिणो दीयतां मम ॥ ३५ ॥

हे ब्रह्मज्ञोंमें उत्तम ! मेरे द्वारा गुरुको कुछ भी अदेय नहीं है । द्रोणाचार्य उससे बोले– तुम मुझको दाहिने हाथका अंगूठा दक्षिणामें दे दो ॥ ३५ ॥

एकलव्यस्तु तच्छ्रुत्वा वचो द्रोणस्य दारुणम् ।
प्रतिज्ञामात्मनो रक्षन्सत्ये च निरतः सदा ॥ ३६ ॥
तथैव हृष्टवदनस्तथैवादीनमानसः ।
छित्त्वाविचार्य तं प्रादाद्द्रोणायाङ्गुष्ठमात्मनः ॥ ३७ ॥

सदा सत्यपर अटल रहनेवाले एकलव्यने अपनी प्रतिज्ञाका स्मरण कर आचार्य द्रोणकी वह कठोरवाणी सुननेपर भी चित्तमें दुःख न मानकर और मुखको प्रसन्न कर अपनी प्रतिज्ञा पूरी करके विना विचारे अपने दाहिने अंगूठेको काटकर द्रोणाचार्यको दे दिया ॥ ३६-३७ ॥

ततः परं तु नैषादिरङ्गुलीभिर्व्यकर्षत ।
न तथा स तु शीघ्रोऽभूद्यथा पूर्वं नराधिप ॥ ३८ ॥

हे नरेश ! उसके बादसे निषादराज–कुमार शेष उङ्गलियोंसे ही बाण चलाने लगा, पर वह पहिलेके समान शीघ्रतासे काम न कर सका ॥ ३८ ॥

ततोऽर्जुनः प्रीतमना बभूव विगतज्वरः ।
द्रोणश्च सत्यवागासीन्नान्योऽभ्यभवदर्जुनम् ॥ ३९ ॥

तब अर्जुन प्रसन्न चित्त हुए, उनकी मनःपीडा जाती रही और आचार्य द्रोणने पहिले जैसे कहा था, कि कोई भी अर्जुनको परास्त नहीं कर सकेगा, वह बात सच्ची ठहरी ॥ ३९ ॥

द्रोणस्य तु तदा शिष्यौ गदायोग्यां विशेषतः।
दुर्योधनश्च भीमश्च कुरूणामभ्यगच्छताम् ॥ ४० ॥

दुर्योधन और भीम द्रोणके यह दो शिष्य गदायुद्धमें दक्ष बने, दोनों एक दूसरेसे सदा स्पर्धा करते रहते थे ॥ ४० ॥

अश्वत्थामा रहस्येषु सर्वेष्वभ्यधिकोऽभवत्।
तथाति पुरुषानन्यान्त्सारुकौ यमजावुभौ।
युधिष्ठिरो रथश्रेष्ठः सर्वत्र तु धनञ्जयः ॥ ४१ ॥

अस्त्र चलानेके सब रहस्योंके जाननेमें अश्वत्थामा सबसे अच्छे निकले। नकुल और सहदेव ये दोनों खड्ग युद्धमें सबोंको लांघ गये। युधिष्ठिर रथियोंमें प्रधान हुए। धनञ्जय हर बातमें ही श्रेष्ठ निकले ॥ ४१ ॥

प्रथितः सागरान्तायां रथयूथपयूथपः।
बुद्धियोगबलोत्साहैः सर्वास्त्रेषु च पाण्डवः ॥ ४२ ॥

वह अर्जुन बुद्धि, उपाय, बल और उत्साहसे सम्पूर्ण अस्त्र चलानेमें दक्ष रथीदलके स्वामियोंके भी स्वामी होकर समुद्रसे लेकर सम्पूर्ण धरतीमें प्रसिद्ध हुए ॥ ४२ ॥

अस्त्रे गुर्वनुरागे च विशिष्टोऽभवदर्जुनः।
तुल्येष्वस्त्रोपदेशेषु सौष्ठवेन च वीर्यवान्।
एकः सर्वकुमाराणां बभूवातिरथोऽर्जुनः ॥ ४३ ॥

विशेष अस्त्रोंके चलाने और गुरुकी भक्ति करनेमें उनके समान कोई दूसरा नहीं था। सबोंको बराबर अस्त्रोपदेश देने पर भी वीर्यवान् अर्जुन अपने सौष्ठवके कारण सब कुमारोंमें अद्वितीय अतिरथी माने जाते थे ॥ ४३ ॥

प्राणाधिकं भीमसेनं कृतविद्यं धनञ्जयम्।
धार्तराष्ट्रा दुरात्मानो नाऽमृष्यन्त नराधिप ॥ ४४ ॥

हे राजन्! दुरात्मा धृतराष्ट्रपुत्र बडे बली भीमसेन और अस्त्रविद्या सीखे हुए अर्जुनको सहन न कर सके ॥ ४४ ॥

तांस्तु सर्वान्समानीय सर्वविद्यासु निष्ठितान्।
द्रोणः प्रहरणज्ञाने जिज्ञासुः पुरुषर्षभ ॥ ४५ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ! एक समय द्रोणने अस्त्र सम्बन्धी सम्पूर्ण विद्याओंमें शिक्षित उन सब शिष्योंको एकत्रकर यह जानना चाहा कि किसने कैसी शिक्षा ली है ॥ ४५ ॥

कृत्रिमं भासमारोप्य वृक्षाग्रे शिल्पिभिः कृतम् ।
अविज्ञातं कुमाराणां लक्ष्यभूतमुपादिशत् ॥ ४६ ॥

इससे पहिले उन्होंने कुमारोंसे अज्ञात एक शिल्पकारसे एक कृत्रिम गिद्ध पक्षी बनवाकर उसे निशानेके लिए एक वृक्ष पर रखवा दिया ॥ ४६ ॥

द्रोण उवाच

शीघ्रं भवन्तः सर्वे वै धनूंष्यादाय सत्वराः ।
भासमेतं समुद्दिश्य तिष्ठन्तां संहितेषवः ॥ ४७ ॥

फिर द्रोण शिष्योंसे बोले– कुमारो ! तुम सब शीघ्र ही धनुष लेकर उसमें बाण जोड करके उस गिद्ध पर निशाना लगाए रहो ॥ ४७ ॥

मद्वाक्यसमकालं च शिरोऽस्य विनिपात्यताम् ।
एकैकशो नियोक्ष्यामि तथा कुरुत पुत्रकाः ॥ ४८ ॥

मेरे कहनेके साथ ही उस पक्षीके सिरको काट डालो । हे पुत्रो ! मैं एक एक करके तुम सबोंमें जब जिसे आज्ञा दूंगा, वह उसी क्षण वैसा ही करे ॥ ४८ ॥

वैशंपायन उवाच

ततो युधिष्ठिरं पूर्वमुवाचाङ्गिरसां वरः ।
संधत्स्व बाणं दुर्धर्ष मद्वाक्यान्ते विसृज च ॥ ४९ ॥

वैशम्पायन बोले– अनन्तर अङ्गिरावंशियोंमें श्रेष्ठ द्रोण सबसे पहिले युधिष्ठिरसे बोले, कि हे दुर्द्धर्ष ! बाणसे निशाना ठीक करलो, मेरी बात पूरी होते ही उसको छोड देना ॥४९॥

ततो युधिष्ठिरः पूर्वं धनुर्गृह्य महारवम् ।
तस्थौ भासं समुद्दिश्य गुरुवाक्यप्रचोदितः ॥ ५० ॥

तब युधिष्ठिर गुरुकी आज्ञासे पहिले महान् शब्द करनेवाला धनुष लेकर पक्षी पर निशाना बांधकर खडे हो गए ॥ ५० ॥

ततो विततधन्वानं द्रोणस्तं कुरुनन्दनम् ।
स मुहूर्तादुवाचेदं वचनं भरतर्षभ ॥ ५१ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! द्रोणने धनुष पर डोरी चढाये हुए उस कुरुनन्दन युधिष्ठिरसे क्षण भर बाद यह बात कही ॥ ५१ ॥

पश्यस्येनं द्रुमाग्रस्थं भासं नरवरात्मज ।
पश्यामीत्येवमाचार्यं प्रत्युवाच युधिष्ठिरः ॥ ५२ ॥

राजकुमार ! उस वृक्षपरके गिद्धको देखते हो ? युधिष्ठिर तब आचार्यसे बोले, कि हां देखता हूं ॥ ५२ ॥

स मुहूर्तादिव पुनर्द्रोणस्तं प्रत्यभाषत ।
अथ वृक्षमिमं मां वा भ्रातॄन्वापि प्रपश्यसि ॥ ५३ ॥

द्रोणने एकक्षण बाद फिर उन युधिष्ठिरसे पूछा, कि तुम इस वृक्षको, मुझको अथवा अपने भाईयोंको भी देखते हो या नहीं ? ॥ ५३ ॥

तमुवाच स कौन्तेयः पश्याम्येनं वनस्पतिम् ।
भवन्तं च तथा भ्रातॄन्भासं चेति पुनः पुनः ॥ ५४ ॥

तब कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर उन द्रोणसे बोले– हां, मैं इस वृक्षको, आपको, भाइयोंको और उस पक्षीको देखता हूं । आचार्यके द्वारा बार बार पूछे जानेपर भी उन्होंने बार बार वैसा ही कहा ॥ ५४ ॥

तमुवाचापसर्पेति द्रोणोऽप्रीतमना इव ।
नैतच्छक्यं त्वया वेद्धुं लक्ष्यमित्येव कुत्सयन् ॥ ५५ ॥

इससे द्रोण उन पर अप्रसन्नचित्त होकर क्रोधित होकर बोले– तुम चले जाओ, यह लक्ष्य विद्ध करना तुम्हारे द्वारा संभव नहीं है ॥ ५५ ॥

ततो दुर्योधनादींस्तान्धार्तराष्ट्रान्महायशाः ।
तेनैव क्रमयोगेन जिज्ञासुः पर्यपृच्छत ॥ ५६ ॥

इसके बाद उन राजकुमारोंकी शक्ति जाननेकी इच्छा करनेवाले महायशस्वी द्रोणने दुर्योधन आदि धृतराष्ट्रके पुत्रोंसे उसी क्रमसे पूछा ॥ ५६ ॥

अन्यांश्च शिष्यान्भीमादीन्राज्ञश्चैवान्यदेशजान् ।
तथा च सर्वे सर्वं तत्पश्याम इति कुत्सिताः ॥ ५७ ॥

और भीम, नकुल, सहदेव तथा अन्य देशोंके राजकुमारोंसे भी उसी प्रकार पूछा, पर सब 'मैं वृक्षादि सब देखता हूं,' इस प्रकारका उत्तर देनेके कारण आचार्यसे निन्दित हुए ॥ ५७ ॥

ततो धनञ्जयं द्रोणः स्मयमानोऽभ्यभाषत ।
त्वयेदानीं प्रहर्तव्यमेतल्लक्ष्यं निशाम्यताम् ॥ ५८ ॥

तब द्रोण कुछ हंसकर धनञ्जयसे बोले– अब तुमको यह लक्ष्य विद्ध करना है, अतः मेरी बात सुनो ॥ ५८ ॥

मद्वाक्यसमकालं ते मोक्तव्योऽत्र भवेच्छरः ।
वितत्य कार्मुकं पुत्र तिष्ठ तावन्मुहूर्तकम् ॥ ५९ ॥

मेरी बातके साथ ही तुम्हें बाण छोडना है, अतः, हे पुत्र ! धनुषको फैलाकर थोडी देरतक खडे रहो ॥ ५९ ॥

एवमुक्तः सव्यसाची मण्डलीकृतकार्मुकः ।
तस्थौ लक्ष्यं समुद्दिश्य गुरुवाक्यप्रचोदितः ॥ ६० ॥

इस प्रकार कहे जानेपर सव्यसाची अर्जुन गुरुकी आज्ञासे धनुषको गोल बनाकर शरासनमें बाण जोडकर लक्ष्यपर निशाना लगाकर खडे हो गए ॥ ६० ॥

मुहूर्तादिव तं द्रोणस्तथैव समभाषत ।
पश्यस्येनं स्थितं भासं द्रुमं मामपि वेत्युत ॥ ६१ ॥

क्षणभर बाद द्रोणने पहिलेके समान ही कहा, कि अर्जुन ! तुम उस वृक्षपरके पक्षीको, वृक्षको और मुझको देखते हो, या नहीं ? ॥ ६१ ॥

पश्याम्येनं भासमिति द्रोणं पार्थोऽभ्यभाषत ।
न तु वृक्षं भवन्तं वा पश्यामीति च भारत ॥ ६२ ॥

हे भारत ! पार्थने द्रोणसे कहा कि मैं केवल पक्षीहीको देखता हूं, वृक्षको वा आपको नहीं देखता ॥ ६२ ॥

ततः प्रीतमना द्रोणो मुहूर्तादिव तं पुनः ।
प्रत्यभाषत दुर्धर्षः पाण्डवानां रथर्षभम् ॥ ६३ ॥

तब दुर्द्धर्ष द्रोण प्रसन्नचित्त होकर मुहूर्तभर बाद पाण्डवोंमें महारथी उन अर्जुनसे बोले ॥ ६३ ॥

भासं पश्यसि यद्येनं तथा ब्रूहि पुनर्वचः ।
शिरः पश्यामि भासस्य न गात्रमिति सोऽब्रवीत् ॥ ६४ ॥

कि यदि तुम पक्षीहीको देखते हो तो बताओ कि तुम उसके किस अंगको देखते हो । अर्जुनने उत्तर दिया, कि मैं उस पक्षीका सिरमात्र देखता हूं, शरीर नहीं देखता ॥ ६४ ॥

अर्जुनेनैवमुक्तस्तु द्रोणो हृष्टतनूरुहः ।
मुञ्चस्वेत्यब्रवीत्पार्थं स मुमोचाविचारयन् ॥ ६५ ॥

अर्जुनकी यह बात सुनकर हर्षके मारे द्रोणकी देहके रोयें खडे हो गये और उनसे बोले, कि अब बाण छोडो । तब पाण्डुपुत्र अर्जुनने कोई विचार न करके बाणको छोड दिया ॥ ६५ ॥

ततस्तस्य नगस्थस्य क्षुरेण निशितेन ह ।
शिर उत्कृत्य तरसा पातयामास पाण्डवः ॥ ६६ ॥

तब उसी क्षण अर्जुनने तेज उस्तुरेके समान तीक्ष्ण बाणसे वृक्षपरके पक्षीका सिर काटकर नीचे गिरा दिया ॥ ६६ ॥

तस्मिन्कर्मणि संसिद्धे पर्यष्वजत फल्गुनम्।
मेने च द्रुपदं सङ्ख्ये सानुबन्धं पराजितम् ॥ ६७ ॥

द्रोणाचार्यने वह काम पूरा होते देखकर प्रसन्नचित्तसे अर्जुनको गलेसे लगाया और मनही-मनमें यह निश्चय किया, कि राजा द्रुपद अपने सहायकोंके साथ युद्धमें निश्चित रूपसे हार जायेगा ॥ ६७ ॥

कस्यचित्त्वथ कालस्य सशिष्योऽङ्गिरसां वरः।
जगाम गङ्गामभितो मज्जितुं भरतर्षभ ॥ ६८ ॥

हे भरतकुलमें श्रेष्ठ पुरुष! उसके कुछ दिन बाद अंगिराओंमें श्रेष्ठ द्रोण शिष्योंके साथ गंगामें नहाने गए ॥ ६८ ॥

अवगाढमथो द्रोणं सलिले सलिलेचरः।
ग्राहो जग्राह बलवाञ्जङ्घान्ते कालचोदितः ॥ ६९ ॥

वहां जलचारी एक बलवान् मगरने कालसे प्रेरित होकर पानीके अन्दर प्रविष्ट द्रोणकी जांघ पकड ली ॥ ६९ ॥

स समर्थोऽपि मोक्षाय शिष्यान्सर्वानचोदयत्।
ग्राहं हत्वा मोक्षयध्वं मामिति त्वरयन्निव ॥ ७० ॥

द्रोण स्वयं उससे बचनेमें समर्थ होने पर भी सब शिष्योंसे उनकी शीघ्रता देखनेके लिये बोले, कि तुम तुरन्त इस जलचरको नष्ट करके मेरी रक्षा करो ॥ ७० ॥

तद्वाक्यसमकालं तु बीभत्सुर्निशितैः शरैः।
आवापैः पञ्चभिर्ग्राहं मग्नमम्भस्यताडयत्।
इतरे तु विसंमूढास्तत्र तत्र प्रपेदिरे ॥ ७१ ॥

गुरु द्रोणके यह बात कहते ही अर्जुनने पांच तीक्ष्ण बाणोंसे जलमें डूबे हुए जलचरको विद्ध किया। दूसरे शिष्य जो जहां थे, वह वहीं मूढवत् खडे रहे ॥ ७१ ॥

तं च दृष्ट्वा क्रियोपेतं द्रोणोऽमन्यत पाण्डवम्।
विशिष्टं सर्वशिष्येभ्यः प्रीतिमांश्चाभवत्तदा ॥ ७२ ॥

तब आचार्य द्रोणने अर्जुनको काममें उद्योगी देखकर सब शिष्योंसे उसको श्रेष्ठ समझा और उसपर बडे प्रसन्न हुए ॥ ७२ ॥

स पार्थबाणैर्बहुधा खण्डशः परिकल्पितः।
ग्राहः पञ्चत्वमापेदे जङ्घां त्यक्त्वा महात्मनः ॥ ७३ ॥

वह घडियाल महात्मा द्रोणकी जांघको छोडकर पार्थके बाणोंसे टुकडे टुकडे होकर परलोक को सिधारा ॥ ७३ ॥

अथाब्रवीन्महात्मानं भारद्वाजो महारथम् ।
गृहाणेदं महाबाहो विशिष्टमतिदुर्धरम् ।
अस्त्रं ब्रह्मशिरो नाम सप्रयोगनिवर्तनम् ॥ ७४ ॥

तब भरद्वाजपुत्र द्रोण महात्मा और महारथी अर्जुनसे बोले– हे महाभुज ! ब्रह्मशिर नामक यह अति दुर्द्धर्ष श्रेष्ठ अस्त्र तुमको प्रयोग और उपसंहार सहित देता हूं, इसे लो ॥ ७४ ॥

न च ते मानुषेष्वेतत्प्रयोक्तव्यं कथंचन ।
जगद्विनिर्दहेदेतदल्पतेजसि पातितम् ॥ ७५ ॥

मनुष्यों पर कभी भी इसका प्रयोग मत करना, क्योंकि यह स्वल्पतेजस्वी मानवपर चलाये जानेसे जगन्मण्डलको भी जला देगा ॥ ७५ ॥

असामान्यमिदं तात लोकेष्वस्त्रं निगद्यते ।
तद्धारयेथाः प्रयतः शृणु चेदं वचो मम ॥ ७६ ॥

हे तात ! तीनों लोकोंमें यह अस्त्र असाधारण कहा जाता है; अतः तुम इसे यत्नसे सुरक्षित रखो और मेरे इस वचनको सुनो ॥ ७६ ॥

बाधेतामानुषः शत्रुर्यदा त्वां वीर कश्चन ।
तद्वधाय प्रयुञ्जीथास्तदास्त्रमिदमाहवे ॥ ७७ ॥

हे वीर ! यदि कभी मनुष्यके सिवा कोई और शत्रु तुमसे युद्ध करे, तो युद्धस्थलमें उसका वध करनेके लिये यह अस्त्र चलाना ॥ ७७ ॥

तथेति तत्प्रतिश्रुत्य बीभत्सुः स कृताञ्जलिः ।
जग्राह परमास्त्रं तदाह चैनं पुनर्गुरुः ।
भविता त्वत्समो नान्यः पुमाँल्लोके धनुर्धरः ॥ ७८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२३ ॥ समाप्तं संभवपर्व ॥ ४४८० ॥

बीभत्सुने दोनों हाथ जोडके " ऐसा ही होगा " कहकर उस बातको मानकर उस परमास्त्रको ले लिया । तब गुरुने फिर उनसे कहा, कि इस भूमण्डल भरमें कोई भी तुम्हारे समान धनुर्धारी नहीं होगा ॥ ७८ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ तेईसवां अध्याय समाप्त ॥ १२३ ॥ संभवपर्व समाप्त ॥ ४४८० ॥

: १२४ :

वैशम्पायन उवाच

कृतास्त्रान्धार्तराष्ट्रांश्च पाण्डुपुत्रांश्च भारत।
दृष्ट्वा द्रोणोऽब्रवीद्राजन्धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ॥ १ ॥
कृपस्य सोमदत्तस्य बाह्लीकस्य च धीमतः।
गाङ्गेयस्य च सांनिध्ये व्यासस्य विदुरस्य च ॥ २ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजन् ! द्रोणाचार्य धृतराष्ट्रके पुत्रों और पाण्डवोंको अस्त्रशिक्षामें दक्ष देखकर कृप, सोमदत्त, बाह्लीक, व्यास, विदुर और धीमान् भीष्मके सामने राजा धृतराष्ट्रसे बोले ॥ १–२ ॥

राजन्संप्राप्तविद्यास्ते कुमाराः कुरुसत्तम।
ते दर्शयेयुः स्वां शिक्षां राजन्ननुमते तव ॥ ३ ॥

हे कुरुकुलमें श्रेष्ठ महाराज ! आपके कुमारोंने विद्या पढ ली है, हे राजन् ! अब यदि आपकी आज्ञा हो, तो वे अपनी शिक्षाका परिचय दें ? ॥ ३ ॥

ततोऽब्रवीन्महाराजः प्रहृष्टेनान्तरात्मना।
भारद्वाज महत्कर्म कृतं ते द्विजसत्तम ॥ ४ ॥

तब महाराज धृतराष्ट्र उनसे प्रसन्न चित्तवाले होकर बोले– हे ब्राह्मण कुलमें श्रेष्ठ भारद्वाज ! आपने अति महान् कार्य किया है ॥ ४ ॥

यदा तु मन्यसे कालं यस्मिन्देशे यथा यथा।
तथा तथा विधानाय स्वयमाज्ञापयस्व माम् ॥ ५ ॥

आप अस्त्र परीक्षाके लिये जो समय और जो स्थान निश्चित करना चाहें अथवा जिस प्रकार भी उसकी व्यवस्था.करना चाहें वैसा वैसा प्रबन्ध करनेकी आज्ञा मुझे दीजिये ॥ ५ ॥

स्पृहयाम्यद्य निर्वेदात्पुरुषाणां सचक्षुषाम्।
अस्त्रहेतोः पराक्रान्तान्ये मे द्रक्ष्यन्ति पुत्रकान् ॥ ६ ॥

जो लोग अस्त्र चलानेमें पराक्रमी मेरे इन पुत्रोंको देखेंगे, आज मुझे आंखोंके विना, देखनेकी अक्षमता होनेके कारण उन लोगोंके सौभाग्यकी लालसा हो रही है ॥ ६ ॥

क्षत्तर्यद्गुरुराचार्यो ब्रवीति कुरु तत्तथा।
न हीदृशं प्रियं मन्ये भविता धर्मवत्सल ॥ ७ ॥

हे विदुर ! पूजनीय आचार्य जैसा कहें, वह सब करो। हे धर्मप्रेमी ! मैं समझता हूं, कि इससे बढकर प्रिय कार्य मेरे लिये और कोई नहीं होगा ॥ ७ ॥

ततो राजानमामन्त्र्य विदुरानुगतो बहिः ।
भारद्वाजो महाप्राज्ञो मापयामास मेदिनीम्
समामवृक्षां निर्गुल्मामुदक्प्रवणसंस्थिताम् ॥ ८ ॥

अनन्तर राजासे सम्भाषण करके विदुरके पीछे पीछे बाहर आनेपर भरद्वाजके पुत्र महाप्राज्ञ द्रोणने वृक्ष गुल्मादियोंसे रहित, जलके सोते-सहित समभूमि देखकर उसको मापा ॥ ८ ॥

तस्यां भूमौ बलिं चक्रे तिथौ नक्षत्रपूजिते ।
अवघुष्टं पुरे चापि तदर्थं वदतां वर ॥ ९ ॥

तब समाजके सब लोगोंको सूचनाके द्वारा बुलाये जानेपर बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ आचार्यने अच्छे नक्षत्रयुक्त शुभ तिथिमें देवताके नामसे विधिपूर्वक उस स्थानपर बलि दी ॥ ९ ॥

रङ्गभूमौ सुविपुलं शास्त्रदृष्टं यथाविधि ।
प्रेक्षागारं सुविहितं चक्रुस्तत्र च शिल्पिनः ।
राज्ञः सर्वायुधोपेतं स्त्रीणां चैव नरर्षभ ॥ १० ॥

हे नराधिप ! उनके द्वारा नियुक्त किये हुए शिल्पियोंने उस अखाडेमें राजाके और नारियोंके लिये शास्त्रानुसार अच्छे और सब प्रकारके अस्त्रोंसे सजे सजाये और लम्बे चौडे देखनेके घर बनाये ॥ १० ॥

मञ्चांश्च कारयामासुस्तत्र जानपदा जनाः ।
विपुलानुच्छ्रयोपेताञ्शिविकाश्च महाधनाः ॥ ११ ॥

और नगरवासी धनियोंने भी वहां ऊंची और बडी बडी वेदियां तथा मचान बनवाये ॥ ११ ॥

तस्मिंस्ततोऽहनि प्राप्ते राजा ससचिवस्तदा ।
भीष्मं प्रमुखतः कृत्वा कृपं चाचार्यसत्तमम् ॥ १२ ॥

इसके बाद कुमारोंके विक्रम दिखानेके लिए निश्चय किये हुए दिनके आनेपर राजा धृतराष्ट्र मान्त्रियोंके साथ और भीष्म तथा आचार्यश्रेष्ठ कृपको आगे करके चले ॥ १२ ॥

मुक्ताजालपरिक्षिप्तं वैडूर्यमणिभूषितम् ।
शातकुम्भमयं दिव्यं प्रेक्षागारमुपागमत् ॥ १३ ॥

और स्थानस्थानमें मोतियोंकी लडी लटकाये और वैडूर्य मणियोंसे सजे सजाये सुवर्णके घडोंसे युक्त सुन्दर दर्शनभवनमें गये ॥ १३ ॥

गान्धारी च महाभागा कुन्ती च जयतां वर।
स्त्रियश्च सर्वा या राज्ञः सप्रेष्याः सपरिच्छदाः।
हर्षादारुरुहुर्मञ्चान्मेरुं देवस्त्रियो यथा ॥ १४ ॥

और हे विजयियोंमें श्रेष्ठ ! बडी भाग्यवती गान्धारी और कुन्ती भी दर्शन–गृहमें गयीं। दूसरी राजरानियां दासियोंके साथ अपूर्व वस्त्र पहिने आनन्दकी उमंगमें वेदियोंपर जा बैठीं, उस समय ऐसा जान पडने लगा, कि मानों देवोंकी स्त्रियां सुमेरुकी चोटीपर चढी हों ॥१४॥

ब्राह्मणक्षत्रियाद्यं च चातुर्वर्ण्यं पुराद्द्रुतम्।
दर्शनेप्सु समभ्यागात्कुमाराणां कृतास्त्रताम् ॥ १५ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चारों वर्णके लोग कुमारोंकी अस्त्रविद्याकी योग्यता देखनेके लिये नगरसे निकल कर बडे वेगसे वहां देखनेकी बडी चाहसे एकत्र हुए ॥ १५ ॥

प्रवादितैश्च वादित्रैर्जनकौतूहलेन च।
महार्णव इव क्षुब्धः समाजः सोऽभवत्तदा ॥ १६ ॥

तब सम्पूर्ण रूपसे बजते हुए बाजोंके शब्द और लोगोंके आश्चर्यपूरित कलरवसे समाज महासमुद्रके समान लहराने लगा ॥ १६ ॥

ततः शुक्लाम्बरधरः शुक्लयज्ञोपवीतवान्।
शुक्लकेशः सितश्मश्रुः शुक्लमाल्यानुलेपनः ॥ १७ ॥
रङ्गमध्यं तदाचार्यः सपुत्रः प्रविवेश ह।
नभो जलधरैर्हीनं साङ्गारक इवांशुमान् ॥ १८ ॥

इसके बाद सफेद वस्त्र, सफेद यज्ञोपवीत, सफेद केश, सफेद दाढी, सफेद माला और चंदन श्वेत होनेसे शोभायमान, तेजस्वी आचार्य द्रोण अपने पुत्रके साथ रंगमंचपर आये। उस समय ऐसा जान पडा, कि मानो मङ्गल ग्रहके साथ प्रकाशमान चंद्रदेव बादलरहित आकाशमें उदय हो रहे हों ॥ १७–१८ ॥

स यथासमयं चक्रे बलिं बलवतां वरः।
ब्राह्मणांश्चात्र मन्त्रज्ञान्वाचयामास मङ्गलम् ॥ १९ ॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ आचार्यने उस स्थानमें उचित समयमें देवपूजन किया और मन्त्र जानने-वाले ब्राह्मणोंसे मङ्गलाचरण करवाया ॥ १९ ॥

अथ पुण्याहघोषस्य पुण्यस्य तदनन्तरम्।
विविशुर्विविधं गृह्य शस्त्रोपकरणं नराः ॥ २० ॥

अनन्तर पवित्र–पुण्य दिनकी कथाके बाद नियुक्त किये हुए लोग नाना अस्त्रों और उनके उपकरण ले लेकर अखाडेमें प्रविष्ट हुए ॥ २० ॥

ततो बद्धतनुत्राणा बद्धकक्ष्या महाबलाः ।
बद्धतूणाः सधनुषो विविशुर्भरतर्षभाः ॥ २१ ॥

तब कवच बांधकर, कमर कसकर, तरकश बांधकर, धनुष सहित भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ बलशाली कुमार ॥ २१ ॥

अनुज्येष्ठं च ते तत्र युधिष्ठिरपुरोगमाः ।
चक्रुरस्त्रं महावीर्याः कुमाराः परमाद्भुतम् ॥ २२ ॥

अपने बडे युधिष्ठिरको आगे करके वहां प्रविष्ट हुए, वे बडे छोटेके क्रमसे अति आश्चर्यकारक अस्त्रविद्याका प्रदर्शन करने लगे ॥ २२ ॥

केचिच्छराक्षेपभयाच्छिरांस्यवननामिरे ।
मनुजा धृष्टमपरे वीक्षांचक्रुः सविस्मयाः ॥ २३ ॥

तब देखनेवालोंमें कोई तो बाणोंके गिरनेके भयसे सिर नीचे किये बैठे रहे और कोई कोई बिना भयके आश्चर्यसे देखने लगे ॥ २३ ॥

ते स्म लक्ष्याणि विविधुर्बाणैर्नामाङ्कशोभितैः ।
विविधैर्लाघवोत्सृष्टैरुह्यन्तो वाजिभिर्द्रुतम् ॥ २४ ॥

कुमारगण शीघ्र लेजानेवाले घोडोंपर नामाङ्कसे शोभायमान नाना बाणोंको शीघ्रतापूर्वक चलाके लक्ष्य वेधने लगे ॥ २४ ॥

तत्कुमारबलं तत्र गृहीतशरकार्मुकम् ।
गन्धर्वनगराकारं प्रेक्ष्य ते विस्मिताभवन् ॥ २५ ॥

तब देखनेवालोंने धनुषबाण लिये हुए कुमारोंकी गन्धर्व नगरके समान वह आश्चर्य लीला देखकर अचरज माना ॥ २५ ॥

सहसा चुक्रुशुस्तत्र नराः शतसहस्रशः ।
विस्मयोत्फुल्लनयनाः साधु साध्विति भारत ॥ २६ ॥

हे भारत ! वहांके सैंकडों सहस्रों मनुष्य विस्मयसे प्रसन्न नेत्रवाले होकर एकाएक " साधु, साधु " कहकर चिल्ला उठे ॥ २६ ॥

कृत्वा धनूंषि ते मार्गान्रथचर्यासु चासकृत् ।
गजपृष्ठेऽश्वपृष्ठे च नियुद्धे च महाबलाः ॥ २७ ॥

महाबली कुमारगण शरासन और रथ चलानेमें, हाथीपर, घोडेपर चढने और मल्लयुद्धमें नाना कौशल बार बार दिखाकर ॥ २७ ॥

×

गृहीतखड्गचर्माणस्ततो भूयः प्रहारिणः ।
त्सरुमार्गान्यथोद्दिष्टांश्चेरुः सर्वासु भूमिषु ॥ २८ ॥

अन्तमें ढाल और तलवार लेकर फिर युद्धकर निशानेके अनुसार नाना प्रकारसे अस्त्रोंका चलाना दिखा करके, अखाडेमें घूमने लगे ॥ २८ ॥

लाघवं सौष्ठवं शोभां स्थिरत्वं दृढमुष्टिताम् ।
ददृशुस्तत्र सर्वेषां प्रयोगे खड्गचर्मणाम् ॥ २९ ॥

दर्शकगण उन वीर कुमारोंके ढाल और तलवारके प्रयोगमें तेजस्विता, कौशल, धीरज, मूठोंकी दृढता और अपूर्व शोभा देखने लगे ॥ २९ ॥

अथ तौ नित्यसंहृष्टौ सुयोधनवृकोदरौ ।
अवतीर्णौ गदाहस्तावेकशृङ्गाविवाचलौ ॥ ३० ॥

इसके बाद सदाके अहङ्कारी सुयोधन और वृकोदर भीम गदा हाथमें लेकर एक ही चोटीवाले पहाडोंके समान अखाडेमें उतरे ! ॥ ३० ॥

बद्धकक्षौ महाबाहू पौरुषे पर्यवस्थितौ ।
बृंहन्तौ वाशिताहेतोः समदाविव कुञ्जरौ ॥ ३१ ॥

एक हाथिनीके लोभसे दो उन्मत्त हाथी जिस प्रकार चिल्लाते रहते हैं उसीके समान लडाई चाहनेवाले वे दो महाभुज वीर कमर कसकर अपना पौरुष दिखाने लग गए ॥ ३१ ॥

तौ प्रदक्षिणसव्यानि मण्डलानि महाबलौ ।
चेरतुर्निर्मलगदौ समदाविव गोवृषौ ॥ ३२ ॥

चमचमाती गदाओंको लिये हुए और मदमत्त बैलोंके समान महाबली सुयोधन और भीम दाहिनी और बांयी बाजूके अनुसार गोलाकार होकर अखाडेमें घूमने लगे ॥ ३२ ॥

विदुरो धृतराष्ट्राय गान्धार्यै पाण्डवारणिः ।
न्यवेदयेतां तत्सर्वं कुमाराणां विचेष्टितम् ॥ ३३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२४ ॥ ४५१३ ॥

तब विदुरने धृतराष्ट्रसे और कुन्तीने गान्धारीको कुमारोंसे किये जाते हुए उन सब वृत्तान्तों-को कह सुनाया ॥ ३३ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ चौवीसवां अध्याय समाप्त ॥ १२४ ॥ ४५१३ ॥

: १२५ :

वैशम्पायन उवाच

कुरुराजे हि रङ्गस्थे भीमे च बलिनां वरे ।
पक्षपातकृतस्नेहः स द्विधेवाभवज्जनः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— कुरुराज दुर्योधन और बलशालियोंमें श्रेष्ठ भीमके अखाडेमें उतरने पर देखनेवाले पक्षपातयुक्त स्नेहके कारण दो दलोंमें बंट गये ॥ १ ॥

हा वीर कुरुराजेति हा भीमेति च नर्दताम् ।
पुरुषाणां सुविपुलाः प्रणादाः सहसोत्थिताः ॥ २ ॥

कोई कोई तो कहने लगे, कि कुरुराज कैसे अच्छे वीर हैं। और दूसरे कहने लगे, कि भीम कैसे अच्छे वीर हैं ! चारों ओरसे पुरुषोंका इसी बातका बडा भारी कोलाहल मच गया ॥२॥

ततः क्षुब्धार्णवनिभं रङ्गमालोक्य बुद्धिमान् ।
भारद्वाजः प्रियं पुत्रमश्वत्थामानमब्रवीत् ॥ ३ ॥

उसके बाद बुद्धिमान् भारद्वाज द्रोण क्षुब्ध हुए हुए समुद्रकी भांति उस अखाडेको देखकर प्रिय पुत्र अश्वत्थामासे बोले ॥ ३ ॥

वारयैतौ महावीर्यौ कृतयोग्यावुभावपि ।
मा भूद्रङ्गप्रकोपोऽयं भीमदुर्योधनोद्भवः ॥ ४ ॥

यह भीम और दुर्योधन दोनों बडे वीर्यवान् और युद्धविद्यामें तेज हैं; अतः इनको दूर दूर कर दो। ताकि भीम और दुर्योधनसे उत्पन्न क्रोधके कारण यह रंगमंच क्रोधका स्थान न बन जाए ॥ ४ ॥

ततस्तावुद्यतगदौ गुरुपुत्रेण वारितौ ।
युगान्तानिलसंक्षुब्धौ महावेगाविवार्णवौ ॥ ५ ॥

तब प्रलयकालकी हवाके समान क्षुब्ध हुए हुए, महान् वेगवाले समुद्रके समान उन्मत्त, गदा उठाये हुए भीम और सुयोधन गुरुकुमारसे रोक दिए गये ॥ ५ ॥

ततो रङ्गाङ्गणगतो द्रोणो वचनमब्रवीत् ।
निवार्य वादित्रगणं महामेघसमस्वनम् ॥ ६ ॥

तब आचार्य द्रोण अखाडेमें जाकर घने बादलकी गडगडाहटके समान बाजोंकी ध्वनिको रोककर यह वाक्य बोले ॥ ६ ॥

योऽसौ पुत्रात्प्रियतरः सर्वास्त्रविदुषां वरः।
ऐन्द्रिरिन्द्रानुजसमः स पार्थो दृश्यतामिति ॥ ७ ॥

जो उपेन्द्रके सदृश सभी अस्त्रविद्याको जाननेवालोंमें श्रेष्ठ और मेरे पुत्रसे भी अधिक प्यारे इन्द्रके पुत्र हैं, वे पृथापुत्र अर्जुन अब अपनी कुशलता दिखावें ॥ ७ ॥

आचार्यवचनेनाथ कृतस्वस्त्ययनो युवा।
बद्धगोधाङ्गुलित्राणः पूर्णतूणः सकार्मुकः ॥ ८ ॥
काञ्चनं कवचं बिभ्रत्प्रत्यदृश्यत फल्गुनः।
सार्कः सेन्द्रायुधतडित्ससंध्य इव तोयदः ॥ ९ ॥

तब आचार्यकी आज्ञासे तरुण अवस्थाके अर्जुन मङ्गलाचरण करनेके पश्चात् डोरीकी चोट रोकनेवाली चमडेकी पट्टी और उंगली रक्षक कसके बाणसे पूरित तूण, धनुष लेकर और सोनेके कवच पहनकर मानों सूर्यप्रकाशके समान जलते हुए और इन्द्रधनुष तथा बिजलीकी चमककी भांति सुहाते हुए तथा सन्ध्याकालके बादलके सदृश दीख पडे ॥ ८–९ ॥

ततः सर्वस्य रङ्गस्य समुत्पिञ्जोऽभवन्महान्।
प्रावाद्यन्त च वाद्यानि सशङ्खानि समन्ततः ॥ १० ॥

तब अखाडेके चारों ओरसे आनन्दकी ध्वनि गूंजने लगी और चारों ओर शंख तथा अनेक बाजे बजने लगे ॥ १० ॥

एष कुन्तीसुतः श्रीमानेष पाण्डवमध्यमः।
एष पुत्रो महेन्द्रस्य कुरूणामेष रक्षिता ॥ ११ ॥

यह श्रीमान् पुरुष कुन्तीके पुत्र हैं, यह मंझले पाण्डव हैं, ये ही महेन्द्रके पुत्र हैं, यही कुरुओंकी रक्षा करनेवाले हैं ॥ ११ ॥

एषोऽस्त्रविदुषां श्रेष्ठ एष धर्मभृतां वरः।
एष शीलवतां चापि शीलज्ञाननिधिः परः ॥ १२ ॥

यही अस्त्र जाननेवालोंमें श्रेष्ठ हैं, यही धार्मिकोंमें प्रधान हैं, यही सुशीलोंकी शीलता और ज्ञानके मानों दूसरे समुद्र हैं ॥ १२ ॥

इत्येवमतुला वाचः शृण्वन्त्याः प्रेक्षकेरिताः।
कुन्त्याः प्रस्नवसंमिश्रैरस्रैः क्लिन्नमुरोऽभवत् ॥ १३ ॥

दर्शकोंके द्वारा कही जाती हुई ऐसी अनेक बातें सुनकर कुन्तीकी छाती स्तनदुग्ध तथा आंसूसे भीग गयी ॥ १३ ॥

तेन शब्देन महता पूर्णश्रुतिरथाब्रवीत् ।
धृतराष्ट्रो नरश्रेष्ठो विदुरं हृष्टमानसः ॥ १४ ॥
क्षत्तः क्षुब्धार्णवनिभः किमेष सुमहास्वनः ।
सहसैवोत्थितो रङ्गे भिन्दन्निव नभस्तलम् ॥ १५ ॥

उन सब बडे भारी शब्दोंसे नरोंमें श्रेष्ठ धृतराष्ट्रके कानोंके भर जानेसे उन्होंने प्रसन्नचित्त होकर विदुरसे पूछा, हे क्षत्त ! अंखाडेमें हिलोडे हुए समुद्रकी ध्वनिकी भांति मानों आकाशको फाडता हुआ सा अचानक ही उठा हुआ यह शोर क्या है ? ॥ १४-१५ ॥

विदुर उवाच

एष पार्थो महाराज फल्गुनः पाण्डुनन्दनः ।
अवतीर्णः सकवचस्तत्रैष सुमहास्वनः ॥ १६ ॥

विदुर बोले– महाराज ! यह पाण्डुनन्दन पार्थ अर्जुन कवच पहनकर अखाडेमें उतरे हैं, उसके कारण ऐसा घोर कोलाहल मच रहा है ॥ १६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि रक्षितोऽस्मि महामते ।
पृथारणिसमुद्भूतैस्त्रिभिः पाण्डववह्निभिः ॥ १७ ॥

धृतराष्ट्र बोले– हे महामते ! कुन्तीरूपी अरणिसे उपजे हुए पाण्डवरूपी तीन अग्नियोंसे मैं रक्षित हो गया हूँ, इसीलिए मैं धन्य हूँ और अनुग्रहीत भी हूँ ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन्समुदिते रङ्गे कथंचित्पर्यवस्थिते ।
दर्शयामास बीभत्सुराचार्यादस्त्रलाघवम् ॥ १८ ॥

वैशम्पायन बोले– अखाडेके उन हर्षयुक्त लोगोंके उत्साहित होकर कुछ शान्त हो जानेपर अर्जुन आचार्यसे सीखे गए अस्त्र चलानेकी दक्षता दिखाने लगे ॥ १८ ॥

आग्नेयेनासृजद्वह्निं वारुणेनासृजत्पयः ।
वायव्येनासृजद्वायुं पार्जन्येनासृजद्घनान् ॥ १९ ॥

उन्होंने अग्न्यस्त्रसे अग्नि उत्पन्न की, वारुणास्त्रसे जल प्रकट किया, वायव्यास्त्रसे वायु पैदा किया और पर्जन्यास्त्रसे मेघोंको उत्पन्न किया ॥ १९ ॥

भौमेन प्राविशद्भूमिं पार्वतेनासृजद्गिरीन् ।
अन्तर्धानेन चास्त्रेण पुनरन्तर्हितोऽभवत् ॥ २० ॥

तथा भूम्यस्त्रसे भूमिमें प्रवेश किया, पर्वतास्त्रसे पर्वत प्रकट किए और अन्तर्द्धान अस्त्रसे फिर अन्तर्हित हो गये ॥ २० ॥

क्षणात्प्रांशुः क्षणाद्ध्रस्वः क्षणाच्च रथधूर्गतः।
क्षणेन रथमध्यस्थः क्षणेनाचापतन्महीम् ॥ २१ ॥

वह क्षणभरमें दीर्घ, क्षणभरमें ह्रस्व, क्षणभरमें रथकी धुराके निकट स्थित, फिर, क्षणभरमें रथके भीतर और क्षणभरमें धरती पर उतर गए ॥ २१ ॥

सुकुमारं च सूक्ष्मं च गुरुं चापि गुरुप्रियः।
सौष्ठवेनाभिसंयुक्तः सोऽविध्यद्विविधैः शरैः ॥ २२ ॥

गुरुके प्रिय तथा कुशलतासे युक्त अर्जुन बाणोंसे फूल आदि कोमल वस्तु, गुञ्जा और बाणाग्र आदि सूक्ष्म वस्तु और धातु पत्थर आदि भारी वस्तु कौशलसे विद्ध करने लगे ॥ २२ ॥

भ्रमतश्च वराहस्य लोहस्य प्रमुखे समम्।
पञ्च बाणानसंसक्तान्स मुमोचैकबाणवत् ॥ २३ ॥

उन्होंने चलते हुए लोहेके बने सुअरके मुखमें मानों एक बाणकी भांति पांच बाणोंको जोड-कर एक ही कालमें उनको चलाया ॥ २३ ॥

गव्ये विषाणकोशे च चले रज्ज्ववलम्बिने।
निचखान महावीर्यः सायकानेकविंशतिम् ॥ २४ ॥

उन महावीरने रस्सी पर लटके और हिलते हुए गौके सींगके कोषको इक्कीस बाण चला कर विद्ध किया ॥ २४ ॥

इत्येवमादि सुमहत्खड्गे धनुषि चाभवत्।
गदायां शस्त्रकुशलो दर्शनानि व्यदर्शयत् ॥ २५ ॥

हे अनघ! शस्त्रमें पण्डित कुन्तीपुत्र इस प्रकारसे धनुर्विद्यामें, असि चलानेमें और गदा फेरनेमें नाना योग्यता दिखाने लगे ॥ २५ ॥

ततः समाप्तभूयिष्ठे तस्मिन्कर्मणि भारत।
मन्दीभूते समाजे च वादित्रस्य च निस्वने ॥ २६ ॥
द्वारदेशात्समुद्भूतो माहात्म्यबलसूचकः।
वज्रनिष्पेषसदृशः शुश्रुवे भुजनिस्वनः ॥ २७ ॥

हे भारत! वह कृत्रिम युद्ध समाप्त होनेपर था और लोगोंका कोलाहल और बाजोंकी ध्वनि घट गयी थी, ऐसे समयमें द्वारदेशसे उठती हुई शूरता और वीरतासूचक वज्रके गर्जनके समान एक ललकार सुनाई दी ॥ २६–२७॥

दीर्यन्ते किं नु गिरयः किं स्विद्भूमिर्विदीर्यते ।
किं स्विदापूर्यते व्योम जलभारघनैर्घनैः ॥ २८ ॥
रङ्गस्यैवं मतिरभूत्क्षणेन वसुधाधिप ।
द्वारं चाभिमुखाः सर्वे बभूवुः प्रेक्षकास्तदा ॥ २९ ॥

यह क्या है ! कहीं पहाड तो नहीं टूट रहे हैं ? या धरती तो नहीं फटी जा रही है ! अथवा घने जलभरे बादल समूह तो आकाशमें नहीं छा रहे हैं ! हे राजन् ! इस प्रकार अखाडेमें बैठनेवाले लोग सोचने लगे और सब दर्शक इसी सन्देहसे द्वारकी ओर मुंह फेरकर देखने लगे ॥ २८–२९ ॥

पञ्चभिर्भ्रातृभिः पार्थैर्द्रोणः परिवृतो बभौ ।
पञ्चतारेण संयुक्तः सावित्रेणेव चन्द्रमाः ॥ ३० ॥

तब पञ्च तारासे संयुक्त हस्त नक्षत्रयुक्त चंद्रमाकी भांति आचार्य द्रोण युधिष्ठिर आदि पांच भाईयोंके बीचमें खडे होकर सुहाने लगे ॥ ३० ॥

अश्वत्थाम्ना च सहितं भ्रातृणां शतमूर्जितम् ।
दुर्योधनममित्रघ्नमुत्थितं पर्यवारयत् ॥ ३१ ॥

शत्रुनाशी दुर्योधनके उठ खडे होनेपर उनके उत्साही सौ भाई अश्वत्थामाके साथ उनको घेर कर खडे हो गए ॥ ३१ ॥

स तैस्तदा भ्रातृभिरुद्यतायुधैर्वृतो गदापाणिरवस्थितैः स्थितः ।
बभौ यथा दानवसंक्षये पुरा पुरन्दरो देवगणैः समावृतः ॥ ३२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२५ ॥ ४५४५ ॥

पूर्वकालमें दानवोंको नष्ट करनेके लिये जिस प्रकार देवराज देवोंसे घेरे गये थे, वैसे ही उस कालमें गदाधारी दुर्योधन अस्त्र-शस्त्रोंसे सुशोभित भाइयोंसे घेरे जाकर शोभा पाने लगे ॥ ३२ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ पच्चीसवां अध्याय समाप्त ॥ १२५ ॥ ४५४५ ॥

: १२६ :

वैशम्पायन उवाच

दत्तेऽवकाशे पुरुषैर्विस्मयोत्फुल्ललोचनैः ।
विवेश रङ्गं विस्तीर्णं कर्णः परपुरंजयः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– इसके बाद आश्चर्यसे फटी हुई आंखोंवाले दर्शकोंके प्रवेशके लिए रास्ता देनेपर शत्रुओंके नगरको जीतनेवाले कर्ण बडे भारी अखाडेमें प्रविष्ट हुए ॥ १ ॥

सहजं कवचं बिभ्रत्कुण्डलोद्द्योतिताननः ।
सधनुर्बद्धनिस्त्रिंशः पादचारीव पर्वतः ॥ २ ॥

वह जन्मके साथमें मिले हुए कवचको पहिने हुए थे; उनका मुख स्वाभाविक कुण्डलोंसे तेजस्वी हो रहा था, वे धनुष और तलवार बांधे हुए थे तथा पैरोंसे चलते हुए पर्वतके समान प्रतीत होते थे ॥ २ ॥

कन्यागर्भः पृथुयशाः पृथायाः पृथुलोचनः ।
तीक्ष्णांशोर्भास्करस्यांशः कर्णोऽरिगणसूदनः ॥ ३ ॥

उन्होंने बडे प्रकाशयुक्त भास्करके अंशसे पृथाके गर्भसे कन्याकालमें जन्म लिया था; वे बडी बडी आंखोंवाले तथा महायशस्वी थे। वे कर्ण शत्रुदलोंके विनाशक थे ॥ ३ ॥

सिंहर्षभगजेन्द्राणां तुल्यवीर्यपराक्रमः ।
दीप्तिकान्तिद्युतिगुणैः सूर्येन्दुज्वलनोपमः ॥ ४ ॥

उनका वीर्य और पराक्रम सिंह, बैल और गजेन्द्रके समान थे; उनकी दीप्ति सूर्यके समान, क्रान्ति चन्द्रमाकी भांति और तेज अग्निके सदृश था ॥ ४ ॥

प्रांशुः कनकतालाभः सिंहसंहननो युवा ।
असंख्येयगुणः श्रीमान्भास्करस्यात्मसंभवः ॥ ५ ॥

वे सुवर्णके ताडके समान लम्बे थे, वे सूर्यके कुमार अनेकों गुणोंसे युक्त सिंहके सदृश शरीरधारी और युवा थे ॥ ५ ॥

स निरीक्ष्य महाबाहुः सर्वतो रङ्गमण्डलम् ।
प्रणामं द्रोणकृपयोर्नात्यादृतमिवाकरोत् ॥ ६ ॥

श्रीमान् महाभुज कर्णने अखाडेमें घुस करके चारों ओर आंखें दौडाकर आचार्य द्रोण और कृपको बहुत आदर प्रदर्शित न करते हुए प्रणाम किया ॥ ६ ॥

स समाजजनः सर्वो निश्चलः स्थिरलोचनः ।
कोऽयमित्यागतक्षोभः कौतूहलपरोऽभवत् ॥ ७ ॥

तब अखाडे भरके सब लोग यह जाननेके लिये, कि यह कौन है, चुप हो और टकटकी लगाकर अप्रसन्न और आश्चर्ययुक्त हुए ॥ ७ ॥

सोऽब्रवीन्मेघधीरेण स्वरेण वदतां वरः ।
भ्राता भ्रातरमज्ञातं सावित्रः पाकशासनिम् ॥ ८ ॥

सूर्यके पुत्र सुन्दर बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ भ्राता कर्णने इन्द्रके पुत्र अर्जुनको अपना सगा भाई न जानकर बादलके सदृश गंभीर शब्दसे उनसे कहा ॥ ८ ॥

पार्थ यत्ते कृतं कर्म विशेषवदहं ततः ।
करिष्ये पश्यतां नृणां मात्मना विस्मयं गमः ॥ ९ ॥

हे पार्थ ! तुमने जो कार्य किया है, मैं देखनेवालोंके सामने उससे भी विशेष कार्य करके दिखा सकता हूँ, अतः तुम अपने कामको आश्चर्यकारक मत समझो ॥ ९ ॥

असमाप्ते ततस्तस्य वचने वदतां वर ।
यन्त्रोत्क्षिप्त इव क्षिप्रमुत्तस्थौ सर्वतो जनः ॥ १० ॥

हे बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ राजन् ! सूर्यके पुत्र कर्णकी इस बातके पूरी होते न होते सब मानो यंत्रसे फेंके गयेकी भांति उसी समय अपने अपने स्थानोंपर उठकर खडे हो गए ॥ १० ॥

प्रीतिश्च पुरुषव्याघ्र दुर्योधनमथास्पृशत् ।
ह्रीश्च क्रोधश्च बीभत्सुं क्षणेनान्वविशच्च ह ॥ ११ ॥

हे मानवश्रेष्ठ ! तब दुर्योधनके हृदयमें प्रीति उत्पन्न हुई और लज्जा और क्रोध बीभत्सु अर्जुनके हृदयमें प्रविष्ट हो गए अर्थात् अर्जुनका चित्त क्रोध और लज्जासे अधीर हो गया ॥ ११ ॥

ततो द्रोणाभ्यनुज्ञातः कर्णः प्रियरणः सदा ।
यत्कृतं तत्र पार्थेन तच्चकार महाबलः ॥ १२ ॥

तब पार्थने उस अखाडेमें जो जो कर्म किया था, सदा युद्ध चाहनेवाले महाबली कर्णने द्रोणकी आज्ञासे वह सब कर दिखाया ॥ १२ ॥

अथ दुर्योधनस्तत्र भ्रातृभिः सह भारत ।
कर्णं परिष्वज्य मुदा ततो वचनमब्रवीत् ॥ १३ ॥

हे भारत ! तब दुर्योधन भाईयोंके साथ कर्णको गले लगाकर प्रसन्न होकर यह बात बोले ॥ १३ ॥

स्वागतं ते महाबाहो दिष्ट्या प्राप्तोऽसि मानद।
अहं च कुरुराज्यं च यथेष्टमुपभुज्यताम् ॥ १४ ॥

हे महाभुज ! आपका स्वागत हो, हे मान देनेवाले ! मेरे सौभाग्यसे ही आप आये हैं; अब मैं आपके अधीन हूं, आप मुझे और इस कुरुराज्यको मनमाना भोगिये ॥ १४ ॥

कर्ण उवाच

कृतं सर्वेण मेऽन्येन सखित्वं च त्वया वृणे।
द्वन्द्वयुद्धं च पार्थेन कर्तुमिच्छामि भारत ॥ १५ ॥

कर्ण बोले– हे भारत ! मुझे और किसी बातकी आवश्यकता नहीं है, मैं तो तुमसे केवल मित्रताका प्रार्थी हूं, और पार्थसे एकबार द्वन्द्वयुद्ध करना चाहता हूं ॥ १५ ॥

दुर्योधन उवाच

भुङ्क्ष्व भोगान्मया सार्धं बन्धूनां प्रियकृद्भव।
दुर्हृदां कुरु सर्वेषां मूर्ध्नि पादमरिन्दम ॥ १६ ॥

दुर्योधन बोले– हे शत्रुनाशन् ! आप मेरे साथ नाना भोगकी वस्तु भोगते रहिये और बन्धुओंके हित करनेवाले होइए तथा सभी शत्रुओंके सिरपर अपने पैर रखिए अर्थात् सभी शत्रुओंपर शासन कीजिए ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः क्षिप्तमिवात्मानं मत्वा पार्थोऽभ्यभाषत।
कर्णं भ्रातृसमूहस्य मध्येऽचलमिव स्थितम् ॥ १७ ॥

वैशम्पायन बोले– अनन्तर पार्थ अपनेको अपमानितसा जानकर भाइयोंमें पर्वतके समान खडे हुए कर्णसे बोले ॥ १७ ॥

अनाहूतोपसृप्तानामनाहूतोपजल्पिनाम्।
ये लोकास्तान्हतः कर्ण मया त्वं प्रतिपत्स्यसे ॥ १८ ॥

हे कर्ण ! जो विना बुलाये निकट आते हैं और न बुलाये जाकर बात करते हैं, उनकी जो गति होती है, मुझसे प्राण खोकर तुम उसको प्राप्त करोगे ॥ १८ ॥

कर्ण उवाच

रङ्गोऽयं सर्वसामान्यः किमत्र तव फल्गुन।
वीर्यश्रेष्ठाश्च राजन्या बलं धर्मोऽनुवर्तते ॥ १९ ॥

कर्ण बोले– अर्जुन ! यह अखाडा सबके लिये समान है, अतः मेरे आनेसे तुम्हारी क्या हानि हुई ? क्षत्रिय लोग बलहीसे प्रधान होते हैं, अतः क्षत्रियोंका धर्म बलहीकी शरण लेता है ॥ १९ ॥

किं क्षेपैर्दुर्बलाश्वासैः शरैः कथय भारत ।
गुरोः समक्षं यावत्ते हराम्यद्य शिरः शरैः ॥ २० ॥

हे भारत ! दुर्बलकी चेष्टाके समान लाञ्छन लगानेकी क्या आवश्यकता है ? जबतक इन गुरुके सम्मुख तीक्ष्ण बाणोंसे तुम्हारा सिर नहीं काटता हूं, तबतक जो कुछ कहना हो, बाणहीसे प्रगट करो ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो द्रोणाभ्यनुज्ञातः पार्थः परपुरञ्जयः ।
भ्रातृभिस्त्वरयाश्लिष्टो रणायोपजगाम तम् ॥ २१ ॥

वैशम्पायन बोले– अनन्तर शत्रुके नगरको जीतनेवाले धनञ्जय द्रोणाचार्यकी आज्ञा पाकर और भाइयोंके गलेसे लगकर युद्धके लिए कर्णके सामने गये ॥ २१ ॥

ततो दुर्योधनेनापि सभ्रात्रा समरोद्यतः ।
परिष्वक्तः स्थितः कर्णः प्रगृह्य सशरं धनुः ॥ २२ ॥

इधर कर्ण दुर्योधन और उनके भाइयोंसे मिलकर बाणसहित शरासन लेकरके युद्धके लिये तैय्यार हो गए ॥ २२ ॥

ततः सविद्युत्स्तनितैः सेन्द्रायुधपुरोजवैः ।
आवृतं गगनं मेघैर्बलाकापङ्क्तिहासिभिः ॥ २३ ॥

इससे इन्द्रधनुसे सोहते हुए, बिजली तथा गर्जनसे भरे और हंसते हुए बगुलोंके समान बादलदलसे आकाशमण्डल ढक गया ॥ २३ ॥

ततः स्नेहाद्धरिहयं दृष्ट्वा रङ्गावलोकिनम् ।
भास्करोऽप्यनयन्नाशं समीपोपगतान्घनान् ॥ २४ ॥

अनन्तर इन्द्रको अपने पुत्र अर्जुनपर स्नेहवश अखाडेकी ओर ताकते देखकर सूर्यने अपने पुत्र कर्णके निकटके जलधरनेवाले बादलोंको नष्ट किया ॥ २४ ॥

मेघच्छायोपगूढस्तु ततोऽदृश्यत पाण्डवः ।
सूर्यातपपरिक्षिप्तः कर्णोऽपि समदृश्यत ॥ २५ ॥

तब अर्जुन मेघकी छांहसे ढके हुए दिखाई दिए और कर्ण सूर्यकी किरणोंसे घिरे दीख पडने लगे ॥ २५ ॥

धार्तराष्ट्रा यतः कर्णस्तस्मिन्देशे व्यवस्थिताः ।
भारद्वाजः कृपो भीष्मो यतः पार्थस्ततोऽभवन् ॥ २६ ॥

जिधर कर्ण थे, उधर धृतराष्ट्रके पुत्र जाकर खडे हो गए और जिधर अर्जुन थे, उधर द्रोण, कृप और भीष्म खडे हो गए ॥ २६ ॥

द्विधा रङ्गः समभवत्स्त्रीणां द्वैधमजायत।
कुन्तिभोजसुता मोहं विज्ञातार्थी जगाम ह ॥ २७ ॥
अखाडा दो भागोंमें बंट गया और स्त्रियां भी दो दलमें बंट गयीं। कुन्तीभोजकन्या पृथा अपने पुत्र कर्ण और अर्जुनको युद्धमें प्रवृत्त जानकर मूर्च्छित हो गई ॥ २७ ॥

तां तथा मोहसंपन्नां विदुरः सर्वधर्मवित्।
कुन्तीमाश्वासयामास प्रोक्ष्याद्भिश्चन्दनोक्षितैः ॥ २८ ॥
सर्वधर्मज्ञ विदुरने दासियोंकी सहायतासे चन्दनके जलसे उस मूर्च्छित हुई कुन्तीको चेतन-युक्त किया ॥ २८ ॥

ततः प्रत्यागतप्राणा तावुभावपि दंशितौ।
पुत्रौ दृष्ट्वा सुसंतप्ता नान्वपद्यत किंचन ॥ २९ ॥
कुन्ती चेतन पाकर युद्धके लिये सजे हुए दोनों पुत्रोंको देखकर भयभीत बनी रही, कुछ कर नहीं सकी ॥ २९ ॥

तावुद्यतमहाचापौ कृपः शारद्वतोऽब्रवीत्।
द्वन्द्वयुद्धसमाचारे कुशलः सर्वधर्मवित् ॥ ३० ॥
इसके बाद सब धर्म जाननेवाले विशेष द्वन्द्वयुद्धकी रीतिको भले प्रकार जाननेवाले शारद्वत कृप उन दोनों वीरोंको बडे बडे शरासन उठाते देखकर कर्णसे बोले ॥ ३० ॥

अयं पृथायास्तनयः कनीयान्पाण्डुनन्दनः।
कौरवो भवता सार्धं द्वन्द्वयुद्धं करिष्यति ॥ ३१ ॥
यह अर्जुन कुरुवंशी राजा पाण्डके पुत्र हैं, इन्होंने कुन्तीके गर्भसे जन्म लिया है, यह तुमसे द्वन्द्वयुद्ध करेंगे ॥ ३१ ॥

त्वमप्येवं महाबाहो मातरं पितरं कुलम्।
कथयस्व नरेन्द्राणां येषां त्वं कुलवर्धनः।
ततो विदित्वा पार्थस्त्वां प्रतियोत्स्यति वा न वा ॥ ३२ ॥
हे महाभुज! तुम भी जिस राजवंशको बढानेवाले हो, उस कुलका वृत्तान्त और पिता माताके नाम कहो, उसके जान लेनेसे पार्थ यह निश्चय करेंगे, कि तुमसे लडेंगे वा नहीं ॥ ३२ ॥

एवमुक्तस्य कर्णस्य व्रीडावनतमाननम्।
बभौ वर्षाम्बुभिः क्लिन्नं पद्ममागलितं यथा ॥ ३३ ॥
आचार्य कृपके इसप्रकार कहनेपर कर्णका मुंह लज्जासे नीचा होकर वर्षाजलसे धोये हुए पद्मके समान मलिन हो गया ॥ ३३ ॥

दुर्योधन उवाच

आचार्य त्रिविधा योनी राज्ञां शास्त्रविनिश्चये।
तत्कुलीनश्च शूरश्च सेनां यश्च प्रकर्षति ॥ ३४ ॥

तब दुर्योधन बोले– हे आचार्य ! शास्त्रोंमें यह निश्चित किया गया है, कि राजकुलमें जन्म लिये हुए, शूर और सेनापति यह तीन भूपाल हो सकते हैं ॥ ३४ ॥

यद्ययं फल्गुनो युद्धे नाराज्ञा योद्धुमिच्छति।
तस्मादेषोऽङ्गाविषये मया राज्येऽभिषिच्यते ॥ ३५ ॥

अतः यदि अर्जुन भूपालके सिवा किसी अन्यसे न लडना चाहें, तो मैं अभी इन कर्णको अङ्गराज्यमें अभिषिक्त कर देता हूं ॥ ३५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्तस्मिन्क्षणे कर्णः सलाजकुसुमैर्घटैः।
काञ्चनैः काञ्चने पीठे मन्त्रविद्भिर्महारथः।
अभिषिक्तोऽङ्गराज्ये स श्रिया युक्तो महाबलः ॥ ३६ ॥

वैशम्पायन बोले– अनन्तर महाबलवान् महारथी श्रीमान् कर्ण उसी क्षण सुवर्ण पीठपर स्थित होकर मन्त्रज्ञ ब्राह्मणोंके द्वारा लाज, फूल और सुवर्ण घटसे अङ्गराज्यमें अभिषिक्त हुए ॥ ३६ ॥

सच्छत्रवालव्यजनो जयशब्दान्तरेण च।
उवाच कौरवं राजा राजानं तं वृषस्तदा ॥ ३७ ॥

महाराज ! अनन्तर कर्ण जय जयकारके साथ अच्छे छत्र और चंवरयुक्त होकर कुरुनन्दन दुर्योधनसे बोले ॥ ३७ ॥

अस्य राज्यप्रदानस्य सदृशं किं ददानि ते।
प्रब्रूहि राजशार्दूल कर्ता ह्यस्मि तथा नृप।
अत्यन्तं सख्यमिच्छामीत्याह तं स सुयोधनः ॥ ३८ ॥

हे राजाओंमें व्याघ्र समान महाराज ! आपने जो मुझको राज्य दिया, कहिये, मैं आपको इसके योग्य क्या दूं ? आप जैसा कहेंगे, मैं वैसा ही करनेको तैय्यार हूं। सुयोधन बोले, मैं आपसे अच्छी मित्रताकी प्रार्थना करता हूं ॥ ३८ ॥

एवमुक्तस्ततः कर्णस्तथेति प्रत्यभाषत ।
हर्षाच्चोभौ समाश्लिष्य परां मुदमवापतुः ॥ ३९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२६ ॥ ४५८४ ॥

ऐसा कहे जाकर कर्णने प्रतिज्ञाके साथ उसको मान लिया और दोनों हर्षसे एक दूसरेको गले लगाकर बडे प्रसन्न हुए ॥ ३९ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ छव्वीसवां अध्याय समाप्त ॥ १२६ ॥ ४५८४ ॥

: १२७ :

वैशम्पायन उवाच

ततः स्रस्तोत्तरपटः सप्रस्वेदः सवेपथुः ।
विवेशाधिरथो रङ्गं यष्टिप्राणो ह्वयन्निव ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— अनन्तर कांपता, पसीनेसे नहाया, लाठी थामकर लटकते हुए चादरको पहनकर बूढा अधिरथ कर्णको बुलाता हुआ अखाडेमें आ पहुंचा ॥ १ ॥

तमालोक्य धनुस्त्यक्त्वा पितृगौरवयन्त्रितः ।
कर्णोऽभिषेकार्द्रशिराः शिरसा समवन्दत ॥ २ ॥

कर्णने उसको देखते ही पितृगौरव वश धनुषबाणको छोडकर अभिषेकके जलसे भीगे हुए सिरसे प्रणाम किया ॥ २ ॥

ततः पादाववच्छाद्य पटान्तेन ससंभ्रमः ।
पुत्रेति परिपूर्णार्थमब्रवीद्रथसारथिः ॥ ३ ॥

रथके सारथि अधिरथने सम्मानके साथ वस्त्रके अन्त भागसे अपने पावोंको ढांप कर राज्य पानेसे सफल मनोरथ कर्णको पुत्र कहके पुकारा ॥ ३ ॥

परिष्वज्य च तस्याथ मूर्धानं स्नेहविक्लवः ।
अङ्गराज्याभिषेकार्द्रमश्रुभिः सिषिचे पुनः ॥ ४ ॥

और स्नेहसे व्याकुल होकर गले लगाकरके अङ्गराज्यमें अभिषिक्त कर्णके भीगे सिरको आनन्दके आंसूसे फिर भिगोया ॥ ४ ॥

तं दृष्ट्वा सूतपुत्रोऽयमिति निश्चित्य पाण्डवः ।
भीमसेनस्तदा वाक्यमब्रवीत्प्रहसन्निव ॥ ५ ॥

उसको देखकरके कर्णको सूतका पुत्र जानकर पाण्डुके पुत्र भीम मानो हंसीसे यह बात बोले ॥ ५ ॥

न त्वमर्हसि पार्थेन सूतपुत्र रणे वधम् ।
कुलस्य सदृशस्तूर्णं प्रतोदो गृह्यतां त्वया ॥ ६ ॥

हे सूतपुत्र ! तुम रणभूमिमें अर्जुनसे मारे जानेके योग्य नहीं हो; तुम शीघ्र घोडा चलानेके निमित्त अपने कुलके योग्य लगामको पकडो ॥ ६ ॥

अङ्गराज्यं च नार्हस्त्वमुपभोक्तुं नराधम ।
श्वा हुताशसमीपस्थं पुरोडाशमिवाध्वरे ॥ ७ ॥

रे नराधम ! कुत्ता जैसे यज्ञीय अग्निके सामने स्थित घृतको पीनेके योग्य नहीं है, वैसे ही तू भी अङ्गराज्यको भोगनेके योग्य नहीं है ॥ ७ ॥

एवमुक्तस्ततः कर्णः किंचित्प्रस्फुरिताधरः ।
गगनस्थं विनिःश्वस्य दिवाकरमुदैक्षत ॥ ८ ॥

भीमकी इस बातको सुनकर कर्णके होंठ कांपने लगे। उन्होंने ऊंची सांस लेकर आकाशमें स्थित दिननाथको देखा ॥ ८ ॥

ततो दुर्योधनः कोपादुत्पपात महाबलः ।
भ्रातृपद्मवनात्तस्मान्मदोत्कट इव द्विपः ॥ ९ ॥

अनन्तर महावली दुर्योधन क्रोधित होकर मदसे उन्मत्त हस्तीके समान भ्रातृवर्गरूपी पद्म-वनसे उसीक्षण कूद कर बाहर आ गए ॥ ९ ॥

सोऽब्रवीद्भीमकर्माणं भीमसेनमवस्थितम् ।
वृकोदर न युक्तं ते वचनं वक्तुमीदृशम् ॥ १० ॥

और निकट खडे हुए, भीमकर्म करनेवाले भीमसेनसे बोले, कि वृकोदर ! तुमको ऐसा कहना न चाहिये था ॥ १० ॥

क्षत्रियाणां बलं ज्येष्ठं योद्धव्यं क्षत्रबन्धुना ।
शूराणां च नदीनां च प्रभवा दुर्विदाः किल ॥ ११ ॥

क्षत्रियोंका बल ही श्रेष्ठ है, क्षत्रियसे लडना चाहिये। ऐसा कहा है, कि नदी और वीरोंकी उत्पत्तिका वृत्तान्त जानना बडा कठिन होता है ॥ ११ ॥

सलिलादुत्थितो वह्निर्येन व्याप्तं चराचरम् ।
दधीचस्यास्थितो वज्रं कृतं दानवसूदनम् ॥ १२ ॥

जिसने इस चराचर जगत्को व्याप्त कर रखा है, वह अग्नि जलसे उत्पन्न हुई और जिस वज्रसे दानव-वंश नष्ट हुआ है, वह वज्र मुनिवर दधीचिकी हड्डीसे बना है ॥ १२ ॥

आग्नेयः कृत्तिकापुत्रो रौद्रो गाङ्गेय इत्यपि।
श्रूयते भगवान्देवः सर्वगुह्यमयो गुहः ॥ १३ ॥

जो भगवान् देवकार्तिक हैं, उनकी उत्पत्ति भी जानने योग्य नहीं है, क्योंकि वह अग्निके पुत्र, कृत्तिकाके पुत्र, रुद्रके पुत्र और गङ्गाके पुत्रके नामसे भी प्रसिद्ध होते हैं ॥ १३ ॥

क्षत्रियाभ्यश्च ये जाता ब्राह्मणास्ते च विश्रुताः।
आचार्यः कलशाज्जातः शरस्तम्बाद्गुरुः कृपः।
भवतां च यथा जन्म तदप्यागमितं नृपैः ॥ १४ ॥

फिर यह भी तुमने सुना होगा, कि जिन्होंने पहिले क्षत्रियोंकी स्त्रियोंसे जन्म लिया था, वे भी ब्राह्मण हुए हैं। आचार्य द्रोण यज्ञके कलसेसे उत्पन्न हुए थे और सरकण्डेसे गुरु कृप पैदा हुए, औरोंकी कथा कहनेका क्या प्रयोजन है, तुम्हारा ही जन्म जिस प्रकारसे हुआ था, वह भी सब राजा जानते हैं ॥ १४ ॥

सकुण्डलं सकवचं दिव्यलक्षणलक्षितम्।
कथमादित्यसंकाशं मृगी व्याघ्रं जनिष्यति ॥ १५ ॥

कुण्डल कवच सहित जन्म लिये हुए सर्व लक्षणयुक्त सूर्यवत् इस पुरुषव्याघ्रको कोई मृगी कैसे उत्पन्न कर सकती है ॥ १५ ॥

पृथिवीराज्यमर्होऽयं नाङ्गराज्यं नरेश्वरः।
अनेन बाहुवीर्येण मया चाज्ञानुवर्तिना ॥ १६ ॥

इन कर्णके भुजबल और आज्ञानुसारी मेरे विद्यमान रहते ये नरेश्वर केवल अंगराज्यके ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण भूमण्डल भरके भी अधिकारी होने योग्य हैं ॥ १६ ॥

यस्य वा मनुजस्येदं न क्षान्तं मद्विचेष्टितम्।
रथमारुह्य पद्भ्यां वा विनामयतु कार्मुकम् ॥ १७ ॥

पर यदि मेरा यह कार्य किसीको असह्य जान पडा हो, तो वह रथपर चढकर दोनों पांवोंके सहारे धनुष झुकावे ॥ १७ ॥

ततः सर्वस्य रङ्गस्य हाहाकारो महानभूत्।
साधुवादानुसंबद्धः सूर्यश्चास्तमुपागमत् ॥ १८ ॥

तब अखाडे भरमें साधुवादयुक्त बडा कोलाहल उठा, ऐसे समयमें दिननाथ सूर्य भी अस्ताचलको सिधारे ॥ १८ ॥

ततो दुर्योधनः कर्णमालम्ब्याथ करे नृप ।
दीपिकाग्निकृतालोकस्तस्माद्रङ्गाद्विनिर्ययौ ॥ १९ ॥

अनन्तर भूपाल दुर्योधन कर्णका हाथ पकड कर दीपकके उजालेमें उस अखाडेसे निकले ॥ १९ ॥

पाण्डवाश्च सहद्रोणाः सकृपाश्च विशां पते ।
भीष्मेण सहिताः सर्वे ययुः स्वं स्वं निवेशनम् ॥ २० ॥

पृथ्वीनाथ ! पाण्डवगण आचार्य द्रोण, कृप और भीष्मके साथ तब अपने अपने घरको चले गये ॥ २० ॥

अर्जुनेति जनः कश्चित्कश्चित्कर्णेति भारत ।
कश्चिद्दुर्योधनेत्येवं ब्रुवन्तः प्रास्थितास्तदा ॥ २१ ॥

तब देखनेवालोंमें कोई अर्जुनकी, कोई कर्णकी तथा कोई दुर्योधनकी बात करता हुआ चला गया ॥ २१ ॥

कुन्त्याश्च प्रत्यभिज्ञाय दिव्यलक्षणसूचितम् ।
पुत्रमङ्गेश्वरं स्नेहाच्छन्ना प्रीतिरवर्धत ॥ २२ ॥

कुन्ती दिव्यलक्षणयुक्त पुत्रको पहिचानकर और उसको अङ्गराज्यमें अभिषिक्त देखकर स्नेहके कारण गुप्तभावसे प्रसन्न हुई ॥ २२ ॥

दुर्योधनस्यापि तदा कर्णमासाद्य पार्थिव ।
भयमर्जुनसंजातं क्षिप्रमन्तरधीयत ॥ २३ ॥

हे पृथ्वीपते ! तब कर्णको पाकर दुर्योधनके हृदयसे अर्जुनके कारण पैदा हुआ हुआ भय जल्दी ही विलीन हो गया ॥ २३ ॥

स चापि वीरः कृतशस्त्रनिश्रमः परेण साम्नाभ्यवदत्सुयोधनम् ।
युधिष्ठिरस्याप्यभवत्तदा मतिर्न कर्णतुल्योऽस्ति धनुर्धरः क्षितौ ॥ २४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२७ ॥ ४६०८ ॥

शस्त्रविद्यामें परिश्रमी वीर कर्ण मीठी मीठी बातोंसे सुयोधनको प्रसन्न करने लगे और युधिष्ठिर भी समझ गए कि भूमण्डल भरमें कर्णके समान धनुष्यधारी दूसरा कोई नहीं है ॥ २४ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ सत्ताइसवां अध्याय समाप्त ॥ १२७ ॥ ॥ ४६०८ ॥

---

x

: १२८ :

वैशम्पायन उवाच

तत: शिष्यान्समानीय आचार्यार्थमचोदयत् ।
द्रोणः सर्वानशेषेण दक्षिणार्थं महीपते ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– तब एक दिन सभी शिष्योंको बुलवा लाकर गुरु दक्षिणाके योग्य वस्तुको लानेकी आज्ञा कर आचार्य द्रोण बोले ॥ १ ॥

पाञ्चालराजं द्रुपदं गृहीत्वा रणमूर्धनि ।
पर्यानयत भद्रं वः सा स्यात्परमदक्षिणा ॥ २ ॥

तुम लड करके पाञ्चालराज द्रुपदको पराजित कर मेरे पास ले आओ । तुम्हारा मङ्गल होवे, यह ही मेरे लिए सबसे श्रेष्ठ दक्षिणा है ॥ २ ॥

तथेत्युक्त्वा तु ते सर्वे रथैस्तूर्णं प्रहारिणः ।
आचार्यधनदानार्थं द्रोणेन सहिता ययुः ॥ ३ ॥

शिष्यगण सब " अच्छा ऐसा ही करेंगे " यह कहकर गुरु दक्षिणाके लिये अस्त्र शस्त्र लेकर रथपर चढके गुरु द्रोणके साथ वेगसे चले ॥ ३ ॥

ततोऽभिजग्मुः पाञ्चालान्निघ्नन्तस्ते नरर्षभाः ।
ममृदुस्तस्य नगरं द्रुपदस्य महौजसः ॥ ४ ॥

वे नरश्रेष्ठगण सब पाञ्चाल देशमें मारते पीटते हुए चले, और बडे तेजस्वी द्रुपदके नगरको नष्ट भ्रष्ट करते हुए चले ॥ ४ ॥

ते यज्ञसेनं द्रुपदं गृहीत्वा रणमूर्धनि ।
उपाजह्रुः सहामात्यं द्रोणाय भरतर्षभाः ॥ ५ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! कुमारलोग रणभूमिसे यज्ञसेन द्रुपदको मन्त्रीके साथ पकड कर आचार्य द्रोणके पास ले आए ॥ ५ ॥

भग्नदर्पं हृतधनं तथा च वशमागतम् ।
स वैरं मनसा ध्यात्वा द्रोणो द्रुपदमब्रवीत् ॥ ६ ॥

द्रोण उस प्रकार वशमें आये हुए, नष्ट हुए अहंकारवाले और नष्ट हुए धनवाले द्रुपदको देखकर पहिलेकी शत्रुताको मनसे स्मरणकर द्रुपदसे बोले, ॥ ६ ॥

प्रमृद्य तरसा राष्ट्रं पुरं ते मृदितं मया ।
प्राप्य जीवन्‌रिपुवशं सखिपूर्वं किमिष्यते ॥ ७ ॥

मैंने बलसे तुम्हारे राज्यको नष्ट कर तुम्हारी पुरीको मथ डाला है, क्या अपने जीवनको पाकर, जो अब इस विप्रके वशमें आ गया है, पहिली मित्रताको चाहते हो ? ॥ ७ ॥

एवमुक्त्वा प्रहस्यैनं निश्चित्य पुनरब्रवीत्‌ ।
मा भैः प्राणभयाद्राजन्क्षमिणो ब्राह्मणा वयम्‌ ॥ ८ ॥

यह कह करके हंसकर फिर वह मन ही मनमें निश्चय कर उनसे बोले, कि हे वीर ! तुम अपने प्राणोंका भय मत करो, हम ब्राह्मण क्षमायुक्त हैं ॥ ८ ॥

आश्रमे क्रीडितं यत्तु त्वया बाल्ये मया सह ।
तेन संवर्धितः स्नेहस्त्वया मे क्षत्रियर्षभ ॥ ९ ॥

हे क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ ! बालपनमें आश्रममें मुझसे खेलने कूदनेहीके कारण तुम पर मेरा स्नेह और प्रेम बढा था ॥ ९ ॥

प्रार्थयेयं त्वया सख्यं पुनरेव नरर्षभ ।
वरं ददामि ते राजन्राज्यस्यार्धमवाप्नुहि ॥ १० ॥

इसलिए, हे नरश्रेष्ठ ! मैं फिर तुमसे मित्रताकी प्रार्थना करता हूं । हे राजन्‌ ! तुमको वर देता हूं, कि तुम इस राज्यका आधा भाग पावोगे ॥ १० ॥

अराजा किल नो राज्ञां सखा भवितुमर्हति ।
अतः प्रयतितं राज्ये यज्ञसेन मया तव ॥ ११ ॥

हे यज्ञसेन ! राज्यहीन कोई पुरुष राजाका मित्र नहीं हो सकता है, इसीलिये मैंने तुम्हारा राज्य पानेके लिए ऐसा प्रयत्न किया ॥ ११ ॥

राजासि दक्षिणे कूले भागीरथ्याहमुत्तरे ।
सखायं मां विजानीहि पाञ्चाल यदि मन्यसे ॥ १२ ॥

हे पाञ्चाल ! तुम भागीरथीके दक्षिण किनारेके राजा होगे और मैं उत्तर किनारेका राजा होऊंगा, अब तुम चाहो तो मुझको मित्र समझो ॥ १२ ॥

द्रुपद उवाच

अनाश्चर्यमिदं ब्रह्मन्विक्रान्तेषु महात्मसु ।
प्रीये त्वयाहं त्वत्तश्च प्रीतिमिच्छामि शाश्वतीम्‌ ॥ १३ ॥

द्रुपद बोले– हे ब्रह्मन्‌ ! विक्रमी महात्मा पुरुषोंके विषयमें यह आश्चर्य नहीं है । मैं आपसे प्यार किया जाता हूं, और यह चाहता हूं, कि आप भी मुझसे सदा–स्थायी प्रीति लाभ कर सकें ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु तं द्रोणो मोक्षयामास भारत।
सत्कृत्य चैनं प्रीतात्मा राज्यार्धं प्रत्यपादयत् ॥ १४ ॥

वैशम्पायन बोले– हे भारत! दुरुपदके ऐसा कहनेपर द्रोणने उनको बन्धनसे मुक्तकर प्रसन्नचित्तसे सत्कार करके राज्यका आधा भाग दे दिया ॥ १४ ॥

माकन्दीमथ गङ्गायास्तीरे जनपदायुताम्।
सोऽध्यावसद्दीनमनाः काम्पिल्यं च पुरोत्तमम्।
दक्षिणांश्चैव पाञ्चालान्यावच्चर्मण्वती नदी ॥ १५ ॥

दुरुपद गङ्गातटके जनपदोंके सहित माकन्दी देश और चर्मण्वती नदीतक दक्षिण पाञ्चाल-पर अधिकार पाकर सुन्दर काम्पिल्य नगरमें मलिन चित्तसे रहने लगे ॥ १५ ॥

द्रोणेन वैरं द्रुपदः संस्मरन्न शशाम ह।
क्षात्रेण च बलेनास्य नापश्यत्स पराजयम् ॥ १६ ॥

अनन्तर द्रोणकी शत्रुताको याद करके द्रुपद शान्त नहीं हुए, उन्हें क्षत्रियबलसे द्रोणका पराजय असंभव प्रतीत हुआ ॥ १६ ॥

हीनं विदित्वा चात्मानं ब्राह्मणेन बलेन च।
पुत्रजन्म परीप्सन्वै स राजा तदधारयत्।
अहिच्छत्रं च विषयं द्रोणः समभिपद्यत ॥ १७ ॥

अतः ब्राह्मणके बलसे अपनेको हीन जानकर पुत्र उत्पत्तिकी इच्छासे उस राजाने निश्चय कर लिया। इधर द्रोणको अहिच्छत्र नामक राज्य मिल गया ॥ १७ ॥

एवं राजन्नहिच्छत्रा पुरी जनपदायुता।
युधि निर्जित्य पार्थेन द्रोणाय प्रतिपादिता ॥ १८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२८ ॥ ४६२६ ॥

हे राजन्! इस प्रकार धनञ्जयने जनपद समेत अहिच्छत्रा पुरीको लडाईमें जीतकर आचार्य द्रोणको सौंप दिया ॥ १८ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ अठ्ठाइसवां अध्याय समाप्त ॥ १२८ ॥ ४६२६ ॥

: १२९ :

वैशंपायन उवाच

प्राणाधिकं भीमसेनं कृतविद्यं धनञ्जयम् ।
दुर्योधनो लक्षयित्वा पर्यतप्यत दुर्मतिः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– दुष्ट बुद्धिवाला दुर्योधन भीमको अति बलवान् और धनञ्जयको विद्यामें निपुण देखकर अपार सन्तापसे जलने लगा ॥ १ ॥

ततो वैकर्तनः कर्णः शकुनिश्चापि सौबलः ।
अनेकैरभ्युपायैस्तांञ्जिघांसन्ति स्म पाण्डवान् ॥ २ ॥

तब सूर्यपुत्र कर्ण और सुबलकुमार शकुनि नाना उपायोंसे पाण्डवोंके प्राण लेनेकी चेष्टा करने लगे ॥ २ ॥

पाण्डवाश्चापि तत्सर्वं प्रत्यजानन्नरिंदमाः ।
उद्भावनमकुर्वन्तो विदुरस्य मते स्थिताः ॥ ३ ॥

शत्रुनाशक पाण्डव भी उस सबको जानते हुए विदुरकी सलाहके अनुसार उसको प्रकट नहीं करते थे ॥ ३ ॥

गुणैः समुदितान्दृष्ट्वा पौराः पाण्डुसुतांस्तदा ।
कथयन्ति स्म संभूय चत्वरेषु सभासु च ॥ ४ ॥

हे भारत ! पुरवासी लोग पाण्डवोंको नाना गुणोंसे अलंकृत देख कर सभाओंमें और चौराहों पर आपसमें कहते थे ॥ ४ ॥

प्रज्ञाचक्षुरचक्षुष्ट्वाद्धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ।
राज्यमप्राप्तवान्पूर्वं स कथं नृपतिर्भवेत् ॥ ५ ॥

कि प्रज्ञाचक्षु, जनराजा धृतराष्ट्रने अन्धे होनेसे पहिले राज्य प्राप्त नहीं किया था, अब वह राजा कैसे हो सकते हैं ? ॥ ५ ॥

तथा भीष्मः शान्तनवः सत्यसन्धो महाव्रतः
प्रत्याख्याय पुरा राज्यं नाद्य जातु ग्रहीष्यति ॥ ६ ॥

सत्यशील महाव्रत शान्तनुकुमार भीष्मने पहिले राज्य त्याग दिया था; वह फिर उसको नहीं लेंगे, ॥ ६ ॥

ते वयं पाण्डवं ज्येष्ठं तरुणं वृद्धशीलिनम् ।
अभिषिञ्चाम साध्वद्य सत्यं करुणवेदिनम् ॥ ७ ॥

अतएव आज हम लोग तरुण वयवाले, वृद्धोंका सन्मान करनेवाले और सत्यनिष्ठ दयालु पाण्डुके श्रेष्ठपुत्र युधिष्ठिरको भली प्रकार राज्यपर अभिषिक्त करेंगे ॥ ७ ॥

स हि भीष्मं शान्तनवं धृतराष्ट्रं च धर्मवित्।
सपुत्रं विविधैर्भोगैर्योजयिष्यति पूजयन् ॥ ८ ॥

वह धर्मात्मा युधिष्ठिर शान्तनुनन्दन भीष्म और पुत्रोंके सहित धृतराष्ट्रकी अवश्य पूजाकर उन्हें भोगनेकी नाना वस्तु देंगे ॥ ८ ॥

तेषां दुर्योधनः श्रुत्वा तानि वाक्यानि भाषताम्।
युधिष्ठिरानुरक्तानां पर्यतप्यत दुर्मतिः ॥ ९ ॥

तब युधिष्ठिरके बारेमें प्रजाओंकी यह सब प्रेमपूर्ण बात सुनकर दुष्टबुद्धि दुर्योधन बडा सन्तप्त हुआ ॥ ९ ॥

स तप्यमानो दुष्टात्मा तेषां वाचो न चक्षमे।
ईर्ष्यया चाभिसंतप्तो धृतराष्ट्रमुपागमत् ॥ १० ॥

वह दुष्टात्मा सन्तापयुक्त होकर उन प्रजाओंकी बात सह नहीं सका और द्वेषके मारे जल भुनकर धृतराष्ट्रके पास गया ॥ १० ॥

ततो विरहितं दृष्ट्वा पितरं प्रतिपूज्य सः।
पौरानुरागसंतप्तः पश्चादिदमभाषत ॥ ११ ॥

तब पिताको एकान्तमें पाकर और प्रणामकर युधिष्ठिर पर पुरवासियोंके प्रेमके कारण दुःखी होकर बादमें यह कहने लगा ॥ ११ ॥

श्रुता मे जल्पतां तात पौराणामशिवा गिरः।
त्वामनादृत्य भीष्मं च पतिमिच्छन्ति पाण्डवम् ॥ १२ ॥

हे पिता! मैंने आपसमें बातचीत करते हुए पुरवासियोंकी अशुभ बातें सुनी हैं! प्रजाएं आपका और भीष्मका अनादर करके पाण्डव युधिष्ठिरको राजा बनाना चाहती हैं ॥ १२ ॥

मतमेतच्च भीष्मस्य न स राज्यं बुभूषति।
अस्माकं तु परां पीडां चिकीर्षन्ति पुरे जनाः ॥ १३ ॥

इसमें भीष्मकी भी अनुमति होगी, क्योंकि वह स्वयं राज्यभोगकी इच्छा नहीं रखते; पर पुरवासी लोग केवल हमींको अत्यन्त पीडा देना चाहते हैं ॥ १३ ॥

पितृतः प्राप्तवान्राज्यं पाण्डुरात्मगुणैः पुरा।
त्वमप्यगुणसंयोगात्प्राप्तं राज्यं न लब्धवान् ॥ १४ ॥

पहिले राजा पाण्डुने अपने गुणहीसे पिताके राज्यको प्राप्त किया था, यद्यपि आप ज्येष्ठतासे राज्याधिकारी होनेके योग्य थे, पर अन्धतारूपी अगुणके कारण राज्य नहीं पा सके ॥ १४ ॥

स एष पाण्डोर्दायाद्यं यदि प्राप्नोति पाण्डवः ।
तस्य पुत्रो ध्रुवं प्राप्तस्तस्य तस्येति चापरः ॥ १५ ॥

अब यदि उन पाण्डुका पुत्र उत्तराधिकारी होकर पाण्डुका राज्य प्राप्त करेगा तो भविष्यमें उसका पुत्र अवश्य ही अधिकारी होगा और उसी प्रकार परम्परया उनके वंशवाले राजा हुआ करेंगे ॥ १५ ॥

ते वयं राजवंशेन हीनाः सह सुतैरपि ।
अवज्ञाता भविष्यामो लोकस्य जगतीपते ॥ १६ ॥

हे जगत्पते ! ऐसा होनेसे राजवंशियोंमें न गिने जाकर हम सबको अपने पुत्रोंके साथ लोगोंसे अनादृत होकर जीना पडेगा ॥ १६ ॥

सततं निरयं प्राप्ताः परपिण्डोपजीविनः ।
न भवेम यथा राजंस्तथा शीघ्रं विधीयताम् ॥ १७ ॥

अतएव, हे महाराज ! जल्दीसे कुछ ऐसा कीजिए कि दूसरेकी कृपापर पेट पालते हुए हम सबको दुःखी न होना पडे ॥ १७ ॥

अभविष्यः स्थिरो राज्ये यदि हि त्वं पुरा नृप ।
ध्रुवं प्राप्स्याम च वयं राज्यमप्यवशे जने ॥ १८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि एकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२९ ॥ ४६४४ ॥

हे नरनाथ ! पहिले यदि आप राज्यपर स्थिर हो जाते तो प्रजाओंके वशमें न रहनेसे भी हम निश्चयसे राज्य प्राप्त कर लेते ॥ १८ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ उनतीसवां अध्याय समाप्त ॥ १२९ ॥ ४६४४ ॥

: १३० :

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्रस्तु पुत्रस्य श्रुत्वा वचनमीदृशम् ।
मुहूर्तमिव संचिन्त्य दुर्योधनमथाब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– पुत्रकी इस प्रकारकी बात सुनकर धृतराष्ट्र क्षणभर सोचकर फिर दुर्योधनसे बोले ॥ १ ॥

धर्मनित्यः सदा पाण्डुर्ममासीत्प्रियकृद्धितः ।
सर्वेषु ज्ञातिषु तथा मयि त्वासीद्विशेषतः ॥ २ ॥

धर्मशील पांडु मेरा प्रिय और हित करनेवाले थे और सम्पूर्ण ज्ञातियोंसे और विशेष कर मुझसे सदा धर्मके अनुसार व्यवहार किया करते थे ॥ २ ॥

नास्य किंचिन्न जानामि भोजनादि चिकीर्षितम्।
निवेदयति नित्यं हि मम राज्यं धृतव्रतः ॥ ३ ॥

मैं जानता हूँ कि उनको भोजन वस्त्र किसी विषयमें चाह नहीं थी। सदा व्रतधारी होकर उन्होंने मेरे हाथमें सब राज्य सौंप दिया था ॥ ३ ॥

तस्य पुत्रो यथा पाण्डुस्तथा धर्मपरायणः।
गुणवाँल्लोकविख्यातः पौराणां च सुसंमतः ॥ ४ ॥

अब उनके पुत्र भी उनके समान धर्मशील, गुणवान्, भूमण्डलमें प्रसिद्ध और पुरवासियोंके प्यारे हैं ॥ ४ ॥

स कथं शक्यमस्माभिरपकृष्टुं बलादितः।
पितृपैतामहाद्राज्यात्ससहायो विशेषतः ॥ ५ ॥

अतः उन पाण्डुनन्दनको हम उनके बापदादाओंके राज्यसे जबर्दस्ती कैसे खदेड सकते हैं! विशेष यह कि वह सहायवर्जित भी नहीं हैं ॥ ५ ॥

भृता हि पाण्डुनामात्या बलं च सततं भृतम्।
भृताः पुत्राश्च पौत्राश्च तेषामपि विशेषतः ॥ ६ ॥

महाराजा पाण्डुने मन्त्रियोंका पालन किया, सेनाका पालन किया और उनके बेटे पोतोंको सदा पाला पोषा ॥ ६ ॥

ते पुरा सत्कृतास्तात पाण्डुना पौरवा जनाः।
कथं युधिष्ठिरस्यार्थे न नो हन्युः सबान्धवान् ॥ ७ ॥

हे पुत्र! जब नगरके सब लोग पाण्डुसे सत्कृत हुए हैं, तब उनके पुत्र युधिष्ठिरके लिये वे क्यों न हमको और हमारे बान्धवोंको मार डालेंगे ॥ ७ ॥

दुर्योधन उवाच

एवमेतन्मया तात भावितं दोषमात्मनि।
दृष्ट्वा प्रकृतयः सर्वा अर्थमानेन योजिताः ॥ ८ ॥
ध्रुवमस्मत्सहायास्ते भविष्यन्ति प्रधानतः।
अर्थवर्गः सहामात्यो मत्संस्थोऽद्य महीपते ॥ ९ ॥

दुर्योधन बोले— हे पिता! आपकी बात ठीक तो है, पर मेरे आपके वर्तमान अहितको सोचकर सब प्रजाओंको धनमानसे पूजित करनेसे वे हमारे अवश्य ही सहायक होंगी, क्योंकि इस समय धनकोष और मन्त्रवर्ग हमारे ही हाथमें हैं ॥ ८–९ ॥

स भवान्पाण्डवानाशु विवासयितुमर्हति ।
मृदुनैवाभ्युपायेन नगरं वारणावतम् ॥ १० ॥

अतएव, हे पृथ्वीनाथ ! आप किसी कोमल उपायहीसे शीघ्र पाण्डवोंको वारणावतमें भेज दीजिये ॥ १० ॥

यदा प्रतिष्ठितं राज्यं मयि राजन्भविष्यति ।
तदा कुन्ती सहापत्या पुनरेष्यति भारत ॥ ११ ॥

हे राजन् ! जब कुछ कालके बाद राज्य मेरे हाथमें पूरी तरह आजाएगा तब कुन्ती पाण्डवगणके साथ फिर यहां लौट आएगी ॥ ११ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

दुर्योधन ममाप्येतद्धृदि संपरिवर्तते ।
अभिप्रायस्य पापत्वान्नैतत्तु विवृणोम्यहम् ॥ १२ ॥

धृतराष्ट्र बोले– हे दुर्योधन ! तुमने जो बात कही मैं भी चित्तमें उसका विचार किया करता हूं, पर इसे पापका अभिप्राय जानकर इच्छा प्रकट नहीं करता ॥ १२ ॥

न च भीष्मो न च द्रोणो न क्षत्ता न च गौतमः ।
विवास्यमानान्कौन्तेयाननुमंस्यन्ति कर्हिचित् ॥ १३ ॥

कुन्तीपुत्रोंको बाहर निकालनेके विचारसे न भीष्म, न द्रोण, न कृप और न विदुर ही कदापि सम्मत होंगे ॥ १३ ॥

समा हि कौरवेयाणां वयमेते च पुत्रक ।
नैते विषममिच्छेयुर्धर्मयुक्ता मनस्विनः ॥ १४ ॥

हे पुत्र ! कुरुवंशियोंमें हम और पाण्डव दोनों समान हैं, इसमें सन्देह नहीं है, अतः वे धर्मशील महानुभाव लोग कभी दोनों पक्षोंमें किसीका पक्षपात नहीं करेंगे ॥ १४ ॥

ते वयं कौरवेयाणामेतेषां च महात्मनाम् ।
कथं न वध्यतां तात गच्छेम जगतस्तथा ॥ १५ ॥

अतः पाण्डवोंको भगाकर हम कौरवोंसे, उन महात्माओंसे यहां तक कि निःसन्देह पृथ्वी भरके लोगोंसे वध किये जानेके योग्य कैसे न होंगे ? ॥ १५ ॥

दुर्योधन उवाच

मध्यस्थः सततं भीष्मो द्रोणपुत्रो मयि स्थितः।
यतः पुत्रस्ततो द्रोणो भविता नात्र संशयः ॥ १६ ॥

दुर्योधन बोले– भीष्म हम दोनों पक्षोंसे समान स्नेह करते हैं। द्रोणके पुत्र अश्वत्थामा मेरे ही पक्षमें हैं, अतः इसमें सन्देह नहीं है कि जिस पक्षमें उनके पुत्र हैं, आचार्य द्रोण भी उसी पक्षमें रहेंगे ॥ १६ ॥

कृपः शारद्वतश्चैव यत एते त्रयस्ततः।
द्रोणं च भागिनेयं च न स त्यक्ष्यति कर्हिचित् ॥ १७ ॥

शारद्वत कृप भी अवश्य उसी पक्षमें रहेंगे, जिसमें भीष्म, द्रोण और अश्वत्थामा ये तीनों रहेंगे क्योंकि वह कभी भान्जा और द्रोणको नहीं छोड सकेंगे ॥ १७ ॥

क्षत्तार्थबद्धस्त्वस्माकं प्रच्छन्नं तु यतः परे।
न चैकः स समर्थोऽस्मान्पाण्डवार्थे प्रबाधितुम् ॥ १८ ॥

विदुर हमारे अर्थसे आवद्ध हैं और छिपकर पाण्डवोंसे मिल भी जावें, तो वह अकेले पाण्डवोंके पक्षमें होकर हमारी कोई हानि नहीं कर सकेंगे ॥ १८ ॥

स विश्रब्धः पाण्डुपुत्रान्सह मात्रा विवासय।
वारणावतमद्यैव नात्र दोषो भविष्यति ॥ १९ ॥

अतएव आप निःशङ्क चित्तसे पाण्डवोंको उनकी माताके सहित वारणावत भेज दीजिए, इसमें कोई दोष नहीं होगा ॥ १९ ॥

विनिद्रकरणं घोरं हृदि शल्यमिवार्पितम्।
शोकपावकमुद्भूतं कर्मणैतेन नाशय ॥ २० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३० ॥ ४६६४ ॥

निद्रानाशी शोकाग्नि मानों कठोर शूलोंकी भांति मेरे हृदयमें गड रही है, आप यह काम करके उस अग्निको शान्त कर दीजिए ॥ २० ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ तीसवां अध्याय समाप्त ॥ १३० ॥ ४६६४ ॥

: १३१ :

वैशम्पायन उवाच

ततो दुर्योधनो राजा सर्वास्ताः प्रकृतीः शनैः ।
अर्थमानप्रदानाभ्यां संजहार सहानुजः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– इसके बाद राजा दुर्योधनने अपने भाइयोंके साथ मिल सम्मान और धन द्वारा सब प्रजाओंको अपने वशमें कर लिया ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रप्रयुक्तास्तु केचित्कुशलमन्त्रिणः ।
कथयाञ्चक्रिरे रम्यं नगरं वारणावतम् ॥ २ ॥

धृतराष्ट्रसे प्रेरित होकर कुछ कुशल मंत्री सुन्दर नगर वारणावतका वर्णन करने लगे ॥२॥

अयं समाजः सुमहान्रमणीयतमो भुवि ।
उपस्थितः पशुपतेर्नगरे वारणावते ॥ ३ ॥

इस पशुपतिके नगर वारणावतमें संसारमें अत्यधिक सुन्दर और महान् मनुष्योंकी भीड जुडेगी ॥ ३ ॥

सर्वरत्नसमाकीर्णे पुंसां देशे मनोरमे ।
इत्येवं धृतराष्ट्रस्य वचनाच्चक्रिरे कथाः ॥ ४ ॥

वह नगर सभी तरहके रत्नोंसे युक्त और मनोरम है। इस प्रकारका वर्णन वे मंत्री धृतराष्ट्रकी आज्ञासे करने लगे ॥ ४ ॥

कथ्यमाने तथा रम्ये नगरे वारणावते ।
गमने पाण्डुपुत्राणां जज्ञे तत्र मतिर्नृप ॥ ५ ॥

हे नरनाथ ! वारणावत नगरकी सुन्दरता इस प्रकार कही जानेपर वहां जानेके लिये पाण्डव लोगोंकी इच्छा हुई ॥ ५ ॥

यदा त्वमन्यत नृपो जातकौतूहला इति ।
उवाचैनानथ तदा पाण्डवानम्बिकासुतः ॥ ६ ॥
ममेमे पुरुषा नित्यं कथयन्ति पुनः पुनः ।
रमणीयतरं लोके नगरं वारणावतम् ॥ ७ ॥

अंबिकापुत्र राजा धृतराष्ट्रने जब समझा, कि वारणावत नगरको देखनेके लिए पाण्डवोंकी इच्छा है, तब उनसे बोले– पुत्रो ! यह सब मेरे लोग मुझसे बार बार कहा करते हैं, कि भूमण्डलमें वारणावत नगर बडा सुन्दर है ॥ ६–७ ॥

ते तात यदि मन्यध्वमुत्सवं वारणावते।
सगणाः सानुयात्राश्च विहरध्वं यथामराः ॥ ८ ॥

इसलिए, हे तात! यदि तुम वहां उत्सव देखना चाहो, तो परिवार और साथियों समेत वहां जाकर देवोंकी भांति विहार करो ॥ ८ ॥

ब्राह्मणेभ्यश्च रत्नानि गायनेभ्यश्च सर्वशः।
प्रयच्छध्वं यथाकामं देवा इव सुवर्चसः ॥ ९ ॥

और तेजस्वी देवोंके समान गवैयों और ब्राह्मणोंको यथेच्छ धन और रत्नादि दो ॥ ९ ॥

कंचित्कालं विहृत्यैवमनुभूय परां मुदम्।
इदं वै हास्तिनपुरं सुखिनः पुनरेष्यथ ॥ १० ॥

इस प्रकारसे कुछ काल विहारकर अच्छा आनन्द प्राप्त करके कुशलतापूर्वक इस हस्तिनापुरमें लौट आओ ॥ १० ॥

धृतराष्ट्रस्य तं काममनुबुद्ध्वा युधिष्ठिरः।
आत्मनश्चासहायत्वं तथेति प्रत्युवाच तम् ॥ ११ ॥

युधिष्ठिरने धृतराष्ट्रका अभिप्राय समझकर और अपनेको असहाय जानकर उनको यह उत्तर दिया, कि आप जैसी आज्ञा देते हैं, वही होगा ॥ ११ ॥

ततो भीष्मं महाप्राज्ञं विदुरं च महामतिम्।
द्रोणं च बाह्लिकं चैव सोमदत्तं च कौरवम् ॥ १२ ॥

अनन्तर महाबुद्धिमान् भीष्म, महामति विदुर, द्रोण, बाह्लीक, कौरव सोमदत्त ॥ १२ ॥

कृपमाचार्यपुत्रं च गान्धारीं च यशस्विनीम्।
युधिष्ठिरः शनैर्दीनमुवाचेदं वचस्तदा ॥ १३ ॥

कृप, आचार्यके पुत्र अश्वत्थामा और यशस्विनी गान्धारीसे युधिष्ठिरने तब दीनतापूर्वक कोमल भावसे यह बात कही ॥ १३ ॥

रमणीये जनाकीर्णे नगरे वारणावते।
सगणास्तात वत्स्यामो धृतराष्ट्रस्य शासनात् ॥ १४ ॥

कि हम राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञासे साथियों समेत जनोंसे भरे हुए अति सुन्दर वारणावत नगरमें रहेंगे ॥ १४ ॥

प्रसन्नमनसः सर्वे पुण्या वाचो विमुञ्चत।
आशीर्भिर्वर्धितानस्मान्न पापं प्रसहिष्यति ॥ १५ ॥

आप प्रसन्न चित्तसे पुण्य वचन कहिये, ताकि आपके अशीससे वृद्धिको प्राप्त हुए हुए हमें पाप पराजित नहीं कर पाए ॥ १५ ॥

एवमुक्तास्तु ते सर्वे पाण्डुपुत्रेण कौरवाः ।
प्रसन्नवदना भूत्वा तेऽभ्यवर्तन्त पाण्डवान् ॥ १६ ॥

पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके इस प्रकार कहनेपर सभी कौरव पाण्डवोंसे प्रसन्न मनसे यह बोले ॥ १६ ॥

स्वस्त्यस्तु वः पथि सदा भूतेभ्यश्चैव सर्वशः ।
मा च वोऽस्त्वशुभं किंचित्सर्वतः पाण्डुनन्दनाः ॥ १७ ॥

पथमें सब भूतोंसे सदा तुम लोगोंका मंगल होवे । हे पाण्डवो ! तुम्हारा कोई अहित न हो ॥ १७ ॥

ततः कृतस्वस्त्ययना राज्यलाभाय पाण्डवाः ।
कृत्वा सर्वाणि कार्याणि प्रययुर्वारणावतम् ॥ १८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३१ ॥ ४६८२ ॥

अनन्तर पाण्डव स्वस्त्ययन करके राज्यलाभके लिये सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मोंको पूराकर वारणावत नगरकी यात्राके लिये चले ॥ १८ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ इकतीसवां अध्याय समाप्त ॥ १३१ ॥ ४६८२ ॥

: १३२ :

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तेषु राज्ञा तु पाण्डवेषु महात्मसु ।
दुर्योधनः परं हर्षमाजगाम दुरात्मवान् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— राजा धृतराष्ट्रके महात्मा पाण्डवोंको ऐसी आज्ञा देनेपर दुरात्मा दुर्योधनको बडा हर्ष हुआ ॥ १ ॥

स पुरोचनमेकान्तमानीय भरतर्षभ ।
गृहीत्वा दक्षिणे पाणौ सचिवं वाक्यमब्रवीत् ॥ २ ॥

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ ! तब वह दुर्योधन पुरोचन नामक मन्त्रीको एकान्तमें बुलाकर उसका दहिना हाथ थाम करके यह वाक्य बोला ॥ २ ॥

ममेयं वसुसंपूर्णा पुरोचन वसुन्धरा ।
यथेयं मम तद्वत्ते स तां रक्षितुमर्हसि ॥ ३ ॥

हे पुरोचन ! यह धनसे भरी हुई धरती मेरे वशमें है, इसपर मेरा जितना अधिकार है, तुम्हारा भी उतना ही अधिकार है, अतः तुमको उसकी रक्षा करनी चाहिये ॥ ३ ॥

न हि मे कश्चिदन्योऽस्ति वैश्वासिकतरस्त्वया।
सहायो येन संधाय मन्त्रयेयं यथा त्वया ॥ ४ ॥

तुमसे अधिक विश्वासी सहायक मेरा कोई दूसरा नहीं है, कि जिससे मिलकर ऐसा परामर्श करूं, जैसा तुमसे कर सकता हूं ॥ ४ ॥

संरक्ष तात मन्त्रं च सपत्नांश्च ममोद्धर।
निपुणेनाभ्युपायेन यद्ब्रवीमि तथा कुरु ॥ ५ ॥

अतः तुम इस परामर्शको भली प्रकार छुपाकर मेरे शत्रुओंको नष्ट कर डालो, मैं जो कुछ कहता हूं, कुशलता और अच्छे उपायोंसे उसे पूरा करो ॥ ५ ॥

पाण्डवा धृतराष्ट्रेण प्रेषिता वारणावतम्।
उत्सवे विहरिष्यन्ति धृतराष्ट्रस्य शासनात् ॥ ६ ॥

राजा धृतराष्ट्रने पाण्डवोंको वारणावत नगरमें जानेकी आज्ञा दी है, वे धृतराष्ट्रकी आज्ञासे पाशुपत उत्सवमें वहां विहार करेंगे ॥ ६ ॥

स त्वं रासभयुक्तेन स्यन्दनेनाशुगामिना।
वारणावतमद्यैव यथा यासि तथा कुरु ॥ ७ ॥

अतएव तुम आज ही खच्चरयुक्त शीघ्रगामी रथ पर वारणावतको जिस प्रकार जा सको, वैसा करो ॥ ७ ॥

तत्र गत्वा चतुःशालं गृहं परमसंवृतम्।
आयुधागारमाश्रित्य कारयेथा महाधनम् ॥ ८ ॥

वहां जाकर अपार धन खर्च करके भली प्रकारसे घिरा हुआ एक शस्त्रोंसे भरा हुआ चौपाल-युक्त घर बनवाओ ॥ ८ ॥

शणसर्जरसादीनि यानि द्रव्याणि कानिचित्।
आग्नेयान्युत सन्तीह तानि सर्वाणि दापय ॥ ९ ॥

सन, धूपआदि जितनी आग लगानेवाली वस्तुयें हैं, उनसे ही वह घर बनवाना ॥ ९ ॥

सर्पिषा च सतैलेन लाक्षया चाप्यनल्पया।
मृत्तिकां मिश्रयित्वा त्वं लेपं कुड्येषु दापयेः ॥ १० ॥

और घृत, तैल, चर्बी और अधिक लाखमें कुछ मिट्टी मिलाकर उससे उसकी भीतोंको पोत दो ॥ १० ॥

शणान्वंशं घृतं दारु यन्त्राणि विविधानि च ।
तस्मिन्वेश्मनि सर्वाणि निक्षिपेथाः समन्ततः　　　　॥ ११ ॥

और सन, बांस, घृत और नाना तरहके बारूदके यंत्र यह सब वस्तु उस घरमें चारों ओर बिखेर दो ॥ ११ ॥

यथा च त्वां न शङ्केरन्परीक्षन्तोऽपि पाण्डवाः ।
आग्नेयमिति तत्कार्यमिति चान्ये च मानवाः　　　　॥ १२ ॥

पर ऐसा करना, कि पाण्डवलोग वा कोई दूसरे विशेष परीक्षासे भी तुम्हारे इस कार्यपर शंका न कर सके, कि यह गृह आगसे जलनेवाला है ॥ १२ ॥

वेश्मन्येवं कृते तत्र कृत्वा तान्परमार्चितान् ।
वासयेः पाण्डवेयांश्च कुन्तीं च ससुहृज्जनाम्　　　　॥ १३ ॥

इस प्रकार गृह बनवा करके वहां जाकर पाण्डवों और मित्रोंके साथ कुन्तीको आदरपूर्वक वहां ठहराओ ॥ १३ ॥

तत्रासनानि मुख्यानि यानानि शयनानि च ।
विधातव्यानि पाण्डूनां यथा तुष्येत मे पिता　　　　॥ १४ ॥

पाण्डवोंके लिये सुन्दर शय्या, आसन और यान इस प्रकार बनवा रखना, कि मेरे पिता सन्तुष्ट होजायें ॥ १४ ॥

यथा रमेरन्विश्रब्धा नगरे वारणावते ।
तथा सर्वं विधातव्यं यावत्कालस्य पर्ययः　　　　॥ १५ ॥

और ऐसा करना कि वारणावत नगरमें वे सब विना किसी डरके तब तक घूमते रहें, जबतक समय न आजाए ॥ १५ ॥

ज्ञात्वा तु तान्सुविश्वस्ताञ्शयानानकुतोभयान् ।
अग्निस्ततस्त्वया देयो द्वारतस्तस्य वेश्मनः　　　　॥ १६ ॥

आगे ठीक समय आनेपर अर्थात् पाण्डवोंको उस गृहमें अच्छे विश्वासपूर्वक सोते और निःशङ्क होते देखनेपर उस गृहके द्वारमें आग लगा देना ॥ १६ ॥

दग्धानेवं स्वके गेहे दग्धा इति ततो जनाः ।
ज्ञातयो वा वदिष्यन्ति पाण्डवार्थाय कर्हिचित्　　　　॥ १७ ॥

तब प्रजा समझेगी, कि पाण्डव अपने घरमें आग लगनेहीसे जल मरे हैं, अतः पाण्डवोंके लिये हमारे जातिके लोग हमारी निन्दा नहीं कर सकेंगे ॥ १७ ॥

तत्तथेति प्रतिज्ञाय कौरवाय पुरोचनः ।
प्रायाद्रासभयुक्तेन नगरं वारणावतम् ॥ १८ ॥

पुरोचन दुर्योधनसे "ऐसा ही होगा" ऐसी प्रतिज्ञा कर अच्छे अच्छे खच्चरयुक्त रथसे वारणावत नगरको गया ॥ १८ ॥

स गत्वा त्वरितो राजन्दुर्योधनमते स्थितः ।
यथोक्तं राजपुत्रेण सर्वं चक्रे पुरोचनः ॥ १९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३२ ॥ ४७०१ ॥

हे राजन् ! पुरोचन दुर्योधनकी आज्ञासे शीघ्रतापूर्वक वारणावतमें पहुंचकर राजकुमार दुर्योधनके कहे हुएके अनुसार सब काम पूरा करने लगा ॥ १९ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ बत्तीसवां अध्याय समाप्त ॥ १३२ ॥ ४७०१ ॥

: १३३ :

वैशंपायन उवाच

पाण्डवास्तु रथान्युक्त्वा सदश्वैरनिलोपमैः ।
आरोहमाणा भीष्मस्य पादौ जगृहुरार्तवत् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— उसके बाद व्रतशील पाण्डव लोगोंने रथोंमें पवनके समान वेगवान अच्छे घोडे जुतवाकर चढनेके समय कातर होकर भीष्मके पैर छुए ॥ १ ॥

राज्ञश्च धृतराष्ट्रस्य द्रोणस्य च महात्मनः ।
अन्येषां चैव वृद्धानां विदुरस्य कृपस्य च ॥ २ ॥

राजा धृतराष्ट्र, महात्मा द्रोण, विदुर, कृप तथा दूसरे भी वृद्धोंके पांव छूए ॥ २ ॥

एवं सर्वान्कुरून्वृद्धानभिवाद्य यतव्रताः ।
समालिङ्ग्य समानांश्च बालैश्चाप्यभिवादिताः ॥ ३ ॥
सर्वा मातॄस्तथापृष्ट्वा कृत्वा चैव प्रदक्षिणम् ।
सर्वाः प्रकृतयश्चैव प्रययुर्वारणावतम् ॥ ४ ॥

इस प्रकार अपनेसे बडे सब कौरवोंको प्रणाम किया और अपने साथियोंको गलेसे लगाया और बालकोंके द्वारा अभिवादित होकर सब माताओंकी आज्ञा लेकर और उनकी प्रदक्षिणा करके, सभी प्रजाओंके साथ बारणावत नगरको चले ॥ ३–४ ॥

विदुरश्च महाप्राज्ञस्तथान्ये कुरुपुङ्गवाः ।
पौराश्च पुरुषव्याघ्रानन्वयुः शोककर्शिताः ॥ ५ ॥

महाप्राज्ञ विदुर तथा दूसरे कौरवोंमें प्रधान लोग और पुरवासीवृन्द शोकाकुल होकर पुरुषोंमें व्याघ्ररूपी पाण्डवोंके पीछे पीछे चले ॥ ५ ॥

तत्र केचिद्ब्रुवन्ति स्म ब्राह्मणा निर्भयास्तदा ।
शोचमानाः पाण्डुपुत्रानतीव भरतर्षभ ॥ ६ ॥

हे भरतोंमें श्रेष्ठ ! उनमेंसे कुछ दुःखी पर निर्भय ब्राह्मण पाण्डवोंको देखकर अति दुःखसे कहने लगे ॥ ६ ॥

विषमं पश्यते राजा सर्वथा तमसावृतः ।
धृतराष्ट्रः सुदुर्बुद्धिर्न च धर्मं प्रपश्यति ॥ ७ ॥

दुर्बुद्धि राजा धृतराष्ट्र तमसे घिरकर सब प्रकारसे पक्षपात कर रहे हैं, वह एकबार भी धर्मकी ओर दृष्टि नहीं देते हैं ॥ ७ ॥

न हि पापमपापात्मा रोचयिष्यति पाण्डवः ।
भीमो वा बलिनां श्रेष्ठः कौन्तेयो वा धनञ्जयः ।
कुत एव महाप्राज्ञौ माद्रीपुत्रौ करिष्यतः । ॥ ८ ॥

पापरहित पाण्डुपुत्र कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर, महाबली भीम और धनञ्जय, कभी विद्रोह रूपी पाप कर्मकी इच्छा नहीं करते, अतः महा बुद्धिमान् माद्रीकुमार भी यह काम कैसे करेंगे ? ॥८॥

तद्राज्यं पितृतः प्राप्तं धृतराष्ट्रो न मृष्यते ।
अधर्ममखिलं किं नु भीष्मोऽयमनुमन्यते ।
विवास्यमानानस्थाने कौन्तेयान्भरतर्षभान् ॥ ९ ॥

पाण्डवोंका पितृराज्यका पाना भी धृतराष्ट्रसे सहा नहीं जाता । भरतोंमें श्रेष्ठ कुन्तीके पुत्रोंको उनके निवासके लिए अयोग्य स्थानपर भेजने रूप इस अधर्म कार्यमें भीष्मने अपनी सम्मति कैसे दे दी ? ॥ ९ ॥

पितेव हि नृपोऽस्माकमभूच्छान्तनवः पुरा ।
विचित्रवीर्यो राजर्षिः पाण्डुश्च कुरुनन्दनः ॥ १० ॥

पहिले शान्तनुनन्दन, राजर्षि विचित्रवीर्य और कुरुपुत्र पाण्डुने हमको समान पाला था ॥ १० ॥

×

स तस्मिन्पुरुषव्याघ्रे दिष्टभावं गते सति।
राजपुत्रानिमान्बालान्धृतराष्ट्रो न मृष्यते ॥ ११ ॥

उन पुरुषव्याघ्र पाण्डुके स्वर्गको सिधार जाने पर अब धृतराष्ट्र इन बालक राजकुमारोंको सहता नहीं है ॥ ११ ॥

वयमेतदमृष्यन्तः सर्व एव पुरोत्तमात्।
गृहान्विहाय गच्छामो यत्र याति युधिष्ठिरः ॥ १२ ॥

हम यह नहीं सह सकते। अतः चाहे जो कुछ हो, युधिष्ठिर जहां जायेंगे, हम सब गृहको तज कर इस नगरसे वहीं जायेंगे ॥ १२ ॥

तांस्तथावादिनः पौरान्दुःखितान्दुःखकर्शितः।
उवाच परमप्रीतो धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ १३ ॥

इस प्रकारके वचनोंको बोलनेवाले दुःखी पुरवासियोंसे दुःखसे पीडित धर्मराज युधिष्ठिर प्रसन्न होकर बोले ॥ १३ ॥

पिता मान्यो गुरुः श्रेष्ठो यदाह पृथिवीपतिः।
अशङ्कमानैस्तत्कार्यमस्माभिरिति नो व्रतम् ॥ १४ ॥

पृथ्वीनाथ धृतराष्ट्र हमारे पिता, माननीय तथा गुरु हैं और वही प्रधान हैं; हमारा व्रत यह है, कि उन्होंने जो कहा है, उसे हम विना शङ्का पूरा करें ॥ १४ ॥

भवन्तः सुहृदोऽस्माकमस्मान्कृत्वा प्रदक्षिणम्।
आशीर्भिरभिनन्द्यास्मान्निवर्तध्वं यथागृहम् ॥ १५ ॥

आप हमारे हितकारी हैं, हमारी प्रदक्षिणा करके हमपर कृपा करके अशीस दे दे कर अपने अपने घरोंको लौट जावें ॥ १५ ॥

यदा तु कार्यमस्माकं भवद्भिरुपपत्स्यते।
तदा करिष्यथ मम प्रियाणि च हितानि च ॥ १६ ॥

जब आप लोगोंसे हम लोगोंका कोई आवश्यकीय काम आ पडेगा, तब आप मेरे उस कामको प्रिय और हितयुक्त जानकर करियेगा ॥ १६ ॥

ते तथेति प्रतिज्ञाय कृत्वा चैतान्प्रदक्षिणम्।
आशीर्भिरभिनन्द्यैनाञ्जग्मुर्नगरमेव हि ॥ १७ ॥

पुरवासी लोग युधिष्ठिरकी यह बात मानकर प्रदक्षिणापूर्वक आशीर्वादोंके द्वारा उनका अभिनन्दन करके कातरभावसे नगरको लौट गए ॥ १७ ॥

पौरेषु तु निवृत्तेषु विदुरः सर्वधर्मवित् ।
बोधयन्पाण्डवश्रेष्ठमिदं वचनमब्रवीत् ।
प्राज्ञः प्राज्ञं प्रलापज्ञः सम्यग्धर्मार्थदर्शिवान् ॥ १८ ॥

उन पुरवासियोंके लौट जानेपर सब नीतियोंको जाननेवाले धर्म और अर्थका दर्शन करनेवाले बुद्धिमान् तथा म्लेच्छ भाषाको जाननेवाले विदुरने पाण्डवोंमें श्रेष्ठ तथा बुद्धिमान् युधिष्ठिरसे सावधान करते हुए म्लेच्छभाषामें यह वाक्य कहे ॥ १८ ॥

विज्ञायेदं तथा कुर्यादापदं निस्तरेद्यथा ।
अलोहं निशितं शस्त्रं शरीरपरिकर्तनम् ।
यो वेत्ति न तमाघ्नन्ति प्रतिघातविदं द्विषः ॥ १९ ॥

कि सोच समझकर ऐसा कार्य करना चाहिये, कि जिससे विपत्तिसे बचा सके । जो लोग विना लोहेके भी शरीरको नष्ट कर देनेवाले शस्त्रसे बचनेके उपायको जाननेमें समर्थ हैं, उनका शत्रु कुछ बिगाड नहीं सकते ॥ १९ ॥

कक्षघ्नः शिशिरघ्नश्च महाकक्षे बिलौकसः ।
न दहेदिति चात्मानं यो रक्षति स जीवति ॥ २० ॥

कक्षघ्न अर्थात् तृणनाशी और हिमनाशी अग्नि महाकक्षमें अर्थात् बडे वनके भीतर बिलमें रहनेवाले चूहे आदि जीवोंको जला नहीं सकती, इस नियमको जानकर जो अपनी रक्षा करते हैं, वही जीते रहते हैं ॥ २० ॥

नाचक्षुर्वेत्ति पन्थानं नाचक्षुर्विन्दते दिशः ।
नाधृतिर्भूतिमाप्नोति बुध्यस्वैवं प्रबोधितः ॥ २१ ॥

जो आंखोंसे नहीं देखते हैं, वह पथको नहीं जान सकते और जिनके पास धीरज नहीं है, वह ऐश्वर्य नहीं प्राप्त कर सकते, इस प्रकार मेरे बतानेपर तुम समझ लो ॥ २१ ॥

अनाप्तैर्दत्तमादत्ते नरः शस्त्रमलोहजम् ।
श्वाविच्छरणमासाद्य प्रमुच्येत हुताशनात् ॥ २२ ॥

जो पुरुष शत्रुओंके दिए गए विना लोहेके बने शस्त्रको ले लेते हैं, वह साहीके घरकी भांति दोनों ओरसे निकलनेके रास्तोंसे युक्त बिलोंके द्वारा आगसे बच सकते हैं ॥ २२ ॥

चरन्मार्गान्विजानाति नक्षत्रैर्विन्दते दिशः ।
आत्मना चात्मनः पञ्च पीडयन्नानुपीड्यते ॥ २३ ॥

घूमने घामनेहीसे मार्गोंके बारेमें जाना जा सकता है, नक्षत्रसे भी दिशाओंका निश्चय हो सकता है, और जो मनुष्य अपनी पांच इन्द्रियोंका दमन करते हैं वह शत्रुओंसे पीसे नहीं जाते ॥ २३ ॥

अनुशिष्यानुगत्वा च कृत्वा चैनान्प्रदक्षिणम्।
पाण्डवानभ्यनुज्ञाय विदुरः प्रययौ गृहान् ॥ २४ ॥

विदुर पाण्डवोंको इस प्रकार उपदेश देकर दूरतक उनके पीछे जाकर उनकी प्रदक्षिणा करके गृहको लौट आये ॥ २४ ॥

निवृत्ते विदुरे चैव भीष्मे पौरजने तथा।
अजातशत्रुमामन्त्र्य कुन्ती वचनमब्रवीत् ॥ २५ ॥

भीष्म, विदुर और पुरवासिओंके लौट जानेपर कुन्ती अजातशत्रु युधिष्ठिरको निकट बुलाकर यह बात बोली ॥ २५ ॥

क्षत्ता यदब्रवीद्वाक्यं जनमध्येऽब्रुवन्निव।
त्वया च तत्तथेत्युक्तो जानीमो न च तद्वयम् ॥ २६ ॥

विदुरने सबोंके सामने अप्रकाशित अर्थयुक्त जो बात कही और तुमने भी उनसे जैसी बात कही मैं उसे समझ नहीं सकी ॥ २६ ॥

यदि तच्छक्यमस्माभिः श्रोतुं न च सदोषवत्।
श्रोतुमिच्छामि तत्सर्वं संवादं तव तस्य च ॥ २७ ॥

यदि वह मेरे जानने योग्य हो और यदि उसे जाननेसे हानि न होनेवाली हो, तो तुम दोनोंमें जो बात हुई, उसका अभिप्राय मैं जानना चाहती हूं ॥ २७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

विषादग्नेश्च बोद्धव्यमिति मां विदुरोऽब्रवीत्।
पन्थाश्च वो नाविदितः कश्चित्स्यादिति चाब्रवीत् ॥ २८ ॥

युधिष्ठिर बोले— विदुरने मुझसे कहा है, कि आगसे पैदा होनेवाली आपत्तिको जानकर पहिलेसे सावधान हो जाओ; कोई पथ तुम्हारा अनजाना नहीं है ऐसा उन्होंने कहा है ॥ २८ ॥

जितेन्द्रियश्च वसुधां प्राप्स्यसीति च माब्रवीत्।
विज्ञातमिति तत्सर्वमित्युक्तो विदुरो मया ॥ २९ ॥

जो जितेन्द्रिय होंगे, वही भूमण्डल भरका अधिकार पायेंगे। धर्मशील विदुरसे इतना कहने पर मैंने उनसे कहा है, कि मैं सब समझ गया ॥ २९ ॥

वैशम्पायन उवाच

अष्टमेऽहनि रोहिण्यां प्रयाताः फल्गुनस्य ते ।
वारणावतमासाद्य ददृशुर्नागरं जनम्　　　　॥ ३० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३३ ॥ ४७३१ ॥

वैशम्पायन बोले– उसके बाद पाण्डवोंने फल्गुनके महीनेके आठवें दिनको रोहिणी नक्षत्रमें वारणावतकी यात्रा की और वहां पहुंचे हुए पाण्डवोंने नगरवाले जनोंको देखा ॥ ३० ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ तैंतीसवां अध्याय समाप्त ॥ १३३ ॥ ४७३१ ॥

: १३४ :

वैशम्पायन उवाच

ततः सर्वाः प्रकृतयो नगराद्वारणावतात् ।
सर्वमङ्गलसंयुक्ता यथाशास्त्रमतन्द्रिताः　　　　॥ १ ॥
श्रुत्वागतान्पाण्डुपुत्रान्नानायानैः सहस्रशः ।
अभिजग्मुर्नरश्रेष्ठाञ्श्रुत्वैव परया मुदा　　　　॥ २ ॥

वैशम्पायन बोले– इसके बाद पाण्डवोंके आगमनको सुनकर वारणावत नगरीकी सब प्रजा प्रसन्न होकर सुस्तीको छोडकर शास्त्रके अनुसार माङ्गल्य पदार्थ लेकर नाना प्रकारके अगणित यानों पर चढ उन नरश्रेष्ठके निकट जा पहुंची ॥ १–२ ॥

ते समासाद्य कौन्तेयान्वारणावतका जनाः ।
कृत्वा जयाशिषः सर्वे परिवार्योपतस्थिरे　　　　॥ ३ ॥

वे वारणावतके मनुष्य पाण्डवोंके निकट जाकर जय जयकारके साथ अशीस देते हुए उनके चारों ओर खडे हो गए ॥ ३ ॥

तैर्वृतः पुरुषव्याघ्रो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
विबभौ देवसङ्काशो वज्रपाणिरिवामरैः　　　　॥ ४ ॥

देवके सदृश पुरुषव्याघ्र धर्मराज युधिष्ठिर तब नगरके जनोंसे घिरे जाकर देवोंसे घिरे हुए सुरनाथके समान शोभा पाने लगे ॥ ४ ॥

सत्कृतास्ते तु पौरैश्च पौरान्सत्कृत्य चानघाः।
अलंकृतं जनाकीर्णं विविशुर्वारणावतम् ॥ ५ ॥

निष्पाप पाण्डवलोग पुरवासियोंसे सत्कार पाकर उनकी यथायोग्य अभ्यर्थना और सत्कार कर नाना अलङ्कारोंसे अलंकृत जनोंसे भरे वारणावत नगरमें प्रविष्ट हुए ॥ ५ ॥

ते प्रविश्य पुरं वीरास्तूर्णं जग्मुरथो गृहान्।
ब्राह्मणानां महीपाल रतानां स्वेषु कर्मसु ॥ ६ ॥

हे राजन्! वीर पाण्डवनन्दन पुरमें प्रवेश कर पहिले वेद पठन आदि स्वकर्ममें नियुक्त ब्राह्मणोंके घरोंमें गये ॥ ६ ॥

नगराधिकृतानां च गृहाणि रथिनां तथा।
उपतस्थुर्नरश्रेष्ठा वैश्यशूद्रगृहानपि ॥ ७ ॥

उसके बाद क्रमसे वे नरश्रेष्ठ पाण्डव नगरपाल, रथी, वैश्य और शूद्रोंके घरोंमें भी गये ॥ ७ ॥

अर्चिताश्च नरैः पौरैः पाण्डवा भरतर्षभाः।
जग्मुरावसथं पश्चात्पुरोचनपुरस्कृताः ॥ ८ ॥

भरतश्रेष्ठ पाण्डुपुत्रगण पुरवासियोंसे पूजे जाकर बादमें आगे आगे चलनेवाले पुरोचनके साथ घरमें गये ॥ ८ ॥

तेभ्यो भक्ष्यान्नपानानि शयनानि शुभानि च।
आसनानि च मुख्यानि प्रददौ स पुरोचनः ॥ ९ ॥

पुरोचनने उनको अच्छा अच्छा भोजन और पीनेकी वस्तु, शय्या, उत्तम आसनादि दिए ॥ ९ ॥

तत्र ते सत्कृतास्तेन सुमहार्हपरिच्छदाः।
उपास्यमानाः पुरुषैरूषुः पुरनिवासिभिः ॥ १० ॥

बहुत मूल्ययुक्त पोशाक पहिने हुए पाण्डवगण पुरोचनकी सेवा और पुरवासियोंकी उपासना पाकर वहां रहने लगे ॥ १० ॥

दशरात्रोषितानां तु तत्र तेषां पुरोचनः।
निवेदयामास गृहं शिवाख्यमशिवं तदा ॥ ११ ॥

इस प्रकार दस दिनोंके व्यतीत होनेपर पुरोचनने उनको शिव नामक उस अशिव गृहकी बात सुनायी ॥ ११ ॥

तत्र ते पुरुषव्याघ्रा विविशुः सपरिच्छदाः ।
पुरोचनस्य वचनात्कैलासमिव गुह्यकाः ॥ १२ ॥

गुह्यक लोग जिस प्रकार कैलासकी चोटी पर चढते हैं, वैसेही पुरुषव्याघ्र पाण्डव–लोग पोषाकसे सुशोभित होकर पुरोचनके वचन सुनकर उस गृहमें प्रविष्ट हुए ॥ १२ ॥

तत्त्वगारमभिप्रेक्ष्य सर्वधर्मविशारदः ।
उवाचाग्नेयमित्येवं भीमसेनं युधिष्ठिरः ।
जिघ्रन्सोम्य वसागन्धं सर्पिर्जतुविमिश्रितम् ॥ १३ ॥
कृतं हि व्यक्तमाग्नेयमिदं वेश्म परंतप ।
शणसर्जरसं व्यक्तमानीतं गृहकर्मणि ।
मुञ्जबल्वजवंशादि द्रव्यं सर्वं घृतोक्षितम् ॥ १४ ॥

परम धार्मिक युधिष्ठिर गृहको भली प्रकार देखकर भीमसेनसे बोले, कि यही गृह आग लगनेवाली वस्तुओंसे बना हुआ है। हे शत्रुनाशि ! घृत और लाहसे मिली हुई चर्बीकी गन्धको सूंघनेसे स्पष्ट व्यक्त होता है, कि यह गृह आग लगनेवाली वस्तुओंसे बना हुआ है। सन, धूप, सरकण्डा, तृण और बांस आदिको बटोर करके घृतमें डुबा कर उनसे वह घर बनाया गया है ॥ १३–१४ ॥

शिल्पिभिः सुकृतं ह्याप्तैर्विनीतैर्वेश्मकर्मणि ।
विश्वस्तं मामयं पापो दग्धुकामः पुरोचनः ॥ १५ ॥

घर बनानेके काममें निपुण और विनीत शिल्पियों द्वारा बनाये इस घरमें यह पापी पुरोचन हमें विश्वस्त देखकर हमको जलाना चाहता है ॥ १५ ॥

इमां तु तां महाबुद्धिर्विदुरो दृष्टवांस्तदा ।
आपदं तेन मां पार्थ स संबोधितवान्पुरा ॥ १६ ॥

हे पार्थ ! इस आनेवाली आपत्तिको महाबुद्धिमान् विदुरने पहलेसे ही देख लिया था, इसलिये उन्होंने पहिले ही मुझको सावधान कर दिया था ॥ १६ ॥

ते वयं बोधितास्तेन बुद्धवन्तोऽशिवं गृहम् ।
आचार्यैः सुकृतं गूढैर्दुर्योधनवशानुगैः ॥ १७ ॥

उन विदुरके द्वारा बता दिए जानेके कारण ही वे हम सब दुर्योधनके वशमें रहनेवाले आचार्योंके द्वारा गुप्त रीतिसे बनाये गए इस अशुभ गृहको जान सके ॥ १७ ॥

भीम उवाच

यदिदं गृहमाग्नेयं विहितं मन्यते भवान्।
तत्रैव साधु गच्छामो यत्र पूर्वोषिता वयम् ॥ १८ ॥

भीम बोले– जब कि आपने जान लिया है, कि यह गृह आग लगनेवाली वस्तुओंसे बना हुआ है, तब हम पहिले जहां बसे थे, वहीं जायें तो हमारा मङ्गल हो सकता है ॥१८॥

युधिष्ठिर उवाच

इह यत्तैर्निराकारैर्वस्तव्यमिति रोचये।
नष्टैरिव विचिन्वद्भिर्गतिमिष्टां ध्रुवामितः ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर बोले– हम यत्नसे सावधानीसे यहीं रहकर बाहरसे दीखनेमें कोई चेष्टा न करके बाहर निकलनेका पथ ढूढेंगे ॥ १९ ॥

यदि विन्देत चाकारमस्माकं हि पुरोचनः।
शीघ्रकारी ततो भूत्वा प्रसह्यापि दहेत नः ॥ २० ॥

पुरोचन हमारे आकार वा किसी भावको जान जायेगा, तो वह उसी क्षण शीघ्रतापूर्वक एकाएक हमको जला मारेगा ॥ २० ॥

नायं बिभेत्युपक्रोशादधर्माद्वा पुरोचनः।
तथा हि वर्तते मन्दः सुयोधनमते स्थितः ॥ २१ ॥

क्योंकि यह पुरोचन लोकनिन्दा वा अधर्मसे डरनेवाला नहीं है, दुष्ट बुद्धिवाला यह पुरोचन दुर्योधनकी आज्ञासे ऐसा अनिष्ट करनेको प्रवृत्त हुआ है ॥ २१ ॥

अपि चेह प्रदग्धेषु भीष्मोऽस्मासु पितामहः।
कोपं कुर्यात्किमर्थं वा कौरवान्कोपयेत सः।
धर्म इत्येव कुप्येत तथान्ये कुरुपुङ्गवाः ॥ २२ ॥

फिर हमारे यहां जल जाने पर पितामह भीष्म क्यों क्रोध करेंगे? वह क्रोधित होकर कौरवोंको क्रुद्ध क्यों करना चाहेंगे, हां ऐसा हो सकता है, कि जितने दूसरे कौरवोंमें श्रेष्ठ हैं, वे और हमारे पितामह भीष्म धर्मके नाम पर क्रोध प्रगट कर सकते हैं अर्थात् केवल लोगोंको दिखानेके लिए क्रोध प्रकट कर सकते हैं सच्चे हृदयसे नहीं ॥ २२ ॥

वयं तु यदि दाहस्य बिभ्यतः प्रद्रवेम हि।
स्पशैर्नो घातयेत्सर्वान्राज्यलुब्धः सुयोधनः ॥ २३ ॥

यदि हम जलनेके भयसे डरकर भाग जावें, तो वह राज्यलोभी सुयोधन दूतोंके द्वारा हम सबोंको मरवा सकता है ॥ २३ ॥

अपदस्थान्पदे तिष्ठन्नपक्षान्पक्षसंस्थितः ।
हीनकोशान्महाकोशः प्रयोगैर्घातयेद्ध्रुवम्　　　॥ २४ ॥

क्योंकि वह दुरात्मा राजपदपर स्थित हुआ, सहाययुक्त और बडे ऐश्वर्यका अधिकारी है और हम पदसे च्युत, सहाय रहित और ऐश्वर्य वर्जित हैं; अतः इसमें सन्देह नहीं है, कि वह हमको नाना उपायोंसे नष्ट कर सकता है ॥ २४ ॥

तदस्माभिरिमं पापं तं च पापं सुयोधनम् ।
वञ्चयद्भिर्निवस्तव्यं छन्नवासं क्वचित्क्वचित्　　　॥ २५ ॥

अतएव हमें इस पापात्मा पुरोचन और सुयोधनको ठगते हुए अनेक स्थानोंमें छिपकर वास करना चाहिए ॥ २५ ॥

ते वयं मृगयाशीलाश्चराम वसुधामिमाम् ।
तथा नो विदिता मार्गा भविष्यन्ति पलायताम्　　　॥ २६ ॥

वे हम मृगया करते हुए पृथ्वीपर भ्रमण करेंगे जिससे, कि भागनेके समय हमें सभी पथ ज्ञात रहेंगे ॥ २६ ॥

भौमं च बिलमद्यैव करवाम सुसंवृतम् ।
गूढोच्छ्वासान्न नस्तत्र हुताशः संप्रधक्ष्यति　　　॥ २७ ॥

बडे ही गुप्त भावसे आज ही धरतीके नीचे एक बिल खोदेंगे। गुप्त रूपसे ऐसा करनेसे हमें अग्नि नहीं जला सकेगी ॥ २७ ॥

वसतोऽत्र यथा चास्मान्न बुध्येत पुरोचनः ।
पौरो वापि जनः कश्चित्तथा कार्यमतन्द्रितैः　　　॥ २८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३४ ॥ ४७५९ ॥

अतएव हम सजग होकर ऐसा करेंगे, कि पुरोचन वा कोई दूसरे पुरवासी हमारा अभिप्राय न जान सके ॥ २८ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ चौतीसवां अध्याय समाप्त ॥ १३४ ॥ ४७५९ ॥

: १३५ :

वैशंपायन उवाच

विदुरस्य सुहृत्कश्चित्खनकः कुशलः क्वचित्।
विविक्ते पाण्डवान्राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे महीपाल ! एक मनुष्य, जो विदुरका मित्र और मिट्टी खोदनेमें दक्ष था, आकर एकान्तमें पाण्डवोंसे यह वचन बोला ॥ १ ॥

प्रहितो विदुरेणास्मि खनकः कुशलो भृशम्।
पाण्डवानां प्रियं कार्यमिति किं करवाणि वः ॥ २ ॥

मैं एक कुशल खनिक हूं, भूमि भलीभांतिसे खोद सकता हूं, विदुरने मुझको यह कह कर भेजा है, कि तुम जाकर पाण्डवोंका प्रिय कार्य करो; अतः पूछता हूं, कि आपका कौनसा काम करूं ? ॥ २ ॥

प्रच्छन्नं विदुरेणोक्तः श्रेयस्त्वमिह पाण्डवान्।
प्रतिपादय विश्वासादिति किं करवाणि वः ॥ ३ ॥

गुप्त रूपसे विदुरने मुझसे मेरा विश्वास कर कहा है, कि तुम पाण्डवोंका हित करो, अब आज्ञा कीजिये, कि क्या करना है ॥ ३ ॥

कृष्णपक्षे चतुर्दश्यां रात्रावस्य पुरोचनः।
भवनस्य तव द्वारि प्रदास्यति हुताशनम् ॥ ४ ॥

हे पाण्डव ! पुरोचन आपके इस गृहके द्वारपर कृष्णपक्षकी चतुर्दशीकी रात्रिको आग लगा देगा ॥ ४ ॥

मात्रा सह प्रदग्धव्याः पाण्डवाः पुरुषर्षभाः।
इति व्यवसितं पार्थ धार्तराष्ट्रस्य मे श्रुतम् ॥ ५ ॥

मैंने सुना है कि उस धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधनने निश्चय किया है, कि पुरुषश्रेष्ठ पाण्डवोंको माताके साथ जला मारेंगे ॥ ५ ॥

किंचिच्च विदुरेणोक्तो म्लेच्छवाचासि पाण्डव।
त्वया च तत्तथेत्युक्तमेतद्विश्वासकारणम् ॥ ६ ॥

विदुरने म्लेच्छ भाषामें आपसे कुछ कहा था, उससे आपने भी उनको वैसा ही उत्तर दिया था; यह बात ही मुझपर आपके विश्वास करनेका प्रमाण है ॥ ६ ॥

उवाच तं सत्यधृतिः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
अभिजानामि सौम्य त्वां सुहृदं विदुरस्य वै ॥ ७ ॥

सत्यशील कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर उससे बोले– हे सौम्य ! मैं विदुरके प्रिय मित्र तुम्हें जानता हूँ ॥ ७ ॥

शुचिमाप्तं प्रियं चैव सदा च दृढभक्तिकम् ।
न विद्यते कवेः किंचिदभिज्ञानप्रयोजनम् ॥ ८ ॥

तुम शुद्ध, उत्तम स्वभावके और विश्वासी हो, और उनपर सदा तुम्हारी बडी भक्ति है; वह सब जानते हैं, कोई काम उनका अनजाना नहीं है ॥ ८ ॥

यथा नः स तथा नस्त्वं निर्विशेषा वयं त्वयि ।
भवतः स्म यथा तस्य पालयास्मान्यथा कविः ॥ ९ ॥

जैसे विदुर हमें प्यारे हैं वैसे ही तुम भी हमारे लिए प्रिय हो, इसमें कुछ विशेष नहीं है । अतएव तुम उनको जैसा समझते हो, हमको भी वैसा ही समझकर हमारी रक्षा इस प्रकारसे करो, कि जैसे वह करते हैं ॥ ९ ॥

इदं शरणमाग्नेयं मदर्थमिति मे मतिः ।
पुरोचनेन विहितं धार्तराष्ट्रस्य शासनात् ॥ १० ॥

मैं समझ गया हूं कि दुर्योधनके मतसे पुरोचनने हमारे लिये ही यह अग्निका घर बनवाया है ॥ १० ॥

स पापः कोशवांश्चैव ससहायश्च दुर्मतिः ।
अस्मानपि च दुष्टात्मा नित्यकालं प्रबाधते ॥ ११ ॥

वह दुष्टात्मा, पापी, कुमति दुर्योधन धनयुक्त और सहाय सहित है, अतः सदा हमको नष्ट करनेकी चेष्टा किया करता है ॥ ११ ॥

स भवान्मोक्षयत्वस्मान्यत्नेनास्माद्धुताशनात् ।
अस्मास्विह हि दग्धेषु सकामः स्यात्सुयोधनः ॥ १२ ॥

अब तुम यत्नपूर्वक हमको इस अग्निसे बचाओ । इसमें सन्देह नहीं है, कि यदि हम यहां जल मरेंगे तो सुयोधनकी आशा पूरी हो जाएगी ॥ १२ ॥

समृद्धमायुधागारमिदं तस्य दुरात्मनः ।
वप्रान्ते निष्प्रतीकारमाश्लिष्येदं कृतं महत् ॥ १३ ॥

देखो, यह उस दुरात्माकी बडी भारी अस्त्रशाला है । इस कारण यह बडा गृह ऐसा बना हुआ है, कि दीवारकी जडसे अन्ततक बाहर निकलनेका कोई रास्ता नहीं है ॥ १३ ॥

इदं तदशुभं नूनं तस्य कर्म चिकीर्षितम् ।
प्रागेव विदुरो वेद तेनास्मानन्वबोधयत् ॥ १४ ॥

विदुरने दुर्योधनके इस सङ्कल्पित अनुचित कर्मको पहिलेसे ही निश्चय रूपसे जानकर हमको सावधान किया था ॥ १४ ॥

सेयमापदनुप्राप्ता क्षत्ता यां दृष्टवान्पुरा ।
पुरोचनस्याविदितानस्मांस्त्वं विप्रमोचय ॥ १५ ॥

जिसको विदुरने पहले ही जान लिया था, अब वही विपत्ति आ पडी है; अतएव हमें इस रीतिसे यहांसे छुडाओ कि पुरोचन भी न जान सके ॥ १५ ॥

स तथेति प्रतिश्रुत्य खनको यत्नमास्थितः ।
परिखामुत्किरन्नाम चकार सुमहद्बिलम् ॥ १६ ॥

खनकने वैसी प्रतिज्ञा कर यत्न करना शुरु किया, और खंदक खोदनेके बहानेसे बिल खोदना आरम्भ किया ॥ १६ ॥

चक्रे च वेश्मनस्तस्य मध्ये नातिमहन्मुखम् ।
कपाटयुक्तमज्ञातं समं भूम्या च भारत ॥ १७ ॥

हे भारत ! उस गृहके भीतर औरोंसे अनजाना एक छोटासा बिल खोदकर उसमें ऐसा द्वार लगाया, कि वह भूमिसे समान हो गया ॥ १७ ॥

पुरोचनभयाच्चैव व्यदधात्संवृतं मुखम् ।
स तत्र च गृहद्वारि वसत्यशुभधीः सदा ॥ १८ ॥

पुरोचनके भयसे उस बिलका मुंह ढक दिया । हे भूपाल ! अशुभ बुद्धिवाला पुरोचन उस गृहके द्वारपर सदा रहा करता था ॥ १८ ॥

तत्र ते सायुधाः सर्वे वसन्ति स्म क्षपां नृप ।
दिवा चरन्ति मृगयां पाण्डवेया वनाद्वनम् ॥ १९ ॥

हे राजन् ! पाण्डव गण भी रात्रिको अस्त्र शस्त्र लेकर उस गृहके भीतर रहते और दिनको वनमें घूम घाम कर मृगया करते फिरते थे ॥ १९ ॥

विश्वस्तवदविश्वस्ता वञ्चयन्तः पुरोचनम् ।
अतुष्टास्तुष्टवद्राजन्नूषुः परमदुःखिताः ॥ २० ॥

हे राजन् ! वे पुरोचनको ठगनेके लिये विश्वास न रख करके भी विश्वासीके समान, सदा असन्तुष्ट हो करके भी सन्तुष्टकी भांति और अति दुःखित होकर वहां रहने लगे ॥ २० ॥

न चैनानन्वबुध्यन्त नरा नगरवासिनः ।
अन्यत्र विदुरामात्यात्तस्मात्खनकसत्तमात् ॥ २१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३५ ॥ ४७८० ॥

पर विदुरके मन्त्री उस श्रेष्ठ खनिकके बिना किसी नगरवासी जनने उनका अभिप्राय नहीं जाना ॥ २१ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ पैंतीसवां अध्याय समाप्त ॥ १३५ ॥ ॥ ४७८० ॥

: १३६ :

वैशम्पायन उवाच

तांस्तु दृष्ट्वा सुमनसः परिसंवत्सरोषितान् ।
विश्वस्तानिव संलक्ष्य हर्षं चक्रे पुरोचनः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– इसके बाद उनके उसप्रकार वर्षभर वहां रहनेपर पुरोचन उनको विश्वास रखनेवालोंके समान निःशङ्क हुआ हुआ जानकर मन ही मनमें बडा खुश हुआ ॥ १ ॥

पुरोचने तथा हृष्टे कौन्तेयोऽथ युधिष्ठिरः ।
भीमसेनार्जुनौ चैव यमौ चोवाच धर्मवित् ॥ २ ॥
अस्मानयं सुविश्वस्तान्वेत्ति पापः पुरोचनः ।
वञ्चितोऽयं नृशंसात्मा कालं मन्ये पलायने ॥ ३ ॥

कुन्तीपुत्र धर्मराज युधिष्ठिर उसको प्रसन्न देखकर भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेवसे बोले, कि इस पापात्मा पुरोचनने समझ लिया है, कि हम पूरे विश्वस्त हो गये हैं, अतः इस कुटिलको हमने ठग लिया है; अब हमारे भागनेका समय आ गया है ॥ २–३ ॥

आयुधागारमादीप्य दग्ध्वा चैव पुरोचनम् ।
षट् प्राणिनो निधायेह द्रवामोऽनभिलक्षिताः ॥ ४ ॥

हम अस्त्रशालामें आग लगा करके पुरोचनको जलाके यहां छः मनुष्योंको छोडकर लोगोंसे छुपकर भाग जायेंगे ॥ ४ ॥

अथ दानापदेशेन कुन्ती ब्राह्मणभोजनम् ।
चक्रे निशि महद्राजन्नाजग्मुस्तत्र योषितः ॥ ५ ॥

वैशम्पायन बोले– महाराज ! इसके बाद कुन्तीने एक दिन दान देनेके बहाने रात्रिको ब्राह्मणोंको भोजन कराया, इस कामके लिये वहांकी बहुत स्त्रियां वहां आईं ॥ ५ ॥

ता विहृत्य यथाकामं भुक्त्वा पीत्वा च भारत ।
जग्मुर्निशि गृहानेव समनुज्ञाप्य माधवीम् ॥ ६ ॥

हे भारत ! स्त्रियां रात्रिको वहां पूरे सुखसे खा पीकर आनन्दपूर्वक कुन्तीकी आज्ञासे अपने अपने घरको पधारीं ॥ ६ ॥

निषादी पञ्चपुत्रा तु तस्मिन्भोज्ये यदृच्छया ।
अन्नार्थिनी समभ्यागात्सपुत्रा कालचोदिता ॥ ७ ॥

कालकी प्रेरणासे एक बहेलिन पांच पुत्रोंके साथ अपनी इच्छासे उस भोजमें खानेकी इच्छासे आई थी ॥ ७ ॥

सा पीत्वा मदिरां मत्ता सपुत्रा मदविह्वला।
सह सर्वैः सुतै राजंस्तस्मिन्नेव निवेशने।
सुष्वाप विगतज्ञाना मृतकल्पा नराधिप ॥ ८ ॥

हे पृथ्वीनाथ! वह बहेलिन अपने बेटोंके साथ मदिरा पीकर उन्मत्त और नशेसे विह्वल होकर ज्ञान रहित होकर मृतके समान होकर उस घरहीमें सो गयी ॥ ८ ॥

अथ प्रवाते तुमुले निशि सुप्ते जने विभो।
तदुपादीपयद्भीमः शेते यत्र पुरोचनः ॥ ९ ॥

हे विभो! अनन्तर रात्रिको बडी हवा वह रही थी और नगरके लोग सोगये थे, कि ऐसे समयमें भीमसेनने उस गृहमें, जहां पुरोचन सोता था, आग लगा दी ॥ ९ ॥

ततः प्रतापः सुमहाञ्शब्दश्चैव विभावसोः।
प्रादुरासीत्तदा तेन बुबुधे स जनव्रजः ॥ १० ॥

तब जलती हुई आगका बहुत तेज और घोर शब्द फैलने लगा, उसके कारण वहांका सारा जनसमूह जाग गया ॥ १० ॥

पौरा ऊचुः

दुर्योधनप्रयुक्तेन पापेनाकृतबुद्धिना।
गृहमात्मविनाशाय कारितं दाहितं च तत् ॥ ११ ॥

नगरवासी बोले– दुर्योधनके द्वारा भेजे हुए कुमति पापात्मा पुरोचनने अपनेको नष्ट करनेके लिये ही यह गृह बनवाया था, अब उसमें आग लगा दी है ॥ ११ ॥

अहो धिग्धृतराष्ट्रस्य बुद्धिर्नातिसमञ्जसी।
यः शुचीन्पाण्डवान्बालान्दाहयामास मन्त्रिणा ॥ १२ ॥

हाय! धृतराष्ट्रकी बुद्धि पूर्ण नहीं है! उनकी उस बुद्धिपर धिक्कार है, जिन्होंने निष्पापी पाण्डुपुत्रोंको मन्त्रीके द्वारा जलवा डाला ॥ १२ ॥

दिष्ट्या त्विदानीं पापात्मा दग्धोऽयमतिदुर्मतिः।
अनागसः सुविश्वस्तान्यो ददाह नरोत्तमान् ॥ १३ ॥

पर जिस पापी पुरोचनने विश्वासयुक्त और निर्दोषी नरोत्तम पाण्डवोंको जलाया, अब वही दुरात्मा स्वयं भी अपने कर्मफलसे ही जल मरा है ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ते विलपन्ति स्म वारणावतका जनाः ।
परिवार्य गृहं तच्च तस्थू रात्रौ समन्ततः ॥ १४ ॥

वैशम्पायन बोले– वारणावतके निवासी इस प्रकार विलाप करते करते हुए उस रात्रिको गृहको चारों ओरसे घेरकर खडे हो गए ॥ १४ ॥

पाण्डवाश्चापि ते राजन्मात्रा सह सुदुःखिताः ।
बिलेन तेन निर्गत्य जग्मुर्गूढमलक्षिताः ॥ १५ ॥

इधर शत्रुनाशी पाण्डवलोग माताके साथ बहुत दुःखी होकर लोगोंसे छिपकर उस बिलसे निकलकर शीघ्र चलने लगे ॥ १५ ॥

तेन निद्रोपरोधेन साध्वसेन च पाण्डवाः ।
न शेकुः सहसा गन्तुं सह मात्रा परंतपाः ॥ १६ ॥

पर वे शत्रुको तपानेवाले पाण्डव सब निद्राके झोकों और भयके कारण माताके साथ एकदम शीघ्र नहीं चल सके ॥ १६ ॥

भीमसेनस्तु राजेन्द्र भीमवेगपराक्रमः ।
जगाम भ्रातॄनादाय सर्वान्मातरमेव च ॥ १७ ॥

हे राजेन्द्र ! तब भयंकर वेग और पराक्रमवाले भीमसेन माता और सम्पूर्ण भाईयोंको लेकर चलने लगे ॥ १७ ॥

स्कन्धमारोप्य जननीं यमावङ्केन वीर्यवान् ।
पार्थौ गृहीत्वा पाणिभ्यां भ्रातरौ सुमहाबलौ ॥ १८ ॥
तरसा पादपान्भञ्जन्महीं पद्भ्यां विदारयन् ।
स जगामाशु तेजस्वी वातरंहा वृकोदरः ॥ १९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३६ ॥ ४७९९ ॥

वीर्यशाली वृकोदर माताको कन्धेपर, नकुल और सहदेवको गोदमें और महाबली युधिष्ठिर तथा अर्जुनके हाथ पकडकर, वेगसे पेडोंको तोडते और पांवोंसे धरतीको फोडते हुए हवाकी गतिसे अतिशीघ्र चले ॥ १८–१९ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ छत्तीसवां अध्याय समाप्त ॥ १३६ ॥ ४७९९ ॥

: १२७ :

वैशम्पायन उवाच

अथ रात्र्यां व्यतीतायामशेषो नागरो जनः ।
तत्राजगाम त्वरितो दिदृक्षुः पाण्डुनन्दनान् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– इसके बाद रात्रि बीत जाने पर संपूर्ण नगरवाले पाण्डवोंको देखनेके लिये शीघ्रतासे वहां आये ॥ १ ॥

निर्वापयन्तो ज्वलनं ते जना ददृशुस्ततः ।
जातुषं तद्गृहं दग्धममात्यं च पुरोचनम् ॥ २ ॥

आग बुझानेके बाद उन मनुष्योंने मंत्री पुरोचनको और जतुगृहको जला हुआ पाया ॥२॥

नूनं दुर्योधनेनेदं विहितं पापकर्मणा ।
पाण्डवानां विनाशाय इत्येवं चुक्रुशुर्जनाः ॥ ३ ॥

यह देखकर रोते हुए चिल्लाकर कहने लगे, कि निश्चयसे जान पडता है, कि पापात्मा दुर्योधनने केवल पाण्डवोंको नष्ट करनेके लिये ही ऐसा किया है ॥ ३ ॥

विदिते धृतराष्ट्रस्य धार्तराष्ट्रो न संशयः ।
दग्धवान्पाण्डुदायादान्न ह्येनं प्रतिषिद्धवान् ॥ ४ ॥

इसमें संदेह नहीं है, कि धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधनने धृतराष्ट्रके जानते बूझते पाण्डुके पुत्रोंको जलाया है और उसपर भी धृतराष्ट्रने उसे मना नहीं किया (इससे ज्ञात होता है कि इस कार्यमें धृतराष्ट्रकी भी संमति थी) ॥ ४ ॥

नूनं शान्तनवो भीष्मो न धर्ममनुवर्तते ।
द्रोणश्च विदुरश्चैव कृपश्चान्ये च कौरवाः ॥ ५ ॥

शान्तनुनन्दन भीष्म, द्रोण, विदुर, कृप और दूसरे कौरव भी इस विषयमें धर्मपर नहीं चल रहे हैं ॥ ५ ॥

ते वयं धृतराष्ट्रस्य प्रेषयामो दुरात्मनः ।
संवृत्तस्ते परः कामः पाण्डवान्दग्धवानसि ॥ ६ ॥

अब हम दुरात्मा धृतराष्ट्रके पास यह सन्देश भेजते हैं, कि तुम्हारी आशा अब पूरी हो गई है, तुमने पाण्डवोंको जला मारा है ॥ ६ ॥

ततो व्यपोहमानास्ते पाण्डवार्थे हुताशनम् ।
निषादीं ददृशुर्दग्धां पञ्चपुत्रामनागसम् ॥ ७ ॥

तब उन्होंने पाण्डवोंको ढूंढनेके लिये अग्निको उठा कर बुझाते हुए, पांचों पुत्रोंके सहित जलीभुनी निरपराधी बहेलिनको देखा ॥ ७ ॥

खनकेन तु तेनैव वेश्म शोधयता बिलम् ।
पांसुभिः प्रत्यपिहितं पुरुषैस्तैरलक्षितम् ॥ ८ ॥

उस समय विदुरके भेजे हुए उस पूर्वोक्त खानिकने उस गृहके साफ करनेके वहाने दूसरोंके अनजानेमें उस बिलका द्वार धूलसे ढक दिया ॥ ८ ॥

ततस्ते प्रेषयामासुर्धृतराष्ट्रस्य नागराः ।
पाण्डवानग्निना दग्धानमात्यं च पुरोचनम् ॥ ९ ॥

इसके बाद नगरवालोंने धृतराष्ट्रके पास जले हुए पाण्डवगण और मंत्री पुरोचनके सन्देशको भेज दिया ॥ ९ ॥

श्रुत्वा तु धृतराष्ट्रस्तद्राजा सुमहदप्रियम् ।
विनाशं पाण्डुपुत्राणां विललाप सुदुःखितः ॥ १० ॥

तब राजा धृतराष्ट्र पाण्डवोंके विनाश रूपी उस अति अप्रिय समाचारको सुनकर दुःखी-चित्तसे विलाप करते हुए कहने लगे ॥ १० ॥

अद्य पाण्डुर्मृतो राजा भ्राता मम सुदुर्लभः ।
तेषु वीरेषु दग्धेषु मात्रा सह विशेषतः ॥ ११ ॥

हाय ! आज उन सब वीरोंके माता समेत जल जानेसे मेरे बडे भाई तथा कठिनाईसे प्राप्त होनेवाले पाण्डु आज सचमुच मर गए ॥ ११ ॥

गच्छन्तु पुरुषाः शीघ्रं नगरं वारणावतम् ।
सत्कारयन्तु तान्वीरान्कुन्तिराजसुतां च ताम् ॥ १२ ॥

कौरवलोग वारणावतमें शीघ्र ही जावें और वीरों और कुंतीराजपुत्रीका अग्निसंस्कार करें ॥ १२ ॥

कारयन्तु च कुल्यानि शुभानि च महान्ति च ।
ये च तत्र मृतास्तेषां सुहृदोऽर्चन्तु तानपि ॥ १३ ॥

मेरे कुलकी प्रथाके अनुसार जितने शुभ तथा बडे बडे कर्म हैं, उनको भी भलीप्रकार करें और भी जो जो लोग वहां पर मर गए हैं, उनके बांधव भी उनकी पूजा करें ॥ १३ ॥

एवं गते मया शक्यं यद्यत्कारयितुं हितम् ।
पाण्डवानां च कुन्त्याश्च तत्सर्वं क्रियतां धनैः ॥ १४ ॥

इस दशामें पांण्डवों और कुन्तीके लिये जितने भी हितके कार्य मेरे द्वारा किए जाने योग्य हैं, वे सब धनके सहारे कर डालें जाएं ॥ १४ ॥

×

एवमुक्त्वा ततश्चक्रे ज्ञातिभिः परिवारितः ।
उदकं पाण्डुपुत्राणां धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ॥ १५ ॥

अम्बिकाके पुत्र धृतराष्ट्रने ऐसा कहकर ज्ञातियोंसे घिरकर पाण्डवोंकी जलक्रिया की ॥ १५ ॥

चुक्रुशुः कौरवः सर्वे भृशं शोकपरायणाः ।
विदुरस्त्वल्पशश्चक्रे शोकं वेद परं हि सः ॥ १६ ॥

सब कौरव एकत्र मिलकर बहुत शोकसे युक्त होकर चिल्ला चिल्लाकर रोने लगे। विदुरने भी थोडासा शोक दिखाया क्योंकि वह सच्चे समाचारको जानते थे ॥ १६ ॥

पाण्डवाश्चापि निर्गत्य नगराद्वारणावतात् ।
जवेन प्रययू राजन्दक्षिणां दिशमाश्रिताः ॥ १७ ॥

इधर महाबली पाण्डवगण वारणावत नगरसे निकल करके दक्षिण दिशाकी तरफ शीघ्रतासे चलने लगे ॥ १७ ॥

विज्ञाय निशि पन्थानं नक्षत्रैर्दक्षिणामुखाः ।
यतमाना वनं राजन्गहनं प्रतिपेदिरे ॥ १८ ॥

हे राजन् ! दक्षिण दिशामें जाते हुए वे नक्षत्रोंके सहारे मार्गका पता लगाते हुए बडे प्रयत्नोंके बाद अन्तमें एक गहन वनमें गए ॥ १८ ॥

ततः श्रान्ताः पिपासार्ता निद्रान्धाः पाण्डुनन्दनाः ।
पुनरूचुर्महावीर्यं भीमसेनमिदं वचः ॥ १९ ॥

इतः कष्टतरं किं नु यद्वयं गहने वने ।
दिशश्च न प्रजानीमो गन्तुं चैव न शक्नुमः ॥ २० ॥

तब नींदसे अन्धे हुए हुए, थके और प्याससे व्याकुल पाण्डवोंने महाबली भीमसेनसे यह वचन कहा, कि देखो, इससे अधिक और क्या कष्ट हो सकता है, कि हम इस सघन वनमें आ पडे हैं, अब न तो दिशाका पता है और नाही हम और ज्यादा चल सकते हैं ॥ १९–२० ॥

तं च पापं न जानीमो यदि दग्धः पुरोचनः ।
कथं नु विप्रमुच्येम भयादस्मादलक्षिताः ॥ २१ ॥

हम यह भी नहीं जानते कि वह पापात्मा पुरोचन जला या नहीं; वह जल भी गया हो, तो हम औरोंके अनजाने इस गहरी विपत्तिसे कैसे पार होंगे ? ॥ २१ ॥

पुनरस्मानुपादाय तथैव व्रज भारत ।
त्वं हि नो बलवानेको यथा सततगस्तथा ॥ २२ ॥

हे भारत ! अकेले तुम्हीं हम सबसे अधिक बलवान् और पवनके समान वेगवान् हो, अतः फिर हम सबको लेकर पहलेके समान चलो ॥ २२ ॥

इत्युक्तो धर्मराजेन भीमसेनो महाबलः ।
आदाय कुन्तीं भ्रातॄंश्च जगामाशु महाबलः ॥ २३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३७ ॥ ४८२२ ॥

धर्मराजके ऐसा कहनेपर महाबली भीमसेन कुंती और भाइयोंको लेकर शीघ्र चलने लगे ॥ २३ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ सैंतीसवां अध्याय समाप्त ॥ १३७ ॥ ४८२२ ॥

: १३८ :

वैशम्पायन उवाच

तेन विक्रमता तूर्णमूरुवेगसमीरितम् ।
प्रववावनिलो राजञ्शुचिशुक्रागमे यथा ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— महाबली भीमसेनके चलते समय जिस प्रकार जेष्ठ और आषाढ महीनोंमें प्रबल हवा बहती रहती है, वैसे ही उन महाबलीकी जांघकी चोटसे पवन सनसनाने लगा ॥ १ ॥

स मृद्नन्पुष्पितांश्चैव फलितांश्च वनस्पतीन् ।
आरुजन्दारुगुल्मांश्च पथस्तस्य समीपजान् ॥ २ ॥

वह उस रास्तेके निकटके फूल और फलवाले बनस्पति और लताओंको खूंदते हुए चलने लगे ॥ २ ॥

तथा वृक्षान्भञ्जमानो जगामामितविक्रमः ।
तस्य वेगेन पाण्डूनां मूर्च्छेव समजायत ॥ ३ ॥

वह अत्यन्त बलशाली भीम बडे बडे पेडोंको तोडते हुए चलने लगे। उस भीमसेनकी गतिके वेगसे युधिष्ठिर आदि अचेतनकी भांति हो गये ॥ ३ ॥

असकृच्चापि संतीर्य दूरपारं भुजप्लवैः ।
पथि प्रच्छन्नमासेदुर्धार्तराष्ट्रभयात्तदा ॥ ४ ॥

वह सब अपनी दोनों भुजरूपी पतवारोंसे रास्तेमें गंगाकी बहती धारको बार बार पार कर दुर्योधनके भयसे छिपकर गये ॥ ४ ॥

कृच्छ्रेण मातरं त्वेकां सुकुमारीं यशस्विनीम् ।
अवहत्तत्र पृष्ठेन रोधःसु विषमेषु च ॥ ५ ॥

नदीतटके ऊंचे नीचे स्थानमें यशस्विनी कोमलाङ्गी माताको पीठपर बैठाकर अति कष्टसे चले ॥ ५ ॥

आगमंस्ते वनोद्देशमल्पमूलफलोदकम् ।
क्रूरपक्षिमृगं घोरं सायाह्ने भरतर्षभाः ॥ ६ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! अनन्तर ऐसे निर्जन वनमें जहां फलफूल जल मिलते नहीं हैं और हिंसक प्राणी हैं, संध्याके समय आ पहुंचे ॥ ६ ॥

घोरा समभवत्सन्ध्या दारुणा मृगपक्षिणः ।
अप्रकाशा दिशः सर्वा वातैरासन्ननार्तवैः ॥ ७ ॥

वहां गहन अंधेरेसे भरी सन्ध्या आयी । भयावने पशुपक्षियोंके शब्द सुनाई देने लगे और दिशायें प्रकाशरहित हो गईं और बडी प्रचण्ड अकालिक हवा बहने लगी ॥ ७ ॥

ते श्रमेण च कौरव्यास्तृष्णया च प्रपीडिताः ।
नाशक्नुवंस्तदा गन्तुं निद्रया च प्रवृद्धया ॥ ८ ॥

तब कुरुवंशमें उत्पन्न वे पाण्डव नींदसे व्याकुल थके और प्याससे पीडित होकर आगे चल नहीं सके ॥ ८ ॥

ततो भीमो वनं घोरं प्रविश्य विजनं महत् ।
न्यग्रोधं विपुलच्छायं रमणीयमुपाद्रवत् ॥ ९ ॥

उसके बाद भीम एक निर्जन और घोर महावनमें प्रवेशकर दूरतक छांह देनेवाले एक सुन्दर बरगदके वृक्षके पास पहुंचे ॥ ९ ॥

तत्र निक्षिप्य तान्सर्वानुवाच भरतर्षभः ।
पानीयं मृगयामीह विश्रमध्वमिति प्रभो ॥ १० ॥

हे प्रभो ! भरतश्रेष्ठ भीमसेन उन सबको वहां उतारकर बोले, कि आप यहां विश्राम करें मैं जल ढूंढ लाता हूं ॥ १० ॥

एते रुवन्ति मधुरं सारसा जलचारिणः ।
ध्रुवमत्र जलस्थायो महानिति मतिर्मम ॥ ११ ॥

यहां जलमें रहनेवाले सारस पक्षियोंका मीठा शब्द सुनाई पडता है, मुझको जान पडता है, कि यहां निश्चयसे बडा जलाशय होगा ॥ ११ ॥

अनुज्ञातः स गच्छेति भ्रात्रा ज्येष्ठेन भारत ।
जगाम तत्र यत्र स्म रुवन्ति जलचारिणः ॥ १२ ॥

तब " जाओ " इस प्रकार युधिष्ठिरके कहनेपर वह बडे भाईकी आज्ञासे उस स्थानपर गए कि जहां जलचारी शब्द कर रहे थे ॥ १२ ॥

स तत्र पीत्वा पानीयं स्नात्वा च भरतर्षभ ।
उत्तरीयेण पानीयमाजहार तदा नृप ॥ १३ ॥

हे भरतश्रेष्ठ राजन् ! उन्होंने वहां जाकर नहा करके जल पीया और दुपट्टेमें जल लेकर लौट चले ॥ १३ ॥

गव्यूतिमात्रादागत्य त्वरितो मातरं प्रति ।
स सुप्तां मातरं दृष्ट्वा भ्रातॄंश्च वसुधातले ।
भृशं दुःखपरीतात्मा विललाप वृकोदरः ॥ १४ ॥

तब वेगसे उन दो कोसोंकी दूरीसे लौटकर वृकोदर भीम माता और भाईयोंको धरती पर पडे और सोये देखकर बहुत दुःखी होकर विलाप करने लगे ॥ १४ ॥

शयनेषु परार्ध्येषु ये पुरा वारणावते ।
नाधिजग्मुस्तदा निद्रां तेऽद्य सुप्ता महीतले ॥ १५ ॥

पहिले वारणावत नगरमें बडे बडे मूल्यवान् बिस्तरोंपर भी जिनको नींद नहीं आती थी, आज वे ही भूमि पर सो रहे हैं ॥ १५ ॥

स्वसारं वसुदेवस्य शत्रुसङ्घावमर्दिनः ।
कुन्तिभोजसुतां कुन्तीं सर्वलक्षणपूजिताम् ॥ १६ ॥
स्नुषां विचित्रवीर्यस्य भार्यां पाण्डोर्महात्मनः ।
प्रासादशयनां नित्यं पुण्डरीकान्तरप्रभाम् ॥ १७ ॥
सुकुमारतरां स्त्रीणां महार्हशयनोचिताम् ।
शयानां पश्यताद्येह पृथिव्यामतथोचिताम् ॥ १८ ॥

शत्रुदलको नष्ट करनेवाले वसुदेवकी बहिन, राजा कुन्तिभोजकी बेटी, सब लक्षणोंसे युक्त विचित्रवीर्यकी पुत्रवधू, महात्मा राजा पाण्डुकी स्त्री और हमेशा महलोंमें सोनेवाली, पद्म-गर्भके सदृश रूपवती, स्त्रियोंमें अत्यन्त कोमलाङ्गी और बडे बडे मूल्यवान् बिस्तरोंपर सोनेवाली, पृथ्वी पर सोनेके लिए अयोग्य कुन्तीको आज मिट्टी पर सोती हुई देखो ॥ १६–१८ ॥

धर्मादिन्द्राच्च वायोश्च सुषुवे या सुतानिमान्।
सेयं भूमौ परिश्रान्ता शेते ह्यद्यातथोचिता ॥ १९ ॥

जिन्होंने धर्म, इन्द्र और पवन देवोंसे यह सब सन्तानें उत्पन्न की हैं, वह भूमि पर सोनेके लिए अयोग्य कुन्ती आज थकावटके मारे धरती पर ही सोयी हुई है ॥ १९ ॥

किं नु दुःखतरं शक्यं मया द्रष्टुमतः परम्।
योऽहमद्य नरव्याघ्रान्सुप्तान्पश्यामि भूतले ॥ २० ॥

आज इन नरव्याघ्र पाण्डवोंको भूमिपर सोते हुए देख रहा हूँ। इससे बढकर और कौनसा दुःख मैं देख सकूंगा ? ॥ २० ॥

त्रिषु लोकेषु यद्राज्यं धर्मविद्योऽर्हते नृपः।
सोऽयं भूमौ परिश्रान्तः शेते प्राकृतवत्कथम् ॥ २१ ॥

धार्मिकवर राजा युधिष्ठिर, जो तीनों लोकोंके अकेले अधिकारी होनेके योग्य हैं, आज सामान्य जनकी भांति थकावटके मारे पृथ्वी पर कैसे सो रहे हैं ? ॥ २१ ॥

अयं नीलाम्बुदश्यामो नरेष्वप्रतिमो भुवि।
शेते प्राकृतवद्भूमावतो दुःखतरं नु किम् ॥ २२ ॥

इससे और क्या अधिक दुःख होना है कि, नीले बादलके समान काले श्रीमान् अर्जुन, जिनकी बराबरी करनेवाला इस मर्त्यलोकमें नहीं है, आज साधारण मनुष्यकी भांति पृथ्वी पर पडे सो रहे हैं ॥ २२ ॥

अश्विनाविव देवानां याविमौ रूपसंपदा।
तौ प्राकृतवदद्येमौ प्रसुप्तौ धरणीतले ॥ २३ ॥

और यह दो जुंडवे भाई, जो रूपसम्पद्में देवोंमें अश्विनीकुमारोंके सदृश द्युतिमान् हैं, वे साधारण लोगोंकी भांति धरतीपर सो रहे हैं ॥ २३ ॥

ज्ञातयो यस्य नैव स्युर्विषमाः कुलपांसनाः।
स जीवेत्सुसुखं लोके ग्रामे द्रुम इवैकजः ॥ २४ ॥

कुलको कलंकित करनेवाले और दुश्मनी करनेवाले भाई जिसके नहीं होते, वह अकेला जन्मा हुआ पुरुष, गांव भरमें अकेले वृक्षके समान, सुखसे रहता है ॥ २४ ॥

एको वृक्षो हि यो ग्रामे भवेत्पर्णफलान्वितः।
चैत्यो भवति निर्ज्ञातिरर्चनीयः सुपूजितः ॥ २५ ॥

गांवमें उत्पन्न एक ही वृक्ष जब फूलों और फलोंसे भर जाता है और उस जातीका कोई दूसरा वृक्ष उस गांवमें नहीं होता, तब वही वृक्ष चैत्य अर्थात् पूज्य वृक्षके रूपमें पूज्य और मान्य होता है ॥ २५ ॥

येषां च बहवः शूरा ज्ञातयो धर्मसंश्रिताः ।
ते जीवन्ति सुखं लोके भवन्ति च निरामयाः ॥ २६ ॥

अथवा इस भूलोकमें जिनके अनेक भाइयोंके होनेपर भी भाई यदि शूर और धर्मके अनुसार चलनेवाले होते हैं, तो वे भी विना क्लेशके सुखसे रहते हैं ॥ २६ ॥

बलवन्तः समृद्धार्था मित्रबान्धवनन्दनाः ।
जीवन्त्यन्योन्यमाश्रित्य द्रुमाः काननजा इव ॥ २७ ॥

बलवान् ऐश्वर्ययुक्त और मित्र बान्धवोंको आनन्द देते हुए वे वनमें उपजे हुए वृक्षोंकी भांति एक दूसरेके सहारे परम सुखसे काल व्यतीत करते हैं ॥ २७ ॥

वयं तु धृतराष्ट्रेण सपुत्रेण दुरात्मना ।
विवासिता न दग्धाश्च कथंचित्तस्य शासनात् ॥ २८ ॥

पर कुबुद्धि धृतराष्ट्रने अपने पुत्र दुर्योधनकी बात मानकर हमको देशसे निकाल दिया है; किन्तु हम किसी तरह जलनेसे बच गए ॥ २८ ॥

तस्मान्मुक्ता वयं दाहादिमं वृक्षमुपाश्रिताः ।
कां दिशं प्रतिपत्स्यामः प्राप्ताः क्लेशमनुत्तमम् ॥ २९ ॥

उस आगसे बचकर कठोर क्लेश भोगते हुए इस वृक्षके आसरेमें आये हैं, अब फिर किधर जायेंगे, यह हम नहीं जानते ॥ २९ ॥

नातिदूरे च नगरं वनादस्माद्धि लक्षये ।
जागर्तव्ये स्वपन्तीमे हन्त जागर्म्यहं स्वयम् ॥ ३० ॥

मुझको जान पडता है, कि नगर इस वनसे बहुत दूर नहीं है अतः इनको जागना चाहिये पर ये सो गये हैं, अतः मैं ही जागूंगा ॥ ३० ॥

पास्यन्तीमे जलं पश्चात्प्रतिबुद्धा जितक्लमाः ।
इति भीमो व्यवस्यैव जजागार स्वयं तदा ॥ ३१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अष्टत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३८ ॥ समाप्तं जतुगृहदाहपर्व ॥ ४८५३ ॥

थकावट दूर होनेपर जब यह जागेंगे, तब जल पीयेंगे ! तब ऐसा निश्चय कर भीमसेन स्वयं जागने लगे ॥ ३१ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ अडतीसवां अध्याय समाप्त ॥ १३८ ॥ ४८५३ ॥

: १३९ :

वैशम्पायन उवाच

तत्र तेषु शयानेषु हिडिम्बो नाम राक्षसः।
अविदूरे वनात्तस्माच्छालवृक्षमुपाश्रितः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– वे जहां सोये हुए थे, वहांसे थोडी दूर पर एक सालके वृक्षपर आश्रय लिए हुए हिडिम्ब नामक एक राक्षस रहता था ॥ १ ॥

क्रूरो मानुषमांसादो महावीर्यो महाबलः।
विरूपरूपः पिङ्गाक्षः करालो घोरदर्शनः।
पिशितेप्सुः क्षुधार्तस्तानपश्यत यदृच्छया ॥ २ ॥

बडे क्रूर, नरमांसको खानेवाले, बडे वीर्यवान्, अति बलशाली, भयंकर रूपवाले, पिंगल आंखोंवाले मांसखोर, भूखे, करालरूप तथा भयंकर रूपवाले उस राक्षसकी दृष्टि एकाएक सोते हुए पाण्डवोंपर जापडी ॥ २ ॥

ऊर्ध्वाङ्गुलिः स कण्डूयन्धुन्वन्रूक्षाञ्शिरोरुहान्।
जृम्भमाणो महावक्त्रः पुनः पुनरवेक्ष्य च ॥ ३ ॥
दुष्टो मानुषमांसादो महाकायो महाबलः।
आघ्राय मानुषं गन्धं भगिनीमिदमब्रवीत् ॥ ४ ॥

उंगली उठाकर सिर खुजलाता, अपने सिरके सूखे बालोंको कंपाता हुआ, लम्बा चौडा मुंह खोलकर जम्हाई लेता हुआ, बार बार उनको देखता हुआ, बडा भारी, अति बलवान्, मनुष्यका मांस खानेवाला, मनुष्योंकी गंध सूंघकर नरमांस खानेकी आशासे प्रसन्न होकर अपनी बहिनसे यह बोला ॥ ३–४ ॥

उपपन्नश्चिरस्याद्य भक्ष्यो मम मनःप्रियः।
स्नेहस्रवान्प्रस्रवति जिह्वा पर्येति मे मुखम् ॥ ५ ॥

कि बहुत दिनके बाद आज मेरे मनको प्रिय लगनेवाला भोजन आ पहुंचा है; मांस खानेका सुख प्राप्त होनेपर लार गिर रही है और मेरी जीभ मुंहमें चारों ओर घूम रही है ॥ ५ ॥

अष्टौ दंष्ट्राः सुतीक्ष्णाग्राश्चिरस्यापातदुःसहाः।
देहेषु मज्जयिष्यामि स्निग्धेषु पिशितेषु च ॥ ६ ॥

मेरे आठों दांतोंका अगला भाग बडा तेज है; यह बडे दांत जिस पर जा लगते हैं, इनकी चोट उससे सही नहीं जाती; उन दांतोंको आज बहुत दिनके बाद कोमल मांसवाली देहमें घुसाऊंगा ॥ ६ ॥

आक्रम्य मानुषं कण्ठमाच्छिद्य धमनीमपि ।
उष्णं नवं प्रपास्यामि फेनिलं रुधिरं बहु ॥ ७ ॥

आज मैं मनुष्यका गला पकडकर नसें निकालकर गर्म गर्म, ताजा तथा फेनसे भरा हुआ बहुतसा रक्त पीऊंगा ॥ ७ ॥

गच्छ जानीहि के त्वेते शेरते वनमाश्रिताः ।
मानुषो बलवान्गन्धो घ्राणं तर्पयतीव मे ॥ ८ ॥

तुम वहां जाओ और जानो, कि वे कौन हैं और इस वनमें क्यों सो रहे हैं ? मुझको निश्चयसे जान पडता है, कि वे मनुष्य होंगे; क्योंकि मनुष्यकी तेज गन्ध मेरी नाकको सुख पहुंचा रही है ॥ ८ ॥

हत्वैतान्मानुषान्सर्वानानयस्व ममान्तिकम् ।
अस्मद्विषयसुप्तेभ्यो नैतेभ्यो भयमस्ति ते ॥ ९ ॥

तुम उन सब मनुष्योंको मार कर मेरे पास लेती आओ । वे मेरे राज्यमें सो रहे हैं, अतः उनसे तुम कुछ भय मत करो ॥ ९ ॥

एषां मांसानि संस्कृत्य मानुषाणां यथेष्टतः ।
भक्षयिष्याव सहितौ कुरु तूर्णं वचो मम ॥ १० ॥

हम दोनों एकत्र होकर उन मनुष्योंके मांसको भून कर कर मनमाना खावेंगे, तुम तुरन्त मेरी बात मानकर काम करो ॥ १० ॥

भ्रातुर्वचनमाज्ञाय त्वरमाणेव राक्षसी ।
जगाम तत्र यत्र स्म पाण्डवा भरतर्षभ ॥ ११ ॥

तब राक्षसी अपने भाईकी आज्ञा मानकर जहां पाण्डवलोग सो रहे थे, वहां शीघ्रतासे जा पहुंची ॥ ११ ॥

ददर्श तत्र गत्वा सा पाण्डवान्पृथया सह ।
शयानान्भीमसेनं च जाग्रतं त्वपराजितम् ॥ १२ ॥

वहां पहुंचकर पाण्डवलोगोंको पृथाके साथ सोते हुए और अपराजित भीमसेनको जागते हुए देखा ॥ १२ ॥

दृष्ट्वैव भीमसेनं सा शालस्कन्धमिवोद्गतम् ।
राक्षसी कामयामास रूपेणाप्रतिमं भुवि ॥ १३ ॥

राक्षसी नये सालवृक्षके समान कंधोंवाले और धरती भरमें अनुपम रूप सौन्दर्यसे युक्त सुन्दर पुरुष भीमसेनको देखते ही कामदेवके वशमें हो गयी और उन्हें चाहने लगी ॥ १३ ॥

अयं श्यामो महाबाहुः सिंहस्कन्धो महाद्युतिः ।
कम्बुग्रीवः पुष्कराक्षो भर्ता युक्तो भवेन्मम ॥ १४ ॥

उसने इच्छा की कि यह श्यामवर्ण, महाभुज सिंहके समान कंधोंवाला, अति द्युतिमान् शंखके समान गर्दनवाला पद्मनेत्र पुरुष मेरा पति हो जाए ॥ १४ ॥

नाहं भ्रातुर्वचो जातु कुर्यां क्रूरोपसंहितम् ।
पतिस्नेहोऽतिबलवान्न तथा भ्रातृसौहृदम् ॥ १५ ॥

मैं भाईकी यह हिंसायुक्त बात कभी नहीं मानूंगी, क्योंकि पतिका स्नेह जितना बलवान् होता है, उतना भाईका स्नेह नहीं होता ॥ १५ ॥

मुहूर्तमिव तृप्तिश्च भवेद्भ्रातुर्ममैव च ।
हतैरेतैरहत्वा तु मोदिष्ये शाश्वतीः समाः ॥ १६ ॥

इनको मारनेसे भाई और मुझको क्षणभर सुख मिलेगा, पर इनको न मारकर मैं इनके साथ अनेकों वर्षोंतक सुख भोग सकूंगी ॥ १६ ॥

सा कामरूपिणी रूपं कृत्वा मानुषमुत्तमम् ।
उपतस्थे महाबाहुं भीमसेनं शनैः शनैः ॥ १७ ॥

ऐसा सोचकर अपनी इच्छाके अनुसार रूप धारण करनेवाली वह राक्षसी सुन्दर मानवीका रूप धरकर महाभुज भीमसेनके पास धीरे धीरे जा पहुंची ॥ १७ ॥

विलज्जमानेव लता दिव्याभरणभूषिता ।
स्मितपूर्वमिदं वाक्यं भीमसेनमथाब्रवीत् ॥ १८ ॥

इसके बाद सुन्दर आभूषणोंसे सजी हुई वह राक्षसी नम्र भावसे लज्जितासी कुछ मुसकराती हुई भीमसेनसे यह वाक्य बोली ॥ १८ ॥

कुतस्त्वमसि संप्राप्तः कश्चासि पुरुषर्षभ ।
क इमे शेरते चेह पुरुषा देवरूपिणः ॥ १९ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! आप कौन हैं, कहांसे आये हैं ! और जो यह देवोंके समान रूपवान् हुए पुरुषगण सोये हुए हैं, वे कौन हैं ! ॥ १९ ॥

केयं च बृहती श्यामा सुकुमारी तवानघ ।
शेते वनमिदं प्राप्य विश्वस्ता स्वगृहे यथा ॥ २० ॥

हे अनघ ! यह जो तप्त सुवर्णके रङ्गकी कोमलांगी रमणी घरमें रहनेकी भांति विश्वास पूर्वक इस वनमें लेटकर सो रही है, यह आपकी कौन लगती है ! ॥ २० ॥

नेदं जानाति गहनं वनं राक्षससेवितम् ।
वसति ह्यत्र पापात्मा हिडिम्बो नाम राक्षसः ॥ २१ ॥

क्या वह नहीं जानती, कि इस घने वनमें राक्षस रहते हैं, यहां हिडिम्ब नामक एक पापात्मा राक्षस बसता है ॥ २१ ॥

तेनाहं प्रेषिता भ्रात्रा दुष्टभावेन रक्षसा ।
बिभक्षयिषता मांसं युष्माकममरोपम ॥ २२ ॥

हे देवके समान मनुष्य ! मांसको खानेकी इच्छा करनेवाले मेरे उस भाईने आपके मांस भोजन करनेके लिये बुरे अभिप्रायसे मुझे भेजा है ॥ २२ ॥

साहं त्वामभिसंप्रेक्ष्य देवगर्भसमप्रभम् ।
नान्यं भर्तारमिच्छामि सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ २३ ॥

पर मैं आपसे सच कहती हूं, कि देवके समान तेजस्वी आपको देखकर मैं आपके सिवाय किसी दूसरेको अपना पति बनाना नहीं चाहती ॥ २३ ॥

एतद्विज्ञाय धर्मज्ञ युक्तं मयि समाचर ।
कामोपहतचित्ताङ्गीं भजमानां भजस्व माम् ॥ २४ ॥

हे धर्मशील ! इसपर ध्यान देकर मुझसे यथोचित व्यवहार करिये, मेरा मन और अंग सब कामके बाणसे घायल हो गए हैं । मैं आपको भज रही हूं, अतः मेरा सेवन कीजिए ॥२४॥

त्रास्येऽहं त्वां महाबाहो राक्षसात्पुरुषादकात् ।
वत्स्यावो गिरिदुर्गेषु भर्ता भव ममानघ ॥ २५ ॥

हे महाभुज ! मैं आपको इस पुरुष-भोजी राक्षससे बचाऊंगी । हे अनघ ! आप मेरे पति होवें । हम दोनों पहाड पर दुर्गमें रहेंगे ॥ २५ ॥

अन्तरिक्षचरा ह्यस्मि कामतो विचरामि च ।
अतुलामाप्नुहि प्रीतिं तत्र तत्र मया सह ॥ २६ ॥

मैं आकाशमें उडनेवाली हूं; इच्छानुसार आकाशादि सब स्थानोंमें चलती फिरती हूं, आप मेरे संग उन सब स्थानोंमें घूमकर अपार आनन्द लूटें ॥ २६ ॥

भीम उवाच

मातरं भ्रातरं ज्येष्ठं कनिष्ठानपरानिमान् ।
परित्यजेत को न्वद्य प्रभवन्निह राक्षसि ॥ २७ ॥

भीमसेन बोले- राक्षसी ! इन्द्रिय निग्रहवाले मुनिके समान कौन मनुष्य माता और बडे तथा छोटे भाईयोंका त्याग कर सकता है ? ॥ २७॥

को हि सुप्तानिमान्भ्रातॄन्दत्त्वा राक्षसभोजनम् ।
मातरं च नरो गच्छेत्कामार्त इव मद्विधः ॥ २८ ॥

और मेरे सदृश कौन मनुष्य कामसे पीडितकी भांति सुखसे सोये हुए इन छोटे भाई और माताको राक्षसके भोजनके लिये छोडकर जा सकता है ? ॥ २८ ॥

राक्षस्युवाच

यत्ते प्रियं तत्करिष्ये सर्वानेतान्प्रबोधय ।
मोक्षयिष्यामि वः कामं राक्षसात्पुरुषादकात् ॥ २९ ॥

राक्षसी बोली– आप जैसा चाहेंगे मैं वही करूंगी; आप इनको जगावें, मैं सहजहीमें तुम सबोंको मनुष्योंको खानेवाले राक्षसके हाथसे मुक्त कर दूंगी ॥ २९ ॥

भीम उवाच

सुखसुप्तान्वने भ्रातॄन्मातरं चैव राक्षसि ।
न भयाद्बोधयिष्यामि भ्रातुस्तव दुरात्मनः ॥ ३० ॥

भीम बोले– हे राक्षसी ! तुम्हारे दुरात्मा भाईके भयसे इस वनमें सुखसे सोये हुए भाइयों और माताको नहीं जगा सकूंगा ॥ ३० ॥

न हि मे राक्षसा भीरु सोढुं शक्ताः पराक्रमम् ।
न मनुष्या न गन्धर्वा न यक्षाश्चारुलोचने ॥ ३१ ॥

हे भीरु तथा उत्तम नेत्रोंवाली राक्षसी ! न मनुष्य, न गंधर्व, न यक्ष और नाही राक्षस मेरा पराक्रम सह सकते हैं ॥ ३१ ॥

गच्छ वा तिष्ठ वा भद्रे यद्वापीच्छसि तत्कुरु ।
तं वा प्रेषय तन्वङ्गि भ्रातरं पुरुषादकम् ॥ ३२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३९ ॥ ४८८५ ॥

हे भद्रे ! तुम चाहे जाओ अथवा रहो अथवा तुम जो चाहती हो करो, किंवा हे पतले अंगोंवाली ! तुम अपने उस पुरुषभोजी भाईको भेजो ॥ ३२ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ उन्तालिसवां अध्याय समाप्त ॥ १३९ ॥ ४८८५ ॥

: १४० :

वैशम्पायन उवाच

तां विदित्वा चिरगतां हिडिम्बो राक्षसेश्वरः ।
अवतीर्य द्रुमात्तस्मादाजगामाथ पाण्डवान् ॥ १ ॥
लोहिताक्षो महाबाहुरूर्ध्वकेशो महाबलः ।
मेघसङ्घातवर्ष्मा च तीक्ष्णदंष्ट्रोज्ज्वलाननः ॥ २ ॥

वैशम्पायन बोले– तब लालनेत्रवाला महाभुज, केश ऊपर चढाया हुआ, महाबली, घने बादलके समान काला और तेज दांतवाला तथा जलते हुए मुखवाला वह राक्षसराज हिडिम्ब अपनी बहिन हिडिम्बाको बडी देर लगाता हुआ देखकर उस वृक्षसे नीचे उतर पाण्डवोंके पास आ गया ॥ १–२ ॥

तमापतन्तं दृष्ट्वैव तथा विकृतदर्शनम् ।
हिडिम्बोवाच वित्रस्ता भीमसेनमिदं वचः ॥ ३ ॥

उस भयंकर रूपवाले राक्षसको आते देखकरके ही भयसे घबराकर हिडिम्बा भीमसेनसे यह वचन बोली ॥ ३ ॥

आपतत्येष दुष्टात्मा संक्रुद्धः पुरुषादकः ।
त्वामहं भ्रातृभिः सार्धं यद्ब्रवीमि तथा कुरु ॥ ४ ॥

वह देखो, दुष्टात्मा पुरुषभक्षी राक्षस क्रोधित होकर आ रहा है; अब मैं जैसा कहती हूं, आप भाइयोंके साथ वैसा ही करें ॥ ४ ॥

अहं कामगमा वीर रक्षोबलसमन्विता ।
आरुहेमां मम श्रोणिं नेष्यामि त्वां विहायसा ॥ ५ ॥

हे वीर ! मैं राक्षसोंके बलसे युक्त होनेके कारण जहां चाहे वहां जा सकती हूं । आप मेरी कमरपर चढ जायें आपको आकाशमें ले जाऊंगी ॥ ५ ॥

प्रबोधयैनान्संसुप्तान्मातरं च परंतप ।
सर्वानेव गमिष्यामि गृहीत्वा वो विहायसा ॥ ६ ॥

हे शत्रुनाशिन् ! आप इन सोती हुई माता और भाइयोंको जगावें, मैं सबोंको लेकर आकाश मार्गमें चली जाऊंगी ॥ ६ ॥

भीम उवाच

मा भैस्त्वं विपुलश्रोणि नैष कश्चिन्मयि स्थिते।
अहमेनं हनिष्यामि प्रेक्षन्त्यास्ते सुमध्यमे ॥ ७ ॥

भीमसेन बोले– विशाल जांघोंवाली! तुम भय मत करो, मेरे सामने यह कुछ नहीं है। हे सुन्दरी! तुम देखलो, तुम्हारे सामने ही तुम्हारे देखते देखते मैं उसको नष्ट कर दूंगा ॥ ७ ॥

नायं प्रतिबलो भीरु राक्षसापसदो मम।
सोढुं युधि परिस्पन्दमथवा सर्वराक्षसाः ॥ ८ ॥

हे भीरु! उस नीच राक्षसकी क्या कहती हो; जितने भी राक्षस हैं, सब भी आ जाएं तो भी युद्धमें मेरा पराक्रम सहन नहीं कर सकते ॥ ८ ॥

पश्य बाहू सुवृत्तौ मे हस्तिहस्तनिभाविमौ।
ऊरू परिघसङ्काशौ संहतं चाप्युरो मम ॥ ९ ॥

हस्तीकी सूंडके समान गोल गोल भुजाओं, यह दो लोहेके मुदूगरके समान दो जांघों और बडी विशाल छातीको देखो ॥ ९ ॥

विक्रमं मे यथेन्द्रस्य साद्य द्रक्ष्यसि शोभने।
मावमंस्थाः पृथुश्रोणि मत्वा मामिह मानुषम् ॥ १० ॥

हे सुन्दरि! तुम आज महेन्द्रकी भांति मेरे विक्रमको देखोगी। हे विशाल जांघोंवाली! तुम मुझको मनुष्य मानकर कुछ कमजोर न समझो ॥ १० ॥

हिडिम्बोवाच

नावमन्ये नरव्याघ्र त्वामहं देवरूपिणम्।
दृष्टापदानस्तु मया मानुषेष्वेव राक्षसः ॥ ११ ॥

हिडिम्बा बोली– हे नरव्याघ्र! देवके समान सुन्दर आपका मैं अनादर नहीं करती, पर मनुष्योंपर राक्षसका जितना प्रभाव है, वह मैं देख चुकी हूं ॥ ११ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा संजल्पतस्तस्य भीमसेनस्य भारत।
वाचः शुश्राव ताः क्रुद्धो राक्षसः पुरुषादकः ॥ १२ ॥

वैशम्पायन बोले– हे भारत! भीमसेन हिडिम्बासे यह बातें कर रहे थे, उसी समय उस मनुष्यभक्षी हिडिम्बने क्रोधपूर्वक आकर वह बातें सुन लीं ॥ १२ ॥

अवेक्षमाणस्तस्याश्च हिडिम्बो मानुषं वपुः ।
स्रग्दामपूरितशिखं समग्रेन्दुनिभाननम् ॥ १३ ॥

और देखा, कि हिडिम्बाने सुन्दर मनुष्यका स्वरूप लिया है। उसके केशोंमें फूलहार लगे हुए हैं, मुंह पूर्ण चन्द्रमाके समान शोभायमान है ॥ १३ ॥

सुभ्रूनासाक्षिकेशान्तं सुकुमारनखत्वचम् ।
सर्वाभरणसंयुक्तं सुसूक्ष्माम्बरवाससम् ॥ १४ ॥

भौंहे, नाक, नेत्र और केश सब सुशोभित हैं, नख और त्वचा कोमल हैं और सुन्दर पतला वस्त्र पहिने हुए है तथा सम्पूर्ण आभूषणोंसे सब शरीर बना ठना है ॥ १४ ॥

तां तथा मानुषं रूपं बिभ्रतीं सुमनोहरम् ।
पुंस्कामां शङ्कमानश्च चुक्रोध पुरुषादकः ॥ १५ ॥

उसको ऐसा सुन्दर मानवी स्वरूप लिये और पुरुषको चाहनेवाली जान करके वह मनुष्य-भक्षी राक्षस बडा क्रोधित हुआ ॥ १५ ॥

संक्रुद्धो राक्षसस्तस्या भगिन्याः कुरुसत्तम ।
उत्फाल्य विपुले नेत्रे ततस्तामिदमब्रवीत् ॥ १६ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! तब वह राक्षस क्रोधके मारे अपनी बडी बडी आंखोंको निकाल कर उस अपनी बहिनसे यह बोला ॥ १६ ॥

को हि मे भोक्तुकामस्य विघ्नं चरति दुर्मतिः ।
न बिभेषि हिडिम्बे किं मत्कोपाद्विप्रमोहिता ॥ १७ ॥

कौन दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य इन मनुष्योंको खानेकी इच्छा करनेवाले मेरे काममें विघ्न डालना चाहता है ? हिडिम्बे ! मोहित हुई हुई तू क्या मेरे क्रोधसे भय नहीं खाती ? ॥ १७ ॥

धिक्त्वामसति पुंस्कामे मम विप्रियकारिणि ।
पूर्वेषां राक्षसेन्द्राणां सर्वेषामयशस्करि ॥ १८ ॥

हे असति और पहलेके सभी राक्षसोंके यशमें धब्बा लगानेवाली हिडिम्बे ! तू पुरुषकी चाहसे मेरे अप्रिय काममें हाथ डालती है ? तुझे धिक्कार है ! ॥ १८ ॥

यानिमानाश्रिताकार्षीरप्रियं सुमहन्मम ।
एष तानद्य वै सर्वान्हनिष्यामि त्वया सह ॥ १९ ॥

तू जिनके भरोसे मेरा बडा अप्रिय करनेपर उद्यत हुई है, आज मैं अभी तेरे सहित उन सबको मारे देता हूं ॥ १९ ॥

एवमुक्त्वा हिडिम्बां स हिडिम्बो लोहितेक्षणः ।
वधायाभिपपातैनां दन्तैर्दन्तानुपस्पृशन् ॥ २० ॥

हिडिम्ब आंखें लालकर हिडिम्बासे इस प्रकार कह करके दांतसे दांत पीसता हुआ पाण्डवोंके वधके लिये दौडा ॥ २० ॥

तमापतन्तं संप्रेक्ष्य भीमः प्रहरतां वरः ।
भर्त्सयामास तेजस्वी तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ २१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४० ॥ ४९०६ ॥

प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ भीमसेन उनको आते देखकर उसे डांटकर " ठहर ठहर " ऐसा बोले ॥ २१ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ चालीसवां अध्याय समाप्त ॥ १४० ॥ ४९०६ ॥

: १४१ :

वैशम्पायन उवाच

भीमसेनस्तु तं दृष्ट्वा राक्षसं प्रहसन्निव ।
भगिनीं प्रति संक्रुद्धमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— भीमसेन उस राक्षसको बहिन पर क्रोधित होते देखकर हंसते हुए यह वचन बोले ॥ १ ॥

किं ते हिडिम्ब एतैर्वा सुखसुप्तैः प्रबोधितैः ।
मामासादय दुर्बुद्धे तरसा त्वं नराशन ॥ २ ॥
मय्येव प्रहरैहि त्वं न स्त्रियं हन्तुमर्हसि ।
विशेषतोऽनपकृते परेणापकृते सति ॥ ३ ॥

हे दुष्ट बुद्धिवाले मनुष्यभक्षी राक्षस ! इन सब सुखसे सोये भाइयोंको जगानेकी क्या आवश्यकता है ? तू तुरन्त मेरे ऊपर आक्रमण कर, स्त्रीको मारना तुझे शोभा नहीं देगा। इसके अलावा एकके दोषसे दूसरेको मारना ठीक नहीं है, अतः आ, तू मुझी पर प्रहार कर ॥ २–३ ॥

न हीयं स्ववशा बाला कामयत्यद्य मामिह ।
चोदितैषा ह्यनङ्गेन शरीरान्तरचारिणा ।
भगिनी तव दुर्बुद्धे राक्षसानां यशोहर ॥ ४ ॥

हे दुर्बुद्धे और राक्षसोंके यशको नष्ट करनेवाले राक्षस ! तेरी बहिन यह बाला आज अपने वशमें रहकर मेरी कामना नहीं कर रही, अपितु शरीरमें संचार करनेवाले कामदेवसे प्रेरित होकर ही यह मुझे चाहती है ॥ ४ ॥

त्वन्नियोगेन चैवेयं रूपं मम समीक्ष्य च ।
कामयत्यद्य मां भीरुर्नैषा दूषयते कुलम् ॥ ५ ॥

यह सुन्दरी तेरी ही आज्ञासे यहां आकर मेरा रूप देखकर ही मुझे चाह रही है, अतः यह भीरु अबला तेरे कुलको दोषी बनानेवाली नहीं है ॥ ५ ॥

अनङ्गेन कृते दोषे नेमां त्वमिह राक्षस ।
मयि तिष्ठति दुष्टात्मन्न स्त्रियं हन्तुमर्हसि ॥ ६ ॥

कामदेवने ही यह दोष किया है, अतः, हे दुष्टात्मन् राक्षस ! मेरे यहां रहते तू इस नारीको मार नहीं सकेगा ॥ ६ ॥

समागच्छ मया सार्धमेकेनैको नराशन ।
अहमेव नयिष्यामि त्वामद्य यमसादनम् ॥ ७ ॥

हे नरभक्षी ! तू अकेला है, अकेले मेरेही साथ तू लड, मैं अकेला ही आज तुझको यमराजके घर पहुंचा दूंगा ॥ ७ ॥

अद्य ते तलनिष्पिष्टं शिरो राक्षस दीर्यताम् ।
कुञ्जरस्येव पादेन विनिष्पिष्टं बलीयसः ॥ ८ ॥

आज तेरा सिर मेरे भुजबलसे पीसा जाकर ऐसा चूर चूर हो जायगा, कि मानो किसी बलवान् हाथीके पांवोंके द्वारा कुचल दिया गया हो ॥ ८ ॥

अद्य गात्राणि क्रव्यादाः श्येना गोमायवश्च ते ।
कर्षन्तु भुवि संहृष्टा निहतस्य मया मृधे ॥ ९ ॥

आज रणभूमिमें मेरे द्वारा मारे जानेसे मांसभक्षी श्येन और गोमायु आनन्दसे नीचे उतरकर तेरे शरीरको खींचें ॥ ९ ॥

क्षणेनाद्य करिष्येऽहमिदं वनमकण्टकम् ।
पुरस्तादूदूषितं नित्यं त्वया भक्षयता नरान् ॥ १० ॥

पहिले तूने सदा मनुष्य खाकर जिस वनको दूषित किया था, आज मैं क्षणभरमें उस वनको राक्षससे खाली कर निष्कण्टक कर दूंगा ॥ १० ॥

अद्य त्वां भगिनी पाप कृष्यमाणं मया भुवि ।
द्रक्ष्यत्यद्रिप्रतीकाशं सिंहेनेव महाद्विपम् ॥ ११ ॥

हे पापी ! सिंह जिस प्रकार महान् गजको पछाड देता है, वैसे ही आज पर्वतके समान विशाल तुझको तेरी बहिन मेरे द्वारा पृथ्वी पर खींचे जाते हुए देखेगी ॥ ११ ॥

निराबाधास्त्वयि हते मया राक्षसपांसन ।
वनमेतच्चरिष्यन्ति पुरुषा वनचारिणः ॥ १२ ॥

हे राक्षस-कुलमें अधम ! मेरे द्वारा तेरे मारे जानेसे इस वनमें विचरनेवाले पुरुष लोग बिना बाधाके इस वनमें विचरेंगे ॥ १२ ॥

हिडिम्ब उवाच

गर्जितेन वृथा किं ते कत्थितेन च मानुष ।
कृत्वैतत्कर्मणा सर्वं कत्थेथा मा चिरं कृथाः ॥ १३ ॥

हिडिम्ब बोला—हे मनुष्य ! तेरे इस व्यर्थके गर्जन और व्यर्थकी बातोंके कहनेसे क्या होना है? जैसा कह रहा है उसे दिखाकर अपनी बडाईको प्रगट कर, देर मत कर ॥ १३ ॥

बलिनं मन्यसे यच्च आत्मानमपराक्रमम् ।
ज्ञास्यस्यद्य समागम्य मयात्मानं बलाधिकम् ॥ १४ ॥

तू अपनेको बडा बली और पराक्रमी समझता है; पर तू कितना बल और वीर्यवाला है, वह आज मुझसे युद्ध करके ही समझ सकेगा ॥ १४ ॥

न तावदेतान्हिंसिष्ये स्वपन्त्वेते यथासुखम् ।
एष त्वामेव दुर्बुद्धे निहन्म्यद्याप्रियंवदम् ॥ १५ ॥

मैं इस समय उनको नहीं मारूंगा, वे सुखसे सोये रहें । हे कुबुद्धे ! अभी तो कडी बात कहनेवाले तुझको ही नष्ट करूंगा ॥ १५ ॥

पीत्वा तवासृग्गात्रेभ्यस्ततः पश्चादिमानपि ।
हनिष्यामि ततः पश्चादिमां विप्रियकारिणीम् ॥ १६ ॥

पहिले तेरी देहसे रक्त पीऊंगा; फिर बादमें इनको मारूंगा और अन्तमें इस अत्यंत अप्रिय करनेवालीको भी मार डालूंगा ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ततो बाहुं प्रगृह्य पुरुषादकः ।
अभ्यधावत संक्रुद्धो भीमसेनमरिन्दमम् ॥ १७ ॥

वैशम्पायन बोले— नरमांस खानेवाला वह राक्षस यह बात कहके हाथ बढाकर क्रोधसे शत्रुनाशी भीमसेनकी ओर दौडा ॥ १७ ॥

तस्याभिपततस्तूर्णं भीमो भीमपराक्रमः ।
वेगेन प्रहृतं बाहुं निजग्राह हसन्निव ॥ १८ ॥

भीम-पराक्रमी भीमने हंसते हुए, उसीक्षण दौडे आते हुए उस राक्षसके वेगसे चलाये हुए हाथोंको पकड लिया ॥ १८ ॥

निगृह्य तं बलाद्भीमो विस्फुरन्तं चकर्ष ह ।
तस्माद्देशाद्धनूंष्यष्टौ सिंहः क्षुद्रमृगं यथा ॥ १९ ॥

वह भीम बलपूर्वक उन फैलाये हुए हाथोंको थामके तथा उसको, जैसे सिंह छोटे मृगको पकडता है, उसी प्रकार खींचकर वहांसे आठ धनु अर्थात् बत्तीस हाथकी दूरीपर ले गये ॥ १९ ॥

ततः स राक्षसः क्रुद्धः पाण्डवेन बलाद्धृतः ।
भीमसेनं समालिङ्गय व्यनदद्भैरवं रवम् ॥ २० ॥

तब राक्षस पाण्डव भीमसेनसे बलपूर्वक खींचे जानेपर उनको दबोचकर बडे जोरसे चिल्लाने लगा ॥ २० ॥

पुनर्भीमो बलादेनं विचकर्ष महाबलः ।
मा शब्दः सुखसुप्तानां भ्रातॄणां मे भवेदिति ॥ २१ ॥

कहीं उस शब्दको सुनके सुखसे सोये हुए भाइयोंकी नींद न टूट जाए, इसलिये महाबली भीमसेन फिर बलपूर्वक उसे खींचकर दूर ले गए ॥ २१ ॥

अन्योन्यं तौ समासाद्य विचकर्षतुरोजसा ।
राक्षसो भीमसेनश्च विक्रमं चक्रतुः परम् ॥ २२ ॥

तब राक्षस हिडिम्ब और भीमसेन दोनों एक दूसरेसे चिपटकर बलसे एक दूसरेको खींचने लग गए और वे दोनों विक्रम दिखाने लगे ॥ २२ ॥

बभञ्जतुर्महावृक्षाँल्लताश्चाकर्षतुस्ततः ।
मत्ताविव सुसंरब्धौ वारणौ षष्टिहायनौ ॥ २३ ॥

वे दोनों साठ वर्षके मस्त और क्रोधित गजोंके समान महावृक्षोंको तोडने तथा लताओंको उखाडने लगे ॥ २३ ॥

तयोः शब्देन महता विबुधास्ते नरर्षभाः ।
सह मात्रा च ददृशुर्हिडिम्बामग्रतः स्थिताम् ॥ २४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४१ ॥ ४९३० ॥

उनके उस बडे कोलाहलसे नरश्रेष्ठ पाण्डव जाग गए और माताके साथ उन्होंने सामने खडी हुई हिडिम्बाको देखा ॥ २४ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ इकतालिसवां अध्याय समाप्त ॥ १४१ ॥ ४९३० ॥

: १४२ :

वैशंपायन उवाच

प्रबुद्धास्ते हिडिम्बाया रूपं दृष्ट्वातिमानुषम् ।
विस्मिताः पुरुषव्याघ्रा बभूवुः पृथया सह ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– वे कुन्ती और पुरुषश्रेष्ठ पाण्डव जाग गए और हिडिम्बाके उस अलौकिक रूपको देखकर कुन्ती और पाण्डव आश्चर्यचकित हो गए ॥ १ ॥

ततः कुन्ती समीक्ष्यैनां विस्मिता रूपसम्पदा ।
उवाच मधुरं वाक्यं सान्त्वपूर्वमिदं शनैः ॥ २ ॥

तब उसकी रूपसम्पत्तिसे आश्चर्यचकित हुई हुई वह कुन्ती उसकी ओर भलीभांति देखकर शान्त और मीठी बातोंमें धीरे धीरे यह बोली ॥ २ ॥

कस्य त्वं सुरगर्भाभे का चासि वरवर्णिनि ।
केन कार्येण सुश्रोणि कुतश्चागमनं तव ॥ ३ ॥

हे सुन्दर कमरवाली तथा देवकन्याके समान सुन्दरी ! तुम कौन हो ? हे वरवर्णिनि! तुम किसकी स्त्री हो ? तुम किस कामके लिये और कहांसे यहां आयी हो ? ॥ ३ ॥

यदि वास्य वनस्यासि देवता यदि वाप्सराः ।
आचक्ष्व मम तत्सर्वं किमर्थं चेह तिष्ठसि ॥ ४ ॥

यदि तुम इस वनकी देवी अथवा कोई अप्सरा हो, तो मुझसे सब कहो कि तुम यहां क्यों खडी हो ? ॥ ४ ॥

हिडिम्बोवाच

यदेतत्पश्यसि वनं नीलमेघनिभं महत् ।
निवासो राक्षसस्यैतद्धिडिम्बस्य ममैव च ॥ ५ ॥

हिडिम्बा बोली– नीले बादलकी भांति जो यह महान् वन तुम देख रही हो, वह हिडिम्ब नामक राक्षसके और मेरे रहनेका स्थान है ॥ ५ ॥

तस्य मां राक्षसेन्द्रस्य भगिनीं विद्धि भामिनि ।
भ्रात्रा संप्रेषितामार्ये त्वां सपुत्रां जिघांसता ॥ ६ ॥

हे भामिनि ! मुझे उस राक्षसराज हिडिम्बकी बहिन जानो । हे आर्ये ! पुत्रोंके सहित आपको मारनेकी इच्छावाले मेरे भाईने मुझको भेजा था ॥ ६ ॥

क्रूरबुद्धेरहं तस्य वचनादागता इह ।
अद्राक्षं हेमवर्णाभं तव पुत्रं महौजसम् ॥ ७ ॥

मैं उस कुटिलबुद्धि भाईकी आज्ञासे यहां आई और यहां आकर सुवर्णके समान रंगवाले आपके महा तेजस्वी पुत्रको देखा ॥ ७ ॥

ततोऽहं सर्वभूतानां भावे विचरता शुभे ।
चोदिता तव पुत्रस्य मन्मथेन वशानुगा ॥ ८ ॥

हे कल्याणि ! तव आपके पुत्रको देखकर मैं सब प्राणियोंके हृदयमें संचार करनेवाले काम-देवसे प्रेरित होकर आपके पुत्रके वशमें हो गई ॥ ८ ॥

ततो वृतो मया भर्ता तव पुत्रो महाबलः ।
अपनेतुं च यतितो न चैव शकितो मया ॥ ९ ॥

मैंने मदनबाणको मनसे निकालना चाहा, पर किसी प्रकार समर्थ नहीं हुई; अतएव आपके महाबली पुत्रको मैंने मन ही मनमें अपना पति वरण किया है ॥ ९ ॥

चिरायमाणां मां ज्ञात्वा ततः स पुरुषादकः ।
स्वयमेवागतो हन्तुमिमान्सर्वांस्तवात्मजान् ॥ १० ॥

इसके बाद पुरुष मांसभक्षी वह राक्षस, मुझको जिस कामके लिए भेजा था, उसमें देरी होते देखकर आपके इन सब पुत्रोंको नष्ट करनेके लिए स्वयं ही आ गया ॥ १० ॥

स तेन मम कान्तेन तव पुत्रेण धीमता ।
बलादितो विनिष्पिष्य व्यपकृष्टो महात्मना ॥ ११ ॥

तब मेरे पति और आपके वह बुद्धिमान् और महात्मा पुत्र बलपूर्वक उसको घसीटकर यहांसे कुछ दूर ले गये हैं ॥ ११ ॥

विकर्षन्तौ महावेगौ गर्जमानौ परस्परम् ।
पश्यध्वं युधि विक्रान्तावेतौ तौ नरराक्षसौ ॥ १२ ॥

एक दूसरेको खींचते हुए, महान् वेगवाले, परस्पर गर्जते हुए युद्ध करनेमें पराक्रमी इन दोनों नर और राक्षसको तुम देखो ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्याः श्रुत्वैव वचनमुत्पपात युधिष्ठिरः ।
अर्जुनो नकुलश्चैव सहदेवश्च वीर्यवान् ॥ १३ ॥

वैशम्पायन बोले— उसकी यह बात सुन करके ही वीर्यवान् युधिष्ठिर, अर्जुन, नकुल और सहदेव वे सहसा उठकर उस युद्धस्थानके निकट गये ॥ १३ ॥

तौ ते ददृशुरासक्तौ विकर्षन्तौ परस्परम् ।
काङ्क्षमाणौ जयं चैव सिंहाविव रणोत्कटौ ॥ १४ ॥

उन्होंने देखा, कि बहुत शूरवीर राक्षस और भीम दोनों जयकी आशासे एक दूसरेको पकडकर सिंहके समान खींच रहे हैं ॥ १४ ॥

तावन्योन्यं समाश्लिष्य विकर्षन्तौ परस्परम्।
दावाग्निधूमसदृशं चक्रतुः पार्थिवं रजः ॥ १५ ॥

वे एक दूसरेसे लिपटकर बार बार एक दूसरेको खींचकर दावाग्निके धूंएके समान पृथ्वीकी धूलि उडा रहे हैं ॥ १५ ॥

वसुधारेणुसंवीतौ वसुधाधरसंनिभौ।
विभ्राजेतां यथा शैलौ नीहारेणाभिसंवृतौ ॥ १६ ॥

तथा पर्वतके समान विशाल वे दोनों जमीनकी धूलिसे ढके जाकर हिमसे ढंके पर्वतकी भांति शोभित होने लगे ॥ १६ ॥

राक्षसेन तदा भीमं क्लिश्यमानं निरीक्ष्य तु।
उवाचेदं वचः पार्थः प्रहसञ्शनकैरिव ॥ १७ ॥

इसके बाद अर्जुन भीमसेनको राक्षससे पीडित होते देखकर हंसते हुए धीरेसे यह वचन बोले ॥ १७ ॥

भीम मा भैर्महाबाहो न त्वां बुध्यामहे वयम्।
समेतं भीमरूपेण प्रसुप्ताः श्रमकर्शिताः ॥ १८ ॥

हे महाभुज भीम! तुम भय मत करो। हम थके मादे थे, अतः नहीं जान सके, कि तुम ऐसे घोररूप राक्षससे भिड गये हो ॥ १८ ॥

साहाय्येऽस्मि स्थितः पार्थ योधयिष्यामि राक्षसम्।
नकुलः सहदेवश्च मातरं गोपयिष्यतः ॥ १९ ॥

पार्थ! मैं तुम्हारी सहायता करनेके लिए तैय्यार हूं, मैं इस राक्षसके साथ युद्ध करूंगा, नकुल और सहदेव माताकी रक्षा करेंगे ॥ १९ ॥

भीम उवाच

उदासीनो निरीक्षस्व न कार्यः संभ्रमस्त्वया।
न जात्वयं पुनर्जीवेन्मद्बाह्वन्तरमागतः ॥ २० ॥

भीम बोले— तुम एक तरफ खडे होकर देखते जाओ, बीचमें मत आवो, गडबडी पैदा मत करो। यह राक्षस मेरे दोनों हाथोंके बीचमें आकर कभी जीता नहीं रहेगा ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच

किमनेन चिरं भीम जीवता पापरक्षसा।
गन्तव्यं न चिरं स्थातुमिह शक्यमरिन्दम ॥ २१ ॥

अर्जुन बोले— हे भीम! इस पापात्मा राक्षसको देरतक जीवित रखनेसे क्या प्रयोजन? हमें अभी और आगे जाना है, अतः हम यहां बहुत देर तक नहीं रह सकते ॥ २१ ॥

पुरा संरज्यते प्राची पुरा संध्या प्रवर्तते ।
रौद्रे मुहूर्ते रक्षांसि प्रबलानि भवन्ति च ॥ २२ ॥

पूर्वदिशा लाल होकर प्रातःसंध्याका काल आ रहा है, रौद्र मुहूर्तमें अर्थात् ब्राह्ममुहूर्तमें राक्षस प्रबल हो जाते हैं ॥ २२ ॥

त्वरस्व भीम मा क्रीड जहि रक्षो विभीषणम् ।
पुरा विकुरुते मायां भुजयोः सारमर्पय ॥ २३ ॥

अतएव, हे भीम ! तुम शीघ्र काम पूर्ण करो, अब इसे लेकर खेलते न रहो । इस भीषण मांसभोजी राक्षसको मार डालो, इसके पहले कि वह माया फैलाये, अपना भुजबल प्रकट करो ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच

अर्जुनेनैवमुक्तस्तु भीमो भीमस्य रक्षसः ।
उत्क्षिप्याभ्रामयद्देहं तूर्णं गुणशताधिकम् ॥ २४ ॥

वैशम्पायन बोले– अर्जुनके द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर भीमने उस भयंकर राक्षसकी देहको सौ वारसे भी अधिक ऊपर उठाकर घुमाया तथा बोले ॥ २४ ॥

भीम उवाच

वृथामांसैर्वृथा पुष्टो वृथा वृद्धो वृथामतिः ।
वृथामरणमर्हस्त्वं वृथाद्य न भविष्यसि ॥ २५ ॥

तू वृथा मांससे वृथा ही पुष्ट हुआ है; तेरा बढना भी व्यर्थ है; तेरी बुद्धि भी व्यर्थ है इसलिये तू व्यर्थ मृत्युके अर्थात् जिस बाहु–युद्धमें मरनेसे स्वर्ग नहीं मिलता है, उसके ही योग्य है, इससे तू व्यर्थ मृत्युको प्राप्त करेगा ॥ २५ ॥

अर्जुन उवाच

अथ वा मन्यसे भारं त्वमिमं राक्षसं युधि ।
करोमि तव साहाय्यं शीघ्रमेव निहन्यताम् ॥ २६ ॥

अर्जुन बोले– तुम यदि युद्धमें इस राक्षसको भार समझते हो, तो मैं तुम्हारी सहायता करूं; तुम इसको तुरन्त मार डालो ॥ २६ ॥

अथ वाप्यहमेवैनं हनिष्यामि वृकोदर ।
कृतकर्मा परिश्रान्तः साधु तावदुपारम ॥ २७ ॥

हे वृकोदर ! अथवा तो मैं ही अकेला इसका काम तमाम कर दूं । तुम कार्य करके थक गये हो, अतः अब तुम्हें निवृत्त हो जाना चाहिए ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा भीमसेनोऽत्यमर्षणः।
निष्पिष्यैनं बलाद्भूमौ पशुमारममारयत् ॥ २८ ॥

वैशम्पायन बोले– भीमसेनने उनकी उस बातको सुन कर बडे क्रोधित होकर बलसे राक्षसको जमीन पर पीसकर पशुको मारनेकी भांति नष्ट किया ॥ २८ ॥

स मार्यमाणो भीमेन ननाद विपुलं स्वनम्।
पूरयंस्तद्वनं सर्वं जलार्द्र इव दुन्दुभिः ॥ २९ ॥

भीमसेनसे मारे जाते हुए उस राक्षसने मरनेके समय जलसे भीगे हुए नगाडेकी भांति घोर शब्दसे उस वनको गुंजा दिया ॥ २९ ॥

भुजाभ्यां योक्त्रयित्वा तं बलवान्पाण्डुनन्दनः।
मध्ये भङ्क्त्वा स बलवान्हर्षयामास पाण्डवान् ॥ ३० ॥

बलवान् महाभुज पाण्डुनन्दनने राक्षसको हाथोंसे पकड कर उसके बीचके भागको तोडकर पाण्डवोंको आनन्दित किया ॥ ३० ॥

हिडिम्बं निहतं दृष्ट्वा संहृष्टास्ते तरस्विनः।
अपूजयन्नरव्याघ्रं भीमसेनमरिंदमम् ॥ ३१ ॥

बलशाली पाण्डुपुत्रोंने हिडिम्बको नष्ट होते देखकर प्रसन्न चित्तसे नरश्रेष्ठ शत्रुनाशी भीमसेन की बडी प्रशंसा की ॥ ३१ ॥

अभिपूज्य महात्मानं भीमं भीमपराक्रमम्।
पुनरेवार्जुनो वाक्यमुवाचेदं वृकोदरम् ॥ ३२ ॥

इसके बाद अर्जुन महात्मा भीमपराक्रमी भीमका आदर करके वृकोदरसे यह वचन बोले ॥ ३२ ॥

नदूरे नगरं मन्ये वनादस्मादहं प्रभो।
शीघ्रं गच्छाम भद्रं ते न नो विद्यात्सुयोधनः ॥ ३३ ॥

हे प्रभो! मुझको जान पडता है कि इस वनसे नगर बडी दूर नहीं है। आपका कल्याण हो, चलिये, हम उस स्थानमें शीघ्र जायें, जहां सुयोधन हमारा समाचार नहीं पा सके ॥ ३३ ॥

ततः सर्वे तथेत्युक्त्वा सह मात्रा परंतपाः।
प्रययुः पुरुषव्याघ्रा हिडिम्बा चैव राक्षसी ॥ ३४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४२ ॥ ४९६३ ॥
॥ समाप्तं हिडिम्बवधपर्व ॥

तब शत्रुनाशी पुरुषोत्तम पांडवगण उसपर संमत हो माताके साथ वहांसे चलने लगे, तब राक्षसी हिडिम्बा भी उनके साथ चलने लगी ॥ ३४ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ बयालिसवां अध्याय समाप्त ॥ १४२ ॥ हिडिम्बवधपर्व समाप्त ॥ ४९६३ ॥

: १४३ :

भीम उवाच

स्मरन्ति वैरं रक्षांसि मायामाश्रित्य मोहिनीम्।
हिडिम्बे व्रज पन्थानं त्वं वै भ्रातृनिषेवितम् ॥ १ ॥

भीमसेन हिडिम्बाको साथ आते देखकर बोले— हे हिडिम्बे ! राक्षसगण मोहिनी माया धारण कर पहिली शत्रुताको स्मरण किये रहते हैं; अतः तुम्हारा भाई जिस पथमें गया है, तुम भी उसी पथमें जाओ ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

क्रुद्धोऽपि पुरुषव्याघ्र भीम मा स्म स्त्रियं वधीः ।
शरीरगुप्त्याभ्यधिकं धर्मं गोपय पाण्डव ॥ २ ॥

युधिष्ठिर यह सुनकर बोले— हे पुरुषव्याघ्र भीम ! तुम क्रोधित हो, तो भी स्त्रीको मत मारो । हे पाण्डव ! शरीरकी रक्षासे धर्मकी रक्षा बडी है, अतः धर्मका पालन करो ॥२॥

वधाभिप्रायमायान्तमवधीस्त्वं महाबलम् ।
रक्षसस्तस्य भगिनी किं नः क्रुद्धा करिष्यति ॥ ३ ॥

जब तुमने उस महाबली राक्षसको, जो हमको मारने आया था, मार डाला है, अब उसकी बहिन क्रोध करके हमारा क्या कर लेगी ? ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

हिडिम्बा तु ततः कुन्तीमभिवाद्य कृताञ्जलिः ।
युधिष्ठिरं तु कौन्तेयमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ४ ॥

वैशम्पायन बोले— तब हिडिम्बा कुन्ती और युधिष्ठिरको प्रणाम कर कुन्तीसे यह वचन बोली ॥ ४ ॥

आर्ये जानासि यद्दुःखमिह स्त्रीणामनङ्गजम् ।
तदिदं मामनुप्राप्तं भीमसेनकृतं शुभे ॥ ५ ॥

हे आर्ये ! आप जानती हैं, कि स्त्रियोंको अनङ्गसे कितना दुःख होता है । हे शुभे ! भीमसेनके द्वारा उत्पन्न की गई इस अनङ्गपीडाके द्वारा मैं सतायी जाती हूं ॥ ५ ॥

सोढं तत्परमं दुःखं मया कालप्रतीक्षया ।
सोऽयमभ्यागतः कालो भविता मे सुखाय वै ॥ ६ ॥

मैंने कालकी प्रतीक्षा करते हुए उस परम दुःखको सह लिया था, अब वह समय आ पहुंचा है, अतः मुझे अब सुख प्राप्त हो ॥ ६ ॥

मया ह्युत्सृज्य सुहृदः स्वधर्मं स्वजनं तथा।
वृतोऽयं पुरुषव्याघ्रस्तव पुत्रः पतिः शुभे ॥ ७ ॥

हे शुभे ! मैंने स्वधर्म, मित्रों और स्वजनोंको तजकर आपके पुरुषश्रेष्ठ पुत्रको पतिके रूपमें वरण किया है ॥ ७ ॥

वरेणापि तथानेन त्वया चापि यशस्विनि।
तथा ब्रुवन्ती हि तदा प्रत्याख्याता क्रियां प्रति ॥ ८ ॥

हे यशस्विनि ! जब मैंने यह बात पहले कही थी, तब मेरे पति भीमने और आपने भी मेरी बात स्वीकार कर ली थी ॥ ८ ॥

त्वं मां मूढेति वा मत्वा भक्ता वानुगतेति वा।
भर्त्रानेन महाभागे संयोजय सुतेन ते ॥ ९ ॥

अतएव आप मुझे चाहे मूर्ख समझकर वा भक्त अथवा कृपापात्र जानकर, हे महाभागे ! अपने पुत्र और मेरे पति इन भीमसेनसे मुझको संयुक्त करें ॥ ९ ॥

तमुपादाय गच्छेयं यथेष्टं देवरूपिणम्।
पुनश्चैवागमिष्यामि विश्रम्भं कुरु मे शुभे ॥ १० ॥

मैं इन देवरूपी पतिको लेकर जहां मन चाहे, वहां ले जाऊंगी और फिर इनको ले आऊंगी। हे शुभे ! आप मेरा विश्वास करें ॥ १० ॥

अहं हि मनसा ध्याता सर्वान्नेष्यामि वः सदा।
वृजिने तारयिष्यामि दुर्गेषु च नरर्षभान् ॥ ११ ॥

आपके मुझे स्मरण करते ही मैं उसी क्षण आकर आप लोगोंको मनमाने स्थानमें ले जाऊंगी, मैं आप सब नरश्रेष्ठोंको कठिन कठिन दुर्गम किलोंसे भी पार पहुंचा दूंगी ॥ ११ ॥

पृष्ठेन वो वहिष्यामि शीघ्रां गतिमभीप्सतः।
यूयं प्रसादं कुरुत भीमसेनो भजेत माम् ॥ १२ ॥

फिर भी आप कहीं शीघ्र जाना चाहेंगे, तो आप लोगोंको उसीक्षण अपने पीठपर चढाकर लेती जाऊंगी। आप प्रसन्न होवें, कि भीमसेन मेरा भोग करें ॥ १२ ॥

आपदस्तरणे प्राणान्धारयेद्येन येन हि।
सर्वमाहृत्य कर्तव्यं तद्धर्ममनुवर्तता ॥ १३ ॥

विपत्तिसे बचनेके लिये किसी भी उपायसे अपनी रक्षा कर लेनी चाहिये और उस एक धर्मकी शरण ले करके सब कुछ करना चाहिए ॥ १३ ॥

आपत्सु यो धारयति धर्मं धर्मविदुत्तमः ।
व्यसनं ह्येव धर्मस्य धर्मिणामापदुच्यते ॥ १४ ॥

धर्मशील जनोंके लिये धर्मविषयक विपत्ति ही सबसे बडी आपत्ति कही गई है, अतः जो जन विपत्कालमें भी धर्मकी रक्षा करते हैं, वही धार्मिकोंमें उत्तम हैं ॥ १४ ॥

पुण्यं प्राणान्धारयति पुण्यं प्राणदमुच्यते ।
येन येनाचरेद्धर्मं तस्मिन्गर्हा न विद्यते ॥ १५ ॥

पुण्य ही प्राणको धारण करता है, पुण्यहीको पण्डितोंने प्राण देनेवाला कहा है; अतएव अकर्तव्य कर्मको करके भी प्राण बचाना चाहिये, उससे निन्दा नहीं होती ॥ १५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

एवमेतद्यथात्थ त्वं हिडिम्बे नात्र संशयः ।
स्थातव्यं तु त्वया धर्मे यथा ब्रूयां सुमध्यमे ॥ १६ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे सुन्दरी हिडिम्बे ! इसमें सन्देह नहीं, कि तुमने जो कहा, वह ठीक है; पर मैं जैसा कहूँ, उस मेरे कथनके अनुसार तुम्हें धर्मपर चलना पडेगा ॥ १६ ॥

स्नातं कृताह्निकं भद्रे कृतकौतुकमङ्गलम् ।
भीमसेनं भजेथास्त्वं प्रागस्तगमनाद्रवेः ॥ १७ ॥

भद्रे ! भीमसेनके नहाने, आह्निक कर लेने और कौतुकमङ्गल कर चुकनेपर सूर्यास्तके पूर्वतक तुम उनका भोग कर सकोगी ॥ १७ ॥

अहःसु विहरानेन यथाकामं मनोजवा ।
अयं त्वानयितव्यस्ते भीमसेनः सदा निशि ॥ १८ ॥

हे मनोवेगके अनुसार चलनेवाली ! दिनमें इस भीमसेनके साथ इच्छानुसार विहार कर रोज रातको उन्हें हमारे पास पहुंचा दिया करना ॥ १८ ॥

वैशंपायन उवाच

तथेति तत्प्रतिज्ञाय हिडिम्बा राक्षसी तदा ।
भीमसेनमुपादाय ऊर्ध्वमाचक्रमे ततः ॥ १९ ॥

वैशम्पायन बोले– तब राक्षसी हिडिम्बा " अच्छा, ऐसा ही करूंगी " इस प्रकार प्रतिज्ञा करके भीमसेनको लेकर उसी क्षण आकाशमार्गसे चली गयी ॥ १९ ॥

शैलशृङ्गेषु रम्येषु देवतायतनेषु च ।
मृगपक्षिविघुष्टेषु रमणीयेषु सर्वदा ॥ २० ॥
कृत्वा च परमं रूपं सर्वाभरणभूषिता ।
सञ्जल्पन्ती सुमधुरं रमयामास पाण्डवम् ॥ २१ ॥

वह राक्षसी परम मनोहर रूप धारणकर सब आभूषणोंसे बनठन कर और मीठी बोली बोलती हुई समय समय पर नाना स्थानोंमें सुन्दर पहाडकी चोटियोंपर, कभी मृग पक्षियोंके शब्दसे गूंजते हुए मनोहर देवमन्दिरोंमें भीमसेनको आनन्द देने लगी ॥ २०-२१ ॥

तथैव वनदुर्गेषु पुष्पितद्रुमसानुषु ।
सरःसु रमणीयेषु पद्मोत्पलयुतेषु च ॥ २२ ॥
नदीद्वीपप्रदेशेषु वैडूर्यसिकतासु च ।
सुतीर्थवनतोयासु तथा गिरिनदीषु च ॥ २३ ॥

उसी प्रकार कभी वन दुर्गोमें, कभी फूले हुए वृक्षोंसे सुहावनी घाटियोंमें, कभी नीले तथा लाल पद्मसे सुशोभित सुन्दर सरोवरमें, कभी वैदूर्यमणि और नदीके बालूसे भरे हुए द्वीपमें कभी सुन्दर वन और अमृत समान जलसे सुशोभित अच्छे तीर्थवाली पहाडी नदीमें ॥ २२-२३ ॥

सागरस्य प्रदेशेषु मणिहेमचितेषु च ।
पत्तनेषु च रम्येषु महाशालवनेषु च ॥ २४ ॥

कभी मणि और सुवर्णसे पूर्ण सागर खण्डोंमें, कभी मनोहर नगरों और बडे बडे शाल वृक्षोंसे भरे हुए वनोंमें ॥ २४ ॥

देवारण्येषु पुण्येषु तथा पर्वतसानुषु ।
गुह्यकानां निवासेषु तापसायतनेषु च ॥ २५ ॥

कभी देवोंके तीर्थोंमें, कभी पहाडोंकी कन्दरामें, कभी गुह्यकोंकी वासभूमिमें, कभी तपस्वियोंके स्थानमें ॥ २५ ॥

सर्वर्तुफलपुष्पेषु मानसेषु सरःसु च ।
बिभ्रती परमं रूपं रमयामास पाण्डवम् ॥ २६ ॥

अथवा कभी सदासे फलफूलयुक्त मनमोहन मानस सरोवरमें क्रीडा करती हुई परम रूपवती वह हिडिम्बा पाण्डव भीमसेनको आनन्द देने लगी ॥ २६ ॥

रमयन्ती तथा भीमं तत्र तत्र मनोजवा ।
प्रजज्ञे राक्षसी पुत्रं भीमसेनान्महाबलम् ॥ २७ ॥

उसके बाद उस मनके वेगसे विचरनेवाली तथा भीमको आनन्द देनेवाली राक्षसीने भीमसेनसे महाबली पुत्र पैदा किया ॥ २७ ॥

विरूपाक्षं महावक्त्रं शङ्कुकर्णं विभीषणम्।
भीमरूपं सुताम्रोष्ठं तीक्ष्णदंष्ट्रं महाबलम् ॥ २८ ॥

उस महाबली पुत्रकी आंखें बडी विकट, मुंह बडा, भारी कान शंकुके समान, स्वर अति भयानक, होठोंका रंग ताम्बेकी भांति, दांत कंटीले थे ॥ २८ ॥

महेष्वासं महावीर्यं महासत्त्वं महाभुजम्।
महाजवं महाकायं महामायमरिंदमम् ॥ २९ ॥

वह अति बलवीर्यवान्, बडा धनुर्धारी, महान् सत्ववान्, बडे बडे हाथयुक्त, अति वेगवान्, बडे शरीरवाला, बडी माया रचनेवाला और शत्रुनाशी था ॥ २९ ॥

अमानुषं मानुषजं भीमवेगं महाबलम्।
यः पिशाचानतीवान्यान्बभूवाति स मानुषान् ॥ ३० ॥

वह महाबली भयंकर वेगवान् पुत्र मनुष्यके वीर्यसे अमानुषमें पैदा हुआ, वह कुमार सम्पूर्ण पिशाच और राक्षसोंमें बडा विक्रमी हुआ ॥ ३० ॥

बालोऽपि यौवनं प्राप्तो मानुषेषु विशां पते।
सर्वास्त्रेषु परं वीरः प्रकर्षमगमद्बली ॥ ३१ ॥

हे राजन्! उस बलवान् वीरपुत्रने बालक होनेपर भी यौवनको प्राप्त किया और उसकी मनुष्य लोकमें प्रचलित सम्पूर्ण अस्त्रोंमें अति उन्नति हुई ॥ ३१ ॥

सद्यो हि गर्भं राक्षस्यो लभन्ते प्रसवन्ति च।
कामरूपधराश्चैव भवन्ति बहुरूपिणः ॥ ३२ ॥

राक्षसी जिस दिन गर्भ धारण करती है, उसी दिन प्रसव करती है और प्रसव किया हुआ बालक भी जन्म लेते ही बहुरूपी होकर मनमाना रूप धर सकता है ॥ ३२ ॥

प्रणम्य विकचः पादावगृह्णात्स पितुस्तदा।
मातुश्च परमेष्वासस्तौ च नामास्य चक्रतुः ॥ ३३ ॥

बडा धनुर्धारी हिडिम्बाकुमारने जन्म लेते ही प्रणाम करके पिता माताके पांव पकड लिए उन्होंने भी उसका नाम रख दिया ॥ ३३ ॥

घटभासोत्कच इति मातरं सोऽभ्यभाषत।
अभवत्तेन नामास्य घटोत्कच इति स्म ह ॥ ३४ ॥

उस बालकके घटके ऐसे उत्कच अर्थात् केश थे, अतः हिडिम्बाने उसको देखकर ऐसा कहा, कि " इसके उत्कच घटकी भांति हैं।" इसलिये भीमसेनने उसका नाम "घटोत्कच" रखा ॥ ३४ ॥

अनुरक्तश्च तानासीत्पाण्डवान्स घटोत्कचः ।
तेषां च दयितो नित्यमात्मभूतो बभूव सः ॥ ३५ ॥

घटोत्कच स्वाधीन होने पर भी उन पाण्डवोंपर बडा स्नेह करता था और वह भी पाण्डवोंका बडा प्यारा था ॥ ३५ ॥

संवाससमयो जीर्ण इत्यभाषत तं ततः ।
हिडिम्बा समयं कृत्वा स्वां गतिं प्रत्यपद्यत ॥ ३६ ॥

आगे हिडिम्बाने शर्तके अनुसार कामकर यह कहकर "कि पतिसे रहनेका काल बीत चुका है," पाण्डवोंके साथ सम्भाषण करके अपने स्थानको चली गई ॥ ३६ ॥

कृत्यकाल उपस्थास्ये पितॄनिति घटोत्कचः ।
आमन्त्र्य राक्षसश्रेष्ठः प्रतस्थे चोत्तरां दिशम् ॥ ३७ ॥

"जब कार्य उपस्थित होगा आपके समीप आ पहुंचूगा ।" इस प्रकार राक्षसोंमें श्रेष्ठ घटोत्कच भी पितरोंसे कह कर उत्तरकी ओर चला गया ॥ ३७ ॥

स हि सृष्टो मघवता शक्तिहेतोर्महात्मना ।
कर्णस्याप्रतिवीर्यस्य विनाशाय महात्मनः ॥ ३८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४३ ॥ ५००१ ॥

महात्मा महेन्द्रने अतुलनीय शक्तिशाली कर्णकी एक पुरुषको मारनेवाली शक्तिके लिये तथा उस महात्मा कर्णके विनाशके लिए इस महारथी घटोत्कचको बनाया था ॥ ३८ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ तैतालिसवां अध्याय समाप्त ॥ १४३ ॥ ५००१ ॥

: १४४ :

वैशम्पायन उवाच

ते वनेन वनं वीरा घ्नन्तो मृगगणान्बहून् ।
अपक्रम्य ययू राजंस्त्वरमाणा महारथाः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– इसके बाद वे महारथी वीर पाण्डवगण शीघ्रतासे मृगया करते हुए एक बनसे अन्य वनको, फिर उस वनसे वनान्तरमें गमन करने लगे ॥ १ ॥

मत्स्यांस्त्रिगर्तान्पञ्चालान्कीचकानन्तरेण च ।
रमणीयान्वनोद्देशान्प्रेक्षमाणाः सरांसि च ॥ २ ॥

जाते हुए पथमें मत्स्य, त्रिगर्त, पाञ्चाल और कीचक देशोंके भीतरके सुन्दर सुन्दर वनखण्ड और नाना प्रकारके नदी और तालाब देखते चले ॥ २ ॥

जटाः कृत्वात्मनः सर्वे वल्कलाजिनवाससः ।
सह कुन्त्या महात्मानो बिभ्रतस्तापसं वपुः ॥ ३ ॥

वे सभी अपनी जटा बढाये, वल्कल और अजिन पहने हुए, तथा तपस्वी वेशको धारण कर वे महात्मा पाण्डव गण कुन्तीके साथ चले ॥ ३ ॥

क्वचिद्वहन्तो जननीं त्वरमाणा महारथाः ।
क्वचिच्छन्देन गच्छन्तस्ते जग्मुः प्रसभं पुनः ॥ ४ ॥

वे कहीं कहीं शीघ्रताके लिये कुन्तीको उठा लेते थे; और कहीं कहीं सहज चालमें सुखसे चलकर बादमें शीघ्र चलते थे ॥ ४ ॥

ब्राह्मं वेदमधीयाना वेदाङ्गानि च सर्वशः ।
नीतिशास्त्रं च धर्मज्ञा ददृशुस्ते पितामहम् ॥ ५ ॥

एक समय वे सम्पूर्ण वेद वेदाङ्ग और नीतिशास्त्र पढ रहे थे, ऐसे समयमें उन धर्मज्ञोंने पितामह व्यासको देखा ॥ ५ ॥

तेऽभिवाद्य महात्मानं कृष्णद्वैपायनं तदा ।
तस्थुः प्राञ्जलयः सर्वे सह मात्रा परंतपाः ॥ ६ ॥

महात्मा कृष्णद्वैपायनको देखते ही शत्रुनाशी पाण्डवगण माताके साथ प्रणाम कर दोनों हाथ जोडके सामने खडे हो गए ॥ ६ ॥

व्यास उवाच

मयेदं मनसा पूर्वं विदितं भरतर्षभाः ।
यथा स्थितैरधर्मेण धार्तराष्ट्रैर्विवासिताः ॥ ७ ॥

व्यास बोले– राजगण ! मैंने पहिले ही मनसे यह जान लिया है, कि धृतराष्ट्रके पुत्रोंने अधर्मसे तुमको निकाल बाहर किया है ॥ ७ ॥

तद्विदित्वास्मि संप्राप्तश्चिकीर्षुः परमं हितम् ।
न विषादोऽत्र कर्तव्यः सर्वमेतत्सुखाय वः ॥ ८ ॥

उसको जानकर मैं तुम्हारे परम मङ्गलके निमित्त यहां आया हूं ! तुम उस विषयमें दुःखी मत होओ, यह सब तुम्हारे सुखके लिये ही हो रहे हैं ॥ ८ ॥

समास्ते चैव मे सर्वे यूयं चैव न संशयः ।
दीनतो बालतश्चैव स्नेहं कुर्वन्ति बान्धवाः ॥ ९ ॥

इसमें सन्देह नहीं, कि धृतराष्ट्रके बेटे और तुम, दोनों पक्ष मेरे लिए समान स्नेहके पात्र हो, पर जो पक्ष दीन और बालक होता है, मानवलोग उस पर ही अधिक स्नेह प्रगट करते हैं ॥ ९ ॥

तस्मादभ्यधिकः स्नेहो युष्मासु मम सांप्रतम्।
स्नेहपूर्वं चिकीर्षामि हितं वस्तन्निबोधत ॥ १० ॥

इस हेतु तुम पर इस समय मेरा अधिक स्नेह हो गया है। इसीसे स्नेहपूर्वक मैं तुम्हारा हित कार्य करना चाहता हूं, उसे तुम सुनो ॥ १० ॥

इदं नगरमभ्याशे रमणीयं निरामयम्।
वसतेह प्रतिच्छन्ना ममागमनकाङ्क्षिणः ॥ ११ ॥

वह सामने सुन्दर विनारोगका नगर दीख पडता है, वहां मेरे लौटनेकी प्रतीक्षा करते हुए छिपकर रहो ॥ ११ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं स तान्समाश्वास्य व्यासः पार्थानरिंदमान्।
एकचक्रामभिगतः कुन्तीमाश्वासयत्प्रभुः ॥ १२ ॥

वैशम्पायन बोले— धर्मात्मा प्रभु व्यास उन शत्रुनाशी पाण्डवोंको भली भांति ढाढस देकर संग लेकर उस एकचक्रा नगरीको गए और कुन्तीसे भी फिर समझा कर बोले ॥१२॥

जीव पुत्रि सुतस्तेऽयं धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः।
पृथिव्यां पार्थिवान्सर्वान्प्रशासिष्यति धर्मराट् ॥ १३ ॥

हे बेटी! जीती रहो, तेरा यह पुत्र धर्मशील धर्मराज युधिष्ठिर पृथ्वी भरके सब भूपोंपर शासन करेंगे ॥ १३ ॥

धर्मेण जित्वा पृथिवीमखिलां धर्मविद्वशी।
भीमसेनार्जुनबलाद्भोक्ष्यत्ययमसंशयः ॥ १४ ॥

इसमें सन्देह नहीं है, कि वह भीमसेन और अर्जुनके भुजबलसे सागरतक सारी भूमण्डलको धर्मसे जीतकर यह धर्मज्ञ जितेन्द्रिय युधिष्ठिर भोग करेंगे ॥ १४ ॥

पुत्रास्तव च माद्र्याश्च सर्व एव महारथाः।
स्वराष्ट्रे विहरिष्यन्ति सुखं सुमनसस्तदा ॥ १५ ॥

तुम्हारे सभी महारथी पुत्र और माद्रीके कुमारगण सदा अपने राज्यमें प्रसन्न मन होकर सुखसे आनन्द करेंगे ॥ १५ ॥

यक्ष्यन्ति च नरव्याघ्रा विजित्य पृथिवीमिमाम्।
राजसूयाश्वमेधाद्यैः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ॥ १६ ॥

यह राजसिंहगण धरतीमण्डलको जीतकर राजसूय और अश्वमेधादि अनेक प्रचुर दक्षिणायुक्त यज्ञ करेंगे ॥ १६ ॥

अनुगृह्य सुहृद्वर्गं धनेन च सुखेन च ।
पितृपैतामहं राज्यमिह भोक्ष्यन्ति ते सुताः　　॥ १७ ॥

और भोग, ऐश्वर्य तथा सुखसे मित्रवर्गपर कृपा दिखाकर परम आनन्दपूर्वक पितामहका राज्य तेरे पुत्र भोगेंगे ॥ १७ ॥

एवमुक्त्वा निवेश्यैनान्ब्राह्मणस्य निवेशने ।
अब्रवीत्पार्थिवश्रेष्ठमृषिर्द्वैपायनस्तदा　　॥ १८ ॥

महर्षि द्वैपायन यह कहकर उनको एक ब्राह्मणके घरमें बसाकर पाण्डव श्रेष्ठ युधिष्ठिरसे बोले ॥ १८ ॥

इह मां संप्रतीक्षध्वमागमिष्याम्यहं पुनः ।
देशकालौ विदित्वैव वेत्स्यध्वं परमां मुदम्　　॥ १९ ॥

तुम यहां मेरी प्रतीक्षा करो, मैं फिर आऊंगा । तुम देश कालको समझकर काम करते रहोगे, तो परम हर्ष प्राप्त करोगे ॥ १९ ॥

स तैः प्राञ्जलिभिः सर्वैस्तथेत्युक्तो नराधिप ।
जगाम भगवान्व्यासो यथाकाममृषिः प्रभुः　　॥ २० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४४ ॥ ५०२१ ॥

हे नराधिप ! उन सबोंने हाथ जोड कर उनकी बात मान ली । अनन्तर भगवान् महर्षि व्यास इच्छानुसार पधारे ॥ २० ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ चौवालिसवां अध्याय समाप्त ॥ १४४ ॥ ५०२१ ॥

: १४५ :

जनमेजय उवाच

एकचक्रां गतास्ते तु कुन्तीपुत्रा महारथाः ।
अतः परं द्विजश्रेष्ठ किमकुर्वत पाण्डवाः　　॥ १ ॥

जनमेजय बोले– हे द्विजश्रेष्ठ ! उसके बाद महारथी कुन्तीपुत्र पाण्डवोंने एकचक्रा नगरीमें रहकर क्या किया ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

एकचक्रां गतास्ते तु कुन्तीपुत्रा महारथाः ।
ऊषुर्नातिचिरं कालं ब्राह्मणस्य निवेशने　　॥ २ ॥

वैशम्पायन बोले– महारथी कुन्तीपुत्र गण एकचक्रा नगरीमें जाकर ब्राह्मणके घर कुछ काल तक रहे ॥ २ ॥

रमणीयानि पश्यन्तो वनानि विविधानि च ।
पार्थिवानपि चोद्देशान्सरितश्च सरांसि च ॥ ३ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! उन दिनों वे नित्य नाना सुन्दर प्रदेश सरोवर और नदी देखते हुए ॥ ३ ॥

चेरुर्भैक्षं तदा ते तु सर्वे एव विशां पते ।
बभूवुर्नागराणां च स्वैर्गुणैः प्रियदर्शनाः ॥ ४ ॥

वे सब, हे राजन् ! भिक्षावृत्तिसे वहां रहते थे। क्रमशः वे अपने गुणसे नगरवालोंके प्रिय बन गए ॥ ४ ॥

निवेदयन्ति स्म च ते भैक्षं कुन्त्याः सदा निशि ।
तया विभक्तान्भागांस्ते भुञ्जते स्म पृथक्पृथक् ॥ ५ ॥

वे दिनको जो भिक्षा पाते थे वे सब रातको कुन्तीके सामने रख देते थे और कुन्ती उनको उस भिक्षासे मिली हुई वस्तुको अलग अलग बांट देती थी, तब वे भोजन करते थे ॥ ५ ॥

अर्धं ते भुञ्जते वीराः सह मात्रा परंतपाः ।
अर्धं भैक्षस्य सर्वस्य भीमो भुङ्क्ते महाबलः ॥ ६ ॥

भिक्षासे जो कुछ मिल जाता था, उसका आधा भाग युधिष्ठिर, अर्जुन, नकुल, सहदेव और कुन्ती भोजन करते थे और सबका आधा भाग भीमसेन खा लेते थे ॥ ६ ॥

तथा तु तेषां वसतां तत्र राजन्महात्मनाम् ।
अतिचक्राम सुमहान्कालोऽथ भरतर्षभ ॥ ७ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! महात्मा पाण्डवोंके इस प्रकार उस राज्यमें वसते हुए बहुत काल बीत गया ॥ ७ ॥

ततः कदाचिद्भैक्षाय गतास्ते भरतर्षभाः ।
संगत्या भीमसेनस्तु तत्रास्ते पृथया सह ॥ ८ ॥

अनन्तर एकदिन युधिष्ठिर आदि सब भिक्षाको गये थे; दैववशसे भीमसेन भिक्षाको न जाकर कुन्तीके साथ घरमें ही थे ॥ ८ ॥

अथार्तिजं महाशब्दं ब्राह्मणस्य निवेशने ।
भृशमुत्पतितं घोरं कुन्ती शुश्राव भारत ॥ ९ ॥

अनन्तर कुन्तीने उस ब्राह्मणके घरसे रोनेकी बहुत ऊंची और दयापूर्ण आवाज उठती सुनी ॥ ९ ॥

रोरूयमाणांस्तान्सर्वान्परिदेवयतश्च सा ।
कारुण्यात्साधुभावाच्च देवी राजन्न चक्षमे ॥ १० ॥

हे राजन् ! कुन्ती उनको अत्यन्त रोते और विलपते देखकर अच्छे स्वभावके और दयाके कारण चुपचाप बैठी नहीं रह सकी ॥ १० ॥

मथ्यमानेव दुःखेन हृदयेन पृथा ततः ।
उवाच भीमं कल्याणी कृपान्वितमिदं वचः ॥ ११ ॥

तब दुःखसे हृदयके मथे जानेपर कल्याणी कुन्ती भीमसेनसे करुणा भरी बातोंमें बोली ॥ ११ ॥

वसामः सुसुखं पुत्र ब्राह्मणस्य निवेशने ।
अज्ञाता धार्तराष्ट्राणां सत्कृता वीतमन्यवः ॥ १२ ॥

बेटा ! हम लोग धृतराष्ट्रके पुत्रोंसे छिपकर इस ब्राह्मणके घरमें सत्कार पाकर और शोकरहित होकर सुखसे रह रहे हैं ॥ १२ ॥

सा चिन्तये सदा पुत्र ब्राह्मणस्यास्य किं न्वहम् ।
प्रियं कुर्यामिति गृहे यत्कुर्युरुषिताः सुखम् ॥ १३ ॥

इससे मैं सदा इस सोचमें रहा करती हूं, जिसके घरमें बसते हैं, इस ब्राह्मणका उपकार कैसे करूं ? ॥ १३ ॥

एतावान्पुरुषस्तात कृतं यस्मिन्न नश्यति ।
यावच्च कुर्यादन्योऽस्य कुर्यादभ्यधिकं ततः ॥ १४ ॥

बेटा ! उपकार करनेसे जो उसके पलटेमें उपकार करता है, वही पुरुष है और जो जितना उपकार करता है, पलटेमें उसका उससे अधिक उपकार करना चाहिये ॥ १४ ॥

तदिदं ब्राह्मणस्यास्य दुःखमापतितं ध्रुवम् ।
तत्रास्य यदि साहाय्यं कुर्याम सुकृतं भवेत् ॥ १५ ॥

मुझको निश्चय जान पडता है, कि इस ब्राह्मणके घरमें कोई दुःख आ पडा है, उस दुःखके दूर करनेके लिये इनकी कुछ सहायता कर सकें, तो महान् उपकार होगा ॥ १५ ॥

भीम उवाच

ज्ञायतामस्य यद्दुःखं यतश्चैव समुत्थितम् ।
विदिते व्यवसिष्यामि यद्यपि स्यात्सुदुष्करम् ॥ १६ ॥

भीम बोले– इस ब्राह्मणपर जिस कारण दुःख आ खडा हुआ है, उसे आप जान लेवें; मैं जान लेने पर कठिन भी हो, तो भी उसके दूर करनेका प्रयत्न करूंगा ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा हि कथयन्तौ तौ भूयः शुश्रुवतुः स्वनम् ।
आर्तिजं तस्य विप्रस्य सभार्यस्य विशां पते ॥ १७ ॥

वैशम्पायन बोले– हे पृथ्वीनाथ ! वे इस प्रकार बात चीत कर रहे थे, कि उस समयमें फिर उस ब्राह्मण और ब्राह्मणी कि कातर रुलाईकी ध्वनि और ज्यादा सुन पडी ॥ १७ ॥

अन्तःपुरं ततस्तस्य ब्राह्मणस्य महात्मनः।
विवेश कुन्ती त्वरिता बद्धवत्सेव सौरभी ॥ १८ ॥

अनन्तर कुन्ती वेगसे, कामधेनु अपने बछडेसे बंधे रहनेसे जिस प्रकार उसके पास जाती है, उसी प्रकार उस महात्मा ब्राह्मणके अन्तःपुरमें गई ॥ १८ ॥

ततस्तं ब्राह्मणं तत्र भार्यया च सुतेन च।
दुहित्रा चैव सहितं ददर्श विकृताननम् ॥ १९ ॥

और स्त्री, पुत्र तथा कन्याके सहित ब्राह्मण महाराजको मलिन मुख किये हुए बैठे देखा ॥ १९ ॥

ब्राह्मण उवाच

धिगिदं जीवितं लोकेऽलनसारमनर्थकम्।
दुःखमूलं पराधीनं भृशमप्रियभागि च ॥ २० ॥

ब्राह्मण बोले– यह संसार केवल दुःखकी जड, अन्याधीन और अति हानिकारी है; अतएव ऐसे व्यर्थ जीवन पर धिक्कार है ॥ २० ॥

जीविते परमं दुःखं जीविते परमो ज्वरः।
जीविते वर्तमानस्य द्वन्द्वानामागमो ध्रुवः ॥ २१ ॥

देखो, जीनेमें परम दुःख और जीनेमें परम पीडा भोगनी पडती है, क्यों कि जीते हुए मनुष्यको निश्चय ही दुःख घेर लेता है ॥ २१ ॥

एकात्मापि हि धर्मार्थौ कामं च न निषेवते।
एतैश्च विप्रयोगोऽपि दुःखं परमकं मतम् ॥ २२ ॥

एक ही आत्मा धर्म, अर्थ और काम, इन तीनोंकी एक दूसरेसे विना विरोध किये सेवा नहीं कर सकता है, और इनके बुरा प्रयोग होने ही से अनन्त दुःख आ पडता है ॥ २२ ॥

आहुः केचित्परं मोक्षं स च नास्ति कथंचन।
अर्थप्राप्तौ च नरकः कृत्स्न एवोपपद्यते ॥ २३ ॥

कोई कोई पण्डित कहते हैं, कि मोक्ष ही श्रेष्ठ है; पर हम संसारके प्रेमी हैं, हमसे वह किसी प्रकार होनेकी संभावना नहीं है, फिर अर्थ पानेके विषयमें भी सब प्रकारसे दुःख भोगना पडता है ॥ २३ ॥

अर्थेप्सुता परं दुःखमर्थप्राप्तौ ततोऽधिकम्।
जातस्नेहस्य चार्थेषु विप्रयोगे महत्तरम् ॥ २४ ॥

उपार्जनकी चाह वडी दुःखदायी होती है और उपार्जन हुआ भी तो और भी दुःख भोगना पडता है; क्योंकि प्राप्त किये हुए धन पर स्नेह वढ जाता है, अतः यदि किसी प्रकार वह अर्थ नष्ट हो जाए तो पूर्वोक्त दुःखसे भी अधिक दुःख घेर लेता है ॥ २४ ॥

न हि योगं प्रपश्यामि येन मुच्येयमापदः ।
पुत्रदारेण वा सार्धं प्राद्रवेयमनामयम् ॥ २५ ॥

ऐसा कोई उपाय भी नहीं दीखता, कि इस विपत्तिसे बचें; अथवा स्त्री पुत्र लेकर स्वस्थतासे कहीं भाग जावें ॥ २५ ॥

यतितं वै मया पूर्वं यथा त्वं वेत्थ ब्राह्मणि ।
यतः क्षेमं ततो गन्तुं त्वया तु मम न श्रुतम् ॥ २६ ॥

ब्राह्मणि ! स्मरण करके देखो, कि जहां जहां मङ्गल होना था, मैं वहां जानेका प्रयत्न किया करता था, उस समय तुम मेरी बात पर ध्यान नहीं देती थीं ॥ २६ ॥

इह जाता विवृद्धास्मि पिता चेह समेति च ।
उक्तवत्यसि दुर्मेधे याच्यमाना मयासकृत् ॥ २७ ॥

यह कुबुद्धि तुम्हारी ही है, कि जब कि मेरे बार बार अन्य स्थानमें जानेको चाहने पर भी तुमने कहा था, कि " यह मेरी पैत्रिक भूमि है, यहां मैं जन्म लेकर बुढिया हुयी हूं, इसको त्याग नहीं सकती " ॥ २७ ॥

स्वर्गतो हि पिता वृद्धस्तथा माता चिरं तव ।
बान्धवा भूतपूर्वाश्च तत्र वासे तु का रतिः ॥ २८ ॥

प्यारी ! तुम्हारे पिता, माता और पहिलेके बान्धवोंके स्वर्ग पाने पर बहुत दिन बीत गये थे, उस पर भी क्यों तुमने यहां बसना चाहा था ? ॥ २८ ॥

सोऽयं ते बन्धुकामाया अशृण्वन्त्या वचो मम ।
बन्धुप्रणाशः संप्राप्तो भृशं दुःखकरो मम ॥ २९ ॥

तुमने जिस प्रकार बन्धुकी कामनासे मेरी बात पर ध्यान नहीं दिया था, वैसे ही अब तुम्हारे बन्धुनाशका समय आ पहुंचा है, इससे मुझको बडा दुःख हो रहा है ॥ २९ ॥

अथवा मद्विनाशोऽयं न हि शक्ष्यामि कंचन ।
परित्यक्तुमहं बन्धुं स्वयं जीवन्नृशंसवत् ॥ ३० ॥

अपितु, इस समय मेरा ही नाश उपस्थित हुआ है; क्योंकि मैं नृशंसके समान स्वयं जीता रहकर किसी प्रकार बन्धुको त्याग नहीं सकूंगा ॥ ३० ॥

सहधर्मचरीं दान्तां नित्यं मातृसमां मम ।
सखायं विहितां देवैर्नित्यं परमिकां गतिम् ॥ ३१ ॥

तुम मेरी सहधर्मचारिणी, नित्य माताके समान स्नेहकरनेवाली, गुणवती और परम गति हुई हो, देवोंने तुम्हें मेरी मित्र निश्चय कर दिया है ॥ ३१ ॥

मात्रा पित्रा च विहितां सदा गार्हस्थ्यभागिनीम् ।
वरयित्वा यथान्यायं मन्त्रवत्परिणीय च ॥ ३२ ॥
कुलीनां शीलसंपन्नामपत्यजननीं मम ।
त्वामहं जीवितस्यार्थे साध्वीमनपकारिणीम् ।
परित्यक्तुं न शक्ष्यामि भार्यां नित्यमनुव्रताम् ॥ ३३ ॥

पिता माताने तुमको मेरे गार्हस्थ्य आश्रमका धर्मभागिनी बनाया है, विधिके अनुसार चुनकर और मंत्रानुसार विवाह कराकर और तुम कुलीना, शीलवती, सन्तानकी जननी साध्वी, श्रमकारिणी और सदा व्रतशीला भार्याको इस समय अपने जीवनकी रक्षाके हेतु कैसे त्याग सकता हूँ ?॥ ३२–३३ ॥

कुत एवं परित्यक्तुं सुतां शक्ष्याम्यहं स्वयम् ।
बालामप्राप्तवयसमजातव्यञ्जनाकृतिम् ॥ ३४ ॥

फिर जिस बालककी आजतक दाढी मूंछ नहीं निकली है, ऐसे अल्प अवस्थाके पुत्रहीको मैं स्वयं कैसे त्याग दे सकूंगा ? ॥ ३४ ॥

भर्तुरर्थाय निक्षिप्तां न्यासं धात्रा महात्मना ।
यस्यां दौहित्रजाँल्लोकानाशंसे पितृभिः सह ।
स्वयमुत्पाद्य तां बालां कथमुत्स्रष्टुमुत्सहे ॥ ३५ ॥

महात्मा विधाताने सुयोग्य भर्ताके हाथमें सौंपनेके लिये जिस कन्याको धरोहरके रूपसे मेरे पास रख दिया है, जिस कन्यासे मैं पितरोंके साथ दौहित्रज लोकके पानेकी आशा रखता हूं, उस बालिकाको जन्म देकर स्वयं त्याग देनेको कैसे उद्यत होऊं ? ॥ ३५ ॥

मन्यन्ते केचिदधिकं स्नेहं पुत्रे पितुर्नराः ।
कन्यायां नैव तु पुनर्मम तुल्यावुभौ मतौ ॥ ३६ ॥

कोई कहा करते हैं, कि पिताका पुत्र ही पर अधिक स्नेह होता है, और कन्यापर नहीं। पर मेरे लिये दोनों समान हैं ॥ ३६ ॥

यस्मिँल्लोकाः प्रसूतिश्च स्थिता नित्यमथो सुखम् ।
अपापां तामहं बालां कथमुत्स्रष्टुमुत्सहे ॥ ३७ ॥

जिससे सुगति मिलती है, जिससे वंशकी रक्षा होती है, और जिससे नित्य सुख मिलता है, उस पापकी छूतसे रहित बालिकाको त्याग देनेका कैसे साहस करूं ? ॥ ३७ ॥

आत्मानमपि चोत्सृज्य तप्स्ये प्रेतवशं गतः ।
त्यक्ता ह्येते मया व्यक्तं नेह शक्ष्यन्ति जीवितुम् ॥ ३८ ॥

मैं यदि अपने जीवनकी बलि चढाके परलोकको सिधारूं, तो भी दुःखी होऊंगा; क्योंकि इनको छोडकर चले जानेसे यह कभी जी नहीं सकेंगे ॥ ३८ ॥

एषां चान्यतमत्यागो नृशंसो गर्हितो बुधैः ।
आत्मत्यागे कृते चेमे मरिष्यन्ति मया विना ॥ ३९ ॥

इनमेंसे किसी एकको भी त्याग देना वडा अनुचित और निष्ठुर काम होगा; और अपना जीवन त्यागनेसे भी यह मेरे बिना मर जाएंगे ॥ ३९ ॥

स कृच्छ्रामहमापन्नो न शक्तस्तर्तुमापदम् ।
अहो धिक्तां गतिं त्वद्य गमिष्यामि सबान्धवः ।
सर्वैः सह मृतं श्रेयो न तु मे जीवितं क्षमम् ॥ ४० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४५ ॥ ५०६१ ॥

अतएव मैं गहरी विपत्तिमें पडा हूं। इस विपत्तिसे बचनेका उपाय नहीं दीखता ! अहो, मुझपर धिक्कार है ! आज परिवार सहित जीवन छोडना ही मेरे लिये मङ्गलदायी है; मेरा जीवित रहना कभी उचित नहीं है ॥ ४० ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ पैतालिसवां अध्याय समाप्त ॥ १४५ ॥ ॥ ५०६१ ॥

: १४६ :

ब्राह्मण्युवाच

न संतापस्त्वया कार्यः प्राकृतेनेव कर्हिचित् ।
न हि संतापकालोऽयं वैद्यस्य तव विद्यते ॥ १ ॥

ब्राह्मणी बोली– हे ब्राह्मण ! साधारण मनुष्यकी भांति शोक करना कदापि आपको नहीं सोहता है; क्योंकि आप विद्वान् हैं, अतः दुःख करनेका समय नहीं है ॥ १ ॥

अवश्यं निधनं सर्वैर्गन्तव्यमिह मानवैः ।
अवश्यभाविन्यर्थे वै संतापो नेह विद्यते ॥ २ ॥

भूमण्डल परके सब लोगोंको अवश्य ही मरना पडेगा, अतएव अवश्य होनेवाले विषयके लिए दुःख करना उचित नहीं है ॥ २ ॥

भार्या पुत्रोऽथ दुहिता सर्वमात्मार्थमिष्यते ।
व्यथां जहि सुबुद्धया त्वं स्वयं यास्यामि तत्र वै ॥ ३ ॥

लोग अपने सुखके लिये ही स्त्री, पुत्र, कन्या, इन सबोंकी प्रार्थना करते हैं, अतएव अपनी सुबुद्धिसे मनःपीडा त्याग दो, मैं स्वयं वहां जाऊंगी ॥ ३ ॥

एतद्धि परमं नार्याः कार्यं लोके सनातनम्।
प्राणानपि परित्यज्य यद्भर्तृहितमाचरेत् ॥ ४ ॥

संसारमें नारीके लिये सनातन धर्म यही है, कि वह प्राण दे करके भी पतिका हित करे ॥ ४ ॥

तच्च तत्र कृतं कर्म तवापीह सुखावहम्।
भवत्यमुत्र चाक्षय्यं लोकेऽस्मिंश्च यशस्करम् ॥ ५ ॥

अतएव उस कर्मके किये जानेपर वह इस लोकमें यश देनेवाला और परलोकमें अक्षय तथा आपके लिए भी सुखदायी होगा ॥ ५ ॥

एष चैव गुरुर्धर्मो यं प्रवक्ष्याम्यहं तव।
अर्थश्च तव धर्मश्च भूयानत्र प्रदृश्यते ॥ ६ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! मैं जो तुमसे कहती हूं, वह श्रेष्ठ धर्म है; ऐसा करनेसे आपके लिये भी प्रचुर धर्म और अर्थ प्राप्त होगा ॥ ६ ॥

यदर्थमिष्यते भार्या प्राप्तः सोऽर्थस्त्वया मयि।
कन्या चैव कुमारश्च कृताहमनृणा त्वया ॥ ७ ॥

जिस अभिप्रायसे स्त्रीकी प्रार्थना की जाती है, वह अभिप्राय मुझसे आपको सिद्ध हो गया है; मैं आपसे पुत्र और कन्या प्रसव कर उर्ऋण हो चुकी हूं ॥ ७ ॥

समर्थः पोषणे चासि सुतयो रक्षणे तथा।
न त्वहं सुतयोः शक्ता तथा रक्षणपोषणे ॥ ८ ॥

आप इस पुत्र और कन्याके पालने पोषने और देखने भालनेमें समर्थ हैं; मुझसे वह भली प्रकार सिद्ध होना कदापि संभव नहीं है ॥ ८ ॥

मम हि त्वद्विहीनायाः सर्वकामा न आपदः।
कथं स्यातां सुतौ बालौ भवेयं च कथं त्वहम् ॥ ९ ॥

आपके न रहनेपर मेरे ऊपर भी आपत्तियां टूट पड़ेंगी और आपके न रहनेसे दो शिशु सन्तान भी कैसे जी सकेंगी ? ॥ ९ ॥

कथं हि विधवानाथा बालपुत्रा विना त्वया।
मिथुनं जीवयिष्यामि स्थिता साधुगते पथि ॥ १० ॥

आपके बिना मैं विधवा और अनाथ होकर जीती रहनेपर भी सुपथमें रहकर इन दो बच्चोंको कैसे जिला सकूंगी ? ॥ १० ॥

अहंकुनावलिप्तैश्च प्रार्थ्यमानामिमां सुताम् ।
अयुक्तैस्तव संबन्धे कथं शक्ष्यामि रक्षितुम् ॥ ११ ॥

आपके कुलके साथ वैवाहिक सम्बन्धके अयोग्य कलङ्कित और गर्वित जन यदि आपकी इस पुत्रीकी प्रार्थना करें, तो मैं उसकी रक्षा कैसे कर सकूंगी ? ॥ ११ ॥

उत्सृष्टमामिषं भूमौ प्रार्थयन्ति यथा खगाः ।
प्रार्थयन्ति जनाः सर्वे वीरहीनां तथा स्त्रियम् ॥ १२ ॥

जिस प्रकार पक्षी जमीन पर पडे हुए मांसको चाहते हैं, वैसे ही मनुष्यगण पतिहीना रमणीकी कामना करते हैं ॥ १२ ॥

साहं विचाल्यमाना वै प्रार्थ्यमाना दुरात्मभिः ।
स्थातुं पथि न शक्ष्यामि सज्जनेष्टे द्विजोत्तम ॥ १३ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! मेरे पतिहीना होनेसे दुरात्मा लोग मेरी कामना कर मेरे चित्तको चंचल बना सकते हैं, ऐसा होनेसे मैं साधुओंके अभीष्ट पथमें कैसे रह सकूंगी ? ॥ १३ ॥

कथं तव कुलस्यैकामिमां बालामसंस्कृताम् ।
पितृपैतामहे मार्गे नियोक्तुमहमुत्सहे ॥ १४ ॥

और आपके वंशकी एक ही कन्या इस निर्दोषी बालाको पितृ पितामहोंके पथमें कैसे लगा सकूंगी ? ॥ १४ ॥

कथं शक्ष्यामि बालेऽस्मिन्गुणानाधातुमीप्सितान् ।
अनाथे सर्वतो लुप्ते यथा त्वं धर्मदर्शिवान् ॥ १५ ॥

और फिर उस पूरे अभावके कालमें इस पितृहीन अनाथ बालकको आप जैसे धर्मज्ञ योग्य वाञ्छित विद्या कैसे पढा सकूंगी ? ॥ १५ ॥

इमामपि च ते बालामनाथां परिभूय माम् ।
अनर्हाः प्रार्थयिष्यन्ति शूद्रा वेदश्रुतिं यथा ॥ १६ ॥

अयोग्य जन, मुझको हरा कर, शूद्रोंके वेद सुनानेकी प्रार्थनाके सदृश इस अनाथ बालाको मांगेंगे ॥ १६ ॥

तां चेदहं न दित्सेयं त्वद्गुणैरुपबृंहिताम् ।
प्रमथ्यैनां हरेयुस्ते हविर्ध्वाङ्क्षा इवाध्वरात् ॥ १७ ॥

उसपर आपके गुणोंसे सुहावनी इस कन्याको यदि मैं अयोग्य वरको न देना चाहूं, तो कौआ जैसे यज्ञकी वस्तु लूट खाता है, वैसे ही वे लूट कर इसको बलपूर्वक हर ले जायेंगे ॥ १७ ॥

×

संप्रेक्षमाणा पुत्रं ते नानुरूपमिवात्मनः।
अनर्हवशमापन्नामिमां चापि सुतां तव ॥ १८ ॥

हे ब्रह्मन्! आपके पुत्रको आपके असदृश होते और आपकी कन्याको अयोग्य जनके वशमें जाते देखकर ॥ १८ ॥

अवज्ञाता च लोकस्य तथात्मानमजानती।
अवलिप्तैर्नरैर्ब्रह्मन्मरिष्यामि न संशयः ॥ १९ ॥

अपनेको न जानती हुई तथा संसारमें अपमानित होकर इसमें सन्देह नहीं है, कि मैं प्राण छोड दूंगी ॥ १९ ॥

तौ विहीनौ मया बालौ त्वया चैव समात्मजौ।
विनश्येतां न सन्देहो मत्स्याविव जलक्षये ॥ २० ॥

अब कुछ भी सन्देह नहीं कि आपके और मेरे बिना यह दो बच्चे बिना जलकी मछलीकी भांति प्राण छोड देंगे ॥ २० ॥

त्रितयं सर्वथाप्येवं विनशिष्यत्यसंशयम्।
त्वया विहीनं तस्मात्त्वं मां परित्यक्तुमर्हसि ॥ २१ ॥

अतएव, समझ लें कि आपके न रहनेसे मैं और दो बच्चे इन तीनोंहीके जीवन नष्ट हो जाएंगे अतः मेरी समझमें मुझको त्याग देना ही आपको उचित है ॥ २१ ॥

व्युष्टिरेषा परा स्त्रीणां पूर्वं भर्तुः परा गतिः।
न तु ब्राह्मण पुत्राणां विषये परिवर्तितुम् ॥ २२ ॥

स्त्रियां यदि पतिके पहिले परलोकको सिधारें, तो वह उनके लिये बडा भारी सौभाग्य है। हे ब्राह्मण! पुत्रोंके बारेमें बदल जाना ठीक नहीं ॥ २२ ॥

परित्यक्तः सुतश्चायं दुहितेयं तथा मया।
बान्धवाश्च परित्यक्तास्त्वदर्थं जीवितं च मे ॥ २३ ॥

मैं आपके हितके लिये यह पुत्र, यह कन्या, बान्धव और जीवन सब त्यागनेको उद्यत हुई हूं ॥ २३ ॥

यज्ञैस्तपोभिर्नियमैर्दानैश्च विविधैस्तथा।
विशिष्यते स्त्रिया भर्तुर्नित्यं प्रियहिते स्थितिः ॥ २४ ॥

स्त्रियोंके लिये नाना यज्ञ, तप, नियम और दान इन सब कामोंकी अपेक्षा सदा पतिका प्रिय और हित करना ही अधिक फलदायी है ॥ २४ ॥

तदिदं यच्चिकीर्षामि धर्म्यं परमसंमतम् ।
इष्टं चैव हितं चैव तव चैव कुलस्य च　　　॥ २५ ॥

अतः मैं जो कुछ करना चाहती हूँ, वही इष्ट परमधर्म और आपके तथा आपके वंशका मंगल करनेवाला है ॥ २५ ॥

इष्टानि चाप्यपत्यानि द्रव्याणि सुहृदः प्रियाः
आपद्धर्मविमोक्षाय भार्या चापि सतां मतम्　　　॥ २६ ॥

पण्डितोंका मत यह है, कि स्त्री, पुत्र, प्यारे मित्र और धन अथवा चाहे जितनी इष्ट वस्तु भी क्यों न हो, वह सब विपत्तिसे बचनेके लिये होती हैं ॥ २६ ॥

एकतो वा कुलं कृत्स्नमात्मा वा कुलवर्धन ।
न समं सर्वमेवेति बुधानामेष निश्चयः　　　॥ २७ ॥

हे कुलको बढानेवाले ! एक ओर सम्पूर्ण कुलको और दूसरी ओर आत्माको रखकर तौलनेसे, सम्पूर्ण कुल भी आत्माके समान नहीं होते ॥ २७ ॥

स कुरुष्व मया कार्यं तारयात्मानमात्मना ।
अनुजानीहि मामार्य सुतौ मे परिरक्ष च　　　॥ २८ ॥

अतएव, हे आर्य ! आप मुझसे काम पूरा कर लीजिये । बुद्धिके द्वारा अपनी रक्षा कीजिये, मुझको जानेकी आज्ञा दीजिये; आप इन दोनों सन्तानोंका पालन कीजिए ॥ २८ ॥

अवध्याः स्त्रिय इत्याहुर्धर्मज्ञा धर्मनिश्चये ।
धर्मज्ञान्राक्षसानाहुर्न हन्यात्स च मामपि　　　॥ २९ ॥

धर्मका निश्चय करते हुए धर्म जाननेवालोंने कहा है, कि स्त्रियोंका वध नहीं करना चाहिये और राक्षस लोग भी धर्मके जानकार होते हैं, अतः वह राक्षस मुझको न मारकर छोड भी दे सकता है ॥ २९ ॥

निःसंशयो वधः पुंसां स्त्रीणां संशयितो वधः ।
अतो मामेव धर्मज्ञ प्रस्थापयितुमर्हसि　　　॥ ३० ॥

हे धर्मज्ञ ! जब कि वहां पुरुषका वध निश्चित है और स्त्रीके वधके विषयमें सन्देह है, तब मुझको ही भेजना आपके लिए योग्य है ॥ ३० ॥

भुक्तं प्रियाण्यवाप्तानि धर्मश्च चरितो मया ।
त्वत्प्रसूतिः प्रिया प्राप्ता न मां तप्स्यत्यजीवितम्　　　॥ ३१ ॥

मैंने बहुत सुख प्राप्त कर लिया है, मेरे बहुत कुछ प्रियकार्य हो गये हैं, मैंने बहुत धर्मार्जन भी किया है, और आपसे प्यारी सन्तान भी पाचुकी हूं, अब जीवन छोडनेमें मुझे दुःख नहीं है ॥ ३१ ॥

जातपुत्रा च वृद्धा च प्रियकामा च ते सदा।
समीक्ष्यैतदहं सर्वं व्यवसायं करोम्यतः ॥ ३२ ॥

मेरी सन्तानें हो चुकी हैं, मैं बूढी हो गयी हूं, और आपके प्रिय कार्य करनेमें सदासे मेरी इच्छा रही है, इन सबोंकी विवेचना करके ही मैंने ऐसा निश्चय किया है ॥ ३२ ॥

उत्सृज्यापि हि मामार्य चेत्स्यस्यन्यामपि स्त्रियम्।
ततः प्रतिष्ठितो धर्मो भविष्यति पुनस्तव ॥ ३३ ॥

हे आर्य! आप मुझको त्यागकर दूसरी स्त्री भी पा सकेंगे, ऐसा करनेसे आपका धर्म भी फिर प्रतिष्ठित हो जाएगा ॥ ३३ ॥

न चाप्यधर्मः कल्याण बहुपत्नीकृता नृणाम्।
स्त्रीणामधर्मः सुमहान्भर्तुः पूर्वस्य लङ्घने ॥ ३४ ॥

हे मङ्गलमय! पुरुषके अधिक स्त्री कर लेनेसे भी अधर्म नहीं होता। पर स्त्रीके पूर्वपतिको छोडकर अन्य पुरुषके वशमें जानेसे बडा अधर्म होता है ॥ ३४ ॥

एतत्सर्वं समीक्ष्य त्वमात्मत्यागं च गर्हितम्।
आत्मानं तारय मया कुलं चेमौ च दारकौ ॥ ३५ ॥

आप इन सब बातोंपर भली प्रकार विचार करके और अपना नाश करना अनुचित मानकर अपने कुल, इन दो बच्चे और आत्माकी मेरे द्वारा रक्षा कीजिए ॥ ३५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तया भर्ता तां समालिङ्ग्य भारत।
मुमोच बाष्पं शनकैः सभार्यो भृशदुःखितः ॥ ३६ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४६ ॥ ५०९७ ॥

वैशम्पायन बोले– हे भारत! वह ब्राह्मण ब्राह्मणीकी यह बातें सुनकर उसको गले लगाकरके उसके साथ अति दुःखी चित्तसे आंसू बहाने लगा ॥ ३६ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ छियालीसवां अध्याय समाप्त ॥ १४६ ॥ ५०९७ ॥

: १४७ :

वैशम्पायन उवाच

तयोर्दुःखितयोर्वाक्यमतिमात्रं निशम्य तत् ।
भृशं दुःखपरीताङ्गी कन्या तावभ्यभाषत ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले-- तब कन्या उन दुःखी पितामाताकी बात आद्योपान्त सुनकर बहुत दुःखी होकर उनसे बोली ॥ १ ॥

किमिदं भृशदुःखार्तौ रोरवीथो अनाथवत् ।
ममापि श्रूयतां किंचिच्छ्रुत्वा च क्रियतां क्षमम् ॥ २ ॥

आप अति दुःखी होकर अनाथके समान क्यों रो रहे हैं ? अतः मेरी बात भी सुनें और सुनकर जो उचित हो, करें ॥ २ ॥

धर्मतोऽहं परित्याज्या युवयोर्नात्र संशयः ।
त्यक्तव्यां मां परित्यज्य त्रातं सर्वं मयैकया ॥ ३ ॥

इसमें सन्देह नहीं है, कि आप धर्मके अनुसार मुझको कभी न कभी अवश्य त्याग देंगे, अतः अवश्य छोडी जानेवाली मुझको अब त्यागकर मुझ एकके द्वारा सबकी रक्षा करें ॥३॥

इत्यर्थमिष्यतेऽपत्यं तारयिष्यति मामिति ।
तस्मिन्नुपस्थिते काले तरतं प्लववन्मया ॥ ४ ॥

"सन्तान मुझे तार देगी" ऐसा समझ करके ही लोग सन्तानकी कामना करते हैं; अतएव आप मुझ कन्यारूपी नावसे वर्तमान विपत्तिके समुद्रको पार करें ॥ ४ ॥

इह वा तारयेद्दुर्गादुत वा प्रेत्य तारयेत् ।
सर्वथा तारयेत्पुत्रः पुत्र इत्युच्यते बुधैः ॥ ५ ॥

पुत्र पिताको चाहे इस लोकमें दुःखसे तारे, चाहे परलोकमें दुःखसे तारे, पर वह दुःखसे तारता अवश्य है, इसीलिए वह बुद्धिमानोंके द्वारा "पुत्र" कहा जाता है ॥ ५ ॥

आकाङ्क्षन्ते च दौहित्रानपि नित्यं पितामहाः ।
तान्स्वयं वै परित्रास्ये रक्षन्ती जीवितं पितुः ॥ ६ ॥

पितृलोकोंके उद्धारके निमित्त ही दादा नातीकी आशा करते हैं, पर मैं नातीकी अपेक्षा न करके स्वयं पिताका जीवन बचा कर उनका उद्धार करूंगी ॥ ६ ॥

भ्राता च मम बालोऽयं गते लोकममुं त्वयि ।
अचिरेणैव कालेन विनश्येत न संशयः ॥ ७ ॥

हे पिता ! यदि आप परलोकको सिधार जायेंगे तो इसमें सन्देह नहीं है, कि मेरा यह शिशु भाई स्वल्प कालहीमें नष्ट हो जायगा ॥ ७ ॥

तातेऽपि हि गते स्वर्गं विनष्टे च ममानुजे।
पिण्डः पितॄणां व्युच्छिद्येत्तत्तेषामप्रियं भवेत् ॥ ८ ॥

आपके स्वर्ग चले जानेपर और भाईके न रहनेसे पितरोंका पिण्ड लुप्त हो जाएगा और उससे उनका बडा अनिष्ट होगा ॥ ८ ॥

पित्रा त्यक्ता तथा मात्रा भ्रात्रा चाहमसंशयम्।
दुःखाद्दुःखतरं प्राप्य म्रियेयमतथोचिता ॥ ९ ॥

और मैं तब पिता, माता और भ्राताके विना बडी दुःखी हो जाऊंगी और मैं तब अत्यन्त कठोर दुःख पाकर मृत्युके योग्य न होनेपर भी मृत्युके वशमें हो जाऊंगी ॥ ९ ॥

त्वयि त्वरोगे निर्मुक्ते माता भ्राता च मे शिशुः।
सन्तानश्चैव पिण्डश्च प्रतिष्ठास्यत्यसंशयम् ॥ १० ॥

आपके स्वस्थ होकर इस विपत्तिसे मुक्त होनेसे माता, और मेरा छोटा भाई, वंश पितरोंको दिए जानेवाले पिण्ड सभी निस्सन्देह रक्षित रहेंगे ॥ १० ॥

आत्मा पुत्रः सखा भार्या कृच्छ्रं तु दुहिता किल।
स कृच्छ्रान्मोचयात्मानं मां च धर्मेण योजय ॥ ११ ॥

पुत्र अपनी आत्माका स्वरूप, स्त्री मित्रका स्वरूप और कन्या कष्टका स्वरूप है। अतः कष्टके स्वरूप कन्याके द्वारा स्वयंको विपत्तिसे छुडावें और मुझको धर्ममें नियुक्त करें ॥ ११ ॥

अनाथा कृपणा बाला यत्रक्वचनगामिनी।
भविष्यामि त्वया तात विहीना कृपणा बत ॥ १२ ॥

हे पिता! मैं एक दीन बालिका हूं, अतः आपके बिना अनाथ और दीन होकर इधर उधर भटकनेवाली हो जाऊंगी ॥ १२ ॥

अथवाहं करिष्यामि कुलस्यास्य विमोक्षणम्।
फलसंस्था भविष्यामि कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ॥ १३ ॥

अतः मैं इस कुलकी आपत्तिसे छुडानेवाली बनूंगी। और मैं इस कठिन कामको करके कुलकी रक्षा करूंगी ॥ १३ ॥

अथवा यास्यसे तत्र त्यक्त्वा मां द्विजसत्तम।
पीडिताहं भविष्यामि तदवेक्षस्व मामपि ॥ १४ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ! यदि आप मुझे छोडकर उस राक्षसके पास जायेंगे, तो मैं बडी दुःखी हो जाऊंगी, अतएव मुझ पर कृपादृष्टि करें ॥ १४ ॥

तदस्मदर्थं धर्मार्थं प्रसवार्थं च सत्तम ।
आत्मानं परिरक्षस्व त्यक्तव्यां मां च संत्यज ॥ १५ ॥

हे श्रेष्ठ ! हमको, धर्म और वंशको बचानेके लिये अपनी रक्षा करें और त्यागी जाने योग्य मुझको छोड दीजिए ॥ १५ ॥

अवश्यकरणीयेऽर्थे मा त्वां कालोऽत्यगादयम् ।
त्वया दत्तेन तोयेन भविष्यति हितं च मे ॥ १६ ॥

अवश्य किये जानेवाले कामके लिये काल गंवाना उचित नहीं है । आपके द्वारा दिए गए जलसे ही मेरा कल्याण होगा ॥ १६ ॥

किं न्वतः परमं दुःखं यद्वयं स्वर्गते त्वयि ।
याचमानाः परादन्नं परिधावेमहि श्ववत् ॥ १७ ॥

इससे अधिक दुःखकी बात और क्या होगी, कि आपके स्वर्गको सिधार जाने पर हम सदा दूसरोंसे अन्न मांगते हुए कुत्तोंके समान इधर उधर भटकेंगे ॥ १७ ॥

त्वयि त्वरोगे निर्मुक्ते क्लेशादस्मात्सबान्धवे ।
अमृते वसती लोके भविष्यामि सुखान्विता ॥ १८ ॥

और आपके बान्धवोंके समेत इस दुःखसे मुक्त और स्वस्थ होनेसे मैं अमर लोकमें रहती हुई सुखसे युक्त हो सकूंगी ॥ १८ ॥

एवं बहुविधं तस्या निशम्य परिदेवितम् ।
पिता माता च सा चैव कन्या प्ररुरुदुस्त्रयः ॥ १९ ॥

उस कन्याकी इस प्रकारकी नाना दुःखभरी बातें सुनकर पिता, माता और वह कन्या तीनों रोने लगे ॥ १९ ॥

ततः प्ररुदितान्सर्वान्निशम्याथ सुतस्तयोः ।
उत्फुल्लनयनो बालः कलमव्यक्तमब्रवीत् ॥ २० ॥

तब उनका बालक पुत्र उन सबोंको रोते देखकर प्रसन्न नेत्र और हंसते हुए मुखसे मीठी और तोतली बोलीमें कहने लगा ॥ २० ॥

मा रोदीस्तात मा मातर्मा स्वसस्त्वमिति ब्रुवन् ।
प्रहसन्निव सर्वांस्तानेकैकं सोपसर्पति ॥ २१ ॥

हे पिता ! मत रोओ । हे माता ! मत रो । बहिन ! मत रो । यह कहता हुआ हंसकर वह उनमेंसे हरेकके पास गया ॥ २१ ॥

ततः स तृणमादाय प्रहृष्टः पुनरब्रवीत्।
अनेन तं हनिष्यामि राक्षसं पुरुषादकम् ॥ २२ ॥

और एक तिनका उठाकर आनन्दसे फिर बोला, कि इससे मैं उस मनुष्यभक्षी राक्षसको मारूंगा ॥ २२ ॥

तथापि तेषां दुःखेन परीतानां निशम्य तत्।
बालस्य वाक्यमव्यक्तं हर्षः समभवन्महान् ॥ २३ ॥

उसके पिता, माता और बहिन यद्यपि दुःखसे कातर थे, तो भी उस समय उस बालककी अस्पष्ट बात सुनकर उनको बडा हर्ष हुआ ॥ २३ ॥

अयं काल इति ज्ञात्वा कुन्ती समुपसृत्य तान्।
गतासूनमृतेनेव जीवयन्तीदमब्रवीत् ॥ २४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१४७॥ ५१२१॥

तब कुन्ती यह समझकर, कि "यह समय है" उनके निकट जा पहुंची। और मरे हुओंको अमृतसे जिलानेकी भांति उनसे कहने लगी ॥ २४ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ सैंतालिसवां अध्याय समाप्त ॥ १४७ ॥ ५१२१ ॥

: १४८ :

कुन्त्युवाच

कुतोमूलमिदं दुःखं ज्ञातुमिच्छामि तत्त्वतः।
विदित्वा अपकर्षेयं शक्यं चेदपकर्षितुम् ॥ १ ॥

कुन्ती बोली– मैं सच सच जानना चाहती हूं, कि ऐसे दुःखका कारण क्या है ? क्योंकि जानकर यदि उसे दूर करनेका उपाय बन पडेगा, तो अवश्य दूर करूंगी ॥ १ ॥

ब्राह्मण उवाच

उपपन्नं सतामेतद्यद्ब्रवीषि तपोधने।
न तु दुःखमिदं शक्यं मानुषेण व्यपोहितुम् ॥ २ ॥

ब्राह्मण बोले– हे तपोधने ! तुम जो कहती हो, वह सज्जनोंके योग्य ही है; पर यह दुःख दूर करना मनुष्यकी शक्तिके बाहर है ॥ २ ॥

समीपे नगरस्यास्य बको वसति राक्षसः।
ईशो जनपदस्यास्य पुरस्य च महाबलः ॥ ३ ॥

इस नगरके निकट बक नामक एक महाबली राक्षस रहता है; वह इस नगर और प्रदेशका अधीश है ॥ ३ ॥

पुष्टो मानुषमांसेन दुर्बुद्धिः पुरुषादकः ।
रक्षत्यसुरराण्नित्यमिमं जनपदं बली ॥ ४ ॥

मनुष्यके मांससे पुष्ट, बलवान् और दुष्ट बुद्धिवाला वह मनुष्यभक्षी असुरराज सदा इस नगरकी रक्षा किया करता है ॥ ४ ॥

नगरं चैव देशं च रक्षोबलसमन्वितः ।
तत्कृते परचक्राच्च भूतेभ्यश्च न नो भयम् ॥ ५ ॥

इस नगर और देशके राक्षसी बलसे रक्षित होनेके कारण अन्य देश वा किसी प्राणीसे हमें भय नहीं है ॥ ५ ॥

वेतनं तस्य विहितं शालिवाहस्य भोजनम् ।
महिषौ पुरुषश्चैको यस्तदादाय गच्छति ॥ ६ ॥

एक गाडी अन्न और दो भैंसे और वह मनुष्य जो उन्हें ले जाता है, यह सब उस राक्षसके भोजनके लिये वेतनके स्वरूपमें निर्दिष्ट हैं ॥ ६ ॥

एकैकश्चैव पुरुषस्तत्प्रयच्छति भोजनम् ।
स वारो बहुभिर्वर्षैर्भवत्यसुतरो नरैः ॥ ७ ॥

इस देशका हरेक गृहस्थ अपनी अपनी वारीसे एक एक दिनके हिसाबसे नित्य वह भोजन पहुंचाता है । बहुत वर्षोंके बाद एक एक गृहस्थके लिये यह कठोर बारी आती है ॥ ७ ॥

तद्विमोक्षाय ये चापि यतन्ते पुरुषाः क्वचित् ।
सपुत्रदारांस्तान्हत्वा तद्रक्षो भक्षयत्युत ॥ ८ ॥

यदि कभी कोई पुरुष इससे बचनेकी चेष्टा करता है, तो वह राक्षस स्त्री पुत्रोंके साथ उसको मारकर खा जाता है ॥ ८ ॥

वेत्रकीयगृहे राजा नायं नयमिहास्थितः ।
अनामयं जनस्यास्य येन स्यादद्य शाश्वतम् ॥ ९ ॥

इस स्थलमें वेत्रकीय गृह नामक स्थानमें एक राजा है, वह राजा नीतिज्ञ नहीं है, वह कोई ऐसा उपाय नहीं करता कि इन सब लोगोंके लिये सदा कुशल हो जाये ॥ ९ ॥

एतदर्हा वयं नूनं वसामो दुर्बलस्य ये ।
विषये नित्यमुद्विग्नाः कुराजानमुपाश्रिताः ॥ १० ॥

हम लोग जब उस दुर्बल बुरे राजाके भरोसे सदा भयभीत होकरके भी उसके अधिकारमें रहते हैं, तब अवश्य ही इस दुःखके भोगनेके योग्य हैं ॥ १० ॥

ब्राह्मणाः कस्य वक्तव्याः कस्य वा छन्दचारिणः ।
गुणैरेते हि वास्यन्ते कामगाः पक्षिणो यथा ॥ ११ ॥

ब्राह्मणको कोई अपनी भूमिमें बसा नहीं सकता, क्योंकि वे किसीकी इच्छासे नहीं चलते। वे तो अपने गुणसे कामचारी पक्षीके सदृश मनमानी जगहपर वास करते हैं, पर मैंने उसके विपरीत काम किया है ॥ ११ ॥

राजानं प्रथमं विन्देत्ततो भार्यां ततो धनम् ।
त्रयस्य संचये चास्य ज्ञातीन्पुत्रांश्च धारयेत् ॥ १२ ॥
विपरीतं मया चेदं त्रयं सर्वमुपार्जितम् ।
त इमामापदं प्राप्य भृशं तप्स्यामहे वयम् ॥ १३ ॥

और कहा भी है, कि "पहिले अच्छे राजाको प्राप्त करे, तब स्त्रीको प्राप्त करे और तत्पश्चात् धनार्जन करे, इन तीन विषयोंके सञ्चित होजानेपर ज्ञाति और पुत्रोंको उत्पन्न करे।" इन तीन विषयोंके उपार्जनके विषयमें भी मैंने बडा विपरीत काम किया है; अतः अब इस विपत्तिके समुद्रमें गिरकर हम बडे दुःखी हो रहे हैं ॥ १२-१३ ॥

सोऽयमस्माननुप्राप्तो वारः कुलविनाशनः ।
भोजनं पुरुषश्चैकः प्रदेयं वेतनं मया ॥ १४ ॥

आज हमारे कुलका नाश करनेवाली वह बारी आयी है, राक्षसके भोजनके लिये वेतनके स्वरूपमें एक मनुष्य मुझको देना पडेगा ॥ १४ ॥

न च मे विद्यते वित्तं संक्रेतुं पुरुषं क्वचित् ।
सुहृज्जनं प्रदातुं च न शक्ष्यामि कथंचन ।
गतिं चापि न पश्यामि तस्मान्मोक्षाय रक्षसः ॥ १५ ॥

पर मेरे पास इतना धन भी नहीं है, कि किसीसे एक मनुष्यको मोल लेकर दूं, अथवा किसी स्वजनको भी मैं नहीं दे सकूंगा और ऐसा कोई उपाय भी नहीं दीखता, कि जिससे उस राक्षसके हाथसे बच सकूं ॥ १५ ॥

सोऽहं दुःखार्णवे मग्नो महत्यसुतरे भृशम् ।
सहैवैतैर्गमिष्यामि बान्धवैरद्य राक्षसम् ।
ततो नः सहितान्क्षुद्रः सर्वानेवोपभोक्ष्यति ॥ १६ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४८ ॥ ५१३७ ॥

इसलिये अति अपार दुःखके समुद्रमें डूब गया हूं। अतएव सोचता हूं, कि मैं सब बान्धवोंके साथ उस राक्षसके पास जाऊं, कि जिससे वह नीचाशय राक्षस एक साथ हम सबोंको खा ले ॥ १६ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ अडतालीसवां अध्याय समाप्त ॥ १४८ ॥ ५१३७ ॥

: १४९ :

कुन्त्युवाच

न विषादस्त्वया कार्यो भयादस्मात्कथंचन ।
उपायः परिदृष्टोऽत्र तस्मान्मोक्षाय रक्षसः ॥ १ ॥

कुन्ती बोली– हे ब्रह्मन् ! तुम इस भयके कारण दुःख मत करो, मैंने उस राक्षससे बचनेका उपाय निकाल लिया है ॥ १ ॥

एकस्तव सुतो बालः कन्या चैका तपस्विनी ।
न ते तयोस्तथा पत्न्या गमनं तत्र रोचये ॥ २ ॥

तुम्हारा एक ही शिशु पुत्र और एक ही व्रतशीला कन्या है, अतः तुम्हारा अथवा उनमेंसे किसीका अथवा तुम्हारी स्त्रीका जाना मेरी समझमें उचित नहीं है ॥ २ ॥

मम पञ्च सुता ब्रह्मंस्तेषामेको गमिष्यति ।
त्वदर्थं बलिमादाय तस्य पापस्य रक्षसः ॥ ३ ॥

हे ब्रह्मन् ! मेरे पांच पुत्र हैं, उनमेंसे एक तुम्हारे लिये उस पापी राक्षसके यहां बलि लेकर जायेगा ॥ ३ ॥

ब्राह्मण उवाच

नाहमेतत्करिष्यामि जीवितार्थी कथंचन ।
ब्राह्मणस्यातिथेश्चैव स्वार्थे प्राणवियोजनम् ॥ ४ ॥

ब्राह्मण बोले– मैं अपना जीवन बचानेके लिये कभी ऐसा काम नहीं कर सकूंगा, मैं अपने लिये ब्राह्मण और अतिथिके प्राण लेनेका साहस नहीं कर सकता ॥ ४ ॥

न त्वेतदकुलीनासु नाधर्मिष्ठासु विद्यते ।
यद्ब्राह्मणार्थे विसृजेदात्मानमपि चात्मजम् ॥ ५ ॥

जो नीच वंशसे उत्पन्न और अधार्मिक हैं, वे भी ऐसे काममें हाथ नहीं डालते हैं। ब्राह्मणके उपकारके लिये अपनेको अथवा आत्मजको भी त्याग देना चाहिए ॥ ५ ॥

आत्मनस्तु मया श्रेयो बोद्धव्यमिति रोचये ।
ब्रह्मवध्यात्मवध्या वा श्रेयो आत्मवधो मम ॥ ६ ॥

मुझको वही मंगलदायी समझना चाहिये; और मैं वैसा ही करना चाहता हूं । ब्राह्मणवध और आत्महत्या इन दोनोंमें आत्महत्या ही श्रेयस्कर है ॥ ६ ॥

ब्रह्मवध्या परं पापं निष्कृतिर्नात्र विद्यते ।
अबुद्धिपूर्वं कृत्वापि श्रेयो आत्मवधो मम ॥ ७ ॥

क्योंकि ब्राह्मण वध बडा पाप है, उसे करके फिर उससे बचनेका कोई उपाय नहीं रह जाता। अतः मैं समझता हूं, कि अनिच्छासे ब्रह्मवध करनेकी अपेक्षा अनिच्छासे आत्महत्या करना ही मेरे लिये अच्छा है ॥ ७ ॥

न त्वहं वधमाकाङ्क्षे स्वयमेवात्मनः शुभे ।
परैः कृते वधे पापं न किंचिन्मयि विद्यते ॥ ८ ॥

हे शुभे! मैं स्वयं आतमहत्या करना नहीं चाहता, अन्य ही जन मुझको मारेगा, अतः इसका पाप मुझपर नहीं लग सकता ॥ ८ ॥

अभिसान्धिकृते तस्मिन्ब्राह्मणस्य वधे मया ।
निष्कृतिं न प्रपश्यामि नृशंसं क्षुद्रमेव च ॥ ९ ॥

जान नहीं पडता, कि बुद्धिसे अथवा छलपूर्वक ब्रह्मवध करके सहजमें पार पा सकूंगा। क्योंकि वह कार्य बडा अत्याचार पूर्ण और नीच है ॥ ९ ॥

आगतस्य गृहे त्यागस्तथैव शरणार्थिनः ।
याचमानस्य च वधो नृशंसं परमं मतम् ॥ १० ॥

अतिथि वा शरण लिये हुएको त्याग देना और मांगनेवालेको मार डालना अति निष्ठुर और अनुचित कार्य कहा गया है ॥ १० ॥

कुर्यान्न निन्दितं कर्म न नृशंसं कदाचन ।
इति पूर्वे महात्मान आपद्धर्मविदो विदुः ॥ ११ ॥

आपद्धर्मके जानकार पहिलेके महात्माओंने कहा है, कि निन्दित और निष्ठुर कर्म कभी न करे ॥ ११ ॥

श्रेयांस्तु सहदारस्य विनाशोऽद्य मम स्वयम् ।
ब्राह्मणस्य वधं नाहमनुमंस्ये कथंचन ॥ १२ ॥

अतएव आज मैं स्त्रीके साथ प्राण छोडूंगा, मेरे लिये यही अच्छा है; मैं किसी भी प्रकारसे ब्राह्मणहत्याकी सम्मति नहीं दे सकता ॥ १२ ॥

कुन्त्युवाच

ममाप्येषा मतिर्ब्रह्मन्विप्रा रक्ष्या इति स्थिरा ।
न चाप्यनिष्टः पुत्रो मे यदि पुत्रशतं भवेत् ॥ १३ ॥

कुन्ती बोली– हे ब्रह्मन्! मेरी भी यही निश्चित सम्मति है, कि ब्राह्मणोंकी अवश्य रक्षा करनी चाहिए। सौ पुत्र भी होवें, तो भी पुत्र कभी मेरे लिए अनादरके योग्य नहीं हो सकते ॥ १३ ॥

न चासौ राक्षसः शक्तो मम पुत्रविनाशने ।
वीर्यवान्मन्त्रसिद्धश्च तेजस्वी च सुतो मम ॥ १४ ॥

पर मेरा पुत्र वीर्यवान्, तेजस्वी और मन्त्रमें सिद्ध है, अतः वह राक्षस मेरे पुत्रको नष्ट करनेमें समर्थ नहीं होगा ॥ १४ ॥

राक्षसाय च तत्सर्वं प्रापयिष्यति भोजनम्।
मोक्षयिष्यति चात्मानमिति मे निश्चिता मतिः ॥ १५ ॥

मुझे निश्चय है, कि मेरा पुत्र राक्षसको वह सब खानेकी वस्तु पहुंचा भी देगा और अपनी रक्षा भी कर लेगा ॥ १५ ॥

समागताश्च वीरेण दृष्टपूर्वाश्च राक्षसाः।
बलवन्तो महाकाया निहताश्चाप्यनेकशः ॥ १६ ॥

मैंने पहिले भी देखा है, कि बडे बडे बलवान् बहुत राक्षस मेरे वीर पुत्रसे लडने आये, पर वे सब मेरे पुत्र द्वारा मार दिए गए ॥ १६ ॥

न त्विदं केषुचिद्ब्रह्मन्व्याहर्तव्यं कथंचन।
विद्यार्थिनो हि मे पुत्रान्विप्रकुर्युः कुतूहलात् ॥ १७ ॥

हे ब्रह्मन्! यह बात तुम किसीसे कहना मत; प्रकट होनेपर विद्यार्थी लोग बडे कौतूहलसे इस विद्याको सीखनेके लिये मेरे पुत्रको सदा तंग किया करेंगे ॥ १७ ॥

गुरुणा चाननुज्ञातो ग्राहयेद्यं सुतो मम।
न स कुर्यात्तया कार्यं विद्ययेति सतां मतम् ॥ १८ ॥

मेरा पुत्र गुरुकी आज्ञाके बिना अन्य किसीको जो विद्या देगा, तो उस विद्यासे फिर वह भी काम नहीं कर सकेगा ऐसा सज्जनोंने कहा है ॥ १८ ॥

वैशंपायन उवाच

एवमुक्तस्तु पृथया स विप्रो भार्यया सह।
हृष्टः संपूजयामास तद्वाक्यममृतोपमम् ॥ १९ ॥

वैशम्पायन बोले— ब्राह्मणने कुन्तीकी यह बात सुनकर स्त्रीके साथ बहुत प्रसन्न होकर अमृतके सदृश उस बातको आदरपूर्वक मान लिया ॥ १९ ॥

ततः कुन्ती च विप्रश्च सहितावनिलात्मजम्।
तमब्रूतां कुरुष्वेति स तथेत्यब्रवीच्च तौ ॥ २० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि एकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४९ ॥ ४८८५ ॥

तब कुन्ती और ब्राह्मणने एकत्र होकर पवननन्दन भीमसे वह कठोर कार्य करनेको कहा। भीमसेनने भी उसमें संमति देकर "मैं करूंगा" यह प्रत्युत्तर दिया ॥ २० ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ उनञ्चासवां अध्याय समाप्त ॥ १४९ ॥ ४८८५ ॥

: १६० :

वैशम्पायन उवाच

करिष्य इति भीमेन प्रतिज्ञाते तु भारत।
आजग्मुस्ते ततः सर्वे भैक्ष्यमादाय पाण्डवाः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे भारत ! भीमसेनके उस कामको करनेकी प्रतिज्ञा करनेपर सम्पूर्ण पाण्डव भिक्षाकी वस्तु लेकर गृहको लौट आये ॥ १ ॥

आकारेणैव तं ज्ञात्वा पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरः।
रहः समुपविश्यैकस्ततः पप्रच्छ मातरम् ॥ २ ॥

तब पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने चेहरेके द्वारा वह सब जानकर एकान्तमें बैठकर मातासे पूछा ॥२॥

किं चिकीर्षत्ययं कर्म भीमो भीमपराक्रमः।
भवत्यनुमते कच्चिदयं कर्तुमिहेच्छति ॥ ३ ॥

माता ! भयंकर पराक्रमवाला यह भीम किस कामको करना चाहता है ? क्या आपकी सम्मतिसे ही वह यह काम करना चाहता है ॥ ३ ॥

कुन्त्युवाच

ममैव वचनादेष करिष्यति परंतपः।
ब्राह्मणार्थे महत्कृत्यं मोक्षाय नगरस्य च ॥ ४ ॥

कुन्ती बोली– यह शत्रुनाशी वृकोदर मेरी ही संमतिसे ब्राह्मणके उपकार और इस नगरको मुक्त करनेके लिये यह भारी काम पूरा करेगा ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

किमिदं साहसं तीक्ष्णं भवत्या दुष्करं कृतम्।
परित्यागं हि पुत्रस्य न प्रशंसन्ति साधवः ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर बोले– तुमने यह कैसा कठिन और भयानक साहस किया है ? साधुगण कभी पुत्र त्यागनेकी प्रशंसा नहीं करते ॥ ५ ॥

कथं परसुतस्यार्थे स्वसुतं त्यक्तुमिच्छसि।
लोकवृत्तिविरुद्धं वै पुत्रत्यागात्कृतं त्वया ॥ ६ ॥

और दूसरेके पुत्रको बचानेके लिये अपना पुत्र क्यों त्यागना चाहती हो। आज तुमने पुत्रको तजकर लोकाचारके विपरीत कर्म किया है ! ॥ ६ ॥

यस्य बाहू समाश्रित्य सुखं सर्वे स्वपामहे।
राज्यं चापहृतं क्षुद्रैराजिहीर्षामहे पुनः ॥ ७ ॥

जिसके भुजबलका सहारा लेकर हम सुखसे सोते हैं; जिसके भुजबलके भरोसे हम नीच दुर्योधनादिसे छीने गए राज्यको वापस पानेकी आशामें हैं ॥ ७ ॥

यस्य दुर्योधनो वीर्यं चिन्तयन्नमितौजसः ।
न शेते वसतीः सर्वा दुःखाच्छकुनिना सह ॥ ८ ॥

जिसके अपरिमित वीर्यको स्मरण कर दुर्योधन शकुनिके साथ दुःखके मारे रात्रिको सो भी नहीं पाता ॥ ८ ॥

यस्य वीरस्य वीर्येण मुक्ता जतुगृहाद्वयम् ।
अन्येभ्यश्चैव पापेभ्यो निहतश्च पुरोचनः ॥ ९ ॥

जिस वीरके भुजवीर्यसे हम जतुगृहसे और दूसरी विपत्तियोंसे पार हो गये हैं और जिसके द्वारा पुरोचन मार दिया गया ॥ ९ ॥

यस्य वीर्यं समाश्रित्य वसुपूर्णां वसुन्धराम् ।
इमां मन्यामहे प्राप्तां निहत्य धृतराष्ट्रजान् ॥ १० ॥

यहां तक कि जिसके भुजवीर्यपर भरोसा रखकर हमको ऐसा विश्वास है, कि मानो हम धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर इस धनसे भरी हुई धरतीको पा चुके हैं ॥ १० ॥

तस्य व्यवसितस्त्यागो बुद्धिमास्थाय कां त्वया ।
कच्चिन्न दुःखैर्बुद्धिस्ते विप्लुता गतचेतसः ॥ ११ ॥

उन भीमसेनको किस तरहकी बुद्धिका आश्रय लेकर तुमने त्याग देनेका निश्चय किया है ? क्या दुःखसे चेतनाहीन तुम्हारी बुद्धि तो नहीं बिगड गई ॥ ११ ॥

कुन्त्युवाच

युधिष्ठिर न संतापः कार्यः प्रति वृकोदरम् ।
न चायं बुद्धिदौर्बल्याद्व्यवसायः कृतो मया ॥ १२ ॥

कुन्ती बोली– हे युधिष्ठिर ! तुम वृकोदरके लिये दुःख मत करो, मैंने बुद्धिकी दुर्बलतासे इसका निश्चय नहीं किया है ॥ १२ ॥

इह विप्रस्य भवने वयं पुत्र सुखोषिताः ।
तस्य प्रतिक्रिया तात मयेयं प्रसमीक्षिता ।
एतावानेव पुरुषः कृतं यस्मिन्न नश्यति ॥ १३ ॥

हे पुत्र ! इस ब्राह्मणके घरमें हम सुखसे रहे हैं, उसीके प्रत्युपकारके रूपमें मैंने यह निश्चय किया है । क्योंकि जिस पुरुषपर किया गया उपकार व्यर्थ नहीं जाता है अर्थात् जो उपकारके बदले प्रत्युपकार करना जानता है वही सच्चा पुरुष है ॥ १३ ॥

दृष्ट्वा भीमस्य विक्रान्तं तदा जतुगृहे महत्।
हिडिम्बस्य वधाच्चैव विश्वासो मे वृकोदरे ॥ १४ ॥

उस समय जतुगृहमें भीमसेनका जितना विक्रम देखा है, और उसने जैसे हिडिम्बको मार-डाला है, उससे मुझको भीम पर पूरा विश्वास हो गया है, ॥ १४ ॥

बाह्वोर्बलं हि भीमस्य नागायुतसमं महत्।
येन यूयं गजप्रख्या निर्व्यूढा वारणावतात् ॥ १५ ॥

जिस वृकोदरने हाथीकी भांति तुमको वारणावत नगरसे निकाला था, उस भीमके दोनों भुजाओंका बल दश सहस्र हाथीके समान है ॥ १५ ॥

वृकोदरबलो नान्यो न भूतो न भविष्यति।
योऽभ्युदीयाद्युधि श्रेष्ठमपि वज्रधरं स्वयम् ॥ १६ ॥

जो युद्धमें साक्षात् वज्रधारी इन्द्रको भी पराजित कर सकता है, ऐसे उस भीमके समान बली इस धरती भरमें न कोई हुआ है और न होगा ॥ १६ ॥

जातमात्रः पुरा चैष ममाङ्कात्पतितो गिरौ।
शरीरगौरवात्तस्य शिला गात्रैर्विचूर्णिता ॥ १७ ॥

हे पाण्डवश्रेष्ठ! पहले यह भीमसेन जन्म लेते ही मेरी गोदसे पहाड पर गिर गया था, उसका शरीर भारी होनेके कारण उसके शरीरकी चोटसे चट्टान चूर चूर हो गयी थी ॥ १७ ॥

तदहं प्रज्ञया स्मृत्वा बलं भीमस्य पाण्डव।
प्रतिकारं च विप्रस्य ततः कृतवती मतिम् ॥ १८ ॥

अतः, हे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर! इस कारण बुद्धिसे मैंने भीमके बलको याद करके ब्राह्मणके शत्रुको नष्ट कर उस ब्राह्मणके प्रत्युपकार करनेका संकल्प किया है ॥ १८ ॥

नेदं लोभान्न चाज्ञानान्न च मोहाद्विनिश्चितम्।
बुद्धिपूर्वं तु धर्मस्य व्यवसायः कृतो मया ॥ १९ ॥

मैंने न लोभसे, न अज्ञानतासे, न मोहसे इस काममें हाथ डाला है, बुद्धिसे ही इस धर्मकार्यमें मैंने निश्चय किया है ॥ १९ ॥

अर्थौ द्वावपि निष्पन्नौ युधिष्ठिर भविष्यतः।
प्रतीकारश्च वासस्य धर्मश्च चरितो महान् ॥ २० ॥

हे युधिष्ठिर! इस कार्यसे दोनों ही प्रयोजन सिद्ध होंगे; एक यह है, कि यहां रहनेके कारण हम पर ब्राह्मणका जो उपकार है, उसका प्रत्युपकार होगा और दूसरा (दुष्टोंको मारने रूप) एक महान् धर्मका पालन ॥ २० ॥

यो ब्राह्मणस्य साहाय्यं कुर्यादर्थेषु कर्हिचित् ।
क्षत्रियः स शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयादिति मे श्रुतम् ॥ २१ ॥

जो क्षत्रिय प्रसंग प्राप्त होनेपर ब्राह्मणकी सहायता करेगा, वह निःसंदेह शुभलोकोंको प्राप्त होगा, ऐसा मेरा मत है ॥ २१ ॥

क्षत्रियः क्षत्रियस्यैव कुर्वाणो वधमोक्षणम् ।
विपुलां कीर्तिमाप्नोति लोकेऽस्मिंश्च परत्र च ॥ २२ ॥

मैं निश्चय जानती हूं, कि जो क्षत्रिय किसी दूसरे क्षत्रियको मरनेसे बचाता है, वह इस लोक और परलोकमें अत्यन्त यश प्राप्त करता है ॥ २२ ॥

वैश्यस्यैव तु साहाय्यं कुर्वाणः क्षत्रियो युधि ।
स सर्वेष्वपि लोकेषु प्रजा रञ्जयते ध्रुवम् ॥ २३ ॥

इसमें सन्देह नहीं है, कि जो क्षत्रिय होकर युद्धमें वैश्यकी सहायता करे, वह भूमण्डलमें सर्वत्र प्रजाओंको सुखी करता है ॥ २३ ॥

शूद्रं तु मोक्षयन्राजा शरणार्थिनमागतम् ।
प्राप्नोतीह कुले जन्म सद्रव्ये राजसत्कृते ॥ २४ ॥

जो क्षत्रिय शरणमें आए हुए शूद्र जनको विपत्तिसे बचाता है वह ऐश्वर्ययुक्त राजाओंसे पूजे जानेवाले वंशमें जन्म लेता है ॥ २४ ॥

एवं स भगवान्व्यासः पुरा कौरवनन्दन ।
प्रोवाच सुतरां प्राज्ञस्तस्मादेतच्चिकीर्षितम् ॥ २५ ॥

पौरवनन्दन ! पूर्वकालमें अति तेज बुद्धिमान् व्यासदेवने मुझे यह सब उपदेश दिया था इसीलिये मैंने इस कामको करनेकी इच्छा की है ॥ २५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

उपपन्नमिदं मातस्त्वया यद्बुद्धिपूर्वकम् ।
आर्तस्य ब्राह्मणस्यैवमनुक्रोशादिदं कृतम् ।
ध्रुवमेष्यति भीमोऽयं निहत्य पुरुषादकम् ॥ २६ ॥

माताकी यह बातें सुनकर युधिष्ठिर बोले— हे माता ! तुमने विपत्तिमें पडे हुए इस ब्राह्मण पर कृपा दिखाकर बुद्धिसे जो यह कार्य किया है, यह बहुत ही अच्छा हुआ है। इसमें सन्देह नहीं है कि यह भीमसेन मनुष्य-भोजी राक्षसका नाश कर लौट आवेगा ॥ २६ ॥

यथा त्विदं न विन्देयुर्नरा नगरवासिनः।
तथायं ब्राह्मणो वाच्यः परिग्राह्यश्च यत्नतः ॥ २७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५० ॥ ५१८४ ॥

तुम यत्नपूर्वक ब्राह्मणसे कहकर यह स्वीकार करा लेना, ताकि जिससे नगरमें रहनेवाले मनुष्य यह बात न जान सकें ॥ २७ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ पचासवां अध्याय समाप्त ॥१५०॥ ५१८४ ॥

: १५१ :

वैशम्पायन उवाच

ततो रात्र्यां व्यतीतायामन्नमादाय पाण्डवः।
भीमसेनो ययौ तत्र यत्रासौ पुरुषादकः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– इसके बाद रात्रि बीतने पर पाण्डुपुत्र भीमसेन भोजनकी सामग्री लेकर वहां गए जहां वह मनुष्यभक्षी राक्षस रहता था ॥ १ ॥

आसाद्य तु वनं तस्य रक्षसः पाण्डवो बली।
आजुहाव ततो नाम्ना तदन्नमुपयोजयन् ॥ २ ॥

और उस राक्षसके वसनेके वनमें घुसकर बलवान् पाण्डव भीमसेन सब भोजनकी सामग्री स्वयं खाते हुए उसका नाम लेकर पुकारने लगे ॥ २ ॥

ततः स राक्षसः श्रुत्वा भीमसेनस्य तद्वचः।
आजगाम सुसंक्रुद्धो यत्र भीमो व्यवस्थितः ॥ ३ ॥

वह राक्षस भीमसेनकी वह पुकार सुनकर क्रोधित होकर वहां आया, जहां भीमसेन बैठा हुआ था ॥ ३ ॥

महाकायो महावेगो दारयन्निव मेदिनीम्।
त्रिशिखां भ्रूकुटिं कृत्वा संदश्य दशनच्छदम् ॥ ४ ॥

वह विशाल शरीरवाला, महान् वेगवाला तथा चलते हुए मानों भूमिको फाड देता था, ऐसा विकट भयानक वह राक्षस दांतोंसे होठोंको काटता हुआ तीन रेखाओंके साथ भौंहको ऊपर चढा कर ॥ ४ ॥

भुञ्जानमन्नं तं दृष्ट्वा भीमसेनं स राक्षसः ।
विवृत्य नयने क्रुद्ध इदं वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

उस भीमसेनको अन्न खाते देखकर वह राक्षस दोनों आखें फैलाकर क्रोधसे यह वचन बोला ॥ ५ ॥

कोऽयमन्नमिदं भुङ्क्ते मदर्थमुपकल्पितम् ।
पश्यतो मम दुर्बुद्धिर्यियासुर्यमसादनम् ॥ ६ ॥

कौन यह कुबुद्धि है, कि जो यमराजके घरको जानेकी इच्छावाला होकर मेरे भोजनके लिये मंगाया हुआ अन्न मेरे सामने ही खा रहा है ? ॥ ६ ॥

भीमसेनस्तु तच्छ्रुत्वा प्रहसन्निव भारत ।
राक्षसं तमनादृत्य भुङ्क्त एव पराङ्मुखः ॥ ७ ॥

हे भारत ! भीमसेन यह बात सुनने पर भी हंसते ही हंसते राक्षसका अनादर कर मुंह फेरकर भोजन करने लगे ॥ ७ ॥

ततः स भैरवं कृत्वा समुद्यम्य करावुभौ ।
अभ्यद्रवद्भीमसेनं जिघांसुः पुरुषादकः ॥ ८ ॥

तब वह मांसभोजी राक्षस भयानक शब्द करता हुआ दोनों हाथ उठाकर भीमसेनको मार डालनेके लिये दौडा ॥ ८ ॥

तथापि परिभूयैनं नेक्षमाणो वृकोदरः ।
राक्षसं भुङ्क्त एवान्नं पाण्डवः परवीरहा ॥ ९ ॥

तो भी शत्रुनाशी पाण्डुपुत्र वृकोदर राक्षसको अनादरसे न देखकर भोजन करने लगे ॥९॥

अमर्षेण तु संपूर्णः कुन्तीपुत्रस्य राक्षसः ।
जघान पृष्ठं पाणिभ्यामुभाभ्यां पृष्ठतः स्थितः ॥ १० ॥

राक्षसने तब क्रोधसे जलकर भीमसेनके पीछे खडा होकर दोनों मुट्ठियोंसे उसकी पीठ पर मारा ! ॥ १० ॥

तथा बलवता भीमः पाणिभ्यां भृशमाहतः ।
नैवावलोकयामास राक्षसं भुङ्क्त एव सः ॥ ११ ॥

भीमसेनने उस बलवान् राक्षसकी दोनों भुजाओंकी चोटसे बहुत घायल होने पर भी उन्होंने राक्षसको नहीं देखा, वे एकमनसे भोजनमें लगे रहे ॥ ११ ॥

ततः स भूयः संक्रुद्धो वृक्षमादाय राक्षसः ।
ताडयिष्यंस्तदा भीमं पुनरभ्यद्रवद्बली ॥ १२ ॥

तब महाबलवान् राक्षस और ज्यादा क्रोधित होकर मारनेके लिये वृक्ष उखाडकर उससे भीमको मारते हुए उनके ऊपर आक्रमण करने लगा ॥ १२ ॥

ततो भीमः शनैर्भुक्त्वा तदन्नं पुरुषर्षभः ।
वार्युपस्पृश्य संहृष्टस्तस्थौ युधि महाबलः ॥ १३ ॥

उसके बाद महाबलवान् पुरुषश्रेष्ठ भीमसेन धीरे धीरे वह अन्न खा कर जलसे मुंह धो करके प्रसन्न चित्तसे युद्धके लिये तैय्यार हो गये ॥ १३ ॥

क्षिप्तं क्रुद्धेन तं वृक्षं प्रतिजग्राह वीर्यवान् ।
सव्येन पाणिना भीमः प्रहसन्निव भारत ॥ १४ ॥

क्रोधके वशमें होकर राक्षसके भीमसेन पर उस वृक्षको फेंकनेपर वीर्यवान् भीमसेनने हंस करके उसी क्षण बांये हाथसे उसको पकड लिया ॥ १४ ॥

ततः स पुनरुद्यम्य वृक्षान्बहुविधान्बली ।
प्राहिणोद्भीमसेनाय तस्मै भीमश्च पाण्डवः ॥ १५ ॥

यह देखकर बलवान् राक्षस भांति भांतिके वृक्ष उखाड कर भीमपर फेंकने लगा और भीम भी उसी प्रकार वृक्ष उठा कर उसपर फेंकने लगे ॥ १५ ॥

तद्वृक्षयुद्धमभवन्महीरुहविनाशनम् ।
घोररूपं महाराज बकपाण्डवयोर्महत् ॥ १६ ॥

महाराज ! तब पाण्डुपुत्र भीम और बक राक्षसका भयानक वृक्षयुद्ध होने लगा और वह उनका वृक्षयुद्ध वृक्षोंको नष्ट करनेवाला हुआ ॥ १६ ॥

नाम विश्राव्य तु बकः समभिद्रुत्य पाण्डवम् ।
भुजाभ्यां परिजग्राह भीमसेनं महाबलम् ॥ १७ ॥

उसके बाद मांसभोजी बकने अपना नाम सुनाकर दौडकर महाबलवान् भीमसेनको दोनों हाथोंसे पकड लिया ॥ १७ ॥

भीमसेनोऽपि तद्रक्षः परिरभ्य महाभुजः ।
विस्फुरन्तं महावेगं विचकर्ष बलाद्बली ॥ १८ ॥

तब महाभुज बलवान् भीमसेन इस महावेगवान् फुर्तीवाले राक्षसको हाथोंमें भींचकर बलसे खींचने लगे ॥ १८ ॥

स कृष्यमाणो भीमेन कर्षमाणश्च पाण्डवम् ।
समयुज्यत तीव्रेण श्रमेण पुरुषादकः ॥ १९ ॥

भीमसे खींचे जाते हुए तथा स्वयं भी भीमको खींचते हुए वह मनुष्यभोजी राक्षस बहुत बुरी तरह थक गया ॥ १९ ॥

तयोर्वेगेन महता पृथिवी समकम्पत ।
पादपांश्च महाकायांश्चूर्णयामासतुस्तदा ॥ २० ॥

उन दोनोंके बडे वेगसे धरती कांपने लगी और निकटके बडे बडे वृक्षोंको उन्होंने चूर्ण चूर्ण कर दिया ॥ २० ॥

हीयमानं तु तद्रक्षः समीक्ष्य भरतर्षभ ।
निष्पिष्य भूमौ पाणिभ्यां समाजघ्ने वृकोदरः ॥ २१ ॥

हे भरतर्षभ! तब वृकोदर भीम राक्षसको बलहीन होते देखकर हाथोंसे उसे धरती पर रगड रगड कर मारने लगे ॥ २१ ॥

ततोऽस्य जानुना पृष्ठमवपीड्य बलादिव ।
बाहुना परिजग्राह दक्षिणेन शिरोधराम् ॥ २२ ॥

उसकी पीठपर घुटनोंको लगाकर जोरसे रगड करके दाहिने हाथसे गलेको पकडा ॥२२॥

सव्येन च कटीदेशे गृह्य वाससि पाण्डवः ।
तद्रक्षो द्विगुणं चक्रे नदन्तं भैरवान्रवान् ॥ २३ ॥

पाण्डुपुत्र भीमने बांये हाथसे कमरमें पहने हुए वस्त्रसे राक्षसको पकडा तथा उस घोर और भयानक शब्द करनेवाले राक्षसको दुहरा कर दिया ॥ २३ ॥

ततोऽस्य रुधिरं वक्त्रात्प्रादुरासीद्विशां पते ।
भज्यमानस्य भीमेन तस्य घोरस्य रक्षसः ॥ २४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५१ ॥ ५२०८ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! तब भीमके द्वारा तोडे जाते हुए उस भयंकर राक्षसके मुंहसे खून निकल कर बहने लगा ॥ २४ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ इक्यावनवां अध्याय समाप्त ॥ १५१ ॥ ५२०८ ॥

: १६२ :

वैशम्पायन उवाच

तेन शब्देन वित्रस्तो जनस्तस्याथ रक्षसः।
निष्पपात गृहाद्राजन्सहैव परिचारिभिः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजन्! उस राक्षसके परिवारवर्ग उस शब्दसे भयभीत होकर नौकर चाकरोंके साथ घरसे निकल आया ॥ १ ॥

तान्भीतान्विगतज्ञानान्भीमः प्रहरतां वरः।
सान्त्वयामास बलवान्समये च न्यवेशयत् ॥ २ ॥

मारनेमें तेज महावली भीमसेनने उनको भयभीत और ज्ञान रहित देखकर समझाया और उनसे प्रतिज्ञा करा ली ॥ २ ॥

न हिंस्या मानुषा भूयो युष्माभिरिह कर्हिचित्।
हिंसतां हि वधः शीघ्रमेवमेव भवेदिति ॥ ३ ॥

फिर कभी मनुष्य तुम्हारे द्वारा न मारे जायें अर्थात् तुम कभी मनुष्योंको न मारना, यदि मारोगे, तो तुमकोभी तुरन्त इसी प्रकार नष्ट होना पडेगा ॥ ३ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा तानि रक्षांसि भारत।
एवमस्त्विति तं प्राहुर्जगृहुः समयं च तम् ॥ ४ ॥

हे भारत! उन राक्षसोंने वृकोदरकी यह बात सुनकर "ऐसा ही होगा" यह कहकर उस पर संमति प्रकट करके उस प्रतिज्ञाको मान लिया ॥ ४ ॥

ततः प्रभृति रक्षांसि तत्र सौम्यानि भारत।
नगरे प्रत्यदृश्यन्त नरैर्नगरवासिभिः ॥ ५ ॥

हे भारत! तबसे नगरवाले मनुष्योंने उस नगरमें राक्षसोंको शान्तस्वभावी देखा ॥ ५ ॥

ततो भीमस्तमादाय गतासुं पुरुषादकम्।
द्वारदेशे विनिक्षिप्य जगामानुपलक्षितः ॥ ६ ॥

तब भीमसेन उस मरे हुए मनुष्यभक्षी राक्षसको लेकर नगरके द्वारपर डाल करके लोगोंसे अज्ञात होकर चले गये ॥ ६ ॥

ततः स भीमस्तं हत्वा गत्वा ब्राह्मणवेश्म तत्।
आचचक्षे यथावृत्तं राज्ञः सर्वमशेषतः ॥ ७ ॥

भीमसेनने उस राक्षसराजको मारकर ब्राह्मणके घरमें जाकर जो कुछ हुआ था, वह सब राजासे आद्योपान्त संपूर्ण कथा कह सुनायी ॥ ७ ॥

ततो नरा विनिष्क्रान्ता नगरात्काल्यमेव तु ।
ददृशुर्निहतं भूमौ राक्षसं रुधिरोक्षितम् ॥ ८ ॥

उसके बाद उस प्रातःकाल नगरवालोंने नगरसे निकलते ही खूनसे नहाये राक्षसको मरकर भूमि पर पडे देखा ॥ ८ ॥

तमद्रिकूटसदृशं विनिकीर्णं भयावहम् ।
एकचक्रां ततो गत्वा प्रवृत्तिं प्रददुः पुरे ॥ ९ ॥

उस पर्वतकी चोटीके समान और बडे भयानक राक्षसको मरा हुआ देखकर उन्होंने एकचक्रानगरीके नगरमें जाकर वह समाचार फैलाया ॥ ९ ॥

ततः सहस्रशो राजन्नरा नगरवासिनः ।
तत्राजग्मुर्बकं द्रष्टुं सस्त्रीवृद्धकुमारकाः ॥ १० ॥

हे राजन् ! तब स्त्री, वृद्ध, बच्चे आदि सहस्रों नगरवाले बक राक्षसको देखनेके लिये वहां एकत्रित हुए ॥ १० ॥

ततस्ते विस्मिताः सर्वे कर्म दृष्ट्वातिमानुषम् ।
दैवतान्यर्चयांचक्रुः सर्व एव विशां पते ॥ ११ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! वे सब इस अलौकिक कार्यको देखकर आश्चर्यचकित हो गए और वे सब लोग देवताओंकी उपासना करने लगे ॥ ११ ॥

ततः प्रगणयामासुः कस्य वारोऽद्य भोजने ।
ज्ञात्वा चागम्य तं विप्रं पप्रच्छुः सर्व एव तत् ॥ १२ ॥

तब वे गिनने लगे, कि " आज राक्षसको भोजन देनेकी किसकी बारी थी " अन्तमें सब ठीक जान कर उन सबने उस ब्राह्मणके पास जाकर पूछा ॥ १२ ॥

एवं पृष्टस्तु बहुशो रक्षमाणश्च पाण्डवान् ।
उवाच नागरान्सर्वानिदं विप्रर्षभस्तदा ॥ १३ ॥

सम्पूर्ण नगरवालोंके ब्राह्मणसे बार बार पूछने पर वह विप्रेन्द्र पाण्डवोंको छिपाते हुए नगर निवासियोंसे यह वचन बोले ॥ १३ ॥

आज्ञापितं मामशने रुदन्तं सह बन्धुभिः ।
ददर्श ब्राह्मणः कश्चिन्मन्त्रसिद्धो महाबलः ॥ १४ ॥

मैं राक्षसको भोजन देनेकी आज्ञा पाकर बन्धुओंके साथ रो रहा था, कि ऐसे समयमें एक मन्त्रज्ञ सिद्ध महाबलशाली ब्राह्मणने मुझको देखा ॥ १४ ॥

परिपृच्छ्य स मां पूर्वं परिक्लेशं पुरस्य च।
अब्रवीद्ब्राह्मणश्रेष्ठ आश्वास्य प्रहसन्निव ॥ १५ ॥

वे ब्राह्मणश्रेष्ठ मुझसे पूछकर और इस नगरके घोर क्लेशके वृत्तान्तको जान कर ढाढस देकर हंसते हुए बोले ॥ १५ ॥

प्रापयिष्याम्यहं तस्मै इदमन्नं दुरात्मने।
मन्निमित्तं भयं चापि न कार्यमिति वीर्यवान् ॥ १६ ॥

उस दुरात्माके निकट यह अन्न मैं ले जाऊंगा, मेरे लिये कुछ भय मत करना इस प्रकार उस वीर्यवान् ब्राह्मणने कहा ॥ १६ ॥

स तदन्नमुपादाय गतो बकवनं प्रति।
तेन नूनं भवेदेतत्कर्म लोकहितं कृतम् ॥ १७ ॥

यह कहकर वह अन्न लेकर ब्राह्मण राक्षस बकके वनमें गये थे। इसमें सन्देह नहीं है, कि उन्होंने ही लोकोंके हितके निमित्त वह काम किया होगा ॥ १७ ॥

ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे क्षत्रियाश्च सुविस्मिताः।
वैश्याः शूद्राश्च मुदिताश्चक्रुर्ब्रह्ममहं तदा ॥ १८ ॥

तब यह वृत्तान्त सुनकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सब अचरज मानकर और प्रसन्न होकर ब्रह्ममहोत्सव करने लगे ॥ १८ ॥

ततो जानपदाः सर्वे आजग्मुर्नगरं प्रति।
तदद्भुततमं दृष्ट्वा पार्थास्तत्रैव चावसन् ॥ १९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५२ ॥
॥ समाप्तं बकवधपर्व ॥ ५२२७ ॥

तब नगरवाले उस आश्चर्यजनक बृहत् लीलाकी बात जानकर नगरको लौट गये। पर पाण्डवलोग वहीं बसे रहे ॥ १९ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ बावनवां अध्याय समाप्त ॥ १५२ ॥ बकवधपर्व समाप्त ॥ ५२२७ ॥

: १५३ :

जनमेजय उवाच

ते तथा पुरुषव्याघ्रा निहत्य बकराक्षसम् ।
अत ऊर्ध्वं ततो ब्रह्मन्किमकुर्वत पाण्डवाः ॥ १ ॥

जनमेजय बोले— हे ब्रह्मन् ! सुनना चाहता हूं, कि इस प्रकार पुरुषसिंह पाण्डवोंने राक्षस बकको मारकर उसके बाद क्या किया ? ॥ १ ॥

वैशंपायन उवाच

तत्रैव न्यवसन्राजन्निहत्य बकराक्षसम् ।
अधीयानाः परं ब्रह्म ब्राह्मणस्य निवेशने ॥ २ ॥

वैशम्पायन बोले— हे राजन् ! पाण्डवगण राक्षस बकका वध कर उस ब्राह्मणके घरमें रहकर वेद पढा करते थे ॥ २ ॥

ततः कतिपयाहस्य ब्राह्मणः संशितव्रतः ।
प्रतिश्रयार्थं तद्वेश्म ब्राह्मणस्याजगाम ह ॥ ३ ॥

तदनन्तर कुछ दिनोंके बाद एक व्रतशील ब्राह्मण रहनेके लिये उस ब्राह्मणके घर आये ॥ ३ ॥

स सम्यक्पूजयित्वा तं विद्वान्विप्रर्षभस्तदा ।
ददौ प्रतिश्रयं तस्मै तदा सर्वातिथिव्रती ॥ ४ ॥

नित्य अतिथियोंकी सेवा करनेवाले उस ब्राह्मणने उस अतिथि ब्राह्मणकी भलीभांति पूजा कर रहनेको घर दिया ॥ ४ ॥

ततस्ते पाण्डवाः सर्वे सह कुन्त्या नरर्षभाः ।
उपासाञ्चक्रिरे विप्रं कथयानं कथास्तदा ॥ ५ ॥

वह अभ्यागत द्विज वहां रहकर भांति भांतिकी शुभ कथायें कहने लगे। नरश्रेष्ठ पाण्डवगण और कुन्तीने वह सब कथा सुननेके अभिलाषी होकर उनका आदर किया ॥ ५ ॥

कथयामास देशान्स तीर्थानि विविधानि च ।
राज्ञां च विविधाश्चर्याः पुराणि विविधानि च ॥ ६ ॥

वह भांति भांतिके आश्चर्यकारक देशों, नाना तीर्थों विविध नगरों और अनेक राजाओंकी कथा सुनाने लगे ॥ ६ ॥

×

स तत्राकथयद्विप्रः कथान्ते जनमेजय।
पाञ्चालेष्वद्भुताकारं याज्ञसेन्याः स्वयंवरम् ॥ ७ ॥
धृष्टद्युम्नस्य चोत्पत्तिमुत्पत्तिं च शिखण्डिनः।
अयोनिजत्वं कृष्णाया द्रुपदस्य महामखे ॥ ८ ॥

हे जनमेजय ! उस ब्राह्मणने कथा पूरी करते हुए पाञ्चाल देशमें याज्ञसेनीके अलौकिक स्वयंवर, धृष्टद्युम्नकी उत्पत्ति तथा शिखण्डिके जन्मकी कथा और राजा द्रुपदके महायज्ञमें कृष्णाकी अयोनिज उत्पत्ति इन सब बातोंका वर्णन किया ॥ ७–८ ॥

तदद्भुततमं श्रुत्वा लोके तस्य महात्मनः।
विस्तरेणैव पप्रच्छुः कथां तां पुरुषर्षभाः ॥ ९ ॥

पुरुषश्रेष्ठ पाण्डवगणने ब्राह्मणसे उन महात्माकी अलौकिक कथाओंको सुनकर उस कथाको विस्तारसे सुनना चाहा ॥ ९ ॥

कथं द्रुपदपुत्रस्य धृष्टद्युम्नस्य पावकात्।
वेदिमध्याच्च कृष्णायाः संभवः कथमद्भुतः ॥ १० ॥

हे विप्र ! अग्निसे द्रुपद कुमार धृष्टद्युम्नकी उत्पत्ति कैसे हुई ? वेदीमेंसे कृष्णाका अद्भुत जन्म कैसे हुआ ? ॥ १० ॥

कथं द्रोणान्महेष्वासात्सर्वाण्यस्त्राण्यशिक्षत।
कथं प्रियसखायौ तौ भिन्नौ कस्य कृतेन च ॥ ११ ॥

धृष्टद्युम्नने बडे धनुर्धारी आचार्य द्रोणसे सब अस्त्रोंकी शिक्षा कैसे पायी ? अत्यन्त प्रिय मित्र उन दोनों द्रुपद और द्रोणमें क्यों फूट पड गई ॥ ११ ॥

एवं तैश्चोदितो राजन्स विप्रः पुरुषर्षभैः।
कथयामास तत्सर्वं द्रौपदीसंभवं तदा ॥ १२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५३ ॥ ५२३९ ॥

हे राजन् ! पुरुषोंमें प्रधान पाण्डवोंकी यह बात सुनकर वह ब्राह्मण द्रौपदीकी जन्म कथा कहने लगे ॥ १२ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ तेरेपनवां अध्याय समाप्त ॥ १५३ ॥ ५२३९ ॥

: १५४ :

ब्राह्मण उवाच

गङ्गाद्वारं प्रति महान्बभूवर्षिर्महातपाः ।
भरद्वाजो महाप्राज्ञः सततं संशितव्रतः ॥ १ ॥

ब्राह्मण बोले— गङ्गाद्वारके निकट भरद्वाज नामक सदा व्रतशील महाप्राज्ञ, महातपस्वी एक महर्षि रहते थे ॥ १ ॥

सोऽभिषेक्तुं गतो गङ्गां पूर्वमेवागतां सतीम् ।
ददर्शाप्सरसं तत्र घृताचीमाप्लुतामृषिः ॥ २ ॥

एक समय उन्होंने गङ्गामें नहानेके लिए जानेपर देखा, कि उनके आनेके पहिले ही घृताची नामकी एक अप्सरा आकर नदीतट पर खडी हुई है ॥ २ ॥

तस्या वायुर्नदीतीरे वसनं व्यहरत्तदा ।
अपकृष्टाम्बरां दृष्ट्वा तामृषिश्चकमे ततः ॥ ३ ॥

उस समय नदीके किनारे पवनने उनका वस्त्र उडा दिया । ऋषि उसको नङ्गी देखकर उसी क्षण कामके वशमें हो गये और उसकी कामना करने लगे ॥ ३ ॥

तस्यां संसक्तमनसः कौमारब्रह्मचारिणः ।
हृष्टस्य रेतश्चस्कन्द तदृषिर्द्रोण आदधे ॥ ४ ॥

कुमारकी दशासे ही ब्रह्मचारी उस महर्षिका चित्त घृताची पर आसक्त होते ही उत्तेजित हो गया और उनका वीर्य गिर गया । उन्होंने उसीक्षण उसको द्रोण नामक पात्रमें रख दिया ॥ ४ ॥

ततः समभवद्द्रोणः कुमारस्तस्य धीमतः ।
अध्यगीष्ट स वेदांश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः ॥ ५ ॥

इस प्रकार उस धीमान् ऋषिसे द्रोण नामक कुमारने जन्म लिया । उस कुमारने सम्पूर्ण वेद और वेदाङ्ग पढे ॥ ५ ॥

भरद्वाजस्य तु सखा पृषतो नाम पार्थिवः ।
तस्यापि द्रुपदो नाम तदा समभवत्सुतः ॥ ६ ॥

उस समय पृषत् नामक एक राजा भरद्वाजके मित्र थे । उनसे भी द्रुपद नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ६ ॥

स नित्यमाश्रमं गत्वा द्रोणेन सह पार्षतः।
चिक्रीडाध्ययनं चैव चकार क्षत्रियर्षभः ॥ ७ ॥

वह क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ पृषत्पुत्र दूरुपद नित्य भरद्वाजके आश्रममें जाकर द्रोणके साथ खेलता था और अध्ययन करता था ॥ ७ ॥

ततस्तु पृषतेऽतीते स राजा द्रुपदोऽभवत्।
द्रोणोऽपि रामं शुश्राव दित्सन्तं वसु सर्वशः ॥ ८ ॥

बादमें राजा पृषत्के स्वर्गको सिधार जाने पर राजा दूरुपद राज्यपर बैठे। द्रोणने भी इधर सब कुछ दान दे देनेकी इच्छा करनेवाले परशुरामके बारेमें सुना ॥ ८ ॥

वनं तु प्रस्थितं रामं भरद्वाजसुतोऽब्रवीत्।
आगतं वित्तकामं मां विद्धि द्रोणं द्विजर्षभ ॥ ९ ॥

इसके बाद सब कुछ देकर वनमें जानेको उद्यत हुए हुए परशुरामसे भरद्वाजपुत्र बोले, कि हे द्विजोत्तम ! धन पानेकी इच्छासे आए हुए मुझे तुम द्रोण समझो ॥ ९ ॥

राम उवाच

शरीरमात्रमेवाद्य मयेदमवशेषितम्।
अस्त्राणि वा शरीरं वा ब्रह्मन्नन्यतरं वृणु ॥ १० ॥

राम बोले– हे ब्रह्मन् ! मैं सब कुछ दान कर चुका हूं, अब मेरा शरीर और अस्त्र ही शेष हैं, अतएव मेरे संपूर्ण अस्त्र वा शरीर इन दोनोंमेंसे एकको मांग लो ॥ १० ॥

द्रोण उवाच

अस्त्राणि चैव सर्वाणि तेषां संहारमेव च।
प्रयोगं चैव सर्वेषां दातुमर्हति मे भवान् ॥ ११ ॥

द्रोण बोले– हे भगवन् ! आप प्रयोग और उपसंहारके साथ सम्पूर्ण अस्त्र मुझको दे देवें ॥ ११ ॥

ब्राह्मण उवाच

तथेत्युक्त्वा ततस्तस्मै प्रददौ भृगुनन्दनः।
प्रतिगृह्य ततो द्रोणः कृतकृत्योऽभवत्तदा ॥ १२ ॥

ब्राह्मण बोले– तदनन्तर भृगुनन्दनने "तथास्तु" कह कर उनको सम्पूर्ण अस्त्र दे दिये। तब द्रोणने उनको लेकर कृतार्थ हो गए ॥ १२ ॥

संप्रहृष्टमनाश्चापि रामात्परमसंमतम् ।
ब्रह्मास्त्रं समनुप्राप्य नरेष्वभ्यधिकोऽभवत् ॥ १३ ॥

रामसे परम संमत ब्रह्मास्त्र पाकर और सब अस्त्रोंके पानेसे अधिक प्रसन्न वह द्रोण सब मनुष्योंसे अधिक बलशाली हो गए ॥ १३ ॥

ततो द्रुपदमासाद्य भारद्वाजः प्रतापवान् ।
अब्रवीत्पुरुषव्याघ्रः सखायं विद्धि मामिति ॥ १४ ॥

तब इसके बाद प्रतापी पुरुषसिंह भरद्वाजनन्दनने द्रुपदके निकट जाकर कहा, कि मुझे अपना मित्र समझो ॥ १४ ॥

द्रुपद उवाच

नाश्रोत्रियः श्रोत्रियस्य नारथी रथिनः सखा ।
नाराजा पार्थिवस्यापि सखिपूर्वं किमिष्यते ॥ १५ ॥

द्रुपदने उत्तर दिया– जो श्रोत्रिय नहीं है, वह कभी श्रोत्रियका मित्र नहीं हो सकता, जो रथी नहीं है, वह कभी रथीका मित्र नहीं हो सकता, और जो स्वयं राजा नहीं है, वह कभी राजाका मित्र नहीं हो सकता, अतएव तुम मुझे मित्र कहकर क्यों पुकार रहे हो ? ॥ १५ ॥

ब्राह्मण उवाच

स विनिश्चित्य मनसा पाञ्चाल्यं प्रति बुद्धिमान् ।
जगाम कुरुमुख्यानां नगरं नागसाह्वयम् ॥ १६ ॥

ब्राह्मण बोले– बुद्धिमान् द्रोण पाञ्चाल द्रुपदकी वह बात सुनकर मन ही मनमें बदला लेनेका निश्चय कर कौरवोंके हस्तिनापुर नामक नगरको गये ॥ १६ ॥

तस्मै पौत्रान्समादाय वसूनि विविधानि च ।
प्राप्ताय प्रददौ भीष्मः शिष्यान्द्रोणाय धीमते ॥ १७ ॥

तब भीष्म उन आये हुए बुद्धिमान् द्रोणके निकट अपने पौत्रों और नाना प्रकारके धनोंको लेकर गए और अपने पौत्रोंको शिष्यके रूपमें द्रोणको सौंप दिया ॥ १७ ॥

द्रोणः शिष्यांस्ततः सर्वानिदं वचनमब्रवीत् ।
समानीय तदा विद्वान्द्रुपदस्यासुखाय वै ॥ १८ ॥

तब द्रोण द्रुपदके दुःखके निमित्त अपने शिष्य पाण्डवोंको बुलवाकर सबसे यह वचन बोले ॥ १८ ॥

आचार्यवेतनं किंचिद्धृदि संपरिवर्तते ।
कृतास्त्रैस्तत्प्रदेयं स्यात्तदृतं वदतानघाः ॥ १९ ॥

हे निष्पाप राजकुमारो ! सत्य बोलो, कि तुम्हारे अस्त्रविद्यामें पंडित होनेपर तुम वह गुरु-दक्षिणा दोगे, कि जिसके लिये मैंने निश्चय कर रखा है ॥ १९ ॥

यदा च पाण्डवाः सर्वे कृतास्त्राः कृतनिश्रमाः।
ततो द्रोणोऽब्रवीद्भूयो वेतनार्थमिदं वचः ॥ २० ॥

जब परिश्रम करनेवाले पाण्डवोंने अस्त्रविद्या भलीभांति सीख ली, तब आचार्य द्रोणने फिर उनसे गुरुदक्षिणाके लिये यह वचन कहा ॥ २० ॥

पार्षतो द्रुपदो नाम छत्रवत्यां नरेश्वरः।
तस्यापकृष्य तद्राज्यं मम शीघ्रं प्रदीयताम् ॥ २१ ॥

पृषत्के पुत्र द्रुपद छत्रवती देशके अधीश हैं, तुम शीघ्र उनसे उस राज्यको छीन कर मुझको दे दो ॥ २१ ॥

ततः पाण्डुसुताः पञ्च निर्जित्य द्रुपदं युधि।
द्रोणाय दर्शयामासुर्बद्ध्वा ससचिवं तदा ॥ २२ ॥

अनन्तर पांचों पाण्डवोंने द्रुपदको युद्धमें परास्त करके मंत्रियोंके साथ बांधकर द्रोणको दिखाया ॥ २२ ॥

द्रोण उवाच

प्रार्थयामि त्वया सख्यं पुनरेव नराधिप।
अराजा किल नो राज्ञः सखा भवितुमर्हति ॥ २३ ॥

तब द्रोण द्रुपदसे बोले— हे राजन्! मैं फिर तुमसे मित्रता करना चाहता हूं, पर राजा न होनेसे राजासे मित्रता नहीं हो सकती ॥ २३ ॥

अतः प्रयतितं राज्ये यज्ञसेन मया तव।
राजासि दक्षिणे कूले भागीरथ्याहमुत्तरे ॥ २४ ॥

इसीलिये मैंने तुम्हारा राज्य लेनेका प्रयत्न किया है। अब तुम भागीरथीके दक्षिण किनारेके राजा होओ और मैं उत्तर किनारेका होऊं ॥ २४ ॥

ब्राह्मण उवाच

असत्कारः स सुमहान्मुहूर्तमपि तस्य तु।
न व्येति हृदयाद्राज्ञो दुर्मनाः स कृशोऽभवत् ॥ २५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चतुःपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५४ ॥ ५२६४ ॥

ब्राह्मण बोला— पर राजा द्रुपदके हृदयसे वह बडा अपमान क्षणभरके लिये भी दूर नहीं हुआ, वह उसके सोचसे अति दुःखी और दुबले होने लगे ॥ २५ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ चौव्वनवां अध्याय समाप्त ॥ १५४ ॥ ५२६४ ॥

: १५५ :

ब्राह्मण उवाच

अमर्षी द्रुपदो राजा कर्मसिद्धान्द्विजर्षभान् ।
अन्विच्छन्परिचक्राम ब्राह्मणावसथान्बहून् ॥ १ ॥

ब्राह्मण बोले– दुःखी राजा द्रुपद कर्ममें सिद्ध अच्छे ब्राह्मणोंको ढूंढते हुए बहुतसे ब्राह्मणोंके घर गए ॥ १ ॥

पुत्रजन्म परीप्सन्वै शोकोपहतचेतनः ।
नास्ति श्रेष्ठं ममापत्यमिति नित्यमचिन्तयत् ॥ २ ॥

शोकचित्तवाले होकर पुत्र प्राप्त करनेकी इच्छासे राजा द्रुपदके हृदयमें " मेरी अच्छी सन्तान नहीं है " यह चिन्ता सदा जगती रहती थी ॥ २ ॥

जातान्पुत्रान्स निर्वेदाद्धिग्बन्धूनिति चाब्रवीत् ।
निःश्वासपरमश्चासीद्द्रोणं प्रतिचिकीर्षया ॥ ३ ॥

वह अपने अनादरके कारण अपने उत्पन्न हुए पुत्रों और मित्रोंको धिक्कारते हुए द्रोणसे बदला लेनेकी इच्छासे सदा लंबी सांस छोडा करते थे ॥ ३ ॥

प्रभावं विनयं शिक्षां द्रोणस्य चरितानि च ।
क्षात्रेण च बलेनास्य चिन्तयन्नान्वपद्यत ।
प्रतिकर्तुं नृपश्रेष्ठो यतमानोऽपि भारत ॥ ४ ॥

वह बदला लेनेके लिए प्रयत्न करनेपर भी सोचकर निश्चय नहीं कर सके, कि क्षत्रिय बलसे किस प्रकार द्रोणके प्रभाव, नम्रता, शिक्षा और चरित्रसे बढ सकते हैं ॥ ४ ॥

अभितः सोऽथ कल्माषीं गङ्गाकूले परिभ्रमन् ।
ब्राह्मणावसथं पुण्यमाससाद महीपतिः ॥ ५ ॥

इसके बाद घूमते घामते राजा गङ्गाके किनारे कल्मापपाद नामक राजाके नगरके निकट ब्राह्मणोंके पवित्र स्थानमें जा पहुंचे ॥ ५ ॥

तत्र नास्नातकः कश्चिन्न चासीदव्रती द्विजः ।
तथैव नामहाभागः सोऽपश्यत्संशितव्रतौ ॥ ६ ॥

वहां उन्होंने निवास करनेवाले व्रतशीलोंमें कोई भी अस्नातक नहीं देखा, किसी भी ब्राह्मणको व्रतरहित नहीं देखा, किसीको भी दुर्भाग्यशाली नहीं देखा ॥ ६ ॥

याजोपयाजौ ब्रह्मर्षी शाम्यन्तौ पृषतात्मजः ।
संहिताध्ययने युक्तौ गोत्रतश्चापि काश्यपौ ॥ ७ ॥

उस पृषत्पुत्रने उन ब्राह्मणोंमें याज और उपयाज नामक व्रतशील, ब्रह्मर्षी, शमगुणी, संहिता पाठमें नियुक्त, काश्यप गोत्रवाले ॥ ७ ॥

तारणे युक्तरूपौ तौ ब्राह्मणावृषिसत्तमौ ।
स तावामन्त्रयामास सर्वकामैरतन्द्रितः ॥ ८ ॥

सूर्यके उपासक, सुंदर रूपवाले, ऋषियोंमें श्रेष्ठ दो ब्रह्मर्षियोंको देखकर उनसे इच्छानुरूप कार्य पूरा करानेके योग्य समझ कर राजाने आलस्यको विसार कर सम्पूर्ण कामनाओंसे उनकी उपासना की और उन्हें आमंत्रण दिया ॥ ८ ॥

बुद्ध्वा तयोर्बलं बुद्धिं कनीयांसमुपह्वरे ।
प्रपेदे छन्दयन्कामैरुपयाजं धृतव्रतम् ॥ ९ ॥

तब उन दोनोंके बलकी परीक्षा करके उनमें कनिष्ठको शक्तिमान् जानकर एकान्तमें संपूर्ण कामकी वस्तुओंका लोभ दिखा, उस व्रतशील उपयाजकी शरण ली ॥ ९ ॥

पादशुश्रूषणे युक्तः प्रियवाक्सर्वकामदः ।
अर्हयित्वा यथान्यायमुपयाजमुवाच सः ॥ १० ॥

पैरोंकी सेवामें नियुक्त होकर, मीठी बात कह, सभी अभिलाषा पूरी कर इत्यादि उपायोंसे उन व्रतशील उपयाजको प्रसन्न करने लगे और उनकी विधिपूर्वक पूजा कर उससे बोले ॥ १० ॥

येन मे कर्मणा ब्रह्मन्पुत्रः स्याद्द्रोणमृत्यवे ।
उपयाज कृते तस्मिन्गवां दातास्मि तेऽर्बुदम् ॥ ११ ॥

हे ब्रह्मन् उपयाज ! यदि आप यह कर्म करें, कि जिसके करनेसे मेरे द्रोणका नाश करनेवाले एक पुत्रका जन्म हो, तो मैं आपको एक अर्बुद अर्थात् दस करोड गौ दूंगा ॥ ११ ॥

यद्वा तेऽन्यद्द्विजश्रेष्ठ मनसः सुप्रियं भवेत् ।
सर्वं तत्ते प्रदाताहं न हि मेऽस्त्यत्र संशयः ॥ १२ ॥

अथवा, हे द्विजश्रेष्ठ ! यदि आपकी और कोई वस्तु आपके मनको प्रिय हो, तो इसमें संदेह नहीं है, कि उसे भी पूराकर दूंगा ॥ १२ ॥

इत्युक्तो नाहमित्येवं तमृषिः प्रत्युवाच ह ।
आराधयिष्यन्द्रुपदः स तं पर्यचरत्पुनः ॥ १३ ॥

इस प्रकार कहे जानेपर उससे ऋषि बोले, कि मैं यह काम नहीं कर सकूंगा। द्रुपद उस पर भी उन ऋषिको प्रसन्न करनेके लिये फिर सेवा करने लगे ॥ १३ ॥

ततः संवत्सरस्यान्ते द्रुपदं स द्विजोत्तमः ।
उपयाजोऽब्रवीद्राजन्काले मधुरया गिरा ॥ १४ ॥

हे राजन् ! तब एक वर्ष बीत जानेपर एक दिन द्विजोत्तम उपयाजने राजा द्रुपदको मीठी बातोंसे कहा ॥ १४ ॥

ज्येष्ठो भ्राता ममागृह्णाद्विचरन्वननिर्झरे ।
अपरिज्ञातशौचायां भूमौ निपतितं फलम् ॥ १५ ॥

एक समय मेरे ज्येष्ठ भाईने झरनेवाले वनमें चलते समय ऐसे स्थानसे गिरा हुआ फल उठा लिया, कि वह नहीं जानते थे, कि वह स्थान पवित्र है वा नहीं ॥ १५ ॥

तदपश्यमहं भ्रातुरसांप्रतमनुव्रजन् ।
विमर्शं संकरादाने नायं कुर्यात्कथंचन ॥ १६ ॥

मैं उनके पीछे चल रहा था, अतः उन्हें उस अयोग्य कामको मैंने करते देखा था । हे राजन् ! उन्होंने उस दोषयुक्त वस्तुके लेनेमें कोई विचार नहीं किया ॥ १६ ॥

दृष्ट्वा फलस्य नापश्यद्दोषा येऽस्यानुबन्धिकाः ।
विविनक्ति न शौचं यः सोऽन्यत्रापि कथं भवेत् ॥ १७ ॥

उस फलको देखते ही उसके पापयुक्त दोष उनकी बुद्धिमें एकबार भी नहीं आये; अतएव जिन्होंने एक स्थानमें शौचका विचार नहीं किया, वह अन्य स्थानमें दोषका विमर्श कैसे करेंगे ? ॥ १७ ॥

संहिताध्ययनं कुर्वन्वसन्गुरुकुले च यः ।
भैक्ष्यमुच्छिष्टमन्येषां भुङ्क्ते चापि सदा सदा ।
कीर्तयन्गुणमन्नानामघृणी च पुनः पुनः ॥ १८ ॥

जब वह गुरुकुलमें रहकर संहिता पढते थे, तब बहुधा औरोंकी जूठी की हुई वस्तु भी खा लेते थे, इसमें उनको घृणा नहीं थी; वह सदा अन्नहीका गुण गाया करते थे ॥ १८ ॥

तमहं फलार्थिनं मन्ये भ्रातरं तर्कचक्षुषा ।
तं वै गच्छस्व नृपते स त्वां संयाजयिष्यति ॥ १९ ॥

उनके उस प्रकारके कामोंको देखनेके कारण मैं तर्करूपी आंखोंसे उनको फल प्राप्त करनेका अभिलाषी समझ रहा हूं ! हे महाराज ! तुम उनके पास जाओ; वह तुम्हारे यज्ञका कार्य अवश्य पूरा करेंगे ॥ १९ ॥

×

जुगुप्समानो नृपतिर्मनसेदं विचिन्तयन्।
उपयाजवचः श्रुत्वा नृपतिः सर्वधर्मवित्।
अभिसंपूज्य पूजार्हमृषिं याजमुवाच ह ॥ २० ॥

राजा द्रुपद याजके चरित्रको सुनकर निंदा करनेकी इच्छा होने पर भी मन ही मनमें अपने कार्यके बारेमें विचार कर उपयाजकी बातको सुनकर धर्मज्ञ राजा पूजनीय ऋषि याजको सब प्रकारसे पूजकर बोले ॥ २० ॥

अयुतानि ददान्यष्टौ गवां याजय मां विभो।
द्रोणवैराभिसंतप्तं त्वं ह्लादयितुमर्हसि ॥ २१ ॥

हे विभो! मैं आपको अस्सी हजार गौ दान करूंगा, आप मेरा याजन कार्य करें। मैं द्रोणकी शत्रुतारूपी आगसे जल रहा हूं, आप कृपारूपी जल सींचकर मुझको शीतल करें ॥२१॥

स हि ब्रह्मविदां श्रेष्ठो ब्रह्मास्त्रे चाप्यनुत्तमः।
तस्माद्द्रोणः पराजैषीन्मां वै स सखिविग्रहे ॥ २२ ॥

द्रोण ब्रह्मविद्या जाननेवालोंमें श्रेष्ठ हैं और ब्रह्मास्त्रमें भी अत्यन्त उत्तम हैं; इसलिये उन्होंने मित्रताकी लडाईमें मुझको परास्त किया है ॥ २२ ॥

क्षत्रियो नास्ति तुल्योऽस्य पृथिव्यां कश्चिदग्रणीः।
कौरवाचार्यमुख्यस्य भारद्वाजस्य धीमतः ॥ २३ ॥

उस बुद्धिमान् और कौरवोंके प्रधान आचार्य द्रोणकी तुलनामें इस भूमण्डलमें कोई भी क्षत्रिय श्रेष्ठ नहीं है ॥ २३ ॥

द्रोणस्य शरजालानि प्राणिदेहहराणि च।
षडरत्नि धनुश्चास्य दृश्यतेऽप्रतिमं महत् ॥ २४ ॥

उनका धनुष छः हाथ जितना बडा और अद्वितीय है; उनका बाणजाल भी सब जीवोंके शरीरका नाश कर सकता है ॥ २४ ॥

स हि ब्राह्मणवेगेन क्षात्रं वेगमसंशयम्।
प्रतिहन्ति महेष्वासो भारद्वाजो महामनाः ॥ २५ ॥

इसमें संदेह नहीं है कि वह महानुभाव भारद्वाज ब्राह्मणके वेशमें बडे धनुर्धारी होकर क्षत्रियतेजका सत्यानाश कर रहे हैं ॥ २५ ॥

क्षत्रोच्छेदाय विहितो जामदग्न्य इवास्थितः।
तस्य ह्यस्त्रबलं घोरमप्रसह्यं नरैर्भुवि ॥ २६ ॥

वह क्षत्रिय नाशके लिये मानो दूसरे परशुराम बनकर पैदा हुए हैं। इस पृथ्वीभरमें मनुष्योंके द्वारा उनका कठोर अस्त्रबल सहा नहीं जा सकता ॥ २६ ॥

ब्राह्ममुच्चारयंस्तेजो हुताहुतिरिवानलः ।
समेत्य स दहत्याजौ क्षत्रं ब्रह्मपुरःसरः ।
ब्रह्मक्षत्रे च विहिते ब्रह्मतेजो विशिष्यते ॥ २७ ॥

वह आहुतियुक्त प्रज्ज्वलित अग्निकी भांति ब्राह्मतेजके साथ साथ क्षत्रियतेजको मिलाकर शत्रुको जला मारते हैं । उनका ब्राह्मतेज क्षत्रियतेजसे मिलकर श्रेष्ठ होने पर भी आपका ब्राह्मतेज उनसे श्रेष्ठ है ॥ २७ ॥

सोऽहं क्षत्रबलाद्धीनो ब्रह्मतेजः प्रपेदिवान् ।
द्रोणाद्विशिष्टमासाद्य भवन्तं ब्रह्मवित्तमम् ॥ २८ ॥

केवल क्षत्रियबलको धारण करनेवाला वह मैं उनसे हीन हूं; अतएव मैं आपको जो द्रोणसे श्रेष्ठ और वेदके अच्छे जानकार हैं, प्राप्त होकर आपके ब्राह्मतेजकी शरणमें आया हूं ॥२८॥

द्रोणान्तकमहं पुत्रं लभेयं युधि दुर्जयम् ।
तत्कर्म कुरु मे याज निर्वपाम्यर्बुदं गवाम् ॥ २९ ॥

हे याज ! ऐसा काम करें, कि जिससे मैं लडाईमें जीते जानेके अयोग्य और द्रोणको नष्ट करनेवाला पुत्र प्राप्त कर सकूं; आपको दश करोड गायें देनेको प्रस्तुत हूं ॥ २९ ॥

तथेत्युक्त्वा तु तं याजो याज्यार्थमुपकल्पयत् ।
गुर्वर्थ इति चाकाममुपयाजमचोदयत् ।
याजो द्रोणविनाशाय प्रतिजज्ञे तथा च सः ॥ ३० ॥

याज उस राजासे ' तथास्तु ' कहकर यज्ञके प्रयोगके विषयमें मन ही मनमें विचार करने लगे; और उस कार्यको कठिन जानकर निष्काम कर्म करनेवाले उपयाजसे सहायता करनेको कहा । महर्षि याजने तब द्रोणनाशके लिये प्रतिज्ञा की ॥ ३० ॥

ततस्तस्य नरेन्द्रस्य उपयाजो महातपाः ।
आचख्यौ कर्म वैतानं तदा पुत्रफलाय वै ॥ ३१ ॥

इसके बाद महातपस्वी उपयाजने नरेन्द्र द्रुपदसे उनके पुत्र प्राप्तिरूप फलके लिये श्रौताग्निसे साध्य कर्मकी कथा कह सुनायी और कहा ॥ ३१ ॥

स च पुत्रो महावीर्यो महातेजा महाबलः ।
इष्यते यद्विधो राजन्भविता ते तथाविधः ॥ ३२ ॥

हे द्रुपद ! आप जैसे एक पुत्रकी कामना करेंगे, आपको वैसा ही पुत्र मिलेगा । वह आपका पुत्र महावीर्यवान्, महातेजस्वी और अत्यन्त बलशाली होगा ॥ ३२ ॥

भारद्वाजस्य हन्तारं सोऽभिसंधाय भूमिपः।
आजह्रे तत्तथा सर्वं द्रुपदः कर्मसिद्धये ॥ ३३ ॥

भूपाल द्रुपदने तब द्रोणके विनाशी पुत्रको पानेका उपाय जानकर कार्य सिद्ध करनेके लिये उस यज्ञके योग्य संपूर्ण सामग्री इकट्ठी कर दी, तब उन्होंने यज्ञ आरंभ कर दिया ॥३३॥

याजस्तु हवनस्यान्ते देवीमाह्वापयत्तदा।
प्रैहि मां राज्ञि पृषति मिथुनं त्वामुपस्थितम् ॥ ३४ ॥

तदनन्तर याजने हवनके अन्तमें रानीको बुलाया और कहा कि हे राज्ञी! पृषत्राज वधू! तुम हवि लेनेके लिये शीघ्र मेरे पास आओ; तुम्हारे पुत्र और कन्या उपस्थित हैं ॥ ३४ ॥

देव्युवाच

अवलिप्तं मे मुखं ब्रह्मन्पुण्यान्गन्धान्बिभर्मि च।
सुतार्थेनोपरुद्धास्मि तिष्ठ याज मम प्रिये ॥ ३५ ॥

देवी बोली– हे ब्रह्मन्! मेरा मुंह कुंकुमादि पदार्थोंसे लिप्त है, उबटन आदि सुगन्धित पदार्थोंको मैं लगाए हुए हैं, अतएव मेरे अभीष्ट पुत्रके लिये आप कुछ काल विलंब करें; मैं शुद्ध हो जाती हूं ॥ ३५ ॥

याज उवाच

याजेन श्रपितं हव्यमुपयाजेन मन्त्रितम्।
कथं कामं न संदध्यात्सा त्वं विप्रैहि तिष्ठ वा ॥ ३६ ॥

याज बोले– हवनके पदार्थ उपयाजसे मंत्रयुक्त होकर याजके द्वारा पकाये गये हैं, अतः तुम चाहे आओ वा न आओ, अवश्य ही उससे कामना पूरी होगी ॥ ३६ ॥

ब्राह्मण उवाच

एवमुक्ते तु याजेन हुते हविषि संस्कृते।
उत्तस्थौ पावकात्तस्मात्कुमारो देवसंनिभः ॥ ३७ ॥

ब्राह्मण बोले– याजने यह कह कर अग्निमें उस संस्कार किये हुए हव्यकी ज्यों ही आहुति दी, त्यों ही उस अग्निसे देवके समान एक कुमार उत्पन्न हुआ ॥ ३७ ॥

ज्वालावर्णो घोररूपः किरीटी वर्म चोत्तमम्।
बिभ्रत्सखड्गः सशरो धनुष्मान्विनदन्मुहुः ॥ ३८ ॥

वह ज्वालावर्ण, भीमाकृति किरीटसे सुशोभित सुन्दर कवचयुक्त तलवारसहित धनुषबाणधारी था। वह कुमार जन्म लेते ही बार बार सिंह–गर्जन करता हुआ ॥ ३८ ॥

सोऽध्यारोहद्रथवरं तेन च प्रययौ तदा ।
ततः प्रणेदुः पाञ्चालाः प्रहृष्टाः साधु साध्विति ॥ ३९ ॥

प्रधान रथ पर चढ गया और उस रथमें इधर उधर जाने लगा । यह देखकर पाञ्चाल-लोग आनन्दित होके "साधु-साधु" कहके भारी शब्द करने लगे ॥ ३९ ॥

भयापहो राजपुत्रः पाञ्चालानां यशस्करः ।
राज्ञः शोकापहो जात एष द्रोणवधाय वै ।
इत्युवाच महद् भूतमदृश्यं खेचरं तदा ॥ ४० ॥

"इस राजकुमारने द्रोणवधके लिये जन्म लिया है । यह पुत्र पाञ्चालोंका यश बढानेवाला, भयनाशी और राजाका शोक दूर करनेवाला होगा ।" इस प्रकार एक अदृश्य बडी आकाशवाणी हुई ॥ ४० ॥

कुमारी चापि पाञ्चाली वेदिमध्यात्समुत्थिता ।
सुभगा दर्शनीयाङ्गी वेदिमध्या मनोरमा ॥ ४१ ॥

तदन्तर वेदीके मध्यसे पाञ्चालराजकुमारी सौभाग्यवती, सुन्दर अंगोंवाली एक कुमारी उत्पन्न हुई ॥ ४१ ॥

श्यामा पद्मपलाशाक्षी नीलकुञ्चितमूर्धजा ।
मानुषं विग्रहं कृत्वा साक्षादमरवर्णिनी ॥ ४२ ॥

वह श्यामवर्णकी पद्मपलाशके समान नीली आंखोंवाली थी । उसके केश काले और घुंघराले थे; उसकी शोभा देखकर ऐसा प्रतीत होता था कि मानों साक्षात् देवकन्या मानवीके स्वरूपमें प्रगट हुई हो ॥ ४२ ॥

नीलोत्पलसमो गन्धो यस्याः क्रोशात्प्रवायति ।
या बिभर्ति परं रूपं यस्या नास्त्युपमा भुवि ॥ ४३ ॥

उसकी नीलपद्म समान देहकी गन्ध कोसभरकी दूरीतक पहुंचने लगी । वह देवरूपिणी कन्या ऐसी अनुपम रूपवती थी, कि संसारमें उसकी कोई उपमा नहीं थी ॥ ४३ ॥

तां चापि जातां सुश्रोणीं वागुवाचाशरीरिणी ।
सर्वयोषिद्वरा कृष्णा क्षयं क्षत्रं निनीषति ॥ ४४ ॥

उस सुन्दरी कन्याके जन्म लेने पर भी आकाशवाणी हुई, कि "यह कृष्णा सम्पूर्ण नारियोंमें श्रेष्ठ और क्षत्रियकुलोंका नाश करानेवाली होगी ॥ ४४ ॥

सुरकार्यमियं काले करिष्यति सुमध्यमा ।
अस्या हेतोः क्षत्रियाणां महदुत्पत्स्यते भयम् ॥ ४५ ॥

इस सुन्दरीसे उचित समय पर देवताओंका कार्य पूरा होगा। इसके कारण ही क्षत्रियोंमें बडा भय उपस्थित होगा" ॥ ४५ ॥

तच्छ्रुत्वा सर्वपाञ्चालाः प्रणेदुः सिंहसङ्घवत् ।
न चैतान्हर्षसंपूर्णानियं सेहे वसुन्धरा ॥ ४६ ॥

संपूर्ण पाञ्चाल उसे सुनकर हर्षके मारे सिंहोंके समूहके समान ध्वनि करने लगे। और धरती उन हर्षित पाञ्चालोंका भार संभालनेमें असमर्थ हो गई ॥ ४६ ॥

तौ दृष्ट्वा पृषती याजं प्रपेदे वै सुतार्थिनी ।
न वै मदन्यां जननीं जानीयातामिमाविति ॥ ४७ ॥

पुत्रचाहनेवाली राजा द्रुपदकी रानी उस पुत्र और कन्याको देखकर याजके निकट जा पहुंची और बोली, आप ऐसा करें, कि यह पुत्र और कन्या मेरे अतिरिक्त किसी दूसरीको माताके रूपमें जान न सकें ॥ ४७ ॥

तथेत्युवाच तां याजो राज्ञः प्रियचिकीर्षया ।
तयोश्च नामनी चक्रुर्द्विजाः संपूर्णमानसाः ॥ ४८ ॥

याज राजाके प्रिय कार्यको करनेके लिये "तथास्तु" बोले, तब ब्राह्मणगणोंने सफल मनोरथवाले होकर उनके नाम रखे ॥ ४८ ॥

धृष्टत्वादतिधृष्णुत्वाद्धर्माद्द्युत्संभवादपि ।
धृष्टद्युम्नः कुमारोऽयं द्रुपदस्य भवत्विति ॥ ४९ ॥

राजा द्रुपदका यह कुमार धृष्ट अर्थात प्रगल्भ, अति धृष्ट अर्थात् विपक्षियोंकी उन्नति न सहनेवाला और द्युम्नादि अर्थात् कवच कुण्डल आदिके साथ उत्पन्न हुआ है, अतः इसका नाम धृष्टद्युम्न हो ॥ ४९ ॥

कृष्णेत्येवाब्रुवन्कृष्णां कृष्णाभूत्सा हि वर्णतः ।
तथा तन्मिथुनं जज्ञे द्रुपदस्य महामखे ॥ ५० ॥

और यह कुमारी काली हुई है, अतः इसका नाम कृष्णा हो। राजा द्रुपदके महायज्ञसे ऐसे पुत्र और कन्याकी उत्पत्ति हुई थी ॥ ५० ॥

धृष्टद्युम्नं तु पाञ्चाल्यमानीय स्वं निवेशनम् ।
उपाकरोदस्त्रहेतोर्भारद्वाजः प्रतापवान् ॥ ५१ ॥

अनन्तर प्रतापी भारद्वाज द्रोणने पाञ्चालराजके पुत्र धृष्टद्युम्नको अपने घरमें लाकर अस्त्रोंकी शिक्षा देकर पहिले लिये हुए आधे राज्यको लेनेके बदलेमें उपकार किया ॥ ५१ ॥

अमोक्षणीयं दैवं हि भावि मत्वा महामतिः ।
तथा तत्कृतवान्द्रोण आत्मकीर्त्यनुरक्षणात् ॥ ५२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५५ ॥ ५२१६ ॥

महामति द्रोणने यह समझ कर कि दैवीभाव लङ्घनयोग्य नहीं है, अपनी कीर्तिकी रक्षाके लिये ऐसा कार्य किया ॥ ५२ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ पचपनवां अध्याय समाप्त ॥ १५५ ॥ ५२१६ ॥

: १५६ :

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु कौन्तेयाः शल्यविद्धा इवाभवन् ।
सर्वे चास्वस्थमनसो बभूवुस्ते महारथाः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– अनन्तर महारथी पाण्डवगण वह वृत्तान्त सुनकर शूलीसे विंधे जानेकी भांति दुःखी हुए ॥ १ ॥

ततः कुन्ती सुतान्दृष्ट्वा विभ्रान्तान्गतचेतसः ।
युधिष्ठिरमुवाचेदं वचनं सत्यवादिनी ॥ २ ॥

सत्य बोलनेवाली कुन्ती पुत्रोंको अनमना देखकर युधिष्ठिरसे यह वचन बोली ॥ २ ॥

चिररात्रोषिताः स्मेह ब्राह्मणस्य निवेशने ।
रममाणाः पुरे रम्ये लब्धभैक्षा युधिष्ठिर ॥ ३ ॥

हमको इस ब्राह्मणके घर रहते हुए बहुत दिन हो गए हैं। इस सुन्दर नगरमें महात्माओंसे भिक्षा ले ले कर खेल कूदकर काल विताया है ॥ ३ ॥

यानीह रमणीयानि वनान्युपवनानि च ।
सर्वाणि तानि दृष्टानि पुनः पुनररिंदम ॥ ४ ॥

हे शत्रुनाशी ! यहां जितने सुन्दर सुन्दर वन और उपवन हैं, वह सभी हम बार बार देख चुके हैं ॥ ४ ॥

पुनर्दृष्टानि तान्येव प्रीणयन्ति न नस्तथा ।
भैक्षं च न तथा वीर लभ्यते कुरुनन्दन ॥ ५ ॥

हे वीर कुरुनन्दन ! उन स्थानोंको फिर देखनेकी अब वैसी प्रीति नहीं होती, और एक स्थानमें रहनेसे वैसी भिक्षा भी नहीं मिलती ॥ ५ ॥

ते वयं साधु पाञ्चालान्गच्छाम यदि मन्यसे ।
अपूर्वदर्शनं तात रमणीयं भविष्यति ॥ ६ ॥

अतएव यदि तुम्हारा मत होवे, तो हम सुखसे पाञ्चाल देशको जायें, वह स्थान पहिले नहीं देखा है, उसके देखनेसे सुख प्राप्त होगा ॥ ६ ॥

सुभिक्षाश्चैव पाञ्चालाः श्रूयन्ते शत्रुकर्शन ।
यज्ञसेनश्च राजासौ ब्रह्मण्य इति शुश्रुमः ॥ ७ ॥

हे शत्रुनाशि ! सुना है, कि पाञ्चालदेश अन्नसे भरा पूरा है और वहांके राजा यज्ञसेन भी ब्रह्मपरायण हैं ॥ ७ ॥

एकत्र चिरवासो हि क्षमो न च मतो मम ।
ते तत्र साधु गच्छामो यदि त्वं पुत्र मन्यसे ॥ ८ ॥

फिर भी एक स्थानमें सदा रहना मेरा अभीष्ट नहीं है, यह उचित भी नहीं है। यदि तुम्हारा मत होवे, तो हम उस स्थानको सुखपूर्वक पधारें ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

भवत्या यन्मतं कार्यं तदस्माकं परं हितम् ।
अनुजांस्तु न जानामि गच्छेयुर्नेति वा पुनः ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर बोले– आपकी जैसी इच्छा होगी, वही हम करेंगे, और वही हमारी मङ्गलदायी होगी; पर मैं नहीं जानता कि भाई भी चलना चाहते हैं या नहीं ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः कुन्ती भीमसेनमर्जुनं यमजौ तथा ।
उवाच गमनं ते च तथेत्येवाब्रुवंस्तदा ॥ १० ॥

वैशम्पायन बोले– अनन्तर कुन्तीने जब भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेवसे वहां जानेकी इच्छा पूछी, तब वे भी उस पर राजी हो गए ॥ १० ॥

तत आमन्त्र्य तं विप्रं कुन्ती राजन्सुतैः सह ।
प्रतस्थे नगरीं रम्यां द्रुपदस्य महात्मनः ॥ ११ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५६ ॥ ५३२७ ॥

महाराज ! अनन्तर कुन्ती और उनके बेटे ब्राह्मणसे मिलकर महात्मा भूपाल द्रुपदके सुन्दर नगरके लिए चल पडे ॥ ११ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ छप्पनवां अध्याय समाप्त ॥ १५६ ॥ ॥ ५३२७ ॥

: १५७ :

वैशम्पायन उवाच

वसत्सु तेषु प्रच्छन्नं पाण्डवेषु महात्मसु ।
आजगामाथ तान्द्रष्टुं व्यासः सत्यवतीसुतः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– जब महात्मा पाण्डवलोग ब्राह्मणके घरमें छिपकर रह रहे थे, तब एक दिन सत्यवतीके पुत्र व्यास उनकी भेंटके लिये आये ॥ १ ॥

तमागतमभिप्रेक्ष्य प्रत्युद्गम्य परंतपाः ।
प्रणिपत्याभिवाद्यैनं तस्थुः प्राञ्जलयस्तदा ॥ २ ॥

शत्रुनाशी पाण्डवगण उनको आते देखकर उठकरके प्रणामपूर्वक उनका अभिवादन करके दोनों हाथ जोड करके खडे हो गए ॥ २ ॥

समनुज्ञाप्य तान्सर्वानासीनान्मुनिरब्रवीत् ।
प्रसन्नः पूजितः पार्थैः प्रीतिपूर्वमिदं वचः ॥ ३ ॥

इसके बाद उनकी आज्ञासे वे सब बैठ गये । वह उनसे पूजे जाकर प्रीतिपूर्वक यह वचन बोले ॥ ३ ॥

अपि धर्मेण वर्तध्वं शास्त्रेण च परंतपाः ।
अपि विप्रेषु वः पूजा पूजार्हेषु न हीयते ॥ ४ ॥

हे शत्रुनाशियो ! तुम धर्ममार्गमें रहकर शास्त्रके अनुसार अपनी जीविका कर लेते हो न? पूजनीय ब्राह्मण लोग तुमसे पूजे तो जाते हैं ? ॥ ४ ॥

अथ धर्मार्थवद्वाक्यमुक्त्वा स भगवानृषिः ।
विचित्राश्च कथास्तास्ताः पुनरेवेदमब्रवीत् ॥ ५ ॥

अनन्तर भगवान् कृष्णद्वैपायन धर्मार्थयुक्त वाक्य कहकर भांति भांतिकी विचित्र कथा कह कर फिर यह कहने लगे ॥ ५ ॥

आसीत्तपोवने काचिदृषेः कन्या महात्मनः ।
विलग्नमध्या सुश्रोणी सुभ्रूः सर्वगुणान्विता । ॥ ६ ॥

एक तपोवनमें किसी महात्मा ऋषिकी एक कन्या थी; उसकी कमर पतली और भौंह अच्छी थीं और वह बडी सुंदरी और सब गुणोंसे युक्त थी ॥ ६ ॥

कर्मभिः स्वकृतैः सा तु दुर्भगा समपद्यत ।
नाध्यगच्छत्पतिं सा तु कन्या रूपवती सती ॥ ७ ॥

ऋषिकन्या अपने कर्मवश अभागी हो गई थी । सती और रूपवती होनेपर भी उसे कोई पति नहीं मिला ॥ ७ ॥

×

तपस्तप्तुमथारेभे पत्यर्थमसुखा ततः।
तोषयामास तपसा सा किलोग्रेण शंकरम् ॥ ८ ॥

तब वह चित्तमें दुःख मानकर पति पानेके लिये तप करने लगी। और कडी तपस्यासे उसने भगवान् शंकरको संतुष्ट किया ॥ ८ ॥

तस्याः स भगवांस्तुष्टस्तामुवाच तपस्विनीम्।
वरं वरय भद्रं ते वरदोऽस्मीति भामिनी ॥ ९ ॥

उसकी उस तपस्यासे शंकर प्रसन्न होकर उस तपस्विनीसे बोले– हे भद्रे ! मैं तुमको वर देनेको उद्यत हुआ हूं, वर मांगो, तुम्हारा मंगल होगा ॥ ९ ॥

अथेश्वरमुवाचेदमात्मनः सा वचो हितम्।
पतिं सर्वगुणोपेतमिच्छामीति पुनः पुनः ॥ १० ॥

ऋषिकन्या अपने हितके निमित्त ईश्वरसे बार बार बोली, मैं सब गुणोंसे भूषित पति मांगती हूं ॥ १० ॥

तामथ प्रत्युवाचेदमीशानो वदतां वरः।
पञ्च ते पतयो भद्रे भविष्यन्तीति शंकरः ॥ ११ ॥

वाक्पति ईशान शंकर उससे बोले, हे भद्रे ! तुम्हें पांच पति मिलेंगे ॥ ११ ॥

प्रतिब्रुवन्तीमेकं मे पतिं देहीति शंकरम्।
पुनरेवाब्रवीद्देव इदं वचनमुत्तमम् ॥ १२ ॥

हे देव ! हे विभो ! मैं आपकी कृपासे एक ही पति मांगती हूं। इस प्रकार कहती हुई उस कन्यासे देवदेव फिर यह सुन्दर वाणी बोले ॥ १२ ॥

पञ्चकृत्वस्त्वया उक्तः पतिं देहीत्यहं पुनः।
देहमन्यं गतायास्ते यथोक्तं तद्भविष्यति ॥ १३ ॥

तुमने यह बात कि "पति दो" पांच बार मुझसे कही है, अतः अन्य जन्ममें तुम्हारे जाने पर तुम्हारे पांच पति होंगे ॥ १३ ॥

द्रुपदस्य कुले जाता कन्या सा देवरूपिणी।
निर्दिष्टाः भवतां पत्नी कृष्णा पार्षत्यनिन्दिता ॥ १४ ॥

हे भरतकुलभूषणो ! उस कन्याने इन दिनों द्रुपदकुलमें जन्म लिया है। देवता समान अनिन्दनीया कृष्णा नाम्नी वह द्रौपदी तुम्हारी पत्नी बननेकी बाट देख रही है ॥ १४ ॥

पाञ्चालनगरं तस्मात्प्रविशध्वं महाबलाः ।
सुखिनस्तामनुप्राप्य भविष्यथ न संशयः ॥ १५ ॥

अतः अब तुम पाञ्चाल नगरमें जाकर वहां टिके रहो । महाबली पाण्डवो ! तुम निःसंदेह उस कृष्णाको पाकर सुख पाओगे ॥ १५ ॥

एवमुक्त्वा महाभागः पाण्डवानां पितामहः ।
पार्थानामन्त्र्य कुन्तीं च प्रातिष्ठत महातपाः ॥ १६ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५७ ॥ ५३४३ ॥

पाण्डवोंके दादा महातपस्वी, महाभाग व्यासदेव पृथा और पार्थोंसे यह कह कर और उन्हें सलाह देकर चले गये ॥ १६ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ सत्तावनवां अध्याय समाप्त ॥ १५७ ॥ ५३४३ ॥

: १५८ :

वैशम्पायन उवाच

ते प्रतस्थुः पुरस्कृत्य मातरं पुरुषर्षभाः ।
समैरुदङ्मुखैर्मार्गैर्यथोद्दिष्टं परंतपाः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— पुरुषश्रेष्ठ शत्रुनाशी पाण्डवगण माताको आगे करके वे अपने उद्देशके अनुसार सीधे उत्तरकी ओर चले ॥ १ ॥

ते गच्छन्तस्त्वहोरात्रं तीर्थं सोमश्रवायणम् ।
आसेदुः पुरुषव्याघ्रा गङ्गायां पाण्डुनन्दनाः ॥ २ ॥

वे दिनरात चलकर उस सोमश्रवायण नामक तीर्थमें जा पहुंचे और वहां पहुंचकर वे पुरुषोंमें सिंहरूप पाण्डव गंगा किनारे जाकर पहुंच गए ॥ २ ॥

उल्मुकं तु समुद्यम्य तेषामग्रे धनञ्जयः ।
प्रकाशार्थं ययौ तत्र रक्षार्थं च महायशाः ॥ ३ ॥

वहां दिन बीतने पर महायशस्वी धनञ्जय पथ दिखाने और रक्षाके लिये एक जलती हुई लकडी उठाकर आगे आगे चले ॥ ३ ॥

तत्र गङ्गाजले रम्ये विविक्ते क्रीडयन्स्त्रियः ।
ईर्ष्युर्गन्धर्वराजः स्म जलक्रीडामुपागतः ॥ ४ ॥

वहां ईर्षासे भरा हुआ एक गंधर्वराज जलक्रीडाके लिये आकर सुंदर भागीरथी जलमें स्त्रियोंके संग एकान्तमें खेल रहा था ॥ ४ ॥

शब्दं तेषां स शुश्राव नदीं समुपसर्पताम् ।
तेन शब्देन चाविष्टश्चुक्रोध बलवद्बली ॥ ५ ॥

पाण्डवगण उस नदीमें उतर रहे थे, कि उस महाबली गन्धर्वराजको उनका शब्द सुनाई दिया और वह क्रोधसे जल उठे ॥ ५ ॥

स दृष्ट्वा पाण्डवांस्तत्र सह मात्रा परन्तपान् ।
विस्फारयन्धनुर्घोरमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ६ ॥

तब शत्रुनाशी पाण्डवोंको माताके साथ आते देखकर कठोर शरासनको फैलाकर यह वचन बोले ॥ ६ ॥

सन्ध्या संरज्यते घोरा पूर्वरात्रागमेषु या ।
अशीतिभिस्त्रुटैर्हीनं तं मुहूर्तं प्रचक्षते ॥ ७ ॥

रात्रि आनेके पहिले जो घोर लाल सन्ध्याकाल होता हैं उसके अस्सी लवके अतिरिक्त शेष सब मुहूर्त ही कहा जाता है ॥ ७ ॥

विहितं कामचाराणां यक्षगन्धर्वरक्षसाम् ।
शेषमन्यन्मनुष्याणां कामचारमिह स्मृतम् ॥ ८ ॥

वह मुहूर्त कामचारी यक्ष, गन्धर्व और राक्षसोंके विचरनेका काल निर्दिष्ट है; इसके सिवाय शेष संपूर्ण काल मनुष्योंके कर्माचरणके निमित्त निश्चित है ॥ ८ ॥

लोभात्प्रचारं चरतस्तासु वेलासु वै नरान् ।
उपक्रान्ता निगृह्णीमो राक्षसैः सह बालिशान् ॥ ९ ॥

यदि मनुष्यगण लोभवश घूमते घामते हुए हमारे उन निर्दिष्ट कालोंमें आते हैं, तो हम उन मूर्खोंको राक्षसोंके साथ नष्ट कर डालते हैं ॥ ९ ॥

ततो रात्रौ प्राप्नुवतो जलं ब्रह्मविदो जनाः ।
गर्हयन्ति नरान्सर्वान्बलस्थान्नृपतीनपि ॥ १० ॥

इसालिये जो लोग रात्रिको जलाशयमें जाते हैं, वे भले ही बली भूपाल भी हो, तो भी वेदज्ञ ब्राह्मण उनकी निन्दा करते हैं ॥ १० ॥

आरात्तिष्ठत मा मह्यं समीपमुपसर्पत ।
कस्मान्मां नाभिजानीत प्राप्तं भागीरथीजलम् ॥ ११ ॥

अतएव तुम दूर रहो, मेरे पास मत आओ । भागीरथीके जलमें स्नान करते हुए मुझे क्या तुम नहीं जानते हो ? ॥ ११ ॥

अङ्गारपर्णं गन्धर्वं वित्त मां स्वबलाश्रयम् ।
अहं हि मानी चेर्ष्युश्च कुबेरस्य प्रियः सखा ॥ १२ ॥

मैं मानी और कुबेरका मित्र अङ्गारपर्ण नामक गन्धर्व हूं; मैं अपने भुजबलहीसे काम पूरा कर लेता हूं ॥ १२ ॥

अङ्गारपर्णमिति च ख्यातं वनमिदं मम ।
अनु गङ्गां च वाकां च चित्रं यत्र वसाम्यहम् ॥ १३ ॥

किसीको क्षमा नहीं करता हूं; मेरे अधिकारका यह वन अङ्गारपर्ण नामसे प्रसिद्ध है । मैं इस वनके भीतर गंगा नदीमें भांति भांतिकी क्रीडा करता हुआ विचारता हूं ॥ १३ ॥

न कुणपाः शृङ्गिणो वा न देवा च मानुषाः ।
इदं समुपसर्पन्ति तत्किं समुपसर्पथ ॥ १४ ॥

न राक्षस, न शृंगी, न देव और न मनुष्य ही इस जगह पर आ सकते हैं, फिर तुम कैसे चले आ रहे हो ? ॥ १४ ॥

अर्जुन उवाच

समुद्रे हिमवत्पार्श्वे नद्यामस्यां च दुर्मते ।
रात्रावहनि सन्धौ च कस्य क्लृप्तः परिग्रहः ॥ १५ ॥

अर्जुन बोले– हे दुर्मते ! समुद्र, हिमाचलका पार्श्व और गंगा यह सब स्थान, चाहे दिन रात वा सन्ध्या समय हो, किसके लिये रुके रह सकते हैं ? ॥ १५ ॥

वयं च शक्तिसंपन्ना अकाले त्वामधृष्णुमः ।
अशक्ता हि क्षणे क्रूरे युष्मानर्चन्ति मानवाः ॥ १६ ॥

विशेष कुसमयमें तुमको चिढानेसे हमें क्या फायदा हो सकता है ? क्योंकि हममें शक्ति है । जो लोग लडनेमें असमर्थ हैं, वे ही क्रूर युद्धमें तुम्हारी पूजा करते हैं ॥ १६ ॥

पुरा हिमवतश्चैषा हेमशृङ्गाद्विनिःसृता ।
गङ्गा गत्वा समुद्राम्भः सप्तधा प्रतिपद्यते ॥ १७ ॥

पूर्वकालमें यह गङ्गा हिमाचलकी सुवर्ण चोटीसे निकली है और वहांसे निकलकर सात भागोंमें बंटके समुद्र–जलसे मिल गयी है ॥ १७ ॥

इयं भूत्वा चैकवप्रा शुचिराकाशगा पुनः ।
देवेषु गङ्गा गन्धर्व प्राप्नोत्यलकनन्दताम् ॥ १८ ॥

हे गन्धर्व ! आकाशमें बहनेवाली पवित्र यह गङ्गा आकाशमें जाकर देवलोकमें अलकनन्दाके नामसे प्रसिद्ध हुई ॥ १८ ॥

तथा पितॄन्वैतरणी दुस्तरा पापकर्मभिः।
गङ्गा भवति गन्धर्व यथा द्वैपायनोऽब्रवीत् ॥ १९ ॥

यही गंगा पितृलोकमें पापात्माओंको तारनेवाली वैतरणी नामसे प्रसिद्ध हुई है ऐसा कृष्णद्वैपायनने कहा है ॥ १९ ॥

असंबाधा देवनदी स्वर्गसंपादनी शुभा।
कथमिच्छसि तां रोद्धुं नैष धर्मः सनातनः ॥ २० ॥

स्वर्ग तथा शुभ देनेवाली इस सुरनदीमें जानेकी किसीको मनाही नहीं है; फिर तुम उस विनबाधाकी गंगाको क्या रोकना चाहते हो ? यह सनातन धर्म नहीं है ॥ २० ॥

अनिवार्यमसंबाधं तव वाचा कथं वयम्।
न स्पृशेम यथाकामं पुण्यं भागीरथीजलम् ॥ २१ ॥

अतएव हम क्यों तुम्हारी बात सुनकर उस बाधारहित विना मनाहीके पवित्र गंगा जलको यथेच्छ नहीं छूयें ? ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

अङ्गारपर्णस्तच्छ्रुत्वा क्रुद्ध आनम्य कार्मुकम्।
मुमोच सायकान्दीप्तानहीनाशीविषानिव ॥ २२ ॥

वैशम्पायन बोले– अङ्गारपर्ण यह बात सुनकर क्रोधके मारे शरासन चढाकर अति विषयुक्त सर्पके समान तेज बाणोंको वर्षाने लगा ॥ २२ ॥

उल्मुकं भ्रामयंस्तूर्णं पाण्डवश्चर्म चोत्तमम्।
व्यपोवाह शरांस्तस्य सर्वानेव धनञ्जयः ॥ २३ ॥

पाण्डुपुत्र धनञ्जयने उस जलती हुई लकडी और उत्तम चर्मको घुमाकर उनके सब बाणोंको व्यर्थ किया और बोले ॥ २३ ॥

अर्जुन उवाच

बिभीषिकैषा गन्धर्व नास्त्रज्ञेषु प्रयुज्यते।
अस्त्रज्ञेषु प्रयुक्तैषा फेनवत्प्रविलीयते ॥ २४ ॥

अर्जुन बोले– हे गन्धर्व ! जो लोग अस्त्रोंके जानकार हैं, उनको बिभीषिका दर्शाना उचित नहीं है, क्योंकि उनके निकट वह फेनकी भांति क्षणभरमें लुप्त हो जाती है ॥ २४ ॥

मानुषानति गन्धर्वान्सर्वान्गन्धर्व लक्षये।
तस्मादस्त्रेण दिव्येन योत्स्येऽहं न तु मायया ॥ २५ ॥

हे गंधर्व ! मैं समझता हूं, कि गंधर्व मनुष्यकी जातिसे पराक्रमी हैं, अत मैं तुमसे दिव्य अस्त्रोंके सहारे लडूंगा, कपटयुक्ति नहीं करूंगा ॥ २५ ॥

पुराऽस्त्रमिदमाग्नेयं प्रादात्किल बृहस्पतिः ।
भरद्वाजस्य गन्धर्व गुरुपुत्रः शतक्रतोः ॥ २६ ॥

हे गन्धर्व ! पूर्वकालमें देवराजके गुरुपुत्र माननीय बृहस्पतिने यह अग्न्यस्त्र भरद्वाजको दिया था ॥ २६ ॥

भरद्वाजादग्निवेश्यो अग्निवेश्याद्‌गुरुर्मम ।
स त्विदं मह्यमददाद्‌द्रोणो ब्राह्मणसत्तमः ॥ २७ ॥

आगे भरद्वाजसे अग्निवेश्यको मिला, अग्निवेश्यसे मेरे गुरु ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ द्रोणको मिला उन्होंने यह सुन्दर अस्त्र मुझको दिया है ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा पाण्डवः क्रुद्धो गन्धर्वाय मुमोच ह ।
प्रदीप्तमस्त्रमाग्नेयं ददाहास्य रथं तु तत् ॥ २८ ॥

वैशम्पायन बोले– पाण्डुनन्दन अर्जुनने यह कहकर क्रोधसे गंधर्व पर उस प्रज्ज्वलित अग्न्यस्त्रको छोडा, उस अस्त्रने अंगारपर्णके प्रसिद्ध रथको भस्म कर दिया ॥ २८ ॥

विरथं विप्लुतं तं तु स गन्धर्वं महाबलम् ।
अस्त्रतेजःप्रमूढं च प्रपतन्तमवाङ्मुखम् ॥ २९ ॥

वह महाबली गन्धर्व अग्न्यस्त्रके प्रभावसे च्युत होकर नीचे मुंहकर धरती पर गिर रहे थे ॥ २९ ॥

शिरोरुहेषु जग्राह माल्यवत्सु धनञ्जयः ।
भ्रातॄन्प्रति चकर्षाथ सोऽस्त्रपातादचेतसम् ॥ ३० ॥

अर्जुनने उनके मालाओंसे सजे सजाये केश पकड लिये; और अस्त्रकी चोटसे अचेत उस गन्धर्वको खींच कर भाइयोंके पास ले आये ॥ ३० ॥

युधिष्ठिरं तस्य भार्या प्रपेदे शरणार्थिनी ।
नाम्ना कुम्भीनसी नाम पतित्राणमभीप्सती ॥ ३१ ॥

अनन्तर उस गन्धर्वकी कुंभीनसी नाम्नी स्त्री पतिकी रक्षाके लिये युधिष्ठिरकी शरण लेकर बोली ॥ ३१ ॥

गन्धर्व्युवाच

त्राहि त्वं मां महाराज पतिं चेमं विमुञ्च मे ।
गन्धर्वीं शरणं प्राप्तां नाम्ना कुम्भीनसीं प्रभो ॥ ३२ ॥

हे महाभाग ! मेरी रक्षा करें, मेरे इस पतिको छोड दें ! हे प्रभो ! मेरा नाम कुम्भीनसी है, मैं गन्धर्वी हूं; आपकी शरण लेती हूं ॥ ३२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

युद्धे जितं यशोहीनं स्त्रीनाथमपराक्रमम् ।
को नु हन्याद्रिपुं त्वादृङ् मुञ्चेमं रिपुसूदन ॥ ३३ ॥

तब युधिष्ठिर अर्जुनसे बोले– हे शत्रुमथनेहारे ! जो शत्रु युद्धमें हारकर पराक्रम और यशसे रहित होकर स्त्रीसे बचाया जाता है, उसको कौन मार सकता है ? अतः तुम इसको छोड दो ॥ ३३ ॥

अर्जुन उवाच

अङ्गेमं प्रतिपद्यस्व गच्छ गन्धर्व मा शुचः ।
प्रदिशत्यभयं तेऽद्य कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥ ३४ ॥

अनन्तर अर्जुन गन्धर्वीसे बोले– हे रमणी ! लो, तुम पति ले जाओ, हे गन्धर्व ! चले जाओ, शोक मत करो । आज कुरुराज युधिष्ठिरने तुमको बचानेकी आज्ञा दी है ॥ ३४ ॥

गन्धर्व उवाच

जितोऽहं पूर्वकं नाम मुञ्चाम्यङ्गारपर्णताम् ।
न च श्लाघे बलेनाद्य न नाम्ना जनसंसदि ॥ ३५ ॥

गन्धर्व बोले– मेरा पर्ण अर्थात् वाहन प्रज्ज्वलित अङ्गारकी भांति दूसरोंके छूनेके अयोग्य था, इसलिये मैं अङ्गारपर्ण नामसे प्रख्यात था; अब तुमसे हार कर यह अङ्गारपर्ण नाम छोड देता हूं, क्योंकि जब जनसमाजमें बल और वीर्यका मान ही नहीं रहा, तब केवल नामके माननीय बने रहनेसे प्रयोजन ही क्या है ? ॥ ३५ ॥

साध्विमं लब्धवाँल्लाभं योऽहं दिव्यास्त्रधारिणम् ।
गान्धर्व्या मायया योद्धुमिच्छामि वयसा वरम् ॥ ३६ ॥

आज मुझे यह एक परम लाभ हुआ, मुझको दिव्यास्त्र धरनेवाला मित्र मिल गया, आज मुझे मित्र अर्जुनको गान्धर्वी मायाकी विद्या देनेकी इच्छा हो रही है ॥ ३६ ॥

अस्त्राग्निना विचित्रोऽयं दग्धो मे रथ उत्तमः ।
सोऽहं चित्ररथो भूत्वा नाम्ना दग्धरथोऽभवम् ॥ ३७ ॥

मेरा उत्तम विचित्र रथ था, अतः मैं चित्ररथ करके प्रसिद्ध था, अब वह रथ अस्त्राग्निसे जल गया, अतएव चित्ररथ होनेपर भी अब मैं दग्धरथ हो गया ॥ ३७ ॥

संभृता चैव विद्येयं तपसेह पुरा मया ।
निवेदयिष्ये तामद्य प्राणदाय महात्मने ॥ ३८ ॥

हे मित्र ! मैंने पहिले तपस्यासे जो गांधर्वी विद्या लाभ की थी, आज वह विद्या तुमको देता हूं, क्योंकि तुम मेरे प्राणदाता और महात्मा हो ॥ ३८ ॥

संस्तम्भितं हि तरसा जितं शरणमागतम् ।
योऽरिं संयोजयेत्प्राणैः कल्याणं किं न सोऽर्हति ॥ ३९ ॥

जो बलसे शत्रुको हराते मोहित करते और उस हारे हुए मोहित शत्रुके शरण लेनेपर उसका प्राण दे देते हैं, वह कौन कल्याण पानेके योग्य नहीं हैं अर्थात् वह सभी कल्याण पाने योग्य हैं ॥ ३९ ॥

चाक्षुषी नाम विद्येयं यां सोमाय ददौ मनुः ।
ददौ स विश्वावसवे मह्यं विश्वावसुर्ददौ ॥ ४० ॥

उस विद्याका नाम चाक्षुषी है; भगवान् मनुने वह विद्या सोमको दी थी, सोमने विश्वावसुको दी और मुझको विश्वावसुसे मिली ॥ ४० ॥

सेयं कापुरुषं प्राप्ता गुरुदत्ता प्रणश्यति ।
आगमोऽस्या मया प्रोक्तो वीर्यं प्रतिनिबोध मे ॥ ४१ ॥

पर वह गुरुकी दी हुई विद्या कायर मनुष्यके हाथमें जाकर नष्ट हो जाती है । इस चाक्षुषी विद्याके गुरुओंका सिलसिलेवार आगम—वृत्तान्त कहा, अब उसके वीर्यकी बात कहता हूं, सुनो ॥ ४१ ॥

यच्चक्षुषा द्रष्टुमिच्छेत्त्रिषु लोकेषु किंचन ।
तत्पश्येद्यादृशं चेच्छेत्तादृशं द्रष्टुमर्हति ॥ ४२ ॥

त्रिलोकभरमें चाहे जिस किसी पदार्थको आंखोंसे देखना चाहोगे, वही दीख पडेगा और उस पदार्थका स्वभाव और दशा जैसी है, वह भी देखना चाहो तो देख लोगे ॥ ४२ ॥

समानपद्ये षण्मासान्स्थितो विद्यां लभेदिमाम् ।
अनुनेष्याम्यहं विद्यां स्वयं तुभ्यं व्रते कृते ॥ ४३ ॥

छः मास एक पांवके बल खडे रह कर तप करनेसे वह विद्या मिलती है, पर तुम्हारे उस व्रतको न किये रहने पर भी मैं उसे तुमको दूंगा ॥ ४३ ॥

विद्यया ह्यनया राजन्वयं नृभ्यो विशेषिताः ।
अविशिष्टाश्च देवानामनुभावप्रवर्तिताः ॥ ४४ ॥

हे महाराज ! हमलोग उस विद्याहीके बलसे अनुभवदर्शी होकर मनुष्योंसे विशिष्ट और देवोंके सदृश हुए हैं ॥ ४४ ॥

×

गन्धर्वजानामश्वानामहं पुरुषसत्तम ।
भ्रातृभ्यस्तव पञ्चभ्यः पृथग्दाता शतं शतम् ॥ ४५ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! फिर मैं तुम्हारे पांचों भाइयोंमें हरेकको सौ सौ गन्धर्व देशमें उत्पन्न घोडे देता हूं ॥ ४५ ॥

देवगन्धर्ववाहास्ते दिव्यगन्धा मनोगमाः ।
क्षीणाः क्षीणा भवन्त्येते न हीयन्ते च रंहसः ॥ ४६ ॥

सुन्दर गंधवाले और मन समान वेगवान् वे घोडे देवता और गन्धर्वोंके वाहन हैं; उनको युवावस्था वा बुढापा नहीं आता वे कभी वेगरहित नहीं होते ॥ ४६ ॥

पुरा कृतं महेन्द्रस्य वज्रं वृत्रनिबर्हणे ।
दशधा शतधा चैव तच्छीर्णं वृत्रमूर्धनि ॥ ४७ ॥

पूर्वकालमें वृत्रासुरके मारनेके लिये देवराज महेन्द्रका जो वज्र बना था, वह वज्र वृत्रासुरके सिरपर गिरकर सहस्र भागोंमें बंट गया ॥ ४७ ॥

ततो भागीकृतो देवैर्वज्रभाग उपास्यते ।
लोके यत्साधनं किंचित्सा वै वज्रतनुः स्मृता ॥ ४८ ॥

देवगण वज्रके उन अनेक भागोंकी उपासना किया करते हैं । इन तीनों लोकोंमे जो कुछ भी साधन है, वह उस वज्रका एक भाग है ॥ ४८ ॥

वज्रपाणिर्ब्राह्मणः स्यात्क्षत्रं वज्ररथं स्मृतम् ।
वैश्या वै दानवज्राश्च कर्मवज्रा यवीयसः ॥ ४९ ॥

ब्राह्मण गण जिस हाथसे अग्निमें आहुति चढाते हैं, उनका वह हाथ उस वज्रका एक भाग है; क्षत्रियगण जिस रथपर चढकर लडाईमें देवता और ब्राह्मणोंके शत्रु नष्ट करते हैं, उनका रथ उस वज्रका एक भाग है; वैश्यगण देवता और ब्राह्मणोंको जो दान देकर सुखी होते हैं, उनका वह दान भी उस वज्रका एक भाग है; और शूद्रगण ब्राह्मणोंकी जो सेवा कर निज धर्मकी रक्षा करते हैं, उनकी वह सेवा भी उस वज्रका एक भाग है ॥ ४९ ॥

वज्रं क्षत्रस्य वाजिनो अवध्या वाजिनः स्मृताः ।
रथाङ्गं वडवा सूते सूताश्चाश्वेषु ये मताः ॥ ५० ॥
कामवर्णाः कामजवाः कामतः समुपस्थिताः ।
इमे गन्धर्वजाः कामं पूरयिष्यन्ति ते हयाः ॥ ५१ ॥

अतएव घोडे क्षत्रियोंके वज्ररूपी रथके अङ्ग होनेके हेतु मारनेके अयोग्य कहे गये हैं । पर रथके अङ्ग घोडे, घोडियोंसे उपजते हैं, उनमें जो घोडे गन्धर्व लोकमें जन्म लेते हैं, उनका वर्ण इच्छाधीन है, तथा वे मनमाने वेगवान् और इच्छा करनेके साथ ही सामने आकर उपस्थित होनेवाले हैं, इसलिये मेरे उन गन्धर्वज घोडोंसे तुम्हारा मनोरथ पूर्ण होगा ॥ ५०-५१ ॥

अर्जुन उवाच

यदि प्रीतेन वा दत्तं संशये जीवितस्य वा ।
विद्या वित्तं श्रुतं वापि न तद्गन्धर्व कामये ॥ ५२ ॥

अर्जुन बोले– हे गन्धर्व ! तुम जीवन नष्ट होनेके भयसे बच जाने पर प्रसन्न होकर मुझको विद्या वा घोडे देनेको उद्यत हुए हो, अतः मैं उन्हें नहीं लेना चाहता ॥ ५२ ॥

गन्धर्व उवाच

संयोगो वै प्रीतिकरः संसत्सु प्रतिदृश्यते ।
जीवितस्य प्रदानेन प्रीतो विद्यां ददामि ते ॥ ५३ ॥

गन्धर्व बोले– महानुभाव जनोंसे मिलना ही प्रीतियुक्त होता है, विशेष मैं जीवन पानेसे प्रसन्न भी हुआ हूं, इसलिये तुमको वह विद्या देता हूं ॥ ५३ ॥

त्वत्तो ह्यहं ग्रहीष्यामि अस्त्रमाग्नेयमुत्तमम् ।
तथैव सख्यं बीभत्सो चिराय भरतर्षभ ॥ ५४ ॥

हे भरतश्रेष्ठ बीभत्सो ! मैं जिस प्रकार तुमको वह विद्या दूंगा, वैसे ही बदलेमें तुमसे सनातन उत्तम अग्न्यस्त्र लूंगा ॥ ५४ ॥

अर्जुन उवाच

त्वत्तोऽस्त्रेण वृणोम्यश्वान्संयोगः शाश्वतोऽस्तु नौ ।
सखे तद्ब्रूहि गन्धर्व युष्मभ्यो यद्भयं त्यजेत् ॥ ५५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५८ ॥ ५२९८ ॥

अर्जुन बोले– हे गन्धर्व ! मैं अस्त्र देकर तुमसे घोडे मांगता हूं, हमारी मित्रता शाश्वत बनी रहे । हे मित्र गन्धर्व ! बताओ, तुम्हें किसका डर है ताकि उससे तुम्हें मुक्त कर दूं ॥ ५५ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ अठ्ठावनवां अध्याय समाप्त ॥ १५८ ॥ ५२९८ ॥

: १६७ :

अर्जुन उवाच

कारणं ब्रूहि गन्धर्व किं तद्येन स्म धर्षिताः ।
यान्तो ब्रह्मविदः सन्तः सर्वे रात्रावरिन्दम ॥ १ ॥

अर्जुन बोले– गन्धर्वकी जातिसे मनुष्यकी जातिको क्यों भय है, और यह भी बताओ कि हम सब शत्रुनाशी साधु और वेदज्ञ होने पर भी रात्रिको चलते हुए क्यों तुमसे लाञ्छित हुए ॥ १ ॥

गन्धर्व उवाच

अनग्नयोऽनाहुतयो न च विप्रपुरस्कृताः ।
यूयं ततो धर्षिताः स्थ मया पाण्डवनन्दन ॥ २ ॥

गन्धर्व बोले– हे पाण्डवो ! तुम गुरुकुलसे लौट आये, पर तो भी विवाह नहीं किया है, अतः बिना आश्रम हो, और तुम्हारे सङ्ग ब्राह्मण भी नहीं हैं इसीलिये मैंने तुम पर चढाई की थी ॥ २ ॥

यक्षराक्षसगन्धर्वाः पिशाचोरगदानवाः ।
विस्तरं कुरुवंशस्य श्रीमतः कथयन्ति ते ॥ ३ ॥

यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, पिशाच, उरग और दानव यह सब श्रीमान् हैं, और कुरुवंशकी कथा कहते हैं ॥ ३ ॥

नारदप्रभृतीनां च देवर्षीणां मया श्रुतम् ।
गुणान्कथयतां वीर पूर्वेषां तव धीमताम् ॥ ४ ॥

हे वीर ! मैंने भी नारदादि देवर्षियोंके द्वारा कहे जाते हुए तुम्हारे ज्ञानशील पूर्व पुरुषोंके गुणकी कहानी सुनी है ॥ ४ ॥

स्वयं चापि मया दृष्टश्चरता सागराम्बराम् ।
इमां वसुमतीं कृत्स्नां प्रभावः स्वकुलस्य ते ॥ ५ ॥

और स्वयं मैंने भी इस सागरवेष्टित संपूर्ण धरतीमें घूमते हुए तुम्हारे सुवंशका प्रभाव प्रत्यक्ष देखा है ॥ ५ ॥

वेदे धनुषि चाचार्यमभिजानामि तेऽर्जुन ।
विश्रुतं त्रिषु लोकेषु भारद्वाजं यशस्विनम् ॥ ६ ॥

हे अर्जुन ! वेद और धनुर्विद्यामें त्रिलोक भरमें प्रशंसित यशस्वी तुम्हारे आचार्य यशस्वी भारद्वाजको भी मैं भली प्रकार जानता हूं ॥ ६ ॥

धर्मं वायुं च शक्रं च विजानाम्यश्विनौ तथा ।
पाण्डुं च कुरुशार्दूल षडेतान्कुलवर्धनान् ।
पितॄनेतानहं पार्थ देवमानुषसत्तमान् ॥ ७ ॥

हे कुरुव्याघ्र ! तुम्हारे ज्ञानशील पितृपुरुष कुरुवंश बढानेहारे देवोंमें श्रेष्ठ धर्म, पवन, इन्द्र और दोनों अश्विनीकुमार और मानवोंमें श्रेष्ठ पाण्डु इन छैओंको भी अच्छी तरह जानता हूं ॥ ७ ॥

दिव्यात्मानो महात्मानः सर्वशस्त्रभृतां वराः ।
भवन्तो भ्रातरः शूराः सर्वे सुचरितव्रताः ॥ ८ ॥

तुम पांचों भाई सम्पूर्ण शस्त्र विद्याओंमें दक्ष, अच्छे स्वभावी, महात्मा, सुचरित्रवान् व्रतशील और शूर हो ॥ ८ ॥

उत्तमां च मनोबुद्धिं भवतां भावितात्मनाम् ।
जानन्नपि च वः पार्थ कृतवानिह धर्षणाम् ॥ ९ ॥

तुम्हारे मन और बुद्धि बडी अच्छी और स्वभाव अति शुद्ध हैं । हे पार्थ ! मैंने यह सब जानने पर भी तुमको ललकारा था ॥ ९ ॥

स्त्रीसकाशे च कौरव्य न पुमान्क्षन्तुमर्हति ।
धर्षणामात्मनः पश्यन्बाहुद्रविणमाश्रितः ॥ १० ॥

क्योंकि भुजबलसे युक्त कोई पुरुष स्त्रीके सामने अपने अपमानको देखते हुए सहन नहीं कर सकता ॥ १० ॥

नक्तं च बलमस्माकं भूय एवाभिवर्धते ।
यतस्ततो मां कौन्तेय सादरं मन्युराविशत् ॥ ११ ॥

विशेषकर रात्रिकालमें हमारा बल बहुत बढ जाता है, इसलिये मैं आदर सहित क्रोधके वशमें हो गया था ॥ ११ ॥

सोऽहं त्वयेह विजितः संख्ये तापत्यवर्धन ।
येन तेनेह विधिना कीर्त्यमानं निबोध मे ॥ १२ ॥

हे तापत्यवंशवर्द्धन ! मैं विधिके अनुसार तुमसे युद्धमें परास्त होगया हूं, वह कहता हूं, सुनो ॥ १२ ॥

ब्रह्मचर्यं परो धर्मः स चापि नियतस्त्वयि ।
यस्मात्तस्मादहं पार्थ रणेऽस्मिन्विजितस्त्वया ॥ १३ ॥

हे पार्थ ! ब्रह्मचर्य परमधर्म है; तुम उस धर्मका अवलम्बन किये हुए हो, इसलिये मैं युद्धमें तुमसे हार गया ॥ १३ ॥

यस्तु स्यात्क्षत्रियः कश्चित्कामवृत्तः परन्तप ।
नक्तं च युधि युध्येत न स जीवेत्कथंचन ॥ १४ ॥

हे शत्रुनाशी ! यदि कोई कामके वशमें हुआ हुआ क्षत्रिय रात्रिकालमें हम लोगोंसे लडे, तो वह किसी प्रकार जीवित नहीं रह सकता ॥ १४ ॥

यस्तु स्यात्कामवृत्तोऽपि राजा तापत्य संगरे ।
जयेन्नक्तंचरान्सर्वान्स पुरोहितधूर्गतः ॥ १५ ॥

हे तपतिवंशोत्पन्न अर्जुन ! विवाह कर लेनेपर भी जो क्षत्रिय पुरोहित पर सब कार्योंका भार सौंप देता है, वह युद्धमें निशाचरोंको परास्त कर सकता है ॥ १५ ॥

तस्मात्तापत्य यत्किंचिन्नृणां श्रेय इहेप्सितम् ।
तस्मिन्कर्मणि योक्तव्या दान्तात्मानः पुरोहिताः ॥ १६ ॥

हे तापत्य ! इसलिये मनुष्य यदि यहां इस संसारमें अपना कल्याण चाहता है, तो उसे चाहिए कि वह हर शुभ कर्ममें दमगुणयुक्त पुरोहितको नियुक्त करे ॥ १६ ॥

वेदे षडङ्गे निरताः शुचयः सत्यवादिनः ।
धर्मात्मानः कृतात्मानः स्युर्नृपाणां पुरोहिताः ॥ १७ ॥

हे मित्र ! जो वेद और शिक्षादि षडङ्गोंमें पण्डित, पवित्र-वंशी, सत्यवादी, धर्मात्मा और जितेन्द्रिय हैं, वही राजपुरोहित होनेके योग्य हैं ॥ १७ ॥

जयश्च नियतो राज्ञः स्वर्गश्च स्यादनन्तरम् ।
यस्य स्याद्धर्मविद्वाग्मी पुरोधाः शीलवाञ्शुचिः ॥ १८ ॥

जिस राजाके धर्मज्ञ वाक्निपुण सुशील सुवंशी पुरोहित रहते हैं, उनको इस लोकमें सदा जय और परलोकमें स्वर्गप्राप्ति होती है ॥ १८ ॥

लाभं लब्धुमलब्धं हि लब्धं च परिरक्षितुम् ।
पुरोहितं प्रकुर्वीत राजा गुणसमन्वितम् ॥ १९ ॥

राजाको चाहिए कि वह अप्राप्त पदार्थके मिलने और प्राप्त हुए पदार्थकी रक्षाके लिये गुणवान् पुरोहितकी नियुक्ति करे ॥ १९ ॥

पुरोहितमते तिष्ठेद्य इच्छेत्पृथिवीं नृपः ।
प्राप्तुं मेरुवरोत्तंसां सर्वशः सागराम्बराम् ॥ २० ॥

जो राजा सागर और मेरुसहित संपूर्ण धरतीको प्राप्त करनेकी इच्छा करता है, उसे चाहिए कि वह सब प्रकारसे पुरोहितके मतानुसार कार्य करे ॥ २० ॥

न हि केवलशौर्येण तापत्याभिजनेन च ।
जयेदब्राह्मणः कश्चिद्भूमिं भूमिपतिः क्वचित्   ॥ २१ ॥

हे तापत्य ! कोई राजा ब्राह्मणसे रहित होकर केवल शूरतासे वा अच्छे कुलमें जन्म लेकर धरतीको जीत नहीं सकता ? ॥ २१ ॥

तस्मादेवं विजानीहि कुरूणां वंशवर्धन ।
ब्राह्मणप्रमुखं राज्यं शक्यं पालयितुं चिरम्   ॥ २२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि एकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५९ ॥ ५४२० ॥

अतएव हे कुरुओंके वंशको बढानेवाले अर्जुन ! तुम निश्चय जानो कि जिस राज्यमें ब्राह्मणकी प्रधानता रहती है, उस राज्यकी सदा रक्षा होती है ॥ २२ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ उनसठवां अध्याय समाप्त ॥ १५९ ॥ ५४२० ॥

: १६० :

अर्जुन उवाच

तापत्य इति यद्वाक्यमुक्तवानसि मामिह ।
तदहं ज्ञातुमिच्छामि तापत्यार्थविनिश्चयम्   ॥ १ ॥

अर्जुन बोले– हे मित्र ! तुमने मुझको जो तापत्य कहकर पुकारा है, अतः मैं जानना चाहता हूं, कि तापत्य शब्दका अर्थ क्या है ? ॥ १ ॥

तपती नाम का चैषा तापत्या यत्कृते वयम् ।
कौन्तेया हि वयं साधो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्   ॥ २ ॥

हे साधो ! हम कुन्तीकी सन्तान हैं, इस हेतु कौन्तेयके नामसे प्रख्यात हैं, पर यह तपती किसका नाम है, कि जिसके कारण तुमने हमें तापत्य कहा है । इसका सच्चा तत्त्व जानना चाहता हूँ ॥ २ ॥

वैशंपायन उवाच

एवमुक्तः स गन्धर्वः कुन्तीपुत्रं धनञ्जयम् ।
विश्रुतां त्रिषु लोकेषु श्रावयामास वै कथाम्   ॥ ३ ॥

वैशम्पायन बोले– गन्धर्वराज कुन्तीपुत्र   वह बात सुनकर उस तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध कथाको कहने लगे ॥ ३ ॥

गन्धर्व उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि कथामेतां मनोरमाम् ।
यथावदखिलां पार्थ धर्म्यां धर्मभृतां वर ॥ ४ ॥

गन्धर्व बोले– हे धार्मिक श्रेष्ठ ! मैं यह मनोहर तथा धार्मिक कथा तुमसे आद्योपान्त सब कहता हूं ॥ ४ ॥

उक्तवानस्मि येन त्वां तापत्य इति यद्वचः ।
तत्तेऽहं कथयिष्यामि शृणुष्वैकमना मम ॥ ५ ॥

जिस कारण तुमको तापत्य कहकर पुकारा, उसकी कथा विस्तृत रूपसे कहता हूं, ध्यान लगाकर सुनो ॥ ५ ॥

य एष दिवि धिष्ण्येन नाकं व्याप्नोति तेजसा ।
एतस्य तपती नाम बभूवासदृशी सुता ॥ ६ ॥

इस देवताकी, जिसने अपने तेजसे आकाशमण्डलको भर दिया है, तपती नामकी एक अद्वितीय पुत्री पैदा हुई ॥ ६ ॥

विवस्वतो वै कौन्तेय सावित्र्यवरजा विभो ।
विश्रुता त्रिषु लोकेषु तपती तपसा युता ॥ ७ ॥

हे कुन्तीपुत्र विभो अर्जुन ! वह विवस्वान् अर्थात् सूर्यकी पुत्री तथा तपसे युक्त एवं तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध वह तपती सावित्रीकी छोटी बहन थी ॥ ७ ॥

न देवी नासुरी चैव न यक्षी न च राक्षसी ।
नाप्सरा न च गन्धर्वी तथा रूपेण काचन ॥ ८ ॥

उसके रूपके समान न कोई देवी थी, न कोई असुरी, न कोई यक्षी, न कोई राक्षसी, न कोई अप्सरा और न कोई गन्धर्वी ही थी ॥ ८ ॥

सुविभक्तानवद्याङ्गी स्वसितायतलोचना ।
स्वाचारा चैव साध्वी च सुवेषा चैव भामिनी ॥ ९ ॥

उस बालाकी दोनों आंखें अच्छी काली और बडी थीं और सब अंग यथायोग्य बंटे बंटाये और निन्दाके अयोग्य थे । वह शुद्ध आचारवाली, साध्वी, उत्तम वेषवाली और सुन्दरी थी ॥ ९ ॥

न तस्याः सदृशं कंचित्त्रिषु लोकेषु भारत ।
भर्तारं सविता मेने रूपशीलकुलश्रुतैः ॥ १० ॥

हे भारत ! उसके पिता सविताने समझ लिया कि उसके सदृश रूपकुलशील और विद्यासे युक्त योग्य वर तीनों लोकोंमें नहीं है, ॥ १० ॥

संप्राप्तयौवनां पश्यन्देयां दुहितरं तु ताम् ।
नोपलेभे ततः शान्तिं संप्रदानं विचिन्तयन् ॥ ११ ॥

तदनन्तर यथाकालमें कन्याको युवती होते देखकर सम्प्रदान करनेके लिये योग्य वरकी चिन्ता करने लगे और उसके विवाहकी चिन्ता करनेके कारण उन्हें शांति नहीं मिली ॥ ११ ॥

अथर्क्षपुत्रः कौन्तेय कुरूणामृषभो बली ।
सूर्यमाराधयामास नृपः संवरणः तदा ॥ १२ ॥

हे कौन्तेय ! उन दिनों ऋक्षपुत्र कुरुश्रेष्ठ बलवान् राजा संवरण सूर्यकी उपासना किया करते थे ॥ १२ ॥

अर्घ्यमाल्योपहारैश्च शश्वच्च नृपतिर्यतः ।
नियमैरुपवासैश्च तपोभिर्विविधैरपि ॥ १३ ॥
शुश्रूषुरनहंवादी शुचिः पौरवनन्दनः ।
अंशुमन्तं समुद्यन्तं पूजयामास भक्तिमान् ॥ १४ ॥

नियमयुक्त और शुद्ध चित्तसे भक्तिपूर्वक नाना तपस्या, उपवास और नियम, तथा अर्घ्य, माला, गन्ध और दूसरे उपहार देकर वह सेवाशील, निरहंकारी पवित्र भक्तिमान् पुरुनन्दन संवरण उदय होते हुए सूर्यकी रोज उपासना करते थे ॥ १३–१४ ॥

ततः कृतज्ञं धर्मज्ञं रूपेणासदृशं भुवि ।
तपत्याः सदृशं मेने सूर्यः संवरणं पतिम् ॥ १५ ॥

सूर्यदेवने कृतज्ञ, धर्मज्ञ और पृथिवी पर अप्रातिम रूपवान् जानकर संवरणको तपतीके योग्य पति समझा ॥ १५ ॥

दातुमैच्छत्ततः कन्यां तस्मै संवरणाय ताम् ।
नृपोत्तमाय कौरव्य विश्रुताभिजनाय वै ॥ १६ ॥

हे कौरव्य ! उसके अनन्तर उन्होंने उस प्रख्यात वंशमें जन्म लेनेवाले नृपोत्तम संवरणहीको, कन्या सम्प्रदान करनेकी इच्छा की ॥ १६ ॥

यथा हि दिवि दीप्तांशुः प्रभासयति तेजसा ।
तथा भुवि महीपालो दीप्त्या संवरणोऽभवत् ॥ १७ ॥

हे पार्थ ! जिस प्रकार प्रकाशित किरण युक्त दिवाकर अपने प्रकाशसे आकाशमण्डलको प्रकाशित करते हैं, वैसे ही राजा संवरणने अपने तेजसे महीमण्डलको उज्ज्वल किया था ॥ १७ ॥

यथार्चयन्ति चादित्यमुद्यन्तं ब्रह्मवादिनः ।
तथा संवरणं पार्थ ब्राह्मणावरजाः प्रजाः ॥ १८ ॥

और जिस प्रकार सूर्यके उगने पर ब्राह्मणगण उसकी उपासना करते हैं, वैसे ही ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि प्रजायें भूपाल संवरणकी पूजा किया करती थीं ॥ १८ ॥

स सोममति कान्तत्वादादित्यमति तेजसा ।
बभूव नृपतिः श्रीमान्सुहृदां दुर्हृदामपि ॥ १९ ॥

वही श्रीमान् राजा मित्रपर कोमल होकर सोमसे और शत्रु पर तेजवान् होकर आदित्यसे भी बढ चढकर निकले ॥ १९ ॥

एवंगुणस्य नृपतेस्तथावृत्तस्य कौरव ।
तस्मै दातुं मनश्चक्रे तपतीं तपनः स्वयम् ॥ २० ॥

हे कौरव ! ऐसे गुणशील और चरित्रवान् उस भूपालको सूर्यदेवने स्वयं तपती नामकी अपनी कन्याको देनेका निश्चय किया ॥ २० ॥

स कदाचिदथो राजा श्रीमानुरुयशा भुवि ।
चचार मृगयां पार्थ पर्वतोपवने किल ॥ २१ ॥

हे पार्थ ! एक समय अति यशस्वी श्रीमान् भूपाल संवरण मृगयाके लिये पर्वतके निकटके वनमें घूम रहे थे ॥ २१ ॥

चरतो मृगयां तस्य क्षुत्पिपासाश्रमान्वितः ।
ममार राज्ञः कौन्तेय गिरावप्रतिमो हयः ॥ २२ ॥

हे कुन्तीपुत्र ! मृगयाके लिए भटकते हुए उस राजाका अनुपम अश्व भूख प्यासके मारे कातर होकर वहीं पहाड पर मर गया ॥ २२ ॥

स मृताश्वश्चरन्पार्थ पद्भ्यामेव गिरौ नृपः ।
ददर्शासदृशीं लोके कन्यामायतलोचनाम् ॥ २३ ॥

तब घोडेके मर जानेपर वाहनके बिना पैदल ही पर्वत पर चलते हुए उन्होंने दीर्घनेत्रोंवाली अनुपम रूपवती एक कन्या देखी ॥ २३ ॥

स एक एकामासाद्य कन्यां तामरिमर्दनः ।
तस्थौ नृपतिशार्दूलः पश्यन्नविचलेक्षणः ॥ २४ ॥

शत्रुबलको मथनेवाले वे अकेले भूपश्रेष्ठ उस अकेली कन्याको देखकर उस पर टकटकी लगाये खडे रहे ॥ २४ ॥

स हि तां तर्कयामास रूपतो नृपतिः श्रियम् ।
पुनः संतर्कयामास रवेर्भ्रष्टामिव प्रभाम् ॥ २५ ॥

उसकी सुन्दरता देखकर राजाने समझा, कि वह हरिकी प्यारी लक्ष्मी होगी, फिर उसने विचार किया कि यह सूर्यकी प्रभा ही भ्रष्ट होकर पृथ्वी पर उस कन्याके स्वरूपमें आ गई होगी ॥ २५ ॥

गिरिप्रस्थे तु सा यस्मिन्स्थिता स्वसितलोचना ।
स सवृक्षक्षुपलतो हिरण्मय इवाभवत् ॥ २६ ॥

वह काली आंखोंवाली लडकी जिस पर्वत पर खडी थी, तरु लता और गुल्मादि सहित वह पर्वत उस कन्याकी अनुपम शोभासे सुवर्णका प्रतीत होने लगा ॥ २६ ॥

अवमेने च तां दृष्ट्वा सर्वप्राणभृतां वपुः ।
अवाप्तं चात्मनो मेने स राजा चक्षुषः फलम् ॥ २७ ॥

राजा उसको देखकर मन ही मनमें सब प्राणियोंके शरीरोंका अनादर करने लगे, और उन्होंने अपनी आंखोंके होनेका फल प्राप्त हुआ समझ लिया ॥ २७ ॥

जन्मप्रभृति यत्किंचिद्दृष्टवान्स महीपतिः ।
रूपं न सदृशं तस्यास्तर्कयामास किंचन ॥ २८ ॥

उन्होंने विचार कर देखा, कि जन्मके पश्चात् जो सब सुन्दर पदार्थ देखे थे, उनमेंसे एक भी इस कन्याके समान रूपयुक्त नहीं है ॥ २८ ॥

तया बद्धमनश्चक्षुः पाशैर्गुणमयैस्तदा ।
न चचाल ततो देशाद्बुबुधे न च किंचन ॥ २९ ॥

उस सुन्दरीको देखते ही उसके गुण जालमें महीपालके चित्त और नेत्र फंस गये और उनमें वहांसे टलनेका सामर्थ्य भी नहीं रहा और वे कुछ समझ भी नहीं सके ॥ २९ ॥

अस्या नूनं विशालाक्ष्याः सदेवासुरमानुषम् ।
लोकं निर्मथ्य धात्रेदं रूपमाविष्कृतं कृतम् ॥ ३० ॥

फिर यह सोचने लगे कि निश्चयसे विधाताने सुर, असुर और मनुष्य, सबोंको मंथन करके इस विशालाक्षीके रूपका आविष्कार किया होगा ॥ ३० ॥

एवं स तर्कयामास रूपद्रविणसंपदा ।
कन्यामसदृशीं लोके नृपः संवरणस्तदा ॥ ३१ ॥

तब उस राजा संवरणने उस कन्याको रूपधनकी सम्पत्तिमें संसारमें अद्वितीय समझा ॥ ३१ ॥

तां च दृष्ट्वैव कल्याणीं कल्याणाभिजनो नृपः ।
जगाम मनसा चिन्तां काममार्गणपीडितः ॥ ३२ ॥

उस कल्याणीको देखते ही सुकुलीन राजा मदन बाणसे घायल होकर मनमें चिन्ताको प्राप्त हुए ॥ ३२ ॥

दह्यमानः स तीव्रेण नृपतिर्मन्मथाग्निना ।
अप्रगल्भां प्रगल्भः स तामुवाच यशस्विनीम् ॥ ३३ ॥

वह वीर राजा तीव्र कामाग्निसे जलते हुए अत्यन्त सुन्दर उस यशस्विनी कन्यासे बोले ॥ ३३ ॥

कासि कस्यासि रम्भोरु किमर्थं चेह तिष्ठसि ।
कथं च निर्जनेऽरण्ये चरस्येका शुचिस्मिते ॥ ३४ ॥

हे रम्भा अथवा केलेके समान जांघोंवाली ! तुम कौन हो ? किसकी बेटी हो ? यहां क्यों खडी हो ? हे मीठी मुस्कराहटोंवाली ! तुम इस निर्जन वनमें अकेली ही क्यों विचर रही हो ? ॥ ३४ ॥

त्वं हि सर्वानवद्याङ्गी सर्वाभरणभूषिता ।
विभूषणमिवैतेषां भूषणानामभीप्सितम् ॥ ३५ ॥

तुम सर्वाङ्ग सुन्दरी और सब आभूषणोंसे बनीठनी हो । हे सुन्दरि ! तुम्हीं इन सब आभूषणोंको योग्य रीतिसे सुशोभित करनेवाली आभूषणोंकी भांति हो ॥ ३५ ॥

न देवीं नासुरीं चैव न यक्षीं न च राक्षसीम् ।
न च भोगवतीं मन्ये न गन्धर्वीं न मानुषीम् ॥ ३६ ॥

मैं न तुम्हें देवोंकी कन्या मानता हूँ, न असुरोंकी, न यक्षोंकी, न राक्षसोंकी, न नागोंकी न गन्धर्वोंकी और न मनुष्योंकी ॥ ३६ ॥

या हि दृष्टा मया काश्चिच्छ्रुता वापि वराङ्गनाः ।
न तासां सदृशीं मन्ये त्वामहं मत्तकाशिनि ॥ ३७ ॥

हे मदगर्विते ! मैंने जितनी सुन्दर स्त्रियां देखीं वा जिनकी कथा सुनी हैं, उनमेंसे कोई भी तुम्हारे सदृश मुझे जान नहीं पडती ॥ ३७ ॥

एवं तां स महीपालो बभाषे न तु सा तदा ।
कामार्तं निर्जनेऽरण्ये प्रत्यभाषत किंचन ॥ ३८ ॥

महीपाल निर्जन वनमें उस बालासे इस प्रकार बोले; पर उस कामसे पीडित राजाको उस कन्याने कुछ भी उत्तर नहीं दिया ॥ ३८ ॥

ततो लालप्यमानस्य पार्थिवस्यायतेक्षणा ।
सौदामिनीव साभ्रेषु तत्रैवान्तरधीयत ॥ ३९ ॥

पृथ्वीनाथके बार बार उस प्रकार कहनेपर वह दीर्घ नयनोंवाली वह बाला वहीं पर उसी प्रकार छिप गई, कि जिस प्रकार बिजली मेघके भीतर छिप जाती है ॥ ३९ ॥

तामन्विच्छन्स नृपतिः परिचक्राम तत्तदा ।
वनं वनजपत्राक्षीं भ्रमन्नुन्मत्तवत्तदा ॥ ४० ॥

भूपाल उस पद्मकी पंखुडीके समान सुन्दर आंखोंवाली उस बालाको ढूंढते हुए उन्मत्तकी भांति उस वनके चारों ओर घूमने लगे ॥ ४० ॥

अपश्यमानः स तु तां बहु तत्र विलप्य च ।
निश्चेष्टः कौरवश्रेष्ठो मुहूर्तं स व्यतिष्ठत ॥ ४१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६० ॥ ५४६१ ॥

इसके बाद उसको न देखकर अनेक प्रकारसे विलाप करनेके बाद वह कुरुश्रेष्ठ क्षणभर निश्चेष्ट हो गए ॥ ४१ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ साठवां अध्याय समाप्त ॥ १६० ॥ ५४६१ ॥

: १६१ :

गन्धर्व उवाच

अथ तस्यामदृश्यायां नृपतिः काममोहितः ।
पातनः शत्रुसङ्घानां पपात धरणीतले ॥ १ ॥

गंधर्व बोले– तब उस बालाके अदृश्य होनेपर शत्रुओंके समूहको नष्ट करनेवाले वे भूपाल कामसे मोहित होकर धरती पर गिर पडे ॥ १ ॥

तस्मिन्निपतिते भूमावथ सा चारुहासिनी ।
पुनः पीनायतश्रोणी दर्शयामास तं नृपम् ॥ २ ॥

तब उस राजाके भूमिपर गिर जानेपर सुंदर हंसनेवाली मोटे और बडे बडे नितम्बोंवाली तपती नामकी वह कन्या फिर उन राजाको दिखाई दी ॥ २ ॥

अथावभाषे कल्याणी वाचा मधुरया नृपम् ।
तं कुरूणां कुलकरं कामाभिहतचेतसम् ॥ ३ ॥

वह कल्याणी बाला, जिनका चित्त कामसे पीडित है ऐसे कुरुओंके कुलको बढानेवाले श्रेष्ठ भूपालसे मीठी बातोंमें बोली ॥ ३ ॥

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते न त्वमर्हस्यरिन्दम ।
मोहं नृपतिशार्दूल गन्तुमाविष्कृतः क्षितौ ॥ ४ ॥

हे शत्रुओंके नाशक राजश्रेष्ठ ! उठो, उठो, तुम्हारा मङ्गल होवे, तुम भूमण्डल भरमें प्रसिद्ध प्रधान राजा हो, तुमको मोहवश होना नहीं चाहिये ॥ ४ ॥

एवमुक्तोऽथ नृपतिर्वाचा मधुरया तदा ।
ददर्श विपुलश्रोणीं तामेवाभिमुखे स्थिताम् ॥ ५ ॥

तब मीठी वाणीसे इस प्रकार कहे जानेपर उस राजाने उस विशाल नितम्बोंवाली सुन्दरीको सामने ही खडा देखा ॥ ५ ॥

अथ तामसितापाङ्गीमाबभाषे नराधिपः ।
मन्मथाग्निपरीतात्मा संदिग्धाक्षरया गिरा ॥ ६ ॥

तब मदनकी ज्वालासे जले हुए चित्तवाले वह राजा काली आंखोंवाली उस कामिनीसे टूट-फूटे अक्षरोंमें बोले ॥ ६ ॥

साधु मामसितापाङ्गे कामार्तं मत्तकाशिनि ।
भजस्व भजमानं मां प्राणा हि प्रजहन्ति माम् ॥ ७ ॥

हे काली कोर आंखोंवाली तथा मस्त बनानेवाली ! मैं कामवश होकर तुम्हारा ध्यान कर रहा हूं, तुम साधुभावसे मेरा सेवन करो, मेरे प्राण मुझे छोड रहे हैं ॥ ७ ॥

त्वदर्थं हि विशालाक्षि मामयं निशितैः शरैः ।
कामः कमलगर्भाभे प्रतिविध्यन्न शाम्यति ॥ ८ ॥

हे कमल गर्भके समान कांतिवाली विशालाक्षि ! मदन मुझको तुम्हारे लिये ही तेज पांच बाणोंसे विद्ध कर रहा है और किसी प्रकार शान्त नहीं हो रहा है ॥ ८ ॥

ग्रस्तमेवमनाक्रन्दे भद्रे काममहाहिना ।
सा त्वं पीनायतश्रोणि पर्याप्नुहि शुभानने ॥ ९ ॥

हे भद्रे ! प्रफुल्लचित्तवाली अनङ्गरूपी घोर भुजङ्ग मुझको काट रहा है । हे सुन्दर मुखवाली तथा मोटी और विशाल जांघोंवाली ! तुम उस कठोर सर्प विषसे मेरी रक्षा करो ॥९॥

त्वय्यधीना हि मे प्राणा किंनरोद्गीतभाषिणि ।
चारुसर्वानवद्याङ्गि पद्मेन्दुसदृशानने ॥ १० ॥

हे किन्नरोंके गानके समान बोलनेवाली, सुन्दर एवं अनिन्दित अंगोंवाली तथा कमल और चन्द्रके समान मुखवाली ! अब मेरा जीवन तुम्हारे हाथमें है ॥ १० ॥

न ह्यहं त्वदृते भीरु शक्ष्ये जीवितुमात्मना ।
तस्मात्कुरु विशालाक्षि मय्यनुक्रोशमङ्गने ॥ ११ ॥

हे भीरु! तुम्हारे बिना मैं जी नहीं सकूंगा । हे विशालाक्षि सुन्दरी ! अतः मुझपर कृपा करो ॥ ११ ॥

भक्तं मामसितापाङ्गे न परित्यक्तुमर्हसि ।
त्वं हि मां प्रीतियोगेन त्रातुमर्हसि भामिनि ॥ १२ ॥

हे काली आंखोंवाली सुन्दरी ! मैं तुम्हारा भक्त हूं, अतः मुझको त्याग देना तुम्हारे लिए उचित नहीं; हे भामिनि ! प्रीति योगसे तुम मेरी रक्षा कर सकती हो ॥ १२ ॥

गान्धर्वेण च मां भीरु विवाहेनैहि सुंदरि ।
विवाहानां हि रम्भोरु गान्धर्वः श्रेष्ठ उच्यते ॥ १३ ॥

हे सुन्दरी भीरु! गन्धर्व विधिके अनुसार मुझसे विवाह करके मुझसे संयुक्त होओ। हे रंभोरु! कहा है, कि सब विवाहोंसे गान्धर्व विवाह ही श्रेष्ठ है ॥ १३ ॥

तपत्युवाच

नाहमीशात्मनो राजन्कन्या पितृमती ह्यहम् ।
मयि चेदस्ति ते प्रीतिर्याचस्व पितरं मम ॥ १४ ॥

तपती बोली– हे महाराज ! मैं अपने आपकी स्वामिनी नहीं हूँ क्योंकि मैं पितासे युक्त कन्या हूँ अर्थात् मेरे पिता जीवित हैं । अतः यदि मुझपर तुम्हारी प्रीति हो, तो मेरे पितासे प्रार्थना करो ॥ १४ ॥

यथा हि ते मया प्राणाः संगृहीता नरेश्वर ।
दर्शनादेव भूयस्त्वं तथा प्राणान्ममाहरः ॥ १५ ॥

हे नरनाथ ! मैंने जिस प्रकार तुम्हारा चित्त चुरा लिया है, तुमने भी पहिली ही दृष्टिमें वैसे ही मेरा हृदय भी चुरा लिया है ॥ १५ ॥

न चाहमीशा देहस्य तस्मान्नृपतिसत्तम ।
समीपं नोपगच्छामि न स्वतन्त्रा हि योषितः ॥ १६ ॥

हे नृपश्रेष्ठ ! स्त्री स्वाधीन नहीं है, अतः अपनी देहपर अपना अधिकार न रहनेसे मैं तुम्हारे पास नहीं आ सकती ॥ १६ ॥

का हि सर्वेषु लोकेषु विश्रुताभिजनं नृपम् ।
कन्या नाभिलषेन्नाथं भर्तारं भक्तवत्सलम् ॥ १७ ॥

अन्यथा जिनकी कुलीनता सब लोकोंमें प्रसिद्ध है, उन भक्तोंसे प्रेम करनेवाले लोकोंके स्वामी भूपालकी कौन कन्या पतिके रूपमें प्राप्त करना न चाहेगी ? ॥ १७ ॥

तस्मादेवंगते काले याचस्व पितरं मम।
आदित्यं प्रणिपातेन तपसा नियमेन च ॥ १८ ॥
अतएव तुम योग्य समय आनेपर मेरे पिता आदित्यको प्रणाम कर और उनकी नियम पूर्वक उपासना करके उनसे मुझे मांगना ॥ १८ ॥

स चेत्कामयते दातुं तव मामरिमर्दन।
भविष्याम्यथ ते राजन्सततं वशवर्तिनी ॥ १९ ॥
हे शत्रुनाशी महाराज! यदि पिता मुझको तुम्हें दान करनेके लिए सम्मत हो जायेंगे, तो मैं सदा तुम्हारे वशमें रहनेवाली बनी रहूंगी ॥ १९ ॥

अहं हि तपती नाम सावित्र्यवरजा सुता।
अस्य लोकप्रदीपस्य सवितुः क्षत्रियर्षभ ॥ २० ॥
॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि एकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६१ ॥ ५४८१ ॥
हे क्षत्रियवर! मेरा नाम तपती है। मैं इन लोकोंके प्रकाशक आदित्यकी कन्या और सावित्रीकी छोटी बहिन हूं ॥ २० ॥
॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ इकसठवां अध्याय समाप्त ॥ १६१ ॥ ५४८१ ॥

: १६२ :

गन्धर्व उवाच
एवमुक्त्वा ततस्तूर्णं जगामोर्ध्वमनिन्दिता।
स तु राजा पुनर्भूमौ तत्रैव निपपात ह ॥ १ ॥
गन्धर्व बोले- अनिन्दितरूपवती तपती यह कहकर उसी क्षण ऊपर चली गई। वह राजा फिर वहीं भूमिपर गिर पडे ॥ १ ॥

अमात्यः सानुयात्रस्तु तं ददर्श महावने।
क्षितौ निपतितं काले शक्रध्वजमिवोच्छ्रितम् ॥ २ ॥
इधर मंत्री और उसके अनुयायियोंने राजाको उस बडे वनके भीतर टूटे हुए इंद्रध्वजकी भांति धरतीपर पडे पाया ॥ २ ॥

तं हि दृष्ट्वा महेष्वासं निरश्वं पतितं क्षितौ।
बभूव सोऽस्य सचिवः संप्रदीप्त इवाग्निना ॥ ३ ॥
उस बडे धनुर्धारी भूपालको बिना घोडेके भूतलपर पडे हुए देखकर उसका मंत्री भी अग्निसे जले हुएके समान हो गया ॥ ३ ॥

त्वरया चोपसंगम्य स्नेहादागतसंभ्रमः ।
तं समुत्थापयामास नृपतिं काममोहितम् ॥ ४ ॥

तब इसके बाद किंकर्तव्य विमूढ हुए उस मंत्रीने वेगसे प्यारसे निकट जाकर कामसे मोहित भूपाल-श्रेष्ठको उठा लिया ॥ ४ ॥

भूतलाद्भूमिपालेशं पितेव पतितं सुतम् ।
प्रज्ञया वयसा चैव वृद्धः कीर्त्या दमेन च ॥ ५ ॥

प्रज्ञा, अवस्था, कीर्ति और दममें वृद्ध उन मंत्रीने उन राजाको भूमिपरसे उसी प्रकार उठाया, जिस प्रकार एक पिता भूमिपर पडे हुए अपने पुत्रको उठाता है ॥ ५ ॥

अमात्यस्तं समुत्थाप्य बभूव विगतज्वरः ।
उवाच चैनं कल्याण्या वाचा मधुरयोत्थितम् ।
मा भैर्मनुजशार्दूल भद्रं चास्तु तवानघ ॥ ६ ॥

मंत्री उनको उठाकर चिन्तारहित हुए और उस उठे हुए पृथ्वीनाथसे कल्याणयुक्त मीठी बातोंमें बोले— हे अनघ, मनुजशार्दूल ! आपका मंगल होवे, आप भय न करे ॥ ६ ॥

क्षुत्पिपासापरिश्रान्तं तर्कयामास तं नृपम् ।
पतितं पातनं संख्ये शात्रवाणां महीतले ॥ ७ ॥

उन भूपालको, जो रणभूमिमें शत्रुओंको गिराते हैं, थके मादे होने और भूख प्यासके कारण भूमिपर गिरा हुआ समझा ॥ ७ ॥

वारिणाथ सुशीतेन शिरस्तस्याभ्यषेचयत् ।
अस्पृशन्मुकुटं राज्ञः पुण्डरीकसुगन्धिना ॥ ८ ॥

और उन्होंने पद्मगन्धसे युक्त ठण्डे जलसे उन राजाके सिरको गीला किया और मुकुटको भी धोया ॥ ८ ॥

ततः प्रत्यागतप्राणस्तद्बलं बलवान्नृपः ।
सर्वं विसर्जयामास तमेकं सचिवं विना ॥ ९ ॥

तब प्राणसे युक्त होकर उन वलिष्ठ राजाने एक उन मंत्रीके सिवाय सब दूसरे सैनिकोंको विदा कर दिया ॥ ९ ॥

ततस्तस्याज्ञया राज्ञो विप्रतस्थे महद्बलम् ।
स तु राजा गिरिप्रस्थे तस्मिन्पुनरुपाविशत् ॥ १० ॥

इसके बाद सब सेनाओंके राजाकी आज्ञासे चले जाने पर वह राजा फिर उस पर्वत पर बैठे ॥ १० ॥

×

ततस्तस्मिन्गिरिवरे शुचिर्भूत्वा कृताञ्जलिः।
आरिराधयिषुः सूर्यं तस्थावूर्ध्वभुजः क्षितौ ॥ ११ ॥

इसके बाद वह शत्रुदमन महाराज उस पर्वतपर शुद्ध होकर सूर्यकी उपासना करनेके लिये दोनों हाथ जोडके हाथ ऊंचा कर जमीन पर खडे हो गए ॥ ११ ॥

जगाम मनसा चैव वसिष्ठमृषिसत्तमम्।
पुरोहितममित्रघ्नस्तदा संवरणो नृपः ॥ १२ ॥

और तब वह शत्रुनाशी संवरण राजा मन ही मनमें ऋषिश्रेष्ठ पुरोहित वसिष्ठको स्मरण करने लगे ॥ १२ ॥

नक्तंदिनमथैकस्थे स्थिते तस्मिञ्जनाधिपे।
अथाजगाम विप्रर्षिस्तदा द्वादशमेऽहनि ॥ १३ ॥

हे नराधिप ! तब इस प्रकार इस जनाधिप राजाके एकाग्र मनसे दिनरात खडे रहने पर बारहवें दिन विप्रर्षि वसिष्ठ वहां आये ॥ १३ ॥

स विदित्वैव नृपतिं तपत्या हृतमानसम्।
दिव्येन विधिना ज्ञात्वा भावितात्मा महानृषिः ॥ १४ ॥

धर्मशील महर्षिने योगबलसे उन संयतचित्त भूपालका चित्त तपतीसे हरा गया जान कर ॥ १४ ॥

तथा तु नियतात्मानं स तं नृपतिसत्तमम्।
आबभाषे स धर्मात्मा तस्यैवार्थचिकीर्षया ॥ १५ ॥

वह धर्मात्मा वसिष्ठ जितेन्द्रिय और राजाओंमें श्रेष्ठ राजा संवरणसे उनका कार्य पूरा करनेकी इच्छासे बोले ॥ १५ ॥

स तस्य मनुजेन्द्रस्य पश्यतो भगवानृषिः।
ऊर्ध्वमाचक्रमे द्रष्टुं भास्करं भास्करद्युतिः ॥ १६ ॥

तदनन्तर सूर्यके समान तेजस्वी भगवान् ऋषि वसिष्ठ सूर्यसे मिलनेके लिये भूपालके देखते देखते ऊपर चढ गये ॥ १६ ॥

सहस्रांशुं ततो विप्रः कृताञ्जलिरुपस्थितः।
वसिष्ठोऽहमिति प्रीत्या स चात्मानं न्यवेदयत् ॥ १७ ॥

और वे ब्राह्मण दोनों हाथ जोडकर सहस्रांशुके निकट पहुंच कर यह कहके प्रेमसे अपना परिचय दिया, कि मैं वसिष्ठ हूं ॥ १७ ॥

तमुवाच महातेजा विवस्वान्मुनिसत्तमम् ।
महर्षे स्वागतं तेऽस्तु कथयस्व यथेच्छसि ॥ १८ ॥
॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६२ ॥ ५४९९ ॥

अति तेजस्वी विवस्वान् मुनिवरसे बोले– हे महर्षे ! तुम्हारा आना शुभ होवे, कहो, क्या चाहते हो ॥ १८ ॥

महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ बासठवां अध्याय समाप्त ॥ १६२ ॥ ५४९९ ॥

: १६३ :

वसिष्ठ उवाच

यैषा ते तपती नाम सावित्र्यवरजा सुता ।
तां त्वां संवरणस्यार्थे वरयामि विभावसो ॥ १ ॥

वसिष्ठ बोले– हे विभावसो ! सावित्रीसे छोटी आपकी जो तपती नामकी कन्या है, मैं उसको राजा संवरणके निमित्त मांगता हूं ॥ १ ॥

स हि राजा बृहत्कीर्तिर्धर्मार्थविदुदारधीः ।
युक्तः संवरणो भर्ता दुहितुस्ते विहङ्गम ॥ २ ॥

हे आकाशमें विचरनेवाले ! वह राजा बहुत कीर्तिशाली धर्मार्थ तत्त्वोंके जानकार और उदार-बुद्धि हैं, अतः वह आपकी पुत्रीके पति होनेके योग्य वर हैं ॥ २ ॥

गन्धर्व उवाच

इत्युक्तः सविता तेन ददानीत्येव निश्चितः ।
प्रत्यभाषत तं विप्रं प्रतिनन्द्य दिवाकरः ॥ ३ ॥

गन्धर्व बोला– ऋषिकी यह बात सुनकर सूर्य कन्या देनेका निश्चय कर उनका आदर कर उस विप्रसे बोले ॥ ३ ॥

वरः संवरणो राज्ञां त्वमृषीणां वरो मुने ।
तपती योषितां श्रेष्ठा किमन्यत्रापवर्जनात् ॥ ४ ॥

हे मुने ! राजा संवरण भूपोंमें श्रेष्ठ हैं, तुम मुनियोंमें हो और तपती भी नारियोंमें श्रेष्ठा है, अतएव सम्प्रदानके सिवाय और क्या विचार हो सकता है ? ॥ ४ ॥

ततः सर्वानवद्याङ्गीं तपतीं तपनः स्वयम् ।
ददौ संवरणस्यार्थे वसिष्ठाय महात्मने ।
प्रतिजग्राह तां कन्यां महर्षिस्तपतीं तदा ॥ ५ ॥

अनन्तर सूर्यदेवने स्वयं ही संवरणके निमित्त महात्मा वसिष्ठको सर्वाङ्गसुन्दरी तपतीको दे दिया, तब महर्षि वसिष्ठने उस तपतीको ले लिया ॥ ५ ॥

वसिष्ठोऽथ विसृष्टश्च पुनरेवाजगाम ह।
यत्र विख्यातकीर्तिः स कुरूणामृषभोऽभवत् ॥ ६ ॥

वसिष्ठ सूर्यसे विदा होकर उस स्थानको लौट गये, जहां प्रख्यात कीर्तिशाली कुरुश्रेष्ठ संवरण थे ॥ ६ ॥

स राजा मन्मथाविष्टस्तद्गतेनान्तरात्मना।
दृष्ट्वा च देवकन्यां तां तपतीं चारुहासिनीम्।
वसिष्ठेन सहायान्तीं संहृष्टोऽभ्यधिकं बभौ ॥ ७ ॥

वह काममें प्रविष्ट होनेके कारण तपतीमें मन लगाए हुए राजा उस सुन्दरहासिनी देवबाला तपतीको वसिष्ठके संग आते देखकर अति प्रसन्न होकर शोभा पाने लगे ॥ ७ ॥

कृच्छ्रे द्वादशरात्रे तु तस्य राज्ञः समापिते।
आजगाम विशुद्धात्मा वसिष्ठो भगवानृषिः ॥ ८ ॥

राजाके बारह रात्रियोंको कठिनतासे समाप्त करनेपर विशुद्धात्मा भगवान् ऋषि वसिष्ठ वहां आये ॥ ८ ॥

तपसाराध्य वरदं देवं गोपतिमीश्वरम्।
लेभे संवरणो भार्यां वसिष्ठस्यैव तेजसा ॥ ९ ॥

भूपाल संवरणने इस प्रकार तपस्यासे वरदाता ईश्वर किरणोंके स्वामी सूर्यदेवकी उपासना कर महर्षि वसिष्ठके तेजोबलसे तपनपुत्री तपतीको अपनी पत्नीके रूपमें प्राप्त किया ॥९॥

ततस्तस्मिन्गिरिश्रेष्ठे देवगन्धर्वसेविते।
जग्राह विधिवत्पाणिं तपत्याः स नरर्षभः ॥ १० ॥

तदनन्तर उन नरसिंहने देवों और गन्धर्वोंसे सेवित उस श्रेष्ठ पर्वत ही पर तपतीसे विधिपूर्वक विवाह किया ॥ १० ॥

वसिष्ठेनाभ्यनुज्ञातस्तस्मिन्नेव धराधरे।
सोऽकामयत राजर्षिर्विहर्तुं सह भार्यया ॥ ११ ॥

इसके बाद वसिष्ठकी आज्ञासे उस पहाड पर ही उस राजर्षिने अपनी पत्नीके साथ विहार करनेकी अभिलाषा की ॥ ११ ॥

ततः पुरे च राष्ट्रे च वाहनेषु बलेषु च।
आदिदेश महीपालस्तमेव सचिवं तदा ॥ १२ ॥

और मन्त्रीको नगर, राज्य, वाहन और सेना आदिकी रक्षा करनेकी आज्ञा की ॥ १२ ॥

नृपतिं त्वभ्यनुज्ञाय वसिष्ठोऽथापचक्रमे ।
सोऽपि राजा गिरौ तस्मिन्विजहारामरोपमः ॥ १३ ॥

अनन्तर वसिष्ठ राजासे अनुमति ले करके अपने स्थानको पधारे । इधर राजा संवरण देवोंकी भांति उस पर्वतपर विहार करने लगे ॥ १३ ॥

ततो द्वादश वर्षाणि काननेषु जलेषु च ।
रेमे तस्मिन्गिरौ राजा तयैव सह भार्यया ॥ १४ ॥

उन्होंने बारह वर्षतक उस पर्वतके वन और जलयुक्त सरोवरोंमें भार्याके साथ विहार किया ॥ १४ ॥

तस्य राज्ञः पुरे तस्मिन्समा द्वादश सर्वशः ।
न ववर्ष सहस्राक्षो राष्ट्रे चैवास्य सर्वशः ॥ १५ ॥

सहस्रनेत्र इन्द्रने उन राजाकी उस राजधानी और राज्यमें बारह वर्षतक वर्षा नहीं की ॥ १५ ॥

ततः क्षुधार्तैर्निरानन्दैः शवभूतैस्तदा नरैः ।
अभवत्प्रेतराजस्य पुरं प्रेतैरिवावृतम् ॥ १६ ॥

वह देश भूखे तथा आनन्द रहित हुए हुए जनोंसे भर जानेके कारण ऐसा दिखाई देने लगा कि मानों वह मुर्दोंसे भरा हुआ यमराजका नगर हो ॥ १६ ॥

ततस्तत्तादृशं दृष्ट्वा स एव भगवानृषिः ।
अभ्यपद्यत धर्मात्मा वसिष्ठो राजसत्तमम् ॥ १७ ॥

हे राजन् ! ऋषि धर्मात्मा भगवान् वसिष्ठ उनके राज्यकी वह दशा देखकर उस राजश्रेष्ठके पास पहुंचे ॥ १७ ॥

तं च पार्थिवशार्दूलमानयामास तत्पुरम् ।
तपत्या सहितं राजन्नुषितं द्वादशीः समाः ॥ १८ ॥

और, हे राजन् ! बारह वर्षोंतक तपतीके साथ अन्यत्र रहते हुए उस राजाओंमें श्रेष्ठ संवरणको राजधानीमें लिवा लाये ॥ १८ ॥

ततः प्रवृष्टस्तत्रासीद्यथापूर्वं सुरारिहा ।
तस्मिन्नृपतिशार्दूले प्रविष्टे नगरं पुनः ॥ १९ ॥

तब उस नृपशार्दूलके पुरमें प्रविष्ट होते ही असुरनाशी प्रभु इन्द्रने पहलेके समान ही उस राज्यमें पानी बरसाया ॥ १९ ॥

ततः सराष्ट्रं मुमुदे तत्पुरं परया मुदा ।
तेन पार्थिवमुख्येन भावितं भावितात्मना ॥ २० ॥

जितेन्द्रिय भूपश्रेष्ठके राज्यकी मङ्गलचिन्तामें नियुक्त होनेपर सम्पूर्ण राष्ट्र प्रसन्न हुआ और वह नगर भी अति प्रसन्न हुआ ॥ २० ॥

ततो द्वादश वर्षाणि पुनरीजे नराधिपः ।
पत्न्या तपत्या सहितो यथा शक्रो मरुत्पतिः ॥ २१ ॥

तदनन्तर नरपति संवरणने अपनी पत्नीके साथ बारह वर्षतक ऐसा यज्ञ किया, कि जैसा मरुत्पति इन्द्रने किया था ॥ २१ ॥

एवमासीन्महाभागा तपती नाम पौर्विकी ।
तव वैवस्वती पार्थ तापत्यस्त्वं यथा मतः ॥ २२ ॥

हे पार्थ ! इस प्रकार महाभाग्यशाली तपती नामकी सूर्य कन्या तेरी पूर्वजा हुई है, उसीके कारण तुम्हें तापत्य कहा जाता है ॥ २२ ॥

तस्यां संजनयामास कुरुं संवरणो नृपः ।
तपत्यां तपतां श्रेष्ठ तापत्यस्त्वं ततोऽर्जुन ॥ २३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६३ ॥ ५५२२ ॥

हे शत्रुसंतापनोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! राजा संवरणने उस तपतीसे कुरु नामक पुत्रको जन्म दिया था । उस कुरुवंशमें तुम्हारे जन्म लेनेके कारण तुम तापत्य कहे जाते हो ॥ २३ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ त्रेसठवां अध्याय समाप्त ॥ १६३ ॥ ५५२२ ॥

: १६४ :

वैशम्पायन उवाच

स गन्धर्ववचः श्रुत्वा तत्तदा भरतर्षभ ।
अर्जुनः परया प्रीत्या पूर्णचन्द्र इवाबभौ ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ जनमेजय ! तब अर्जुन गन्धर्वसे वह कथा सुनकर परम प्रीतिपूर्वक पूर्ण चन्द्रमाकी भांति शोभा पाने लगे ॥ १ ॥

उवाच च महेष्वासो गन्धर्वं कुरुसत्तमः ।
जातकौतूहलोऽतीव वसिष्ठस्य तपोबलात् ॥ २ ॥

महा धनुर्धारी कुरुश्रेष्ठ, अर्जुन वसिष्ठके तपोबलसे विस्मित होकर गन्धर्वसे बोले ॥ २ ॥

वसिष्ठ इति यस्यैतदृषेर्नाम त्वयेरितम् ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं यथावत्तद्वदस्व मे ॥ ३ ॥

हे मित्र ! तुमने जिन ऋषिका नाम वसिष्ठ कहा है, मैं उनका वृत्तान्त सुनना चाहता हूं, तुम आद्योपान्त सुनाओ ॥ ३ ॥

य एष गन्धर्वपते पूर्वेषां नः पुरोहितः ।
आसीदेतन्ममाचक्ष्व क एष भगवानृषिः ॥ ४ ॥

हे गन्धर्वराज ! वह भगवान् ऋषि, जो हमारे पूर्व पुरुषोंके पुरोहित थे, कौन थे वह सब वृत्तान्त मुझे सुनाओ ॥ ४ ॥

गन्धर्व उवाच

तपसा निर्जितौ शश्वदजेयावमरैरपि ।
कामक्रोधावुभौ यस्य चरणौ संववाहतुः ॥ ५ ॥

गन्धर्व बोले– जिस काम और क्रोधपर देव भी जय नहीं पा सके वे दोनों जिनकी तपस्यासे परास्त हो सदा पांव दबाते थे ॥ ५ ॥

यस्तु नोच्छेदनं चक्रे कुशिकानामुदारधीः ।
विश्वामित्रापराधेन धारयन्मन्युमुत्तमम् ॥ ६ ॥

विश्वामित्रके अपराधके कारण अति क्रोधित होने पर भी जिन उदार चित्त महर्षिने कुशिक वंशका उच्छेद नहीं किया ॥ ६ ॥

पुत्रव्यसनसंतप्तः शक्तिमानपि यः प्रभुः ।
विश्वामित्रविनाशाय न मेने कर्म दारुणम् ॥ ७ ॥

पुत्रोंके नाशके कारण दुःखी होनेपर भी तथा जिन्होंने शक्तिमान् और सर्व समर्थ होनेपर भी विश्वामित्रके विनाश करने रूप भयंकर कर्मको स्वीकार नहीं किया ॥ ७ ॥

मृतांश्च पुनराहर्तुं यः स पुत्रान्यमक्षयात् ।
कृतान्तं नातिचक्राम वेलामिव महोदधिः ॥ ८ ॥

समर्थ होकर भी जिन्होंने यमालयसे अपने मृतपुत्रोंको न लौटा लाकर यमराजके मर्यादा की उसी प्रकार रक्षा की थी, कि जैसे समुद्र अपने तटके मर्यादाकी रक्षा करता है ॥ ८ ॥

यं प्राप्य विजितात्मानं महात्मानं नराधिपाः ।
इक्ष्वाकवो महीपाला लेभिरे पृथिवीमिमाम् ॥ ९ ॥

इक्ष्वाकुवंशके भूपालोंने जिन जितेन्द्रिय महात्माको प्राप्त कर इस पूरी धरती पर अधिकार प्राप्त किया था ॥ ९ ॥

पुरोहितवरं प्राप्य वसिष्ठमृषिसत्तमम् ।
ईजिरे क्रतुभिश्चापि नृपास्ते कुरुनन्दन ॥ १० ॥

हे कुरुनन्दन ! उन सब राजाओंने उन ऋषिश्रेष्ठ वसिष्ठको श्रेष्ठ पुरोहितके रूपमें पा करके ही नाना यज्ञ किये थे ॥ १० ॥

स हि तान्याजयामास सर्वान्नृपतिसत्तमान् ।
ब्रह्मर्षिः पाण्डवश्रेष्ठ बृहस्पतिरिवामरान् ॥ ११ ॥

हे पाण्डवश्रेष्ठ ! उन ब्रह्मर्षिने भी उन सभी श्रेष्ठ राजाओंसे उसी प्रकार यज्ञ करवाये कि जिस प्रकार बृहस्पति देवोंका यज्ञ कराते हैं ॥ ११ ॥

तस्माद्धर्मप्रधानात्मा वेदधर्मविदीप्सितः ।
ब्राह्मणो गुणवान्कश्चित्पुरोधाः प्रविमृश्यताम् ॥ १२ ॥

अतएव तुम भी धार्मिक कृत्योंको करानेवालोंमें तथा वेदधर्मको जाननेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ किसी गुणवान् ब्राह्मणको पुरोहितके रूपमें वरण करो ॥ १२ ॥

क्षत्रियेण हि जातेन पृथिवीं जेतुमिच्छता ।
पूर्वं पुरोहितः कार्यः पार्थ राज्याभिवृद्धये ॥ १३ ॥

हे पार्थ ! पृथ्वी जीतनेकी इच्छा रखनेवाले क्षत्रियको राज्यवृद्धिके लिये पहिले पुरोहित नियुक्त करना चाहिये ॥ १३ ॥

महीं जिगीषता राज्ञा ब्रह्म कार्यं पुरःसरम् ।
तस्मात्पुरोहितः कश्चिद्गुणवानस्तु वो द्विजः ॥ १४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६४ ॥ ५५२६ ॥

क्योंकि पृथ्वीको जीतनेकी इच्छा करनेवाले राजाको चाहिए कि वह हमेशा ब्राह्मणको सामने रखे अत एव गुणवान् कोई ब्राह्मण तुम्हारे पुरोहित होवें ॥ १४ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ चौसठवां अध्याय समाप्त ॥ १६४ ॥ ५५२६ ॥

: १६५ :

अर्जुन उवाच

किंनिमित्तमभूद्वैरं विश्वामित्रवसिष्ठयोः ।
वसतोराश्रमे पुण्ये शंस नः सर्वमेव तत् ॥ १ ॥

अर्जुन बोले– पुण्य आश्रमोंमें रहनेवाले विश्वामित्र और वसिष्ठमें आपसमें किस कारण शत्रुता उत्पन्न हुई, वह सब हमसे कहो ॥ १ ॥

गन्धर्व उवाच

इदं वासिष्ठमाख्यानं पुराणं परिचक्षते ।
पार्थ सर्वेषु लोकेषु यथावत्तन्निबोध मे ॥ २ ॥

गन्धर्व बोले– हे पार्थ ! यह वसिष्ठकी कथा सब लोकोंमें पुराणके नामसे कही जाती है, मैं यथार्थ रीतिसे कहता हूं, सुनो ॥ २ ॥

कन्यकुब्जे महानासीत्पार्थिवो भरतर्षभ ।
गाधीति विश्रुतो लोके सत्यधर्मपरायणः ॥ ३ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! कन्यकुब्ज (वर्तमान कन्नौज) देशमें सत्यधर्ममें परायण गाधिके नामसे संसारमें प्रख्यात एक महान् राजा थे ॥ ३ ॥

तस्य धर्मात्मनः पुत्रः समृद्धबलवाहनः ।
विश्वामित्र इति ख्यातो बभूव रिपुमर्दनः ॥ ४ ॥

उन धर्मात्माके सेना और वाहनोंसे समृद्ध तथा शत्रुओंका नाश करनेवाला विश्वामित्रके नामसे प्रसिद्ध एक पुत्र हुआ ॥ ४ ॥

स चचार सहामात्यो मृगयां गहने वने ।
मृगान्विध्यन्वराहांश्च रम्येषु मरुधन्वसु ॥ ५ ॥

वह एक समय मन्त्रीके साथ घने वनमें और सुंदर रेगिस्तानकी भूमिपर मृग और वराह मारते हुए मृगया करते हुए फिरने लगे ॥ ५ ॥

व्यायामकर्शितः सोऽथ मृगलिप्सुः पिपासितः ।
आजगाम नरश्रेष्ठ वसिष्ठस्याश्रमं प्रति ॥ ६ ॥

हे नृपश्रेष्ठ ! वह मृग पानेकी इच्छा करनेवाले वे विश्वामित्र भागदौडसे थककर और प्यासे होकर वसिष्ठके आश्रममें जा पहुंचे ॥ ६ ॥

तमागतमभिप्रेक्ष्य वसिष्ठः श्रेष्ठभागृषिः ।
विश्वामित्रं नरश्रेष्ठं प्रतिजग्राह पूजया ॥ ७ ॥

ऋषिश्रेष्ठ वसिष्ठने उन नरश्रेष्ठ विश्वामित्रको आते देखकर पूजासे उनका स्वागत किया ॥७॥

पाद्यार्घ्याचमनीयेन स्वागतेन च भारत ।
तथैव परिजग्राह वन्येन हविषा तथा ॥ ८ ॥

हे भारत ! उन ऋषिने कुशलक्षेम पूछ करके पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, वनके फल फूल आदि पवित्र भोजनकी सामग्री देकर उनका आतिथ्य सत्कार किया ॥ ८ ॥

तस्याथ कामधुग्धेनुर्वसिष्ठस्य महात्मनः ।
उक्ता कामान्प्रयच्छेति सा कामान्दुदुहे ततः ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! महात्मा वसिष्ठकी कामदुघा एक गौ थी; ऋषि जब उस गौको कुछ कामनाकी वस्तु देनेको कहकर दुहते थे, उसी क्षण उसे पाते थे ॥ ९ ॥

×

ग्राम्यारण्या औषधीश्च दुदुहे पय एव च ।
षड्रसं चामृतरसं रसायनमनुत्तमम् ॥ १० ॥

उसी समय वसिष्ठकी कामनाके अनुसार कामधेनुको दोहनेपर ग्राम तथा वनकी औषधि, दुग्ध, अमृतके समान छओं रस, उत्तम रसायन ॥ १० ॥

भोजनीयानि पेयानि भक्ष्याणि विविधानि च ।
लेह्यान्यमृतकल्पानि चोष्याणि च तथार्जुन ॥ ११ ॥

उसी प्रकार, हे अर्जुन ! अमृतके समान सुमिष्ट बहुविध भोजनकी, पीनेकी, चबानेकी, चाटनेकी, चूसनेकी सामग्री मिल जाती थी ॥ ११ ॥

तैः कामैः सर्वसंपूर्णैः पूजितः स महीपतिः ।
सामात्यः सबलश्चैव तुतोष स भृशं नृपः ॥ १२ ॥

मन्त्री और सेनाके साथ भूपालने उन सब सम्पूर्ण काम्य वस्तुओंसे सत्कृत होकर महान् सन्तोष प्राप्त किया ॥ १२ ॥

षडायतां सुपार्श्वोरुं त्रिपृथुं पञ्चसंवृताम् ।
मण्डूकनेत्रां स्वाकारां पीनोधसमनिन्दिताम् ॥ १३ ॥
सुवालधिं शङ्कुकर्णां चारुशृङ्गां मनोरमाम् ।
पुष्टायतशिरोग्रीवां विस्मितः सोऽभिवीक्ष्य ताम् ॥ १४ ॥

वहां पुष्ट सिर, गर्दन, जघनभाग, पिंडलियां, पूंछ और स्तनवाली, तीन विशाल अवयवों-वाली तथा पांच पुष्ट अवयवोंवाली, मेढकके समान उठावदार आंखोंवाली, उत्तम आकार-वाली, बडे बडे थनोंवाली तथा अनिन्दित अंगोंवाली, सुन्दर सींगोंवाली, मनको आनन्द देनेवाली, पुष्ट और मोटे शिर और गर्दनवाली गायको देखकर वह विश्वामित्र आश्चर्यचकित रह गए ॥ १३–१४ ॥

अभिनन्दति तां नन्दीं वसिष्ठस्य पयस्विनीम् ।
अब्रवीच्च भृशं तुष्टो विश्वामित्रो मुनिं तदा ॥ १५ ॥

हे राजन् ! वसिष्ठकी ऐसी पयस्विनी नन्दिनी नामकी उस कामधेनुकी विश्वामित्रने प्रशंसा की और अति सन्तुष्ट चित्तसे विश्वामित्र मुनि वसिष्ठसे बोले ॥ १५ ॥

अर्बुदेन गवां ब्रह्मन्मम राज्येन वा पुनः ।
नन्दिनीं संप्रयच्छस्व भुङ्क्ष्व राज्यं महामुने ॥ १६ ॥

हे ब्रह्मन् ! तुम मुझसे दस करोड गौ लेकर या राज्य लेकर मुझको यह नन्दिनी दे दो; और, हे महामुने ! तुम नन्दिनीको दे करके मेरे राज्यका उपभोग करो ॥ १६ ॥

वसिष्ठ उवाच

देवतातिथिपित्रर्थमाज्यार्थं च पयस्विनी ।
अदेया नन्दिनीयं मे राज्येनापि तवानघ ॥ १७ ॥

वसिष्ठ बोले– हे अनघ ! यह दुधारु नन्दिनी देवता, अतिथि, पितर और यज्ञके लिये रखी गयी है, अतः तुम्हारे राज्यको ले करके भी मैं इसको नहीं दे सकता ॥ १७ ॥

विश्वामित्र उवाच

क्षत्रियोऽहं भवान्विप्रस्तपःस्वाध्यायसाधनः ।
ब्राह्मणेषु कुतो वीर्यं प्रशान्तेषु धृतात्मसु ॥ १८ ॥

विश्वामित्र बोले– मैं क्षत्रिय हूँ और तुम तपस्वी और वेद पढनेवाले ब्राह्मण हो, प्रशान्त-चित्त तथा संयत आत्मावाले ब्राह्मणमें शक्ति कहां ? ॥ १८ ॥

अर्बुदेन गवां यस्त्वं न ददासि ममेप्सिताम् ।
स्वधर्मं न प्रहास्यामि नयिष्ये ते बलेन गाम् ॥ १९ ॥

अतएव यदि तुम दस करोड गौ लेकर मेरे द्वारा अभिलषित गौ नहीं दोगे, तो मैं भी अपना धर्म नहीं छोडूंगा, बलसे गाय छीन ले जाऊंगा ॥ १९ ॥

वसिष्ठ उवाच

बलस्थश्चासि राजा च बाहुवीर्यश्च क्षत्रियः ।
यथेच्छसि तथा क्षिप्रं कुरु त्वं मा विचारय ॥ २० ॥

वसिष्ठ बोले– तुम बलिष्ठ क्षत्रिय राजा और भुजवीर्यसे युक्त हो, अत एव तुम जैसा चाहो वैसाही करो, अधिक विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ २० ॥

गन्धर्व उवाच

एवमुक्तस्तदा पार्थ विश्वामित्रो बलादिव ।
हंसचन्द्रप्रतीकाशां नन्दिनीं तां जहार गाम् ॥ २१ ॥

गन्धर्वराज बोले– हे पार्थ ! ऋषि वसिष्ठसे इस प्रकार कहे जाकर सूर्य और चन्द्रमाके समान प्रकाशमती उस नन्दिनीको विश्वामित्रने जबर्दस्ती हर लिया ॥ २१ ॥

कशादण्डप्रतिहता काल्यमाना ततस्ततः ।
हम्भायमाना कल्याणी वसिष्ठस्याथ नन्दिनी ॥ २२ ॥
आगम्याभिमुखी पार्थ तस्थौ भगवदुन्मुखी ।
भृशं च ताड्यमानापि न जगामाश्रमात्ततः ॥ २३ ॥

कोडोंकी मारसे कातर हुई और इधर उधरसे बांधकर बलसे हर कर ले जाई जाती हुई वसिष्ठकी कल्याणी नन्दिनी हम्बा शब्द करती हुई भगवान् ऋषि वसिष्ठके सामने आकर ऊंचे मुंह करके खडी हो गई और, हे पार्थ ! बहुत मारी जानेपर भी वह उस आश्रमसे नहीं गयी ॥ २२–२३ ॥

वसिष्ठ उवाच

शृणोमि ते रवं भद्रे विनदन्त्याः पुनः पुनः ।
बलाद्ध्रियसि मे नन्दि क्षमावान्ब्राह्मणो ह्यहम् ॥ २४ ॥

तब वसिष्ठ बोले– हे भद्रे नन्दिनि ! तुम बार बार जो चिल्लाती हो, वह मैं सुन रहा हूं, पर, हे भद्रे ! राजा विश्वामित्रके द्वारा तुम जबर्दस्ती हरी जा रही हो अर्थात् विश्वामित्र जबर्दस्ती तुम्हारा हरण कर रहे हैं । और मैं एक क्षमाशील ब्राह्मण हूं ॥ २४ ॥

गन्धर्व उवाच

सा तु तेषां बलान्नन्दी बलानां भरतर्षभ ।
विश्वामित्रभयोद्विग्ना वसिष्ठं समुपागमत् ॥ २५ ॥

गन्धर्वराज बोले– हे भरतश्रेष्ठ ! नन्दिनी विश्वामित्र और उनकी सेनाओं तथा उनकी जबर्दस्तीके भयसे घबराकर वसिष्ठके बहुत निकट आयी ॥ २५ ॥

गौरुवाच

पाषाणदण्डाभिहतां क्रन्दन्तीं मामनाथवत् ।
विश्वामित्रबलैर्घोरैर्भगवन्किमुपेक्षसे ॥ २६ ॥

और वह गाय बोली– हे भगवन् ! विश्वामित्रकी भयानक सेनाओंके पत्थरों और दण्डोंकी मारसे घायल होकर अनाथके समान चिल्लानेवाली मेरी आप क्यों उपेक्षा कर रहे हैं ? ॥२६॥

गन्धर्व उवाच

एवं तस्यां तदा पार्थ धर्षितायां महामुनिः ।
न चुक्षुभे न धैर्याच्च विचचाल धृतव्रतः ॥ २७ ॥

गन्धर्वराज बोले– हे पार्थ ! नन्दिनी कातर होकर इस प्रकार पीडित होने लगी, पर नियमशील महामुनि उस पर भी क्षुब्ध वा अधीर नहीं हुए और न अपने धैर्यसे ही विचलित हुए ॥ २७ ॥

वसिष्ठ उवाच

क्षत्रियाणां बलं तेजो ब्राह्मणानां क्षमा बलम् ।
क्षमा मां भजते यस्माद्गम्यतां यदि रोचते ॥ २८ ॥

वसिष्ठ बोले– क्षत्रियका बल तेज है और ब्राह्मणका बल क्षमा है, अतः क्षमाका गुण मुझमें है यदि तुम चाहो, तो जाओ ॥ २८ ॥

गौरुवाच

किं नु त्यक्तास्मि भगवन्यदेवं मां प्रभाषसे ।
अत्यक्ताहं त्वया ब्रह्मन्न शक्या नयितुं बलात् ॥ २९ ॥

नन्दिनी बोली– हे भगवन् ! क्या आपने मुझको त्याग दिया, जो मुझसे ऐसा कह रहे हैं ? हे ब्रह्मन् ! आपके द्वारा न त्यागे जाने पर मुझको कोई बलपूर्वक नहीं ले जा सकता ॥ २९ ॥

वसिष्ठ उवाच

न त्वां त्यजामि कल्याणि स्थीयतां यदि शक्यते ।
दृढेन दाम्ना बद्ध्वैष वत्सस्ते ह्रियते बलात् ॥ ३० ॥

वसिष्ठ बोले– हे कल्याणि ! मैं तुमको त्याग नहीं रहा हूं, यदि तुम रह सको तो रह जाओ, यह तुम्हारा बछडा कठिन रस्सीसे बांधकर जबर्दस्ती ले जाया जा रहा है ॥ ३० ॥

गन्धर्व उवाच

स्थीयतामिति तच्छ्रुत्वा वसिष्ठस्य पयस्विनी ।
ऊर्ध्वाञ्चितशिरोग्रीवा प्रबभौ घोरदर्शना ॥ ३१ ॥

गन्धर्व बोले– दुधारु नन्दिनी तब वसिष्ठकी 'रह जाओ' यह बात सुनते ही सिर और गला ऊपर उठा कर भयानक मूर्ति धरकर शोभित होने लगी ॥ ३१ ॥

क्रोधरक्तेक्षणा सा गौर्हम्भारवघनस्वना ।
विश्वामित्रस्य तत्सैन्यं व्यद्रावयत सर्वशः ॥ ३२ ॥

क्रोधके मारे नेत्र लालकर बार बार हम्भारवकी भयंकर ध्वनि करती हुई वह विश्वामित्रकी सेनाओंको चारों ओर खदेडने लगी ॥ ३२ ॥

कशाग्रदण्डाभिहता काल्यमाना ततस्ततः ।
क्रोधदीप्तेक्षणा क्रोधं भूय एव समादधे ॥ ३३ ॥

तब फिर सेनाओंके कोडोंकी मारसे घायल होकर और चारों ओरसे बांधी जाकर अति क्रोधसे जलती आंखोंवाली होकर और ज्यादा क्रोधित होगई ॥ ३३ ॥

आदित्य इव मध्याह्ने क्रोधदीप्तवपुर्बभौ ।
अङ्गारवर्षं मुञ्चन्ती मुहुर्वालधितो महत् ॥ ३४ ॥

क्रोधसे उसकी देह दुपहरके सूर्यकी भांति तेजस्वी हो गई और पूंछसे बार बार बडे बडे अङ्गारोंकी वृष्टि करने लगी ॥ ३४ ॥

अस्त्रजत्पह्लवान्पुच्छाच्छकृतः शबराञ्छकान्
मूत्रतश्चासृजच्चापि यवनान्क्रोधमूर्च्छिता ॥ ३५ ॥

बादमें क्रोधसे मूर्च्छित हुई उस गायने पूंछसे पह्लवगणों, गोबरसे शबरों और शकोंको, मूत्रसे भी यवनोंको पैदा किया ॥ ३५ ॥

पुण्ड्रान्किरातान्द्रमिडान्सिंहलान्बर्बरांस्तथा।
तथैव दरदान्म्लेच्छान्फेनतः सा ससर्ज ह ॥ ३६ ॥

फेनसे पौण्ड्र, किरात, द्रमिड, सिंहल, बर्बर, दरद और म्लेच्छोंको उस गायने पैदा किया ॥ ३६ ॥

तैर्विसृष्टैर्महत्सैन्यं नानाम्लेच्छगणैस्तदा।
नानावरणसंछन्नैर्नानायुधधरैस्तथा।
अवाकीर्यत संरब्धैर्विश्वामित्रस्य पश्यतः ॥ ३७ ॥

नाना वेष पहिने और नाना अस्त्र धरे हुई म्लेच्छोंकी सेनाने उसी क्षण उत्साहित होकर उस महान् सैन्यको विश्वामित्रके देखते इधर उधर भगा दिया ॥ ३७ ॥

एकैकश्च तदा योधः पंञ्चभिः सप्तभिर्वृतः
अस्त्रवर्षेण महता काल्यमानं बलं ततः।
प्रभग्नं सर्वतस्त्रस्तं विश्वामित्रस्य पश्यतः ॥ ३८ ॥

और उनमेंसे पांच पांच वा सात सातने विश्वामित्रके एक एक योद्धाको घेर लिया! तथा विश्वामित्रके देखते ही देखते उनकी सेना लोगोंकी भयंकर अस्त्रवृष्टिसे घायल होकर और हर तरहसे भयभीत होकर इधर उधर भागने लगी ॥ ३८ ॥

न च प्राणैर्वियुज्यन्त केचित्ते सैनिकास्तदा।
विश्वामित्रस्य संक्रुद्धैर्वासिष्ठैर्भरतर्षभ ॥ ३९ ॥

हे भरतश्रेष्ठ! वसिष्ठकी सेनाने युद्धमें पूर्ण क्रोधित होने पर भी विश्वामित्रकी सेनामें किसीके प्राण नष्ट नहीं किये ॥ ३९ ॥

विश्वामित्रस्य सैन्यं तु काल्यमानं त्रियोजनम्
क्रोशमानं भयोद्विग्नं त्रातारं नाध्यगच्छत ॥ ४० ॥

वह सेना तीन योजन दूर तक भगायी जाकर घबराहटके मारे चिल्लाने लगी और ऐसा किसीको भी नहीं देखा, कि जो उनकी रक्षा करे ॥ ४० ॥

दृष्ट्वा तन्महदाश्चर्यं ब्रह्मतेजोभवं तदा।
विश्वामित्रः क्षत्रभावान्निर्विण्णो वाक्यमब्रवीत् ॥ ४१ ॥

तब विश्वामित्रने ब्रह्मतेजसे उत्पन्न उस बडी आश्चर्यलीलाको देख कर क्षत्रियधर्मसे विरक्त होकर यह कहा ॥ ४१ ॥

धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजोबलं बलम् ।
बलाबलं विनिश्चित्य तप एव परं बलम् ॥ ४२ ॥

क्षत्रिय–बलपर धिक्कार है, ब्रह्मतेजका बल ही बल है, बलाबलका निश्चय करना हो तो तपस्या ही उत्कृष्ट कही जायगी ॥ ४२ ॥

स राज्यं स्फीतमुत्सृज्य तां च दीप्तां नृपश्रियम् ।
भोगांश्च पृष्ठतः कृत्वा तपस्येव मनो दधे ॥ ४३ ॥

अनन्तर उन्होंने बडे भारी राज्य और प्रज्ज्वलित राज्यलक्ष्मीको छोड करके भोगसे विरक्त होकर तपमें मन लगाया ॥ ४३ ॥

स गत्वा तपसा सिद्धिं लोकान्विष्टभ्य तेजसा ।
तताप सर्वान्दीप्तौजा ब्राह्मणत्वमवाप च ।
अपिबच्च सुतं सोममिन्द्रेण सह कौशिकः ॥ ४४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६५ ॥ ५५८० ॥

तपमें सिद्ध और प्रदीप्त तेजस्वी होकर अपने तेजसे तीनों लोकोंको प्रभावित कर सम्पूर्ण लोकोंको संतापित करके उन्होंने ब्राह्मणत्व प्राप्त किया । और उन कुशिकनंदनने इन्द्रके साथ सोमरस पान भी किया ॥ ४४ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें पैंसठवां अध्याय समाप्त ॥ १६५ ॥ ५५८० ॥

: १६६ :

गन्धर्व उवाच

कल्माषपाद इत्यस्मिँल्लोके राजा बभूव ह ।
इक्ष्वाकुवंशजः पार्थ तेजसासदृशो भुवि ॥ १ ॥

गन्धर्वराज बोले– हे पार्थ ! इस लोकमें कल्माषपाद नामक अनुपम तेजोपूर्ण इक्ष्वाकुवंशी एक राजा हुए ॥ १ ॥

स कदाचिद्वनं राजा मृगयां निर्ययौ पुरात् ।
मृगान्विध्यन्वराहांश्च चचार रिपुमर्दनः ॥ २ ॥

एक समय वह मृगयाके निमित्त नगरसे वनको गये । शत्रुओंको मथनेवाले भूपाल मृग और वराहोंको मारते हुए उस वनमें घूमने लगे ॥ २ ॥

स तु राजा महात्मानं वासिष्ठमृषिसत्तमम्।
तृषार्तश्च क्षुधार्तश्च एकायनगतः पथि ॥ ३ ॥
अपश्यदजितः संख्ये मुनिं प्रतिमुखागतम्।
शक्तिं नाम महाभागं वसिष्ठकुलनन्दनम्।
ज्येष्ठं पुत्रशतात्पुत्रं वसिष्ठस्य महात्मनः ॥ ४ ॥

संग्रामोंमें अजेय, प्यास और भूखसे व्याकुल उस राजा कल्मापपादने एक ही आदमीके चलनेके योग्य रास्तेमें सामनेसे आते हुए वसिष्ठ कुलको बढानेवाले, ऋषियोंमें श्रेष्ठ, महात्मा, महात्मा वसिष्ठके सौ पुत्रोंमें सबसे बडे, वासिष्ठ महाभाग शक्तिको देखा ॥ ३–४ ॥

अपगच्छ पथोऽस्माकमित्येवं पार्थिवोऽब्रवीत्।
तथा ऋषिरुवाचैनं सान्त्वयञ्श्लक्ष्णया गिरा ॥ ५ ॥

राजा उनसे बोले–तुम मेरे पथसे हट जाओ। तब ऋषिने मीठी बातोंमें उनको समझाया ॥५॥

ऋषिस्तु नापचक्राम तस्मिन्धर्मपथे स्थितः।
नापि राजा मुनेर्मानात्क्रोधाच्चापि जगाम ह ॥ ६ ॥

ऋषि धर्मके मार्गमें स्थित होनेके कारण पथसे नहीं हटे, राजाने भी मान और क्रोधके बश मुनिको रास्ता नहीं दिया ॥ ६ ॥

अमुञ्चन्तं तु पन्थानं तमृषिं नृपसत्तमः।
जघान कशया मोहात्तदा राक्षसवन्मुनिम् ॥ ७ ॥

अनन्तर ऋषिके रास्ता न देने पर उस नृपश्रेष्ठ राजाने मोहसे राक्षसकी भांति मुनिके कोडे मारे ॥ ७ ॥

कशाप्रहाराभिहतस्ततः स मुनिसत्तमः।
तं शशाप नृपश्रेष्ठं वासिष्ठः क्रोधमूर्च्छितः ॥ ८ ॥

तब मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठपुत्रने कोडोंकी चोटसे घायल और क्रोधसे अचेत होकर उन भूपालको शाप दिया ॥ ८ ॥

हंसि राक्षसवद्यस्माद्राजापसद तापसम्।
तस्मात्त्वमद्य प्रभृति पुरुषादो भविष्यसि ॥ ९ ॥

हे राजाओंमें अधम! क्योंकि मुझ तपस्वीको तूने राक्षसके समान मारा, अतः तू आजसे पुरुषको खानेवाला राक्षस होगा ॥ ९ ॥

मनुष्यपिशिते सक्तश्चरिष्यसि महीमिमाम्।
गच्छ राजाधमेत्युक्तः शक्तिना वीर्यशक्तिना ॥ १० ॥

तू नरमांस पर आसक्त होकर इस पृथ्वी पर विचरण करेगा; रे क्षत्रियाधम! अब जा। तपोबलयुक्त शक्तिने यह कहकर पथ छोड दिया ॥ १० ॥

ततो याज्यनिमित्तं तु विश्वामित्रवसिष्ठयोः ।
वैरमासीत्तदा तं तु विश्वामित्रोऽन्वपद्यत　　　　॥ ११ ॥

इससे पहिले उस कल्माषपाद राजाकी याजन क्रियाके विषयमें विश्वामित्र और वसिष्ठमें आपसकी शत्रुता हो गयी थी; तब विश्वामित्र राजाके निकट गये ॥ ११ ॥

तयोर्विवदतोरेवं समीपमुपचक्रमे ।
ऋषिरुग्रतपाः पार्थ विश्वामित्रः प्रतापवान्　　　　॥ १२ ॥

हे पार्थ ! राजा और शक्ति उस प्रकार झगड रहे थे, कि ऐसे समय कठोर तपस्वी प्रतापी विश्वामित्र उनके समीप जा पहुंचे ॥ १२ ॥

ततः स बुबुधे पश्चात्तमृषिं नृपसत्तमः ।
ऋषेः पुत्रं वसिष्ठस्य वसिष्ठमिव तेजसा　　　　॥ १३ ॥

तब बादमें नृपश्रेष्ठ कल्माषपादने वसिष्ठके समान तेजस्वी ऋषि शक्तिको वसिष्ठपुत्र जाना ॥ १३ ॥

अन्तर्धाय तदात्मानं विश्वामित्रोऽपि भारत ।
तावुभावुपचक्राम चिकीर्षन्नात्मनः प्रियम्　　　　॥ १४ ॥

हे भारत ! तब विश्वामित्र अपनी प्रिय इच्छाको सिद्ध करनेके लिये अपना भेष बदल करके उन दोनोंके पास गये ॥ १४ ॥

स तु शप्तस्तदा तेन शक्तिना वै नृपोत्तमः ।
जगाम शरणं शक्तिं प्रसादयितुमर्हयन्　　　　॥ १५ ॥

नृपोत्तम कल्माषपादने शक्तिके शापसे ग्रसित होकर शक्तिको प्रसन्न करनेके लिये उपासना करके उन विश्वामित्रकी शरण ली ॥ १५ ॥

तस्य भावं विदित्वा स नृपतेः कुरुनन्दन ।
विश्वामित्रस्ततो रक्ष आदिदेश नृपं प्रति　　　　॥ १६ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! विश्वामित्रने उन राजाके भावको समझकर राक्षसको उन राजाके शरीरमें घुसनेकी आज्ञा दी ॥ १६ ॥

स शापात्तस्य विप्रर्षेर्विश्वामित्रस्य चाज्ञया ।
राक्षसः किंकरो नाम विवेश नृपतिं तदा　　　　॥ १७ ॥

किङ्कर नामक राक्षस उन विप्रर्षिके शाप और विश्वामित्रकी आज्ञासे राजाके शरीरमें जा घुसा ॥ १७ ॥

×

रक्षसा तु गृहीतं तं विदित्वा स मुनिस्तदा ।
विश्वामित्रोऽप्यपक्रामत्तस्माद्देशादरिन्दम ॥ १८ ॥

हे शत्रुदमन ! तब मुनि विश्वामित्र भी राजाको राक्षससे प्रभावित जानकर वहांसे चले गये॥ १८॥

ततः स नृपतिर्विद्वान्रक्षन्नात्मानमात्मना ।
बलवत्पीड्यमानोऽपि रक्षसान्तर्गतेन ह ॥ १९ ॥

तब वह राजा शरीरमें स्थित उस राक्षससे अपनी रक्षा करते हुए भी उससे अत्यन्त पीडित होकरके कुछ समझ नहीं सके ॥ १९ ॥

ददर्श तं द्विजः कश्चिद्राजानं प्रस्थितं पुनः ।
ययाचे क्षुधितश्चैनं समांसं भोजनं तदा ॥ २० ॥

अनन्तर वह वापस लौटे जा रहे थे, कि ऐसे समयमें भूखे एक ब्राह्मणने उनको देखकर उनसे मांसयुक्त भोजनकी सामग्री मांगी ॥ २० ॥

तमुवाचाथ राजर्षिर्द्विजं मित्रसहस्तदा ।
आस्स्व ब्रह्मंस्त्वमत्रैव मुहूर्तमिति सान्त्वयन् ॥ २१ ॥

मित्रका पालन करनेवाले राजर्षि उस ब्राह्मणको समझाते हुए बोले– हे ब्रह्मन् ! मुहूर्त भर यहां ठहर कर मेरे लौटनेकी प्रतीक्षा करो ॥ २१ ॥

निवृत्तः प्रतिदास्यामि भोजनं ते यथेप्सितम् ।
इत्युक्त्वा प्रययौ राजा तस्थौ च द्विजसत्तमः ॥ २२ ॥

मैं लौटकर आपकी इच्छानुरूप भोजन दे दूंगा । राजा यह कहकर चले गये और ब्राह्मण राजाकी प्रतीक्षामें वहीं रुका रहा ॥ २२ ॥

अन्तर्गतं तु तद्राज्ञस्तदा ब्राह्मणभाषितम् ।
सोऽन्तःपुरं प्रविश्याथ संविवेश नराधिपः ॥ २३ ॥

हे पार्थ ! महानुभाव महाराज ब्राह्मणको दिया हुआ वचन भूल गए और अन्तःपुरमें जाकर वे सो गए ॥ २३ ॥

ततोऽर्धरात्र उत्थाय सूदमानाय्य सत्वरम् ।
उवाच राजा संस्मृत्य ब्राह्मणस्य प्रतिश्रुतम् ॥ २४ ॥

बादमें वह आधी रातको उठकर ब्राह्मणसे किये गए वायदेको स्मरण कर उसी क्षण रसोइयेको बुलवाकर बोले ॥ २४ ॥

गच्छामुष्मिन्नसौ देशे ब्राह्मणो मां प्रतीक्षते ।
अन्नार्थी त्वं तमन्नेन समांसेनोपपादय ॥ २५ ॥

अमुक प्रदेशमें जाओ, एक ब्राह्मण भोजनकी इच्छासे मेरी बाट देख रहा होगा, तुम वहां जाकर उसको मांस सहित अन्न दे आओ ॥ २५ ॥

एवमुक्तस्तदा सूदः सोऽनासाद्यामिषं क्वचित् ।
निवेदयामास तदा तस्मै राज्ञे व्यथान्वितः ॥ २६ ॥

रसोइयेने राजाकी आज्ञाको सुनकर कहीं मांस न पाकरके पीडितचित्त होके उन राजासे वह बात कह दी ॥ २६ ॥

राजा तु रक्षसाविष्टः सूदमाह गतव्यथः ।
अप्येनं नरमांसेन भोजयेति पुनः पुनः ॥ २७ ॥

राक्षसभावसे प्रभावित राजाने विना सोच समझके बार बार कहा, कि तुम नरमांस लाकर उस ब्राह्मणको खिलाओ ॥ २७ ॥

तथेत्युक्त्वा ततः सूदः संस्थानं वध्यघातिनाम् ।
गत्वा जहार त्वरितो नरमांसमपेतभीः ॥ २८ ॥

रसोइया "तथास्तु" कहकर वेगसे विना भयके वध्यघातियोंके घरमें जाकर नरमांस ले आया ॥ २८ ॥

स तत्संस्कृत्य विधिवदन्नोपहितमाशु वै ।
तस्मै प्रादाद्ब्राह्मणाय क्षुधिताय तपस्विने ॥ २९ ॥

और अन्नके साथ उस नरमांसको विधिपूर्वक पका कर विना विलंब ले जाकर उन भूखे तपस्वी ब्राह्मणको दे दिया ॥ २९ ॥

स सिद्धचक्षुषा दृष्ट्वा तदन्नं द्विजसत्तमः ।
अभोज्यमिदमित्याह क्रोधपर्याकुलेक्षणः ॥ ३० ॥

उस ब्राह्मणश्रेष्ठने सिद्ध नेत्रोंसे उस अन्नको देखकर और क्रोधसे भरी हुई आंखोंवाले होकर कहा, कि यह अन्न खानेके योग्य नहीं है ॥ ३० ॥

यस्मादभोज्यमन्नं मे ददाति स नराधिपः ।
तस्मात्तस्यैव मूढस्य भविष्यत्यत्र लोलुपा ॥ ३१ ॥

जिस कारण राजाने मुझको भोजनके अयोग्य अन्न दिया है, अतः उस मूर्खमें भी नरमांस खानेकी लालसा उत्पन्न होगी ॥ ३१ ॥

सक्तो मानुषमांसेषु यथोक्तः शक्तिना पुरा ।
उद्वेजनीयो भूतानां चरिष्यति महीमिमाम् ॥ ३२ ॥

पहिले ऋषि शक्तिने जैसा कहा था, वैसा ही होगा । यह राजा नरमांसपर आसक्त होकर जीवोंमें घबराहट फैलाता हुआ इस पृथ्वीपर घूमा करेगा ॥ ३२ ॥

द्विरनुव्याहृते राज्ञः स शापो बलवानभूत् ।
रक्षोबलसमाविष्टो विसंज्ञश्चाभवत्तदा ॥ ३३ ॥

इस प्रकार राजा पर दूसरी बार शाप लगनेसे वह शाप और बलयुक्त हो गया; उस कारण राजाने शरीरमें घुसे हुए राक्षसके बलसे प्रभावित होकर अपनी चेतना खो दी ॥ ३३ ॥

तत: स नृपतिश्रेष्ठो रक्षसोपहृतेन्द्रियः।
उवाच शक्तिं तं दृष्ट्वा नचिरादिव भारत ॥ ३४ ॥

हे भारत ! अनन्तर राक्षसके द्वारा इन्द्रियोंके हर लिए जानेपर नृपश्रेष्ठ कुछ कालके बाद शक्तिको देखकर बोले ॥ ३४ ॥

यस्मादसदृशः शापः प्रयुक्तोऽयं त्वया मयि।
तस्मात्त्वत्तः प्रवर्तिष्ये खादितुं मानुषानहम् ॥ ३५ ॥

जिस कारण तुम्हारे द्वारा मुझपर अनुचित शापका प्रयोग हुआ है, अतः मैं पहिले तुम्हींसे आरम्भ कर मनुष्य खानेमें प्रवृत्त होऊंगा ॥ ३५ ॥

एवमुक्त्वा ततः सद्यस्तं प्राणैर्विप्रयुज्य सः।
शक्तिनं भक्षयामास व्याघ्रः पशुमिवेप्सितम् ॥ ३६ ॥

राजा यह कहकर उसी क्षण उनके प्राण नष्ट कर शक्तिको इस प्रकार खा गये, कि जैसे व्याघ्र अपने अभिलषित पशुको खा लेता है ॥ ३६ ॥

शक्तिनं तु हतं दृष्ट्वा विश्वामित्रस्ततः पुनः।
वसिष्ठस्यैव पुत्रेषु तद्रक्षः संदिदेश ह ॥ ३७ ॥

विश्वामित्र वसिष्ठ-पुत्र शक्तिको मरा हुआ देखकर बार बार राक्षसको वसिष्ठ हीके पुत्रोंको खानेके लिए कहने लगे ॥ ३७ ॥

स ताञ्शतावरान्पुत्रान्वसिष्ठस्य महात्मनः।
भक्षयामास संक्रुद्धः सिंहः क्षुद्रमृगानिव ॥ ३८ ॥

वह राक्षसयुक्त राजा क्रोधित होकर महात्मा वसिष्ठके सौ पुत्रोंको क्रमसे इस प्रकार खा गये, कि जैसे सिंह छोटे मृगोंको खा जाता है ॥ ३८ ॥

वसिष्ठो घातिताञ्श्रुत्वा विश्वामित्रेण तान्सुतान्।
धारयामास तं शोकं महाद्रिरिव मेदिनीम् ॥ ३९ ॥

वसिष्ठने विश्वामित्रके द्वारा उन पुत्रोंके मारे डाले जानेकी बात सुनकर भी पुत्र–वियोगके कठोर शोकको उसी प्रकारसे सहन किया, कि जैसे महान् पर्वतका भार धरती सहन करती है ॥ ३९ ॥

चक्रे चात्मविनाशाय बुद्धिं स मुनिसत्तमः।
न त्वेव कुशिकोच्छेदं मेने मतिमतां वरः ॥ ४० ॥

उन महामति मुनिश्रेष्ठने आत्मघात करनेका निश्चय किया, पर तो भी कौशिक वंशके उखाडनेका विचार तक भी नहीं किया ॥ ४० ॥

स मेरुकूटादात्मानं मुमोच भगवानृषिः ।
शिरस्तस्य शिलायां च तूलराशाविवापतत् ॥ ४१ ॥

उन भगवान् ऋषिने सुमेरुकी चोटी परसे अपनेको गिराया, पर उनका सिर उस पहाडके पत्थर पर रुईके ढेरकी भांति ही गिरा ॥ ४१ ॥

न ममार च पातेन स यदा तेन पाण्डव ।
तदाग्निमिद्ध्वा भगवान्संविवेश महावने ॥ ४२ ॥

हे पाण्डव ! वह भगवान् महर्षि पहाडकी चोटी परसे गिरकर भी जब न मरे तो महावनमें आग जला कर उसमें जा घुसे ॥ ४२ ॥

तं तदा सुसमिद्धोऽपि न ददाह हुताशनः ।
दीप्यमानोऽप्यमित्रघ्न शीतोऽग्निरभवत्ततः ॥ ४३ ॥

परन्तु तब जलती हुई आगने तेजसे जलने पर भी उनको नहीं जलाया । हे शत्रुनाशी ! उनके लिए वह आग ठण्डी हो गई ॥ ४३ ॥

स समुद्रमभिप्रेत्य शोकाविष्टो महामुनिः ।
बद्ध्वा कण्ठे शिलां गुर्वीं निपपात तदम्भसि ॥ ४४ ॥

तदनन्तर पुत्रशोकसे विकल महामुनि समुद्रके पास जाकर अपने गलेमें बडा भारी पत्थर बांध करके उसके जलमें जा गिरे ॥ ४४ ॥

स समुद्रोर्मिवेगेन स्थले न्यस्तो महामुनिः
जगाम स ततः खिन्नः पुनरेवाश्रमं प्रति ॥ ४५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६६ ॥ ५६२५ ॥

उसपर भी न डूब कर समुद्रकी लहरके द्वारा वे तट पर उठाकर रख दिए गये । तब वह दुःखी चित्तसे फिर आश्रमको लौट गये ॥ ४५ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ छियासठवां अध्याय समाप्त ॥ १६६ ॥ ५६२५ ॥

: १६७ :

गन्धर्व उवाच

ततो दृष्ट्वाश्रमपदं रहितं तैः सुतैर्मुनिः ।
निर्जगाम सुदुःखार्तः पुनरेवाश्रमात्ततः ॥ १ ॥

गन्धर्व बोले– इसके बाद भगवान् मुनि अपने आश्रमको उन पुत्रोंसे खाली देख कर दुःखसे व्याकुल होकर फिर आश्रमसे निकल गए ॥ १ ॥

सोऽपश्यत्सरितं पूर्णां प्रावृट्काले नवाम्भसा ।
वृक्षान्बहुविधान्पार्थ वहन्तीं तीरजान्बहून् ॥ २ ॥

हे पार्थ ! उन ऋषिने वर्षाकालमें नये जलसे भरी हुई एक बहती हुई नदीको तट परके नाना प्रकारके बहुतसे वृक्षोंको बहाते हुए देखा ॥ २ ॥

अथ चिन्तां समापेदे पुनः पौरवनन्दन ।
अम्भस्यस्या निमज्जेयमिति दुःखसमन्वितः ॥ ३ ॥

और, हे पौरवनन्दन ! उसे देखकर अत्यन्त दुःखी वे फिर चिन्तित हो गए और उन्होंने विचार किया कि मैं इस जलमें डूबकर प्राण दे दूं ॥ ३ ॥

ततः पाशैस्तदात्मानं गाढं बद्ध्वा महामुनिः ।
तस्या जले महानद्या निममज्ज सुदुःखितः ॥ ४ ॥

और तब दुःखी होकर उन महान् मुनिने रस्सीसे अपनेको दृढरूपसे बांधकर उस बडी नदीके जलमें डुबा दिया ॥ ४ ॥

अथ छित्वा नदी पाशांस्तस्यारिबलमर्दन ।
समस्थं तमृषिं कृत्वा विपाशं समवासृजत् ॥ ५ ॥

हे शत्रुसेनाको मथनेहारे ! तब उस नदीने उनके बंधनोंको काटकर उन ऋषिको बंधन-रहित करके स्थल पर लाकर छोड दिया ॥ ५ ॥

उत्ततार ततः पाशैर्विमुक्तः स महानृषिः ।
विपाशेति च नामास्या नद्याश्चक्रे महानृषिः ॥ ६ ॥

इससे बन्धनसे मुक्त होकर वे महान् ऋषि उस नदीसे पार हो गए और उठ कर उस नदीका नाम उन्होंने (पाशोंसे विमुक्त होनेके कारण) " विपाशा " रख दिया ॥ ६ ॥

शोके बुद्धिं ततश्चक्रे न चैकत्र व्यतिष्ठत ।
सोऽगच्छत्पर्वतांश्चैव सरितश्च सरांसि च ॥ ७ ॥

अनन्तर वह शोकसे विकल बुद्धिवाले होकर एक स्थानपर रह नहीं सके; और वे पर्वत, नदी और तालावमें घूमने फिरने लगे ॥ ७ ॥

ततः स पुनरेवर्षिर्नदीं हैमवतीं तदा ।
चण्डग्राहवतीं दृष्ट्वा तस्याः स्रोतस्यथापतत् ॥ ८ ॥

एक बार वे ऋषि हैमवती नामकी नदीको हिंसक जलजन्तुओंसे भरी हुई और भयंकर देखकर उसके सोतेमें कूद पडे ॥ ८ ॥

सा तमग्निसमं विप्रमनुचिन्त्य सरिद्वरा ।
शतधा विद्रुता यस्माच्छतद्रुरिति विश्रुता ॥ ९ ॥

पर श्रेष्ठ नदी विप्रवरको अग्निके समान तेजस्वी जान कर सैंकडों भागोंमें होकर द्रुतवेगसे वह चली, इसलिये तभीसे उस नदीका नाम (शत अर्थात् सैंकडों धाराओंमें द्रु अर्थात् बहनेके कारण) " शतद्रू " प्रसिद्ध हुआ ॥ ९ ॥

ततः स्थलगतं दृष्ट्वा तत्राप्यात्मानमात्मना ।
मर्तुं न शक्यमित्युक्त्वा पुनरेवाश्रमं ययौ ॥ १० ॥

महर्षि उस भयानक नदीमें गिरनेपर भी अपनेको स्थल पर ही देखकर यह समझ करके कि " इच्छानुसार प्राणत्याग करना भी संभव नहीं है " आश्रमकी ओर चल पडे ॥ १० ॥

वध्वादृश्यन्त्यानुगत आश्रमाभिमुखो व्रजन् ।
अथ शुश्राव संगत्या वेदाध्ययननिःस्वनम् ।
पृष्ठतः परिपूर्णार्थैः षड्भिरङ्गैरलंकृतम् ॥ ११ ॥

अपनी " अदृश्यन्ती " नामक पुत्रवधूसे अनुगत होकर आश्रमकी तरफ जाते हुए ऋषिने निकट होनेके कारण पीछेसे षडङ्गोंसे अलंकृत पूर्णार्थसे युक्त वेदपठनकी ध्वनि सुनि ॥ ११ ॥

अनुव्रजति को न्वेष मामित्येव च सोऽब्रवीत् ।
अहं त्वदृश्यती नाम्ना तं स्नुषा प्रत्यभाषत ।
शक्तेर्भार्या महाभाग तपोयुक्ता तपस्विनी ॥ १२ ॥

और उन्होंने पूछा कि मेरे पीछे यह कौन आ रहा है । तब उनकी पुत्रवधू उनसे बोली— हे महाभाग ! मैं शक्तिकी तपोयुक्ता तपस्विनी स्त्री अदृश्यन्ती आपकी पुत्रवधू हूं ॥ १२ ॥

वसिष्ठ उवाच

पुत्रि कस्यैष साङ्गस्य वेदस्याध्ययनस्वनः ।
पुरा साङ्गस्य वेदस्य शक्तेरिव मया श्रुतः ॥ १३ ॥

वसिष्ठ बोले— पुत्री ! मैंने पहिले शक्तिके मुखसे जिस प्रकार साङ्गवेदकी ध्वनि सुनी थी , अब किसके मुखसे वेद पठनकी वैसी ही ध्वनि मैं सुन रहा हूँ ॥ १३ ॥

अदृश्यन्त्युवाच

अयं कुक्षौ समुत्पन्नः शक्तेर्गर्भः सुतस्य ते ।
समा द्वादश तस्येह वेदानभ्यसतो मुने ॥ १४ ॥

अदृश्यन्ती बोली– हे मुने ! तुम्हारे पुत्र शक्तिके वीर्यसे मेरे गर्भमें एक सन्तान है; इस प्रकार वेदोंका अध्ययन करते हुए उसके बारह बरस बीत गए हैं (आपने उसीसे वेदकी ध्वनि सुनी है) ॥ १४ ॥

गन्धर्व उवाच

एवमुक्तस्ततो हृष्टो वसिष्ठः श्रेष्ठभागृषिः ।
अस्ति संतानमित्युक्त्वा मृत्योः पार्थ न्यवर्तत ॥ १५ ॥

गन्धर्व बोले– हे पार्थ ! श्रेष्ठ भाग्यवान् ऋषिश्रेष्ठ वसिष्ठ अदृश्यन्तीकी उस बातको सुनकर प्रसन्न होकर यह समझ कर, कि "मेरा वंश शेष है," वे मृत्युकी इच्छासे निवृत्त हुए ॥ १५ ॥

ततः प्रतिनिवृत्तः स तया वध्वा सहानघ ।
कल्माषपादमासीनं ददर्श विजने वने ॥ १६ ॥

हे अनघ ! वह उस पुत्रवधूके साथ लौट रहे थे, कि उन्होंने निर्जन जंगलमें बैठे हुए कल्माषपादको देखा ॥ १६ ॥

स तु दृष्ट्वैव तं राजा क्रुद्ध उत्थाय भारत ।
आविष्टो रक्षसोग्रेण इयेषात्तुं ततः स्म तम् ॥ १७ ॥

हे भारत ! उस भयंकर राक्षससे युक्त राजा कल्माषपादने मुनिको देखकर उसी क्षण क्रोधसे उठ करके खा जाना चाहा ॥ १७ ॥

अदृश्यन्ती तु तं दृष्ट्वा क्रूरकर्माणमग्रतः ।
भयसंविग्नया वाचा वसिष्ठमिदमब्रवीत् ॥ १८ ॥

अदृश्यन्ती सामने उस कुटिल कर्मवालेको देखकर भयसे व्याकुल बाणीसे वसिष्ठसे यह बोली ॥ १८ ॥

असौ मृत्युरिवोग्रेण दण्डेन भगवन्नितः ।
प्रगृहीतेन काष्ठेन राक्षसोऽभ्येति भीषणः ॥ १९ ॥

हे भगवन् ! भयंकर दण्डको धारण किए साक्षात् यमराजके समान वह भीषण राक्षस लकडी उठाकर इधर ही आ रहा है ॥ १९ ॥

तं निवारयितुं शक्तो नान्योऽस्ति भुवि कश्चन ।
त्वदृतेऽद्य महाभाग सर्ववेदविदां वर ॥ २० ॥

हे सब वेदके विद्वानोंमें श्रेष्ठतम महाभाग! पृथ्वी भरमें आपके बिना कोई भी दूसरा इसको रोकनेमें समर्थ नहीं है ॥ २० ॥

त्राहि मां भगवन्पापादस्माद्दारुणदर्शनात् ।
रक्षो अत्तुमिह त्वावां नूनमेतच्चिकीर्षति ॥ २१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६७ ॥ ५६४६ ॥

हे भगवन्! इस कठोर भयावने आकारके पापात्मासे मेरी रक्षा कीजिए! मुझे निश्चय जान पडता है, कि वह राक्षस हम दोनोंको खा जाना चाहता है ॥ २१ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ सडसठवां अध्याय समाप्त ॥ १६७ ॥ ५६४६ ॥

: १६८ :

वसिष्ठ उवाच

मा भैः पुत्रि न भेतव्यं राक्षसस्ते कथंचन ।
नैतद्रक्षो भयं यस्मात्पश्यसि त्वमुपस्थितम् ॥ १ ॥

वसिष्ठ बोले– बेटी! भय मत करो, राक्षससे तुम्हें कोई भय नहीं है। जिसके कारण तुम इस समय भय उपस्थित हुआ हुआ देख रही हो, वह राक्षस नहीं है ॥ १ ॥

राजा कल्माषपादोऽयं वीर्यवान्प्रथितो भुवि ।
स एषोऽस्मिन्वनोद्देशे निवसत्यतिभीषणः ॥ २ ॥

ये वीर्यवान् कल्माषपाद नामक भूमण्डलमें प्रसिद्ध राजा हैं, वही इस वनमें अति भयंकर रूप धारण करके राक्षसके स्वरूपमें वास कर रहे हैं ॥ २ ॥

गन्धर्व उवाच

तमापतन्तं संप्रेक्ष्य वसिष्ठो भगवानृषिः ।
वारयामास तेजस्वी हुंकारेणैव भारत ॥ ३ ॥

गन्धर्व बोले– हे भारत! तेजस्वी भगवान् ऋषि वसिष्ठने उनको आते देखकर "हुं" कारसे ही रोक दिया ॥ ३ ॥

मन्त्रपूतेन च पुनः स तमभ्युक्ष्य वारिणा।
मोक्षयामास वै घोराद्राक्षसाद्राजसत्तमम् ॥ ४ ॥

और मन्त्रसे पवित्र किये हुए जलसे उनको नहला कर उस घोर राक्षस रूपसे उस श्रेष्ठ राजाको मुक्त किया ॥ ४ ॥

स हि द्वादश वर्षाणि वसिष्ठस्यैव तेजसा।
ग्रस्त आसीद्ग्रहेणेव पर्वकाले दिवाकरः ॥ ५ ॥

वह राजा बारह वर्षतक वसिष्ठपुत्र शक्तिके तेजसे उसी प्रकार प्रभावित रहे, कि जिस प्रकार पर्वकालमें सूर्य राहुसे प्रभावित होता है ॥ ५ ॥

रक्षसा विप्रमुक्तोऽथ स नृपस्तद्वनं महत्।
तेजसा रञ्जयामास सन्ध्याभ्रमिव भास्करः ॥ ६ ॥

अब राक्षससे मुक्त होकर उस राजाने अपने तेजसे उस बडे वनको उसी प्रकार सुशोभित किया, कि जैसे सूर्यदेव सन्ध्याकालके बादलको रंग देते हैं ॥ ६ ॥

प्रतिलभ्य ततः संज्ञामभिवाद्य कृताञ्जलिः।
उवाच नृपतिः काले वसिष्ठमृषिसत्तमम् ॥ ७ ॥

तब यथासमय राजा ज्ञान प्राप्त कर प्रणामपूर्वक दोनों हाथ जोडकर ऋषिश्रेष्ठ वसिष्ठसे बोले ॥ ७ ॥

सौदासोऽहं महाभाग याज्यस्ते द्विजसत्तम।
अस्मिन्काले यदिष्टं ते ब्रूहि किं करवाणि ते ॥ ८ ॥

हे महाभाग! मैं सुदासराजाका पुत्र आपका यजमान हूं! हे द्विजश्रेष्ठ! कहें इस समय आपकी क्या इच्छा है, मैं आपके लिए क्या करूं ॥ ८ ॥

वसिष्ठ उवाच

वृत्तमेतद्यथाकालं गच्छ राज्यं प्रशाधि तत्।
ब्राह्मणांश्च मनुष्येन्द्र मावमंस्थाः कदाचन ॥ ९ ॥

वसिष्ठ बोले– हे मानवेन्द्र! मेरी जो इच्छा थी, वह कालके क्रमसे पूरी हो गयी है, अब तुम राजधानीमें जाकर राज्यशासन करो। पर फिर कभी ब्राह्मणका अनादर मत करना! ॥ ९ ॥

राजोवाच

नावमंस्याम्यहं ब्रह्मन्कदाचिद्ब्राह्मणर्षभान् ।
त्वन्निदेशे स्थितः शश्वत्पूजयिष्याम्यहं द्विजान् ॥ १० ॥

राजा बोले– हे ब्रह्मन् ! मैं अब कभी भी श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका अनादर नहीं करूंगा, आपके आज्ञाके आधीन रहकर मैं ब्राह्मणोंकी हमेशा पूजा किया करूंगा ॥ १० ॥

इक्ष्वाकूणां तु येनाहमनृणः स्यां द्विजोत्तम ।
तत्त्वत्तः प्राप्तुमिच्छामि वरं वेदविदां वर ॥ ११ ॥

हे सर्ववेदज्ञोंमें श्रेष्ठ द्विजोत्तम ! मैं आपसे वह वस्तु पानेकी इच्छा करता हूं, कि जिससे मैं इक्ष्वाकुवंशके ऋणसे छुटकारा पा जाऊं ॥ ११ ॥

अपत्यायेप्सितां मह्यं महिषीं गन्तुमर्हसि ।
शीलरूपगुणोपेतामिक्ष्वाकुकुलवृद्धये ॥ १२ ॥

हे श्रेष्ठ ! आप इक्ष्वाकुवंशके बढानेके लिए शील–रूप और गुणसे युक्त पुत्र पानेकी इच्छा करनेवाले मेरे लिए आप मेरी रानीसे मिल सकते हैं ॥ १२ ॥

गन्धर्व उवाच

ददानीत्येव तं तत्र राजानं प्रत्युवाच ह ।
वसिष्ठः परमेष्वासं सत्यसंधो द्विजोत्तमः ॥ १३ ॥

गन्धर्वराज बोले– सत्यशील द्विजोत्तम वसिष्ठने यह कहकर कि "पुत्र दूंगा" उन बडे धनुर्धारी राजासे प्रतिज्ञा की ॥ १३ ॥

ततः प्रतिययौ काले वसिष्ठः सहितोऽनघ ।
ख्यातं पुरवरं लोकेष्वयोध्यां मनुजेश्वरः ॥ १४ ॥

हे निष्पाप ! तदनन्तर वसिष्ठ यथा समय उन राजाके साथ अयोध्या नामकी प्रसिद्ध नगरीको गये ॥ १४ ॥

तं प्रजाः प्रतिमोदन्त्यः सर्वाः प्रत्युद्ययुस्तदा ।
विपाप्मानं महात्मानं दिवौकस इवेश्वरम् ॥ १५ ॥

प्रसन्न होती हुई उन सब प्रजाओंने पापमुक्त महात्मा राजाको आते देखकर इस प्रकार उनका स्वागत किया, कि जैसे देवगण देवराजको आते देखकर प्रमुदित मनसे उनका स्वागत करते हैं ॥ १५ ॥

अचिरात्स मनुष्येन्द्रो नगरीं पुण्यकर्मणाम् ।
विवेश सहितस्तेन वसिष्ठेन महात्मना ॥ १६ ॥

नरेन्द्रने बहुत जल्दी ही महात्मा वसिष्ठके साथ पुण्य कर्म करनेवालोंसे भरी हुई उस नगरीमें प्रवेश किया ॥ १६ ॥

दद्दशुस्तं ततो राजन्नयोध्यावासिनो जनाः।
पुष्येण सहितं काले दिवाकरमिवोदितम् ॥ १७ ॥

हे राजन्! तब अयोध्यावासी जनोंने वसिष्ठके साथ उन महीपालको पुष्यके साथ उदय हुए हुए सूर्यकी भांति देखा ॥ १७ ॥

स हि तां पूरयामास लक्ष्म्या लक्ष्मीवतां वरः।
अयोध्यां व्योम शीतांशुः शरत्काल इवोदितः ॥ १८ ॥

उन लक्ष्मीवानोंमें सर्वश्रेष्ठ भूपतिने अपनी शोभासे अयोध्या नगरीको इस प्रकार भर दिया, कि जैसे शरत्कालमें उगा हुआ चन्द्रमा अपने प्रकाशसे आकाशमण्डलको भर देता है ॥ १८ ॥

संसिक्तमृष्टपन्थानं पताकोच्छ्रयभूषितम्।
मनः प्रह्लादयामास तस्य तत्पुरमुत्तमम् ॥ १९ ॥

उस समय राजमार्ग जलसे भिगोया गया था और भली प्रकार साफ किया गया था और नगरमें स्थान स्थानपर फहराती हुई ध्वजायें और पताकायें सुशोभित हो रहीं थीं, अतः इस प्रकारसे सुशोभित उस नगरने उस राजाके मनको प्रसन्न कर दिया ॥ १९ ॥

तुष्टपुष्टजनाकीर्णा सा पुरी कुरुनन्दन।
अशोभत तदा तेन शक्रेणेवामरावती ॥ २० ॥

हे कुरुनन्दन! तब तुष्ट और पुष्ट जनोंसे भरी हुई वह नगरी राजा कल्माषपादसे उसी प्रकार शोभा पाने लगी, कि जिस प्रकार अमरावती सुशोभित होती है ॥ २० ॥

ततः प्रविष्टे राजेन्द्र तस्मिन्राजनि तां पुरीम्।
तस्य राज्ञोऽऽज्ञया देवी वसिष्ठमुपचक्रमे ॥ २१ ॥

तदनन्तर सभी राजाओंमें श्रेष्ठ उस राजा कल्माषपादके उस अपूर्व पुरीमें प्रवेश करने पर उन राजाकी आज्ञासे देवी राजरानी वसिष्ठके पास पहुंची ॥ २१ ॥

ऋतावथ महर्षिः स संबभूव तया सह।
देव्या दिव्येन विधिना वसिष्ठः श्रेष्ठभागृषिः ॥ २२ ॥

महर्षिश्रेष्ठ महाभाग वसिष्ठने दिव्य विधिके अनुसार ऋतुकालमें उस रानीसे समागम किया ॥ २२ ॥

अथ तस्यां समुत्पन्ने गर्भे स मुनिसत्तमः।
राज्ञाभिवादितस्तेन जगाम पुनराश्रमम् ॥ २३ ॥

तब राजरानीके गर्भ स्थिर होने पर वह मुनिश्रेष्ठ राजाके द्वारा पूजित होकर आश्रममें लौट आये ॥ २३ ॥

दीर्घकालधृतं गर्भं सुषाव न तु तं यदा ।
साथ देव्यश्मना कुक्षिं निर्बिभेद तदा स्वकम् ॥ २४ ॥

बादमें बहुत दिनतक गर्भको धारण करने पर भी रानीने जब सन्तान उत्पन्न नहीं की तब उस राजरानीने अश्म अर्थात् पत्थरकी चोटसे अपनी कोखको फाड डाला ॥ २४ ॥

द्वादशेऽथ ततो वर्षे स जज्ञे मनुजर्षभः ।
अश्मको नाम राजर्षिः पोतनं यो न्यवेशयत् ॥ २५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६८ ॥ ५६७१ ॥

इसलिये बारह वर्षतक गर्भमें स्थित उन पुरुषश्रेष्ठने अश्मक नामक राजर्षि होकर जन्म लिया, उन्होंने पौतन नामक नगरको बसाया ॥ २५ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ अडसठवां अध्याय समाप्त ॥ १६८ ॥ ५६७१ ॥

: १६९ :

गन्धर्व उवाच

आश्रमस्था ततः पुत्रमदृश्यन्ती व्यजायत ।
शक्तेः कुलकरं राजन्द्वितीयमिव शक्तिनम् ॥ १ ॥

गन्धर्वराज बोले– हे राजन् ! इधर आश्रममें स्थित अदृश्यन्तीने दूसरे शक्तिके समान शक्तिका वंश बढानेवाला पुत्र प्रसूत किया ॥ १ ॥

जातकर्मादिकास्तस्य क्रियाः स मुनिपुंगवः ।
पौत्रस्य भरतश्रेष्ठ चकार भगवान्स्वयम् ॥ २ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! मुनिश्रेष्ठ उन भगवान् वसिष्ठने स्वयं उस पोतेकी जातकर्मादि क्रियायें की ॥२॥

परासुश्च यतस्तेन वसिष्ठः स्थापितस्तदा ।
गर्भस्थेन ततो लोके पराशर इति स्मृतः ॥ ३ ॥

वह पुत्र जब गर्भमें था, तब वसिष्ठने परासु होने अर्थात् जीवन त्याग देनेका निश्चय किया था, अतः वह पराशर नामसे भूमण्डलमें प्रसिद्ध हुए ॥ ३ ॥

अमन्यत स धर्मात्मा वसिष्ठं पितरं तदा ।
जन्मप्रभृति तस्मिंश्च पितरीव व्यवर्तत ॥ ४ ॥

धर्मात्मा पराशर जन्मसे ही मुनि वसिष्ठको पिता जानकर उनके साथ पिताके सदृश व्यवहार किया करते थे ॥ ४ ॥

स तात इति विप्रर्षि वसिष्ठं प्रत्यभाषत ।
मातुः समक्षं कौन्तेय अदृश्यन्त्याः परंतप ॥ ५ ॥

हे शत्रुको मथनेहारे कुन्तीनन्दन अर्जुन ! एकदिन उन्होंने माता अदृश्यन्तीके सामने विप्रर्षि वसिष्ठको पिता कह कर पुकारा ॥ ५ ॥

तातेति परिपूर्णार्थं तस्य तन्मधुरं वचः ।
अदृश्यन्त्यश्रुपूर्णाक्षी शृण्वन्ती तमुवाच ह ॥ ६ ॥

अदृश्यन्ती उसकी मीठी बोलीसे स्पष्टरूपसे पिता कहते सुन करके आंखोंमें आंसू भरकर बोली ॥ ६ ॥

मा तात तात तातेति न ते तातो महामुनिः ।
रक्षसा भक्षितस्तात तव तातो वनान्तरे ॥ ७ ॥

हे तात ! तुम इनको पिता कह कर मत पुकारो, ये महामुनि तुम्हारे पिता नहीं हैं। हे पुत्र ! वनमें तुम्हारे पिता एक राक्षस द्वारा खा लिए गए हैं ॥ ७ ॥

मन्यसे यं तु तातेति नैष तातस्तवानघ ।
आर्यस्त्वेष पिता तस्य पितुस्तव महात्मनः ॥ ८ ॥

हे अनघ ! तुम जिनको पिता समझ रहे हो, वह तुम्हारे पिता नहीं हैं, ये आर्य तो तुम्हारे उस महात्मा पिताके पिता हैं ॥ ८ ॥

स एवमुक्तो दुःखार्तः सत्यवागृषिसत्तमः ।
सर्वलोकविनाशाय मतिं चक्रे महामनाः ॥ ९ ॥

सत्यवादी, मनस्वी ऋषिश्रेष्ठ पराशरने यह बात सुन करके दुःखी होकर सब लोकोंको नष्ट करनेका निश्चय किया ॥ ९ ॥

तं तथा निश्चितात्मानं महात्मानं महातपाः ।
वसिष्ठो वारयामास हेतुना येन तच्छृणु ॥ १० ॥

महातपस्वी, ऋषि वसिष्ठने उन महात्मा पराशरको सब लोकोंको नष्ट करनेका प्रण ठानते देख कर रोका; उन्होंने जिस कारणसे रोका, वह कहता हूं, सुनो ॥ १० ॥

वसिष्ठ उवाच

कृतवीर्य इति ख्यातो बभूव नृपतिः क्षितौ ।
याज्यो वेदविदां लोके भृगूणां पार्थिवर्षभः ॥ ११ ॥

वसिष्ठ बोले— पहिले संसारमें कृतवीर्य नामक प्रख्यात भूपालश्रेष्ठ राजा वेदज्ञ भृगुओंके यजमान थे ॥ ११ ॥

स तानग्रभुजस्तात धान्येन च धनेन च ।
सोमान्ते तर्पयामास विपुलेन विशां पतिः ॥ १२ ॥

हे तात ! उस पृथ्वीनाथने सोमयज्ञके अन्त होनेपर पूजाके सर्व प्रथम अधिकारी उन भृगुओंको बहुत धनधान्यसे सन्तुष्ट किया ॥ १२ ॥

तस्मिन्नृपतिशार्दूले स्वर्यातेऽथ कदाचन ।
बभूव तत्कुलेयानां द्रव्यकार्यमुपस्थितम् ॥ १३ ॥

तदनन्तर उस नृपशार्दूलके एक दिन स्वर्गको सिधार जानेपर उनके वंशके राजाओंको धनकी आवश्यकता आ पडी ॥ १३ ॥

ते भृगूणां धनं ज्ञात्वा राजानः सर्व एव ह ।
याचिष्णवोऽभिजग्मुस्तांस्तात भार्गवसत्तमान् ॥ १४ ॥

तब वे राजा यह जानकर कि भृगुवंशियोंके पास अपार धन है, याचककी भांति उन भृगुश्रेष्ठोंके पास जा पहुंचे ॥ १४ ॥

भूमौ तु निदधुः केचिद्भृगवो धनमक्षयम् ।
ददुः केचिद्द्विजातिभ्यो ज्ञात्वा क्षत्रियतो भयम् ॥ १५ ॥

भार्गवोंमेंसे किसी किसीने यह सोचकर कि "हमारा धन नष्ट न होने पावे" धनको धरतीमें गाड दिया था, और किसी किसीने क्षत्रियोंसे भय खाकर अपना अपना धन ब्राह्मणोंको दानमें दे दिया था ॥ १५ ॥

भृगवस्तु ददुः केचित्तेषां वित्तं यथेप्सितम् ।
क्षत्रियाणां तदा तात कारणान्तरदर्शनात् ॥ १६ ॥

उनमेंसे किन्हीं किन्हीं भृगुओंने और ही कुछ कारण समझ कर उन क्षत्रियोंको यथेच्छ धन दे दिया ॥ १६ ॥

ततो महीतलं तात क्षत्रियेण यदृच्छया ।
खनताधिगतं वित्तं केनचिद्भृगुवेश्मनि ।
तद्वित्तं ददृशुः सर्वे समेताः क्षत्रियर्षभाः ॥ १७ ॥

हे तात ! तदनन्तर अपनी इच्छासे खोदते हुए किसी क्षत्रियने भार्गवोंके घरमें भूमिमें गडा हुआ बहुतसा धन पाया । उस धनको सब क्षत्रियश्रेष्ठोंने मिलकर देखा ॥ १७ ॥

अवमन्य ततः कोपाद्भृगूंस्ताञ्शरणागतान्।
निजघ्नुस्ते महेष्वासाः सर्वांस्तान्निशितैः शरैः।
आ गर्भादनुकृन्तन्तश्चेरुश्चैव वसुंधराम् ॥ १८ ॥

तब क्रोधसे युक्त होकर उन बडे धनुर्धारी क्षत्रियलोगोंने शरणमें आए हुए भार्गवोंको अनादरपूर्वक तेज बाणोंसे मार डाला; यहां तक कि वे भार्गवोंके स्त्रियोंके गर्भमें स्थित बालकोंको भी नष्ट करते हुए पृथ्वी भरमें घूमने लगे ॥ १८ ॥

तत उच्छिद्यमानेषु भृगुष्वेवं भयात्तदा।
भृगुपत्न्यो गिरिं तात हिमवन्तं प्रपेदिरे ॥ १९ ॥

हे तात ! इस प्रकार भृगुवंशके उखड जानेपर भार्गवोंकी स्त्रियां भयभीत होकर हिमाचल पर भाग गयीं ॥ १९ ॥

तासामन्यतमा गर्भं भयाद्दाधार तैजसम्।
ऊरुणैकेन वामोरुर्भर्तुः कुलविवृद्धये।
ददृशुर्ब्राह्मणीं तां ते दीप्यमानां स्वतेजसा ॥ २० ॥

उनमेंसे किसी एक सुन्दरी नारीने पतिकुलकी रक्षाके लिये क्षत्रियके भयसे एक जांघमें अति वीर्यवान् गर्भको धारण किया। सभी क्षत्रियोंने उस गर्भवती ब्राह्मणीको अपने तेजसे जलती हुई देखा ॥ २० ॥

अथ गर्भः स भित्त्वोरुं ब्राह्मण्या निर्जगाम ह।
मुष्णन्दृष्टीः क्षत्रियाणां मध्याह्न इव भास्करः।
ततश्चक्षुर्वियुक्तास्ते गिरिदुर्गेषु बभ्रमुः ॥ २१ ॥

उस समय गर्भमें स्थित बालक ब्राह्मणीकी जांघको भेदकर दुपहरके तेज सूर्यकी भांति क्षत्रियोंकी आंखोंकी शक्तिको नष्ट करते हुए बाहर निकला। राजा लोग दृष्टि चली जानेसे अन्धे होकर पर्वतकी गुफाओंमें घूमने लगे ॥ २१ ॥

ततस्ते मोघसंकल्पा भयार्ताः क्षत्रियर्षभाः।
ब्राह्मणीं शरणं जग्मुर्दृष्ट्यर्थं तामनिन्दिताम् ॥ २२ ॥

तब व्यर्थ संकल्पवाले, भयभीत वे क्षत्रियश्रेष्ठ दृष्टि प्राप्त करनेकी आशासे उस अनिन्दित ब्राह्मणीकी शरणमें गए ॥ २२ ॥

ऊचुश्चैनां महाभागां क्षत्रियास्ते विचेतसः।
ज्योतिःप्रहीणा दुःखार्ताः शान्तार्चिष इवाग्नयः ॥ २३ ॥

उन्होंने बुझी हुई शिखायुक्त अग्निकी भांति ज्योतिसे हीन और अचेत होकर दुःखी चित्तसे इस महाभाग्यवती ब्राह्मणीसे कहा ॥ २३ ॥

भगवत्याः प्रसादेन गच्छेत्क्षत्रं सचक्षुषम् ।
उपारम्य च गच्छेम सहिताः पापकर्मणः ॥ २४ ॥

आपकी कृपासे क्षत्रिय जाति नेत्र प्राप्त करले तो इस पापकर्मसे निवृत्त होकर सब घरको जायें ॥ २४ ॥

सपुत्रा त्वं प्रसादं नः सर्वेषां कर्तुमर्हसि ।
पुनर्दृष्टिप्रदानेन राज्ञः संत्रातुमर्हसि ॥ २५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि एकोनसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६९ ॥ ५६९६ ॥

पुत्रसहित आप हम सब लोगोंपर प्रसन्न होवें । आप पुनः आंख देकर इन राजाओंकी रक्षा कर सकती हैं ॥ २५ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ उनहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ १६९ ॥ ॥ ५६९६ ॥

: १७० :

ब्राह्मण्युवाच

नाहं गृह्णामि वस्तात दृष्टीर्नास्मि रुषान्विता ।
अयं तु भार्गवो नूनमूरुजः कुपितोऽद्य वः ॥ १ ॥

ब्राह्मणी बोली– हे पुत्र ! मैं क्रोधित नहीं हुई हूं और न मैंने तुम्हारी दृष्टि हरी है; पर सन्देह नहीं है, कि मेरी जांघसे पैदा हुआ यह भृगुवंशी कुमार तुम पर क्रोधित जरूर हुआ है ॥ १ ॥

तेन चक्षूंषि वस्तात नूनं कोपान्महात्मना ।
स्मरता निहतान्बन्धूनादत्तानि न संशयः ॥ २ ॥

हे पुत्रो ! इस महात्मा बालकहीने अपने बन्धुओंके नाशका स्मरण कर क्रोधसे तुम्हारी आंखें हर ली हैं, इसमें कोई संशय नहीं है ॥ २ ॥

गर्भानपि यदा यूयं भृगूणां घ्नत पुत्रकाः ।
तदायमूरुणा गर्भो मया वर्षशतं धृतः ॥ ३ ॥

हे पुत्रो ! जब तुम लोग भार्गवोंके गर्भस्थित बालकोंको भी नष्ट करने लगे, तबसे मैंने सौ वर्ष तक यह गर्भ जांघमें धारण किया था ॥ ३ ॥

षडङ्गश्चाखिलो वेद इमं गर्भस्थमेव हि ।
विवेश भृगुवंशस्य भूयः प्रियचिकीर्षया ॥ ४ ॥

भृगुवंशके फिर हितानुष्ठानके निमित्त छओं अङ्गोंके साथ सम्पूर्ण वेद इस गर्भस्थ बालकमें प्रविष्ट हुए हैं ॥ ४ ॥

सोऽयं पितृवधान्नूनं क्रोधाद्वो हन्तुमिच्छति ।
तेजसा यस्य दिव्येन चक्षूंषि मुषितानि वः ॥ ५ ॥

यह बालक पितरोंके वधके कारण निश्चय ही तुम लोगोंको नष्ट करना चाहता है; इसीके दिव्य तेजके बलसे तुम्हारी आंखें नष्ट हुई हैं ॥ ५ ॥

तमिमं तात याचध्वमौर्वं मम सुतोत्तमम् ।
अयं वः प्रणिपातेन तुष्टो दृष्टीर्विमोक्ष्यति ॥ ६ ॥

हे पुत्रो ! तुम लोग इस मेरी जांघसे पैदा हुए बालकसे प्रार्थना करो; वह तुम्हारे प्रणामसे प्रसन्न होकर आंखें दे सकता है ॥ ६ ॥

गन्धर्व उवाच

एवमुक्तास्ततः सर्वे राजानस्ते तमूरुजम् ।
ऊचुः प्रसीदेति तदा प्रसादं च चकार सः ॥ ७ ॥

गन्धर्व बोले– तब सब राजालोग यह बात सुनकर उस जांघसे पैदा हुए बालकसे कहने लगे, कि "प्रसन्न होवें, प्रसन्न होवें", तब उसने प्रसन्न होकर उनको आंखें दीं ॥ ७ ॥

अनेनैव च विख्यातो नाम्ना लोकेषु सत्तमः ।
स औौर्व इति विप्रर्षिरूरुं भित्त्वा व्यजायत ॥ ८ ॥

इन साधुश्रेष्ठ विप्रर्षिने ऊरुको भेदकर जन्म लिया था, इसलिये वह और्व इसी नामसे लोकोंमें प्रसिद्ध हुए ॥ ८ ॥

चक्षूंषि प्रति प्रतिलभ्याथ प्रतिजग्मुस्ततो नृपाः ।
भार्गवस्तु मुनिर्मेने सर्वलोकपराभवम् ॥ ९ ॥

जब राजा आंखें पाकर अपने स्थानको चले गए, तब भार्गव और्वने सब लोकोंको परास्त करनेका निश्चय किया ॥ ९ ॥

स चक्रे तात लोकानां विनाशाय महामनाः ।
सर्वेषामेव कार्त्स्न्येन मनः प्रवणमात्मनः ॥ १० ॥

हे तात ! भृगुवंशके शत्रुओंको नष्ट करनेकी इच्छा करनेवाले महानुभाव भृगुनन्दन और्वने सब लोकोंको नष्ट करनेके लिये कठोर तपस्यामें नियुक्त होकर उसमें अपने मनको संपूर्ण रूपसे लगा दिया ॥ १० ॥

इच्छन्नपचितिं कर्तुं भृगूणां भृगुसत्तमः।
सर्वलोकविनाशाय तपसा महतैधितः ॥ ११ ॥
तापयामास लोकान्स सदेवासुरमानुषान्।
तपसोग्रेण महता नन्दयिष्यन्पितामहान् ॥ १२ ॥

भृगुओंको तृप्त करनेकी इच्छा करते हुए तथा सब लोकके विनाशके लिए तपसे वृद्धि प्राप्त हुए भृगुओंमें श्रेष्ठ भृगुपुत्र और्व अपने कठोर तपसे अपने पितामहोंको आनन्दित करते हुए सुर, असुर और नर इन सब लोगोंको संतप्त करने लगे ॥ ११-१२ ॥

ततस्तं पितरस्तात विज्ञाय भृगुसत्तमम्।
पितृलोकादुपागम्य सर्व ऊचुरिदं वचः ॥ १३ ॥

हे तात! तदनन्तर उनके सब पितर लोग यह जानकर पितृलोकोंसे आकरके भृगुश्रेष्ठ और्वसे यह वचन बोले ॥ १३ ॥

और्व दृष्टः प्रभावस्ते तपसोग्रस्य पुत्रक।
प्रसादं कुरु लोकानां नियच्छ क्रोधमात्मनः ॥ १४ ॥

हे पुत्र और्व! तुम्हारी कठोर तपस्याका प्रभाव हमने प्रत्यक्ष देख लिया है; अब तुम सम्पूर्ण लोकों पर प्रसन्न होओ। अपने क्रोधको नियंत्रित करो ॥ १४ ॥

नानीशैर्हि तदा तात भृगुभिर्भावितात्मभिः।
वधोऽभ्युपेक्षितः सर्वैः क्षत्रियाणां विहिंसताम् ॥ १५ ॥

हे तात! तब सभी जितेन्द्रिय भृगुओंने बदला लेनेमें समर्थ होने पर भी मारनेवाले क्षत्रियोंके द्वारा किये जानेवाले इस वधकी उपेक्षा कर दी थी ॥ १५ ॥

आयुषा हि प्रकृष्टेन यदा नः खेद आविशत्।
तदास्माभिर्वधस्तात क्षत्रियैरीप्सितः स्वयम् ॥ १६ ॥

उसका कारण यह था कि आयुके बहुत बढ जानेसे जब हमको क्लेश होने लगा, तब हमने स्वयं ही क्षत्रियोंसे मारे जानेकी अभिलाषा की थी ॥ १६ ॥

निखातं तद्धि वै वित्तं केनचिद्भृगुवेश्मनि।
वैरायैव तदा न्यस्तं क्षत्रियान्कोपयिष्णुभिः।
किं हि वित्तेन नः कार्यं स्वर्गेप्सूनां द्विजर्षभ ॥ १७ ॥

क्षत्रियोंको क्रोध दिलानेकी इच्छावाले हमने शत्रुताके लिए ही किसी एक भृगुके घरमें धनको खोद कर गाड दिया था। हे द्विजोत्तम! अन्यथा स्वर्ग चाहनेवाले हमको धनसे क्या प्रयोजन है? ॥ १७ ॥

यदा तु मृत्युरादातुं न नः शक्नोति सर्वशः।
तदास्माभिरयं दृष्ट उपायस्तात संमतः ॥ १८ ॥

हे तात! मृत्यु भी किसी प्रकार हमको ले नहीं जा सकी, तब हमने इस उपायको ही अच्छा समझा ॥ १८ ॥

आत्महा च पुमांस्तात न लोकाँल्लभते शुभान्।
ततोऽस्माभिः समीक्ष्यैवं नात्मनात्मा विनाशितः ॥ १९ ॥

हे तात! आत्मघाती पुरुष शुभलोकोंको नहीं पा सकता, इसकी विवेचना करके ही हमने आत्मघात नहीं किया था ॥ १९ ॥

न चैतन्नः प्रियं तात यदिदं कर्तुमिच्छसि।
नियच्छेदं मनः पापात्सर्वलोकपराभवात् ॥ २० ॥

हे तात! तुम जो यह कर्म करनेकी इच्छा करते हो, वह काम हमारा प्रिय नहीं है। अतएव तुम सब लोकोंके परास्त करनेकी इच्छारूपी पापकर्मसे मनको निवृत्त करो ॥ २० ॥

न हि नः क्षत्रियाः केचिन्न लोकाः सप्त पुत्रक।
दूषयन्ति तपस्तेजः क्रोधमुत्पतितं जहि ॥ २१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७० ॥ ५७१७ ॥

हे तात! हमें न क्षत्रिय ही मार सकते हैं और न सातों लोक ही मिलकर मार सकते हैं। अतः तुम तप और तेजको दूषित करनेवाले इस उत्पन्न हुए क्रोधको त्याग दो ॥ २१ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ सत्तरहवां अध्याय समाप्त ॥ १७० ॥ ५७१७ ॥

: १७१ :

और्व उवाच

उक्तवानस्मि यां क्रोधात्प्रतिज्ञां पितरस्तदा।
सर्वलोकविनाशाय न सा मे वितथा भवेत् ॥ १ ॥

और्व बोले– हे पितरो! मैंने क्रोधित होकर सब लोकोंके विनाशके लिये जो प्रतिज्ञा की है, वह कभी व्यर्थ नहीं होगी; मैं व्यर्थ क्रोध और व्यर्थ प्रतिज्ञा करना नहीं चाहता ॥ १ ॥

वृथारोषप्रतिज्ञो हि नाहं जीवितुमुत्सहे।
अनिस्तीर्णो हि मां रोषो दहेदग्निरिवारणिम् ॥ २ ॥

यदि मैं इस प्रतिज्ञा और क्रोधको पूरा न करूंगा, तो मैं जीवित रहना नहीं चाहता, बिना प्रतिज्ञा पूरी किए मुझे क्रोधकी आग उसी प्रकार जलावेगी, कि जैसे अग्नि वनको जलाती है ॥ २ ॥

यो हि कारणतः क्रोधं संजातं क्षन्तुमर्हति ।
नालं स मनुजः सम्यक्त्रिवर्गं परिरक्षितुम् ॥ ३ ॥

क्रोध किसी कारणसे आजाय, तो जो उसको रोक लेता है वह मनुष्य कभी पूरी रीतिसे धर्म, अर्थ, काम इन तीन वर्गोंका पालन नहीं कर सकता ॥ ३ ॥

अशिष्टानां नियन्ता हि शिष्टानां परिरक्षिता ।
स्थाने रोषः प्रयुक्तः स्यान्नृपैः सर्वजिगीषुभिः ॥ ४ ॥

और सर्वत्र जय चाहनेवाले राजाके द्वारा योग्य स्थानमें प्रदर्शित किया हुआ क्रोध दुष्टका शासन और सुजनका पालन करता है ॥ ४ ॥

अश्रौषमहमूरुस्थो गर्भशय्यागतस्तदा ।
आरावं मातृवर्गस्य भृगूणां क्षत्रियैर्वधे ॥ ५ ॥

पहिले क्षत्रियोंने जब भार्गवोंको नष्ट किया था, तब मैंने ऊरु अर्थात् जांघके भीतर गर्भ-शय्यामें लेटे रहकर भार्गवोंकी और माताओंकी करुणापूर्ण चिल्लाहट सुनी थी ॥ ५ ॥

सामरैर्हि यदा लोकैर्भृगूणां क्षत्रियाधमैः ।
आगर्भोत्सादनं क्षान्तं तदा मां मन्युराविशत् ॥ ६ ॥

जब क्षत्रिय–कुलपांसु क्षत्रिय लोग गर्भमें स्थित बालक तकके सब भार्गवोंको नष्ट करने लगे, तभी मैं क्रोधित हो गया ॥ ६ ॥

आपूर्णकोशाः किल मे मातरः पितरस्तथा ।
भयात्सर्वेषु लोकेषु नाधिजग्मुः परायणम् ॥ ७ ॥

मेरे पितृगण और पूर्णगर्भवती मातायें जब शोकसे विकल और भयसे कातर हुई थीं, तब तीनों लोकमें किसीने उनकी रक्षा नहीं की थी ॥ ७ ॥

तान्भृगूणां यदा दारान्कश्चिन्नाभ्यवपद्यत ।
यदा तदा दधारेयमूरुणैकेन मां शुभा ॥ ८ ॥

जब किसीने उन भृगुपत्नियोंकी रक्षा नहीं की, तब मेरी शुभ लक्षणयुक्ता इस माताने एक ऊरुसे मुझको धारणकर रखा था ॥ ८ ॥

प्रतिषेद्धा हि पापस्य यदा लोकेषु विद्यते ।
तदा सर्वेषु लोकेषु पापकृन्नोपपद्यते ॥ ९ ॥

जब इस भूमण्डलमें एक भी मनुष्य पाप कर्मको नष्ट करनेवाला हो तो किसी लोकमें कोई भी पापी नहीं पैदा हो सकता ॥ ९ ॥

यदा तु प्रतिषेद्धारं पापो न लभते क्वचित्।
तिष्ठन्ति बहवो लोके तदा पापेषु कर्मसु ॥ १० ॥

जब लोकोंमें कोई पापकर्मके लिए दण्ड देनेवाला नहीं रह जाता, तब लोकमें बहुतसे मनुष्य पापकर्ममें प्रवृत्त होते हैं ॥ १० ॥

जानन्नपि च यः पापं शक्तिमान्न नियच्छति।
ईशः सन्सोऽपि तेनैव कर्मणा संप्रयुज्यते ॥ ११ ॥

जो जन शक्तिमान् और पाप रोकनेमें समर्थ होने पर भी जान बूझकर पापकर्म नहीं रोकता तो वह भी उस पापमें लिप्त हो जाता है ॥ ११ ॥

राजभिश्चेश्वरैश्चैव यदि वै पितरो मम।
शक्तैर्न शकिता त्रातुमिष्टं मत्वेह जीवितम् ॥ १२ ॥

पर राजालोग और सामर्थ्यशाली मनुष्य उस पापकर्मके रोकनेका सामर्थ्य रखने पर भी इस लोकमें अपने जीवनको अभीष्ट जानकर मेरे पितरोंकी रक्षा नहीं कर सके ॥ १२ ॥

अत एषामहं क्रुद्धो लोकानामीश्वरोऽद्य सन्।
भवतां तु वचो नाहमलं समतिवर्तितुम् ॥ १३ ॥

इसी हेतु आज इन लोकोंका स्वामी होकर मैंने क्रोधित होकर उन सब लोगोंको उस पाप-कर्मका दण्ड देनेका निश्चय किया है, अतः आपकी आज्ञा मान नहीं सकता ॥ १३ ॥

मम चापि भवेदेतदीश्वरस्य सतो महत्।
उपेक्षमाणस्य पुनर्लोकानां किल्बिषाद्भयम् ॥ १४ ॥

मैं बदला लेनेके योग्य हो करके भी यदि बदला लेनेका प्रयत्न न करूं, तो इस पापकर्मकी उपेक्षा करनेवाले मुझे लोकोंके संतापके कारण बडा भारी भय प्राप्त हो जाएगा ॥ १४ ॥

यश्चायं मन्युजो मेऽग्निर्लोकानादातुमिच्छति।
दहेदेष च मामेव निगृहीतः स्वतेजसा ॥ १५ ॥

मेरी जो क्रोधसे उत्पन्न अग्नि लोकोंको जलानेकी इच्छा करती है, यदि उसे अपने तेजसे रोक लूं, तो वह अग्नि मुझको ही जला मारेगी ॥ १५ ॥

भवतां च विजानामि सर्वलोकहितेप्सुताम्।
तस्माद्विदध्वं यच्छ्रेयो लोकानां मम चेश्वराः ॥ १६ ॥

हे प्रभुगण ! मैं मानता हूं, कि आप सब लोकोंके हित चाहनेवाले हैं, अतः ऐसा करें, कि जिससे मेरा और सब लोकोंका भी मङ्गल होवे ॥ १६ ॥

पितर ऊचुः

य एष मन्युजस्तेऽग्निर्लोकानादातुमिच्छति ।
अप्सु तं मुञ्च भद्रं ते लोका ह्यप्सु प्रतिष्ठिताः ॥ १७ ॥

पितृगण बोले– तुम्हारे क्रोधसे उत्पन्न जो अग्नि सब लोकोंको खा लेना चाहती है तुम उसको जलमें डाल दो, क्योंकि सभी लोक जलमें प्रतिष्ठित हैं । तभी तुम्हारा मंगल होगा ॥१७॥

आपोमयाः सर्वरसाः सर्वमापोमयं जगत् ।
तस्मादप्सु विमुञ्चेमं क्रोधाग्निं द्विजसत्तम ॥ १८ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! सब रस जलसे पूर्ण हैं और सम्पूर्ण जग भी जलसे पूर्ण हैं, अतः हे द्विजश्रेष्ठ ! तुम इस क्रोधाग्निको जलमें छोड दो ॥ १८ ॥

अयं तिष्ठतु ते विप्र यदीच्छसि महोदधौ ।
मन्युजोऽग्निर्दहन्नापो लोका ह्यापोमयाः स्मृताः ॥ १९ ॥

हे ब्राह्मण ! यदि तुम चाहते हो तो यह तुम्हारी क्रोधसे उत्पन्न अग्नि जलोंको जलाते हुए समुद्रमें ही रहे । हे विप्र ! सम्पूर्ण लोकोंको जलमय कहा गया है ॥ १९ ॥

एवं प्रतिज्ञा सत्येयं तवानघ भविष्यति ।
न चैव सामरा लोका गमिष्यन्ति पराभवम् ॥ २० ॥

हे अनघ ! ऐसा होनेसे तुम्हारी प्रतिज्ञा भी सच्ची हो जाएगी और देवोंसे युक्त लोक भी नष्ट नहीं होंगे ॥ २० ॥

वसिष्ठ उवाच

ततस्तं क्रोधजं तात और्वोऽग्निं वरुणालये ।
उत्ससर्ज स चैवाप उपयुङ्क्ते महोदधौ ॥ २१ ॥

वसिष्ठ बोले– तब, हे तात ! और्वने अपने क्रोधसे उपजी हुई अग्निको वरुणालय समुद्रमें छोड दिया । वह अग्नि समुद्रमें रहकर जल पीया करती है ॥ २१ ॥

महद्धयशिरो भूत्वा यत्तद्वेदविदो विदुः ।
तमग्निमुद्गिरन्वक्त्रात्पिबत्यापो महोदधौ ॥ २२ ॥

वेदके जानकार ब्राह्मण लोग जिस महान् वडवामुखको जानते हैं, वह अग्नि वडवामुख बनकर उस मुखसे लोकोंमें प्रसिद्ध वाडवाग्नि वमन करती हुई जल पीने लगी ॥ २२ ॥

तस्मात्त्वमपि भद्रं ते न लोकान्हन्तुमर्हसि।
पराशर परान्धर्माञ्जानञ्ज्ञानवतां वर ॥ २३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि एकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७१ ॥ ५७४० ॥

हे ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ पराशर ! तुम भी सब धर्मोंको जानते हो, तुम्हारा मंगल होवे, सब लोकोंका विनाश करना तुमको भी उचित नहीं है ! ॥ २३ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ इकहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ १७१ ॥ ५७४० ॥

: १७२ :

गन्धर्व उवाच

एवमुक्तः स विप्रर्षिर्वसिष्ठेन महात्मना।
न्ययच्छदात्मनः कोपं सर्वलोकपराभवात् ॥ १ ॥

गन्धर्व बोले– विप्रर्षि पराशरने महात्मा वसिष्ठके द्वारा इस प्रकार कहे जानेपर सब लोकोंको नष्ट करनेवाला अपना क्रोध त्याग दिया ॥ १ ॥

ईजे च स महातेजाः सर्ववेदविदां वरः।
ऋषी राक्षससत्रेण शाक्तेयोऽथ पराशरः ॥ २ ॥

पर वह सब वेदोंके जानकारोंमें श्रेष्ठ बडे तेजस्वी शक्तिपुत्र महर्षि पराशर राक्षसोंको मारनेके लिए राक्षस-यज्ञ करनेमें प्रवृत्त हुए ॥ २ ॥

ततो वृद्धांश्च बालांश्च राक्षसान्स महामुनिः।
ददाह वितते यज्ञे शक्तेर्वधमनुस्मरन् ॥ ३ ॥

तदनन्तर वह मुनि शक्तिका वध स्मरण कर उस महान् यज्ञमें बालकसे लेकर बूढेतक संपूर्ण राक्षसोंको जलाने लगे ॥ ३ ॥

न हि तं वारयामास वसिष्ठो रक्षसां वधात्।
द्वितीयामस्य मा भाङ्क्षं प्रतिज्ञामिति निश्चयात् ॥ ४ ॥

वसिष्ठने यह निश्चय कर कि उनकी दूसरी प्रतिज्ञा भङ्ग करना उचित नहीं है, उनको राक्षस–वध करनेसे नहीं रोका ॥ ४ ॥

त्रयाणां पावकानां स सत्रे तस्मिन्महामुनिः ।
आसीत्पुरस्ताद्दीप्तानां चतुर्थ इव पावकः ॥ ५ ॥

महामुनि पराशर उस राक्षस—यज्ञमें प्रदीप्त तीनों अग्नियोंके सामने चौथी अग्निके समान शोभित होने लगे ॥ ५ ॥

तेन यज्ञेन शुभ्रेण हूयमानेन युक्तितः ।
तद्विदीपितमाकाशं सूर्येणेव घनात्यये ॥ ६ ॥

उन मुनिने उपायसे किये जानेवाले उस हवनयुक्त शुभ यज्ञसे आकाश मण्डलको इस प्रकार प्रदीप्त किया, कि जिस प्रकार सूर्य बादल दूर हो जानेपर आकाश मण्डलको प्रकाशयुक्त करता है ॥ ६ ॥

तं वसिष्ठादयः सर्वे मुनयस्तत्र मेनिरे ।
तेजसा दिवि दीप्यन्तं द्वितीयमिव भास्करम् ॥ ७ ॥

तब वसिष्ठ आदि सम्पूर्ण महर्षि गण अपने तेजसे द्युलोकमें जलते हुए पराशर मुनिको दूसरा सूर्य समझने लगे ॥ ७ ॥

ततः परमदुष्प्रापमन्यैरृषिरुदारधीः ।
समापिपयिषुः सत्रं तमत्रिः समुपागमत् ॥ ८ ॥

तदनन्तर उदार बुद्धियुक्त अत्रि औरोंके द्वारा समाप्त न होनेवाले उस यज्ञको पूरा करनेकी इच्छासे उनके निकट आये ॥ ८ ॥

तथा पुलस्त्यः पुलहः क्रतुश्चैव महाक्रतुम् ।
उपाजग्मुरमित्रघ्न रक्षसां जीवितेप्सया ॥ ९ ॥

हे शत्रुनाशी ! इसके पश्चात् पुलस्त्य, पुलह, क्रतु भी राक्षसोंके प्राण बचानेकी इच्छासे उस महायज्ञके पास आये ॥ ९ ॥

पुलस्त्यस्तु वधात्तेषां रक्षसां भरतर्षभ ।
उवाचेदं वचः पार्थ पराशरमरिन्दमम् ॥ १० ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! उन बहुतसे राक्षसोंके मारे जानेपर पुलस्त्यका शत्रुओंका नाश करनेवाले पराशरसे यह बात बोले ॥ १० ॥

कच्चित्तातापविघ्नं ते कच्चिन्नन्दसि पुत्रक ।
अजानतामदोषाणां सर्वेषां रक्षसां वधात् ॥ ११ ॥

हे तात ! तुम्हारे अग्निहोत्रके कार्यमें विघ्न तो नहीं है ? हे पुत्र ! क्या तुम उन निर्दोष राक्षसोंको भी जो तुम्हारे पिताके वधके विषयमें कुछ नहीं जानते, मारकर आनन्द तो प्राप्त कर रहे हो ? ॥ ११ ॥

×

प्रजोच्छेदमिमं मह्यं सर्वं सोमपसत्तम।
अधर्मिष्ठं वरिष्ठः सन्कुरुषे त्वं पराशर।
राजा कल्माषपादश्च दिवमारोढुमिच्छति ॥ १२ ॥

हे सोमपान करनेवालोंमें श्रेष्ठ ! जिसके कारण तुम प्रजाओंको इस प्रकार उखाडने रूप अधर्मको श्रेष्ठ होकर भी कर रहे हो। वह राजा कल्पापपाद तो स्वर्गमें जाकर आनन्द कर रहे हैं ॥ १२ ॥

ये च शक्त्यवराः पुत्रा वसिष्ठस्य महामुनेः।
ते च सर्वे मुदा युक्ता मोदन्ते सहिताः सुरैः।
सर्वमेतद्वसिष्ठस्य विदितं वै महामुने ॥ १३ ॥

और महामुनि वसिष्ठके शक्तिसे छोटे जो सब पुत्र थे, वे भी देवोंके साथ परम आनन्द भोग रहे हैं; हे महामुने ! वसिष्ठ यह सब जानते हैं ॥ १३ ॥

रक्षसां च समुच्छेद एष तात तपस्विनाम्।
निमित्तभूतस्त्वं चात्र क्रतौ वासिष्ठनन्दन।
स सत्रं मुञ्च भद्रं ते समाप्तमिदमस्तु ते ॥ १४ ॥

हे वासिष्ठनन्दन तात ! इस यज्ञमें निर्दोप राक्षसोंका जो नाश हो रहा है, तुम केवल उसके निमित्त ही बन रहे हो; अतएव तुम यह यज्ञ त्याग दो, तुम्हारा मंगल होवे; अब यज्ञ पूरा करो ॥ १४ ॥

एवमुक्तः पुलस्त्येन वसिष्ठेन च धीमता।
तदा समापयामास सत्रं शाक्तिः पराशरः ॥ १५ ॥

बुद्धिमान् पुलस्त्य और वसिष्ठके शक्तिनन्दन पराशरसे ऐसा कहने पर उन्होंने तब उस यज्ञको पूरा किया ॥ १५ ॥

सर्वराक्षससत्राय संभृतं पावकं मुनिः।
तत्तरे हिमवत्पार्श्वे उत्ससर्ज महावने ॥ १६ ॥

और सम्पूर्ण राक्षसोंके नाश यज्ञके लिये जो अग्नि प्रज्ज्वलित की थी उसको मुनिने हिमालयकी उत्तरकी ओर एक बडे वनमें छोड दिया ॥ १६ ॥

स तत्राद्यापि रक्षांसि वृक्षानश्मान एव च।
भक्षयन्दृश्यते वह्निः सदा पर्वणि पर्वणि ॥ १७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७२ ॥ ५७५७ ॥

वहां अभीतक वह अग्नि हर त्योहारमें राक्षस, वृक्ष और पत्थरोंको खाती हुई दीख पडती है ॥ १७ ॥

महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ बहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ १७२ ॥ ५७५७ ॥

: १७३ :

अर्जुन उवाच

राज्ञा कल्माषपादेन गुरौ ब्रह्मविदां वरे ।
कारणं किं पुरस्कृत्य भार्या वै संनियोजिता ॥ १ ॥

अर्जुन बोले– हे मित्र ! राजा कल्माषपादने वेदज्ञोंमें श्रेष्ठ गुरु वसिष्ठसे स्त्रीको क्यों मिलाया ॥ १ ॥

जानता च परं धर्मं लोक्यं तेन महात्मना ।
अगम्यागमनं कस्माद्वसिष्ठेन महात्मना ।
कृतं तेन पुरा सर्वं वक्तुमर्हसि पृच्छतः ॥ २ ॥

उन महात्मा महर्षि वसिष्ठने धर्मके जानकार होकर भी मिलनेके अयोग्य स्त्रीसे पहले संसर्ग क्यों किया ? इस विषयमें पूछनेवाले मुझे सब बताओ ॥ २ ॥

गन्धर्व उवाच

धनञ्जय निबोधेदं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
वसिष्ठं प्रति दुर्धर्षं तथामित्रसहं नृपम् ॥ ३ ॥

गन्धर्व बोले– हे दुर्द्धर्ष धनञ्जय ! तुमने उस शत्रुनाशी राजा और वसिष्ठके विषयमें जो कुछ पूछा, वह कहता हूं, सुनो ॥ ३ ॥

कथितं ते मया पूर्वं यथा शप्तः स पार्थिवः ।
शक्तिना भरतश्रेष्ठ वासिष्ठेन महात्मना ॥ ४ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! वसिष्ठपुत्र महात्मा शक्ति द्वारा जिस प्रकार वह राजा शापयुक्त हुआ था वह सब मैं सुना आया हूँ ॥ ४ ॥

स तु शापवशं प्राप्तः क्रोधपर्याकुलेक्षणः ।
निर्जगाम पुराद्राजा सहदारः परन्तपः ॥ ५ ॥

पहले ही शापग्रस्त होकर क्रोधसे युक्त नेत्रवाले वह शत्रुसन्तापी राजा कल्मापपाद स्त्रीके साथ नगरसे निकले ॥ ५ ॥

अरण्यं निर्जनं गत्वा सदारः परिचक्रमे ।
नानामृगगणाकीर्णं नानासत्त्वसमाकुलम् ॥ ६ ॥

और निर्जन वनमें जाकर स्त्रीके साथ घूमने लगे। अनेक प्रकारके मृगोंसे भरे भांति भांतिके वनके जीवोंसे भरे ॥ ६ ॥

नानागुल्मलताच्छन्नं नानाद्रुमसमावृतम् ।
अरण्यं घोरसंनादं शापग्रस्तः परिभ्रमन् ॥ ७ ॥

नाना गुल्म लताओंसे ढंके हुए और विविध वृक्षोंसे भरे हुए घोर शब्दसे गूंजते हुए उस वडे वनमें घूमते हुए ॥ ७ ॥

स कदाचित्क्षुधाविष्टो मृगयन्भक्ष्यमात्मनः ।
ददर्श सुपरिक्लिष्टः कस्मिंश्चिद्वननिर्झरे ।
ब्राह्मणीं ब्राह्मणं चैव मिथुनायोपसंगतौ ॥ ८ ॥

वे शापग्रस्त भूपाल कभी बहुत भूखे होकर अपने लिए भोजनकी सामग्री ढूंढते हुए थक गये थे, कि ऐसे समयमें उस वनके एक झरनेके स्थानमें एक ब्राह्मण और ब्राह्मणीको मैथुनकर्ममें प्रवृत्त देखा ॥ ८ ॥

तौ समीक्ष्य तु वित्रस्तावकृतार्थौ प्रधावितौ ।
तयोश्च द्रवतोर्विप्रं जग्राह नृपतिर्बलात् ॥ ९ ॥

वे राजाको देखते ही मनोरथ पूरा न होने पर भी अति भयभीत होकर वहांसे भागे तब राजाने भागे जाते हुए उस दम्पतिमेंसे ब्राह्मणको पकड लिया ॥ ९ ॥

दृष्ट्वा गृहीतं भर्तारमथ ब्राह्मण्यभाषत ।
शृणु राजन्वचो मह्यं यत्त्वां वक्ष्यामि सुव्रत ॥ १० ॥

तब ब्राह्मणी पतिको पकडे जाते देखकर वोली– हे सुव्रत महाराज! मैं जो तुमसे कहती हूं उस मेरी बातको सुनो ॥ १० ॥

आदित्यवंशप्रभवस्त्वं हि लोकपरिश्रुतः ।
अप्रमत्तः स्थितो धर्मे गुरुशुश्रूषणे रतः ॥ ११ ॥

यह सब लोकोंमें प्रसिद्ध है, कि तुमने सूर्यवंशमें जन्म लिया है और प्रमत्त न होकर गुरुकी सेवा भी किया करते हो ॥ ११ ॥

शापं प्राप्तोऽसि दुर्धर्ष न पापं कर्तुमर्हसि ।
ऋतुकाले तु संप्राप्ते भर्त्रास्म्यद्य समागता ॥ १२ ॥

हे दुर्द्धर्ष! अब तुम शापग्रस्त हुए हो, अतः तुमको ऐसा पाप करना नहीं चाहिये; मेरा ऋतुकाल आजाने पर मैं आज पतिसे मिल रही थी ॥ १२ ॥

अकृतार्था ह्यहं भर्त्रा प्रसवार्थश्च मे महान् ।
प्रसीद नृपतिश्रेष्ठ भर्ता मेऽयं विसृज्यताम् ॥ १३ ॥

पर पतिसे पुत्र प्राप्ति रूप मेरा महान् मनोरथ सफल नहीं हुआ है; अतएव, हे भूपश्रेष्ठ! प्रसन्न होओ, मेरे पतिको छोड दो ॥ १३ ॥

एवं विक्रोशमानायास्तस्याः स सुनृशंसकृत् ।
भर्तारं भक्षयामास व्याघ्रो मृगमिवेप्सितम्　　　　॥ १४ ॥

उस ब्राह्मणीके इस प्रकार रोती रहने पर भी राजाने निर्दयी–पनसे उसके पतिको इस प्रकार खा लिया, कि जैसे व्याघ्र मृगको खाता है ॥ १४ ॥

तस्याः क्रोधाभिभूताया यदश्रु न्यपतद् भुवि ।
सोऽग्निः समभवद्दीप्तस्तं च देशं व्यदीपयत्　　　　॥ १५ ॥

तब क्रोधसे संतप्त उस ब्राह्मणीके जो आंसू भूमि पर गिरे, उनसे जलती हुई आग पैदा हो गई और उससे उस स्थानमें उजाला हो गया ॥ १५ ॥

ततः सा शोकसंतप्ता भर्तृव्यसनदुःखिता
कल्माषपादं राजर्षिमशपद्ब्राह्मणी रुषा　　　　॥ १६ ॥

तब पतिके बिछोहसे कातर, शोकसे व्याकुल उस ब्राह्मणीने क्रोधसे राजर्षि कल्माषपादको यह शाप दिया ॥ १६ ॥

यस्मान्ममाकृतार्थायास्त्वया क्षुद्र नृशंसवत् ।
प्रेक्षन्त्या भक्षितो मेऽद्य प्रभुर्भर्ता महायशाः　　　　॥ १७ ॥

हे नीच ! मिलनके सुखसे मेरा मनोरथ सफल न होने पर भी तुमने निष्ठुरके समान मेरे देखते देखते मेरे प्रिय और अति यशस्वी पतिको खा डाला ॥ १७ ॥

तस्मात्त्वमपि दुर्बुद्धे मच्छापपरिविक्षतः
पत्नीमृतावनुप्राप्य सद्यस्त्यक्षसि जीवितम्　　　　॥ १८ ॥

अतः, हे दुर्बुद्धे ! मेरे शापसे ग्रस्त होकर तुम भी ऋतुकालमें स्त्रीसे मिल करके उसीक्षण प्राण छोड दोगे ॥ १८ ॥

यस्य चर्षेर्वसिष्ठस्य त्वया पुत्रा विनाशिताः ।
तेन संगम्य ते भार्या तनयं जनयिष्यति ।
स ते वंशकरः पुत्रो भविष्यति नृपाधम　　　　॥ १९ ॥

और तुमने जिन महर्षि वसिष्ठके पुत्रोंको नष्ट किया है, तुम्हारी स्त्री उन्हींसे मिल कर पुत्र प्रसव करेगी । नृपाधम ! वही पुत्र तेरे वंशका रक्षक होगा ॥ १९ ॥

एवं शप्त्वा तु राजानं सा तमाङ्गिरसी शुभा ।
तस्यैव संनिधौ दीप्तं प्रविवेश हुताशनम्　　　　॥ २० ॥

अङ्गिरा कुलसे उत्पन्न शुभ लक्षणयुक्त वह ब्राह्मणी राजाको यह शाप देकर उनके सामने ही जलती हुई आगमें जा घुसी ॥ २० ॥

वसिष्ठश्च महाभागः सर्वमेतदपश्यत ।
ज्ञानयोगेन महता तपसा च परन्तप ॥ २१ ॥

हे शत्रुमथन करनेवाले अर्जुन ! महाभाग वसिष्ठ अपने महान् तपोवलके कारण ज्ञानचक्षुसे वह सब जान गये ॥ २१ ॥

मुक्तशापश्च राजर्षिः कालेन महता ततः ।
ऋतुकालेऽभिपतितो मदयन्त्या निवारितः ॥ २२ ॥

तदनन्तर बहुत दिनके बाद शापसे मुक्त होकर राजर्षि कल्माषपादके अपनी रानीके ऋतुकालकी रक्षाके लिये उद्यत होने पर मदयन्तीने उनको रोका ॥ २२ ॥

न हि सस्मार नृपतिस्तं शापं काममोहितः ।
देव्याः सोऽथ वचः श्रुत्वा स तस्या नृपसत्तमः ।
तं च शापमनुस्मृत्य पर्यतप्यद्भृशं तदा ॥ २३ ॥

राजा कामसे मोहित होनेके कारण शापकी बातको याद न रख सके थे, पर वह राजश्रेष्ठ उस देवीकी बात सुनकर और उस शापको स्मरण करके बहुत ही दुःखी हुए ॥ २३ ॥

एतस्मात्कारणाद्राजा वसिष्ठं संन्ययोजयत् ।
स्वदारे भरतश्रेष्ठ शापदोषसमन्वितः ॥ २४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१७३॥ समाप्तं चैत्ररथपर्व ॥५७८१॥

हे भरतश्रेष्ठ ! शापग्रस्त राजाने इसी कारण अपनी रानीकी ऋतुरक्षाके लिये वसिष्ठको नियुक्त किया था ॥ २४ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ तिहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥१७३॥ चैत्ररथपर्व समाप्त हुआ ॥५७८१॥

: १७४ :

अर्जुन उवाच

अस्माकमनुरूपो वै यः स्याद्गन्धर्व वेदवित् ।
पुरोहितस्तमाचक्ष्व सर्वं हि विदितं तव ॥ १ ॥

अर्जुन बोले— हे गन्धर्व ! तुम सब जानते हो, अतः जो हमारे अनुरूप और वेद जाननेवाला कोई पुरोहित हो तो उसे बताओ ॥ १ ॥

गन्धर्व उवाच

यवीयान्देवलस्यैष वने भ्राता तपस्यति ।
धौम्य उत्कोचके तीर्थे तं वृणुध्वं यदीच्छथ ॥ २ ॥

गन्धर्व बोले— वनके भीतर उत्कोचक नाम तीर्थमें देवलके छोटे भाई धौम्य नामक ऋषि तप कर रहे हैं, तुम चाहो तो उनको पुरोहित बनाओ ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततोऽर्जुनोऽस्त्रमाग्नेयं प्रददौ तद्यथाविधि ।
गन्धर्वाय तदा प्रीतो वचनं चेदमब्रवीत् ॥ ३ ॥

वैशम्पायन बोले– तदनन्तर अर्जुनने प्रसन्न होकर उन गन्धर्वको विधिपूर्वक अग्न्यस्त्र दिया और यह वचन बोले ॥ ३ ॥

त्वय्येव तावत्तिष्ठन्तु हया गन्धर्वसत्तम ।
कर्मकाले ग्रहीष्यामि स्वस्ति तेऽस्त्विति चाब्रवीत् ॥ ४ ॥

हे गन्धर्वोंमें श्रेष्ठ ! तुम्हारा मंगल होवे, तुम्हारे द्वारा दिये हुए घोडे अभी तुम्हारे ही पास रहें, जब काम पडेगा, तब ले लूंगा, इस प्रकार अर्जुन बोले ॥ ४ ॥

तेऽन्योन्यमभिसंपूज्य गन्धर्वः पाण्डवाश्च ह ।
रम्याद्भागीरथीकच्छाद्यथाकामं प्रतस्थिरे ॥ ५ ॥

तदनन्तर पाण्डवगण और गन्धर्व एक दूसरेका सत्कार करके रमणीय भागीरथी तटसे अपने अपने अभिलषित स्थानोंको चले गए ॥ ५ ॥

तत उत्कोचकं तीर्थं गत्वा धौम्याश्रमं तु ते ।
तं वव्रुः पाण्डवा धौम्यं पौरोहित्याय भारत ॥ ६ ॥

हे भारत ! तदनन्तर पाण्डवोंने उत्कोचक तीर्थमें धौम्यके आश्रममें जाकर पुरोहित पदके लिए उनका वरण किया ॥ ६ ॥

तान्धौम्यः प्रतिजग्राह सर्ववेदविदां वरः ।
पाद्येन फलमूलेन पौरोहित्येन चैव ह ॥ ७ ॥

वेदज्ञोंमें श्रेष्ठ धौम्यने पाद्य और फलमूलोंसे उनका सत्कार करके उनका पुरोहित होना स्वीकार कर लिया ॥ ७ ॥

ते तदाशंसिरे लब्धां श्रियं राज्यं च पाण्डवाः ।
तं ब्राह्मणं पुरस्कृत्य पाञ्चाल्याश्च स्वयंवरम् ॥ ८ ॥

उन पाण्डवोंने उन ब्राह्मणको गुरुकी भांति पुरस्कृत कर ऐसा समझ लिया, कि उन्हें राज्य-लक्ष्मी और स्वयंवर स्थानमें मानों पाञ्चाली मिल ही गयी ॥ ८ ॥

मातृषष्ठास्तु ते तेन गुरुणा संगतास्तदा
नाथवन्तमिवात्मानं मेनिरे भरतर्षभाः ॥ ९ ॥

वे माताके साथ छैओं भरतश्रेष्ठ पाण्डव उन गुरुसे मिलकर अपनेको नाथयुक्त समझने लगे ॥ ९ ॥

स हि वेदार्थतत्त्वज्ञस्तेषां गुरुरुदारधीः ।
तेन धर्मविदा पार्थो याज्याः सर्वविदा कृताः ॥ १० ॥

वेदार्थके तत्त्वको जाननेवाले उदार बुद्धियुक्त वह ऋषि उनके गुरु हुए और धर्म जाननेवाले, सब विषयोंके जानकार उन द्विजने भी उन पृथापुत्र पाण्डवोंको अपना यजमान बनाया ॥ १० ॥

वीरांस्तु स हि तान्मेने प्राप्तराज्यान्स्वधर्मतः ।
बुद्धिवीर्यबलोत्साहैर्युक्तान्देवानिवापरान् ॥ ११ ॥

उन धौम्य ऋषिने बुद्धि, वीर्य, बल और उत्साहसे युक्त तथा देवोंके सदृश उन वीरोंको अपने धर्मके अनुसार राज्य पाये हुए समझा ॥ ११ ॥

कृतस्वस्त्ययनास्तेन ततस्ते मनुजाधिपाः ।
मेनिरे सहिता गन्तुं पाञ्चाल्यास्तं स्वयंवरम् ॥ १२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७४ ॥ ५७९३ ॥

उन ब्राह्मणके द्वारा स्वस्त्ययन करनेपर मानवश्रेष्ठ पाण्डवोंने एकत्र होकर द्रौपदीके स्वयंवरमें जाना निश्चित किया ॥ १२ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ चौहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ १७४ ॥ ५७१३ ॥

: १७५ :

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते नरशार्दूला भ्रातरः पञ्च पाण्डवाः ।
प्रययुर्द्रौपदीं द्रष्टुं तं च देवमहोत्सवम् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– तदनन्तर पुरुषश्रेष्ठ पांचों भाई पाण्डव देवमहोत्सव और पाञ्चाली द्रौपदीको देखने चले ॥ १ ॥

ते प्रयाता नरव्याघ्रा मात्रा सह परन्तपाः ।
ब्राह्मणान्ददृशुर्मार्गे गच्छतः सगणान्बहून् ॥ २ ॥

शत्रुको मथनेवाले उन नरव्याघ्र भाइयोंने माताके साथ जाते जाते पथमें अनेक ब्राह्मणोंके गणोंको चलते देखा ॥ २ ॥

तानूचुर्ब्राह्मणा राजन्पाण्डवान्ब्रह्मचारिणः ।
क्व भवन्तो गमिष्यन्ति कुतो वागच्छतेति ह ॥ ३ ॥

हे राजन् ! उन ब्रह्मचारी ब्राह्मणोंने पाण्डवोंसे पूछा, कि आप कहां जायेंगे ? और कहांसे आते हैं ? ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

आगतानेकचक्रायाः सोदर्यान्देवदर्शिनः ।
भवन्तो हि विजानन्तु सहितान्मातृचारिणः ॥ ४ ॥

देवमहोत्सव देखनेकी इच्छावाले युधिष्ठिरने उत्तर दिया– हम पांचों भाई माताके साथ मिलकर घूमा करते हैं; अब एकचक्रा नगरीसे आ रहे हैं ऐसा आप समझें ॥ ४ ॥

ब्राह्मणा ऊचुः

गच्छताद्यैव पाञ्चालान्द्रुपदस्य निवेशनम् ।
स्वयंवरो महांस्तत्र भविता सुमहाधनः ॥ ५ ॥

ब्राह्मणोंने कहा– आप लोग आज ही पाञ्चाल नगरमें राजा द्रुपदके घरको जायें; वहां बहुत धन खर्च कर एक बडा भारी स्वयंवर होनेवाला है ॥ ५ ॥

एकसार्थं प्रयाताः स्मो वयमप्यत्र गामिनः ।
तत्र ह्यद्भुतसंकाशो भविता सुमहोत्सवः ॥ ६ ॥

हम भी वहां जा रहे हैं, चलो, एक ही साथ चलें। वह महोत्सव आश्चर्यजनक होगा ॥६॥

यज्ञसेनस्य दुहिता द्रुपदस्य महात्मनः ।
वेदिमध्यात्समुत्पन्ना पद्मपत्रनिभेक्षणा ॥ ७ ॥

पांचालराज महात्मा यज्ञसेन राजा द्रुपदकी कमलकी पंखुडीके समान आंखोंवाली उस पुत्रीने वेदिमेंसे जन्म लिया है ॥ ७ ॥

दर्शनीयानवद्याङ्गी सुकुमारी मनस्विनी ।
धृष्टद्युम्नस्य भगिनी द्रोणशत्रोः प्रतापिनः ॥ ८ ॥

वह दर्शनीया, अनिन्दनीय अंगोंवाली, सुकुमारी, मनस्विनी और द्रोणके शत्रु प्रतापी धृष्टद्युम्नकी बहिन है ॥ ८ ॥

यो जातः कवची खड्गी सशरः सशरासनः ।
सुसमिद्धे महाबाहुः पावके पावकप्रभः ॥ ९ ॥

अग्निके समान तेजस्वी और महाबाहु जिस धृष्टद्युम्नने जलती हुई आगसे खड्ग, कवच, शर, शरासन आदिके साथ जन्म लिया है ॥ ९ ॥

स्वसा तस्यानवद्याङ्गी द्रौपदी तनुमध्यमा ।
नीलोत्पलसमो गन्धो यस्याः क्रोशात्प्रवायति ॥ १० ॥

उसकी बहिनका कोई अंग निन्दनीय नहीं है और उसके शरीरसे निकलनेवाली नील पद्मकी गन्ध कोस भरकी दूरीसे भी सूंघी जा सकती है, वह द्रौपदी सुन्दरी है ॥ १० ॥

×

तां यज्ञसेनस्य सुतां स्वयंवरकृतक्षणाम् ।
गच्छामहे वयं द्रष्टुं तं च देवमहोत्सवम् ॥ ११ ॥

हम स्वयंवरके लिए निश्चित, यज्ञसेनकी पुत्री उस द्रौपदी और देवमहोत्सवको देखनेको जा रहे हैं ॥ ११ ॥

राजानो राजपुत्राश्च यज्वानो भूरिदक्षिणाः ।
स्वाध्यायवन्तः शुचयो महात्मानो यतव्रताः ॥ १२ ॥
तरुणा दर्शनीयाश्च नानादेशसमागताः ।
महारथाः कृतास्त्राश्च समुपैष्यन्ति भूमिपाः ॥ १३ ॥

अनेक देशोंसे आए हुए बहुत दक्षिणा देनेवाले, यज्ञशील, स्वाध्यायमें नियुक्त, पवित्र, स्वधर्मनिष्ठ, महात्मा, तरुण अवस्थायुक्त, सुन्दर, अस्त्रविद्यामें पण्डित, महारथी भूमिके पालक राजा एवं राजकुमार उस देवमहोत्सवमें इकट्ठे होंगे ॥ १२-१३ ॥

ते तत्र विविधान्दायान्विजयार्थं नरेश्वराः ।
प्रदास्यन्ति धनं गाश्च भक्ष्यं भोज्यं च सर्वशः ॥ १४ ॥

वे राजा उस स्वयंवरके स्थान पर विजयकी आशासे गौ, धन, भक्ष्य, भोज्य आदि दान करने योग्य अनेक सामग्री सब प्रकारसे दान देंगे ! ॥ १४ ॥

प्रतिगृह्य च तत्सर्वं दृष्ट्वा चैव स्वयंवरम् ।
अनुभूयोत्सवं चैव गमिष्यामो यथेप्सितम् ॥ १५ ॥

हम वह सब यथेच्छ लेकर और स्वयंवर देखकर तथा महोत्सवका आनन्द उठाकर घरको लौट जायेंगे ॥ १५ ॥

नटा वैतालिकाश्चैव नर्तकाः सूतमागधाः ।
नियोधकाश्च देशेभ्यः समेष्यन्ति महाबलाः ॥ १६ ॥

स्वयंवर स्थलमें नाना देशोंके नट, भांति भांतिके वेश धरनेवाले, वैतालिक-मंगल गानवाले, सूत-पुराणकी कथा कहनेवाले, मगध-बलकी सूचना देनेवाले, महाबली पहलवान और नाचनेवाले आवेंगे ॥ १६ ॥

एवं कौतूहलं कृत्वा दृष्ट्वा च प्रतिगृह्य च ।
सहास्माभिर्महात्मानः पुनः प्रतिनिवर्त्स्यथ ॥ १७ ॥

हे महात्माओ ! आप भी दान लेकर, उस आश्चर्यजनक महोत्सवके आनन्दको भोगकर फिर हम लोगोंके संग लौट चलिए ॥ १७ ॥

दर्शनीयांश्च वः सर्वान्देवरूपानवस्थितान् ।
समीक्ष्य कृष्णा वरयेत्संगत्यान्यतमं वरम् ॥ १८ ॥

देवोंकी भांति रूपवाले एवं सुन्दर आप लोगोंको आया हुआ देखकर हो सकता है कि द्रौपदी आप लोगोंमेंसे किसी श्रेष्ठको वरण भी कर ले ॥ १८ ॥

अयं भ्राता तव श्रीमान्दर्शनीयो महाभुजः ।
नियुध्यमानो विजयेत्संगत्या द्रविणं बहु ॥ १९ ॥

आपके ये भाई महाभुज श्रीमान् और दर्शनयोग्य कार्य कुशल दीखते हैं। ये अपने शत्रुओंके साथ युद्ध करते हुए बहुत सा धन भी प्राप्त कर सकते हैं ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

परमं भो गमिष्यामो द्रष्टुं देवमहोत्सवम् ।
भवद्भिः सहिताः सर्वे कन्यायास्तं स्वयंवरम् ॥ २० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७५ ॥ ५८१३ ॥

युधिष्ठिर बोले– अच्छी बात है, हम सब आप लोगोंके साथ उस कन्या द्रौपदीके उस स्वयं-वर एवं देवमहोत्सवको देखने चलेंगे ॥ २० ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ पिचहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ १७५ ॥ ५८१३ ॥

: १७६ :

वैशंपायन उवाच

एवमुक्ताः प्रयातास्ते पाण्डवा जनमेजय ।
राज्ञा दक्षिणपाञ्चालान्द्रुपदेनाभिरक्षितान् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे जनमेजय ! पाण्डव लोग ब्राह्मणोंसे वह सब बातें सुनकर राजा द्रुपदके द्वारा शासित दक्षिणी पाञ्चाल देशमें गए ॥ १ ॥

ततस्ते तं महात्मानं शुद्धात्मानमकल्मषम् ।
ददृशुः पाण्डवा राजन्पथि द्वैपायनं तदा ॥ २ ॥

तब उन पाण्डवोंने पथमें पापके स्पर्शसे रहित विशुद्ध आत्मावाले महात्मा मुनि द्वैपायनको देखा ॥ २ ॥

तस्मै यथावत्सत्कारं कृत्वा तेन च सान्त्विताः ।
कथान्ते चाभ्यनुज्ञाताः प्रययुर्द्रुपदक्षयम् ॥ ३ ॥

उन्होंने विधिपूर्वक उनकी पूजा की और वे भी उनसे सांत्वित होकर नाना वार्तालापके बाद उनकी आज्ञासे द्रुपदके भवनकी ओर चले ॥ ३ ॥

पश्यन्तो रमणीयानि वनानि च सरांसि च।
तत्र तत्र वसन्तश्च शनैर्जग्मुर्महारथाः ॥ ४ ॥

वे महारथी सुन्दर सुन्दर वन और ताल देखते हुए तथा उन स्थानोंमें ठहरते हुए धीरे धीरे चले गये ॥ ४ ॥

स्वाध्यायवन्तः शुचयो मधुराः प्रियवादिनः।
आनुपूर्व्येण संप्राप्ताः पाञ्चालान्कुरुनन्दनाः ॥ ५ ॥

स्वाध्यायमें नियुक्त, अच्छे, पवित्र, सुन्दर—दर्शन, मीठी वाणी बोलनेवाले, महारथी कुरु-नन्दन इस प्रकार चलते हुए पांचाल देश पहुंचे ॥ ५ ॥

ते तु दृष्ट्वा पुरं तच्च स्कन्धावारं च पाण्डवाः।
कुम्भकारस्य शालायां निवेशं चक्रिरे तदा ॥ ६ ॥

वे पांडव पाञ्चाल नगर और वहांके सैनिकछावनियों देखकर एक कुम्हारके घरमें रहने लगे ॥ ६ ॥

तत्र भैक्ष्यं समाजन्हुर्ब्राह्मीं वृत्तिं समाश्रिताः।
तांश्च प्राप्तांस्तदा वीराञ्जज्ञिरे न नराः क्वचित् ॥ ७ ॥

वहां वे ब्राह्मणकी वृत्तिका सहारा लेकर भीख मांग मांग कर टिके रहे; अतः यज्ञमें आये हुए उन वीरोंको किसीने नहीं जाना ॥ ७ ॥

यज्ञसेनस्य कामस्तु पाण्डवाय किरीटिने।
कृष्णां दद्यामिति सदा न चैतद्विवृणोति सः ॥ ८ ॥

राजा यज्ञसेनकी सदा यह कामना रहती थी, " मैं पाण्डुपुत्र किरीटी अर्जुनको ही कन्याका दान करूं " पर उन्होंने यह बात किसीसे प्रगट नहीं की ॥ ८ ॥

सोऽन्वेषमाणः कौन्तेयान्पाञ्चाल्यो जनमेजय।
दृढं धनुरनायम्यं कारयामास भारत ॥ ९ ॥

हे जनमेजय ! उन पांचाल देशके राजा द्रुपदने कुन्ती पुत्रोंको ढूंढनेकी इच्छासे ऐसा एक दृढ धनुष बनवाया, कि जिसे अर्जुनके सिवाय कोई दूसरा झुका न सके ॥ ९ ॥

यन्त्रं वैहायसं चापि कारयामास कृत्रिमम्।
तेन यन्त्रेण सहितं राजा लक्ष्यं च काञ्चनम् ॥ १० ॥

और आकाशमें स्थित एक कृत्रिम यंत्र भी बनवाया उस यंत्रमें एक सोनेका लक्ष्य जुड-वाया ॥ १० ॥

द्रुपद उवाच

इदं सज्यं धनुः कृत्वा सज्येनानेन सायकैः ।
अतीत्य लक्ष्यं यो वेद्धा स लब्धा मत्सुतामिति　　॥ ११ ॥

द्रुपद बोले– जो राजा इस धनुष पर डोरी चढाकर बाणोंसे उस लक्ष्यको विद्ध करेंगे वही मेरी कन्याको प्राप्त करेंगे ॥ ११ ॥

वैशम्पायन उवाच

इति स द्रुपदो राजा सर्वतः समघोषयत् ।
तच्छ्रुत्वा पार्थिवाः सर्वे समीयुस्तत्र भारत　　॥ १२ ॥

वैशम्पायन बोले– हे भारत ! राजा द्रुपदने इस प्रकार चारों ओर घोषणा करवायी, सब राजा लोग उसे सुनकर वहां आये ॥ १२ ॥

ऋषयश्च महात्मानः स्वयंवरदिदृक्षया ।
दुर्योधनपुरोगाश्च सकर्णाः कुरवो नृप　　॥ १३ ॥

नाना देशोंसे महात्मा महर्षिलोग, कर्ण तथा दुर्योधनादि कौरव स्वयंवरको देखनेकी इच्छासे आ पहुंचे ॥ १३ ॥

ब्राह्मणाश्च महाभागा देशेभ्यः समुपागमन् ।
तेऽभ्यार्चिता राजगणा द्रुपदेन महात्मना　　॥ १४ ॥

महात्मा द्रुपदसे पूजित होकर नाना देशोंसे महाभाग ब्राह्मण तथा राजागण आए ॥ १४ ॥

ततः पौरजनाः सर्वे सागरोद्भूतनिःस्वनाः ।
शिशुमारपुरं प्राप्य न्यविशंस्ते च पार्थिवाः　　॥ १५ ॥

तदनन्तर पुरवासी तथा राजागण लोग महासमुद्रसे उठती हुई लहरकी भांति बडा कोलाहल मचाते हुए द्रौपदीके स्वयंवरको देखनेकी इच्छासे शिशुमार नगरमें पहुंच गए ॥ १५ ॥

प्रागुत्तरेण नगराद्भूमिभागे समे शुभे ।
समाजवाटः शुशुभे भवनैः सर्वतो वृतः　　॥ १६ ॥

नगरके ईशान कोनमें अच्छी समभूमि पर चारों ओर की वाडेसे घिरी हुई स्वयंवरकी सभा शोभा पा रही थी ॥ १६ ॥

प्राकारपरिखोपेतो द्वारतोरणमण्डितः ।
वितानेन विचित्रेण सर्वतः समवस्तृतः　　॥ १७ ॥

वह सभा खन्दक और प्राचीरोंसे घिरी, द्वार तोरणसे शोभित, सर्वत्र विचित्र मण्डपोंसे सजी हुई ॥ १७ ॥

तूर्यौघशतसंकीर्णः परार्ध्यागुरुधूपितः।
चन्दनोदकसिक्तश्च माल्यदामैश्च शोभितः ॥ १८ ॥
सैंकडों तूर्योंकी ध्वनिसे गूंजती हुई, अच्छे अगुरुकी गन्धसे सुगन्धित, चन्दनके जलसे अभिषिक्त और फूलके हारोंसे भली प्रकार सुशोभित थी ॥ १८ ॥

कैलासशिखरप्रख्यैर्नभस्तलविलेखिभिः।
सर्वतः संवृतैर्नद्धः प्रासादैः सुकृतोच्छ्रितैः ॥ १९ ॥
कैलासकी चोटीकी भांति आकाशको चूमनेवाले ऊंचे बडे बडे शुभ्र भवनोंसे वह सभास्थल घिरा हुआ था ॥ १९ ॥

सुवर्णजालसंवीतैर्मणिकुट्टिमभूषितैः।
सुखारोहणसोपानैर्महासनपरिच्छदैः ॥ २० ॥
वे भवन सोनेके जालसे सजेधजे, मणिमय फर्शोंसे सुहावने, अच्छे अच्छे आसन और साजोंसे बनेठने, चढनेमें सुखदायी सीढीयुक्त ॥ २० ॥

अग्राम्यसमवच्छन्नैरगुरूत्तमवासितैः।
हंसाच्छवर्णैर्बहुभिरायोजनसुगन्धिभिः ॥ २१ ॥
हंसकीके रंगकी भांति शुभ सुन्दर वस्त्रोंसे आच्छादित, अगरुकी उत्तम सुगन्धिसे सुगंधित सब भवनोंकी सुगन्धी योजन भरकी दूरीसे भी अनुभव की जा सकती थी ॥ २१ ॥

असंबाधशतद्वारैः शयनासनशोभितैः।
बहुधातुपिनद्धाङ्गैर्हिमवच्छिखरैरिव ॥ २२ ॥
शय्या और आसनोंसे सुशोभित, हिमाचलकी चोटिकी भांति धातुओंसे रंगे उन सब भवनोंके सैंकडों द्वार इतने लम्बे चौडे थे, कि एक साथ बहुत लोगोंके जानेसे भी एक दूसरेको बाधा नहीं होती थी ॥ २२ ॥

तत्र नानाप्रकारेषु विमानेषु स्वलंकृताः।
स्पर्धमानास्तदान्योन्यं निषेदुः सर्वपार्थिवाः ॥ २३ ॥
सब राजा अच्छे प्रकारसे अलंकृत होकर और एक दूसरेसे स्पर्धा करते हुए उन सब भांति भांतिके भवनोंमें जा बैठे ॥ २३ ॥

तत्रोपविष्टान्ददृशुर्महासत्त्वपराक्रमान्।
राजसिंहान्महाभागान्कृष्णागुरुविभूषितान् ॥ २४ ॥
लोगोंने वहां बैठे हुए बलशाली, अति पराक्रमी, महान् ऐश्वर्यवाले और कृष्ण अगरुसे विभूषित श्रेष्ठ राजाओंको देखा ॥ २४ ॥

महाप्रसादान्ब्रह्मण्यान्स्वराष्ट्रपरिरक्षिणः ।
प्रियान्सर्वस्य लोकस्य सुकृतैः कर्मभिः शुभैः ॥ २५ ॥

वहां बैठे हुए महा दयालु, ब्राह्मणोंका हित करनेवाले, अपने राष्ट्रोंकी हरतरहसे रक्षा करनेवाले, उत्तम प्रकारसे किए जानेवाले कर्मोंके कारण सभीके लोकप्रिय हुए हुए राजाओंको देखा ॥ २५ ॥

मञ्चेषु च परार्ध्येषु पौरजानपदा जनाः ।
कृष्णादर्शनतुष्ट्यर्थं सर्वतः समुपाविशन् ॥ २६ ॥

वे पुरवासी सभी जन बहुत मूल्यवान् आसनों पर द्रौपदीके दर्शनरूपी आनन्द प्राप्त करनेके लिए बैठ गए ॥ २६ ॥

ब्राह्मणैस्ते च सहिताः पाण्डवाः समुपाविशन् ।
ऋद्धिं पाञ्चालराजस्य पश्यन्तस्तामनुत्तमाम् ॥ २७ ॥

वे पाण्डवलोग भी ब्राह्मणसमाजके साथ एकत्र बैठकर राजा पाञ्चालके अद्वितीय ऐश्वर्यको देखते हुए वहां बैठ गए ॥ २७ ॥

ततः समाजो ववृधे स राजन्दिवसान्बहून् ।
रत्नप्रदानबहुलः शोभितो नटनर्तकैः ॥ २८ ॥

नट और नाचनेवालोंके नाच आदि और दाताओंके अनेक धन रत्नोंके दानसे सुशोभित वह सभा बहुत दिनोंतक इस प्रकारसे बढने लगी ॥ २८ ॥

वर्तमाने समाजे तु रमणीयेऽह्नि षोडशे ।
आप्लुताङ्गी सुवसना सर्वाभरणभूषिता ॥ २९ ॥
वीरकांस्यमुपादाय काञ्चनं समलंकृतम् ।
अवतीर्णा ततो रङ्गं द्रौपदी भरतर्षभ ॥ ३० ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! सोलहवें दिन इस सुन्दर समाजकी उपस्थितिमें नहा धोकर और सर्व आभूषणोंसे बन ठनके सुन्दर वस्त्र पहिने सुशोभित सोनेवाली वरमाला लेकर द्रौपदी उस सुन्दर रंगभूमिपर उपस्थित हुई ॥ २९–३० ॥

पुरोहितः सोमकानां मंत्रविद्ब्राह्मणः शुचिः ।
परिस्तीर्य जुहावाग्निमाज्येन विधिना तदा ॥ ३१ ॥

तब सोमवंशके पुरोहित मन्त्रज्ञ ब्राह्मणने शुद्ध होकर अग्निको फैलाकर यथाविधि अग्निमें घृतकी आहुति दी ॥ ३१ ॥

स तर्पयित्वा ज्वलनं ब्राह्मणान्स्वस्ति वाच्य च ।
वारयामास सर्वाणि वादित्राणि समन्ततः ॥ ३२ ॥

हविसे हविभक्षी अग्निको प्रसन्न कर और ब्राह्मणोंसे स्वस्ति कहलवाकर चारों ओर बजनेवाले बाजोंकी ध्वनिको रोका ॥ ३२ ॥

निःशब्दे तु कृते तस्मिन्धृष्टद्युम्नो विशां पते ।
रङ्गमध्यगतस्तत्र मेघगम्भीरया गिरा ।
वाक्यमुच्चैर्जगादेदं श्लक्ष्णमर्थवदुत्तमम् ॥ ३३ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! तदनन्तर सभाके चुप हो जाने पर धृष्टद्युम्नने रंगमंचपर खडे होकरके मेघके समान गंभीर वाणीसे अर्थयुक्त मनोहर यह बात बडे जोरसे कही ॥ ३३ ॥

इदं धनुर्लक्ष्यमिमे च बाणाः शृण्वन्तु मे पार्थिवाः सर्व एव ।
यन्त्रच्छिद्रेणाभ्यतिक्रम्य लक्ष्यं समर्पयध्वं खगमैर्दशार्धैः ॥ ३४ ॥

सभी उपस्थित भूपाल सुने, यह शरासन, ये तेज बाण और आकाशमें स्थित लक्ष्य दीख पडता है, यंत्रके छेदमेंसे निकल कर आकाशमें जानेवाले इन दसके आधे अर्थात् पांच बाणोंसे लक्ष्यको विद्ध कीजिए ॥ ३४ ॥

एतत्कर्ता कर्म सुदुष्करं यः कुलेन रूपेण बलेन युक्तः ।
तस्याद्य भार्या भगिनी ममेयं कृष्णा भवित्री न मृषा ब्रवीमि ॥ ३५ ॥

रूपवान् बली, कुलीन जो राजा इस महत् कार्यको पूरा करेगा, मेरी बहिन यह कृष्णा आज उसकी भार्या होगी, मैं यह झूठ नहीं कहता ॥ ३५ ॥

तानेवमुक्त्वा द्रुपदस्य पुत्रः पश्चादिदं द्रौपदीमभ्युवाच ।
नाम्ना च गोत्रेण च कर्मणा च संकीर्तयंस्तान्नृपतीन्समेतान् ॥ ३६ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७६ ॥ ५८४९ ॥

द्रुपदके कुमार धृष्टद्युम्न आये हुए उन भूपालोंसे यह कर उनके नाम, गोत्र और कर्मको सुना कर बहिन द्रौपदीसे कहने लगे ॥ ३६ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ छियहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ १७६ ॥ ५८४९ ॥

: १७७ :

धृष्टद्युम्न उवाच

दुर्योधनो दुर्विषहो दुर्मुखो दुष्प्रधर्षणः ।
विविंशतिर्विकर्णश्च सहो दुःशासनः समः ॥ १ ॥

धृष्टद्युम्न बोले– दुर्योधन, दुर्विषह, दुर्मुख, दुष्प्रधर्षण, विविंशति, विकर्ण, सह, दुःशासन सम ॥ १ ॥

युयुत्सुर्वातवेगश्च भीमवेगधरस्तथा ।
उग्रायुधो बलाकी च कनकायुर्विरोचनः ॥ २ ॥

युयुत्सु और वातवेग तथा भीमवेगधर, उग्रायुध और बलाकी, कनकायु, विरोचन ॥ २ ॥

सुकुण्डलश्चित्रसेनः सुवर्चाः कनकध्वजः ।
नन्दको बाहुशाली च कुण्डजो विकटस्तथा ॥ ३ ॥

सुकुण्डल, चित्रसेन, सुवर्चा, कनकध्वज, नन्दक और बाहुशाली, कुण्डज तथा विकट ॥३॥

एते चान्ये च बहवो धार्तराष्ट्रा महाबलाः ।
कर्णेन सहिता वीरास्त्वदर्थं समुपागताः ।
शतसंख्या महात्मानः प्रथिताः क्षत्रियर्षभाः ॥ ४ ॥

यह सब और दूसरे भी बहुतसे महाबली और वीर धृतराष्ट्रकुमार कर्णके साथ तुम्हारे लिये आये हुए हैं और सैंकडोंकी संख्यामें क्षत्रियश्रेष्ठ महात्मा राजालोग उपस्थित हुए हैं ॥४॥

शकुनिश्च बलश्चैव वृषकोऽथ बृहद्बलः ।
एते गान्धारराजस्य सुताः सर्वे समागताः ॥ ५ ॥

शकुनि और बल, वृषक और बृहद्बल, यह सब गान्धारराजके पुत्र भी आये हुए हैं ॥ ५ ॥

अश्वत्थामा च भोजश्च सर्वशस्त्रभृतां वरौ ।
समवेतौ महात्मानौ त्वदर्थे समलंकृतौ ॥ ६ ॥

सभी अस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ महात्मा अश्वत्थामा और भोज अलंकृत होकर तुम्हारे लिये आये हैं ॥ ६ ॥

बृहन्तो मणिमांश्चैव दण्डधारश्च वीर्यवान् ।
सहदेवो जयत्सेनो मेघसन्धिश्च मागधः ॥ ७ ॥

बृहन्त और मणिमान्, वीर्यवान् दण्डधर, सहदेव, जयत्सेन, मेघसन्धि और मगधराज ॥७॥

विराटः सह पुत्राभ्यां शङ्खेनैवोत्तरेण च।
वार्धक्षेमिः सुवर्चाश्च सेनाबिन्दुश्च पार्थिवः ॥ ८ ॥

शंख और उत्तर नामक दो पुत्रोंके साथ विराट्, वार्धक्षेमि और सुवर्चा और राजा सेनाबिन्दु ॥ ८ ॥

अभिभूः सह पुत्रेण सुदाम्ना च सुवर्चसा।
सुमित्रः सुकुमारश्च वृकः सत्यधृतिस्तथा ॥ ९ ॥

सुवर्च और सुदामा नामक दो पुत्रोंके साथ अभिभू, सुमित्र और सुकुमार, वृक और सत्यधृति ॥ ९ ॥

सूर्यध्वजो रोचमानो नीलश्चित्रायुधस्तथा।
अंशुमांश्चेकितानश्च श्रेणिमांश्च महाबलः ॥ १० ॥

सूर्यध्वज, रोचमान, नील और चित्रायुध, अंशुमान् और चेकितान तथा महाबली श्रेणिमान् ॥ १० ॥

समुद्रसेनपुत्रश्च चन्द्रसेनः प्रतापवान्।
जलसन्धः पितापुत्रौ सुदण्डो दण्ड एव च ॥ ११ ॥

समुद्रसेनके पुत्र प्रतापी चन्द्रसेन, जलसन्ध, सुदण्ड और दण्ड यह दो पिता पुत्र ॥ ११ ॥

पौण्ड्रको वासुदेवश्च भगदत्तश्च वीर्यवान्।
कलिङ्गस्ताम्रलिप्तश्च पत्तनाधिपतिस्तथा ॥ १२ ॥

पौण्ड्रक वासुदेव, वीर्यवान् भगदत्त, कलिंग और ताम्रलिप्त तथा पत्तनाधिपति ॥ १२ ॥

मद्रराजस्तथा शल्यः सहपुत्रो महारथः।
रुक्माङ्गदेन वीरेण तथा रुक्मरथेन च ॥ १३ ॥

पुत्रके साथ महारथी मद्रराज शल्य, वीर रुक्माङ्गद और रुक्मरथके साथ ॥ १३ ॥

कौरव्यः सोमदत्तश्च पुत्राश्चास्य महारथाः।
समवेतास्त्रयः शूरा भूरिर्भूरिश्रवाः शलः ॥ १४ ॥

और कुरुकुलमें उत्पन्न सोमदत्त, सोमदत्तके पुत्र, महारथी भूरि, भूरिश्रवा और शल इकट्ठे हुए ये तीन वीर ॥ १४ ॥

सुदक्षिणश्च काम्बोजो दृढधन्वा च कौरवः।
बृहद्बलः सुषेणश्च शिबिरौशीनरस्तथा ॥ १५ ॥

सुदक्षिण और काम्बोज, कुरुवंशमें उत्पन्न दृढधन्वा, बृहद्बल, सुषेण तथा औशीनर, शिबि ॥ १५ ॥

संकर्षणो वासुदेवो रौक्मिणेयश्च वीर्यवान् ।
साम्बश्च चारुदेष्णश्च सारणोऽथ गदस्तथा ॥ १६ ॥

बलदेव, वसुदेवके पुत्र कृष्ण, रुक्मिणीका वीर्यवान् पुत्र प्रद्युम्न, साम्ब, चारुदेष्ण, सारण और गद ॥ १६ ॥

अक्रूरः सात्यकिश्चैव उद्धवश्च महाबलः ।
कृतवर्मा च हार्दिक्यः पृथुर्विपृथुरेव च ॥ १७ ॥

अक्रूर, सात्यकि और महाबली उद्धव, कृतवर्मा, हार्दिक्य, पृथु और विपृथु ॥ १७ ॥

विडूरथश्च कङ्कश्च समीकः सारमेजयः ।
वीरो वातपतिश्चैव झिल्ली पिण्डारकस्तथा ।
उशीनरश्च विक्रान्तो वृष्णयस्ते प्रकीर्तिताः ॥ १८ ॥

विडूरथ, कंक, समीक, सारमेजय, वीर वातपति और झिल्लि तथा पिण्डारक, विक्रमी उशीनर यह सब वृष्णि कहे जाते हैं ॥ १८ ॥

भगीरथो बृहत्क्षत्रः सैन्धवश्च जयद्रथः ।
बृहद्रथो बाह्लिकश्च श्रुतायुश्च महारथः ॥ १९ ॥

भगीरथ, बृहत्क्षत्र और सिन्धुराज जयद्रथ, बृहद्रथ और बाह्लिक, महारथी श्रुतायु ॥ १९ ॥

उलूकः कैतवो राजा चित्राङ्गदशुभाङ्गदौ ।
वत्सराजश्च धृतिमान्कोसलाधिपतिस्तथा ॥ २० ॥

उलूक, कैतव, चित्राङ्गद, शुभाङ्गद, धृतिमान् वत्सराज तथा कोशलाधिप ॥ २० ॥

एते चान्ये च बहवो नानाजनपदेश्वराः ।
त्वदर्थमागता भद्रे क्षत्रियाः प्रथिता भुवि ॥ २१ ॥

हे भद्रे ! भूमण्डलमें प्रसिद्ध विक्रमी यह सब राजा और क्षत्रियवंशी नाना नगरोंके स्वामी तुम्हारे लिये आए हैं ॥ २१ ॥

एते वेत्स्यन्ति विक्रान्तास्त्वदर्थं लक्ष्यमुत्तमम् ।
विध्येत य इमं लक्ष्यं वरयेथाः शुभेऽद्य तम् ॥ २२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७७ ॥ ५८७१ ॥

य वीर तेरे लिए इस अच्छे उत्तम लक्ष्यका भेद करेंगे । हे शुभे ! जो इस लक्ष्यको विद्ध करें उनको तुम आज वरण करना ॥ २२ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें सतहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ १७७ ॥ ५८७१ ॥

: १७८ :

वैशम्पायन उवाच

तेऽलंकृताः कुण्डलिनो युवानः परस्परं स्पर्धमानाः समेताः।
अस्त्रं बलं चात्मनि मन्यमानाः सर्वे समुत्पेतुरहंकृतेन ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— तदनन्तर कुण्डलादि अलंकारोंसे सजे हुए युवा नरेन्द्रगण सभी कोई अपनेको अस्त्रविद्यामें पण्डित और बली समझकर एक दूसरेसे स्पर्धा करते हुए अहंकारके साथ अस्त्र ले करके खडे हुए ॥ १ ॥

रूपेण वीर्येण कुलेन चैव धर्मेण चैवापि च यौवनेन।
समृद्धदर्पा मदवेगभिन्ना मत्ता यथा हैमवता गजेन्द्राः ॥ २ ॥

धर्म तथा यौवन, कुल, शील, रूप और वीर्यके कारण उनका अभिमान मदस्रावके कारण विदीर्ण हुए मस्तकसे युक्त हिमालयके मस्त हाथियोंके समान प्रदीप्त हो गया था ॥ २ ॥

परस्परं स्पर्धया प्रेक्षमाणाः संकल्पजेनापि परिप्लुताङ्गाः।
कृष्णा ममैषेत्यभिभाषमाणा नृपासनेभ्यः सहसोपतस्थुः ॥ ३ ॥

वे स्पर्धासे एक दूसरेको निहारते हुए, कामदेवसे संतप्त हुए शरीरवाले वे "द्रौपदी मेरी ही होगी" इस प्रकार कहते हुए एकदम राजासनसे उठ कर खडे हो गए ॥ ३ ॥

ते क्षत्रिया रङ्गगताः समेता जिगीषमाणा द्रुपदात्मजां ताम्।
चकाशिरे पर्वतराजकन्यामुमां यथा देवगणाः समेताः ॥ ४ ॥

रङ्गभूमिमें उतरे हुए क्षत्रिय लोग द्रुपदकन्याको जीतनेकी इच्छासे उसके चारों ओर खडे होकर ऐसे शोभित हुए जैसे देवोंने गिरिराज पुत्री उमाको घेर लिया था ॥ ४ ॥

कन्दर्पबाणाभिनिपीडिताङ्गाः कृष्णागतैस्ते हृदयैर्नरेन्द्राः।
रङ्गावतीर्णा द्रुपदात्मजार्थं द्वेष्यान्हि चक्रुः सुहृदोऽपि तत्र ॥ ५ ॥

कृष्णाके लिए आये हुए तथा द्रौपदीकी प्राप्तिके लिए रंगमंच पर आए हुए वे राजा कामदेवके बाणोंसे पीडित होकर द्रौपदीके लाभकी आशासे हृदयमें उसीका ध्यान कर प्रिय मित्रोंसे भी द्वेष करने लगे ॥ ५ ॥

अथाययुर्देवगणा विमानै रुद्रादित्या वसवोऽथाश्विनौ च।
साध्याश्च सर्वे मरुतस्तथैव यमं पुरस्कृत्य धनेश्वरं च ॥ ६ ॥

तदनन्तर रुद्रगण, आदित्यगण, वसुगण, दोनों अश्विनीकुमार, साध्यगण, सभी मरुद्गण, यमराज, कुबेर और संपूर्ण देवगण रथों पर चढकर वहां आये ॥ ६ ॥

दैत्याः सुपर्णाश्च महोरगाश्च देवर्षयो गुह्यकाश्चारणाश्च ।
विश्वावसुर्नारदपर्वतौ च गन्धर्वमुख्याश्च सहाप्सरोभिः ॥ ७ ॥

दैत्यगण, सुपर्णगण, महासर्पगण, देवर्षिगण, गुह्यकगण, चारणगण, विश्वावसु, नारद, ऋषि पर्वत और अप्सराओंके साथ प्रधान प्रधान गन्धर्व भी वहां आ पहुंचे ॥ ७ ॥

हलायुधस्तत्र च केशवश्च वृष्ण्यन्धकाश्चैव यथा प्रधानाः ।
प्रेक्षां स्म चक्रुर्यदुपुङ्गवास्ते स्थिताश्च कृष्णस्य मते बभूवुः ॥ ८ ॥

हलायुध बलराम, कृष्ण और कृष्णके मतको माननेवाले प्रधान प्रधान वृष्णिगण, अन्धकगण और यादवगण वहां खडे होकर इधर उधर देखने लगे ॥ ८ ॥

दृष्ट्वा हि तान्मत्तगजेन्द्ररूपान्पञ्चाभिपद्मानिव वारणेन्द्रान् ।
भस्मावृताङ्गानिव हव्यवाहान्पार्थान्प्रदध्यौ स यदुप्रवीरः ॥ ९ ॥

यदुवीरोंमें प्रधान कृष्ण पद्मकी ओर दौडते हुए मत्त गजराजकी भांति द्रौपदीकी ओर मुख किये और भस्मसे आच्छादित अग्निके सदृश उन उन्मत्त हस्तीके समान पांच पाण्डवोंको देखकर सोचने लगे ॥ ९ ॥

शशंस रामाय युधिष्ठिरं च भीमं च जिष्णुं च यमौ च वीरौ ।
शनैः शनैस्तांश्च निरीक्ष्य रामो जनार्दनं प्रीतमना ददर्श ॥ १० ॥

और बलदेवसे बोले, कि मुझको जान पडता है, कि यह युधिष्ठिर, यह भीम, यह अर्जुन, यह नकुल और यह सहदेव हैं । बलदेवने भी धीरे धीरे उनको देखकर प्रसन्न हृदयसे जनार्दनकी ओर देखा ॥ १० ॥

अन्ये तु नानानृपपुत्रपौत्राः कृष्णागतैर्नेत्रमनःस्वभावैः ।
व्यायच्छमाना ददृशुर्भ्रमन्तीं संदष्टदन्तच्छदताम्रवक्त्राः ॥ ११ ॥

दूसरे वीर राजपौत्र और राजपुत्र लोग चेहरेको लाल कर, होठोंको काटते हुए द्रौपदीकी ओर मन और नेत्र अर्पण कर द्रौपदीको ही देखने लगे; पाण्डवोंकी ओर उनकी दृष्टि भी नहीं पडी ॥ ११ ॥

तथैव पार्थाः पृथुबाहवस्ते वीरौ यमौ चैव महानुभावौ ।
तां द्रौपदीं प्रेक्ष्य तदा स्म सर्वे कन्दर्पबाणाभिहता बभूवुः ॥ १२ ॥

विशाल भुजाओंवाले पृथापुत्र युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन तथा महानुभाव वीर नकुल और सहदेव यह सब भी उस समय द्रौपदीको देखकर मदनबाणसे घायल हो गए ॥ १२ ॥

देवर्षिगन्धर्वसमाकुलं तत्सुपर्णनागासुरसिद्धजुष्टम् ।
दिव्येन गन्धेन समाकुलं च दिव्यैश्च माल्यैरवकीर्यमाणम् ॥ १३ ॥
तब दिव्य गन्धसे भरे हुए, दिव्य फूलोंसे बिखेरे हुए, सर्वत्र देव, ऋषि, गन्धर्व, सुपर्ण, नाग, असुर और सिद्धोंसे भर जानेके कारण ॥ १३ ॥

महास्वनैर्दुन्दुभिनादितैश्च बभूव तत्संकुलमन्तरिक्षम् ।
विमानसंबाधमभूत्समन्तात्सवेणुवीणापणवानुनादम् ॥ १४ ॥
वेणु, वीणा, पणव आदिकी ध्वनिके संयुक्त और बडे बडे नगाडोंके शब्दसे गूंजते हुए उस स्थानका आकाश बहुत छोटा हो गया और रथोंमें आपसकी रुकावट होने लगी ॥ १४ ॥

ततस्तु ते राजगणाः क्रमेण कृष्णानिमित्तं नृप विक्रमन्तः ।
तत्कार्मुकं संहननोपपन्नं सज्यं न शेकुस्तरसापि कर्तुम् ॥ १५ ॥
इसके बाद वे सब राजा द्रौपदीके लिये क्रमशः विक्रम प्रगट करने लगे। पर वे सब राजा बडे भारी उस धनुषमें डोरी चढानेमें भी समर्थ नहीं हो पाए ॥ १५ ॥

ते विक्रमन्तः स्फुरता दृढेन निष्कृष्यमाणा धनुषा नरेन्द्राः ।
विचेष्टमाना धरणीतलस्था दीना अदृश्यन्त विभग्नचित्ताः ॥ १६ ॥
उन्होंने अपनी शक्तिसे फूलकर ज्यों धनुष नवाने और उसपर गुण चढानेका विक्रम प्रगट किया, त्योंही उसी क्षण धनुषकी नोंकसे फेंके जाकर धरती पर लोटने लगे और बडे दीन दीखने लगे ॥ १६ ॥

हाहाकृतं तद्धनुषा दृढेन निष्पिष्टभग्नाङ्गदकुण्डलं च ।
कृष्णानिमित्तं विनिवृत्तभावं राज्ञां तदा मण्डलमार्तमासीत् ॥ १७ ॥
तब कठिन धनुषके कारण हाहाकार करनेवाले अलंकारोंसे च्युत वे भूपगण द्रौपदीकी आशा छोड कर हाय हाय करने लगे। और तब राजाओंका वह मण्डल बहुत ही दुःखी दिखाई देने लगा ॥ १७ ॥

तस्मिंस्तु सम्भ्रान्तजने समाजे निक्षिप्तवादेषु नराधिपेषु ।
कुन्तीसुतो जिष्णुरियेष कर्तुं सज्यं धनुस्तत्सशरं स वीरः ॥ १८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७८ ॥ ५८८९ ॥

इसके बाद सब राजा लोगोंके भ्रांतचित्त होनेपर और सब राजाओंके घमंडकी बातें कम होनेपर उस कुन्तीपुत्र वीर अर्जुनने उस धनुषपर डोरी चढाने और उसमें बाण जोडनेकी इच्छा की ॥ १८ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ अठहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ १७८ ॥ ॥ ५८८९ ॥

: १७९ :

वैशम्पायन उवाच

यदा निवृत्ता राजानो धनुषः सज्यकर्मणि ।
अथोदतिष्ठद्विप्राणां मध्याज्जिष्णुरुदारधीः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— तदनन्तर जब राजा उस शरासन पर डोरी चढानेके काममें हारकर बैठ गए, तब उदारचित्त जिष्णु अर्जुन ब्राह्मण–समाजके बीचसे उठ खडे हुए ॥ १ ॥

उदक्रोशन्विप्रमुख्या विधुन्वन्तोऽजिनानि च ।
दृष्ट्वा संप्रस्थितं पार्थमिन्द्रकेतुसमप्रभम् ॥ २ ॥

तब प्रधान प्रधान ब्राह्मण लोग इन्द्रकेतुके समान तेजस्वी अर्जुनको जाते देखकर मृगचर्म कंपाते हुए कोलाहल मचाने लगे ॥ २ ॥

केचिदासन्विमनसः केचिदासन्मुदा युताः ।
आहुः परस्परं केचिन्निपुणा बुद्धिजीविनः ॥ ३ ॥

कोई कोई दुःखी हुए और दूसरे हर्षयुक्त हुए । कोई कोई बुद्धिमान् निपुण विप्र आपसमें इस प्रकार कहने लगे ॥ ३ ॥

यत्कर्णशल्यप्रमुखैः पार्थिवैर्लोकविश्रुतैः ।
नानतं बलवद्भिर्हि धनुर्वेदपरायणैः ॥ ४ ॥
तत्कथं त्वकृतास्त्रेण प्राणतो दुर्बलीयसा ।
बटुमात्रेण शक्यं हि सज्यं कर्तुं धनुर्द्विजाः ॥ ५ ॥

हे द्विजगण ! जो धनुष धनुर्वेदमें पण्डित, बलवान् , कर्ण और शल्य आदि लोकोंमें प्रशंसित राजाओंके द्वारा नहीं झुकाया जा सका । अस्त्रविद्याको न जाननेवाले, शक्तिमें दुर्बल एक बटु उस धनुष पर डोरी कैसे चढा सकेगा ॥ ४–५ ॥

अवहास्या भविष्यन्ति ब्राह्मणाः सर्वराजसु ।
कर्मण्यस्मिन्नसंसिद्धे चापलादपरीक्षिते ॥ ६ ॥

इस बटुने चपलतासे जिस अनजाने काममें हाथ डाला है, वह पूरा न होगा, तो सभी ब्राह्मण राजाओंमें हंसीके पात्र बनेंगे ॥ ६ ॥

यद्येष दर्पाद्धर्षाद्वा यदि वा ब्रह्मचापलात् ।
प्रस्थितो धनुरायन्तुं वार्यतां साधु मा गमत् ॥ ७ ॥

हे ब्राह्मणो ! यह ब्राह्मणकुमार अहंकार वा कौतूहल अथवा चपलतासे धनुषको झुकाने जा रहा है, तो इसको रोको, वह न जाये तो अच्छा है ॥ ७ ॥

नावहास्या भविष्यामो न च लाघवमास्थिताः।
न च विद्विष्टतां लोके गमिष्यामो महीक्षिताम् ॥ ८ ॥

किसी किसी ब्राह्मणने कहा— इससे हमारी लघुता नहीं होगी और न हम राजाओंके द्वेषके पात्र या हंसीके पात्र ही होंगे ॥ ८ ॥

केचिदाहुर्युवा श्रीमान्नागराजकरोपमः।
पीनस्कन्धोरुबाहुश्च धैर्येण हिमवानिव ॥ ९ ॥

कोई कोई बोले— यह युवा पुरुष श्रीमान्, हाथीके सूंडके समान भुजाओंवाला, बडे बडे और मोटे मोटे कंधोंवाला, छातीवाला तथा भुजाओंवाला और धैर्यमें हिमालयकी तरह है ॥९॥

संभाव्यमस्मिन्कर्मेदमुत्साहाच्चानुमीयते।
शक्तिरस्य महोत्साहा न ह्यशक्तः स्वयं व्रजेत् ॥ १० ॥

इनके उत्साहसे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह कार्य इनसे पूरा हो सकता है; यह ब्राह्मण बडे उत्साही और शक्तिमान् हैं; इनकी शक्ति न होती, तो यह स्वयं ही कभी नहीं जाते ॥ १० ॥

न च तद्विद्यते किंचित्कर्म लोकेषु यद्भवेत्।
ब्राह्मणानामसाध्यं च त्रिषु संस्थानचारिषु ॥ ११ ॥

फिर भी तीनों लोकोंमें ऐसा कोई भी कार्य नहीं है, कि जो इन तीनों लोकोंमें संचार करनेवाले ब्राह्मणोंके लिए असाध्य हो ॥ ११ ॥

अब्भक्षा वायुभक्षाश्च फलाहारा दृढव्रताः।
दुर्बला हि बलीयांसो विप्रा हि ब्रह्मतेजसा ॥ १२ ॥

कठोर व्रतसे युक्त द्विजातिगण फलाहार, वायुभक्षण अथवा निराहारके कारण देखनेमें दुर्बल होवें भी, तो ब्रह्मतेजसे बलशाली ही होते हैं ॥ १२ ॥

ब्राह्मणो नावमन्तव्यः सद्वासद्वा समाचरन्।
सुखं दुःखं महद्ध्रस्वं कर्म यत्समुपागतम् ॥ १३ ॥

ब्राह्मण सुकर्म करें वा बुरा कर्म करें, तो भी सुख वा दुःखदायी और महत् वा क्षुद्र किसी भी उपस्थित कार्यमें उनका अनादर करना नहीं चाहिये ॥ १३ ॥

एवं तेषां विलपतां विप्राणां विविधा गिरः।
अर्जुनो धनुषोऽभ्याशे तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥ १४ ॥

ब्राह्मणलोगोंके इस प्रकारकी नाना बातें बोलते बोलते अर्जुन धनुषके निकट जाकर पर्वतकी भांति खडे हो गए ॥ १४ ॥

स तद्धनुः परिक्रम्य प्रदक्षिणमथाकरोत् ।
प्रणम्य शिरसा हृष्टो जगृहे च परंतपः ॥ १५ ॥

तदनन्तर धनुषकी चारों ओर प्रदक्षिणा की और शत्रुओंको सन्ताप देनेवाले अर्जुनने उसे सिर झुकाकर प्रणाम करके प्रसन्न होकर धनुषको उठा लिया ॥ १५ ॥

सज्यं च चक्रे निमिषान्तरेण शरांश्च जग्राह दशार्धसंख्यान् ।
विव्याध लक्ष्यं निपपात तच्च छिद्रेण भूमौ सहसातिविद्धम् ॥ १६ ॥

और एक क्षणमें ही उसपर डोरी चढायी और दसके आधे अर्थात् पांच बाण लेकर लक्ष्यको भेद दिया । लक्ष्य बहुत विद्ध होकर उसी क्षण यन्त्रकी छेदसे धरती पर गिर गया ॥ १६ ॥

ततोऽन्तरिक्षे च बभूव नादः समाजमध्ये च महान्निनादः ।
पुष्पाणि दिव्यानि ववर्ष देवः पार्थस्य मूर्ध्नि द्विषतां निहन्तुः ॥ १७ ॥

तब आकाश मण्डलमें बहुत बडा नाद हुआ और समाजमें अति कोलाहलकी ध्वनि होने लगी । देवताओंने शत्रुओंको मारनेवाले अर्जुनके सिरपर दिव्य फूल बरसाये ॥ १७ ॥

चेलावेधांस्ततश्चक्रुर्हाहाकारांश्च सर्वशः ।
न्यपतंश्चात्र नभसः समन्तात्पुष्पवृष्टयः ॥ १८ ॥

सब ब्राह्मण प्रसन्न होकर अपने वल्कलको हिलाने लग गए और जो लोग लक्ष्य नहीं भेद कर सके थे; वे चारों ओर हाय हाय करने लगे । आकाशमण्डलसे चारों ओर फूलकी बरसात पडने लगी ॥ १८ ॥

शताङ्गानि च तूर्याणि वादकाश्चाप्यवादयन् ।
सूतमागधसंघाश्च अस्तुवंस्तत्र सुस्वनाः ॥ १९ ॥

बाजेवाले तूर्य यन्त्रको सौओं अन्य वाजोंसे मिलाकर बजाने लगे; और सूत मागध लोग मीठे स्वरसे स्तुति गाने लगे ॥ १९ ॥

तं दृष्ट्वा द्रुपदः प्रीतो बभूवारिनिषूदनः ।
सहसैन्यश्च पार्थस्य साहाय्यार्थमियेष सः ॥ २० ॥

शत्रुमथन करनेवाले राजा द्रुपद अर्जुनको देखकर प्रसन्न हुए; और सेनाओंके साथ उनकी सहायता करनेकी इच्छा की ॥ २० ॥

तस्मिंस्तु शब्दे महति प्रवृत्ते युधिष्ठिरो धर्मभृतां वरिष्ठः ।
आवासमेवोपजगाम शीघ्रं सार्धं यमाभ्यां पुरुषोत्तमाभ्याम् ॥ २१ ॥

जब वह भारी कोलाहल आरम्भ हो गया, तब धर्मको धारण करनेवालोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर वेगसे पुरुष–श्रेष्ठ दोनों यमज भाइयोंको लेकर डेरे पर चले गये ॥ २१ ॥

विद्धं तु लक्ष्यं प्रसमीक्ष्य कृष्णा पार्थं च शक्रप्रतिमं निरीक्ष्य।
आदाय शुक्लं वरमाल्यदाम जगाम कुन्तीसुतमुत्स्मयन्ती ॥ २२ ॥

द्रौपदी पार्थसे लक्ष्यका विद्ध होना देखकर और उनको इन्द्रके सदृश निहार कर शुभ्र वर-माला लेकर मुस्कराती हुई कुन्तीपुत्रके पास जा पहुंची ॥ २२ ॥

स तामुपादाय विजित्य रङ्गे द्विजातिभिस्तैरभिपूज्यमानः।
रङ्गान्निरक्रामदचिन्त्यकर्मा पत्न्या तया चाप्यनुगम्यमानः ॥ २३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि एकोनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७९ ॥ ५९१२ ॥

चिन्तातीत कर्म करनेवाले अर्जुन रंगभूमिमें द्रौपदीको जीतकर द्विजातियोंसे सत्कृत होकर उस रंगभूमिसे निकले; और उनकी पत्नी द्रौपदी भी उनके पीछे जाने लगी ॥ २३ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ उनासीवां अध्याय समाप्त ॥ १७९ ॥ ५९१२ ॥

: १८० :

वैशम्पायन उवाच

तस्मै दित्सति कन्यां तु ब्राह्मणाय महात्मने।
कोप आसीन्महीपानामालोक्यान्योन्यमन्तिकात् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— तदनन्तर राजाके लक्ष्य भेद करनेवाले उस ब्राह्मणको कन्या दान करनेकी इच्छा प्रगट करने पर निकट स्थित भूपाल लोग एक दूसरेको देखकर क्रोधित हो गये और कहने लगे ॥ १ ॥

अस्मानयमतिक्रम्य तृणीकृत्य च संगतान्
दातुमिच्छति विप्राय द्रौपदीं योषितां वराम् ॥ २ ॥

कि यह राजा इन सब उपस्थित नरेशोंको तिनकेके समान समझ कर इनका अपमान कर एक ब्राह्मणको स्त्रियोंमें श्रेष्ठ कन्या देनेकी इच्छा करता है ॥ २ ॥

निहन्मैनं दुरात्मानं योऽयमस्मान्न मन्यते।
न ह्यर्हत्येष सत्कारं नापि वृद्धक्रमं गुणैः ॥ ३ ॥

जो हम लोगोंको अपमानित कर रहा है, इस दुरात्माको हम मार डालें। यह दुराचारी अपने गुणोंके कारण सन्मानका पात्र नहीं है और न वृद्धोंके योग्य आदरका ही पात्र है ॥ ३ ॥

हन्मैनं सह पुत्रेण दुराचारं नृपद्विषम् ।
अयं हि सर्वानाहूय सत्कृत्य च नराधिपान् ।
गुणवद्भोजयित्वा च ततः पश्चाद्विनिन्दति ॥ ४ ॥

अतः राजाओंसे द्वेष करनेवाले इस दुरात्माको पुत्रके साथ हम मारें यह उचित है, यह दुरात्मा सम्पूर्ण भूपालोंको बुलवाकर सम्मानके साथ अपूर्व भोजन आदिसे पूजकर अब हमारा अपमान कर रहा है ॥ ४ ॥

अस्मिन्राजसमावाये देवानामिव संनये ।
किमयं सदृशं कंचिन्नृपतिं नैव दृष्टवान् ॥ ५ ॥

देव समुदायके समान इस उपस्थित राजसमुदायमें क्या इसे कोई भी राजा द्रौपदीके योग्य दिखाई नहीं दिया ॥ ५ ॥

न च विप्रेष्वधीकारो विद्यते वरणं प्रति ।
स्वयंवरः क्षत्रियाणामितीयं प्रथिता श्रुतिः ॥ ६ ॥

यह प्रसिद्ध कहावत है, कि स्वयंवर क्षत्रियोंके लिये ही होता है, इसलिए इस वरणके कार्यमें ब्राह्मणको कोई अधिकार नहीं है ॥ ६ ॥

अथवा यदि कन्येयं नेह कंचिद्बुभूषति ।
अग्नावेनां परिक्षिप्य याम राष्ट्राणि पार्थिवाः ॥ ७ ॥

फिर भी यदि यह कन्या किसी राजाको पति न बनाया चाहे, तो इसको जलती हुई आगमें डालकर हम सब राजा अपने अपने राज्योंमें चले जायेंगे ॥ ७ ॥

ब्राह्मणो यदि वा बाल्याल्लोभाद्वा कृतवानिदम् ।
विप्रियं पार्थिवेन्द्राणां नैष वध्यः कथंचन ॥ ८ ॥

इस ब्राह्मणने यद्यपि चपलतासे या लोभसे राजाओंका यह अप्रिय कार्य किया है, तो भी इसको मार डालना किसी प्रकार उचित नहीं है ॥ ८ ॥

ब्राह्मणार्थं हि नो राज्यं जीवितं च वसूनि च ।
पुत्रपौत्रं च यच्चान्यदस्माकं विद्यते धनम् ॥ ९ ॥

क्योंकि हमारा राज्य, धन, जीवन, पुत्र, पौत्र और दूसरे जो कुछ धन है, वह सब ही ब्राह्मणोंके लिये है ॥ ९ ॥

अवमानभयादेतत्स्वधर्मस्य च रक्षणात् ।
स्वयंवराणां चान्येषां मा भूदेवंविधा गतिः ॥ १० ॥

हम यहां युद्ध करेंगे, तो दूसरे स्वयंवरके स्थानोंमें फिर कभी ऐसा नहीं होगा, सब लोग अपमानके भयसे अपने अपने धर्मकी रक्षा करेंगे ॥ १० ॥

इत्युक्त्वा राजशार्दूला हृष्टाः परिघबाहवः।
द्रुपदं संजिघृक्षन्तः सायुधाः समुपाद्रवन् ॥ ११ ॥

परिघके समान भुजवाले, सब राजसिंह ऐसी बात कहकर प्रसन्न चित्तसे अस्त्र लेकरके राजा द्रुपदको मारनेके लिये दौडे ॥ ११ ॥

तान्गृहीतशराचापान्क्रुद्धानापततो नृपान्।
द्रुपदो वीक्ष्य संत्रासाद्ब्राह्मणाञ्शरणं गतः ॥ १२ ॥

द्रुपदने राजाओंको क्रोधित होकर धनुष लिये आते देखकर भयसे ब्राह्मणोंकी शरण ली ॥ १२ ॥

वेगेनापततस्तांस्तु प्रभिन्नानिव वारणान्।
पाण्डुपुत्रौ महावीर्यौ प्रतीयतुररिन्दमौ ॥ १३ ॥

बडे धनुर्धारी शत्रुदमन पाण्डुनन्दन भीम और अर्जुन भूपालोंको मदोन्मत्त गजोंकी भांति वेगसे दौड कर आते देखकर उनकी ओर चले ॥ १३ ॥

ततः समुत्पेतुरुदायुधास्ते महीक्षितो बद्धतलाङ्गुलित्राः।
जिघांसमानाः कुरुराजपुत्रावमर्षयन्तोऽर्जुनभीमसेनौ ॥ १४ ॥

उंगलीरक्षक पहिने हुए वह सब राजा क्रोधके मारे अस्त्रशस्त्र उठाकर कुरुराजपुत्र अर्जुन और भीमसेनको मार डालनेके लिये उन पर चढ दौडे ॥ १४ ॥

ततस्तु भीमोऽद्भुतवीर्यकर्मा महाबलो वज्रसमानवीर्यः।
उत्पाट्य दोर्भ्यां द्रुममेकवीरो निष्पत्रयामास यथा गजेन्द्रः ॥ १५ ॥

तदनन्तर वज्रके समान वीर्यवान्, महाबली, आश्चर्य पराक्रमके कार्य करनेवाले, अद्वितीय वीर भीमसेनने उन्मत्त गजराजकी भांति हाथोंसे एक वृक्ष उखाड कर पत्तोंसे रहित कर दिया ॥ १५ ॥

तं वृक्षमादाय रिपुप्रमाथी दण्डीव दण्डं पितृराज उग्रम्।
तस्थौ समीपे पुरुषर्षभस्य पार्थस्य पार्थः पृथुदीर्घबाहुः ॥ १६ ॥

फिर शत्रुमंथन करनेवाले विशाल भुजाओंवाले पृथानन्दन भीमने उसी पत्तोंसे खाली पेडको लेकर पुरुषश्रेष्ठ अर्जुनके साथ इस प्रकार खडे हो गये, कि जैसे यमराज कठोर दण्ड लेकर खडे होते हैं ॥ १६ ॥

तत्प्रेक्ष्य कर्मातिमनुष्यबुद्धेर्जिष्णोः सहभ्रातुरचिन्त्यकर्मा।
दामोदरो भ्रातरमुग्रवीर्यं हलायुधं वाक्यमिदं बभाषे ॥ १७ ॥

चिन्तातीत कर्म करनेवाले असामान्य बुद्धिमान् जिष्णु अर्जुनके भाई भीमका अलौकिक कार्य देखकर दामोदर कृष्ण महावीर्यवान् बडे भाई हलायुधसे यह बोले ॥ १७ ॥

य एष मत्तर्षभतुल्यगामी महद्धनुः कर्षति तालमात्रम् ।
एषोऽर्जुनो नात्र विचार्यमस्ति यद्यस्मि संकर्षण वासुदेवः ॥ १८ ॥

हे संकर्षण ! मत्त सांडकी भांति चलनेवाले जो पुरुष पांच हाथसे कुछ कम नापके चापको खींच रहे हैं उनका अर्जुन होना इतना ही निश्चित है, कि जितना मेरा वसुदेव पुत्र कृष्ण होना निश्चित है ॥ १८ ॥

य एष वृक्षं तरसावरुज्य राज्ञां विकारे सहसा निवृत्तः ।
वृकोदरो नान्य इहैतदद्य कर्तुं समर्थो भुवि मर्त्यधर्मा ॥ १९ ॥

जो वेगसे वृक्ष उखाड कर एकाएक भूपालोंका अन्त करनेको प्रवृत्त हुए हैं, वह वृकोदर होंगे । वृकोदरके विना इस भूमण्डल भरमें कोई मनुष्य आज ऐसा कार्य करनेको समर्थ नहीं होगा ॥ १९ ॥

योऽसौ पुरस्तात्कमलायताक्षस्तनुर्महासिंहगतिर्विनीतः ।
गौरः प्रलम्बोज्ज्वलचारुघोणो विनिःसृतः सोऽच्युत धर्मराजः ॥ २० ॥

हे अच्युत ! मुझको जान पडता है, कि इसके पहिले पद्मकी भांति प्रशस्त नेत्रयुक्त, भारी शरीरवाले, सिंहके समान चलनेवाले, नम्र, गोरे, दीर्घ और उज्ज्वल सुन्दर नाकवाले, चार हाथ इतने लम्बे और उसके योग्य स्थूलदेह युक्त, जो पुरुष पधारे हैं, वही धर्म-पुत्र हैं ॥२०॥

यौ तौ कुमाराविव कार्तिकेयौ द्वावश्विनेयाविति मे प्रतर्कः ।
मुक्ता हि तस्माज्जतुवेश्मदाहान्मया श्रुताः पाण्डुसुताः पृथा च ॥ २१ ॥

उनके साथ कार्तिकेयके सदृश जो दो कुमार गये हैं, वे अश्विनीकुमारोंके पुत्र होंगे । मैंने सुना है, कि पाण्डव लोग पृथाके साथ जतुगृहसे जलनेसे बच गए थे ॥ २१ ॥

तमब्रवीन्निर्जलतोयदाभो हलायुधोऽनन्तरजं प्रतीतः ।
प्रीतोऽस्मि दिष्ट्या हि पितृष्वसा नः पृथा विमुक्ता सह कौरवाग्र्यैः ॥२२॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८० ॥ ५९३४ ॥

विना जलके बादलके वर्णवाले अर्थात् गौरवर्णके हलायुध अनिन्दित होकर कनिष्ठ कृष्णसे बलराम बोले— यह सुनकर कृतार्थ हुआ, कि बडे भाग्यसे कुरुवंशोंमें श्रेष्ठ पुत्रोंके साथ फूफी बच गयी हैं ॥ २२ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ अस्सीवां अध्याय समाप्त ॥ १८० ॥ ५९३४ ॥

: १८१ :

वैशम्पायन उवाच

अजिनानि विधुन्वन्तः करकांश्च द्विजर्षभाः ।
ऊचुस्तं भीर्न कर्तव्या वयं योत्स्यामहे परान् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– तदनन्तर ब्राह्मणलोग मृगचर्म और कमण्डलू कंपाते हुए बोले– मत डरो, हम शत्रुओंसे लडेंगे ॥ १ ॥

तानेवं वदतो विप्रानर्जुनः प्रहसन्निव ।
उवाच प्रेक्षका भूत्वा यूयं तिष्ठत पार्श्वतः ॥ २ ॥

इस प्रकार कहते हुए ब्राह्मणोंसे अर्जुन हंसके बोले– आप एक ओर दर्शक बन कर खडे रहें ॥ २ ॥

अहमेनानजिह्माग्रैः शतशो विकिरञ्शरैः ।
वारयिष्यामि संक्रुद्धान्मन्त्रैराशीविषानिव ॥ ३ ॥

मैं सैंकडों तेज सीधे अग्रभागवाले बाणोंसे इन सब क्रोधित राजाओंको बिखेर करके उसी प्रकार रोक दूंगा, कि जिस प्रकार मन्त्रके जानकार मन्त्रसे अति विषैले सर्पको तेजसे खाली कर देते हैं ॥ ३ ॥

इति तद्धनुरादय शुल्कावाप्तं महारथः ।
भ्रात्रा भीमेन सहितस्तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥ ४ ॥

महारथी अर्जुन यह कहकर रणमें जीते हुए धनुषको ले करके भाई भीमसेनके साथ पर्वतकी भांति अचल हो गए ॥ ४ ॥

ततः कर्णमुखान्क्रुद्धान्क्षत्रियांस्तान्रुषोत्थितान् ।
संपेततुरभीतौ तौ गजौ प्रतिगजानिव ॥ ५ ॥

इसके बाद भीम और अर्जुन दोनों जैसे हस्ती विपक्षी हस्ती पर चढ जाता है, वैसे ही क्रोधोन्मत्त कर्णादि राजाओंकी तरफ निर्भय होकर दौडे ॥ ५ ॥

ऊचुश्च वाचः परुषास्ते राजानो जिघांसवः ।
आहवे हि द्विजस्यापि वधो दृष्टो युयुत्सतः ॥ ६ ॥

तब मारनेकी इच्छा करनेवाले राजालोग कठोरतासे बोले, कि युद्धस्थलमें लडनेकी इच्छा करनेवाले ब्राह्मणोंका भी वध किया जा सकता है ॥ ६ ॥

ततो वैकर्तनः कर्णो जगामार्जुनमोजसा ।
युद्धार्थी वाशिताहेतोर्गजः प्रतिगजं यथा ॥ ७ ॥

तब बडे तेजस्वी कर्ण लडनेके लिये अर्जुनसे इस प्रकार जा भिडे, कि जैसे हाथी हथिनीके लिये दूसरे हाथीसे भिड जाता है ॥ ७ ॥

भीमसेनं ययौ शल्यो मद्राणामीश्वरो बली ।
दुर्योधनादयस्त्वन्ये ब्राह्मणैः सह संगताः ।
मृदुपूर्वमयत्नेन प्रत्ययुध्यंस्तदाहवे ॥ ८ ॥

मद्रोंके राजा महाबलवान् शल्य भीमसेनकी ओर दौडे । दुर्योधन आदि दूसरोंने ब्राह्मण पर चढाई की । वे द्विजोंके साथ बिना बहुत यत्नके सरलतासे लडाई लडने लगे ॥ ८ ॥

ततोऽर्जुनः प्रत्यविध्यदापतन्तं त्रिभिः शरैः ।
कर्णं वैकर्तनं धीमान्विकृष्य बलवद्धनुः ॥ ९ ॥

तदनन्तर बुद्धिमान् अर्जुनने आदित्यके पुत्र कर्णको आते देखकर बडे भारी और शक्तिशाली धनुषको खींचकर तीन बाणोंको मारकर विद्ध किया ॥ ९ ॥

तेषां शराणां वेगेन शितानां तिग्मतेजसाम् ।
विमुह्यमानो राधेयो यत्नात्तमनुधावति ॥ १० ॥

राधाकुमार कर्णने अर्जुनके उन अत्यन्त तेजस्वी और तेज बाणोंके वेगसे मोहित होकर महान् प्रयत्नसे उन पर आक्रमण किया ॥ १० ॥

तावुभावप्यनिर्देश्यौ लाघवाज्जयतां वरौ ।
अयुध्येतां सुसंरब्धावन्योन्यविजयैषिणौ ॥ ११ ॥

जय करनेवालोंमें श्रेष्ठ अर्जुन और कर्ण एक दूसरे पर क्रोधित होकर जयकी आशासे ऐसी फुर्तीसे लडने लगे, कि कोई समझ न पाया, कि उनमें कौन कब बाणोंका आदान संधानादि करते थे ॥ ११ ॥

कृते प्रतिकृतं पश्य पश्य बाहुबलं च मे ।
इति शूरार्थवचनैराभाषेतां परस्परम् ॥ १२ ॥

वे एक दूसरे पर शूरता प्रगट कर यह कहके वार्तालाप करने लगे, कि तुमने जो किया, देखो उसको रोक लेता हूं, मेरा भुजबल देख लो ॥ १२ ॥

ततोऽर्जुनस्य भुजयोर्वीर्यमप्रतिमं भुवि ।
ज्ञात्वा वैकर्तनः कर्णः संरब्धः समयोधयत् ॥ १३ ॥

तब सूर्यकुमार कर्ण अर्जुनका ऐसा भुजवीर्य देखकर, कि जिसकी उपमा संसारभरमें नहीं मिलती, एकाचित्तसे लडने लगे ॥ १३ ॥

अर्जुनेन प्रयुक्तांस्तान्बाणान्वेगवतस्तदा ।
प्रतिहत्य ननादोच्चैः सैन्यास्तमभिपूजयन् ॥ १४ ॥

वह अर्जुनके चलाये हुए उन वेगवान् बाणोंको नष्ट करके सिंहकी भांति गरजने लगे; सेना उनके उस कार्यकी प्रशंसा करने लगी ॥ १४ ॥

कर्ण उवाच

तुष्यामि ते विप्रमुख्य भुजवीर्यस्य संयुगे ।
अविषादस्य चैवास्य शस्त्रास्त्रविनयस्य च ॥ १५ ॥

कर्णने अर्जुनसे कहा– हे द्विजातिश्रेष्ठ ! इस युद्ध स्थलमें तुम्हारा न चूकनेवाला भुजवीर्य और विजयी शस्त्र देखकर मैं प्रसन्न हुआ ॥ १५ ॥

किं त्वं साक्षाद्धनुर्वेदो रामो वा विप्रसत्तम ।
अथ साक्षाद्धरिहयः साक्षाद्वा विष्णुरच्युतः ॥ १६ ॥

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! मुझको जान पडता है, कि तुम साक्षात् धनुर्वेद वा राम अथवा देवराज इन्द्र वा अच्युत विष्णु हो ॥ १६ ॥

आत्मप्रच्छादनार्थं वै बाहुवीर्यमुपाश्रितः ।
विप्ररूपं विधायेदं ततो मां प्रतियुध्यसे ॥ १७ ॥

मेरा विचार है कि तुम अपनेको गुप्त रखनेके लिये ब्राह्मणका स्वरूप लेकर भुजवीर्यका आश्रय करके लड रहे हो ॥ १७ ॥

न हि मामाहवे क्रुद्धमन्यः साक्षाच्छचीपतेः ।
पुमान्योधयितुं शक्तः पाण्डवाद्वा किरीटिनः ॥ १८ ॥

मेरे रणभूमिमें क्रोधित होनेपर साक्षात् इन्द्र अथवा पाण्डुनन्दन किरीटीके बिना कोई भी पुरुष मुझसे लड नहीं सकता ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

तमेवंवादिनं तत्र फल्गुनः प्रत्यभाषत ।
नास्मि कर्ण धनुर्वेदो नास्मि रामः प्रतापवान् ।
ब्राह्मणोऽस्मि युधां श्रेष्ठः सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥ १९ ॥

वैशम्पायन बोले– अर्जुन कर्णकी यह बातें सुन कर बोले– हे कर्ण ! मैं धनुर्वेद वा राम नहीं हूं, मैं सर्व शस्त्रधारियों और योधाओंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण हूं ॥ १९ ॥

ब्राह्मे पौरंदरे चास्त्रे निष्ठितो गुरुशासनात् ।
स्थितोऽस्म्यद्य रणे जेतुं त्वां वीराविचलो भव ॥ २० ॥

मैं गुरुकी कृपासे ब्राह्म और इन्द्र अस्त्रोंमें दक्ष हूं । हे वीर ! तुम स्थिर होओ, मैं आज लडाईमें तुम पर जय पानेके लिये खडा हूं ॥ २० ॥

एवमुक्तस्तु राधेयो युद्धात्कर्णो न्यवर्तत ।
ब्राह्मं तेजस्तदाजय्यं मन्यमानो महारथः ॥ २१ ॥

तब राधाकुमार महारथी कर्ण यह बात सुनकर ब्रह्मतेजको जीतनेके अयोग्य समझ कर युद्धसे निवृत्त हो गए ॥ २१ ॥

युद्धं तूपेयतुस्तत्र राजञ्शल्यवृकोदरौ ।
बलिनौ युगपन्मत्तौ स्पर्धया च बलेन च ॥ २२ ॥

दूसरी ओर, राजन् ! मत्त, बलसे बली, शल्य और भीम स्पर्धासे एक ही साथ जा भिडे ॥ २२ ॥

अन्योन्यमाह्वयन्तौ तौ मत्ताविव महागजौ ।
मुष्टिभिर्जानुभिश्चैव निघ्नन्तावितरेतरम् ।
मुहूर्तं तौ तथान्योन्यं समरे पर्यकर्षताम् ॥ २३ ॥

वे दोनों दो मत्त हाथियोंकी तरह एक दूसरेको आव्हान देते हुए मुट्ठी और घुटनोंसे मारते हुए युद्धमें एक दूसरेको कुछ देरतक खींचने लगे ॥ २३ ॥

ततो भीमः समुत्क्षिप्य बाहुभ्यां शल्यमाहवे ।
न्यवधीद्बलिनां श्रेष्ठो जहसुर्ब्राह्मणास्ततः ॥ २४ ॥

कुछ देर बाद कुरुवंशमें श्रेष्ठ भीमने शल्यको भुजाओंसे ऊपर उठाकर रणभूमिपर पटक दिया । वह देखकर ब्राह्मणलोग हंस पडे ॥ २४ ॥

तत्राश्चर्यं भीमसेनश्चकार पुरुषर्षभः ।
यच्छल्यं पतितं भूमौ नाहनद्बलिनं बली ॥ २५ ॥

पर पुरुषश्रेष्ठ बली भीमसेनने बलशाली शल्यको ऐसे आश्चर्यरूपसे भूमिपर पटका, कि शल्यके जरा भी चोट नहीं लगी ॥ २५ ॥

पातिते भीमसेनेन शल्ये कर्णे च शङ्किते ।
शङ्किताः सर्वराजानः परिवव्रुर्वृकोदरम् ॥ २६ ॥

तदनन्तर राजा लोग शल्यको भीमसेनसे गिराये जाते हुए और कर्णको शंकायुक्त देखकर भयभीत चित्तसे भीमको घेर कर खडे हो गये ॥ २६ ॥

ऊचुश्च सहितास्तत्र साध्विमे ब्राह्मणर्षभाः ।
विज्ञायन्तां क्वजन्मानः क्वनिवासास्तथैव च ॥ २७ ॥

इकट्ठे होकर सभी ब्राह्मणश्रेष्ठ साधु साधु कहकर यह कहने लगे, कि विशेषरूपसे जान लेना चाहिये, कि वह कहां रहते हैं और उन्होंने कहां जन्म लिया है ॥ २७ ॥

×

को हि राधासुतं कर्णं शक्तो योधयितुं रणे।
अन्यत्र रामाद्द्रोणाद्वा कृपाद्वापि शरद्वतः ॥ २८ ॥

इस धरती भरमें राम, द्रोण, शरद्वान्के पुत्र कृपके अलावा राधाके पुत्र कर्णसे कौन लड सकता है ॥ २८ ॥

कृष्णाद्वा देवकीपुत्रात्फल्गुनाद्वा परंतपात्।
को वा दुर्योधनं शक्तः प्रतियोधयितुं रणे ॥ २९ ॥

देवकीके पुत्र कृष्ण अथवा शत्रुनाशी अर्जुनके विना युद्धमें कौन दुर्योधनसे लडनेके लिए समर्थ हो सकता है ? ॥ २९ ॥

तथैव मद्रराजानं शल्यं बलवतां वरम्।
बलदेवादृते वीरात्पाण्डवाद्वा वृकोदरात् ॥ ३० ॥

उसी प्रकार वीर बलदेव, पाण्डुपुत्र वृकोदरके बिना कौन बलशालियोंमें श्रेष्ठ मद्रराज शल्यसे युद्ध कर सकता है ? ॥ ३० ॥

क्रियतामवहारोऽस्माद्युद्धाद्ब्राह्मणसंयुतात्।
अथैनानुपलभ्येह पुनर्योत्स्यामहे वयम् ॥ ३१ ॥

अब सब कोई ब्राह्मणसे यह लडाई बन्द कर दो, पहिले इनका परिचय प्राप्त कर पीछे हम इनके साथ लडनेको प्रवृत्त होंगे ॥ ३१ ॥

तत्कर्म भीमस्य समीक्ष्य कृष्णः कुन्तीसुतौ तौ परिशङ्कमानः।
निवारयामास महीपतींस्तान्धर्मेण लब्धेत्यनुनीय सर्वान् ॥ ३२ ॥

श्रीकृष्णने भीमसेनका वह अलौकिक कार्य देख कर उन दोनोंको कुन्ती पुत्र समझ कर सम्पूर्ण राजाओंको विनयपूर्वक यह कहके युद्धसे निवृत्त किया, कि इस ब्राह्मणने धर्मके अनुसार ही द्रौपदी प्राप्त की है ॥ ३२ ॥

त एवं संनिवृत्तास्तु युद्धाद्युद्धविशारदाः।
यथावासं ययुः सर्वे विस्मिता राजसत्तमाः ॥ ३३ ॥

अनन्तर वे सब युद्धमें पण्डित श्रेष्ठ राजा लोग युद्ध बन्द कर आश्चर्य चित्तसे अपने अपने भवनोंको चले गए ॥ ३३ ॥

वृत्तो ब्रह्मोत्तरो रङ्गः पाञ्चाली ब्राह्मणैर्वृता।
इति ब्रुवन्तः प्रययुर्ये तत्रासन्समागताः ॥ ३४ ॥

जो सब लोग दर्शनके लिये एकत्रित हुए थे, वे यह कहते हुए चले गये, कि आज रङ्गस्थलमें ब्राह्मण लोग ही प्रधान बने और पाञ्चाली ब्राह्मणोंके द्वारा वरी गई ॥ ३४ ॥

ब्राह्मणैस्तु प्रतिच्छन्नौ रौरवाजिनवासिभिः ।
कृच्छ्रेण जग्मतुस्तत्र भीमसेनधनञ्जयौ ॥ ३५ ॥

तदनन्तर भीम और अर्जुन मृगचर्म पहिने ब्राह्मणोंसे घिरे हुए अति क्लेशसे पथ पाकर चलने लगे ॥ ३५ ॥

विमुक्तौ जनसंबाधाच्छत्रुभिः परिविक्षतौ ।
कृष्णयानुगतौ तत्र नृवीरौ तौ विरेजतुः ॥ ३६ ॥

शत्रुओंसे घायल नरवीर भीम और अर्जुन पीछे चलती हुई द्रौपदीके साथ जनोंकी भीडसे युक्त होकर सोहने लगे ॥ ३६ ॥

तेषां माता बहुविधं विनाशं पर्यचिन्तयत्
अनागच्छत्सु पुत्रेषु भैक्ष्यकालेऽतिगच्छति ॥ ३७ ॥

इधर उनकी माता कुन्ती उनके भिक्षा लेकर लौटनेके काल बीतने पर उनको न आते देखकर भांति भांतिके अनिष्टकी आशंकासे यह चिन्ता करने लगी ॥ ३७ ॥

धार्तराष्ट्रैर्हता न स्युर्विज्ञाय कुरुपुङ्गवाः ।
मायान्वितैर्वा रक्षोभिः सुघोरैर्दृढवैरिभिः ॥ ३८ ॥

कदाचित् धृतराष्ट्रके पुत्रोंने मेरे बच्चोंको पहिचान कर मार न डाला हो अथवा दृढ शत्रु मायाधारी अति भयानक राक्षसोंने नष्ट न कर दिया हो ॥ ३८ ॥

विपरीतं मतं जातं व्यासस्यापि महात्मनः ।
इत्येवं चिन्तयामास सुतस्नेहान्विता पृथा ॥ ३९ ॥

महात्मा व्यासकी भी कैसी उलटी बुद्धि हुई थी, उन्होंने क्यों हमको इस देशमें आनेको कहा ? कुन्ती पुत्रस्नेहसे इस प्रकार सोच रही थी ॥ ३९ ॥

महत्यथापराह्णे तु घनैः सूर्य इवावृतः ।
ब्राह्मणैः प्राविशत्तत्र जिष्णुर्ब्रह्मपुरस्कृतः ॥ ४० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८१ ॥ ५९७४ ॥

ऐसे समयमें अर्जुन ब्राह्मणोंसे घिरे हुए ब्राह्मणोंको आगे करके अपराह्णमें बादलसे घिरे सूर्यकी भांति उस घरमें जा घुसे ॥ ४० ॥

महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ इक्यासीवां अध्याय समाप्त ॥ १८१ ॥ ५९७४ ॥

: १८२ :

वैशम्पायन उवाच

गत्वा तु तां भार्गवकर्मशालां पार्थौ पृथां प्राप्य महानुभावौ।
तां याज्ञसेनीं परमप्रतीतौ भिक्षेत्यथावेदयतां नराग्र्यौ ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– महानुभाव नरश्रेष्ठ भीम और अर्जुन परम प्रसन्न चित्तसे याज्ञसेनी द्रौपदीको साथ लेकर कुंभारके घरमें जाकर कुन्तीसे बोले– मा ! आज यह भिक्षा मिली है ॥ १ ॥

कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रानुवाच भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे।
पश्चात्तु कुन्ती प्रसमीक्ष्य कन्यां कष्टं मया भाषितमित्युवाच ॥ २ ॥

कुन्ती तब कुटीके भीतर थी; कुछ न देख करके ही पुत्रोंसे बोली– तुम सब मिलकर भोगो। पीछे कन्याको देखकर बोली– कष्ट है कि मैंने यह अनुचित बात कह दी ॥ २ ॥

साधर्मभीता हि विलज्जमाना तां याज्ञसेनीं परमप्रतीताम्।
पाणौ गृहीत्वोपजगाम कुन्ती युधिष्ठिरं वाक्यमुवाच चेदम् ॥ ३ ॥

तदनन्तर वह धर्मका भय खाकर अपने कहने पर लजाती हुई अनिन्दिता उस याज्ञसेनी द्रौपदीका हाथ पकडकर कुन्ती युधिष्ठिरके पास जाकर उनसे यह वाक्य बोली ॥ ३ ॥

इयं हि कन्या द्रुपदस्य राज्ञस्तवानुजाभ्यां मयि संनिसृष्टा।
यथोचितं पुत्र मयापि चोक्तं समेत्य भुङ्क्तेति नृप प्रमादात् ॥ ४ ॥

हे पुत्र ! तुम्हारे दोनों छोटे भाइयोंने जब राजा द्रुपदसे इस पुत्रीको लाकर मेरे पास भिक्षा कहके दिया, तब मैंने असावधानतासे उस कालके योग्य यह बात कह डाली है, कि तुम सब मिल करके भोगो ॥ ४ ॥

कथं मया नानृतमुक्तमद्य भवेत्कुरूणामृषभ ब्रवीहि।
पाञ्चालराजस्य सुतामधर्मो न चोपवर्तेत नभूतपूर्वः ॥ ५ ॥

हे कुरुवंशश्रेष्ठ ! अब यह कहो, कि मेरी वह बात झूठी भी न हो और अधर्म इस राजा पाञ्चालकी पुत्रीको छू न सके और यह अप्रसन्न न होवे ॥ ५ ॥

मुहूर्तमात्रं त्वनुचिन्त्य राजा युधिष्ठिरो मातरमुत्तमौजाः।
कुन्तीं समाश्वास्य कुरुप्रवीरो धनञ्जयं वाक्यमिदं बभाषे ॥ ६ ॥

नरवीर मतिमान् कुरुप्रवीर राजा युधिष्ठिर माताकी यह बात सुनकर क्षणभर सोचके उनको समझा कर धनञ्जयसे यह वाक्य बोले ॥ ६ ॥

त्वया जिता पाण्डव याज्ञसेनी त्वया च तोषिष्यति राजपुत्री ।
प्रज्वाल्यतां हूयतां चापि वह्निर्गृहाण पाणिं विधिवत्त्वमस्याः ॥ ७ ॥
हे पाण्डव अर्जुन ! तुमने इस राजपुत्री याज्ञसेनीको जीता है तुम्हींसे यह सन्तुष्ट होगी, अतः आग जलाकर विधिपूर्वक उसमें आहुति डालो और इसका विधिपूर्वक हाथ पकड लो ॥ ७ ॥

अर्जुन उवाच

मा मां नरेन्द्र त्वमधर्मभाजं कृथा न धर्मो ह्ययमीप्सितोऽन्यैः ।
भवान्निवेश्यः प्रथमं ततोऽयं भीमो महाबाहुरचिन्त्यकर्मा ॥ ८ ॥
अर्जुन बोले— हे नरेन्द्र ! आप मुझको अधर्ममें न डालें, जैसी आज्ञा करते हैं वह दूसरोंके द्वारा मान्य धर्म नहीं है। पहिले आपका, बादमें चिन्तातीत कर्म करनेवाले महाभुज भीमसेनका स्थान है ॥ ८ ॥

अहं ततो नकुलोऽनन्तरं मे माद्रीसुतः सहदेवो जघन्यः ।
वृकोदरोऽहं च यमौ च राजन्नियं च कन्या भवतः स्म सर्वे ॥ ९ ॥
उनके पीछे मेरा, तब मेरे पीछे जन्मे हुए माद्रीपुत्र नकुलका और अन्तमें कनिष्ठ सहदेवका विवाह होना ही विधिपूर्वक है । भीमसेन, नकुल, सहदेव, यह कन्या और मैं आपकी आज्ञाके अनुसार चलनेवाले हैं ॥ ९ ॥

एवंगते यत्करणीयमत्र धर्म्यं यशस्यं कुरु तत्प्रचिन्त्य ।
पाञ्चालराजस्य च यत्प्रियं स्यात्तद्ब्रूहि सर्वे स्म वशे स्थितास्ते ॥ १० ॥
इससे जो कुछ धर्म और जिससे राजा पाञ्चालका मंगल होवे, उस पर ध्यान करके आज्ञा करें, हम सब लोग आपके आधीन हैं ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच

ते दृष्ट्वा तत्र तिष्ठन्तीं सर्वे कृष्णां यशस्विनीम् ।
संप्रेक्ष्यान्योन्यमासीना हृदयैस्तामधारयन् ॥ ११ ॥
वैशम्पायन बोले— पाण्डुपुत्र बैठी हुई उस यशस्विनी बालाको देख करके एक दूसरेके मुखकी ओर ताकके बैठ गये और सबोंने चित्तमें उसको धारण किया अर्थात् सभीके मन उस कृष्णामें आसक्त थे ॥ ११ ॥

तेषां हि द्रौपदीं दृष्ट्वा सर्वेषाममितौजसाम् ।
संप्रमथ्येन्द्रियग्रामं प्रादुरासीन्मनोभवः ॥ १२ ॥
द्रौपदीको देखकर उन बडे तेजस्वी पाण्डुपुत्रोंके इन्द्रियोंको मथते हुए मदन प्रगट हुआ ॥ १२ ॥

कार्स्न्यं रूपं हि पाञ्चाल्या विधात्रा विहितं स्वयम् ।
बभूवाधिकमन्याभ्यः सर्वभूतमनोहरम् ॥ १३ ॥

विधाताने द्रौपदीका इतना सुन्दर रूप स्वयं बनाया था कि वह रूप सबसे बढकर और सब प्राणियोंके मनोंको हरण करनेवाला बना ॥ १३ ॥

तेषामाकारभावज्ञः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
द्वैपायनवचः कृत्स्नं संस्मरन्वै नरर्षभ ॥ १४ ॥

मनुष्यश्रेष्ठ कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर छोटे भाइयोंके आकारोंको देख करके उनके हृदयके भावको समझ गये और उस समय वेदव्यासकी सम्पूर्ण बातें याद हो आईं ॥ १४ ॥

अब्रवीत्स हि तान्भ्रातॄन्मिथोभेदभयान्नृपः ।
सर्वेषां द्रौपदी भार्या भविष्यति हि नः शुभा ॥ १५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८२ ॥ ५९८९ ॥

वह राजा युधिष्ठिर भाइयोंमें आपसके बिगाडके अर्थात् इस द्रौपदीके कारण भाईयोंमें शत्रुता पैदा न हो जाए इस भयसे बोले– शुभ लक्षणोंसे युक्त यह द्रौपदी हम सबोंकी भार्या होगी ॥ १५ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ बयासीवां अध्याय समाप्त ॥ १८२ ॥ ५९८९ ॥

: १८३ :

वैशम्पायन उवाच

भ्रातुर्वचस्तत्प्रसमीक्ष्य सर्वे ज्येष्ठस्य पाण्डोस्तनयास्तदानीम् ।
तमेवार्थं ध्यायमाना मनोभिरासांचक्रुरथ तत्रामितौजाः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– पाण्डुके वे तेजस्वी पुत्रगण बडे भाईकी यह बात सुनकर मन ही मनमें उस बातकी चर्चा करते हुए वहीं बैठ गए ॥ १ ॥

वृष्णिप्रवीरस्तु कुरुप्रवीरानाशङ्कमानः सहरौहिणेयः ।
जगाम तां भार्गवकर्मशालां यत्रासते ते पुरुषप्रवीराः ॥ २ ॥

तदनन्तर वृष्णिवंशके प्रधान वीर श्रीकृष्ण उनको कुरुवीर समझ कर, भार्गवकी जिस शालामें वे वीर पुरुष लोग टिके हुए थे, वहां बलदेवके संग जा पहुंचे ॥ २ ॥

तत्रोपविष्टं पृथुदीर्घबाहुं ददर्श कृष्णः सहरौहिणेयः ।
अजातशत्रुं परिवार्य तांश्च उपोपविष्टाञ्ज्वलनप्रकाशान् ॥ ३ ॥

तब रोहिणीपुत्र बलराम और उन्होंने वहां बैठे हुए मोटी और दीर्घभुजाओंवाले अजात-शत्रु युधिष्ठिरको और उनके चारों ओर पास ही में बैठे अग्निके समान जलते हुए छोटे भाइयों-को देखा ॥ ३ ॥

ततोऽब्रवीद्वासुदेवोऽभिगम्य कुन्तीसुतं धर्मभृतां वरिष्ठम् ।
कृष्णोऽहमस्मीति निपीड्य पादौ युधिष्ठिरस्याजमीढस्य राज्ञः ॥ ४ ॥

तब वासुदेव श्रीकृष्ण अजमीढवंशी धार्मिकोंमें श्रेष्ठ कुन्तीकुमार युधिष्ठिरके सामने जाकर उनके पांव छूकर बोले– मैं कृष्ण हूं ॥ ४ ॥

तथैव तस्याप्यनु रौहिणेयस्तौ चापि हृष्टाः कुरवोऽभ्यनन्दन् ।
पितृष्वसुश्चापि यदुप्रवीरावगृह्णतां भारतमुख्य पादौ ॥ ५ ॥

तब बलदेवने भी वैसा किया । पाण्डवगणने राम और कृष्णको देख कर प्रसन्न चित्तसे उनका अभिनन्दन किया । हे भारतश्रेष्ठ ! अनन्तर यदुवीर राम और कृष्णने फूफी पृथाके पांव छूए ॥ ५ ॥

अजातशत्रुश्च कुरुप्रवीरः पप्रच्छ कृष्णं कुशलं निवेद्य ।
कथं वयं वासुदेव त्वयेह गूढा वसन्तो विदिताः स्म सर्वे ॥ ६ ॥

अजातशत्रु कुरुवीर युधिष्ठिरने कृष्णसे अपनी कुशलता बताकर उनका कुशल क्षेम पूछा और वे बोले– हे वासुदेव ! तुमने यह कैसे जान लिया कि हम छिपकर यहां बसे हुए हैं ॥ ६ ॥

तमब्रवीद्वासुदेवः प्रहस्य गूढोऽप्यग्निर्ज्ञायत एव राजन् ।
तं विक्रमं पाण्डवेयानतीत्य कोऽन्यः कर्ता विद्यते मानुषेषु ॥ ७ ॥

कृष्णने उनसे हंसकर कहा– हे महाराज ! अग्नि छिपी रहनेसे भी ज्ञात हो ही जाती है और इस भूमण्डलके मानवोंमें पाण्डवोंको छोडकर कौन ऐसा विक्रम दिखा सकता है ? ॥७॥

दिष्ट्या तस्मात्पावकात्संप्रमुक्ता यूयं सर्वे पाण्डवाः शत्रुसाहाः ।
दिष्ट्या पापो धृतराष्ट्रस्य पुत्रः सहामात्यो न सकामोऽभविष्यत् ॥ ८ ॥

आप सब पाण्डवगण बडे भाग्यसे शत्रुका वेग सहकर उस अग्निसे बच गए और भाग्य ही के कारण पापात्मा धृतराष्ट्रपुत्र अपने मन्त्रियोंके साथ सफल मनोरथवाला नहीं हुआ ॥८॥

भद्रं वोऽस्तु निहितं यद्गुहायां विवर्धध्वं ज्वलन इवेध्यमानः।
मा वो विद्युः पार्थिवाः केचनेह यास्यावहे शिबिरायैव तावत्।
सोऽनुज्ञातः पाण्डवेनाव्ययश्रीः प्रायाच्छीघ्रं बलदेवेन सार्धम् ॥ ९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८३ ॥ ५९९८ ॥

अब आपका मङ्गल होवे; वह मङ्गल इन दिनों औरोंके विना देखे हुए स्थानमें छिपा हुआ है, आप बढनेवाले अग्निकी भांति बढते रहें। अब आज्ञा करें, कि हम अपने शिबिरमें जायें, कि जिससे कोई राजा आपको न जानने पावे, अक्षय श्रीयुक्त श्रीकृष्ण यह कहकर युधिष्ठिरकी आज्ञा लेकर बलदेवके साथ शीघ्र वहांसे चले गए ॥ ९ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ तिरासीवां अध्याय समाप्त ॥ १८३ ॥ ५९९८ ॥

: १८४ :

वैशम्पायन उवाच

धृष्टद्युम्नस्तु पाञ्चाल्यः पृष्ठतः कुरुनन्दनौ।
अन्वगच्छत्तदा यान्तौ भार्गवस्य निवेशनम् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— कुरुनन्दन भीम और अर्जुन जब भार्गव अर्थात् कुम्हारके घर जा रहे थे; उस समय पाञ्चालकुमार धृष्टद्युम्न उनके पीछे पीछे छिपकर गये ॥ १ ॥

सोऽज्ञायमानः पुरुषानवधाय समन्ततः।
स्वयमारान्निविष्टोऽभूद्भार्गवस्य निवेशने ॥ २ ॥

वह साथियोंको सावधान कर पाण्डवों और दूसरोंके न जानते कुम्हारके घरसे निकट ही किसी एक स्थानमें छिप गए ॥ २ ॥

सायेऽथ भीमस्तु रिपुप्रमाथी जिष्णुर्यमौ चापि महानुभावौ।
भैक्षं चरित्वा तु युधिष्ठिराय निवेदयाञ्चक्रुरदीनसत्त्वाः ॥ ३ ॥

संध्याकालके समय शत्रुओंको मथनेवाले असामान्य सत्त्वयुक्त महाबली भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेवने भिक्षासे लौटकर भिक्षाकी सामग्री युधिष्ठिरको दे दी ॥ ३ ॥

ततस्तु कुन्ती द्रुपदात्मजां तामुवाच काले वचनं वदान्या।
अतोऽग्रमादाय कुरुष्व भद्रे बलिं च विप्राय च देहि भिक्षाम् ॥ ४ ॥

तब दानशीला कुन्तीने उस समय उस द्रौपदीसे यह वचन कहा— हे भद्रे ! तुम इस भिक्षाकी सामग्रीसे अगला भाग लेकर देवोंको उपहार और ब्राह्मणोंको भिक्षा दे दो ॥ ४ ॥

ये चान्नमिच्छन्ति ददस्व तेभ्यः परिश्रिता ये परितो मनुष्याः ।
ततश्च शेषं प्रविभज्य शीघ्रमर्धं चतुर्णां मम चात्मनश्च ॥ ५ ॥
और जो सब लोग अतिथि हैं और जो भोजन करना चाहें तथा चारों ओर जो हम पर आश्रित हैं, उन्हें दे दो । बाकी बचेमेंसे दो भाग करो, उनमेंसे एक मेरे और अपने भागमें से चार भाग करो ॥ ५ ॥

अर्धं च भीमाय ददाहि भद्रे य एष मत्तर्षभतुल्यरूपः ।
श्यामो युवा संहननोपपन्न एषो हि वीरो बहुभुक्सदैव ॥ ६ ॥
उन दो भागोंमें एक भाग भीमको दो; क्योंकि मत्त बैलकी भांति बडा भारी श्याम तरुण वीर वृकोदर नित्य बहुत भोजन करता है ॥ ६ ॥

सा हृष्टरूपैव तु राजपुत्री तस्या वचः साध्वविशङ्कमाना ।
यथावदुक्तं प्रचकार साध्वी ते चापि सर्वेऽभ्यवजह्रुरन्नम् ॥ ७ ॥
राजपुत्री सती द्रौपदीने उनकी उस बातका कोई विचार न करके ही आनन्दित चित्तसे उसको जो कहा गया था, वह पूरा किया । इसके बाद सबीने अन्नका भोजन किया ॥७॥

कुशैस्तु भूमौ शयनं चकार माद्रीसुतः सहदेवस्तरस्वी ।
यथात्मीयान्यजिनानि सर्वे संस्तीर्य वीराः सुषुपुर्धरण्याम् ॥ ८ ॥
तदनन्तर बलवान् माद्रीपुत्र सहदेवने भूमिपर कुश बिछाकर सेज बनायी । तब उस पर सब यथोपयुक्त अपना अपना मृग चर्म बिछाकर वे वीर भूमि पर सोगये ॥ ८ ॥

अगस्त्यशास्तामभितो दिशं तु शिरांसि तेषां कुरुसत्तमानाम् ।
कुन्ती पुरस्तात्तु बभूव तेषां कृष्णा तिरश्चैव बभूव पत्तः ॥ ९ ॥
उन कुरुश्रेष्ठोंके सिर अगस्त्यऋषिसे शासित अर्थात् दक्षिण दिशाकी ओर थे । उनके सिर-की ओर कुन्ती और पैतानेकी ओर द्रौपदी सो गई ॥ ९ ॥

अशेत भूमौ सह पाण्डुपुत्रैः पादोपधानेव कृता कुशेषु ।
न तत्र दुःखं च बभूव तस्या न चावमेने कुरुपुङ्गवांस्तान् ॥ १० ॥
द्रौपदीने भूमि पर कुशों पर लेटकर और सबके पांवके नीचे उपधानकी भांति बनने पर न तो मनमें दुःख माना और न कुरुश्रेष्ठोंकी ओर अनादर प्रगट किया ॥ १० ॥

ते तत्र शूराः कथयांबभूवुः कथा विचित्राः पृतनाधिकाराः ।
अस्त्राणि दिव्यानि रथांश्च नागान्खड्गान्गदाश्चापि परश्वधांश्च ॥ ११ ॥
शूरतायुक्त पाण्डवगण लेट कर रथ, नाग, खड्ग, गदा, परश्वध, दिव्यास्त्र और सेना सम्बन्धी नाना विचित्र कथाओंको कहने लगे ॥ ११ ॥

तेषां कथास्ताः परिकीर्त्यमानाः पाञ्चालराजस्य सुतस्तदानीम् ।
शुश्राव कृष्णां च तथा निषण्णां ते चापि सर्वे ददृशुर्मनुष्याः ॥ १२ ॥

पांचालराजके पुत्र धृष्टद्युम्न पाण्डवोंके द्वारा कही जाती हुई उन सब कथाओंको सुनने लगे और वहांके लोगोंने भी राजकन्या कृष्णाको उस दशामें देखा ॥ १२ ॥

धृष्टद्युम्नो राजपुत्रस्तु सर्वं वृत्तं तेषां कथितं चैव रात्रौ ।
सर्वं राज्ञे द्रुपदायाखिलेन निवेदयिष्यंस्त्वरितो जगाम ॥ १३ ॥

उस रात्रिको पाण्डवोंने जैसी कथा कही थी और वहां जो कुछ हुआ था, वह सब राजा द्रुपदके पास आद्योपान्त कहनेके लिये राजकुमार धृष्टद्युम्न तुरन्त चले गये ॥ १३ ॥

पञ्चालराजस्तु विषण्णरूपस्तान्पाण्डवानप्रतिविन्दमानः ।
धृष्टद्युम्नं पर्यपृच्छन्महात्मा क्व सा गता केन नीता च कृष्णा ॥ १४ ॥

इधर महात्मा राजा पांचाल द्रुपद पाण्डवोंको न प्राप्त करके दुःखी होकर पडे हुए थे। धृष्टद्युम्नके वहां पहुंचने पर उससे उन्होंने पूछा– पुत्र! कृष्णाको कौन ले गया है? कृष्णा कहां गयी है? ॥ १४ ॥

कच्चिन्न शूद्रेण न हीनजेन वैश्येन वा करदेनोपपन्ना ।
कच्चित्पदं मूर्ध्नि न मे निदिग्धं कच्चिन्माला पतिता न श्मशाने ॥ १५ ॥

किसी नीच जाति वा शूद्र अथवा कर देनेवाले वैश्यने मेरी कन्याको ले जाकर मेरे सिर पर लात तो नहीं मारी है? कहीं सुन्दर माला श्मशानमें तो नहीं जा गिरी है? ॥१५॥

कच्चित्सवर्णप्रवरो मनुष्य उद्रिक्तवर्णोऽप्युत वेह कच्चित् ।
कच्चिन्न वामो मम मूर्ध्नि पादः कृष्णाभिमर्शेन कृतोऽद्य पुत्र ॥ १६ ॥

कोई समानवर्णका, श्रेष्ठ अथवा उच्चतर वर्णका व्यक्ति ही उस द्रौपदीको ले गया है न? किसी नीच जनने कृष्णाको जीत कर मेरे सिर पर बांया पांव तो नहीं रखा है? ॥ १६ ॥

कच्चिच्च यक्ष्ये परमप्रतीतः संयुज्य पार्थेन नरर्षभेण ।
ब्रवीहि तत्त्वेन महानुभावः कोऽसौ विजेता दुहितुर्ममाद्य ॥ १७ ॥

नरश्रेष्ठ पृथापुत्र अर्जुनसे सम्बन्ध होनेके कारण मैं आनन्दित होकर यज्ञ तो कर सकूंगा न? हे महानुभाव! मेरी पुत्रीको जीतनेवाला कौन है, यह सब मुझे बताओ ॥ १७ ॥

विचित्रवीर्यस्य तु कच्चिदद्य कुरुप्रवीरस्य धरन्ति पुत्राः ।
कच्चित्तु पार्थेन यवीयसाद्य धनुर्गृहीतं निहितं च लक्ष्यम् ॥ १८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८४ ॥ ६०१८ ॥

क्या कुरुवीर विचित्रवीर्यके पुत्र राजा पाण्डुके लडकोंने जीता है? क्या छोटे अर्जुनने धनुष लेकर लक्ष्यभेद किया है? ॥ १८ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ चौरासीवां अध्याय समाप्त ॥ १८४ ॥ ६०१८॥

: १८५ :

वैशंपायन उवाच

ततस्तथोक्तः परिहृष्टरूपः पित्रे शशंसाथ स राजपुत्रः ।
धृष्टद्युम्नः सोमकानां प्रबर्हो वृत्तं यथा येन हृता च कृष्णा ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— सोमवंशमें श्रेष्ठ राजपुत्र धृष्टद्युम्न पिताकी यह सब बातें सुनकर प्रसन्न चित्तसे जिसने द्रौपदीको जीता था और उस विषयमें जो कुछ हुआ था, सब आद्योपान्त पितासे कहने लगे ॥ १ ॥

योऽसौ युवा स्वायतलोहिताक्षः कृष्णाजिनी देवसमानरूपः ।
यः कार्मुकाग्र्यं कृतवानधिज्यं लक्ष्यं च तत्पातितवान्पृथिव्याम् ॥ २ ॥

विशेषरूपसे चौडी और लाल आंखोंसे सुहावने, काला मृगचर्म पहिने, देवके सदृश रूपवान्, जिस युवापुरुषने बडे भारी धनुषमें डोरी चढाकर लक्ष्यभेद करके भूतलमें गिराया था ॥ २ ॥

असज्जमानश्च गतस्तरस्वी वृतो द्विजाग्र्यैरभिपूज्यमानः ।
चक्राम वज्रीव दितेः सुतेषु सर्वैश्च देवैर्ऋषिभिश्च जुष्टः ॥ ३ ॥

वे किसीकी सहायता न लेकर अकेले ही वेगसे आगे बढे । वह ब्राह्मणोंसे घेरे और उनसे पूजे जाकर राजाओंमें इस प्रकार पराक्रम प्रगट करने लगे, कि जैसे संपूर्ण महर्षि और देवोंसे घिरे हुए देवराज दैत्योंमें जा घुसते हैं ॥ ३ ॥

कृष्णा च गृह्याजिनमन्वयात्तं नागं यथा नागवधूः प्रहृष्टा ।
अमृष्यमाणेषु नराधिपेषु क्रुद्धेषु तं तत्र समापतत्सु ॥ ४ ॥
ततोऽपरः पार्थिवराजमध्ये प्रवृद्धमारुज्य महीप्ररोहम् ।
प्रकालयन्नेव स पार्थिवौघान्क्रुद्धोऽन्तकः प्राणभृतो यथैव ॥ ५ ॥

कृष्णा उस पुरुषके काले मृगचर्मको पकडे प्रसन्न मनसे उसी प्रकार पीछे पीछे चली, कि जैसे हथिनी हाथीके पीछे प्रसन्न होकर जाती है । तब सब राजाओंके असह्य और क्रोधयुक्त होकर युद्धके लिये दौडनेपर दूसरे एक वीर उस पार्थिव सेनामें घुसकर, जैसे क्रोधित यमराज दण्ड लेकर प्राणियोंको नष्ट करते हैं उसी प्रकार एक बडे भारी प्राचीन वृक्षको उखाड कर उससे भूपालोंको भगाने लगे ॥ ४–५ ॥

तौ पार्थिवानां मिषतां नरेन्द्र कृष्णामुपादाय गतौ नराग्र्यौ ।
विभ्राजमानाविव चन्द्रसूर्यौ बाह्यां पुराद्भार्गवकर्मशालाम् ॥ ६ ॥

हे नरनाथ ! तब राजालोगोंके देखते देखते वे दोनों वीर नरसिंह चन्द्रमा और सूर्यकी भांति सोहते हुए कृष्णाको लेकरके नगरके बाहर एक कुम्हारके घरमें जा घुसे ॥ ६ ॥

तत्रोपविष्टार्चिरिवानलस्य तेषां जनित्रीति मम प्रतर्कः।
तथाविधैरेव नरप्रवीरैरुपोपविष्टैस्त्रिभिराग्निकल्पैः ॥ ७ ॥

वहां अग्निकी चिनगारीकी भांति एक बुढिया नारी अग्निके सदृश तीन अन्य वीरोंके साथ बैठी हुई थी; मुझको जान पडा, कि वह उनकी माता होगी ॥ ७ ॥

तस्यास्ततस्तवभिवाद्य पादावुक्त्वा च कृष्णामभिवादयेति।
स्थितौ च तत्रैव निवेद्य कृष्णां भैक्षप्रचाराय गता नराग्र्याः ॥ ८ ॥

तदनन्तर उन दोनोंके उनके निकट जाकर और उनके पांव छूकर कृष्णाको उन्हें प्रणाम करनेके लिए कहा और कृष्णाको भिक्षा कह कर उनके पास सौंपके वे सब भिक्षाके लिये चले गए ॥ ८ ॥

तेषां तु भैक्ष्यं प्रतिगृह्य कृष्णा कृत्वा बलिं ब्राह्मणसाच्च कृत्वा।
तां चैव वृद्धां परिविष्य तांश्च नरप्रवीरान्स्वयमप्यभुङ्क्त ॥ ९ ॥

तदनन्तर उनके भीख लेकर लौट आनेपर कृष्णाने उनके भोजनकी सामग्री लेकर उसका कुछ अंश देवोंको अर्पण किया और कुछ ब्राह्मणोंको दिया। अनन्तर शेष भाग बुढिया और पांचों वीरोंको परोस कर अन्तमें उसने भोजन किया ॥ ९ ॥

सुप्तास्तु ते पार्थिव सर्व एव कृष्णा तु तेषां चरणोपधानम्।
आसीत्पृथिव्यां शयनं च तेषां दर्भाजिनाग्र्यास्तरणोपपन्नम् ॥ १० ॥

हे नरनाथ! इसके पश्चात् धरती पर कुशका बिछौना बनाकर उनपर मृगचर्म बिछाये जानेके पश्चात् वे उस पर सोये! कृष्णा उनके पांवके नीचे तकियेकी भांति सो गई ॥ १० ॥

ते नर्दमाना इव कालमेघाः कथा विचित्राः कथयांबभूवुः।
न वैश्यशूद्रौपयिकीः कथास्ता न च द्विजातेः कथयन्ति वीराः ॥ ११ ॥

तब वे वीर काले बादलके समान गंभीर स्वरसे आपसमें भांति भांतिकी विचित्र कथा कहने लगे। वे जो सब कथा कह रहे थे, वे कभी ब्राह्मण, वैश्य वा शूद्र जातिकी नहीं हो सकतीं ॥ ११ ॥

निःसंशयं क्षत्रियपुङ्गवास्ते यथा हि युद्धं कथयन्ति राजन्।
आशा हि नो व्यक्तमियं समृद्धा मुक्तान्हि पार्थाञ्शृणुमोऽग्निदाहात् ॥ १२ ॥

हे महाराज! वे जैसी युद्ध–सम्बन्धी कथा कहने लगे, उससे वे निःसन्देह क्षत्रिय श्रेष्ठ होंगे! हे पिता! इसमें सन्देह नहीं है, कि हमारी आशा पूरी हुई है, क्योंकि सुन चुका हूं, कि पाण्डव अग्निसे जलनेसे बच गए हैं ॥ १२ ॥

यथा हि लक्ष्यं निहितं धनुश्च सज्यं कृतं तेन तथा प्रसह्य ।
यथा च भाषन्ति परस्परं ते छन्ना ध्रुवं ते प्रचरन्ति पार्थाः ॥ १३ ॥

और उस महावीरने जिस प्रकारसे धनुषमें विना विलंब डोरी चढाई, जिस प्रकार सहज हीमें लक्ष्य भेद किया और उनसें आपसकी जैसी कथा सुनी, उससे निश्चय जान पडता है, कि ये ही पञ्च पाण्डव होंगे, इसमें सन्देह नहीं कि, माताके साथ छिपकर घूम रहे हैं ॥ १३ ॥

ततः स राजा द्रुपदः प्रहृष्टः पुरोहितं प्रेषयां तत्र चक्रे ।
विद्याम युष्मानिति भाषमाणो महात्मनः पाण्डुसुताः स्थ कच्चित् ॥ १४ ॥

तदनन्तर राजा द्रुपदने आनन्दपूर्वक पुरोहितको यह कहके पाण्डवोंके पास भेजा, कि उनके निकट जाके तुम यह कहना, कि तुम महात्मा पांडुकी सन्तान हो, कि नहीं, मैं तुम्हारी यह बात जानना चाहता हूं ॥ १४ ॥

गृहीतवाक्यो नृपतेः पुरोधा गत्वा प्रशंसामभिधाय तेषाम् ।
वाक्यं यथावन्नृपतेः समग्रमुवाच तान्स क्रमवित्क्रमेण ॥ १५ ॥

क्रमको जाननेवाले राजपुरोहित राजाज्ञाको सुनकर पाण्डवोंके पास जा, क्रमसे उनमेंसे हरेकका यश गाकर राजाकी कही हुई सब बात कहने लगे ॥ १५ ॥

विज्ञातुमिच्छत्यवनीश्वरो वः पाञ्चालराजो द्रुपदो वरार्हाः ।
लक्ष्यस्य वेद्धारमिमं हि दृष्ट्वा हर्षस्य नान्तं प्रतिपश्यते सः ॥ १६ ॥

हे श्रेष्ठों ! श्रेष्ठ पृथिवीपति पाञ्चाल राजा द्रुपद आपका परिचय जानना चाहते हैं; वह इस वीरको लक्ष्यभेद करते देखकर अपार आनन्दके पारावारमें गोता खा रहे हैं ॥ १६ ॥

तदाचड्ढ्वं ज्ञातिकुलानुपूर्वीं पदं शिरःसु द्विषतां कुरुध्वम् ।
प्रह्लादयध्वं हृदयं ममेयं पाञ्चालराजस्य सहानुगस्य ॥ १७ ॥

आप अपनी, ज्ञातिकी और कुलकी कथा आद्योपान्त सुनाकर राजापाञ्चालके, उनके साथियोंके और मेरे हृदयमें आनन्द भर दें और शत्रुओंके सिर पर पांव रखें ॥ १७ ॥

पाण्डुर्हि राजा द्रुपदस्य राज्ञः प्रियः सखा चात्मसमो बभूव ।
तस्यैष कामो दुहिता ममेयं स्नुषा यदि स्यादिति कौरवस्य ॥ १८ ॥

महाराज पाण्डु राजा द्रुपदके आत्मवत् प्यारे सखा थे, अतः भूपाल द्रुपदकी यह चाह थी, कि उनकी कन्या कृष्णा सखा पाण्डुकी पुत्रवधू बने ॥ १८ ॥

अयं च कामो द्रुपदस्य राज्ञो हृदि स्थितो नित्यमनिन्दिताङ्गाः ।
यदर्जुनो वै पृथुदीर्घबाहुर्धर्मेण विन्देत सुतां ममेति ॥ १९ ॥

हे अनिन्दित रूपवान् वीरो ! राजा द्रुपदके हृदयमें सदा यह कामना रहती थी, कि मोटे मोटे और दीर्घबाहुओंवाले अर्जुन धर्मानुसार मेरी कन्याको प्राप्त करें ॥ १९ ॥

तथोक्तवाक्यं स पुरोहितं तं स्थितं विनीतं समुदीक्ष्य राजा ।
समीपस्थं भीममिदं शशास प्रदीयतां पाद्यमर्घ्यं तथास्मै ॥ २० ॥

पुरोहितके नम्रभावसे यह सब कहके चुप होने पर पाण्डवराजने उनकी ओर देख निकट स्थित भीमसेनको आज्ञा दी, कि इनको पाद्य और अर्घ्य दो ॥ २० ॥

मान्यः पुरोधा द्रुपदस्य राज्ञस्तस्मै प्रयोज्याभ्यधिकैव पूजा ।
भीमस्तथा तत्कृतवान्नरेन्द्र तां चैव पूजां प्रतिसंगृहीत्वा ॥ २१ ॥

यह राजा द्रुपदके पुरोहित, बडे माननीय हैं, भली प्रकार इनको पूजना चाहिये । हे नरनाथ ! भीमसेनने भाईकी आज्ञानुसार भलीभांति उनकी पूजा की ॥ २१ ॥

सुखोपविष्टं तु पुरोहितं तं युधिष्ठिरो ब्राह्मणमित्युवाच ।
पाञ्चालराजेन सुता निसृष्टा स्वधर्मदृष्टेन यथानुकामम् ॥ २२ ॥

पुरोहित ब्राह्मणके पूजा लेकर प्रसन्नचित्तसे सुखपूर्वक बैठने पर युधिष्ठिर उन पुरोहित ब्राह्मणसे बोले— हे ब्राह्मण ! राजा पांचालने धर्मसे ही कन्या दी है, मनमाना कन्यादान नहीं किया है ॥ २२ ॥

प्रदिष्टशुल्का द्रुपदेन राज्ञा सानेन वीरेण तथानुवृत्ता ।
न तत्र वर्णेषु कृता विवक्षा न जीवशिल्पे न कुले न गोत्रे ॥ २३ ॥

उन्होंने अपने धर्मके अनुसार लक्ष्यभेदका प्रण करके कन्यादान करना निश्चय किया था, उससे ही इस वीरने उनकी कन्याकी प्राप्ति की है; उस स्वयंवरमें उन्होंने वर्णसम्बन्धी अपेक्षा नहीं की थी, न शिल्पकी, न कुलकी और न गोत्रकी ही उसमें अपेक्षा की थी ॥२३॥

कृतेन सज्येन हि कार्मुकेण विद्धेन लक्ष्येण च संनिसृष्टा ।
सेयं तथानेन महात्मनेह कृष्णा जिता पार्थिवसङ्घमध्ये ॥ २४ ॥

धनुषमें डोरी चढाकर लक्ष्य भेदने ही पर वह सब पूछनेके अधिकार खो चुके हैं ! उन्हींके संकल्पसे यह महात्मा सब राजाओंमेंसे द्रौपदीको जीत कर लाया है ॥ २४ ॥

नैवंगते सौमकिरद्य राजा संतापमर्हत्यसुखाय कर्तुम् ।
कामश्च योऽसौ द्रुपदस्य राज्ञः स चापि संपत्स्यति पार्थिवस्य ॥ २५ ॥

ऐसी दशामें सोमवंशी राजा द्रुपदका इस समय दुःख मानना केवल सुखसे वंचित होना ही है । पर उन द्रुपद राजाकी जो चाह है, वह राजाकी कामना पूरी होगी ॥ २५ ॥

अप्राप्यरूपां हि नरेन्द्रकन्यामिमामहं ब्राह्मण साधु मन्ये ।
न तद्धनुर्मन्दबलेन शक्यं मौर्व्या समायोजयितुं तथा हि ।
न चाकृतास्त्रेण न हीनजेन लक्ष्यं तथा पातयितुं हि शक्यम् ॥ २६ ॥

क्योंकि, हे ब्राह्मण ! इस अति रूपवती राजकुमारीके लक्षण भले दीख पडते हैं । जिसका सामर्थ्य थोडा है, वह कभी उस धनुषमें डोरी नहीं चढा सकता है; और जो नीच जातिका अथवा अस्त्रविद्यामें कुशल नहीं है, वह भी कभी लक्ष्यको भेद कर धरतीपर गिरा नहीं सकता ॥ २६ ॥

तस्मान्न तापं दुहितुर्निमित्तं पाञ्चालराजोऽर्हति कर्तुमद्य ।
न चापि तत्पातनमन्यथेह कर्तुं विषह्यं भुवि मानवेन ॥ २७ ॥

इसके अलावा इस संसारमें किसी भी मनुष्यके द्वारा वह लक्ष्य किसी दूसरे ढंगसे नहीं गिराया जा सकता था, अतः अब कन्याके लिये पांचालराजका दुःख मानना ठीक नहीं ॥ २७ ॥

एवं ब्रुवत्येव युधिष्ठिरे तु पाञ्चालराजस्य समीपतोऽन्यः ।
तत्राजगामाशु नरो द्वितीयो निवेदयिष्यन्निह सिद्धमन्नम् ॥ २८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८५ ॥ ६०४६ ॥

युधिष्ठिर ऐसा कह ही रहे थे, कि राजा पांचालके पाससे एक और दूत यह कहनेको वहां आया, कि अन्न तैय्यार हो गया है ॥ २८ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ पिचासीवां अध्याय समाप्त ॥ १८५ ॥ ६०४६ ॥

: १८६ :

दूत उवाच

जन्यार्थमन्नं द्रुपदेन राज्ञा विवाहहेतोरुपसंस्कृतं च ।
तदाप्नुवध्वं कृतसर्वकार्याः कृष्णा च तत्रैव चिरं न कार्यम् ॥ १ ॥

दूत बोला— महाराज द्रुपदने विवाहके कारणसे बराती लोगोंके लिये अच्छा अन्न बनवाया है । आप सभी नित्यकृत्य पूरा कर शीघ्र वहां आकर उनका उपभोग करें; वहीं कृष्णाका विवाह होगा, विलम्ब न करें ॥ १ ॥

इमे रथाः काञ्चनपद्मचित्राः सदश्वयुक्ता वसुधाधिपार्हाः ।
एतान्समारुह्य परैत सर्वे पाञ्चालराजस्य निवेशनं तत् ॥ २ ॥

सोनेके पद्मसे चित्रित, अच्छे घोडोंवाले तथा राजाओंके योग्य सब रथ खडे हैं, आप सब इनपर चढकर पांचालराजके भवनमें गमन करें ॥ २ ॥

वैशंपायन उवाच

ततः प्रयाताः कुरुपुङ्गवास्ते पुरोहितं तं प्रथमं प्रयाप्य ।
आस्थाय यानानि महान्ति तानि कुन्ती च कृष्णा च सहैव याते ॥ ३ ॥

वैशंपायन बोले— तब कुरुश्रेष्ठ पाण्डव पुरोहितको प्रथम विदा कर उन बडे बडे यानोंमेंसे एकपर कुन्ती और कृष्णाको बैठाकर स्वयं भी रथोंपर सवार होकर चले ॥ ३ ॥

श्रुत्वा तु वाक्यानि पुरोहितस्य यान्युक्तवान्भारत धर्मराजः ।
जिज्ञासयैवाथ कुरूत्तमानां द्रव्याण्यनेकान्युपसंजहार ॥ ४ ॥

हे भारत ! इधर राजा पांचालने पुरोहितसे धर्मराज युधिष्ठिरके द्वारा कहे गए वचनोंको सुन कर उन कुरुश्रेष्ठोंको जाननेकी इच्छासे अनेक तरहके धन भेजे ॥ ४ ॥

फलानि माल्यानि सुसंस्कृतानि चर्माणि वर्माणि तथासनानि ।
गाश्चैव राजन्नथ चैव रज्जूर्द्रव्याणि चान्यानि कृषीनिमित्तम् ॥ ५ ॥

हे राजन् ! उपहारके लिये फल, सुन्दर सुन्दर माला, चर्म, कवच, आसन, गौ, रस्सी, द्रव्य, खेतीके दूसरे सब पदार्थ ॥ ५ ॥

अन्येषु शिल्पेषु च यान्यपि स्युः सर्वाणि क्लृप्तान्यखिलेन तत्र ।
क्रीडानिमित्तानि च यानि तानि सर्वाणि तत्रोपजहार राजा ॥ ६ ॥

शिल्पके योग्य और दूसरे जो यन्त्र थे और जो क्रीडाकी वस्तुएं थीं, उन सब द्रव्योंको राजाने भेजा ॥ ६ ॥

रथाश्ववर्माणि च भानुमन्ति खड्गा महान्तोऽश्वरथाश्च चित्राः ।
धनूंषि चाग्र्याणि शराश्च मुख्याः शक्त्यृष्टयः काञ्चनभूषिताश्च ॥ ७ ॥

और रथ, अश्व, वर्म और ऋष्टि, सुन्दर खड्ग, बडे बडे घोडे, अनेक तरहके अच्छे धनुष, भांति भांतिके बाण, सुवर्णसे सजी शक्ति ॥ ७ ॥

प्रासा भुशुण्डयश्च परश्वधाश्च सांग्रामिकं चैव तथैव सर्वम् ।
शय्यासनान्युत्तमसंस्कृतानि तथैव चासन्विविधानि तत्र ॥ ८ ॥

प्रास, बन्दूक और कुठार, युद्धके योग्य भांति भांतिकी दूसरी वस्तुयें और अच्छी तरह सजे सजाए पलंग और आसन आदि अनेक प्रकारकी सामग्री भेजी ॥ ८ ॥

कुन्ती तु कृष्णां परिगृह्य साध्वीमन्तःपुरं द्रुपदस्याविवेश ।
स्त्रियश्च तां कौरवराजपत्नीं प्रत्यर्चयांचक्रुरदीनसत्त्वाः ॥ ९ ॥

अनन्तर कौरवराजपत्नी कुन्ती सती द्रौपदीको लेकर राजा द्रुपदके अन्तःपुरमें गयी । शक्तिसे युक्त राजस्त्रियोंने प्रसन्न चित्तसे उनका स्वागत कर उन्हें सम्मानित किया ॥ ९ ॥

तान्सिंहविक्रान्तगतीनवेक्ष्य महर्षभाक्षानजिनोत्तरीयान् ।
गूढोत्तरांसान्भुजगेन्द्रभोगप्रलम्बबाहून्पुरुषप्रवीरान् ॥ १० ॥

उसके बाद मृगचर्मका दुपट्टा लिये हुए, सिंहके समान विक्रमी चालवाले, बडे बैलसदृश आंखोंवाले, सर्पराजकी देहकी भांति लम्बी लम्बी भुजाओंवाले और बडे स्कन्धोंवाले उन पाण्डवोंको देखकर ॥ १० ॥

राजा च राज्ञः सचिवाश्च सर्वे पुत्राश्च राज्ञः सुहृदस्तथैव ।
प्रेष्याश्च सर्वे निखिलेन राजन्हर्षं समापेतुरतीव तत्र ॥ ११ ॥

हे राजन् ! राजा पांचाल तथा उनके मन्त्री, पुत्र, मित्र, सेवक और राजपरिवारके दूसरे लोग अत्यधिक आनन्दित हुए ॥ ११ ॥

ते तत्र वीराः परमासनेषु सपादपीठेष्वविशङ्कमानाः ।
यथानुपूर्व्या विविशुर्नराग्र्यास्तदा महार्हेषु न विस्मयन्तः ॥ १२ ॥

वे नरश्रेष्ठ वीरगण विना आश्चर्य और निडर चित्तसे अलग अलग पादपीठयुक्त अति सुन्दर मूल्यवान् आसनों पर बडे छोटेके क्रमसे बैठ गये ॥ १२ ॥

उच्चावचं पार्थिवभोजनीयं पात्रीषु जाम्बूनदराजतीषु ।
दासाश्च दास्यश्च सुमृष्टवेषाः भोजापकाश्चाप्युपजह्रुरन्नम् ॥ १३ ॥

तदनन्तर अच्छे लिबास और गहनोंसे बने ठने सेवक, स्त्रियें और खिलाने पिलानेवालोंने यथायोग्य सुवर्ण और चांदीके बर्तनोंमें परम स्वादिष्ट राजाके भोजनयोग्य अन्नपानादिकी भांति भांतिकी सामग्री लाकर रखी ॥ १३ ॥

ते तत्र भुक्त्वा पुरुषप्रवीरा यथानुकामं सुभृशं प्रतीताः ।
उत्क्रम्य सर्वाणि वसूनि तत्र साङ्ग्रामिकान्याविविशुर्नृवीराः ॥ १४ ॥

हे महाराज ! पुरुषोंमें वीर पाण्डव मनमाना भोजन कर तृप्त हुए और उपहारकी वस्तुओंमेंसे दूसरी सब चीजें छोडकर केवल लडाईके योग्य पदार्थोंको देखने लगे ॥ १४ ॥

तल्लक्षयित्वा द्रुपदस्य पुत्रो राजा च सर्वैः सह मन्त्रिमुख्यैः ।
समर्चयामासुरुपेत्य हृष्टाः कुन्तीसुतान्पार्थिवपुत्रपौत्रान् ॥ १५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८६ ॥ ६०६१ ॥

तब राजा द्रुपद और उनके पुत्र और प्रधान मन्त्री यह देख कुन्तीकुमारोंको राजाओंके पुत्र और पौत्र जान कर अत्यधिक आनन्दित हुए ॥ १५ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ छियासीवां अध्याय समाप्त ॥ १८६ ॥ ६०६१ ॥

: १८७ :

वैशम्पायन उवाच

तत आहूय पाञ्चाल्यो राजपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
परिग्रहेण ब्राह्मेण परिगृह्य महाद्युतिः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— तदनन्तर अति द्युतिमान् पाञ्चाल्य द्रुपदने बडे तेजस्वी राजपुत्र युधिष्ठिर-को बुलाकर ब्राह्मणके योग्य सम्मानोंसे सम्मानित कर ॥ १ ॥

पर्यपृच्छददीनात्मा कुन्तीपुत्रं सुवर्चसम् ।
कथं जानीम भवतः क्षत्रियान्ब्राह्मणानुत ॥ २ ॥
वैश्यान्वा गुणसंपन्नानुत वा शूद्रयोनिजान् ।
मायामास्थाय वा सिद्धांश्चरतः सर्वतोदिशम् ॥ ३ ॥

उस अदीनात्मा राजाने अत्यन्त तेजस्वी कुन्ती पुत्रसे पूछा— मैं तुमको ब्राह्मण, क्षत्रिय, अथवा गुणवान् वैश्य वा शूद्र इनमेंसे कौनसी जातिका समझूं ! अथवा तुमको चारों दिशा-ओंमें मायाका रूप धरकर विचरनेवाले सिद्ध समझूँ ॥ २–३ ॥

कृष्णाहेतोरनुप्राप्तान्दिवः सन्दर्शनार्थिनः ।
ब्रवीतु नो भवान्सत्यं संदेहो ह्यत्र नो महान् ॥ ४ ॥

जो ब्राह्मणोंके स्वरूपमें विचरते हुए कृष्णाके निमित्त यहां आए हुए तुम्हें देव समझूं ! तुम हमसे सच कहो इस विषयमें हमें महान् शंका है ॥ ४ ॥

अपि नः संशयस्यान्ते मनस्तुष्टिरिहाविशेत् ।
अपि नो भागधेयानि शुभानि स्युः परंतप ॥ ५ ॥

हे शत्रुमंथन ! क्या इस शङ्काके दूर होनेसे हमारे हृदयमें आनन्द होगा ? हे परन्तप ! क्या हमारे भाग्य उत्तम होंगे ? ॥ ५ ॥

कामया ब्रूहि सत्यं त्वं सत्यं राजसु शोभते ।
इष्टापूर्तेन च तथा वक्तव्यमनृतं न तु ॥ ६ ॥

अपनी इच्छासे सत्यवचन बोलो, राजाके द्वारा सच कहना ही शोभादायक है, इष्टापूर्त अर्थात् यज्ञादि क्रिया और वापी प्रतिष्ठा आदि पुण्यदायी कर्मकी दृष्टिसे भी असत्य नहीं बोलना चाहिए ॥ ६ ॥

श्रुत्वा ह्यमरसंकाश तव वाक्यमरिंदम ।
ध्रुवं विवाहकरणमास्थास्यामि विधानतः ॥ ७ ॥

हे देवतुल्य तथा शत्रुको मथनेहारे ! मैं तुम्हारा वचन सुनकर यथारीति तुम्हारी जातिके योग्यानुसार विवाह करनेका उद्योग करूंगा ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

मा राजन्विमना भूस्त्वं पाञ्चाल्य प्रीतिरस्तु ते ।
ईप्सितस्ते ध्रुवः कामः संवृत्तोऽयमसंशयम् ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे पाञ्चालराज ! आप दुःख न मानें, आप प्रसन्न हों, निःसन्देह आपका मनोरथ सफल हुआ है ॥ ८ ॥

वयं हि क्षत्रिया राजन्पाण्डोः पुत्रा महात्मनः ।
ज्येष्ठं मां विद्धि कौन्तेयं भीमसेनार्जुनाविमौ ।
याभ्यां तव सुता राजन्निर्जिता राजसंसदि ॥ ९ ॥

महाराज ! हम क्षत्रियवंशी महात्मा राजा पाण्डुके पुत्र हैं । मुझे कुन्तीका ज्येष्ठ पुत्र समझो, यह दो भीम और अर्जुन हैं, जिन्होंने, हे राजन् ! राजसभामें आपकी कन्या जीती है ॥९॥

यमौ तु तत्र राजेन्द्र यत्र कृष्णा प्रतिष्ठिता ।
व्येतु ते मानसं दुःखं क्षत्रियाः स्मो नरर्षभ ।
पद्मिनीव सुतेयं ते ह्रदादन्यं ह्रदं गता ॥ १० ॥

हे राजेन्द्र ! जहां कृष्णा है, वहीं यमज भ्राता नकुल सहदेव बैठे हुए हैं, अतः, हे मनुष्योंमें श्रेष्ठ राजन ! आपका मानसिक दुःख दूर हो, हम क्षत्रिय ही हैं, पद्मिनीके समान आपकी यह कन्या एक तालाबसे दूसरे तालावमें गयी है ॥ १० ॥

इति तथ्यं महाराज सर्वमेतद्ब्रवीमि ते ।
भवान्हि गुरुरस्माकं परमं च परायणम् ॥ ११ ॥

हे महाराज ! मैं यह सब तथ्य आपसे कह रहा हूँ आप ही हमारे गुरु और परम गति हैं ॥ ११ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः स द्रुपदो राजा हर्षव्याकुललोचनः ।
प्रतिवक्तुं तदा युक्तं नाशकत्तं युधिष्ठिरम् ॥ १२ ॥

वैशम्पायन बोले– तब राजा द्रुपद पाण्डवोंका परिचय पाकर परम हर्षसे व्याकुल नेत्रों-वाले होकर उस युधिष्ठिरको योग्य उत्तर न दे सके ॥ १२ ॥

यत्नेन तु स तं हर्षं संनिगृह्य परंतपः
अनुरूपं तदा राजा प्रत्युवाच युधिष्ठिरम् ॥ १३ ॥

तब बडे प्रयत्नसे परन्तप राजा अपने हर्षको नियंत्रित करके धर्मराज युधिष्ठिरसे कालके योग्य वचन बोले ॥ १३ ॥

पप्रच्छ चैनं धर्मात्मा यथा ते प्रद्रुताः पुरा ।
स तस्मै सर्वमाचख्यावानुपूर्व्येण पाण्डवः ॥ १४ ॥

और धर्मात्मा द्रुपदने इनसे पूछा, कि वे वारणावत नगरसे कैसे भागे ? उस पाण्डुपुत्रने उन्हें आद्योपान्त वह सब कथा कह सुनायी ॥ १४ ॥

तच्छ्रुत्वा द्रुपदो राजा कुन्तीपुत्रस्य भाषितम् ।
विगर्हयामास तदा धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ॥ १५ ॥

तब राजा द्रुपद कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरकी बात सुनकर नरराज धृतराष्ट्रकी निन्दा करने लगे ॥ १५ ॥

आश्वासयामास च तं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
प्रतिजज्ञे च राज्याय द्रुपदो वदतां वरः ॥ १६ ॥

और कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको ढाढस दिया और बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ द्रुपदने राज्यपर बैठानेकी प्रतिज्ञा की ॥ १६ ॥

ततः कुन्ती च कृष्णा च भीमसेनार्जुनावपि ।
यमौ च राज्ञा संदिष्टौ विविशुर्भवनं महत् ॥ १७ ॥

तदनन्तर कुन्ती, द्रौपदी, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव राजाकी आज्ञासे एक बडे भवनमें गये ॥ १७ ॥

तत्र ते न्यवसन्राजन्यज्ञसेनेन पूजिताः ।
प्रत्याश्वस्तांस्ततो राजा सह पुत्रैरुवाच तान् ॥ १८ ॥

हे महाराज ! वे राजा यज्ञसेनसे सन्मान पाकर उस भवनमें रहने लगे । तदनन्तर राजा पुत्रोंके साथ उन आश्वस्त हुए हुए पाण्डवोंसे बोले ॥ १८ ॥

गृह्णातु विधिवत्पाणिमद्यैव कुरुनन्दनः ।
पुण्येऽहनि महाबाहुरर्जुनः कुरुतां क्षणम् ॥ १९ ॥

आजके शुभ दिनमें कुरुनन्दन महाबाहु अर्जुन विवाहके कर्मोंको करके कृष्णाका पाणिग्रहण करें ॥ १९ ॥

ततस्तमब्रवीद्राजा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
ममापि दारसम्बन्धः कार्यस्तावद्विशां पते ॥ २० ॥

हे महाराज ! धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर उनसे बोले– हे नरनाथ ! मुझे भी विवाह करना है ॥२०॥

द्रुपद उवाच

भवान्वा विधिवत्पाणिं गृह्णातु दुहितुर्मम ।
यस्य वा मन्यसे वीर तस्य कृष्णामुपादिश ॥ २१ ॥

द्रुपदने कहा– हे वीर ! तुम ही विधिपूर्वक मेरी बेटीका पाणिग्रहण करो, अथवा तुम जिससे कृष्णाका विवाह कराना चाहो उसीसे विवाह कराओ ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

सर्वेषां द्रौपदी राजन्महिषी नो भविष्यति ।
एवं हि व्याहृतं पूर्वं मम मात्रा विशां पते ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे प्रजापालक राजन् ! द्रौपदी हम सबोंकी रानी बनेगी, क्योंकि पहिले मेरी माताने ऐसी ही आज्ञा दी है ॥ २२ ॥

अहं चाप्यनिविष्टो वै भीमसेनश्च पाण्डवः ।
पार्थेन विजिता चैषा रत्नभूता च ते सुता ॥ २३ ॥

विशेष मेरा और पाण्डुपुत्र भीमसेनका अभी विवाह नहीं हुआ है; अर्जुनने तुम्हारी रत्न-सदृश कन्याको जीता है ॥ २३ ॥

एष नः समयो राजन्रत्नस्य सहभोजनम् ।
न च तं हातुमिच्छामः समयं राजसत्तम ॥ २४ ॥

पर, हे राजेन्द्र ! हम भाइयोंमें एक प्रतिज्ञा है कि किसी भी रत्नका हम सब एकत्र होकर भोग करेंगे । हम उस नियमके विरुद्ध चलना नहीं चाहते ॥ २४ ॥

सर्वेषां धर्मतः कृष्णा महिषी नो भविष्यति ।
आनुपूर्व्येण सर्वेषां गृह्णातु ज्वलने करम् ॥ २५ ॥

अतः धर्मानुसार द्रौपदी हम सबकी रानी होगी; वह अग्निके सामने बडे छोटेके क्रमसे हम सबका हाथ पकडे ॥ २५ ॥

द्रुपद उवाच

एकस्य बह्व्यो विहिता महिष्यः कुरुनन्दन ।
नैकस्या बहवः पुंसो विधीयन्ते कदाचन ॥ २६ ॥

द्रुपद बोले– हे कुरुनन्दन ! शास्त्रकी विधिसे एक पुरुषकी अनेक स्त्रियां हो सकती हैं, पर एक स्त्रीके अनेक पति कभी नहीं होते ॥ २६ ॥

लोकवेदविरुद्धं त्वं नाधर्मं धार्मिकः शुचिः ।
कर्तुमर्हसि कौन्तेय कस्मात्ते बुद्धिरीदृशी ॥ २७ ॥

हे कुन्तीपुत्र ! तुम पवित्र और धर्मके जानकार होनेके कारण लोक और वेदके विरोधी कर्म नहीं कर सकते । यह तुम्हारी ऐसी बुद्धि क्यों हुई ? ॥ २७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

सूक्ष्मो धर्मो महाराज नास्य विद्मो वयं गतिम् ।
पूर्वेषामानुपूर्व्येण यातं वर्त्मानुयामहे ॥ २८ ॥

युधिष्ठिर बोले– महाराज ! धर्मका मार्ग सूक्ष्म है, उसकी गति हम जान नहीं सकते । पर प्रचेता आदि पहिलेके महात्मा जिस पथसे गये, हम उसी पथसे चलेंगे ॥ २८ ॥

न मे वागनृतं प्राह नाधर्मे धीयते मतिः।
एवं चैव वदत्यम्बा मम चैव मनोगतम् ॥ २९ ॥

हे राजन् ! मेरी माताने वैसी आज्ञा दी है और वह मेरा मन भी इसका समर्थन करता है; मेरे वागिन्द्रियसे कभी झूठी बात नहीं निकलती, मेरा मन भी कभी अधर्मकी ओर नहीं चलता ॥ २९ ॥

एष धर्मो ध्रुवो राजंश्चरैनमविचारयन्।
मा च तेऽत्र विशङ्का भूत्कथंचिदपि पार्थिव ॥ ३० ॥

अतः, हे राजन् ! यह निश्चयसे धर्म है, अतः बिना कुछ सोच विचारके इसका आचरण करें; हे पृथ्वीनाथ ! इस विषयमें आप किसी भी प्रकारकी शङ्का न करें ॥ ३० ॥

द्रुपद उवाच

त्वं च कुन्ती च कौन्तेय धृष्टद्युम्नश्च मे सुतः।
कथयन्त्वितिकर्तव्यं श्वः काले करवामहे ॥ ३१ ॥

द्रुपद बोले– हे कुन्तीपुत्र ! तुम, कुन्ती और मेरा पुत्र धृष्टद्युम्न यह तीनों मिलके विचार कर क्या करना है, वह निश्चय करो, जो करना होगा, मैं कल करूंगा ॥ ३१ ॥

वैशम्पायन उवाच

ते समेत्य ततः सर्वे कथयन्ति स्म भारत।
अथ द्वैपायनो राजन्नभ्यागच्छद्यदृच्छया ॥ ३२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८७ ॥ ६०९३ ॥

वैशम्पायन बोले– हे भारत ! तब कुन्ती, युधिष्ठिर और धृष्टद्युम्न यह तीनों एकत्र होकर उस विषयमें विचार कर रहे थे कि ऐसे ही समयमें भगवान् द्वैपायन स्वयं अपनी इच्छासे वहां आ पहुंचे ॥ ३२ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ सतासीवां अध्याय समाप्त ॥ १८७ ॥ ६०९३ ॥

: १८८ :

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते पाण्डवाः सर्वे पाञ्चाल्यश्च महायशाः।
प्रत्युत्थाय महात्मानं कृष्णं दृष्ट्वाभ्यपूजयन् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– तब सब पाण्डवों, बडे यशस्वी राजा पाञ्चाल और वहांके दूसरे लोगोंने उठकर महात्मा कृष्णद्वैपायनको देखकर उनका स्वागत किया ॥ १ ॥

प्रतिनन्द्य स तान्सर्वान्पृष्ट्वा कुशलमन्ततः ।
आसने काञ्चने शुभ्रे निषसाद महामनाः　　　　　　॥ २ ॥

महानुभाव महर्षि उनका प्रणाम स्वीकार कर और कुशलक्षेम पूछकर सुन्दर सुवर्णके आसन पर बैठ गए ॥ २ ॥

अनुज्ञातास्तु ते सर्वे कृष्णेनामिततेजसा ।
आसनेषु महार्हेषु निषेदुर्द्विपदां वराः　　　　　　॥ ३ ॥

मनुष्योंमें श्रेष्ठ पाण्डव आदि सब अति तेजस्वी कृष्णद्वैपायनकी आज्ञासे महामूल्य आसन पर बैठे ॥ ३ ॥

ततो मुहूर्तान्मधुरां वाणीमुच्चार्य पार्षतः ।
पप्रच्छ तं महात्मानं द्रौपद्यर्थे विशां पतिः ।　　　　॥ ४ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! पृषतराजपुत्र राजा पाञ्चालने क्षणभर बाद मधुर वचन कहकर महात्मा ऋषिसे द्रौपदीके विषयमें प्रश्न किया ॥ ४ ॥

कथमेका बहूनां स्यान्न च स्याद्धर्मसंकरः ।
एतन्नो भगवान्सर्वं प्रब्रवीतु यथातथम्　　　　　　॥ ५ ॥

हे भगवन् ! एक स्त्रीके बहुतसे पति हों, फिर भी धर्मसंकर न हो, यह सब आप याथातथ्य रूपसे हमें बतायें ॥ ५ ॥

व्यास उवाच

अस्मिन्धर्मे विप्रलब्धे लोकवेदविरोधके ।
यस्य यस्य मतं यद्यच्छ्रोतुमिच्छामि तस्य तत्　　　　॥ ६ ॥

व्यास बोले– वेद और लोकाचारके विरुद्ध होनेसे यह धर्म लुप्त हो गया है, पर इस विषयमें तुम लोगोंमेंसे किसका क्या मत है, सुनना चाहता हूं ॥ ६ ॥

द्रुपद उवाच

अधर्मोऽयं मम मतो विरुद्धो लोकवेदयोः ।
न ह्येका विद्यते पत्नी बहूनां द्विजसत्तम　　　　　　॥ ७ ॥

द्रुपद बोले– हे द्विजश्रेष्ठ ! कहीं भी अनेक पुरुषोंकी एक स्त्री नहीं हुई है; अतः मेरे विचारमें यह कर्म लोकाचार और वेदके विरोधी होनेके कारण अधर्मयुक्त है ॥ ७ ॥

न चाप्याचरितः पूर्वैरयं धर्मो महात्मभिः ।
न च धर्मोऽप्यनेकस्थश्चरितव्यः सनातनः　　　　　　॥ ८ ॥

इसके अलावा पहिलेके महात्माओंने भी ऐसा कार्य नहीं किया। और कोई धर्म भी अनेकों द्वारा किया गया भी हो, तो भी उसे नहीं करना चाहिए ॥ ८ ॥

अतो नाहं करोम्येवं व्यवसायं क्रियां प्रति।
धर्मसंदेहसंदिग्धं प्रतिभाति हि मामिदम् ॥ ९ ॥

अतः इसका आचरण करनेमें मैं निश्चय नहीं कर सकता, क्योंकि यह धर्म मुझको सदा सन्देहसे भरा हुआ प्रतीत हो रहा है ॥ ९ ॥

धृष्टद्युम्न उवाच

यवीयसः कथं भार्यां ज्येष्ठो भ्राता द्विजर्षभ।
ब्रह्मन्समभिवर्तेत सद्वृत्तः संस्तपोधन ॥ १० ॥

धृष्टद्युम्न बोले– द्विजश्रेष्ठ तपोधन ब्रह्मन्! उत्तम चरित्रवान् बडा भाई छोटे भाईकी स्त्रीसे कैसे मिल सकता है? ॥ १० ॥

न तु धर्मस्य सूक्ष्मत्वाद्गतिं विद्मः कथंचन।
अधर्मो धर्म इति वा व्यवसायो न शक्यते ॥ ११ ॥

धर्म बहुत सूक्ष्म है, अतः उसकी गति हम नहीं जान सकते और कौनसा विषय धर्मयुक्त और कौन अधर्म युक्त है, इसका भी निश्चय नहीं कर सकते ॥ ११ ॥

कर्तुमस्मद्विधैर्ब्रह्मंस्ततो न व्यवसाम्यहम्।
पञ्चानां महिषी कृष्णा भवत्विति कथंचन ॥ १२ ॥

हम जैसों द्वारा धर्माधर्मका निश्चय नहीं हो सकता, इसीसे मैं यह भी निश्चय नहीं कर सका कि द्रौपदी पांच पुरुषोंकी स्त्री बने ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

न मे वागनृतं प्राह नाधर्मे धीयते मतिः।
वर्तते हि मनो मेऽत्र नैषोऽधर्मः कथंचन ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर बोले– मेरी वाणी कभी असत्य बात नहीं बोलती, मन भी कभी अधर्म पर नहीं झुकता, इस विषयमें मेरा मन भी समर्थन कर रहा है; अतः यह किसी प्रकार भी धर्मके विरुद्ध नहीं जान पडता ॥ १३ ॥

श्रूयते हि पुराणेऽपि जटिला नाम गौतमी।
ऋषीनध्यासितवती सप्त धर्मभृतां वर ॥ १४ ॥

हे धर्मधारियोंमें श्रेष्ठ! पुराणोंमें भी सुना जाता है, कि जटिला नामकी गौतम गोत्रकी एक कन्याने सात ऋषियोंसे विवाह किया था ॥ १४ ॥

गुरोश्च वचनं प्राहुर्धर्म्यं धर्मज्ञसत्तम।
गुरूणां चैव सर्वेषां जनित्री परमो गुरुः ॥ १५ ॥

हे धर्मके जानकारोंमें श्रेष्ठ! कहा है, कि गुरुकी आज्ञा धर्मयुक्त होती है; और सब गुरुओंमें माता ही परम गुरु है ॥ १५ ॥

सा चाप्युक्तवती वाचं भैक्षवद्भुज्यतामिति ।
तस्मादेतदहं मन्ये धर्मं द्विजवरोत्तम ॥ १६ ॥

उन परमगुरु माताने हमको आज्ञा दी है, कि द्रौपदीको भीखकी सामग्रीके समान सब मिलकर भोगो । अतः, हे द्विजोत्तम ! मैं इसलिये इस कर्मको धर्म ही मानता हूँ ॥ १६ ॥

कुन्त्युवाच

एवमेतद्यथाहायं धर्मचारी युधिष्ठिरः ।
अनृतान्मे भयं तीव्रं मुच्येयमनृतात्कथम् ॥ १७ ॥

कुन्ती बोली– धर्मका आचरण करनेवाले युधिष्ठिरने जैसा कहा है, वह ठीक ही है; असत्यसे मुझे बडा डर लगता है, अतः इस अनृतसे मैं कैसे मुक्त होऊं ? ॥ १७ ॥

व्यास उवाच

अनृतान्मोक्षसे भद्रे धर्मश्चैष सनातनः ।
न तु वक्ष्यामि सर्वेषां पाञ्चाल शृणु मे स्वयम् ॥ १८ ॥
यथायं विहितो धर्मो यतश्चायं सनातनः ।
यथा च प्राह कौन्तेयस्तथा धर्मो न संशयः ॥ १९ ॥

व्यास बोले– भद्रे ! तुम अनृतसे मुक्त हो। तुमने जो कहा है, वह सनातन धर्म है । जिस कारण यह धर्म निश्चित हुआ है और जिस कारण यह सनातन है वह बात मैं सबसे नहीं कहूंगा, अतः केवल तुम्हीं मेरी बात सुनो। हे पांचाल ! युधिष्ठिरने जो कहा है वही धर्म-युक्त है; इसमें कोई शंका नहीं है ॥ १८-१९ ॥

वैशम्पायन उवाच

तत उत्थाय भगवान्व्यासो द्वैपायनः प्रभुः ।
करे गृहीत्वा राजानं राजवेश्म समाविशत् ॥ २० ॥

वैशम्पायन बोले– इसके बाद प्रभु द्वैपायन भगवान् व्यास वहांसे उठकर राजाका हाथ पकड कर राजमन्दिरमें गये ॥ २० ॥

पाण्डवाश्चापि कुन्ती च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
विचेतसस्ते तत्रैव प्रतीक्षन्ते स्म तावुभौ ॥ २१ ॥

कुन्ती, पाण्डव और पृषत्‌राजपुत्र धृष्टद्युम्न उन दोनोंकी प्रतीक्षा करते हुए वहीं बैठे रहे ॥ २१ ॥

×

ततो द्वैपायनस्तस्मै नरेन्द्राय महात्मने ।
आचख्यौ तद्यथा धर्मो बहूनामेकपत्निता ॥ २२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८८ ॥ ६११५ ॥

तब महर्षि द्वैपायन महात्मा द्रुपदसे यह कथा कहने लगे, कि अनेक पुरुषोंके बीचमें एक स्त्रीका होना धर्मके विरुद्ध नहीं है ॥ २२ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ अट्ठासीवां अध्याय समाप्त ॥ १८८ ॥ ॥ ६११५ ॥

: १८९ :

व्यास उवाच

पुरा वै नैमिषारण्ये देवाः सत्रमुपासते ।
तत्र वैवस्वतो राजञ्शामित्रमकरोत्तदा ॥ १ ॥

व्यास बोले– महाराज ! पहिले नैमिषारण्यमें देवोंने महायज्ञ आरम्भ किया था। उस महायज्ञमें वैवस्वत यम शामित्र यज्ञ अर्थात् पशुमेध करने लगे ॥ १ ॥

ततो यमो दीक्षितस्तत्र राजन्नामारयत्किंचिदपि प्रजाभ्यः ।
ततः प्रजास्ता बहुला बभूवुः कालातिपातान्मरणात्प्रहीणाः ॥ २ ॥

वह यम उस काममें दीक्षित होनेके कारण किसी प्रजाको नहीं मारते थे, इससे मनुष्योंके मृत्युसे बचने पर उनकी भीड दिनोंदिन बढने लगी ॥ २ ॥

ततस्तु शक्रो वरुणः कुबेरः साध्या रुद्रा वसवश्चाश्विनौ च ।
प्रणेतारं भुवनस्य प्रजापतिं समाजग्मुस्तत्र देवास्तथान्ये ॥ ३ ॥

तब इन्द्र, वरुण, कुबेर, दोनों अश्विनीकुमार, साध्यगण, रुद्रगण और दूसरे देवगण भुवन रचनेहारे प्रजापतिके निकट जा पहुंचे ॥ ३ ॥

ततोऽब्रुवँल्लोकगुरुं समेता भयं नस्तीव्रं मानुषाणां विवृद्ध्या ।
तस्माद्भयादुद्विजन्तः सुखेप्सवः प्रयाम सर्वे शरणं भवन्तम् ॥ ४ ॥

और सब मिलकर मनुष्योंकी संख्या वृद्धि होनेके कारण भीतचित्तसे उन लोकोंके गुरु ब्रह्मासे बोले, मनुष्योंकी संख्या बढनेसे हम बडे भयसे उदास हो गए हैं और सुखकी आशासे आपकी शरणमें आए हैं ॥ ४ ॥

ब्रह्मोवाच

किं वो भयं मानुषेभ्यो यूयं सर्वे यदामराः ।
मा वो मर्त्यसकाशाद्वै भयं भवितु कर्हिचित् ॥ ५ ॥

पितामह बोले– जब तुम सब अमर हो, तो फिर मनुष्योंसे तुम्हें क्या भय है, अतः मर्त्योंसे तुमको भय नहीं होना चाहिये ॥ ५ ॥

देवा ऊचुः

मर्त्या ह्यमर्त्याः संवृत्ता न विशेषोऽस्ति कश्चन ।
अविशेषादुद्विजन्तो विशेषार्थमिहागताः ॥ ६ ॥

देवगण बोले– अब मर्त्यगण अमर्त्य हो गए हैं, अतः उनमें और हम लोगोंमें कोई विशेषता नहीं रही, इस समानताको देखकर हम उदास हो मर्त्योंसे अपना अन्तर बनाये रखनेकी इच्छासे यहां आये हैं ॥ ६ ॥

ब्रह्मो उवाच

वैवस्वतो व्यापृतः सत्रहेतोस्तेन त्विमे न म्रियन्ते मनुष्याः ।
तस्मिन्नेकाग्रे कृतसर्वकार्ये तत एषां भवितैवान्तकालः ॥ ७ ॥

ब्रह्मा बोले– सूर्यपुत्र यम इस समय यज्ञमें लगे हुए हैं, अतः नरोंकी मृत्यु नहीं हो रही है, पर उनके यज्ञसे सम्पूर्ण कार्य हो जाने पर मानवोंका अन्तकाल आ पहुंचेगा ॥ ७ ॥

वैवस्वतस्यापि तनुर्विभूता वीर्येण युष्माकमुत प्रयुक्ता ।
सैषामन्तो भविता ह्यन्तकाले तनुर्हि वीर्यं भविता नरेषु ॥ ८ ॥

तब यमराजका शरीर तुम्हारे ही प्रभावसे यज्ञसे अलग होकर जीवनाशी बन जायगा । मनुष्योंमें कुछ वीर्य नहीं रहेगा । इस प्रकार उनका अन्त हो जाएगा ॥ ८ ॥

व्यास उवाच

ततस्तु ते पूर्वजदेववाक्यं श्रुत्वा देवा यत्र देवा यजन्ते ।
समासीनास्ते समेता महाबला भागीरथ्यां ददृशुः पुण्डरीकम् ॥ ९ ॥

व्यास बोले– तब महाबली देवगण पितामहका वचन सुनकर नैमिषारण्यमें वहां गए जहां देव यज्ञ कर रहे थे। एक दिन किनारे पर बैठे हुए उन बलशाली देवोंने भागीरथीके जलमें एक पद्म बहते हुए देखा ॥ ९ ॥

दृष्ट्वा च तद्विस्मितास्ते बभूवुस्तेषामिन्द्रस्तत्र शूरो जगाम ।
सोऽपश्यद्योषामथ पावकप्रभां यत्र गङ्गा सततं संप्रसूता ॥ १० ॥

उसको देखते ही वे अचंभेमें पड गए, तब ढूंढनेके लिये, कि वह कमल कहांसे उपजा है, उनमेंसे शूरतासे युक्त इन्द्र वहांसे चले जहांसे गङ्गा निकलती है, वहां पहुंचकर उन्होंने अग्निकी शोभाके समान एक कन्या देखी ॥ १० ॥

सा तत्र योषा रुदती जलार्थिनी गङ्गां देवीं व्यवगाह्यावतिष्ठत्।
तस्याश्रुबिन्दुः पतितो जले वै तत्पद्ममासीदथ तत्र काञ्चनम् ॥ ११ ॥
वह नारी रोती हुई जलकी इच्छासे गंगामें देह डुबा रही थी। उसकी आंसूकी बूंदें गंगा-जलमें गिरके सुवर्ण कमल बन जाती थीं ॥ ११ ॥

तदद्भुतं प्रेक्ष्य वज्री तदानीमपृच्छत्तां योषितमन्तिकाद्वै।
का त्वं कथं रोदिषि कस्य हेतोर्वाक्यं तथ्यं कामयेह ब्रवीहि ॥ १२ ॥
देवराज वैसी अद्भुत लीला देखकर उसके पास जाकर बोले—भद्रे! तुम कौन हो? क्यों रो रही हो? मैं इसका कारण जानना चाहता हूं बताओ ॥ १२ ॥

स्त्र्युवाच

त्वं वेत्स्यसे मामिह यास्मि शक्र यदर्थं चाहं रोदिमि मन्दभाग्या।
आगच्छ राजन्पुरतोऽहं गमिष्ये द्रष्टासि तद्रोदिमि यत्कृतेऽहम् ॥ १३ ॥
बाला बोली— देवराज! मैं बडी अभागी हूं, तुम मेरे संग चलो, तो जान सकोगे कि मैं कौन और क्यों रो रही हूं? हे महाराज! तुम मेरे साथ आओ, मैं तुम्हारे आगे चलती हूं; तुम जान जाओगे कि किस कारण मैं रो रही हूँ ॥ १३ ॥

व्यास उवाच

तां गच्छन्तीमन्वगच्छत्तदानीं सोऽपश्यदारात्तरुणं दर्शनीयम्।
सिंहासनस्थं युवतीसहायं क्रीडन्तमक्षैर्गिरिराजमूर्ध्नि ॥ १४ ॥
व्यास बोले— देवराज तब नारीकी यह बात सुनके उसके पीछे पीछे चलने लगे। कुछ दूर जाकर पास ही हिमाचलकी चोटी पर देखा, कि एक परम सुन्दर युवा पुरुष युवतीके साथ सिंहासन पर बैठकर चोपड खेल रहा है॥ १४ ॥

तमब्रवीद्देवराजो ममेदं त्वं विद्धि विश्वं भुवनं वशे स्थितम्।
ईशोऽहमस्मीति समन्युरब्रवीद्दृष्ट्वा तमक्षैः सुभृशं प्रमत्तम् ॥ १५ ॥
देवराज इन्द्र उनको चोपडमें बडे मग्न देखकर बोले— यह तीनों भुवन मेरे ही वशमें हैं। इस पर पुरुषके कोई उत्तर न देने पर इन्द्रने क्रोधके मारे फिर कहा कि मैं भूमण्डल भरका अधीश हूं ॥ १५ ॥

क्रुद्धं तु शक्रं प्रसमीक्ष्य देवो जहास शक्रं च शनैरुदैक्षत।
संस्तम्भितोऽभूदथ देवराजस्तेनेक्षितः स्थाणुरिवावतस्थे ॥ १६ ॥
तब वह खेलता हुआ पुरुष देवराजको क्रोधित देख हंसा और उसने एकबार उनकी ओर आंखें फेरीं। देवराज उनकी आंखोंके सामने पडते ही खंभेके समान जड बन गये ॥ १६ ॥

यदा तु पर्याप्तमिहास्य क्रीडया तदा देवीं रुदतीं तामुवाच ।
आनीयतामेष यतोऽहमारान्मैनं दर्पः पुनरप्याविशेत ॥ १७ ॥

तब वह पुरुष इच्छानुसार चोपड खेल लेनेके बाद उस रोती हुई बालासे बोला कि तुम इस इन्द्रको मेरे पास लाओ, उसको दण्ड दूंगा, ताकि वह मेरे सामने फिर अहंकार न प्रगट करे ॥ १७ ॥

ततः शक्रः स्पृष्टमात्रस्तया तु स्रस्तैरङ्गैः पतितोऽभूद्धरण्याम् ।
तमब्रवीद्भगवानुग्रतेजा मैवं पुनः शक्र कृथाः कथंचित् ॥ १८ ॥

तब उस नारीके छूते ही देवराजके अंग शिथिल हो गए और वह धरती पर गिर पडे। तब उन अत्यन्त तेजस्वी भगवान् महादेवने उनसे कहा– इन्द्र ! फिर कभी ऐसा काम न करना ॥ १८ ॥

विवर्तयैनं च महाद्रिराजं बलं च वीर्यं च तवाप्रमेयम् ।
विवृत्य चैवाविश मध्यमस्य यत्रासते त्वद्विधाः सूर्यभासः ॥ १९ ॥

तुम्हारा बलवीर्य बहुत अधिक है, अतः तुम इस बडे पर्वतको खोल दो और खोल कर बिलके भीतर जा घुसो; तुम वहां देखोगे कि तुम्हारे समान सूर्यवत् प्रकाशमान बहुत इन्द्र हैं ॥ १९ ॥

स तद्विवृत्य शिखरं महागिरेस्तुल्यद्युतींश्चतुरोऽन्यान्ददर्श ।
स तानभिप्रेक्ष्य बभूव दुःखितः कच्चिन्नाहं भविता वै यथेमे ॥ २० ॥

तब देवराजने पर्वतराजके उस बिलके द्वारको खोलके उसमें अपने ऐसे दूसरे चार इन्द्रोंको देखा । वह उनको देखते ही दुःख करने लगे, कि " मुझको भी कहीं ऐसी दशामें रहना न पडे " ॥ २० ॥

ततो देवो गिरिशो वज्रपाणिं विवृत्य नेत्रे कुपितोऽभ्युवाच ।
दरीमेतां प्रविश त्वं शतक्रतो यन्मां बाल्यादवमंस्थाः पुरस्तात् ॥ २१ ॥

तब देव महेश्वर क्रोधसे नेत्र खोलकर वज्रपाणि इन्द्रसे बोले– इन्द्र ! तू बिलमें जा घुस, क्योंकि पहिले तूने अज्ञानतासे मेरा अनादर किया है ॥ २१ ॥

उक्तस्त्वेवं विभुना देवराजः प्रवेपमानो भृशमेवाभिषङ्गात् ।
स्रस्तैरङ्गैरनिलेनेव नुन्नमश्वत्थपत्रं गिरिराजमूर्ध्नि ॥ २२ ॥

इन्द्र विभुके क्रोधित वचनसे अति कातर होकर शिथिल अंगोंसे उसी प्रकार वेगसे कांपने लगे, कि जैसे पहाड परके पीपलके पत्ते हवासे कांपते हैं ॥ २२ ॥

स प्राञ्जलिर्विनतेनाननेन प्रवेपमानः सहसैवमुक्तः ।
उवाच चेदं बहुरूपमुग्रं द्रष्टा शेषस्य भगवंस्त्वं भवाद्य ॥ २३ ॥

वह महादेवसे एकाएक ऐसी बात सुनके थरथर कांपते हुए दोनों हाथ जोडकर सिर झुकाकर अनेक रूप लेनेवाले उन कठोर देवसे बोले– हे आदिनाथ ! हे भव ! तुम चराचर सहित सम्पूर्ण विश्वके देखनेवाले हो, तुम सब कुछ जान लेते हो ॥ २३ ॥

तमब्रवीदुग्रधन्वा प्रहस्य नैवंशीलाः शेषमिहाप्नुवन्ति ।
एतेऽप्येवं भवितारः पुरस्तात्तस्मादेतां दरीमाविश्य शेध्वम् ॥ २४ ॥

भयंकर धनुषवाले महादेव हंसकर बोले– इस प्रकारके अहंकारी कभी भगवान्को नहीं प्राप्त करते । देखो, पहिले यह सब इन्द्र ऐसा ही कर्म कर इस बिलमें जा गिरे हैं, अतः तुम भी उसमें जाकर लेटे रहो ॥ २४ ॥

शेषोऽप्येवं भविता वो न संशयो योनिं सर्वे मानुषीमाविशध्वम् ।
तत्र यूयं कर्म कृत्वाविषह्यं बहूनन्यान्निधनं प्रापयित्वा ॥ २५ ॥
आगन्तारः पुनरेवेन्द्रलोकं स्वकर्मणा पूर्वजितं महार्हम् ।
सर्वं मया भाषितमेतदेवं कर्तव्यमन्यद्विविधार्थवच्च ॥ २६ ॥

सन्देह नहीं है, कि तुम सबोंका यही हाल होगा, कि तुम पांचोंको मनुष्य जन्म लेकर मर्त्यलोकमें अनेक भांतिके कठोर कर्म करने पडेंगे, अनेक जीवोंको मार कर अपने कर्मसे पहिलेके जीते हुए अति मूल्यवान् इन्द्रलोकमें आओगे; तुम्हारे लिये मैंने ऐसा ही निश्चय किया है, यह सब तुम करो ॥ २५–२६ ॥

पूर्वेन्द्रा ऊचुः

गमिष्यामो मानुषं देवलोकाद्दुराधरो विहितो यत्र मोक्षः ।
देवास्त्वस्मानादधीरञ्जनन्यां धर्मो वायुर्मघवानश्विनौ च ॥ २७ ॥

पहिलेके इन्द्र बोले– हम पांचों इन्द्र देवलोकसे मर्त्यलोकको शीघ्र जायेंगे कि जहां मोक्षका मिलना कठिन है, पर हमारी प्रार्थना यह है, कि उस स्त्रीमें, कि जो हमारी माता होगी, धर्म, वायु, मघवान् और दोनों अश्विनीकुमार हमारे लिये गर्भाधान करें ॥ २७ ॥

व्यास उवाच

एतच्छ्रुत्वा वज्रपाणिर्वचस्तु देवश्रेष्ठं पुनरेवेदमाह ।
वीर्येणाहं पुरुषं कार्यहेतोर्दद्यामेषां पञ्चमं मत्प्रसूतम् ॥ २८ ॥

व्यास बोले– वज्र हाथमें धारण करनेवाले इन्द्र यह बात सुनकर फिर देवसे बोले– मैं स्वयं न जाकर कार्य पूरा करनेके लिये निज वीर्यसे एक पुरुष उपजा दूंगा ॥ २८ ॥

तेषां कामं भगवानुग्रधन्वा प्रादादिष्टं सन्निसर्गाद्यथोक्तम् ।
तां चाप्येषां योषितं लोककान्तां श्रियं भार्यां व्यदधान्मानुषेषु ॥ २९ ॥
अनन्तर उग्र धनुपधारी भगवान् शिवने अपने दयालु स्वभावके कारणसे विश्व प्रतापी पांच इन्द्रोंकी प्रार्थना मान ली । और लोकोंके मन हरनेवाली स्वर्गकी श्री, उस बालाको मर्त्य लोकमें उनकी पत्नी बनानेका विधान कर दिया ॥ २९ ॥

तैरेव सार्धं तु ततः स देवो जगाम नारायणमप्रमेयम् ।
स चापि तद्व्यदधात्सर्वमेव ततः सर्वे संबभूवुर्धरण्याम् ॥ ३० ॥
इसके बाद वह देव उनको साथ लेकर अप्रमेय नारायणके पास गये । भगवान् नारायणने वह सब जान कर उस विषयमें अपनी संमति दी, तब वे सब भूमण्डलमें जन्मे ॥ ३० ॥

स चापि केशौ हरिरुद्बबर्ह शुक्लमेकमपरं चापि कृष्णम् ।
तौ चापि केशौ विशतां यदूनां कुले स्त्रियौ रोहिणीं देवकीं च ।
तयोरेको बलदेवो बभूव कृष्णो द्वितीयः केशवः संबभूव ॥ ३१ ॥
भगवान् हरिने अपनी शक्तिरूपी कृष्ण और शुक्ल इन दो रङ्गके दो केश उखाड दिये । वे केश यदुवंशमें रोहिणी और देवकीके गर्भमें जाकर प्रविष्ट हुए। उनमेंसे एक बलदेवके स्वरूपमें और दूसरा काला केश कृष्ण बन कर उपजा ॥ ३१ ॥

ये ते पूर्वं शक्ररूपा निरुद्धास्तस्यां दर्यां पर्वतस्योत्तरस्य ।
इहैव ते पाण्डवा वीर्यवन्तः शक्रस्यांशः पाण्डवः सव्यसाची ॥ ३२ ॥
इन्द्ररूपी जो पहिले चार पुरुष उस श्रेष्ठ पर्वतकी कन्दरामें बंद हो गए थे, उन्होंने इस मर्त्य लोकमें पराक्रमी पाण्डवके स्वरूपमें जन्म लिया है । पाण्डव सव्यसाची इन्द्रके अंशसे उपजे हैं ॥ ३२ ॥

एवमेते पाण्डवाः संबभूवुर्ये ते राजन्पूर्वमिन्द्रा बभूवुः ।
लक्ष्मीश्चैषां पूर्वमेवोपदिष्टा भार्या यैषा द्रौपदी दिव्यरूपा ॥ ३३ ॥
हे महाराज ! जो पहिले इन्द्र थे, वे इस प्रकारसे पाण्डवोंके रूपमें अवतीर्ण हुए हैं । और जिस दिव्यरूपिणी स्वर्गकी लक्ष्मीकी बात कही गयी है, वही यह द्रौपदी है । यह पहिले ही निश्चय हुआ है, कि यह इन सबोंकी पत्नी बनेगी ॥ ३३ ॥

कथं हि स्त्री कर्मणोऽन्ते महीतलात्समुत्तिष्ठेदन्यतो दैवयोगात् ।
यस्या रूपं सोमसूर्यप्रकाशं गन्धश्चाग्र्यः क्रोशमात्रात्प्रवाति ॥ ३४ ॥
जिसका रूप चन्द्रमा और सूर्यकी भांति है और जिसकी सुगन्ध कोसभरतक पहुंचती है, वह स्त्री दैवसंयोगके बिना यज्ञ कार्यके आखिरमें धरतीसे कैसे उत्पन्न हो सकती है ? ॥३४॥

इदं चान्यत्प्रीतिपूर्वं नरेन्द्र ददामि ते वरमत्यद्भुतं च।
दिव्यं चक्षुः पश्य कुन्तीसुतांस्त्वं पुण्यैर्दिव्यैः पूर्वदेहैरुपेतान् ॥ ३५ ॥

हे नरनाथ! मैं प्रीतिपूर्वक तुमको अति आश्चर्ययुक्त दिव्य नेत्रोंका वर देता हूं, उससे तुम कुन्तीपुत्रोंको दिव्य और पवित्र पहिलेकी देहमें देखो ॥ ३५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो व्यासः परमोदारकर्मा शुचिर्विप्रस्तपसा तस्य राज्ञः।
चक्षुर्दिव्यं प्रददौ तान्स सर्वान्राजापश्यत्पूर्वदेहैर्यथावत् ॥ ३६ ॥

वैशम्पायन बोले– तब परम उदार कर्म करनेवाले पवित्र विप्रवर व्यासके तपोबलसे उस राजाको दिव्यनेत्र देने पर राजाने सब पाण्डवोंको यथावत् पूर्वदेहमें देखा ॥ ३६ ॥

ततो दिव्यान्हेमकिरीटमालिनः शुक्रप्रख्यान्पावकादित्यवर्णान्।
बद्धापीडांश्चारुरूपांश्च यूनो व्यूढोरस्कांस्तालमात्रान्ददर्श ॥ ३७ ॥

उनको सुवर्ण किरीटधारी, माला पहिने, अग्नि और सूर्यके समान उज्ज्वलवर्ण, उपयुक्त अलंकारोंसे मनोहर, तरुण, विशाल छातीवाले, तालवृक्षके समान ऊंचे देखा ॥ ३७ ॥

दिव्यैर्वस्त्रैररजोभिः सुवर्णैर्माल्यैश्चाग्र्यैः शोभमानानतीव।
साक्षात्त्र्यक्षान्वसवो वाथ दिव्यानादित्यान्वा सर्वगुणोपपन्नान्।
तान्पूर्वेन्द्रानेवमीक्ष्याभिरूपान्प्रीतो राजा द्रुपदो विस्मितश्च ॥ ३८ ॥

सब गुणयुक्त, निर्मल दिव्य वस्त्र पहिने और अच्छी मालासे सजे पहिलेके इन्द्रोंकी भांति उन पाण्डवोंको साक्षात् त्रिलोचन वा वसुगण, रुद्रगण अथवा आदित्यगणके समान देखा। उन रूपवान् पूर्व इन्द्रोंको देखकर राजा द्रुपद अतीव आश्चर्यान्वित और प्रसन्न हुए ॥ ३८ ॥

दिव्यां मायां तामवाप्याप्रमेयां तां चैवाग्र्यां श्रियमिव रूपिणीं च।
योग्यां तेषां रूपतेजोयशोभिः पत्नीमृद्धां दृष्टवान्पार्थिवेन्द्रः ॥ ३९ ॥

तब उस अप्रमेय दिव्य मायाको तथा लक्ष्मीके सदृश परम रूपवती, श्रेष्ठतमा उस स्वर्ग-कन्याको उसके रूप, तेज और यशके द्वारा उन पाण्डवोंकी भार्या होनेके योग्य समझा ॥ ३९ ॥

स तद्दृष्ट्वा महदाश्चर्यरूपं जग्राह पादौ सत्यवत्याः सुतस्य।
नैतच्चित्रं परमर्षे त्वयीति प्रसन्नचेताः स उवाच चैनम् ॥ ४० ॥

राजा द्रुपद उस अति आश्चर्यमयी लीलाको देखकर सत्यवतीके पुत्र द्वैपायनके पांव छूकर बोले –हे परमर्षे! मुझको दिव्य नेत्र देकर इन सब आश्चर्य रूपोंका दिखाना आपके लिये कोई बडी बात नहीं है। अनन्तर द्वैपायन प्रसन्नचित्तसे फिर इस राजासे बोले ॥ ४० ॥

व्यास उवाच

आसीत्तपोवने काचिदृषेः कन्या महात्मनः ।
नाध्यगच्छत्पतिं सा तु कन्या रूपवती सती ॥ ४१ ॥

एक तपोवनमें किसी महात्मा ऋषिकी एक कन्या थी; वह कन्या रूपवती और सती होने पर भी पति पा नहीं सकी ॥ ४१ ॥

तोषयामास तपसा सा किलोग्रेण शङ्करम् ।
तामुवाचेश्वरः प्रीतो वृणु काममिति स्वयम् ॥ ४२ ॥

अतः कठोर तप करके उसने शङ्करको प्रसन्न किया । स्वयं वरदाता देवोंके ईश्वर प्रसन्न होकर बोले– अपना मनमाना वर मांगो ॥ ४२ ॥

सैवमुक्ताब्रवीत्कन्या देवं वरदमीश्वरम् ।
पतिं सर्वगुणोपेतमिच्छामीति पुनः पुनः ॥ ४३ ॥

कन्या वह सुनकर वरदाता ईश्वरसे बार बार बोली– मैं सर्वगुणशील पति चाहती हूं ॥ ४३ ॥

ददौ तस्यै स देवेशस्तं वरं प्रीतिमांस्तदा ।
पञ्च ते पतयः भद्रे भविष्यन्तीति शंकरः ॥ ४४ ॥

देवेश शंकरने प्रसन्नमनसे यह कहके वर दिया– भद्रे ! तुम्हारे पांच पति होंगे ॥ ४४ ॥

सा प्रसादयती देवमिदं भूयोऽभ्यभाषत ।
एकं पतिं गुणोपेतं त्वत्तोऽर्हामीति वै तदा ।
तां देवदेवः प्रीतात्मा पुनः प्राह शुभं वचः ॥ ४५ ॥

शिवको प्रसन्न करती हुई वह बाला वरदाता देवसे फिर बोली– मैं आपसे गुणवान् एक ही पतिकी प्रार्थना करती हूं । प्रसन्नात्मा देवोंके देव भगवान् शंकरने उससे फिर यह शुभ वचन कहा ॥ ४५ ॥

पञ्चकृत्वस्त्वया उक्तः पतिं देहीत्यहं पुनः ।
तत्तथा भविता भद्रे तव तद्भद्रमस्तु ते ।
देहमन्यं गतायास्ते यथोक्तं तद्भविष्यति ॥ ४६ ॥

भद्रे ! तुमने पति दो, यह कहकर मुझसे पांच बार प्रार्थना की है, अतः तुम्हारे पांच पति होंगे, तुम्हारा मंगल होवे, दूसरे शरीरमें जानेपर तुम्हारे पांच पति होंगे ॥ ४६ ॥

द्रुपदैषा हि सा जज्ञे सुता ते देवरूपिणी ।
पञ्चानां विहिता पत्नी कृष्णा पार्षत्यनिन्दिता ॥ ४७ ॥

हे द्रुपद ! वह देवीरूपिणी तुम्हारी पुत्रीके रूपमें पैदा हुई है, अनिन्दिता वह तुम्हारी कन्या पांच मनुष्योंकी पत्नी होनेके लिये निश्चित की गयी है ॥ ४७ ॥

स्वर्गश्रीः पाण्डवार्थाय समुत्पन्ना महामखे ।
सेह तप्त्वा तपो घोरं दुहितृत्वं तवागता ॥ ४८ ॥

स्वर्गकी श्री यह बाला कठोर तप करके पाण्डवोंके लिये महायज्ञसे उपज कर तुम्हारी कन्या हुई है ॥ ४८ ॥

सैषा देवी रुचिरा देवजुष्टा पञ्चानामेका स्वकृतेन कर्मणा ।
सृष्टा स्वयं देवपत्नी स्वयंभुवा श्रुत्वा राजन्द्रुपदेष्टं कुरुष्व ॥ ४९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि एकोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८९ ॥
॥ समाप्तं द्रौपदीस्वयंवरपर्व ॥ ६१६४ ॥

देवोंसे सेवी जाती हुई सुन्दरी यह देवी स्वकृत कर्मसे अकेली पांच मनुष्योंकी स्त्री होगी, इस अभिप्रायसे इस देवोंकी पत्नीको विधाताने स्वयं रचा है । हे महाराज द्रुपद ! तुमने सब कथा सुन ली, अब जो चाहो सो करो ॥ ४९ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ नवासीवां अध्याय समाप्त ॥ १८९ ॥ द्रौपदीस्वयंवरपर्व समाप्त ॥ ६१६४ ॥

: १९० :

द्रुपद उवाच

अश्रुत्वैवं वचनं ते महर्षे मया पूर्वं यतितं कार्यमेतत् ।
न वै शक्यं विहितस्यापयातुं तदेवेदमुपपन्नं विधानम् ॥ १ ॥

द्रुपद बोले– महर्षे ! मैंने पहिले आपसे यह न सुने रहनेके कारण वैसा विधान करनेका प्रयत्न किया था, अब विशेष ज्ञात हुआ; देवताके द्वारा निश्चित किए हुए विषयकी कभी उपेक्षा नहीं की जा सकती है, अतएव पहिलेके निश्चित किए हुए विधानके अनुसार ही कर्तव्य निश्चय करना है ॥ १ ॥

दिष्टस्य ग्रन्थिरनिवर्तनीयः स्वकर्मणा विहितं नेह किंचित् ।
कृतं निमित्तं हि वरैकहेतोस्तदेवेदमुपपन्नं बहूनाम् ॥ २ ॥

भाग्यकी गांठ तोडी नहीं जा सकती; निजकर्मसे कुछ होता नहीं; एक वरकी प्राप्तिके लिये लक्ष्य रचा गया था, वही अब पांचके लिये हो गया ॥ २ ॥

तथैव कृष्णोक्तवती पुरस्तान्नैकान्पतीन्मे भगवान्ददातु ।
स चाप्येवं वरमित्यब्रवीत्तां देवो हि वेत्ता परमं यदत्र ॥ ३ ॥

इसी प्रकार कृष्णाने पहिले जन्ममें जिस प्रकार पांच बार कहा था, कि मुझको पतिका वर दें, उसी प्रकार भगवान्‌ने भी कहा था, कि तुमको पांच पति मिलेंगे; अतः इस बातकी भलाई बुराई वही जानते हैं ॥ ३ ॥

यदि वायं विहितः शंकरेण धर्मोऽधर्मो वा नात्र ममापराधः ।
गृह्णन्त्विमे विधिवत्पाणिमस्या यथोपजोषं विहितैषां हि कृष्णा ॥ ४ ॥

जब भगवान् शङ्करने ही ऐसा विधान बनाया है और इन्हींके लिये कृष्णा बनायी गयी है, तब यह चाहे धर्म हो वा अधर्म, मुझे कोई दोष नहीं लग सकता । यह लोग विधि-विधानसे सुखपूर्वक द्रौपदीसे विवाह करें ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततोऽब्रवीद्भगवान्धर्मराजमद्य पुण्याहमुत पाण्डवेय ।
अद्य पौष्यं योगमुपैति चन्द्रमाः पाणिं कृष्णायास्त्वं गृहाणाद्य पूर्वम् ॥५॥

वैशम्पायन बोले— तदनन्तर भगवान् महर्षि धर्मराजसे बोले— हे पाण्डुपुत्र ! आज शुभ दिन है, चन्द्रमा पुष्यनक्षत्रसे योग प्राप्त करेगा, अतः पहिले तुम आज द्रौपदीका हाथ पकडो ॥ ५ ॥

ततो राजा यज्ञसेनः सपुत्रो जन्यार्थमुक्तं बहु तत्तदग्र्यम् ।
समानयामास सुतां च कृष्णामाप्लाव्य रत्नैर्बहुभिर्विभूष्य ॥ ६ ॥

भगवान् द्वैपायनके ऐसा कहने पर पुत्रसहित राजा यज्ञसेन कन्याके विवाहका प्रबन्ध करने लगे । वह दानके लिये यथायोग्य अनेक अच्छी अच्छी सामग्री बटोरकर और द्रौपदीको भांति भांतिके रत्न अलंकारोंसे सजाकर लाये ॥ ६ ॥

ततः सर्वे सुहृदस्तत्र तस्य समाजग्मुः सचिवा मन्त्रिणश्च ।
द्रष्टुं विवाहं परमप्रतीता द्विजाश्च पौराश्च यथाप्रधानाः ॥ ७ ॥

तब राजाके मित्र और मन्त्री तथा ब्राह्मण और दूसरे पुरवासी सब विवाहको देखनेके लिये प्रसन्नचित्तसे अपनी अपनी प्रधानताके अनुसार आने लगे ॥ ७ ॥

तत्तस्य वेश्मार्थिजनोपशोभितं विकीर्णपद्मोत्पलभूषिताजिरम् ।
महार्हरत्नौघविचित्रमाबभौ दिवं यथा निर्मलतारकाचितम् ॥ ८ ॥

राजभवनका आंगन पद्म आदि जलसे उपजे हुए अनेक फूलोंकी बडी बडी मालासे सजा था; सम्मानित जनोंके शुभागमनसे उसकी अपूर्व शोभा थी। वह राजभवन भांति भांतिके मूल्यवान् रत्नोंसे ऐसी सुन्दर शोभा पाने लगा, कि जैसे आकाशमण्डल निर्मल नक्षत्रोंसे सुशोभित होता है ॥ ८ ॥

ततस्तु ते कौरवराजपुत्रा विभूषिताः कुण्डलिनो युवानः ।
महार्हवस्त्रा वरचन्दनोक्षिताः कृताभिषेकाः कृतमङ्गलक्रियाः ॥ ९ ॥

तब कुण्डलोंको पहने हुए मूल्यवान् वस्त्रोंसे युक्त, उत्तम चन्दन लगाये हुए, स्नान–अभिषेक किए हुए तथा मंगल क्रियाओंको किए हुए वे विभूषित, तरुण कौरवराजके पुत्र पाण्डव ॥ ९ ॥

पुरोहितेनाग्निसमानवर्चसा सहैव धौम्येन यथाविधि प्रभो।
क्रमेण सर्वे विविशुश्च तत्सदो महर्षभा गोष्ठमिवाभिनन्दिनः ॥१०॥

अग्निके समान वर्चस्वी अपने पुरोहित धौम्यऋषिके साथ, हे प्रभो! क्रमसे विधिपूर्वक उस भवनमें इस प्रकार प्रविष्ट हुए, जिस प्रकार प्रशंसनीय वृषभ गौशालामें प्रविष्ट होते हैं ॥१०॥

ततः समाधाय स वेदपारगो जुहाव मन्त्रैर्ज्वलितं हुताशनम्।
युधिष्ठिरं चाप्युपनीय मन्त्रविन्नियोजयामास सहैव कृष्णया ॥ ११ ॥

तदनन्तर मन्त्रके जानकार वेदज्ञ धौम्यने अग्निकी स्थापना कर जलती हुई आगमें यथा-विधि मन्त्र पढकर आहुति चढाई और युधिष्ठिरको लाकर उस मन्त्रज्ञने द्रौपदीसे संयुक्त कर दिया ॥ ११ ॥

प्रदक्षिणं तौ प्रगृहीतपाणी समानयामास स वेदपारगः।
ततोऽभ्यनुज्ञाय तमाजिशोभिनं पुरोहितो राजगृहाद्विनिर्ययौ ॥ १२ ॥

इसके बाद उन वेदज्ञने एक दूसरेके हाथ पकडे हुए उन दोनोंको अग्निके चारों ओर घुमाया तथा पुरोहित उनकी विवाह–क्रिया पूरी कर युद्धमें पण्डित युधिष्ठिरकी आज्ञा लेकर राज-भवनसे चले गए ॥ १२ ॥

क्रमेण चानेन नराधिपात्मजा वरस्त्रियास्ते जगृहुस्तदा करम्।
अहन्यहन्युत्तमरूपधारिणो महारथाः कौरववंशवर्धनाः ॥ १३ ॥

इस प्रकार महारथी कौरववंशके बढानेवाले राज–पुत्रगणने सबसे अच्छे अच्छे लिबास गहनोंसे सजकर क्रमसे एक एक दिनमें उस सुन्दरीका पाणिग्रहण किया ॥ १३ ॥

इदं च तत्राद्भुतरूपमुत्तमं जगाद विप्रर्षिरतीतमानुषम्।
महानुभावा किल सा सुमध्यमा बभूव कन्यैव गते गतेऽहनि ॥ १४ ॥

हे महाराज! महर्षि व्यासने इस विषयमें मुझको आश्चर्यसे युक्त एक अलौकिक कथा सुनाई थी; कि वह महाभाग्यशालिनी पतली कमरवाली सुन्दरी प्रतिदिन विवाह करके भी अगले दिन कन्या ही हो जाती थी ॥ १४ ॥

कृते विवाहे द्रुपदो धनं ददौ महारथेभ्यो बहुरूपमुत्तमम्।
शतं रथानां वरहेमभूषिणां चतुर्युजां हेमखलीनमालिनाम् ॥ १५ ॥

इस प्रकार विवाह हो जानेपर महानुभाव सौमिक राजा द्रुपदने महारथी पाण्डवोंको नांना प्रकारके उत्तम धन दिये। उन्होंने सुवर्णके आभूषणोंसे युक्त चार घोडोंके साथ सुवर्णसे सजे हुए सौ रथ ॥ १५ ॥

शतं गजानामभिपद्मिनां तथा शतं गिरीणामिव हेमशृङ्गिणाम् ।
तथैव दासीशतमग्र्ययौवनं महार्हवेषाभरणाम्बरस्रजम् ॥ १६ ॥

सुवर्णकी चोटीवाले पहाडके समान और बिन्दुजालसे सुशोभित सौ गज, नवयौवनसे मदमाती, मूल्यवान् वस्त्र, गहने और मालादिकोंसे बनीठनी सौ दासियां ॥ १६ ॥

पृथक्पृथक् चैव दशायुतान्वितं धनं ददौ सौमकिरग्निसाक्षिकम् ।
तथैव वस्त्राणि च भूषणानि प्रभावयुक्तानि महाधनानि ॥ १७ ॥

अनेक भांतिके मूल्यवान् गहने तथा उनमेंसे हरेकको अलग अलग एक एक लाख सुवर्ण मुद्रा तथा कपडे और अत्यन्त प्रभावयुक्त धन द्रुपदने अग्निके सामने उन्हें दिए ॥ १७ ॥

कृते विवाहे च ततः स्म पाण्डवाः प्रभूतरत्नामुपलभ्य तां श्रियम् ।
विजह्रुरिन्द्रप्रतिमा महाबलाः पुरे तु पाञ्चालनृपस्य तस्य ह ॥ १८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९० ॥ ६१८२ ॥

तदनन्तर विवाह हो जानेपर इन्द्रके समान महाबली पाण्डव बहुत रत्नके साथ उस रत्नरूपी स्त्रीको प्राप्त कर उस राजा पाञ्चालकी पुरीमें विहार करने लगे ॥ १८ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ नब्बेवां अध्याय समाप्त ॥ १९० ॥ ६१८२ ॥

: १९१ :

वैशम्पायन उवाच

पाण्डवैः सह संयोगं गतस्य द्रुपदस्य तु ।
न बभूव भयं किंचिद्देवेभ्योऽपि कथंचन ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– पाण्डवोंसे राजा द्रुपदकी मित्रता हो जानेपर उन्हें देवोंसे भी किसी प्रकारका कोई भय न रहा ॥ १ ॥

कुन्तीमासाद्य ता नार्यो द्रुपदस्य महात्मनः ।
नाम संकीर्तयन्त्यस्ताः पादौ जग्मुः स्वमूर्धभिः ॥ २ ॥

महात्मा द्रुपदकी स्त्रियोंने कुन्तीके पास आकर अपना अपना नाम कहकर उनके पांवपर सिर झुकाया ॥ २ ॥

कृष्णा च क्षौमसंवीता कृतकौतुकमङ्गला ।
कृताभिवादना श्वश्र्वास्तस्थौ प्रह्वा कृताञ्जलिः ॥ ३ ॥

मांगलिक सूत्रादि धारण किए रेशमी वस्त्र पहिने हुई द्रौपदी सासको प्रणाम कर दोनों हाथ जोडकर विनम्रतासे खडी हो गई ॥ ३ ॥

रूपलक्षणसंपन्नां शीलाचारसमन्विताम् ।
द्रौपदीमवदत्प्रेम्णा पृथाशीर्वचनं स्नुषाम् ॥ ४ ॥

कुन्तीने रूपलक्षणोंसे सजी हुई, सुशीला, शुभ आचारवाली, पुत्रवधू द्रौपदीको प्यारसे यह अशीस दिया ॥ ४ ॥

यथेन्द्राणी हरिहये स्वाहा चैव विभावसौ ।
रोहिणी च यथा सोमे दमयन्ती यथा नले ॥ ५ ॥

हे कल्याणि ! जिस प्रकार इन्द्राणी महेन्द्रकी, स्वाहा विभावसुकी, रोहिणी चन्द्रमाकी, दमयन्ती नलकी ॥ ५ ॥

यथा वैश्रवणे भद्रा वसिष्ठे चाप्यरुन्धती ।
यथा नारायणे लक्ष्मीस्तथा त्वं भव भर्तृषु ॥ ६ ॥

भद्रा कुबेरकी, अरुन्धती वसिष्ठकी और लक्ष्मी नारायणकी प्यारी है, वैसे ही तुम पतियोंकी प्यारी बनो ॥ ६ ॥

जीवसूर्वीरसूर्भद्रे बहुसौख्यसमन्विता ।
सुभगा भोगसंपन्ना यज्ञपत्नी स्वनुव्रता ॥ ७ ॥

हे भद्रे ! तुम दीर्घजीवनवाले वीरपुत्र प्रसव करो; बहुत सुख भोग कर सौभाग्य प्राप्त कर यश भोग करो, पतियोंकी अनुव्रता हो, यज्ञमें दीक्षित पतियोंकी सदा साथी बनी रहो ॥७॥

अतिथीनागतान्साधून्बालान्वृद्धान्गुरूंस्तथा ।
पूजयन्त्या यथान्यायं शश्वद्गच्छन्तु ते समाः ॥ ८ ॥

आए हुए अतिथि, बाल, वृद्ध और गुरुओंकी सदा विधिपूर्वक सेवा करते हुए तुम्हारा काल बीते ॥ ८ ॥

कुरुजाङ्गलमुख्येषु राष्ट्रेषु नगरेषु च ।
अनु त्वमभिषिच्यस्व नृपतिं धर्मवत्सलम् ॥ ९ ॥

तुम कुरुजाङ्गलके राज्य और नगरमें धर्मसे प्यार करनेवाले राजाके साथ गद्दी पर बैठो ॥ ९ ॥

पतिभिर्निर्जितामुर्वीं विक्रमेण महाबलैः ।
कुरु ब्राह्मणसात्सर्वामश्वमेधे महाक्रतौ ॥ १० ॥

अतः महाबली पतियोंके पराक्रमसे जीती गई इस पृथ्वीको अश्वमेध महायज्ञमें तुम ब्राह्मणोंको सौंप दो ॥ १० ॥

पृथिव्यां यानि रत्नानि गुणवन्ति गुणान्विते ।
तान्याप्नुहि त्वं कल्याणि सुखिनी शरदां शतम् ॥ ११ ॥

हे गुणशीले ! पृथ्वीभरमें जो सब गुणयुक्त रत्न हैं, हे कल्याणि ! उन्हें तुम प्राप्त करो और परमसुखसे सौ वर्षतक जीवित रहो ॥ ११ ॥

यथा च त्वाभिनन्दामि वध्वद्य क्षौमसंवृताम् ।
तथा भूयोऽभिनन्दिष्ये सूतपुत्रां गुणान्विताम् ॥ १२ ॥

हे गुणवती वधू ! आज तुमको रेशमी वस्त्र पहिने देखकर जैसा आनन्द प्रकट करती हूं, तुम्हारे पुत्र होने पर फिर गुणोंसे युक्त तुम्हारा अभिनन्दन करूंगी ॥ १२ ॥

ततस्तु कृतदारेभ्यः पाण्डुभ्यः प्राहिणोद्धरिः ।
मुक्तावैडूर्यचित्राणि हैमान्याभरणानि च ॥ १३ ॥

तदनन्तर श्रीकृष्णने विवाह किए हुए पाण्डवोंके लिये मोती और वैडूर्यमणिसे चित्रित सुवर्ण अलङ्कार भेजे ॥ १३ ॥

वासांसि च महार्हाणि नानादेश्यानि माधवः ।
कम्बलाजिनरत्नानि स्पर्शवन्ति शुभानि च ॥ १४ ॥

उसी प्रकार नाना देशोंके दुर्लभ वस्त्र, सुन्दर कोमल अच्छे अच्छे कम्बल तथा मृगछाल माधवने भेजे ॥ १४ ॥

शयनासनयानानि विविधानि महान्ति च ।
वैडूर्यवज्रचित्राणि शतशो भाजनानि च ॥ १५ ॥

भांति भांतिकी अच्छेसे अच्छे सेज, आसन और यान, वैडूर्यसे झलकते और हीरेसे खचित सैंकडों बर्तन ॥ १५ ॥

रूपयौवनदाक्षिण्यैरुपेताश्च स्वलंकृताः ।
प्रेष्याः संप्रददौ कृष्णो नानादेश्याः सहस्रशः ॥ १६ ॥

रूप, यौवन, कुशलतासे युक्त, सजी सजायीं अनेक देशकी हजारों दासियां कृष्णने दीं ॥ १६ ॥

गजान्विनीतान्भद्रांश्च सदश्वांश्च स्वलंकृतान् ।
रथांश्च दान्तान्सौवर्णैः शुभ्रैः पट्टैरलंकृतान् ॥ १७ ॥

भली प्रकार सिखाये पढाये सुन्दर लक्षणवाले हाथी, गहनोंसे सजे हुए अच्छे अच्छे घोडे, सुन्दर वर्ण ऊंचे ऊंचे अच्छे और कुशल घोडोंसे जुते हुए रथ ॥ १७ ॥

कोटिशश्च सुवर्णं स तेषामकृतकं तथा ।
वीतीकृतमसेयात्मा प्राहिणोन्मधुसूदनः ॥ १८ ॥

और खानसे निकला हुआ शुद्ध सुवर्ण, ये सब वस्तुएं बहुत अधिक और करोडों सुवर्णके टुकडे आत्मवान् मधुसूदनने भेजे ॥ १८ ॥

तत्सर्वं प्रतिजग्राह धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
मुदा परमया युक्तो गोविन्दप्रियकाम्यया ॥ १९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१९१॥ समाप्तं वैवाहिकपर्व ॥६२०१॥

धर्मराज युधिष्ठिरने गोविन्दका प्रिय करनेके लिये परम प्रसन्नचित्तसे वह सब सामग्री ले ली ॥ १९ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ इक्यानवेवां अध्याय समाप्त ॥१९१॥ वैवाहिकपर्व समाप्त ॥६२०१॥

: १९२ :

वैशम्पायन उवाच

ततो राज्ञां चरैराप्तैश्चारः समुपनीयत ।
पाण्डवैरुपसंपन्ना द्रौपदी पतिभिः शुभा ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– इसके बाद भूपालोंको अपने अपने दूतोंसे इस बातका पता लग गया कि अच्छे लक्षणवाली द्रौपदी पाण्डवोंको पतिके रूपमें पा गयी है ॥ १ ॥

येन तद्धनुरायम्य लक्ष्यं विद्धं महात्मना ।
सोऽर्जुनो जयतां श्रेष्ठो महाबाणधनुर्धरः ॥ २ ॥

जिन महात्माने धनुषको नवाकर लक्ष्यको विद्ध किया था, वही महा धनुषबाणधारी जयशीलोंमें श्रेष्ठ अर्जुन हैं ॥ २ ॥

यः शल्यं मद्रराजानमुत्क्षिप्याभ्रामयद्बली ।
त्रासयंश्चापि संक्रुद्धो वृक्षेण पुरुषान्रणे ॥ ३ ॥

और जिन बली पुरुषने मद्रनाथ शल्यको उठाकर चारों ओर घुमाया था, जिन्होंने क्रोधके मारे युद्धस्थलमें खडे होकर वृक्षसे सबोंको डराया था ॥ ३ ॥

न चापि संभ्रमः कश्चिदासीत्तत्र महात्मनः ।
स भीमो भीमसंस्पर्शः शत्रुसेनाङ्गपातनः ॥ ४ ॥

उस कालमें जिन महात्माके मनमें किसी प्रकारका भी भय दीख नहीं पडता था, जिनका स्पर्श भी शत्रुओंको भयानक जान पडा था, वही शत्रुसेनाके अंगोंको काट गिरानेवाले भीमसेन हैं ॥ ४ ॥

ब्रह्मरूपधरान्श्रुत्वा पाण्डुराजसुतांस्तदा ।
कौन्तेयान्मनुजेन्द्राणां विस्मयः समजायत ॥ ५ ॥

हे महाराज ! ब्राह्मणोंका रूप धारण किए हुए कुन्तीपुत्र पाण्डवोंकी बात सुनकर वे राजा अचंभेमें पड गये ॥ ५ ॥

सपुत्रा हि पुरा कुन्ती दग्धा जतुगृहे श्रुता ।
पुनर्जातानिति स्मैतान्मन्यन्ते सर्वपार्थिवाः ॥ ६ ॥

उन्होंने सुना था कि पहले अपने पुत्रोंसहित कुन्ती जल मरी थी, अतः राजाओंने समझा कि पाण्डव फिर नया जन्म लेकर आये हैं ॥ ६ ॥

धिक्कुर्वन्तस्तदा भीष्मं धृतराष्ट्रं च कौरवम् ।
कर्मणा सुनृशंसेन पुरोचनकृतेन वै ॥ ७ ॥

तब वे पुरोचनका किया बडा निष्ठुर कर्मका स्मरण कर कौरव धृतराष्ट्र और भीष्मको धिक्कारने लगे ॥ ७ ॥

वृत्ते स्वयंवरे चैव राजानः सर्व एव ते ।
यथागतं विप्रजग्मुर्विदित्वा पाण्डवान्वृतान् ॥ ८ ॥

तदनन्तर स्वयंवरका कार्य पूरा होनेपर द्रौपदीके द्वारा पाण्डवोंसे वरे जानेकी बात सुनकर वे सब भूपाल अपनी अपनी राजधानीको चले गए ॥ ८ ॥

अथ दुर्योधनो राजा विमना भ्रातृभिः सह ।
अश्वत्थाम्ना मातुलेन कर्णेन च कृपेण च ॥ ९ ॥

राजा दुर्योधन (यह जानकर कि द्रौपदीने अर्जुनसे विवाह किया है) अश्वत्थामा, शकुनि, कर्ण, कृप और भाईयोंके साथ उदास लौटे ॥ ९ ॥

विनिवृत्तो वृतं दृष्ट्वा द्रौपद्या श्वेतवाहनम् ।
तं तु दुःशासनो व्रीडन्मन्दं मन्दमिवाब्रवीत् ॥ १० ॥

द्रौपदीके द्वारा अर्जुनको पतिरूपमें वरा हुआ देखकर लौटते हुए दुःशासन लज्जित मुखसे मन्द मन्द वचनोंमें उनसे बोला ॥ १० ॥

यद्यसौ ब्राह्मणो न स्याद्विन्देत द्रौपदीं न सः ।
न हि तं तत्त्वतो राजन्वेद कश्चिद्धनञ्जयम् ॥ ११ ॥

महाराज ! धनञ्जय यदि ब्राह्मणके वेशमें न होता, तो कभी द्रौपदीको प्राप्त नहीं कर सकता था; लोग उसको वास्तवमें नहीं समझ सके थे ॥ ११ ॥

दैवं तु परमं मन्ये पौरुषं तु निरर्थकम्।
धिगस्मत्पौरुषं तात यद्धरन्तीह पाण्डवाः ॥ १२ ॥

हे तात! पाण्डवोंको नष्ट करनेके लिए हमारे बडे प्रयत्न करने पर भी वे जीते जागते हैं, अतएव हमारी पुरुषताको धिक्कार है; अतः मैं यह मानता हूँ कि दैव परम साधन है और पुरुषार्थ निरर्थक है ॥ १२ ॥

एवं संभाषमाणास्ते निन्दन्तश्च पुरोचनम्।
विविशुर्हास्तिनपुरं दीना विगतचेतसः ॥ १३ ॥

दुःशासन आदि सब ऐसी बातें करते और पुरोचनकी निन्दा करते हुए दीन और दुःखी चित्तसे हस्तिनापुरमें आ पहुंचे ॥ १३ ॥

त्रस्ता विगतसंकल्पा दृष्ट्वा पार्थान्महौजसः।
मुक्तान्हव्यवहाच्चैनान्संयुक्तान्द्रुपदेन च ॥ १४ ॥

और अत्यन्त तेजस्वी पाण्डवोंको अति बलवान् अग्निसे बचे और द्रुपदसे मिले हुए देखकर वे संकल्पहीन होकर भयभीत हो गए ॥ १४ ॥

धृष्टद्युम्नं तु संचिन्त्य तथैव च शिखण्डिनम्।
द्रुपदस्यात्मजांश्चान्यान्सर्वयुद्धविशारदान् ॥ १५ ॥

तथा धृष्टद्युम्न, शिखण्डी तथा सर्व प्रकारसे युद्धमें दक्ष द्रुपदके दूसरे पुत्रोंको स्मरण कर भयभीत हो गए ॥ १५ ॥

विदुरस्त्वथ ताञ्श्रुत्वा द्रौपद्या पाण्डवान्वृतान्।
व्रीडितान्धार्तराष्ट्रांश्च भग्नदर्पानुपागतान् ॥ १६ ॥
ततः प्रीतमनाः क्षत्ता धृतराष्ट्रं विशां पते।
उवाच दिष्ट्या कुरवो वर्धन्त इति विस्मितः ॥ १७ ॥

हे मनुष्यनाथ! यह सुनकर कि पाण्डवोंने द्रौपदीको प्राप्त किया और धृतराष्ट्रके पुत्रगण लज्जित और टूटे अहंकारके साथ लौटे हैं, विदुर प्रसन्नमनसे धृतराष्ट्रसे बोले– हमारे सौभाग्यसे कौरवगण बढ रहे हैं ॥ १६-१७ ॥

वैचित्रवीर्यस्तु नृपो निशम्य विदुरस्य तत्।
अब्रवीत्परमप्रीतो दिष्ट्या दिष्ट्येति भारत ॥ १८ ॥

राजा विचित्रवीर्यके पुत्र धृतराष्ट्र विदुरका यह वचन सुन करके आश्चर्यान्वित होकर बडी प्रसन्नतासे कहने लगे, कि हमारा कैसा सौभाग्य है! कैसा सौभाग्य है ॥ १८ ॥

मन्यते हि वृतं पुत्रं ज्येष्ठं द्रुपदकन्यया।
दुर्योधनमविज्ञानात्प्रज्ञाचक्षुर्नरेश्वरः ॥ १९ ॥
हे भारत! प्रज्ञानेत्र भूपालने अज्ञानसे समझा, कि द्रुपदपुत्रीने उनके ज्येष्ठपुत्र दुर्योधनसे विवाह कर लिया है ॥ १९ ॥

अथ त्वाज्ञापयामास द्रौपद्या भूषणं बहु।
आनीयतां वै कृष्णेति पुत्रं दुर्योधनं तदा ॥ २० ॥
अतएव उन्होंने उसी क्षण पुत्रवधू द्रौपदीको भांति भांतिके गहने पहन कर उसे लिवा लानेके लिये पुत्र दुर्योधनको आज्ञा की ॥ २० ॥

अथास्य पश्चाद्विदुर आचख्यौ पाण्डवान्वृतान्।
सर्वान्कुशलिनो वीरान्पूजितान्द्रुपदेन च।
तेषां संबन्धिनश्चान्यान्बहून्बलसमन्वितान् ॥ २१ ॥
तब विदुरने उनसे कहा– सब पाण्डव कुशलसे हैं, द्रौपदीने उन्हीं वीरोंसे विवाह किया है, द्रुपदने उनका बडा सन्मान किया है और उनके सम्बन्धी, बन्धु आदि दूसरे बहुतसे बलवान् उनसे जा मिले हैं ॥ २१ ॥

धृतराष्ट्र उवाच
यथैव पाण्डोः पुत्रास्ते तथैवाभ्यधिका मम।
सेयमभ्यधिका प्रीतिर्वृद्धिर्विदुर मे मता
यत्ते कुशलिनो वीरा मित्रवन्तश्च पाण्डवाः ॥ २२ ॥
धृतराष्ट्र बोले– हे क्षत्त! वे पाण्डव जिस प्रकार पाण्डुके स्नेहपात्र हैं, उससे भी अधिक मेरे स्नेहके पात्र हैं। इससे उन पर मेरी और भी प्रीति हो रही है, वे वीरपुरुष कुशलसे बच कर मित्रोंसे मिल गए हैं ॥ २२ ॥

को हि द्रुपदमासाद्य मित्रं क्षत्तः सबान्धवम्।
न बुभूषेद्भवेनार्थी गतश्रीरपि पार्थिवः ॥ २३ ॥
विशेष कर ऐसा कौन राजा होगा कि जो श्री रहित होकर भी बन्धुसहित राजा द्रुपदको मित्र पाकर ऐश्वर्ययुक्त होनेकी इच्छा नहीं करेगा? ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच
तं तथा भाषमाणं तु विदुरः प्रत्यभाषत।
नित्यं भवतु ते बुद्धिरेषा राजञ्शतं समाः ॥ २४ ॥
वैशम्पायन बोले– भूपालकी यह बात सुनकर विदुरने उत्तर दिया– महाराज! आपकी सैंकडों वर्षोंतक सदा ऐसी ही बुद्धि बनी रहे ॥ २४ ॥

ततो दुर्योधनश्चैव राधेयश्च विशां पते ।
धृतराष्ट्रमुपागम्य वचोऽब्रूतामिदं तदा ॥ २५ ॥

हे नरनाथ ! तदनन्तर दुर्योधन और राधापुत्र कर्ण धृतराष्ट्रके निकट आकर यह बात बोले ॥ २५ ॥

संनिधौ विदुरस्य त्वां वक्तुं नृप न शक्नुवः ।
विविक्तमिति वक्ष्यावः किं तवेदं चिकीर्षितम् ॥ २६ ॥

हम विदुरके सामने आपसे कुछ कह नहीं सके । अब एकान्त पाकर आपको बताते हैं कि आपका क्या कर्तव्य है, अतः उसे सुनिए ॥ २६ ॥

सपत्नवृद्धिं यत्तात मन्यसे वृद्धिमात्मनः ।
अभिष्टौषि च यत्क्षत्तुः समीपे द्विपदां वर ॥ २७ ॥

हे पिता ! आप शत्रुओंकी बढतीको अपनी बढती समझ रहे हैं ? हे नरवर ! आप विदुरसे विपक्षियोंकी प्रशंसा करते हैं ॥ २७ ॥

अन्यस्मिन्नृप कर्तव्ये त्वमन्यत्कुरुषेऽनघ ।
तेषां बलविघातो हि कर्तव्यस्तात नित्यशः ॥ २८ ॥

हे अनघ ! जहां जैसा काम करना चाहिये, आप उसका उलटा करते हैं ! हे पिता ! अब सदा ऐसी यह चेष्टा करनी चाहिये, कि उनका बल घटे ॥ २८ ॥

ते वयं प्राप्तकालस्य चिकीर्षां मन्त्रयामहे ।
यथा नो न ग्रसेयुस्ते सपुत्रबलबान्धवान् ॥ २९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९२ ॥ ६२३० ॥

हालमें जैसा समय आ पडा है, अब उसके अनुसार हमें ऐसी युक्ति सोचनी चाहिये, कि वे लोग हमको और हमारे पुत्र, बन्धु तथा सेनाओंको नष्ट न कर सकें ॥ २९ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ बयानवेवां अध्याय समाप्त ॥ १९२ ॥ ६२३० ॥

: १९३ :

धृतराष्ट्र उवाच

अहमप्येवमेवैतच्चिन्तयामि यथा युवाम् ।
विवेक्तुं नाहमिच्छामि त्वाकारं विदुरं प्रति ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले– तुम्हारी जैसी इच्छा है, मैं भी वही सोचता हूं; पर विदुरसे कोई अभिप्राय प्रगट नहीं करना चाहता ॥ १ ॥

अतस्तेषां गुणानेव कीर्तयामि विशेषतः ।
नावबुध्येत विदुरो ममाभिप्रायमिङ्गितैः ॥ २ ॥

इसलिये विदुर इशारेसे भी मेरा अभिप्राय समझ न पावे इसीलिए मैं पाण्डवोंके गुणोंका कीर्तन करता हूँ ॥ २ ॥

यच्च त्वं मन्यसे प्राप्तं तद्ब्रूहि त्वं सुयोधन ।
राधेय मन्यसे त्वं च यत्प्राप्तं तद्ब्रवीहि मे ॥ ३ ॥

हे सुयोधन ! अब जो करना उचित समझो; और, हे राधानन्दन ! तुमने भी जैसा समझा है, वह सब कहनेका अब समय है, अतः कहो ॥ ३ ॥

दुर्योधन उवाच

अद्य तान्कुशलैर्विप्रैः सुकृतैराप्तकारिभिः ।
कुन्तीपुत्रान्भेदयामो माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ ४ ॥

दुर्योधन बोले– अब हमारे विश्वासी और ब्राह्मणगण बहुत छिप करके जायें और कुन्तीपुत्र और माद्रीपुत्रोंमें आपसमें वैमनस्यता पैदा कर दें ॥ ४ ॥

अथवा द्रुपदो राजा महद्भिर्वित्तसंचयैः ।
पुत्राश्चास्य प्रलोभ्यन्ताममात्याश्चैव सर्वशः ॥ ५ ॥

अथवा राजा द्रुपद और उनके पुत्र तथा सम्पूर्ण मन्त्रियोंको बहुत धन देकर लालच दिलायी जाय और कहा जाए ॥ ५ ॥

परित्यजध्वं राजानं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
अथ तत्रैव वा तेषां निवासं रोचयन्तु ते ॥ ६ ॥

तुम कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको त्याग दो अथवा उन पाण्डवोंका निवास वे पांचालराजके यहां ही करवा दें ॥ ६ ॥

इहैषां दोषवद्वासं वर्णयन्तु पृथक्पृथक् ।
ते भिद्यमानास्तत्रैव मनः कुर्वन्तु पाण्डवाः ॥ ७ ॥

अथवा हमारे भेजे हुए लोग हरेक अलग अलग पाण्डवोंके इस स्थानमें रहनेका दोष बतावें। ऐसा करनेसे ही वे हमसे दूर होकर वहीं रहनेकी इच्छा करेंगे ॥ ७ ॥

अथवा कुशलाः केचिदुपायनिपुणा नराः ।
इतरेतरतः पार्थान्भेदयन्त्वनुरागतः ॥ ८ ॥

अथवा कुछ उपायोंके जानकार दक्ष जन ऐसा करें कि पाण्डवोंमें विगाड हो और उनमें आपसमें प्रेम न रहे ॥ ८ ॥

व्युत्थापयन्तु वा कृष्णां बहुत्वात्सुकरं हि तत्।
अथवा पाण्डवांस्तस्यां भेदयन्तु ततश्च ताम् ॥ ९ ॥

अथवा कृष्णा द्रौपदीको ही ऐसा उभाडें कि, उसका पतियोंसे मन टल जाय। उसके बहुत पति हैं, अतः यह करना कठिन नहीं होगा। अथवा ऐसा करें कि पाण्डवोंका द्रौपदी पर प्रेम न रहे; ऐसा होनेसे द्रौपदी उन पर चिढ जायगी ॥ ९ ॥

भीमसेनस्य वा राजन्नुपायकुशलैर्नरैः।
मृत्युर्विधीयतां छन्नैः स हि तेषां बलाधिकः ॥ १० ॥

अथवा अच्छे उपाय निकालनेवाले वहां जाकर छिपकर ऐसा कोई उपाय करें, कि भीमकी मृत्यु हो, क्योंकि उनमें भीम ही बडा बली है ॥ १० ॥

तस्मिंस्तु निहते राजन्हतोत्साहा हतौजसः।
यतिष्यन्ते न राज्याय स हि तेषां व्यपाश्रयः ॥ ११ ॥

हे महाराज! उस भीमके मारे जाने पर वे तेज और उत्साहसे रहित होकर फिर राज्य पानेका प्रयत्न नहीं करेंगे क्योंकि वही उनका आश्रय है ॥ ११ ॥

अजेयो ह्यर्जुनः सङ्ख्ये पृष्ठगोपे वृकोदरे।
तमृते फल्गुनो युद्धे राधेयस्य न पादभाक् ॥ १२ ॥

युद्धस्थलमें वृकोदरके पृष्ठरक्षक होने पर अर्जुन पर कोई भी जय नहीं पा सकता; युद्धस्थलमें वृकोदरके न रहनेसे अर्जुन कर्णका चौथा अंश भी नहीं हो सकता ॥ १२ ॥

ते जानमाना दौर्बल्यं भीमसेनमृते महत्।
अस्मान्बलवतो ज्ञात्वा नशिष्यन्त्यबलीयसः ॥ १३ ॥

भीमसेनके विना दुर्बल पाण्डव अपनेको बल-वर्जित और हमको अधिक बलवान् जानकर राज्य पानेका प्रयत्न नहीं करेंगे ॥ १३ ॥

इहागतेषु पार्थेषु निदेशवशवर्तिषु।
प्रवर्तिष्यामहे राजन्यथाश्रद्धं निबर्हणे ॥ १४ ॥

पर यदि वे यहां आकर हमारे अधीन और आज्ञानुसारी होवें, तो हम उनके साथ यथा-योग्य श्रद्धापूर्वक व्यवहार करेंगे ॥ १४ ॥

अथवा दर्शनीयाभिः प्रमदाभिर्विलोभ्यताम्।
एकैकस्तत्र कौन्तेयस्ततः कृष्णा विरज्यताम् ॥ १५ ॥

अथवा परम रूपवती युवतियोंसे उनमें एक एकको लुभाना चाहिये; ऐसा करनेसे द्रौपदीका प्रेम उन पर कम हो जायगा ॥ १५ ॥

प्रेष्यतां वापि राधेयस्तेषामागमनाय वै ।
ते लोप्त्रहारैः संधाय वध्यन्तामाप्तकारिभिः ॥ १६ ॥

अथवा उनको लिवा लानेके लिये राधानन्दन कर्णको भेजा जाये, उनके एकत्र मिलकर आनेसे पहिले ही उपायसे वे नष्ट किये जा सकेगे ॥ १६ ॥

एतेषामभ्युपायानां यस्ते निर्दोषवान्मतः ।
तस्य प्रयोगमातिष्ठ पुरा कालोऽतिवर्तते ॥ १७ ॥

हे पिता ! इन सब उपायोंमेंसे आपकी समझमें जो दोषरहित जान पडे, वही करें, काल बीत रहा है, अधिक विलम्ब करना उचित नहीं है ॥ १७ ॥

यावच्चाकृतविश्वासा द्रुपदे पार्थिवर्षभे ।
तावदेवाद्य ते शक्या न शक्यास्तु ततः परम् ॥ १८ ॥

जबतक पृथ्वीनाथ द्रुपद पर उसका विश्वास न जमे, उसके पहिले योग्य उपाय करना चाहिये; राजा द्रुपद पर उनका विश्वास हो जानेसे उन पर फिर कोई उपाय न चलेगा ॥ १८ ॥

एषा मम मतिस्तात निग्रहाय प्रवर्तते ।
साधु वा यदि वासाधु किं वा राधेय मन्यसे ॥ १९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९३ ॥ ६२४९ ॥

हे पिता ! उनको वशमें लानेके लिये मैंने यह उपाय निश्चित किये हैं । यह भले हैं वा बुरे, आप समझ लें । अथवा, कर्ण ! तुम क्या समझते हो ? ॥ १९ ॥

महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ तिरानवेवां अध्याय समाप्त ॥ १९३ ॥ ६२४९ ॥

: १९४ :

कर्ण उवाच

दुर्योधन तव प्रज्ञा न सम्यगिति मे मतिः ।
न ह्युपायेन ते शक्याः पाण्डवाः कुरुनन्दन ॥ १ ॥

कर्ण बोले– हे दुर्योधन ! मेरा विचार है कि तुमने जो सोचा है, वह ठीक नहीं है । हे कुरुनन्दन ! इसमेंसे किसी भी उपायसे पाण्डवोंको वशमें लाना संभव नहीं है ॥ १ ॥

पूर्वमेव हि ते सूक्ष्मैरुपायैर्यतितास्त्वया ।
निग्रहीतुं यदा वीर शकिता न तदा त्वया ॥ २ ॥

हे वीर ! तुमने पहिले भी सूक्ष्म उपायोंसे उनको वशमें लानेका प्रयत्न किया था, पर वे तुम्हारे द्वारा वशमें नहीं किए जा सके ॥ २ ॥

इहैव वर्तमानास्ते समीपे तव पार्थिव।
अजातपक्षाः शिशवः शकिता नैव बाधितुम् ॥ ३ ॥

हे राजन्! उस समय वे अल्प अवस्थावाले निःसहाय और तुम्हारे निकट थे, उस पर भी उनकी कोई हानि तुम नहीं कर सके ॥ ३ ॥

जातपक्षा विदेशस्था विवृद्धाः सर्वशोऽद्य ते।
नोपायसाध्याः कौन्तेया ममैषा मतिरच्युत ॥ ४ ॥

हे पुरुषार्थशील! अब वे दूसरे देशमें स्थित, सहायसहित और सब प्रकारसे बढ गये हैं, अतः मेरा यह विचार है, कि इस समय इन उपायोंसे उनकी कोई हानि नहीं की जा सकेगी ॥ ४ ॥

न च ते व्यसनैर्योक्तुं शक्या दिष्टकृता हि ते।
शङ्किताश्चेप्सवश्चैव पितृपैतामहं पदम् ॥ ५ ॥

और उनपर संकट लाना भी संभव नहीं है क्योंकि उनमें दैवीशक्ति भरी पडी है और वे बाप दादोंके राज्यको प्राप्त करना चाहते हैं ॥ ५ ॥

परस्परेण भेदश्च नाधातुं तेषु शक्यते।
एकस्यां ये रताः पत्न्यां न भिद्यन्ते परस्परम् ॥ ६ ॥

उन भाइयोंमें आपसका बिगाड करा देना भी शक्तिके बाहर है; क्योंकि जो पांचों भाई एक स्त्रीपर प्रेम करते हैं, उनमें कभी आपसमें फूट पडना सम्भव नहीं है ॥ ६ ॥

न चापि कृष्णा शक्येत तेभ्यो भेदयितुं परैः।
परिद्यूनान्वृतवती किमुताद्य मृजावतः ॥ ७ ॥

किसी उपायसे कृष्णाके चित्तको भी पाण्डवोंसे हटाना कठिन है; क्योंकि उनकी दीन दशाके दिनोंमें ही उसने उनसे विवाह किया था; अब तो वे अस्त्र और गहनोंसे सम्पन्न हैं (अतः अब वह उन्हें कैसे छोड सकती है?) ॥ ७ ॥

ईप्सितश्च गुणः स्त्रीणामेकस्या बहुभर्तृता।
तं च प्राप्तवती कृष्णा न सा भेदयितुं सुखम् ॥ ८ ॥

इसके अलावा स्त्रियोंके लिये बहुत पतियोंका मिलना प्रसन्नताकी बात है, कृष्णाने वह प्राप्त कर लिए हैं; अतः पतियोंसे उसका मन हटाना असंभव है ॥ ८ ॥

आर्यवृत्तश्च पाञ्चाल्यो न स राजा धनप्रियः।
न संत्यक्ष्यति कौन्तेयान्राज्यदानैरपि ध्रुवम् ॥ ९ ॥

राजा पाञ्चाल श्रेष्ठ चरित्रवाले हैं, वह धनके लोभी नहीं हैं, अतः इसमें सन्देह नहीं, कि उनको सब राज्य देने पर भी वे पाण्डवोंको नहीं छोडेंगे ॥ ९ ॥

तथास्य पुत्रो गुणवाननुरक्तश्च पाण्डवान् ।
तस्मान्नोपायसाध्यांस्तानहं मन्ये कथंचन ॥ १० ॥

उन राजाका पुत्र गुणवान् और पाण्डवोंका प्रेमी है, अतः लुभा करके वे वशमें नहीं लाये जा सकेंगे ऐसा मेरा विचार है ॥ १० ॥

इदं त्वद्य क्षमं कर्तुमस्माकं पुरुषर्षभ ।
यावन्न कृतमूलास्ते पाण्डवेया विशां पते ।
तावत्प्रहरणीयास्ते रोचतां तव विक्रमः ॥ ११ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ महाराज ! इस समय तो हमारा यही कर्तव्य है, कि जबतक पाण्डव दृढमूल न हो जायें, तबतक उनको मारते रहें । हे पिता ! इस विषयमें आपका विक्रम प्रकट हो ॥ ११ ॥

अस्मत्पक्षो महान्यावद्यावत्पाञ्चालको लघुः ।
तावत्प्रहरणं तेषां क्रियतां मा विचारय ॥ १२ ॥

जबतक हमारा पक्ष महान् और पांचालका पक्ष लघु है, तबतक युद्ध प्रारम्भ कर उनको मारना आरम्भ करें । इसमें आप विचार न करें ॥ १२ ॥

वाहनानि प्रभूतानि मित्राणि बहुलानि च ।
यावन्न तेषां गान्धारे तावदेवाशु विक्रम ॥ १३ ॥

हे महाराज गान्धारीनंदन ! जबतक उनके मित्र और बन्धु तथा बहुत वाहन न एकत्रित हों, उसके पहिले ही उन पर विक्रम प्रगट करके उनपर आक्रमण कर दो ॥ १३ ॥

यावच्च राजा पाञ्चाल्यो नोद्यमे कुरुते मनः ।
सह पुत्रैर्महावीर्यैस्तावदेवाशु विक्रम ॥ १४ ॥

जबतक राजा पाञ्चाल अति वीर्यवान् पुत्रोंके साथ लडाईके उद्योगमें अपना मन न लगायें उससे पहिले ही शीघ्र विक्रम दिखाओ ॥ १४ ॥

यावन्नायाति वार्ष्णेयः कर्षन्यादववाहिनीम् ।
राज्यार्थे पाण्डवेयानां तावदेवाशु विक्रम ॥ १५ ॥

जबतक श्रीकृष्ण पाण्डवोंके राज्यके लिये यादवी सेना लेकर न आवें, उससे पहिले ही शीघ्र विक्रम प्रगट करो ॥ १५ ॥

वसूनि विविधान्भोगान्राज्यमेव च केवलम् ।
नात्याज्यमस्ति कृष्णस्य पाण्डवार्थे महीपते ॥ १६ ॥

हे राजन् ! पाण्डवोंके उपकारके लिये भांति भांतिके भोग धन और राज्य भी कृष्णके लिये अत्याज्य नहीं है । (अर्थात् पाण्डवोंकी रक्षाके लिए वे सभी कुछ छोड सकते हैं) ॥ १६ ॥

विक्रमेण मही प्राप्ता भरतेन महात्मना।
विक्रमेण च लोकांस्त्रीञ्जितवान्पाकशासनः ॥ १७॥

हे भूनाथ! महात्मा भरतने विक्रम हीसे पृथ्वी जीती थी और इन्द्रने अपने विक्रम हीके द्वारा तीनों लोक जीते थे ॥ १७ ॥

विक्रमं च प्रशंसन्ति क्षत्रियस्य विशां पते।
स्वको हि धर्मः शूराणां विक्रमः पार्थिवर्षभ ॥ १८॥

हे राजेन्द्र! क्षत्रियोंके विक्रमकी ही प्रशंसा होती है। हे राजाओंमें श्रेष्ठ! विक्रम ही शूरोंका धर्म है ॥ १८ ॥

ते बलेन वयं राजन्महता चतुरङ्गिणा।
प्रमथ्य द्रुपदं शीघ्रमानयामेह पाण्डवान् ॥ १९॥

अतएव हम बडी भारी चतुराङ्गिणी सेनासे विना विलम्ब राजा द्रुपदको हरा करके पाण्डवों-को यहां लेते आवें ॥ १९ ॥

न हि साम्ना न दानेन न भेदेन च पाण्डवाः।
शक्याः साधयितुं तस्माद्विक्रमेणैव ताञ्जहि ॥ २०॥

साम, दान वा भेद द्वारा पाण्डवोंको वशमें नहीं किया जा सकता, अतः विक्रम हीसे उनका नाश करो ॥ २० ॥

तान्विक्रमेण जित्वेमामखिलां भुङ्क्ष्व मेदिनीम्।
नान्यमत्र प्रपश्यामि कार्योपायं जनाधिप ॥ २१॥

विक्रमसे उनको जीतकर इस संपूर्ण धरतीका उपभोग करो, हे जनाधिप! मैं इसके सिवाय कार्य पूरा करनेका कोई दूसरा उपाय नहीं देखता ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा तु राधेयवचो धृतराष्ट्रः प्रतापवान्।
अभिपूज्य ततः पश्चादिदं वचनमब्रवीत् ॥ २२॥

वैशम्पायन बोले– प्रतापी धृतराष्ट्र राधानन्दनकी बात सुनकर उनकी प्रशंसा कर बादमें यह वचन बोले ॥ २२ ॥

उपपन्नं महाप्राज्ञे कृतास्त्रे सूतनन्दने।
त्वयि विक्रमसंपन्नमिदं वचनमीदृशम् ॥ २३॥

हे सूतपुत्र! तुम बडे बुद्धिमान् और अस्त्रविद्यामें पण्डित हो अतः ऐसा विक्रमयुक्त वचन बोलना तुम्हारे योग्य ही है ॥ २३ ॥

भूय एव तु भीष्मश्च द्रोणो विदुर एव च ।
युवां न कुरुतां बुद्धिं भवेद्या नः सुखोदया ॥ २४ ॥

पर भीष्म, द्रोण, विदुर और तुम दोनों फिर युक्ति करके यह निश्चय करो, कि जिससे हमारा मंगल होवे ॥ २४ ॥

तत आनाय्य तान्सर्वान्मन्त्रिणः सुमहायशाः ।
धृतराष्ट्रो महाराज मन्त्रयामास वै तदा ॥ २५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९४ ॥ ६२७४ ॥

महाराज ! अतियशस्वी धृतराष्ट्र भीष्मादि संपूर्ण मंत्रियोंको बुलवाकर उपायों पर विचार करने लगे ॥ २५ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ चौरानवेवां अध्याय समाप्त ॥ १९४ ॥ ६२७४ ॥

: १९५ :

भीष्म उवाच

न रोचते विग्रहो मे पाण्डुपुत्रैः कथंचन ।
यथैव धृतराष्ट्रो मे तथा पाण्डुरसंशयम् ॥ १ ॥

भीष्म बोले– पाण्डवोंके साथ युद्ध करना किसी प्रकार मुझे अच्छा नहीं लगता; क्योंकि मेरे लिये जैसे धृतराष्ट्र हैं पाण्डु भी वैसे ही थे ॥ १ ॥

गान्धार्याश्च यथा पुत्रास्तथा कुन्तीसुता मताः ।
यथा च मम ते रक्ष्या धृतराष्ट्र तथा तव ॥ २ ॥

और गान्धारीके पुत्र जिस प्रकार स्नेहके पात्र हैं; कुंतीके पुत्र भी वैसे ही प्रिय हैं । मुझको जिस प्रकार उनकी रक्षा करनी है, हे धृतराष्ट्र ! उसी प्रकार तुम्हें भी उनकी रक्षा करनी चाहिए ॥ २ ॥

तथा च मम राज्ञश्च तथा दुर्योधनस्य ते ।
तथा कुरूणां सर्वेषामन्येषामपि भारत ॥ ३ ॥

हे पृथ्वीपाल ! वे मेरे जैसे आत्मजन हैं, राजा दुर्योधन आदि सब कौरव भी वैसे ही आत्मजन हैं, इसमें कोई शंका नहीं है ॥ ३ ॥

एवं गते विग्रहं तैर्न रोचये संधाय वीरैर्दीयतामद्य भूमिः ।
तेषामपीदं प्रपितामहानां राज्यं पितुश्चैव कुरूत्तमानाम् ॥ ४ ॥

ऐसी दशामें उनसे लडनेकी मेरी संमति नहीं हो सकती । हे महाराज ! उन वीरोंसे संधि करके उनको आज राज्य दे दो; क्योंकि यह उन कुरुश्रेष्ठ पाण्डवोंके भी दादा, परदादा और पिताओंका राज्य है ॥ ४ ॥

दुर्योधन यथा राज्यं त्वमिदं तात पश्यसि ।
मम पैतृकमित्येवं तेऽपि पश्यन्ति पाण्डवाः ॥ ५ ॥

तात दुर्योधन ! तुम जिस प्रकार इसे अपना पैत्रिक राज्य समझ रहे हो, वैसे ही पाण्डव भी यह समझते हैं कि यह हमारा पैत्रिक राज्य है ॥ ५ ॥

यदि राज्यं न ते प्राप्ताः पाण्डवेयास्तपस्विनः ।
कुत एव तवापीदं भारतस्य च कस्यचित् ॥ ६ ॥

यदि वे तपस्वी पाण्डव राज्यके अधिकारी न हों, तो तुम अथवा कोई दूसरा भरतवंशी राज्यका अधिकारी कैसे हो सकता है ? ॥ ६ ॥

अथ धर्मेण राज्यं त्वं प्राप्तवान्भरतर्षभ ।
तेऽपि राज्यमनुप्राप्ताः पूर्वमेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! यदि तुमने ऐसा समझा है, कि "मैं धर्मानुसार राज्यका अधिकारी बना हूं" तो पहिले धर्मानुसार उन्हींका अधिकार है; यही मेरा मत है ॥ ७ ॥

मधुरेणैव राज्यस्य तेषामर्धं प्रदीयताम् ।
एतद्धि पुरुषव्याघ्र हितं सर्वजनस्य च ॥ ८ ॥

अतः प्रसन्नतासे उनको उनका आधा राज्य दो । हे पुरुषव्याघ्र ! ऐसा करनेसे सबका मंगल होगा ॥ ८ ॥

अतोऽन्यथा चेत्क्रियते न हितं नो भविष्यति ।
तवाप्यकीर्तिः सकला भविष्यति न संशयः ॥ ९ ॥

यदि इसके विरुद्ध करोगे, तो हममेंसे किसीका मंगल नहीं होगा और इसमें सन्देह नहीं, कि तुम्हारी भी बडी अपकीर्ति फैलेगी ॥ ९ ॥

कीर्तिरक्षणमातिष्ठ कीर्तिर्हि परमं बलम् ।
नष्टकीर्तेर्मनुष्यस्य जीवितं ह्यफलं स्मृतम् ॥ १० ॥

तुम अपनी कीर्तिकी रक्षा करनेका प्रयत्न करो । क्योंकि इस भूमण्डलमें कीर्ति ही परम बल है और नष्ट हुए कीर्तिवालेका जीवन ही व्यर्थ है ॥ १० ॥

यावत्कीर्तिर्मनुष्यस्य न प्रणश्यति कौरव ।
तावज्जीवति गान्धारे नष्टकीर्तिस्तु नश्यति ॥ ११ ॥

हे कौरव ! जबतक किसीकी कीर्ति नष्ट नहीं होती, उसके परलोक सिधारने पर भी तबतक वह जीवित रहता है; और, हे गान्धारीके पुत्र! कीर्ति नष्ट होने पर जीवित रहनेसे भी वह मरा कहा जाता है ॥ ११ ॥

तमिमं समुपातिष्ठ धर्मं कुरुकुलोचितम् ।
अनुरूपं महाबाहो पूर्वेषामात्मनः कुरु ॥ १२ ॥

हे महाभुज ! तुम कुरुकुलके योग्य धर्ममें चित्त लगाओ; और अपने पूर्व पुरुषोंकी भांति कार्य करो ॥ १२ ॥

दिष्ट्या धरन्ति ते वीरा दिष्ट्या जीवति सा पृथा ।
दिष्ट्या पुरोचनः पापो नसकामोऽत्ययं गतः ॥ १३ ॥

हमारे सौभाग्य हीसे पाण्डव जीवित हैं और सौभाग्यसे ही कुन्ती भी जीवित है। यह हमारा ही सौभाग्य है, कि पापात्मा पुरोचनका मनोरथ सफल नहीं हुआ और वह यमराजके घरको जा पहुंचा ॥ १३ ॥

तदा प्रभृति गान्धारे न शक्नोम्यभिवीक्षितुम् ।
लोके प्राणभृतां कंचिच्छ्रुत्वा कुन्तीं तथागताम् ॥ १४ ॥

हे गान्धारीके पुत्र ! जबसे मैंने कुन्तीको उस प्रकार जलमरी सुना, तबसे मैं इस धरती पर किसीको भली प्रकार देख भी नहीं सकता हूं ॥ १४ ॥

न चापि दोषेण तथा लोको वैति पुरोचनम् ।
यथा त्वां पुरुषव्याघ्र लोको दोषेण गच्छति ॥ १५ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! जिस प्रकार लोग तुमको दोषी जानते हैं, पुरोचनको वैसा दोषी नहीं समझते ॥ १५ ॥

तदिदं जीवितं तेषां तव किल्मषनाशनम् ।
संमन्तव्यं महाराज पाण्डवानां च दर्शनम् ॥ १६ ॥

हे महाराज ! पाण्डवोंका जीना और उनको फिर देखना तुमको केवल अपना कलंक नष्ट होनेका कारण ही जानना चाहिये ॥ १६ ॥

न चापि तेषां वीराणां जीवतां कुरुनन्दन ।
पित्र्योंऽशः शक्य आदातुमपि वज्रभृता स्वयम् ॥ १७ ॥

हे कुरुनन्दन ! उन सब वीरोंके जीवित रहते हुए स्वयं वज्रधारी महेन्द्र भी उनके पैत्रिक राज्यको लेनेका सामर्थ्य नहीं रखते ॥ १७ ॥

ते हि सर्वे स्थिता धर्मे सर्वे चैवैकचेतसः।
अधर्मेण निरस्ताश्च तुल्ये राज्ये विशेषतः ॥ १८ ॥

इसके अलावा पाण्डव सब एकमत और धर्मके पथमें चलनेवाले होने पर भी तुल्य अधिकारके राज्यसे अधर्मपूर्वक हटाये जाते हैं ॥ १८ ॥

यदि धर्मस्त्वया कार्यो यदि कार्यं प्रियं च मे।
क्षेमं च यदि कर्तव्यं तेषामर्धं प्रदीयताम् ॥ १९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पञ्चनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९५ ॥ ६२९३ ॥

अतएव यदि तुमको धर्मकी रक्षा करनी हो, यदि तुमको मेरा प्रिय कार्य करना हो और यदि तुम अपनी भलाई चाहो, तो पाण्डवोंको आधा राज्य दे दो ॥ १९ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ पिचानवेवां अध्याय समाप्त ॥ १९५ ॥ ६२९३ ॥

: १९६ :

द्रोण उवाच

मन्त्राय समुपानीतैर्धृतराष्ट्रहितैर्नृप।
धर्म्यं पथ्यं यशस्यं च वाच्यमित्यनुशुश्रुम ॥ १ ॥

द्रोण बोले– हे महाराज धृतराष्ट्र ! हमने सुना है, मंत्रियोंके सलाहके लिये बुलाये जानेपर धर्म, अर्थ और यश देनेवाला वचन कहना ही उनका कर्तव्य है ॥ १ ॥

ममाप्येषा मतिस्तात या भीष्मस्य महात्मनः।
संविभज्यास्तु कौन्तेया धर्म एष सनातनः ॥ २ ॥

हे तात ! महात्मा भीष्मने जो कहा है, वही मेरा भी मत है। पाण्डवोंको उनका अंश देना उचित है यही सनातन धर्म है ॥ २ ॥

प्रेष्यतां द्रुपदायाशु नरः कश्चित्प्रियंवदः।
बहुलं रत्नमादाय तेषामर्थाय भारत ॥ ३ ॥

हे भारत ! अब प्रिय बोलनेवाले किसी पुरुषको आज्ञा दें कि पाण्डवोंके लिये बहुत धन लेकर द्रुपदके यहां जाय ॥ ३ ॥

मिथःकृत्यं च तस्मै स आदाय बहु गच्छतु।
वृद्धिं च परमां ब्रूयात्तत्संयोगोद्भवां तथा ॥ ४ ॥

वह भेजा हुआ पुरुष वर और वधूके योग्य रत्न और अलङ्कार भी लेकर द्रुपदके सन्मुख जाकर इस संयोगसे होनेवाली उत्तम वृद्धिकी बात कहे ॥ ४ ॥

संप्रीयमाणं त्वां ब्रूयाद्राजन्दुर्योधनं तथा ।
असकृद्द्रुपदे चैव धृष्टद्युम्ने च भारत ॥ ५ ॥

हे भारत ! वह दूत राजा द्रुपद और धृष्टद्युम्नसे बार बार ऐसा कहे– हे महाराज ! आपके साथ सम्बन्ध होनेसे राजा धृतराष्ट्र और दुर्योधन बहुत कृतार्थ हुए और अपनेको श्रीमान् समझते हैं ॥ ५ ॥

उचितत्वं प्रियत्वं च योगस्यापि च वर्णयेत् ।
पुनः पुनश्च कौन्तेयान्माद्रीपुत्रौ च सान्त्वयन् ॥ ६ ॥

इसी प्रकार वह कुन्ती और माद्रीके पुत्रोंको सान्त्वना देते हुए इस सम्बन्धके उचित और प्रिय होनेकी बात कहे ॥ ६ ॥

हिरण्मयानि शुभ्राणि बहून्याभरणानि च ।
वचनात्तव राजेन्द्र द्रौपद्याः संप्रयच्छतु ॥ ७ ॥

हे महाराज ! अनन्तर वह दूत आपकी आज्ञासे द्रौपदीको शुद्ध सुवर्णके अनेक अलङ्कार देवे ॥ ७ ॥

तथा द्रुपदपुत्राणां सर्वेषां भरतर्षभ ।
पाण्डवानां च सर्वेषां कुन्त्या युक्तानि यानि च ॥ ८ ॥

इसी प्रकार, हे भरतश्रेष्ठ ! राजा पाञ्चालके सब पुत्रों, पाण्डवों और कुन्तीके योग्य वस्त्र गहने देवे ॥ ८ ॥

एवं सान्त्वसमायुक्तं द्रुपदं पाण्डवैः सह ।
उक्त्वाथानन्तरं ब्रूयात्तेषामागमनं प्रति ॥ ९ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार द्रुपद और पाण्डवोंको समझा कर अन्तमें उनसे हास्तिनापुरमें आनेकी बात कहें ॥ ९ ॥

अनुज्ञातेषु वीरेषु बलं गच्छतु शोभनम् ।
दुःशासनो विकर्णश्च पाण्डवानानयन्त्विह ॥ १० ॥

पाण्डवोंके द्रुपदसे आनेकी अनुमति पाने पर दुःशासन और विकर्ण अच्छी सेनादिके साथ उनको लिवा लावें ॥ १० ॥

ततस्ते पार्थिवश्रेष्ठ पूज्यमानाः सदा त्वया ।
प्रकृतीनामनुमते पदे स्थास्यन्ति पैतृके ॥ ११ ॥

तब पुरुषश्रेष्ठ पाण्डवोंके राजधानीमें आजाने पर आपके द्वारा सत्कृत होकर प्रजाओंकी अनुमतिसे पैत्रिक पदपर आरूढ होवें ॥ ११ ॥

एवं तव महाराज तेषु पुत्रेषु चैव ह।
वृत्तमौपयिकं मन्ये भीष्मेण सह भारत ॥ १२ ॥

महाराज ! मेरा और भीष्मका मत यह है, कि अपने पुत्ररूपी उन पाण्डवोंसे आपको ऐसा ही व्यवहार करना चाहिये ॥ १२ ॥

कर्ण उवाच

योजितावर्थमानाभ्यां सर्वकार्येष्वनन्तरौ।
न मन्त्रयेतां त्वच्छ्रेयः किमद्भुततरं ततः ॥ १३ ॥

कर्ण बोले– भीष्म और द्रोण यह आपहीके दिये हुए धन और मानसे बढे हैं, सब कार्योंमें आप इनकी सलाह लेते हैं, अतः इससे बढकर और क्या आश्चर्य होगा, कि यह आपको आपके कल्याणका परामर्श नहीं देते ? ॥ १३ ॥

दुष्टेन मनसा यो वै प्रच्छन्नेनान्तरात्मना।
ब्रूयान्निःश्रेयसं नाम कथं कुर्यात्सतां मतम् ॥ १४ ॥

महाराज ! जो अपने हृदयमें दुर्भावको छिपाकर दुष्ट मनसे सलाह देता है, वह सज्जनोंके कल्याणकी सलाह कैसे दे सकता है ? ॥ १४ ॥

न मित्राण्यर्थकृच्छ्रेषु श्रेयसे वेतराय वा।
विधिपूर्वं हि सर्वस्य दुःखं वा यदि वा सुखम् ॥ १५ ॥

पर ऐसा नहीं है, कि विपत्तिके आ पडने पर मित्र ही मङ्गल वा अमङ्गलके कारण बनते हैं, क्योंकि सुख हो या दुःख हो, सबकी जड भाग्य ही है ॥ १५ ॥

कृतप्रज्ञोऽकृतप्रज्ञो बालो वृद्धश्च मानवः।
ससहायोऽसहायश्च सर्वं सर्वत्र विन्दति ॥ १६ ॥

विद्वान् और मूर्ख, बाल और वृद्ध, सहाय और असहाय, सब प्रकारके लोग सब स्थानोंमें सब वस्तु पाजाते हैं ॥ १६ ॥

श्रूयते हि पुरा कश्चिदम्बुवीच इति श्रुतः।
आसीद्राजगृहे राजा मागधानां महीक्षिताम् ॥ १७ ॥

सुना है, कि पहिले राजगृह नामक राजधानीमें मगधदेशीय राजाओंके अधीश अम्बुवीच नामक एक पृथ्वीनाथ थे ॥ १७ ॥

स हीनः करणैः सर्वैरुच्छ्वासपरमो नृपः।
अमात्यसंस्थः कार्येषु सर्वेष्वेवाभवत्तदा ॥ १८ ॥

राजकार्यमें उनकी जरा भी दृष्टि नहीं थी, वह इतना ही काम करते थे, कि श्वास खींचते और छोडते थे; इससे उनका सम्पूर्ण राजकार्य मंत्रियोंके हाथमें चला गया ॥ १८ ॥

तस्यामात्यो महाकार्णिर्बभूवैकेश्वरः पुरा ।
स लब्धबलमात्मानं मन्यमानोऽवमन्यते ॥ १९ ॥

महाकार्णिक नामक उनका मन्त्री पूरा अधिकार पाकर वा अपनेको बलयुक्त जानकर राजाका अनादर करने लगा ॥ १९ ॥

स राज्ञ उपभोग्यानि स्त्रियो रत्नधनानि च ।
आददे सर्वशो मूढ ऐश्वर्यं च स्वयं तदा ॥ २० ॥

उस मूर्ख मन्त्रीने राजाके द्वारा भोगने योग्य स्त्री, रत्न और धन सब ऐश्वर्य स्वयं ले लिया ॥ २० ॥

तदादाय च लुब्धस्य लोभाल्लोभो व्यवर्धत ।
तथा हि सर्वमादाय राज्यमस्य जिहीर्षति ॥ २१ ॥

यह सब लेकर उस लोभीका लोभ बढा; उसने राजाका सब कुछ लेकरके उसका राज्य भी हरना चाहा ॥ २१ ॥

हीनस्य करणैः सर्वैरुच्छ्वासपरमस्य च ।
यतमानोऽपि तद्राज्यं न शशाकेति नः श्रुतम् ॥ २२ ॥

पर हमने सुना है, कि वह मन्त्री अपने पूरे सामर्थ्यसे चेष्टा करने पर भी उस कार्यरहित श्वास मात्र लेते हुए राजाका राज्य नहीं हर सका ॥ २२ ॥

किमन्याद्विहितान्नूनं तस्य सा पुरुषेन्द्रता ।
यदि ते विहितं राज्यं भविष्यति विशां पते ॥ २३ ॥

भाग्यके विना कौनसा पुरुषार्थ था, कि जिससे राज्यकी रक्षा हुई ? हे महाराज ! यदि विधिने यह राज्य आपके लिये निश्चय कर दिया हो, तो आपके पास ही वह रहेगा ॥ २३ ॥

मिषतः सर्वलोकस्य स्थास्यते त्वयि तद्ध्रुवम् ।
अतोऽन्यथा चेद्विहितं यतमानो न लप्स्यसे ॥ २४ ॥

और सब लोगोंके देखते देखते भी यह निश्चितरूपसे आपहींके हाथमें बना रहेगा । यदि भाग्यमें न हो, तो आप चेष्टा भी करें, तो भी प्राप्त नहीं कर सकेंगे ॥ २४ ॥

एवं विद्वन्नुपादत्स्व मन्त्रिणां साध्वसाधुताम् ।
दुष्टानां चैव बोद्धव्यमदुष्टानां च भाषितम् ॥ २५ ॥

हे विद्वान् महाराज ! मन्त्रियोंमें कौन साधु हैं और कौन असाधु हैं इसका आप ही विचार कर लें और दुष्ट अदुष्ट जनोंके वचनको भी समझ लें ॥ २५ ॥

×

द्रोण उवाच

विद्म ते भावदोषेण यदर्थमिदमुच्यते।
दुष्टः पाण्डवहेतोस्त्वं दोषं ख्यापयसे हि नः ॥ २६ ॥

द्रोण बोले– कर्ण ! मैं समझ गया, कि तुम्हारा हृदय दोपसे भरे रहने हीके कारण तुम ऐसा कहते हो, पाण्डवों पर तुम्हारा द्वेष होनेहीके कारण तुमने हम पर दोप लगाया है ॥ २६ ॥

हितं तु परमं कर्ण ब्रवीमि कुलवर्धनम्।
अथ त्वं मन्यसे दुष्टं ब्रूहि यत्परमं हितम् ॥ २७ ॥

हे कर्ण ! पर मैंने जो कहा वह कुल बढानेवाला और परम हित करनेवाला है; यदि वह तुम्हारी समझमें बुरा जान पडे, तो जिससे परम हित हो सकता है वही कहो ॥ २७ ॥

अतोऽन्यथा चेत्क्रियते यद्ब्रवीमि परं हितम्।
कुरवो विनशिष्यन्ति नचिरेणेति मे मतिः ॥ २८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९६ ॥ ६३२१ ॥

वास्तवमें मुझको निश्चय जान पडता है, कि यदि मेरे द्वारा कहे गए परम हितकारक वचनसे उलटा किया जाएगा, तो विना विलम्ब कौरवगण नष्ट हो जायेंगे ॥ २८ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ छियानवेवां अध्याय समाप्त ॥ १९६ ॥ ६३२१ ॥

: १९७ :

विदुर उवाच

राजन्निःसंशयं श्रेयो वाच्यस्त्वमसि बान्धवैः।
न त्वशुश्रूषमाणेषु वाक्यं संप्रतितिष्ठति ॥ १ ॥

विदुर बोले– हे महाराज ! आपके बन्धु लोग निःसन्देह आपको हितवचन कह रहे हैं पर आप सुनना नहीं चाहते, अतः उनकी बात ठहर नहीं पाती ॥ १ ॥

हितं हि तव तद्वाक्यमुक्तवान्कुरुसत्तमः।
भीष्मः शान्तनवो राजन्प्रतिगृह्णासि तन्न च ॥ २ ॥

हे महाराज ! कुरुश्रेष्ठ शान्तनुपुत्र भीष्मने जो प्रिय और हित वचन कहा आप उस पर ध्यान नहीं देते हैं ॥ २ ॥

तथा द्रोणेन बहुधा भाषितं हितमुत्तमम्।
तच्च राधासुतः कर्णो मन्यते न हितं तव ॥ ३ ॥

आचार्य द्रोणने भी अनेक प्रकारसे हितकी बात कही, राधापुत्र कर्ण उसे आपके लिए हितकारी नहीं मानते ॥ ३ ॥

चिन्तयंश्च न पश्यामि राजंस्तव सुहृत्तमम् ।
आभ्यां पुरुषसिंहाभ्यां यो वा स्यात्प्रज्ञयाधिकः ॥ ४ ॥

हे महाराज ! मैं सोचकर भी नहीं जान पाता, कि भीष्म और द्रोणसे अधिक ज्ञानी और आपका परम मित्र और कौन हो सकता ? ॥ ४ ॥

इमौ हि वृद्धौ वयसा प्रज्ञया च श्रुतेन च ।
समौ च त्वयि राजेन्द्र तेषु पाण्डुसुतेषु च ॥ ५ ॥

वे दोनों बुद्धि, विद्या और अवस्थामें वृद्ध हैं । हे महाराज ! आपपर उनकी जैसी प्रीति है, पाण्डवों पर भी वैसी ही है ॥ ५ ॥

धर्मे चानवमौ राजन्सत्यतायां च भारत ।
रामाद्दाशरथेश्चैव गयाच्चैव न संशयः ॥ ६ ॥

हे भारतराज ! इसमें सन्देह नहीं, कि यह लोग धर्म और सत्यके विषयमें दशरथके पुत्र रामचन्द्र और गयसे भी श्रेष्ठ हैं ॥ ६ ॥

न चोक्तवन्तावश्रेयः पुरस्तादपि किंचन ।
न चाप्यपकृतं किंचिदनयोर्लक्ष्यते त्वयि ॥ ७ ॥

यह दीख ही नहीं पडता, कि इन्होंने पहिले भी कभी आपके लिए कोई अहित वाक्य कहा हो वा आपकी कोई हानि की हो ॥ ७ ॥

ताविमौ पुरुषव्याघ्रावनागसि नृप त्वयि ।
न मन्त्रयेतां त्वच्छ्रेयः कथं सत्यपराक्रमौ ॥ ८ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! आपने तो इन दोनों सत्य पराक्रमी और पुरुषश्रेष्ठोंका कोई अनिष्ट नहीं किया, तो फिर यह आपके लिये कल्याणदायी परामर्श क्यों न दें ? ॥ ८ ॥

प्रज्ञावन्तौ नरश्रेष्ठावस्मिँल्लोके नराधिप ।
त्वन्निमित्तमतो नेमौ किंचिज्जिह्मं वदिष्यतः ।
इति मे नैष्ठिकी बुद्धिर्वर्तते कुरुनन्दन ॥ ९ ॥

विशेष यह दोनों लोकमें ज्ञानी और पुरुषश्रेष्ठ हैं; अतः, हे राजन् ! यह आपके विषयमें कभी कुछ कुटिल वचन नहीं बोलेंगे । हे कुरुनन्दन ! यह मेरी निश्चित बुद्धि है ॥ ९ ॥

न चार्थहेतोर्धर्मज्ञौ वक्ष्यतः पक्षसंश्रितम् ।
एतद्धि परमं श्रेयो मेनाते तव भारत ॥ १० ॥

यह दो धर्मज्ञ पुरुष धनके लोभसे कभी पक्षपातकी बात नहीं कहेंगे; अतः, हे भारत ! इन्होंने जो कहा है, उसीमें ये दोनों तुम्हारा परमकल्याण मानते हैं ॥ १० ॥

दुर्योधनप्रभृतयः पुत्रा राजन्यथा तव।
तथैव पाण्डवेयास्ते पुत्रा राजन्न संशयः ॥ ११ ॥

हे महाराज ! आपके लिये जिस प्रकार दुर्योधनादि पुत्र हैं, सन्देह नहीं, कि पाण्डव भी वैसे ही आपके पुत्र हैं ॥ ११ ॥

तेषु चेदहितं किंचिन्मन्त्रयेयुरबुद्धितः।
मन्त्रिणस्ते न ते श्रेयः प्रपश्यन्ति विशेषतः ॥ १२ ॥

जो सब मन्त्री बुद्धिहीनतासे उन पाण्डवोंके अहितका परामर्श देते हैं, वे आपकी भलाई पर विशेष दृष्टि नहीं देते ॥ १२ ॥

अथ ते हृदये राजन्विशेषस्तेषु वर्तते।
अन्तरस्थं विवृण्वानाः श्रेयः कुर्युर्न ते ध्रुवम् ॥ १३ ॥

हे राजन् ! यद्यपि आपके हृदयमें अपने पुत्रों पर विशेष प्रेम भी रहे; तो भी जो लोग उस हृदयस्थित भावको प्रकट करेंगे इसमें सन्देह नहीं, कि वे आपका अनिष्ट ही करेंगे ॥१३॥

एतदर्थमिमौ राजन्महात्मानौ महाद्युती।
नोचतुर्विवृतं किंचिन्न ह्येष तव निश्चयः ॥ १४ ॥

इसलिये इन दो महातेजस्वी महात्माओंने उस प्रकार स्पष्ट परामर्श नहीं दिया क्योंकि (पाण्डवोंके कल्याण करनेका) आपका निश्चय नहीं है ॥ १४ ॥

यच्चाप्यशक्यतां तेषामाहतुः पुरुषर्षभौ।
तत्तथा पुरुषव्याघ्र तव तद्भद्रमस्तु ते ॥ १५ ॥

हे पुरुषव्याघ्र ! इन दोनोंने आपसे कहा है कि पाण्डव जीते नहीं जा सकेंगे वह झूठ नहीं है, हमारी यही इच्छा है, कि पाण्डवोंसे आपकी भलाई हो ॥ १५ ॥

कथं हि पाण्डवः श्रीमान्सव्यसाची परंतपः।
शक्यो विजेतुं संग्रामे राजन्मघवता अपि ॥ १६ ॥

हे नरनाथ ! श्रीमान् सव्यसाची पाण्डव शत्रुनाशी अर्जुन युद्धमें इन्द्रसे भी किस प्रकार जीते जा सकते हैं ? ॥ १६ ॥

भीमसेनो महाबाहुर्नागायुतबलो महान्।
कथं स्म युधि शक्येत विजेतुममरैरपि ॥ १७ ॥

रणभूमिमें दस हजार हाथियोंके बलसे युक्त महान् महाभुज भीमसेन देवगणके द्वारा कैसे जीते जा सकते हैं ? ॥ १७ ॥

तथैव कृतिनौ युद्धे यमौ यमसुताविव ।
कथं विषहितुं शक्यौ रणे जीवितुमिच्छता ॥ १८ ॥

रणस्थलमें किसी भी जीनेकी इच्छावाले मनुष्य द्वारा युद्धमें कुशल यमके पुत्रोंके समान जुडवें नकुल और सहदेव कैसे जीते जा सकते हैं ? ॥ १८ ॥

यस्मिन्धृतिरनुक्रोशः क्षमा सत्यं पराक्रमः ।
नित्यानि पाण्डवश्रेष्ठे स जीयेत कथं रणे ॥ १९ ॥

जिस पुरुषमें धीरज, दया, क्षमा, सत्य और पराक्रम यह सब गुण सदा विराजमान हैं, वह पाण्डवोंके ज्येष्ठ युधिष्ठिर युद्धमें कैसे जीते जा सकते हैं ? ॥ १९ ॥

येषां पक्षधरो रामो येषां मन्त्री जनार्दनः ।
किं नु तैरजितं संख्ये येषां पक्षे च सात्यकिः ॥ २० ॥

बलराम जिनके पक्षमें हैं, कृष्ण जिनके मन्त्री हैं और सात्यकि जिनके साथ हैं, वे युद्धमें कौनसी चीज नहीं जीत सकते ? ॥ २० ॥

द्रुपदः श्वशुरो येषां येषां श्यालाश्च पार्षताः ।
धृष्टद्युम्नमुखा वीरा भ्रातरो द्रुपदात्मजाः ॥ २१ ॥

राजा द्रुपद जिनके ससुर, द्रुपदके पुत्र वीर धृष्टद्युम्नादि भाई जिनके साले हैं, वे कैसे जीते जा सकते हैं ? ॥ २१ ॥

सोऽशक्यतां च विज्ञाय तेषामग्रेण भारत ।
दायाद्यतां च धर्मेण सम्यक्तेषु समाचर ॥ २२ ॥

अतएव, हे भारत ! रणस्थलमें उनकी अजेयता और धर्मानुसार उनकी राज्याधिकारिताकी बातोंको ध्यानमें लाकर पहिले ही उनसे योग्य व्यवहार करें ॥ २२ ॥

इदं निर्दिग्धमयशः पुरोचनकृतं महत् ।
तेषामनुग्रहेणाद्य राजन्प्रक्षालयात्मनः ॥ २३ ॥

हे पृथ्वीपाल ! पुरोचनके द्वारा किया गया जो बडे कुयशका धब्बा आप पर लग गया है, आप आज पाण्डवों पर कृपा दिखाकर उसको धो डालें ॥ २३ ॥

द्रुपदोऽपि महान्राजा कृतवैरश्च नः पुरा ।
तस्य संग्रहणं राजन्स्वपक्षस्य विवर्धनम् ॥ २४ ॥

हे राजन् ! पाञ्चाल देशीय द्रुपद बहुत बडे राजा हैं और पहिलेसे उनसे हमारी शत्रुता है, अतः उनको मिला लेनेसे हमारा पक्ष बहुत बढ जाएगा ॥ २४ ॥

बलवन्तश्च दाशार्हा बहवश्च विशां पते ।
यतः कृष्णस्ततस्ते स्युर्यतः कृष्णस्ततो जयः ॥ २५ ॥

हे नरनाथ ! दशार्ह देशीयगण बली और बहुत हैं और कृष्ण जिस ओर रहेंगे, वे भी उसी ओर रहेंगे; अतः जिस पक्षमें कृष्ण होंगे उसी पक्षकी जय होगी ॥ २५ ॥

यच्च साम्नैव शक्येत कार्यं साधयितुं नृप ।
को दैवशप्तस्तत्कर्तुं विग्रहेण समाचरेत् ॥ २६ ॥

जो कार्य सामके द्वारा भली प्रकार सिद्ध हो सकता है,दैवसे शप्त होकर कौन उसको युद्ध द्वारा सिद्ध करना चाहेगा ॥ २६ ॥

श्रुत्वा च जीवतः पार्थान्पौरजानपदो जनः ।
बलवद्दर्शने गृध्नुस्तेषां राजन्कुरु प्रियम् ॥ २७ ॥

हे महाराज ! नगर और जनपदवासी सब जन पाण्डवोंको जीवित सुनकर उनकी भेंटके लिये उत्सुक हैं, अतः अवश्य ही उनका प्रिय करिए ॥ २७ ॥

दुर्योधनश्च कर्णश्च शकुनिश्चापि सौबलः ।
अधर्मयुक्ता दुष्प्रज्ञा बाला मैषां वचः कृथाः ॥ २८ ॥

दुर्योधन, कर्ण और सुबलपुत्र शकुनि, यह अधार्मिक, दुष्ट बुद्धिके और बालक हैं, इनकी बात आप मत मानिए ॥ २८ ॥

उक्तमेतन्मया राजन्पुरा गुणवतस्तव ।
दुर्योधनापराधेन प्रजेयं विनशिष्यति ॥ २९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सप्तनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९७ ॥ ६३५० ॥

हे राजन् ! मैंने पहिले भी गुणोंसे युक्त आपसे कहा था, कि दुर्योधनके दोषसे यह सब प्रजा नष्ट हो जाएगी ॥ २९ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ सत्तानवेवां अध्याय समाप्त ॥ १९७ ॥ ॥ ६३५० ॥

: १९८ :

धृतराष्ट्र उवाच

भीष्मः शान्तनवो विद्वान्द्रोणश्च भगवानृषिः ।
हितं परमकं वाक्यं त्वं च सत्यं ब्रवीषि माम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले– विद्वान् शान्तनुनन्दन भीष्म और भगवान् ऋषि द्रोणने जो कहा तथा तुम जो कहते हो, वह परमहित और सब सत्य है ॥ १ ॥

यथैव पाण्डोस्ते वीराः कुन्तीपुत्रा महारथाः ।
तथैव धर्मतः सर्वे मम पुत्रा न संशयः　　॥ २ ॥

वे सब महारथी वीर कुन्तीनन्दन जिस प्रकार पाण्डुके पुत्र हैं, निःसन्देह वैसे ही धर्मानुसार मेरे भी पुत्र हैं ॥ २ ॥

यथैव मम पुत्राणामिदं राज्यं विधीयते ।
तथैव पाण्डुपुत्राणामिदं राज्यं न संशयः　　॥ ३ ॥

मेरे पुत्र जिस प्रकार इस राज्यके अधिकारी हैं, इसमें सन्देह नहीं, कि पाण्डुपुत्रोंका भी यह राज्य है ॥ ३ ॥

क्षत्तरानय गच्छैतान्सह मात्रा सुसत्कृतान् ।
तया च देवरूपिण्या कृष्णया सह भारत　　॥ ४ ॥

हे क्षत्त ! जाओ, मातासहित पाण्डव और देवीरूपिणी कृष्णाको सत्कारके साथ लिवा लाओ ॥ ४ ॥

दिष्ट्या जीवन्ति ते पार्था दिष्ट्या जीवति सा पृथा ।
दिष्ट्या द्रुपदकन्यां च लब्धवन्तो महारथाः　　॥ ५ ॥

मेरे सौभाग्यहीसे पाण्डव जीवित हैं, मेरे सौभाग्यहीसे कुन्ती जीवित है, महारथी पाण्डवोंका द्रौपदी लाभ करना भी मेरे सौभाग्यहीका फल है ॥ ५ ॥

दिष्ट्या वर्धामहे सर्वे दिष्ट्या शान्तः पुरोचनः ।
दिष्ट्या मम परं दुःखमपनीतं महाद्युते　　॥ ६ ॥

हे महातेजस्वी ! बडे भाग्यहीसे हम सब बढ रहे हैं, सौभाग्यसे ही पुरोचन मर गया, सौभाग्यहीके कारण हमारा परम दुःख दूर हुआ है ॥ ६ ॥

वैशंपायन उवाच

ततो जगाम विदुरो धृतराष्ट्रस्य शासनात् ।
सकाशं यज्ञसेनस्य पाण्डवानां च भारत　　॥ ७ ॥

वैशम्पायन बोले– हे भारत ! इसके बाद विदुर धृतराष्ट्रकी आज्ञासे राजा यज्ञसेन, द्रौपदी और पाण्डवोंके निकट गये ॥ ७ ॥

तत्र गत्वा स धर्मज्ञः सर्वशास्त्रविशारदः ।
द्रुपदं न्यायतो राजन्संयुक्तमुपतस्थिवान्　　॥ ८ ॥

हे राजन् ! उन सब शास्त्रोंमें पण्डित, धर्मके जानकार विदुरने यज्ञसेनके पास पहुंचकर यथायोग्य नमस्कार आलिङ्गन आदि किया ॥ ८ ॥

स चापि प्रतिजग्राह धर्मेण विदुरं ततः।
चक्रतुश्च यथान्यायं कुशलप्रश्नसंविदम् ॥ ९ ॥

राजा यज्ञसेनने धर्मानुसार विदुरको सम्मानित किया। तदनन्तर वे दोनों विधिपूर्वक आपसमें कुशल क्षेम पूछने लगे ॥ ९ ॥

ददर्श पाण्डवांस्तत्र वासुदेवं च भारत।
स्नेहात्परिष्वज्य स तान्पप्रच्छानामयं ततः ॥ १० ॥

हे भारत! अति बुद्धिमान् विदुरने उस स्थानमें पाण्डव और वासुदेवको देखकर स्नेहसे हृदयसे लगाकर उनके स्वास्थ्यकी बात पूछी ॥ १० ॥

तैश्चाप्यमितबुद्धिः स पूजितोऽथ यथाक्रमम्।
वचनाद्धृतराष्ट्रस्य स्नेहयुक्तं पुनः पुनः ॥ ११ ॥
पप्रच्छानामयं राजंस्ततस्तान्पाण्डुनन्दनान्।
प्रददौ चापि रत्नानि विविधानि वसूनि च ॥ १२ ॥

तदनन्तर अत्यन्त बुद्धिमान् विदुर भी उनसे क्रमके अनुसार सत्कृत होकर धृतराष्ट्रकी आज्ञासे स्नेहपूर्वक बार बार, हे राजन्! उन पाण्डुपुत्रोंसे कुशल पूछने लगे और अनेक तरहके रत्न और धन उन्हें दिए ॥ ११-१२ ॥

पाण्डवानां च कुन्त्याश्च द्रौपद्याश्च विशां पते।
द्रुपदस्य च पुत्राणां यथा दत्तानि कौरवैः ॥ १३ ॥

हे नरनाथ! उन्होंने पाण्डव, कुन्ती, द्रौपदी और द्रुपदके पुत्रोंको यथोचित कौरवोंका भेजा धन दिया ॥ १३ ॥

प्रोवाच चामितमतिः प्रश्रितं विनयान्वितः।
द्रुपदं पाण्डुपुत्राणां संनिधौ केशवस्य च ॥ १४ ॥

वह अमितबुद्धि विदुर विनयसे नम्र होकर पाण्डव और केशवके सन्मुख द्रुपदसे कहने लगे ॥ १४ ॥

राजञ्शृणु सहामात्यः सपुत्रश्च वचो मम।
धृतराष्ट्रः सपुत्रस्त्वां सहामात्यः सबान्धवः ॥ १५ ॥
अब्रवीत्कुशलं राजन्प्रीयमाणः पुनः पुनः।
प्रीतिमांस्ते दृढं चापि संबन्धेन नराधिप ॥ १६ ॥

हे महाराज! आप मन्त्री और पुत्रोंके साथ मेरा वचन सुनें। राजा धृतराष्ट्रने मन्त्री, पुत्र और मित्रोंके साथ प्रसन्न होकर, हे राजन्! बार बार आपका कुशल पूछा है। हे नरनाथ! आपसे यह सम्बन्ध होनेसे वह बडे प्रसन्न हैं ॥ १५-१६ ॥

तथा भीष्मः शान्तनवः कौरवैः सह सर्वशः ।
कुशलं त्वां महाप्राज्ञः सर्वतः परिपृच्छति ॥ १७ ॥

बडे ज्ञानी शान्तनुनन्दन भीष्मने सम्पूर्ण कौरवोंके सहित सब प्रकारसे आपका स्वास्थ्य पूछा है ॥ १७ ॥

भारद्वाजो महेष्वासो द्रोणः प्रियसखस्तव ।
समाश्लेषमुपेत्य त्वां कुशलं परिपृच्छति ॥ १८ ॥

आपके प्रिय सखा बडे धनुर्धारी भारद्वाज द्रोणने आपको आलिंगन करके आपका कुशल पूछा है ॥ १८ ॥

धृतराष्ट्रश्च पाञ्चाल्य त्वया संबन्धमीयिवान् ।
कृतार्थं मन्यतेऽऽत्मानं तथा सर्वेऽपि कौरवाः ॥ १९ ॥

हे महाराज पाञ्चाल ! धृतराष्ट्र और सब कौरव आपसे सम्बन्ध प्राप्त कर अपनेको कृतार्थ मान रहे हैं ॥ १९ ॥

न तथा राज्यसंप्राप्तिस्तेषां प्रीतिकरी मता ।
यथा संबन्धकं प्राप्य यज्ञसेन त्वया सह ॥ २० ॥

हे यज्ञसेन ! अधिक क्या कहें, आपसे वैवाहिक सम्बन्ध प्राप्त करनेसे उनको जितनी प्रसन्नता हुई है संभवतः राज्य मिलनेसे भी उतनी प्रसन्नता नहीं हुई होगी ॥ २० ॥

एतद्विदित्वा तु भवान्प्रस्थापयतु पाण्डवान् ।
द्रष्टुं हि पाण्डुदायादांस्त्वरन्ते कुरवो भृशम् ॥ २१ ॥

आप यह समझकर पाण्डवोंको वहां भेज देवें ! कौरव लोग पाण्डवोंको देखनेके लिये बहुत व्यग्र हैं ॥ २१ ॥

विप्रोषिता दीर्घकालमिमे चापि नरर्षभाः ।
उत्सुका नगरं द्रष्टुं भविष्यन्ति पृथा तथा ॥ २२ ॥

यह नरश्रेष्ठ पाण्डव और पृथा बहुत कालसे राज्यसे बाहर हैं अतः वे भी नगर देखनेको बहुत उत्सुक होंगे ॥ २२ ॥

कृष्णामपि च पाञ्चालीं सर्वाः कुरुवरस्त्रियः ।
द्रष्टुकामाः प्रतीक्षन्ते पुरं च विषयं च नः ॥ २३ ॥

सब कौरवोंकी स्त्रियां और हमारे नगर तथा जनपदवासी सब पाञ्चाली कृष्णाको देखना चाहते हैं ॥ २३ ॥

स भवान्पाण्डुपुत्राणामाज्ञापयतु माचिरम् ।
गमनं सहदाराणामेतदागमनं मम ॥ २४ ॥

अतः आप पाण्डवोंको पत्नीके साथ वहां जानेकी आज्ञा दें, विलम्ब न करें। इसी कार्यके लिए मेरा यहां आना हुआ है ॥ २४ ॥

विसृष्टेषु त्वया राजन्पाण्डवेषु महात्मसु ।
ततोऽहं प्रेषयिष्यामि धृतराष्ट्रस्य शीघ्रगान् ।
आगमिष्यन्ति कौन्तेयाः कुन्ती च सह कृष्णया ॥ २५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अष्टनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९८ ॥
॥ समाप्तं विदुरागमनपर्व ॥ ६३७५ ॥

हे महाराज! महात्मा पाण्डवोंको आपसे वहां जानेकी आज्ञा मिलेगी, तो मैं शीघ्र जानेवाले दूत द्वारा धृतराष्ट्रको यह समाचार दूंगा कि पाण्डव और कुन्ती कृष्णाको साथ लेके वहां आयेंगे ॥ २५ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ अट्ठानवेवां अध्याय समाप्त ॥ १९८ ॥ विदुरागमनपर्व समाप्त ॥ ६३७५ ॥

: १९९ :

द्रुपद उवाच

एवमेतन्महाप्राज्ञ यथात्थ विदुराद्य माम् ।
ममापि परमो हर्षः संबन्धेऽस्मिन्कृते विभो ॥ १ ॥

राजा द्रुपद बोले– महाप्राज्ञ विदुर! आज आपने मुझसे जो कहा, वही ठीक है। हे विभो! इस वैवाहिक सम्बन्धसे मैं भी बडा प्रसन्न हूं ॥ १ ॥

गमनं चापि युक्तं स्याद्गृहमेषां महात्मनाम् ।
न तु तावन्मया युक्तमेतद्वक्तुं स्वयं गिरा ॥ २ ॥

अब इन महात्माओंका घर जाना ही सब प्रकारसे योग्य है; पर स्वयं अपनी वाणीसे उन्हें यह कहना मेरे लिये उचित नहीं है ॥ २ ॥

यदा तु मन्यते वीरः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
भीमसेनार्जुनौ चैव यमौ च पुरुषर्षभौ ॥ ३ ॥

यदि वीर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन और पुरुषश्रेष्ठ नकुल तथा सहदेव यहांसे जाना चाहें ॥ ३ ॥

रामकृष्णौ च धर्मज्ञौ तदा गच्छन्तु पाण्डवाः ।
एतौ हि पुरुषव्याघ्रावेषां प्रियहिते रतौ ॥ ४ ॥

और धर्मज्ञ राम तथा कृष्ण आज्ञा दें, तो पाण्डव जा सकते हैं; क्योंकि यह पुरुषव्याघ्र राम और कृष्ण सदा इनका प्रिय करने और हित करनेवाले हैं ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

परवन्तो वयं राजंस्त्वयि सर्वे सहानुगाः ।
यथा वक्ष्यसि नः प्रीत्या करिष्यामस्तथा वयम् ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर बोले– महाराज ! अब मैं भाइयोंके साथ आपके अधीन हूं, आप प्रसन्न होकर हमको जो कहेंगे, वही हम करेंगे ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततोऽब्रवीद्वासुदेवो गमनं मम रोचते ।
यथा वा मन्यते राजा द्रुपदः सर्वधर्मवित् ॥ ६ ॥

वैशम्पायन बोले– तब वासुदेवने कहा कि अब इन पाण्डवोंका जाना ही मुझे पसन्द है । अथवा सब धर्मोंके जानकार राजा द्रुपदका जो विचार हो, वही उचित है ॥ ६ ॥

द्रुपद उवाच

यथैव मन्यते वीरो दाशार्हः पुरुषोत्तमः ।
प्राप्तकालं महाबाहुः सा बुद्धिर्निश्चिता मम ॥ ७ ॥

द्रुपद बोले– इस कालके अनुसार महाभुज पुरुषोत्तम वीर दशार्हने जैसा विचार किया मेरी समझमें वही ठीक है ॥ ७ ॥

यथैव हि महाभागाः कौन्तेया मम सांप्रतम् ।
तथैव वासुदेवस्य पाण्डुपुत्रा न संशयः ॥ ८ ॥

अब महाभाग पाण्डव जैसे मेरे स्नेहके पात्र हैं, वैसे ही इसमें सन्देह नहीं है, कि पुरुषश्रेष्ठ वासुदेवके भी स्नेहके पात्र हैं ॥ ८ ॥

न तद्ध्यायाति कौन्तेयो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
यदेषां पुरुषव्याघ्रः श्रेयो ध्यायति केशवः ॥ ९ ॥

केशव जैसे इन पाण्डवोंकी मङ्गलचिन्ता करते हैं, संभवतः कुंतीनन्दन युधिष्ठिर भी वैसी चिन्ता नहीं करते होंगे ॥ ९ ॥

वैशंपायन उवाच

ततस्ते समनुज्ञाता द्रुपदेन महात्मना।
पाण्डवाश्चैव कृष्णश्च विदुरश्च महामतिः ॥ १० ॥
आदाय द्रौपदीं कृष्णां कुन्तीं चैव यशस्विनीम्।
सविहारं सुखं जग्मुर्नगरं नागसाह्वयम् ॥ ११ ॥

वैशम्पायन बोले– अनन्तर पाण्डव, कृष्ण और महामति विदुर महात्मा द्रुपदकी आज्ञा पाकर परम सुखसे विहार करते हुए यशस्विनी कुन्ती और द्रौपदीको साथमें लेकर हस्तिनापुरको गए ॥ १०–११ ॥

श्रुत्वा चोपस्थितान्वीरान्धृतराष्ट्रोऽपि कौरवः।
प्रतिग्रहाय पाण्डूनां प्रेषयामास कौरवान् ॥ १२ ॥
विकर्णं च महेष्वासं चित्रसेनं च भारत।
द्रोणं च परमेष्वासं गौतमं कृपमेव च ॥ १३ ॥

हे भारत! कुरुवंशी धृतराष्ट्रने वीर पाण्डवोंके शुभागमनका समाचार सुनकर उनको लिवा लानेके लिये बडे धनुर्धारी विकर्ण, चित्रसेन, धनुप धरनेवालोंमें श्रेष्ठ द्रोण और गौतम कृप इन सब कौरव पक्षके लोगोंको भेजा ॥ १२–१३ ॥

तैस्ते परिवृता वीराः शोभमाना महारथाः।
नगरं हास्तिनपुरं शनैः प्रविविशुस्तदा ॥ १४ ॥

महारथी वीर पाण्डव उनसे घिरे हुए शोभित होते हुए धीरे धीरे हस्तिनापुर नगरमें प्रविष्ट हुए ॥ १४ ॥

कौतूहलेन नगरं दीर्यमाणमिवाभवत्।
यत्र ते पुरुषव्याघ्राः शोकदुःखविनाशनाः ॥ १५ ॥

तब वह नगर नगरवालोंके कुतूहलसे मानों फटने लगा। और पुरुषव्याघ्र पाण्डवोंने पुरवासियोंके शोक दुःखको दूर किया ॥ १५ ॥

तत उच्चावचा वाचः प्रियाः प्रियचिकीर्षुभिः।
उदीरिता अशृण्वंस्ते पाण्डवा हृदयंगमाः ॥ १६ ॥

तब उनके प्रिय चाहनेवाले पुरवासियोंके द्वारा कहे जाते हुए भांति भांतिके प्रिय और हृदयको आनन्द देनेवाले वचन पांडवोंने सुने ॥ १६ ॥

अयं स पुरुषव्याघ्रः पुनरायाति धर्मवित्।
यो नः स्वानिव दायादान्धर्मेण परिरक्षति ॥ १७ ॥

यह वही धर्मज्ञ पुरुषव्याघ्र फिर आ रहे हैं, कि जो अपने परिवारोंकी भांति हमारी रक्षा करते थे ॥ १७ ॥

अद्य पाण्डुर्महाराजो वनादिव वनप्रियः ।
आगतः प्रियमस्माकं चिकीर्षुर्नात्र संशयः ॥ १८ ॥

इसमें कोई संशय नहीं है कि आज सब वनोंके प्यारे महाराज पाण्डु ही हमारे प्रिय करनेकी इच्छासे वनसे लौट आये हैं ॥ १८ ॥

किं नु नाद्य कृतं तावत्सर्वेषां नः परं प्रियम् ।
यन्नः कुन्तीसुता वीरा भर्तारः पुनरागताः ॥ १९ ॥

आज हमारे पोषक वीर कुन्तीपुत्रगण फिर आ गए हैं, इस प्रकार क्या उन्होंने हम सबका प्रिय नहीं किया ? ॥ १९ ॥

यदि दत्तं यदि हुतं विद्यते यदि नस्तपः ।
तेन तिष्ठन्तु नगरे पाण्डवाः शरदां शतम् ॥ २० ॥

यदि हमने दान वा हवन किया हो अथवा यदि हमारा बटोरा हुआ तप हो, तो उसके बलसे पाण्डव लोग इस नगरमें सैंकडों वर्ष रहें ॥ २० ॥

ततस्ते धृतराष्ट्रस्य भीष्मस्य च महात्मनः ।
अन्येषां च तदर्हाणां चक्रुः पादाभिवन्दनम् ॥ २१ ॥

तदनन्तर पाण्डवोंने धृतराष्ट्र, महात्मा भीष्म और दूसरे योग्य गुरुजनोंके पांव छुए ॥ २१ ॥

कृत्वा तु कुशलप्रश्नं सर्वेण नगरेण ते ।
समाविशन्त वेश्मानि धृतराष्ट्रस्य शासनात् ॥ २२ ॥

सब नगरवालोंकी कुशल पूछ कर धृतराष्ट्रकी आज्ञासे वे राज-मन्दिरमें प्रविष्ट हुए ॥ २२ ॥

विश्रान्तास्ते महात्मानः कंचित्कालं महाबलाः ।
आहूता धृतराष्ट्रेण राज्ञा शान्तनवेन च ॥ २३ ॥

महात्मा महाबली पाण्डवोंके कुछ कालतक विश्राम करनेके बाद राजा धृतराष्ट्र और शान्तनु-पुत्र भीष्मने उनको बुलवाया ॥ २३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

भ्रातृभिः सह कौन्तेय निबोधेदं वचो मम ।
पुनर्वो विग्रहो मा भूत्खाण्डवप्रस्थमाविश ॥ २४ ॥

उनके वहां जानेपर धृतराष्ट्रने युधिष्ठिरसे कहा– हे कुन्तीपुत्र ! मैं जो कहूं, भाइयोंके साथ सुनो; तुममें और कौरवोंमें फिर झगडा न हो, इसलिए तुम खाण्डवप्रस्थमें जाकर रहो ॥ २४ ॥

न च वो वसतस्तत्र कश्चिच्छक्तः प्रबाधितुम् ।
संरक्ष्यमाणान्पार्थेन त्रिदशानिव वज्रिणा ।
अर्धं राज्यस्य संप्राप्य खाण्डवप्रस्थमाविश ॥ २५ ॥

इन्द्रसे देवोंके समान अर्जुनसे रक्षित होकर तुम्हारे वहां रहते हुए तुम्हें कोई पीडा नहीं दे सकता, अतः तुम राज्यका आधा भाग लेकर खाण्डवप्रस्थमें रहो ॥ २५ ॥

वैशम्पायन उवाच

प्रतिगृह्य तु तद्वाक्यं नृपं सर्वे प्रणम्य च ।
प्रतस्थिरे ततो घोरं वनं तन्मनुजर्षभाः ।
अर्धं राज्यस्य संप्राप्य खाण्डवप्रस्थमाविशन् ॥ २६ ॥

वैशम्पायन बोले- मनुष्यश्रेष्ठ पाण्डवोंने राजा धृतराष्ट्रकी बात मानकर राज्यका आधा भाग पाकर उनके पांव छूकर घने वनमें जाकर खाण्डवप्रस्थमें प्रवेश किया ॥ २६ ॥

ततस्ते पाण्डवास्तत्र गत्वा कृष्णपुरोगमाः ।
मण्डयांचक्रिरे तद्वै पुरं स्वर्गवदच्युताः ॥ २७ ॥

उन अच्युत पुरुषोंने कृष्णके साथ वहां पहुंच कर उस पुरको देवलोककी भांति सजा दिया ॥ २७ ॥

ततः पुण्ये शिवे देशे शान्तिं कृत्वा महारथाः ।
नगरं मापयामासुर्द्वैपायनपुरोगमाः ॥ २८ ॥

महारथी पाण्डवोंने कृष्णद्वैपायनके साथ शुभ पुण्यस्थानमें शान्ति–कार्य करवाकर भली प्रकारसे नगरको नपवाया ॥ २८ ॥

सागरप्रतिरूपाभिः परिखाभिरलंकृतम् ।
प्राकारेण च संपन्नं दिवमावृत्य तिष्ठता ॥ २९ ॥

वह नगर सागरके समान बडी बडी खाइयों और द्युलोकको भी घेरकर खडे हुए परकोटेसे युक्त हो गया ॥ २९ ॥

पाण्डुराभ्रप्रकाशेन हिमराशिनिभेन च ।
शुशुभे तत्पुरश्रेष्ठं नागैर्भोगवती यथा ॥ ३० ॥

और बर्फके समूह तथा सफेद बादलके समान शुभ्र भवनोंकी कतारसे वह नगर ऐसी शोभा पाने लगा, कि जैसे भोगवती नगरी सर्पोंसे सुशोभित होती है ॥ ३० ॥

द्विपक्षगरुडप्रख्यैर्द्वारैर्घोरप्रदर्शनैः ।
गुप्तमभ्रचयप्रख्यैर्गोपुरैर्मन्दरोपमैः ॥ ३१ ॥

दो दो भयंकर किवाडोंके कारण दो पंखोंवाले गरुडके समान दीखनेवाले, बादलोंके समान शुभ्र, मन्दराचलके समान ऊंचे गोपुरों अर्थात् मकानोंसे वह नगर शोभा पाने लगा ॥ ३१ ॥

विविधैरतिनिर्विद्धैः शस्त्रोपेतैः सुसंवृतैः ।
शक्तिभिश्चावृतं तद्धि द्विजिह्वैरिव पन्नगैः ।
तल्पैश्चाभ्यासिकैर्युक्तं शुशुभे योधरक्षितम् ॥ ३२ ॥

भली प्रकार संवृत्त, अस्त्रयुक्त, भेदनेके अयोग्य स्थान स्थानमें दो जीभवाले सर्पोंके समान विषैले शक्ति नामक अस्त्रोंसे घिरी, अस्त्र शिक्षाके लिये बडे बडे भवनोंसे सुशोभित, योधाओंसे रक्षित वह नगरी शोभित हुई ॥ ३२ ॥

तीक्ष्णाङ्कुशशतघ्नीभिर्यन्त्रजालैश्च शोभितम् ।
आयसैश्च महाचक्रैः शुशुभे तत्पुरोत्तमम् ॥ ३३ ॥

तेज अङ्कुश, शतघ्नी नामक अस्त्रयुक्त, यन्त्रजाल और लोहेके बडे बडे चक्रोंसे वह उत्तम पुरी सुशोभित हुई ॥ ३३ ॥

सुविभक्तमहारथ्यं देवताबाधवर्जितम् ।
विरोचमानं विविधैः पाण्डुरैर्भवनोत्तमैः ॥ ३४ ॥

उसके पथ चौडे और बडे तथा अच्छी तरह बंटे हुए थे, तथा दैवी बाधाओंके भयसे रहित थे। शुभ रंगके भांति भांतिके अच्छे अच्छे भवनोंकी कतारोंसे वह नगर युक्त था ॥ ३४ ॥

तत्त्रिविष्टपसंकाशमिन्द्रप्रस्थं व्यरोचत ।
मेघवृन्दमिवाकाशे वृद्धं विद्युत्समावृतम् ॥ ३५ ॥

आकाश मण्डलमें चमकती हुई बिजलीसे सम्पन्न बादलके समान सुशोभित वह इन्द्रप्रस्थ अमरोंकी पुरीके समान शोभायमान था ॥ ३५ ॥

तत्र रम्ये शुभे देशे कौरव्यस्य निवेशनम् ।
शुशुभे धनसंपूर्णं धनाध्यक्षक्षयोपमम् ॥ ३६ ॥

ऐसे नगरके सुन्दर शुभ स्थानमें धनसे भरा हुआ पाण्डवोंका महल कुबेरके महलके समान सुशोभित हुआ ॥ ३६ ॥

तत्रागच्छन्द्विजा राजन्सर्ववेदविदां वराः ।
निवासं रोचयन्ति स्म सर्वभाषाविदस्तथा ॥ ३७ ॥

हे महाराज ! तदनन्तर देश देशकी भाषा जाननेवाले और सब वेदोंके जानकार ब्राह्मणोंने आकर उस स्थानमें रहना पसन्द किया ॥ ३७ ॥

वणिजश्चाभ्ययुस्तत्र देशे दिग्भ्यो धनार्थिनः ।
सर्वशिल्पविदश्चैव वासायाभ्यागमंस्तदा ॥ ३८ ॥

वणिक् लोग धनार्जनकी अभिलाषासे नाना दिशाओंसे उस देशमें आने लगे । अनेक प्रकारके शिल्प विज्ञान जाननेवाले भी वहां रहनेके लिए आने लगे ॥ ३८ ॥

उद्यानानि च रम्याणि नगरस्य समन्ततः ।
आम्रैराम्रातकैर्नीपैरशोकैश्चम्पकैस्तथा ॥ ३९ ॥

नगरके चारों ओर सुन्दर सुन्दर बाग, आम, आम्रातक, कदम्ब, अशोक और चम्पा ॥ ३९ ॥

पुंनागैर्नागपुष्पैश्च लकुचैः पनसैस्तथा ।
शालतालकदम्बैश्च बकुलैश्च सकेतकैः ॥ ४० ॥

पुन्नाग, नागकेशर, लकुच और पनस, शाल, ताल, कदम्ब, वकुल, केतक ॥ ४० ॥

मनोहरैः पुष्पितैश्च फलभारावनामितैः ।
प्राचीनामलकैर्लोध्रैरङ्कोलैश्च सुपुष्पितैः ॥ ४१ ॥

मनोहर फूलों और फलके भारसे नम्र प्राचीन आमलक, लोध्र, सुन्दर फूलोंसे युक्त अंकोल ॥ ४१ ॥

जम्बूभिः पाटलाभिश्च कुब्जकैरतिमुक्तकैः ।
करवीरैः पारिजातैरन्यैश्च विविधैर्द्रुमैः ॥ ४२ ॥

जम्बु, पाटल, माधवी-लताकुन्ज, करवीर और पारिजात तथा दूसरे नाना पौधोंसे युक्त ॥ ४२ ॥

नित्यपुष्पफलोपेतैर्नानाद्विजगणायुतम् ।
मत्तबर्हिणसंघुष्टं कोकिलैश्च सदामदैः ॥ ४३ ॥

और दूसरे नित्य फूल फलवाले भांति भांतिके वृक्षोंसे युक्त वे बाग अनेक प्रकारके पक्षी, उन्मत्त मयूरदल और उमङ्गसे कूकती हुई कोयलसे युक्त थे ॥ ४३ ॥

गृहैरादर्शविमलैर्विविधैश्च लतागृहैः ।
मनोहरैश्चित्रगृहैस्तथा जगतिपर्वतैः ।
वापीभिर्विविधाभिश्च पूर्णाभिः परमाम्भसा ॥ ४४ ॥

और अनेक प्रकारके दर्पणके सदृश निर्मल गृह, भांति भांतिके लतागृह, सुहावने चित्रगृह, क्रीडार्थ मिट्टीके कृत्रिम पहाड, जलसे पूरी तरह भरी हुई अनेक तरहकी बावडियोंसे ॥४४॥

सरोभिरतिरम्यैश्च पद्मोत्पलसुगन्धिभिः ।
हंसकारण्डवयुतैश्चक्रवाकोपशोभितैः ॥ ४५ ॥

कमलकी पंखुडियोंसे सुगंधित अति सुन्दर तालाब, हंस, कारण्डव और चकवोंसे सुहावने ॥ ४५ ॥

रम्याश्च विविधास्तत्र पुष्करिण्यो वनावृताः ।
तडागानि च रम्याणि बृहन्ति च महान्ति च ॥ ४६ ॥

वनसे घिरे, भांति भांतिके सुन्दर ताल और बडे बडे सुन्दर तडागोंसे वह नगरी सुशोभित थी ॥ ४६ ॥

तेषां पुण्यजनोपेतं राष्ट्रमावसतां महत् ।
पाण्डवानां महाराज शश्वत्प्रीतिरवर्धत ॥ ४७ ॥

महाराज ! उस पुण्यशील जनोंसे पूरित महान् प्रदेशमें जाकर रहनेवाले पाण्डवोंका आनन्द दिन पर दिन बढने लगा ॥ ४७ ॥

तत्र भीष्मेण राज्ञा च धर्मप्रणयने कृते ।
पाण्डवाः समपद्यन्त खाण्डवप्रस्थवासिनः ॥ ४८ ॥

राजा धृतराष्ट्र और भीष्मके पाण्डवोंके लिये उस प्रकार धर्मकी व्यवस्था कर देनेपर पाण्डव खाण्डवप्रस्थमें रहकर आनान्दित हुए ॥ ४८ ॥

पञ्चभिस्तैर्महेष्वासैरिन्द्रकल्पैः समन्वितम् ।
शुशुभे तत्पुरश्रेष्ठं नागैर्भोगवती यथा ॥ ४९ ॥

भोगवती नगरी जिस प्रकार नागोंसे शोभित होती है, वैसे ही वह नगर महाधनुर्धारी, इन्द्रके समान पञ्च पाण्डवोंसे अच्छी शोभा पाने लगा ॥ ४९ ॥

तान्निवेश्य ततो वीरो रामेण सह केशवः ।
ययौ द्वारवतीं राजन्पाण्डवानुमते तदा ॥ ५० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि एकोनद्विशततमोऽध्यायः ॥ १९९ ॥ समाप्तं राज्यलम्भपर्व ॥६४२५॥

हे महाराज ! बलदेवके साथ वीर श्रीकृष्ण इस प्रकारसे पाण्डवोंको राज्यपर बैठाकर उनकी सम्मातिसे द्वारकाको गये ॥ ५० ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें एकसौ निन्यानवेवां अध्याय समाप्त ॥ १९९ ॥
॥राज्यप्रातिका पर्व समाप्त ॥ ६४२५ ॥

: २०० :

जनमेजय उवाच

एवं संप्राप्य राज्यं तदिन्द्रप्रस्थे तपोधन ।
अत ऊर्ध्वं महात्मानः किमकुर्वन्त पाण्डवाः ॥ १ ॥

जनमेजय बोले– हे तपोधन ! इसके बाद इस प्रकार उस इन्द्रप्रस्थ राज्यको प्राप्त कर महात्मा पाण्डवोंने क्या किया ? ॥ १ ॥

सर्व एव महात्मानः पूर्वे मम पितामहाः ।
द्रौपदी धर्मपत्नी च कथं तानन्ववर्तत ॥ २ ॥

मेरे परदादे सभी महात्मा थे, अतः उनकी भार्या द्रौपदी उन सबके साथ कैसे रहती थी ? ॥२॥

कथं वा पञ्च कृष्णायामेकस्यां ते नराधिपाः ।
वर्तमाना महाभागा नाभिद्यन्त परस्परम् ॥ ३ ॥

ये महाभाग पांचों भूपति एक द्रौपदीमें कैसे रह रहते थे; फिर उसपर भी उन पांचोंमें आपसका झगडा नहीं होता था, इसका क्या कारण है ? ॥ ३ ॥

श्रोतुमिच्छाम्यहं सर्वं विस्तरेण तपोधन ।
तेषां चेष्टितमन्योन्यं युक्तानां कृष्णया तया ॥ ४ ॥

हे तपोधन ! कृष्णासे मिलते हुए उन महात्माओंने आपसमें कैसा व्यवहार किया था ? यह सब विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूं ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञाताः कृष्णया सह पाण्डवाः ।
रेमिरे पुरुषव्याघ्राः प्राप्तराज्याः परंतपाः ॥ ५ ॥

वैशम्पायन बोले– शत्रुको मथनेहारे पुरुषसिंह पाण्डव धृतराष्ट्रकी आज्ञासे राज्य प्राप्त कर खाण्डवप्रस्थमें कृष्णाके साथ रमने लगे ॥ ५ ॥

प्राप्य राज्यं महातेजाः सत्यसन्धो युधिष्ठिरः ।
पालयामास धर्मेण पृथिवीं भ्रातृभिः सह ॥ ६ ॥

बडे तेजस्वी सत्यशील युधिष्ठिर राज्य पाकर भाईयोंके साथ धर्मके अनुसार प्रजा पालने लगे ॥ ६ ॥

जितारयो महाप्राज्ञाः सत्यधर्मपरायणाः ।
मुदं परमिकां प्राप्तास्तत्रोषुः पाण्डुनन्दनाः ॥ ७ ॥

शत्रुविनाशी, महाप्राज्ञ, सत्यधर्मशील पुरुष–श्रेष्ठ पाण्डवगण बडे आनन्दसे उस स्थानमें रहने लगे ॥ ७ ॥

कुर्वाणाः पौरकार्याणि सर्वाणि पुरुषर्षभाः ।
आसांचक्रुर्महार्हेषु पार्थिवेष्वासनेषु च ॥ ८ ॥

वे पुरुषश्रेष्ठ नगरकी सब तरहकी देखभाल करते हुए महामूल्यवान् राज सिंहासनों पर बैठते थे ॥ ८ ॥

अथ तेषूपविष्टेषु सर्वेष्वेव महात्मसु ।
नारदस्त्वथ देवर्षिराजगाम यदृच्छया ।
आसनं रुचिरं तस्मै प्रददौ स्वं युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥

एक दिन वे सब महात्मा बैठे थे, कि ऐसे समयमें देवर्षि नारद अपनी इच्छासे वहां आ पहुंचे । बुद्धिमान् युधिष्ठिरने ऋषिको आते देखकर अपना सुन्दर आसन दे दिया ॥ ९ ॥

देवर्षेरुपविष्टस्य स्वयमर्घ्यं यथाविधि ।
प्रादाद्युधिष्ठिरो धीमान्राज्यं चास्मै न्यवेदयत् ॥ १० ॥

तदनन्तर देवर्षिके बैठने पर युधिष्ठिरने उनको विधिपूर्वक अर्घ देकर सम्पूर्ण राजकार्यकी बातें कह सुनायीं ॥ १० ॥

प्रतिगृह्य तु तां पूजामृषिः प्रीतमनाभवत् ।
आशीर्भिर्वर्धयित्वा च तमुवाचास्यतामिति ॥ ११ ॥

ऋषि पूजा लेकर प्रसन्न मनवाले हो गए और उनको आशीर्वादोंसे बढाकर बैठनेके लिए कहा ॥ ११ ॥

निषसादाभ्यनुज्ञातस्ततो राजा युधिष्ठिरः ।
प्रेषयामास कृष्णायै भगवन्तमुपस्थितम् ॥ १२ ॥

तब राजा युधिष्ठिर मुनिकी आज्ञासे बैठ गये और कृष्णाके पास देवर्षिके आनेका समाचार भिजवाया ॥ १२ ॥

श्रुत्वैव द्रौपदी चापि शुचिर्भूत्वा समाहिता ।
जगाम तत्र यत्रास्ते नारदः पाण्डवैः सह ॥ १३ ॥

द्रौपदी भी वह बात सुनते ही शुचि और समाहित होकर उस स्थान पर गयी जहां देवर्षि पाण्डवोंके साथ बैठे हुए थे ॥ १३ ॥

तस्याभिवाद्य चरणौ देवर्षेर्धर्मचारिणी ।
कृताञ्जलिः सुसंवीता स्थिताथ द्रुपदात्मजा ॥ १४ ॥

धर्मचारिणी कृष्णा देवर्षिके पांवोंको छूकर हाथ जोडकर तथा शरीरके चारों ओर अच्छी तरहसे वस्त्र लपेट कर खडी हो गई ॥ १४ ॥

तस्याश्चापि स धर्मात्मा सत्यवागृषिसत्तमः ।
आशिषो विविधाः प्रोच्य राजपुत्र्यास्तु नारदः ।
गम्यतामिति होवाच भगवांस्तामनिन्दिताम् ॥ १५ ॥

भगवान् धर्मात्मा सत्यवादी ऋषिश्रेष्ठ नारदने अनिन्दिता उस राजकन्याको अनेक अशीस देकर जानेकी आज्ञा दी ॥ १५ ॥

गतायामथ कृष्णायां युधिष्ठिरपुरोगमान् ।
विविक्ते पाण्डवान्सर्वानुवाच भगवानृषिः ॥ १६ ॥

तदनन्तर द्रौपदीके चले जाने पर भगवान् देवर्षि युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंसे एकान्तमें बोले ॥ १६ ॥

पाञ्चाली भवतामेका धर्मपत्नी यशस्विनी ।
यथा वो नात्र भेदः स्यात्तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ १७ ॥

यशस्विनी द्रौपदी अकेली तुम सबकी धर्मपत्नी है; ऐसी दशामें तुम भाइयोंमें बिगाड न हो ऐसा कोई नियम करो ॥ १७ ॥

सुन्दोपसुन्दावसुरौ भ्रातरौ सहितावुभौ ।
आस्तामवध्यावन्येषां त्रिषु लोकेषु विश्रुतौ ॥ १८ ॥

पूर्वकालमें सुन्द और उपसुन्द नामक दो भाई एकत्र रहते थे। दूसरोंसे वधके अयोग्य और तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध थे ॥ १८ ॥

एकराज्यावेकगृहावेकशय्यासनाशनौ ।
तिलोत्तमायास्तौ हेतोरन्योन्यमभिजघ्नतुः ॥ १९ ॥

उनका एक राज्य, एक गृह, एक सेज, एक भोजनस्थान था। उनमें सदा ऐसी मित्रता बनी रहने पर भी तिलोत्तमाके लिये उन्होंने एक दूसरेको मार डाला ॥ १९ ॥

रक्ष्यतां सौहृदं तस्मादन्योन्यप्रतिभाविकम् ।
यथा वो नात्र भेदः स्यात्तत्कुरुष्व युधिष्ठिर ॥ २० ॥

अतः, हे युधिष्ठिर ! तुम आपसकी प्रीति बढानेवाले भ्रातृप्रेमको बनाये रखो। यह प्रयत्न करो, कि तुममें भ्रातृभेद न होने पावे ॥ २० ॥

युधिष्ठिर उवाच

सुन्दोपसुन्दावसुरौ कस्य पुत्रौ महामुने ।
उत्पन्नश्च कथं भेदः कथं चान्योन्यमघ्नताम् ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे महामुने ! सुन्द और उपसुन्द किसके पुत्र थे ? उनमें आपसमें क्यों भेद हो गया ? और क्यों उन्होंने एक दूसरेको मार डाला ? ॥ २१ ॥

अप्सरा देवकन्या वा कस्य चैषा तिलोत्तमा ।
यस्याः कामेन संमत्तौ जघ्नतुस्तौ परस्परम् ॥ २२ ॥

और जिस नारीकी इच्छा करते हुए मत्त होकर उन्होंने एक दूसरेको मार डाला, वह तिलोत्तमा किसकी कन्या थी ? वह बाला अप्सरा थी वा देवकन्या ? ॥ २२ ॥

एतत्सर्वं यथावृत्तं विस्तरेण तपोधन ।
श्रोतुमिच्छामहे विप्र परं कौतूहलं हि नः ॥ २३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि द्विशततमोऽध्यायः ॥ २०० ॥ ६४४८ ॥

हे विप्र ! यह सब विस्तारपूर्वक आद्योपांत सुनना चाहते हैं। हे तपोधन ! यह सुननेकी हमारी बडी इच्छा है ॥ २३ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें दो सौवां अध्याय समाप्त ॥ २०० ॥ ६४४८ ॥

: २०१ :

नारद उवाच

शृणु मे विस्तरेणेममितिहासं पुरातनम् ।
भ्रातृभिः सहितः पार्थ यथावृत्तं युधिष्ठिर ॥ १ ॥

नारद बोले– हे पृथापुत्र युधिष्ठिर ! भाइयोंके साथ तुम इस प्राचीन इतिहासको ठीक ठीक और विस्तारपूर्वक मुझसे सुनो ॥ १ ॥

महासुरस्यान्ववाये हिरण्यकशिपोः पुरा ।
निकुम्भो नाम दैत्येन्द्रस्तेजस्वी बलवानभूत् ॥ २ ॥

पूर्वकालमें महासुर हिरण्यकशिपुके वंशमें निकुम्भ नामक बली तेजस्वी एक दैत्यवरने जन्म लिया था ॥ २ ॥

तस्य पुत्रौ महावीर्यौ जातौ भीमपराक्रमौ ।
सहान्योन्येन भुञ्जाते विनान्योन्यं न गच्छतः ॥ ३ ॥

उसके बडे पराक्रमी, बडे वीर्यवान् दो पुत्र पैदा हुए । उनमें इतनी प्रीति थी कि वे एक साथ बैठकर ही भोजन करते थे और एक दूसरेके बिना कहीं आते जाते नहीं थे ॥ ३ ॥

अन्योन्यस्य प्रियकरावन्योन्यस्य प्रियंवदौ ।
एकशीलसमाचारौ द्विधैवैकं यथा कृतौ ॥ ४ ॥

दोनों एक दूसरेसे प्यारी बोली बोलते और एक दूसरेका प्रिय कार्य करते थे; उन दो भाइयोंके स्वभाव और व्यवहारमें भेद न रहनेके कारण जान पडता था, कि मानों एक ही मनुष्य दो भागोंमें बंट गया है ॥ ४ ॥

तौ विवृद्धौ महावीर्यौ कार्येष्वप्येकनिश्चयौ ।
त्रैलोक्यविजयार्थाय समास्थायैकनिश्चयम् ॥ ५ ॥
कृत्वा दीक्षां गतौ विन्ध्यं तत्रोग्रं तेपतुस्तपः ।
तौ तु दीर्घेण कालेन तपोयुक्तौ बभूवतुः ॥ ६ ॥

हर काममें एक बुद्धि रखनेवाले वे दो बडे वीर्यवान् भाई बडे हुए और वे तीनों लोक जीतनेका निश्चय कर विंध्य पर्वत पर जाकर दीक्षित और समाहित होकर कठोर तप करने लगे और दीर्घकालके बाद वे दोनों तपसे युक्त हुए ॥ ५–६ ॥

क्षुत्पिपासापरिश्रान्तौ जटावल्कलधारिणौ ।
मलोपचितसर्वाङ्गौ वायुभक्षौ बभूवतुः ॥ ७ ॥

जटा वल्कल धारण करके और भूखप्याससे थक कर भी सब शरीरमें भस्म लगाकर वायु पीनेवाले हो गये अर्थात् कुछ न खाते हुए केवल वायु पीकर रहने लगे ॥ ७ ॥

आत्ममांसानि जुह्वन्तौ पादाङ्गुष्ठाग्रधिष्ठितौ ।
ऊर्ध्वबाहू चानिमिषौ दीर्घकालं धृतव्रतौ ॥ ८ ॥

उन दोनोंने अंगूठोंके बल खडे होकर, हाथ ऊंचे उठाकर, पलक मारना छोड अर्थात् एकटक देखते हुए और व्रत धारण कर बहुत कालतक अपने मांसकी आहुति चढायी ॥८॥

तयोस्तपःप्रभावेण दीर्घकालं प्रतापितः
धूमं प्रमुमुचे विन्ध्यस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ९ ॥

उस कालमें एक आश्चर्यकारक बात यह हुई, कि विंध्य पर्वतने उनकी दीर्घकालिक तपस्याके प्रभावसे तप कर धुआं छोडना शुरू किया ॥ ९ ॥

ततो देवाभवन्भीता उग्रं दृष्ट्वा तयोस्तपः ।
तपोविघातार्थमथो देवा विघ्नानि चक्रिरे ॥ १० ॥

तब देवगण उनकी कठोर तपस्या देखकर भयभीत हो गए और तब वे देव उनका तप नष्ट करनेके लिये विघ्न डालने लगे ॥ १० ॥

रत्नैः प्रलोभयामासुः स्त्रीभिश्चोभौ पुनः पुनः ।
न च तौ चक्रतुर्भङ्गं व्रतस्य सुमहाव्रतौ ॥ ११ ॥

उन्होंने लुभानेवाले रत्न और नारीसे उन दोनोंको बार बार लुभाया; पर उन दोनों महा व्रत करनेवाले भाइयोंने किसी प्रकार व्रत नहीं छोडा ॥ ११ ॥

अथ मायां पुनर्देवास्तयोश्चक्रुर्महात्मनोः ।
भगिन्यो मातरो भार्यास्तयोः परिजनस्तथा ॥ १२ ॥

तब उन देवोंने फिर उन दो महात्माओंके सामने माया फैलाकर यह एक बडी भारी लीला दिखायी, कि उन दोनों असुरोंकी माता, बहिन, स्त्री और दूसरे स्वजन ॥ १२ ॥

परिपात्यमाना वित्रस्ताः शूलहस्तेन रक्षसा ।
स्रस्ताभरणकेशान्ता एकान्तभ्रष्टवाससः ॥ १३ ॥
अभिधाव्य ततः सर्वास्तौ त्राहीति विचुक्रुशुः ।
न च तौ चक्रतुर्भङ्गं व्रतस्य सुमहाव्रतौ ॥ १४ ॥

ढीले अलंकारों और बालोंवाली होकर तथा वस्त्रोंसे रहित होकर शूलको हाथमें धारण करनेवाले राक्षसके द्वारा गिराई जाती हुई तथा भयभीत होकर उन दोनोंके सामने आकर "बचाओ बचाओ" कह कर चिल्लाने लगीं, यह देखकर भी महाव्रतधारी सुन्द और उपसुन्दने व्रत नहीं छोडा ॥ १३–१४ ॥

यदा क्षोभं नोपयाति नार्तिमन्यतरस्तयोः ।
ततः स्त्रियस्ता भूतं च सर्वमन्तरधीयत ॥ १५ ॥

इसके बाद जब दोनोंमेंसे कोई भी उससे क्षुब्ध अथवा दुःखी नहीं हुआ, तब वे स्त्रियां और राक्षस गायब हो गए ॥ १५ ॥

ततः पितामहः साक्षादभिगम्य महासुरौ ।
वरेण छन्दयामास सर्वलोकपितामहः ॥ १६ ॥

उसके पश्चात् सब लोकोंके पितामहने उन दोनों महावीरोंके सामने आकर उनसे वर मांगनेको कहा ॥ १६ ॥

ततः सुन्दोपसुन्दौ तौ भ्रातरौ दृढविक्रमौ ।
दृष्ट्वा पितामहं देवं तस्थतुः प्राञ्जली तदा ॥ १७ ॥

दृढ विक्रमी सुन्द और उपसुन्द दोनों भाई प्रभु पितामह देवको देखकर दोनों हाथ जोडकर खडे हो गए ॥ १७ ॥

ऊचतुश्च प्रभुं देवं ततस्तौ सहितौ तदा ।
आवयोस्तपसानेन यदि प्रीतः पितामहः ॥ १८ ॥
मायाविदावस्त्रविदौ बलिनौ कामरूपिणौ ।
उभावप्यमरौ स्यावः प्रसन्नो यदि नौ प्रभुः ॥ १९ ॥

और दोनों इकट्ठे ही उस प्रभु देवसे बोले– प्रभो पितामह ! हमारी तपस्यासे यदि आप प्रसन्न हुए हैं तथा आनन्दित हुए हैं तो हमको यह वर दें, कि हम दोनों मायाके जानकार, अस्त्रके जानकार, बली, इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले और अमर हों ॥ १८-१९ ॥

पितामह उवाच

ऋतेऽमरत्वमन्यद्वां सर्वमुक्तं भविष्यति ।
अन्यद्वृणीतां मृत्योश्च विधानममरैः समम् ॥ २० ॥

पितामह बोले– तुमने जो जो प्रार्थना की उनमेंसे अमर होनेके अतिरिक्त तुम्हारी सब अभिलाषा पूरी होगी । अमरताके विना और कुछ प्रार्थना ऐसी करो, कि जो अमर होनेके तुल्य हो ॥ २० ॥

करिष्यावेदमिति यन्महदभ्युत्थितं तपः ।
युवयोर्हेतुनानेन नामरत्वं विधीयते ॥ २१ ॥

तीनों लोकोंके प्रभु बननेहीकी इच्छासे तुमने यह वडी तपस्या प्रारम्भ की थी, इसलिये तुमको अमरता प्राप्त होना ठीक नहीं है ॥ २१ ॥

त्रैलोक्यविजयार्थाय भवद्भ्यामास्थितं तपः ।
हेतुनानेन दैत्येन्द्रौ न वां कामं करोम्यहम् ॥ २२ ॥

हे दोनों दैत्यवरो ! तीनों लोक जय करनेके लिए ही तुमने तपस्या की है; इस कारण, हे दैत्यराजो ! तुम्हारे अमर होनेकी अभिलाषा पूरी नहीं करूंगा ॥ २२ ॥

सुन्दोपसुन्दावूचतुः

त्रिषु लोकेषु यद् भूतं किंचित्स्थावरजङ्गमम् ।
सर्वस्मान्नौ भयं न स्यादृतेऽन्योन्यं पितामह ॥ २३ ॥

सुन्द और उपसुन्दने कहा– हे पितामह ! हम दोनोंको एक दूसरेके सिवाय इस त्रिलोकभरमें उत्पन्न स्थावर जङ्गम आदि किसीसे भी मृत्युका भय न रहे ॥ २३ ॥

पितामह उवाच

यत्प्रार्थितं यथोक्तं च काममेतद्ददानि वाम् ।
मृत्योर्विधानमेतच्च यथावद्वां भविष्यति ॥ २४ ॥

पितामह बोले– तुमने जो प्रार्थना की और जो कहा, वह तुम्हारी इच्छा तुम्हें देता हूं। तुम्हारे कथनानुसार ही मृत्युका नियम निश्चित होगा ॥ २४ ॥

नारद उवाच

ततः पितामहो दत्त्वा वरमेतत्तदा तयोः ।
निवर्त्य तपसस्तौ च ब्रह्मलोकं जगाम ह ॥ २५ ॥

नारद बोले– तदनन्तर पितामह सुन्द और उपसुन्दको यह वर देकर तपसे निवृत्त कर ब्रह्मलोकमें गये ॥ २५ ॥

लब्ध्वा वराणि सर्वाणि दैत्येन्द्रावपि तावुभौ ।
अवध्यौ सर्वलोकस्य स्वमेव भवनं गतौ ॥ २६ ॥

दोनों दैत्यवर सब वर पाकर सब लोकोंके द्वारा वधके अयोग्य होकर अपने घरको पधारे ॥ २६ ॥

तौ तु लब्धवरौ दृष्ट्वा कृतकामौ महासुरौ ।
सर्वः सुहृज्जनस्ताभ्यां प्रमोदमुपजग्मिवान् ॥ २७ ॥

उनके स्वजन उन दोनों महासुरोंको वर प्राप्त किया हुआ और उनका मनोरथ सफल हुआ देखकर बडे प्रसन्न हुए ॥ २७ ॥

ततस्तौ तु जटा हित्वा मौलिनौ संबभूवतुः ।
महार्हाभरणोपेतौ विरजोम्बरधारिणौ ॥ २८ ॥

उन दोनों भाईयोंने जटा छोडकर किरीट आदि अतिमूल्यवान् आभूषण और साफ वस्त्र पहिने ॥ २८ ॥

अकालकौमुदीं चैव चक्रतुः सार्वकामिकीम् ।
दैत्येन्द्रौ परमप्रीतौ तयोश्चैव सुहृज्जनः ॥ २९ ॥

अनन्तर उन परम प्रसन्न दैत्येन्द्रों और उनके सुहृज्जनोंने सब कामनाओंको पूर्ण करनेवाली कौमुदीका महोत्सव समयके विना ही करना प्रारम्भ किया ॥ २९ ॥

भक्ष्यतां भुज्यतां नित्यं रम्यतां गीयतामिति ।
पीयतां दीयतां चेति वाच आसन्गृहे गृहे ॥ ३० ॥

भक्षण करो, भोजन करो, खेलो, गाओ, दो, पीओ, ऐसे शब्द घर घरमें उच्चारे जाने लगे ॥ ३० ॥

तत्र तत्र महापानैरुत्कृष्टतलनादितैः ।
हृष्टं प्रमुदितं सर्वं दैत्यानामभवत्पुरम् ॥ ३१ ॥

स्थान स्थानमें दैत्योंके सिंहके समान गर्जनके साथ करतालकी उत्कृष्ट ध्वनिसे सम्पूर्ण नगरमें आनन्दकी उमंग फैल पडी ॥ ३१ ॥

तैस्तैर्विहारैर्बहुभिर्दैत्यानां कामरूपिणाम् ।
समाः संक्रीडतां तेषामहरेकमिवाभवत् ॥ ३२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि एकाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०१ ॥ ६४८० ॥

कामरूपी दैत्योंके बडे आनन्दसे उस प्रकारके भांति भांतिके विहारमें लगे रहनेसे उनको एक एक वर्ष एक एक दिनके समान जान पडने लगा ॥ ३२ ॥

महाभारतके आदिपर्वमें दो सौ एकवां अध्याय समाप्त ॥ २०१ ॥ ६४८० ॥

: २०२ :

नारद उवाच

उत्सवे वृत्तमात्रे तु त्रैलोक्याकाङ्क्षिणावुभौ ।
मन्त्रयित्वा ततः सेनां तावाज्ञापयतां तदा ॥ १ ॥

नारद बोले– अकालकौमुदीके महोत्सवके अन्त होनेपर तीनों लोकों पर अधिकार प्राप्त करनेके अभिलाषी होकर दोनों भाइयोंने विचारविमर्श करके सेनाओंको सजनेकी आज्ञा दी ॥ १ ॥

सुहृद्भिरभ्यनुज्ञातौ दैत्यवृद्धैश्च मन्त्रिभिः ।
कृत्वा प्रास्थानिकं रात्रौ मघासु ययतुस्तदा ॥ २ ॥

उन्होंने स्वजन और वृद्ध दैत्यमन्त्रियोंकी आज्ञासे यात्रा करनेकी तैय्यारी पूरी कर रात्रिको मघा नक्षत्रमें यात्रा की ॥ २ ॥

×

गदापट्टिशधारिण्या शूलमुद्गरहस्तया।
प्रस्थितौ सहधर्मिण्या महत्या दैत्यसेनया ॥ ३ ॥

तुल्यधर्मवाली बडी गदा, पट्टिश, शूल, मुद्गर आदि शस्त्र लेकर चलनेवाली बडी दैत्य-सेनाके साथ वे दोनों चल पडे ॥ ३ ॥

मङ्गलैः स्तुतिभिश्चापि विजयप्रतिसंहितैः।
चारणैः स्तूयमानौ तु जग्मतुः परया मुदा ॥ ४ ॥

दोनों दैत्यराज चारणोंकी विजयसूचक मांगालिक स्तुति पाठसे प्रशंसित होकर परम हर्षपूर्वक जाने लगे ॥ ४ ॥

तावन्तरिक्षमुत्पत्य दैत्यौ कामगमावुभौ।
देवानामेव भवनं जग्मतुर्युद्धदुर्मदौ ॥ ५ ॥

युद्धमें कठोर, अपनी इच्छाके अनुसार चलनेवाले वे दोनों दैत्यवर आकाश पर चढके देवलोकको गये ॥ ५ ॥

तयोरागमनं ज्ञात्वा वरदानं च तत्प्रभोः।
हित्वा त्रिविष्टपं जग्मुर्ब्रह्मलोकं ततः सुराः ॥ ६ ॥

तब देवगण उनके आनेका समाचार पाकर पितामहका वर देना स्मरण कर स्वर्ग छोडकर ब्रह्मलोकमें गये ॥ ६ ॥

ताविन्द्रलोकं निर्जित्य यक्षरक्षोगणांस्तथा।
खेचराण्यपि भूतानि जिग्यतुस्तीव्रविक्रमौ ॥ ७ ॥

तेजस्वी विक्रमी दोनों दैत्योंने इन्द्रलोकको जीतकर यक्षगण, राक्षसगण और दूसरे खेचरी प्राणियोंको भी जीत लिया ॥ ७ ॥

अन्तर्भूमिगतान्नागाञ्जित्वा तौ च महासुरौ।
समुद्रवासिनः सर्वान्म्लेच्छजातीन्विजिग्यतुः ॥ ८ ॥

और उन दोनों महासुरोंने पातालमें बसे हुए सर्पोंको परास्त कर, समुद्र द्वीपमें रहनेवाली सभी म्लेच्छ जातियोंको हराया ॥ ८ ॥

ततः सर्वां महीं जेतुमारब्धावुग्रशासनौ।
सैनिकांश्च समाहूय सुतीक्ष्णां वाचमूचतुः ॥ ९ ॥

तदनन्तर कठोर शासन करनेवाले दोनों महाबली भाइयोंने सारे भूमण्डलको परास्त करनेको उद्यत होकर सेनाओंको पुकार पुकार यह तीव्र वचन कहे ॥ ९ ॥

राजर्षयो महायज्ञैर्हव्यकव्यैर्द्विजातयः ।
तेजो बलं च देवानां वर्धयन्ति श्रियं तथा ॥ १० ॥

राजर्षि वृन्द महायज्ञोंसे और ब्राह्मणगण हव्यकव्यसे देवोंके तेज, बल और श्रीको बढाते हैं ॥ १० ॥

तेषामेवं प्रवृद्धानां सर्वेषामसुरद्विषाम् ।
संभूय सर्वैरस्माभिः कार्यः सर्वात्मना वधः ॥ ११ ॥

इस प्रकारके कार्यमें लगे हुए उन सभी असुरद्वेषी जनोंका हर तरहसे वध हमें मिल कर करना होगा ॥ ११ ॥

एवं सर्वान्समादिश्य पूर्वतीरे महोदधेः ।
क्रूरां मतिं समास्थाय जग्मतुः सर्वतोमुखम् ॥ १२ ॥

इस प्रकार सब सेनाओंको आज्ञा देकर वे महासमुद्रके पूर्व तट पर ऐसा निष्ठुर विचार कर चारों ओर दौडे ॥ १२ ॥

यज्ञैर्यजन्ते ये केचिद्याजयन्ति च ये द्विजाः ।
तान्सर्वान्प्रसभं दृष्ट्वा बलिनौ जघ्नतुस्तदा ॥ १३ ॥

उन दोनों बली भाइयोंने जिन जिन ब्राह्मणोंको यज्ञ करते वा कराते देखा, उसी क्षण उन सबको जबर्दस्ती मार दिया ॥ १३ ॥

आश्रमेष्वग्निहोत्राणि ऋषीणां भावितात्मनाम् ।
गृहीत्वा प्रक्षिपन्त्यप्सु विस्रब्धाः सैनिकास्तयोः ॥ १४ ॥

उनकी सेना निःशङ्कचित्तसे आत्मशक्तिसे युक्त ऋषियोंके आश्रममें जाकर उनके अग्निहोत्र ले लेके जलमें छोडने लगी ॥ १४ ॥

तपोधनैश्च ये शापाः क्रुद्धैरुक्ता महात्मभिः ।
नाक्रामन्ति तयोस्तेऽपि वरदानेन जृम्भतोः ॥ १५ ॥

महात्मा तपोधनवृन्द क्रोधित होकर शाप देने लगे, जो ब्रह्माके वरके कारण उपद्रव मचानेवाले उन पर प्रभाव नहीं डाल सके ॥ १५ ॥

नाक्रामन्ति यदा शापा बाणा मुक्ताः शिलास्विव ।
नियमांस्तदा परित्यज्य व्यद्रवन्त द्विजातयः ॥ १६ ॥

जब द्विजोंका शाप शिला पर छोडे गए बाणकी भांति व्यर्थ होने लगे, तब वे ब्राह्मण अपने व्रत एवं नियमादि छोडकर भागने लगे ॥ १६ ॥

पृथिव्यां ये तपःसिद्धा दान्ताः शमपरायणाः।
तयोर्भयाद्दुद्रुवुस्ते वैनतेयादिवोरगाः ॥ १७ ॥

भूमण्डलमें जितने शमशील, तपःसिद्ध दान्त ऋषि थे, वे इस प्रकार भागे, कि जैसे गरुडके भयसे सर्प भागते हैं ॥ १७ ॥

मथितैराश्रमैर्भग्नैर्विकीर्णकलशस्रुवैः।
शून्यमासीज्जगत्सर्वं कालेनेव हतं यथा ॥ १८ ॥

इस प्रकार मथे हुए आश्रमोंसे तथा टूटे फूटे तथा बिखरे हुए कलशों और स्रुवाओंसे यह सारा संसार इस प्रकार शून्य हो गया, जिस प्रकार प्रलयकालमें कालके द्वारा सब नष्ट कर दिया जाता है ॥ १८ ॥

राजर्षिभिरदृश्यद्भिर्ऋषिभिश्च महासुरौ।
उभौ विनिश्चयं कृत्वा विकुर्वाते वधैषिणौ ॥ १९ ॥

तदनन्तर मुनियोंके और राजर्षियोंके इधर उधर छिपकर दृष्टिके बाहर हो जानेपर दोनों महासुर उनके वधका निश्चय करके नाना रूप धरने लगे ॥ १९ ॥

प्रभिन्नकरटौ मत्तौ भूत्वा कुञ्जररूपिणौ।
संलीनानपि दुर्गेषु निन्यतुर्यमसादनम् ॥ २० ॥

वे कभी मदोन्मत्त गजका स्वरूप लेकर दुर्गमें गये हुए तपस्वियोंको भी नष्ट करने लगे ॥२०॥

सिंहौ भूत्वा पुनर्व्याघ्रौ पुनश्चान्तर्हितावुभौ।
तैस्तैरुपायैस्तौ क्रूरावृषीन्दृष्ट्वा निजघ्नतुः ॥ २१ ॥

वे दोनों क्रूर असुर कभी सिंहका स्वरूप और कभी व्याघ्रका रूप धारण करते थे और कभी दृष्टिसे ओझल हो जाते थे। इस प्रकार उन्होंने नाना उपायोंसे ऋषियोंको देखकर नष्ट किया ॥ २१ ॥

निवृत्तयज्ञस्वाध्याया प्रणष्टनृपतिद्विजा।
उत्सन्नोत्सवयज्ञा च बभूव वसुधा तदा ॥ २२ ॥

तब धरती यज्ञ और स्वाध्यायसे रहित और ब्राह्मण तथा राजासे रहित होकर यज्ञोत्सवसे भी हीन हो गई ॥ २२ ॥

हाहाभूता भयार्ता च निवृत्तविपणापणा।
निवृत्तदेवकार्या च पुण्योद्वाहविवर्जिता ॥ २३ ॥

सब लोक भयभीत होकर हाय हाय करने लगे। मोल विक्री आदि बाजारका कार्य, दैवी कार्य, पुण्यकार्य, विवाहकार्य सभी नष्ट हो गए ॥ २३ ॥

निवृत्तकृषिगोरक्षा विध्वस्तनगराश्रमा ।
अस्थिकङ्कालसंकीर्णा भूर्बभूवोग्रदर्शना ॥ २४ ॥

कृषिकार्य और गोरक्षा आदि सम्पूर्ण कार्य ही रुक गये। नगर और आश्रमोंका सत्यानाश होकर केवल हड्डी कङ्कालोंसे पृथ्वी बहुत भयावनी दीख पडने लगी ॥ २४ ॥

निवृत्तपितृकार्यं च निर्वषट्कारमङ्गलम् ।
जगत्प्रतिभयाकारं दुष्प्रेक्ष्यमभवत्तदा ॥ २५ ॥

सम्पूर्ण देशोंमें पितृकार्य और वषट्कार आदि मांगलिक क्रियाके लोप हो जानेपर जग बडा भयानक होनेके कारण देखनेके अयोग्य हो गया ॥ २५ ॥

चन्द्रादित्यौ ग्रहास्तारा नक्षत्राणि दिवौकसः ।
जग्मुर्विषादं तत्कर्म दृष्ट्वा सुन्दोपसुन्दयोः ॥ २६ ॥

चन्द्र, सूर्य, ग्रह, तारे और आकाशमें रहनेवाले अश्विनी आदि नक्षत्र सुन्द उपसुन्दका यह कार्य देखकर दुःखी हो गए ॥ २६ ॥

एवं सर्वा दिशो दैत्यौ जित्वा क्रूरेण कर्मणा ।
निःसपत्नौ कुरुक्षेत्रे निवेशमभिचक्रतुः ॥ २७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि द्व्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०२ ॥ ६५०७ ॥

वे दैत्य इस प्रकार कुटिल कार्यसे सब दिशाओंको जीतकर अन्तमें शत्रुरहित होकर कुरुक्षेत्रमें निवास करने लगे ॥ २७ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें दोसौ दोवां अध्याय समाप्त ॥ २०२ ॥ ६५०७ ॥

: २०३ :

नारद उवाच

ततो देवर्षयः सर्वे सिद्धाश्च परमर्षयः ।
जग्मुस्तदा परामार्तिं दृष्ट्वा तत्कदनं महत् ॥ १ ॥

नारद बोले— तब सब देवर्षि, परमर्षि और सिद्धगण उस भारी प्राणीहत्याको देखकर बहुत दुःखको प्राप्त हुए ॥ १ ॥

तेऽभिजग्मुर्जितक्रोधा जितात्मानो जितेन्द्रियाः ।
पितामहस्य भवनं जगतः कृपया तदा ॥ २ ॥

तब क्रोधको जीतनेवाले, आत्मवान् इन्द्रियोंको जीतनेवाले वे सब जगत् पर कृपायुक्त होकर पितामहके भवनको गये ॥ २ ॥

ततो ददृशुरासीनं सह देवैः पितामहम् ।
सिद्धैर्ब्रह्मर्षिभिश्चैव समन्तात्परिवारितम् ॥ ३ ॥

और वहां पितामहको सिद्ध और ब्रह्मर्षियोंसे चारों ओरसे घिरे और देवोंके साथ बैठे देखा ॥ ३ ॥

तत्र देवो महादेवस्तत्राग्निर्वायुना सह ।
चन्द्रादित्यौ च धर्मश्च परमेष्ठी तथा बुधः ॥ ४ ॥

वहां देवोंके देव महादेव, अग्नि, वायु, चन्द्र, आदित्य, धर्म, परमेष्ठी और बुध ॥ ४ ॥

वैखानसा वालखिल्या वानप्रस्था मरीचिपाः ।
अजाश्चैवाविमूढाश्च तेजोगर्भास्तपस्विनः ।
ऋषयः सर्व एवैते पितामहमुपासते ॥ ५ ॥

वैखानस, वालखिल्य, वानप्रस्थ, मरीचिप, अज, अविमुग्ध और तेजोगर्भ आदि भिन्न भिन्न तपस्वी ऋषिगण सभी पितामहके पास उपस्थित थे ॥ ५ ॥

ततोऽभिगम्य सहिताः सर्व एव महर्षयः ।
सुन्दोपसुन्दयोः कर्म सर्वमेव शशंसिरे ॥ ६ ॥

उन सम्पूर्ण महर्षिगणने एक साथ जाकर पितामहसे सुन्द और उपसुन्दके कार्योंका सभी वृत्तान्त कह सुनाया ॥ ६ ॥

यथाकृतं यथा चैव कृतं येन क्रमेण च ।
न्यवेदयंस्ततः सर्वमखिलेन पितामहे ॥ ७ ॥

उन दोनों दैत्योंने जो कुछ काम किया और जैसे मारा वह सब क्रमसे पितामहसे आद्योपान्त कह सुनाया ॥ ७ ॥

ततो देवगणाः सर्वे ते चैव परमर्षयः ।
तमेवार्थं पुरस्कृत्य पितामहमचोदयन् ॥ ८ ॥

तब उन सम्पूर्ण देवगण और परमर्षियोंने उस विषयके लिये पितामहको प्रेरित किया ॥ ८ ॥

ततः पितामहः श्रुत्वा सर्वेषां तद्वचस्तदा ।
मुहूर्तमिव संचिन्त्य कर्तव्यस्य विनिश्चयम् ॥ ९ ॥

तब पितामह उन सबोंका वह वचन सुनके क्षणभर सोचकर क्या करना ठीक है, इसका निश्चय कर ॥ ९ ॥

तयोर्वधं समुद्दिश्य विश्वकर्माणमाह्वयत् ।
दृष्ट्वा च विश्वकर्माणं व्यादिदेश पितामहः ।
सृज्यतां प्रार्थनीयेह प्रमदेति महातपाः ॥ १० ॥

दुराचारी दोनों दैत्योंके वधके लिये विश्वकर्माको बुलवाया । विश्वकर्माको देखकर महानुभाव पितामहने आज्ञा दी, कि " सभीके मनको हरनेवाली एक स्त्री बनाओ " ॥ १० ॥

पितामहं नमस्कृत्य तद्वाक्यमभिनन्द्य च ।
निर्ममे योषितं दिव्यां चिन्तयित्वा प्रयत्नतः ॥ ११ ॥

विश्वकर्माने उनको प्रणाम कर आदरपूर्वक उनकी आज्ञा मानकर यत्नपूर्वक सोचकर विचार कर एक दिव्य सुन्दरी बाला बनाई ॥ ११ ॥

त्रिषु लोकेषु यत्किंचिद् भूतं स्थावरजङ्गमम् ।
समानयद्दर्शनीयं तत्तद्यत्नात्ततस्ततः ॥ १२ ॥

त्रिलोकभरमें दर्शनयोग्य परम सुन्दर जितने स्थावर जङ्गम पदार्थ थे, विश्वकर्मा वहां वहांसे उसे ले आए ॥ १२ ॥

कोटिशश्चापि रत्नानि तस्या गात्रे न्यवेशयत् ।
तां रत्नसंघातमयीमसृजद्देवरूपिणीम् ॥ १३ ॥

करोडों रत्न उसके शरीरमें जड दिए और इस प्रकार उस स्त्रीको रत्न समूहोंसे देवरूपिणी बनाया ॥ १३ ॥

सा प्रयत्नेन महता निर्मिता विश्वकर्मणा ।
त्रिषु लोकेषु नारीणां रूपेणाप्रतिमाभवत् ॥ १४ ॥

विश्वकर्माके बडे प्रयत्नसे बनायी गई वह कन्या ऐसी रूपवती बनी, कि तीनों भुवनमें कोई भी नारी उसकी उपमाके योग्य न रही ॥ १४ ॥

न तस्याः सूक्ष्ममप्यस्ति यद्गात्रे रूपसंपदा ।
न युक्तं यत्र वा दृष्टिर्न सज्जति निरीक्षताम् ॥ १५ ॥

उसके शरीर भरमें ऐसा कोई भी सूक्ष्म स्थान न था, कि जिसपर देखनेवालेकी दृष्टि उसकी अपूर्व रूपकी शोभामें फंस नहीं जाती थी ॥ १५ ॥

सा विग्रहवतीव श्रीः कान्तरूपा वपुष्मती ।
जहार सर्वभूतानां चक्षूंषि च मनांसि च ॥ १६ ॥

साक्षात् लक्ष्मीकी भांति वह सुन्दर रूप और शरीरवाली कामिनी हरेक प्राणीके नयन और मन चुराने लगी ॥ १६ ॥

तिलं तिलं समानीय रत्नानां यद्विनिर्मिता ।
तिलोत्तमेत्यतस्तस्या नाम चक्रे पितामहः ॥ १७ ॥

विश्वकर्माने सम्पूर्ण रत्न बटोरके तिल तिल चुनकर उस कन्याको बनाया था; इसलिये पितामहने उसका नाम तिलोत्तमा रखा ॥ १७ ॥

पितामह उवाच

गच्छ सुन्दोपसुन्दाभ्यामसुराभ्यां तिलोत्तमे ।
प्रार्थनीयेन रूपेण कुरु भद्रे प्रलोभनम् ॥ १८ ॥

पितामह बोले— हे कल्याणी ! तुम सुन्द और उपसुन्द, दोनों असुरोंके पास जाओ, वहां सुन्दर रूपसे उनको लुभानेकी चेष्टा करो ॥ १८ ॥

त्वत्कृते दर्शनादेव रूपसंपत्कृतेन वै ।
विरोधः स्याद्यथा ताभ्यामन्योन्येन तथा कुरु ॥ १९ ॥

ऐसी चेष्टा करो, कि वे तुम्हारे रूपकी सम्पदा देखकर ही तुम्हें पानेके लिए उन दोनोंमें आपसमें झगडा उत्पन्न हो ॥ १९ ॥

नारद उवाच

सा तथेति प्रतिज्ञाय नमस्कृत्य पितामहम् ।
चकार मण्डलं तत्र विबुधानां प्रदक्षिणम् ॥ २० ॥

नारद बोले— अनन्तर तिलोत्तमाने उनका कहना मानकर पितामहको प्रणाम कर ज्ञानियोंके मण्डलकी चारों ओर परिक्रमा की ॥ २० ॥

प्राङ्मुखो भगवानास्ते दक्षिणेन महेश्वरः ।
देवाश्चैवोत्तरेणासन्सर्वतस्त्वृषयोऽभवन् ॥ २१ ॥

उस समय भगवान् पितामह पूर्वकी ओर, महेश्वर दक्षिणकी ओर, दूसरे देवगण उत्तरकी ओर और ऋषिवृन्द सब ओर थे ॥ २१ ॥

कुर्वन्त्या तु तया तत्र मण्डलं तत्प्रदक्षिणम् ।
इन्द्रः स्थाणुश्च भगवान्धैर्येण प्रत्यवस्थितौ ॥ २२ ॥

तिलोत्तमा जब मण्डलकी परिक्रमा कर रही थी तब इन्द्र और भगवान् महेश्वर अति धीरज धरकर अपने अपने स्थानोंमें बैठे थे ॥ २२ ॥

द्रष्टुकामस्य चात्यर्थं गतायाः पार्श्वतस्तदा ।
अन्यदञ्चितपक्ष्मान्तं दक्षिणं निःसृतं मुखम् ॥ २३ ॥

महेश्वरमें बडे वेगसे देखनेकी चाह उमडने पर तिलोत्तमा जब उनकी दक्षिणकी ओरको गयी तब कटाक्ष युक्त नेत्रोंसे सुशोभित एक दक्षिण मुख निकल आया ॥ २३ ॥

पृष्ठतः परिवर्तन्त्याः पश्चिमं निःसृतं मुखम् ।
गतायाश्चोत्तरं पार्श्वमुत्तरं निःसृतं मुखम् ॥ २४ ॥

तिलोत्तमा जब उनके पीछे गयी, तब उनका एक पश्चिम मुख निकला; और वह बाला जब उत्तरकी ओर गयी तब उनके बांई ओरसे एक मुख निकल आया ॥ २४ ॥

महेन्द्रस्यापि नेत्राणां पार्श्वतः पृष्ठतोऽग्रतः ।
रक्तान्तानां विशालानां सहस्रं सर्वतोऽभवत् ॥ २५ ॥

महेन्द्रके भी देखनेकी इच्छा होनेके कारण जब तिलोत्तमा उनकी परिक्रमा करने लगी, तब उनके सामने, पार्श्वमें और पीठ पर सम्पूर्ण शरीरहीमें बडी बडी हजार लाल आखें निकल आईं ॥ २५ ॥

एवं चतुर्मुखः स्थाणुर्महादेवोऽभवत्पुरा ।
तथा सहस्रनेत्रश्च बभूव बलसूदनः ॥ २६ ॥

हे पार्थ ! पूर्वकालमें इस प्रकार महादेव चतुर्मुख और बलासुरनाशक इंद्र सहस्रनेत्रयुक्त हुए ॥ २६ ॥

तथा देवनिकायानामृषीणां चैव सर्वशः ।
मुखान्यभिप्रवर्तन्ते येन याति तिलोत्तमा ॥ २७ ॥

और परिक्रमाके समय तिलोत्तमा जिस जिस ओर गयी, देव और महर्षियोंके मुख भी उस उसी ओर घूम गये ॥ २७ ॥

तस्या गात्रे निपतिता तेषां दृष्टिर्महात्मनाम् ।
सर्वेषामेव भूयिष्ठमृते देवं पितामहम् ॥ २८ ॥

उस समय उस ब्रह्मसभामें जो जो उपस्थित थे उनमें केवल पितामहके सिवाय सब महात्माओंकी दृष्टि उस नारीकी देह पर पडी ॥ २८ ॥

गच्छन्त्यास्तु तया देवाः सर्वे च परमर्षयः ।
कृतमित्येव तत्कार्यं मेनिरे रूपसंपदा ॥ २९ ॥

जब तिलोत्तमा जाने लगी, तब सम्पूर्ण देव और परमर्षियोंने उसके रूपकी सम्पत्तिको देखकर अपनी अभीष्टकामनाको सिद्ध जाना ॥ २९ ॥

तिलोत्तमायां तु तदा गतायां लोकभावनः।
सर्वान्विसर्जयामास देवानृषिगणांश्च तान् ॥ ३० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि त्र्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०३ ॥ ६५३७ ॥

तिलोत्तमाके देवकार्य साधनेके लिए चले जाने पर लोकभावन ब्रह्माने उन सम्पूर्ण देव और ऋषियोंको विदा किया ॥ ३० ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें दो सौ तीनवां अध्याय समाप्त ॥ २०३ ॥ ६५३७ ॥

: २०४ :

नारद उवाच

जित्वा तु पृथिवीं दैत्यौ निःसपत्नौ गतव्यथौ।
कृत्वा त्रैलौक्यमव्यग्रं कृतकृत्यौ बभूवतुः ॥ १ ॥

नारद बोले– इधर दैत्य, सुन्द और उपसुन्द दो भाई भूमण्डलको परास्त कर तीनों भुवनोंको हथेली तले लाकर दुःखसे रहित कर तथा शत्रुओंसे रहित होकर अपनेको सफल जाना ॥ १ ॥

देवगन्धर्वयक्षाणां नागपार्थिवरक्षसाम्।
आदाय सर्वरत्नानि परां तुष्टिमुपागतौ ॥ २ ॥

देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, सर्प, भूपाल आदिके सम्पूर्ण रत्न लेके परम सन्तुष्ट हुए ॥ २ ॥

यदा न प्रतिषेद्धारस्तयोः सन्तीह केचन।
निरुद्योगौ तदा भूत्वा विजह्रातेऽमराविव ॥ ३ ॥

जब देखा, कि इस त्रिलोकभरमें कोई भी उनको रोकनेवाला नहीं है, तब उद्योग छोडकर देवोंकी भांति परमसुखसे विहार करने लगे ॥ ३ ॥

स्त्रीभिर्माल्यैश्च गन्धैश्च भक्ष्यैर्भोज्यैश्च पुष्कलैः।
पानैश्च विविधैर्हृद्यैः परां प्रीतिमवापतुः ॥ ४ ॥

माला, चन्दन, स्त्री, सुन्दर खाने, चबाने और चूसनेकी सामग्री इन सब भांति भांतिकी वस्तुओंसे अति आनन्द भोगने लगे ॥ ४ ॥

अन्तःपुरे वनोद्याने पर्वतोपवनेषु च।
यथेप्सितेषु देशेषु विजह्रातेऽमराविव ॥ ५ ॥

देवोंकी भांति कभी अन्तःपुरमें, कभी वनमें, कभी फुलवारीमें, कभी पर्वत पर इस प्रकार यथेच्छ स्थानोंमें विहार करने लगे ॥ ५ ॥

ततः कदाचिद्विन्ध्यस्य पृष्ठे समशिलातले ।
पुष्पिताग्रेषु शालेषु विहारमभिजग्मतुः ॥ ६ ॥

एक दिन फूलयुक्त वृक्षोंसे सुशोभित सम शिलातलवाली विन्ध्याचलकी चोटी पर विहार करनेको गये ॥ ६ ॥

दिव्येषु सर्वकामेषु समानीतेषु तत्र तौ ।
वरासनेषु संहृष्टौ सह स्त्रीभिर्निषेदतुः ॥ ७ ॥

वहां मनमाने सम्पूर्ण दिव्य काम्य वस्तुओंको ले जाकर स्त्रियोंके साथ प्रमुदित मनसे सुन्दर आसनों पर जा बैठे ॥ ७ ॥

ततो वादित्रनृत्ताभ्यामुपातिष्ठन्त तौ स्त्रियः ।
गीतैश्च स्तुतिसंयुक्तैः प्रीत्यर्थमुपजग्मिरे ॥ ८ ॥

नारियां उनके संतोषके लिये सुन्दर नाच, गीत और स्तुतिभरे संगीतोंसे उनको प्रसन्न करने लगीं ॥ ८ ॥

ततस्तिलोत्तमा तत्र वने पुष्पाणि चिन्वती ।
वेषमाक्षिप्तमाधाय रक्तेनैकेन वाससा ॥ ९ ॥

ऐसे समय तिलोत्तमा एक ही लाल वस्त्र पहिनकर और बन ठनकर उस वनमें आकर फूल तोडने लगी ॥ ९ ॥

नदीतीरेषु जातान्सा कर्णिकारान्विचिन्वती ।
शनैर्जगाम तं देशं यत्रास्तां तौ महासुरौ ॥ १० ॥

और नदीके किनारे पैदा हुए कर्णिकारके फूलोंको तोडती हुई उस स्थान पर गई जहां दोनों दैत्य थे ॥ १० ॥

तौ तु पीत्वा वरं पानं मदरक्तान्तलोचनौ ।
दृष्ट्वैव तां वरारोहां व्यथितौ संबभूवतुः ॥ ११ ॥

वे दोनों बहुत मद पीकर आंखें लालकर नशेसे चूर थे, अतः उस सुन्दरीको देखते ही कामदेवके बाणसे घायल हो गए ॥ ११ ॥

तावुत्पत्यासनं हित्वा जग्मतुर्यत्र सा स्थिता ।
उभौ च कामसंमत्तावुभौ प्रार्थयतश्च ताम् ॥ १२ ॥

वे दोनों कामवश हो करके आसन छोडकर उठकर वहां गए, जहां वह खडी थी, उन दोनोंके मन उस पर आसक्त हो गए और दोनों उससे प्रार्थना करने लग गए ॥ १२ ॥

दक्षिणे तां करे सुभ्रूं सुन्दो जग्राह पाणिना।
उपसुन्दोऽपि जग्राह वामे पाणौ तिलोत्तमाम् ॥ १३ ॥

सुन्दने अपने हाथसे उस सुन्दर भौंहवालीका दाहिना हाथ थाम लिया और उपसुन्दने उस तिलोत्तमाका बायां हाथ पकडा ॥ १३ ॥

वरप्रदानमत्तौ तावौरसेन बलेन च।
धनरत्नमदाभ्यां च सुरापानमदेन च ॥ १४ ॥

वे एक तो वर पानेके अहङ्कार, अपने भुजवीर्यके अहंकार और धनरत्नोंके अहंकारसे तथा सुरापानसे उन्मत्त थे ही ॥ १४ ॥

सर्वैरेतैर्मदैर्मत्तावन्योन्यं भ्रुकुटीकृतौ।
मदकामसमाविष्टौ परस्परमथोचतुः ॥ १५ ॥

फिर उस पर दोनों मद्य और कामके नशेमें उन्मत्त हो गए थे; अतः एक दूसरेकी ओर भौंह चढाकर आपसमें बोले ॥ १५ ॥

मम भार्या तव गुरुरिति सुन्दोऽभ्यभाषत।
मम भार्या तव वधूरुपसुन्दोऽभ्यभाषत ॥ १६ ॥

सुन्द बोला– यह बाला मेरी स्त्री है, अतः तुमसे बडी है, तुम छोड दो। उपसुन्द बोला– यह नारी मेरी स्त्री है और तुम्हारी वधू है, तुम छोड दो ॥ १६ ॥

नैषा तव ममैषेति ततस्तौ मन्युराविशत्।
तस्या हेतोर्गदे भीमे तावुभावप्यगृह्णताम् ॥ १७ ॥

अनन्तर आपसमें ऐसा कहते हुए, कि "यह मेरी स्त्री है, तुम्हारी नहीं" दोनोंहीका क्रोध उभडा और दोनोंने उसके लिए भयंकर गदायें उठा लीं ॥ १७ ॥

तौ प्रगृह्य गदे भीमे तस्याः कामेन मोहितौ।
अहं पूर्वमहं पूर्वमित्यन्योन्यं निजघ्नतुः ॥ १८ ॥

उस एक नारीके लिये काममोहित वे दोनों भाईने बडी बडी गदा उठाकर यह कहते हुए, कि "मैं पहिले, मैं पहिले" एक दूसरेको मारने लगे ॥ १८ ॥

तौ गदाभिहतौ भीमौ पेततुर्धरणीतले।
रुधिरेणावलिप्ताङ्गौ द्वाविवार्कौ नभश्च्युतौ ॥ १९ ॥

उस गदाकी चोटसे वे भयानक दोनों दैत्य मारे गए और रक्तसे नहाये हुए आकाशसे गिरे दो सूर्योंकी भांति धरती पर गिर गये ॥ १९ ॥

ततस्ता विद्रुता नार्यः स च दैत्यगणस्तदा ।
पातालमगमत्सर्वो विषादभयकम्पितः ॥ २० ॥

तब विषाद और भयसे कम्पित उनके मित्र, दैत्य और दैत्योंकी स्त्रियां भाग कर पातालमें जा घुसीं ॥ २० ॥

ततः पितामहस्तत्र सह देवैर्महर्षिभिः ।
आजगाम विशुद्धात्मा पूजयिष्यंस्तिलोत्तमाम् ॥ २१ ॥

तदनन्तर विशुद्धात्मा भगवान् पितामह तिलोत्तमाके सत्कारके लिये देव और महर्षियोंके साथ वहां आ पहुंचे ॥ २१ ॥

वरेण छन्दिता सा तु ब्रह्मणा प्रीतिमेव ह ।
वरयामास तत्रैनां प्रीतः प्राह पितामहः ॥ २२ ॥

भगवान् पितामहने वहां पहुंच कर तिलोत्तमाको वर देना चाहा । वह वर देना स्वीकार कर प्रसन्न होकर उससे बोले ॥ २२ ॥

आदित्यचरितॉंल्लोकान्विचरिष्यसि भामिनि
तेजसा च सुदृष्टां त्वां न करिष्यति कश्चन ॥ २३ ॥

हे भामिनि ! तुम सूर्यलोकमें विचर सकोगी । तुम्हारा इतना तेज होगा, कि कोई पुरुष तुमको नहीं देख सकेगा ॥ २२ ॥

एवं तस्मै वरं दत्त्वा सर्वलोकपितामहः ।
इन्द्रे त्रैलोक्यमाधाय ब्रह्मलोकं गतः प्रभुः ॥ २४ ॥

सब लोकोंके पितामह प्रभु उसे ऐसा वर देकर और इन्द्रके हाथ तीनों लोकोंका अधिकार सौंप कर ब्रह्मलोकको सिधारे ॥ २४ ॥

एवं तौ सहितौ भूत्वा सर्वार्थेष्वेकनिश्चयौ ।
तिलोत्तमार्थे संक्रुद्धावन्योन्यमभिजघ्नतुः ॥ २५ ॥

हे भरतवंशश्रेष्ठो ! सुन्द और उपसुन्द दोनों भाई मित्रभावयुक्त और हर बातमें एकमत होने पर भी तिलोत्तमाके लिये क्रोधित होकर आप ही एक दूसरेको मारकर नष्ट हुए ॥२५॥

तस्माद्ब्रवीमि वः स्नेहात्सर्वान्भरतसत्तमान् ।
यथा वो नात्र भेदः स्यात्सर्वेषां द्रौपदीकृते ।
तथा कुरुत भद्रं वो मम चेत्प्रियमिच्छथ ॥ २६ ॥

अतः, स्नेहके हेतु मैं तुम भरतश्रेष्ठोंसे कहता हूं, कि तुम मेरा प्रिय कर्म करना चाहो, तो ऐसा कोई नियम निश्चित कर लो, कि द्रौपदीके लिये तुम भाइयोंमें विगाड न हो और तुम्हारा कल्याण हो ॥ २६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ता महात्मानो नारदेन महर्षिणा ।
समयं चक्रिरे राजंस्तेऽन्योन्येन समागताः ।
समक्षं तस्य देवर्षेर्नारदस्यामितौजसः ॥ २७ ॥

वैशम्पायन बोले– हे महाराज ! महात्मा पाण्डवोंने अमित तेजस्वी महर्षि नारदकी यह बात सुन कर एक दूसरेके मतके अनुसार उस अत्यन्त तेजस्वी देवर्षिके सामने ही यह नियम ठहराया ॥ २७ ॥

द्रौपद्या नः सहासीनमन्योन्यं योऽभिदर्शयेत् ।
स नो द्वादश वर्षाणि ब्रह्मचारी वने वसेत् ॥ २८ ॥

हममेंसे एक भाई जब द्रौपदीके साथ बैठा होगा तब जो दूसरा भाई उसको देख लेगा, उसे बारह वर्ष ब्रह्मचारी बन कर वनमें रहना होगा ॥ २८ ॥

कृते तु समये तस्मिन्पाण्डवैर्धर्मचारिभिः ।
नारदोऽप्यगमत्प्रीत इष्टं देशं महामुनिः ॥ २९ ॥

धर्मचारी पाण्डवोंके ऐसा नियम बना लेने पर महामुनि नारद प्रसन्न होकर अपने इच्छित स्थानको चले गये ॥ २९ ॥

एवं तैः समयः पूर्वं कृतो नारदचोदितैः ।
न चाभिद्यन्त ते सर्वे तदान्योन्येन भारत ॥ ३० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चतुरधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०४ ॥ ६५६७ ॥

हे भारत ! पहिले पाण्डवोंके नारदकी बातसे ऐसा नियम कर लेने पर उन भाइयोंमें आपसमें शत्रुता नहीं हुई ॥ ३० ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें दो सौ चौथा अध्याय समाप्त ॥ २०४ ॥ ६५६७ ॥

: २०५ :

वैशम्पायन उवाच

एवं ते समयं कृत्वा न्यवसंस्तत्र पाण्डवाः ।
वशे शस्त्रप्रतापेन कुर्वन्तोऽन्यान्महीक्षितः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– इसके बाद पाण्डवोंने द्रौपदीके विषयमें उस प्रकारका नियम निश्चित करके उस स्थानमें रह कर अस्त्रोंके प्रभावसे दूसरे भूपालोंको वशीभूत किया ॥ १ ॥

तेषां मनुजसिंहानां पञ्चानाममितौजसाम् ।
बभूव कृष्णा सर्वेषां पार्थानां वशवर्तिनी ॥ २ ॥

कृष्णा उन सभी बडे तेजस्वी मनुष्यसिंह पांच पाण्डवोंके वशवर्तिनी बनी रही ॥ २ ॥

ते तया तैश्च सा वीरैः पतिभिः सह पञ्चभिः ।
बभूव परमप्रीता नागैरिव सरस्वती ॥ ३ ॥

सरोवरयुक्त वन और हस्तीगण जिस प्रकार एक दूसरेका सौभाग्य बढाते हैं, वैसे ही द्रौपदी और उसके पांच पति एक दूसरेकी प्रीति बढाने लगे ॥ ३ ॥

वर्तमानेषु धर्मेण पाण्डवेषु महात्मसु ।
व्यवर्धन्कुरवः सर्वे हीनदोषाः सुखान्विताः ॥ ४ ॥

महात्मा पाण्डवोंके धर्मपथ पर चलनेके कारण कौरव भी दोषसे बचकर सुखपूर्वक वृद्धि पाने लगे ॥ ४ ॥

अथ दीर्घेण कालेन ब्राह्मणस्य विशां पते ।
कस्यचित्तस्कराः केचिज्जह्रुर्गा नृपसत्तम ॥ ५ ॥

हे नृपश्रेष्ठ राजन् ! बहुत दिन बीत जाने पर एक ब्राह्मणके घरमें घुसकर कुछ चोरोंने गौओंको चुरा लिया ॥ ५ ॥

ह्रियमाणे धने तस्मिन्ब्राह्मणः क्रोधमूर्च्छितः ।
आगम्य खाण्डवप्रस्थमुदक्रोशत पाण्डवान् ॥ ६ ॥

लुटेरोंसे गौ चुरायी जानेपर ब्राह्मण क्रोधसे मूर्च्छित होकर खाण्डवप्रस्थमें आकर चिल्ला चिल्लाकर पाण्डवोंको पुकार पुकारके बोला ॥ ६ ॥

ह्रियते गोधनं क्षुद्रैर्नृशंसैरकृतात्मभिः ।
प्रसह्य वोऽस्माद्विषयादभिधावत पाण्डवाः ॥ ७ ॥

हे पाण्डवों ! तुम्हारे राज्यमें आज दुष्ट नीच निष्ठुर लुटेरे जबर्दस्ती मेरी गौ चुरा रहे हैं, तुम तुरन्त दौडो ॥ ७ ॥

ब्राह्मणस्य प्रसक्तस्य हविर्ध्वाङ्क्षैर्विलुप्यते ।
शार्दूलस्य गुहां शून्यां नीचः क्रोष्टाभिमर्शति ॥ ८ ॥

हा ! कितने दुःखकी बात है ! काकोंके द्वारा शान्त ब्राह्मणके यज्ञका घृत हरा जा रहा है, नीच सियार सिंहकी गुफा खाली देखकर उसे नष्ट रहा है ॥ ८ ॥

ब्राह्मणस्वे हृते चोरैर्धर्मार्थे च विलोपिते।
रोरूयमाणे च मयि क्रियतामस्त्रधारणम् ॥ ९ ॥

हे पाण्डवो! चोर ब्राह्मणका धन हर रहे हैं, धर्म कर्म लोप हो रहे हैं, मैं शोकरूपी कीचडमें डूबकर बार बार रो रहा हूं, अतः अस्त्र धारण कीजिए ॥ ९ ॥

रोरूयमाणस्याभ्याशे तस्य विप्रस्य पाण्डवः।
तानि वाक्यानि शुश्राव कुन्तीपुत्रो धनञ्जयः ॥ १० ॥

कुन्तीपुत्र पाण्डव धनञ्जयने निकट आकर रोते पीटते हुए उन ब्राह्मणके वाक्योंको सुना ॥ १० ॥

श्रुत्वा चैव महाबाहुर्मा भैरित्याह तं द्विजम्।
आयुधानि च यत्रासन्पाण्डवानां महात्मनाम्।
कृष्णया सह तत्रासीद्धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ११ ॥

उन महाभुजने यह सुनकर ब्राह्मणको मत डरो कहकर ढाढस दिया, पर जिस घरमें महात्मा पाण्डवोंके अस्त्र रखे हुए थे, उस घरमें धर्मराज युधिष्ठिर द्रौपदीके साथ बैठे हुए थे ॥ ११ ॥

स प्रवेशाय चाशक्तो गमनाय च पाण्डवः।
तस्य चार्तस्य तैर्वाक्यैश्चोद्यमानः पुनः पुनः।
आक्रन्दे तत्र कौन्तेयश्चिन्तयामास दुःखितः ॥ १२ ॥

अतः वह उस भयभीत ब्राह्मणकी उन बातोंसे बारबार प्रेरित होने पर भी निश्चित किए हुए नियमके अनुसार अस्त्रशालामें प्रवेश नहीं कर सके, अतः ब्राह्मणके उस आर्तनादको सुनकर दुःखीचित्तसे सोचने लगे ॥ १२ ॥

ह्रियमाणे धने तस्मिन्ब्राह्मणस्य तपस्विनः।
अश्रुप्रमार्जनं तस्य कर्तव्यमिति निश्चितः ॥ १३ ॥

सोचकर उन्होंने निश्चय किया कि इस तपस्वी ब्राह्मणकी गौएं चुरायी जाती हैं, अतः उन्हें बचाकर इसके आंसू अवश्य पोंछने चाहिये ॥ १३ ॥

उपप्रेक्षणजोऽधर्मः सुमहान्स्यान्महीपतेः।
यद्यस्य रुदतो द्वारि न करोम्यद्य रक्षणम् ॥ १४ ॥

द्वारपर आकर रोनेवाले इस ब्राह्मणकी रक्षा न करूं तो मुझ राजाको उपेक्षा रूप बडा अधर्म लग जाएगा ॥ १४ ॥

अनास्तिक्यं च सर्वेषामस्माकमपि रक्षणे।
प्रतितिष्ठेत लोकेऽस्मिन्नधर्मश्चैव नो भवेत् ॥ १५ ॥

इसके अलावा यह भी बात फैल जायगी, कि पाण्डव आर्तोंके रक्षक नहीं हैं और हमें अधर्म भी लगेगा ॥ १५ ॥

अनापृच्छय च राजानं गते मयि न संशयः ।
अजातशत्रोर्नृपतेर्मम चैवाप्रियं भवेत् ॥ १६ ॥

पर राजासे विना पूछे वहां जानेपर अजातशत्रु युधिष्ठिर और मेरा दोनोंका अप्रिय होगा, इसमें सन्देह नहीं ॥ १६ ॥

अनुप्रवेशो राज्ञस्तु वनवासो भवेन्मम ।
अधर्मो वा महानस्तु वने वा मरणं मम ।
शरीरस्यापि नाशेन धर्म एव विशिष्यते ॥ १७ ॥

और उनके सामने जानेसे मुझको वनमें जाना पडेगा । पर चाहे अधर्म हो और वनमें चाहे मृत्यु ही हो (घरमें जाकर भी इस ब्राह्मणकी रक्षा करनी ही होगी) क्योंकि शरीरके नाशकी अपेक्षा भी धर्म बडा है ॥ १७ ॥

एवं विनिश्चित्य ततः कुन्तीपुत्रो धनञ्जयः ।
अनुप्रविश्य राजानमापृच्छय च विशां पते ॥ १८ ॥

हे नरनाथ ! तब कुन्तीपुत्र धनंजय ऐसा निश्चय कर अस्त्रशालामें घुस राजा युधिष्ठिरसे मिलकर ॥ १८ ॥

धनुरादाय संहृष्टो ब्राह्मणं प्रत्यभाषत ।
ब्राह्मणागम्यतां शीघ्रं यावत्परधनैषिणः ॥ १९ ॥

और धनुष लेकर प्रसन्न मनसे बाहर आकर ब्राह्मणसे बोले– हे द्विज ! शीघ्र चलो, पराये धनके लोभी नीच लुटेरोंके ॥ १९ ॥

न दूरे ते गताः क्षुद्रास्तावद्गच्छामहे सह ।
यावदावर्तयाम्यद्य चोरहस्ताद्धनं तव ॥ २० ॥

बडी दूर जाते न जाते हम एकत्र चलकर उनके हाथसे तुम्हारे चुराये हुए धनको चोरोंके हाथसे छीनूंगा ॥ २० ॥

सोऽनुसृत्य महाबाहुर्धन्वी वर्मी रथी ध्वजी ।
शरैर्विध्वंसितांश्चोरानवजित्य च तद्धनम् ॥ २१ ॥

महाभुज पृथापुत्र सव्यसाची धनञ्जय यह कहकर कवच कसकर धनुष लेकर ध्वजा फहराते हुए रथ पर चढे और उन्होंने वेगसे लुटेरोंको बाणोंसे काटकर धन जीत लिया ॥ २१ ॥

ब्राह्मणस्य उपाहृत्य यशः पीत्वा च पाण्डवः ।
आजगाम पुरं वीरः सव्यसाची परंतपः ॥ २२ ॥

और उन ब्राह्मणको उनकी गौ देकर तथा यश पाकर वह शत्रुनाशी सव्यसाची वीर अपने पुरमें लौट आए ॥ २२ ॥

सोऽभिवाद्य गुरून्सर्वांस्तैश्चापि प्रतिनन्दितः ।
धर्मराजमुवाचेदं व्रतमादिश्यतां मम ॥ २३ ॥

सब गुरुओंका अभिनन्दन कर उनसे स्वागत पाकर उन्होंने धर्मराजसे कहा– हे प्रभो! आप मुझे व्रत करनेकी आज्ञा दें ॥ २३ ॥

समयः समतिक्रान्तो भवत्संदर्शनान्मया ।
वनवासं गमिष्यामि समयो ह्येष नः कृतः ॥ २४ ॥

हे प्रभो! मैंने द्रौपदीके संग आपको देखकर निश्चित किए हुए नियमको तोड दिया है, मैं वनवासको जाऊंगा क्योंकि यह नियम हमने ही बनाया है ॥ २४ ॥

इत्युक्तो धर्मराजस्तु सहसा वाक्यमप्रियम् ।
कथमित्यब्रवीद्वाचा शोकार्तः सज्जमानया ।
युधिष्ठिरो गुडाकेशं भ्राता भ्रातरमच्युतम् ॥ २५ ॥

धर्मराज युधिष्ठिर एकाएक भाई अर्जुनकी यह अप्रिय बात सुन करके ही, शोकसे विकल हुए; और कुछ टूटी फूटी वाणीसे कहा– " क्यों? " और युधिष्ठिर मलिन चित्तसे अपने अच्युत भाई गुडाकेश धनञ्जयसे बोले ॥ २५ ॥

प्रमाणमस्मि यदि ते मत्तः शृणु वचोऽनघ ।
अनुप्रवेशो यद्वीर कृतवांस्त्वं ममाप्रियम् ।
सर्वं तदनुजानामि व्यलीकं न च मे हृदि ॥ २६ ॥

हे अनघ! यदि मैं तुम्हारे लिये प्रमाण हूं, तो मेरी बात सुनो। मैं जब द्रौपदीके साथ बैठा हुआ था तब मेरे यहां जाकर मेरा जो अप्रिय तुमने किया है, उससे मेरे चित्तमें असंतोष नहीं पहुंचा । उस विषयमें मैं तुमको आज्ञा देता हूं ॥ २६ ॥

गुरोरनुप्रवेशो हि नोपघातो यवीयसः ।
यवीयसोऽनुप्रवेशो ज्येष्ठस्य विधिलोपकः ॥ २७ ॥

जब बडे भाई स्त्रीके साथ बैठा हो, तब छोटेके उस घरमें जानेसे कोई हानि नहीं होती, पर ज्येष्ठ भाईहीका कनिष्ठके घरमें जाना नियमके विरुद्ध है ॥ २७ ॥

निवर्तस्व महाबाहो कुरुष्व वचनं मम ।
न हि ते धर्मलोपोऽस्ति न च मे धर्षणा कृता ॥ २८ ॥

अतएव इससे तुम्हारा धर्मलोप नहीं हुआ और मेरा अपमान भी नहीं हुआ । अतः, हे महाभुज! रह जाओ, मेरी बात मानो ॥ २८ ॥

अर्जुन उवाच

न व्याजेन चरेद्धर्ममिति मे भवतः श्रुतम् ।
न सत्याद्विचलिष्यामि सत्येनायुधमालभे ॥ २९ ॥

अर्जुन बोले– मैंने आपसे सुना है, कि छलपूर्वक धर्मका आचरण नहीं करना चाहिए, अतः मैं सत्यसे टल नहीं सकूंगा । मैं सत्यसे अस्त्रकी शपथ ले रहा हूँ ॥ २९ ॥

वैशम्पायन उवाच

सोऽभ्यनुज्ञाप्य राजानं ब्रह्मचर्याय दीक्षितः ।
वने द्वादश वर्षाणि वासायोपजगाम ह ॥ ३० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पञ्चाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०५ ॥ ६५९७ ॥

वैशम्पायन बोले– तदनन्तर अर्जुन राजा युधिष्ठिरकी आज्ञा लेकर ब्रह्मचर्यमें दीक्षित हो बारह वर्ष वनवासके लिये वन चले गये ॥ ३० ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें दो सौ पांचवां अध्याय समाप्त ॥ २०५ ॥ ६५९७ ॥

: २०६ :

वैशम्पायन उवाच

तं प्रयान्तं महाबाहुं कौरवाणां यशस्करम् ।
अनुजग्मुर्महात्मानो ब्राह्मणा वेदपारगाः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– तदनन्तर उस महाबाहु कुरुकुलके कीर्तिरूपी महाभुज अर्जुनके चलनेपर महात्मा वेदज्ञ ब्राह्मण आदि उनके साथ चले ॥ १ ॥

वेदवेदाङ्गविद्वांसस्तथैवाध्यात्मचिन्तकाः ।
चौक्षाश्च भगवद्भक्ताः सूताः पौराणिकाश्च ये ॥ २ ॥

हे महाराज ! वेदपारग और वेदवेदाङ्गोंमें पण्डित, अध्यात्मकी चिन्ता करनेवाले ब्राह्मण, गानके पण्डित, पुराणकी कथा कहनेवाले सूत ॥ २ ॥

कथकाश्चापरे राजञ्श्रमणाश्च वनौकसः ।
दिव्याख्यानानि ये चापि पठन्ति मधुरं द्विजाः ॥ ३ ॥

भगवद्भक्त कथक, ऊर्ध्वरेता वनवासी और जो मधुर भावसे सुन्दर उपाख्यानका पाठ करते हैं ॥ ३ ॥

एतैश्चान्यैश्च बहुभिः सहायैः पाण्डुनन्दनः ।
वृतः श्लक्ष्णकथैः प्रायान्मरुद्भिरिव वासवः ॥ ४ ॥

इन सब जन और दूसरे साथियोंके संग मरुद्गणके साथ चलते हुए देवराजकी भांति अर्जुन चलने लगे ॥ ४ ॥

रमणीयानि चित्राणि वनानि च सरांसि च ।
सरितः सागरांश्चैव देशानपि च भारत ॥ ५ ॥
पुण्यानि चैव तीर्थानि ददर्श भरतर्षभः ।
स गङ्गाद्वारमासाद्य निवेशमकरोत्प्रभुः ॥ ६ ॥

हे भारत ! अनेक प्रकारके सुन्दर सुन्दर वन, सरोवर, नदी, समुद्र, भांति भांतिके देश और पुण्यतीर्थोंको उस भरतश्रेष्ठ अर्जुनने देखा । और वे प्रभु गंगाद्वारमें पहुंचकर वहां रहने लगे ॥ ५-६ ॥

तत्र तस्याद्भुतं कर्म शृणु मे जनमेजय ।
कृतवान्यद्विशुद्धात्मा पाण्डूनां प्रवरो रथी ॥ ७ ॥

हे जनमेजय ! पाण्डववर विशुद्धात्मा रथी अर्जुनने उस स्थानमें जो अद्भुत कर्म किया वह कहता हूं, सुनो ॥ ७ ॥

निविष्टे तत्र कौन्तेये ब्राह्मणेषु च भारत ।
अग्निहोत्राणि विप्रास्ते प्रादुश्चक्रुरनेकशः ॥ ८ ॥

कुन्तीपुत्रके साथ ब्राह्मणोंके वहां विराजनेपर वे सब ब्राह्मण नाना प्रकारके अग्निहोत्र प्रकट करने लगे ॥ ८ ॥

तेषु प्रबोध्यमानेषु ज्वलितेषु हुतेषु च ।
कृतपुष्पोपहारेषु तीरान्तरगतेषु च ॥ ९ ॥
कृताभिषेकैर्विद्वद्भिर्नियतैः सत्पथि स्थितैः ।
शुशुभेऽतीव तद्राजन्गङ्गाद्वारं महात्मभिः ॥ १० ॥

उन सब अग्निहोत्रोंके प्रबोधित और फूलोंसे सुशोभित होने तथा ज्वलित और आहुति दिये जाने पर और गंगातीरमें अभिषेक किए हुए, नियतेन्द्रिय तथा सन्मार्गमें स्थित उन महात्माओंके कारण उस गंगाद्वारकी बडी शोभा हुई ॥ ९-१० ॥

तथा पर्याकुले तस्मिन्निवेशे पाण्डुनन्दनः ।
अभिषेकाय कौन्तेयो गङ्गामवततार ह ॥ ११ ॥

एक समय पाण्डुनन्दन अर्जुन नहानेके लिये द्विजोंसे भरे हुए आश्रमके निकट भागीरथीके जलमें उतरे ॥ ११ ॥

तत्राभिषेकं कृत्वा स तर्पयित्वा पितामहान् ।
उत्तितीर्षुर्जलाद्राजन्नग्निकार्यचिकीर्षया ॥ १२ ॥

महाराज ! वह नहा धोकर पितरोंका तर्पण कर अग्निकार्य करनेकी इच्छासे जलसे उठना चाहते थे ॥ १२ ॥

अपकृष्टो महाबाहुर्नागराजस्य कन्यया ।
अन्तर्जले महाराज उलूप्या कामयानया ॥ १३ ॥

उसी समय पाताल रहनेवाली उलूपी नामकी नागराज पुत्री काममोहित होकर उनको जलमें घसीट कर ले गयी ॥ १३ ॥

ददर्श पाण्डवस्तत्र पावकं सुसमाहितम् ।
कौरव्यस्याथ नागस्य भवने परमार्चिते ॥ १४ ॥

तब उन पाण्डव अर्जुनने कौरव्य नामक सर्पराजके परम सुन्दर भवनमें जाकर प्रज्ज्वलित अग्निको देखा ॥ १४ ॥

तत्राग्निकार्यं कृतवान्कुन्तीपुत्रो धनञ्जयः ।
अशङ्कमानेन हुतस्तेनातुष्यद्धुताशनः ॥ १५ ॥

और भली प्रकार अर्जुनने उसमें अग्निकार्य किया । उनके शंकारहित चित्तसे आहुति देनेसे अग्निको बडा सन्तोष हुआ ॥ १५ ॥

अग्निकार्यं स कृत्वा तु नागराजसुतां तदा ।
प्रहसन्निव कौन्तेय इदं वचनमब्रवीत् ॥ १६ ॥

कुन्तीपुत्र धनञ्जय इस अग्निकार्यके हो जाने पर मुसकराते हुए नागराजकन्यासे यह वचन बोले ॥ १६ ॥

किमिदं साहसं भीरु कृतवत्यसि भामिनि ।
कश्चायं सुभगो देशः का च त्वं कस्य चात्मजा ॥ १७ ॥

हे भामिनि ! हे सुन्दरी ! तुमने यह क्या साहस किया ? हे भीरु ! यह सुन्दर देश कौनसा है ? और तुम कौन ? किसकी कन्या हो ? ॥ १७ ॥

उलूप्युवाच

ऐरावतकुले जातः कौरव्यो नाम पन्नगः ।
तस्यास्मि दुहिता पार्थ उलूपी नाम पन्नगी ॥ १८ ॥

उलूपी बोली— हे पार्थ ! ऐरावतवंशमें उत्पन्न कौरव्य नामक एक नागराज हैं, हे अर्जुन ! मैं उनकी कन्या उलूपी नामकी पन्नगी हूं ॥ १८ ॥

साहं त्वामभिषेकार्थमवतीर्णं समुद्रगाम् ।
दृष्टवत्येव कौन्तेय कन्दर्पेणास्मि मूर्च्छिता ॥ १९ ॥

हे कुन्तीपुत्र ! तुम स्नानके लिये जब गङ्गामें उतरे, तब मैं तुमको देख करके मदनबाणसे घायल हो गई ॥ १९ ॥

तां मामनङ्गग्लपितां त्वत्कृते कुरुनन्दन ।
अनन्यां नन्दयस्वाद्य प्रदानेनात्मनो रहः ॥ २० ॥

हे कुरुनन्दन ! मेरा विवाह नहीं हुआ, मैं किसीसे पहिले मिली नहीं, अब तुम्हारे लिये कामसे मोहित हुई हूं । हे अनघ ! अब तुम आत्मदान करके मुझे आनन्द दो ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच

ब्रह्मचर्यमिदं भद्रे मम द्वादशवार्षिकम् ।
धर्मराजेन चादिष्टं नाहमस्मि स्वयंवशः ॥ २१ ॥

अर्जुन बोले– हे भद्रे ! मैंने धर्मराजकी आज्ञासे बारहवर्षके लिये ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार किया है, अतः मैं अपने अधीन नहीं हूं; ॥ २१ ॥

तव चापि प्रियं कर्तुमिच्छामि जलचारिणि ।
अनृतं नोक्तपूर्वं च मया किंचन कर्हिचित् ॥ २२ ॥

पर, हे जलमें विचरनेवाली ! तुम्हारा प्रिय भी करना चाहता हूं; पर मैंने पाहिले कभी झूठी बात नहीं कही ॥ २२ ॥

कथं च नानृतं तत्स्यात्तव चापि प्रियं भवेत् ।
न च पीडयेत मे धर्मस्तथा कुर्यां भुजङ्गमे ॥ २३ ॥

अतः, हे भुजङ्गमे ! तुम ऐसा उपाय बताओ कि मेरी बातकी सचाई बनी रहे और तुम्हारा प्रिय भी कर सकूं और मुझको अधर्ममें पडना न पडे ॥ २३ ॥

उलूप्युवाच

जानाम्यहं पाण्डवेय यथा चरसि मेदिनीम् ।
यथा च ते ब्रह्मचर्यमिदमादिष्टवान्गुरुः ॥ २४ ॥

उलूपी बोली– हे पाण्डव ! तुम जिस कारण पृथ्वीका भ्रमण कर रहे हो और गुरुने जिस प्रकार तुमको ब्रह्मचर्य व्रत करनेकी आज्ञा दी है, वह सब कुछ मैं जानती हूं ॥ २४ ॥

परस्परं वर्तमानान्द्रुपदस्यात्मजां प्रति ।
यो नोऽनुप्रविशेन्मोहात्स नो द्वादशवार्षिकम् ।
वने चरेद्ब्रह्मचर्यमिति वः समयः कृतः ॥ २५ ॥

तुमने नियम किया था, कि तुम पांच भाइयोंमें कोई जब द्रौपदीसे मिलता हो, तब जो मोहसे वहां जा पहुंचेगा, उसको बारह वर्षतक ब्रह्मचर्य लेकर वनमें जाना पडेगा ॥ २५ ॥

तदिदं द्रौपदीहेतोरन्योन्यस्य प्रवासनम् ।
कृतं वस्तत्र धर्मार्थमत्र धर्मो न दुष्यति ॥ २६ ॥

तुममें आपसका वनमें जानेका यह नियम केवल द्रौपदीके कारण ही है, अतः तुम केवल उस धर्मकी रक्षाहीके लिये भेजे गये हो; ऐसी दशामें तुम्हारे धर्म बिगडनेकी कौनसी सम्भावना है ? ॥ २६ ॥

परित्राणं च कर्तव्यमार्तानां पृथुलोचन
कृत्वा मम परित्राणं तव धर्मो न लुप्यते ॥ २७ ॥

हे सुन्दर नेत्रवाले पुरुष ! विह्वल जनको बचाना कर्तव्य है, अतः मुझको विह्वल जानकर मेरी रक्षा करने पर तुम्हारा धर्म लुप्त नहीं होगा ॥ २७ ॥

यदि वाप्यस्य धर्मस्य सूक्ष्मोऽपि स्याद्व्यतिक्रमः ।
स च ते धर्म एव स्याद्दत्वा प्राणान्ममार्जुन ॥ २८ ॥

हे अर्जुन ! यद्यपि इसमें धर्मकी कुछ हानि होती भी है, तो मुझको प्राण देनेसे तुम्हारा वह धर्म ही बना रहेगा ॥ २८ ॥

भक्तां भजस्व मां पार्थ सतामेतन्मतं प्रभो ।
न करिष्यसि चेदेवं मृतां मामुपधारय ॥ २९ ॥

हे पार्थ ! तुझ पर अनुरक्त हुई हुई मेरा तुम उपभोग करो । यही सज्जनोंका धर्म है । हे प्रभो ! यदि तुम यह नहीं करोगे, तो मुझको मरी हुई ही समझो ॥ २९ ॥

प्राणदानान्महाबाहो चर धर्ममनुत्तमम् ।
शरणं च प्रपन्नास्मि त्वामद्य पुरुषोत्तम ॥ ३० ॥

हे पुरुषोत्तम महाभुज ! आज मैंने तुम्हारी शरण ली है, मुझको प्राण देकर परम धर्मका आचरण करो ॥ ३० ॥

दीनाननाथान्कौन्तेय परिरक्षसि नित्यशः ।
साहं शरणमभ्येमि रोरवीमि च दुःखिता ॥ ३१ ॥

हे कुन्तीपुत्र ! मैं अनाथ और दीन होकर वार वार रोती हुई तुम्हारी शरण लेती हूं, तुम भी दीनों और अनाथोंकी सदा रक्षा करते हो ॥ ३१ ॥

याचे त्वामभिकामाहं तस्मात्कुरु मम प्रियम् ।
स त्वमात्मप्रदानेन सकामां कर्तुमर्हसि ॥ ३२ ॥

मैं तुम्हारी अभिलाषा कर रही हूं, तुमसे भीख मांगती हूं, अतः तुमको मेरा प्रिय करना चाहिये । अतएव तुम अपनेको सौंप कर मेरी अभिलाषा पूरी करो ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कौन्तेयः पन्नगेश्वरकन्यया।
कृतवांस्तत्तथा सर्वं धर्ममुद्दिश्य कारणम् ॥ ३३ ॥

वैशम्पायन बोले– नागराजकी पुत्रीके द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर अर्जुनने उसका कथन धर्मके अनुकूल समझ कर उसकी सभी इच्छायें पूरी कीं ॥ ३३ ॥

स नागभवने रात्रिं तामुषित्वा प्रतापवान्।
उदितेऽभ्युत्थितः सूर्ये कौरव्यस्य निवेशनात् ॥ ३४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पडधिकशततमोऽध्यायः ॥ २०६ ॥ ६६३१ ॥

प्रतापी अर्जुन उस कौरव्य नामक सर्पराजके भवनमें वह रात बिता कर सूर्योदयके समय उस कौरव्यके भवनसे चल पडे ॥ ३४ ॥

महाभारतके आदिपर्वमें दो सौ छैवां अध्याय समाप्त ॥ २०६ ॥ ६६३१ ॥

: २०७ :

वैशम्पायन उवाच

कथयित्वा तु तत्सर्वं ब्राह्मणेभ्यः स भारत।
प्रययौ हिमवत्पार्श्वं ततो वज्रधरात्मजः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– तदनन्तर वज्रधारी इन्द्रके पुत्र ब्राह्मणोंसे पहिले दिनका सब समाचार कहकर हिमालयके पास गये ॥ १ ॥

अगस्त्यवटमासाद्य वसिष्ठस्य च पर्वतम्।
भृगुतुङ्गे च कौन्तेयः कृतवाञ्शौचमात्मनः ॥ २ ॥

वहां अगस्त्य वटको देखकर वसिष्ठ पर्वतमें जा पहुंचे और भृगुतुङ्ग नामक पर्वत पर अपनी शौचक्रिया करके अर्जुनने अपनी शुद्धि की ॥ २ ॥

प्रददौ गोसहस्राणि तीर्थेष्वायतनेषु च।
निवेशांश्च द्विजातिभ्यः सोऽददत्कुरुसत्तमः ॥ ३ ॥

उस कुरुश्रेष्ठ अर्जुनने तीर्थस्थानोंमें अनेक सहस्र गौ और गृह ब्राह्मणोंको दान किये ॥ ३ ॥

हिरण्यबिन्दोस्तीर्थे च स्नात्वा पुरुषसत्तमः।
दृष्टवान्पर्वतश्रेष्ठं पुण्यान्यायतनानि च ॥ ४ ॥

इसके बाद पुरुषोत्तम अर्जुनने हिरण्यबिन्दु नामक तीर्थमें नहा धोकर उस पर्वतश्रेष्ठ एवं वहांके पुण्यस्थानोंको देखा ॥ ४ ॥

अवतीर्य नरश्रेष्ठो ब्राह्मणैः सह भारत ।
प्राचीं दिशमभिप्रेप्सुर्जगाम भरतर्षभः ॥ ५ ॥

तदनन्तर, हे भारत ! ब्राह्मणोंके साथ उस स्थानमें उतर कर पूर्वदिशाको देखनेकी इच्छासे वे भरतश्रेष्ठ आगे चले ॥ ५ ॥

आनुपूर्व्येण तीर्थानि दृष्टवान्कुरुसत्तमः ।
नदीं चोत्पलिनीं रम्यामरण्यं नैमिषं प्रति ॥ ६ ॥

हे भारत ! उन कौरवश्रेष्ठने क्रमसे तीर्थोंको देखा; नैमिषारण्यसे बहती हुई सुन्दर उत्पलिनी नदी ॥ ६ ॥

नन्दामपरनन्दां च कौशिकीं च यशस्विनीम् ।
महानदीं गयां चैव गङ्गामपि च भारत । ॥ ७ ॥

हे भारत ! गया और यशस्विनी महानदी, गङ्गा, कौशिकी, नन्दा और अपरनन्दा ॥७॥

एवं सर्वाणि तीर्थानि पश्यमानस्तथाश्रमान् ।
आत्मनः पावनं कुर्वन्ब्राह्मणेभ्यो ददौ वसु ॥ ८ ॥

और अन्यान्य तीर्थ तथा आश्रमोंका दर्शन करते हुए आत्माको पवित्र कर ब्राह्मणोंको धन दान दिया ॥ ८ ॥

अङ्गवङ्गकलिङ्गेषु यानि पुण्यानि कानिचित् ।
जगाम तानि सर्वाणि तीर्थान्यायतनानि च ।
दृष्ट्वा च विधिवत्तानि धनं चापि ददौ ततः ॥ ९ ॥

अङ्ग, वङ्ग और कलिङ्ग देशोंमें जितने तीर्थ और पवित्र स्थान हैं, उन्होंने उन पवित्र स्थानोंमें जाकर उनका दर्शन कर उन स्थानोंमें ब्राह्मणोंको धन दान दिया ॥ ९ ॥

कलिङ्गराष्ट्रद्वारेषु ब्राह्मणाः पाण्डवानुगाः ।
अभ्यनुज्ञाय कौन्तेयमुपावर्तन्त भारत ॥ १० ॥

हे भरतनन्दन ! जो सब ब्राह्मण कुन्तीनन्दनके साथ जा रहे थे, वे कलिङ्ग राज्यके द्वार अर्थात् वहांकी पर्वत-सन्धितक जाकर उनकी आज्ञासे लौट गये ॥ १० ॥

स तु तैरभ्यनुज्ञातः कुन्तीपुत्रो
सहायैरल्पकैः शूरः प्रययौ येन स ॥ ११ ॥

कुन्तीपुत्र वीर धनञ्जय द्विजोंकी आज्ञासे थोडे म ों लेकर उस ओर चले जहां सागर था ॥ ११ ॥

स कलिङ्गानतिक्रम्य देशानायतनानि च ।
धर्म्याणि रमणीयानि प्रेक्षमाणो ययौ प्रभुः ॥ १२ ॥

वह प्रभु कलिङ्ग देशको पारकर नाना देश, आश्रम और बडे बडे तथा सुन्दर धर्मस्थलों-को देखते हुए चले ॥ १२ ॥

महेन्द्रपर्वतं दृष्ट्वा तापसैरुपशोभितम् ।
समुद्रतीरेण शनैर्मणलूरं जगाम ह ॥ १३ ॥

क्रमसे तपस्वियोंसे सुशोभित महेन्द्र पर्वतको देखकर समुद्रतीरसे मणलूरमें जा पहुंचे ॥ १३ ॥

तत्र सर्वाणि तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च ।
अभिगम्य महाबाहुरभ्यगच्छन्महीपतिम् ।
मणलूरेश्वरं राजन्धर्मज्ञं चित्रवाहनम् ॥ १४ ॥

हे महाराज ! वह महाभुज उस देशमें पुण्यतीर्थ और यज्ञ स्थानोंको देखकर अन्तमें मण-लूरनाथ चित्रवाहन नामक धर्मज्ञ महीपालके निकट गये ॥ १४ ॥

तस्य चित्राङ्गदा नाम दुहिता चारुदर्शना ।
तां ददर्श पुरे तस्मिन्विचरन्तीं यदृच्छया ॥ १५ ॥

उस राजाकी चित्राङ्गदा नामकी एक सुन्दरी कन्या थी उसे उस नगरमें स्वेच्छानुसार घूमते हुए अर्जुनने देखा ॥ १५ ॥

दृष्ट्वा च तां वरारोहां चकमे चैत्रवाहिनीम् ।
अभिगम्य च राजानं ज्ञापयत्स्वं प्रयोजनम् ।
तमुवाचाथ राजा स सान्त्वपूर्वमिदं वचः ॥ १६ ॥

और उस चित्रवाहनकी सुन्दरी पुत्रीको देखकर अर्जुन कामके वशमें हो गये और राजाके पास पहुंचकर उन्होंने अपने आनेका प्रयोजन बताया, तब राजा मीठी बातोंमें उनसे यह बोले ॥ १६ ॥

राजा प्रभंकरो नाम कुले अस्मिन्बभूव ह ।
अपुत्रः प्रसवेनार्थी तपस्तेपे स उत्तमम् ॥ १७ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! इस कुलमें प्रभंकर नामक एक राजाने जन्म लिया था । उनकी सन्तान न होनेसे वह सन्तानकी कामनासे भली प्रकार तप करने लगे ॥ १७ ॥

उग्रेण तपसा तेन प्रणिपातेन शंकरः ।
ईश्वरस्तोषितस्तेन महादेव उमापतिः ॥ १८ ॥

उन्होंने अपने उग्र तपसे और नमस्कारसे महादेव, उमापति, ईश्वर शंकरको प्रसन्न किया ॥ १८ ॥

स तस्मै भगवान्प्रादादेकैकं प्रसवं कुले ।
एकैकः प्रसवस्तस्माद्भवत्यस्मिन्कुले सदा ॥ १९ ॥

उन्होंने उनको वर दिया, कि पुरुषोंकी परम्परासे उनके इस वंशमें एक एक सन्तान जन्म लेगी । इसलिये हमारे कुलमें सदा एक ही सन्तान उत्पन्न होती है ॥ १९ ॥

तेषां कुमाराः सर्वेषां पूर्वेषां मम जज्ञिरे ।
कन्या तु मम जातेयं कुलस्योत्पादनी ध्रुवम् ॥ २० ॥

मेरे सब पूर्वजोंके पुत्र उपजे थे । पर निश्चयसे मेरे वंशको बढानेवाली यह एक ही कन्या मेरे हुई है ॥ २० ॥

पुत्रो ममेयमिति मे भावना पुरुषोत्तम ।
पुत्रिका हेतुविधिना संज्ञिता भरतर्षभ ॥ २१ ॥

इसलिए, हे पुरुषोत्तम ! यह मेरा पुत्र ही है, ऐसी इसमें मेरी भावना है । हे भारतवर ! मैंने इस कन्याको विधि-पूर्वक पुत्रिका (इसके पेट जो पुत्र उत्पन्न होगा, वही मेरा पुत्र होगा, इस दृष्टिसे) बनाया है ॥ २१ ॥

एतच्छुल्कं भवत्वस्याः कुलकृज्जायतामिह ।
एतेन समयेनेमां प्रतिगृह्णीष्व पाण्डव ॥ २२ ॥

वही इस कन्याका शुल्क हो और मेरे वंशकी रक्षा करे, इस शर्तके अनुसार, हे अर्जुन ! तुम मेरी यह कन्या ग्रहण करो ॥ २२ ॥

स तथेति प्रतिज्ञाय कन्यां तां प्रतिगृह्य च ।
उवास नगरे तस्मिन्कौन्तेयस्त्रिहिमाः समाः ॥ २३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सप्ताधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०७ ॥ ६६५४ ॥

कुन्ती-पुत्र अर्जुनने "तथास्तु" कहकर मान लिया । और उस कन्यासे विवाह कर उस नगरमें अर्जुनने तीन वर्ष बिताये ॥ २३ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें दो सौ सातवां अध्याय समाप्त ॥ २०७ ॥ ६६५४ ॥

: २०८ :

वैशम्पायन उवाच

ततः समुद्रे तीर्थानि दक्षिणे भरतर्षभः ।
अभ्यगच्छत्सुपुण्यानि शोभनानि तपस्विभिः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— तदनन्तर भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन दक्षिण समुद्रके किनारेपर स्थित एवं तपस्वियोंसे शोभायमान सब पुण्य तीर्थोंमें गये ॥ १ ॥

वर्जयन्ति स्म तीर्थानि पञ्च तत्र तु तापसाः ।
आचीर्णानि तु यान्यासन्पुरस्तात्तु तपस्विभिः ॥ २ ॥

वहां पहले तपस्वियोंसे व्याप्त जो पांच थे, वे तीर्थ इस समय तपस्वियों द्वारा त्याग दिए गए थे ॥ २ ॥

अगस्त्यतीर्थं सौभद्रं पौलोमं च सुपावनम् ।
कारन्धमं प्रसन्नं च हयमेधफलं च यत् ।
भारद्वाजस्य तीर्थं च पापप्रशमनं महत् ॥ ३ ॥

अगस्त्य, सौभद्र, परम पवित्र पौलोम और अश्वमेधका फल देनेवाला कारन्धम और पापको शान्त करनेवाला भारद्वाज यह पांच महातीर्थ थे ॥ ३ ॥

विविक्तान्युपलक्ष्याथ तानि तीर्थानि पाण्डवः ।
दृष्ट्वा च वर्ज्यमानानि मुनिभिर्धर्मबुद्धिभिः ॥ ४ ॥

पाण्डुपुत्र अर्जुनने उन पञ्चतीर्थोंको निर्जन और धर्मज्ञ मुनियोंसे त्यागे हुए देखा ॥ ४ ॥

तपस्विनस्ततोऽपृच्छत्प्राञ्जलिः कुरुनन्दनः ।
तीर्थानीमानि वर्ज्यन्ते किमर्थं ब्रह्मवादिभिः ॥ ५ ॥

तब कुरुनन्दन अर्जुनने हाथ जोडकर तपस्वियोंसे पूछा कि ब्रह्मवादी ब्राह्मण लोग यह पञ्चतीर्थ क्यों छोड देते हैं ? ॥ ५ ॥

तापसा ऊचुः

ग्राहाः पञ्च वसन्त्येषु हरन्ति च तपोधनान् ।
अत एतानि वर्ज्यन्ते तीर्थानि कुरुनन्दन ॥ ६ ॥

तपस्वीगण बोले– हे कुरुनन्दन ! इन पञ्चतीर्थोंके जलमें पांच ग्राह हैं, वे तपस्वियोंको मार डालते हैं, अतः मुनिलोग इन तीर्थोंमें नहीं वसते ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

तेषां श्रुत्वा महाबाहुर्वार्यमाणस्तपोधनैः ।
जगाम तानि तीर्थानि द्रष्टुं पुरुषसत्तमः ॥ ७ ॥

वैशम्पायन बोले– पुरुषोत्तम महाभुज अर्जुन तपोधनोंका वह वचन सुनकर उनसे रोके जानेपर भी उन सब तीर्थोंको देखने गये ॥ ७ ॥

ततः सौभद्रमासाद्य महर्षेस्तीर्थमुत्तमम् ।
विगाह्य सहसा शूरः स्नानं चक्रे परंतपः ॥ ८ ॥

पहिले महर्षि सम्बन्धी सौभद्र नामक अच्छे तीर्थमें पहुंच कर उसमें एकाएक देहको डुबाकर वह शत्रुनाशी शूर अर्जुन नहाने लगे ॥ ८ ॥

अथ तं पुरुषव्याघ्रमन्तर्जलचरो महान् ।
निजग्राह जले ग्राहः कुन्तीपुत्रं धनञ्जयम् ॥ ९ ॥

इसी समयमें जलके भीतर चलनेवाले एक बडे ग्राहने उन शत्रुदमन तथा वीरपुरुषोंमें व्याघ्ररूपी कुन्तीपुत्र धनञ्जयको जलमें पकड लिया ॥ ९ ॥

स तमादाय कौन्तेयो विस्फुरन्तं जलेचरम् ।
उदतिष्ठन्महाबाहुर्बलेन बलिनां वरः ॥ १० ॥

महाबली महाभुज पाण्डुपुत्र उस फुर्तीले जलचर मगरको लेकर बलपूर्वक तट पर चले आये ॥ १० ॥

उत्कृष्ट एव तु ग्राहः सोऽर्जुनेन यशस्विना ।
बभूव नारी कल्याणी सर्वाभरणभूषिता ।
दीप्यमाना श्रिया राजन्दिव्यरूपा मनोरमा ॥ ११ ॥

हे महाराज ! जलचर ग्राह यशस्वी अर्जुनके द्वारा बाहर खींचे जानेके साथ ही सभी अलंकारोंसे विभूषित एक परम सुन्दरी स्त्री बन गया । वह सुन्दरी शोभासे प्रदीप्त दिव्य रूपवाली और मनोरम थी ॥ ११ ॥

तदद्भुतं महद्दृष्ट्वा कुन्तीपुत्रो धनंजयः ।
तां स्त्रियं परमप्रीत इदं वचनमब्रवीत् ॥ १२ ॥

कुन्तीपुत्र धनञ्जय उस बडी आश्चर्य लीलाको देखकर अति प्रसन्नचित्तसे उस नारीसे यह वचन बोले ॥ १२ ॥

का वै त्वमसि कल्याणि कुतो वासि जलेचरी ।
किमर्थं च महत्पापमिदं कृतवती पुरा ॥ १३ ॥

हे कल्याणि जलचरि ! तुम कौन हो ? और तुम जलचरी क्यों बन गई हो ? और क्यों पहिले ऐसा महापाप किया था ? ॥ १३ ॥

नार्युवाच

अप्सरास्मि महाबाहो देवारण्यविचारिणी ।
इष्टा धनपतेर्नित्यं वर्गा नाम महाबल ॥ १४ ॥

नारी बोली– हे महाबली महाभाग ! मैं देववनमें विचरनेवाली अप्सरा हूं, मेरा नाम वर्गा है, मैं सदासे कुबेरकी प्यारी हूं ॥ १४ ॥

मम सख्यश्चतस्रोऽन्याः सर्वाः कामगमाः शुभाः
ताभिः सार्धं प्रयातास्मि लोकपालनिवेशनम् ॥ १५ ॥

मेरी इच्छानुसार विचरनेवाली शुभ–लक्षणा और चार सखियां हैं, एक समय में उन चार सखियोंके साथ लोकपालके यहां जा रही थी ॥ १५ ॥

तत: पश्यामहे सर्वा ब्राह्मणं संशितव्रतम्।
रूपवन्तमधीयानमेकमेकान्तचारिणम् ॥ १६ ॥

उस समय हम सबने प्रशंसित व्रतधारी एकान्तमें रहनेवाले परम रूपवान् एक ब्राह्मणको वेद पढते हुए देखा ॥ १६ ॥

तस्य वै तपसा राजंस्तद्वनं तेजसावृतम्।
आदित्य इव तं देशं कृत्स्नं स व्यवभासयत् ॥ १७ ॥

हे महाराज! उनके तपके तेजसे वह वन ढक गया था। उन्होंने आदित्यकी भांति उस सब स्थानमें उजाला कर दिया था ॥ १७ ॥

तस्य दृष्ट्वा तपस्तादृग्रूपं चाद्भुतदर्शनम्।
अवतीर्णाः स्म तं देशं तपोविघ्नचिकीर्षया ॥ १८ ॥

हम उनकी वैसी अति तपस्या और आश्चर्य रूप देखकर तपमें विघ्न डालनेकी इच्छासे वहां उतर गयीं ॥ १८ ॥

अहं च सौरभेयी च समीची बुद्बुदा लता।
यौगपद्येन तं विप्रमभ्यगच्छाम भारत ॥ १९ ॥

हे भारत! सौरभेयी, समीचि, बुद्बुदा, लता और मैं यह पांच एकत्र होकर उस ब्राह्मणके यहां एक साथ जा पहुंचीं ॥ १९ ॥

गायन्त्यो वै हसन्त्यश्च लोभयन्त्यश्च तं द्विजम्।
स च नास्मासु कृतवान्मनो वीर कथंचन।
नाकम्पत महातेजाः स्थितस्तपसि निर्मले ॥ २० ॥

हे वीर! हम उनको लुभानेके लिये हंसने और गीत गाने लगीं; पर उस विप्रने किसी प्रकार भी हमारी ओर ध्यान नहीं दिया। निर्मल तपस्यामें मग्न वे महातेजस्वी ब्राह्मण जरा भी विचलित नहीं हुए ॥ २० ॥

सोऽशापत्कुपितोऽस्मांस्तु ब्राह्मणः क्षत्रियर्षभ।
ग्राहभूता जले यूयं चरिष्यध्वं शतं समाः ॥ २१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अष्टाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०८ ॥ ६६७५ ॥

हे क्षत्रिय वर! तदनन्तर ब्राह्मणने क्रोधित होकर हमको यह शाप दिया, कि तुम ग्राह बनकर जलमें सौ वर्षतक विचरोगी ॥ २१ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें दोसौ आठवां अध्याय समाप्त ॥ २०८ ॥ ६६७२ ॥

: २०९ :

वर्गोवाच

ततो वयं प्रव्यथिताः सर्वा भरतसत्तम ।
आयाम शरणं विप्रं तं तपोधनमच्युतम् ॥ १ ॥

वर्गा बोली– हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ ! तब हम सब अत्यन्त दुःखी हो गईं और अच्युत तपोधन उस ब्राह्मणकी शरण लेकर कहा ॥ १ ॥

रूपेण वयसा चैव कन्दर्पेण च दर्पिताः ।
अयुक्तं कृतवत्यः स्म क्षन्तुमर्हसि नो द्विज ॥ २ ॥

हे द्विज ! हमने रूप, यौवन और कामके अहङ्कारसे यह अनुचित कार्य किया है। हे द्विज ! आप हमें क्षमा कर सकते हैं ॥ २ ॥

एष एव वधोऽस्माकं सुपर्याप्तस्तपोधन ।
यद्वयं संशितात्मानं प्रलोब्धुं त्वामिहागताः ॥ ३ ॥

यही हमारे लिये पर्याप्त वधके समान है, कि हम तुम ऐसे जितेन्द्रिय मुनिको लुभानेकी इच्छासे यहां आई हैं ॥ ३ ॥

अवध्यास्तु स्त्रियः सृष्टा मन्यन्ते धर्मचिन्तकाः ।
तस्माद्धर्मेण धर्मज्ञ नास्मान्हिंसितुमर्हसि ॥ ४ ॥

धर्म विचारक मानते हैं कि नारी वधके अयोग्य बनायी गयी है; अतः, हे धर्म जाननेवाले ! धर्मके अनुसार आप हमारी हिंसा नहीं कर सकते ॥ ४ ॥

सर्वभूतेषु धर्मज्ञ मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ।
सत्यो भवतु कल्याण एष वादो मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

हे धर्मज्ञ ! पण्डित लोग कहते हैं, कि ब्राह्मण सब प्राणियोंके मित्र हैं; हे कल्याण करनेवाले ! पण्डितोंका वह वचन सत्य हो ॥ ५ ॥

शरणं च प्रपन्नानां शिष्टाः कुर्वन्ति पालनम् ।
शरणं त्वां प्रपन्नाः स्म तस्मात्त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥ ६ ॥

सज्जन लोग शरणमें आये हुए लोगोंकी रक्षा करते हैं; हमने आपकी शरण ली है; अतः आप हमें क्षमा करें ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु धर्मात्मा ब्राह्मणः शुभकर्मकृत्।
प्रसादं कृतवान्वीर रविसोमसमप्रभः ॥ ७ ॥

वैशम्पायन बोले– हे वीर! तब सूर्य और चन्द्रमाके समान तेजस्वी शुभकर्म करनेवाले धर्मात्मा वह ब्राह्मण अप्सराओंकी यह बात सुनकर प्रसन्न हुए ॥ ७ ॥

ब्राह्मण उवाच

शतं सहस्रं विश्वं च सर्वमक्षयवाचकम्।
परिमाणं शतं त्वेतन्नैतदक्षयवाचकम् ॥ ८ ॥

ब्राह्मण बोले– शत, सहस्र और विश्वका अर्थ अनन्तकाल भी होता है, पर मैंने "शत वर्ष" यह शब्द कहा है, उसका अर्थ सौ ही होगा, अनन्तकाल नहीं ॥ ८ ॥

यदा च वो ग्राहभूता गृह्णन्तीः पुरुषाञ्जले।
उत्कर्षति जलात्कश्चित्स्थलं पुरुषसत्तमः ॥ ९ ॥

तुम जलचर ग्राह बनकर पुरुषोंको पकडा करोगी, पर सौ वर्ष होनेपर जब एक पुरुष श्रेष्ठ तुमको पकड कर स्थल पर खींच लाएगा ॥ ९ ॥

तदा यूयं पुनः सर्वाः स्वरूपं प्रतिपत्स्यथ।
अनृतं नोक्तपूर्वं मे हसतापि कदाचन ॥ १० ॥

तब तुम सब फिर अपना अपना रूप प्राप्त करोगी, मैंने पहिले कभी हंसीमें भी झूठी बात नहीं कही है ॥ १० ॥

तानि सर्वाणि तीर्थानि इतः प्रभृति चैव ह।
नारीतीर्थानि नाम्नेह ख्यातिं यास्यन्ति सर्वशः।
पुण्यानि च भविष्यन्ति पावनानि मनीषिणाम् ॥ ११ ॥

तुम्हारे छुटकारा पानेपर वे सब तीर्थ, नारीतीर्थके नामसे संसारमें प्रख्यात होंगे और वे साधुओंको पवित्र करनेवाले और पुण्यदायी बनेंगे ॥ ११ ॥

वर्गोवाच

ततोऽभिवाद्य तं विप्रं कृत्वा चैव प्रदक्षिणम्।
अचिन्तयामोपसृत्य तस्माद्देशात्सुदुःखिताः ॥ १२ ॥

वर्गा बोली– इसके बाद हम उन ब्राह्मणको प्रणाम कर तथा उनकी परिक्रमा कर दुःखी चित्तसे वहांसे दूर जाकर सोचने लगीं ॥ १२ ॥

क्व नु नाम वयं सर्वाः कालेनाल्पेन तं नरम् ।
समागच्छेम यो नस्तद्रूपमापादयेत्पुनः ॥ १३ ॥

जो हमें अपना रूप प्राप्त करा सके उस पुरुषसे शीघ्रसे शीघ्र किस क्षेत्रमें हमारी भेंट होगी ॥ १३ ॥

ता वयं चिन्तयित्वैवं मुहूर्तादिव भारत ।
दृष्टवत्यो महाभागं देवर्षिमुत नारदम् ॥ १४ ॥

हे भारत ! हम सब ऐसी चिन्ता कर रही थीं कि पलभरमें महाभाग देवर्षि नारदको हमने देखा ॥ १४ ॥

सर्वा हृष्टाः स्म तं दृष्ट्वा देवर्षिममितद्युतिम् ।
अभिवाद्य च तं पार्थ स्थिताः स्म व्यथिताननाः ॥ १५ ॥

और उन अमित तेजस्वी नारदको देखकर हम बडी प्रसन्न हुईं और, हे पार्थ ! उनका अभिवादन कर दुःखी होकर हम वहीं खडी रहीं ॥ १५ ॥

स नोऽपृच्छद्दुःखमूलमुक्तवत्यो वयं च तत् ।
श्रुत्वा तच्च यथावृत्तमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १६ ॥

उन्होंने हमारे दुःखका कारण पूछा और हमने भी आद्योपान्त सब कह सुनाया। वह हमारा वृत्तान्त सुनकर यह वचन बोले ॥ १६ ॥

दक्षिणे सागरानूपे पञ्च तीर्थानि सन्ति वै ।
पुण्यानि रमणीयानि तानि गच्छत माचिरम् ॥ १७ ॥

दक्षिण–समुद्रमें प्रायः जलसे भरे हुए स्थानमें पांच तीर्थ हैं, वे बडे रमणीय और पुण्य-दायक हैं तुम वहां जाओ, देर मत करो ॥ १७ ॥

तत्राशु पुरुषव्याघ्रः पाण्डवो वो धनञ्जयः ।
मोक्षयिष्यति शुद्धात्मा दुःखादस्मान्न संशयः ॥ १८ ॥

उस स्थानमें शुद्धात्मा पुरुषश्रेष्ठ पाण्डुपुत्र धनञ्जय तुमको इस दुःखसे निःसन्देह बचावेंगे ॥ १८ ॥

तस्य सर्वा वयं वीर श्रुत्वा वाक्यमिहागताः ।
तदिदं सत्यमेवाद्य मोक्षिताहं त्वयानघ ॥ १९ ॥

हे वीर ! हम सब उन महर्षिका वचन सुनकर यहां आयी थीं। हे अनघ ! अब सचमुच मैं तुम्हारे द्वारा छुडा दी गई हूँ ॥ १९ ॥

एतास्तु मम वै सख्यश्चतस्त्रोऽन्या जले स्थिताः ।
कुरु कर्म शुभं वीर एताः सर्वा विमोक्षय ॥ २० ॥

मेरी वे चार सखियां भी इसी प्रकार दूसरे जलमें हैं, हे वीर ! तुम शुभ कर्म करो और इन सबोंको भी छुडा दो ॥ २० ॥

वैशंपायन उवाच

ततस्ताः पाण्डवश्रेष्ठः सर्वा एव विशां पते ।
तस्माच्छापाददीनात्मा मोक्षयामास वीर्यवान् ॥ २१ ॥

वैशम्पायन बोले— हे राजन् ! तब वीर्यवान् महात्मा पाण्डव श्रेष्ठ अर्जुनने प्रसन्न मनसे उन सबको उस शापसे मुक्त किया ॥ २१ ॥

उत्थाय च जलात्तस्मात्प्रतिलभ्य वपुः स्वकम् ।
तास्तदाप्सरसो राजन्नदृश्यन्त यथा पुरा ॥ २२ ॥

हे महाराज ! तब अप्सरायें उस जलसे उठकर अपने पहिलेके रूपको पाकर पहलेके समान दीखने लग गईं ॥ २२ ॥

तीर्थानि शोधयित्वा तु तथानुज्ञाय ताः प्रभुः ।
चित्राङ्गदां पुनर्द्रष्टुं मणलूरपुरं ययौ ॥ २३ ॥

इस प्रकार अर्जुन उन पञ्चतीर्थोंको सुधारकर उन स्त्रियोंको आज्ञा देकर चित्राङ्गदाको देखनेके लिये फिर मणलूरपुरको गए ॥ २३ ॥

तस्यामजनयत्पुत्रं राजानं बभ्रुवाहनम् ।
तं दृष्ट्वा पाण्डवो राजन्गोकर्णमभितोऽगमत् ॥ २४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि नवाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०९ ॥ ६९९९ ॥

हे राजन् ! तब अर्जुनने चित्रांगदासे राजा बभ्रुवाहन नामक पुत्रको पैदा किया और उस बभ्रुवाहनको देखकर पाण्डुपुत्र अर्जुन गोकर्णकी तरफ चले गए ॥ २४ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें दोसौ नौवां अध्याय समाप्त ॥ २०९ ॥ ६६९९ ॥

: २१० :

वैशम्पायन उवाच

सोऽपरान्तेषु तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च ।
सर्वाण्येवानुपूर्व्येण जगामामितविक्रमः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— तदनन्तर अति विक्रमी अर्जुन पश्चिम प्रदेशमें जितने तीर्थ और पुण्य स्थान थे, एक एक कर उन सबमें गये ॥ १ ॥

समुद्रे पश्चिमे यानि तीर्थान्यायतनानि च ।
तानि सर्वाणि गत्वा स प्रभासमुपजग्मिवान् ॥ २ ॥

और पश्चिम समुद्रमें जितने तीर्थ और स्थान हैं, वहां घूमघामकर अन्तमें प्रभास तीर्थमें जा पहुंचे ॥ २ ॥

प्रभासदेशं संप्राप्तं बीभत्सुमपराजितम् ।
तीर्थान्यनुचरन्तं च शुश्राव मधुसूदनः ॥ ३ ॥

मधुसूदन माधवने तीर्थोंमें घूमते हुए अपराजित अर्जुनको प्रभास तीर्थमें पहुंचा हुआ सुना ॥ ३ ॥

ततोऽभ्यगच्छत्कौन्तेयमज्ञातो नाम माधवः ।
ददृशाते तदान्योन्यं प्रभासे कृष्णपाण्डवौ ॥ ४ ॥

तब माधव कृष्ण उनकी भेंटके लिये वहां गये, तब प्रभासमें कृष्ण और पाण्डवने एक दूसरेको देखा ॥ ४ ॥

तावन्योन्यं समाश्लिष्य पृष्ट्वा च कुशलं वने ।
आस्तां प्रियसखायौ तौ नरनारायणावृषी ॥ ५ ॥

दोनों प्यारे सखा ऋषि नर और नारायणरूपी कृष्ण तथा अर्जुन एक दूसरेको गले लगाकर कुशलक्षेम पूछकर वहां बैठे ॥ ५ ॥

ततोऽर्जुनं वासुदेवस्तां चर्यां पर्यपृच्छत ।
किमर्थं पाण्डवेमानि तीर्थान्यनुचरस्युत ॥ ६ ॥

वासुदेव अर्जुनका भ्रमण वृत्तान्त सुननेकी इच्छासे बोले— हे पाण्डव ! तुम क्यों इन तीर्थोंमें फिर रहे हो ? ॥ ६ ॥

ततोऽर्जुनो यथावृत्तं सर्वमाख्यातवांस्तदा ।
श्रुत्वोवाच च वार्ष्णेय एवमेतदिति प्रभुः ॥ ७ ॥

तब अर्जुनने आद्योपान्त सब कह सुनाया । प्रभु वार्ष्णेयने सुनकर कहा— यह उचित ही हुआ है ॥ ७ ॥

तौ विहृत्य यथाकामं प्रभासे कृष्णपाण्डवौ ।
महीधरं रैवतकं वासायैवाभिजग्मतुः ॥ ८ ॥

अनन्तर वे दोनों कृष्ण और अर्जुन प्रभासमें यथेच्छ विहारकरके रहनेके लिये रैवतक पर्वत पर गये ॥ ८ ॥

पूर्वमेव तु कृष्णस्य वचनात्तं महीधरम्।
पुरुषाः समलंचक्रुरुपजह्रुश्च भोजनम् ॥ ९ ॥

इसके पहिले ही कृष्णकी आज्ञासे नौकरोंने पर्वतको सजा रखा था, उनके पहुंचते ही वे भोजन ले आए ॥ ९ ॥

प्रतिगृह्यार्जुनः सर्वमुपभुज्य च पाण्डवः।
सहैव वासुदेवेन दृष्टवान्नटनर्तकान् ॥ १० ॥

अर्जुनने वहां उन सब पदार्थोंको स्वीकार किया और वासुदेवके साथ वहां भोजनादि करके नट नाचनेवालोंके नाच आदि देखे ॥ १० ॥

अभ्यनुज्ञाप्य तान्सर्वानर्चयित्वा च पाण्डवः।
सत्कृतं शयनं दिव्यमभ्यगच्छन्महाद्युतिः। ॥ ११ ॥

इसके बाद महातेजस्वी पाण्डव अर्जुनने उनको यथोचित पारितोषिक देकर विदा किया, और भली प्रकार सजी सजायी दिव्य सेज पर जाकर वे सोये ॥ ११ ॥

तीर्थानां दर्शनं च पर्वतानां च भारत।
आपगानां वनानां च कथयामास सात्वते ॥ १२ ॥

अर्जुन कृष्णसे भांति भांतिके तीर्थोंके दर्शन, पर्वत, नदी, बन आदिकी कथा कहने लगे ॥ १२ ॥

स कथाः कथयन्नेव निद्रया जनमेजय।
कौन्तेयोऽपहृतस्तस्मिञ्शयने स्वर्गसंमिते ॥ १३ ॥

जनमेजय! वह इस प्रकारकी नाना कथायें कहते हुए ही उस स्वर्गका सुख देनेवाले सेज पर निद्रा द्वारा हर लिए गए ॥ १३ ॥

मधुरेण स गीतेन वीणाशब्देन चानघ।
प्रबोध्यमानो बुबुधे स्तुतिभिर्मङ्गलैस्तथा ॥ १४ ॥

इसके बाद, हे अनघ! रात बीतने पर मीठे गीत, मंगलकारक स्तुतिपाठ और वीणाकी ध्वनिसे जगाये जाकर जग उठे ॥ १४ ॥

स कृत्वावश्यकार्याणि वार्ष्णेयेनाभिनन्दितः।
रथेन काञ्चनाङ्गेन द्वारकामभिजग्मिवान् ॥ १५ ॥

और नित्यकृत्योंको करके, यादवोंसे नमस्कार किये जाकर सुवर्णके रथ पर बैठकर द्वारकाको गये ॥ १५ ॥

अलंकृता द्वारका तु बभूव जनमेजय ।
कुन्तीसुतस्य पूजार्थमपि निष्कुटकेष्वपि ॥ १६ ॥

हे जनमेजय ! कुन्तीनन्दनके गौरवके लिये द्वारकापुरीके राजपथ, फुलवारी और भवन आदि सब सजाये गये थे ॥ १६ ॥

दिदृक्षवश्च कौन्तेयं द्वारकावासिनो जनाः ।
नरेन्द्रमार्गमाजग्मुस्तूर्णं शतसहस्रशः ॥ १७ ॥

सैंकडों सहस्रों द्वारकावासी जन अर्जुनको देखनेके लिये राजपथ पर वेगसे पहुंचने लगे ॥ १७ ॥

अवलोकेषु नारीणां सहस्राणि शतानि च ।
भोजवृष्ण्यन्धकानां स समवायो महानभूत् ॥ १८ ॥

पाण्डवदर्शनके लिये सैंकडों सहस्रों भोज वृष्णि और अंधकवंशी नरनारियोंकी बडी भीड लग गई ॥ १८ ॥

स तथा सत्कृतः सर्वैर्भोजवृष्ण्यन्धकात्मजैः ।
अभिवाद्याभिवाद्यांश्च सर्वैश्च प्रतिनन्दितः ॥ १९ ॥

अर्जुन भोज वृष्णि और अन्धकवंशियोंसे यथायोग्य सत्कृत हुए, नमस्कारयोग्य जनोंको नमस्कार किया और उनके द्वारा सत्कृत हुए ॥ १९ ॥

कुमारैः सर्वशो वीरः सत्कारेणाभिवादितः ।
समानवयसः सर्वानाश्लिष्य स पुनः पुनः ॥ २० ॥

और सब कुमारोंके सत्कारोंसे अभिवादित होकर उस वीर अर्जुनने अपनी समान अवस्था-वालोंको बारबार गले लगाया ॥ २० ॥

कृष्णस्य भवने रम्ये रत्नभोज्यसमावृते ।
उवास सह कृष्णेन बहुलास्तत्र शर्वरीः ॥ २१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१० ॥
॥ समाप्तमर्जुनवनवासपर्व ॥ ६७२० ॥

बादमें कृष्णके साथ भांति भांतिके रत्न तथा भोगकी सामग्रियोंसे भरे पूरे सुन्दर भवनमें बहुत दिन काटे ॥ २१ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें दोसौ दसवां अध्याय समाप्त ॥ २१० ॥
॥ अर्जुनवनवासपर्व समाप्त ॥ ६७२० ॥

: २११ :

वैशंपायन उवाच

ततः कतिपयाहस्य तस्मिन्रैवतके गिरौ ।
वृष्ण्यन्धकानामभवत्सुमहानुत्सवो नृप ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– तदनन्तर कुछ दिनोंके बाद उस रैवतक पर्वत पर वृष्णि और अन्धक-वंशियोंका उत्सव होने लगा ॥ १ ॥

तत्र दानं ददुर्वीरा ब्राह्मणानां सहस्रशः ।
भोजवृष्ण्यन्धकाश्चैव महे तस्य गिरेस्तदा ॥ २ ॥

भोज, वृष्णि और अन्धकवंशी वीर उस गिरि सम्बन्धी उत्सवमें सहस्रों ब्राह्मणोंको भांति भांतिकी सामग्री दान देने लगे ॥ २ ॥

प्रासादै रत्नचित्रैश्च गिरेस्तस्य समन्ततः ।
स देशः शोभितो राजन्दीपवृक्षैश्च सर्वशः ॥ ३ ॥

हे महाराज ! रैवतक पर्वतकी चारों ओरकी उपत्यकायें और अधित्यकायें रत्नोंसे सजे दीप वृक्षके समान कामनाओंकी वस्तुओंसे भरे गृहोंसे सुहाने लगीं ॥ ३ ॥

वादित्राणि च तत्र स्म वादकाः समवादयन् ।
ननृतुर्नर्तकाश्चैव जगुर्गानानि गायनाः ॥ ४ ॥

वहां बाजेवालोंने बाजे बजाये, नृत्य करनेवाले नृत्य करने लगे और गायकोंने गीत गाए ॥ ४ ॥

अलंकृताः कुमाराश्च वृष्णीनां सुमहौजसः ।
यानैर्हाटकचित्राङ्गैश्चञ्चूर्यन्ते स्म सर्वशः ॥ ५ ॥

अति वीर्यवान् वृष्णिवंशी कुमारगण सजधजकर सुनहले रथों पर इधर उधर घूमते हुए सुहाने लगे ॥ ५ ॥

पौराश्च पादचारेण यानैरुच्चावचैस्तथा ।
सदाराः सानुयात्राश्च शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ६ ॥

सैंकडों सहस्रों पुरवासी पत्नी और साथियों समेत अनेक प्रकारके यान पर टहलने लगे । कोई कोई पैदल ही घूमने लगा ॥ ६ ॥

ततो हलधरः क्षीवो रेवतीसहितः प्रभुः ।
अनुगम्यमानो गन्धर्वैरचरत्तत्र भारत ॥ ७ ॥

हे भारत ! रेवतीके साथ मधुसे मतवाले प्रभु हलधर बलराम अपने सहचर गन्धर्वोंसे घिरे हुए घूमने लगे ॥ ७ ॥

तथैव राजा वृष्णीनामुग्रसेनः प्रतापवान् ।
उपगीयमानो गन्धर्वैः स्त्रीसहस्रसहायवान् ॥ ८ ॥

वैसे ही सहस्र नारियोंके साथ वृष्णियोंके राजा प्रतापी उग्रसेन सहचर गन्धर्वोंसे घिरे हुए घूमनेमें प्रवृत्त हुए ॥ ८ ॥

रौक्मिणेयश्च साम्बश्च क्षीबौ समरदुर्मदौ ।
दिव्यमाल्याम्बरधरौ विजह्रातेऽमराविव ॥ ९ ॥

युद्धमें कठोर साम्ब और रुक्मिणीकुमार मधुसे मतवाले हो सुन्दर माला और वस्त्र पहिने देवोंकी भांति विहार करने लगे ॥ ९ ॥

अक्रूरः सारणश्चैव गदो भानुर्विदूरथः ।
विशठश्चारुदेष्णश्च पृथुर्विपृथुरेव च ॥ १० ॥

अक्रूर, सारण, गद, भानु, विदूरथ, विशठ, चारुदेष्ण, पृथु और विपृथु ॥ १० ॥

सत्यकः सात्यकिश्चैव भङ्गकारसहाचरौ ।
हार्दिक्यः कृतवर्मा च ये चान्ये नानुकीर्तिताः ॥ ११ ॥

सत्यक, सात्यकि, भङ्गकार, सहाचर, हार्दिक्य, कृतवर्मा और दूसरे जो नहीं कहे गए हैं ॥ ११ ॥

एते परिवृताः स्त्रीभिर्गन्धर्वैश्च पृथक्पृथक् ।
तमुत्सवं रैवतके शोभयाञ्चक्रिरे तदा ॥ १२ ॥

उन्होंने अलग अलग स्त्री और गन्धर्वोंके साथ वहां टहलते हुए उस पर्वत पर महोत्सवकी शोभा बढायी ॥ १२ ॥

तदा कोलाहले तस्मिन्वर्तमाने महाशुभे ।
वासुदेवश्च पार्थश्च सहितौ परिजग्मतुः ॥ १३ ॥

इस प्रकार उस मनोहर अति शुभ कोलाहलके होने पर वासुदेव और पार्थ एक साथ वहां गए ॥ १३ ॥

तत्र चङ्क्रम्यमाणौ तौ वसुदेवसुतां शुभाम् ।
अलंकृतां सखीमध्ये सुभद्रां ददृशतुस्तदा ॥ १४ ॥

वहां उन दोनों अर्जुन और कृष्णने इधर उधर घूमते समय सखियोंसे घिरी नाना आभूषणोंसे बनी ठनी, शुभ लक्षणोंसे युक्त वसुदेवकी कन्या सुभद्राको देखा ॥ १४ ॥

दृष्ट्वैव तामर्जुनस्य कन्दर्पः समजायत ।
तं तदैकाग्रमनसं कृष्णः पार्थमलक्षयत् ॥ १५ ॥

अर्जुन उस कोमलाङ्गी बालाको देखकरके ही मदन बाणसे मोहित हुए। हे भारत! कृष्णने उनके मनको सुभद्रामें आकृष्ट हुए हुए देखा ॥ १५ ॥

अथाब्रवीत्पुष्कराक्षः प्रहसन्निव भारत ।
वनेचरस्य किमिदं कामेनालोडयते मनः ॥ १६ ॥
ममैषा भगिनी पार्थ सारणस्य सहोदरा ।
यदि ते वर्तते बुद्धिर्वक्ष्यामि पितरं स्वयम् ॥ १७ ॥

हे भारत! तब कमलके समान सुन्दर आंखोंवाले कृष्ण हंसकर बोले– यह क्या है? वनवासीके मनको भी काम मथ रहा है? हे पार्थ! यह कन्या सारणकी सगी बहिन और मेरी भी बहिन है, यदि तुम्हारा चित्त इस पर आसक्त हो गया हो तो कहो, मैं स्वयं ही पितासे यह कहूं ॥ १६–१७ ॥

अर्जुन उवाच

दुहिता वसुदेवस्य वासुदेवस्य च स्वसा ।
रूपेण चैव संपन्ना कमिवैषा न मोहयेत् ॥ १८ ॥

अर्जुन बोले– वसुदेवकी कन्या, वासुदेवकी बहिन अनुपम रूपवती यह कन्या किसके मनको मोहित न करेगी? ॥ १८ ॥

कृतमेव तु कल्याणं सर्वं मम भवेद्ध्रुवम् ।
यदि स्यान्मम वार्ष्णेयी महिषीयं स्वसा तव ॥ १९ ॥

तुम्हारी बहिन यह सुभद्रा यदि मेरी रानी बने, तो इसमें सन्देह नहीं, कि तुमसे मेरा सब प्रकार कल्याण होगा ॥ १९ ॥

प्राप्तौ तु क उपायः स्यात्तद्ब्रवीहि जनार्दन ।
आस्थास्यामि तदा सर्वं यदि शक्यं नरेण तत् ॥ २० ॥

हे जनार्दन! कहो, अब किस उपायसे सुभद्रा मिल सकती है? यदि मनुष्यके सामर्थ्यमें हो तो सब प्रकारसे वह करूंगा ॥ २० ॥

वासुदेव उवाच

स्वयंवरः क्षत्रियाणां विवाहः पुरुषर्षभ ।
स च संशयितः पार्थ स्वभावस्यानिमित्ततः ॥ २१ ॥

वासुदेव बोले– हे पुरुषश्रेष्ठ पार्थ! क्षत्रियोंका स्वयंवर विवाहका नियम तो है, पर उसमें शङ्का हो रही है, क्योंकि नारियोंका स्वभाव और हृदय शूरता पाण्डित्य आदि पर नहीं चलता ॥ २१ ॥

प्रसह्य हरणं चापि क्षत्रियाणां प्रशस्यते ।
विवाहहेतोः शूराणामिति धर्मविदो विदुः ॥ २२ ॥

(वे पहिले देखनेमें सुन्दर जन पर मोहित होती हैं) अतएव शूर क्षत्रियोंके लिये बलसे कन्याका हरण कर विवाह करनेके नियमकी धर्मज्ञगण प्रशंसा करते हैं ॥ २२ ॥

स त्वमर्जुन कल्याणीं प्रसह्य भगिनीं मम ।
हर स्वयंवरे ह्यस्याः को वै वेद चिकीर्षितम् ॥ २३ ॥

हे अर्जुन ! तुम उस विधानके अनुसार बलपूर्वक इस शुभलक्षणा मेरी बहिनको हर लो, क्योंकि कौन जानता है, कि स्वयंवरमें सुभद्राका क्या अभिप्राय है ? ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततोऽर्जुनश्च कृष्णश्च विनिश्चित्येतिकृत्यताम् ।
शीघ्रगान्पुरुषन्राजन्प्रेषयामासतुस्तदा ॥ २४ ॥
धर्मराजाय तत्सर्वमिन्द्रप्रस्थगताय वै ।
श्रुत्वैव च महाबाहुरनुजज्ञे स पाण्डवः ॥ २५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि एकादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २११ ॥ ६७४५ ॥

वैशम्पायन बोले— अनन्तर अर्जुन और कृष्णने क्या करना उचित है, उसका निश्चय कर इन्द्रप्रस्थमें रहनेवाले धर्मराजके पास शीघ्र जानेवाला दूत भेज दिया । महाबाहु पाण्डव-नन्दन युधिष्ठिरने वह सब वृत्तान्त सुनते ही उसके लिए आज्ञा भिजवा दी ॥ २४-२५ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें दो सौ ग्यारहवां अध्याय समाप्त ॥ २११ ॥ ॥ ६७४५ ॥

: २१२ :

वैशम्पायन उवाच

ततः संवादिते तस्मिन्ननुज्ञातो धनंजयः ।
गतां रैवतके कन्यां विदित्वा जनमेजय ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— हे जनमेजय ! तदनन्तर युधिष्ठिरकी आज्ञा पाने पर पुरुषश्रेष्ठ धनञ्जयने रैवतकपर्वत पर कन्या गई है, यह जानकर ॥ १ ॥

वासुदेवाभ्यनुज्ञातः कथयित्वेतिकृत्यताम् ।
कृष्णस्य मतमाज्ञाय प्रययौ भरतर्षभः ॥ २ ॥

वासुदेवकी आज्ञा पाकर तथा अपने कर्तव्यको निश्चित करके और कृष्णके मतके अनुसार भारतश्रेष्ठने यात्रा की ॥ २ ॥

रथेन काञ्चनाङ्गेन कल्पितेन यथाविधि ।
सैन्यसुग्रीवयुक्तेन किङ्किणीजालमालिना ॥ ३ ॥

सैन्य सुग्रीव नामक घोडोंसे युक्त, किंकण जालसे युक्त, विधिपूर्वक सोनेसे बनाए गए रथसे ॥ ३ ॥

सर्वशस्त्रोपपन्नेन जीमूतरवनादिना ।
ज्वलिताग्निप्रकाशेन द्विषतां हर्षघातिना ॥ ४ ॥

सब शस्त्रोंसे युक्त, बादलके सदृश गंभीर शब्द करनेवाले, प्रज्ज्वलित अग्निके समान चमकीले विपक्षीके हर्षनाशी रथ पर ॥ ४ ॥

संनद्धः कवची खड्गी बद्धगोधाङ्गुलित्रवान् ।
मृगयाव्यपदेशेन यौगपद्येन भारत ॥ ५ ॥

कवच, तलवार, दस्ताने और अंगुलिके रक्षक साधनोंसे युक्त हो शिकारके बहाने अर्जुन अचानक उधर गए ॥ ५ ॥

सुभद्रा त्वथ शैलेन्द्रमभ्यर्च्य सह रैवतम् ।
दैवतानि च सर्वाणि ब्राह्मणान्स्वस्ति वाच्य च ॥ ६ ॥

सुभद्रा शैलराज रैवतकको पूजकर देवोंकी पूजा कर और ब्राह्मणोंसे स्वस्ति कहलवा कर ॥२॥

प्रदक्षिणं गिरिं कृत्वा प्रययौ द्वारकां प्रति ।
तामभिद्रुत्य कौन्तेयः प्रसह्यारोपयद्रथम् ॥ ७ ॥

पर्वतकी परिक्रमा कर द्वारकाकी ओर जा रही थी, कि ऐसे समय कुन्तीनन्दन धनञ्जयने उसकी ओर दौडकर जबर्दस्ती उस सुभद्राको रथपर चढा लिया ॥ ७ ॥

ततः स पुरुषव्याघ्रस्तामादाय शुचिस्मिताम् ।
रथेनाकाशगेनैव प्रययौ स्वपुरं प्रति ॥ ८ ॥

पुरुषव्याघ्र अर्जुन इस प्रकारसे सुन्दर मुस्कराहटोंवाली सुभद्राको लेकर आकाशमें चलनेवाले रथसे अपने नगरकी ओर चले गए ॥ ८ ॥

ह्रियमाणां तु तां दृष्ट्वा सुभद्रां सैनिको जनः ।
विक्रोशन्प्राद्रवत्सर्वो द्वारकामभितः पुरीम् ॥ ९ ॥

सैनिक लोग सुभद्राको अर्जुनसे हरे जाते देखकर चिल्लाते हुए द्वारका नगरकी ओर दौडे ॥ ९ ॥

ते समासाद्य सहिताः सुधर्मामभितः सभाम् ।
सभापालस्य तत्सर्वमाचख्युः पार्थविक्रमम् ॥ १० ॥

उन सबोंने देवसभाके समान उस राजसभामें उपस्थित हो सभापालसे अर्जुनका वह सारा विक्रमवृत्तान्त कह सुनाया ॥ १० ॥

तेषां श्रुत्वा सभापालो भेरीं सांनाहिकीं ततः ।
समाजघ्ने महाघोषां जाम्बूनदपरिष्कृताम् ॥ ११ ॥

सभापालने उनसे सब वृत्तान्त सुनकर सुवर्णसे शोभित बडी आवाज करनेवाली युद्धके लिये तैय्यार होनेकी सूचना देनेवाली भेरी बजाई ॥ ११ ॥

क्षुब्धास्तेनाथ शब्देन भोजवृष्ण्यन्धकास्तदा ।
अन्नपानमपास्याथ समापेतुः सभां ततः ॥ १२ ॥

भोज, वृष्णि और अन्धक लोग उस भेरीके शब्दसे क्षुब्ध हो, अन्नपान छोड करके सभाके चारों ओर इकट्ठे होने लगे ॥ १२ ॥

ततो जाम्बूनदाङ्गानि स्पर्ध्यास्तरणवन्ति च ।
मणिविद्रुमचित्राणि ज्वलिताग्निप्रभाणि च ॥ १३ ॥
भेजिरे पुरुषव्याघ्रा वृष्ण्यन्धकमहारथाः ।
सिंहासनानि शतशो धिष्ण्यानीव हुताशनाः ॥ १४ ॥

तेज अग्नि जिस प्रकार अपना आधार इन्धन पकड लेती है, वैसे ही महारथी पुरुषव्याघ्र वृष्णि और अन्धक लोग परम सुन्दर चादरोंसे आच्छादित, मणियोंसे खचित, जलती हुई अग्निके समान चमकीले सैंकडों सोनेके सिंहासनों पर जा बैठे ॥ १३-१४ ॥

तेषां समुपविष्टानां देवानामिव संनये ।
आचख्यौ चेष्टितं जिष्णोः सभापालः सहानुगः ॥ १५ ॥

देवोंके समागमकी भांति उनके इकट्ठे होनेपर सभापालने उनसे अर्जुनका किया कार्य कह सुनाया ॥ १५ ॥

तच्छ्रुत्वा वृष्णिवीरास्ते मदरक्तान्तलोचनाः ।
अमृष्यमाणाः पार्थस्य समुत्पेतुरहंकृताः ॥ १६ ॥

अहङ्कारसे नेत्र लाल किये हुए गर्वित वे वृष्णि वीरगण उस वृत्तान्तको सुनते ही पार्थके उस कामको न सहन करते हुए सिंहासनोंसे उठ खडे हुए ॥ १६ ॥

योजयध्वं रथानाशु प्रासानाहरतेति च ।
धनूंषि च महार्हाणि कवचानि बृहन्ति च ॥ १७ ॥

उनमेंसे किसी किसीने कहा, कि तुरन्त रथ जोडो, किसी किसीने कहा कि प्रक्षेपणास्त्र लाओ, किसी किसीने कहा मूल्यवान् धनुष और बडे बडे कवच लाओ ॥ १७ ॥

सूतानुच्चुक्रुशुः केचिद्रथान्योजयतेति च ।
स्वयं च तुरगान्केचिन्निन्युर्हेमविभूषितान् ॥ १८ ॥

किसी किसीने चिल्लाकर सारथीको पुकारके कहा, कि तुरन्त रथ जोतो; कोई कोई तो स्वयं ही शीघ्रताके लिये सुवर्णके अलंकारोंसे युक्त घोडे लेजाने लगे ॥ १८ ॥

रथेष्वानीयमानेषु कवचेषु ध्वजेषु च ।
अभिक्रन्दे नृवीराणां तदासीत्संकुलं महत् ॥ १९ ॥

तब रथ कवच ध्वजा आदिको लानेपर उन मनुष्य वीरोंका महान् कोलाहल होने लगा ॥१९॥

वनमाली ततः क्षीबः कैलासशिखरोपमः ।
नीलवासा मदोत्सिक्त इदं वचनमब्रवीत् ॥ २० ॥

तदनन्तर गलेमें वनमाला डाले, कैलासपर्वतके समान नीलाम्बर पहिने हुए मदसे मदोन्मत्त बलदेव यह वचन बोले ॥ २० ॥

किमिदं कुरुथाप्रज्ञास्तूष्णीं भूते जनार्दने ।
अस्य भावमविज्ञाय संक्रुद्धा मोघगर्जिताः ॥ २१ ॥

हे मूर्खो ! जनार्दनके कुछ न कहने पर भी तुम यह क्या कर रहे हो ? इनका अभिप्राय न जान करके ही तुम क्रोधके मारे व्यर्थकी गर्जना कर रहे हो ॥ २१ ॥

एष तावदभिप्रायमाख्यातु स्वं महामतिः ।
यदस्य रुचितं कर्तुं तत्कुरुध्वमतन्द्रिताः ॥ २२ ॥

यह महामति कृष्ण पहिले अपना मत प्रगट करें और तब इनको जो पसन्द हो वह आप सब आलस्यसे रहित होकर करें ॥ २२ ॥

ततस्ते तद्वचः श्रुत्वा ग्राह्यरूपं हलायुधात् ।
तूष्णीं भूतास्ततः सर्वे साधु साध्विति चाब्रुवन् ॥ २३ ॥

तब सब जन हलधरकी सुनने योग्य वह बात सुनकर साधु साधु कहकर चुप हो गए ॥२३॥

समं वचो निशम्येति बलदेवस्य धीमतः ।
पुनरेव सभामध्ये सर्वे ते समुपाविशन् ॥ २४ ॥

और बुद्धिमान् बलदेवकी वह योग्य बात सुनकर वे सब वीर फिर सभामें बैठ गए ॥२४॥

ततोऽब्रवीत्कामपालो वासुदेवं परंतपम् ।
किमवागुपविष्टोऽसि प्रेक्ष्यमाणो जनार्दन ॥ २५ ॥

तब कामपालने शत्रुनाशी वासुदेवसे कहा– जनार्दन ! यह सब देखते हुए भी तुम नीचे मुंह किए क्यों बैठे हो ? ॥ २५ ॥

सत्कृतस्त्वत्कृते पार्थः सर्वैरस्माभिरच्युत ।
न च सोऽर्हति तां पूजां दुर्बुद्धिः कुलपांसनः ॥ २६ ॥

अच्युत ! हम सबने पृथापुत्रका तुम्हारे कारण भली प्रकार सत्कार किया था । पर वह कुबुद्धि कुलाङ्गार इस तरहके सत्कारके योग्य नहीं है ॥ २३ ॥

को हि तत्रैव भुक्त्वान्नं भाजनं भेत्तुमर्हति ।
मन्यमानः कुले जातमात्मानं पुरुषः क्वचित् ॥ २७ ॥

ऐसा कौन मनुष्य होगा कि जो अपने आपको उत्तम कुलमें पैदा हुआ हुआ मानता हो, और वह अन्न खाकर अन्नके बर्तनको तोड दे ॥ २७ ॥

ईप्समानश्च सम्बन्धं कृतपूर्वं च मानयन् ।
को हि नाम भवेनार्थी साहसेन समाचरेत् ॥ २८ ॥

वास्तवमें सम्बन्ध जोडनेकी इच्छा करनेवाला तथा पूर्वकृत उपकारको स्मरण करनेवाला कौन मनुष्य इस प्रकारके साहसका काम कर सकता है ? ॥ २८ ॥

सोऽवमन्य च नामास्माननादृत्य च केशवम् ।
प्रसह्य हृतवानद्य सुभद्रां मृत्युमात्मनः ॥ २९ ॥

वह पाण्डव कृष्णका अनादर कर और हमको तुच्छ समझकर अपनी मृत्युस्वरूप सुभद्राको आज जबर्दस्ती हर ले गया है ॥ २९ ॥

कथं हि शिरसो मध्ये पदं तेन कृतं मम ।
मर्षयिष्यामि गोविन्द पादस्पर्शमिवोरगः ॥ ३० ॥

गोविंद ! उसने मेरे शिर पर लात क्यों मारी है ? अतः सर्प जिस प्रकार दूसरेके पांवको सह नहीं सकता वैसे ही मैं भी कभी यह न सह सकूंगा ॥ ३० ॥

अद्य निष्कौरवामेकः करिष्यामि वसुन्धराम् ।
न हि मे मर्षणीयोऽयमर्जुनस्य व्यतिक्रमः ॥ ३१ ॥

मैं अर्जुनका यह विपरीत क्रम सह नहीं सकता, अतः आज ही इस वसुन्धराको कौरवोंसे रहित कर दूंगा ॥ ३१ ॥

तं तथा गर्जमानं तु मेघदुन्दुभिनिःस्वनम् ।
अन्वपद्यन्त ते सर्वे भोजवृष्ण्यन्धकास्तदा ॥ ३२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि द्वादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१२ ॥
॥ समाप्तं सुभद्राहरणपर्व ॥ ६७७७ ॥

भोज, वृष्णि और अन्धक सबने बादल और नगाडेकी भांति गरजते हुए उन बलदेवकी बातको मान लिया ॥ ३२ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें दो सौ बारहवां अध्याय समाप्त ॥ २१२ ॥
॥ सुभद्राहरणपर्व समाप्त ॥ ६७७७ ॥

: २१३ :

वैशम्पायन उवाच

उक्तवन्तो यदा वाक्यमसकृत्सर्ववृष्णयः ।
ततोऽब्रवीद्वासुदेवो वाक्यं धर्मार्थसंहितम् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— जब वृष्णियोंने बार बार इस प्रकारके वचन कहे तब वासुदेव धर्मार्थयुक्त यह वचन कहने लगे ॥ १ ॥

नावमानं कुलस्यास्य गुडाकेशः प्रयुक्तवान् ।
संमानोऽभ्यधिकस्तेन प्रयुक्तोऽयमसंशयम् ॥ २ ॥

अर्जुनने जो कार्य किया है, उससे हमारे कुलका अपमान नहीं हुआ; अपितु निस्सन्देह उन्होंने हमारा सम्मान बढाया है ॥ २ ॥

अर्थलुब्धान्न वः पार्थो मन्यते सात्वतान्सदा ।
स्वयंवरमनाधृष्यं मन्यते चापि पाण्डवः ॥ ३ ॥

सात्वतकुलमें जन्मे हुए तुम लोगोंको अर्जुन धनका लोभी नहीं मानता और स्वयंवरको भी पाण्डव स्वीकार नहीं करता है (इसीलिए उन्होंने तुम्हें धन देकर अथवा स्वयंवरके द्वारा सुभद्राको अपनाना नहीं चाहा) ॥ ३ ॥

प्रदानमपि कन्यायाः पशुवत्कोऽनुमंस्यते ।
विक्रयं चाप्यपत्यस्य कः कुर्यात्पुरुषो भुवि ॥ ४ ॥

पशुकी भांति कन्यादान किस क्षत्रियको प्रिय होगा और कन्याको बेचना भी इस पृथ्वी पर कौन मनुष्य पसन्द करेगा ? ॥ ४ ॥

एतान्दोषांश्च कौन्तेयो दृष्टवानिति मे मतिः ।
अतः प्रसह्य हृतवान्कन्यां धर्मेण पाण्डवः　　　　॥ ५ ॥

मुझको जान पडता है कि कुन्तीपुत्रने इन सब दोषोंको भलीभांति देखा है, इसीलिए अर्जुनने धर्मका आचरण करते हुए जबर्दस्ती कन्याका हरण किया है ॥ ५ ॥

उचितश्चैव संबन्धः सुभद्रा च यशस्विनी ।
एष चापीदृशः पार्थः प्रसह्य हृतवानिति　　　　॥ ६ ॥

सुभद्रा जैसी यशस्विनी है, पार्थ भी वैसे ही गुणवान् हैं, अतः यह सम्बन्ध अयोग्य नहीं है, इसका भी विचार करके उन्होंने कन्याका जबर्दस्ती हरण किया है ॥ ६ ॥

भरतस्यान्वये जातं शान्तनोश्च महात्मनः ।
कुन्तिभोजात्मजापुत्रं को बुभूषेत नार्जुनम्　　　　॥ ७ ॥

फिर भी भरतवंशी महात्मा शन्तनु कुंतीभोजके दौहित्र उस अर्जुनको ऐसा कौन है, जो मित्र बनाना न चाहता होगा ? ॥ ७ ॥

न च पश्यामि यः पार्थं विक्रमेण पराजयेत् ।
अपि सर्वेषु लोकेषु सेन्द्ररुद्रेषु मारिष　　　　॥ ८ ॥

हे वीर ! विशेष कर इस त्रिलोकी भरमें इन्द्र और रुद्रोंमें भी कोई ऐसा नहीं दीखता, जो बलसे अर्जुनको परास्त कर सके ॥ ८ ॥

स च नाम रथस्तादृङ्मदीयास्ते च वाजिनः ।
योद्धा पार्थश्च शीघ्रास्त्रः को नु तेन समो भवेत्　　　　॥ ९ ॥

हे आर्य ! उनका वह रथ, मेरे वे सब घोडे, वह स्वयं वैसे योद्धा और वैसी शीघ्रतासे शस्त्र फेंकनेवाले,इन सबको देखकर मैं यही सोचता हूँ कि उनके समान कौन हो सकता है ? ॥९॥

तमनुद्रुत्य सान्त्वेन परमेण धनंजयम् ।
निवर्तयध्वं संहृष्टा ममैषा परमा मतिः　　　　॥ १० ॥

अतः, मेरा उत्तम विचार यह है, कि तुम तुरन्त दौड कर प्रसन्नचित्तसे धनञ्जयको सांत्वना देकर लौट आओ ॥ १० ॥

यदि निर्जित्य वः पार्थो बलाद्गच्छेत्स्वकं पुरम् ।
प्रणश्येद्वो यशः सद्यो न तु सान्त्वे पराजयः　　　　॥ ११ ॥

यदि वह बलपूर्वक तुम सबको परास्त कर अपनी राजधानीमें चले जायेंगे, तो आज ही तुम्हारे यशका लोप हो जायेगा, अतः सान्त्वना देनेसे तुम्हारी पराजय नहीं होगी ॥११॥

तच्छ्रुत्वा वासुदेवस्य तथा चक्रुर्जनाधिप ।
निवृत्तश्चार्जुनस्तत्र विवाहं कृतवांस्ततः ॥ १२ ॥

हे जनाधिप ! यादवोंने वासुदेवकी वह बात सुन कर उसके अनुसार कार्य किया । प्रभावी अर्जुनने द्वारकापुरीमें लौटकर सुभद्रासे विवाह किया ॥ १२ ॥

उषित्वा तत्र कौन्तेयः संवत्सरपराः क्षपाः ।
पुष्करेषु ततः शिष्टं कालं वर्तितवान्प्रभुः ।
पूर्णे तु द्वादशे वर्षे खाण्डवप्रस्थमाविशत् ॥ १३ ॥

वहां वर्षभरकी रात्रियां बिताकर पुष्करतीर्थमें जाकर शेषकाल बिताने लगे । बारह वर्षोंके बीत जाने पर खाण्डवप्रस्थमें लौट आए ॥ १३ ॥

अभिगम्य च राजानं नियमेन समाहितः ।
अभ्यर्च्य ब्राह्मणान्पार्थो द्रौपदीमभिजग्मिवान् ॥ १४ ॥

और नियमके साथ विनयपूर्वक राजा युधिष्ठिर और ब्राह्मणोंको पूजकर द्रौपदीके निकट गये ॥ १४ ॥

तं द्रौपदी प्रत्युवाच प्रणयात्कुरुनन्दनम् ।
तत्रैव गच्छ कौन्तेय यत्र सा सात्वतात्मजा ।
सुबद्धस्यापि भारस्य पूर्वबन्धः श्लथायते ॥ १५ ॥

द्रौपदी प्रेमसे उन कुरुनन्दनसे बोली– हे कुन्तीपुत्र ! जहां सात्वतपुत्री सुभद्रा है, वहीं जाओ; रस्सीसे बंधी वस्तुको एक और दूसरी रस्सीसे कसकर बांध देनेपर पहिलेका बंधन अवश्य ही ढीला हो जाता है (अब तुम नये प्रेमके जालमें फंसे हो, अतः पहिलेका बंधा मेरे प्रेमजालका बन्धन ढीला हो गया होगा) ॥ १५ ॥

तथा बहुविधं कृष्णां विलपन्तीं धनंजयः ।
सान्त्वयामास भूयश्च क्षमयामास चासकृत् ॥ १६ ॥

धनंजय द्रौपदीको इस प्रकार नाना रीतिसे विलपते देखकर बार बार समझाने लगे और बार बार क्षमा मांगी ॥ १६ ॥

सुभद्रां त्वरमाणश्च रक्तकौशेयवाससम् ।
पार्थः प्रस्थापयामास कृत्वा गोपालिकावपुः ॥ १७ ॥

तदनन्तर उन्होंने लाल रेशमी वस्त्र पहिने हुई सुभद्राके यहां जाकर वेगसे उसका गोपीवेष बनाकर उसको अन्तःपुरमें भिजवाया ॥ १७ ॥

साधिकं तेन रूपेण शोभमाना यशस्विनी ।
भवनं श्रेष्ठमासाद्य वीरपत्नी वराङ्गना ।
ववन्दे पृथुताम्राक्षी पृथां भद्रा यशस्विनी　　　॥ १८ ॥

वीरपत्नी, यशस्विनी, ताम्र रङ्गकी बडी बडी आंखवाली उस बालाने उस वेषमें और भी शोभित होकर परम सुन्दर भवनमें पहुंचकर पहिले कल्याणी कुन्तीके निकट जाकर उनके पांवको छूकर प्रणाम किया ॥ १८ ॥

ततोऽभिगम्य त्वरिता पूर्णेन्दुसदृशानना ।
ववन्दे द्रौपदीं भद्रा प्रेष्याहमिति चाब्रवीत्　　　॥ १९ ॥

तब पूर्ण चन्द्रमाके समान मुखवाली सुभद्राने वेगसे द्रौपदीके निकट जाकर उसको प्रणाम किया और कहा, कि मैं आपकी दासी होकर आयी हूं ॥ १९ ॥

प्रत्युत्थाय च तां कृष्णा स्वसारं माधवस्य ताम् ।
सस्वजे चावदत्प्रीता निःसपत्नोऽस्तु ते पतिः ।
तथैव मुदिता भद्रा तामुवाचैवमस्त्विति　　　॥ २० ॥

कृष्णा उसी क्षण उठकर माधवकी बहिनको गले लगाकर प्रीतिपूर्वक बोली— तुम्हारे पतिका कोई शत्रु न हो । सुभद्राने तब प्रमुदित चित्तसे उससे " तथास्तु " यह बात कही ॥ २० ॥

ततस्ते हृष्टमनसः पाण्डवेया महारथाः ।
कुन्ती च परमप्रीता बभूव जनमेजय　　　॥ २१ ॥

हे जनमेजय ! तदनन्तर महारथी पाण्डवगण बहुत प्रसन्न हृदयवाले हुए और कुन्ती भी परम प्रसन्ना हुई ॥ २१ ॥

श्रुत्वा च पुण्डरीकाक्षः संप्राप्तं स्वपुरोत्तमम् ।
अर्जुनं पाण्डवश्रेष्ठमिन्द्रप्रस्थगतं तदा　　　॥ २२ ॥

पुण्डरीकाक्ष श्रीकृष्णने जब सुना, कि पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुन इन्द्रप्रस्थमें जाकर अपनी सुन्दर राजधानीमें पहुंच गए हैं ॥ २२ ॥

आजगाम विशुद्धात्मा सह रामेण केशवः ।
वृष्ण्यन्धकमहामात्रैः सह वीरैर्महारथैः　　　॥ २३ ॥

तब विशुद्धात्मा कृष्ण, बलराम और महारथी वीर वृष्णि अंधकवंशी मंत्रियोंके साथ वहां जा पहुंचे ॥ २३ ॥

भ्रातृभिश्च कुमारैश्च योधैश्च शतशो वृतः ।
सैन्येन महता शौरिरभिगुप्तः परंतपः ॥ २४ ॥

शत्रुनाशी कृष्ण भाइयों, कुमारों, सैंकडों योद्धाओं और महान् सेनासे घिरकर सुरक्षित होकर वहां गए ॥ २४ ॥

तत्र दानपतिर्धीमानाजगाम महायशाः ।
अक्रूरो वृष्णिवीराणां सेनापतिररिन्दमः ॥ २५ ॥

और धीमान् अति कीर्तिवान् दाता अक्रूर, वृष्णि वीरोंके सेनापति, शत्रुनाशी ॥ २५ ॥

अनाधृष्टिर्महातेजा उद्धवश्च महायशाः ।
साक्षाद्बृहस्पतेः शिष्यो महाबुद्धिर्महायशाः ॥ २६ ॥

अनाधृष्टि, महातेजस्वी बडे यशस्वी उद्धव, साक्षात् बृहस्पतिके शिष्य अति यशस्वी महाबुद्धिमान् ॥ २६ ॥

सत्यकः सात्यकिश्चैव कृतवर्मा च सात्वतः ।
प्रद्युम्नश्चैव साम्बश्च निशठः शङ्कुरेव च ॥ २७ ॥

सत्यक, सात्यकि, सात्वत, कृतवर्मा, प्रद्युम्न, साम्ब, निशठ और शंकु ॥ २७ ॥

चारुदेष्णश्च विक्रान्तो झिल्ली विपृथुरेव च ।
सारणश्च महाबाहुर्गदश्च विदुषां वरः ॥ २८ ॥

चारुदेष्ण, विक्रमी झिल्ली और विपृथु, महाबाहु सारण और विद्वानोंमें श्रेष्ठ गद ॥ २८ ॥

एते चान्ये च बहवो वृष्णिभोजान्धकास्तथा ।
आजग्मुः खाण्डवप्रस्थमादाय हरणं बहु ॥ २९ ॥

यह सब तथा दूसरे बहुत वृष्णि, भोज और अन्धक अनेक तरहके धन लेकर खाण्डवप्रस्थमें आये ॥ २९ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा श्रुत्वा माधवमागतम् ।
प्रतिग्रहार्थं कृष्णस्य यमौ प्रास्थापयत्तदा ॥ ३० ॥

राजा युधिष्ठिरने माधवका शुभागमन सुनकर उनको आदरपूर्वक लिवालानेके लिये नकुल और सहदेवको भेजा ॥ ३० ॥

ताभ्यां प्रतिगृहीतं तद्वृष्णिचक्रं समृद्धिमत् ।
विवेश खाण्डवप्रस्थं पताकाध्वजशोभितम् ॥ ३१ ॥

बडे भारी समृद्धिशाली वृष्णिदलने उन दो पुरुषोंसे स्वागत पाकर पताका और ध्वजाओंसे सुशोभित खाण्डवप्रस्थपुरीमें प्रवेश किया ॥ ३१ ॥

सिक्तसंमृष्टपन्थानं पुष्पप्रकरशोभितम् ।
चन्दनस्य रसैः शीतैः पुण्यगन्धैर्निषेवितम् ॥ ३२ ॥

पवित्र गन्धवाले चंदनके जलसे छिडके हुए मार्गवाले अनेक तरहके फूलोंसे सुशोभित ॥ ३२ ॥

दह्यतागुरुणा चैव देशे देशे सुगन्धिना ।
सुसंसृष्टजनाकीर्णं वणिग्भिरुपशोभितम् ॥ ३३ ॥

जलते हुए अगरकी सुगंधिसे प्रत्येक जगह जिसकी सुगंधित हो चुकी है, ऐसे तथा अनेक तरहके पुरुषोंसे युक्त तथा बनियोंसे सम्पन्न ॥ ३३ ॥

प्रतिपेदे महाबाहुः सह रामेण केशवः ।
वृष्ण्यन्धकमहाभोजैः संवृतः पुरुषोत्तमः ॥ ३४ ॥

उस नगरमें वृष्णि, अंधक और भोजोंसे घिरे हुए पुरुषोत्तम महाभुज केशव रामके साथ जा पहुंचे ॥ ३४ ॥

संपूज्यमानः पौरैश्च ब्राह्मणैश्च सहस्रशः ।
विवेश भवनं राज्ञः पुरन्दरगृहोपमम् ॥ ३५ ॥

सहस्रों ब्राह्मण और पुरवासियोंसे पूजित होते हुए इन्द्रके घरके समान सुन्दर राजभवनमें कृष्णने प्रवेश किया ॥ ३५ ॥

युधिष्ठिरस्तु रामेण समागच्छद्यथाविधि ।
मूर्ध्नि केशवमाघ्राय पर्यष्वजत बाहुना ॥ ३६ ॥

राजा युधिष्ठिरने विधिपूर्वक बलदेवके साथ आते हुए श्रीकृष्णका सिर सूंघकर उन्हें भुजाओंमें जकड लिया ॥ ३६ ॥

तं प्रीयमाणं कृष्णस्तु विनयेनाभ्यपूजयत् ।
भीमं च पुरुषव्याघ्रं विधिवत्प्रत्यपूजयत् ॥ ३७ ॥

कृष्णने विनयपूर्वक प्रसन्न मनवाले उनकी पूजा की और पुरुषश्रेष्ठ भीमको विधिपूर्वक नमस्कार किया ॥ ३७ ॥

तांश्च वृष्ण्यन्धकश्रेष्ठान्धर्मराजो युधिष्ठिरः
प्रतिजग्राह सत्कारैर्यथाविधि यथोपगम् ॥ ३८ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरने उन सब वृष्णि और अन्धकोंको यथायोग्य आदरसे ग्रहण किया ॥ ३८ ॥

गुरुवत्पूजयामास कांश्चित्कांश्चिद्वयस्यवत् ।
कांश्चिदभ्यवदत्प्रेम्णा कैश्चिदप्यभिवादितः ॥ ३९ ॥

उन्होंने किसी किसीको गुरुकी भांति प्रणाम किया, किसी किसीसे समवस्थावालोंके सदृश व्यवहार किया और किसी किसीको प्रेमालापसे सम्मानित किया और किसीने उनको प्रणाम किया ॥ ३९ ॥

ततो ददौ वासुदेवो जन्यार्थे धनमुत्तमम्।
हरणं वै सुभद्राया ज्ञातिदेयं महायशाः ॥ ४० ॥

कन्यापक्षके लोगोंके द्वारा वरपक्षके लोगोंको दिए जानेवाले उपहारको लेकर आए हुए, महायशस्वी श्रीकृष्णने सुभद्राके विवाहके निमित्त बहुत सा धन दिया ॥ ४० ॥

रथानां काञ्चनाङ्गानां किङ्किणीजालमालिनाम्।
चतुर्युजामुपेतानां सूतैः कुशलसंमतैः।
सहस्रं प्रददौ कृष्णो गवामयुतमेव च ॥ ४१ ॥

कृष्णने पाण्डवोंको सुशिक्षित सारथियोंके समेत चार घोडेके किङ्किणीजाल मालासे सुहावने सहस्र सोनेके रथ और दस हजार गायें दीं ॥ ४१ ॥

श्रीमान्माथुरदेश्यानां दोग्ध्रीणां पुण्यवर्चसाम्।
वडवानां च शुभ्राणां चन्द्रांशुसमवर्चसाम्।
ददौ जनार्दनः प्रीत्या सहस्रं हेमभूषणम् ॥ ४२ ॥

जो मथुरा खण्डकी, तेजस्वी और बहुत दूध देनेवाली थीं, चन्द्रमाके समान सफेद और सुवर्णसे सजी हजार घोडियां कृष्णने प्रसन्नतासे दीं ॥ ४२ ॥

तथैवाश्वतरीणां च दान्तानां वातरंहसाम्।
शतान्यञ्जनकेशीनां श्वेतानां पञ्च पञ्च च ॥ ४३ ॥

काले केशवाली, सफेद, पवनके समान वेगवती अच्छी सिखी सिखायी सहस्र खच्चरियां दीं ॥ ४३ ॥

स्नापनोत्सादने चैव सुयुक्तं वयसान्वितम्।
स्त्रीणां सहस्रं गौरीणां सुवेषाणां सुवर्चसाम् ॥ ४४ ॥

स्नानपानोत्सवमें तेज, युवती, गौर रङ्गकी, उत्तम पोषाक पहनी हुईं, वर्चस्वी हजार स्त्रियें दीं ॥ ४४ ॥

सुवर्णशतकण्ठीनामरोगाणां सुवाससाम्।
परिचर्यासु दक्षाणां प्रददौ पुष्करेक्षणः ॥ ४५ ॥

जो रोगोंसे मुक्त, सुन्दरी, भली प्रकार बनीठनी, गलेमें सोनेके सौ मुहर पहिनी हुई, सेवा करनेमें चतुर हजार दासियां कमलनेत्र कृष्णने दीं ॥ ४५ ॥

कृताकृतस्य मुख्यस्य कनकस्याग्निवर्चसः।
मनुष्यभारान्दाशार्हो ददौ दश जनार्दनः ॥ ४६ ॥

और सुभद्राको मनुष्यके द्वारा ले जाने योग्य दस मनुष्य भार विशुद्ध अग्निके रंगका सुवर्ण जनार्दनने दिया ॥ ४६ ॥

गजानां तु प्रभिन्नानां त्रिधा प्रस्रवतां मदम् ।
गिरिकूटनिकाशानां समरेष्वनिवर्तिनाम् ॥ ४७ ॥

फूटे हुए गण्डस्थलवाले तथा तीन तरफसे मद बहानेवाले, पहाडके समान बडे, युद्धसे मुंह न मोडनेवाले हाथी ॥ ४७ ॥

क्लृप्तानां पटुघण्टानां वराणां हेममालिनाम् ।
हस्त्यारोहैरुपेतानां सहस्रं साहसप्रियः ॥ ४८ ॥

जो सुवर्णहारसे सजे, झनकती हुई घण्टालियां लटकाये, बैठनेके हौदेसे युक्त, साहसी, अनेक प्रकारसे सुन्दर सुन्दर थे ॥ ४८ ॥

रामः पादग्राहणिकं ददौ पार्थाय लाङ्गली ।
प्रीयमाणो हलधरः संबन्धप्रीतिमावहन् ॥ ४९ ॥

उन्हें हलधर बलरामने इस सम्बन्ध पर प्रसन्नता प्रकट करते हुए अर्जुनको दहेजमें दिए ॥ ४९ ॥

स महाधनरत्नौघो वस्त्रकम्बलफेनवान् ।
महागजमहाग्राहः पताकाशैवलाकुलः ॥ ५० ॥

पाण्डुसागरमाविद्धः प्रविवेश महानदः ।
पूर्णमापूरयंस्तेषां द्विषच्छोकावहोऽभवत् ॥ ५१ ॥

वस्त्र, कम्बलादिरूपी फेनभरे, बडे बडे गजरूपी बडे बडे ग्राहोंसे पूर्ण और झण्डेरूपी शैवालोंसे भरपूर उस अनंत धनरत्नरूपी जलसे भरी महानदियां प्रशस्त पाण्डवरूपी सागरमें मिल गई और उनसे उस सागरके भर जानेपर वह सागर शत्रुओंको शोकमें डुबाने लगा ॥ ५०–५१ ॥

प्रतिजग्राह तत्सर्वं धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
पूजयामास तांश्चैव वृष्ण्यन्धकमहारथान् ॥ ५२ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरने वह सब लेकर वृष्णि और अंधकोंके महारथिओंका भली प्रकार सत्कार किया ॥ ५२ ॥

ते समेता महात्मानः कुरुवृष्ण्यन्धकोत्तमाः ।
विजह्रुरमरावासे नराः [illegible] ॥ ५३ ॥

तदनंतर पुण्यशील जन जिस प्रकार [illegible] करते हैं, वैसे ही महात्मा वृष्णि और अंधकवंशी लोग वहां एकत्र [illegible] विहार करने लगे ॥ ५[illegible]

तत्र तत्र महानादैरुत्कृष्टतलनादितैः।
यथायोगं यथाप्रीति विजह्रुः कुरुवृष्णयः ॥ ५४ ॥

वे कुरु वृष्णिवीर अपनी अपनी प्रीतिके अनुसार खापीकर और गा वजाकर यथायोग्य विहार करने लगे ॥ ५४ ॥

एवमुत्तमवीर्यास्ते विहृत्य दिवसान्बहून्।
पूजिताः कुरुभिर्जग्मुः पुनर्द्वारवतीं पुरीम् ॥ ५५ ॥

अति वीर्यवान् महारथी अन्धक और वृष्णिलोग उस नगरमें वहुत दिनोंतक आनन्द उडाते रहे। तदनन्तर कौरवोंसे पूजे जाकर वे फिर द्वारका चले गए ॥ ५५ ॥

रामं पुरस्कृत्य ययुर्वृष्ण्यन्धकमहारथाः।
रत्नान्यादाय शुभ्राणि दत्तानि कुरुसत्तमैः ॥ ५६ ॥

कुरुश्रेष्ठोंके द्वारा दिये गए अमूल्य रत्नोंको लेकर रामको आगे करके वे महारथी वृष्णि अन्धक द्वारकापुरीको गये ॥ ५६ ॥

वासुदेवस्तु पार्थेन तत्रैव सह भारत।
उवास नगरे रम्ये शक्रप्रस्थे महामनाः
व्यचरद्यमुनाकूले पार्थेन सह भारत ॥ ५७ ॥

हे भारत! वडे यशस्वी महानुभाव वासुदेव अर्जुनके साथ उसी सुन्दर इन्द्रप्रस्थ नगरमें रहे और उनके साथ यमुना तटपर विहार करने लगे ॥ ५७ ॥

ततः सुभद्रा सौभद्रं केशवस्य प्रिया स्वसा।
जयन्तमिव पौलोमी द्युतिमन्तमजीजनत् ॥ ५८ ॥

तदनन्तर शचीने जिस प्रकार प्रख्यात जयन्तको उत्पन्न किया था, वैसे ही कृष्णकी प्यारी वहिन कल्याणी सुभद्राने अभिमन्युको पैदा किया ॥ ५८ ॥

दीर्घबाहुं महासत्त्वमृषभाक्षमरिंदमम्।
सुभद्रा सुषुवे वीरमभिमन्युं नरर्षभम् ॥ ५९ ॥

सुभद्राने दीर्घवाहु, महावलशाली, वैलके समान नेत्रवाले, शत्रुनाशी तथा मनुष्योंमें श्रेष्ठ वीर अभिमन्युको उत्पन्न किया ॥ ५९ ॥

अभीश्च मन्युमांश्चैव ततस्तमरिमर्दनम्।
अभिमन्युमिति प्राहुरार्जुनिं पुरुषर्षभम् ॥ ६० ॥

वह शत्रुनाशी पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन कुमार अभी अर्थात् निर्भयचित्त और मन्युयुक्त थे, अतः सव लोग उनको अभिमन्यु कहने लगे ॥ ६० ॥

स सात्वत्यामतिरथः संबभूव धनंजयात् ।
मखे निर्मथ्यमानाद्वा शमीगर्भाद्धुताशनः ॥ ६१ ॥

यज्ञस्थलमें मथनेसे जिस प्रकार शमीगर्भसे अग्नि उत्पन्न होती है, वैसे ही सात्वतवंशमें उत्पन्न सुभद्राके गर्भमें धनञ्जयसे उस महारथी अभिमन्युने जन्म लिया था ॥ ६१ ॥

यस्मिञ्जाते महाबाहुः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
अयुतं गा द्विजातिभ्यः प्रादान्निष्कांश्च तावतः ॥ ६२ ॥

हे भारत ! उस कुमारके जन्म होते ही बडी भुजाओंवाले कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने ब्राह्मणोंको दस सहस्र गौ और दस सहस्र निष्क दान दिया ॥ ६२ ॥

दयितो वासुदेवस्य बाल्यात्प्रभृति चाभवत् ।
पितॄणां चैव सर्वेषां प्रजानामिव चन्द्रमाः ॥ ६३ ॥

चन्द्रमा जिस प्रकार सब प्रजाओंका प्यारा होता है, वैसे ही अभिमन्यु बालकपनसे ही सभी पिताओं और वासुदेवके प्यारा था ॥ ६३ ॥

जन्मप्रभृति कृष्णश्च चक्रे तस्य क्रियाः शुभाः ।
स चाऽपि ववृधे बालः शुक्लपक्षे यथा शशी ॥ ६४ ॥

कृष्णने जन्मसे ही उसके सब शुभ जात–कर्म किये । वह बालक भी शुक्ल पक्षके चन्द्रमाके समान दिन पर दिन बढने लगा ॥ ६४ ॥

चतुष्पादं दशविधं धनुर्वेदमरिंदमः ।
अर्जुनाद्वेद वेदज्ञात्सकलं दिव्यमानुषम् ॥ ६५ ॥

शत्रुनाशी अभिमन्युने वेदके जानकार अर्जुनसे (आदान, सन्धान, मोक्षण, विनिवर्त्तन, स्थान, मुष्टि प्रयोग, प्रतिकार, मण्डल और भेद इन) दशाङ्ग युक्त तथा (मन्त्रमुक्त, पाणिमुक्त, मुक्तामुक्त और अमुक्त यह) चार पादयुक्त सम्पूर्ण दिव्य और मानुषी धनुर्वेदकी शिक्षा प्राप्त की ॥ ६५ ॥

विज्ञानेष्वपि चास्त्राणां सौष्ठवे च महाबलः ।
क्रियास्वपि च सर्वासु विशेषानभ्यशिक्षयत् ॥ ६६ ॥

महाबली अर्जुनने उसको अस्त्रविज्ञान, सौष्ठव और उत्सर्पण, प्रसर्पण आदि सब क्रियाओंके विषयमें अच्छी शिक्षा दी ॥ ६६ ॥

आगमे च प्रयोगे च चक्रे तुल्यमिवात्मनः ।
तुतोष पुत्रं सौभद्रं प्रेक्षमाणो धनंजयः ॥ ६७ ॥

उन्होंने शास्त्रमें और प्रयोगके विषयमें उसको अपने सदृश बनाया और अपने पुत्र सौभद्र अर्थात् अभिमन्युको देखकर अर्जुन बडे प्रसन्न हुए ॥ ६७ ॥

सर्वसंहननोपेतं सर्वलक्षणलक्षितम् ।
दुर्धर्षमृषभस्कन्धं व्यात्ताननमिवोरगम् ॥ ६८ ॥

गुणयुक्त सब लक्षणोंसे युक्त, कठोर, बैलके समान कंधेवाले, बडे मुखवाले सर्पके समान ॥ ६८ ॥

सिंहदर्पं महेष्वासं मत्तमातङ्गविक्रमम् ।
मेघदुन्दुभिनिर्घोषं पूर्णचन्द्रनिभाननम् ॥ ६९ ॥

सिंहके सदृश दर्पयुक्त, बडे धनुर्धारी, उन्मत्त गजकी भांति विक्रमी, बादल और नगाडेके समान गरजनेवाले, पूर्ण चन्द्रके समान मुखवाले ॥ ६९ ॥

कृष्णस्य सदृशं शौर्ये वीर्ये रूपे तथाकृतौ ।
ददर्श पुत्रं बीभत्सुर्मघवानिव तं यथा ॥ ७० ॥

और शूरता वीर्य तथा कार्यमें कृष्णके सदृश अपने पुत्रको अर्जुनने उसी प्रकार देखा जिस प्रकार देवराज इंद्र अर्जुनको देखते थे ॥ ७० ॥

पाञ्चाल्यपि च पञ्चभ्यः पतिभ्यः शुभलक्षणा ।
लेभे पञ्च सुतान्वीराञ्शुभान्पञ्चाचलानिव ॥ ७१ ॥

शुभलक्षणा पाञ्चालीने भी पांच पतियोंसे पांच पर्वतके समान बडे वीर पांच पुत्र प्राप्त किये ॥ ७१ ॥

युधिष्ठिरात्प्रतिविन्ध्यं सुतसोमं वृकोदरात् ।
अर्जुनाच्छ्रुतकर्माणं शतानीकं च नाकुलिम् ॥ ७२ ॥

युधिष्ठिरसे प्रतिविंध्य, वृकोदरसे सुतसोम, अर्जुनसे श्रुतकर्मा, नकुलसे शतानीक ॥ ७२ ॥

सहदेवाच्छ्रुतसेनमेतान्पञ्च महारथान् ।
पाञ्चाली सुषुवे वीरानादित्यानदितिर्यथा ॥ ७३ ॥

सहदेवसे श्रुतसेन ये पांच महारथी वीरपुत्र पांचालीने उसी प्रकार प्रसूत किये जिस प्रकार अतिदिने देवोंको उत्पन्न किया था ॥ ७३ ॥

शास्त्रतः प्रतिविन्ध्यं तमूचुर्विप्रा युधिष्ठिरम् ।
परप्रहरणज्ञाने प्रतिविन्ध्यो भवत्वयम् ॥ ७४ ॥

ब्राह्मणोंने शास्त्रोंके अनुसार यह जानकर, कि युधिष्ठिरका पुत्र शत्रुके प्रहारोंको विन्ध्याचलके समान सहन करेगा, उसका नाम प्रतिविन्ध्य रखा ॥ ७४ ॥

सुते सोमसहस्रे तु सोमार्कसमतेजसम् ।
सुतसोमं महेष्वासं सुषुवे भीमसेनतः ॥ ७५ ॥

सहस्र सोमयज्ञ करनेके बाद भीमसेनसे सोमके तेजके समान तेजस्वी बडे धनुर्धारी सुतके उत्पन्न होनेसे उसका नाम सुतसोम हुआ ॥ ७५ ॥

श्रुतं कर्म महत्कृत्वा निवृत्तेन किरीटिना ।
जातः पुत्रस्तवेत्येवं श्रुतकर्मा ततोऽभवत् ॥ ७६ ॥

किरीटीके अनेक श्रुत अर्थात् प्रसिद्ध कर्म करके लौटने पर उनका वह पुत्र पैदा हुआ था, अतः उसका नाम श्रुतकर्मा हुआ ॥ ७६ ॥

शतानीकस्य राजर्षेः कौरव्यः कुरुनन्दनः ।
चक्रे पुत्रं सनामानं नकुलः कीर्तिवर्धनम् ॥ ७७ ॥

कुरुवंशकी कीर्ति बढानेवाले शतानीक नामक एक राजर्षि थे, नकुलने उस राजाके नामके ऊपर कुलको बढानेवाले अपने पुत्रका नाम शतानीक रखा ॥ ७७ ॥

ततस्त्वजीजनत्कृष्णा नक्षत्रे वह्निदैवते ।
सहदेवात्सुतं तस्माच्छ्रुतसेनेति तं विदुः ॥ ७८ ॥

सहदेवसे द्रौपदीके जिस पुत्रने जन्म लिया था, वह कृत्तिका नक्षत्रमें हुआ था, अतः सहदेवके पुत्रका नाम श्रुतसेन हुआ × ॥ ७८ ॥

एकवर्षान्तरास्त्वेव द्रौपदेया यशस्विनः ।
अन्वजायन्त राजेन्द्र परस्परहिते रताः ॥ ७९ ॥

हे महाराज ! द्रौपदीके कुमारोंमें वर्ष वर्ष भरका अन्तर था, वे सब एक दूसरेके हित चाहनेवाले और यशस्वी हुए ॥ ७९ ॥

जातकर्माण्यानुपूर्व्याच्चूडोपनयनानि च ।
चकार विधिवद्धौम्यस्तेषां भरतसत्तम ॥ ८० ॥

हे भरतवंश श्रेष्ठ ! पुरोहित धौम्यने विधिपूर्वक उनका जातकर्म, चूडा, उपनयन, संस्कार कर्म क्रमसे कराया ॥ ८० ॥

कृत्वा च वेदाध्ययनं ततः सुचरितव्रताः ।
जगृहुः सर्वमिष्वस्त्रमर्जुनाद्दिव्यमानुषम् ॥ ८१ ॥

तदनन्तर सुचरित्र बालकोंने वेद पढकर अर्जुनसे सब दिव्य और मानुषी अस्त्रोंकी शिक्षा ली ॥ ८१ ॥

× कृत्तिकाका पुत्र कार्तिकेय देवोंका सेनापति है, वह श्रुत अर्थात् प्रसिद्ध सेन अर्थात् सेनावाला होनेके कारण श्रुतसेन है, अतः कृत्तिका नक्षत्रमें पैदा होनेके कारण सहदेवके पुत्रका नाम भी श्रुतसेन पडा ।

दिव्यगर्भोपमैः पुत्रैर्व्यूढोरस्कैर्महाबलैः ।
अन्विता राजशार्दूल पाण्डवा मुदमाप्नुवन् ॥ ८२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि त्रयोदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१३ ॥
॥ समाप्तं हरणहारिकपर्व ॥ ६८५९ ॥

हे राजशार्दूल ! पाण्डवलोग देवकुमारोंके समान चौडी छातीवाले महाबली कुमारोंको प्राप्त कर बडे प्रसन्न हुए ॥ ८२ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें दो सौ तेरहवां अध्याय समाप्त ॥ २१३ ॥ हरणहारिकपर्व समाप्त ॥६८५९॥

: २१४ :

वैशम्पायन उवाच

इन्द्रप्रस्थे वसन्तस्ते जघ्नुरन्यान्नराधिपान् ।
शासनाद्धृतराष्ट्रस्य राज्ञः शान्तनवस्य च ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे भारतश्रेष्ठ ! पाण्डवगण राजा धृतराष्ट्र और शान्तनुनन्दन भीष्मकी आज्ञासे इन्द्रप्रस्थमें रहकर दूसरे राजाओंपर अधिकार करने लगे ॥ १ ॥

आश्रित्य धर्मराजानं सर्वलोकोऽवसत्सुखम् ।
पुण्यलक्षणकर्माणं स्वदेहमिव देहिनः ॥ २ ॥

आत्मा जिस प्रकार पुण्यकर्म करनेवाले शरीरमें सुखसे विराजती है, वैसे ही सब प्रजा धर्मराज युधिष्ठिरका आश्रय लेकर सुखसे रहने लगी ॥ २ ॥

स समं धर्मकामार्थान्सिषेवे भरतर्षभः ।
त्रीनिवात्मसमान्बन्धून्बन्धुमानिव मानयन् ॥ ३ ॥

जिस प्रकार कोई भाइयोंसे युक्त व्यक्ति अपने जैसे अपने तीन भाइयोंका पालन करता है, उसी प्रकार भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर धर्म, अर्थ और काम इन तीन वर्गोंकी सेवा करने लगे ॥३॥

तेषां समविभक्तानां क्षितौ देहवतामिव ।
बभौ धर्मार्थकामानां चतुर्थ इव पार्थिवः ॥ ४ ॥

समान रूपसे विभक्त धर्म, अर्थ, काम, मानो यह देह धरके धरती पर उतर आये थे; राजा युधिष्ठिर मानो उनमें चौथे अर्थात् मोक्ष बनकर शोभा पाने लगे ॥ ४ ॥

अध्येतारं परं वेदाः प्रयोक्तारं महाध्वराः ।
रक्षितारं शुभं वर्णा लेभिरे तं जनाधिपम् ॥ ५ ॥

प्रजाओंने उस राजाको बडा यज्ञकारी और वेदोंका अध्ययन करनेवाला, वर्णोंकी रक्षा करनेवाला पाया ॥ ५ ॥

अधिष्ठानवती लक्ष्मीः परायणवती मतिः ।
बन्धुमानखिलो धर्मस्तेनासीत्पृथिवीक्षिता ॥ ६ ॥

उनके साम्राज्यके दिनोंमें राजाओंकी लक्ष्मी अटल हो गई, चित्त परब्रह्मकी ओर लग गया और धर्म भाईके समान हो गया ॥ ६ ॥

भ्रातृभिः सहितो राजा चतुर्भिरधिकं बभौ ।
प्रयुज्यमानैर्विततो वेदैरिव महाध्वरः ॥ ७ ॥

जिस प्रकार प्रयुज्यमान चतुर्वेदसे फैला हुआ बडा यज्ञ सुशोभित होता है, वैसे ही धर्मराज युधिष्ठिर चार भाइयोंसे और भी अधिक सुहावने लगने लगे ॥ ७ ॥

तं तु धौम्यादयो विप्राः परिवार्योपतस्थिरे ।
बृहस्पतिसमा मुख्याः प्रजापतिमिवामराः ॥ ८ ॥

जिस प्रकार देवगण प्रजापतिको घेरकर उपासना किया करते हैं, वैसे ही धौम्य आदि बृहस्पतिके सदृश प्रधान प्रधान ब्राह्मणगण उनको चारों ओर घेरे रहते थे ॥ ८ ॥

धर्मराजे अतिप्रीत्या पूर्णचन्द्र इवामले ।
प्रजानां रेमिरे तुल्यं नेत्राणि हृदयानि च ॥ ९ ॥

पूर्णचन्द्रमाके समान निर्मल धर्मराज युधिष्ठिरमें प्रजाओंके नयन और मन दोनों अत्यधिक प्रसन्नतासे रमने लगे ॥ ९ ॥

न तु केवलदैवेन प्रजा भावेन रेमिरे ।
यद्बभूव मनःकान्तं कर्मणा स चकार तत् ॥ १० ॥

प्रजायें उन युधिष्ठिर पर केवल इसीलिए प्रेम नहीं करती थीं कि वे भाग्यसे राजा बन गए हैं, अपितु वे प्रेमभावनासे युधिष्ठिर पर प्रेम करती थीं । वे युधिष्ठिर भी ऐसे ही कार्यमें दत्तचित्त होते थे, कि जिनसे प्रजाको सन्तोष मिले ॥ १० ॥

न ह्ययुक्तं न चासत्यं नानृतं न च विप्रियम् ।
भाषितं चारुभाषस्य जज्ञे पार्थस्य धीमतः ॥ ११ ॥

बुद्धिमान् मधुरभाषी पाण्डवोंका वचन न कभी झूठा होता था, न कभी युक्तिके विरुद्ध होता था, न कभी असत्य वा अप्रिय ही होता था ॥ ११ ॥

स हि सर्वस्य लोकस्य हितमात्मन एव च ।
चिकीर्षुः सुमहातेजा रेमे भरतसत्तमः ॥ १२ ॥

वह भरतश्रेष्ठ बडे तेजस्वी पुरुष अपने और दूसरे सब जनोंके हित साधनेमें सदा रत रह कर परम सुखसे काल बिताने लगे ॥ १२ ॥

तथा तु मुदिताः सर्वे पाण्डवा विगतज्वराः ।
अवसन्पृथिवीपालांस्त्रासयन्तः स्वतेजसा ॥ १३ ॥

उनके भाईलोग भी अपने अपने तेजसे भूपालोंको भयभीत करते हुए निर्भय होकर प्रमुदित चित्तसे रहने लगे ॥ १३ ॥

ततः कतिपयाहस्य बीभत्सुः कृष्णमब्रवीत् ।
उष्णानि कृष्ण वर्तन्ते गच्छामो यमुनां प्रति ॥ १४ ॥

कुछ दिन बीतने पर अर्जुन श्रीकृष्णसे बोले— कृष्ण ! अब ग्रीष्मकाल आ गया, चलो हम यमुनाके किनारे चलें ॥ १४ ॥

सुहृज्जनवृतास्तत्र विहृत्य मधुसूदन ।
सायाह्ने पुनरेष्यामो रोचतां ते जनार्दन ॥ १५ ॥

हे जनार्दन ! हम मित्रोंके साथ वहां विहार कर सन्ध्याको फिर लौट आयेंगे, यह तुमको पसन्द होगा ॥ १५ ॥

वासुदेव उवाच

कुन्तीमातर्ममाप्येतद्रोचते यद्वयं जले ।
सुहृज्जनवृताः पार्थ विहरेम यथासुखम् ॥ १६ ॥

श्रीकृष्ण बोले— हे कुन्तीपुत्र ! मेरी भी इच्छा हो रही है, कि हम मित्रोंके साथ सुखसे जलमें विहार करें ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

आमन्त्र्य धर्मराजानमनुज्ञाप्य च भारत ।
जग्मतुः पार्थगोविन्दौ सुहृज्जनवृतौ ततः ॥ १७ ॥

वैशम्पायन बोले— हे भारत ! तदनन्तर अर्जुन और कृष्ण आपसमें ऐसी बातें कर धर्मराजकी आज्ञा लेकर मित्रोंके साथ निकले ॥ १७ ॥

विहारदेशं संप्राप्य नानाद्रुमवदुत्तमम् ।
गृहैरुच्चावचैर्युक्तं पुरंदरगृहोपमम् ॥ १८ ॥

अनेक पेडोंसे घिरे हुए इन्द्रपुरीकी भांति ऊंचे और नीचे नाना घरोंसे सजे हुए विहारके स्थानपर पहुंचकर ॥ १८ ॥

भक्ष्यैर्भोज्यैश्च पेयैश्च रसवद्भिर्महाधनैः ।
माल्यैश्च विविधैर्युक्तं युक्तं वार्ष्णेयपार्थयोः ॥ १९ ॥

वे कृष्ण और अर्जुन स्वादिष्ट भक्ष्य, भोज्य और पानकी सामग्रीसे भरे हुए महामूल्य भांति भांतिकी सुगन्धित मालाओंसे सुहावने स्थान पर जा पहुंचे ॥ १९ ॥

आविवेशातुरापूर्णं रत्नैरुच्चावचैः शुभैः ।
यथोपजोषं सर्वश्च जनश्चिक्रीड भारत ॥ २० ॥

और नाना प्रकारके रत्नोंसे सुशोभित विहारके स्थान पर पहुंचकर साथी लोग सुखसे खेलने कूदने लगे ! ॥ २० ॥

वने काश्चिज्जले काश्चित्काश्चिद्वेश्मसु चाङ्गनाः ।
यथादेशं यथाप्रीति चिक्रीडुः कृष्णपार्थयोः ॥ २१ ॥

कोई स्त्री वनमें, कोई स्त्री जलमें, कोई स्त्री घरमें प्रीतिके साथ अर्जुन और कृष्णकी आज्ञानुसार विहार करने लगीं ॥ २१ ॥

द्रौपदी च सुभद्रा च वासांस्याभरणानि च ।
प्रयच्छेतां महार्हाणि स्त्रीणां ते स्म मदोत्कटे ॥ २२ ॥

महाराज ! तब वे द्रौपदी और सुभद्रा मदसे मतवाली बनकर उन सब स्त्रियोंको बहुमूल्य वस्त्र और गहने देने लगीं ॥ २२ ॥

काश्चित्प्रहृष्टा ननृतुश्चुक्रुशुश्च तथापराः ।
जहसुश्चापरा नार्यः पपुश्चान्या वरासवम् ॥ २३ ॥

कोई कोई स्त्रियां तो आनन्दित चित्तसे नाचने लगीं, कुछ गाने लगीं, कुछ रमणियां हंसने लगीं और कुछ स्त्रियां अच्छा आसव पीने लगीं ॥ २३ ॥

रुरुदुश्चापरास्तत्र प्रजघ्नुश्च परस्परम् ।
मन्त्रयामासुरन्याश्च रहस्यानि परस्परम् ॥ २४ ॥

कुछ स्त्रियां एक दूसरेको मारने पीटने तथा रोने लगीं और कुछ स्त्रियां आपसमें रहस्यकी बातें करने लगीं ॥ २४ ॥

वेणुवीणामृदङ्गानां मनोज्ञानां च सर्वशः ।
शब्देनापूर्यते ह स्म तद्वनं सुसमृद्धिमत् ॥ २५ ॥

तब वह वन बांसुरी, वीणा, मृदङ्ग आदि बाजेके मनोहारी शब्दोंसे भर कर बहुत सुहावना बन गया ॥ २५ ॥

तस्मिंस्तथा वर्तमाने कुरुदाशार्हनन्दनौ ।
समीपे जग्मतुः कंचिदुद्देशं सुमनोहरम् ॥ २६ ॥

हे महाराज ! इस प्रकारसे बडा भारी उत्सव उपस्थित होने पर कुरु और दाशार्हके वंशज अर्जुन और श्रीकृष्ण पासके ही किसी सुन्दर स्थानपर गए ॥ २६ ॥

तत्र गत्वा महात्मानौ कृष्णौ परपुरंजयौ ।
महार्हासनयो राजंस्ततस्तौ संनिषीदतुः ॥ २७ ॥

शत्रुके नगरोंको जीतनेवाले वे महात्मा अर्जुन और श्रीकृष्ण दोनों उस स्थानपर जाकर बडे बडे मूल्यवान् सिंहासनों पर बैठ गए ॥ २७ ॥

तत्र पूर्वव्यतीतानि विक्रान्तानि रतानि च ।
बहूनि कथयित्वा तौ रेमाते पार्थमाधवौ ॥ २८ ॥

अर्जुन और श्रीकृष्ण दोनों वे उस स्थानमें अतीत विक्रमके सम्बन्धमें और दूसरी भांति भांतिकी कथा कहते सुनते हुए खेलने लगे ॥ २८ ॥

तत्रोपविष्टौ मुदितौ नाकपृष्ठेऽश्विनाविव ।
अभ्यागच्छत्तदा विप्रो वासुदेवधनञ्जयौ ॥ २९ ॥

जिस प्रकार देवलोकमें दोनों अश्विनीकुमार एकत्र विराजते हैं, वैसे ही वासुदेव और धनञ्जय प्रमुदित मनसे उस स्थानमें बैठे थे, कि उसी समय एक ब्राह्मण उनके पास आया ॥२९॥

बृहच्छालप्रतीकाशः प्रतप्तकनकप्रभः ।
हरिपिङ्गो हरिश्मश्रुः प्रमाणायामतः समः ॥ ३० ॥

वह ब्राह्मण बडे सालके वृक्ष समान लम्बा, तपे सुवर्णके सदृश तेजवाला, हरी और पिंगल रंगकी चमकीली दाढीसे शोभित, लम्बाई और चौडाईमें उपयुक्त प्रमाण ॥ ३० ॥

तरुणादित्यसंकाशः कृष्णवासा जटाधरः ।
पद्मपत्राननः पिङ्गस्तेजसा प्रज्वलन्निव ॥ ३१ ॥

तरुण सूर्यकी भांति तेजस्वी, पद्मपत्रके समान मुखवाला, तेजसे प्रदीप्त पिंगल वर्ण, जटाधारी, काला वस्त्र पहिने हुए था ॥ ३१ ॥

उपसृष्टं तु तं कृष्णौ भ्राजमानं द्विजोत्तमम् ।
अर्जुनो वासुदेवश्च तूर्णमुत्पत्य तस्थतुः ॥ ३२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चतुर्दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१४ ॥ ६८२१ ॥

तेजसे प्रकाशमान् उस द्विजोत्तमको निकट ही आया हुआ देखकर अर्जुन और कृष्ण आसन छोडकर शीघ्र उठ खडे हुए ॥ ३२ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें दो सौ चौदहवां अध्याय समाप्त ॥ २१४ ॥ ६८९१ ॥

: २१५ :

वैशम्पायन उवाच

सोऽब्रवीदर्जुनं चैव वासुदेवं च सात्वतम् ।
लोकप्रवीरौ तिष्ठन्तौ खाण्डवस्य समीपतः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– तब ब्राह्मणने खाण्डववनके पास खडे हुए और संसारमें श्रेष्ठ वीर उन सात्वत कुलोत्पन्न श्रीकृष्ण और अर्जुनसे कहा ॥ १ ॥

ब्राह्मणो बहुभोक्तास्मि भुञ्जेऽपरिमितं सदा ।
भिक्षे वार्ष्णेयपार्थौ वामेकां तृप्तिं प्रयच्छताम् ॥ २ ॥

मैं बहुत खानेवाला ब्राह्मण हूं, सदा अपरिमित भोजन खाता हूं । अब तुम कृष्ण और अर्जुनसे भिक्षा मांगता हूं, कि तुम भोजन देकर मुझको तृप्त करो ॥ २ ॥

एवमुक्तौ तमब्रूतां ततस्तौ कृष्णपाण्डवौ ।
केनान्नेन भवांस्तृप्येत्तस्यान्नस्य यतावहे ॥ ३ ॥

इस प्रकार कहे जानेपर अर्जुन और कृष्ण उनसे बोले– कहिये, किस प्रकारका अन्न खानेसे आपकी तृप्ति होगी, हम उसके लिए प्रयत्न करेंगे ॥ ३ ॥

एवमुक्तः स भगवानब्रवीत्तावुभौ ततः ।
भाषमाणौ तदा वीरौ किमन्नं क्रियतामिति ॥ ४ ॥
नाहमन्नं बुभुक्षे वै पावकं मां निबोधतम् ।
यदन्नमनुरूपं मे तद्युवां संप्रयच्छतम् ॥ ५ ॥

कृष्ण और अर्जुन कैसा अन्न बनवाया जाए, इस विषयमें आपसमें बातचीत कर रहे थे, कि उस ब्राह्मणरूपी भगवान्ने उनसे कहा, कि मैं अन्न नहीं खाना चाहता । तुम मुझे अग्नि जानो, जो अन्न मेरे योग्य हो वही मुझको तुम दो ॥ ४–५ ॥

इदमिन्द्रः सदा दावं खाण्डवं परिरक्षति ।
तं न शक्नोम्यहं दग्धुं रक्ष्यमाणं महात्मना ॥ ६ ॥

देवराज इन्द्र सदा इस खाण्डव वनकी रक्षा करते हैं, अतः महात्मा इन्द्रके द्वारा रक्षित इस वनको मैं जला नहीं सकता ॥ ६ ॥

वसत्यत्र सखा तस्य तक्षकः पन्नगः सदा।
सगणस्तत्कृते दावं परिरक्षति वज्रभृत् ॥ ७ ॥

इन्द्रका सखा तक्षक नामक सर्प साथियों समेत इस वनमें रहता है, उन्हीं सांपोंके कारण वह वज्रधारी इस वनकी रक्षा करते हैं ॥ ७ ॥

तत्र भूतान्यनेकानि रक्ष्यन्ते स्म प्रसङ्गतः।
तं दिधक्षुर्न शक्नोमि दग्धुं शक्रस्य तेजसा ॥ ८ ॥

साथ ही साथ अन्य भी अनेक जीव भी इस वनमें रहते हैं, उनको जलानेकी इच्छा करते हुए मैं देवराजके तेजके कारण इसे जला नहीं पाता ॥ ८ ॥

स मां प्रज्वलितं दृष्ट्वा मेघाम्भोभिः प्रवर्षति।
ततो दग्धुं न शक्नोमि दिधक्षुर्दावमीप्सितम् ॥ ९ ॥

वह मुझको जलता हुआ देखकर जलधर मेघकी जलधारासे बुझा देते हैं, अतः मनमें खाण्डवको जलानेकी बडी चाह रखने पर भी उसे जला नहीं सकता ॥ ९ ॥

स युवाभ्यां सहायाभ्यामस्त्रविद्भ्यां समागतः।
दहेयं खाण्डवं दावमेतदन्नं वृतं मया ॥ १० ॥

अस्त्र—विद्यामें पण्डित तुम दोनोंकी सहायतासे मैं इस खाण्डववनको जला सकता हूं, तुमसे मैं यही अन्न मांगता हूं ॥ १० ॥

युवां ह्युदकधारास्ता भूतानि च समन्ततः।
उत्तमास्त्रविदौ सम्यक्सर्वतो वारयिष्यथः ॥ ११ ॥

खाण्डवदाहके कालमें जो सब जीव इधर उधर भागने लगें उनको और जलधरकी जलधाराओंको अस्त्रविद्याओंको उत्तम रीतिसे जाननेवाले तुम बलसे सब प्रकारसे रोकना ॥ ११ ॥

एवमुक्ते प्रत्युवाच बीभत्सुर्जातवेदसम्।
दिधक्षुं खाण्डवं दावमकामस्य शतक्रतोः ॥ १२ ॥

इस प्रकार कहने पर अर्जुन इन्द्रकी इच्छाके विरुद्ध खाण्डववनको जलानेकी इच्छा करने वाले अग्निसे बोले ॥ १२ ॥

उत्तमास्त्राणि मे सन्ति दिव्यानि च बहूनि च।
यैरहं शक्नुयां योद्धुमपि वज्रधरान्बहून् ॥ १३ ॥

हे भगवन्! मेरे पास अनेक दिव्य और उत्तम अस्त्र हैं, उनसे मैं वज्रधारी सैंकडों इन्द्रोंसे भी युद्ध कर सकता हूं ॥ १३ ॥

धनुर्मे नास्ति भगवन्बाहुवीर्येण संमितम् ।
कुर्वतः समरे यत्नं वेगं यद्विषहेत मे ॥ १४ ॥

पर युद्धकालमें मेरा वेग सब प्रकारसे सह ले, ऐसा मेरे भुजवीर्यके योग्य धनुष नहीं है ॥ १४ ॥

शरैश्च मेऽर्थो बहुभिरक्षयैः क्षिप्रमस्यतः ।
न हि वोढुं रथः शक्तः शरान्मम यथेप्सितान् ॥ १५ ॥

विशेष मुझको शीघ्रतासे बाण छोडने पडेंगे, अतः अनेक अक्षय बाणोंकी मुझे आवश्यकता है और मेरा जो रथ है, वह मेरी इच्छाके अनुसार उन बाणोंको ढो नहीं सकेगा ॥ १५ ॥

अश्वांश्च दिव्यानिच्छेयं पाण्डुरान्वातरंहसः ।
रथं च मेघनिर्घोषं सूर्यप्रतिमतेजसम् ॥ १६ ॥

अतः, श्वेत वर्णवाले, वायुके समान वेगवान् दिव्य घोडे और बादलके सदृश गरजनेवाले सूर्यकी भांति तेजयुक्त रथ मैं चाहता हूँ ॥ १६ ॥

तथा कृष्णस्य वीर्येण नायुधं विद्यते समम् ।
येन नागान्पिशाचांश्च निहन्यान्माधवो रणे ॥ १७ ॥

और इन माधवके भुजवीर्यके योग्य कोई अस्त्र नहीं है, कि जिससे यह माधव रणभूमिमें पिशाच और सर्पोंको गिरा सकें ॥ १७ ॥

उपायं कर्मणः सिद्धौ भगवन्वक्तुमर्हसि ।
निवारयेयं येनेन्द्रं वर्षमाणं महावने ॥ १८ ॥

अतएव, हे भगवन् ! कर्मकी सिद्धिके लिए ऐसा कोई उपाय बतावें, कि जिससे इस बडे वनमें वर्षा करते हुए इन्द्रको हम रोक सकें ॥ १८ ॥

पौरुषेण तु यत्कार्यं तत्कर्तारौ स्व पावक ।
करणानि समर्थानि भगवन्दातुमर्हसि ॥ १९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पञ्चदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१५ ॥ ६९१० ॥

हे पावक ! पौरुषसे जो सिद्ध हो, वह हम करनेको प्रस्तुत हैं, पर युद्ध करनेके लिये जिन उपकरणोंकी आवश्यकता हो, वह आप हमको देवें ॥ १९ ॥

महाभारतके आदिपर्वमें दो सौ पन्द्रहवां अध्याय समाप्त ॥ २१५ ॥ ६९१० ॥

×

: २१६ :

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु भगवान्धूमकेतुर्हुताशनः ।
चिन्तयामास वरुणं लोकपालं दिदृक्षया ।
आदित्यमुदके देवं निवसन्तं जलेश्वरम् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– तब भगवान् धूमकेतु हुताशनने अर्जुनका यह वचन सुनकर जलमें रहनेवाले जलके स्वामी अदिति पुत्र लोकपाल वरुणको देखनेकी इच्छासे उनका स्मरण किया ॥ १ ॥

स च तच्चिन्तितं ज्ञात्वा दर्शयामास पावकम् ।
तमब्रवीद्धूमकेतुः प्रतिपूज्य जलेश्वरम् ।
चतुर्थं लोकपालानां रक्षितारं महेश्वरम् ॥ २ ॥

अग्निने मुझे याद किया है, यह जानकर वरुण अग्निके सम्मुख आ पहुंचे। अग्नि उन रक्षा करनेवाले, महेश्वर, जलके स्वामी चौथे लोकपाल वरुणका आदरपूर्वक स्वागत करके बोले ॥ २ ॥

सोमेन राज्ञा यद्दत्तं धनुश्चैवेषुधी च ते।
तत्प्रयच्छोभयं शीघ्रं रथं च कपिलक्षणम् ॥ ३ ॥

राजा सोमने तुमको जो तूणीर और धनुष तथा कपिध्वज रथ दिया था, वह सब तुरन्त दे दो ॥ ३ ॥

कार्यं हि सुमहत्पार्थो गाण्डीवेन करिष्यति ।
चक्रेण वासुदेवश्च तन्मदर्थे प्रदीयताम्
ददानीत्येव वरुणः पावकं प्रत्यभाषत ॥ ४ ॥

पार्थ उस गाण्डीव धनुषसे और वासुदेव चक्रसे बडा भारी कार्य पूरा करेंगे। अतः मुझको दो, वरुणने अग्निसे "देता हूँ" यह कहा ॥ ४ ॥

ततोऽद्भुतं महावीर्यं यशःकीर्तिविवर्धनम् ।
सर्वशस्त्रैरनाधृष्यं सर्वशस्त्रप्रमाथि च ।
सर्वायुधमहामात्रं परसेनाप्रधर्षणम् ॥ ५ ॥

तब अद्भुत वीर्यवान् सब शस्त्रोंको मथनेहारा, यश और कीर्ति बढानेवाला, शस्त्रोंसे काटे जानेके अयोग्य, सम्पूर्ण अस्त्रोंसे बडा, शत्रुसेनाको नष्ट करनेवाला ॥ ५ ॥

एकं शतसहस्रेण संमितं राष्ट्रवर्धनम् ।
चित्रमुच्चावचैर्वर्णैः शोभितं श्लक्ष्णमव्रणम् ॥ ६ ॥

राज्य बढानेवाला, सैंकडों सहस्रों धनुषोंका सामना करने पर भी न टूटनेवाला, रंगबिरंगे सुन्दर सुन्दर वर्णोंसे रंगा हुआ, मनोहर, न टूटा हुआ ॥ ६ ॥

देवदानवगन्धर्वैः पूजितं शाश्वतीः समाः ।
प्रादाद्वै धनुरत्नं तदक्षय्यौ च महेषुधी ॥ ७ ॥

और जिसकी पूजा देव दानव गन्धर्व सदा किया करते हैं ऐसा ही अद्भुत धनुष-रत्न और दो ऐसे तूणीर, कि जिनमें बाण रखनेमें वे कभी खतम नहीं होते थे, वरुणने दे दिये ॥ ७ ॥

रथं च दिव्याश्वयुजं कपिप्रवरकेतनम् ।
उपेतं राजतैरश्वैर्गान्धर्वैर्हेममालिभिः ।
पाण्डुराभ्रप्रतीकाशैर्मनोवायुसमैर्जवे ॥ ८ ॥

वेगमें मन और पवनके समान पाण्डुरवर्ण बादलके सदृश, चांदीकी भांति तेजवाले, उत्तम वर्णसे सुशोभित, गंधर्वदेशके घोडोंसे युक्त, सोनेकी मालाओंसे युक्त, हनुमान्‌की ध्वजासे सुशोभित तथा दिव्य अश्वोंसे युक्त एक रथ भी दिया ॥ ८ ॥

सर्वोपकरणैर्युक्तमजय्यं देवदानवैः ।
भानुमन्तं महाघोषं सर्वरत्नमनोहरम् ॥ ९ ॥

जो सब उपकरणोंसे युक्त और देव दानवोंसे अजेय, जिसकी घरघराहट बडी दूरसे सुनाई देती है, जो सब रत्नोंसे जटित होनेके कारण बडा मनोहारी तथा अत्यन्त तेजस्वी था ॥ ९ ॥

ससर्ज यत्स्वतपसा भौवनो भुवनप्रभुः ।
प्रजापतिरनिर्देश्यं यस्य रूपं रवेरिव ॥ १० ॥

जिसको भुवनके प्रभु प्रजापति विश्वकर्माने बडी तपस्यासे बनाया था, जिसका रूप सूर्यके सदृश दृष्टिसे देखनेके अयोग्य था ॥ १० ॥

यं स्म सोमः समारुह्य दानवानजयत्प्रभुः ।
नगमेघप्रतीकाशं ज्वलन्तमिव च श्रिया ॥ ११ ॥

जिस पर चढकर प्रभु सोमने दानवोंको परास्त किया था, जो शोभासे प्रकाशित हो रहा था, जो पहाड और बादलके समान ऊंचा था ॥ ११ ॥

आश्रिता तं रथश्रेष्ठं शक्रायुधसमा शुभा ।
तापनीया सुरुचिरा ध्वजयष्टिरनुत्तमा ॥ १२ ॥

जिसके ऊपर इन्द्रधनुषके सदृश शोभायमान मनोहर परम सुन्दर झण्डेकी लकडीके ऊपर ॥ १२ ॥

तस्यां तु वानरो दिव्यः सिंहशार्दूललक्षणः।
विनर्दन्निव तत्रस्थः संस्थितो मूर्ध्न्यशोभत ॥ १३ ॥
सिंहशार्दूलके समान पराक्रमी सुन्दर दिव्य बन्दर मानों गरजनेकी इच्छासे रथके चोटीपर विराज रहा था ॥ १३ ॥

ध्वजे भूतानि तत्रासन्विविधानि महान्ति च।
नादेन रिपुसैन्यानां येषां संज्ञा प्रणश्यति ॥ १४ ॥
ध्वजापताकामें और भी अनेक भांति भांतिके प्राणी थे, जिनके शब्दको सुनकर शत्रुसेनाकी चेतना नष्ट हो जाती थी, ऐसा रथ वरुणने दिया ॥ १४ ॥

स तं नानापताकाभिः शोभितं रथमुत्तमम्।
प्रदक्षिणमुपावृत्य दैवतेभ्यः प्रणम्य च ॥ १५ ॥
वह अर्जुन अनेक पताकाओंसे सुशोभित उस अनुपम सुन्दर रथकी परिक्रमा देकर देवोंको प्रणाम कर ॥ १५ ॥

संनद्धः कवची खड्गी बद्धगोधाङ्गुलित्रवान्।
आरुरोह रथं पार्थो विमानं सुकृती यथा ॥ १६ ॥
कवच पहनकर, तलवार धारण कर तथा हाथोंमें दस्ताने और उंगलीरक्षक साधन पहनकर तैय्यार हो पुण्यात्मा जनके विमान पर चढनेकी भांति उस पर चढे ॥ १६ ॥

तच्च दिव्यं धनुःश्रेष्ठं ब्रह्मणा निर्मितं पुरा।
गाण्डीवमुपसंगृह्य बभूव मुदितोऽर्जुनः ॥ १७ ॥
और पहले ब्रह्माके द्वारा बनाये गए उस दिव्यश्रेष्ठ धनुष गाण्डीवको लेकर अर्जुन बहुत प्रसन्न हुए ॥ १७ ॥

हुताशनं नमस्कृत्य ततस्तदपि वीर्यवान्।
जग्राह बलमास्थाय ज्यया च युयुजे धनुः ॥ १८ ॥
तदनन्तर वीर्यवान् अर्जुनने हुताशनको नमस्कार कर बल प्रकट कर उस गाण्डीवमें डोरी चढायी ॥ १८ ॥

मौर्व्यां तु योज्यमानायां बलिना पाण्डवेन ह।
येऽशृण्वन्कूजितं तत्र तेषां वै व्यथितं मनः ॥ १९ ॥
बलशाली पाण्डुनन्दनके गुण चढाने पर उसका शब्द जिसने सुना उन उनका हृदय थर-थराने लगा ॥ १९ ॥

लब्ध्वा रथं धनुश्चैव तथाक्षय्यौ महेषुधी ।
बभूव कल्यः कौन्तेयः प्रहृष्टः साह्यकर्मणि ॥ २० ॥

अर्जुन इस प्रकारसे रथ, धनुष और दो महान् अक्षय तूणीर पाकर आनन्दित चित्तसे हुताशनको सहायता देनेके काममें समर्थ हुए ॥ २० ॥

वज्रनाभं ततश्चक्रं ददौ कृष्णाय पावकः ।
आग्नेयमस्त्रं दयितं स च कल्योऽभवत्तदा ॥ २१ ॥

तदनन्तर हुताशनने श्रीकृष्णको वज्रकी नाभिवाला और अत्यन्त प्यारा चक्र और अग्न्यस्त्र दे दिया, इससे वह भी अग्निकी सहायता करनेको तैय्यार हो गए ॥ २१ ॥

अब्रवीत्पावकश्चैनमेतेन मधुसूदन ।
अमानुषानपि रणे विजेष्यसि न संशयः ॥ २२ ॥

तब अग्निने उनसे कहा– हे मधुसूदन ! तुम युद्धस्थलमें इस अस्त्रसे विना सन्देह मानवके अतिरिक्त अन्य प्राणियोंको भी परास्त कर सकोगे ॥ २२ ॥

अनेन त्वं मनुष्याणां देवानामपि चाहवे ।
रक्षःपिशाचदैत्यानां नागानां चाधिकः सदा ।
भविष्यसि न संदेहः प्रवरारिनिबर्हणे ॥ २३ ॥

तुम रणस्थलमें इस अस्त्रसे देव, दानव, राक्षस, पिशाच, नाग और मनुष्य इनसे निःसन्देह अधिक शक्तिमान् और शत्रुके नाश करनेमें श्रेष्ठ होगे ॥ २३ ॥

क्षिप्तं क्षिप्तं रणे चैतत्त्वया माधव शत्रुषु ।
हत्वाप्रतिहतं सङ्ख्ये पाणिमेष्यति ते पुनः ॥ २४ ॥

हे माधव ! यह अस्त्र यदि शत्रुदल पर बारबार फेंका जाय, तो भी बिना किसी रुकावटके शत्रुनाश करता हुआ फिर तुम्हारे हाथमें आ जायेगा ॥ २४ ॥

वरुणश्च ददौ तस्मै गदामशनिनिःस्वनाम् ।
दैत्यान्तकरणीं घोरां नाम्ना कौमोदकीं हरेः ॥ २५ ॥

तब वरुणने उनको दैत्यकुलका नाश करनेवाली भयंकर वज्रके समान गरजनेवाली कौमोदकी नामकी गदा दी ॥ २५ ॥

ततः पावकमब्रूतां प्रहृष्टौ कृष्णपाण्डवौ ।
कृतास्त्रौ शस्त्रसंपन्नौ रथिनौ ध्वजिनावपि ॥ २६ ॥

तब अस्त्रमें पण्डित, शस्त्रमें सम्पन्न, रथवाले और पताकाओंसे सुशोभित अर्जुन और श्रीकृष्ण प्रसन्नचित्तसे अग्निसे बोले ॥ २६ ॥

कल्यौ स्वो भगवन्योद्धुमपि सर्वैः सुरासुरैः ।
किं पुनर्वज्रिणैकेन पन्नगार्थे युयुत्सुना ॥ २७ ॥

हे भगवन् ! अब हम लोग सम्पूर्ण सुरासुरसे लडनेमें समर्थ हैं फिर, सर्परक्षाके लिये युद्ध करनेकी इच्छा करनेवाले अकेले वज्रधारी इन्द्रसे लडनेकी बात ही क्या है ? ॥ २७ ॥

अर्जुन उवाच

चक्रमस्त्रं च वार्ष्णेयो विसृजन्युधि वीर्यवान् ।
त्रिषु लोकेषु तन्नास्ति यन्न जीयाज्जनार्दनः ॥ २८ ॥

अर्जुन बोले– हे पावक ! तीनों लोकोंमें ऐसा कोई नहीं है, कि जिसे वीर्यवान् जनार्दन रणस्थलमें छोडे हुए अपने इस चक्र और अस्त्रसे मार न सकें ॥ २८ ॥

गाण्डीवं धनुरादाय तथाक्षय्यौ महेषुधी ।
अहमप्युत्सहे लोकान्विजेतुं युधि पावक ॥ २९ ॥

हे अग्ने ! मैं भी यह अक्षय तूणीर और गाण्डीव धनुप लेकर युद्धमें सम्पूर्ण लोकोंको परास्त करनेका उत्साह कर सकता हूं ॥ २९ ॥

सर्वतः परिवार्यैनं दावेन महता प्रभो ।
कामं संप्रज्वलाद्यैव कल्यौ स्वः साह्यकर्मणि ॥ ३० ॥

अतः, आप आज ही इच्छानुसार इस बडे वनको सम्पूर्ण रूपसे घेर कर जलावें; हम आपको सहायता देनेके कामके लिए तैय्यार हैं ॥ ३० ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स भगवान्दाशार्हेणार्जुनेन च ।
तैजसं रूपमास्थाय दावं दग्धुं प्रचक्रमे ॥ ३१ ॥

वैशम्पायन बोले– भगवान् हुताशन अर्जुन और श्रीकृष्णके यह वचन सुनकर तैजसरूप धारण कर उस वनको जलाने लगे ॥ ३१ ॥

सर्वतः परिवार्याथ सप्तार्चिर्ज्वलनस्तदा ।
ददाह खाण्डवं क्रुद्धो युगान्तमिव दर्शयन् ॥ ३२ ॥

तब सात ज्वालाओंवाले अग्निदेव सब ओर फैलकर क्रुद्ध होकर खाण्डववनको जलाने लगे । उस समय ऐसा जान पडने लगा, कि मानो युगके अन्तमें आनेवाला काल प्रकट हो रहा है ॥ ३२ ॥

परिगृह्य समाविष्टस्तद्वनं भरतर्षभ ।
मेघस्तनितनिर्घोषं सर्वभूतानि निर्दहन् ॥ ३३ ॥

हे भरतवंशश्रेष्ठ ! प्रज्ज्वलित अग्निदेव उस भारी वनको जकड कर उसमें घुसकर बादलकी गडगडाहटकी भांति भयानक शब्दसे सब प्राणियोंको जलाने लगे ॥ ३३ ॥

दह्यतस्तस्य विबभौ रूपं दावस्य भारत ।
मेरोरिव नगेन्द्रस्य काञ्चनस्य महाद्युतेः ॥ ३४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि षोडशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१६ ॥ ६९४४ ॥

हे भारत ! तब जलते हुए उस वनका रूप सोनेसे मढे हुए महातेजस्वी सुमेरु पर्वतके समान हो गया ॥ ३४ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें दोसौ सोलहवां अध्याय समाप्त ॥ २१६ ॥ ६९४४ ॥

: २१७ :

वैशम्पायन उवाच

तौ रथाभ्यां नरव्याघ्रौ दावस्योभयतः स्थितौ ।
दिक्षु सर्वासु भूतानां चक्राते कदनं महत् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— तदनन्तर पुरुषोंमें व्याघ्रके समान श्रीकृष्ण और अर्जुन रथपर चढकर उस वनके दोनों ओर रहकर चारों दिशाओंमें प्राणियोंका महान् संहार करने लग गए ॥ १ ॥

यत्र यत्र हि दृश्यन्ते प्राणिनः खाण्डवालयाः ।
पलायन्तस्तत्र तत्र तौ वीरौ पर्यधावताम् ॥ २ ॥

खाण्डववासी प्राणी जहां जहां भागते दीख पडे, वे दोनों वीर वहां वहां दौडने लगे ॥२॥

छिद्रं हि न प्रपश्यन्ति रथयोराशुविक्रमात् ।
आविद्धाविव दृश्येते रथिनौ तौ रथोत्तमौ ॥ ३ ॥

वे दोनों महारथी रथ पर वनके चारों ओर इतना शीघ्र घूमने लगे, कि दोनों रथ आपसमें जुडे हुए जान पडते थे, उनमें कुछ भी अन्तर नहीं दीख पडता था ॥ ३ ॥

खाण्डवे दह्यमाने तु भूतान्यथ सहस्रशः ।
उत्पेतुर्भैरवान्नादान्विनदन्तो दिशो दश ॥ ४ ॥

इस प्रकार खाण्डव वनके जलनेसे सहस्रों प्राणी भयंकर कोलाहल मचाते हुए दसों दिशाओंमें भागने लगे ॥ ४ ॥

दग्धैकदेशा बहवो निष्टप्ताश्च तथापरे।
स्फुटिताक्षा विशीर्णाश्च विप्लुताश्च विचेतसः ॥ ५ ॥

किसी किसीका एक एक अङ्ग जल गया; कोई कोई अति तापसे जल भुनके गिर गया, किसी किसी जन्तुकी आंखें फूट गयीं, कोई कोई चेतना हीनसे होकर दुबक गए, कोई कोई भयसे दौडने लगे ॥ ५ ॥

समालिङ्ग्य सुतानन्ये पितॄन्मातॄंस्तथापरे।
त्यक्तुं न शेकुः स्नेहेन तथैव निधनं गताः ॥ ६ ॥

किसी प्राणीने बच्चेसे, किसीने पितासे, किसीने मातासे लिपट कर वासस्थलहीमें प्राण छोडे, पर वे स्नेहवश उनको छोड नहीं सके ॥ ६ ॥

विकृतैर्दर्शनैरन्ये समुत्पेतुः सहस्रशः।
तत्र तत्र विघूर्णन्तः पुनरग्नौ प्रपेदिरे ॥ ७ ॥

कोई तो जल जानेके कारण कुरूप सूरतवाले होकर अनेक बार गिरते हुए और बहुत चक्कर खाते हुए आगमें गिरने लगे ॥ ७ ॥

दग्धपक्षाक्षिचरणा विचेष्टन्तो महीतले।
तत्र तत्र स्म दृश्यन्ते विनश्यन्तः शरीरिणः ॥ ८ ॥

कई पंख, आंख और पैर जल जानेके कारण भूमिपर लोटते हुए तथा कई प्राणी मरते हुए दिखाई देते थे ॥ ८ ॥

जलस्थानेषु सर्वेषु क्वाथ्यमानेषु भारत।
गतसत्त्वाः स्म दृश्यन्ते कूर्ममत्स्याः सहस्रशः ॥ ९ ॥

हे भारत! वहांके सभी जलाशयोंके अग्निके कारण उबलनेसे हजारों मछली कछुए आदि प्राणी इधर उधर मरे हुए दिखाई देने लगे ॥ ९ ॥

शरीरैः संप्रदीप्तैश्च देहवन्त इवाग्नयः।
अदृश्यन्त वने तस्मिन्प्राणिनः प्राणसंक्षये ॥ १० ॥

उस वनमें देहियोंकी जो सब देहें जलीं, वह जली देह मानो भांति भांतिकी अग्निदेहके समान प्रतीत होती थीं ॥ १० ॥

तांस्तथोत्पततः पार्थः शरैः संछिद्य खण्डशः।
दीप्यमाने ततः प्रास्यत्प्रहसन्कृष्णवर्त्मनि ॥ ११ ॥

उस वनमें जो सब पक्षी उड रहे थे, अर्जुन उनको बाणोंसे टुकडे टुकडे कर कर हंसते हुए जलते हुए अग्निमें गिराने लगे ॥ ११ ॥

ते शराचितसर्वाङ्गा विनदन्तो महारवान् ।
ऊर्ध्वमुत्पत्य वेगेन निपेतुः पावके पुनः ॥ १२ ॥

वे प्राणी सब देहमें बाणोंके घुस जानेपर बडा कोलाहल मचाते हुए वेगसे कुछ ऊपर चढकर फिर उस अग्निहीमें गिरने लगे ॥ १२ ॥

शरैरभ्याहतानां च दह्यतां च वनौकसाम् ।
विरावः श्रूयते ह स्म समुद्रस्येव मथ्यतः ॥ १३ ॥

समुद्रमथनेके कालमें जैसा घोर शब्द उठा था उसी प्रकारका कोलाहल बाणोंसे घायल तथा जलते हुए वनैले जानवरोंका सुनाई पडने लगा ॥ १३ ॥

वह्नेश्चापि प्रहृष्टस्य खमुत्पेतुर्महार्चिषः ।
जनयामासुरुद्वेगं सुमहान्तं दिवौकसाम् ॥ १४ ॥

जलती हुई अग्निकी बडी बडी ज्वालायें आकाशमें जा पहुंची और उसने देवोंमें बडी घबराहट पैदा कर दी ॥ १४ ॥

ततो जग्मुर्महात्मानः सर्वे एव दिवौकसः ।
शरणं देवराजानं सहस्राक्षं पुरंदरम् ॥ १५ ॥

तब स्वर्गमें रहनेवाले सभी महात्मा सहस्रनेत्रवाले पुरंदर देवराज इन्द्रकी शरणमें गये ॥ १५ ॥

देवा ऊचुः

किं न्विमे मानवाः सर्वे दह्यन्ते कृष्णवर्त्मना ।
कच्चिन्न संक्षयः प्राप्तो लोकानाममरेश्वर ॥ १६ ॥

देव बोले– अमरनाथ ! अग्निके द्वारा ये मानव क्यों यह सब जला रहे हैं ? क्या अब सब-लोगोंका प्रलय काल आ गया है ? ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा वृत्रहा तेभ्यः स्वयमेवान्ववेक्ष्य च ।
खाण्डवस्य विमोक्षार्थं प्रययौ हरिवाहनः ॥ १७ ॥

वैशम्पायन बोले– हाथी पर चढनेवाले वृत्रनाशी इन्द्र उनसे यह सुनकर और स्वयं भी देख कर खाण्डव वनकी रक्षाके लिये चल पडे ॥ १८ ॥

महता मेघजालेन नानारूपेण वज्रभृत् ।
आकाशं समवस्तीर्य प्रववर्ष सुरेश्वरः ॥ १८ ॥

उन वज्रधारी देवेन्द्रने अनेक तरहकी बडी मेघमालाओंसे आकाशमण्डलको छाकर जल वर्षाना आरम्भ कर दिया ॥ १८ ॥

ततोऽक्षमात्रा विसृजन्धाराः शतसहस्रशः ।
अभ्यवर्षत्सहस्राक्षः पावकं खाण्डवं प्रति ॥ १९ ॥
तब देवराज खाण्डव वनमें जलती हुई अग्नि पर रथके पहियेकी लडकीके समान मोटी जलकी हजारों धारायें वर्षाने लगे ॥ १९ ॥

असंप्राप्तास्तु ता धारास्तेजसा जातवेदसः ।
ख एव समशुष्यन्त न काश्चित्पावकं गताः ॥ २० ॥
सब मोटी धारायें नीचे न जाकर अग्निके तेजसे आकाशहीमें सूख गयीं, एक भी धार अग्नि पर नहीं गिर सकी ॥ २० ॥

ततो नमुचिहा क्रुद्धो भृशमर्चिष्मतस्तदा ।
पुनरेवाभ्यवर्षत्तमभ्रैः प्रविसृजन्बहु ॥ २१ ॥
तब नमुचि नामक राक्षसको मारनेवाले इन्द्र बहुत क्रोध करके फिर बादलोंसे अग्निके ऊपर बहुत जल बरसाने लगे ॥ २१ ॥

अर्चिर्धाराभिसंबद्धं धूमविद्युत्समाकुलम् ।
बभूव तद्वनं घोरं स्तनयित्नुसघोषवत् ॥ २२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सप्तदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१७ ॥ ६९६६ ॥

तब अग्नि और पानीके संयोगके कारण उत्पन्न हुए धुवेंसे युक्त हुआ, बिजलीसे युक्त तथा मेघके शब्दसे गूंजता हुआ वह वन बहुत भयंकर दीखने लगा ॥ २२ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें दोसौ सत्रहवां अध्याय समाप्त ॥ २१७ ॥ ६९६६ ॥

: २१८ :

वैशंपायन उवाच

तस्याभिवर्षतो वारि पाण्डवः प्रत्यवारयत् ।
शरवर्षेण बीभत्सुरुत्तमास्त्राणि दर्शयन् ॥ १ ॥
वैशम्पायन बोले— तब पाण्डुनन्दन अर्जुनने देवराजको उस प्रकार जल बरसाते देखकर अपना उत्तम अस्त्र प्रकट करके बाण वर्षा कर उसको रोक दिया ॥ १ ॥

शरैः समन्ततः सर्वं खाण्डवं चापि पाण्डवः ।
छादयामास तद्वर्षमपकृष्य ततो वनात् ॥ २ ॥
तब अर्जुनने उस वर्षाको उस वनसे दूर करके उस सारे वनको चारों ओरसे बाणोंसे ढक दिया ॥ २ ॥

न च स्म किंचिच्छक्नोति भूतं निश्चरितुं ततः ।
संछाद्यमाने खगमैरस्यता सव्यसाचिना ॥ ३ ॥

वहांका आकाशमण्डल बाणवर्षा करते हुए सव्यसाची धनञ्जयके द्वारा ढक दिए जानेपर कोई भी प्राणी वहांसे निकल नहीं सका ॥ ३ ॥

तक्षकस्तु न तत्रासीत्सर्पराजो महाबलः ।
दह्यमाने वने तस्मिन्कुरुक्षेत्रेऽभवत्तदा ॥ ४ ॥

पर महाबली सर्पराज तक्षक उस समय वहां नहीं था । जब खाण्डवदाह आरम्भ हुआ था, तब वह कुरुक्षेत्रमें गया हुआ था ॥ ४ ॥

अश्वसेनस्तु तत्रासीत्तक्षकस्य सुतो बली ।
स यत्नमकरोत्तीव्रं मोक्षार्थं हव्यवाहनात् ॥ ५ ॥

उस तक्षकका पुत्र बलवान् अश्वसेन वहां था । तक्षकके उस पुत्रने अग्निसे निकलनेकी बडी चेष्टा की ॥ ५ ॥

न शशाक विनिर्गन्तुं कौन्तेयशरपीडितः ।
मोक्षयामास तं माता निगीर्य भुजगात्मजा ॥ ६ ॥

पर अर्जुनके बाणोंसे विद्ध होकर वह निकल नहीं सका । तब उसकी माता सर्पकन्याने उसको निगल कर बचाया ॥ ६ ॥

तस्य पूर्वं शिरो ग्रस्तं पुच्छमस्य निगीर्यते ।
ऊर्ध्वमाचक्रमे सा तु पन्नगी पुत्रगृद्धिनी ॥ ७ ॥

उस अपने पुत्रको बचानेकी इच्छा करनेवाली वह नागकन्या उसका सिर निगल कर उसकी पूंछको निगलती हुई आकाशमार्गसे निकल रही थी ॥ ७ ॥

तस्यास्तीक्ष्णेन भल्लेन पृथुधारेण पाण्डवः ।
शिरश्चिच्छेद गच्छन्त्यास्तामपश्यत्सुरेश्वरः ॥ ८ ॥

उसी समय अर्जुनने उसको देख चौडी नोकवाले तेजबाणसे उस जाती हुई सर्पिणीका सिर काट डाला, देवोंके राजा इन्द्रने यह देखा ॥ ८ ॥

तं मुमोचयिषुर्वज्री वातवर्षेण पाण्डवम् ।
मोहयामास तत्कालमश्वसेनस्त्वमुच्यत ॥ ९ ॥

और अश्वसेनको बचानेकी इच्छावाले वज्रधारी इन्द्रने उसी क्षण पवन चलाकर अर्जुनको मोहमें डाल दिया और उसी समय अश्वसेन बचकर भाग निकला ॥ ९ ॥

तां च मायां तदा दृष्ट्वा घोरां नागेन वञ्चितः ।
द्विधा त्रिधा च चिच्छेद खगतानेव भारत ॥ १० ॥

अर्जुनने तब उस सर्पसे ठगे जाकर और वह घोर माया देखकर आकाशतक पहुंचे हुए भयानक प्राणियोंको दो तीन भागोंमें काट डाला ॥ १० ॥

शशाप तं च संक्रुद्धो बीभत्सुर्जिह्मगामिनम् ।
पावको वासुदेवश्च अप्रतिष्ठो भवेदिति ॥ ११ ॥

अर्जुन, वासुदेव और पावकने बहुत क्रोधित होकर उस कुटिलगामी सर्पको शाप दिया, कि तुम्हारी प्रतिष्ठा खत्म हो जाएगी ॥ ११ ॥

ततो जिष्णुः सहस्राक्षं खं वितत्येषुभिः शितैः ।
योधयामास संक्रुद्धो वञ्चनां तामनुस्मरन् ॥ १२ ॥

तदनन्तर पाण्डुपुत्रने उस वञ्चनाको स्मरण कर क्रोधसे तुरन्त दौडनेवाले बाणोंसे आकाश मण्डलको छाकर सहस्रनेत्रसे लडाई शुरु कर दी ॥ १२ ॥

देवराडपि तं दृष्ट्वा संरब्धमिव फल्गुनम् ।
स्वमस्त्रमसृजद्दीप्तं यत्तताऽऽखिलं नभः ॥ १३ ॥

देवराजने भी फाल्गुनको युद्धमें कटिबद्ध देखकर अपना तीक्ष्ण अस्त्र छोडा, जिसने आकाश मण्डलको छा दिया ॥ १३ ॥

ततो वायुर्महाघोषः क्षोभयन्सर्वसागरान् ।
वियत्स्थोऽजनयन्मेघाञ्जलधारामुचोऽऽकुलान् ॥ १४ ॥

तदनन्तर आकाशस्थ पवनने बडे शब्दके साथ फैलकर सम्पूर्ण समुद्रमें हलचल मचाकर अति घोर बादल उपजाये और उन मेघोंने जलधारायें बरसानी शुरु कर दीं ॥ १४ ॥

तद्विघातार्थमसृजदर्जुनोऽप्यस्त्रमुत्तमम् ।
वायव्यमेवाभिमन्त्र्य प्रतिपत्तिविशारदः ॥ १५ ॥

प्रतिकार करनेमें चतुर अर्जुनने उन सबको दूर करनेके लिये सुन्दर वायव्यास्त्रको मन्त्र पढ कर छोडा ॥ १५ ॥

तेनेन्द्राशनिमेघानां वीर्यौजस्तद्विनाशितम् ।
जलधाराश्च ताः शोषं जग्मुर्नेशुश्च विद्युतः ॥ १६ ॥

उससे इन्द्रके उस वज्र और बादलोंका वीर्य तथा तेज नष्ट हो गया और वे जलधारायें सूख गईं तथा बिजली नष्ट हो गई ॥ १६ ॥

क्षणेन चाभवद्व्योम संप्रशान्तरजस्तमः ।
सुखशीतानिलगुणं प्रकृतिस्थार्कमण्डलम् ॥ १७ ॥

पलभरमें आकाशमण्डल गर्द और अन्धेरेसे साफ हो गया। सुखदायी ठण्डी हवा चलने लगी और सूर्यमण्डलने पहिलेकी अवस्था प्राप्त की ॥ १७ ॥

निष्प्रतीकारहृष्टश्च हुतभुग्विविधाकृतिः ।
प्रजज्वालातुलार्चिष्मान्स्वनादैः पूरयञ्जगत् ॥ १८ ॥

तब अग्नि बिना रोक टोकसे प्रबल होकर आनन्दकी उमंगमें नाना आकार धरके और बडे शब्दसे जग भरमें ज्वालायें फैलाकर जल उठा ॥ १८ ॥

कृष्णाभ्यां रक्षितं दृष्ट्वा तं च दावमहंकृताः ।
समुत्पेतुरथाकाशं सुपर्णाद्याः पतत्रिणः ॥ १९ ॥

सुपर्ण आदि पक्षीगण श्रीकृष्ण और अर्जुनसे उस खाण्डवके दावानलको रक्षित होते देखकर अहङ्कारसे आकाशको उडे ॥ १९ ॥

गरुडा वज्रसदृशैः पक्षतुण्डनखैस्तथा ।
प्रहर्तुकामाः संपेतुराकाशात्कृष्णपाण्डवौ ॥ २० ॥

और वज्रके समान पंख चोंच और नखोंसे युक्त गरुड वासुदेव और धनञ्जयको मारनेकी इच्छासे आकाशसे नीचे उतर आये ॥ २० ॥

तथैवोरगसङ्घाताः पाण्डवस्य समीपतः ।
उत्सृजन्तो विषं घोरं निश्चेरुर्ज्वलिताननाः ॥ २१ ॥

तथा जलते हुए मुखवाले विषैले सर्पगण भयंकर विष गिराते हुए पाण्डवके सामने विचरने लगे ॥ २१ ॥

तांश्चकर्त शरैः पार्थः रोषान्दृश्य खेचरान् ।
विवशाश्चापतन्दीप्तं देहाभावाय पावकम ॥ २२ ॥

तब पाण्डुनन्दनने क्रोधित हुए उन आकाशचारियोंको देखकर बाणोंसे काट डाला, तब विवश होकर वे अपनी देहको नष्ट करनेके लिये भली प्रकार जलती हुई अग्निमें जा गिरे ॥२२॥

ततः सुराः सगन्धर्वा यक्षराक्षसपन्नगाः ।
उत्पेतुर्नादमतुलमुत्सृजन्तो रणार्थिनः ॥ २३ ॥

तब लडनेकी इच्छा करनेवाले सुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और पन्नगगण बडा कोलाहल मचाते हुए दौडे ॥ २३ ॥

अयःकणपचक्राश्मभुशुण्ड्युद्यतबाहवः ।
कृष्णपार्थौ जिघांसन्तः क्रोधसंमूर्च्छितौजसः ॥ २४ ॥

क्रोधसे मूर्छित हुए वे तेजस्वी अयःकण (लोहेकी गेंद गिरानेके यन्त्र) और चक्राश्म (पत्थरके टुकडोंको बडी दूरतक फेंकनेके लिए लकडीका बना यन्त्र) भुशुण्डी (पत्थर फेंकनेके लिए चमडेकी रस्सीसे बना हुआ यन्त्र) यह सब अस्त्र लेके हाथ उठाकर श्रीकृष्ण और अर्जुनको नष्ट करनेके लिये उद्यत हुए ॥ २४ ॥

तेषामभिव्याहरतां शस्त्रवर्षं च मुञ्चताम् ।
प्रममाथोत्तमाङ्गानि बीभत्सुर्निशितैः शरैः ॥ २५ ॥

अर्जुन उनको अयोग्य वचन कह कहकर बाण वर्षाते देखकर तीखे बाणोंसे उनके सिर मथने लगे ॥ २५ ॥

कृष्णश्च सुमहातेजाश्चक्रेणारिनिहा तदा ।
दैत्यदानवसङ्घानां चकार कदनं महत् ॥ २६ ॥

शत्रुकुलनाशी बडे तेजस्वी श्रीकृष्ण चक्रसे उन सब दैत्य दानवोंका बडा भारी संहार करने लगे ॥ २६ ॥

अथापरे शरैर्विद्धाश्चक्रवेगेरितास्तदा ।
वेलामिव समासाद्य व्यातिष्ठन्त महौजसः ॥ २७ ॥

कोई कोई अति बली दैत्य दानव शरोंसे विद्ध और चक्रसे घायल हो उत्साह छोडकर ऐसे शांत हो गए कि जैसे जलके सोतेमें लहरकी चोटसे घूमते हुए तिनके किनारे पर स्थिर हो जाते हैं ॥ २७ ॥

ततः शक्रोऽभिसंक्रुद्धस्त्रिदशानां महेश्वरः ।
पाण्डुरं गजमास्थाय तावुभौ समभिद्रवत् ॥ २८ ॥

तदनन्तर देवोंके अधीश इन्द्र बहुत क्रोधित होकर सफेद वर्णके हाथीपर चढकर धनञ्जय और श्रीकृष्णकी तरफ दौडे ॥ २८ ॥

अशनिं गृह्य तरसा वज्रमस्त्रमवासृजत् ।
हतावेताविति प्राह सुरानसुरसूदनः ॥ २९ ॥

और उन असुर विनाशक इन्द्रने वेगसे अमोघ अस्त्र वज्र लेकर उन पर फेंका और वे देवोंसे बोले— इस बार यह दोनों मरेंगे ॥ २९ ॥

ततः समुद्यतां दृष्ट्वा देवेन्द्रेण महाशनिम् ।
जगृहुः सर्वशस्त्राणि स्वानि स्वानि सुरास्तदा ॥ ३० ॥

तब देवोंने देवराजको महावज्र उठाते देखकर अपने अपने सब अस्त्र उठा लिये ॥ ३० ॥

कालदण्डं यमो राजा शिबिकां च धनेश्वरः ।
पाशं च वरुणस्तत्र विचक्रं च तथा शिवः ॥ ३१ ॥

हे महाराज ! यमराज कालदण्ड लेकर खडे हुए, धननाथ कुबेरने गदा उठा ली; वरुणने पाश और शिवने चक्र उठा लिया ॥ ३१ ॥

ओषधीर्दीप्यमानाश्च जगृहातेऽश्विनावपि ।
जगृहे च धनुर्धाता मुसलं च जयस्तथा ॥ ३२ ॥

दोनों अश्विनीकुमार हाथोंमें दीप्यमान औषधि लेकर खडे हो गए, धाताने धनुष उठा लिया, जयने मूसल उठा लिया ॥ ३२ ॥

पर्वतं चापि जग्राह क्रुद्धस्त्वष्टा महाबलः ।
अंशस्तु शक्तिं जग्राह मृत्युर्देवः परश्वधम् ॥ ३३ ॥

महाबली त्वष्टाने क्रुद्ध होकर पर्वत उठा लिया, सूर्य हाथोंमें देवशक्ति लेकर लडनेको उद्यत हो गया, मृत्युदेवने परश्वध उठा लिया ॥ ३३ ॥

प्रगृह्य परिघं घोरं विचचारार्यमा अपि ।
मित्रश्च क्षुरपर्यन्तं चक्रं गृह्य व्यतिष्ठत ॥ ३४ ॥

अर्यमा भी घोर परिघ लेके घूमने लगे और मित्र उस्तुरेके समान नोकदार चक्र लेकर तैय्यार हो गए ॥ ३४ ॥

पूषा भगश्च संक्रुद्धः सविता च विशां पते ।
आत्तकार्मुकनिस्त्रिंशाः कृष्णपार्थावभिद्रुताः ॥ ३५ ॥

भग, पूषा और क्रुद्ध सविता भयानक धनुष और तलवार लेकर क्रोधसे अर्जुन और श्रीकृष्ण-की ओर दौडे ॥ ३५ ॥

रुद्राश्च वसवश्चैव मरुतश्च महाबलाः ।
विश्वेदेवास्तथा साध्या दीप्यमाना स्वतेजसा ॥ ३६ ॥

अपने तेजसे दीप्यमान महाबली रुद्रगण, वसुगण, मरुद्गण, विश्वेदेवगण और साध्यगण ॥ ३६ ॥

एते चान्ये च बहवो देवास्तौ पुरुषोत्तमौ ।
कृष्णपार्थौ जिघांसन्तः प्रतीयुर्विविधायुधाः ॥ ३७ ॥

ये और दूसरे भी अनेक देवगण भांति भांतिके अस्त्र लेकर पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण और अर्जुनको नष्ट करनेके लिये चढ दौडे ॥ ३७ ॥

तत्राऽद्भुतान्यदृश्यन्त निमित्तानि महाहवे।
युगान्तसमरूपाणि भूतोत्सादाय भारत ॥ ३८ ॥

तब युगके अन्त होनेके कालकी भांति भूतोंके नाशके लिए उस युद्धमें आश्चर्यकारक और बुरे बुरे चिन्ह प्रगट होने लगे ॥ ३८ ॥

तथा तु दृष्ट्वा संरब्धं शक्रं देवैः सहाच्युतौ।
अभीतौ युधि दुर्धर्षौ तस्थतुः सज्जकार्मुकौ ॥ ३९ ॥

युद्धमें अति दुर्धर्ष अर्जुन और श्रीकृष्ण देवोंके साथ देवराजको युद्धमें सब प्रकारसे सन्नद्ध देखकर तैय्यार धनुष लेकर ॥ ३९ ॥

आगतांश्चैव तान्दृष्ट्वा देवानेकैकशस्ततः।
न्यवारयेतां संक्रुद्धौ बाणैर्वज्रोपमैस्तदा ॥ ४० ॥

निर्भय और अटल चित्तसे खडे हो गए और युद्धमें दक्ष वे दोनों वीर आये हुए देवोंको वज्रके समान तीक्ष्ण बाणोंसे क्रोधपूर्वक सब प्रकारसे पीछे हटाने लगे ॥ ४० ॥

असकृद्भग्नसंकल्पाः सुराश्च बहुशः कृताः।
भयाद्रणं परित्यज्य शक्रमेवाभिशिश्रियुः ॥ ४१ ॥

तब देवोंने कृष्ण और अर्जुनके कारण बारबार सङ्कल्प टूटने पर भयभीत होकर युद्धस्थलको छोडकर देवराजकी शरण ली ॥ ४१ ॥

दृष्ट्वा निवारितान्देवान्माधवेनार्जुनेन च।
आश्चर्यमगमंस्तत्र मुनयो दिवि विष्ठिताः ॥ ४२ ॥

आकाशमें खडे मुनि देवोंको कृष्ण और अर्जुनके द्वारा भगा दिए जाने पर आश्चर्य करने लगे ॥ ४२ ॥

शक्रश्चापि तयोर्वीर्यमुपलभ्यासकृद्रणे।
बभूव परमप्रीतो भूयश्चैतावयोधयत् ॥ ४३ ॥

अर्जुन और श्रीकृष्णका रणस्थलमें बार बार पराक्रम देखकर देवराज बहुत प्रसन्न हुए और फिर उन दोनोंसे लडने लगे ॥ ४३ ॥

ततोऽश्मवर्षं सुमहद्व्यसृजत्पाकशासनः।
भूय एव तदा वीर्यं जिज्ञासुः सव्यसाचिनः।
तच्छरैरर्जुनो वर्षं प्रतिजघ्नेऽत्यमर्षणः ॥ ४४ ॥

पाकशासन इन्द्र तब सव्यसाची धनञ्जयका सामर्थ्य जाननेकी इच्छासे बहुत पत्थर बरसाने लगे। अर्जुनने भी बहुत क्रोध करके महावेगवान् बाणोंसे उस पत्थरवृष्टिको रोका ॥४४॥

विफलं क्रियमाणं तत्संप्रेक्ष्य च शतक्रतुः ।
भूयः संवर्धयामास तद्वर्षं देवराडथ　　॥ ४५ ॥

इन्द्र पत्थर वृष्टिको विफल होते देखकर फिर और भी अधिक पत्थर गिराने लगे ॥ ४५ ॥

सोऽश्मवर्षं महावेगैरिषुभिः पाकशासनिः ।
विलयं गमयामास हर्षयन्पितरं तदा　　॥ ४६ ॥

इन्द्रनन्दन अर्जुनने अपने पिताका हर्ष बढाते हुए बडे तेज बाणोंसे उस भयानक पत्थर वृष्टिको नष्ट कर दिया ॥ ४६ ॥

समुत्पाट्य तु पाणिभ्यां मन्दराच्छिखरं महत् ।
सद्रुमं व्यसृजच्छक्रो जिघांसुः पाण्डुनन्दनम्　　॥ ४७ ॥

इसके बाद महेन्द्रने पाण्डुपुत्रको मारनेकी इच्छासे दोनों हाथोंसे मन्दर पर्वतसे वृक्षसहित एक बडी भारी चोटीको उखाड कर फेंका ॥ ४७ ॥

ततोऽर्जुनो वेगवद्भिर्ज्वलिताग्रैरजिह्मगैः ।
बाणैर्विध्वंसयामास गिरेः शृङ्गं सहस्रधा　　॥ ४८ ॥

तब अर्जुनने सीधे जलती हुई नोकवाले बडे वेगवान् बाणोंसे उस पहाडकी चोटीको हजारों टुकडोंमें तोड डाला ॥ ४८ ॥

गिरेर्विशीर्यमाणस्य तस्य रूपं तदा बभौ ।
सार्कचन्द्रग्रहस्येव नभसः प्रविशीर्यतः　　॥ ४९ ॥

आकाश मण्डलसे चन्द्र सूर्यादि ग्रहके टुकडे गिरते समय जैसे दीख पडते हैं, वही रूप उस टूटकर गिरनेवाली पहाडकी चोटीका दिखाई दिया ॥ ४९ ॥

तेनाभिपतता दावे शैलेन महता भृशम् ।
भूय एव हतास्तत्र प्राणिनः खाण्डवालयाः　　॥ ५० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अष्टादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१८ ॥ ७०१६ ॥

उस बडी भारी चोटीके खाण्डववन पर गिर जानेके कारण उसकी चोटसे उस खाण्डव-वनमें रहनेवाले बहुतसे प्राणी मारे गए ॥ ५० ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें दो सौ अठारहवां अध्याय समाप्त ॥ २१८ ॥ ७०१६ ॥

: २१९ :

वैशम्पायन उवाच

तथा शैलनिपातेन भीषिताः खाण्डवालयाः ।
दानवा राक्षसा नागास्तरक्ष्वृक्षवनौकसः ।
द्विपाः प्रभिन्नाः शार्दूलाः सिंहाः केसरिणस्तथा ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— तदनन्तर उस पहाडके गिरनेसे भयभीत हुए हुए खाण्डव वनके रहनेवाले, दानव, राक्षस, सर्प, ऋक्ष, भेडिये, विदीर्ण हुए गण्डस्थलवाले हाथी, अयालवाले सिंह, वाघ ॥ १ ॥

मृगाश्च महिषाश्चैव शरभाः पक्षिणस्तथा ।
समुद्विग्ना विसस्रुपुस्तथान्या भूतजातयः ॥ २ ॥

मृग, भैंसे, जंगली-प्राणी तथा पक्षी भी दूसरे प्राणियोंके समान भयभीत होकर भागने लगे ॥ २ ॥

तं दावं समुदीक्षन्तः कृष्णौ चाभ्युद्यतायुधौ ।
उत्पातनादशब्देन संत्रासित इवाभवन् ॥ ३ ॥

जब प्राणियोंने श्रीकृष्ण तथा अर्जुनको अस्त्र उठाये और उस वनको चंड शब्दके साथ जलता हुआ देखा, तब उपद्रवके कोलाहलसे भयभीत हो गए ॥ ३ ॥

स्वतेजोभास्वरं चक्रमुत्ससर्ज जनार्दनः ।
तेन ता जातयः क्षुद्राः सदानवनिशाचराः ।
निकृत्ताः शतशः सर्वा निपेतुरनलं क्षणात् ॥ ४ ॥

तदनन्तर श्रीकृष्णने अपने तेजसे जलता हुआ चक्र उठाया । उस चक्रसे दानव निशाचर आदि वे सब जानवर सैंकडों टुकडोंमें काट दिए गए और वे उसी क्षण अग्निके मुखमें जा गिरे ॥ ४ ॥

अदृश्यन्राक्षसास्तत्र कृष्णचक्रविदारिताः ।
वसा रुधिरसंपृक्ताः सन्ध्यायामिव तोयदाः ॥ ५ ॥

दैत्यगण श्रीकृष्णके चक्रसे टुकडे टुकडे हो और चर्बी तथा रक्तकी धारसे नहाकर सन्ध्याकालके घने बादलकी भांति दीखने लगे ॥ ५ ॥

पिशाचान्पक्षिणो नागान्पशूंश्चापि सहस्रशः ।
निघ्नंश्चरति वार्ष्णेयः कालवत्तत्र भारत ॥ ६ ॥

हे भारत ! वृष्णिनन्दन श्रीकृष्ण यमराजकी भांति सहस्रों पिशाच, पक्षी, सर्प और पशुओंको मारते हुए घूमने लगे ॥ ६ ॥

क्षिप्तं क्षिप्तं हि तच्चक्रं कृष्णस्यामित्रघातिनः ।
हत्वानेकानि सत्त्वानि पाणिमेति पुनः पुनः ॥ ७ ॥

शत्रुनाशी कृष्णका वह चक्र बार बार फेंका जानेपर अनेक प्राणियोंको मार कर फिर उनके हाथमें आ जाता था ॥ ७ ॥

तथा तु निघ्नतस्तस्य सर्वसत्त्वानि भारत ।
बभूव रूपमत्युग्रं सर्वभूतात्मनस्तदा ॥ ८ ॥

सब भूतोंकी आत्मा श्रीकृष्णके इस प्रकार सब प्राणियोंको नष्ट करनेपर उस समय उनका रूप बडा भयंकर जान पडने लगा ॥ ८ ॥

समेतानां च देवानां देवतानां च सर्वशः ।
विजेता नाभवत्कश्चित्कृष्णपाण्डवयोर्मृधे ॥ ९ ॥

आये हुए सभी देवों और देवताओंमेंसे एक भी कृष्ण और अर्जुनके युद्धमें विजेता नहीं बन सका ॥ ९ ॥

तयोर्बलात्परित्रातुं तं दावं तु यदा सुराः ।
नाशक्नुवञ्शमयितुं तदाभूवन्पराङ्मुखाः ॥ १० ॥

कृष्ण और अर्जुनके बाहुबलसे उस वनको बचाने और दावानल बुझानेमें वे देवगण समर्थ नहीं हुए, तब वे पीठ दिखाकर भाग गये ॥ १० ॥

शतक्रतुश्च संप्रेक्ष्य विमुखान्देवतागणान् ।
बभूवावस्थितः प्रीतः प्रशंसन्कृष्णपाण्डवौ ॥ ११ ॥

इन्द्रने देवोंको मुख मोडते देख प्रसन्न होकर केशव और अर्जुनकी प्रशंसा करने लगे ॥ ११ ॥

निवृत्तेषु तु देवेषु वागुवाचाशरीरिणी ।
शतक्रतुमभिप्रेक्ष्य महागम्भीरनिःस्वना ॥ १२ ॥

तदनन्तर सब स्वर्गवासियोंके निवृत्त हो जानेपर एक अशरीरी वाणी बडी गंभीर आवाजमें इन्द्रसे यह बोली ॥ १२ ॥

न ते सखा संनिहितस्तक्षकः पन्नगोत्तमः ।
दाहकाले खाण्डवस्य कुरुक्षेत्रं गतो ह्यसौ ॥ १३ ॥

तुम्हारा सखा सर्पश्रेष्ठ तक्षक मारा नहीं गया है, खाण्डवके दाहके समय वह कुरुक्षेत्र गया हुआ था ॥ १३ ॥

न च शक्यौ त्वया जेतुं युद्धेऽस्मिन्समवस्थितौ ।
वासुदेवार्जुनौ शक्र निबोधेदं वचो मम ॥ १४ ॥

हे इन्द्र ! तुम इस मेरे वचनको सुनो, कि युद्धमें खडे हुए इन वासुदेव और अर्जुन तुमसे जीते नहीं जा सकेंगे ॥ १४ ॥

नरनारायणौ देवौ तावेतौ विश्रुतौ दिवि।
भवानप्यभिजानाति यद्वीर्यौ यत्पराक्रमौ ॥ १५ ॥
यह दोनों देवलोकमें प्रसिद्ध नर और नारायण हैं, इनका जैसा वीर्य और जितना पराक्रम है, वह तुम भी जानते हो ॥ १५ ॥

नैतौ शक्यौ दुराधर्षौ विजेतुमजितौ युधि।
अपि सर्वेषु लोकेषु पुराणावृषिसत्तमौ ॥ १६ ॥
दोनों युद्धमें अजेय, दुर्द्धर्ष, पुराने और श्रेष्ठ ऋषि हैं, सब लोकोंमें किसीसे भी ये पराजित नहीं हो सकते ॥ १६ ॥

पूजनीयतमावेतावपि सर्वैः सुरासुरैः।
सयक्षरक्षोगन्धर्वनरकिंनरपन्नगैः ॥ १७ ॥
ये दोनों अमर, असुर, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, नर, किन्नर, पन्नग आदि सभीके द्वारा पूजनीय हैं ॥ १७ ॥

तस्मादितः सुरैः सार्धं गन्तुमर्हसि वासव।
दिष्टं चाप्यनुपश्यैतत्खाण्डवस्य विनाशनम् ॥ १८ ॥
अतः, हे इन्द्र ! तुम देवोंके साथ यहांसे लौट जाओ और इस खाण्डववनका नाश दैवने ही निश्चित कर रखा था ऐसा तुम समझो ॥ १८ ॥

इति वाचमभिश्रुत्य तथ्यमित्यमरेश्वरः।
कोपामर्षौ समुत्सृज्य संप्रतस्थे दिवं तदा ॥ १९ ॥
तब देवराज इन्द्र वह वचन सच जानकर क्रोध और अमर्षको तजकर देवलोकको चले गये ॥ १९ ॥

तं प्रस्थितं महात्मानं समवेक्ष्य दिवौकसः।
त्वरिताः सहिता राजन्ननुजग्मुः शतक्रतुम् ॥ २० ॥
हे महाराज ! देव भी अपने राजा महात्मा इन्द्रको वापस जाते देखकर इकट्ठे होकर उनके पीछे पीछे चले गए ॥ २० ॥

देवराजं तदा यान्तं सह देवैरुदीक्ष्य तु।
वासुदेवार्जुनौ वीरौ सिंहनादं विनेदतुः ॥ २१ ॥
वीर अर्जुन और वासुदेवने देवोंके साथ इन्द्रको वापस जाते देखकर सिंहनाद किया ॥ २१ ॥

देवराजे गते राजन्प्रहृष्टौ कृष्णपाण्डवौ।
निर्विशङ्कं पुनर्दावं दाहयामासतुस्तदा ॥ २२ ॥
हे महाराज ! इन्द्रके चले जाने पर प्रसन्न हुए हुए कृष्ण और अर्जुन निर्भय होकर फिर खाण्डववनको जलाने लगे ॥ २२ ॥

स मारुत इवाभ्राणि नाशयित्वार्जुनः सुरान् ।
व्यधमच्छरसङ्घातैः प्राणिनः खाण्डवालयान् ॥ २३ ॥

पवन जिस प्रकार बादलोंको भगाता है, वैसे ही अर्जुन देवोंको परास्त कर खाण्डवमें रहनेवाले प्राणियोंको बाणोंसे मारकर जलाने लगे ॥ २३ ॥

न च स्म किंचिच्छक्नोति भूतं निश्चरितुं ततः ।
संछिद्यमानमिषुभिरस्यता सव्यसाचिना ॥ २४ ॥

सव्यसाची अर्जुनके द्वारा फेंके जाते हुए बाणोंसे काट जाता हुआ कोई भी प्राणी वहांसे निकल नहीं सका ॥ २४ ॥

नाशकंस्तत्र भूतानि महान्त्यपि रणेऽर्जुनम् ।
निरीक्षितुममोघेषुं करिष्यन्ति कुतो रणम् ॥ २५ ॥

बडे बडे महाबली प्राणी युद्धमें अर्जुनकी तरफ देखनेमें भी समर्थ नहीं थे, फिर लडनेकी बात ही दूर रही ॥ २५ ॥

शतेनैकं च विव्याध शतं चैकेन पत्त्रिणा ।
व्यसवस्तेऽपतन्नग्नौ साक्षात्कालहता इव ॥ २६ ॥

अर्जुन कभी कभी सौ बाणोंसे एकको मारते थे और कभी कभी एक बाणसे सौ प्राणी मारते थे। वे सब प्राणी मानों साक्षात् कालसे मारे जाकर और प्राण छोडकर अग्निके मुखमें गिरने लगे ॥ २६ ॥

न चालभन्त ते शर्म रोधःसु विषमेषु च ।
पितृदेवनिवासेषु संतापश्चाप्यजायत ॥ २७ ॥

वे नदी, तट, सूखी ठौर और श्मशानमें अर्थात् कहीं भी शरण नहीं पा सके। सभी जगह तापसे तपने लगे ॥ २७ ॥

भूतसंघसहस्राश्च दीनाश्चक्रुर्महास्वनम् ।
रुरुवुर्वारणाश्चैव तथैव मृगपक्षिणः ।
तेन शब्देन वित्रेसुर्गङ्गोदधिचरा झषाः ॥ २८ ॥

हजारों प्राणी दीन होकर बडी आवाज करने लगे; हाथी, हरिन और पक्षी रोने लगे, उस शब्दसे नदियों और समुद्रमें विचरनेवाली मछलियां बहुत भयभीत हो गयीं ॥ २८ ॥

न ह्यर्जुनं महाबाहुं नापि कृष्णं महाबलम् ।
निरीक्षितुं वै शक्नोति कश्चिद्योद्धुं कुतः पुनः ॥ २९ ॥

उस समय न कोई महाभुज अर्जुनकी तरफ और न कोई महाबली कृष्णकी तरफ ही देख सकता था, फिर लडनेकी तो बात ही क्या? ॥ २९ ॥

एकायनगता येऽपि निष्पतन्त्यत्र केचन ।
राक्षसान्दानवान्नागाञ्जघ्ने चक्रेण तान्हरिः ॥ ३० ॥

जिन सब राक्षस, दानव और नागोंने इकट्ठे होकर दौडकर भागना चाहा, श्रीकृष्णने उनको चक्रसे नष्ट किया ॥ ३० ॥

ते विभिन्नशिरोदेहाश्चक्रवेगाद्गतासवः ।
पेतुरास्ये महाकाया दीप्तस्य वसुरेतसः ॥ ३१ ॥

वे महान् शरीरवाले चक्रके वेगसे सिर और धडसे रहित होकर प्राण छोडकर जलती हुई आगके मुंहमें जा गिरे ॥ ३१ ॥

स मांसरुधिरौघैश्च मेदोघैश्च समीरितः ।
उपर्याकाशगो वह्निर्विधूमः समदृश्यत ॥ ३२ ॥

तब अग्नि देव मांस रक्त और चर्बीसे भली प्रकार तृप्त होकर धुआं रहित होकर आकाशमें चढते हुए दिखाई देने लगे ॥ ३२ ॥

दीप्ताक्षो दीप्तजिह्वश्च दीप्तव्यात्तमहाननः ।
दीप्तोर्ध्वकेशः पिङ्गाक्षः पिबन्प्राणभृतां वसाम् ॥ ३३ ॥

और प्रदीप्त आंखें, प्रदीप्त जीभ, प्रदीप्त महान् मुख और ऊंचे ऊंचे बालोंको प्रज्वलित कर तथा लाल आंखोंवाले होकर अग्नि देव जीवोंकी चर्बी पीने लगे ॥ ३३ ॥

तां स कृष्णार्जुनकृतां सुधां प्राप्य हुताशनः ।
बभूव मुदितस्तृप्तः परां निर्वृतिमागतः ॥ ३४ ॥

उन कृष्ण और अर्जुनकी सहायतासे अमृत पीकर प्रमुदित और तृप्त होकर उस अग्निने परम सन्तोष प्राप्त किया ॥ ३४ ॥

अथासुरं मयं नाम तक्षकस्य निवेशनात् ।
विप्रद्रवन्तं सहसा ददर्श मधुसूदनः ॥ ३५ ॥

अनन्तर मधुसूदनने अचानक मय नामक असुरको तक्षकके वासस्थानसे भागते हुए देखा ॥ ३५ ॥

तमग्निः प्रार्थयामास दिधक्षुर्वातसारथिः ।
देहवान्वै जटी भूत्वा नदंश्च जलदो यथा ।
जिघांसुर्वासुदेवश्च चक्रमुद्यम्य विष्ठितः ॥ ३६ ॥

पवनके सारथि अग्नि शरीर लेकर और जटा धरकर बादलके समान शब्द करते हुए उसको जलानेकी इच्छासे उसकी तरफ दौडे। तब वासुदेव उसको मारनेके लिये चक्र उठाकर खडे हो गए ॥ ३६ ॥

स चक्रमुद्यतं दृष्ट्वा दिधक्षुं च हुताशनम् ।
अभिधावार्जुनेत्येवं मयश्चुक्रोश भारत ॥ ३७ ॥

हे भारत ! मय दानव उनको चक्र उठाते और अग्निको जलानेकी इच्छा करते हुए देखकर चिल्लाया, कि हे अर्जुन दौडो ॥ ३७ ॥

तस्य भीतस्वनं श्रुत्वा मा भैरिति धनंजयः ।
प्रत्युवाच मयं पार्थो जीवयन्निव भारत ॥ ३८ ॥

हे भारत ! अर्जुन उसका वह करुणपूर्ण स्वर सुनकर मानों जीवन देते हुए मयसे बोले, कि मत डरो ॥ ३८ ॥

तं पार्थेनाभये दत्ते नमुचेर्भ्रातरं मयम् ।
न हन्तुमैच्छद्दाशार्हः पावको न ददाह च ॥ ३९ ॥

तदनन्तर अर्जुनके नमुचिके भाई उस दैत्य मयको ढाढस देने पर दाशार्ह श्रीकृष्णने फिर उसे मारना नहीं चाहा और अग्नि भी जलानेको प्रवृत्त नहीं हुए ॥ ३९ ॥

तस्मिन्वने दह्यमाने षडग्निर्न ददाह च ।
अश्वसेनं मयं चापि चतुरः शार्ङ्गकानिति ॥ ४० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि एकोनविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१९ ॥ ७०५६ ॥

उस वनको जलाते हुए अग्निने केवल अश्वसेन, मय और शार्ङ्गक नामक चार पक्षी इन छैको नहीं जलाया ॥ ४० ॥

महाभारतके आदिपर्वमें दो सौ उन्नीसवां अध्याय समाप्त ॥ २१९ ॥ ७०५६ ॥

: २२० :

जनमेजय उवाच

किमर्थं शार्ङ्गकानग्निर्न ददाह तथागते ।
तस्मिन्वने दह्यमाने ब्रह्मन्नेतद्वदाशु मे ॥ १ ॥

जनमेजय बोले– हे ब्रह्मन् ! यह मुझे बताओ, कि उस वनके जलानेके समय उस दशामें अग्निने शार्ङ्गक पक्षियोंको क्यों नहीं जलाया ॥ १ ॥

अदाहे ह्यश्वसेनस्य दानवस्य मयस्य च ।
कारणं कीर्तितं ब्रह्मञ्शार्ङ्गकानां न कीर्तितम् ॥ २ ॥

अश्वसेन और मयदानव किस कारण नहीं जले उसका कारण तो आपने बता दिया, पर चार शार्ङ्गके न जलनेका कारण नहीं कहा ॥ २ ॥

तदेतदद्भुतं ब्रह्मञ्शाङ्र्गनामविनाशनम् ।
कीर्तयस्वाग्निसंमर्दे कथं ते न विनाशिताः ॥ ३ ॥

हे ब्रह्मन् ! शार्ङ्गकोंका बचना मुझको अचरजसा जान पडता है, बताओ, कि वे उस अग्निदाहसे क्यों नहीं जल मरे ? ॥ ३ ॥

वैशंपायन उवाच

यदर्थं शाङ्र्गकानाग्निर्न ददाह तथागते ।
तत्ते सर्वं यथावृत्तं कथयिष्यामि भारत ॥ ४ ॥

वैशम्पायन बोले– हे शत्रुदमन ! उस दशामें हुताशनने जिस कारण शार्ङ्गकोंको नहीं जलाया, वह सब वृत्त तुमसे कहता हूं, सुनो ॥ ४ ॥

धर्मज्ञानां मुख्यतमस्तपस्वी संशितव्रतः ।
आसीन्महर्षिः श्रुतवान्मन्दपाल इति श्रुतः ॥ ५ ॥

हे महाराज ! मन्दपाल नामसे प्रख्यात तपस्वी विद्वान् व्रतशील धर्मके जानकारोंमें श्रेष्ठ एक महर्षि थे ॥ ५ ॥

स मार्गमास्थितो राजन्नृषीणामूर्ध्वरेतसाम् ।
स्वाध्यायवान्धर्मरतस्तपस्वी विजितेन्द्रियः ॥ ६ ॥

हे राजन् ! वह स्वाध्यायमें नियुक्त और जितेन्द्रिय होकर सदा तपस्या और धर्म करते थे। वह ऊर्ध्वरेता ऋषियोंके मार्गपर चलते थे ॥ ६ ॥

स गत्वा तपसः पारं देहमुत्सृज्य भारत ।
जगाम पितृलोकाय न लेभे तत्र तत्फलम् ॥ ७ ॥

हे भारत ! जब वह देह छोडकर तपस्याके उस पार जाकर पितृलोकको गये, तब उन्हें बटोरी हुई अपनी तपस्याका कोई फल वहां प्राप्त नहीं हुआ ॥ ७ ॥

स लोकानफलान्दृष्ट्वा तपसा निर्जितानपि ।
पप्रच्छ धर्मराजस्य समीपस्थान्दिवौकसः ॥ ८ ॥

उन महर्षिने अपनी कठोर तपस्यासे उपार्जित किये हुए लोकोंको न देखकर धर्मराजके निकट देवोंसे पूछा ॥ ८ ॥

किमर्थमावृता लोका ममैते तपसार्जिताः ।
किं मया न कृतं तत्र यस्येदं कर्मणः फलम् ॥ ९ ॥

मेरी तपस्यासे उपार्जित पुण्यलोक क्यों बन्द हैं ? जिन कर्मोंके करनेसे इन सब पुण्यलोकोंमें जाया जाता है, क्या मैंने उन कर्मोंको नहीं किया है ? ॥ ९ ॥

तत्राहं तत्करिष्यामि यदर्थमिदमावृतम् ।
फलमेतस्य तपसः कथयध्वं दिवौकसः ॥ १० ॥

हे देवगण ! जिस कारण मेरी तपस्याका फल रुका हुआ है, उस कारणको आप मुझे बतायें मैं उसको करनेको प्रस्तुत हूं ॥ १० ॥

देवा ऊचुः

ऋणिनो मानवा ब्रह्मञ्जायन्ते येन तच्छृणु ।
क्रियाभिर्ब्रह्मचर्येण प्रजया च न संशयः ॥ ११ ॥

देवोंने कहा– हे ब्रह्मन् ! सुनो इसमें संदेह नहीं कि मानवगण क्रिया, ब्रह्मचर्य और सन्तान उत्पन्न करनेके ऋणोंको लेकर जन्म लेते हैं ॥ ११ ॥

तदपाक्रियते सर्वं यज्ञेन तपसा सुतैः ।
तपस्वी यज्ञकृच्चासि न तु ते विद्यते प्रजा ॥ १२ ॥

यज्ञ, तपस्या और पुत्रोत्पादन इन तीन कर्मोंसे यह ऋण चुकता है । तुमने बहुत तपस्या और यज्ञ किया है, पर तुम्हारे सन्तान नहीं है ॥ १२ ॥

त इमे प्रसवस्यार्थे तव लोकाः समावृताः ।
प्रजायस्व ततो लोकानुपभोक्तासि शाश्वतान् ॥ १३ ॥

अतः, तुम्हारे पुत्रोत्पत्तिके लिए यह सब पुण्यलोक तुम्हारे लिये बन्द पडे हुए हैं । तुम पुत्र उत्पन्न करोगे तो इन श्रेष्ठ लोकोंको भोगने पाओगे ॥ १३ ॥

पुन्नाम्नो नरकात्पुत्रस्त्रातीति पितरं मुने ।
तस्मादपत्यसंताने यतस्व द्विजसत्तम ॥ १४ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ मुने ! पुत्र पिताको पुत् नामक नरकसे बचाता है अतः तुम पुत्रको उत्पन्न करनेका प्रयत्न करो ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा मन्दपालस्तु तेषां वाक्यं दिवौकसाम् ।
क नु शीघ्रमपत्यं स्याद्बहुलं चेत्यचिन्तयत् ॥ १५ ॥

वैशम्पायन बोले– तब मन्दपाल देवोंका वह वचन सुनकर सोचने लगे, कि किस योनिमें जन्म लेनेसे शीघ्र और अधिक सन्तान उत्पन्न हो सकती है ॥ १५ ॥

स चिन्तयन्नभ्यगच्छद्बहुलप्रसवान्खगान् ।
शार्ङ्गिकां शार्ङ्गको भूत्वा जरितां समुपेयिवान् ॥ १६ ॥

तदनन्तर वे यह सोचकर कि पक्षीकी जातिके स्वल्पकालमें बहुत सन्तानें होती हैं, शार्ङ्गक पक्षी बनकर जरिता नामक शार्ङ्गिकासे मिले ॥ १६ ॥

तस्यां पुत्रानजनयच्चतुरो ब्रह्मवादिनः ।
तानपास्य स तत्रैव जगाम लपितां प्रति ।
बालान्सुतानण्डगतान्मात्रासह मुनिर्वने ॥ १७ ॥

उसके गर्भसे उन्होंने चार ब्रह्मवादी पुत्र उत्पन्न किए, तदनन्तर वह अण्डेसे पैदा हुए बच्चोंको उनकी माताके साथ उसी वनमें छोडकर लपिताके पास गये ॥ १७ ॥

तस्मिन्गते महाभागे लपितां प्रति भारत ।
अपत्यस्नेहसंविग्ना जरिता बह्वचिन्तयत् ॥ १८ ॥

हे भारत ! उन महाभागके लपिताके पास चले जानेपर जरिता पुत्रस्नेहसे कातर हो अनेक प्रकारकी चिंता करने लगी ॥ १८ ॥

तेन त्यक्तानसंत्याज्यानृषीनण्डगतान्वने ।
नाजहत्पुत्रकानार्ता जरिता खाण्डवे नृप ।
बभार चैतान्संजातान्स्ववृत्त्या स्नेहविक्लवा ॥ १९ ॥

हे राजन् ! ऋषिके उस खांडव वनमें उन अण्डोंमें स्थित बच्चोंको छोड देने पर भी जरिता कातर होकर त्यागनेके अयोग्य उन बच्चोंको छोड नहीं सकी और अण्डेमेंसे उन बच्चोंके बाहर निकल आनेपर जरिता स्नेहके मारे अपने भोजनमेंसे उन्हें देकर उन्हें पालने लगी ॥ १९ ॥

ततोऽग्निं खाण्डवं दग्धुमायान्तं दृष्टवानृषिः ।
मन्दपालश्चरंस्तस्मिन्वने लपितया सह ॥ २० ॥

कुछ दिनोंके बाद ऋषि मन्दपालने लपिताके साथ उस वनमें विचरते हुए खाण्डव वनको जलानेके लिए आते हुए अग्निको देखा ॥ २० ॥

तं संकल्पं विदित्वास्य ज्ञात्वा पुत्रांश्च बालकान् ।
सोऽभितुष्टाव विप्रर्षिर्ब्राह्मणो जातवेदसम् ।
पुत्रान्परिददद्भीतो लोकपालं महौजसम् ॥ २१ ॥

ब्रह्मके जानकार विप्रर्षि वह मन्दपाल जातवेदाका वह अभिप्राय समझकर, अपनी सन्तानोंको बालक जानकर उनके लिये उनसे विनय करनेकी इच्छासे भयभीत होकर उस तेजस्वी लोकपाल अग्निकी स्तुति करने लगे ॥ २१ ॥

मन्दपाल उवाच

त्वमग्ने सर्वदेवानां मुखं त्वमसि हव्यवाट् ।
त्वमन्तः सर्वभूतानां गूढश्चरसि पावक ॥ २२ ॥

मन्दपाल बोले– हे अग्ने ! तुम सब देवोंके मुखस्वरूप हो; तुम हवनके पदार्थ ग्रहण किया करते हो । हे पावक ! तुम सब मनुष्योंके हृदयमें गुप्त होकर संचार करते हो ॥ २२ ॥

त्वामेकमाहुः कवयस्त्वामाहुस्त्रिविधं पुनः ।
त्वामष्टधा कल्पयित्वा यज्ञवाहमकल्पयन् ॥ २३ ॥

कविगण तुमको अद्वितीय कहा करते हैं, और तुम्हींको तीन प्रकारका भी कहते हैं, तथा तुमको अष्टधा मान करके तुम्हें यज्ञवाहक बनाया है ॥ २३ ॥

त्वया सृष्टमिदं विश्वं वदन्ति परमर्षयः ।
त्वदृते हि जगत्कृत्स्नं सद्यो न स्याद्हुताशन ॥ २४ ॥

हे हुताशन ! परमर्षिगण कहते हैं, कि तुम्हींने इस संसारको रचा है और तुम्हारे न रहनेसे आज ही सब जगमण्डल नष्ट हो जाएगा ॥ २४ ॥

तुभ्यं कृत्वा नमो विप्राः स्वकर्मविजितां गतिम् ।
गच्छन्ति सह पत्नीभिः सुतैरपि च शाश्वतीम् ॥ २५ ॥

ब्राह्मणगण तुम्हींको प्रणाम करके स्त्रीपुत्रोंके साथ अपने कर्मसे जीती गई शाश्वत गतिको प्राप्त करते हैं ॥ २५ ॥

त्वामग्ने जलदानाहुः खे विषक्तान्सविद्युतः ।
दहन्ति सर्वभूतानि त्वत्तो निष्क्रम्य हायनाः ॥ २६ ॥

हे अग्ने ! पण्डित लोग तुमको विद्युत्के साथ आकाशमें स्थिर मेघ कहते हैं । हे पावक ! तुमसे ज्वालायें निकलकर सब भूतोंको जलाती हैं ॥ २६ ॥

जातवेदस्तवैवेयं विश्वसृष्टिर्महाद्युते ।
तवैव कर्म विहितं भूतं सर्वं चराचरम् ॥ २७ ॥

हे महाद्युते अग्ने ! यह सब स्थावर जङ्गमात्मक जीव तुम्हारे कर्मके ही परिणाम हैं; यह सारी सृष्टि तुम्हारी ही है ॥ २७ ॥

त्वयापो विहिताः पूर्वं त्वयि सर्वमिदं जगत् ।
त्वयि हव्यं च कव्यं च यथावत्संप्रतिष्ठितम् ॥ २८ ॥

हे अग्ने ! पहिले तुम्हींने जलोंकी रचना की है । यह सम्पूर्ण जगत् तुममें स्थित है और सम्पूर्ण हव्यकव्य तुम्हारा ही आश्रय लेकर विद्यमान हैं ॥ २८ ॥

अग्ने त्वमेव ज्वलनस्त्वं धाता त्वं बृहस्पतिः ।
त्वमश्विनौ यमौ मित्रः सोमस्त्वमसि चानिलः ॥ २९ ॥

हे देव ! तुम्हीं ज्वलन, तुम्हीं विधाता, तुम्हीं बृहस्पति, तुम्हीं दोनों अश्विनीकुमार, तुम्हीं अर्क, तुम्हीं सोम और तुम्हीं पवन स्वरूप हो ॥ २९ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं स्तुतस्ततस्तेन मन्दपालेन पावकः ।
तुतोष तस्य नृपते मुनेरमिततेजसः ।
उवाच चैनं प्रीतात्मा किमिष्टं करवाणि ते ॥ ३० ॥

वैशम्पायन बोले– हे महाराज ! मन्दपालमुनिके इस प्रकार अग्निकी स्तुति करने पर अग्नि उन अत्यन्त तेजस्वी मुनि पर प्रसन्न हुए और प्रीतिपूर्वक उनसे कहा, कि बोलो तुम्हारा अभीष्ट क्या है, मैं पूरा कर देता हूं ॥ ३० ॥

तमब्रवीन्मन्दपालः प्राञ्जलिर्हव्यवाहनम् ।
प्रदहन्खाण्डवं दावं मम पुत्रान्विसर्जय ॥ ३१ ॥

मन्दपाल दोनों हाथ जोडकर उस हव्यवाहनसे बोले– तुम जब खाण्डववनको जलाओ तब मेरे बचोंको मत जलाना उन्हें जीवित छोड देना ॥ ३१ ॥

तथेति तत्प्रतिश्रुत्य भगवान्हव्यवाहनः ।
खाण्डवे तेन कालेन प्रजज्वाल दिधक्षया ॥ ३२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२० ॥ ७०८८ ॥

भगवान् हव्यवाहनने " तथास्तु " कहके उनको वचन दे दिया और उसी समय खाण्डव-वन जलानेकी अभिलाषासे जल उठे ॥ ३२ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें दो सौ वीसवां अध्याय समाप्त ॥ २२० ॥ ७०८८ ॥

: २२१ :

ततः प्रज्वलिते शुक्रे शार्ङ्गकास्ते सुदुःखिताः ।
व्यथिताः परमोद्विग्ना नाधिजग्मुः परायणम् ॥ १ ॥

तदनन्तर अग्निके जलने पर वे शार्ङ्गकपक्षीके बच्चे बहुत भयभीत होकर दुःखी होकर घबरा उठे; उनको ढूंढने पर भी बचनेका कोई उपाय नहीं मिला ॥ १ ॥

निशाम्य पुत्रकान्बालान्माता तेषां तपस्विनी ।
जरिता दुःखसंतप्ता विललाप नरेश्वर ॥ २ ॥

हे नरेश्वर ! उनकी माता तपस्विनी जरिता बच्चोंको बहुत छोटा देखकर दुःख और शोकसे विलपती हुई कहने लगी ॥ २ ॥

अयमग्निर्दहन्कक्षमित आयाति भीषणः ।
जगत्सन्दीपयन्भीमो मम दुःखविवर्धनः ॥ ३ ॥

मेरा दुःख बढानेवाली यह भयानक अग्नि वनको जलाती हुई सब जगह उजाला फैलाती हुई डरावने स्वरूपमें आ रही है ॥ ३ ॥

इमे च मां कर्षयन्ति शिशवो मन्दचेतसः ।
अबर्हाश्चरणैर्हीनाः पूर्वेषां नः परायणम् ।
त्रासयंश्चायमायाति लेलिहानो महीरुहान् ॥ ४ ॥

इधर हमारे पूर्वजोंके रक्षक (पूर्वजोंको नरकसे छुडानेवाले), पैर और पंखोंसे रहित अज्ञानी ये बच्चे मुझे अपनी तरफ खींच रहे हैं, और दूसरी तरफ यह अग्निदेव हरवडी वृक्षोंको चाटता और भयभीत करता हुआ इधर बढा आ रहा है ॥ ४ ॥

अशक्तिमत्त्वाच सुता न शक्ताः सरणे मम ।
आदाय च न शक्तोस्मि पुत्रांस्तरितुमन्यतः ॥ ५ ॥

पर मेरे बच्चोंमें अशक्ति होनेके कारण वे भागनेमें समर्थ नहीं हैं और मुझ अकेलीमें इतना सामर्थ्य नहीं है, कि इन सबोंको लेकर दूसरी जगह भाग सकूं ॥ ५ ॥

न च त्यक्तुमहं शक्ता हृदयं दूयतीव मे ।
कं नु जह्यामहं पुत्रं कमादाय व्रजाम्यहम् ॥ ६ ॥

और न इन्हें मैं छोड ही सकती हूँ, मेरा हृदय दुःखी हो रहा है। मैं किस बच्चेको लेकर जाऊं; किसको छोड दूं ॥ ६ ॥

किं नु मे स्यात्कृतं कृत्वा मन्यध्वं पुत्रकाः कथम् ।
चिन्तयाना विमोक्षं वो नाधिगच्छामि किंचन ।
छादयित्वा च वो गात्रैः करिष्ये मरणं सह ॥ ७ ॥

क्या करूं जो मनोरथ सिद्ध हो ? हे पुत्रो ! तुम क्या विचारते हो ? मैं तो बहुत विचार करनेपर भी तुम्हारे बचनेका कोई उपाय नहीं देखती; मैं अपनी देहसे तुमको छिपाकर अन्तमें तुम सबके साथ जल मरूंगी ॥ ७ ॥

जरितारौ कुलं हीदं ज्येष्ठत्वेन प्रतिष्ठितम्।
सारिसृक्कः प्रजायेत पितृणां कुलवर्धनः ॥ ८ ॥

"मेरे चार बेटोंमें ज्येष्ठ जरितारी नामक पुत्रसे वंश प्रतिष्ठित होगा; सारिसृक्व नामक पुत्र सन्तान उपजाकर कुल बढावेगा ॥ ८ ॥

स्तम्बमित्रस्तपः कुर्याद्द्रोणो ब्रह्मविदुत्तमः।
इत्येवमुक्त्वा प्रययौ पिता वो निर्घृणः पुरा ॥ ९ ॥

स्तम्बमित्र नामक पुत्र तपस्या करेगा और द्रोणनामक प्रशंसित पुत्र वेदमें पण्डित होगा।" यह बात कहकर तुम्हारा निर्दयी पिता पहले चला गया था ॥ ९ ॥

कमुपादाय शक्येत गन्तुं कस्यापदुत्तमा।
किं नु कृत्वा कृतं कार्यं भवेदिति च विह्वला ॥ १० ॥

पर अब यह दुःखदायी विपत्ति आ पडी; मैं किसे लेकर जा सकूंगी ? क्या करनेसे कार्य पूरा कर सकूंगी ? जारिता इस प्रकार सोचकर घबरा उठी ॥ १० ॥

नापश्यत्स्वधिया मोक्षं स्वसुतानां तदानलात्।
एवं ब्रुवन्तीं शार्ङ्गास्ते प्रत्यूचुरथ मातरम् ॥ ११ ॥

उसको अपनी बुद्धिसे अपने पुत्रोंको अग्निसे बचानेका कोई उपाय नहीं सूझ पडा। शार्ङ्गकोंने माताको इस प्रकार विलपते सुनकर कहा ॥ ११ ॥

स्नेहमुत्सृज्य मातस्त्वं पत यत्र न हव्यवाट्।
अस्मासु हि विनष्टेषु भवितारः सुतास्तव।
त्वयि मातर्विनष्टायां न नः स्यात्कुलसन्ततिः ॥ १२ ॥

हे माता ! तू स्नेह छोडकर वहां उड जा, कि जहां आग न हो। हे माता ! हम मर जायेंगे तो तेरी और सन्तानें उत्पन्न हो सकेंगी; पर तेरे मरनेसे वंशरक्षाका उपाय न रहेगा ॥ १२ ॥

अन्ववेक्ष्यैतदुभयं क्षेमं स्याद्यत्कुलस्य नः।
तद्वै कर्तुं परः कालो मातरेष भवेत्तव ॥ १३ ॥

हे माता ! अब तेरे लिये वह काल आ पहुंचा है। अतः हमारे साथ प्राण छोडना अथवा हमें छोडके अपनेको बचाना, इन दो विषयोंकी भली प्रकार आलोचना करके वही करना चाहिये, जिसके करनेसे हमारे कुलका मंगल हो ॥ १३ ॥

मा वै कुलविनाशाय स्नेहं कार्षीः सुतेषु नः।
न हीदं कर्म मोघं स्याल्लोककामस्य नः पितुः ॥ १४ ॥

तू फिर कुलविनाशके लिए हम पुत्रोंमें स्नेह मत कर, ऐसा करनेसे स्वर्गलोकको देनेवाले पुत्रको चाहनेवाले पिताका सब कर्म व्यर्थ हो जायेगा ॥ १४ ॥

जरितोवाच

इदमाखोर्बिलं भूमौ वृक्षस्यास्य समीपतः ।
तदाविशध्वं त्वरिता वह्नेरत्र न वो भयम् ॥ १५ ॥

जरिता बोली– हे पुत्रो ! इस वृक्षके पास ही धरतीके भीतर चूहेका बिल दीख पडता है, तुम तुरन्त इसमें जा घुसो; यहां तुम्हें अग्निका भय नहीं रहेगा ॥ १५ ॥

ततोऽहं पांसुना छिद्रमपिधास्यामि पुत्रकाः ।
एवं प्रतिकृतं मन्ये ज्वलतः कृष्णवर्त्मनः ॥ १६ ॥

हे पुत्रो ! तब मैं धूलसे इस बिलका मुंह ढक दूंगी; अब प्रज्ज्वलित अग्निसे बचनेका यही एक उपाय देखती हूं ॥ १६ ॥

तत एष्याम्यतीतेऽग्नौ विहर्तुं पांसुसंचयम् ।
रोचतामेष वोपायो विमोक्षाय हुताशनात् ॥ १७ ॥

आग बुझनेपर मैं बिलके मुखसे राखका ढेर हटानेके लिए आऊंगी । तुम अग्निसे बचनेके लिये मेरा यह वचन मानो ॥ १७ ॥

शाङ्‍र्गका ऊचुः

अबर्हान्मांसभूतान्नः क्रव्यादाखुर्विनाशयेत् ।
पश्यमाना भयमिदं न शक्ष्यामो निषेवितुम् ॥ १८ ॥

शाङ्‍र्गकोंने कहा– हमारे पंख नहीं जमे हैं, हम केवल मांसपिण्ड ही हैं, अतः मांस खानेवाले चूहे हमको अवश्य नष्ट कर डालेंगे; इस भयको देखते हुए हम इसके भीतर रह नहीं सकते ॥ १८ ॥

कथमग्निर्न नो दह्यात्कथमाखुर्न भक्षयेत् ।
कथं न स्यात्पिता मोघः कथं माता ध्रियेत नः ॥ १९ ॥

अब किसी प्राकर अग्नि हमें न जला सके, किसी प्रकार चूहे हमें न खा सकें, किसी प्रकार पिताका पुत्र उत्पन्न होना व्यर्थ न होवे, किसी प्रकार हमारी माता हमें धारण करे (इनमेंसे किसीका एक भी उपाय नहीं देखते अतः निश्चय ही हमारी मृत्यु आ पहुंची है) ॥ १९ ॥

बिल आखोर्विनाशः स्यादग्नेराकाशचारिणाम् ।
अन्ववेक्ष्यैतदुभयं श्रेयान्दाहो न भक्षणम् ॥ २० ॥

बिलमें घुसेंगे तो हमें चूहे खा जायेंगे और बाहर रहेंगे तो अग्निसे मरेंगे; इन दो मृत्युओंके विषयमें विचार करनेसे यही उचित प्रतीत होता है, कि अग्निसे जल मरना ही अच्छा है, चूहेसे खाये जाना अच्छा नहीं ॥ २० ॥

गर्हितं मरणं न स्यादाखुना खादता बिले।
शिष्टादिष्टः परित्यागः शरीरस्य हुताशनात् ॥ २१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि एकविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२१ ॥ ७१०९ ॥

बिलमें चूहोंके द्वारा खा लिए जाने पर हमारी मृत्यु बडी निन्दनीय होगी, (इसके विपरीत) अग्निकी सहायतासे शरीरका त्याग करना सज्जनोंके द्वारा सम्मत है ॥ २१ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें दो सौ इक्कीसवां अध्याय समाप्त ॥ २२१ ॥ ॥ ७१०९ ॥

: २२२ :

जरितोवाच

अस्माद्बिलान्निष्पतितं श्येन आखुं जहार तम्।
क्षुद्रं गृहीत्वा पादाभ्यां भयं न भविता ततः ॥ १ ॥

जरिता बोली– इस गड्ढेसे एक छोटा चूहा निकला था; एक बाज आकर पंजोंसे उसे पकडकर ले गया है, अतः अब इस बिलमें तुम्हारे लिए भय नहीं है ॥ १ ॥

शाङ्र्गका ऊचु

न हृतं तं वयं विद्मः श्येनेनाखुं कथंचन।
अन्येऽपि भवितारोऽत्र तेभ्योऽपि भयमेव नः ॥ २ ॥

शाङ्र्गोंने कहा– हम बाजके द्वारा चूहेको ले जानेकी बात नहीं जानते और ले भी गया हो, तो इस बिलमें और भी चूहे होंगे उनसे भी हमको भय है ही ॥ २ ॥

संशयो ह्यग्निरागच्छेद्दृष्टं वायोर्निवर्तनम्।
मृत्युर्नो बिलवासिभ्यो भवेन्मातरसंशयम् ॥ ३ ॥

और यह अग्नि आवे कि नहीं इसमें सन्देह है क्योंकि वायुसे अग्निका बुझना भी देखा गया है; अतः, हे माता ! बिलमें रहनेसे निश्चय ही हमारी मृत्यु होगी ॥ २ ॥

निःसंशयात्संशयितो मृत्युर्मातर्विशिष्यते।
चर खे त्वं यथान्यायं पुत्रान्वेत्स्यसि शोभनान् ॥ ४ ॥

हे माता ! जिस स्थानमें मृत्युका होना निश्चित है, उससे वह स्थान कहीं ज्यादा अच्छा है, कि जहां मृत्युमें संदेह है, अतः न्यायके अनुसार तुमको आकाशमें उड जाना ही उचित है; तुम्हारा जीवन बचेगा तो तुम दूसरे अच्छे पुत्र पासकोगी ॥ ४ ॥

जरितोवाच

अहं वै श्येनमायान्तमद्राक्षं बिलमन्तिकात् ।
संचरन्तं समादाय जहाराखुं बिलाद्बली ॥ ५ ॥

जरिता बोली– मैंने बिलके पाससे विचरनेवाले चूहेको ले जाते हुए बलवान् बाजको देखा है ॥ ५ ॥

तं पतन्तमहं श्येनं त्वरिता पृष्ठतोऽन्वगाम् ।
आशिषोऽस्य प्रयुञ्जाना हरतो मूषकं बिलात् ॥ ६ ॥

हे बेटो ! जब पक्षीवर बाज बिलसे चूहेको लेकर वेगसे भागा था, तब मैंने उसके पीछे दौडकर अशीस दिया था ॥ ६ ॥

यो नो द्वेष्टारमादाय श्येनराज प्रधावसि ।
भव त्वं दिवमास्थाय निरमित्रो हिरण्मयः ॥ ७ ॥

हे बाजराज ! तुम हमारे शत्रुको लेकर भाग रहे हो, अतः तुम बिना शत्रुके होकर देवलोकमें सुनहली देह पाकर रहो ॥ ७ ॥

यदा स भक्षितस्तेन क्षुधितेन पतत्रिणा ।
तदाहं तमनुज्ञाप्य प्रत्युपायां गृहान्प्रति ॥ ८ ॥

तदनन्तर उस भूखे बाजके द्वारा मूषको खा लिए जाने पर मैं उसे आज्ञा देकर घरको लौट आयी ॥ ८ ॥

प्रविशध्वं बिलं पुत्रा विश्रब्धा नास्ति वो भयम् ।
श्येनेन मम पश्यन्त्या हृत आखुर्न संशयः ॥ ९ ॥

हे बेटो ! अब तुम चित्तमें कोई शङ्का न करके बिलमें निर्भय होकर जाओ निस्सन्देह बाजने मेरे सामने ही मूषको खा डाला है ॥ ९ ॥

शार्ङ्गका ऊचुः

न विद्म वै वयं मातर्हृतमाखुमितः पुरा ।
अविज्ञाय न शक्ष्यामो बिलमाविशतुं वयम् ॥ १० ॥

शार्ङ्गोंने कहा– हे माता हमने नहीं देखा, कि बाज मूषको हर ले गया है, अतः हम विशेष जाने बिना बिलमें घुस नहीं सकते ॥ १० ॥

×

जरितोवाच

अहं हि तं प्रजानामि हृतं श्येनेन मूषकम्।
अत एव भयं नास्ति क्रियतां वचनं मम ॥ ११ ॥

जरिता बोली— बेटो! तुम मेरी बात मानो, इसमें तुम्हें कोई भय नहीं है, क्योंकि मैं जानती हूं कि बाज चूहेको हर ले गया है ॥ ११ ॥

शाङ्र्गका ऊचुः

न त्वं मिथ्योपचारेण मोक्षयेथा भयं महत्।
समाकुलेषु ज्ञानेषु न बुद्धिकृतमेव तत् ॥ १२ ॥

शाङ्र्गोंने कहा— तुम झूठे उपचारसे हमारा भय मत दूर करो। संदेहयुक्त कार्यमें हाथ डालना बुद्धिमानी नहीं है ॥ १२ ॥

न चोपकृतमस्माभिर्न चास्मान्वेत्थ ये वयम्।
पीडयमाना भरस्यस्मान्का सती के वयं तव ॥ १३ ॥

हमने कभी तुम्हारा कोई उपकार नहीं किया और तुम यह भी नहीं जानतीं, कि हम कौन हैं, फिर क्यों कष्ट उठाकर हमको बचानेकी चेष्टा कर रही हो? तुम हमारी कौन हो और हम तुम्हारे कौन लगते हैं ॥ १३ ॥

तरुणी दर्शनीयासि समर्था भर्तुरेषणे।
अनुगच्छ स्वभर्तारं पुत्रानाप्स्यसि शोभनान् ॥ १४ ॥

हे मा! तुम युवती और रूपवती हो और पतिको ढूंढनेका सामर्थ्य भी रखती हो, अतः तुम अपने पतिके पीछे जाओ, उनसे तुम अच्छे पुत्र पा सकोगी ॥ १४ ॥

वयमप्यग्निमाविश्य लोकानाप्स्यामहे शुभान्।
अथास्मान्न दहेदग्निरायास्त्वं पुनरेव नः ॥ १५ ॥

हम भी अग्निमें घुमकर अच्छे लोकको प्राप्त करेंगे। यदि अग्नि हमको न जलावे; तो फिर तुम हमारे पास आना ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ता ततः शाङ्र्गी पुत्रानुत्सृज्य खाण्डवे।
जगाम त्वरिता देशं क्षेममग्नेरनाश्रयम् ॥ १६ ॥

वैशम्पायन बोले— शाङ्र्गी पुत्रोंसे वह बात सुनकर, उन्हें उस खाण्डववनमें छोडके तुरन्त ऐसी जगह चली गयी, कि जहां अग्निका भय नहीं था ॥ १६ ॥

ततस्तीक्ष्णार्चिरभ्यागाज्ज्वलितो हव्यवाहनः ।
यत्र शार्ङ्गा बभूवुस्ते मन्दपालस्य पुत्रकाः ॥ १७ ॥

तदन्तर अग्नि वेगसे और तेज ज्वालायें लिये उस जगह आए, जहां मन्दपालके पुत्र शार्ङ्ग थे ॥ १७ ॥

ते शार्ङ्गा ज्वलितं दृष्ट्वा ज्वलनं स्वेन तेजसा ।
जरितारिस्ततो वाचं श्रावयामास पावकम् ॥ १८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि द्वाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२२ ॥ ७१२७ ॥

तब उन पक्षियोंने अपने तेजसे प्रज्ज्वलित अग्निको देखा और उनमें ज्येष्ठ जरितारि उस अग्निको यह बात सुनाने लगा ॥ १८ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें दो सौ बाईसवां अध्याय समाप्त ॥ २२२ ॥ ७१२७ ॥

: २२३ :

जरितारिरुवाच

पुरतः कृच्छ्रकालस्य धीमाञ्जागर्ति पूरुषः ।
स कृच्छ्रकालं संप्राप्य व्यथां नैवैति कर्हिचित् ॥ १ ॥

जरितारि बोला— ज्ञानी आपत्तिके कालके पहिलेसे जागता रहता है, वह कभी आपत्तिको पाकर पीडाको प्राप्त नहीं होता ॥ १ ॥

यस्तु कृच्छ्रमसंप्राप्तं विचेता नावबुध्यते ।
स कृच्छ्रकाले व्यथितो न प्रजानाति किंचन ॥ २ ॥

जो अज्ञानी आपत्तिके कालके आजाने पर भी सोते हुएके समान रहता है, वह आपत्तिके कालमें दुःखी होकर कुछ भी नहीं जान पाता ॥ २ ॥

सारिसृक्व उवाच

धीरस्त्वमसि मेधावी प्राणकृच्छ्रमिदं च नः ।
शूरः प्राज्ञो बहूनां हि भवत्येको न संशयः ॥ ३ ॥

सारिसृक्व बोला— हमारे प्राणोंपर संकट आ पडा है; तुम धीर और बुद्धिमान हो, तुम्हीं हमारी रक्षा करो; क्योंकि बहुतोंमेंसे एक ही पुरुष बुद्धिमान और शूर होता है इसमें कोई संशय नहीं ॥ ३ ॥

स्तम्बमित्र उवाच

ज्येष्ठस्त्राता भवति वै ज्येष्ठो मुञ्चति कृच्छ्रतः।
ज्येष्ठश्चेन्न प्रजानाति कनीयान्किं करिष्यति ॥ ४ ॥

स्तम्बमित्र बोला— ज्येष्ठ भ्राता कनिष्ठोंके त्राता होते हैं, अतः ज्येष्ठ भ्राता ही विपत्तिसे बचाते हैं। जो ज्येष्ठ भाई ही नहीं बचा सकता तो कनिष्ठ क्या कर सकता है ? ॥ ४ ॥

द्रोण उवाच

हिरण्यरेतास्त्वरितो ज्वलन्नायाति नः क्षयम्।
सप्तजिह्वोऽनलः क्षामो लेलिहानोपसर्पति ॥ ५ ॥

द्रोण बोला— वह सुवर्णरेता सात जीभ, सात मुंह सहित वेगसे जलाता पदार्थोंको चाटता हुआ हमारे घरपर आरहा है ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तो भ्रातृभिस्तु जरितारिर्विभावसुम्।
तुष्टाव प्राञ्जलिर्भूत्वा यथा तच्छृणु पार्थिव ॥ ६ ॥

वैशम्पायन बोले— हे पृथ्वीनाथ ! इस प्रकार भाइयोंके कहनेपर जरितारिने हाथ जोडकर अग्निकी जो स्तुति की, वह कहता हूं सुनो ॥ ६ ॥

जरितारिरुवाच

आत्मासि,वायोः पवनः शरीरमुत वीरुधाम्।
योनिरापश्च ते शुक्र योनिस्त्वमसि चाम्भसः ॥ ७ ॥
ऊर्ध्वं चाधश्च गच्छन्ति विसर्पन्ति च पार्श्वतः।
अर्चिषस्ते महावीर्य रश्मयः सवितुर्यथा ॥ ८ ॥

जरितारि बोला— हे अग्ने ! तुम पवित्र करनेवाले वायुकी आत्मा हो, तुम वनस्पतियोंकी देह हो। हे शुक्र ! तुम्हारे उत्पन्न होनेका स्थान जल है और तुम जलके उत्पन्न होनेका स्थान हो। हे महावीर्य ! तुम्हारी ज्वालायें सूर्यकी किरणोंके समान उंचे, नीचे, पीछे और बगलमें और सब जगह फैली रहती हैं ॥ ७–८ ॥

सारिसृक्व उवाच

माता प्रपन्ना पितरं न विद्मः पक्षाश्च नो न प्रजाताञ्जकेतो।
न नस्त्राता विद्यतेऽग्ने त्वदन्यस्तस्माद्धि नः परिरक्षैकवीर ॥ ९ ॥

सारिसृक्व बोला— हे धूमकेतो, हे अद्वितीय वीर ! हमारी मां दृष्टिके बाहर उड गयी है, पिताको भी हम नहीं पहिचानते और अभीतक हमारे पंख नहीं जमे, हम बहुत बच्चे हैं। हे अग्ने ! अब तुम्हारे विना हमें बचानेवाला कोई नहीं है; अतः तुम हमको बचाओ ॥९॥

यदग्ने ते शिवं रूपं ये च ते सप्त हेतयः ।
तेन नः परिरक्षाद्य ईडितः शरणैषिणः ॥ १० ॥

हे अग्ने ! तुम्हारा जो कल्याणकारी रूप है और जो सात ज्वालायें हैं, उन्हींसे तुम्हारी शरणमें आए हुए एवं तुम्हारी स्तुति करनेवाले हमारी आज रक्षा करो ॥ १० ॥

त्वमेवैकस्तपसे जातवेदो नान्यस्तप्ता विद्यते गोषु देव ।
ऋषीनस्मान्बालकान्पालयस्व परेणास्मान्प्रैहि वै हव्यवाह ॥ ११ ॥

हे जातवेद ! तुम अकेले ही ताप फैलाते हो । हे देव ! तपानेवाला सूर्य किरणोंमें तप्त होनेवाला तुम्हारे सिवाय और कोई नहीं है । हे हव्यवाहन ! हम ऋषिके पुत्र और बच्चे हैं, हमारी रक्षा करो, हमारे यहांसे अन्य स्थानको जाओ ॥ ११ ॥

स्तम्बमित्र उवाच

सर्वमग्ने त्वमेवैकस्त्वयि सर्वमिदं जगत् ।
त्वं धारयसि भूतानि भुवनं त्वं बिभर्षि च ॥ १२ ॥

स्तम्बमित्र बोला– हे अग्ने ! तुम अकेले ही सर्वरूप हो, तुम्हींमें यह संपूर्ण जगत् विराजमान है, तुम जीवोंको धारण करते हो, तुम्हीं भुवनोंका पालन पोषण करते हो ॥ १२ ॥

त्वमग्निर्हव्यवाहस्त्वं त्वमेव परमं हविः ।
मनीषिणस्त्वां जानन्ति बहुधा चैकधैव च ॥ १३ ॥

तुम तेज पदार्थ हो, तुम हव्यको वहन करते हो और तुम उत्तम हव्यरूप हो । पण्डित-लोग तुमको (कारण रूपमें) एकरूप और (कार्य-रूपमें) बहुरूप जानते हैं ॥ १३ ॥

सृष्ट्वा लोकांस्त्रीनिमान्हव्यवाह प्राप्ते काले पचसि पुनः समिद्धः ।
सर्वस्यास्य भुवनस्य प्रसूतिस्त्वमेवाग्ने भवसि पुनः प्रतिष्ठा ॥ १४ ॥

हे हव्यवाहन अग्ने ! तुम पहिले इन तीन सृष्टियोंको रचकर बादमें काल आने पर तुम्हीं प्रदीप्त होकर फिर उसका नाश करते हो; तुम्हीं सम्पूर्ण भुवनकी उत्पत्ति-स्थान हो और प्रलय स्थान भी तुम्हीं हो ॥ १४ ॥

त्वमन्नं प्राणिनां भुक्तमन्तर्भूतो जगत्पते ।
नित्यं प्रवृद्धः पचसि त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

हे जगत्पते ! तुम जीवोंके भीतर रहकर बढकर उनका खाया हुआ अन्न नित्य पचाते हो; अतः सब भूत तुम्हींमें प्रतिष्ठित हैं ॥ १५ ॥

द्रोण उवाच

सूर्यो भूत्वा रश्मिभिर्जातवेदो भूमेरम्भो भूमिजातान्रसांश्च ।
विश्वानादाय पुनरुत्सर्गकाले सृष्ट्वा वृष्ट्या भावयसीह शुक्र ॥ १६ ॥

द्रोण बोला– हे शुक्र ! हे जातवेद ! तुम सूर्य बनकर किरणसे भूमिमें उत्पन्न हुए सब रस और धरतीमें स्थित जलको लेकर समय समय पर फिर उसे वृष्टि द्वारा छोडकर सब अनाज उपजाते हो ॥ १६ ॥

त्वत्त एताः पुनः शुक्र वीरुधो हरितच्छदाः ।
जायन्ते पुष्करिण्यश्च समुद्रश्च महोदधिः ॥ १७ ॥

हे शुक्र ! तुम्हींसे यह सब पत्तोंवाली लता, सरोवर और मङ्गलनिधान समुद्र फिर उत्पन्न होते हैं ॥ १७ ॥

इदं वै सद्म तिग्मांशो वरुणस्य परायणम् ।
शिवस्त्राता भवास्माकं मास्मानद्य विनाशय ॥ १८ ॥

हे तीव्र किरणोंसे युक्त अग्ने ! हमारी यह देह रसनेन्द्रियके नाथ जलपति वरुणपर निर्भर है; तुम जब उस जलके विधाता हो, अतः हमारे कल्याणकारी हो; तुम हमको नष्ट मत करो ॥१८॥

पिङ्गाक्ष लोहितग्रीव कृष्णवर्त्मन्हुताशन ।
परेण प्रैहि मुञ्चास्मान्सागरस्य गृहानिव ॥ १९ ॥

हे पिङ्गलनेत्र ! हे लालग्रीव ! हे कृष्णवर्त्मन् ! हे हुताशन ! तुम हमसे दूरसे ही चले जाओ, सागरके पास बने हुए घरके समान हमें छोड दो ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तो जातवेदा द्रोणेनाक्लिष्टकर्मणा ।
द्रोणमाह प्रतीतात्मा मन्दपालप्रतिज्ञया ॥ २० ॥

वैशम्पायन बोले– तब प्रतीतात्मा जातवेदा अग्नि सरलकर्म करनेवाले द्रोणकी यह बात सुन प्रसन्न हुए और मन्दपालकी प्रतिज्ञाका स्मरण कर द्रोणसे बोले ॥ २० ॥

ऋषिर्द्रोणस्त्वमसि वै ब्रह्मैतद्व्याहृतं त्वया ।
ईप्सितं ते करिष्यामि न च ते विद्यते भयम् ॥ २१ ॥

हे द्रोण ! तुम ऋषि हो, तुमने जो कहा, वह वेदस्वरूप है, तुम्हारी अभिलाषा पूरी करूंगा, तुम भय मत करो ॥ २१ ॥

मन्दपालेन यूयं हि मम पूर्वं निवेदिताः ।
वर्जयेः पुत्रकान्मह्यं दहन्दावमिति स्म ह ॥ २२ ॥

पहिले मन्दपालने तुम्हारे लिये मुझसे कहा था, कि " जब तुम खाण्डव वनको जलाओ, तब मेरे पुत्रोंको छोड देना ॥ २२ ॥

यच्च तद्वचनं तस्य त्वया यच्चेह भाषितम् ।
उभयं मे गरीयस्तद्ब्रूहि किं करवाणि ते ।
भृशं प्रीतोऽस्मि भद्रं ते ब्रह्मन्स्तोत्रेण ते विभो ॥ २३ ॥

हे द्रोण ! मन्दपालकी वह बात और तुम्हारी यह बात मेरे लिये बहुत अधिक है; अतः कहो, तुम्हारे लिये मैं क्या करूं ? हे ब्रह्मश्रेष्ठ ! तुम्हारी इस स्तुति पर मैं बडा प्रसन्न हुआ हूं; तुम्हारा मंगल हो ॥ २३ ॥

द्रोण उवाच

इमे मार्जारकाः शुक्र नित्यमुद्वेजयन्ति नः ।
एतान्कुरुष्व दंष्ट्रासु हव्यवाह सबान्धवान् ॥ २४ ॥

द्रोण बोले– हे हव्यवाह तेजस्वी अग्ने ! यह सब बिल्लियां हमको नित्य सताया करती हैं, अतः तुम इन्हें बन्धुबांधवोंके साथ अपनी दाढोंके बीचमें रख लो अर्थात् जला डालो ॥२४॥

वैशम्पायन उवाच

तथा तत्कृतवान्वह्निरभ्यनुज्ञाय शार्ङ्गकान् ।
ददाह खाण्डवं चैव समिद्धो जनमेजय ॥ २५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि त्रयोविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२३ ॥ ७१५२ ॥

वैशम्पायन बोले– तदनन्तर अग्निने शार्ङ्गोंको बतावताकर उनकी प्रार्थना पूरी की और हे जनमेजय ! समिद्ध होकर वे खाण्डव वनको जलाने लगे ॥ २५ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें दोसौ तेईसवां अध्याय समाप्त ॥ २२३ ॥ ७१५२ ॥

: २२४ :

वैशम्पायन उवाच

मन्दपालोऽपि कौरव्य चिन्तयानः सुतांस्तदा ।
उक्तवानप्यशीतांशुं नैव स स्म न तप्यते ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे कौरव्य ! इधर वह मन्दपाल तेज किरणोंवाले अग्निसे वैसा वचन कहने पर भी पुत्रोंके लिये सोचते हुए संतप्त नहीं हुए ऐसा नहीं अर्थात् संतप्त हुए ॥ १ ॥

स तप्यमानः पुत्रार्थे लपितामिदमब्रवीत् ।
कथं न्वशक्ताः प्लवने लपिते मम पुत्रकाः ॥ २ ॥

वह पुत्रके लिये संतप्त होकर लपितासे बोले– लपिते ! मेरे बेटे जो उडनेमें असमर्थ हैं कैसे होंगे ? ॥ २ ॥

वर्धमाने हुतवहे वाते शीघ्रं प्रवायति।
असमर्था विमोक्षाय भविष्यन्ति ममात्मजाः ॥ ३ ॥

जब वायुके शीघ्र जलने पर अग्नि तेज होगा, तब मेरे बेटे अग्निसे बचनेमें असमर्थ होंगे ॥३॥

कथं न्वशक्ता त्राणाय माता तेषां तपस्विनी।
भविष्यत्यसुखाविष्टा पुत्रत्राणमपश्यती ॥ ४ ॥

उनकी तपस्विनी माता उन बच्चोंको बचानेमें असमर्थ होकर क्या करती होगी? पुत्रोंको बचानेका उपाय न देखकर शोकसे विकल होती होगी ॥ ४ ॥

कथं नु सरणेऽशक्तान्पतने च ममात्मजान्।
संतप्यमाना अभितो वाशमानाभिधावती ॥ ५ ॥

चलने और ऊपर उडनेमें असमर्थ मेरे बच्चोंको लेकर हृदयमें दुःख पाकर कैसे बहुत रोती हुई दौड रही होगी ॥ ५ ॥

जरितारिः कथं पुत्रः सारिसृक्वः कथं च मे।
स्तम्बमित्रः कथं द्रोणः कथं सा च तपस्विनी ॥ ६ ॥

हा! जरितारि कैसा होगा? सारिसृक्व कैसे प्राण बचायेगा? स्तम्बमित्र कैसे बचेगा? द्रोण कैसे रक्षा पायेगा? मेरी वह तपस्विनी स्त्री किस प्रकार जी सकेगी? ॥ ६ ॥

लालप्यमानं तमृषिं मन्दपालं तथा वने।
लपिता प्रत्युवाचेदं सासूयमिव भारत ॥ ७ ॥

हे भारत! उस वनमें इस प्रकार विलाप करते हुए उस मन्दपालसे लपिता द्वेषवश कहने लगी ॥ ७ ॥

न ते सुतेष्ववेक्षास्ति तानृषीनुक्तवानसि।
तेजस्विनो वीर्यवन्तो न तेषां ज्वलनाद्भयम् ॥ ८ ॥

तुम्हें पुत्रोंके विषयमें सोचनेकी जरूरत नहीं है, क्योंकि तुमने जिन ऋषियोंकी बात कही है वे तेजस्वी और वीर्यवान् हैं, अग्निसे उनको भय नहीं है ॥ ८ ॥

तथाग्नौ ते परीत्ताश्च त्वया हि मम संनिधौ।
प्रतिश्रुतं तथा चेति ज्वलनेन महात्मना ॥ ९ ॥

और तुमने मेरे सामने ही उन पुत्रोंकी रक्षाके लिये अग्निसे कहा था। महात्मा हुताशनने भी तथास्तु कहके उस बातको मान लिया था ॥ ९ ॥

लोकपालोऽनृतां वाचं न तु वक्ता कथंचन।
समर्थास्ते च वक्तारो न ते तेष्वस्ति मानसम् ॥ १० ॥

वह लोकपाल अग्नि कभी झूठ बात नहीं कहेंगे। वे वक्ता समर्थ हैं अतः उनके बारेमें चिन्ता करनेकी तुम्हें कोई जरूरत नहीं है ॥ १० ॥

तामेव तु ममामित्रीं चिन्तयन्परितप्यसे ।
ध्रुवं मयि न ते स्नेहो यथा तस्यां पुराभवत् ॥ ११ ॥

तुम मेरी शत्रु जरिताहीको स्मरण कर व्याकुल हो रहे हो । पहिले जरिता पर तुम्हारा जैसा स्नेह था, अब मुझ पर वैसा नहीं है ॥ ११ ॥

न हि पक्षवता न्याय्यं निःस्नेहेन सुहृज्जने ।
पीडयमान उपद्रष्टुं शक्तेनात्मा कथंचन ॥ १२ ॥

पंख (सहाय्य) से युक्त तथा अत्यन्त प्रेम करनेवालेको चाहिए कि वह शक्तिमान् होकर आपत्तिमें पडे हुए अपने स्त्री पुत्र आदि प्रिय जनोंकी कभी उपेक्षा न करे ॥ १२ ॥

गच्छ त्वं जरितामेव यदर्थं परितप्यसे ।
चरिष्याम्यहमप्येका यथा कापुरुषे तथा ॥ १३ ॥

अतः तुम जिसके लिये शोक करते हो, उस जरिताहीके पास चले जाओ, मैं भी किसी कापुरुषके आश्रयको ग्रहण किए हुए स्त्रीके समान अकेली ही विचरूंगी ॥ १३ ॥

मन्दपाल उवाच

नाहमेवं चरे लोके यथा त्वमभिमन्यसे ।
अपत्यहेतोर्विचरे तच्च कृच्छ्रगतं मम ॥ १४ ॥

मन्दपाल बोले– तुम मुझको जैसा समझ रही हो, मैं उस भावसे व्यवहार नहीं करता । मैं केवल सन्तान उत्पन्न करनेके लिये ही ऐसे फिर रहा हूं । अब मेरी उत्पन्न हुई सन्तानें कष्टमें पडी हुई हैं ॥ १४ ॥

भूतं हित्वा भविष्येऽर्थे योऽवलम्बेत मन्दधीः ।
अवमन्येत तं लोको यथेच्छसि तथा कुरु ॥ १५ ॥

जो भूत विषयको छोड भावीकी आशा करता है, वह मूढजन लोगोंका अनादर प्राप्त करता है, अतः तुम जो चाहती हो सो करो ॥ १५ ॥

एष हि ज्वलमानोऽग्निर्लेलिहानो महीरुहान् ।
द्वेष्यं हि हृदि संतापं जनयत्यशिवं मम ॥ १६ ॥

यह प्रज्ज्वलित अग्नि वृक्षोंको चाटते हुए मेरे इस विकल हृदयमें अमंगल और दुःखको उत्पन्न कर रहा है ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्माद्देशादतिक्रान्ते ज्वलने जरिता ततः ।
जगाम पुत्रकानेव त्वरिता . -

वैशम्पायन बोले– तदनन्तर अग्निके
करनेवाली जरिता जल्दी ही पुत्रों

सा तान्कुशलिनः सर्वान्निर्मुक्ताञ्जातवेदसः ।
रोरूयमाणा कृपणा सुतान्हष्टवती वने ॥ १८ ॥
वनमें अग्निसे बचे हुए और वहां कुशल पर दयाके कारण रोते हुए पुत्रोंको देखा ॥१८॥

अश्रद्धेयतमं तेषां दर्शनं सा पुनः पुनः ।
एकैकशश्च तान्पुत्रान्क्रोशमानानन्वपद्यत ॥ १९ ॥
जरिता अविश्वासके योग्य उनका दर्शन पाकर और उनको चिल्लाते देखकर धीरे धीरे एक एकके पास गई ॥ १९ ॥

ततोऽभ्यगच्छत्सहसा मन्दपालोऽपि भारत ।
अथ ते सर्व एवैनं नाभ्यनन्दन्त वै सुताः ॥ २० ॥
हे भारत ! इसी अवसर पर महर्षि मन्दपाल अचानक वहां जा पहुंचे, पर उनके पुत्रोंने उनको देखकर उनका अभिनन्दन नहीं किया ॥ २० ॥

लालप्यमानमेकैकं जरितां च पुनः पुनः ।
नोचुस्ते वचनं किंचित्तमृषिं साध्वसाधु वा ॥ २१ ॥
हर पुत्रसे और जरितासे बार बार प्यार करनेवाले उस ऋषिसे उन्होंने भला बुरा कुछ भी नहीं कहा ॥ २१ ॥

मन्दपाल उवाच

ज्येष्ठः सुतस्ते कतमः कतमस्तदनन्तरः ।
मध्यमः कतमपुत्रः कनिष्ठः कतमश्च ते ॥ २२ ॥
मन्दपाल बोले– कौन तुम्हारा बडा बेटा, कौन मझला, कौन तीसरा और कौन सबसे छोटा है ॥ २२ ॥

एवं ब्रुवन्तं दुःखार्तं किं मां न प्रतिभाषसे ।
कृतवानस्मि हव्याशे नैव शान्तिमितो लभे ॥ २३ ॥
इस प्रकार बोलते हुए मुझ दुःखीसे तुम क्यों नहीं बोलती हो ? मैं तुम्हें छोडकर यहांसे जा.करके शांति पा नहीं सका ॥ २३ ॥

जरितोवाच

किं ते ज्येष्ठे सुते कार्यं किमनन्तरजेन वा ।
किं च ते मध्यमे कार्यं किं कनिष्ठे तपस्विनि ॥ २४ ॥
जरिता बोली– तुमको बडे बेटेसे क्या मतलब ? तुम्हें मझले बेटेसे क्या प्रयोजन तथा तुम्हें तीसरे बेटेको लेकर क्या करना है ? और तपस्वी छोटे बेटेसे भी तुम्हें क्या प्रयोजन है ? ॥ २४ ॥

यस्त्वं मां सर्वशो हीनामुत्सृज्यासि गतः पुरा ।
तामेव लपितां गच्छ तरुणीं चारुहासिनीम् ॥ २५ ॥

पहिले तुमने मुझको हर बातमें निकृष्ट समझ कर मुझे छोडकर जिसके पास गये थे, अब उस मधुरहासिनी युवती लपिताहीके पास जाओ ॥ २५ ॥

मन्दपाल उवाच

न स्त्रीणां विद्यते किंचिदन्यत्र पुरुषान्तरात् ।
सापत्नकमृते लोके भवितव्यं हि तत्तथा ॥ २६ ॥

मन्दपाल बोले— नारियोंके लिये सौत वा दूसरे पुरुषको छोडकर इस लोकमें अधिक शत्रु और कोई दीख नहीं पडता ॥ २६ ॥

सुव्रतापि हि कल्याणि सर्वलोकपरिश्रुता ।
अरुन्धती पर्यशङ्कद्वसिष्ठमृषिसत्तमम् ॥ २७ ॥
विशुद्धभावमत्यन्तं सदा प्रियहिते रतम् ।
सप्तर्षिमध्यगं वीरमवमेने च तं मुनिम् ॥ २८ ॥

हे कल्याणि ! ऋषिश्रेष्ठ महानुभाव वसिष्ठ अति पवित्र स्वभावी और सदा पत्नीके प्रेमी और हित-कारी कार्यमें लगे रहते थे। उस पर भी सब लोकोंमें प्रशंसिता सुव्रता अरुन्धतीने उन ऋषिवर वसिष्ठ पर शंका की और सप्तर्षियोंमें एक ऋषि उस मुनिका अनादर किया था ॥ २७-२८ ॥

अपध्यानेन सा तेन धूम्रारुणसमप्रभा ।
लक्ष्यालक्ष्या नाभिरूपा निमित्तमिव लक्ष्यते ॥ २९ ॥

वह कल्याणी अरुन्धतीके वैसी अनुचित शङ्का करनेके कारण ही वह अरुन्धती धूयें और अरुणके समान रङ्गवाली हो गई और कभी दीखती, कभी न दीखती हुई सौन्दर्यसे विहीन होकर दिखाई देती है ॥ २९ ॥

अपत्यहेतोः संप्राप्तं तथा त्वमपि मामिह ।
इष्टमेवंगते हित्वा सा तथैव च वर्तसे ॥ ३० ॥

मैं केवल सन्तानहीके लिये यहां आया हूं और तुमने भी सन्तानके लिये ही मुझसे समागम किया है । अब तुम भी अपनी इच्छा पूरी हो जाने पर मुझसे अरुन्धतीके समान व्यवहार करती हो ॥ ३० ॥

नैव भार्येति विश्वासः कार्यः पुंसा कथंचन ।
न हि कार्यमनुध्याति भार्या पुत्रवती सती ॥ ३१ ॥

मनुष्यको स्त्रियों पर भार्या कहकर कदापि [
जानेपर वे पतिकी सेवादि कार्य पर ध्यान

वैशम्पायन उवाच

तनस्ते सर्व एवैनं पुत्राः सम्यगुपासिरे ।
स च तानात्मजान्राजन्नाश्वासयितुमारभत् ॥ ३२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चतुर्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२४ ॥ ७१८४ ॥

वैशम्पायन बोले— तदनन्तर उनके सब पुत्र उनकी उपासना करने लगे, वह भी उन पुत्रोंको ढाढस देने लगे ॥ ३२ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें दोसौ चौवीसवां अध्याय समाप्त ॥ २२४ ॥ ७१८४ ॥

: २२५ :

मन्दपाल उवाच

युष्माकं परिरक्षार्थं विज्ञप्तो ज्वलनो मया ।
अग्निना च तथेत्येवं पूर्वमेव प्रतिश्रुतम् ॥ १ ॥

मन्दपाल बोले— तुम्हारी रक्षा करनेके लिए अग्निसे प्रार्थना की थी; उस पर उन्होंने तथास्तु कहकर पहले ही मेरी बात मान ली थी ॥ १ ॥

अग्नेर्वचनमाज्ञाय मातुर्धर्मज्ञतां च वः ।
युष्माकं च परं वीर्यं नाहं पूर्वमिहागतः ॥ २ ॥

मैं उन अग्निकी बात, तुम्हारे माताकी धर्मनिष्ठा और तुम्हारे वीर्यको स्मरण कर पहिले यहां नहीं आया ॥ २ ॥

न संतापो हि वः कार्यः पुत्रका मरणं प्रति ।
ऋषीन्वेद हुताशोऽपि ब्रह्म तद्विदितं च वः ॥ ३ ॥

हे पुत्रो ! तुम वेदमें प्रसिद्ध ऋषि हो; अग्नि भी तुमको जानते हैं, अतः तुम्हें मरणके प्रति संताप नहीं करना चाहिए ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमाश्वास्य पुत्रान्स भार्यां चादाय भारत ।
मन्दपालस्ततो देशादन्यं देशं जगाम ह ॥ ४ ॥

वैशम्पायन बोले— हे भारत जनमेजय ! तदनन्तर ऋषि मन्दपाल पुत्रोंको समझा बुझाकर पत्नीको साथ लेकर उस स्थानसे दूसरे स्थानको चले गये ॥ ४ ॥

भगवानपि तिग्मांशुः समिद्धं खाण्डवं वनम् ।
ददाह सह कृष्णाभ्यां जनयञ्जगतोऽभयम् ॥ ५ ॥

भगवान् अग्निने इस प्रकार प्रदीप्त होकर श्रीकृष्ण और अर्जुनकी सहायतासे जगत्के अभयके निमित्त खाण्डव वनको जलाया ॥ ५ ॥

वसामेदोवहाः कुल्यास्तत्र पीत्वा च पावकः ।
अगच्छत्परमां तृप्तिं दर्शयामास चार्जुनम् ॥ ६ ॥

अग्नि उस स्थानमें मेद और वसाकी नदी पीकर कर परम परितृप्त होकर अर्जुनके सामने प्रकट हुए ॥ ६ ॥

ततोऽन्तरिक्षाद्भगवानवतीर्य सुरेश्वरः ।
मरुद्गणवृतः पार्थं माधवं चाब्रवीदिदम् ॥ ७ ॥

तदनन्तर मरुद्गणोंसे घिरे हुए भगवान् इन्द्र आकाशमण्डलसे उतरकर अर्जुन और केशवसे यह बोले ॥ ७ ॥

कृतं युवाभ्यां कर्मेदममरैरपि दुष्करम् ।
वरान्वृणीतं तुष्टोऽस्मि दुर्लभानप्यमानुषान् ॥ ८ ॥

जो कर्म देवतालोग भी सहजमें नहीं कर सकते, तुमने उसे पूरा किया है, अब मैं तुम पर प्रसन्न हूं, तुम दुर्लभ और अलौकिक भी वरोंको मांगो; ॥ ८ ॥

पार्थस्तु वरयामास शक्रादस्त्राणि सर्वशः ।
ग्रहीतुं तच्च शक्रोऽस्य तदा कालं चकार ह ॥ ९ ॥

तब पार्थने इन्द्रसे सब अस्त्र मांगे । अति द्युतिमान् देवराजने उन्हें देनेका एक काल निश्चित कर दिया ॥ ९ ॥

यदा प्रसन्नो भगवान्महादेवो भविष्यति ।
तुभ्यं तदा प्रदास्यामि पाण्डवास्त्राणि सर्वशः ॥ १० ॥

हे पाण्डव ! जब भगवान् महादेव तुम पर प्रसन्न होंगे, तब मैं तुमको सब अस्त्र दे दूंगा ॥ १० ॥

अहमेव च तं कालं वेत्स्यामि कुरुनन्दन ।
तपसा महता चापि दास्यामि तव तान्यहम् ॥ ११ ॥

हे कुरुनन्दन ! जब उन अस्त्रोंके देनेका काल आ पहुंचेगा तब मैं जान लूंगा; मैं तुम्हारी महातपस्यासे तुमको वे सब अस्त्र दूंगा ॥ ११ ॥

आग्नेयानि च सर्वाणि वायव्यानि तथैव च ।
मदीयानि च सर्वाणि ग्रहीष्यसि धनंजय ॥ १२ ॥

हे धनंजय अर्जुन ! अग्न्यस्त्र तथा सब वायव्य अस्त्र और मेरे दूसरे भी जो अस्त्र हों वे सब ले लेना ॥ १२ ॥

वासुदेवोऽपि जग्राह प्रीतिं पार्थेन शाश्वतीम् ।
ददौ च तस्मै देवेन्द्रस्तं वरं प्रीतिमांस्तदा ॥ १३ ॥

तदनन्तर वासुदेवने प्रार्थना की, कि अर्जुनसे उनका सदा प्रेम बना रहे । प्रसन्न हुए हुए देवराजने बुद्धिमान् श्रीकृष्णको वह वर दिया ॥ १३ ॥

दत्त्वा ताभ्यां वरं प्रीतः सह देवैर्मरुत्पतिः ।
हुताशनमनुज्ञाप्य जगाम त्रिदिवं पुनः ॥ १४ ॥

मरुतोंके स्वामी देवराज इस प्रकार देवोंके साथ श्रीकृष्ण और अर्जुनको वर देकर हुताशनसे अनुमति ले करके फिर देवलोकमें चले गये ॥ १४ ॥

पावकश्चापि तं दावं दग्ध्वा समृगपक्षिणम् ।
अहानि पञ्च चैकं च विरराम सुतर्पितः ॥ १५ ॥

भगवान् पावक मृग और पक्षियोंके सहित खाण्डव वनको जलाकर अति तृप्त होकर पन्द्रह दिनके बाद बुझ गये ॥ १५ ॥

जग्ध्वा मांसानि पीत्वा च मेदांसि रुधिराणि च ।
युक्तः परमया प्रीत्या तावुवाच विशां पते ॥ १६ ॥

हे प्रजाओंके स्वामी जनमेजय ! वह अग्निदेव रक्त, मेद पीकर और मांस खाकर परम प्रसन्न होकर श्रीकृष्ण और अर्जुनसे बोले ॥ १६ ॥

युवाभ्यां पुरुषाग्र्याभ्यां तर्पितोऽस्मि यथासुखम् ।
अनुजानामि वां वीरौ चरतं यत्र वाञ्छितम् ॥ १७ ॥

वीर और पुरुषोंमें श्रेष्ठ तुम दोनोंने मुझको यथेच्छ तृप्त कर दिया है अब तुम्हें वर देता हूं, कि तुम्हारी गति कहीं नहीं रुकेगी, जहां चाहोगे, वहीं जा सकोगे ॥ १७ ॥

एवं तौ समनुज्ञातौ पावकेन महात्मना ।
अर्जुनो वासुदेवश्च दानवश्च मयस्तथा ॥ १८ ॥
परिक्रम्य ततः सर्वे त्रयोऽपि भरतर्षभ ।
रमणीये नदीकूले सहिताः समुपाविशन् ॥ १९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां आदिपर्वणि पञ्चविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२५ ॥ समाप्तं खाण्डवदाहपर्व ॥ ७२०३ ॥

॥ समाप्तमादिपर्व ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! महात्मा पावकके द्वारा ऐसी आज्ञा प्राप्त कर अर्जुन, वासुदेव और मयदानव यह तीनों, हे भरतश्रेष्ठ ! एकत्र होकर कुछ काल घूम फिरकर नदीके सुन्दर तटपर जाकर बैठे ॥ १८-१९ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें दोसौ पच्चीसवां अध्याय समाप्त ॥ २२५ ॥ खाण्डवदाहपर्व समाप्त ॥ ७२०३ ॥

॥ आदिपर्व समाप्त ॥